स्तुतिकुसुमाञ्जलि

[संस्कृत टीका तथा भाषानुवाद सहित]

•

अच्युत ग्रन्थमाला-कार्यालय.

ललिताघाट, वाराणसी

काश्मीरक-
महाकवि-श्रीजगद्धरभट्ट-विरचितः

स्तुति-कुसुमाञ्जलिः

वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयीयधर्मशास्त्रविभागाध्यक्षेण
पर्वतीय-पण्डितश्रीप्रेमवल्लभत्रिपाठि-शास्त्रिणा कृतेन
सान्वय-प्रेममकरन्द-भाषानुवादेन, राजानक-
रत्नकण्ठविरचितया लघुपञ्चिकाख्यया
संस्कृतव्याख्यया च समेतः

सम्पादकाः—
पं० श्रीकृष्ण पन्तः, पं० प्रेमवल्लभ त्रिपाठी,
श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकरश्च,

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युत ग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी

द्वितीयावृत्तिः ११००] संवत् २०२१ [मूल्यम् ६)

प्रकाशक :
अच्युतग्रन्थमाला
ललिताघाट
वाराणसी ।

परिवर्द्धित द्वितीय-संस्करण
मूल्य : [illegible])

मुद्रक :
विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस,
जतनबर, वाराणसी ।

श्रीहरिः

प्राक्कथन

सृष्टिके प्रारम्भसे ही देखा जाता है कि प्रायः प्रत्येक प्राणीके जीवनमें एक रागात्मिका प्रवृत्ति भी होती है। अन्य मनुष्योंपर सरस भाषामें उसके अभिव्यक्त करनेका साधन ही 'साहित्य' है। वह सभी भाषाओंमें उपलब्ध है। साहित्यके महत्वका सभीने अनुभव किया है। साहित्य शब्दकी व्युत्पत्ति है—

"सहितयोः, सहितानां वा भावः साहित्यम्।"

अर्थात् अनेक पदार्थोंका एक दूसरेसे मिलकर रहना तथा परस्पर मिलकर एक कार्यको सम्पन्न करना साहित्य कहलाता है। यह साहित्यशब्दका वाच्य अर्थ है। शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार, इत्यादि पदार्थ परस्पर, मिलकर रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थका अभिव्यञ्जन करते हैं, अतएव इनमें भी परस्पर साहित्य समझा जाता है। उपर्युक्त साहित्यके आश्रय शब्द और अर्थको मिलाकर साहित्य-शब्दसे कहनेकी परिपाटी, कवियोंकी मण्डलीमें, चल पड़ी है। इस प्रकार रसादिके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थमें 'साहित्य' शब्द कवियोंकी दृष्टिमें प्रयुक्त होता है।

सर्वसाधारणमें तत्-तत् भाषामें निबद्ध ग्रन्थोंका तत्-तत् भाषा-साहित्य नामसे कहनेकी परिपाटी प्रसिद्ध है। इस प्रकार सर्वसाधारणकी दृष्टिमें तथा कवियोंकी दृष्टिमें साहित्य शब्दार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रकृतमें कवि-समय-प्रसिद्ध साहित्यके विषयमें अपना विचार प्रस्तुत किया जाता है—

यह कवि-समय-प्रसिद्ध साहित्य 'काव्य' शब्दसे कहा जाता है। आलङ्कारिकोंने काव्यका लक्षण नाना प्रकारसे किया है। अस्तु,

भारतके आदर्श महात्मा और विद्वान् महाकवि भर्तृहरिने तो साहित्यको मानवजीवन-का एक प्रधान अङ्ग माना है। उन्होंने बड़ी सरस भाषामें कहा है—'जो मनुष्य साहित्य और सङ्गीतको नहीं जानता वह पशु है, पशु ही नहीं, साक्षात् पशु है—निरा पशु है—

'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥'

ये एक प्रशान्त तपस्वीके उद्गार हैं। अस्तु,

'साहित्य' शब्द सामस्त्यार्थद्योतक एक व्यापक शब्द है। इसका अर्थ प्रायः भाषागत समस्त विषय है। संस्कृत-साहित्य, हिन्दीसाहित्य, अंग्रेजी-साहित्य आदि पदोंसे उन-उन भाषाओंमें स्थित सब विषयोंका बोध हो जाता है। परन्तु जब यह किसी भाषाविशेषके नामके साथ न जुड़कर स्वतन्त्र प्रयुक्त होता है, तब इसका अर्थ काव्यानुशासन, अथवा केवल काव्य होता है। ऐसी अवस्थामें यही 'ललितकला' नामसे भी व्यपदिष्ट हो सकता है। यहाँ सङ्गीतके साथ लिखा होनेके कारण उक्त महा-पुरुषका अभिप्राय इसी काव्य-साहित्यसे है।

साहित्य और सङ्गीतका आपसमें एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। केवल सङ्गीतकी अपेक्षा यदि उसमें साहित्य, काव्यकला, की छटा (मार्मिक उक्ति) भी हो तो वह मनुष्यको, सहृदय-मनुष्यको, कुछ क्षणोंके लिए आनन्दमें विभोर किये बिना नहीं रहती। यही बात साहित्यकी भी है। साहित्यकी अनूठी उक्तियाँ यदि सङ्गीतका पुट देकर सुनायी जायँ, तो श्रोताका चित्त बरवश बेकाबू हो जाता है। वह एक अद्भुत सुखके सागरमें डूबने उतराने लगता है। किसी रसिकने इनकी प्रशंसामें कहा है—

'उद्भटश्लोकसङ्गीत-बाललीलावलोकनैः ।
मनो न भिद्यते यस्य स योगी ह्यथवा पशुः ॥'

इसीलिए सभी भाषाओंमें, विशेषकर संस्कृत भारतीमें, पद्य-साहित्यकी बहुलता है। सुतराम् दोनोंका योग सोनेमें सुगन्धके समान है। परन्तु कवि और गायक सब नहीं होते। वे तो कोई विरले ही भाग्यवान् होते हैं, जो माँके पेटसे ही इस विषयकी सहजा वासनाको लेकर आते हैं। इसीलिए कहा गया है कि—

'काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित् प्रतिभावतः ।'

चाहे प्रयत्नातिशयसे उत्पाद्य वासनावाले भी इस श्रेणीमें गिनती करा लें, फिर भी 'काचः काचः मणिर्मणिः'। इन दोनोंमें वह शक्ति होती है कि वह समूचे देश, जाति या समाजको जिस मार्गपर ले जाना चाहें ले जाएँ !

अस्तु, यद्यपि महात्मा भर्तृहरिके पूर्वोक्त पद्यमें साहित्य और सङ्गीत, ये दोनों, समान श्रेणीके कहे गये हैं, तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे विवेचन करनेपर इन दोनोंमें भी महान् अन्तर ध्यान देने योग्य है। महाकवि श्रीनीलकण्ठ दीक्षितने कहा है कि—

'कर्णं गतं शुष्यति कर्ण एव सङ्गीतकं सैकतवारिरीत्या ।
आनन्दयत्यन्तरनुप्रविश्य सूक्तिः कवेरेव सुधासगन्धा ॥'

(शिवलीलार्णव म० का०)

अर्थात् जिस प्रकार बालूमें पड़ा हुआ पानी वहीं सूख जाता है, उसी प्रकार सङ्गीत भी केवल श्रोत्रतक पहुँचकर, थोड़ासा श्रवणानन्द देकर, वहीं सूख जाता है। किन्तु साहित्यके अन्दर ऐसी विलक्षण शक्ति है कि वह अमृतके समान हृदयके अन्तस्तलतक पहुँच कर मनको सदैव आह्लादित करता रहता है। अतः तत्वज्ञोंकी दृष्टिमें सङ्गीतकी भी अपेक्षा साहित्य ही सर्वोत्कृष्ट ठहरता है। अस्तु,

आलङ्कारिकों द्वारा भले ही काव्यके अनेक लक्षण कहे गये क्यों न हों, परन्तु सबका यह अर्थ मान्य ही है कि काव्यकी आत्मा रस है, शब्दार्थ शरीर-स्थानीय हैं, प्रसादादि गुण आत्म-गुणके स्थानीय हैं तथा शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार शरीराश्रित भूषणोंके समान हैं। यहाँ पर काव्य-प्रकाशके दो श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥' (८ - ६६, ६७)

अस्तु, अग्निपुराणमें कहा है कि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार ये दोनों शब्दार्थ-युगलको (शब्द और अर्थको) एक साथ, उसीप्रकार अलंकृत करते हैं, जिसप्रकार कि स्त्रीके गलेमें पड़ा हुआ हार उसके स्तन और कण्ठको एक-साथ अलंकृत करता है।

'शब्दार्थयोरलङ्कारा द्वावलङ्कुरुते समम्।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः ॥'

(अग्निपुराण ३४५ – १)

काव्यके द्वारा किये-जानेवाला उपदेश वेदोपदेश एवं पुराणोपदेशसे भी श्रेष्ठ है। कारण, वेदका उपदेश राजाकी आज्ञाके समान केवल आदेशरूप है। भले ही वह सात्त्विक अधिकारियोंको प्रभावित कर सके, किन्तु राजस और तामस अधिकारियोंको वह प्रभावित नहीं कर सकता। पुराणोंका उपदेश मित्रके उपदेशके समान है। पुराण उदाहरणके रूपमें अनेक आख्यानोंको कहकर जनताको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान कराता है, परन्तु पुराणोपदेश भी राजस अधिकारियों तकको ही प्रभावित करनेकी क्षमता रखता है, तामस अधिकारियोंको प्रभावित करनेमें वह असमर्थ ही रह जाता है। परन्तु काव्योपदेशकी यह विशेषता है कि वह तामस अधिकारियोंको भी प्रभावित कर देता है। काव्यका उपदेश कान्ताके उपदेशके समान है। जिस प्रकार कान्ताके सरस वचनोंसे प्रभावित होकर तामस मनुष्य भी उनके इशारेके अनुसार कार्य करनेके लिए उद्यत हो जाते हैं, उसी प्रकार काव्यकी सरस वाणीसे आकृष्ट होकर तामस मनुष्य भी काव्योपदेशके अनुसार कर्तव्यपथपर आरूढ हो जाता है, निषिद्ध मार्गसे निवृत्त हो जाता है। इसीलिए महाकवि नीलकण्ठने काव्यकी विशेषताका कितना सुन्दर विवेचन किया है—

'व्यामोहयन्ती विविधैर्वचोभिर्व्यावर्तयत्यन्यकलासु दृष्टिम्।
कालं महान्तं क्षणवन्नयन्ती कान्तेव दक्षा कविता धिनोति ॥'

(शि० ली० म० काव्य १–२४)

इस प्रकार काव्य सात्विक, राजस, तामस—सब तरहके अधिकारियोंको प्रभावित करनेकी क्षमता रखता है। अतएव काव्यका उपदेश अधिक जन-आकर्षक होनेसे वेदोपदेश और पुराणोपदेशसे भी ऊँचे पदपर आसीन हो जाता है, यही काव्य-साहित्यका वैशिष्ट्य है। इसीसे आलंकारिकोंने कहा है—

'यद् वेदात्प्रभुसम्मितादधिगतं शब्दप्रधानाच्चिरं
यच्चार्थप्रवणात्पुराणवचनादिष्टं सुहृत्सम्मितात्।
कान्तासम्मितया यया सरसतामापाद्य काव्यश्रिया
कर्तव्ये कुतुकी बुधो विरचितस्तस्यै स्पृहां कुर्महे ॥'

(प्र० रु० १–८)

इसीलिए कविवर श्रीनीलकण्ठ दीक्षितने भी कहा है कि :—

'बाल्यं विदुः प्राकृतभाषितानि श्रुतिस्मृतीर्वृद्धदशां गिरन्ति।
साहित्यमेकं तु गिरां सवित्र्यास्तारुण्यमुद्गाढमुशन्त्यभिज्ञाः ॥'

(शिवलीलार्णव महाकाव्य १।२७)

किञ्च, काव्यका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इतर शास्त्रोंका क्षेत्र वैसा विस्तृत नहीं है। प्रत्येक शास्त्र अपने-अपने नियत विषयको ही प्रकाशमें लानेमें तत्पर हैं। परन्तु काव्यशास्त्र विद्या, विनय, धर्म, देश, राष्ट्र, समाज, राजनीति, शिल्प, कला, योग, भक्ति, तत्व-ज्ञान इत्यादि सभी विषयोंको सरसरूपमें प्रकाशमें लानेकी क्षमता रखता है। अतएव (दृश्य) काव्यके विषयमें यह कहा गया है कि—

'न तच्छास्त्रं न सा विद्या न तच्छिल्पं न ताः कलाः।
नासौ योगो न तज्ज्ञानं नाटके यन्न दृश्यते॥'

(संकल्प-सूर्योदय, १।१८)

अस्तु। जो कवि जितना क्रान्तदर्शी होता है, वह उतना ही गूढ़ अर्थोंको सरस रूपमें प्रकाशमें लानेकी क्षमता रखता है। कवि क्रान्तदर्शी इसलिए कहा जाता है कि वह देश, काल आदिके व्यवधान होनेपर भी एकाग्रताके बलसे अपने वर्णनीय वस्तुके समीपमें पहुँचकर, सिद्ध योगीके समान, वहाँकी सारी विशेषताओंके साथ उसका साक्षात्कार करता हुआ, तन्मय-भावसे उसके वर्णनमें प्रवृत्त हो जाता है। जिस कविमें यह क्षमता जितनी मात्रामें होती है, उस कविका वह काव्य भी उतना ही आकर्षक होता है। कवि जिस भावसे भावित होकर वर्णनीय आदिका वर्णन करता है, उसके काव्यको पढ़नेवाले हम लोग भी उसी भावमें भावित होकर, कविके साथ एकात्मताको प्राप्त करके, उसके काव्यका अनुभव करने लगें तो कवि-हृदयगत सभी अर्थोंको अनायास समझ सकेंगे। कवियोंमें जो तारतम्य देखनेमें आता है, उसका कारण वर्णनीय अर्थोंके साथ घनिष्ठताका तारतम्य एवं शक्ति, निपुणता तथा अभ्यासका तारतम्य है। अस्तु,

कवितामें वह शक्ति है कि वह अत्यन्त बहिर्मुख चित्तको भी एकाग्र कर देती है। इसीलिए कविवर श्रीनीलकण्ठ दीक्षितने कहा है कि —

'अनायतप्राणमसंयताक्षमब्रह्मचर्यानशनादिखेदम्।
चित्तं महेशे निभृतं विधातुं सिद्धः कवीनां कवितैव योगः॥'

(शि० ली० म० का० १–२६)

रसप्रधान कविता करनेवाले कवि उच्चकोटिके हैं। गुणीभूत व्यंग्य नामसे प्रसिद्ध मध्यम-काव्योंका निर्माण करनेवाले कवि मध्यम कोटिके कवि हैं। शब्दार्थालङ्कारमय चित्रकाव्योंका निर्माण करनेवाले कवि निम्न-कोटिके कवि हैं। इन कवियों में भी अवान्तर तारतम्य बहुत होता है।

जो काव्य आपाततः श्रवणानन्दमात्र करा देते हैं, सच्छिक्षाका उपदेश नहीं देते, ऐसे पुष्पित-वाङ्मय-काव्य अत्यन्त निकृष्ट माने जाते हैं। उनके विषयमें ही—

'काव्यालापांश्च वर्जयेत्।'

ऐसा निषेध है। जो काव्य श्रोताओंको रसानुभवमें डुबाते हुए आदर्शमय सदुपदेशको भी उपस्थित करते हैं, वे उत्तम काव्य हैं, अतएव अत्यन्त उपादेय हैं, अस्तु।

कवि और उसका कर्म (काव्य) राष्ट्रके लिए सदा नवीन जीवन देता रहता है। कवि पाञ्चभौतिक कायसे जगत्में न रहकर भी यशःकायसे सबका मङ्गल विधान करता रहता

है। वैदिक आचार्योंका तो सिद्धान्त है कि ईश्वर ही संसारको सन्मार्ग दिखानेके लिए कविके रूपमें अवतीर्ण होता है। वैदिक साहित्यमें 'क्रान्तदर्शी' का नाम कवि है। सबसे ऊँची बात देखना, जानना ही साधारणतया क्रान्तदर्शी पदका अर्थ होता है। काव्यानुशासन ग्रन्थोंके देखनेसे ज्ञात होता है कि कोमलमति मनुष्योंको भी स्वदेश-धर्ममें दृढ़ बनाना, सदाचारकी उच्च कक्षामें बैठाना, अथवा मनुष्यताकी उच्च एवं आवश्यक शिक्षामें दीक्षित करना आदि ही साहित्य या काव्यका चरम उद्देश्य है। इस बातको—

"रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवद्, इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्युपदेशद्वारेण"

इत्यादि वाक्योंसे काव्यकी उद्देश्य-भूमिकाकी अन्य अनेक बातोंके साथ—आलङ्कारिकोंने स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त इस उद्देश्यको सिद्ध करनेका जो साधन है, वह है—'सरसता' और यही कविका कविपना या उसका कौशल अथवा अन्यापेक्षया वैलक्षण्य है। कवियोंका दावा है कि वे कुटकी और चिरायता आदिके कड़ुवे काढ़ोंसे अच्छे होनेवाले रोगी-को मिसरी या खाँड़ खिलाकर अच्छा कर देते हैं। यह मिसरी और खाँड़ और कुछ नहीं, ऊपर कही हुई 'सरसता' ही है। यह सरसता बाजारमें मोल लेने जाँय तो शायद संसारकी समस्त सम्पत्ति व्यय कर देनेपर भी न मिले, फिर कोरी कल्पनाकी उड़ान लेनेवाले कवि, कहीं वह मोल मिलती भी हो तो पावें कैसे? इसलिए उन्होंने इसे रागात्मिका प्रवृत्तिके पेटमें पा लिया है।

राग, अनुराग, रति, प्रेम, स्नेह और भाव आदि प्रायः एक ही तत्वके अभिव्यंजक शब्द हैं। प्रायः इसलिए कि आकर ग्रन्थोंमें इन्हें उपाधि-भेदसे भिन्न-भिन्न माना है। जैसे दाम्पत्य-प्रेमको रति, अनुराग आदि शब्दोंसे व्यपदिष्ट किया जाता है। छोटोंपर बड़ोंके प्रेमको स्नेह कहते हैं। देवादि विषयमें जो प्रेम है उसे 'भाव' कहते हैं। किञ्च, कुछ लोग इस बातको नहीं भी मानते हैं। जैसे—गोस्वामीजीने 'रामचरण रति होहु' कहा है। कुछ भी हो, मनुष्यमें राग, प्रेम, रस नामकी एक ऐसी चीज अवश्य है, जो ब्रह्मास्वादसहोदर अनिर्व-चनीय रस-तत्वसे सम्बन्ध रखती है। कुछ वासना-रहित लोगोंको छोड़कर कोई भी ऐसा नहीं, जो कवियोंकी उक्त रस-सम्पृक्त, रसीली, बात सुनकर उनके हाथकी कठपुतली न हो जाए। यह रस-तत्व एक होता हुआ भी रति, हास आदि स्थायीभावोंके भेदसे मतभेदवश शृङ्गार, हास्य, आदि ८, ९ या १० प्रकारका माना जाता है। कुशल कवि लौकिक सामग्रियोंको ही दिखा कर कुछ ऐसी रचना कर देता है कि जिससे सहृदय वर्ग संसारको सर्वथा भूलकर एक दिव्य अलौकिक तत्वका समास्वादन करता है। इस प्रकारकी रचनाओंको ही 'काव्य' कहते हैं। काव्योंके बहुत अङ्ग, उपाङ्ग, भेद और उपभेद हैं। कविकुलगुरु श्रीकालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, जगन्नाथ आदि संस्कृत कवि और बिहारी, चन्दबरदाई, सूरदास आदि हिन्दी कवि ऐसे ही काव्योंके जन्मदाता हैं।

मध्य युगमें कविजन काव्यका चरम उद्देश्य—'रामादिवद् वर्तितव्यम्' भूल-से गये। अतएव उनकी शृङ्गारवाहिनी कविता औरोंके साथ उनको भी लेकर विलासिताके समुद्रमें मग्न-सी दिखायी पड़ती है। कान्ताओंके अधर-पल्लव, कुचकलश और गम्भीर नाभि-वर्णनके चिन्ता-समुद्रमें डूबकर अपने सहृदय पाठकोंके साथ वे कायर बन गये। आज भी कुछ

कवियोंकी कृतियोंको छोड़कर, अभी पहिला भ्रमजाल हटा ही न था, कि काव्य-सरस्वती रहस्यवाद और छायावादके मोहपङ्कमें धँसती दीख पड़ती है। ऐसे ही काव्योंके विषयमें किसीने कहा है कि—

'यदा प्रकृत्यैव जनस्य रागिणो भृशं प्रदीप्तो हृदि मन्मथानलः।
तदात्र भूयः किमनर्थपण्डितैः कुकाव्यहव्याहुतयो निवेशिताः॥'

'अर्थात् जब कि संसारमें अपने आप ही विषय-वासनाकी आग भभक रही है, तब फिर न जाने ये अनर्थकारी कुकवि कुकाव्यरूपी आहुति क्यों फेंक रहे हैं?'

अतः यह बात अत्यन्त ही अनुचित है। काव्यमें अत्यन्त पवित्रता चाहिए। जैसा कि प्रकृत ग्रन्थ में कहा गया है—

'धन्याः शुचीनि सुरभीणि गुणोम्भितानि
वाग्वीरुधः स्ववदनोपवनोद्गतायाः।
उच्चित्य सूक्तिकुसुमानि सतां विविक्त-
वर्णानि कर्णपुलिनेष्ववतंसयन्ति॥'

(स्तु० कु० ५ स्तोत्र ३ श्लोक)

अस्तु। साधारणतया काव्य-जगत् दो भागोंमें बाँटा जाता है। एक रसकाव्य, दूसरा भाव-काव्य। लोकको प्रधान रखकर की गई रचनाएँ प्रायः रसकाव्यका विषय होती हैं। जैसा कि पूर्वकी पङ्क्तियोंसे इसका कुछ अवभास मिलता है। अब रही भावकाव्यकी बात, सो पीछे यह भी कहा जा चुका है कि देवादि विषयक प्रेम ही 'भाव' शब्दसे व्यवहृत होता है। इसे भक्ति भी कह सकते हैं। शाण्डिल्य सूत्रमें भक्तिका लक्षण लिखा है कि —

'सा परानुरक्तिरीश्वरे'

अर्थात् संसारके समस्त पदार्थोंमेंसे प्रेमको हटाकर सर्वतोभावेन एकमात्र ईश्वरमें ही उसको लगा देनेका नाम भक्ति है। इस प्रकार भक्ति और भाव मिलती-जुलती-सी ही चीज हैं। इसके अतिरिक्त शब्द, अर्थ, अविधा, लक्षणा, व्यञ्जना, गुण, दोष, रीति और अलङ्कार आदि सभी बातें रसकाव्यकी तरह इस भावकाव्यमें भी होती हैं। इतना ही नहीं, रस भी अपने समस्त भेदोंके साथ इसमें रहता है। भेद इतना ही है कि उसके आलम्बन, उद्दीपन आदि लौकिक नायक-नायिका आदि होते हैं और इसमें भक्तका—भावुकका, जगन्नियन्ता ईश्वर तथा उसकी लीलाएँ ही आलम्बन उद्दीपनादि होते हैं। यदि यह बात न हो तो फिर रामचरित, कृष्णचरितादिको पढ़ या सुनकर लोग रसमें—आनन्दमें, मग्न न हों। बल्कि "रसो वै सः।" "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।" इत्यादि श्रुति-साङ्गत्य इस भावकाव्यमें ही होता दीखता है। क्योंकि भगवल्लीला आदिके श्रवण या पठनसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मानन्दास्वाद, लौकिक आलम्बनादिसे उत्पन्न हुए रसास्वादकी अपेक्षा आस्वाद एवं विशेषकर फलमें भी—विवेचकों-की दृष्टिमें—उत्तम ठहरता है। यद्यपि आस्वादकालमें दोनों ही निर्विशेषसे हैं, तथापि गुड़ और मिसरी आदिके स्वादकी तरह, दोनोंके आस्वादमें भी भेद अवश्य है, पर वह अनिर्वचनीय है। इसके अतिरिक्त फलभेद तो स्पष्ट ही भिन्न है। रस-प्रधान काव्यसे समुद्भूत आनन्द लौकिक नायिका आदिमें रागवृद्धिको देता है और भाव-प्रधान काव्य भगवद्विषयक अनुराग-

को पुष्ट करके तत्सायुज्य, सामीप्यादि मुक्ति देता है। पहलेका फल बन्धन है, दूसरेका फल मुक्ति।

आकर ग्रन्थोंमें काव्यसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षतकमें प्रीति या तत्प्राप्ति आदि बतलायी गई है। इसमें मोक्षतक पहुँचाना भावकाव्यका ही काम अधिक सङ्गत जँचता है, अस्तु। इस विषयमें आलङ्कारिकोंके बहुत-बहुत मतभेद हैं। हमारा अभिप्राय उन सबके वर्णनका नहीं है। केवल भाव-काव्य या भक्तिकाव्यके स्वरूपके दिग्दर्शनके लिए यहाँ कुछ प्रयत्न किया गया है। लोकमें ऐसे काव्य और उनके कवि अमर हो गए हैं। संसारके सामने उच्च आदर्शोंको खड़ा करनेका श्रेय विशेषमात्रामें उन्हीं अङ्गुलिगण्य सत्कवियोंको प्राप्त हुआ है। व्यास, वाल्मीकि, सूर, तुलसी आदि कवि इस विषयमें विशेष उल्लेखनीय हैं। इससे स्फुट है कि रागात्मिका प्रवृत्तिको जगत्के विषयोंसे बटोरकर एक सर्वान्तर्यामीके चरणोंमें जिसने समर्पित कर दिया है, भक्तिभावके प्रशस्त राजमार्गपर जिसने दौड़ लगाई है और एतत्प्रधान शास्त्र एवं काव्य-समुद्रोंमें जिसने गोते लगाये हैं, उसके दोनों हाथ लड्डू रहे हैं।

रसमय अर्थका प्रतिपादन करनेवाले कवियोंमें भी प्रतिपाद्य वस्तुके तारतम्यके अनुसार आदरणीयतामें तारतम्य होता है। नर-स्तुति करनेवाले कवियोंसे भी देव-स्तुति करनेवाले कवि नितान्त श्रेष्ठ हैं। ऋतु, नदी वन, पर्वत, जलाशय, समुद्र इत्यादि भौतिक पदार्थों तथा मनुष्य-चरित्रोंका सुचारुरूपसे चित्रण करनेवाले कवियोंसे भी वे महाकवि अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, जो कि भगवच्चरित्रका रसमय वर्णन करते हैं तथा नाना-प्रकारसे ईश्वर-प्रार्थनाओंका वर्णन करके जनताके लिए ईश्वराभिमुख होनेके मार्गको प्रशस्त करते हैं। ऐसे भगवच्चरित्र, भगवत्प्रार्थना इत्यादिका प्रतिपादन करनेवाले काव्य शब्द-श्लेष इत्यादिसे हीन होनेपर भी, सौन्दर्यहीन सात्मक शरीरके समान, आदरणीय होते हैं। किन्तु निर्दोष रूपसे ही क्यों न हो, भगवच्चरित्रसे व्यतिरिक्त मनुष्य-चरित्र इत्यादिका वर्णन करनेवाले काव्य, सुन्दर निरात्मक शरीरके समान, त्याज्य ही होते हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें यह कहा गया है कि —

'न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥'

इस विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि काव्योंमें रसप्रधान इष्टदेवकी स्तुतिमय काव्य परम श्रेष्ठ हैं। अस्तु,

हमारे प्रस्तुत काव्यके रचयिता इसी कोटिमें आते हैं। संसारके कवि प्रायः रसिकोंको ढूँढा करते हैं और किया करते हैं विधिसे प्रार्थना कि वह उन्हें अरसिकोंसे बचाए। उनकी वह प्रार्थना आप उन्हींके शब्दोंमें सुनिए—

'इतरपापफलानि यदृच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु रसस्य निवेशनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख ॥'

परन्तु प्रस्तुत पुस्तकके कविको यह प्रार्थना करनेका अवसर ही नहीं आया। क्योंकि उसने पहलेसे ही, बुद्धिपूर्वक ऐसे श्रोता या आश्रयदाताको चुना है कि जिससे समस्त रसों और भावोंकी उत्पत्ति होती है, अथवा जो स्वयं रसस्वरूप, आनन्दस्वरूप है। कवियोंकी कविताएँ प्रायः यश, अर्थ, यद्वा व्यवहारवेदन आदिके निमित्त हुआ करती हैं। पर आपकी कविताका उद्देश्य इनमेंसे, अथवा ऐसे ही अन्योंमेंसे एक भी नहीं है। वाग्देवता-

बतार आचार्य मम्मटके शब्दोंमें आपका काव्योद्देश्य 'शिवेतरक्षति' है। बात साफ है। शिवसे—सुखसे, इतरकी—दुःखकी क्षति (नाश) हो जानेपर, शिव अपने आप मिल जाता है। अथवा शिवके मिल जानेपर दुःखका अपने आप नाश हो जाता है। अतएव कविने, बुद्धिमान् कविने अपनी कविताका विषय शिवको ही चुना है। आपने सोचा होगा कि यदि किसी अन्य देवको चुनता हूँ तो वह एकदेशी होगा अर्थात् देव और दानव दोनोंके द्वारा समान भावसे पूजित न होगा। किन्तु शिव तत्व सर्वदेशी है। वह ब्रह्मादि देव और रावणादि दानवोंका समान पूज्य है। अत एव महादेव है। ईश्वर है। दूसरे आशुतोष है! तीसरे सृष्टि संहारकर्ता होने के कारण स्वयं अविनाशी है, अजर है, अमर है। इसीलिए कविने भगवान् श्री सदाशिवको ही अपनी कविताका प्रधान विषय चुना है।

आशुतोष भगवान् सदाशिव तो—'सकृत प्रणाम किये अपनाये' के अनुसार सकृत् नमनसे ही भक्तको स्वात्म-समर्पण कर देते हैं। वेद, वेदान्त आदि निखिल सच्छास्त्रतात्पर्यके विषयीभूत अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीमृत्युञ्जय अपने अनन्यभक्तोंके तो ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, सर्वस्व हई हैं, अन्यान्य भावाभिलाषुकोंकी भी अभिलषित सिद्धि विना परम समर्थ शिवचरणके समाश्रयणके नहीं हो सकती। इसीलिए गोस्वामीजीने कहा है :—

'इच्छित फल विनु शिव आराधे॥ लहहिं कि कोटि योग जप साधे॥'

प्राणीके अभ्युदय और निःश्रेयस्‌की सिद्धिका परम अव्यभिचरित उपाय 'शिवाराधन' ही है। भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण आदि अन्यान्य भगवत्स्वरूपोंके उपासकोंका भी विना श्रीशिवाराधनके काम चलना असंभव है। यहाँ तक कि बिना उसके अपने इष्टदेवमें उनकी सुस्थिर प्रीति ही नहीं हो सकती—

'शिवपद-कमल जिनहिं रति नाहीं॥ रामहिं ते सपनेहुँ न सुहाहीं॥'

ठीक ही है। भगवान् सदाशिव तो भगवान् श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि समस्त भगवत्स्वरूपोंके इष्टदेव हैं, फिर शिव-विमुख शव-समान उस प्राणीके ऊपर भगवान्‌की कृपा कैसे हो सकती है। नित्य, निरतिशय, अखण्ड, अनवधिक ऐश्वर्यशाली भगवान् भूतभावनके पाद-पङ्कजमें सात्विक देव-शिरोमणियोंकी प्रीति होनी तो उचित ही है; आश्चर्य तो यह है कि दैत्य, दानव, यक्ष, राक्षस, सर्प, नाग, भूत, प्रेस, पिशाच आदि राजस और तामस स्वभाववाले भी उनसे विमुख नहीं हो सकते। यहाँ तक कि भूत, प्रेत, पिशाच, सर्प, नाग आदि ही प्राधान्येन उनके परिकर हैं।

जगज्जननी, उमा—श्रीअन्नपूर्णा जिनकी गृहिणी हों, श्रीगजानन और षडानन (स्वामी कार्तिकेय) जिनके पुत्र हों, साक्षात् धर्म-स्वरूप श्रीनन्दी जिनका वाहन हो, श्री कालभैरव प्रभृति विश्वविख्यात पराक्रमशाली देवता जिनके परमान्तरङ्ग पार्षद हों और मुक्ति-की जन्मभूमि श्रीश्रीकाशीनगरी जिनकी प्रधान राजधानी हो, ऐसा उदार परमेश्वर जिनका इष्टदेव हो, वास्तवमें वे परम सौभाग्यशाली हैं। अस्तु,

भगवान् सदाशिवके स्वरूप और गुणगणोंका माहात्म्य वेदोंमें पर्याप्त वर्णित हैं। पुराण और इतिहास, काव्य और नाटकोंमें भी भूतभावनका चरित्र कम नहीं है। उनकी मङ्गल-मयी अनन्तब्रह्माण्ड-पावनी लीलाओंका सामस्त्येन वर्णन करना मनुष्यकी तो कौन कहे ब्रह्मादि

देव-शिरोमणियोंके लिए भी असम्भव है। तथापि निज-निज मतिके अनुरूप, अपने मनोवागादि की शुद्धिके लिए, सभी सहृदयोंने वर्णन किया है। वास्तवमें देखा जाय तो जीवको अपनी कृतार्थताके ही लिए तो सब प्रयत्न करने पड़ते हैं ? फिर यदि भगवान्‌के परम पावन गुणगणार्णवके एक कणमात्र से ही प्राणी सदाके लिए कृतकृत्य हो जाता है, तो फिर सबकी आवश्यकता ही क्या है ? तथापि—'श्रेयसि केन तृप्यते' इस न्यायसे भक्तजन भर-शक्ति प्रभुके मङ्गलमय, पवित्र चरित्रका गायन करते हैं। अस्तु,

प्रस्तुत-काव्य तो भगवान् सदाशिवके लोकोत्तर पवित्र चरित्रोंसे भरपूर और अत्यन्त हृदयाकर्षक है। इसकी विलक्षण सूक्तियोंका प्रभाव कठोरचित्तवाले प्राणियोंपर भी विना पड़े नहीं रहता। इसके रचयिताने आजन्म शान्त और करुण-रसकी ही कविता रचनासे भगवान् सदाशिवको स्वात्मसमर्पण कर देनेमें ही अपनी कवित्वशक्ति खर्च की है।

काव्यमें, १—शृङ्गार, २—हास्य, ३—करुण, ४—अद्‌भुत, ६—वीर, ६—रौद्र, ७—भयानक, ८—बीभत्स और ९—शान्त, यह नौ रस माने गये हैं। जिस कवितामें जो रस प्रधान रहता है, वह कविता उसी रसकी होती है। रसका अनुभव सबसे अधिक सहृदयोंको होता है, अतः सहृदयताकी अधिकता या न्यूनतासे रसके अनुभवमें भी अधिकता या न्यूनता होती है। यानी जिसमें जितनी अधिक सहृदयता होती है, उसको उतना ही अधिक रसका अनुभव और कविके भावोंका रहस्य ज्ञान होता है।

कवितामें भी प्रधान रसकी मात्रा जितनी अधिक रहती है, उसका प्रभाव सहृदयोंके हृदयपर उतना ही अधिक पड़ता है। हास्यरसकी मात्रा अधिक होती है तो उसे सुनते ही हँसी आ जाती है। करुण-रसकी अधिकता होनेसे नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है और यदि कवितामें शान्त रसका आधिक्य हो तो हृदयमें शान्तिका संचार होता है।

रस-प्रधान उत्तम काव्योंमें भी शान्तरस-प्रधान काव्य अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। यद्यपि शान्तरसके विषयमें आलङ्कारिकोंमें मतभेद है, परन्तु इतर रसोंकी अपेक्षया शान्तरसका महत्व नहीं घटता। यहाँपर रसोंमें तारतम्यका निरूपण करनेवाले कवि तार्किकका यह कथन ध्यान देने योग्य है—

'असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम्।
विरुद्धगतिरद्‌भुतस्तदलमल्पसारैः परैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः॥'

(सं० सू०—१ अङ्क १९)

अर्थात् शृंगार रस असभ्योंके व्यवहारका प्रतीक बनता है। वीररस आपसी तिरस्कारका परिचय कराता है। अद्‌भुतरस अनहोनी (प्रत्यक्ष-विरुद्ध) बातोंका आश्रय लेकर चलता है! अल्परसवाले इतर रसोंसे क्या लाभ हो सकता है ? अन्तमें चित्तके खेदको शान्त करनेवाला केवल एक शान्त रस ही सही बचता है। इसीलिए शान्तरस ही एकमात्र स्थायी रस है—

'शृङ्गारवीरकरुणाद्‌भुतहास्यभीतिबीभत्सरौद्रविषयानतिवर्तमानः।
तत्वावलोकनविभावसमेधितात्मा शान्तो रसः स्फुरति मूर्त इवैष धन्यः॥'

(सं० सू० ना०···)

अस्तु, स्तुतिमयी कविताओंको साहित्यशास्त्रमें शान्तरसके ही अन्तर्गत माना है। हाँ, कतिपय विद्वानोंने दास्यभावपूर्ण कविताओंमें दास्यरस, सख्यभावपूर्ण कवितामें सख्यरस, वात्सल्यभावमयी कविताओंमें वात्सल्य रस एवं भक्तिभाव पूर्ण कवितामें भक्ति-रसकी कल्पना की है। यह भाव देवताओं या परमेश्वरकी स्तुतियोंमें अधिक पाया जाता है।

इस प्रकार स्तुतिमय कवितामें चाहे शान्त या दास्य आदि जो भी रस माना जाय, उससे भावुकोंके सुकोल अन्तःकरणमें एक विलक्षण ही चमत्कार हो उठता है। इससे यह सुस्पष्ट ही प्रतीत होता कि कविता सरस और उसका निर्माता सहृदय है। ऐसी कविताओंके पठन या श्रवणसे भावुकोंका हृदय द्रवीभूत हुए विना रहता।

यद्यपि अन्य रसोंकी कविताओंके पठनसे भी तल्लीनता प्राप्त होती है, तथापि स्तुतिमयी कविताओंमें यह एक अपूर्व विलक्षणता है कि उसका सम्बन्ध किसी देवता या परमेश्वरसे होता है, प्राकृत वस्तुसे नहीं; इसकारण ऐसे काव्य-रचयिता या पाठकके हृदयमें एक अलौकिक भावका आविर्भाव हो जाता है, और वह उतने समयके लिए किसी दिव्य-लोकमें चला जाता है, उस समय सांसारिक भावोंका एकदम तिरोभाव-सा हो जाता है और मनुष्य कुछका कुछ हो जाता है।

क्यों न हो, चरित्र-चित्रणकी सुन्दर रीति जिन सत्कवियोंको विज्ञात है, वे अवश्य ही अपने कवित्व-पाटवसे भावुकोंके हृदयको द्रवीभूत करके वहाँपर चरित्रनायकको सदाके लिए आसीन कर देते हैं। जिन बहिर्मुखोंका चित्त प्रभु-सम्मित वेद-वाक्यों और सुहृत्सम्मित पुराणवाक्योंसे भी प्रभुकी ओर नहीं प्रवाहित होता है, उनका भी चित्त कान्ता-सम्मित कवि-वाक्योंसे भगवदुन्मुख होकर सदाके लिए कृतकृत्य हो जाता है। सब रसोंकी अपेक्षा स्तुतिमयी या करुणरसकी कविताओंके पाठसे चित्त अधिक द्रवीभूत होता है। भावुकोंको यही अभीष्ट होता है कि द्रवीभूत चित्तपर परिपूर्ण परमानन्दघन भगवान्‌का स्थायिभावेन प्राकट्य हो। जिसकिसी भी तरहसे प्रभुसम्बन्धमें चित्तकी द्रवता अपेक्षित होती है। अस्तु,

सकाम या निष्काम भावसे अपने उपास्यदेव, इष्टदेवकी आराधना करनेवाले भावुकोंको अपनी अभीष्ट-सिद्धिमें स्तुतिका एक बड़ा आधार मिल जाता है। अपने आराध्यदेव या परमेश्वरको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए यज्ञ, दान, तपस्या, व्रत, योग आदि अनेकानेक शास्त्रसम्मत साधनोंमें स्तुति सर्वोत्कृष्ट, सर्वसुलभ एवं अत्यावश्यक साधन है। स्तुतिके बिना यज्ञ, दान, व्रत, तपस्या आदि साधनोंकी पूर्णता ही नहीं हो सकती, बल्कि यज्ञ, दान, तपस्या आदि प्रत्येक विधिकी परिपूर्णता ही स्तुतिसे होती है। कितना ही बड़ा धर्मानुष्ठान, यज्ञादि कर्म क्यों न किया जाय, उसमें थोड़ी-बहुत स्तुति किये बिना साधकके मनमें सन्तोष ही नहीं होता। अतः स्तुति भगवत्स्मृति और भगवद्-आराधनाका प्राण है, अतएव स्तुतियुक्त ईश्वराराधन सुवर्ण और सुगन्धका संयोग है। इसीलिए महर्षि उपमन्युने कहा है कि—

'त्वदनुस्मृतिरेव पावनी स्तुतियुक्ता न हि वक्तुमीश सा।
मधुरं हि पयः स्वभावतो ननु कीदृक् सितशर्करान्वितम्॥'

अर्थात् हे नाथ, यों तो आपका स्मरण ही अतीव लोकपावन है, फिर उसके साथ यदि स्तुतिका समावेश हो जाय, तब तो फिर उसकी महिमाका कहना ही क्या? अहा, दूध

स्वभावसे ही मधुर होता है, फिर उसमें यदि मिसरी या शर्करा मिला दी जाय, तब तो फिर उसके स्वादका कहना ही क्या ? अस्तु,

साधारण पुरुषसे लेकर ब्रह्मादिदेव पर्यन्त, सभी लोगोंको अपनी स्तुति बड़ी ही प्रिय लगती है। चाहे कितना ही बड़ा कृपण, निर्दय, या अनुदार-प्रकृति ही पुरुष क्यों न हो, झूठे ही यदि उसकी भी कुछ स्तुति, तारीफ कर दी जाय, तो उसे सुनकर कुछ देरके लिए उसके मनमें भी कुछ आर्द्रता अवश्य ही आ जाती है। स्तुतिसे सभी वशमें हो जाते हैं। इसीसे महर्षि शुक्राचार्यजीने कहा है कि, स्तुतिसे देवता भी अनायास वशमें हो जाते हैं, फिर मनुष्यों-की तो बात ही क्या है—

'स्तुत्या वशं यान्ति देवा ह्यञ्जसा किं पुनर्नराः।'

(शुक्रनीति ४ अ०)

स्तुतिका अर्थ है—श्लाघा, तारीफ अर्थात् स्तुत्यके गुणोंका वर्णन। समस्त सद्गुणोंका समुद्र या उनका मूल उद्गम-स्थान एक ईश्वर ही है। ईश्वरके सिवाय अन्य देवताओं या मनुष्योंमें सभी गुण पूर्णरूपसे विद्यमान नहीं रहते। इसलिए सांसारिक राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार आदि मनुष्योंकी मिथ्या-स्तुतिसे स्तोताका पूर्ण अभ्युदय नहीं हो सकता। हाँ, इतना सम्भव है कि स्तुत्य यदि कोई उदार या शक्ति-सम्पन्न पुरुष हो, तो उसकी स्तुतिसे स्तोताको कुछ अर्थ या यशकी प्राप्ति अवश्य हो सकती है। इससे स्तोताको सांसारिक योग-क्षेममें कुछ सहायता भले ही मिल जाय, पर उसका विशेष कल्याण नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त साधारण देवताओंकी स्तुतिसे भी स्तोताका पूर्ण कल्याण सम्भव नहीं है। हाँ, यह बात अलग है कि स्तुत्यको ईश्वरसे अभिन्न या तद्रूप समझकर, अद्वैतभावनासे, यदि उसकी स्तुति की जाय, तो ऐसी भावनासे ईश्वरसे अन्य लोगोंकी भी स्तुतिसे उसके फलमें विलक्षणता अवश्य हो सकती है। परन्तु ऐसी उच्च भावना हरएक मनुष्यको कहाँ सुलभ है ? मनुष्यकी सांसारिक तृष्णाएँ जबतक पूर्णरूपसे शान्त नहीं होतीं, तब तक वह अपने स्वार्थसाधनके लिए दुराशाबद्ध होकर राजा, रईस, नेता, अधिकारी आदिकी मिथ्या स्तुति किया ही करता है। और तो क्या, बड़े-बड़े विद्वान् भी इस मृगतृष्णाके वशीभूत होकर अनन्तशक्ति, अनन्तमहिमाशाली, गुणगणार्णव परमेश्वरका स्तवन छोड़कर लौकिक धनकुबेरोंकी ही मिथ्या-स्तुति या चाटुकारितामें अपनी दिव्य सरस्वतीका दुरुपयोग किया करते हैं और वे धनीमानी सज्जन भी अपनी मिथ्या-कीर्तिके विस्तारकी कामनासे स्तोताओंको कुछ देकर उन्हें प्रलोभित रखते हैं। परन्तु जो सत्-असत्का सम्यक् विवेचन करनेवाले महापुरुष हैं, उनकी दृष्टिमें यह कृत्य अत्यन्त कुत्सित और निन्दनीय है, क्योंकि इस प्रकारके मिथ्या-स्तवनसे स्तोता और उसके श्रोता, दोनोंका अकल्याण होता है। इसीलिए महाकवि श्रीनीलकण्ठ दीक्षितने क्या ही सुन्दर कहा है—

'क्व ब्रह्मलोकः क्व गिरां सवित्री क्व भूमिभागाः क्व वयं वराकाः।
दिष्ट्योपलब्धामपि देवतां तां विक्रीणते वृत्तिकृते विमूढाः॥'

(शि० ली० म० का० १)

अस्तु। वाणीका साफल्य तो एकमात्र अनन्तगुण-महिम श्रीभगवान्के ही गुण-गणोंके

स्तवनसे होता है। यही वाणीका सदुपयोग है। इसके विपरीत लौकिक क्षुद्र-पुरुषोंकी स्तुति करना ही वाणीका दुरुपयोग कहा गया है। क्योंकि ईश्वरसे अन्य अल्पज्ञके स्तवनसे वाणीमें मलिनता आ जाती है। बेचारी सरस्वती ऐसे घृणित कार्यसे अतीव दुःखित और विलज्जित होती है। यह वाणी कामधेनु अथवा कल्पलताके समान सकल-कामदुघा है, महान् पुण्यके परिपाकसे यह प्राप्त होती है और यदि इसका यथोचित सदुपयोग किया जाय तो यह स्तोताको इस लोक में उत्तम यश, सम्पत्ति, मनःसन्तोष एवं परोपकारकी सफल शक्ति प्रदान करती हुई अन्तमें अतीव दुर्लभ, परम पुरुषार्थ—मोक्षरूप फलको फलती है। इसके विपरीत, दुरुपयोग करनेसे वह कलुषित और क्षीण-शक्ति होकर अपने प्रयोक्ताको (स्तोताको) केवल धिक्कार, तिरस्कार, पश्चात्ताप और पापरूप शाप प्रदान करती है। जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थकारने कहा है :—

'अस्थाने गमिता लयं हतधियां वाग्देवता कल्पते
धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा।
स्थाने तु व्ययिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये
चेतोनिर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते शिवावाप्तये॥'

(स्तु० कु० ५,३५)

अस्तु, भगवान् अनन्त हैं, उनके गुणगण भी अनन्त और अपार हैं। उनसे व्यतिरिक्त समस्त संसार अनित्य एवं मिथ्या है। अतः इस दिव्य कामदुघा वाणीसे ईश्वरको छोड़कर मिथ्या-वस्तुका स्तवन करनेसे इस दिव्य सरस्वतीमें मिथ्यात्व, कलुषता और अपवित्रता आदि दोष भर जाते हैं। वाणीकी पवित्रतापर ही देह, इन्द्रिय और मन-बुद्धिकी पवित्रता निर्भर है। वाणीके मलिन होनेसे देह, इन्द्रिय, मन-बुद्धि सभी अपवित्र हो जाते हैं। देहेन्द्रिय और मनकी विशुद्धिके बिना जीवकी सांसारिक अनर्थ-परम्परा नहीं मिटती अर्थात् उसको परमशान्ति (परम-पद) की प्राप्ति नहीं होती। अतएव मनुष्यके अभ्युदय और निःश्रेयसके लिए वाणीकी पवित्रता मुख्य अपेक्षित है। इसी कारण सत्-असत्का सम्यक् विवेचन करनेवाले विवेकशाली पुरुष उत्तमश्लोक श्रीभगवान्का स्तवन छोड़कर जुगुप्सित सांसारिक मनुष्योंकी मिथ्या स्तुति नहीं किया करते और न विवेकी पुरुष विद्वद्वरोंद्वारा अपना स्तवन या उसका श्रवण ही करना चाहते हैं, बल्कि वे लोग उन्हें अपने स्तवनसे रोकते है। श्रीमद्भागवतमें, आदिराज महाराज पृथुकी स्तुतिके लिए उद्यत स्तावकोंके प्रति उनकी यह उक्ति मनन करने योग्य है :—

'भो सूत हे मागध सौम्य वन्दिन् लोकेऽधुनाऽस्पष्टगुणस्य मे स्यात्।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां मा मय्यभूवन् वितथा गिरो हि वः॥
तस्मात् परोक्षेऽस्मदुपस्कृतान्यलं करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः॥'

(४ स्कन्ध, १८ अ०)

अस्तु। सांसारिक असत्प्रसङ्गोंके वर्णनसे दूषित हुई वाणीकी पवित्रता भी केवल एक भगवान्की ही स्तुति या उनके गुणानुवादसे होती है। वास्तवमें यदि देखा जाय तो सभी लोगोंने अपनी-अपनी वाणीको पवित्र और कृतार्थ करनेके लिए ही भगवान्का स्तवन किया है। इसीलिए गन्धर्वराज श्रीपुष्पदन्ताचार्यने कहा है कि :—

'मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवतः
तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ॥'

(महिम्न स्तोत्र)

अतः वास्तवमें वाणीके लिए सर्वोत्तम लाभ भगवान्‌का ही गुणानुवाद है :—

'एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।'

अस्तु। स्तुतिमें बड़ी विलक्षण सामर्थ्य है ! जिस प्रकार लोहमणि (चुम्बक) लोहको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, उसी-तरह स्तुति भी भगवान्‌को मुग्धकरके अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। चाहे कितनी भी बड़ी पापराशि या दुष्प्रारब्ध क्यों न हो, स्तुति उसे, तूलराशिको अग्निके समान, क्षण भरमें भस्म कर डालती है। प्रस्तुत ग्रन्थमें कहा गया है कि, "जैसे अत्यन्त सूक्ष्म भी गारुत्मत मणि तीव्र-से-तीव्र विषको क्षणभरमें शान्त कर देती है, जैसे कण-भर भी अग्नि विशाल तृणराशिको शीघ्र भस्म कर देती है, जैसे छोटा-सा भी मृगेन्द्र-शिशु (सिंह-बालक) बड़े-बड़े हाथियोंके झुण्डको भगा देता है, जैसे छोटी-सी भी दीपज्योति बड़े गहन अन्धकारको हटा देती है, जैसे थोड़ी सी भी महौषधि बड़े विकट रोगको दूर कर देती है, जैसे थोड़ा-सा भी अमृत-विन्दु बड़े भारी क्षयरोग या मृत्युभयको दूर कर देता है, वैसे ही थोड़ी-सी भी भगवत्स्तुति बड़े-से बड़े पापको क्षण-भरमें नष्ट कर देती है—

'मणिः सुसूक्ष्मोऽपि यथोल्बणं विषं कृशोऽपि वह्निः सुमहद्यथा तृणम्।
शिशुर्मृगेन्द्रोऽपि यथा गजव्रजं तनुः प्रदीपोऽपि यथा तमोभरम्॥
यथाल्पमप्यौषधमुन्मदं गदं यथामृतं स्तोकमपि क्षयाद् भयम्।
ध्रुवं तथैवाणुरपि स्तवः प्रभोः क्षणादघं दीर्घमपि व्यपोहति॥'

(स्तु० कु० ७–९,१०)

भगवान्‌का नाम 'स्तुति-प्रिय' है। वे सहृदय भक्तोंद्वारा की गयी स्तुतिको बड़े प्रेमसे सुनते हैं। पुराण, इतिहासके पर्यालोचनसे यह निश्चित होता है कि स्तुतिमें परमेश्वरको प्रसन्न और अपनी ओर आकृष्ट करनेकी अद्भुत शक्ति है। असह्य बेदना या विपत्तमें पड़े हुए प्राणीके लिए तो कष्टसे सद्यः छुटकारा पानेके लिए स्तुति एक जादूका-सा काम करती है। संसारमें जब जब भी सत्पुरुषोंपर कोई उग्र आपत्ति उपस्थित हुई, तो उन्होंने उससे मुक्त होनेके लिए और कोई वैसा उपाय न देखकर तत्काल परमेश्वरकी स्तुतिके द्वारा ही अपने-अपने कष्टका निवारण किया। प्रातःस्मरणीया महारानी द्रौपदी और आर्त गजेन्द्र आदि इसके साक्षी हैं।

कहाँ तक कहा जाय, बड़े-बड़े निर्दय डाकुओंसे घिरा हुआ, महाविषधर सर्पोंसे जकड़ लिया हुआ, बड़े रोषवाले शत्रुजनोंसे पकड़ा हुआ, अत्यन्त क्रोधी राजा या राजपुरुषोंके द्वारा पकड़ा गया एवं भयंकर, निर्जन अरण्यमें निःसहाय पड़ा हुआ भी प्राणी अनन्य-शरण होकर, जिस-किसी भी भाषासे, जब-कभी भी ईश्वरकी स्तुति करता है, तो परमात्मा तत्काल उसके दुःखका निवारण करते हैं। समस्त इतिहास इसका साक्षी है—उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं। इसीलिए स्तुतिके विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

"स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्॥

(श्रीमद्भागवत ११३७/२७)

अस्तु। आर्त भक्तोंको तो ईश्वरसे आत्मनिवेदन करनेमें स्तुतिका—अन्धेको लाठीके समान—एक बड़ा ही आधार मिल जाता है। सांसारिक पाप-तापोंसे सन्तप्त पुरुष अपने इष्टदेवकी शरणमें जाकर दुःखभरे हृदयसे जब उनकी स्तुति करने लगता है, तब उस समय कुछ क्षणोंके लिए उसका दुःख एकदम हल्कासा हो जाता है। यदि अनुराग या प्रेमके आवेशसे कोमल-हृदय भावुकोंके नेत्रोंसे कहीं दो-चार अश्रुविन्दु भी टपक पड़ें, अथवा हृदयकी स्वच्छताके कारण कहीं यदि अश्रु प्रवाह ही उमड़ने लग जाय, तब तो फिर उनकी दृष्टिमें, कुछ देरके लिए संसार समुद्र ही सूख जाता है। अथवा यों कहिये कि उनके लिए यह दुःखमय भी संसार आनन्द-कानन बन जाता है। वे उस समय अपने इस भौतिक शरीर या नश्वर संसारमें न रह कर किसी दिव्य लोकमें विहरण करने लगते हैं। उस आनन्दके सामने सारा साम्राज्य-सुख भी एकदम फीका मालूम पड़ता है। धन्य हैं ऐसे भावुक, जो कि ईश्वरको आत्म-निवेदन करते हुए, स्तुतिके साथ साथ प्रभुके चरणोंमें इस-प्रकार प्रेमाश्रुओंका अर्घ्य प्रदान करते हैं।

अनेकों पापतापोंसे सन्तप्त पुरुष जब अपने इष्टदेवकी शरणमें जाता है, तब भावावेशमें कभी तो वह उसकी स्तुति करता है, कभी उसे उपालम्भ देता है और कभी अपनी दुरवस्थापर विलाप करता है। उस समय उसकी अश्रुवर्षासे उसके हृदयका दुःखभार तो अवश्य ही हलका पड़ जाता है।

सांसारिक आपदाओंके जालमें फँसे हुए भावुकजन जिस समय शान्तरसकी स्तुतिमयी कविता सुनाकर प्रभुसे आत्म-निवेदन करते हैं, उस समय वे केवल अपना तात्कालिक दुःख ही नहीं भूल जाते, वरन् उनकी दशा ही बिलक्षण हो जाती है। शरीर रोमाञ्चित, नेत्र अश्रुपूर्ण, और वाणी गद्गद् हो जाती है। ऐसी दशामें वे विवश होकर रो उठते हैं। परन्तु यह रोना कोई प्राकृत रोना नहीं है, इसमें अवश्य ही एक दिव्य अलौकिक आनन्द छिपा रहता है, पर इसका अनुभव वही कर सकते हैं, जो उस दशाको प्राप्त हैं। अस्तु,

वैसे तो भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि ये सब अखिलब्रह्माण्डनायक पूर्ण परब्रह्मके ही स्वरूप हैं। अतः इनमेंसे किसीकी भी स्तुति या आराधनासे भावुकोंका कल्याण सुनिश्चित ही है। इनमें उत्कर्षापकर्षरूप भेदभाव रखना महान् अनर्थका हेतु है, तथापि भगवान् सदाशिवका समाराधन तो सर्वथा ही अमोघ और विलक्षण ही है। उनमें ऐसी अनुपम उदारता और आशुतोषता है कि, जब कोई याचक हाथ जोड़कर उनके सामने उनकी स्तुति करने लगता है, तो वे उसे देखके इतने करुणार्द्र हो जाते हैं कि उसे अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े देख ही नहीं सकते। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

'देखि न सकत दीन कर जोरे।' (विनय पत्रिका)

अपूर्व विद्वत्ता, अनुपम शक्ति, लोकोत्तर वैभव, चित्ताकर्षक अद्भुत दिव्य रूप, लोकोत्तर उदारता आदि, यह सब सौभाग्य एकमात्र भगवान् सदाशिवकी ही आराधनासे प्राप्त होते हैं। इसीलिए भगवान् श्रीरामके लोकोत्तर अद्भुत स्वरूप और

लावण्यपर मुग्ध हुई जनकपुरीकी सभी महिलाएँ महाराज दशरथके सौभाग्यको सराहती हुई, सब एक स्वरसे कहती हैं—

'इन सम काहु न शिव आराधे ॥
काहु न इन समान फल लाधे ॥'

इतर देवताओंके भक्तोंको उनके समाराधनसे भोग और मोक्ष, दोनोंकी प्राप्ति हो या न भी हो, पर भगवान् सदाशिव अपने भक्तोंको भोग और मोक्ष, दोनों ही प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि यदि उसमें भक्तका प्रारब्ध भी रुकावट डाले, तो भोले बाबा उसे भी ठीक कर देते हैं। शास्त्रोंका यह ध्रुव और सुनिश्चित सिद्धान्त है कि प्राणीके प्रारब्ध या कर्मरेखाको ईश्वर भी नहीं मिटा सकता—उसका भोग उसे अवश्य ही करना पड़ता है। किन्तु, भगवान् सदाशिवका हृदय जिसपर प्रसन्न हो जाता है, उसकी कर्मरेखामें मेख मारकर वे उसके दुष्प्रारब्ध या कर्मरेखाको ही मिटा देते हैं। इसीसे गोस्वामीजीने कहा है—

'भाविउ मेटि सकै त्रिपुरारी।'

इसी कारण स्वात्विक-स्वभाव देव और मनुष्य ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े राजस और तामस स्वभाववाले दैत्य-दानव, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत, नाग-सर्प आदि भी भगवान् शिवका समाराधन करते हैं। भगवान् सदाशिवकी इस अनुपम विलक्षणताके कारण ही पण्डितराज श्रीजगन्नाथजीने कहा है कि—

'अन्यैः समानममरैर्जगदन्तरात्मन्
ये चन्द्रशेखरतुलामधिरोपयन्ति।
ते किं न हन्त तुलयन्ति नभोनिभत्वं
वातायनोदरगतैर्विवरान्तरालैः ॥'
(रसगङ्गाधर)

अस्तु। प्रस्तुत महाकाव्यके रचयिताका नाम है—महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट। ये काश्मीर देशके निवासी थे। हमारा काश्मीर देश कविता, केसर और कामिनीकी सुन्दरताके लिए प्रसिद्ध है। पहले काश्मीर भारतकी प्रधान शारदा-पीठ थी। कोई भी नयी रचना, जबतक उसपर काश्मीरके कवि और शारदाकी दृष्टि-मुद्रा नहीं हो जाती थी, भारतके पण्डितोंकी मण्डलीमें आदर न पाती थी। काश्मीर देश कविताकी जन्मभूमि है। न केवल कविताकी, अपितु प्रकाण्ड पाण्डित्यकी जननी होनेका भी उसे गर्व रहा है। वाग्देवतावतार आचार्य 'मम्मट' और प्रतिभाशाली वैयाकरणोंमें अग्रगण्य 'कैयट' - जैसे मानव रत्नोंका प्रादुर्भाव वहीं हुआ है। उसी आकरने कविवर 'जगद्धर'को भी जन्म दिया है।

जगद्धर भट्ट न केवक कवि थे, अपितु एक प्रतिभाशाली सहृदय महाकवि थे। साथ ही स्वाभाविक भगवद्भक्त भी थे। जिन उत्तमोत्तम भावोंकी सृष्टि, उनकेद्वारा की गयी स्तुतियोंमें झलकती है, वह आहार्यभक्तिवालोंकी कृतियोंसे सुदूर देखी जाती है। आपकी नृत्यत्पदावली-मात्रको सुनकर अर्थानभिज्ञोंका भी मस्तक एक विलक्षण आनन्दके हिलोरेमें हिले बिना नहीं रहता। उनकी विलक्षण कवित्वशक्तिका प्रभाव पाषाण-सदृश चित्तवालोंके अन्तःकरणमें भी अमोघ असर करता है। क्यों न हो, जिसने अपने शिव-सम्बन्धी भक्तिभावको

इतना ऊँचा कर दिया और अपने दास्य-भावका इतना हृदयहारी वर्णन कर, भक्तिकी पराकाष्ठा दिखाकर, समस्त जीवनको ईश्वरकी ही स्तुतिमें समर्पण करके अपनी कवित्व-शक्तिको सार्थक किया है, ऐसे सत्कविकी सूक्तियाँ यदि पाठकोंके हृदयमें परमानन्दकी प्राप्ति कराकर कुछ देरके लिए उन्हें आत्म-विस्मरण करा दें, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अस्तु,

काव्यकी प्रशंसामें या उसके लक्षणमें संस्कृत-संसारमें कुछ सूक्तियाँ प्रचलित हैं। अनुभव करके देखनेपर उक्त कविकी कृति उन कसौटियोंपर सोलह आने खरी उतरती हैं। लीजिए, आप उन्हें सुन भी लीजिए और 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' के एक-एक सूक्तको उनपर परख भी लीजिए। पहली सूक्ति है—

'किं कवेस्तस्य काव्येन धानुष्कस्य शरेण वा।
परस्य हृदि संलग्नं न घूर्णयति यच्छिरः॥'

अर्थात् कविकी कविता और धन्वीका बाण वही उत्तम गिना जाता है, जो भावुक और शत्रुके हृदयमें पहुँचते ही उसके शिरको घुमा दे।

दोष-रहित, गुण-सहित, अलङ्कारयुक्त, रसभावादि-सम्पन्न काव्यको सुनकर अलौकिक आनन्दमें मग्न श्रोताका शिर वाह वाहीके शब्दोंके साथ हिले बिना कभी न रहेगा। यही हाल बाणका भी है। खूब पैना तीर दुश्मनके कलेजेको चीरकर बेहोशीके साथ उसके शिरको घुमा ही देता है। अस्तु,

दूसरी सूक्ति भारविकी है—

'अविदितगुणापि भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।'

कविताका आस्वाद—आनन्द उसके अर्थ समझनेपर ही आता है, यह बात प्रायः सभीके अनुभवगम्य है। परन्तु महाकवि भारवि इससे कुछ आगेकी बात कहते हैं। वे कहते हैं कि—"सत्कवियोंकी कृतिमें यह नियम लागू नहीं है। उनकी कृति तो अर्थ आदिके बिना समझे ही, केवल सुन लेने भरसे भी, अपूर्व आनन्दको देती है। आप कहते हैं कि—'अविदितगुणा अपि' अर्थात् अलङ्कारशास्त्रगम्य काव्यगुण ध्वनि, व्यङ्ग्यादिका ज्ञान न होनेपर भी—उत्तम कविकी कृति सुननेमात्रसे कानोंमें मधुकी धाराको मानो उडेल देती है—बलात् भर देती है।" ऐसी होती है उत्तम कविकी कृति। इसके अतिरिक्त आचार्य 'मम्मट' की सम्मतिमें काव्यका प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृतिः' है। इसका अभिप्राय भी प्रायः अनुपदोक्त सूक्तियोंके समान ही है। इससे भी यदि ऊँची कसौटी आपको चाहिए तो प्रस्तुत पुस्तकका—'कवि-काव्य-प्रशंसा' नामक, पञ्चम-स्तोत्र पढ़िए। इससे ज्ञात होगा कि कविकी कृति कैसी होनी चाहिए और प्रकृत कवि अपनी कृतिमें कहाँ तक सफल हुआ है? अस्तु। कवि और उसका काव्य कैसा होना चाहिए, यह बात प्रस्तुत पुस्तकके एक ही पद्यमें लीजिए—

'ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा-
भक्तिव्यक्तिविशिष्टरीतिरुचितैरर्थैर्धृतालङ्कृतिः।
वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः
शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः॥'

(स्तु० कु० ५ स्तोत्र ३१ श्लो०)

× × × ×

अस्तु, अब हम प्रस्तुत पुस्तकके नामकरणके सम्बन्धमें भी विचार करते हैं। किसी भी वस्तुका नाम, संज्ञा रखना, व्यवहारके लिए बहुत अपेक्षित है। उस नाम रखनेमें दो बातें पायी जाती हैं—एक केवल व्यवहार-निर्वाहकता और दूसरी वस्तुगत गुणदोष, विषयादि निर्देश-पूर्वक व्यवहार-निर्वाहकता। पहला पक्ष—"आँखके अन्धे और नाम 'नैनसुख' तथा पासमें कौड़ी नहीं, नाम 'धनपति' आदि"—लोकोक्तियोंका विषय है। दूसरा पक्ष विचार-चतुरजन-सहमत है। पुस्तकके नामकरणमें प्रायः दूसरा ही पक्ष आदृत होता है।

प्रस्तुत काव्यके रचयिताने अपनी पुस्तकका नाम दूसरे पक्षके लेकर रखा है—स्तुति-कुसुमाञ्जलिः'—स्तुतिरूप पुष्पोंकी अञ्जलि। कविने पुष्पोंकी अञ्जलि नहीं तैयार की है, किन्तु भगवान् शिवकी स्तुतिकी—प्रशंसा या तारीफकी, अवबोधिका एक पद्यसंहति तैयार की है। इस हिसाबसे इसका नाम 'स्तुत्यवबोधिका-पद्यसंहतिः' ऐसा कुछ होना चाहिए था। परन्तु ऐसा नाम साहित्य-सौन्दर्यको नहीं रखता, और कविजन बिना उक्ति-वैचित्र्य या अलङ्कारके बात नहीं करते! इसलिए स्तुतिमें कुसुमोंका—पुष्पोंका, आरोप किया तथा संहतिको अञ्जलिका रूप दिया। ऐसा करनेसे नाममें भी कुछ सौन्दर्य आ गया एवं काव्यगत विषय भी ध्वनित-सा हो गया। दूसरे एक और भी गम्भीर भाव स्फुट हो गया। वह यह कि 'संहति' आदि पद माला आदिका भी भ्रम पैदा कर सकते हैं। परन्तु अञ्जलि-पदमें यह विशेषता है कि वह अपने पेटमें मुक्तकपनेके, न्यारे-न्यारेपनेके, अर्थको रखता है; अर्थात् अञ्जलिमें रक्खी वस्तु आपसमें एक दूसरेके साथ सम्बन्ध नहीं रखती। एक मनुष्य अपने आराध्यदेवपर पुष्पाञ्जलि समर्पित करता है। वह बिना पिरोये, भले ही विभिन्न जातिके, कई कुसुम अञ्जलिमें भरकर छोड़ देता है, फलतः फूल अलग-अलग फैल जाते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तकके पद्य भी अञ्जलिगत विकिरिष्यमाण पुष्पोंकी तरह प्रायः एक दूसरे पद्यके सम्बन्धसे मुक्त हैं। अतएव यह काव्य मुक्तकबन्ध है—फुटकर-पद्यप्रधान है। इसमें कोई लम्बा चौड़ा इतिहास या कथानक नहीं है। हो भी कैसे? जब कि, इसका विषय ही एक अलबेला देव है, जिसकी कथा, चरित्रका आपसमें कोई सम्बन्ध ही नहीं। जो जहर खाकर अमृत देता है, गाल बजानेवाले पर, जिसकी कहीं कदर नहीं, खुश होता है, जिसके आदि-अन्तका पता नहीं। ऐसे व्यक्तिको अधिकृत करके की गयी कृति सिवाय मुक्तकभावके इतिहास या कथारूपा हो ही कैसे सकती है? अस्तु। हमारे विचारसे ऐसे ही भावके स्फुटीकरणके लिए यहाँ 'अञ्जलि' पद प्रयुक्त हुआ है।

अब रही स्तुतिमें कुसुमोंका आरोप करनेकी बात। सो इसमें भी कुछ ऐसे ही भाव भरे हैं। इस रूपकपर भी एक दृष्टिपात करते चलें। यहाँ शङ्का होती है कि, आरोप क्यों किया? क्या—'स्तुति-अञ्जलिः' कहनेसे काम न चल जाता? ठीक है, काम तो चल जाता, पर बालकी खाल उड़ानेवालोंको सन्तोष न होता। बात यह है कि अञ्जलिमें मूर्त पदार्थ, आकार-प्रकार वाले पुष्प आदि, ही भरे जा सकते हैं, अमूर्त नहीं। स्तुति अमूर्त है, वह अञ्जलिमें आ नहीं सकती, इसलिए उसमें कुसुमोंका आरोप किया गया है। या यों कहिए कि अमूर्तको मूर्त-के वेशमें सजाकर जनताके सामने लाया गया है। अब वह कुसुमका बाना लेकर मूर्त हो गई, मूर्तिमती बन गई। इसलिए अब वह बिना रोक-टोक अञ्जलिमें भरी जा सकती है और देवाधिदेवके पादपद्मोंमें विकीर्ण की जा सकती है। इसी आशयको लेकर संस्कृतके अन्यान्य विद्वानोंने भी अपने ग्रन्थोंके नाम 'न्याय-कुसुमाञ्जलिः' आदि रखे हैं। अस्तु,

जगत्‌में आस्तिक भगवद्भक्तोंका नियम है कि वे जब अपना इष्ट-आराधन करने लगते हैं, तो पहिले अपने मनको एकाग्र करते हैं, वशमें करते हैं। परन्तु हमारे कवीश्वर जगद्धरभट्टका निराला ढङ्ग है। उन्हें इस बातकी कोई परवाह नहीं है। वे अपनी कृतिमें उल्टी गङ्गा बहा रहे हैं। क्यों न हो? जब उनके उपास्य-देव ही दुनियाँसे उल्टे और अगड़धत्त बाबा हैं, तब उपासकका भी कुछ वैसा ही होना अनिवार्य है। हाँ, तो आप अपने काव्यके आरम्भमें गणेश, गौरी या गुरुको नमस्कारादि करनेके सम्प्रदायमें न पड़कर, पहिले अपनी सरस्वतीको—काव्यसरस्वतीको, भगवान् शङ्करके मनका निरोध करनेमें समर्थ सिद्ध कर रहे हैं। आपने स्तुतिकी प्रस्तावनाको लेकर एक पद्यपञ्चक, इसी बातपर रच दिया है। "काव्यकी समस्त विशेषताओंसे सम्पन्न यह सरस्वती स्वामीके मनको रोकनेमें, मुग्धकर देनेमें, चञ्चलता-हीन कर देनेमें, उनके चित्तमें प्रवेश कर जानेके लिए, एवं उनसे अभीष्ट वर प्राप्त करनेके लिए समर्थ है।" बस्, इतनी-सी बातको अलङ्कारशास्त्रसे परिष्कृत बड़े लम्बे चौड़े लवाजमेंके साथ कहा गया है।

यदि विचार करें तो कविका अपने स्वामीके चित्तको एकाग्र करनेवाली बातका पहिले कहना, बहुत युक्ति-सङ्गत है। क्योंकि जिसे हम अपना दुःखड़ा सुनाना चाहते हैं, वह यदि अन्य-मनस्क है, तो उसके आगे चाहे-जैसी बातका रखना, केवल अरण्य-रोदन है, भैंसके आगे बीन बजाना है। अस्तु,

आगे महाकविने अपने उपास्यस्वरूपकी रूपरेखा खींची है। इसमें पाठक यह भी देखें कि उसका उपास्य शिव-तत्व, भङ्ग-भवानीका गोला गटककर, या काशीकी मौजी पियक्कड़ चौकड़ीमें चौचक छानकर, ऊपरसे दम जमाता हुआ केवल छप्पन करोड़की चौथाई देनेवाला ही है, अथवा इससे परेका कोई अन्य विलक्षण तत्व है? जरा ध्यानसे सुनिए—

'कीचकादिकुहरेष्विवाम्बरं बिम्बमम्बरमणेरिवोर्मिषु।
एकमेव चिदचित्स्वनेकधा यच्चकास्ति तदुपास्महे महः॥'

(१–८)

आजके शिक्षितम्मन्य कहते हैं कि, 'अजी साहेब, हमें तो आप साइण्टीफिक तरीकेसे समझाइये!' लीजिये—हमारे कवि, जिस समय आपका साइन्स गर्भमें भी न आया होगा उस समयके हमारे कवि, काव्य-कौशलसे बता रहे हैं कि एक ही चीज अनेक प्रकारसे कैसे भासित होती है। यहीं नहीं, सभी जगह प्रायः हर एक बात विज्ञानद्वारा ही समझायी गई है। भारतका तो सिद्धान्त रहा है कि—

'विज्ञानं चास्य रोचते।'

अस्तु, अब नमस्कारात्मक द्वितीय-स्तोत्रकी भी एक बानगी देखिए। अनुभव कीजिए, शब्दालङ्कारगत वृत्यनुप्रासकी कैसी छटा है? कैसे एकके बाद एक, नाचते हुए नपे-तुले शब्द हैं—

'नमः समस्तसंकल्पकल्पना-कल्पशाखिने।
विकासिकलिकाकान्त-कलापाय स्वयंभुवे॥'

(२–२)

कितना कोमल आलाप है। मानो कविकी शब्दझरी सुधाको अनायास ही जीत कर हँस रही है। अर्थकी बात कौन कहे, शब्द-योजना ही सुनकर मनकी कली खिल जाती है।

× × × ×

कविकी 'विरोधाभास'–योजनाका भी एक नमूना देखिये:—

'त्वां नीतिमान् भजति यः स भवत्यनीतिः
मुक्तः स यो हि भवता हृदयान्न मुक्तः।
यस्ते रतोऽपचितयेऽपचितिं स नैति
तत्त्वां श्रितोऽस्मि भवमस्म्यभवो न कस्मात्॥'

(११–३५)

भक्त कविकी और एक सीना-जोरी देखिए। वह भगवान्‌की बराबरी भी करता जा रहा है और दीन भी बनता जा रहा है। वह कहता है—हे देवाधिदेवः—

'कामस्त्वयीव मयि निष्फलतामवाप
क्षिप्तो मयापि विफलो भवतेव कालः।
विध्वस्तधाम मम देव वपुस्तवेव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम्॥'

(११–९४)

काम (मन्मथ और अभिलाषा, दोनोंका नाम है) आपकी ही तरह, मेरे विषयमें भी निष्फल ही रहा, कामयाबी हासिल न कर सका। चाहे आपने उसे भस्म करके निष्फल बनाया और मैंने अपनी कङ्गालीसे—'उत्थाय च विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।' पर जीत दोनोंकी ही रही ? और लीजिए—आपने शरणागतकी रक्षाके लिए कालको—कालकूटविष या यमराजको, विफल बना दिया, मैंने भी अपने कालको, समयको, खो दिया—निरर्थक कर दिया। दोनों बातोंमें मैं आपसे रत्तीभर न घटा। तीसरी बात और सुनिए ? अपने राम उसमें भी पूरे ही उतरेंगे। देखिये, आप 'विध्वस्तधाम' हैं, तो मैं भी 'विध्वस्तधाम' हूँ। भले ही आप अपने शरीरमें विधुके, चन्द्रमाके, तेजको धारण करके, अथवा अपने घरबारके कहीं न होनेसे -विध्वस्तधाम हों, और मैं भी, दुनियांमें एक टूटी-फूटी कुटीके भी न होनेके कारण अथवा तेजसे विहीन होने कारण ही सही, 'विध्वस्तधाम' हूँ। तभी तो आप भी श्मशानोंमें गश्त लगाते फिरते हैं, और मैं भी गली-गली मारा फिरता हूँ, फलतः सब-तरह आपके बराबर हूँ। फिर भी आप शिव हैं, सत्य हैं, सुन्दर हैं। और मैं ? हाय, मैं तो दुर्दैववश, फूटी तकदीरसे, अशिव हूँ, जड़ हूँ, दीन हूँ।

कैसी टेढ़ी-मेढ़ी, किन्तु सरस बातें बनाकर भक्त कवि अपने भगवान्‌को—भोलेबाबाको वशमें कर रहा है ? धन्य हो कविराज, आपकी काव्य-सरस्वतीने उस स्थाणुके चित्तमें भी अवश्य ही प्रसादात्मक विकार उत्पन्न किया होगा ?

सच समझिए, कविकी सब सूक्तियोंमें आप ऐसी ही तल्लीनता और हृदयको श्रवण-समकाल ही ग्रहण करलेनेवाले आलङ्कारिक कौशल पावेंगे। कहाँ तक लिखें, कविकी ऐसी मनोहर काव्य-चातुरी और भावपूर्ण सूक्तियोंसे पुस्तक भरी पड़ी है। कविने अपने निच्छल

'दीनाक्रन्दन' 'करुणाक्रन्दन' और 'कृपणाक्रन्दन' आदि स्तोत्रोंकी एकसे-एक बढ़कर सूक्तियोंको साम्ब सदाशिवकी सेवामें रखकर सहृदय साहित्य-सेवियोंके सामने कविताका आदर्श स्थापित कर दिया है कि—साहित्य-शास्त्रका उपयोग कैसे किया जाता है और उससे परमानन्द या मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो जाती है। महाकविके विविध रचना-कौशल, हृदयहारी अगणित भाव, सवासित सभ्योंकी तो बात ही क्या, निर्वासित सभ्यों तकको सदाके लिए वशमें कर लेते हैं। एकबार पुस्तक उठानेपर हाथसे छोड़नेको जी नहीं चाहता। अस्तु,

यह महाकाव्य स्तोत्रात्मक है। कविने प्रत्येक स्तोत्रको कुसुम मानकर उनकी अञ्जलि अपने इष्टदेवको समर्पण की है। इसकी नई नई उक्तियाँ, विचित्र विचित्र उपालम्भ और विलक्षण ढङ्गके करुणाक्रन्दन पाठकोंके हृदयको आकर्षित किये बिना नहीं रहते।

इस महाकाव्यमें ३९ सर्ग हैं, सभी एक-से-एक बढ़कर और स्तुतिमय हैं। संस्कृत-साहित्यमें इसके जोड़का कोई काव्य नहीं है। शिव-साहित्यमें तो इसका स्थान सबसे ऊँचा है। शिव-स्तुति विषयक ऐसा दूसरा ग्रन्थ आजतक किसीने नहीं बनाया। यद्यपि गन्धर्व-राजका 'महिम्नस्तोत्र' और पण्डितराजकी 'गङ्गालहरी' आदि स्तोत्र भी स्तुतियोंमें सर्वोपरि हैं, तथापि इस कुसुमाञ्जलिके अवलोकनसे तो यह निष्पक्ष प्रतीत होता है कि 'स्तुति-साहित्य' में इससे बढ़कर कोई ग्रन्थ ही नहीं है। इसमें कविने अपनी कवित्व-शक्तिकी तो पराकाष्ठा ही दिखा दी है। कविता अतीव सरस, सरल और प्रसादगुण युक्त है। उसमें अधिकांश पद्य करुण-रससे भरे हैं। कविने ऐसे-ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदय-द्रावक ढङ्गसे प्रभुको आत्म-निवेदन किया है, कि कोमल अन्तःकरणवाले भावुकोंसे तो रोये बिना रहा ही नहीं जाता। प्रपत्तिके पुटने तो इसे विश्व-साहित्य में उच्च स्थान दिया है। अस्तु,

काव्य-दृष्टिसे यह 'शिशुपाल-वध' आदि महाकाव्योंसे बढ़-चढ़कर ही है। ऐसा भक्ति-समुद्रेक तो अन्यत्र दुर्लभ ही है। रस, भाव, गुण, अलंकार आदि काव्य-सामग्री इसमें भरी हुई छलकती है। कवितामें दो ही तत्व प्रधान होते हैं—शब्दों में माधुर्य और अर्थमें व्यंग्यत्व। प्रकृत काव्यमें ये दोनों बातें पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। ग्रन्थकारने स्थान-स्थान-पर अपनी कविताकी प्रशंसा स्वयं की है। उनकी गर्वोक्तियोंमें सहृदयोंको अत्यन्त ही आनन्द आता है। वे गर्वोक्तियाँ शिवभक्तिके पुटसे ऐसी मीठी हो गई हैं कि, क्या कहा जाय।

उदाहरणार्थ—

'द्राक्षा साक्षादमृतलहरी कर्कशात् काष्ठकोशाद्
भूरिच्छिद्रात् प्रकृतिमधुरा मूर्च्छना वंशगर्भात्।
सूक्तिव्याजान्मम च वदनात् कर्णपेया सुधेयं
निर्गच्छन्ती जनयति न कं विस्मयस्मेरवक्त्रम्॥'

(१७–२)

× × × ×

'मृगेन्द्रशावा इव कन्दरोदरात्, करीन्द्रकुम्भादिव मौक्तिकोत्कराः।
विनिःसरन्तः कवितुर्मुखादमी मनोज्ञतां बिभ्रति कस्य न स्तवाः॥'

(३८–१४)

× × × ×

'मनस्विनीनामिव साचि वीक्षितं स्तनन्धयानामिव मुग्धजल्पितम्।
अवश्यमासां मधु सूक्तिवीरुधां मनीषिणां मानसमार्द्रयिष्यति ॥'
(३८–१८)

× × × ×

वैसे तो इस काव्यके सभी स्तोत्र सरस और सरल हैं, तथापि कृपणाक्रन्दन, दीनाक्रन्दन और करुणाक्रन्दन नामक नवें, दसवें और ग्यारहवें स्तोत्रोंमें तो कविने समूचा ही करुणरस लाके भर दिया है। देखिए—

'दीर्घाण्यघान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि हानिर्बलस्य शरदीव नदी जलस्य।
दुःखान्यसत्परिभवा इव दुःसहानि हा निःसहोऽस्मि कुरु निःशरणेऽनुकम्पामू ॥'
(९–३६)

× × × ×

'विषयपन्नगपाशवशीकृतं भवमहार्णवमग्नमनीश्वरम्।
बहलमोहमहोपलपीडितं हर समुद्धर मां शरणागतम् ॥'
(१०–१९)

× × × ×

'स्वैरैव यद्यपि गतोऽहमत्रः कुकृत्यैस्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ॥'
(११–३८)

× × × ×

शब्दश्लेष [अक्षर-मैत्री] अनुप्रास और यमकके मिलानमें तो संस्कृत साहित्यमें भी शायद ही इस कविसे कोई बढ़ा होगा। देखिए—

'सर्वस्वमेव मम दत्तमहाप्रहारा हारामलं हर हरन्त्यरयो विवेकम्।
रक्षाकरी तव कृपाऽत्र कृतावहारा हा राजशेखरमणेः पुरतो-हतोऽहम् ॥'
(९–४१)

× × × ×

'अभ्येति मृत्युभटसंहतिरस्तकम्पा कम्पामहे मनसि यां विनिवेशयन्तः।
एका गतिर्गिरिश तत्र तवानुकम्पा कम्पात्रतां नयति या न शुभोदयानाम् ॥'
(९–३९)

× × × ×

'देवालये वसतिमर्थयते कपोतः सिन्धौ वणिग् भजति वृत्तिमशङ्कपोतः।
पृष्टे श्रियं वहति नित्य भनेकपोऽतः त्वद्भक्तिमेमि सरसीमिव भेकपोतः ॥
(९–४२)

कैसा सुन्दर भाव है ! कैसा सुन्दर स्वाभाविक अनुप्रास है। कितना प्रसाद और माधुर्य गुण भरा है ! 'कपोतः', 'अशङ्कपोतः', 'अनेकपोऽतः' और 'भेकपोतः' ये सभी पद सरल है। इस प्रकार सर्वत्र 'कपोतः'की सिद्धि होनेपर भी अर्थज्ञानमें बाधा नहीं हैं। अस्तु,

काव्यकी आत्मा (प्राण) है—ध्वनि। इसलिए ध्वनिमय काव्य ही सर्वोत्तम काव्य

माना जाता है। अतः साहित्य-विद्यामें जैसे-जैसे ध्वनि अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ प्रकट होता है, वैसे-वैसे ही उसका मूल्य उसी प्रकार बढ़ता जाता है, जिस प्रकार कि घण्टामें ध्वनिके तारतम्यके अनुसार उसके मूल्यमें तारतम्य हुआ करता है—

'यथा यथाऽस्यां ध्वनिरुज्जिहीते तथा तथा साऽर्हति मूल्यभेदान् ॥'

(शि० ली० १-८)

प्रकृत काव्य ध्वनिमय काव्य है। कविकी रचनामें जितना मृदुत्व अर्थात् प्रसाद गुण होता है और श्रोताकी बुद्धिमें जितनी कोमलता होती है, उनके मिश्रणसे प्रकट होनेवाली ध्वनिमें उतना ही उच्चत्व अर्थात् उत्कर्ष होता है :—

'यावत् कवेर्मार्दवमुक्तिबन्धे यावद्धियः श्रोतरि कोमलत्वम्।
तावद् ध्वनौ तद्व्यतिभेदमूले तारत्वमालङ्कृतिका वदन्ति ॥'

(शि० ली० १-९)

अस्तु, साहित्यकी रचना बड़ी ही सकुमार होती है। उसमें एक भी पद जरा-सा इधर-उधर हो जाय, तो उतनेसे ही उसकी शोभा बिगड़ जाती है। इसीसे महाकवि श्रीनीलकण्ठ दीक्षितने कहा है कि, "चाहे कितनी ही निर्दोष काव्य-रचना क्यों न हो, परन्तु उसमें एक भी पद यदि बेढङ्गसे रख दिया जावे, तो वह उसकी सारी शोभाको बिगाड़ देता है। जैसे कि किसी युवतीकी दन्तावली, मोतियोंकी लड़की-तरह सुमनोहर होनेपर भी यदि उसकी एक भी दाढ़ मुखसे जरासा भी बाहर निकल जाय, तो बस्, उतनेसे ही उसकी सारी दन्तावली-की शोभा मिट्टीमें मिल जाती है"—

'साहित्यविद्यां पदमेकमेव सर्वानवद्यामपि हन्ति दुःस्थम्।
मुक्तावलीं मौक्तिकदामरम्यां दंष्ट्रेव वक्त्राद् बहिरुल्लसन्ती ॥'

[शि० ली० म० का०]

इसके अतिरिक्त कवितामें अत्यन्त सुन्दर, चुने चुने पद ही क्यों न भरे हों, परन्तु यदि उनका विन्यास उचित ढङ्गसे यथा-स्थान न किया जाय, तो भी वे निर्दोष रम्य पद काव्यकी शोभाको नहीं बढ़ा सकते। अत्यन्त सुन्दर ताटङ्कबिम्ब (कानोंका आभरण) यदि तरुणीके नासाग्रमें पहना दिया जाय, तो उससे उसकी शोभा कैसे हो सकती है ? इसीलिए महाकवि नीलकण्ठ दीक्षितने यह कितना सुन्दर कहा है :—

'पदानि भव्यान्यपि काव्यरीतिम्, अस्थानदत्तानि न शोभयन्ते।
नासाग्रलग्नेन भवेन्मुखश्रीस्ताटङ्कबिम्बेन कथं तरुण्याः ॥'

(शि० ली० म० का०)

परन्तु, प्रकृत कविने अपने इस महाकाव्यमें बाईसवें सर्गसे लेकर तीसवें सर्ग पर्यन्त नौ स्तोत्रोंकी रचनाओंमें चित्रकाव्यका आश्रय लेकर किसीमें 'कादि-पदबन्ध', किसीमें 'शृङ्खलाबन्धन', किसीमें 'द्विपद-यमक', किसीमें 'पादादि-यमक', किसीमें 'पादान्त-यमक' और 'महायमक' तकको गुम्फन करके प्रत्येक पद्यमें मानो चमकते हुए हीरोंको यथास्थानपर जड़ते हुए अपनी कवित्व-शक्तिका सामर्थ्य एवं लोकोत्तर प्रतिभाको व्यक्त किया है और विशेषता यह है कि उसकी ऐसी काव्य-रचनामें विशेष क्लिष्टता नहीं है और

न कहीं कोई निरर्थक पद ही प्रयुक्त हुआ है। और तो जाने दीजिए, इतनी वृहद् रचनामें कहींपर भी 'च', 'तु' और 'हि' शब्द भी निरर्थक नहीं हैं। श्लोकका पदच्छेद करते ही भाव समझमें आ जाता है। उदाहरणार्थ—

'किमाम्रवन्या समरालवालया प्रियाकबर्या किमरालबालया।
सरःश्रिया किं समरालबालया धृतेशभक्तिर्ह्यमराऽलवाऽलया॥'
(२९-१६)

× × × ×

'अनन्तराऽयन्त्रितवाग्भवस्त्वां गृणाति यो नित्यमनन्तरायम्।
अनन्तरायं समुपेत्य लक्ष्मीर्निषेवते तं समनन्तरायम्॥'
(३०-१४)

× × × ×

और भी कवि-कौशल देखिए। महायमकके पुटके साथ कितना उच्चकोटिका भाव भरा हुआ है—

'घनैरहन्ताकृतलङ्घनैरहं महारिभिर्निर्मलशर्महारिभिः।
निराकृतौजा धृतहानिराकृतौ न तेऽवलेपावसरो नतेऽबले॥'
(३०-१८)

× × × ×

शब्द-श्लेषकी पुटमें उपमालङ्कारकी यह अद्भुत छटा भी देखने योग्य है—

'उदारवर्णैरथसंगतैरहं मुदाभिधावद्भिरुपोढलक्षणैः।
पदैरमन्दध्वनिभिर्महेश्वरं प्रभुं प्रपद्ये तुरगोत्तमैरिव॥'
(२९-१)

× × × ×

अस्तु, आरम्भमें कविने भगवान् शिवको, उनकी स्तुतिसे, प्रसन्न करनेके लिए अपनी सरस्वतीका आराधन किया था। उसे उसने सजधजके साथ पूरा उतार दिया। इसपर अन्तमें कविने अपनी उस काव्य-सरस्वतीके प्रति, कविताके शब्दोंमें, कृतज्ञता-प्रकाश करते हुए उपक्रम और उपसंहारके ऐक्यको बताकर ग्रन्थ समाप्त किया है। इसका अन्तिम सूक्त है—

'यत्सत्यं सदसद्विवेकविकलग्रामीणकग्रामणी-
मिथ्यास्तोत्रपरा पराभवभुवं नीतासि भीतास्यतः।
मातः कातरतां विमुञ्च यदसौ सौभाग्यभाग्यावधिः
सञ्जातो जगदेकनाथनुतिभिर्वाग्देवि ते विभ्रमः॥'
(३९-१६)

× × × ×

ग्रन्थकारका परिचय

इस कुसुमाञ्जलिके रचयिता महाकवि श्रीमज्जगद्धरभट्ट हमारे काश्मीरदेशके रहनेवाले थे। उनके पितामहका नाम 'गौरधर' और पिताका नाम 'रत्नधर' था। गौरधर भगवान् शङ्करके अनन्य भक्त थे और समस्तशास्त्रोंके पारङ्गत थे। उन्होंने यजुर्वेदपर 'वेदविलास' नामक भाष्य बनाया था, यह बात जगद्धरभट्टने इस ग्रन्थमें स्वयं लिखी है—

'अनन्तसिद्धान्तपथान्तगामिनः समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना व्यनक्ति यस्याद्भुतविश्रुतं श्रुतम्॥'

(स्तु० कु० ३९-३)

रत्नधर भी बड़े मूर्धन्य विद्वान् और गुणनिधान थे। सरस्वतीने विवश होकर उनके हृदयका आश्रय ले लिया था। उनकी सूक्तियोंको सुनकर सहृदयजन आश्चर्यसे चकित हो जाते थे[1]।

महाकवि श्रीजगद्धरकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। तर्कशास्त्रमें तो वह इतने निपुण थे कि उनके सामने प्रतिवादियोंके मुँहपर मुहर-सी लग जाती थी[2]। सरस्वतीकी तो उनपर इतनी कृपा थी कि उसने उनके मनो-मन्दिरको अपने [3]स्वेच्छा-विहारका स्थल बना लिया था। वह अतीव सहृदय, निर्मत्सर, मधुरभाषी और अतिशय विनीत थे। कवितामें तो वह इतने प्रौढ थे कि सुन्दर और सरस उक्तियोंने एकमात्र उन्हींकी शरण ले ली थी[4]। शास्त्रोंका परिशीलन और कविता प्रेम तो उनकी वंश परम्परासे ही चला आता था।

इनका स्थितिकाल सन् १३५० ईसवीके लगभग माना जाता है। इसका पता ऐसे लगता है कि इन्होंने अपने पुत्र 'यशोधरभट्ट' के पढ़नेके लिए एक और व्याकरण ग्रन्थ भी रचा है। वह है 'बालबोधिनी' नामक कातन्त्रवृत्ति। उसके आरम्भ और समाप्तिमें उन्होंने स्वयं लिखा है—

"स्वसुतस्य शिशोर्यशोधरस्य स्मरणार्थं विहितो मया श्रमोऽयम्।
उपयोगमियाद् यदि प्रसङ्गादपरत्रापि ततो भवेदबन्ध्यः॥"

तथा—

"इति मितमतिबालबोधनार्थं परिहृतवक्रपथैर्मया वचोभिः।
लघु ललितपदा व्यधायि वृत्तिर्मृदुसरला खलु बालबोधिनीयम्॥"

इस वृत्तिकी एक संस्कृत टीका भी है। उसके रचयिता राजानक शितिकण्ठ हैं। वह भी काश्मीरके ही अन्तर्गत पद्मपुरके रहनेवाले थे और जगद्धरके दौहित्रकी दौहित्रीके पुत्र थे। यह बात शितिकण्ठने अपनी व्याख्याके आरम्भमें स्वयं लिखी है—

यो बालबोधिन्यभिधां बुधेन्द्रो जगद्धरो यां वितान वृत्तिम्।
तन्नप्तृकन्यातनयातनूजो व्याख्यामि तां श्रीशितिकण्ठकोऽल्पम्॥"

---

१. देखिए— ३९ वाँ स्तोत्र, श्लोक सं० ४, ५, ६।
२. देखिए—३९ वाँ स्तोत्र, श्लोक सं० ७।
३. देखिए—३३ वाँ स्तोत्र, २ श्लोक, तथा ३९ वाँ स्तोत्र ८ श्लोक।
४. देखिए—३९ स्तोत्र, ९ श्लोक।

शितिकण्ठने अनेक देशोंमें भ्रमण किया; शास्त्रोंकी बहुत समालोचना की। उस समय गुजरातके अधिपति मुहम्मदशाह तकने उनका यथेष्ट सम्मान किया। जिस समय हैदरशाहका लड़का हसनशाह काश्मीर-प्रदेशका राज्य करता था, उस समय शितिकण्ठने यह व्याख्या की थी। यह बात भी उन्होंने अपनी व्याख्याके प्रारम्भमें लिखी है—

"..

भूजानौ हस्सनाख्ये भुवमवति मया तन्यते ग्रन्थ एषः ॥"

मुहम्मदशाहने सन् १४५८ से सन् १५११ ईसवी तक गुजरातका, और हसनशाहने सन् १४७२ से सन् १४८४ ईसवीं तक, काश्मीरका राज्य किया। इसी समय शितिकण्ठने जगद्धरभट्टके ग्रन्थकी व्याख्या की। इसके सौ-सवा-सौ वर्ष पहले ही श्रीजगद्धरभट्ट हुए होंगे। क्योंकि राजानक शितिकण्ठ उनकी छठी पीढ़ीमें हुए थे। अतएव सन् १३५० ई० के लगभग ही 'जगद्धरभट्ट' के स्थितिकालका अनुमान होता है। अस्तु,

इस 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि'-की 'लघुपञ्चिका' नामक संस्कृत-टीका—परिशिष्टरूपमें प्रस्तुत पुस्तकके साथ दी गई है। इसके रचयिता राजानक रत्नकण्ठ हैं। वे भी काश्मीरके ही निवासी थे। बड़े ही विद्वान् और भगवान् सदाशिवके अनन्य भक्त थे। उनके बनाये काव्यप्रकाश-टीकासार-समुच्चय, चित्रभानुशतक, युधिष्ठिरविजयटीका आदि कई ग्रन्थ पाये जाते हैं। राजानक रत्नकण्ठ औरङ्गजेबके समयमें विद्यमान् थे। उन्होंने विक्रम-संवत् १७३८ में इस 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि'-की यह टीका बनायी थी। यह बात उन्होंने अपनी टीकाके अन्तमें स्वयं लिखी है—

"वस्वग्न्यत्यष्टिभिर्वर्षे मिते विक्रमभूपतेः।
अवरङ्गमहीपाले कृत्स्नां शासति मेदिनीम् ॥
बालानां सुखबोधाय हर्षाय विदुषां कृता।
जगद्धरकवेः काव्ये तेनैषा लघुपञ्चिका ॥"

इस टीकासे विदित होता है कि इसके अतिरिक्त प्राचीन अन्यान्य विद्वानोंने, और भी कई संस्कृत-टीकाएँ इसपर लिखी थीं। प्रस्तुत टीकामें राजानक रत्नकण्ठने कई स्थलोंपर कई टीकाओंका उद्धरण देते हुए लिखा है कि—'इति प्राचीन-टीका', 'इति प्राचीन टीकायाम्', 'इति प्राचीनादर्शटीका', 'इति जितेन्द्रियकृत-टीकायाम्' इत्यादि। परन्तु इस समय इस महाकाव्यकी केवल एक यही संस्कृत टीका उपलब्ध है। अन्य टीकाओंके अन्वेषणके लिए गवेषक विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिए। अस्तु,

जगद्धरकविके बनाये हुए केवल दो ही ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते हैं। एक तो यही 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' और दूसरी पूर्वोक्त 'कातन्त्रवृत्ति'। कुछ विद्वानोंका कथन है कि वासवदत्ता, वेणीसंहार और मालतीमाधव, नाटकोंके टीकाकार भी यही जगद्धर थे, परन्तु उन ग्रन्थोंका पर्यालोचन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि उनके टीकाकार जगद्धर कोई अन्य ही थे। दूसरी बात यह भी है कि महाकवि जगद्धरका अन्तःकरण बाल्यावस्थासे ही भगवान् शिवकी समाराधनाकी ओर झुक गया था, इस कारण सुधाके सहोदर भगवान् शम्भुके स्तवनको छोड़ कर अन्य कोई ग्रन्थ लिखनेकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई। ये चाहते तो अपनी प्रतिभाको दूसरी ओर मोड़कर माघ, नैषध आदि महाकाव्योंके समान या और भी किसी विलक्षण

ढङ्गके शृंगारादि रसमय काव्यको रचकर, अन्य कवियोंके समान किसी लौकिक नायक-नायिकाओं के चरित्रोंका वर्णन करके अन्यान्य कवियोंकी कृतियोंसे भी विलक्षण कृतिको रचकर, उच्च कोटिके अन्य महाकाव्यका निर्माण कर सकते थे। परन्तु उन्होंने लौकिक नायकोंके चरित्रके वर्णनमें वाग्देवीका यथार्थ सदुपयोग न समझकर, अपनी शैशव अवस्थासे ही, केवल एक भगवान् शिवकी ही स्तुतिसे अपनी मनुष्यता, पुरुषता, ब्राह्मणता, मनीषिता और सत्कविताको कृतार्थ मानकर आजन्म वही कार्य किया। (देखिए—३९ स्तोत्र १० श्लोक) अस्तु,

सुयोग्य सद्गुरु करुणासे प्रेरित होकर अपने योग्य-शिष्यपर शक्तिपात कर देते हैं; जिससे शिष्यके अन्दर ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका अद्भुत चमत्कार हो जाता है। यह बात आगम शास्त्रमें बतलायी गई है।

प्रस्तुत महाकवि श्रीजगद्धरभट्टपर भी किसी सिद्ध सद्गुरुकी कृपादृष्टि द्वारा शक्तिपात हुआ था, इसीसे उनमें ऐसी अपूर्व प्रतिभा एवं कवित्वशक्तिका उदय हुआ। यह बात इस ग्रन्थके अन्तिम (३९ वें) स्तोत्रके १५ वें श्लोकसे सुस्पष्ट हो जाती है।

जगद्धरभट्टकी इस अद्भुत कृतिका प्रभाव उनके अर्वाचीन बड़े-बड़े विद्वानों और भक्तों-पर पड़ा। भक्त कवि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी कृतियोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि उन्हें यह ग्रन्थ अपने स्वाध्याय-साहित्यमें सर्वप्रिय था। अतः यह बात निश्चित है कि गोस्वामीजीके प्रादुर्भाव कालतक इस ग्रन्थका प्रचार समूचे भारतमें हो चुका होगा। तुलनात्मक-दृष्टिसे प्रतीत होता है कि, इसका प्रभाव गोस्वामीजीके हृदयपर बहुत अधिक पड़ा था। देखिये —

जगद्धरभट्टने अपने जीवनमें केवल एक भगवान्के ही गुणानुवादमें अपनी कवित्व-शक्तिका सदुपयोग करते हुए कविके लिए प्राकृत पुरुषोंका गुणगान करना अत्यन्त ही अनुचित बतलाया है—'उष्णं निःश्वसिति० (५–३४)।

इधर गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपने ग्रन्थमें भगवान्के सिवाय अन्य लौकिक नायक, नायिकाओंका गुणगान करना बहुत अनुचित बतलाया है—

' कीन्हे प्राकृतजन गुनगाना। सिरधुनि गिरा लागि पछिताना॥ '

निर्दम्भ विनयके द्वारा अपना अनौद्धत्य प्रकट करते हुए महाकवि जगद्धरने अपनी कविताके विषयमें कहा है कि—

एताः पूर्वकविप्रणीतविविध० (५–३६)

इधर गोस्वामीजीने भी बिलकुल यही भाव अपने शब्दोंमें, यों व्यक्त किया है—

"भनिति मोरि सब गुन-रहित, विश्व विदित गुन एक।
सो विचारि सुनिहँहिं सुमति, जिन्हके विमल विवेक॥"
' एहिमहँ रघुपति नाम उदारा। अतिपावन पुरान स्रुतिसारा॥ '

अपनी कविताके विषयमें जगद्धरभट्टने कहा है कि—अपनी कविता भला किसको अच्छी नहीं लगती—'न हृद्यतामेति परस्य दुर्मुखः०' (३८–४)

यही भाव गोस्वामीजीने भी व्यक्त किया है—

' निजकवित्त केहि लाग न नीका। सरस होहि अथवा अतिफीका॥ '

इसके अतिरिक्त विनयपत्रिकाकी रचना तो गोस्वामीजीने इस कुसुमाञ्जलिके ही अनुकरणपर की है। देखिए—प्रकृत ग्रन्थमें कविने माता पार्वतीजीसे प्रार्थना की है कि, देवि, माँ, आप अवसर पाकर भगवान्से मेरी यह प्रार्थना निवेदन कर दीजिए—

'देवि प्रपन्नवरदे गुणगौरि गौरि'—(११–२७)

ठीक इसी तरह, गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपनी विनय-पत्रिकामें श्रीसीता अम्बासे, यही प्रार्थना की है—

'कबहुँक अम्ब अवसर पाइ मेरी औ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ, इत्यादि।

इसके अतिरिक्त 'प्रस्तुत ग्रन्थ' तथा 'विनयपत्रिका'-का उपसंहार भी एकसे ढङ्गका है। देखिए—

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तमें जगद्धरभट्टने श्रीगणपति, स्वामी कार्तिकेय, नन्दी आदि शिवगणोंसे प्रार्थना की है कि 'आप लोग मेरी यह भेट भगवान् श्रीशङ्करके चरणोंमें पहुँचा दीजिए !'

अयि प्रमथनायक त्रिजगतामधिष्ठायक० (३८ स्तो०–२७)

ठीक इसी तरह, इधर, विनयपत्रिकामें, गोस्वामीजी भी श्रीहनुमान्, लक्ष्मण, भरत आदिसे प्रार्थना करते हैं कि 'आप लोग मेरी यह विनय भगवान् श्रीरामको सुना दें।' बिलकुल छाया है।

इन्हीं सब बातोंको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि'का प्रभाव गोस्वामी तुलसीदासजीपर अत्यधिक पड़ा था और इसीके अनुकरणपर उन्होंने विनयपत्रिकाकी रचना की थी। अस्तु,

हिन्दी-जगत्को इस पुस्तकका प्रथम-प्रथम परिचय स्वर्गीय आचार्य, पं० श्रीमहावीर-प्रसादजी द्विवेदीने कराया। सन् १९२३ में उन्होंने इस ग्रन्थके कुछ श्लोकोंका अनुवाद करके उसे 'सरस्वती' पत्रमें प्रकाशित किया था। उसी हृदयाकर्षक उनके उद्दाम लेखने ही मुझे भी सर्वप्रथम इस ग्रन्थके समास्वादनके लिए प्रवृत्त कराकर, अपनी छात्रावस्थामें ही इसके अनुवाद-के लिए लेखनी उठानेको भी उत्कण्ठित किया।

अनुवाद पूर्ण हो जानेपर, प्रथम संस्करणके छपते समय, 'कल्याण' के सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके मुखसे मुझे ज्ञात हुआ कि—स्वर्गीय श्रीद्विवेदीजीने, इसका हिन्दी अनुवाद कराकर उसे प्रकाशित करनेके लिए गीता-प्रेसवालोंसे, बार-बार अनुरोध किया था। द्विवेदीजीको यह ग्रन्थ इतना प्रिय था कि वे कहते थे कि "मैं जब इस ग्रन्थके पद्योंपर कुछ लिखने या अनुवाद करने बैठता हूँ, तो मेरी आँखोंमें आँसुओंकी झड़ी-सी लग जाती है और कागज सब भीग जाता है।" अस्तु। इस ग्रन्थको देखते ही वे प्रेम-विभोर हो उठते थे। मुझे इसका अनुभव तब हुआ कि, जब इसके छप जानेपर, मैंने इसके छपे फार्म उनकी सेवामें भेजे, तो उन्होंने इस प्रसंगमें, बिना किसी परिचयके, मेरे लिए ४* पत्र भेजकर अनेकों साधुवाद प्रदान किये। और उनकी सत्कीर्तिशालिनी लेखनीने इस अनुवादके ही प्रसङ्गमें, अपने जीवनके अन्तिम क्षणोंमें, मेरे लिए ये पत्र लिखकर ही अन्तिम विश्राम लिया। इसलिए उनकी आत्माका मैं अत्यन्त ही आभारी हूँ। अस्तु,

इस अनुवादका प्रथम संस्करण सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ था, जो कि इधर

*उनके ये चारों पत्र 'सरस्वती' पत्रके द्विवेदी अंकके बाद वाले अंकमें प्रकाशित हैं।

१०।१२ वर्षसे दुष्प्राप्य हो गया। तबसे इसके मर्मज्ञ कई विद्वानोंने इसे कहीं न पाकर इसके द्वितीय संस्करणके प्रकाशनके लिए बार-बार मुझे प्रेरित किया। परन्तु पूर्व-प्रकाशनमें अनुभूत कठिनाइयों एवं वर्तमान समयकी भीषण मँहगाईको देखते हुए, इसे स्वयं प्रकाशित करनेकी मेरी हिम्मत नहीं हुई। तथापि इधर ४।५ वर्ष पूर्व कई विद्वानोंने इस ग्रन्थके लिए अत्यन्त लालायित होकर द्वितीय संस्करणके प्रकाशनके लिए उद्योग करनेको जब पुनः बाध्य किया तो मैंने इसके लिए एक प्रकाशकसे बात की, तबतक संयोगवश एक दिन मेरे सम्मान्य मित्र, काशी हिन्दू-यूनिवर्सीटीके भूतपूर्व रजिस्टार एवं गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालयके सेक्रेटरी, स्वर्गीय श्रीगङ्गाप्रसादजी मेहता एम० ए० महोदय, ने उधरसे मुझे हटाकर इस पुस्तकपर लालायित होकर आत्मीयतासे कहा कि—भाई, मेरी यह इच्छा है कि "इसका द्वितीय संस्करण हमारे 'अच्युत-ग्रन्थमाला' से प्रकाशित हो!"

श्रीमेहताजीको यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रिय और अभ्यस्त था। मैंने उनकी इस सदिच्छाको स्वीकार कर लिया। तब उन्होंने इसके प्रकाशनार्थ 'अच्युत-ग्रन्थमाला' के अध्यक्ष पं० श्रीकृष्ण पन्त, महोदयसे भी अनुरोध किया। पन्तजीकी स्वीकृतिके अनन्तर फिर उनसे मैंने इसकी दुष्प्राप्य प्राचीन संस्कृत टीकाको भी, जो कि ५० वर्ष पूर्व 'निर्णयसागर प्रेस' से काव्यमालाके अन्तर्गत प्रकाशित हुई थी, लुप्त होते देखकर, अनुवादके साथ प्रकाशित करनेका अनुरोध किया। आपने इस बातको स्वीकार कर लिया। अतः यह संस्करण उक्त ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो रहा है। अस्तु, संस्कृत टीकाको—श्लोक और अन्वयके साथ-साथ रखनेपर अनुवाद कुछ दूर पड़ जानेके भयसे, तथा उसको केवल पण्डितोंकी ही उपयोगी समझकर, पाठकोंको कुछ कठिनाई होगी, इस आशंकासे श्लोकोंसे साथ-साथ न रखकर—अन्तमें परिशिष्टके रूपमें—श्लोकका प्रतीक देकर, रख दिया है। जिसे कि विद्वान्-लोग आवश्यकतानुसार देख सकते हैं। अस्तु,

अच्युत ग्रन्थमालाध्यक्ष श्रीमान् पन्तजीने इसके प्रकाशनकी समुचित व्यवस्थाके अतिरिक्त अपने कार्योंसे अवकाश न मिलनेपर भी, समय-समयपर कई श्लोकोंके भावोंको अभिव्यक्त करनेमें अनुवाद एवं संस्कृत टीकामें भी कई जगह त्रुटित एवं अपूर्ण अंशकी परिपूर्ति करनेमें साहाय्य प्रदान किया है। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

इसके अतिरिक्त उनके भूतपूर्व सहायक श्रीमान् गोविन्द नरहरि बैजापुरकर, महोदयका भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इसके सम्पादनमें आरम्भसे ३० फार्मतक प्रूफ-संशोधनमें, पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। अस्तु,

मुद्रण कार्यमें दुर्भाग्यवश बहुत अधिक समय व्यतीत हो जाने, और इसी बीच पूर्वोक्त हमारे मेहता महोदयके स्वर्गीय हो जानेपर यद्यपि वे इस संस्करणको पूर्ण प्रकाशित नहीं देख पाये, तथापि उनकी अमर आत्माको, अब इसके प्रकाशित हो जानेसे, अवश्य ही सुख प्राप्त होगा। अस्तु,

अन्तमें अपने एकमात्र आधार भगवान् श्रीविश्वनाथके चरणाम्बुजोंका भी मैं अतीव कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कि—स्वर्गीय श्रीद्विवेदीजीके शब्दोंमें, काशीमें इतने विद्वानोंके रहते हुए भी, मुझ-जैसे अयोग्य, अकिंचन व्यक्तिके द्वारा छात्रावस्थामें ही इस गंभीर काव्य-रत्नका हिन्दी-अनुवाद कराकर इसके जीर्णोद्धारका कार्य कराया।

इसके साथ ही साथ उनकी गृहेश्वरी जगज्जननी अन्नपूर्णा—श्रीपार्वतीजीके चरणाम्बुजोंमें भी, पर्वतीय होनेके नाते, इस प्रान्तीयतामय समयमें अपने दो-तीन उपालम्भमय पद्य-पुष्प समर्पित करता हूँ :—

(१)

'नित्यं वसत्यतितरां निकटे त्वदीये दृष्टिं दधासि न हि पार्वति पर्वतीये ।
शैलाधिराजदुहितस्त्वयि कर्कशत्वं युक्तं कपालिनि कपालिगृहाधिदेव्याम् ॥'

(२)

'उच्चैः स्वपूर्वजभुवं परिहाय मातर्नीचैस्त्वदन्तिक इहाऽवसमुच्चवाञ्छः ।
नीचत्वमेव ननु याम्यसुवाङ्मनोभिस्त्वां स्थाणुपट्टमहिषीं श्रित एष मन्दः ॥'

(३)

'किं वा किमेभिरतितुच्छमनोविकारैस्त्वं सर्वदासि सुतरां मयि सुप्रसन्ना ।
नो चेद्दिनानुदिनमम्ब कथं सुभोगैः कालं नयामि नितरामलसोऽलसविद्यः ॥'

विनीत—

प्रेमवल्लभ त्रिपाठी,
अध्यक्ष, धर्मशास्त्र-विभाग,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

अक्षय तृतीया
संवत् २०२१
(१४-५-६४)

'इयं मधुश्रीरिव केलिकाननं
सरोवरं प्रावृडिवातपक्षतम् ।
स्तवावली काव्यकुतूहलं सता-
मकालजीर्णं तरुणीकरिष्यति ॥'

[स्तु० कु० ३८–१७]

●

'काश्यां वसन्तमपि नोज्झति मामविद्या
मोहान्धकारजननी दयितेव नाथम्।
तद्दुष्प्रसङ्गवशमुज्झितसद्विवेकं
हेविश्वनाथ कृपयोद्धर मामनाथम्॥'

× × × ×

'यस्त्वं समग्रभुवनार्तिममृष्यमाणो
हालाहलं करुणया चुलुकीचकर्थ।
स त्वं कथं गतधृतिं प्रतिवेशिनं मा-
मीषन्निभालयसि नो विविधाधिभीतम्॥'

× × × ×

'नालङ्कृता न सरसा न च हृद्यवर्णा
नैवास्ति हन्त भणितिर्गुणिनी ममैषा।
वृत्तस्थिता सुवनितेव तथापि शुद्ध-
भावा हरिष्यति मनो जगदीश्वरस्य॥'

[अनुवादक]



दौलतपुर (जिला रायबरेली)
५ जुलाई ३८

श्रीमत्सु धर्मशास्त्राचार्यमहोदयेषु प्रणतयो विलसन्तु।

आज सुबह उठकर अपने कमरेमें आया। आखें बन्द करके प्रार्थना करने लगा—

'पापः खलोऽयमिति नार्हसि मां विहातुं किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्म्मा तस्मात्तवास्मि नितरामनुकम्पनीयः॥'
(स्तु० कु० ११-३७)

इतने ही में एक रजिस्ट्रीशुदा पैकेट डाकखानेसे मिला। भेजनेवाले कोई D. L. Shah I. F. S., Deputy Conservator of Forests, Kanpur मालूम हुए। समझमें न आया, ये कौन महाशय हैं।

खैर, पैकेट खोला तो आपका पत्र मिला। साथ ही ५४४ पृष्ठों तक 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' की कापी। यत्र-तत्र देखा।

विश्वास कीजिए आपकी इस सत्कृतिको देखकर और प्राप्त करके मुझे जो सुख, समाधान और सन्तोष हुआ, उसकी इयत्ता नहीं। मुझे तो यह पुस्तक क्या एक निधि-सी मिल गई। मुझे स्वप्नमें भी कभी यह खयाल नहीं आया था, कि मेरे सदृश अल्पज्ञ और अपुण्यकर्माका पृष्ठ-पोषक भी कभी कहीं मिलेगा। उस विचारको आपने असत्य साबित कर दिया। धन्योऽसि।

शङ्करः शं करोतु ते।

महाराज, आपने बड़ा काम किया। संस्कृत और हिन्दी दोनों टीकाएँ परमोत्तम हैं। हिन्दीको तो टीका नहीं, अनुवाद ही कहना चाहिए। कविके भावको आपने बड़े सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त कर दिया है।

इस 'कुसुमाञ्जलि'की जैसी भक्तिभाव-पूर्ण कविता संस्कृत-साहित्यमें भी शायद ही अन्यत्र कहीं मिले। श्रीमद्भागवतमें कुछ स्थल ऐसे जरूर हैं, जिनके आकलनसे हृदय द्रवीभूत हो जाता है। जैसे—

'सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥'
(१० २९-३५)

× × ×

मैं आपको शतशः साधुवाद प्रदान करता हूँ। आपने इस पुस्तकको लिखकर एक बहुत ही पुण्यका काम कर दिया। आशा है, कविताके प्रेमी और रसिक भक्त इस पुस्तकसे परमानन्दकी प्राप्ति कर सकेंगे।

मैं बहुत बूढ़ा हूँ। दृष्टि भी क्षीण हो रही है। अधिक नहीं लिख सकता। क्षम्यताम्।

कृतार्थीकृत
महावीर प्रसाद द्विवेदी

[२]

दौलतपुर (रायबरेली)
७-१०-३८

नमो नमस्ते विबुधोत्तमाय

मेरा ५ जुलाईका पत्र मिला होगा। 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' यदि छपकर तैयार हो गई हो, तो उसकी २ प्रतियाँ मुझे भेजनेकी उदारता दिखाइए—एक मेरे लिए, दूसरी मेरे एक शिवभक्त मित्रके लिए। कृपा होगी।

प्रणत
महावीरप्रसाद द्विवेदी

[३]

दौलतपुर, (रायबरेली)
ता० २०-१०-१९३८

नमो नमस्ते विदुषां वराय,

१६ ता० का कृपापत्र मिला। 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि'के फार्म भी। प्राक्कथन पढ़ा। परमानन्द हुआ। आप बड़े ही भावुक और सच्चे काव्य-परिज्ञाता हैं। काशी-में इतने पण्डितों और शिवभक्तोंके होते हुए भी किसी और की नज़र जगद्धर भट्टकी इस अद्भुत कृतिकी ओर न गई, यह बड़े ही आश्चर्य और परितापकी बात है। खैर, आपने विश्वनाथजीकी नगरीकी इज्जत रख ली। भगवान् सदाशिव आपका कल्याण करें।

आपने जो अपनी रचित स्तुतिकी नकल भेजी, उसे पढ़कर मेरे नेत्र ही नहीं, मेरा हृदय भी आर्द्र हो उठा। आपकी कृति जगद्धरकी कृतिका पूर्णतया अनुसरण करती है।

जो फार्म आपने पहले भेजे थे, उन्हें तो एक शिवभक्त हाथ पैर जोड़कर उठा ले गये। जो फार्म आज भेजे हैं, वे भी इसी तरह जायँगे। जब पुस्तक पूरी छप जाय और ज़िल्द बँध जाय, तब उसकी एक कापी आप मेरे लिए भेजनेका कष्ट उठावें।

विनीत
म० प्र० द्विवेदी

———

सूचीपत्रम्

मृगेन्द्रशावा इव कन्दरोदरात्
करीन्द्रकुम्भादिव मौक्तिकोत्कराः ।
विनिःसरन्तः कवितुर्मुखादमी
मनोज्ञतां बिभ्रति कस्य न स्तवाः ॥
(स्तुति-कु० ३८, १४)



॥ ॐ श्रीगणेशाय नमः ॥

स्तुति-कुसुमाञ्जलि

प्रेममकरन्द-सहित

(१)

ब्रह्मज्ञान-विवेक-निर्भरवपुःकान्त्या जगद् भासयन्
दृष्ट्या शन्तमया कृपाप्रवणया तापत्रयं संहरन्।
पीयूषद्रवसिक्तया मधुरया वाचा च सम्मोदयन्
दीनोद्धारपरायणो विजयते कारुण्यपूर्णो गुरुः॥

(२)

यद्वक्त्राम्बुज-निःसरन्मधु-सुधाधारासु बद्धादरा
वीणाया रणनं विहाय वदनाम्भोजे दधानाऽङ्गुलिम्।
वाग्देवी गतचापला चिरतरं सन्तिष्ठते मूकवत्
सोऽव्यान्मां भवभीतितो हरिहरानन्दाभिधः सद्गुरुः॥

(३)

काऽसौ जगद्धरकविः कविचक्रवर्ती
स्थाणुश्च[1] यद्रचनया सरसो बभूव।
काऽहं विवेक-विकलः क च शम्भुभक्ति-
स्तस्मादियं खलु ममास्ति विडम्बनैव॥

(४)

किं वाऽनेन मदीयकातरमनोवृत्तेन चेत् सद्गुरोः
कारुण्यस्मितवीक्षणं मयि भवेत्किंनाम दैन्यं महत्।
यत्पादाम्बुजचिन्तनेन विविधब्रह्माण्डजन्मस्थली-
माया-निर्मित-संभ्रमोत्थित-भियां नामाऽपि न श्रूयते॥

(५)

विद्या-गुण-विहीनेऽपि वात्सल्यमुररीकृतम्।
मयि येन स शं कुर्यात् कोऽपि देवः कृपापरः॥

संसारमें कवियोंकी कमी नहीं, बहुत-से गली-गली मारे फिरते हैं। कितने ही कायावादी, छायावादी आदि मनोराज्यमें झूमते रहते और निरर्थक शब्दोंको तोड़ा-मरोड़ा करते हैं। धनिकोंके झूठे अभिनन्दन, प्रशस्तियाँ लिख-लिखकर उनसे

(१) अपीत्यर्थः।

धन ऐंठा करते हैं । ऐसे ही लोग 'शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति' उक्तिके विषय होते हैं । अवश्य इनमें कुछ ऐसे भी निकल जाते हैं, जिनकी उक्तिमें कुछ चमत्कार आ जाता है। पर एतावन्मात्रसे वे कविपदसे विभूषित नहीं किये जा सकते। कविकी बड़ी जिम्मेदारी होती है। वह यम-नियमादि साधनोंके कड़ुवे काढ़ोंके पीनेसे मिटनेवाले जागतिक विविध दुःख-ज्वरोंको अपनी मर्यादाबद्ध रसस्निग्ध वचन-सिता (मिसरी) से सदाके लिए अस्त कर देता है। उसकी कृतिमें वह शक्ति होती है जो जीवको शाश्वतिक सभाके लिए दुर्लभ ब्रह्मानन्दके सिंहासन पर सुखासीन कर देती है। यह शक्ति, यह प्रतिभा, यद्यपि किन्हीं पूर्वोपार्जित पुण्य या भगवत्कृपाका ही फल होता है, तथापि सद्गुरु-सेवापूर्वक सरस्वती-समाराधन भी इस दिशामें महत्त्व प्रदान करता है। काव्यानुशासनका अनुशीलन ही कृतिमें कलाका उदय करता है। परन्तु रचनाका विषय यदि भगवत्सम्बद्ध हो जाय, तो समस्त कलाएँ अहमहमिकया उसे अपना आश्रय बनाती हैं। ऐसी रचनाके साथ रचयिता अजर-अमर हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें इसी ओर संकेत है। श्रीनारदजीने व्यासजीसे कहा है—

'न यद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥
तद् वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥'

इन विशेषताओंके कारण ही कवि क्रान्तदर्शी और स्वयंभूतक होता है। वह जिस पथका पथिक होता है, संसारको उसी पथका पथिक बना देता है—

'शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।'

प्रस्तुत कवि श्रीजगद्धरभट्ट इसी कोटिके हैं। उनके आलम्बन-विभाव साक्षात् रसस्वरूप भगवान् सदाशिव हैं। आपने अपनी समस्त भावनाएँ उन्हींके चरणोंमें समर्पितकी हैं। दोषोंको तो उस ओर झाँकनेकी भी हिम्मत न हुई, पर उत्कर्ष-हेतु माधुर्यादि गुण, श्लेष, विरोधाभासादि अलङ्कार और करुणादि ध्वन्यमान रस दूर-दूरसे दौड़कर समाविष्ट हुए हैं। शब्द तो मानो शिष्यके समान उनके आज्ञाकारी हैं और उक्ति-वैचित्र्यका तो मानो भण्डार ही खुल गया। सबसे बड़ी विशेषता तो यह हुई है कि बिना किसी कथानक-वर्णनके प्रकीर्ण विविध भावोंमें ही डेढ़ हजारके लगभग पद्योंकी अनवद्य रचना हो गयी। अतएव यह 'भावकाव्य' है और भावकाव्य होते हुए भी रसकाव्योंमें सर्वमूर्द्धन्य है।

राजानक श्रीरत्नकण्ठने इसपर अपनी 'लघुपञ्चिका' नामक टीका रचकर रसास्वादका पथ स्पष्ट कर दिया है। सचमुच वह टीका इसका अङ्ग ही है। अतएव परिशिष्टके रूपमें इसके साथ ही संलिष्ट है। हिन्दीप्रेमियोंके लिए उसीके आधार पर हिन्दीमें अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारतीय विद्वानोंकी यह शैली ही है कि वे किसी भी रचनाके पहले मङ्गलाचरण करते हैं। वह तीन प्रकारका होता है—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक। प्रकृत रचनामें वह वस्तुनिर्देशात्मकरूपसे प्रतीत होता है। यहाँ वस्तु है—'ह्राद' या 'आह्लाद', जो आनन्दस्वरूप साक्षात् भगवत्तत्त्व या ब्रह्मतत्त्वका स्मारक है। आह्लाद और रस दो नहीं हैं। प्रस्तुत भावकाव्यमें वह अविकृतरूपसे ध्वन्यमानतया पुष्ट हुआ है। कविने बड़े कौशलसे आरम्भमें उसी वस्तुका निर्देश करके मङ्गलाचरण किया है।

'रसस्योक्तिः स्वशब्देन' आदि काव्यानुशासन रसके साक्षात् नाम लेनेको दोष मानते हैं। अतः ह्राद पदसे उसका निर्देश है। धातु ही है—'ह्रादी सुखे'। यहाँ ह्राद विगलितवेद्यान्तर परमानन्दवाची है। विगलितवेद्यान्तरका अर्थ है—जिसके आस्वाद-कालमें अन्य ज्ञातव्य समाप्त हो जाते हैं, फीके पड़ जाते हैं। इस विशेषताके कारण ही पद्यांशमें श्रुतिकटु भी ह्राद पदका प्रयोग हुआ है। आचार्य मम्मटने अपने काव्यप्रकाशके मङ्गलाचरणमें इसी कारण 'ह्रादैकमयीम्' पद प्रयुक्त किया है। दोषनिरूपण-प्रसङ्गमें उन्होंने कहा भी है—'दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ।' यहाँपर क्वचित्का आशय है—शमकथा या भक्तिप्रसङ्गमें दोष भी गुण हो जाता है तथा कहीं श्रुतिकटु पुनरुक्तादि दोष न दोष और न गुण ही होते हैं। इस प्रकार ह्राद अर्थात् परमानन्द कर्त्ता और सहृदय श्रोता दोनोंको ही प्राप्त होता है। अतः मङ्गलाचरणमें उसका प्रयोग है।

भक्तजन अपने आराध्यके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि समर्पित करते हैं। कवि स्तुतिरूप कुसुमोंकी अञ्जलि अपने ध्येय ज्ञेय आराध्य सदाशिवके चरणोंमें समर्पित करता है। यह बात बिना श्रद्धा और भक्तिके नहीं बनती। उसकी प्राप्ति जन्म-जन्मके अनेक पुण्योंका फल है। पुष्पोंमें सुगन्धि होती है, स्तुतिमें उत्कृष्टतारूप सुगन्धि है। भक्त पुष्पाञ्जलि समर्पित करके अपनेको कृतकृत्य मानता है। कवि भी त्रिजगद्-गुरु सदाशिवको स्तुतिरूप कुसुमाञ्जलि समर्पित करके अपनेको कृतकृत्य मानता है। भक्त की पुष्पाञ्जलिमें नये-नये ताजे सुगन्धित पुष्प होते हैं, कविकी स्तुति-कुसुमाञ्जलिमें भावसुगन्धिसे पूर्ण नये-नये स्वनिर्मित बिना चोरीके विविध पद्य हैं। भक्तके पुष्प शुद्धजल-सिञ्चनसे उत्कट सुगन्धियुक्त होते हैं। कविके पद्यपुष्प भक्तिरसामृतसिञ्चनसे विशुद्ध भावरूप उत्कट सुगन्धिसे युक्त हैं। भक्तसमर्पित पुष्पाञ्जलिसे भगवान्का मन निरुद्ध हो जाता है, अर्थात् चित्त और तनुकी एकतानता टूट जाती है और भगवान् प्रसन्न होकर भक्तकी भावना पूर्ण करनेको उद्यत हो जाते हैं। कवि भी अपने भगवान्को अपने प्रति सावहित, अनुकूल, अभिलषितप्रद करनेके लिए स्तुतिकुसुमाञ्जलि समर्पित करता है। इस प्रकार इसको समर्पित करनेके लिए इस महासन्दर्भकी पूर्वपीठिका रचता है। अर्थात् यह स्तुतिरूप कुसुमोंकी अञ्जलि कैसी है, क्या है, क्यों है आदि निर्देशकी भूमिका बाँधता है—ह्रादबद्धिः इत्यादि से।

प्रथम स्तोत्र

ह्लादवद्भिरमलैरनर्गलैर्जीवनैरघहरैर्नवैरियम् ।
स्वामिनः क्लमशमक्षमैः क्षणं रोद्धुमर्हति मनः सरस्वती ॥ १ ॥

अन्वय—यथा सरस्वती (नदी) ह्लादवद्भिः अमलैः अनर्गलैः अघहरैः क्लमशामक्षमैः नवैः जीवनैः (जलैः) मनः क्षणम् रोद्धुम् अर्हति; तथा इयम् [मम] सरस्वती ह्लादवद्भिः अमलैः अनर्गलैः जीवनैः अघहरैः क्लमशामक्षमैः नवैः (स्तवैः) स्वामिनः (श्रीसदाशिवस्य) मनः क्षणम् रोद्धुम् अर्हति ।

अर्थ—यह मेरी सरस्वती अर्थात् वाणी अपने आह्लादमय, निर्मल, गङ्गातरङ्गके समान अविच्छिन्न प्रवाहवाले तथा जीवन प्रदान करनेवाले अर्थात् जगत्के झूठे सुखके मोहमें भटकनेवालोंको सच्चा सुख प्रदान कर तृप्त करनेवाले, पाप या दुःखोंका विनाश करनेवाले और क्लेशोंका शमन करनेवाले स्तोत्रों द्वारा मेरे स्वामी सदाशिवके चित्तको क्षणभर भी निरुद्ध करनेमें अर्थात् मेरी ओर दत्तावधान करनेमें समर्थ है ।

यहाँ 'नवैः' इसका 'स्तोत्रैः' अर्थ है । स्तुत्यर्थक 'णु' धातुका यह रूप है । यहाँ 'सरस्वती' पद श्लिष्ट है, जिसके वाणी और नदी दो अर्थ हैं । वाणीपक्षमें तृतीयान्त सब विशेषण 'नवैः' पदके हैं और नदीपक्षमें 'जीवनैः' के । कविका आशय है—जैसे सरस्वती नदी आह्लाद-प्रद, निर्मल, उत्ताल तरङ्गवाले, कायिक - वाचिक - मानसिक तीनों पापोंका हरण करनेवाले, भवाटवीकी भटकनके श्रमको भी दूर कर देनेवाले तथा नये-नये ताजे अपने जलोंसे स्नानकर्ता आदिके चित्तको क्षणभरके लिए आनन्दमें विभोर कर देती है, वैसे ही यह मेरी वाणीरूपी सरस्वती पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त अपने स्तोत्रों (प्रशंसा) द्वारा मेरे सर्वस्व स्वामी श्रीसदाशिवको अखण्ड समाधिसे क्षणभरके लिए व्युत्थित करके मेरी ओर दयार्द्र करे ।

[ब्रह्मलोकके ब्रह्मसरमें निवास करनेवाली सरस्वती ही शापवश नदी बनकर भूतल पर अवतीर्ण हुई । इसलिए उत्कर्षार्थ अन्य नदियोंकी अपेक्षा सरस्वतीका ग्रहण है । इसका वाणीरूप अर्थ शक्ति-शक्तिमान्का अभेद मानकर सङ्गत है । यहाँ 'स्वामी' शब्द साभिप्राय है । महान् ऐश्वर्यवान्को स्वामी कहा है, अर्थात् जिसको किसी वस्तुकी कमी नहीं है, उसे भी समस्त लोकोत्तर गुणगणालङ्कृत मेरी वाणी स्वाभिमुख करनेमें समर्थ है ।

'ह्लाद' के विषयमें पहले लिखा गया है । 'अमल' विशेषणसे कविका आशय है—काव्यके १६ पददोष और १२ अर्थदोषोंसे रहित । 'अघहर' से यह अभिप्राय है कि भगवत्स्तुति द्वारा महापाप भी नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके स्तुतिकर्ता

महाकवि मयूरका कोढ़ दूर हो गया। 'क्षमशमक्षम' द्वारा योग-प्रदर्शित पाँच क्लेशोंकी ओर कविका संकेत है, जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नाम से प्रसिद्ध हैं। यों प्रत्येक विशेषण अपनी विशेषता रखता है। टीकाकारके कथनानुसार 'इव' आदि उपमावाचक शब्दोंके न होनेसे शब्दशक्तिमूलक उपमा-ध्वनि ज्ञात होती है। वैसे ही 'सरस्वती' पदसे नायिकात्वका प्रतिभान होनेसे 'समासोक्ति' भी ध्वनित हो सकती है। वस्तुतः कवि ही कविका हृदय जान सकता है। तथापि 'अविदितगुणाऽपि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्' न्यायसे ऐसी रचना सभीका आमोद कर सकती है।]

स्वामिनः स्थिरगुणा सवक्रिमा कर्णयोरमृतवर्षिणी मनः।
कर्त्तुमर्हति मुहूर्त्तमुज्झित-स्वैरचापलमियं सरस्वती ॥ २ ॥

अन्वय—यथा स्थिरगुणा सवक्रिमा कर्णयोः अमृतवर्षिणी सरस्वती (वीणा) [जनस्य] मनः मुहूर्त्तम् उज्झितस्वैरचापलम् कर्तुम् अर्हति; तथा इयम् स्थिरगुणा सवक्रिमा कर्णयोः अमृतवर्षिणी [मम] सरस्वती (वाणी) स्वामिनः मनः मुहूर्त्तम् उज्झितस्वैरचापलम् कर्त्तुम् अर्हति।

अर्थ—जैसे निश्चल तन्त्रियों (तारों) वाली, टेढ़ी एवं श्रोताओंके कानोंमें अमृतकी वर्षा करनेवाली वीणा अपनी सुमनोहर ध्वनिसे लोगोंके मनको क्षणभर (कुछ देरके लिए) मुग्ध कर देती है; वैसे ही अपने ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक (तीन प्रकारके) शब्दगुण और अर्थगुणोंसे युक्त, श्लिष्ट-शब्दात्मक विचित्रतासे सुमनोहर तथा सहृदय कवि और भावुक जनोंके कर्णोंमें अमृतके समान परम आनन्दकी वृष्टि करनेवाली यह मेरी सरस्वती (मेरी वाणी = मेरी स्तुति) उस महान् षडैश्वर्यशाली परमेश्वर (भगवान् सदाशिव) के मनको कुछ देरतक स्वेच्छामय चाञ्चल्यसे रहित अर्थात् अत्यन्त मुग्ध करनेमें समर्थ हो। [क्योंकि मनके मुग्ध हो जाने पर भगवान् मेरी 'हृद्गत प्रार्थना' को अवश्य ही सुनेंगे।]

रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता।
रञ्जयत्वियमलङ्कृता मनः स्वामिनः प्रणयिनी सरस्वती ॥ ३ ॥

अन्वय--यथा रम्यरीतिः अनघा गुणोज्ज्वला चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता अलङ्कृता प्रणयिनी स्वामिनः (स्वपत्युः) मनः रञ्जयति; तथा इयम् रम्यरीतिः अनघा गुणोज्ज्वला चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता अलङ्कृता प्रणयिनी [मम] सरस्वती स्वामिनः मनः रञ्जयतु।

अर्थ—जैसे अति सुन्दर (रमणीय) व्यवहार या सुशीलता आदि कुलाङ्गनाओंके सद्गुणोंसे सम्पन्न, निर्दोष (निष्पाप), मनोहरता, दया, दाक्षिण्य आदि गुणोंसे उज्ज्वल, सच्चरित्रवती, अपने प्रियतम (पति)-विषयक स्थिर अनुराग-से पूर्ण एवं सुन्दर मुक्ताहार आदि आभूषणोंसे सुसज्जित 'कामिनी' अपने प्रियतम (पतिदेव)के मन को अपने ऊपर अनुरञ्जित (अनुरक्त) कर लेती

है; उसी प्रकार रमणीय (अति सुन्दर) वैदर्भी रीतिसे सम्पन्न पद-दोष और अर्थ-दोषोंसे रहित, ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणोंसे उज्ज्वलित, 'वसन्त-तिलका', 'शार्दूल-विक्रीडित' आदि मनोहर छन्दोंसे रुचिर तथा शान्त आदि रसोंसे युक्त, वक्रोक्ति आदि शब्दालङ्कार एवं उपमा आदि अर्थालङ्कारोंसे अलङ्कृत और अपने अभीष्ट (मनोरथ) की प्राप्तिके लिए भगवान्से साग्रह प्रार्थना करनेवाली यह मेरी सरस्वती (मेरी स्तुति) भगवान् महेश्वर (श्रीसदाशिव)के मनको (अपने ऊपर) अनुरक्त करनेमें समर्थ हो। अर्थात् जैसे कोई सद्गुणवती सच्चरित्रवती पतिव्रता स्त्री अपने प्रियतम पतिको परम अनुराग द्वारा अपने वशमें कर लेती है; वैसे ही मेरी यह निर्दोष वाणी अपनी सूक्तियों (अलौकिक स्तुतियों से) भगवान् सदाशिवको अतीव प्रसन्नकर उन्हें अपने वशमें कर ले।

सत्त्वधाम वरलाभयाचितश्लाघ्यवर्णविशदा विशत्वियम् ।
निर्मलं सघनकालविप्लवा मानसं स्मरजितः सरस्वती ॥ ४ ॥

अन्वय—यथा आभयाचितश्लाघ्यवर्णविशदा सघनकालविप्लवा वरला (हंसिनी) सत्त्वधाम निर्मलम् मानसम् (मानससरोवरम्) विशति; तद्वत् वरलाभयाचितश्लाघ्यवर्णविशदा सघनकालविप्लवा इयम् [मम] सरस्वती सत्त्वधाम स्मरजितः निर्मलम् मानसम् विशतु।

अर्थ—जैसे अत्युज्ज्वल सुमनोहर श्वेतवर्णसे देदीप्यमान और वर्षा-काल-रूपी उपद्रवसे उद्वेजिता हंसिनी मकर, मत्स्य आदि प्राणियोंके आश्रयभूत सुनिर्मल 'मानससरोवर' में चली[1] जाती है; वैसे ही स्वाभिलषित मनोरथोंकी प्राप्ति-के लिए की हुई याचना द्वारा अति श्लाघ्य-वर्णों (अक्षरों)से सुशोभित और घन-काल (विकराल यमराज) के अति भयानक उपद्रवोंसे या इस वर्त्तमान कलि-कालमें होनेवाले उपद्रवोंसे भयभीत हुई यह मेरी सरस्वती (मेरी वाणी) परमप्रकाशमय सत्त्व गुण (अथवा धैर्य) के आधारभूत और कामदेव पर विजय करनेवाले अतीव दयालु परमेश्वर (श्री सदाशिव) के परम निर्मल चित्तमें प्रविष्ट हो जाय।

[यहाँपर कविने 'सरस्वती' का 'सघनकालविप्लवा' (अर्थात् कालके उपद्रवोंसे भयभीत हुई) यह विशेषण देकर इस बातको सूचित किया कि मैंने उस यमराजके भयका निराकरण करनेके लिए ही यह (स्तुति-कुसुमाञ्जलिरूप) स्तुति की, क्योंकि आगे चलकर आपने स्वयं ही कहा है—'क्रन्दन्तमन्तकभयार्त्त-मुपेक्षसे यत्।']

भक्तितः सपदि सर्वमङ्गला बोधिता निजधियैव मेऽनया ।
आरिराधयिषतीश्वरं वरं लब्धुमीप्सितमियं सरस्वती ॥ ५ ॥

अन्वय—यथा मेनया निजधिया बोधिता [अपि] सर्वमङ्गला (पार्वती) ईप्सितम् वरम् लब्धुम् भक्तितः सपदि ईश्वरम् एवं आराधितवती, तद्वत् अनया मे निजधिया

(१) वर्षाकाल में हंस 'मानससरोवर' को चले जाते हैं, यह बात शास्त्रों में सुप्रसिद्ध है।

बोधिता सर्वमङ्गला इयम् [मम] सरस्वती ईप्सितम् वरम् लब्धुम् भक्तितः सपदि ईश्वरम् एव आरिराधयिषति ।

अर्थ—जैसे माता श्रीमेनकाके बहुत समझानेपर भी श्रीपार्वतीजीने अपने मनोभीष्ट वर (श्रीसदाशिव) को प्राप्त करनेके लिए, अतिगाढ़ भक्तिसे शीघ्र एकमात्र 'सदाशिव' का ही आराधन किया; उसी तरह मेरी बुद्धिसे प्रेरित की हुई, मन-वचन और कर्मसे निरन्तर श्रीशिवके ही ध्यानमें तन्मय होनेके कारण सम्पूर्ण मङ्गलोंसे परिपूर्ण यह मेरी सरस्वती अपना स्वाभिलषित वर प्राप्त करनेके लिए अतिगाढ़ भक्ति (उत्कट प्रेम)से एकमात्र सदाशिवका ही शीघ्र आराधन करना चाहती है ।

[इस कथनसे ग्रन्थकारने स्तुतिके द्वारा मुझे ईश्वर (श्रीशिव) का दर्शन अवश्य प्राप्त होगा, यह सूचित किया अर्थात् जैसे श्रीपार्वतीजीने तपस्या करके अवश्य ही सदाशिवको प्राप्त किया, वैसे ही यह मेरी वाणी भी अपने भगवान् (शिव)को अवश्य प्राप्त करेगी ।]

अब यहाँसे हमारे कविराज 'स्तुति-प्रस्तावना' नामक प्रथम स्तोत्रका प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् ।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ॥ ६ ॥

अन्वय—यत् सत् अक्षरम् गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् 'ओम्' इति परम् पदम् [अस्माकम्] उरसि स्फुरत् अनाहतम् [एव] हृदि दन्ध्वनीति; तत् महः [वयम्] उपास्महे ।

अर्थ—जो सत्तामात्र अर्थात् सत्य (सनातन), स्वरूपसे अच्युत एवं परम उत्कृष्ट एवं अकार, उकार और मकारात्मक प्रणवरूप ॐ यह पद वक्षःस्थल (हृदयदेश) में स्फुरित होता हुआ कण्ठ, ताल्वादि अभिघातके बिना ही अर्थात् विना किसीसे उच्चारित किया हुआ ही [हमारे] हृदयरूप आकाशमें अत्यन्त शब्दायमान हो रहा है और जिसके अन्दर (गर्भमें) समस्त वाङ्मय-प्रपञ्च (चतुर्दश[1] विद्याएँ) लीन है, उस ॐकाररूप परम ज्योतिर्मय ब्रह्म (भगवान् शिव) की हम उपासना करते हैं ।

[कविने इस श्लोकमें 'ॐ' 'तत्' 'सत्' परब्रह्मके इन तीनों नामोंके निर्देशसे अपने उपास्यदेव (शिव) को शुद्ध सच्चित्-आनन्दस्वरूप, निर्विशेष पूर्ण परब्रह्मसे अभिन्न सूचित किया है । यद्यपि यहाँ कविको 'वयम् तन्महः उपास्महे' (हम उस परम ज्योतिकी उपासना करते हैं) ऐसा न कहकर 'अहम् तन्महः उपासे' (मैं उस परम ज्योतिकी उपासना करता हूँ) ऐसा कहना उचित था; तथापि अतिगाढ़ भक्ति (उत्कट प्रेम)के उद्रेकसे भगवान् श्रीशिवके साथ तन्मय भावनाकी उत्कर्षतासे

(१) पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।

अपनेको श्लाघ्य (धन्य) समझते हुए उसने 'उपास्महे' इस बहुवचनके क्रियापदका उल्लेख किया है, अतः यह दोष नहीं हो सकता।]

भानुना तुहिनभानुना बृहद्भानुना च विनिवर्तितं न यत्।
येन तज्झगिति[1] शान्तिमान्तरं ध्वान्तमेति तदुपास्महे महः ॥ ७ ॥

अन्वय—भानुना तुहिनभानुना बृहद्भानुना च यत् न विनिवर्तितम् ; तत् आन्तरम् ध्वान्तम् येन झगिति शान्तिम् एति तत् महः [वयम्] उपास्महे।

अर्थ—सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके द्वारा किसी प्रकार भी निवृत्त (दूर) न हो सकनेवाला हृदयका अज्ञानरूप गाढ़ अन्धकार जिसकी कृपासे शीघ्र ही शान्त (निवृत्त) हो जाता है, उस परम ज्योति-स्वरूप परमेश्वर (शिव) की हम उपासना करते हैं।

कीचकादिकुहरेष्विवाम्बरं बिम्बमम्बरमणेरिवोर्मिषु।
एकमेव चिदचित्स्वनेकधा यच्चकास्ति तदुपास्महे महः ॥ ८ ॥

अन्वय—कीचकादिकुहरेषु अम्बरम् इव, ऊर्मिषु अम्बरमणेः बिम्बम् इव, यत् एकम् एव चिदचित्सु अनेकधा चकास्ति; तत् महः [वयम्] उपास्महे।

अर्थ—जैसे एक ही आकाश पोले बाँस या घट आदि तत्-तत् उपाधियोंसे विशिष्ट होकर तत्-तत् उपाधिके आकारसे आकारित होता हुआ 'वंशाकाश' या 'घटाकाश' रूपमें अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकार का-सा भासित होता है, जैसे एक ही सूर्यका बिम्ब जलकी तरङ्गोंमें [प्रतिबिम्बित होकर] अनेक प्रकार का-सा भासमान होता है; उसी तरह जो एक अद्वितीय पूर्ण परब्रह्म चेतन और अचेतन सबमें कई तरहसे देदीप्यमान हो रहा है, उस परमज्योति (परम ब्रह्म) रूप सदाशिवकी हम उपासना (ध्यान) करते हैं।

[अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार एक ही पूर्ण परब्रह्ममें वस्तुतः 'उपास्य' और 'उपासक' भाव हो नहीं सकते; अतः यहाँ 'त्वम्' पदार्थ (जीव) और 'तत्' पदार्थ (परमेश्वर)की एकता (अभेदज्ञान) ही उपासना है।]

तर्ककर्कशगिरामगोचरं स्वानुभूतिसमयैकसाक्षिणम्।
मीलिताखिलविकल्पविप्लवं पारमेश्वरमुपास्महे महः ॥ ९ ॥

अन्वय—तर्ककर्कशगिराम् अगोचरम् स्वानुभूतिसमयैकसाक्षिणम् मीलिताखिल-विकल्पविप्लवम् पारमेश्वरम् महः (वयम्) उपास्महे।

अर्थ—अतर्क्य-ऐश्वर्यशाली श्रीपरमेश्वरके विषय में (१) "ईश्वर किस आधारपर है ? और (२) उसका कैसा शरीर है ? एवं (३) उसकी चेष्टाएँ किस प्रकारकी हैं ? तथा (४) वह किन-किन उपायों (साधनों)से त्रिभुवनको रचता है ?" इत्यादि अनेक प्रकारकी मूर्ख लोगोंकी कुतर्कनाओंसे कर्कश (कठोर) हुई वाणियोंसे जो अत्यन्त अगोचर है और केवल एक स्वयंप्रकाश

(१) 'झटिति' इति प्रतिभाति पाठः।

स्वानुभव सिद्धान्त ही जिस परम ज्योतिमें प्रमाण है (अर्थात् जो स्वयंप्रकाश है यानी जैसे घट-पटादि पदार्थोंके प्रकाशनके लिए सूर्यके प्रकाशकी अपेक्षा होती है, किन्तु सूर्यके प्रकाशनके लिए किसी भी प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि सूर्य स्वयंप्रकाश है), वैसे ही जो परमात्मा सकल चराचरको प्रकाशित करता है, उस स्वयंप्रकाशके प्रकाशनके लिए किसी भी प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं है। साथ ही जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि समस्त विषयरूप उपाधियोंके संसर्गसे विवर्जित अर्थात् विशुद्ध निर्विशेष (निराकार) स्वरूप है, उस अतर्क्य महा ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (श्रीशिव) के तेजका* हम ध्यान करते हैं।

स्वावभासमयमेव मायया येन भिन्नमवभास्यते जगत्।
चित्रमिन्द्रधनुरभ्रलेखया भास्वतेव तदुपास्महे महः ॥ १० ॥

अन्वय—स्वावभासमयम् एव मायया भिन्नम् जगत् येन अभ्रलेखया चित्रम इन्द्रधनुः भास्वता इव अवभास्यते; तत् महः [वयम्] उपास्महे।

अर्थ—जैसे स्वयंप्रकाश एक सूर्य मेघ-रेखाके संयोगसे नाना वर्ण (चित्र-विचित्र)-सा बनकर इन्द्रधनुषरूपमें परिणत होकर सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है; वैसे ही सुर, नर, तिर्यक् आदिरूप स्वयंप्रकाश परमात्मस्वरूप ही जगत् एक माया-तत्त्वके द्वारा भिन्न प्रकारका होकर अनेक नाम-रूपात्मक सा प्रतीत होता हुआ जिस परमात्माके द्वारा प्रकाशित होता है, उस परम ज्योति (शिव) की हम उपासना करते हैं।

हृद्गुहागहनगेहगूहितं भासिताखिलजगत्त्रयोदरम्।
कन्दकन्दरदरीमुखोद्गतप्राणमारुतकृतस्थिरस्थितिम् ॥ ११ ॥
त्यक्तसर्वदशमक्षयोदयं रूपवर्जितमभित्तिसंश्रयम्।
यं निरञ्जनमनक्षगोचरं दीपमद्भुतमुशन्ति तं स्तुमः ॥ १२ ॥

(युग्मम् ‡)

अन्वय—[ज्ञानिनः] यम् (परमात्मानम्) हृद्गुहागहनगेहगूहितम् भासिताखिल-जगत्त्रयोदरम् कन्दकन्दरदरीमुखोद्गतप्राणमारुतकृतस्थिरस्थितिम् त्यक्तसर्वदशम् अक्षयोदयम् रूपवर्जितम् अभित्तिसंश्रयम् निरञ्जनम् अनक्षगोचरम् अद्भुतम् दीपम् उशन्ति, तम् [वयम्] स्तुमः।

अर्थ—ज्ञानी लोग जिस परमात्माको हृदयरूपी गुहाके अतिगहन मन्दिर-

---

* यहाँ 'राहोः शिरः' की तरह औपचारिक भेद है।

‡ 'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥'

अर्थात् जहाँ दो श्लोकोंका एक साथ अन्वय हो, वह 'युग्म', तीनका 'विशेषांक', चार श्लोकों-का 'कलापक' और उसके उपरान्त ५ या अधिक श्लोकोंका 'कुलक' कहा जाता है।

में गुप्त रहते हुए भी, तीनों भुवनोंको प्रकाशित करनेवाला उपस्थ और नाभिके मध्यस्थलवर्त्ती गुहाके मुँहसे निकले हुए प्राणवायुसे सुस्थिर स्वरूपस्थितिवाला*, बाल्य आदि अवस्थाओंसे रहित, क्षय (नाश) और उदय (उत्पत्ति) से रहित, रूपसे रहित, विना आधार (भित्ति) के ही स्थित, निरञ्जन (अविनाशी) एवं इन्द्रियोंका अगोचर एक अद्भुत-आश्चर्यमय दीपक बतलाते हैं; उस परमेश्वर-की हम स्तुति करते हैं।

[यहाँ दोनों श्लोकोंमें 'विरोधाभास' नामक अलङ्कार है, क्योंकि आपाततः ऐसा विरोध प्रतीत होता है कि जो (१) (चिदानन्दमय दीपक) स्वयंगुप्त है, वह बाह्य वस्तुको कैसे प्रकाशित कर सकता है ? (२) वायुसे तो दीपक शान्त हो जाता (बुझ जाता) है, स्थिर कैसे हो सकता है ? और (३) लौकिक दीपक तो दशाओं (बत्तियों) से और क्षय, उदय तथा रूपसे रहित नहीं होता, किन्तु यह चिदानन्दमय दीपक तो दशाओं (बाल्य आदि अवस्थाओं) से तथा क्षय और उदय-से रहित है, एवं (४) लौकिक दीपक तो निरञ्जन अर्थात् अञ्जन (कज्जल) से रहित और इन्द्रियोंका अगोचर नहीं होता, किन्तु यह हृदयमें रहनेवाला चिदानन्दमय दीपक तो निरञ्जन (अविनाशी) और इन्द्रियोंका अगोचर है। अतएव ज्ञानी लोगोंने इस (चिदानन्दमय) दीपकको लौकिक दीपकोंसे भिन्न (विलक्षण) बतलाया है।]

यस्य शस्यमहसो निरर्गलं योगमाप्य चरणाब्जरेणुभिः‡ ।
अद्भुतां दधति नीरजस्कतां तं जगत्पतिमुमापतिं स्तुमः ॥ १३ ॥

अन्वय—शस्यमहसः यस्य चरणाब्जरेणुभिः निरर्गलम् योगम् आप्य [भक्ताः] अद्भुताम् नीरजस्कताम् दधति, तम् जगत्पतिम् उमापतिम् [वयम्] स्तुमः ।

अर्थ—जिस मनोहर परम तेजोमय परमेश्वरके चरणारविन्दकी रजका अति-घनिष्ठ संयोग प्राप्त करते ही भक्त लोग अति अद्भुत नीरजस्कता (निर्मलता) अर्थात् रज-तमरूप मलसे विरहित विशुद्ध सत्त्वमयी भगवदीय भावनाको प्राप्त हो जाते हैं, उस जगत्पति पार्वती-पतिकी हम स्तुति करते हैं।

[यहाँ कविके 'अद्भुताम्' कहनेका अभिप्राय यह है कि रजके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे सरजस्कता (मलिनता) ही होती है, 'नीरजस्कता' कैसे हो सकती है ? अतएव वस्तुतः यह आश्चर्य है।]

चारुचन्द्रकलयोपशोभितं भोगिभिः सह गृहीतसौहृदम् ।
अभ्युपेतघनकालशात्रवं नीलकण्ठमतिकौतुकं स्तुमः ॥ १४ ॥

---

* यद्यपि परमात्मा तो सदा सुस्थित ही है, तथापि मनके चाञ्चल्यसे उसमें भी चाञ्चल्य-सा प्रतीत होता है, अतः फिर वह समाधि-कालमें सुषुम्ना नाड़ीके मुँहसे उद्गत (ऊर्ध्वगत) प्राणवायुसे अपनी सुस्थिर स्वरूप-स्थितिको प्राप्त हो जाता है।

‡ यद्यपि यहाँपर कविको विरोध स्पष्ट करनेके लिए 'चरणाब्जरेणुभिः' न कहकर 'चरणाब्जरजोभिः' कहना उचित था। किन्तु यति (विराम)-भङ्गके भयसे 'रेणुभिः' ऐसा कहनेसे प्रक्रमके भङ्ग होने पर भी, 'भक्ति-विषयक' होने के कारण, यह दोष नहीं हो सकता।

अन्वय—चारुचन्द्रकलयोपशोभितम् भोगिभिः सह गृहीतसौहृदम् अभ्युपेतघनकाल-शात्रवम् अतिकौतुकम् नीलकण्ठम् (वयम्) स्तुमः ।

अर्थ—मनोहर चन्द्रमाकी कलासे सुशोभित, वासुकि आदि सर्पोंके साथ मित्रता करनेवाले और कठोर काल (यमराज) के साथ शत्रु-भाव रखनेवाले भगवान् सदाशिवरूप अति अद्भुत नीलकण्ठ (मयूर) की हम स्तुति करते हैं ।

[समुद्रमन्थनके समय कालकूट (हालाहल विष) का पान करनेसे कण्ठ नीला होनेके कारण भगवान् शिवका नाम 'नीलकण्ठ' पड़ गया। गला नीला होनेके कारण मयूर (मोर) को भी 'नीलकण्ठ' कहते हैं, अतः यहाँ 'शब्दश्लेष' से इस (शिवरूप) मयूरकी लौकिक मयूरोंसे अति विलक्षणता दिखलाई गई है। अर्थात् लौकिक मयूर तो चारु-चन्द्रक (मनोहर पङ्ख) के होनेसे ही उपशोभित होता है, उनके लय (नष्ट) हो जानेसे उपशोभित नहीं होता। किन्तु यह (शिवरूप) मयूर तो 'चारु-चन्द्रकलया उपशोभित' अर्थात् मनोहर चन्द्रकलासे सुशोभित है। लौकिक मयूर भोगियों (सर्पों) से सौहृद (मित्रता) नहीं करता, बल्कि अधिक द्वेष करता है; किन्तु यह (शिवरूप) मयूर तो भोगियों (सर्पोंसे) अत्यधिक सौहृद (प्रीति) रखता है एवं लौकिक मयूर घन-काल (वर्षा-काल) के साथ शत्रुता नहीं रखता, प्रत्युत अधिक प्रेम रखता है; किन्तु यह (शिवरूप) मयूर तो घन-काल (कठोर काल अर्थात् यमराज) के साथ शत्रुता रखता है। अतएव 'अतिकौतुकम्' (अति आश्चर्यजनक) कहकर कविने इस भगवान् (सदाशिव) को एक विलक्षण ही मयूर बतलाया है ।]

इच्छयैव भुवनानि भावयन् यः प्रियोपकरणग्रहोऽपि सन् ।
अप्रियोपकरणग्रहोऽभवत् तं स्वशक्तिसचिवं शिवं स्तुमः ॥ १५ ॥

अन्वय—प्रियोपकरणग्रहः अपि सन् यः इच्छया एव भुवनानि भावयन् अप्रियोपकरणग्रहः अभवत् , तम् स्वशक्तिसचिवम् शिवम् [वयम्] स्तुमः ।

अर्थ—प्राणियोंका उपकार करनेमें अतिशय प्रिय आग्रह रखते हुए भी जिस (प्रभु) को केवल अपनी इच्छाशक्तिसे ही सकल भुवनोंका निर्माण करनेमें किन्हीं भी उपकरणों (साधनों) का ग्रहण करना प्रिय (अच्छा) नहीं लगता, उस स्वेच्छा-शक्ति-सहायक सदाशिवकी हम वन्दना करते हैं*। अर्थात् जैसे किसी तक्षक (कारीगर) को किसी वस्तुका निर्माण करनेमें वसुला आदि साधनोंकी आवश्यकता होती है, वैसे ही सकल भुवनोंका निर्माण (रचना) करनेमें भगवान शिवको किन्हीं साधनोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि वे स्वेच्छाशक्ति हैं ।

पद्मसद्मकरमर्दलालितं पद्मनाभनयनाब्जपूजितम् ।
पद्मबन्धुमुकुटांशुरञ्जितं पादपद्मयुगमैश्वरं स्तुमः ॥ १६ ॥

---

* यहाँ भी 'विरोधाभास' अलंकार है, क्योंकि जो 'उपकारग्रहप्रिय' है, वह 'उपकार-ग्रह-अप्रिय' कैसे हो सकता है ?

अन्वय—पद्मसद्मकरमर्दलालितम् पद्मनाभनयनाब्जपूजितम् पद्मबन्धुमुकुटांशुरञ्जितम् ऐश्वरम् पादपद्मयुगम् [वयम्] स्तुमः ।

अर्थ—पद्मसद्म (ब्रह्माजी) के कर-कमलोंके मर्दनसे लालित और पद्मनाभ (विष्णु) के नेत्र-कमलसे पूजित एवं पद्मबन्धु (सूर्य) की मुकुट-किरणोंसे रञ्जित सदाशिवके पादपद्म-युगल*की हम प्रेमपूर्वक वन्दना करते हैं ।

अङ्घ्रियुग्ममरेशमस्तकस्रग्भिरुज्ज्वलमुरश्च भस्मभिः ।
शेखरश्च हिमरश्मिरश्मिभिर्यो बिभर्ति तमुपास्महे विभुम् ॥ १७ ॥

अन्वय—यः अमरेशमस्तकस्रग्भिः उज्ज्वलम् अङ्घ्रियुग्मम्, भस्मभिः उज्ज्वलम् उरः, हिमरश्मिरश्मिभिः उज्ज्वलम् शेखरम् च बिभर्त्ति; तम् विभुम् [वयम्] उपास्महे ।

अर्थ—जो परमेश्वर इन्द्रके मस्तककी पुष्पमालाओंसे उज्ज्वलित चरणकमलोंको और भस्मसे उज्ज्वलित (देदीप्यमान) वक्षःस्थलको एवं चन्द्रकिरणोंसे उज्ज्वलित मुकुटको धारण करता है, उस विभु (व्यापक) सदाशिवकी हम उपासना करते हैं ।

मूर्ध्नि चन्द्रकरसुन्दरत्विषं फेनपिण्डपरिपाण्डुरस्मिताम् ।
देहिनां वहति तापहारिणीं सिद्धसिन्धुमतनुं तनुं च यः ॥ १८ ॥

अन्वय—यः मूर्ध्नि चन्द्रकरसुन्दरत्विषम् फेनपिण्डपरिपाण्डुरस्मिताम् देहिनाम् तापहारिणीम् अतनुम् सिद्धसिन्धुम् वहति, यः चन्द्रकरसुन्दरत्विषम् फेनपिण्डपरिपाण्डुरस्मिताम् देहिनाम् तापहारिणीम् अतनुम् तनुम् च वहति, [तम् अविषादम् ‡ विषादम् ¶ अहम् आश्रये, इत्यग्रिमश्लोकेन सहान्वयः] ।

अर्थ—जो प्रभु चन्द्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ कान्तिमयी, फेनके समान श्वेत वर्णवाली और देहधारियों (जीवों) के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक समस्त तापोंको हरनेवाली अति विशाल 'देव-गङ्गा' (श्रीमन्दाकिनी)-को अपने मस्तकपर धारण करता है एवं चन्द्रकिरणोंके सम्पर्कसे अति सुमनोहर कान्तिवाली, फेन-पिण्डके समान स्वच्छ मन्द-हास्यसे युक्त और प्राणियोंके समस्त तापोंको हरनेवाली अति सुमनोहर विशाल-आकृति (दिव्यमूर्त्ति) को धारण करता है; उस कालकूट (विष) का भक्षण करनेवाले विषाद (खेद)-रहित अर्थात् परम आनन्दस्वरूप भगवान् शिवकी मैं शरण लेता हूँ ।

कर्तुमुत्सहत एव सेवको यस्य कस्य न मनः सकौतुकम् ।
नैति शान्तनवविग्रहोऽपि सन् भीष्मतां न च विचित्रवीर्यताम् ॥ १९ ॥

अन्वय—यस्य सेवकः कस्य मनः सकौतुकम् कर्तुम् न उत्सहतेφ एव ? यत्, [सः] शान्तनवविग्रहः सन् अपि भीष्मताम् न एति, विचित्रवीर्यताम् च न एति, तम् अविषादम् विषादम् [अहम्] आश्रये, इति पूर्ववत्सम्बन्धः ।

---

* दोनों चरण-कमलों की ।

‡ अविद्यमानो विषादो यस्य सः, तम् । ¶ विषम् (कालकूटम्) अत्तीति विषादः तम् ।

φ अपि तु सर्वस्यापि मनः सकौतुकं कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः ।

अर्थ—भगवान् सदाशिवका सेवक अपने लोकोत्तर कार्योंसे किसके मनमें आश्चर्य नहीं भर देता ? क्योंकि यह अनुभवकी बात है कि जब मनुष्य किसीसे नया-नया वैर कर लेता है, तो उसमें भयानकता और क्रोध आ जाते हैं, धैर्य लुप्त हो जाता है। परन्तु चमत्कारकी बात तो यह है कि 'शिव-भक्त' उस नवीन वैर-भावके शान्त होने तक भी भयानकताको नहीं प्राप्त होता, क्रोधको नहीं आने देता एवं चित्तके धैर्यभावसे च्युत भी नहीं होता। धन्य ! ऐसे प्रभुकी मैं शरण लेता हूँ*।

आपतन्तमयमं यमं पुरो यः सविग्रहमविग्रहं व्यधात् ।
दर्पकं व्यधित योऽप्यदर्पकं तं विषादमविषादमाश्रये ॥ २० ॥

अन्वय—यः (प्रभुः) पुरः आपतन्तम् सविग्रहम् यमम् अविग्रहम् अयमम् व्यधात्, यः दर्पकम् (कामम्) अदर्पकम् व्यधित, तम् अविषादम् विषादम् अहम् आश्रये ।

अर्थ—जिस विभु (व्यापक) परमेश्वरने राजा श्वेत और मार्कण्डेय आदि भक्तोंको डरानेके लिए आगे आते हुए सविग्रह (वैर-भावसे युक्त) यमको अविग्रह यानी शरीरसे ही रहित तथा अयम अर्थात् प्रयत्नसे भी रहित (निश्चेष्ट) कर दिया और जिस प्रभुने कामी लोगोंको दर्पित करनेवाले कामदेवको दर्प (अहङ्कार) से रहित कर दिया; उस कालकूट विषका भक्षण करनेवाले विषाद (खेद)-रहित सदा प्रसन्न भगवान् शिवकी मैं शरण लेता हूँ‡।

अम्बरेण गगनेन संवृतं जीवनैः शिरसि वारिभिः श्रितम् ।
भोगिभिश्च भुजगैर्विभूषितं शङ्करं शुभकरं भजामहे ॥ २१ ॥

अन्वय—गगनेन अम्बरेण संस्कृतम्, जीवनैः वारिभिः शिरसि श्रितम्, भुजगैः भोगिभिः च विभूषितम् शुभकरम् शङ्करं [वयम्] भजामहे ।

अर्थ—आकाशरूपी वस्त्रसे वेष्टित अर्थात् दिगम्बर, सिरमें पिपासुओंको परम तृप्ति प्रदान करनेवाले मन्दाकिनीके जलसे सुशोभित एवं भुजाओंमें लिपटे हुए सर्पोंसे विभूषित तथा तीनों लोकोंके मङ्गल-दायक परम कल्याण (मोक्ष) देनेवाले भगवान् शङ्करका हम भजन करते हैं।

[इस श्लोकमें अम्बरेण गगनेन और जीवनैः वारिभिः तथा भोगिभिः भुजगैः एवं शङ्करम् शुभकरम् इन (समानार्थक) पदोंमें आपाततः जो पुनरुक्तभाव-(सा) प्रतीत होता है, वह वस्तुतः पर्यवसानमें अन्यार्थक होनेसे पुनरुक्त दोष नहीं है, किन्तु पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है।]

---

* इस तरह शिवभक्तके हृदयगत भावोंका वर्णन करते हुए कविने इस बातको काव्यके सर्वस्व शब्दश्लेष-मूलक ध्वनिमें विरोधाभासका संपुट देकर और भी चमत्कृत कर दिया है। कवि कहता है कि वह शन्तनुके शरीरसे उत्पन्न होकर भी 'भीष्मता' या 'विचित्रवीर्यता'को प्राप्त नहीं होता। कितना अच्छा हृदयग्राही भाव है !

‡ यहाँ भी सर्वत्र विरोधाभास है, क्योंकि यम अयम, सविग्रह अविग्रह, दर्पक अदर्पक एवं विषाद अविषाद कैसे हो सकता है, आपाततः ऐसा प्रतीत होता है।

पावकेन शिखिनोपशोभितं भासितं सितरुचा हिमांशुना ।
भास्वता च रविणा विराजितं लोचनत्रयमुपास्महे विभोः ॥ २२ ॥

अन्वय—[ललाटे] पावकेन शिखिना उपशोभितम् [वामे] सितरुचा हिमांशुना भासितम्, [दक्षिणे] भास्वता रविणा च विराजितम् विभोः लोचनत्रयम् [वयम्] उपास्महे ।

अर्थ—अति पवित्र अग्निसे सुशोभित और स्वच्छ कान्तिमान् चन्द्रमासे प्रकाशित एवं तेजोमय (प्रकाशमान) सूर्यसे विराजित उन सर्वत्र व्यापक शिवके तीनों नेत्रों की हम उपासना करते हैं ।

अभयङ्करमाश्रितं स्वरूपं दधदुद्दामसमग्रधामयोगम् ।
शुचितारकमीश्वरस्य नेत्रत्रितयं शूलशिखात्रयं च वन्दे ॥ २३ ॥

अन्वय—[अहम्] अभयङ्करम् स्वरूपम् आश्रितम् दधदुद्दामसमग्रधामयोगम् शुचितारकम् ईश्वरस्य नेत्रत्रितयम् शूलशिखात्रयम् च वन्दे ।

अर्थ—समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाले स्वरूपमें स्थित, अति उद्भट तेजोमय सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके साथ सम्बन्ध रखनेवाले तथा स्वच्छ तारकाओंसे सुशोभित ईश्वरके उन तीनों नेत्रोंको मैं प्रणाम करता हूँ एवं भयसे रहित और परमतेजोमय तथा दैत्योंके संग्रामसे सम्पूर्ण देवताओंको तारने (बचाने) वाले अति पवित्र श्रीशङ्करजीके त्रिशूलकी तीनों शिखाओंको भी प्रणाम करता हूँ ।

मीलद्विलोचनसमुद्गसमुद्गताश्रु-
स्रोतःस्रुतिस्नपितमूलकपोलभागाः ।
देवं शशाङ्ककलया कलितावतंसं
शंसन्ति सन्त इह शङ्कर शङ्करेति ॥ २४ ॥

अन्वय—इह मीलद्विलोचनसमुद्गसमुद्गताश्रुस्रोतःस्रुतिस्नपितमूलकपोलभागाः सन्तः शशाङ्ककलया कलितावतंसम् देवम् हे शङ्कर ! हे शङ्कर ! इति शंसन्ति ।

अर्थ—भक्त लोग जब भगवद्ध्यानमें तल्लीन होकर मग्न हो जाते हैं तब भावावेशकी विशेषतासे उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंका प्रवाह झरने लगता है; उस अश्रुप्रवाह से उनके समस्त कपोल मानो स्नान करके अति विशुद्ध हो जाते हैं । ऐसे ही समयमें वे सत्पुरुष लोग चन्द्रखण्डका भूषण धारण करनेवाले देव (सदाशिव) की 'शङ्कर !' 'शङ्कर !' कहते हुए स्तुति करते हैं ।

भ्रान्तोऽस्मि वैशसमये समयेऽहमत्र
मिथ्यैव दिग्भ्रमहतो महतोऽपमार्गान् ।
विश्रम्य नन्दनवने नवने शिवस्य
खेदस्तु सम्प्रति समेति स मेऽवसानम् ॥ २५ ॥

अन्वय—अहम् अत्र वैशसमये समये दिग्भ्रमहतः सन् महतः अपमार्गान् मिथ्या एव

भ्रान्तः अस्मि, [दिष्ट्या] सम्प्रति तु शिवस्य नवने नन्दनवने विश्रम्य सः मे खेदः अवसानम् समेति ।

अर्थ—हाय ! मैं इस दुःखमय कलिकालमें अथवा काम-क्रोधादिसे दुःखद तारुण्य अवस्थामें नाना प्रकारकी आशाओंके कारण दिग्भ्रम हो जानेसे वृथा ही दुःखी हुआ अर्थात् 'मुझे सुखके साधनोंकी प्राप्ति अवश्य होगी' इस विचारसे नाना प्रकारकी दुष्ट अभिलाषाओं वश अनेक दिशाओंमें फिर-फिरकर, वहाँ कुछ भी न पाकर खिन्न होता हुआ बड़े-बड़े गड्ढों (दुःखों) से युक्त कुमार्गोंमें वृथा ही घूमा । किन्तु सद्भाग्यवश अब इस समय सदाशिवके स्तुतिरूप नन्दन वनमें विश्राम पाकर मेरा वह संसाररूपी मरुस्थलमें निरर्थक भ्रमण करनेसे उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण खेद समाप्त हो रहा है ।

यत्पार्वणेन्दुकरसुन्दरवाहहंस-
संवासदुर्ललितयापि वचोधिदेव्या ।
विश्रम्यते मनसि नः समले सलीलं
तत्सौभगं भगवतो जयतीन्दुमौलेः ॥ २६ ॥

अन्वय—पार्वणेन्दुकरसुन्दरवाहहंससंवासदुर्ललितया अपि वचोधिदेव्या यत् नः समले मनसि विश्रम्यते, तत् भगवतः इन्दुमौलेः सौभगम् जयति ।

अर्थ—यद्यपि भगवती सरस्वतीका पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ वाहन (हंस) में नित्य निवासका सदैव अभ्यास है, फिर भी वह हमारे इस कलुषित (मलिन) चित्तमें अपनी लीलाओंके सहित जो विश्राम (निवास) करती है, यह श्रीभगवान् शङ्करके सर्वोत्कृष्ट सौभाग्यकी विजय है । सारांश यह है कि श्रीसदाशिवके साथ चित्तके निरन्तर तन्मय हो जानेसे श्रीसरस्वती भी अपने वाहन हंसको छोड़कर अपनी उत्तम-उत्तम रचनाओं (कविताओं) के सहित सदैव हमारे चित्तमें निवास किया करती है ।

यं भूषयन्ति कमनीयमहीनभोगाः
स्तुत्वा भवन्ति कृतिनो यमहीनभोगाः ।
चित्तोचितं तमपहाय महीनभोगाः
कर्तुं परत्र धृतसंयम ! ही न भो गाः ॥ २७ ॥

अन्वय—ही भोः धृतसंयम ! चित्त ! यम् कमनीयम् अहीनभोगाः भूषयन्ति, कृतिनः यम् स्तुत्वा अहीनभोगाः भवन्ति, तम् अपहाय परत्र (अन्यविषये) मही-नभो-गाः गाः कर्तुम् [तव] न उचितम् ।

अर्थ—अरे ! शान्तिस्वरूप संयम धारण करनेवाले चित्त ! बड़े खेदकी बात है कि जिस परम मनोहर सदाशिवको वासुकि आदि सर्पोंके शरीर विभूषित करते हैं और अतिशय पुण्यशाली ज्ञानी लोग जिसकी स्तुति करके नाना प्रकारके भोगोंसे परिपूर्ण होते हैं, ऐसे भगवान् आशुतोष सदाशिवको छोड़कर अन्य विषयमें

समस्त पृथ्वी और आकाशमें गूँजनेवाली वाणियों (स्तुतियों) की रचना करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। अर्थात् जिस 'आशुतोष' की किञ्चिन्मात्र स्तुति करनेसे परम अकिञ्चन लोग भी सकल सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण होकर परम आनन्दके सौख्यमें मग्न हो जाते हैं, ऐसे करुणासागर 'शिव' की स्तुति न कर अन्य प्राकृत लोगोंकी स्तुति (प्रशंसा) करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

अवाप्य गुरुभिर्गुणैर्जगति गौरवं ध्यायत-
स्तमीरमणशेखरं भवति गौरवन्ध्या यतः।
अतस्तमुमया समं कृतमहाविलासं प्रति
स्तुतौ विरचिता मया मतिरनाविला संप्रति ॥ २८ ॥

अन्वय—तमीरमणशेखरम् ध्यायतः (पुंसः) गौः अवन्ध्या भवति, अतः मया यतः जगति गुरुभिः गुणैः गौरवम् अवाप्य सम्प्रति अनाविला मतिः उमया समम् कृतमहाविलासम् तम् (शिवम्) प्रति स्तुतौ विरचिता।

अर्थ—जिस चन्द्रमौलिका ध्यान करनेवाले भक्तकी वाणी अवन्ध्य अर्थात् अमोघ हो जाती है एवं जिसकी कृपासे मुझे जगत्में पाण्डित्य, कवित्व आदि सद्गुणोंसे गौरव प्राप्त हुआ, अतः इस समय मैंने अपनी अतीव स्वच्छ मतिको उस पार्वतीके साथ महालीलाएँ करनेवाले भगवान् शंकरकी स्तुतिमें लगाया।

मत्वा सद्यः सुकृतसुहृदं दुर्लभं जीवलोकं
लब्ध्वा सर्वव्यसनशमनं मित्रमेकं विवेकम्।
धन्याः केचित्कृतकुमुदिनीकान्तलेखावतंसं
हंसं शंसन्त्यमलमधुरैर्भक्तिसिक्तैर्वचोभिः ॥ २९ ॥

अन्वय—सुकृतसुलभम् जीवलोकम् [पुनः] दुर्लभम् मत्वा, सर्वव्यसनशमनम् एकम् विवेकम् मित्रम् लब्ध्वा, केचित् धन्याः सद्यः कृतकुमुदिनीकान्तलेखावतंसम् हंसम् अमलमधुरैः वचोभिः शंसन्ति।

अर्थ—पुण्यके मित्र अर्थात् पुण्यसे प्राप्त होनेवाले इस जीवलोक (मनुष्य-देह) को फिर अति दुर्लभ समझकर और सम्पूर्ण व्यसनोंको समूल नष्ट करनेवाले एक विवेकरूपी मित्रको पाकर कोई विरले बड़भागी धन्य पुरुष तत्काल (स्वस्थावस्थामें) ही भक्तिरूप अमृतसे सींचे हुए निर्मल मधुर वचनोंसे चन्द्रमौलि भगवान् सदाशिवकी स्तुति करते हैं।

अन्तःशून्यं गुणविरहितं नीरसं सर्गहीनं
काव्यं हृद्यं ननु सुमनसां न स्थलाम्भोरुहाभम्।
तत्रापीशः श्रवणपुलिने गाढरागानुबन्ध-
प्रोद्यद्भक्तिप्रगुणितमदः कर्तुमर्हत्यगर्हम् ॥ ३० ॥

अन्वय—ननु अन्तःशून्यम् गुणविरहितम् नीरसम् सर्गहीनम् [इदम्] स्थलाम्भोरुहाभम्

काव्यम् सुमनसाम् हृद्यम् न [भविष्यति], तत्रापि ईशः गाढरागानुबन्धप्रोद्यद्भक्तिप्रगुणितम् अगर्हम् अदः (काव्यम्) श्रवणपुलिने कर्तुम् अर्हति ।

अर्थ—यद्यपि अन्तःशून्य अर्थात् कर्णिकाओंसे रहित, सूक्ष्म तन्तुओंसे रहित तथा जलके संसर्गसे हीन 'स्थल-कमल' उत्तम पुष्पोंके मध्य प्रिय नहीं लगता, तथापि नित्य लालिमाके संयोगसे उदित होनेवाली शोभाके द्वारा श्रेष्ठ हो जानेसे दोष-रहित होनेके कारण उसे फिर कानोंमें धारण किया ही जाता है। इसी प्रकार यद्यपि यह 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' रूप काव्य 'अन्तःशून्य' अर्थात् लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थसे रहित, ओज, प्रसाद, माधुर्यादि गुणोंसे वर्जित शृङ्गारादि रसोंसे हीन, सर्ग-बन्धोंसे रहित और 'स्थलकमल'के समान शुष्क होने से विद्वानों को यद्यपि प्रिय न लगे, तथापि मन, वचन और शरीर की तन्मयता (शिवैकपरायणता) से उदित भक्ति द्वारा सम्पादित किये अनेक सद्गुणोंसे परिपूर्ण एवं सहृदय भावुकजनोंसे श्लाघनीय इस मेरे 'काव्य'को परम ऐश्वर्यके महासागर सदाशिव तो अपने कानों में अवश्य धारण करेंगे—सुननेकी कृपा करेंगे।

अर्थात् यद्यपि अपने पाण्डित्यके दर्पमें चूर हुए अहङ्कारग्रस्त पण्डितम्मन्य लोग इस काव्यकी महिमा न समझकर भले ही इसकी उपेक्षा करें, किन्तु भगवान् आशुतोष तो इस भक्ति-परिपूर्ण काव्यको आदरपूर्वक (प्रेमसे) सुनेंगे ही।

पहलेके श्लोकसे विशेष सन्तुष्ट न होकर इसी बातका समर्थन फिर दूसरी तरहसे करते हैं—

अथवाऽमृतबिन्दुवर्षिणीन्दुद्युतिरानन्दममन्दमर्पयन्ती ।
नयति ध्रुवमार्द्रतामियं गीर्गिरिजाजीवितनाथमिन्दुकान्तम् ॥ ३१ ॥

इति काश्मीरक-महाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'स्तुति-प्रस्तावना'-नामकं प्रथमं स्तोत्रम् ।

अन्वय—अथवा अमृतबिन्दुवर्षिणी इन्दुद्युतिः अमन्दम् आनन्दम् अर्पयन्ती इयम् [मम] गीः गिरिजाजीवितनाथम् इन्दुकान्तम् ध्रुवम् आर्द्रताम् नयति ।

अर्थ—अथवा जैसे अमृतकी बूँदें बरसानेवाली और परम आनन्द प्रदान करनेवाली चन्द्रमाकी कान्ति चन्द्रकान्त मणिको पिघलाकर उसे जलार्द्र (सजल) कर देती है, वैसे ही अमृत-बिन्दुओंको बरसाती हुई एवं वक्ता और श्रोताओंको अतीव आनन्दित करनेवाली यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) श्रीपार्वतीके प्राण-प्रिय चन्द्रमौलि (सदाशिव) के चित्तको अवश्य ही कृपारूप अमृतसे आर्द्र करेगी।

———

द्वितीय स्तोत्र

अब इसके बाद हमारे कविराज 'नमस्कारात्मक' द्वितीय स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

ॐ नमः परमार्थैकरूपाय परमात्मने।
स्वेच्छावभासितासत्यभेदभिन्नाय शम्भवे ॥ १ ॥

अन्वय—ॐ परमार्थैकरूपाय स्वेच्छावभासितासत्यभेदभिन्नाय शम्भवे परमात्मने नमः [अस्तु]।

अर्थ—'ॐ' शब्द मङ्गलवाचक है। परम उत्कृष्ट मोक्ष-स्वरूप अथवा ज्ञान-स्वरूप और स्वेच्छा (शक्ति) से प्रकट किये हुए मिथ्या-भेद (द्वैत प्रपञ्च) से पृथक् स्थित* उस परम कल्याण-स्वरूप व्यापक (सच्चिदानन्दघन) परमात्मा सदाशिवके लिए नमस्कार है।

नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने।
त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेदभवभेदविभेदिने ॥ २ ॥

अन्वय—निःशेषक्लेशप्रशमशालिने त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेदभवभेदविभेदिने शिवाय नमः।

अर्थ—पाँच प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) के त्रैकालिक सम्बन्धसे रहित एवं प्रीति, अप्रीति और विषादस्वरूप सत्त्व, रज और तमोगुणकी ग्रन्थि (गाँठ) से अति दुर्भेद्य अर्थात् अत्यन्त दृढ़ बने हुए भव-बन्धन यानी देह, इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए संसारचक्रके बन्धन का भेदन करनेवाले भगवान् सदाशिव के लिए नमस्कार है।

[यहाँपर 'क्लेश' शब्द कर्म, विपाक और आशयका भी उपलक्षण है, अतः इसका अभिप्राय यह है कि क्लेश, कर्म, विपाक और आशयके संसर्गसे रहित उस 'ईश्वर' के लिए नमस्कार है। योग-सूत्रकार श्रीपतञ्जलिने भी 'ईश्वर' का स्वरूप ऐसा ही बतलाया है—'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशयके संसर्गसे रहित पुरुष-विशेष (ही) ईश्वर है।]

अथवा दूसरे प्रकारसे उक्त श्लोकका अर्थ यों भी हो सकता है—क्लेशोंकी पूर्ति करनेवाले जो प्रमाद आदि समस्त दोष हैं, उनका मूलोच्छेदन करनेसे सुशोभित अर्थात् मायाकृत बन्धनोंसे रहित एवं त्रिगुणात्मक ग्रन्थिसे युक्त जो परम तत्त्वके अनभिज्ञ जीव हैं, उनके अत्यन्त दुर्भेद (दृढ) भव-बन्धन अर्थात् स्व-स्वरूपके अज्ञानको समूल नष्ट करनेवाले यानी जीवोंके समस्त संसार-

---

* अर्थात्—भगवान् सदाशिव ही एक अद्वितीय परब्रह्म-स्वरूप हैं और देव, मनुष्यादि सब उनके प्रतिबिम्बरूप ही हैं।

बन्धनोंको समूल ही नष्ट करके उन्हें परम कल्याण-(मोक्ष)-धाममें पहुँचानेवाले भगवान् शङ्कर को नमस्कार है*।

नमः समस्तगीर्वाणकिरीटघटिताङ्घ्रये ।
जगन्नगरनिर्माणनर्मशर्मदकर्मणे ॥ ३ ॥

अन्वय—समस्तगीर्वाणकिरीटघटिताङ्घ्रये जगन्नगरनिर्माणनर्मशर्मदकर्मणे [शिवाय] नमः [अस्तु]।

अर्थ—समस्त देवताओंके शिरो-मुकुटोंसे मिले हुए जिसके चरण-कमल हैं एवं जगत्‌रूप नगरका निर्माण करना ही जिसका सुमनोहर कल्याणदायक कर्म (क्रीड़ा) है, उस शङ्कर को प्रणाम है।

नमस्तमस्वतीकान्तखण्डमण्डितमौलये ।
तापान्धकारनिर्वेदखेदविच्छेदवेदिने ॥ ४ ॥

अन्वय—तमस्वतीकान्त-खण्ड-मण्डित-मौलये तापान्धकारनिर्वेद-खेदविच्छेदवेदिने [शिवाय] नमः [अस्तु]।

अर्थ—जिसका मस्तक चन्द्रमाकी कलासे सुशोभित है एवं संसारी जीवोंको अथवा भक्तजनोंको आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सन्ताप तथा अविद्यामय मोहरूप अन्धकारसे उत्पन्न हुई (तीव्र) वेदना द्वारा जो खेद होता है, उसके विच्छेद (नाशके उपाय) को जाननेवाले अर्थात् उस खेदको समूल नष्ट करनेवाले उस करुणामय सदाशिवको प्रणाम है।

नमः समस्तसङ्कल्पकल्पनाकल्पशाखिने ।
विकासिकलिकाकान्तकलापाय स्वयम्भुवे ॥ ५ ॥

अन्वय—समस्तसङ्कल्पकल्पना-कल्पशाखिने विकासिकलिकाकान्त-कलापाय स्वयम्भुवे नमः [अस्तु]।

अर्थ—प्रार्थना करनेवाले सेवकोंकी समस्त मनोभिलषित वस्तुओंकी पूर्त्ति करनेवाले एवं विकसित कलियोंसे अर्थात् दिव्य कुसुमोंके कुड्मलोंसे सुशोभित-शाखावाले अर्थात् कल्पवृक्षकी तरह भक्तोंके ऐहिक और पारलौकिक समस्त मनोभिलषित संकल्पोंको सम्पादित (पूर्ण) करनेवाले एवं विकसित चन्द्र-कलासे अति सुमनोहर जटाजूटवाले स्वयम्भू अर्थात् अनादि शिवके लिए नमस्कार है¶।

नमस्तमःपराभूतभूतवर्गानुकम्पिने ।
श्वेतभानुबृहद्भानुभानुभासितचक्षुषे ॥ ६ ॥

---

* यहाँ 'वृत्त्यनुप्रास' नामक अलङ्कार है—
'अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥'— (साहित्यदर्पण)

¶ यहाँ भी 'वृत्त्यनुप्रास' नामक अलङ्कार है।

अन्वय—तमःपराभूतभूतवर्गानुकम्पिने श्वेतभानुबृहद्भानुभानुभासितचक्षुषे नमः ।

अर्थ—अविद्यारूप अज्ञान (अन्धकार) से घेरे (दबाये) हुए दीन प्राणियोंके प्रति निष्कारण (ही) अनुकम्पा करनेवाले एवं चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य-से जिनके (तीनों) नेत्र भासमान हो रहे हैं, ऐसे आशुतोषको नमस्कार है ।

नमः शमनहुङ्कारकातरातुरहर्षिणे ।
भवाय भवदावाग्निविविग्नामृतवर्षिणे ॥ ७ ॥

अन्वय—शमनहुङ्कारकातरातुरहर्षिणे भवदावाग्निविविग्नामृतवर्षिणे भवाय नमः ।

अर्थ—यमराजके अति भयानक हुङ्कार (गर्जन) से कातर (भयभीत) हुए आतुर लोगोंको अभय-दान देकर हर्षित करनेवाले एवं संसाररूप दावाग्नि (वनाग्नि) से व्याकुल हुए दीनोंके प्रति अमृतकी वर्षा करनेवाले सदाशिवको हमारा प्रणाम है ।

नमः समदकन्दर्पदर्पज्वरभरच्छिदे ।
दुर्वारभवरुग्भङ्गभिषजे वृषलक्ष्मणे ॥ ८ ॥

अन्वय—समदकन्दर्पदर्पज्वरभरच्छिदे दुर्वारभवरुग्भङ्गभिषजे वृषलक्ष्मणे नमः ।

अर्थ—जिसने मदोन्मत्त कामदेवके अहङ्काररूप ज्वरके भारका छेदन किया एवं जो इस दुर्निवार्य (अत्यन्त असाध्य) संसाररूपी व्याधिका [एक ही] चिकित्सक (वैद्य) है, उस वृषभकेतु (वृषभध्वज) शिवको हमारा नमस्कार है ।

नमो जन्मजरामृत्युभीतिसातङ्कपालिने ।
करुणामृतसम्पर्कपेशलाय कपालिने ॥ ९ ॥

अन्वय—जन्मजरामृत्युभीतिसातंकपालिने करुणामृतसम्पर्कपेशलाय कपालिने नमः ।

अर्थ—जन्म, जरा और मृत्युके भयसे दुःखितोंका पालन करनेवाले, कृपारूप अमृतके सम्पर्क (सम्बन्ध) से अति कोमल और हाथमें कपाल (खप्पर) को धारण करनेवाले शङ्करको नमस्कार है ।

नमो निसर्गनिर्विघ्नप्रसादामृतसिन्धवे ।
संसारमरुसन्तापतापितापन्नबन्धवे ॥ १० ॥

अन्वय—निसर्ग-निर्विघ्नप्रसादामृतसिन्धवे संसारमरुसंतापतापितापन्नबन्धवे नमः ।

अर्थ—किसी प्रकारकी विघ्नबाधासे रहित स्वाभाविक प्रसन्नतारूप अमृतके महासागर तथा संसाररूप मरुस्थलमें संताप अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापोंसे सन्तापित हुए विपत्ति-ग्रस्त अथवा शरणागत जनोंके निष्कारण बान्धव सदाशिवको नमस्कार है ।

नमः सान्द्रामृतस्यन्दिघनध्वनितशोभिने ।
महाकालाय भीष्मोष्मभवग्रीष्मक्लमच्छिदे ॥ ११ ॥

अन्वय—सान्द्रामृतस्यन्दिघनध्वनितशोभिने भीष्मोष्मभवग्रीष्मक्लमच्छिदे महाकालाय नमः ।

अर्थ—सघन जलको बरसानेवाले मेघोंकी ध्वनिसे सुशोभित एवं अति भयावह उष्णता (गरमी) पैदा करनेवाले ग्रीष्मकालसे उत्पन्न हुए क्लम (थकावट) को हरनेवाले महाकाल अर्थात् वर्षाकालके समान अतिगाढ़ कृपारूप अथवा कल्याण (मोक्ष)-रूप अमृत बरसानेवाले प्रसाद-वाक्योंसे अर्थात् भक्तोंको अभयदान देनेवाले 'मा भैषी: ! मा भैषी: !!' (मत डरो ! मत डरो !!) ऐसे प्रसाद-वाक्योंसे सुशोभित एवं अतिभयानक सन्तापवाले संसाररूप ग्रीष्मकालसे उत्पन्न हुए खेदका छेदन करनेवाले उस महाकाल अर्थात् प्रलयकालमें समस्त प्रपञ्चका संहार करनेवाले शिवको प्रणाम है।

नमो वाङ्मनसातीतमहिम्ने परमेष्ठिने ।
त्रिगुणाष्टगुणानन्तगुणनिर्गुणमूर्तये ॥ १२ ॥

अन्वय—वाङ्मनसातीतमहिम्ने त्रिगुणाष्टगुणानन्तगुणनिर्गुणमूर्त्तये परमेष्ठिने नमः ।

अर्थ—जिसकी महिमा वाणी और मनसे परे है और जो सत्त्व, रज और तमोगुणके अनुरूप त्रिमूर्तिको तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म औरअधर्म स्वरूप अष्ट (गुण)-मूर्त्तिको अथवा अनन्त गुणवती मूर्तिको धारण करता है, उस परमेष्ठी अर्थात् सृष्टि-कार्यके लिए ब्रह्माका रूप धारण करनेवाले शङ्करके लिए प्रणाम है।

हंसाय दीर्घदोषान्तकारिणेऽम्बरचारिणे ।
स्वमहोमहिमध्वस्तसमस्ततमसे नमः ॥ १३ ॥

अन्वय—दीर्घदोषान्तकारिणे अम्बरचारिणे स्वमहोमहिमध्वस्तसमस्ततमसे हंसाय नमः [अस्तु]।

अर्थ—महारात्रिका अन्त (नाश) करनेवाले, आकाशमें विचरण करनेवाले और स्वकीय तेजकी महिमासे संसार भरके समस्त अन्धकारको नष्ट करनेवाले हंस (सूर्य) के समान अद्वय-स्वरूप (आत्म-स्वरूप) के आवरक (अज्ञान आदि) महान् दोषोंको नाश करनेवाले, परम ज्योतिरूपसे हृदय-(रूप)-आकाशमें विचरनेवाले एवं स्वकीय तेजकी महिमासे समस्त अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले उस हंस अर्थात् परम शिव परमात्माको नमस्कार है।

यः सुवर्णेन चन्द्रेण गाङ्गेयेनाग्निजन्मना ।
काञ्चनेनश्रियं धत्ते तस्मै स्मरजिते नमः ॥ १४ ॥

अन्वय—यः सुवर्णेन चन्द्रेण गाङ्गेयेन अग्निजन्मना काञ्चन इनश्रियम् धत्ते, तस्मै स्मरजिते नमः ।

अर्थ—जो (ईश्वर) सुन्दर वर्णवाले चन्द्रमा, गणपति और कार्त्तिकेयके संयोगसे स्वच्छन्द प्रभु-शोभा (राजशोभा) धारण करता है, उस कामदेवको जीतनेवाले (सदाशिव) के लिए प्रणाम है।

निजाङ्गभङ्गभङ्ग्याऽपि भक्तानुग्रहकारिणे ।
नमः स्तम्भितजम्भारिभुजस्तम्भाय शम्भवे ॥ १५ ॥

अन्वय—निजाङ्गभङ्गभङ्ग्या अपि भक्तानुग्रहकारिणे स्तम्भितजम्भारि भुजस्तम्भाय शम्भवे नमः ।

अर्थ—जो सदाशिव अपने अङ्ग (लिङ्ग नामक पुरुष-चिह्न) के भङ्ग (नाश) से भी भक्तों (पूजा करनेवालों) के प्रति महान् अनुग्रह करते हैं* और जिन्होंने इन्द्रके भुज(बाहु)-दण्डको स्तम्भित कर दिया, उन परम कल्याणमय प्रभुको हमारा नमस्कार है ।

निःसामान्याय मान्याय न्यायमार्गोपदेशिने ।
मूर्धन्याय वदान्याय धन्याय स्वामिने नमः ॥ १६ ॥

अन्वय—निःसामान्याय मान्याय न्यायमार्गोपदेशिने मूर्धन्याय वदान्याय धन्याय स्वामिने नमः [अस्तु] ।

अर्थ—कोई (सदृश) उपमान न होने के कारण जो (शिव) समानता से रहित और परम पूज्य है तथा जो भक्तोंको सत्य-मार्गका उपदेश करता है अथवा कणाद आदि महर्षिरूपसे जो न्याय-शास्त्रका उपदेश करता है, उस ब्रह्मादि देवोंमें अग्रगण्य एवं भक्तोंको मनोवाञ्छित फल देनेवाले धन्य महेश्वरको प्रणाम है ।

नमः संहृतकालाय कालायसगलत्विषे ।
गङ्गाधौतकलापाय कलापायमविन्दते ॥ १७ ॥

अन्वय—संहृतकालाय कालायसगलत्विषे गङ्गाधौतकलापाय कलापायम् अविन्दते [शिवाय] नमः ।

अर्थ—यमराजके भयसे भयभीत राजा श्वेत एवं मार्कण्डेय आदि (भक्तों) को अभय-दान देकर कालका नाश करनेवाले, [कालकूटके पान करनेसे] जिसके

* स्वच्छन्द होनेके कारण स्वेच्छानुसार लोकोत्तर चर्यामें निरत भगवान् भोलेनाथ किसी समय दिगम्बर वेषमें कहीं विहरण कर रहे थे । उनके परम सुमनोहर अप्राकृत सौन्दर्यकी छटा देखकर मुनियोंकी पत्नियाँ उनपर अत्यन्त मुग्ध हो गयीं । अपनी पत्नियों-की यह दशा देखकर उन मुनियोंने कुपित हो भगवान् शिवको शाप दिया कि 'आपके लिंग का भङ्ग (पतन) हो जाय ।' तब भगवान् शिवका लिङ्ग पृथ्वी पर गिर गया । इससे समस्त संसारमें अनेक तरहके अकाल और उपद्रव होने लगे । तब अत्यन्त भयभीत हो ब्रह्मादि देवताओंने भक्ति-श्रद्धा-पुरस्सर सदाशिवके उस ज्योतिर्लिङ्ग [की स्थापना कर उस] का अर्चन किया, जिससे सबका मनोरथ परिपूर्ण हो गया । तबसे समस्त भूमण्डलमें शिव के (ज्योतिर्मय) लिङ्गके अर्चनकी महिमा विस्तृत हुई । इससे सिद्ध होता है कि भगवान् सदाशिवकी आकस्मिकी अश्लील चेष्टाओंसे भी प्राणियोंका परम कल्याण (मोक्ष) होता है, तब उनकी वास्तविकी चेष्टाओं का तो कहना ही क्या है । इसीसे कहा है—

'अपूर्वं लावण्यं विवसनतनोस्ते विमृशतां
मुनीनां दाराणां समजनि स कोऽपि व्यतिकरः ।
यतो भग्ने गुह्ये सकृदपि सपर्यां विदधतां
ध्रुवं मोक्षोऽश्लीलं किमपि पुरुषार्थप्रसवि ते ॥'

कण्ठ (गले) की कान्ति काले लोहके समान भासमान होती है और गङ्गाके प्रवाहसे जिसका जटाजूट अतीव स्वच्छ है एवं जिसके मस्तकपर विराजमान चन्द्रकलाका कभी भी ह्रास नहीं होता, उस अपार करुणा-सिन्धु (सदाशिव) को हमारा नमस्कार है।

जिष्णुना जिष्णुना लोकान् विष्णुना प्रभविष्णुना।
ब्रह्मणा ब्रह्मणाऽऽद्येन स्तुताय स्वामिने नमः ॥ १८ ॥

अन्वय—लोकान् जिष्णुना जिष्णुना प्रभविष्णुना विष्णुना आद्येन ब्रह्मणा ब्रह्मणा, (च) स्तुताय स्वामिने नमः।

अर्थ—लोकजित् इन्द्र, सृष्टिके पालक विष्णु, वेद भगवान् और ब्रह्मा जिनकी स्तुति करते हैं, ऐसे स्वामी सदाशिवको हमारा प्रणाम है।

कुलशैलदलं पूर्णसुवर्णगिरिकर्णिकम् ।
नमोऽधितिष्ठतेऽनन्तनालं कमलविष्टरम् ॥ १९ ॥

अन्वय—कुलशैलदलम् पूर्णसुवर्णगिरिकर्णिकम् अनन्तनालम् कमलविष्टरम् अधितिष्ठते नमः।

अर्थ—हिमालय, निषध, विन्ध्य, मलयाचल, पारियात्रक, गन्धमादन, सह्य और नील ये आठ कुल-पर्वत जिसके दल हैं और महान् सुमेरु पर्वत जिसकी कर्णिका है एवं शेषनाग (अनन्त) जिसकी नाल है, ऐसे भूलोकरूपी कमलके आसनपर सृष्टि-कार्यके लिए जो ब्रह्मारूपमें अधिष्ठित (बैठा) है, उस सदाशिवको प्रणाम है।

निमित्तमन्तरेणापि यः सपङ्कजनाभये।
प्रवर्तते विभुस्तस्मै नमः पङ्कजनाभये ॥ २० ॥

अन्वय—यः विभुः सपंकजनाभये निमित्तम् अन्तरेण अपि प्रवर्त्तते, तस्मै पङ्कजनाभये नमः।

अर्थ—जो सर्वव्यापक ईश्वर सपङ्क जनों (पापी पुरुषों) को भी अभयदान देने में बिना निमित्त (कारण) ही प्रवृत्त होता है, उस पङ्कजनाभि (कमल-नाभि) अर्थात् सृष्टिकी स्थिति (पालन) के लिए श्रीविष्णुरूप धारण किये सदाशिवको प्रणाम है।

नमः सोमार्धदेहाय सोमार्धकृतमौलये।
श्वेताभयसमुद्भूतश्वेताभयशसे नमः ॥ २१ ॥

अन्वय—सोमार्धदेहाय नमः, सोमार्धकृतमौलये श्वेताभयसमुद्भूतश्वेताभयशसे नमः।

अर्थ—जिसके अर्धाङ्गमें श्रीपार्वतीजी और ललाटपर अर्धचन्द्रमा बिराजित हैं एवं राजा श्वेतको अभयदान देनेसे जिसकी कीर्ति लोकमें अत्यन्त विख्यात है, उस शिवको नमस्कार है।

विनतानन्दनं नागविग्रहोग्रमुखं दृशा।
विनायकमुपासीनं भजते स्वामिने नमः ॥ २२ ॥

अन्वय—विनतानन्दनम् नागाविग्रहोग्रमुखम् उपासीनम् विनायकम् दृशा भजते स्वामिने नमः।

अर्थ—विनतों अर्थात् भक्तोंको आनन्द देनेवाले तथा देहका ऊपरी भाग हाथीका होनेसे उग्रमुखवाले सेवानिरत श्रीगणेशजीपर स्नेहभरी दृष्टिसे अनुग्रहकी वृष्टि कर रहे स्वामी शङ्करके लिए प्रणाम है।

[यहाँ 'विनता' (विशेष रूपसे प्रणत = भक्त और गरुड़की माता), 'नाग-विग्रह' (नाग = गज या सर्पका + विग्रह = शरीरवाले) और 'विनायक' (गणोंके विशिष्ट नेता या वि = पक्षियों के + नायक) ये पद श्लिष्ट हैं। इसलिए दूसरा अर्थ इस प्रकार है—

विनताके सुपुत्र तथा सर्पोंके साथ वैरभाव होनेसे (शय्यारूप सर्पराज शेषकी सन्निधिमें) कुपित मुखवाले एवं सेवासंलग्न गरुड़की ओर स्नेहभरी दृष्टिसे देख रहे (संरक्षण-कार्यार्थ) विष्णुरूपधारी भगवान् महेश्वरके लिए प्रणाम है।]

नमो ब्रह्महरित्र्यक्षश्रवसे भवसेतवे।
जगत्सर्गस्थितिह्रासहेतवे वृषकेतवे ॥ २३ ॥

अन्वय—ब्रह्महरित्र्यक्षश्रवसे भवसेतवे जगत्सर्गस्थितिह्रासहेतवे वृषकेतवे नमः।

अर्थ—यशके विस्तारके लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रका रूप धारण करनेवाले, संसार-सागरसे पार लगानेवाले तथा जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले अर्थात् कार्यके लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप धारण करनेवाले श्रीवृषभध्वज (सदाशिव) को हमारा प्रणाम है।

कर्णिकादिष्विव स्वर्णमर्णवादिष्विवोदकम्।
भेदिष्वभेदि यत्तस्मै परस्मै महसे नमः ॥ २४ ॥

अन्वय—कर्णिकादिषु स्वर्णम् इव, अर्णवादिषु उदकम् इव, भेदिषु यत् अभेदि, तस्मै परस्मै महसे नमः।

अर्थ—जिस प्रकार नाममात्रसे भिन्न प्रतीत होनेवाले कर्णिका, कटक, कुण्डल आदिमें एक ही सुवर्ण है; किंवा जिस प्रकार समुद्र, नादेय आदि नाममात्रसे भिन्न प्रतीत होनेवाले जलोंमें एक ही जल है, उसी तरह सुर-नर, पशु-पक्षी आदि नामोंसे प्रतीत होनेवाले विभिन्न रूपोंमें एकमात्र परमार्थ रूपसे जो व्याप्त है, उस परमज्योति चिदानन्दघनस्वरूप परम शिवको हमारा प्रणाम है।

यमेकमेव श्रयतो न जायते
स्पृहा परस्मै महतेऽपि नाकिने।
नमः समस्तापदुपेतपालन-
व्रताय तस्मै विभवे पिनाकिने ॥ २५ ॥

अन्वय – यम् एकम् एव श्रयतः महते अपि परस्मै नाकिने स्पृहा न जायते, तस्मै समस्तापदुपेतपालनव्रताय विभवे पिनाकिने नमः ।

अर्थ—जिस एक ही प्रभुकी शरण लेनेवाले भक्तको फिर किसी दूसरे महान् देवताकी (सेवा करके वरदान प्राप्त करनेकी) इच्छा ही नहीं होती, ऐसे समस्त आपदाओंमें डूबे (दीन) जनोंके पालनरूप व्रतको धारण करनेवाले सर्वसमर्थ सर्वव्यापी महेश्वरको अनेक बार नमस्कार है ।

विधौ जगत्सर्गविधौ यदाहितं
प्रतिष्ठितं यत्स्थितिकारणे विधौ ।
समूढमूढार्धविधौ लये च यत्
पराय तस्मै महसे नमो नमः ॥ २६ ॥

अन्वय—[भगवता] जगत्सर्गविधौ यत् विधौ आहितम् , स्थितिकारणे यत् विधौ प्रतिष्ठितम् , लये च यत् ऊढार्धविधौ समूढम् , तस्मै पराय महसे नमो नमः ।

अर्थ—परमेश्वर सदाशिवने जगत्की सृष्टिके लिए जिस (अपने तेज) को ब्रह्माजीमें रक्खा और जगत्के पालनके निमित्त जिस (तेज) को विष्णु (रूप) में संस्थापित किया एवं जगत्के संहारके निमित्त जिसे रुद्ररूपमें धारण किया, उस ईश्वरीय परमतेजको बारबार नमस्कार है ।

नमः समुत्पादिततारकद्विषे
नमस्त्रिधामाश्रिततारकत्विषे ।
नमो जगत्तारकपुण्यकर्मणे
नमो नमस्तारकराजमौलये ॥ २७ ॥

अन्वय—समुत्पादिततारकद्विषे नमः, त्रिधामाश्रिततारकत्विषे नमः, जगत्तारकपुण्यकर्मणे नमः, तारकराजमौलये नमो नमः ।

अर्थ—जिस सदाशिव ने तारकासुरको मारनेवाले स्वामी कार्त्तिकेयको उत्पन्न किया, उसके लिए हमारा प्रणाम है; सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि (इन तीनों तेजों) ने जिसके नेत्र-गोलकों की कान्तिको आश्रित किया है, उसे हमारा नमस्कार है; जिसका अति पवित्र मनोहर चरित्र इस जगत्को समस्त दुःखोंसे पार कर देता है, उसके प्रति हमारा प्रणाम है तथा जिसके मस्तक पर तारकराज चन्द्रदेव विराजमान हैं, उस करुणासागरको बार-बार हमारा नमस्कार है ।

नमो नमस्तेऽमृतभानुमौलये
नमो नमस्तेऽमृतसिद्धिदायिने ।
नमो नमस्तेऽमृतकुम्भपाणये
नमो नमस्तेऽमृतभैरवात्मने ॥ २८ ॥

अन्वय—(हे परमेश !) अमृतभानुमौल्ये ते नमो नमः, अमृतसिद्धिदायिने ते नमो नमः, अमृतकुम्भपाणये ते नमो नमः, अमृतभैरवात्मने ते नमो नमः ।

अर्थ—हे परमेश्वर ! आप चन्द्रशेखर को बार-बार नमस्कार है, अमृतसिद्धि अर्थात् मोक्षसिद्धि देनेवाले आपको सदा प्रणाम है, सुधाकलश (अमृत के कलश) को अपने कर-कमलमें धारण करनेवाले हे मृत्युञ्जय ! आपको प्रणाम है, और अपने भीषण चरित्रोंसे समस्त संसारको हरनेवाले हे भैरव ! आपके प्रति सर्वदा नमस्कार है ।

नमस्तमःपारपरार्ध्यवृत्तये
नमः समस्ताध्वविभक्तशक्तये ।
नमः क्रमव्यस्तसमस्तमूर्तये
नमः शमस्थार्पितभक्तिमुक्तये ॥ २९ ॥

अन्वय—तमःपारपरार्ध्यवृत्तये नमः, समस्ताध्वविभक्तशक्तये नमः, क्रमव्यस्तसमस्तमूर्त्तये नमः, शमस्थार्पितभक्तिमुक्तये नमः ।

अर्थ—जिसकी उत्कृष्ट-स्थिति अज्ञानसे परे है उस परमेश्वर शिवको हमारा नमस्कार है; समस्त मार्गोंमें (अर्थात् पदमार्ग, वर्णमार्ग, मन्त्रमार्ग, तत्त्वमार्ग, कालमार्ग और भुवनमार्ग इन छः मार्गों में) जिस (ईश्वर) ने अपनी अमोघ शक्तिको विभक्त (तत्तत्स्थलों में संस्थापित) किया है, उसे प्रणाम है; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि रूपसे जिसने अपनी समस्त मूर्तियों को पृथक् किया है, उस परम दयालुको हमारा नमस्कार है और शांतिमें स्थित हुए (संतोषी) पुरुषोंको भक्ति और मुक्ति देनेवाले शङ्करको हमारा प्रणाम है ।

विजयजयप्रदाय शबराय वराय नमः
सकलकलङ्कसङ्करहराय हराय नमः ।
जगदगदप्रगल्भविभवाय भवाय नमः
प्रवरवरप्रकाशितशिवाय शिवाय नमः ॥ ३० ॥

इति काश्मीरकमहाकविश्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-कुसुमाञ्जलौ' 'नमस्कारात्मकं' द्वितीयं स्तोत्रम् ।

अन्वय—विजयजयप्रदाय वराय शबराय नमः, सकलकलङ्कसंकरहराय हराय नमः, जगदगदप्रगल्भविभवाय भवाय नमः, प्रवरवरप्रकाशितशिवाय शिवाय नमः ।

अर्थ—अर्जुनको विजय प्रदान करनेके लिए अतिविचित्र किरात-रूपको धारण करनेवाले (शिव) को प्रणाम है; मन, वचन, शरीर द्वारा उपार्जित किये पापोंके दोषोंको हरनेवाले महेश्वरको प्रणाम है; जिसका ऐश्वर्य समस्त जगत्को हठात् निष्कण्टक बनाता है, उस लोक-कल्याणकारी शिवको नमस्कार है और जिसने भक्त (लोगों) को श्रेष्ठ वरदान देकर अपने शिव (कल्याण) स्वरूपको प्रकट (प्रकाशित) किया है, उस परम कल्याणदायक सदाशिवको प्रणाम है ।

तृतीय स्तोत्र

हमारे कविराज भगवद्भक्ति में विभोर हो अद्भुत प्रेम द्वारा भगवान् शङ्करको प्रसन्नकर उनकी परम कृपासे उनके स्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो गये हैं। अब वे संसारी लोगोंको शिव-तत्त्व (आत्म-तत्त्व) के साक्षात्कार द्वारा अनादि अविद्या (माया) के चक्रसे छुड़ाकर परम आनन्द (मोक्षधाम) सम्पादन करनेका अधिकारी बनानेके उद्देश्यसे लोगोंके हृदयमें शिवभक्ति रूप कल्पलताको प्रफुल्लित करनेके लिए 'आशीर्वाद-स्वरूप' तृतीय स्तोत्रका प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

नित्यं निरावृति निजानुभवैकमान-
मानन्दधाम जगदङ्कुरबीजमेकम्।
दिग्देशकालकलनादिसमस्तहस्त-
मर्दासहं दिशतु शर्म महन्महो नः ॥ १ ॥

अन्वय—नित्यम् निरावृति निजानुभवैकमानम् आनन्दधाम एकम् जगदङ्कुरबीजम् दिग्देशकालकलनादिसमस्तहस्तमर्दासहम् (तत्) महत् महः, नः शर्म दिशतु।

अर्थ—अतीत, वर्तमान और भविष्यद् रूपोंमें सत्ता (अस्तित्व) रूपसे नित्य विद्यमान, अविद्यात्मक मायाके आवरणसे रहित और केवल एक अपना अनुभव ही जिसका प्रमाण है एवं आनन्द का परम धाम और समस्त जगत्-रूप अङ्कुरोंका एक ही मूल कारण तथा समस्त दिशा, देश और कालके परिच्छेद अर्थात् मापकोंकी मापको सहन न करनेवाली, यानी दिक्कृत, देशकृत एवं कालकृत परिच्छेद से शून्य वह महान् ज्योति (शङ्कर का तेज) हमारे लिए कल्याण प्रदान करे।

व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीचि-
व्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च
तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये नः ॥ २ ॥

अन्वय—व्योम्नि नीरदभरः इव, सरसि वीचिव्यूहः इव, सहस्रमहसि सुधांशुधाम इव, यस्मिन् इदम् जगत् उदेति लीयते च, तत् शाम्भवम् वैभवम् नः ऋद्धये भवतु।

अर्थ—आकाशमें मेघ-माला के समान, सरोवरमें तरङ्ग-समूहके समान एवं सूर्यमें चन्द्रमाके तेजके समान, जिस (अचिन्त्य, अनन्तमहामहिम शक्तिशाली परमेश्वरके वैभव) में अघटित-घटना-पटीयसी मायाके योगसे यह समस्त जगत् उदित (उत्पन्न) और अस्त (नष्ट) होता है, वह श्रीशङ्करका अतुलनीय वैभव हमारी समृद्धि के लिए हो।

लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः
कार्येण यो हरिहरद्रुहिणत्वमेति।

देवः स विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्त-
शक्तिः शिवं दिशतु शश्वदनश्वरं वः ॥ ३ ॥

अन्वय—यः कार्य्येण लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः हरिहरद्रुहिणत्वम् एति, सः विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्तशक्तिः देवः वः शश्वत् अनश्वरम् शिवम् दिशतु ।

अर्थ—जीवोंके उपकारके लिए तीनों लोकोंकी स्थिति (पालन), संहार और उत्पत्तिरूप क्रीड़ा करता हुआ जो क्रमशः विष्णु, रुद्र और ब्रह्मारूप धारण करता है एवं जिसकी शक्ति समस्त प्राणियोंकी वाणी और मनसे अत्यन्त अगम्य है, वह स्वयं-प्रकाश परमेश्वर (सदाशिव) आप लोगोंको सदैव अक्षय कल्याण (मोक्ष) प्रदान करे ।

सर्वः किलायमवशः पुरुषाणुकर्म-
कालादिकारणगणो यदनुग्रहेण ।
विश्वप्रपञ्चरचनाचतुरत्वमेति
स त्रायतां त्रिभुवनैकमहेश्वरो वः ॥ ४ ॥

अन्वय—अयम् सर्वः अवशः पुरुषाणुकर्मकालादिकारणगणः यदनुग्रहेण विश्वप्रपञ्च-रचनाचतुरत्वम् एति, सः त्रिभुवनैकमहेश्वरः वः त्रायताम् ।

अर्थ—पुरुष, परमाणु, शुभाशुभ कर्म, काल आदि इस जगत्के उपादान, निमित्त और सहकारी कारणोंका यह सम्पूर्ण पराधीन गण, जिस परमेश्वरकी कृपासे इस जगत्के विस्तारका निर्माण करनेमें निपुण (समर्थ) होता है, वह त्रिलोकीका ईश्वर आप लोगोंकी रक्षा करे ।

भाव यह है कि जैसे कुम्भकारके घटादि पदार्थोंके निर्माणमें मृत्तिका उपादान कारण और दण्ड निमित्त कारण तथा चक्र, चीवर आदि सहकारी कारण हैं, वैसे ही इस संसारकी रचनामें परम ज्योतिर्मय परमेश्वरकी इच्छा ही कुम्भकारके स्थानमें है, परमात्माके ही अति सूक्ष्म अंश 'प्रतिबिम्ब' पदवाच्य जीवोंके अदृष्टसे सहकृत परमाणु या प्रकृति आदि ही मृत्तिकाके समान उपादान कारण हैं, जीवोंका शुभाशुभ कर्म ही दण्डके समान निमित्त कारण है एवं काल आदि ही चक्रके समान सहकारी कारण हैं । ये सब (कारण) अस्वतन्त्र होने से उसी परमेश्वरके अधीन एवं उसीकी सत्ता-स्फूर्तिसे अपने-अपने कार्यमें तत्पर होते हैं ।

एकस्य यस्य सकलः करणानपेक्ष-
ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपञ्चः ।
पश्यञ्जगत् करतलामलकीफलाभं
लाभं स पुष्यतु परं परमेश्वरो वः ॥ ५ ॥

अन्वय—करणानपेक्षज्ञानक्रियस्य यस्य एकस्य पुरतः सकलः प्रपञ्चः स्फुरति, करतला-मलकीफलाभम् जगत् पश्यन् सः परमेश्वरः वः परम् लाभम् पुष्यतु ।

अर्थ—किन्हीं भी साधनों (कारणों) की अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्तिसे सम्पन्न जिस एक अद्वितीय परमेश्वरके आगे यह समग्र जगत्रूप प्रपञ्च केवल इच्छामात्रमें समभ्युदित (प्रकट) होता है, वह हथेलीमें (रखे हुए) आमलकी फल (आँवले) के समान सम्पूर्ण जगत्को देखता हुआ परमेश्वर (सदाशिव) आप लोगोंके परमलाभको खूब परिपुष्ट करे।

यः कन्दुकैरिव पुरन्दरपद्मसद्म-
पद्मापतिप्रभृतिभिः प्रभुरप्रमेयः।
खेलत्यलङ्घ्यमहिमा स हिमाद्रिकन्या-
कान्तः कृतान्तदलनो लघयत्वघं वः ॥ ६ ॥

अन्वय—यः अप्रमेयः प्रभुः पुरन्दरपद्मसद्मपद्मापतिप्रभृतिभिः कन्दुकैः इव खेलति, सः कृतान्तदलनः अलङ्घ्यमहिमा हिमाद्रिकन्याकान्तः वः अघम् लघयतु।

अर्थ—ब्रह्मादि देवोंसे भी अपरिच्छेद्य जो प्रभु इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु आदि देवताओंसे गेंदके समान खेल (क्रीड़ा) करता है, अर्थात् जैसे बालक गेंदको कभी ऊपर और कभी नीचे पटकता है, वैसे ही जो परमेश्वर ब्रह्मादि देवों का क्षणमें ही अधःपात और क्षणमें ही उत्थापन करता है, वह यमराजके दर्पको दलन करनेवाला अलंघनीय महिमाशील गिरजापति (भगवान् सदाशिव) आपके सब पापोंको हरे।

सेवानमन्निखिलखेचरमौलिरत्न-
रश्मिच्छटापटलपाटलपादपीठः।
पुष्णातु धामकपिशीकृतशैलशृङ्ग-
त्वङ्गन्मृगाङ्कमधुराकृतिरीश्वरो वः ॥ ७ ॥

अवन्य—सेवानमन्निखिलखेचरमौलिरत्न रश्मिच्छटापटलपाटलपादपीठः कपिशीकृत-शैलशृङ्गत्वङ्गन्मृगाङ्कमधुराकृतिः ईश्वरः वः धाम पुष्णातु।

अर्थ—सेवाके लिए हाथ जोड़कर खड़े समस्त ब्रह्मादि देवोंके मुकुटों पर जड़े हुए रत्न-किरणोंकी छटाओंसे पादपीठ (आसन) के पीले हो जानेके कारण जिसकी शोभा गैरिक (गेरू) आदि धातुओंसे पीले बने पर्वतके शिखरपर विराजमान चन्द्रमाके समान भासमान होती है, वह ईश्वर आपके धामको पुष्ट करे।

अङ्गं भुजङ्गरचिताङ्गदभङ्गि तुङ्गं
त्वङ्गत्तरङ्ग गगनाङ्गनसङ्गिगङ्गम्।
बिभ्रद्विभुर्विहितरङ्गदनङ्गभङ्ग-
मङ्गीकरोत्वरमभङ्गुरमिङ्गितं वः ॥ ८ ॥

अन्वय—विभुः, भुजङ्गरचिताङ्गदभङ्गि त्वङ्गत्तरङ्गगगनाङ्गनसङ्गिगङ्गम् विहितरङ्गदनङ्गभङ्गम् तुङ्गम् अङ्गम् बिभ्रत् वः अभङ्गुरम् इङ्गितम् अरम् अङ्गीकरोतु।

अर्थ—जिसमें शेषनाग प्रभृति सर्पोंने केयूर अर्थात् बाजूबन्दकी शोभा बनायी है, ऐसी उन्नत भुजाओं तथा उछलती हुई तरङ्गोंवाली आकाशगङ्गा (मन्दाकिनी) से विराजमान विशाल मस्तक एवं कामदेवका भङ्ग करनेवाले दिव्य ललाटको धारण करता हुआ वह व्यापक शिव आपकी अखण्डित अभिलाषाओंको शीघ्र अङ्गीकार करे, अर्थात् अभिलाषाओंकी पूर्ति करे* ।

यः कुण्डमण्डलकमण्डलुमन्त्रमुद्रा-
ध्यानार्चनस्तुतिजपाद्युपदेशयुक्त्या ।
भोगापवर्गदमनुग्रहमानतानां
व्यानञ्ज रञ्जयतु स त्रिजगद्गुरुर्वः ॥ ९ ॥

अन्वय—यः (दैशिकमुखेन) कुण्डमण्डलकमण्डलुमन्त्रमुद्राध्यानार्चनस्तुतिजपाद्युपदेशयुक्त्या आनतानाम् भोगापवर्गदम् अनुग्रहम् व्यानञ्ज, सः त्रिजगद्गुरुः वः रञ्जयतु ।

अर्थ—जिसने (भक्तजनोंके प्रति कृपादृष्टि करके) गुरुओं (ब्राह्मणों) के मुखसे अग्निकुण्ड, यागमण्डल, कमण्डलु, मन्त्र, आवाहन आदि मुद्रा तथा ध्यान, पूजन, स्तुति, जप आदिका उपदेश देकर भक्त लोगोंको भुक्ति और मुक्ति देनेवाला महान् अनुग्रह (प्रसाद) प्रकट किया, वह त्रिलोकीका ईश्वर भवानीश्वर आपके सकल मनोरथोंको पूर्ण कर आपको रञ्जित करे ।

शम्भोरदभ्रशरदभ्रतुषारशुभ्रं
भ्राजिष्णुभूतिभरशीभरभास्वराभम् ।
दिश्याद्वपुर्भसलनीलगलं कलङ्का-
लङ्कारशारदशशाङ्कनिभं शुभं वः ॥ १० ॥

अन्वय—अदभ्रशरदभ्रतुषारशुभ्रम् भ्राजिष्णुभूतिभरशीभरभास्वराभम् भसलनीलगलम् कलङ्कालङ्कारशारदशशाङ्कनिभम् शम्भोः वपुः वः शुभम् दिश्यात् ।

अर्थ—शरद्-कालके सघन मेघ और हिमके समान शुभ्र (स्वच्छ) तथा अति सुमनोहर भस्म-पटलसे चमकती हुई कान्तिसे भासमान एवं भ्रमरके समान नीले कण्ठसे विराजित और कलङ्करूप आभूषणसे विभूषित जो शरद्-कालका पूर्ण चन्द्रमा है, उसके समान अतिरम्य शङ्करजीका वह दिव्य शरीर आपको कल्याण प्रदान करे ।

येनोपदिष्टमनपायमुपायमाप्य
स्वर्गापवर्गविभवैर्विभवो भवन्ति ।
देवः स वः सकलकर्मफलोपलम्भ-
विस्रम्भभूमिरभिवाञ्छितसिद्धयेऽस्तु ॥ ११ ॥

* यहाँ 'पूर्णम् ईप्सितं ददातु' ऐसा कहनेके बदले 'अभङ्गुरम् इङ्गितम् अङ्गीकरोतु' इस तरह उपचार द्वारा 'वक्रोक्ति' है ।

अन्वय—येन उपदिष्टम् अनपायम् उपायम् आप्य [भक्ताः] स्वर्गापवर्गविभवैः विभवः भवन्ति, सः सकलकर्मफलोपलम्भविस्रम्भभूमिः देवः वः अभिवाञ्छितसिद्धये अस्तु ।

अर्थ—जिससे उपदिष्ट अविनाशी उपायको प्राप्त करके भक्त लोग स्वर्ग, अपवर्ग (मोक्ष) तथा अणिमा¶ आदि अष्ट विभूतियों (सिद्धियों) से परिपूर्ण हो जाते हैं, वह सकल शुभाशुभ कर्मोंकी फल-प्रापिका आश्वासन-स्थान (विश्वासभूमि) स्वयंप्रकाश परमेश्वर (श्रीशङ्कर) आपके मनोवाञ्छित फलोंकी सिद्धि करे ।

मूलोज्झितेन कलिकाकलितेन ताप-
शान्तिक्षमेण नमतामविपल्लवेन ।
सद्यःफलेन सुमनोभिरुपासितेन
स्थाणुः श्रियेऽस्तु भवतां वपुषाऽद्भुतेन ॥ १२ ॥

अन्वय—मूलोज्झितेन कलिकाकलितेन नमताम् तापशान्तिक्षमेण अविपल्लवेन सद्यः-फलेन सुमनोभिः उपासितेन अद्भुतेन वपुषा [उपलक्षितः] स्थाणुः भवताम् श्रिये अस्तु ।

अर्थ—आदि-कारणसे रहित अर्थात् अनादि, चन्द्रकलासे सुशोभित तथा भक्तिसे विनम्र हुए सत्पुरुषोंके तीनों तापोंकी शान्ति करनेमें समर्थ, विपत्तिके लवलेश (सम्पर्क) से रहित अर्थात् विशुद्ध (निर्विशेष) स्वरूप और प्रणाम करने मात्रसे (लोगोंको) तत्काल शुभ फल देनेवाले एवं सर्वदेव-सुपूजित और अति अद्भुत शरीर (मूर्ति) धारण करनेवाले वे स्थाणु प्रलयकाल में भी सुस्थिर (रहनेवाले सदाशिव) आपके कल्याण के लिए हो ।

[प्रलयकालमें भी सदा सुस्थिर रहनेके कारण भगवान् शङ्कर का नाम 'स्थाणु' है और वृक्ष के 'ठूँठ' को भी 'स्थाणु' कहते हैं, अतः यहाँ 'शब्दश्लेष' द्वारा सदाशिवरूप स्थाणु में लौकिक स्थाणु की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षणता दिखलायी है, अर्थात् लौकिक स्थाणु तो 'मूल (जड़)—सहित' ही होता है, मूलोज्झित (मूलसे रहित निर्मूल) नहीं होता, किन्तु यह (शिवरूप) स्थाणु तो 'मूलोज्झित' (मूल आदि-कारण से रहित अर्थात् अनादि) है। लौकिक स्थाणु (ठूँठ) 'कलिकाओं' से रहित होता है, 'कलिका-कलित' (कलिकाओं से सुशोभित) नहीं किन्तु शिवरूप स्थाणु तो 'कलिका-कलित' (चन्द्रकला से सुशोभित) है। लौकिक स्थाणु (ठूँठ) नमन करनेवालों का सन्ताप शान्त करने में समर्थ नहीं होता * किन्तु शिवरूप स्थाणु तो 'नमन' (प्रणाम) करनेवालों के सन्तापों की शान्ति करने में समर्थ है। लौकिक स्थाणु पल्लवों (पत्रों) से रहित होता है, 'अ-विपल्लव' (पल्लवों से युक्त नहीं) है, किन्तु यह शिवरूप स्थाणु तो 'अविपल्लव' (विपत्तियों के लवलेश से विवर्जित अर्थात् सुविशुद्ध, निर्विशेष) है, लौकिक स्थाणु 'सद्यःफल' (तत्काल

¶ अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, ये आठ विभूतियाँ हैं ।

* क्योंकि उसमें पत्र न होने के कारण छाया ही नहीं होती ।

फलदायक) नहीं होता; किन्तु सदाशिवरूप स्थाणु तो 'सद्यःफल' (शरणागतोंको तत्काल ही फल देता) है। लौकिक स्थाणु सुमनों (पुष्पों) से हीन होता है, 'सुमनोभिः उपासित' (पुष्पों से सुशोभित) नहीं; किन्तु शिवरूप स्थाणु तो 'सुमनोभिः उपासित' (इन्द्रादि देवताओंसे उपासित) है। अतएव कवि ने इस शिवरूप स्थाणुको 'अद्भुतेन वपुषा (उपलक्षितः)' अर्थात् अति आश्चर्यजनक शरीरवाला कहकर लौकिक स्थाणुकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण बतलाया है।]

दिव्यापगाप्लवनपावकसेवनाभ्यां
बिभ्रत्तनुं शुचिमपेतकलङ्कशङ्काम्।
दोषानुषङ्गरहितस्तिमिरोष्मशान्त्यै
भूयाद् द्विजाधिपतिरीश्वरवन्दितो वः ॥ १३ ॥

अन्वय—दिव्यापगाप्लवनपावकसेवनाभ्याम् शुचिम् अपेतकलङ्कशङ्काम् तनुम् बिभ्रत्, दोषानुसङ्गरहितः ईश्वरवन्दितः द्विजाधिपतिः वः तिमिरोष्मशान्त्यै भूयात्।

अर्थ—जैसे प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीनों समय गङ्गामें निमज्जन (स्नान) तथा अग्निकी सेवा (अग्निहोत्र) से अतिपवित्र अर्थात् बाह्य और आन्तरिक मलोंसे विरहित एवं कलङ्क और मानसिक चपलता आदि दोषों की आसक्ति से रहित तथा ईश्वरों (समस्त राजाओं) से वन्दित द्विजाधिपति (सद् ब्राह्मण) अपने सदुपदेशके द्वारा शरणागतोंके अविद्यारूप अन्धकार और दुःखत्रयजनित संतापोंको शान्त करता है, वैसे ही (श्रीङ्करजी के) मस्तक पर विराजित देव-गङ्गा (मन्दाकिनी) के आप्लवन (अवगाहन) और तृतीय नेत्र में रहनेवाली अग्निके सेवन से अति निर्मल, बाह्य और आन्तरिक मल एवं कलङ्क की शङ्का से रहित दिव्य शरीरको धारण किया हुआ और रात्रि के संसर्ग से रहित वह ईश्वर (सदाशिव) से वन्दित द्विजाधिपति (द्विजों नक्षत्रोंका अधिपति) अर्थात् भगवान् शङ्करके मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा आपके अज्ञानरूप अन्धकार एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक संतापोंको शान्त करे।

दानाम्बुनिर्भरकरस्तनयः स यस्य
श्रीमान् स यस्य धनदः सविधे विधेयः।
यः संश्रितः शिरसि मुक्तकरेण राज्ञा
पुष्णातु वः कनकवर्षघनः स देवः ॥ १४ ॥

अन्वय—सः यस्य तनयः दानाम्बुनिर्भरकरः (अस्ति), श्रीमान् सः धनदः यस्य सविधे विधेयः (अस्ति), यः मुक्तकरेण राज्ञा शिरसि संश्रितः, सः कनकवर्षघनः देवः वः पुष्णातु।

अर्थ—जिसके सुप्रसिद्ध पुत्र गणेशजी का कर (सूँड़ या हाथ) सदैव दान अर्थात् मदरूप जल या शरणागतों को दान देने के लिए ग्रहण किये हुए जल से परिपूर्ण रहता है, अर्थात् जिसके पुत्र सदैव शरणागतों को दान देने के लिए सङ्कल्प के लिए हाथ में जल लेकर प्रस्तुत रहते हैं तथा श्रीमान् यानी महापद्म आदि नौ

निधियोंके अधिपति कुबेरजी जिसके समीपमें रहकर सदैव आज्ञाका पालन करते हैं एवं समस्त दिशाओंमें अपने करों (किरणों) को फैलाये हुए चन्द्रदेवने जिसके मस्तकका आश्रय लिया है, वह राजा मरुत्तके नगरमें सात दिवसपर्यन्त सुवर्ण-की अविच्छिन्न वृष्टि करनेवाला भगवान् शिवरूप मेघ आपको धन-धान्यादिसे परिपुष्ट करे * ।

निर्मत्सरौ निवसतः सममर्कचन्द्रौ
नीरानलावमृतहालहलौ च यत्र ।
राज्ञा नवेन तदधिष्ठितमुज्ज्वलेन
शार्वं वपुर्भवतु वाञ्छितसिद्धये वः ॥ १५ ॥

अन्वय -यत्र निर्मत्सरौ अर्कचन्द्रौ नीरानलौ अमृतहालहलौ च समम् निवसतः, तत् उज्ज्वलेन नवेन राज्ञा अधिष्ठितम् शार्वम् वपुः वः वाञ्छितसिद्धये भवतु ।

अर्थ—जहाँ सूर्य और चन्द्रमा, जल और अग्नि, अमृत और विष ये सब अपना पारस्परिक द्वेषभाव छोड़कर एक ही साथ प्रेमसे निवास करते हैं, वह नवीन राजा श्रीचन्द्रदेवसे अधिष्ठित भगवान् सदाशिवका सुमनोहर वपु आपको मनोवाञ्छित पदार्थ प्रदान करे। भाव यह है कि पुराने राजा (के राज्य) की अपेक्षा जहाँ नवीन राजासे अधिष्ठित नवीन राज्य होता है, वहाँकी प्रजामें प्रायः परस्पर वैमनस्य होता है। किन्तु श्रीशङ्करजीके शरीरमें तो नवीन चन्द्र राजाके अधिष्ठित होनेपर परस्पर-विरोधी$ भी सूर्य और चन्द्रमा, जल, और अग्नि एवं अमृत और विष ये सब आपसका द्वेषभाव छोड़कर बड़े प्रेमसे एक साथ ही निवास करते हैं।

वक्ता च यः सुखयिता च विभुः श्रुतीनां
वक्षः करं च वहते कमलाङ्कितं यः ।
यो मूर्ध्नि वर्ष्मणि च हैमवतीं बिभर्ति
त्रैधं भवन् भवतु वः स शिवः शिवाय ॥ १६ ॥

अन्वय—यः विभुः [ब्रह्मरूपेण] श्रुतीनाम् वक्ता सुखयिता च (अस्ति), तथा यः [विष्णुरूपेण] कमलाङ्कितम् वक्षः करम् च वहते, यः [रुद्ररूपेण] मूर्ध्नि वर्ष्मणि च हैमवतीम् बिभर्त्ति, सः त्रैधम् भवन् शिवः वः शिवाय भवतु ।

अर्थ—जो सर्व-व्यापक परमेश्वर ब्रह्मारूपसे चारों श्रुतियों (वेदों) का वक्ता

* जिसके (पास) इस प्रकारके पुत्र और सेवक लोग सदैव दान-सत्रमें तत्पर रहते हैं, उस परमेश्वरके लिए सुवर्णकी वृष्टि करना कौन-सी बड़ी बात है ?

$ अर्थात् सूर्य दिनकर होनेसे दिनमें ही उदित होता है और चन्द्रमा रात्रिकर होनेसे रात्रिमें उदित होता है, अतः इनको आपसमें वैरी कहा गया है। इसी तरह जल और अग्नि तथा विष और अमृतमें भी परस्पर द्वेषभाव रहता है।

और उनके श्रवणमें तत्पर विद्वान् लोगोंके कर्णों (कानों) को सुख देनेवाला है, विष्णुरूपसे 'कमलाङ्कित' (लक्ष्मीसे चिह्नित) वक्षःस्थल तथा कमलाङ्कित (कमलसे सुशोभित) हस्तको धारण करता है एवं रुद्ररूपसे मस्तकमें गङ्गा और वामाङ्गमें पार्वतीजीको धारण करता है; इस प्रकार [जगत्‌की] सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप कार्यके लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूपसे तीन प्रकारका होता हुआ वह सदाशिव आपका कल्याण करे ।

तापत्रयापहृतये त्रिशिखं त्रिवर्ग-
सिद्‌ध्यै त्रिधामलयनं नयनत्रयं च ।
त्रिस्रोतसोऽपि सलिलं त्रिमलापनुत्यै
भूयात् त्रिलोकमहितं त्रिपुरद्विषो वः ॥ १७ ॥

अन्वय - त्रिपुरद्विषः त्रिलोकमहितम् त्रिशिखम् वः तापत्रयापहृतये भूयात्, त्रिधामलयनम् नयनत्रयम् च वः त्रिवर्गसिद्‌ध्यै भूयात्, त्रिस्रोतसः सलिलम् अपि वः त्रिमलापनुत्यै भूयात् ।

अर्थ—त्रिपुरासुरके द्वेषी भगवान् शङ्करका तीनों लोकोंमें वन्दनीय त्रिशूल आपके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापोंकी शान्ति करे; सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके निवासस्थान तीनों नेत्र आपके त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की सिद्धि करें और उनके मस्तकपर विराजमान त्रिपथगामिनी (श्रीगङ्गा) का त्रिलोक-पूजित जल आपके तीनों मलोंको (अर्थात् आणव, मायीय और कार्म मलोंको) दूर करे ।

यद्दर्शनामृतसुखानुभवेन धन्या
नेत्रोत्पलानि चिरमर्धनिमीलितानि ।
दृङ्मार्गगोचररवीन्दुकरप्रसङ्ग-
भङ्‌ग्येव बिभ्रति शिवः शिवदः स वोऽस्तु ॥ १८ ॥

अन्वय—धन्याः, यद्दर्शनामृतसुखेन दृङ्मार्गगोचररवीन्दुकरप्रसङ्गभङ्ग्या इव, चिरम् अर्धनिमीलितानि नेत्रोत्पलानि बिभ्रति, सः शिवः, वः शिवदः अस्तु ।

अर्थ—धन्य (भाग्यशाली) पुरुष [ध्यानावसरमें] जिसके दर्शनरूप अमृत-पानके सुखानुभवसे, मानो भगवान्‌के (ही) नेत्रोंमें विराजमान सूर्य और चन्द्रमाकी किरणोंका एक साथ ही सम्पर्क होनेके कारण चिरकाल तक अर्धनिमीलित (आधे खुले और आधे मूँदे हुए) नेत्र-कमलोंको धारण करते हैं¶, वह सदाशिव आपका कल्याण करें ।

¶ भावुक लोग जिस समय भगवद्ध्यानमें तल्लीन हो भगवदीय सुमनोहर स्वरूपका दर्शन करने लगते हैं, उस समय (भावावेशवश) उनके नेत्र-कमल कुछ कालतक 'अर्धनिमीलित' (आधे विकसित और आधे संकुचित-से अर्थात् निमेषोन्मेष-विवर्जित)

कालं दृशैव शमयन् सफलप्रयासं
यः श्वेतमुत्तमचमत्कृतिकृच्चकार ।
श्वेतं यशः प्रशमयन्नसतां सतां च
कालं कृतार्थयति यः स शिवोऽवताद्वः ॥ १९ ॥

अन्वय—उत्तमचमत्कृतिकृत् यः दृशा एव कालम् शमयन् श्वेतम् सफलप्रयासम् चकार, यः असताम् श्वेतम् यशः प्रशमयन् सताम् कालम् कृतार्थयति, सः शिवः वः अवतात् ।

अर्थ—स्वच्छन्द होनेके कारण जिस लोकोत्तर उत्तम चमत्कारकारी शिवने अपनी दृष्टिमात्रसे काल (यमराज) का शमन (नाश) करते हुए श्वेत (राजा श्वेत) के प्रयासको, उसे अभय-दान देकर, सफल किया और जो दुष्ट लोगोंके श्वेत-यश (धवल-कीर्ति) को अत्यन्त दूर (नष्ट) करता हुआ भक्ति-रसामृतसे सींचे हुए अति सुकोमल चित्तवाले सत्पुरुषोंके काल (समय) को कृतार्थ करता है, वह करुणासागर शिव आपकी रक्षा करे ।

[इस श्लोकमें पूर्वार्धमें कहे हुए अर्थसे उत्तरार्धमें विपरीत अर्थ है, अर्थात् पूर्वार्धमें तो काल (यम) के शमनसे श्वेत (राजा श्वेत) के प्रति अनुग्रह और उत्तरार्धमें दुर्जनोंके श्वेत यशके शमन (नाश) से सज्जनोंके काल (समय) को कृतार्थ करना कहा गया है। यही उस स्वच्छन्द प्रभुकी स्वतन्त्रताका उत्तम (विलक्षण) चमत्कार है ।]

बभ्रुर्बिभर्त्यलिकपावकसौहृदं यो
यत्राहिरेति शिखिना सह सामरस्यम् ।
जूटः स वः सममरातिभिरप्यमर्ष-
मुक्तां स्थितिं प्रथयतु प्रमथाधिपस्य ॥ २० ॥

अन्वय—यः (जूटः) अलिकपावकसौहृदम् बिभर्ति, यत्र अहिः शिखिना सह सामरस्यम् एति, सः प्रमथाधिपस्य बभ्रुः जूटः, वः अरातिभिः समम् अपि, अमर्षमुक्ताम् स्थितिम् प्रथयतु ।

अर्थ—जो (जटाजूट) ललाटमें स्थित अग्निके साथ अतिशय प्रीति करता

हो जाते हैं। यह मानो उनको जिस भगवदीय स्वरूप (मूर्ति) का साक्षात्कार (दर्शन) होता है, उसी मूर्तिके नेत्रोंमें रहनेवाले सूर्य और चन्द्रमाकी किरणोंके सम्पर्कसे ही उन भावुकोंके नेत्र-कमल अर्धनिमीलित (अर्थात् आधे नेत्र तो सूर्य-किरणोंके सम्पर्कसे विकसित और आधे नेत्र चन्द्र-किरणोंके सम्पर्कसे संकुचित) हो जाते हैं, क्योंकि सूर्य-किरणोंके सम्पर्कसे ही कमलोंका विकास और चन्द्रकिरणोंके सम्पर्कसे ही कमलोंका संकोच होता है । ज्ञातव्य है कि भगवान् शिवके दक्षिण नेत्रमें सूर्य और वाम नेत्रमें चन्द्रमाका निवास है ।

है, और जहाँपर रहनेवाला सर्प (वासुकि) शिखी अर्थात् अग्नि अथवा मयूरके साथ अतिशय प्रीति करता है, वह नन्दी आदि प्रमथगणोंके अधिपति भगवान् श्रीभवानी-नाथका पिङ्गल जटाजूट शत्रुओंके साथ भी आपकी द्वेषरहित-स्थिति करे अर्थात् आपके हृदयसे शत्रुत्व-भावनाको ही मिटा दे ।

अव्यात्स वः शिरसि यस्य विलोचनाग्नि-
ज्वालावलीढसुरसिन्धुजलोपगूढः ।
अद्यापि वाडवशिखापरिणद्धमुग्ध-
दुग्धाब्धिमध्यग इव श्रियमेति चन्द्रः ॥ २१ ॥

अन्वय—यस्य शिरसि, विलोचनाग्निज्वालावलीढसुरसिन्धुजलोपगूढः चन्द्रः अद्य अपि वाडवशिखापरिणद्धमुग्धदुग्धाब्धिमध्यग इव श्रियम् एति, सः वः अव्यात् ।

अर्थ—जिसके शिरमें नेत्राग्निकी ज्वालाओंसे ग्रसित देवगङ्गा (सुरसरि) के जलसे घिरा हुआ चन्द्रमा आज (इस वर्तमान समय में) भी वडवानल (वाडवाग्नि) की ज्वालाओंसे व्याप्त सुमनोहर क्षीर-सागरके मध्य स्थित हुआ-सा शोभायमान होता है, वह (शरणागत-वत्सल) सदाशिव आपकी रक्षा करे ।

अव्यात्स वः सुकृतिनामलिकेषु धूली-
पट्टीकृतेषु पदरेणुभरेण यस्य ।
धाताक्षराणि लिखति क्षितिपालमौलि-
मालार्चिताङ्घ्रिकमलो भविता भुवीति ॥ २२ ॥

अन्वय—यस्य पदरेणुभरेण धूलीपट्टीकृतेषु सुकृतिनाम् अलिकेषु धाता [असौ पुरुषः] भुवि क्षितिपालमौलिमालार्चिताङ्घ्रिकमलः भविता इति अक्षराणि लिखति, सः (शिवः) वः अव्यात् ।

अर्थ—जिसके चरण-कमलोंके परागके पटलसे धूलिपट्टीकृत अर्थात् अक्षर लिखनेके लिए धूलि डाली हुई पटरी (तख्ती) के समान बने हुए भाग्यवान् पुरुषोंके ललाटोंमें, ब्रह्माजी "यह पुरुष पृथ्वीमें समस्त राजाओंके शिरोमुकुटोंकी मालाओंसे पूजितचरण (अर्थात् चक्रवर्ती राजा) होगा" ऐसे अक्षर लिखते हैं, वह अतिशय दयालु शिव आपकी रक्षा करे ।

शैवी शिवं दिशतु शीतमरीचिलेखा
जूटाहिरत्नकिरणच्छुरणारुणा वः ।
देवी नवीननखलक्ष्मधिया पिधत्ते
यत्संक्रमं कुचतटे पटपल्लवेन ॥ २३ ॥

अन्वय—देवी कुचतटे यत्संक्रमम् नवीननखलक्ष्मधिया पटपल्लवेन पिधत्ते, (सा) जूटाहिरत्नकिरणच्छुरणारुणा शैवी शीतमरीचिलेखा वः शिवम् दिशतु ।

अर्थ—श्रीभवानी (पार्वती) जी अपने स्वच्छ वक्षःस्थलमें पड़े हुए जिसके

प्रतिबिम्बको नवीन नख-चिह्न समझकर 'इसे जया और विजया आदि मेरी सखियाँ देख न लें' इसलिए (उसे) अपने उत्तरीय वस्त्रके छोरसे ढाँकती हैं, वह श्रीशङ्करजीके जटाजूटमें स्थित हुए सर्पोंके रत्न-किरणोंकी कान्तिसे [कुछ] अरुण-सी बनी हुई चन्द्रकला आपको कल्याण (मोक्ष) प्रदान करे।

देव्यास्तदस्तु कुचचूचुकमिन्दुमौलि-
देहार्धबद्धवसतेरमृताप्तये वः ।
अभ्येति यन्मदनपूज्यसुवर्णपीठ-
पृष्ठप्रतिष्ठितहरिन्मणिलिङ्गभङ्गिम् ॥ २४ ॥

अन्वय—यत् मदनपूज्यसुवर्णपीठपृष्ठप्रतिष्ठितहरिन्मणिलिङ्गभङ्गिम् अभ्येति, तत् इन्दुमौलिदेहार्धबद्धवसतेः देव्याः कुचचूचुकम् वः अमृताप्तये अस्तु ।

अर्थ—जो [पहले सापराध] कामदेवके द्वारा पूजित सुमेरु-पर्वतके पृष्ठभागमें स्थित हरित मणिके समान सुशोभित होता है, वह श्रीभगवान् शङ्करजीके वामाङ्गमें विराजमान देवी पार्वतीजीका कुचचूचुक अर्थात् स्तनका अग्रभाग आपको मोक्षलक्ष्मी प्रदान करे।

याः क्षीरसिन्धुलहरीवृतमन्दराद्रि-
मुद्रामनङ्गदमनस्य नयन्ति जूटम् ।
द्विर्भाविताविरलसिद्धसरित्तरङ्गा-
स्ता लङ्घयन्त्वघमघर्मरुचो रुचो वः ॥ २५ ॥

अन्वय—याः अनङ्गदमनस्य जूटम् क्षीरसिन्धुलहरीवृतमन्दराद्रिमुद्राम् नयन्ति, ताः द्विर्भाविताविरलसिद्धसरित्तरङ्गाः अघर्मरुचः रुचः वः अघम् लङ्घयन्तु ।

अर्थ—जो भगवान् सदाशिवके जटाजूटको, क्षीरसागरकी लहरियोंसे घिरे हुए मन्दराचलके समान सुशोभित कर देती हैं और श्रीमन्दाकिनीकी घनी तरङ्गोंको दुगुना बना देती हैं, वे भगवान्‌के मस्तकपर विराजमान चन्द्रमाकी दीप्तियाँ आपके पापको दूर करें।

लोकत्रयाभ्युदयजन्ममही महीयः-
स्थानाधिरोहणविधावधिरोहिणी या ।
सा चन्द्रचूडमुकुटध्वजवैजयन्ती
जह्नोरनिह्नुतनया तनयाऽवताद्वः ॥ २६ ॥

अन्वय—या लोकत्रयाभ्युदयजन्ममही, महीयःस्थानाधिरोहणविधौ अधिरोहिणी [भवति] सा चन्द्रचूडमुकुटध्वजवैजयन्ती अनिह्नुतनया जह्नोः तनया वः अवतात् ।

अर्थ—जो तीनों लोकोंके ऐहिक आमुष्मिक अभ्युदयकी जन्मभूमि एवं अति उत्तम स्वर्गसे भी अधिक पूजनीय स्थान (मोक्षधाम) में आरोहण करनेकी सीढ़ी है, वह त्रिलोकी (तीनों लोकों) का अभ्युदय और पापपङ्कमें डूबे हुए प्राणियोंका

उद्धारकर धर्मनीतिको प्रकट करनेवाली श्रीसदाशिवके मुकुटरूप ध्वजामें पताकाके समान शोभायमान जाह्नवी आपकी रक्षा करे।

भालाग्निकीलकलिताखिलरन्ध्रभागं
भर्गस्य वो दिशतु शर्म शिरःकपालम्।
यत्कालवह्निवपुषः पचतः प्रभूत-
भूतव्रजं व्रजति तस्य महानसत्वम्॥ २७॥

अन्वय—यत् प्रभूतभूतव्रजम् पचतः कालवह्निवपुषः तस्य महानसत्वम् व्रजति, तत् भालाग्निकीलकलिताखिलरन्ध्रभागम् भर्गस्य शिरःकपालम् वः शर्म दिशतु।

अर्थ—जो (कपाल) प्रलयकालमें समग्र लोक-समुदायको पकाते हुए कालाग्निरुद्र रूपधारी भगवान् शङ्करका पाकस्थान (रसोईघर) बन जाता है और जिसके समग्र छिद्रभाग ललाटमें रहनेवाली अग्निकी ज्वालाओंसे पूर्ण हैं, वह भगवान् श्रीशङ्करका कपाल (खप्पर) आपको मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करे।

चान्द्रं च धाम सुरनिर्झरिणी जलं च
हस्तस्थहेमकलशामृतजीवनं च।
स्निग्धं च दृग्विलसितं हसितं सितं च
युष्माकमूष्मशमनाय भवन्तु शम्भोः॥ २८॥

अन्वय—शम्भोः चान्द्रम् धाम च सुरनिर्झरिणीजलम् च हस्तस्थहेमकलशामृतजीवनम् च स्निग्धम् दृग्विलसितम् च सितम् हसितम् च (एतानि) युष्माकम् ऊष्मशमनाय भवन्तु।

अर्थ—चन्द्रमाका प्रकाश, श्रीगङ्गाजीका जल, हाथमें विराजमान सुवर्ण-कलशका अमृत जल, कृपा-युक्त नेत्र-कमलोंकी अति कोमल दृष्टिका विलास और अति स्वच्छ ईषद् हास्य, ये सब भगवान् शङ्करजीकी अतिशीतल वस्तुएँ आपके संसार-रूप मरुस्थलमें भ्रमण करनेसे उत्पन्न हुए संतापकी शान्ति करें।

मूर्ध्नि द्युसिन्धुधवले धवलेन्दुलेखा
कैलासशैलशिखरे धवलश्च वाहः।
नीहारहारिणि वपुष्यपि भूतिरेषा
पुष्णातु वः सदृशसंघटना शिवस्य॥ २९॥

अन्वय—द्युसिन्धुधवले मूर्ध्नि धवला इन्दुलेखा, कैलासशैलशिखरे च धवलः वाहः, नीहारहारिणि वपुषि अपि भूतिः एषा शिवस्य सदृशसंघटना वः पुष्णातु।

अर्थ—देवगङ्गाके प्रवाहसे स्वच्छ हुए मस्तकपर चन्द्रमाकी स्वच्छ रेखा, स्वच्छ स्फटिकमय कैलाश पर्वतके शिखरपर स्वच्छ (श्वेत) ही वाहन (वृषभ) एवं हिमके समान स्वच्छ शरीरपर भी स्वच्छ ही विभूति, इस प्रकार श्रीशङ्करकी यह 'समान वस्तुमें समान वस्तुकी ही कल्पना' आपको शिवभक्तिरूप अमृत-रस पिलाकर अतीव परिपुष्ट करे।

उत्तप्तहेमरुचि चन्द्रकला कलापे
बालप्रवालरुचिरे च करे कपालम् ।
ताम्रेऽधरे च हसितं सितमुद्भुतेयं
विच्छित्तिरिन्दुशिरसः कुशलं क्रियाद्वः ॥ ३० ॥

अन्वय—उत्तप्तहेमरुचि कलापे चन्द्रकला, बालप्रवालरुचिरे करे च कपालम्, ताम्रे अधरे च सितम् हसितम्, इयम् इन्दुशिरसः अद्भुता विच्छित्तिः, वः कुशलम् क्रियात् ।

अर्थ—अग्निसे तपाये हुए सुवर्णके समान सुमनोहर जटाजूटपर श्वेत चन्द्रकला और कोमल विद्रुमके समान अरुण हस्तकमलमें भी श्वेत ही कपाल एवं अरुण वर्णवाले अधर (ओष्ठ) में स्वच्छ ईषत् हास्य, इस प्रकारकी भगवान् श्रीशङ्करकी आश्चर्यजनक विच्छित्ति (अर्थात् एक वर्णवाली एक वस्तुमें दूसरे वर्णको मिलानेसे बनी हुई अद्भुत शोभा) आपका सदा कुशल करे।

श्रेयः प्रयच्छतु परं सुविशुद्धवर्णा
पूर्णाभिलाषविबुधाधिपवन्दनीया ।
पुण्या कविप्रवरवागिव बालचन्द्र-
चूडामणेश्चरणरेणुकणावली वः ॥ ३१ ॥

अन्वय—सुविशुद्धवर्णा पूर्णाभिलाषविबुधाधिपवन्दनीया पुण्या बालचन्द्रचूडामणेः चरण-रेणुकणावली, कविप्रवरवाक् इव वः परम् श्रेयः प्रयच्छतु ।

अर्थ—जैसे सुविशुद्ध वर्णों, अर्थात् वर्णनीय रसके उपयुक्त अक्षरोंसे युक्त, अत्युत्तम मनोरथवाले श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा वन्दनीय और अति मनोहर महाकविकी वाणी सहृदय लोगोंको परम कल्याण प्रदान करती है, वैसे ही अतीव विशुद्ध (स्वच्छ) वर्णोंवाली और सकल मनोरथोंसे परिपूर्ण इन्द्रादि देवताओं अथवा श्रेष्ठ विद्वानोंके द्वारा वन्दन करने योग्य एवं पापियोंको भी प्रणाम (करने) मात्रसे ही पवित्र कर देनेवाली श्रीशङ्करजीके चरण-कमलों की रेणुपङ्क्ति आपको परमश्रेय (मोक्षरूप कल्याण) प्रदान करे।

हारीकृतोल्बणफणीन्द्रफणेन्द्रनील-
नीलच्छविच्छुरणशारमुरःस्थलं वः ।
पुष्णातु निह्नुतनगेन्द्रसुताकुचाग्र-
कस्तूरिकामकरिकाकिणमिन्दुमौलेः ॥ ३२ ॥

अन्वय—हारीकृतोल्बणफणीन्द्रफणेन्द्रनीलनीलच्छविच्छुरणशारम् निह्नुतनगेन्द्रसुताकुचाग्रकस्तूरिकामकरिकाकिणम् इन्दुमौलेः उरःस्थलम् वः पुष्णातु ।

अर्थ—कण्ठमें हारके समान लम्बायमान वासुकिके फणोंमें जड़ी हुई इन्द्रनील मणियोंकी नील छविकी प्रभासे मिश्रित एवं आलिङ्गनके समय श्रीपार्वतीजीके स्तनों-

पर लगी हुई कस्तूरिकाके चिह्नको छिपानेवाला भगवान् श्रीशङ्करजीका वक्षःस्थल, आपके हृदयमें भक्ति-रसका उत्पादन करके आपको परिपुष्ट करे।

युष्माकमस्तु नवनीलसरोजदाम-
श्यामद्युतिः सुमतये शितिकण्ठकण्ठः।
यः केतकीधवलवासुकिभोगयोगा-
द्गाङ्गौघभिन्नगगनाङ्गनभङ्गिमेति ॥ ३३ ॥

अन्वय—यः केतकीधवलवासुकिभोगयोगात् गाङ्गौघभिन्नगगनाङ्गनभङ्गिम् एति [सः] नवनीलसरोजदामश्यामद्युतिः शितिकण्ठकण्ठः युष्माकम् सुमतये अस्तु ।

अर्थ—जो (कण्ठ) केतकी-पुष्पके समान श्वेत वासुकि (सर्प) के फणके साथ संयोग होनेके कारण, गङ्गाके जल-प्रवाहसे भिन्न किये हुए गगनमण्डल (आकाश) रूप आँगनके समान सुशोभित होता है; वह नवीन नील कमलकी मालाके समान श्यामल, श्रीशङ्करजीका (नील) कण्ठ आप लोगोंको अति सुन्दर (शिवके साथ तन्मय होनेवाली) मति प्रदान करे।

क्षीरार्णवस्य चरणाब्जतले निवास-
मासेदुषस्तनयमप्रतिमप्रसादः ।
यो मूर्ध्नि लालयति बालमसौ दयाब्धि-
र्देवस्तनोतु मुदमाश्रितवल्लभो वः ॥ ३४ ॥

अन्वय—यः अप्रतिमप्रसादः (स्वीये) चरणाब्जतले निवासम् आसेदुषः क्षीरार्णवस्य तनयम् बालम् [स्वकीये] मूर्ध्नि लालयति, असौ आश्रितवल्लभः दयाब्धिः देवः वः मुदम् तनोतु ।

अर्थ—जो अतुलनीय-प्रसन्नता (अपार-करुणा) का सागर अपने चरण-कमलोंके तलमें निवास करनेवाले (सेवक की भाँति चरण-सेवा करनेवाले) क्षीर-सागर के तनय बाल-चन्द्रमाको अपने शिरमें धरकर (अति स्नेहसे) लाड़ करता है (कृपाके वशीभूत होकर सदैव उसकी रक्षा करता है), वह शरणागतवल्लभ स्वयं-प्रकाश शिव आपको परम आनन्द प्रदान करे।

या राजहंसशिखिसंभृतकान्तिरेति
सद्यस्तिरोहितघनावरणा प्रसादम्।
सा प्रावृडन्तशरदादिदिनेष्विव द्यौः
शम्भोरभीष्टफलपाककृदस्तु दृग्वः ॥ ३५ ॥

अन्वय—या राजहंसशिखिसंभृतकान्तिः तिरोहितघनावरणा सद्यः प्रसादम् एति, सा प्रावृडन्तशरदादिदिनेषु द्यौः इव शम्भोः दृक् वः अभीष्टफलपाककृत् अस्तु ।

अर्थ—जैसे वर्षाऋतुके अन्त और शरद् ऋतुके प्रारम्भके दिनोंमें आकाश

राजहंस और मयूरोंसे सुशोभित एवं मेघोंके आवरणसे रहित होकर शाली (धान्य) आदि सब अभीष्ट फलोंको परिपक्व करता हुआ तत्काल निर्मलताको प्राप्त होता है। वैसे ही जो (दृष्टि) चन्द्र, सूर्य और अग्निसे सुशोभित है तथा प्रणाम करते समय ही भक्तोंके अविद्यारूप मायाके दृढ़ आवरणको दूर करके शीघ्र प्रसन्नताको प्राप्त हो जाती है, वह श्रीशङ्करजीकी करुणामयी दृष्टि आपके सकल अभीष्ट फलों (मनोरथों) को परिपक्व करे।

अन्तर्धृताहिमकरज्वलनोदितेन्दुः
स्वःसिन्धुसङ्गसुभगा परमेश्वरस्य।
औदन्वतीव तनुरस्तु गजाश्वरत्न-
श्रीलाभकृत्सुमनसाममृताय दृग्वः ॥ ३६ ॥

अन्वय - अन्तर्धृताहिमकरज्वलनोदितेन्दुः स्वःसिन्धुसङ्गसुभगा सुमनसाम् गजाश्वरत्न-श्रीलाभकृत् परमेश्वरस्य दृक् औदन्वती तनुः इव वः अमृताय अस्तु।

अर्थ - सर्प, मकर, वडवानल एवं [बाल] चन्द्रमाको अपने अन्दर धारण करनेवाला और श्रीगङ्गाजीके सङ्गमसे अति रमणीय समुद्र जैसे इन्द्रादि देवताओंको हाथी (ऐरावत), घोड़ा (उच्चैःश्रवा) एवं रत्न (कौस्तुभ)और लक्ष्मी प्रदान करता है, वैसे ही सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाको अपने अन्दर धारण करनेवाली तथा आकाश-गङ्गा (मन्दाकिनी) के सङ्गमसे अति रमणीय एवं विद्वान् लोगोंको हाथी, घोड़ा और लक्ष्मी आदि मनोभिलषित वस्तुओंकी प्राप्ति करानेवाली वह श्रीपरमेश्वर सदाशिवकी दृष्टि (तीनों नेत्र) आपको अमृत (परम-कल्याण) प्रदान करे।

यत्राग्निरीप्सति कणं न विवृत्य जिह्वां
नैति प्रतिक्षपमपेतवसुस्तमर्कः।
क्षीणस्तमिन्दुरपि न श्रयति श्रियेऽस्तु
श्रीधाम तत्पुररिपोर्नयनत्रयं वः ॥ ३७ ॥

अन्वय - यत्र अग्निः जिह्वाम् विवृत्य कणम् न ईप्सति, अपेतवसुः अर्कः प्रतिक्षपम् तम् न एति, तम् च क्षीणः इन्दुः अपि न श्रयति, तत् श्रीधाम पुररिपोः नयनत्रयम्, वः श्रिये अस्तु।

अर्थ—जैसे जो पुरुष श्री (लक्ष्मी) के धाम (गृह अर्थात् निवासस्थान) में निवास करता है, वह किसीसे याचना करनेके लिए अपनी जिह्वा फैलाकर अन्न-के कणकी इच्छा नहीं करता, अपेत-वसु (धनहीन) भी नहीं होता और क्षीण (अत्यन्त दरिद्र) होकर किसीका आश्रय भी नहीं लेता; ऐसे ही जिस श्रीधाम (परमशोभा अर्थात् सुमनोहरताके निवासस्थान) में अर्थात् श्रीशिवके तृतीय नेत्रमें रहनेवाला अग्नि (सदैव तृप्त होनेके कारण) अपनी जिह्वा फैलाकर किसी हविष्य * अन्नके कणकी इच्छा नहीं रखता। जहाँ सूर्य प्रत्येक रात्रिमें अपेत-वसु

* हवन करने योग्य।

(तेजोहीन) होकर बाह्याकाशस्थ सूर्यकी तरह उस अग्निमें प्रविष्ट नहीं होता❀ और जहाँपर निवास करता हुआ चन्द्रमा भी क्षीण (अमावास्याको निस्तेज) होकर उस सूर्यका आश्रय नहीं लेता¶ ऐसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा तीनों तेजोमय पिण्डोंको अपने अन्दर धारण करनेवाले वे त्रिपुरारिके तीन नयन आपका कल्याण करें ।

अर्कस्य नोदगयनं शिशिरेऽपि यत्र
शीतत्विषो न बहुलेपि कलापलापः ।
क्षामं च धाम न वहत्यपि वह्निरह्नि
तत्त्रायतां पुररिपोर्नयनत्रयं वः ॥ ३८ ॥

अन्वय— यत्र अर्कस्य शिशिरे अपि उदगयनम् न [भवति], शीतत्विषः बहुले अपि कलापलापः न [भवति], यत्र वह्निः अपि क्षामम् धाम न वहति तत् पुररिपोः नयनत्रयम् वः त्रायताम् ।

अर्थ— जहाँपर (दक्षिण नेत्रमें स्थित) सूर्यका, शिशिर ऋतुमें भी उत्तरायण (बाँये नेत्र और उत्तर दिशामें गमन) नहीं होता और जहाँ कृष्ण पक्षमें भी चन्द्रमाकी कलाओंका ह्रास (नाश) नहीं होता एवं जहाँ अग्निका तेज दिनमें भी कम नहीं होता, त्रिपुरान्तक (शङ्कर) के वे तीन नेत्र आपकी रक्षा करें ।

यामाश्रितोऽम्बरमणी रमणीयधामा
कामान्तकावनलसाऽनलसाद्व्यधाद्या ।
यापीन्दुसम्भवसुधावसुधा दृशस्ताः
शर्वस्य वः शिवपुषो वपुषा भवन्तु ॥ ३९ ॥

अन्वय— रमणीयधामा अम्बरमणिः याम् आश्रितः, या अनलसा कामान्तकौ अनलसाद् व्यधात्, या अपि इन्दुसम्भवसुधावसुधा [अस्ति], ताः शर्वस्य वपुषः दृशः वः शिवपुषः भवन्तु ।

अर्थ—अतिरमणीय तेजके निधान भगवान् भास्करदेव (सूर्य) जिस (दक्षिण दृष्टि) के आश्रित हैं तथा [ललाटमें स्थित] बलवती दृष्टि ने त्रैलोक्य-विजयी कामदेव और यमराजको अग्निसे भस्म कर दिया एवं जो (वामदृष्टि) चन्द्रमाके अमृतकी जन्मभूमि है, शङ्करजीकी वे तीनों दृष्टियाँ आपके समस्त दुःखोंकी निवृत्ति करें ।

❀ शास्त्रों में कहा गया है कि सायङ्कालमें सूर्यका तेज अग्निमें प्रविष्ट हो जाता है, किन्तु सदाशिवके नेत्रमें रहनेवाले सूर्यका तेज तो रात्रिमें भी कम नहीं होता । इसी कारण वह अग्निमें नहीं प्रविष्ट होता ।

¶ चन्द्रमा अमावास्याको निस्तेज होकर सूर्यकी शरण लेता है । किन्तु भगवान् शिवके नयनमें रहनेवाला चन्द्रमा तो अमावास्याको भी निस्तेज नहीं होता । इसी कारण वह सूर्यके बिम्बका आश्रय नहीं लेता ।

पुष्णातु वः प्रथमसङ्गमभीरुगौरी-
विस्रम्भणप्रणयभङ्गभयाकुलस्य ।
तत्कालकार्यकरदर्पकदेहदाह-
जातानुतापमुरगाभरणस्य चेतः ॥ ४० ॥

अन्वय—प्रथमसङ्गमभीरुगौरीविस्रम्भणप्रणयभङ्गभयाकुलस्य उरगाभरणस्य तत्कालकार्यकरदर्पकदेहदाहजातानुतापम् चेतः वः पुष्णातु ।

अर्थ—प्रथम सङ्गममें भीरु पार्वतीके विश्वासके लिए की हुई याचना (प्रार्थना) के भङ्गके भयसे व्याकुल हुए जिस (शङ्करजीके चित्त) में उस समय (प्रथम सङ्गममें) परस्पर अतिशय प्रेम पैदा करनेवाले कामदेवका देह-दहन करनेसे पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ, वह भगवान् शिवका चित्त आपको शिवभक्तिरूप अमृत पिलाकर परिपुष्ट करे ।

जूटे कपालशकलानि कलानिधिश्च
हस्ते सुधाम्बु सरलं गरलं गले च ।
शक्रादिभिश्च नमनं गमनं गवा च
यस्यास्तु दुर्गतिहरः स हरः सदा वः ॥ ४१ ॥

अन्वय—यस्य जूटे कपालशकलानि कलानिधिः च [भवति], हस्ते सुधाम्बु गले च सरलम् गरलम् [शोभते], यस्य च शक्रादिभिः नमनम् गवा च गमनम् [भवति], सः हरः सदा वः दुर्गतिहरः अस्तु ।

अर्थ—जिसके जटाजूटमें (महाप्रलयके समय अपहरण किये हुए ब्रह्मादि देवोंके) शिरःकपालोंके खण्ड और चन्द्रमा शोभायमान हैं, हाथमें अमृतजल और गले (कण्ठ) में उदार विष शोभित है एवं इन्द्रादि देवगण जिसको नमन करते हैं तथा वृषभपर चढ़कर जो गमन करता है, वह हर (शिव) सदा आपकी दुर्गतिको हरे ।

यस्य क्षितिः शिरसि सौमनसीव शेषा
शेषाहिरङ्गदपदे स चकास्ति यस्य ।
तस्य प्रभोरमृतनिर्झरनिर्विशेषा-
शेषाणि हन्तु दुरितानि सरस्वती वः ॥ ४२ ॥

अन्वय—यस्य शिरसि क्षितिः सौमनसी शेषा (निर्माल्यमाला) इव [शोभते], सः शेषाहिः यस्य अङ्गदपदे चकास्ति, तस्य प्रभोः अमृतनिर्भरनिर्विशेषा सरस्वती वः अशेषाणि दुरितानि हन्तु ।

अर्थ—जिसके मस्तकमें यह पृथिवी पुष्पमालाके समान शोभित (प्रतीत) होती है, वह शेषनाग जिस प्रभुके बाहुमें केयूर-पद (बाजूबन्दके स्थान) पर शोभित होता है, उस परमेश्वर (सदाशिव) की अमृतके प्रवाहके तुल्य वाणी (शरणागतों-

को अभय-दान देनेवाले प्रसाद-वाक्य) हमारे शरीर, वाणी और मनसे उपार्जित किये हुए समस्त पापोंको नाश करे।

श्रीमानकल्पत न कल्पतरुर्यदाप्त्यै
तृष्णा रसायनरसाय न यं समेत्य।
लभ्यो न यो गहनयोगहवैः स वोऽघ-
मप्राकृतो हरकृतो हरतु प्रसादः ॥ ४३ ॥

अन्वय—यदाप्त्यै श्रीमान् कल्पतरुः न अकल्पत, यम् समेत्य रसायनरसाय तृष्णा न (भवति), यः गहनयोगहवैः न लभ्यः, सः हरकृतः अप्राकृतः प्रसादः वः अघम् हरतु।

अर्थ—जिस अनुग्रहको करनेके लिए श्रीमान् (लक्ष्मी और शोभासम्पन्न) कल्पवृक्ष भी नहीं समर्थ हो सका और जिसको प्राप्त करके फिर किसी भी रसायन (जरा और व्याधिको हरनेवाले औषध) के पान करने की इच्छा ही नहीं होती तथा जो अति दुःसाध्य अष्टाङ्गयोग और कष्टसाध्य यज्ञोंसे भी प्राप्त नहीं हो सकता, श्रीशङ्करका वह अति उत्तम अनुग्रह हमारे त्रिविध पापोंको हरे।

मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एक-
स्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः।
किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूख-
लेखाशिखाभरणभक्तिरभङ्गुरा वः ॥ ४४ ॥

अन्वय—हि मुक्तिः नाम एकः परमः पुरुषार्थः [अस्ति], ताम् [अपि] यदन्तरज्ञाः अन्तरायम् अवयन्ति, भूयसा किम्, सा एव सुधामयूखलेखाशिखाभरणभक्तिः वः अभङ्गुरा भवतु।

अर्थ—अधिक क्या कहें, सब पुरुषार्थोंमें केवल एक मुक्ति ही परम (मुख्य) पुरुषार्थ है, परन्तु भक्तिकी विशेषता (श्रेष्ठता) को जाननेवाले भावुक लोग उस (मुख्य पुरुषार्थ) मुक्तिको भी जिस (भक्ति) की अपेक्षा (परमेश्वरके दर्शनमें) विघ्न समझते हैं*, वही चन्द्रशेखर (शिव) की अविच्छिन्न भक्ति आपको प्राप्त हो।

---

* इसीलिए टीकाकार राजानक रत्नकण्ठकी उक्ति है—

वीक्षे न यत्र नयनत्रितयाभिरामं
पूर्णेन्दुतर्जि मुखमीश्वर ! तावकीनम्।
दासस्य नाथ ! कृपया भवता वितीर्णं
सायुज्यमीदृगपि वेद्मि विडम्बने मे ॥

अर्थात् हे प्रभो, जहाँ मुझे आपके नयन-त्रयसे सुमनोहर, पूर्ण चन्द्रमाकी छविसे भी कोटिगुण अधिक रमणीय मुखका दर्शन न मिले, हे नाथ ! आपके कृपापूर्वक दिये हुए ऐसे मोक्षको भी मैं केवल अपनी विडम्बना ही समझता हूँ।

स यत्र गुहबर्हिणो भवभुजङ्गजिह्वाञ्चनै-
र्गजास्यकरकर्षणैः स च गिरीन्द्रकन्याहरिः ।
स चार्कसुतसैरिभो रवितुरङ्गहेषारवै-
र्मुदं दधति धाम तद्दिशतु शाम्भवं धाम वः ॥ ४५ ॥

अन्वय—यत्र सः गुहबर्हिणः भवभुजङ्गजिह्वाञ्चनैः, सः गिरीन्द्रकन्याहरिः च गजास्यकरकर्षणैः, सः अर्कसुतसैरिभः च रवितुरङ्गहेषारवैः मुदम् दधति, तत् शाम्भवम् धाम वः धाम (तेजः) दिशतु ।

अर्थ—जहाँ स्वामी कार्तिकेयका वाहन अर्थात् मोर श्रीशङ्करजीके कण्ठ और भुजाओंके आभूषणरूप वासुकि आदि सर्पोंको जिह्वाओं द्वारा चाटनेसे अतिशय हर्षको प्राप्त होता है तथा जगदम्बा पार्वतीजीका वाहन (सिंह) गणेशजीकी सूँड़के संघर्षणोंसे अतीव प्रसन्न होता है एवं यमराज * का वाहन (महिष) सूर्यके वाहनों (घोड़ों) के शब्दसे अति हर्षको प्राप्त होता है ¶, वह श्रीशङ्करजीका महाधाम आपको तेजस्वी बनावे ।

यस्मिञ्जातस्त्रिभुवनजयी भग्नकामः स कामो
यस्मिंल्लेभे शलभलघुतां प्राप्तकालः स कालः ।
यस्यौघो न प्रभवति महोनिह्नवे जाह्नवीयः
श्रेयः प्रेयः प्रथयतु स वः शाम्भवो दक्त्रिभागः ॥ ४६ ॥

अन्वय—यस्मिन् सः त्रिभुवनजयी कामः भग्नकामः जातः, यस्मिन् सः कालः प्राप्तकालः शलभलघुताम् लेभे, यस्य महोनिह्नवे जाह्नवीयः ओघः न प्रभवति, सः शाम्भवः दक्त्रिभागः वः प्रेयः श्रेयः प्रथयतु ।

अर्थ—जिसमें वह त्रिभुवनविजयी कामदेव भी भग्न-मनोरथ (निष्फल-प्रयास) हुआ, जिसमें यह प्रसिद्ध कराल यमराज अपना अन्तसमय पाकर पतङ्गके समान निस्तेज हो गया एवं जिसके तेजको तिरोहित करनेके लिए गङ्गाका प्रवाह भी समर्थ न हो सका, वह श्रीशङ्करजीके नेत्रों का तीसरा भाग अर्थात् अग्नि का आधारभूत तीसरा नेत्र आपको प्रेय (लौकिक अभ्युदय) और श्रेय (निःश्रेयस्-रूप मोक्ष) प्रदान करे ।

यः क्रोधाग्नेः समधिमकरोद्दर्पकं दर्पकन्द-
च्छेदाभिज्ञं व्यधित जगतां यः कृतान्तं कृतान्तम् ।

* शिव के दक्षिण-नेत्रस्थ सूर्यका पुत्र ।

¶ महापुरुषोंके चरणारविन्दके निकट परस्पर-विरोधी जन्तु भी आपसमें वैर-भाव त्यागकर परम प्रीतियुक्त हो जाते हैं । अतएव योग-सूत्रमें श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—"अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् हिंसामें दृढ़ निष्ठा हो जानेपर उस महापुरुषके समीपमें परस्पर विरोधी सर्प, नकुल आदि भी अपना वैर-भाव छोड़ देते हैं ।

नेतुं यश्च प्रभवति मतिह्रासमस्तं समस्तं
निष्प्रत्यूहं प्रथयतु पथि त्रासदे वः स देवः ॥ ४७ ॥

अन्वय—यः दर्पकम् क्रोधाग्नेः समिधम् अकरोत्, यः जगताम् कृतान्तम् कृतान्तम् दर्पकन्दच्छेदाभिज्ञम् व्यधित, यः च [धीमताम्] समस्तम् मतिह्रासम् अस्तम् नेतुम् प्रभवति, सः देवः त्रासदे पथि वः निष्प्रत्यूहम् प्रथयतु ।

अर्थ—जिसने महान् दर्पवाले कामदेवको अपनी क्रोधरूपी अग्निकी समिधा (काष्ठ) बना दिया अर्थात् क्रोधाग्निसे भस्म कर दिया, जिसने समस्त लोकोंका नाश करनेवाले भयङ्कर यमराजके अहङ्कारको चूर-चूरकर डाला एवं जो बुद्धिमान् (विद्वान्) लोगोंकी बुद्धिके ह्रासको अर्थात् जगत्को श्रीसदाशिवसे भिन्न समझनेवाली द्वैत बुद्धिको अद्वैत-ज्ञान द्वारा दूर कर देता है, वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर इस लोकमें सिंह आदि दुष्ट जन्तुओंके भयसे युक्त और परलोकमें यमराजके भयङ्कर दूतोंके भयसे युक्त मार्ग (स्थान) में आपके विघ्नोंका निवारण करे ।

पायाद्वस्त्रिजगद्गुरुः स्मरहरः सोपग्रहाणां शिरः-
श्यामाकामुकमत्सरेण चरणौ पङ्क्तिर्ग्रहाणामिव ।
यस्य प्रह्वसुरासुरेश्वरशिरोमन्दारमालागल-
त्किञ्जल्कोत्करपिञ्जरोन्मुखनखश्रेणीनिभेनाश्रिता ॥ ४८ ॥

अन्वय—शिरःश्यामाकामुकमत्सरेण सोपग्रहाणाम् ग्रहाणाम् पङ्क्तिः प्रह्वसुरासुरेश्वर-शिरोमन्दारमालागलत्किञ्जल्कोत्करपिञ्जरोन्मुखनखश्रेणीनिभेन यस्य चरणौ आश्रिता इव सः त्रिजगद्गुरुः स्मरहरः वः पायात् ।

अर्थ—जिसके मस्तकपर रहनेवाले चन्द्रमाके डाहसे राहु, केतु, ध्रुव और अगस्त्य (इन चार उपग्रहों) के सहित एक चन्द्रमाको छोड़कर शेष सूर्य, मङ्गल आदि छः ग्रहोंकी संघटित समिति—भक्तिसे विनम्र हुए समस्त देवेन्द्र और दानवेन्द्रोंके मस्तकोंपर सुशोभित हुए मन्दार-पुष्पोंकी मालाओंसे गिरे हुए केसरसे पीले बने हुए दस नखोंकी पंक्ति (श्रेणी) के व्याज (बहाने) से – मानो जिसके चरणोंमें आश्रित हुई है, वह तीनों लोकोंका परम गुरु अर्थात् तीनों लोकोंको अपनेसे अभिन्न बतलानेका उपदेश करनेवाला सदाशिव आपकी रक्षा करे ।

[भावार्थ यह है कि सूर्य आदि सात ग्रह और राहु आदि चार उपग्रह मिलकर ग्यारह ग्रह-उपग्रह हैं । उनमेंसे एक चन्द्रमाको छोड़कर शेष ये दस ग्रह, मानो अपने साथी चन्द्रमाके समान भगवान् सदाशिवके प्रेमपात्र हो जायँ, ऐसी उत्कट इच्छा से, उनके चरणोंके दस नख बनकर (इस बहानेसे) जिस भगवान् शङ्करजीके चरण-कमलोंका आश्रय लिये हैं, वह शिव आपकी रक्षा करे ।

अर्केन्दुभौमबुधवाक्पतिकाव्यमन्दा
मन्दारकुन्दकुमुदैर्यमुदर्चयन्ति ।

तस्य प्रभोरघमलोष्मशमादमन्दा
मन्दाकिनीव मुदमर्पयतु स्तुतिर्वः ॥ ४९ ॥

अन्वय—अर्केन्दुभौमबुधवाक्पतिकाव्यमन्दाः मन्दारकुन्दकुमुदैः यम् उदर्चयन्ति, तस्य प्रभोः अमन्दा स्तुतिः अघमलोष्मशमात् मन्दाकिनी इव वः मुदम् अर्पयतु ।

अर्थ—सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति; शुक्र और शनि ये सात ग्रह मन्दार, कुन्द (माघ्यपुष्प) एवं कुमुदके पुष्पोंसे सम्यक् प्रकारसे जिसकी पूजा करते हैं, उस सर्वसमर्थ भगवान् श्रीशङ्करकी दिव्य स्तुति मनोहर मन्दाकिनी (आकाशगङ्गा) की छटाके समान आपके मन, वचन एवं शरीरसे उत्पन्न हुए पापों और माया, परमाणु एवं कर्मसम्बन्धी मलोंसे उत्पन्न हुए तापोंकी शान्ति कर आपको परम हर्ष प्रदान करे ।

भस्मोद्धूलितमूर्तिरिन्दुधवलज्योतीरसोर्वीधर-
स्कन्धासक्ततुषारगौरवृषभारूढोऽस्तु भद्राय वः ।
देवो दुग्धमहाब्धिमध्यविकसत्सत्पुण्डरीकोपरि-
क्रीडद्बालमरालनिर्मलरुचिः कात्यायनीकामुकः ॥ ५० ॥

अन्वय—भस्मोद्धूलितमूर्तिः इन्दुधवलज्योतीरसोर्वीधरस्कन्धासक्ततुषारगौरवृषभारूढः दुग्धमहाब्धिमध्यविकसत्सत्पुण्डरीकोपरिक्रीडद्बालमरालनिर्मलरुचिः कात्यायनीकामुकः देवः वः भद्राय अस्तु ।

अर्थ—भस्म (विभूति) से उज्ज्वल, चन्द्रमाके समान स्वच्छ स्फटिकमय पर्वत (कैलाश) के शिखरपर स्थित हिमके समान श्वेत वृषभपर बैठा हुआ एवं अति विशाल क्षीरसमुद्रमें विकसित श्वेत कमलके ऊपर खेलते हुए बालहंसके समान अतिनिर्मलकान्ति वह स्वयंप्रकाश पार्वती-वल्लभ आपका कल्याण करे ।

त्राता भीतिभृतां पतिश्चिदचितां क्लेशं सतां शंसतां
हन्ता भक्तिमतां मतां स्वसमतां कर्ताऽपकर्ताऽसताम् ।
देवः सेवकभुक्तिमुक्तिघटनाभूर्भूर्भुवःस्वस्त्रयी-
निर्माणस्थितिसंहृतिप्रकटितक्रीडो मृडः पातु वः ॥ ५१ ॥

अन्वय—भीतिभृताम् त्राता चिदचिताम् पतिः शंसताम् सताम् क्लेशम् हन्ता भक्तिमताम् मताम् स्वसमताम् कर्ता असताम् अपकर्ता सेवकभुक्तिमुक्तिघटनाभूः भूर्भुवः-स्वस्त्रयीनिर्माणस्थितिसंहृतिप्रकटितक्रीडः मृडः देवः वः पातु ।

अर्थ—संसाररूपी भयङ्कर रोगसे डरे हुए प्राणियोंका रक्षक, समस्त चेतन और अचेतनोंका स्वामी, ईश्वरके साथ अभेद-बुद्धि रखनेवाले (अद्वैतमार्गनिष्ठ) स्तुति-परायण सज्जनोंके माया-सम्बन्धी आवरणसे उत्पन्न हुए क्लेशको नाश करनेवाला एवं भक्तियुक्त * पुण्यवान् पुरुषोंको अपने समान, बनानेवाला अर्थात् सायुज्य मुक्ति

* मन, वचन, शरीर और कर्मके साथ ईश्वरके साथ एकता रखनेवाली भावनावाले ।

देनेवाला और दुष्ट (पर-द्वेषी) लोगोंका नाश करनेवाला तथा भक्तिसे विनम्र सेवक लोगोंको भुक्ति (उपभोग करने योग्य सम्पत्ति) और मुक्ति (संसारसे मोक्ष) प्रदान करनेकी जन्मभूमि एवं भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्ग आदि लोकोंकी सृष्टि, स्थिति और और संहाररूप क्रीड़ा करते हुए समस्त जगत्को सुखी करनेवाला वह स्वयंप्रकाश सदाशिव आपको इस भवसागरके दुःखोंसे बचाये ।

कृष्णेन त्रिजगत्प्रसिद्धविजयप्रख्यातिना लोचनं
भक्त्या वासवसूनुना कृतवता पादाब्जपूजाविधौ ।
यस्मादाप्तसुदर्शनेन निखिलं विश्वं विधेयीकृतं
कृष्णेनेव स धूर्जटिर्घटयतु श्रेयांसि भूयांसि नः ॥ ५२ ॥

अन्वय—पादाब्जपूजाविधौ भक्त्या लोचनम् कृतवता त्रिजगत्प्रसिद्धविजयप्रख्यातिना वासवसूनुना कृष्णेन (विष्णुना) इव यस्मात् आप्तसुदर्शनेन कृष्णेन (अर्जुनेन) निखिलम् विश्वम् विधेयीकृतम् , सः धूर्जटिः न भूयांसि श्रेयांसि घटयतु ।

अर्थ—जैसे (शंकरजीके) चरण-कमलोंमें उत्कट भक्तिसे अपने लोचन (नेत्र-कमल) को अर्पित करनेवाले, अतएव तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हुई प्रख्याति (कीर्ति) से युक्त, इन्द्रके भ्राता (उपेन्द्र) भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) ने जिनसे सुदर्शनचक्र प्राप्त करके तीनों लोकोंको अपने वशमें किया *, वैसे ही जिन (शङ्करजी) के चरण-कमलोंका अतिगाढ़ भक्ति-पूर्वक आलोचन (नित्य चिन्तन) करनेवाले अतएव तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध 'विजय' इस नामसे प्रख्यात, इन्द्र-पुत्र अर्जुनने जिनके सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) प्राप्त कर समस्त जगत्को अपने वशमें किया, वह गङ्गाधर शिव हमें ऐहलौकिक और पारलौकिक मङ्गल प्रदान करे ।

श्रीकण्ठस्य सकृत्तिकार्तभरणी मूर्तिः सदारोहिणी
ज्येष्ठा भद्रपदा पुनर्वसुयुता चित्रा विशाखान्विता ।

---

* श्रीसदाशिवके चरण-कमलोंमें श्रीविष्णु भगवान्ने एक हजार कमल [के पुष्प] अर्पित किये, किन्तु जब उनमें से एक कमल श्रीशङ्करजीकी इच्छासे कम हो गया, तब उसकी पूर्तिके लिए भगवान् विष्णुने अपना एक नेत्र-कमल, उत्पाटित (निकाल) करके उन चरणोंमें चढ़ाया । हरिकी इस प्रकारकी श्रेष्ठ भक्तिसे अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करजीने उनको अपना सुदर्शन चक्र दे दिया । ऐसी उत्कट भक्तिके प्रभावसे प्राप्त हुए सुदर्शन चक्रसे भगवान् विष्णुने कंस आदिकोंसे विजय प्राप्तकर उस प्रसिद्ध कीर्ति द्वारा तीनों लोकोंमें प्रख्यात होकर समस्त जगत्को स्वाधीन किया । जैसा कि गन्धर्वराज श्रीपुष्पदन्तने अपने शिव-महिम्न-स्तोत्र में कहा है—

"हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥"

दिश्यादक्षतहस्तमूलघटिताषाढा मघालङ्कृता
श्रेयो वैश्रवणाश्रिता भगवतो नक्षत्रपालीव वः ॥ ५३ ॥

अन्वय—सकृत्तिका आर्तभरणी सदारोहिणी ज्येष्ठा भद्रपदा पुनः वसुयुता चित्रा विशाखान्विता अक्षतहस्तमूलघटिताषाढा मघालङ्कृता वैश्रवणाश्रिता भगवतः श्रीकण्ठस्य मूर्तिः नक्षत्रपाली इव वः श्रेयः दिश्यात् ।

अर्थ—सकृत्तिका अर्थात् गजचर्मसे युक्त, आर्तभरणी अर्थात् भवभय-पीड़ित (दीन) प्राणियोंका पोषण करनेवाली, भक्तोंको अपने पदमें पहुँचानेवाली; ब्रह्मा आदि देवोंकी भी मूलकारण, अतिमङ्गलदायक, पुनः वसुयुता अर्थात् महान् तेज अथवा अष्ट-वसुओं (देवयोनियों) से युक्त, अति आश्चर्यदायक, स्वामी कार्तिकेयसे युक्त, अपने कर-कमलके मूलमें निर्व्रण पलाशदण्डको धारण की हुई, महान् महिमासे अलंकृत और सखा कुबेरसे आश्रित वह शङ्करकी मङ्गलमयी मूर्ति अश्विनी आदि* नक्षत्रोंकी पंक्ति के समान आपको परम कल्याण प्रदान करे ।

भिन्द्धि क्ष्माधरसन्धिबन्धमुदधेरम्भोभरं जृम्भय
क्षुन्द्धि क्ष्मापटलं दलत्फणिफणापीठीलुठत्सौष्ठवम् ।
पिण्ड्ढ प्रौढचपेटपाटितरटत्ताराकुटुम्बं नभः
प्रारब्धोद्धतसान्ध्यताण्डव इति श्रीभैरवः पातु वः ॥ ५४ ॥

अन्वय—क्ष्माधरसन्धिबन्धम् भिन्द्धि‡, उदधेः अम्भोभरम् जृम्भय, दलत्फणिफणापीठीलुठत्सौष्ठवम् क्ष्मापटलम् क्षुन्द्धि, प्रौढचपेटपाटितरटत्ताराकुटुम्बम् नभः पिण्ड्ढ, इति प्रारब्धोद्धतसान्ध्यताण्डवः श्रीभैरवः वः पातु ।

अर्थ—जो अति उद्धत ताण्डव नृत्यमें अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओंको फैलाकर पर्वतोंके सन्धि-बन्धनका भेदन कर देता है और समुद्रोंके जलको उछाल देता है; चरणोंके भारसे दलित शेषनागके फणरूप पीठ (आसन) से लुढ़कते हुए भूमण्डलको क्षुण्ण कर देता है एवं बड़े-बड़े थपेड़ों (चपेटों) से उखाड़े हुए [अतएव] शब्दायमान तारामण्डलसे युक्त आकाशको पीस डालता है, इस प्रकार सायङ्कालमें अति अद्भुत ताण्डव नृत्यको प्रारम्भ करनेवाला वह श्री भैरव-रूपधारी (दुष्टोंको भय देनेवाला) भगवान् शिव सम्पूर्ण विघ्नोंसे आपकी रक्षा करे ।

भूत्यै वोऽस्तु विडम्बितस्मितरुतं मूर्ध्नोद्धृतस्वर्धुनी-
निध्वानध्वनदाननैरभिनये भूषाकपालैः प्रभोः ।

* अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी पंक्ति भी सकृत्तिका (कृत्तिका नक्षत्रके सहित) एवं भरणी, रोहिणी, ज्येष्ठा और पुनर्वसु नामक नक्षत्रोंसे युक्त तथा चित्रा, विशाखा, हस्त, मूल, आषाढ़ा (पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा), मघा और श्रवण आदि नक्षत्रोंसे युक्त होती है ।

‡ अत्र 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तद्ध्वमोः', इत्यनुवर्त्य 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण ह्यस्तनीप्रथमैकवचने हि आदेशः, तेन भिन्द्धि (अभिदत्) इति रूपम् । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् ।

त्वङ्गत्तुम्बुरुनारदाहतनदद्गम्भीरभेरीरव-
व्यावल्गद्गुहवाहबर्हिविहितक्रीडानुसारं वपुः ॥ ५५ ॥

अन्वय—अभिनये मूर्ध्नोद्धृतस्वर्धुनीनिध्वानध्वनदाननैः भूषाकपालैः विडम्बितस्मित-रुतम् त्वङ्गत्तुम्बुरुनारदाहतनदद्गम्भीरभेरीरवव्यावल्गद्गुहवाहबर्हिविहितक्रीडानुसारम् प्रभोः वपुः वः भूत्यै अस्तु ।

अर्थ—[सायंकालमें] ताण्डव नाट्यके समय मस्तकपर धारण की हुई देवगङ्गाके कलकल रवसे शब्दायमान मुखवाले (ब्रह्म-) कपाल जिसके ईषद् अट्टहास-शब्दका अनुकरण करते हैं (गङ्गाप्रवाहके कलकल शब्दोंकी ब्रह्मकपालोंमें सुन्दर प्रतिध्वनि हो रही है; ऐसा प्रतीत होता है, मानो भगवान् शिव अट्टहास कर रहे हों) एवं नाट्य-रंगमें परिभ्रमण करनेवाले तुम्बुरु और नारद मुनिद्वारा बजायी हुई भेरीकी गम्भीर ध्वनि सुनकर (मेघध्वनिके भ्रममें) अतिहर्षसे नाचता हुआ मयूर (स्वामी कार्तिकेयका वाहन) जिसकी नाट्यक्रीड़ाका अनुकरण करता है, वह भगवान् शिवका दिव्य शरीर आपको सकल सम्पत्ति प्रदान करे ।

आदौ पादतले कृतस्थितिरथो* प्राप्तः करालम्बनं
वाल्लभ्यं शुभदृङ्निवेशनवशोत्पन्नं प्रपन्नस्ततः ।
अन्ते येन शिरोधिरोहणमहामाहात्म्यमाप्तो विधु-
र्भूत्यै सः क्रमवर्धमानमहिमा स्वामिप्रसादोऽस्तु वः ॥ ५६ ॥

अन्वय—येन विधुः आदौ पादतले कृतस्थितिः [आसीत्], अथो करालम्बनम् प्राप्तः, ततः शुभदृङ्निवेशनवशोत्पन्नम् वाल्लभ्यम् प्रपन्नः, अन्ते शिरोधिरोहण-महामाहात्म्यम् आप्तः सः क्रमवर्धमानमहिमा स्वामिप्रसादः वः भूत्यै अस्तु ।

अर्थ—जिस (प्रभु-प्रसाद) के द्वारा चन्द्रमा पहले सेवाके लिए [प्रभुके] चरण-तलमें स्थित हुआ, तत्पश्चात् उनके कर-कमलोंके अवलम्बन (आश्रय) को प्राप्त हुआ ¶ फिर उनके दिव्य [वाम] नेत्रमें धारण कर लेनेसे उनका प्रेमपात्र हो गया और [उसके बाद प्रेमकी पराकाष्ठा (अन्तिम सीमा) में पहुँचनेपर] अन्तमें प्रभु (शिव) के मस्तकपर आरूढ़ होकर अनुपम (अनिर्वचनीय) महिमाको प्राप्त हुआ; वह क्रमसे शरणागतकी महिमाको बढ़ानेवाला भगवान् सदाशिवका उदार-अनुग्रह (प्रसाद) आपको भोग और मोक्षलक्ष्मी प्रदान करे। [इस कथनसे कविने यह सूचित किया कि निरन्तर मन, वचन और शरीर द्वारा की हुई भक्तिसे श्रीसदाशिव-की परम प्रसन्नता प्राप्त हो जानेपर उनकी परम प्रसन्नतासे 'अणिमा' आदि अष्ट-सिद्धियाँ हस्ततलमें ही आ जाती हैं ।]

---

* 'अथ' इत्यपि पाठः ।

¶ 'देवं सुधाकलशसोम' इत्यादि स्थलोंपर भगवान् शंकरके मृत्युञ्जय रूपमें चन्द्रमा-को हाथमें लेना प्रसिद्ध है ।

यस्यैकस्य सुवर्णसंभृतपदन्यासानवद्यक्रम-
व्यक्तिः प्रेङ्खति गौरनर्गलगतिस्वाच्छन्द्यहृद्याकृतिः ।
प्रख्याताद्भुतसर्गबन्धरचनासंरब्धिरोजस्विनः
काव्यस्योदयभूरसौ भवतु वः प्रीत्यै पुराणः कविः ॥ ५७ ॥

अन्वय—यस्य एकस्य सुवर्णसंभृतपदन्यासानवद्यक्रमव्यक्तिः अनर्गलगतिस्वाच्छन्द्यहृद्याकृतिः गौः प्रेङ्खति, असौ प्रख्याताद्भुतसर्गबन्धरचनासंरब्धिः ओजस्विनः काव्यस्य उदयभूः पुराणः कविः वः प्रीत्यै भवतु ।

अर्थ—[शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है कि श्रीशिवका वाहन वृषभ जहाँ-जहाँ घूमता है, वहाँ-वहाँ उसके चरणोंसे सुवर्ण गिरता है; इसी अभिप्रायसे कवि कहते हैं—] जिस एक अद्वितीय परमेश्वरका वाहन, सुवर्ण-पूर्ण पादन्याससे अति दिव्य [पाद-] विक्षेप करनेवाला, अप्रतिहत (अनिवार्य) गमनसे प्राप्त हुई स्वतन्त्रतासे सुमनोहर आकृतिवाला वृषभ सर्वत्र उल्लास करता है और जिस सदाशिव की अद्भुत— ब्रह्मादि (ब्रह्मासे लेकर) स्थावर-पर्यन्त सृष्टि-क्रम की रचना अत्यन्त सुप्रसिद्ध है, वह महातेजस्वी शुक्राचार्य * की उत्पत्तिका आदिकारण अनादि-कवि परमेश्वर शिव आपको परम आनन्द दे ।

अथवा—जिसमें सुवर्ण अर्थात् सुन्दर (तत्तत् रसके अनुकूल) अक्षरोंसे पदों (सुबन्त और तिङन्त शब्दों) का न्यास किया है, जिसमें क्रम अर्थात् काव्य-परिपाटी-की व्यक्ति (प्राकट्य) निर्दोष है, जिसकी आश्चर्यजनक सर्गबन्धकी रचना-परिपाटी प्रख्यात है, ऐसी जिस कविकी वाणी उल्लासको प्राप्त हो रही है, वह ओजः, प्रसाद आदि गुणोंवाले काव्यकी रचना करनेवाला प्राचीन कवि आपको परम आनन्द प्रदान करे ।

राकेन्दोरपि सुन्दराणि हृदयग्राहीणि बालाङ्गना-
मुग्धालापकथामृतादपि परं हारीणि हारादपि ।
अप्युत्तालशिखालबालवचसः सम्पूर्णकर्णामृत-
स्यन्दीनि त्रिजगद्गुरोः स्तुतिकथसूक्तानि पुष्णन्तु वः ॥ ५८ ॥

अन्वय—राकेन्दोः अपि सुन्दराणि बालाङ्गनामुग्धालापकथामृतात् अपि हृदयग्राहीणि हारात् अपि परम् हारीणि उत्तालशिखालबालवचसः अपि सम्पूर्णकर्णामृतस्यन्दीनि त्रिजगद्-गुरोः स्तुतिकथासूक्तानि वः पुष्णन्तु ।

अर्थ—पूर्ण चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर (अर्थात् अलौकिक अमृत-रसको टपकानेवाली), सुमनोहर बालाङ्गना (युवती) के अति सुमधुर कथालापरूप अमृतसे भी अधिक प्रिय, मुक्ताहारसे भी अधिक मनोहर एवं अति चतुर मयूर-बालक के सुमधुर वचनोंसे भी अधिक कर्णोंमें अमृत टपकानेवाली वे त्रिजगद्गुरु

* श्रीशिव (रुद्रजी) के अंग-विक्षेपसे शुक्राचार्यजीकी उत्पत्ति शास्त्रोंमें कही है ।

भगवान् श्रीशङ्करकी स्तुति और कथाओंकी सूक्तियाँ (सुन्दर उक्तियाँ) आपको [भक्तिरूप अमृत पिलाकर] परिपुष्ट करें।

शाणोल्लीढनवेन्द्रनीलमहसि श्रीकण्ठकण्ठस्थले
संसक्ता कनकच्छविर्गिरिसुतादोःकन्दली पातु वः।
यामालोक्य सनीरनीरददलश्लिष्यत्तडिद्विभ्रम-
भ्रान्त्या नोज्झति चण्डताण्डवनवोल्लेखं शिखी षाण्मुखः ॥ ५९ ॥

अन्वय—याम् आलोक्य षाण्मुखः शिखी सनीरनीरददलश्लिष्यत्तडिद्विभ्रमभ्रान्त्या चण्डताण्डवनवोल्लेखम् न उज्झति, [सा] शाणोल्लीढनवेन्द्रनीलमहसि श्रीकण्ठकण्ठस्थले संसक्ता कनकच्छविः गिरिसुतादोःकन्दली [भवभयात्] वः पातु।

अर्थ—जिसको देखकर स्वामी कार्तिकेयका वाहन (मयूर) सजल (अति-श्यामल) मेघके खण्ड (किनारे) पर लिपटी हुई विद्युत् (बिजली) के भ्रम से [हर्षके मारे] अपने उद्धत ताण्डव नृत्य को नहीं छोड़ता, वह शाणसे घिसी हुई नवीन इन्द्रनील मणिकी कान्ति के समान श्यामल श्रीसदाशिवके कण्ठस्थल पर लिपटी हुई सुवर्णकी छविके समान गौर श्रीपार्वतीकी सुमनोहर भुजलता (बाहुरूप लता) आपकी सदा रक्षा करे।

यत्सर्गाभरणायमानवपुषः केचित्ककुष्कामिनी-
कर्णालङ्करणायमानयशसः स्वर्गायमाणश्रियः।
दुष्कालानलसन्नसज्जनसुधावर्षायमाणोक्तयः
प्रेक्ष्यन्ते महिमा स यस्य कुरुतां शार्वः स्तवः शं स वः ॥ ६० ॥

इति काश्मीरकमहाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'आशीर्वादाख्यं' तृतीयं स्तोत्रम्

अन्वय—[इह] यत् केचित् सर्गाभरणायमानवपुषः (केचित्) ककुष्कामिनी-कर्णालङ्करणायमानयशसः [केचित्] स्वर्गायमाणश्रियः [केचित् च] दुष्कालानलसन्नसज्जन-सुधावर्षायमाणोक्तयः [पुरुषाः] प्रेक्ष्यन्ते, सः यस्य महिमा (अस्ति), सः शार्वः स्तवः वः शम् कुरुताम्।

अर्थ—इस संसारमें जिन लोगोंके शरीर समस्त जगत्के आभरणरूप हैं, जिन लोगोंका यश दिशारूप कामिनियों (स्त्रियों) के कर्णोंका आभूषण है, जिन लोगोंकी सम्पत्ति स्वर्गके समान है और जो लोग इस वर्तमान दुष्काल (कलिकाल) रूप अग्निसे खिन्न हुए सज्जनों पर अपनी दिव्य वाणी द्वारा अमृतकी-सी वर्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं, ऐसे परोपकार-परायण पुरुषोंमें जिसकी ये सब महिमाएँ हैं, वह भगवान् श्रीसदाशिवकी स्तुति हमें ऐहिक और पारलौकिक सुख प्रदान करे।

[सारांश यह है कि इस संसारमें जो कोई अतिशय उदार, त्रैलोक्य-विख्यात कीर्तिवाले, महादानी, लक्ष्मीवान् लोग तथा मनुष्यों के तापत्रय-सन्तप्त हृदयको अपनी

सूक्तियों (सुन्दर रचनाओं) द्वारा शीतल करनेवाले विद्वान् (सत्-कवि) लोग देखनेमें आते हैं, यह सब महिमा केवल उस परमेश्वरकी ही स्तुतिका फल है। अतः परम सुखाभिलाषियोंको सर्वथा मन, वचन और शरीरद्वारा तन्मय होकर श्रीसदाशिवकी भक्तिमें ही तत्पर होना चाहिए।

चतुर्थ स्तोत्र

[अब स्वतन्त्र, अद्वितीय, स्वेच्छामूर्तिधारी परमेश्वर (श्रीसदाशिव) ने परम शिवभक्त श्रीहरि (विष्णु) को अपनी इच्छासे प्रेमपूर्वक अपने शरीरका अर्धभाग प्रदानकर [उन्हें] अनुगृहीत कर अर्धनारीश्वर-वेषके समान जो अति अद्भुत 'हरि-हर' (आधा शरीर विष्णुरूप और आधा शिवरूप) स्वरूप धारण किया, उसी स्वरूपको इस 'मङ्गलाष्टक' नामक चतुर्थ स्तोत्रमें संग्रह करते हुए कवि कहते हैं—]

श्रीकम्बुकौस्तुभसुधांशुविषामृतानां
सौदर्यसौहृदसुखानुभवैकधाम ।
यत्सत्यधर्मकृतनिष्प्रतिघप्रतिष्ठं
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ १ ॥

अन्वय—सत्यधर्मकृतनिष्प्रतिघप्रतिष्ठम् यत् (वपुः) श्रीकम्बुकौस्तुभसुधांशुविषामृता-नाम् सौदर्यसौहृदसुखानुभवैकधाम [भवति], तत् हारिहरम् वपुः वः मङ्गलम् दिशतु ।

अर्थ—सत्य (गरुड़) और धर्म (वृषभ) में सुस्थिर हुआ जो (हरिहर रूप) शरीर लक्ष्मी, पाञ्चजन्य-शङ्ख और कौस्तुभ मणि एवं चन्द्रमा, विष और अमृतके पारस्परिक सौदर्य-सौहृद (सहोदरभाव * के प्रेम) से होनेवाले आनन्दानुभवका एकमात्र आधार (निवासस्थान) है, अर्थात् जिस शरीरमें एक ओर (हरिरूप अर्धभागमें) पार्श्वमें लक्ष्मी, हाथमें पाञ्चजन्य शङ्ख एवं वक्षःस्थलमें कौस्तुभ मणि-का निवास है, दूसरी ओर (शिवरूप अर्धभागमें) मुकुटपर चन्द्रमा, कण्ठमें विष एवं करतलमें अमृत ‡ का निवास है; वह भगवान् शिवका हरिहर स्वरूप आप लोगोंका मङ्गल करे।

[कदाचित् सहोदरोंमें तो परस्पर उत्कर्षापकर्ष द्वारा (अर्थात् एक दूसरेकी

---

* लक्ष्मी, पाञ्चजन्य शंख, कौस्तुभ मणि, चन्द्रमा, विष और अमृत ये सब एक ही क्षीर-समुद्रसे उत्पन्न होनेके कारण आपसमें सहोदर हैं। इनके एकत्र (एक जगह) न रहनेके कारण इन्हें सहोदरभावसम्बन्धी सौहार्द-सुखके अनुभवका अवसर कभी नहीं प्राप्त हो सकता था। किन्तु भगवान् सदाशिवके इस 'हारि-हर वपु' (हरि-हरस्वरूप मूर्ति) में ही इन्हें एकत्र रहनेका यह सौभाग्य प्राप्त होता है। इस कारण कविने सदाशिवके इस 'हरिहररूप' शरीरको लक्ष्मी आदिकोंके सहोदरसम्बन्धी सौख्यानुभवका एक ही आधार-स्थल बतलाया है।

‡ भगवान् शिवके मृत्युञ्जय रूपमें अमृत-कलश का निवास उनके कर-कमलमें है।

अपेक्षा ऊपर, मध्य और नीचे रहनेके कारण) आपसमें कभी-कभी विरोध भी हो जाता है, इसलिए यहाँ 'शब्दश्लेष' द्वारा उस पारस्परिक विरोधका परिहार करते हुए कवि कहते हैं —इस (हरिहर रूप) शरीरमें तो सहोदरोंके निवास-स्थलमें परस्पर उत्कर्षापकर्षरूप भेद होते हुए भी (इन परस्पर अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाले भी) विष और अमृत आदि सहोदरोंमें कभी विरोध होता ही नहीं, प्रत्युत सहोदर-भावके कारण उनमें परस्पर और भी अधिक प्रेम रहता है। कारण, यह हरिहररूप शरीर तो 'सत्यधर्मकृतनिष्प्रतिघप्रतिष्ठम्' अर्थात् सत्य और धर्म-नीति पर सुस्थिर है। इसलिए यहाँ किसीमें भी आपसमें विरोध-भाव नहीं उत्पन्न होता। जो राज्य 'सत्य' और 'धर्म-नीति' पर सुस्थिर होता है, वहाँ सहोदरों और नागरिकोंका आपसमें कभी विरोध होता ही नहीं है।]

आपीडबन्धनविधौ शयने च वर्ष्म
पर्याप्तभोगविभवं बहुमन्यमानः।
यत्र प्रहृष्यतितरामुरगाधिराज-
स्तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ २ ॥

अन्वय—यत्र [एकत्र] आपीडबन्धनविधौ [अन्यत्र] शयने च पर्याप्तभोगविभवम् वर्ष्म बहुमन्यमानः उरगाधिराजः प्रहृष्यतितराम्, तत् हारिहरम् वपुः वः मङ्गलम् दिशतु।

अर्थ—जिस (शरीर) में एक तरफ (शिवरूप अर्धभागमें) तो जटाजूटको बाँधनेके लिए तथा दूसरी तरफ (विष्णुरूप अर्धभागमें) शय्याके लिए अपने अङ्गोंको पर्याप्त देख अपने [शरीर] को कृतार्थ (धन्य-धन्य) समझता हुआ शेषनाग [मनमें] अत्यन्त हर्षित होता है, वह सदाशिवका 'हरिहर'-स्वरूप आपको मङ्गल प्रदान करे।

अर्धं यदुत्पलदलैरुमयेन्दुगौर-
मर्धं श्रियार्चितमलिद्युति मालतीभिः।
विच्छित्तिमेत्यनिमिषेक्षणशुक्तिपेयां
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ३ ॥

अन्वय—यत् इन्दुगौरम् अर्धम् उत्पलदलैः उमया अर्चितम् [तथा] अलिद्युति अर्धम् मालतीभिः श्रिया अर्चितम् [सत्] अनिमिषेक्षणशुक्तिपेयाम् विच्छित्तिम् एति, तत् हारिहरम् वपुः वः मङ्गलम् दिशतु।

अर्थ—जिस शरीरका चन्द्रमाके समान स्वच्छ एक अर्धभाग नीलकमलों द्वारा पार्वतीजीसे पूजित और भ्रमरकी कान्तिके समान श्यामल है तथा दूसरा अर्धभाग जातीपुष्पोंद्वारा श्रीलक्ष्मीसे पूजित होकर देवताओंके नेत्ररूप चषकों (पानपात्रों) से पीने योग्य * (अत्यन्त दर्शनीय दिव्य शोभाको प्राप्त) होता है, वह सदाशिवका 'हरिहर'स्वरूप आपका कल्याण करे।

* भाव यह है कि श्वेत वर्ण नील वर्णके साथ मिल जानेसे और अधिक शोभित

केशाश्रिता नयनवह्निशिखाभ्रसिन्धु-
झाङ्कारगर्भवपुषो जलदा वहन्ति ।
यत्राद्भुतं स्थिरतडिद्रसितप्रसङ्गं
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ४ ॥

अन्वय—यत्र नयनवह्निशिखाभ्रसिन्धुझाङ्कारगर्भवपुषः केशाश्रिताः जलदाः अद्भुतम् स्थिरतडिद्रसितप्रसङ्गम् वहन्ति, तत् हारिहरम् वपुः वः मङ्गलम् दिशतु ।

अर्थ—जिस (हरिहर-स्वरूप) के श्रीहरिरूप अर्धभागसम्बन्धी केशोंमें स्थित हुए मेघ †, श्रीहररूप अर्धभागसम्बन्धी तृतीय नेत्रकी अग्नि और मस्तकपर स्थित हुई देवगङ्गाके गम्भीर झाङ्कार (शब्द) से गर्भित होकर विद्युत्के आश्चर्यजनक ‡ शब्द-को धारण करते हैं, वह सदाशिवका हरिहर-स्वरूप आपका मङ्गल करे ।

हीनार्धनाभिनलिनालयसङ्कटत्व-
सातङ्कसङ्कुचितवृत्तिकदर्थिताङ्गः ।
अर्धीचिकीर्षति तनुं द्रुहिणोऽपि यत्र
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ५ ॥

अन्वय—द्रुहिणः अपि यत्र हीनार्धनाभिनलिनालयसङ्कटत्वसातङ्कसङ्कुचितवृत्तिकदर्थिताङ्गः सन् [स्वीयाम्] तनुम् अर्धीचिकीर्षति, तत् हारिहरम् वपुः वः मङ्गलम् दिशतु ।

अर्थ—[श्रीसदाशिवके हरिहर-स्वरूपमें आधी नाभि श्रीहरि (विष्णु-) सम्बन्धी है और आधी नाभि हर (शिव-)सम्बन्धी है, जिसमें विष्णुकी अर्धनाभि-में स्थित कमलपर ब्रह्माजीका निवास है, इसी अभिप्रायको लेकर कवि कहते हैं—] ब्रह्माजी भी जिस (हरिहररूप) की विष्णु-रूपसम्बन्धी अर्ध-नाभिमें अपने आधारभूत कमलके अत्यन्त संकुचित रहनेके कारण अपनी स्थितिके भी अति संकुचित हो जानेसे [सब] अङ्गोंके पीड़ित हो जानेपर खिन्न हो अपने भी शरीरको आधा बनाना चाहते हैं, वह सदाशिवका हरिहररूप दिव्य शरीर आपको परम मङ्गल प्रदान करे ।

दृग्वर्तिनौ रवितमीरमणावखण्ड-
मूर्ती निजं च वपुरर्धमवेत्य वह्निः ।
यत्राधिकं ज्वलति लाघवमागतोऽपि
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ६ ॥

होता है । अतएव सदाशिवके हरिहर स्वरूपका शिवरूप स्वच्छ अर्धभाग श्रीपार्वतीजीके चढ़ाये हुए नील कमलोंसे एवं हरि (विष्णु) रूप श्यामल अर्धभाग श्रीलक्ष्मीजीके चढ़ाये हुए जाती (मालती) के श्वेत पुष्पोंसे ऐसी विचित्र शोभाको धारण करता है कि उसे देवता लोग अपने निमेषोन्मेष-विवर्जित (अपलक—एकटक) नेत्रोंसे देखते हुए भी अतृप्त ही रह जाते हैं ।

† हरिके केशोंमें मेघोंका निवास है—'यस्य केशेषु जीमूताः' ऐसा स्मृति-वचन है ।

‡ यहाँ कविके अति आश्चर्यजनक कहनेका अभिप्राय यह है कि पहले तो विद्युत् ही स्थिर नहीं होती, फिर उसका शब्द कैसे स्थिर हो सकता है; अतः वस्तुतः यह आश्चर्य है ।

अन्वय—यत्र लाघवम् आगतः अपि वह्निः दृग्वर्तिनौ रवितमीरमणौ अखण्डमूर्ती अवेत्य निजम् च वपुः अर्धम् अवेत्य [क्रुधा] अधिकम् ज्वलति, तत् हारिहरं वपुः वः मङ्गलम् दिशतु ।

अर्थ—[भगवान् सदाशिवके ललाटके मध्यभागमें जो तृतीय नेत्र है उसमें अग्नि निवास करता है। किन्तु शरीरका अर्धभाग हरि (विष्णु-)रूप हो जानेपर जब शेष हर-रूपसे सम्बद्ध ललाटका तीसरा नेत्र आधा ही रह गया, तब उस नेत्रमें रहनेवाले अग्निका भी शरीर आधा ही हो गया। इसी अभिप्रायको लेकर कवि कहते हैं—] जिस (शरीर) में लघुताको प्राप्त हुआ भी अग्नि अपने साथी सूर्य और चन्द्रमाको प्रभुके दाहिने और बाँयें नेत्रमें अखण्डित अर्थात् पूर्ण शरीरवाले देखकर ईर्ष्याके कारण [क्रोधसे] और भी अधिक प्रज्वलित होता है, वह श्रीशिवका हरिहर-स्वरूप आपका कल्याण करे।

यस्मिन् गुणी सहृदयः सफलः समूलः
स्वातन्त्र्यधामनि करात् पतितः स पद्मः ।
कम्बुः स्थितस्तु धृततद्विपरीतरीति-
स्तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ७ ॥

अन्वय—यस्मिन् स्वातन्त्र्यधामनि गुणी सहृदयः सफलः समूलः सः पद्मः करात् पतितः ; तद्विपरीतरीतिः कम्बुः तु [करे] स्थितः, तत् हारिहरम् वपुः वः मङ्गलम् दिशतु ।

अर्थ—जिस (स्वतन्त्र शक्तिशाली शरीर) में एक ओर अर्थात् शिवरूप अर्धभागमें गुणी (सूक्ष्म तन्तुओंसे युक्त), सहृदय (कर्णिकासहित), सफल (फल-सहित) एवं समूल (मूल या नालसहित) कमलको हाथसे हटा दिया है अर्थात् उसे हाथमें धारण ही नहीं किया; दूसरी ओर (विष्णु-रूप अर्धभागमें) उन पूर्वोक्त लक्षणों के विपरीत अर्थात् निर्गुण, अहृदय (बिना हृदयवाले) और अफल (बिना फलवाले) एवं निर्मूल (मूलरहित) शङ्ख (पाञ्चजन्य) को भी हाथमें धारण कर लिया है, वह सदाशिवका मनोहर हरिहरस्वरूप आपका कल्याण करे।

[शब्द-श्लेषसे इसका यह भी सारांश होता है कि गुणवान्, सहृदय (दयालु) और सार्थक एवं समूल (मूल कारणसहित) व्यक्तिको भी त्याग देनेमें और किसी निर्गुण (गुणोंसे रहित), अहृदय (क्रूर), निष्फल तथा निर्मूल व्यक्तिको भी अपनी शरणमें ले लेनेमें प्रभुकी स्वतन्त्रता है। अतः प्रभु जिसे जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं। इसीलिए गन्धर्वराज श्रीपुष्पदन्त भी कहते हैं— 'न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः' अर्थात् ईश्वरकी इच्छा किसीके अधीन नहीं है।]

पादाग्रनिर्गतमवारितमेव वारि
यत्राधिरोहति शिरस्त्रिदशापगायाः ।
अत्यद्भुतं च रुचिरं च निरङ्कुशश्च
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः ॥ ८ ॥

इति काश्मीरकमहाकवि श्रीजगद्धरविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ मङ्गलाष्टकं नाम चतुर्थं स्तोत्रम्

अन्वय—यत्र [एकत्र] पादाग्रनिर्गतम् अत्यद्भुतम् रुचिरम् निरङ्कुशम् च त्रिदशापगायाः वारि अवारितम् एव [अपरत्र] शिरः अधिरोहति, तत् अत्यद्भुतम् रुचिरम् च निरङ्कुशम् च हारिहरम् वपुः वः मङ्गलम् दिशतु।

अर्थ—जिसकी एक तरफके (हरि-रूप अर्धभागसम्बन्धी) पादांगुष्ठसे निकली हुई गङ्गाका अति अद्भुत*, सुमनोहर और निरंकुश (उच्छृङ्खल‡) जल बिना किसी रोक-टोकके उसी शरीरकी दूसरी तरफ (श्रीशिवरूप अर्धभाग-सम्बन्धी) मस्तकमें आरूढ़ हो जाता है, वह अत्यन्त अद्भुत चन्द्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ और निरंकुश $ अर्थात् स्वतन्त्र-शक्तिशाली हरिहर-शरीर (श्रीशिवका हरिहर-स्वरूप) आपका मङ्गल करे।

पञ्चम स्तोत्र

[अब यहाँसे 'कवि-काव्य-प्रशंसा' अर्थात् सत् कवियोंके काव्यकी प्रशंसा नामक पञ्चम स्तोत्र को आरम्भ करते हुए महाकवि कहते हैं—]

आपन्नतापहरणप्रवणा घृणेव
त्वङ्गत्तरङ्गसुभगा गगनापगेव।
पीयूषसारशिशिरा शशभृत्कलेव
वाणी शिवैकशरणा जयतीश्वरीव ॥ १ ॥

अन्वय—शिवैकशरणा घृणा इव आपन्नतापहरणप्रवणा शिवैकशरणा गगनापगा इव त्वङ्गत्तरङ्गसुभगा शिवैकशरणा शशभृत्कला इव पीयूषसारशिशिरा शिवैकशरणा ईश्वरी इव शिवैकशरणा (सत् कवेः) वाणी जयति।

---

* जलका गमन सदा ही नीचेकी ओर होता है, किन्तु इस (श्रीहरिके पादाङ्गुष्ठसे विनिःसृत) जलका गमन ऊपर (श्रीसदाशिवरूप अर्धभाग-सम्बन्धी मस्तक) की ओर होता है। अतः कविने इस जलको और उसे मस्तकपर धारण करनेवाले इस हरिहररूप शरीरको अति अद्भुत बतलाया है।

‡ एक ही शरीरके हरिरूप अर्धभाग-सम्बन्धी पादाङ्गुष्ठसे निकले हुए जलका उसी शरीरके शिवरूप अर्धभाग-सम्बन्धी मस्तकपर आरूढ़ हो जाना यह अनुचित (सभ्यतासे विरुद्ध)-सा प्रतीत होता है, इस कारण कविने इस जलको 'निरंकुश' (उच्छृङ्खल) यह विशेषण दिया है।

$ अपने ही पादाङ्गुष्ठसे विनिःसृत जलको अपने ही सुपवित्र मस्तकपर धारण कर लेना भी अनुचित प्रतीत होता है, इसी कारण कविने यहाँ सदाशिवके 'हारिहर' वपुको भी 'निरंकुश' (उच्छृङ्खल या स्वतन्त्र) बतलाया।

अर्थ—शिवैकशरणा (एकमात्र सदाशिव ही जिसके शरण—आधार हैं ऐसी) करुणाके समान शरणागतों (जन्म, जरा और मरणके भयसे आतुर हुए लोगों) के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक संतापोंको हरनेमें तत्पर, शिवैकशरणा आकाश-गङ्गा* (मन्दाकिनी) के समान दिव्य तरङ्गोंसे सुमनोहर, शिवैकशरणा चन्द्र-कला¶ के समान अमृतके सारसे शीतल और शिवैकशरणा ईश्वरी‡ (पार्वती देवी) के समान सत्-कविकी शिवैकशरणा वाणी सर्वोत्कृष्ट (वन्दनीय) है।

यो मूर्धनि स्रजमिवोद्वहते धरित्री-
मुष्णीषतां श्रयति यस्य स भोगिराजः।
यस्यामसौ वसति वाक्पतिरुक्तिदेवीं
तां ये वहन्ति हृदि ते कवयो जयन्ति ॥ २ ॥

अन्वय—यः धरित्रीम् मूर्धनि स्रजम् इव उद्वहते, सः भोगिराजः यस्य उष्णीषताम् श्रयति, असौ वाक्पतिः यस्याम् वसति, ताम् उक्तिदेवीम् ये हृदि वहन्ति, ते कवयः जयन्ति।

अर्थ—जो (शेषनाग) इस (५० करोड़ योजन विस्तारवाली) पृथिवीको अपने मस्तकमें पुष्प-मालाके समान [विना परिश्रम के ही] धारण करता है, वह शेषनाग जिसका एक शिरोवेष्टन है, वह समस्त (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भेदसे चार प्रकारकी) वाणियोंका पति परमेश्वर श्रीसदाशिव जिस स्वकीय शक्ति-स्वरूपा वाणी (सरस्वती) में निवास करता है; अर्थात् परमानन्द-स्वरूपसे जिस वाणीके अन्दर उल्लास करता है, उस सर्वोत्कृष्ट वाणीको भी जो लोग अपने हृदयमें धारण करते हैं, वे (सुन्दर रचना करनेवाले) सत्-कवि सर्वोत्कृष्ट या सर्ववन्द्य हैं।

धन्याः शुचीनि सुरभीणि गुणोम्भितानि
वाग्वीरुधः स्ववदनोपवनोद्गतायाः।
उच्चित्य सूक्तिकुसुमानि सतां विविक्त-
वर्णानि कर्णपुलिनेष्ववतंसयन्ति ॥ ३ ॥

अन्वय—धन्याः (कवयः) स्ववदनोपवनोद्गतायाः वाग्वीरुधः शुचीनि सुरभीणि गुणोम्भितानि विविक्तवर्णानि सूक्तिकुसुमानि उच्चित्य, सताम् कर्णपुलिनेषु अवतंसयन्ति।

अर्थ—जैसे धन्यात्मा लोग किसी उपवन (बगीचे) में उत्पन्न हुई लतासे अति पवित्र, सुगन्धित, गुणों (तन्तुओं) से गुँथे हुए और श्वेत, पीत आदि वर्णों (रङ्गों) वाले रङ्ग-विरङ्गे पुष्पोंको चुन-चुनकर उन्हें सत्पुरुषोंके कर्णतटोंका आभूषण बनाते हैं। वैसे ही वे कवि धन्य हैं, जिनके मुखरूपी उद्यानमें वाणीरूपी लता तरह-तरहके पवित्र अर्थात् पद और अर्थके दोषोंसे रहित, श्रीशिव-भक्तिरूप अमृत रसके

* आकाश-गंगा (श्रीमन्दाकिनी) भी शिवैकशरणा (श्रीशिव ही जिसके एकमात्र आधार हैं ऐसी) है।

¶ चन्द्र-कला भी 'शिवैकशरणा' है।

‡ ईश्वरी (पार्वती) भी शिवैकशरणा है।

आमोदसे सुगन्धित तथा ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक गुणोंसे भरे एवं विशुद्ध वर्णों (अक्षरों) वाले सूक्ति-कुसुमों (सुन्दर उक्तिरूपी पुष्पों) को उत्पन्न करती है; कवि उन्हें चुनकर सहृदयोंके कर्ण-तटोंको अलंकृत करते हैं। [प्रस्तुत पद्यमें 'शुचीनि' तथा 'सताम्' पद ध्यान देने योग्य हैं।]

श्रोत्राण्यनर्गलगलन्मधुबिन्दुगर्भ-
सन्दर्भसुन्दरपदोपचितैर्वचोभिः ।
धन्याः सतां सुकवयः सुखयन्ति तेऽपि
तेषामकृत्रिमचमत्कृतिसाधुवादैः ॥ ४ ॥

अन्वय—धन्याः सुकवयः अनर्गलगलन्मधुबिन्दुगर्भसन्दर्भसुन्दरपदोपचितैः वचोभिः सताम् श्रोत्राणि सुखयन्ति, ते (सन्तः) अपि अकृत्रिमचमत्कृतिसाधुवादैः तेषाम् श्रोत्राणि सुखयन्ति ।

अर्थ—भाग्यवान् सुकवि लोग अविच्छिन्न रूपसे टपकते हुए मधुबिन्दुओंसे गर्भित ग्रन्थमें अति सुन्दर (निर्दोष) पदों की रचना करके उन मनोहर वचनोंसे सहृदयों (रसिकों) के कर्णोंको सुखी करते हैं; फिर वे (सहृदय) लोग भी स्वाभाविक चमत्कारपूर्ण प्रशंसा-वचनोंसे धन्यवाद देते हुए उन सत्कवियोंके कर्णोंको सुखी करते हैं।

ते केचिदस्खलितबन्धनवप्रबन्ध-
सन्धानबन्धुरगिरः कवयो जयन्ति ।
येषामचर्वितरसापि चमत्करोति
कर्णे कृतैव भणितिर्मधुरा सुधेव ॥ ५ ॥

अन्वय—अस्खलितबन्धनवप्रबन्धसन्धानबन्धुरगिरः ते केचित् कवयः जयन्ति, येषाम् मधुरा भणितिः अचर्वितरसा अपि कर्णे कृता एव सुधा इव चमत्करोति ।

अर्थ—यथार्थ (ठीक-ठीक) क्रम और रचनाओंसे पूर्ण नवीन (अपूर्व) साहित्य की उक्तियों की रचनामें, जिनकी वाणी अतीव निपुण है, ऐसे वे कोई सुकवि लोग सर्वोत्कृष्ट (धन्य) हैं जिनकी अति-मधुर भणिति अर्थात् उपचार, वक्र, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों से भरी हुई उक्ति बिना सम्यक् आस्वादित की हुई भी श्रवण करने (सुनने) मात्रसे ही अमृतके समान चमत्कार कर देती है। यानी जैसे अमृतको जिह्वाग्रभागमें रखते ही अतीव अपूर्व चमत्कार पैदा होता है, वैसे ही महाकवि की प्रौढ़ उक्ति सुनने मात्रसे भावुकोंके हृदय में विलक्षण चमत्कार उत्पन्न होता है*।

* इसी श्लोक के अभिप्रायानुसार कविवर राजानक रत्नकण्ठ ने भी 'श्रेष्ठ-कवि' के काव्य की प्रशंसा में एक श्लोक लिखा है—

'एकः श्लोकवरो रसौघमधुरो हृद्यः सतां सत्कवे-
र्नैवेष्टः कुकवेः प्रलापबहुलः कृत्स्नः प्रबन्धोऽपि वा ।

तेऽनन्तवाङ्मयमहार्णवदृष्टपाराः
सांयात्रिका इव महाकवयो जयन्ति ।
यत्सूक्तिपेलवलवङ्गलवैरवैमि
सन्तः सदस्सु वदनान्यधिवासयन्ति ॥ ६ ॥

अन्वय—अनन्तवाङ्मयमहार्णवदृष्टपाराः ते महाकवयः, सांयात्रिकाः इव जयन्ति, यत्सूक्तिपेलवलवङ्गलवैः सन्तः सदस्सु वदनानि अधिवासयन्ति [इति अहम्] अवैमि ।

अर्थ—अपार वाङ्मय अर्थात् चतुर्दश विद्यारूपी महासमुद्रके पारदृश्वा महाकवि लोग पोत-वणिकों के समान अतीव धन्य हैं, अर्थात् जैसे पोत-वणिक् अपार समुद्र के पारङ्गत होते हैं, वैसे ही जो महाकवि समस्त वाङ्मय (चतुर्दश-विद्या) रूप अनन्त महासमुद्रके पारङ्गत होते हैं वे अतीव धन्य हैं। उनकी सुन्दर उक्तिरूपी कोमल लवङ्गोंके लवोंको* चबाकर सहृदय लोग सभाओंमें अपने-अपने मुख सुगन्धित करते हैं।

जिह्वाग्ररङ्गभुवि सत्कवितुर्विलास-
लास्योत्सवव्यसनिनी स्वयमुक्तिदेवी ।
भ्रूकाण्डकुण्डलकिरीटशिरोधराणां
नृत्तोपदेशगुरुतां कृतिनामुपैति ॥ ७ ॥

अन्वय—सत्कवितुः जिह्वाग्ररङ्गभुवि विलासलास्योत्सवव्यसनिनी उक्तिदेवी स्वयम् कृतिनाम् भ्रूकाण्डकुण्डलकिरीटशिरोधराणाम् नृत्तोपदेशगुरुताम् उपैति ।

अर्थ—भाग्यशाली महाकविकी जिह्वाग्ररूपी रङ्गभूमिमें प्रौढ उक्तियोंके विलासरूपी क्रीड़ाके महोत्सवमें पूर्ण अनुराग रखनेवाली वाग्देवी (वाणी) स्वयं ही सहृदयोंकी भ्रुकुटी, कुण्डल, किरीट और मस्तकको नृत्यका उपदेश देनेमें गुरुताको प्राप्त होती है। [अर्थात् श्रेष्ठ भगवद्भक्त कवियोंकी विलक्षण उक्तियोंको सुनकर भावुकोंके हृदयमें जब स्वाभाविक परम आनन्दरसास्वादकी अपूर्व चमत्कृति प्रकट

वक्रोक्त्या वलितः सहासरभसः पौराङ्गनाविभ्रमो
हर्षोत्कर्षकरो यथा नहि तथा ग्रामीणवध्वा रतम् ॥'

अर्थात् सत्कविका अनेक रसोंसे मधुर एक ही श्लोक सहृदयोंके चित्तको आकृष्ट कर लेता है और कुत्सित कविका अनेक निरर्थक वचनोंसे भरा हुआ समग्र ग्रन्थ भी रसिकोंको इष्ट नहीं होता। जैसे नागरिक अंगनाकी वक्रोक्तिसे युक्त और हास्य-सम्पन्न चेष्टा रसिकोंको जितना अधिक हर्ष प्रदान करती है, उतना हर्ष उन्हें ग्रामीण वधूका रतिसुख भी नहीं दे सकता।

* यहाँ कविकी सूक्तिको लवङ्ग बतलानेका विशेष अभिप्राय यह है कि 'आयुर्वेदमें लिखा है—लवङ्ग, जातीफल और सुपारी आदि सुगन्धित वस्तुओंका चर्वण करनेसे बुद्धिकी जड़ता दूर हो जाती है। अतएव भावुक लोग महाकवियोंकी सूक्तिरूपी लवङ्गोंको चबाकर अपनी मतिकी जड़ता दूरकर सभाओं में अपने मुख सुगन्धित करते हैं।

होने लगती है, तब उनकी भ्रुकुटि, कर्ण-कुण्डल एवं मस्तक आदि अङ्ग सहसा (एकदम) नाच उठते हैं। यह मानो सत्कवियोंकी जिह्वाग्ररूपी रङ्गभूमिमें विहार (क्रीड़ा) करनेवाली सरस्वती स्वयं उन भावुकोंके अङ्गोंकी गुरु बनकर उन्हें नृत्य सिखाती है।]

[अहा ! वास्तवमें सत्कविकी उक्ति तो कर्णगोचर होते ही श्रोताओंके हृदयोंको भेदितकर उनके मस्तक को अवश्य ही कम्पित कर देती है। 'नलचम्पू' नामक निबन्धमें महाकवि त्रिविक्रम भट्टने भी खूब कहा है—

"किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः ।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥"

अर्थात् ऐसे कवि का वह काव्य और धनुषधारी (वीर) का वह बाण किस काम का, जो दूसरे के हृदय में लगकर भी उसके मस्तक को डुला न दे ?]

आवर्जयन्ति मठराञ्जठरार्थमात्र-
पात्रीकृतार्थकणिका गणिकाविटाद्याः ।
प्रौढान् पुनर्भुजगभूषणभक्तिसिक्त-
सूक्तावलीविरचनाचतुराः कवीन्द्राः ॥ ८ ॥

अन्वय—जठरार्थमात्रपात्रीकृतार्थकणिकाः गणिकाविटाद्याः मठरान् आवर्जयन्ति, पुनः भुजगभूषणभक्तिसिक्तसूक्तावलीविरचनाचतुराः कवीन्द्राः [तु] प्रौढान् आवर्जयन्ति ।

अर्थ—केवल उदर-पूर्तिके ही लिए धनके कण, चाटूक्ति (श्लाघा-पूर्ण मिथ्या-कथन) और उपहास-वाक्योंका सञ्चय करनेवाली गणिका, विट (नट) आदि लोग केवल मूर्खोंको ही अपने वशमें कर सकते हैं; परन्तु भुजंगभूषण भगवान् श्रीशङ्करकी भक्तिसे सींची हुई सूक्तावली (सुन्दर उक्तियों) की रचनामें अति चतुर महाकवि तो बड़े-बड़े बुद्धिमानों (पण्डितों) को [भी] अपने वशमें कर लेते हैं।

धन्यः स कोऽपि सुकविः कविकर्म कृत्त-
लोकार्ति कार्तिकतुषारकरानुकारि ।
गायन्ति यस्य कृतिनस्त्रिजगत्पवित्रं
चित्रं चरित्रमिव बालमृगाङ्कमौलेः ॥ ९ ॥

अन्वय—सः कः अपि सुकविः धन्यः (अस्ति), यस्य कृत्तलोकार्ति कार्तिकतुषारकरानुकारि चित्रम् त्रिजगत्पवित्रम् कविकर्म कृतिनः बालमृगाङ्कमौलेः चरित्रम् इव गायन्ति ।

अर्थ—वह कोई (विलक्षण महाभाग्यशाली) सुकवि अतीव धन्य है, जिसके—लोगोंकी पीड़ाको हरनेवाले, कार्तिक मासके पूर्ण चन्द्रमाके समान सुमनोहर और अनेक प्रकारके आश्चर्यमय एवं तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले—काव्यको पुण्यात्मा लोग बालेन्दुशेखर शङ्करके दिव्य चरित्रके समान गाया करते हैं।

त्रैलोक्यभूषणमणिर्गुणिवर्गबन्धु-
रेकश्चकास्ति सविता कविता द्वितीयः ।
शंसन्ति यस्य महिमातिशयं शिरोभिः
पादग्रहं विदधतः पृथिवीभृतोऽपि ॥ १० ॥

अन्वय—त्रैलोक्यभूषणमणिः गुणिवर्गबन्धुः एकः सविता [गगने] चकास्ति, द्वितीयः कविता [भूतले] चकास्ति, पृथिवीभृतः अपि शिरोभिः यस्य पादग्रहम् विदधतः महिमातिशयम् शंसन्ति ।

अर्थ—एक वह त्रैलोक्य का भूषण-मणि, गुणि-वर्ग (कमलराशि) का अकृत्रिम बान्धव 'सविता' (रवि) आकाश में प्रकाशमान होता है, जिसके पादों (किरणों) को पृथिवी-भृत् (पृथिवी की रक्षा करनेवाले पर्वत) भी अपने शिर (शिखर) पर ग्रहण करते हुए उसकी महिमा गाते हैं। दूसरा वह त्रैलोक्यभूषण-मणि, गुणि-वर्ग (गुणवान् सहृदय लोगों) का अकृत्रिम बान्धव 'कविता' (वर्णनीय गुणों को वर्णन करनेवाला 'कवि') संसार में प्रकाशमान होता है, जिसके पादों (चरणों) को पृथिवी-भृत् (पृथ्वी का पालन करनेवाले राजा लोग) भी अपने शिर (मस्तक) पर ग्रहण करते हुए उसकी महिमा गाया करते हैं* ।

यस्य स्रवन्त्यमृतमेव मुखे तुषार-
हाराभिरामरुचिरञ्चितवक्रभङ्गिः ।
सूक्तिर्द्युसिन्धुरिव मूर्ध्नि हरस्य चन्द्र-
लेखेव वा वसति तं सुकविं नमामः ॥ ११ ॥

अन्वय—अमृतम् एव स्रवन्ती, तुषारहाराभिरामरुचिः अञ्चितवक्रभङ्गिः सूक्तिः, यस्य मुखे, हरस्य मूर्ध्नि द्युसिन्धुः इव वा हरस्य शिरसि चन्द्रलेखा इव वसति, तम् सुकविम् [वयम्] नमामः ।

अर्थ—जैसे जलको बहाती हुई, हिम और मुक्ताहारके समान सुमनोहर कान्तिवाली एवं रमणीय और कुटिल तरङ्गोंकी शोभाको धारण करनेवाली आकाश-गङ्गा भगवान् शङ्करके मस्तकपर वसती है; अथवा जिस प्रकार अमृतको बहाती हुई, हिम और मुक्ताहारके समान मनोहर कान्तिवाली एवं रमणीय और कुटिल (टेढ़ी) शोभाको धारण करनेवाली चन्द्रकला भगवान् शङ्करके ललाटमें निवास करती है, वैसे ही सुमधुर सुधारसको बहाती हुई स्वच्छ हिम और मुक्ताहारके समान निर्दोष एवं उपचार और वक्रपदोंसे अति मनोहरताको प्राप्त हुई सूक्ति जिसके मुखमें निवास करती है, उस श्रेष्ठ सुकविको हम प्रणाम करते हैं ।

याता गुणैरुपचयं विमला प्रकृत्या
नैसर्गिकीं परिणतिं प्रथमां वहन्ती ।

---

* यहाँ शब्दश्लेष अलङ्कार है ।

बुद्धिः सतां शशिकलामुकुटप्रसादा-

द्वाणी च न क्वचिदपि प्रतिघातमेति ॥ १२ ॥

अन्वय—गुणैः उपचयम् याता प्रकृत्या विमला नैसर्गिकीम् प्रथमाम् परिणतिम् वहन्ती सताम् बुद्धिः वाणी च शशिकलामुकुटप्रसादात् क्वचित् अपि प्रतिघातम् न एति।

अर्थ—चातुर्य, गाम्भीर्य और कोमलत्वादि गुणोंसे वृद्धिको प्राप्त हुई, प्रकृतिसे निर्मल और प्रकृतिके स्वाभाविक प्रथम परिणामको प्राप्त हुई विद्वानोंकी बुद्धि* एवं ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक गुणोंसे परिपूर्ण, दोषोंसे रहित और प्रकृतिके नैसर्गिक प्रथम परिणामको धारण करती हुई विद्वानोंकी वाणी भगवान् सदाशिवके प्रसादरूपी अनुग्रह से कहीं भी रोक-टोकको प्राप्त नहीं होती।

चन्द्रावचूडचरणस्मरणप्रसाद-

सन्दर्भनिर्भरगभीरगिरां कवीनाम्।

सूक्तिर्बिभर्ति मुखपङ्कजरङ्गनृत्य-

द्वाग्देवताकनकनूपुरनादलीलाम् ॥ १३ ॥

अन्वय—चन्द्रावचूडचरणस्मरणप्रसादसन्दर्भनिर्भरगभीरगिराम् कवीनाम् सूक्तिः मुखपङ्कजरङ्गनृत्यद्वाग्देवताकनकनूपुरनादलीलाम् बिभर्ति।

अर्थ—भगवान् सदाशिवके चरणारविन्द-स्मरणके प्रसादस्वरूप रचनाओंसे पूर्ण और गम्भीर गिरावाले सत्कवियोंकी सूक्ति-सुधा (उनके) मुखपङ्कजरूपी नाट्य-स्थल (रङ्गभूमि) में नृत्य करनेवाली वाणी (सरस्वती) के [चरणोंमें लगे हुए] सुवर्ण-नूपुरों के नाद (शब्द) की तुलनाको धारण करती है।

[अर्थात् ईश्वरके चरणारविन्दोंको स्मरण करनेवाले सत्-कवियोंके मुख-पङ्कज से जो सुमनोहर दिव्य उक्तियाँ निकलती हैं, वे मानो उनके मुखकमलरूपी रङ्गभूमिमें नाचती हुई सरस्वतीके चरणोंमें लगे हुए सुवर्ण-नूपुरोंके सुमनोहर शब्द हैं।

काव्यं विभाव्य निजमर्धनिमीलितानि

नैसर्गिकं जहति चापलमीक्षणानि।

गृह्णन्ति तन्मसृणतां सहजां विहाय

भ्रूवल्लयस्तु कृतिनां कविपुङ्गवानाम् ॥ १४ ॥

अन्वय—कृतिनाम् कविपुङ्गवानाम् निजम् काव्यम् विभाव्य अर्धनिमीलितानि ईक्षणानि नैसर्गिकम् चापलम् जहति। भ्रूवल्लयः तु मसृणताम् विहाय तत् गृह्णन्ति।

---

* सांख्यमतमें बुद्धि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे परिपूर्णताको प्राप्त होती है और तीनों गुणोंकी आदि अवस्था प्रकृति है। उसीका स्वाभाविक प्रथम परिणाम बुद्धितत्त्व कहा जाता है—

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माच्च गणः षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥'

अर्थ—कवि जब काव्य-रचना करता है और एकान्तमें उसका निरीक्षण करता है, तो वह अपने काव्यको देखकर उसके अलौकिक रसास्वादके चमत्कारसे स्वयं ही ऐसा आनन्द-विभोर हो जाता है कि उसकी आँखें आनन्दके मारे मुकुलित, अर्धनिमीलित (आधी खुली और आधी मुँदी हुई) हो जाती हैं। वे अपनी स्वाभाविक चञ्चलताको त्याग देती हैं। किन्तु उनकी भौंहें अपनी स्थिरताको त्यागकर आँखोंकी चञ्चलताको ग्रहण कर लेती हैं।

नीहारहारधवलस्य जयत्यपूर्वः
पाकः स कोऽपि सुकृतस्य कृतस्य पूर्वम् ।
यः सम्प्रति प्रतिफलत्यमलासु बाल-
चन्द्रावचूलनुतिसूक्तिषु सत्कवीनाम् ॥ १५ ॥

अन्वय—सत्कवीनाम् पूर्वम् कृतस्य नीहारहारधवलस्य सुकृतस्य सः कः अपि अपूर्वः पाकः जयति यः सम्प्रति अमलासु बालचन्द्रावचूलनुतिसूक्तिषु प्रतिफलति।

अर्थ—सत्कवियोंका पहले अनेक जन्मोंमें उपार्जित और तुषार तथा मुक्ताहारके समान स्वच्छ सुकृतोंका वह कोई अपूर्व अद्‌भुत परिपाक धन्य है, जो इस समय (वर्तमान जन्ममें) श्रीशङ्करकी अत्यन्त निर्मल स्तुतिरूप सूक्तियोंके रूपमें फलीभूत (प्रकट) होता है।

सूक्ष्मार्थदर्शनविमर्शवशप्ररूढ-
भ्रूकाण्डताण्डवनिवेदितचिद्विकासम् ।
आस्वाद्य यत्सुमतयो मुखमुद्वहन्ति
सूक्तामृतं जयति तत्कविकुञ्जराणाम् ॥ १६ ॥

अन्वय—सुमतयः यत् आस्वाद्य सूक्ष्मार्थदर्शनविमर्शवशप्ररूढभ्रूकाण्डताण्डवनिवेदित-चिद्विकासम् मुखम् उद्वहन्ति, तत् कविकुञ्जराणाम् सूक्तामृतम् जयति।

अर्थ—निर्मल मतिवाले सहृदय लोग जिस (सूक्तिसुधा) का आस्वादन कर सूक्ष्म अर्थ (लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ) के विचारकी भावना द्वारा उत्पन्न हुए भ्रुकुटि-ताण्डवसे (ही) अपनी चैतन्य-सत्ता* को प्रकट करनेवाला मुख धारण करते हैं, श्रेष्ठ कवियोंकी उस 'सूक्ति-सुधा' की जय हो।

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि
यां मूर्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः ।
संरुद्धसर्वकरणप्रसरा भवन्ति
चित्रस्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्ताम् ॥ १७ ॥

---

* सत्-कवियोंकी ईश्वर-विषयक श्रेष्ठ उक्तियोंके विचारसे अलौकिक रसास्वादमें तन्मय हो जानेके कारण जब सहृदय जनोंकी समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाएँ निरुद्ध-सी हो जाती हैं, तब उस अपूर्व रसास्वादके आनन्दानुभवसे उनकी भ्रुकुटियाँ हिलने लगती हैं। उस समय केवल इसी चिह्नसे उनकी चेतनताका पता लगता है।

अन्वय—ये शब्दार्थमात्रम् अपि न विदन्ति, ते अपि हरिणाः मूर्छनाम् इव याम् श्रवणैः पिबन्तः संरुद्धसर्वकरणप्रसराः [सन्तः] चित्रस्थिताः इव भवन्ति, ताम् कवीन्द्रगिरम् [वयम्] नुमः ।

अर्थ—जो (मूर्ख) लोग शब्दार्थ (अर्थात् घट, पट आदि शब्दों के अर्थ) मात्रको भी नहीं जानते [परमार्थका तो कहना ही क्या !] वे भी—मूर्छना-नाद (सुन्दर वेणु की सुरीली ध्वनि) को कानों से पीते (सुनते) हुए हरिणों के समान–जिस वाणीको कानोंसे सुनते हुए इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण चेष्टाओंके निरुद्ध हो जानेपर चित्र-लिखित मूर्तिके समान (निश्चेष्ट-से) हो जाते हैं, उस कविश्रेष्ठकी वाणीको हम प्रणाम करते हैं ।

[अहा ! वास्तवमें महाकवियोंकी वाणीका क्या कहना है, क्योंकि वह तो—'हरति हरिणचित्तं का कथा चेतनानाम्' हरिणोंके भी चित्तको हर लेती है, सहृदयोंके चित्तका तो कहना ही क्या है !]

लभ्यः स कुत्र सुजनः स्वकृतीः प्रदर्श्य
भ्रूकन्दलीयुगलमाकलयन्ति यस्य ।
नेत्रोत्पलोपरि परिस्फुरदुत्तरङ्ग-
भृङ्गावलिद्वितयविभ्रमभृत् कवीन्द्राः ॥ १८ ॥

अन्वय—कवीन्द्राः स्वकृतीः प्रदर्श्य यस्य भ्रूकन्दलीयुगलम् नेत्रोत्पलोपरि परिस्फुरदुत्तरङ्गभृङ्गावलिद्वितयविभ्रमभृत् आकलयन्ति, सः सुजनः कुत्र लभ्यः ?

अर्थ—अहा ! श्रेष्ठ कवि लोग जिसे अपना काव्य दिखाकर [उसके अद्भुत रसास्वादसे चकित हुई] जिसकी दोनों भ्रुकुटिरूप लताओंको नेत्र कमलोंके ऊपर स्फुरित होती हुई दो भ्रमर-पंक्तियोंके समान देखें, वह सहृदय (प्रेम-रसिक) पुरुष कहाँ मिले ? अर्थात् महाकविकी रचनाओंके हार्दिक मर्मको समझ लेनेवाले सहृदय प्रायः अत्यन्त ही दुर्लभ हैं ।

स्फारेण सौरभभरेण किमेणनाभे-
स्तद् घानसारमपि सारमसारमेव ।
स्रक् सौमनस्यपि न पुष्यति सौमनस्यं
प्रस्यन्दते यदि मधुद्रवमुक्तिदेवी ॥ १९ ॥

अन्वय—यदि उक्तिदेवी मधुद्रवम् प्रस्यन्दते [तर्हि] एणनाभेः स्फारेण सौरभभरेण किम् ? [तदा] तत् घानसारम् सारम् अपि असारम् एव [भवति], सौमनसी स्रक् अपि सौमनस्यम् न पुष्यति ।

अर्थ—यदि वाणी 'अतिमधुर रस' को टपकाती हो, तो फिर कस्तूरीकी उत्कट सुगन्धिसे क्या काम ? अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि फिर उसके सामने तो वह कपूर-का अति सुगन्धित सार भी निःसार ही प्रतीत होता है और पुष्पमालाकी सुमनोहर दिव्य सुगन्धि भी फीकी पड़ जाती है ।

संसारमारवपथप्रथमानखेद-
विच्छेदकोविदमिदं कविकर्म जीयात् ।
विस्मारितं यदमुना यमुनासनाथं
पाथः प्रसिद्धमपि वैबुधसैन्धवं नः ॥ २० ॥

अन्वय—संसारमारवपथप्रथमानखेदविच्छेदकोविदम् इदम् कविकर्म जीयात्, यत् अमुना यमुनासनाथम् वैबुधसैन्धवम् प्रसिद्धम् अपि पाथः नः विस्मारितम् ।

अर्थ—इस संसाररूप महामरुस्थलके मार्गमें बढ़ते हुए खेद (अशान्ति) को नष्ट करनेमें अतिनिपुण इस (प्रत्यक्ष) श्रीशिवभक्ति-रसामृतसे सिञ्चित काव्यकी सदा जय हो, जिसने [अपनी अमृत-वृष्टिके द्वारा] हमें यमुनाके जलसे मिश्रित सुप्रसिद्ध गङ्गाजलका भी विस्मरण करा दिया ।

गाम्भीर्यशालिनि शुचावमृतौघशीते
नीते सदा सदनतां मदनान्तकेन ।
यस्यैकपिङ्गलगिरेरिव मानसेऽन्त-
रर्थाः स्फुरन्ति स विना सुकृतैः [1]क्व लभ्यः ॥ २१ ॥

अन्वय—गाम्भीर्यशालिनि शुचौ अमृतौघशीते मदनान्तकेन सदा सदनताम् नीते यस्य मानसे एकपिङ्गलगिरेः मानसे इव अर्थाः अन्तः स्फुरन्ति, सः (सुकविः) सुकृतैः विना क्व लभ्यः ?

अर्थ—गम्भीरतासे सुशोभित, निर्मल एवं अमृत-प्रवाहके समान सुशीतल, अतएव श्रीसदाशिवद्वारा अपना आलय बना लिये गये जिसके मानस (चित्त) में वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य [समस्त] अर्थ—कैलाश-पर्वतके अति गम्भीर, निर्मल एवं जल-प्रवाहसे शीतल मानस-सरोवरमें नाना प्रकारके पदार्थोंके समान—स्फुरित (प्रतिभासित) होते हैं, वह महाकवि बिना पुण्यके कहाँ मिल सकता है ?

यस्य द्युसिन्धुलहरीशुचयो न कस्य
दृष्टिप्रसादमवलोकयतोऽर्पयन्त्यः ।
गावः सुधारसमुचः प्रसरन्ति दिक्षु
विश्वैकभूषणमसौ जयति द्विजेन्द्रः ॥ २२ ॥

अन्वय—द्युसिन्धुलहरीशुचयः अवलोकयतः कस्य न दृष्टिप्रसादम् अर्पयन्त्यः सुधारसमुचः यस्य गावः दिक्षु प्रसरन्ति, असौ विश्वैकभूषणम् द्विजेन्द्रः जयति ।

अर्थ—जैसे श्रीगङ्गाजीकी तरङ्गों के समान निर्मल, दर्शन करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके नेत्रोंमें अमृतमय प्रसाद प्रदान करती हुईं एवं अमृतके रसको टपकानेवाली जिसकी किरणें समस्त दिशाओंमें फैलती हैं, वह संसारका श्रेष्ठ आभूषणस्वरूप

---

१. 'सुकृतैरलभ्यः' इति पाठान्तरम् ।

द्विजेन्द्र [द्विजानां नक्षत्राणां इन्द्रः] अर्थात् चन्द्रमा सर्वोत्कृष्ट (धन्य) है, वैसे ही गङ्गाजीकी तरङ्गोंके समान निर्मल (निर्दोष), विचार करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिकी ज्ञानरूप दृष्टिको अतीव निर्मल करती हुई एवं अमृतके रसको टपकानेवाली जिस (सुकवि) की वाणी समस्त दिशाओंमें फैलती हैं, वह समस्त संसारका श्रेष्ठ आभूषणरूप द्विजेन्द्र (महाकवि) धन्य है।

संयोगमेत्य [1]परमर्थपरिष्कृतस्य
पादान्तगोऽपि गुरुतां लघुरेति यस्य।
तं शङ्करस्तुतिपरं [2]परिशुद्धवृत्तं
सुश्लोकमाप्य मुदमेति न कस्य चेतः ॥ २३ ॥

अन्वय—परम् अर्थपरिष्कृतस्य यस्य संयोगम् एत्य पादान्तगः लघुः अपि गुरुताम् एति, तम् परिशुद्धवृत्तम् सुश्लोकम् शङ्करस्तुतिपरम् आप्य कस्य चेतः मुदम् न एति ?

अर्थ—पर (वाच्य) अर्थसे सुशोभित जिस (श्लोक) के साथ संयुक्त होकर पादके अन्तमें स्थित हुआ लघु (ह्रस्व) वर्ण (अक्षर) भी गुरु (दीर्घ) हो जाता है; उस विशुद्ध (वसन्त-तिलका और शार्दूल-विक्रीडित आदि) छन्दसे विभूषित और श्रीशङ्करकी स्तुतिका वर्णन करनेवाले सुश्लोक (सुन्दर श्लोक) को पाकर (देखकर) सहृदयोंका चित्त परम हर्षको प्राप्त होता है। इसी तरह अत्यन्त धन-से विभूषित जिस (शिव-भक्त) के संयोगको प्राप्त करके चरणोंके समीपमें रहनेवाला प्राकृत पुरुष भी अत्यन्त गौरवको प्राप्त हो जाता है; उस विशुद्ध सच्चरित्रशाली, सुश्लोक-(सुन्दर यशसे)-सम्पन्न, शिव-स्तुति-परायण भक्तको पाकर किस पुरुषका चित्त हर्षको नहीं प्राप्त होता ?

इह हि महिमा मायामोहप्ररोहतिरोहित-
त्रिजगदगदङ्कारः सारस्वतः [3]प्रथते सताम्।
प्रभवति जरामृत्युव्याधिप्रबन्धनिबन्धन-
व्यसनजनितव्यापत्तापक्लमापगमाय यः ॥ २४ ॥

अन्वय—हि यः जरामृत्युव्याधिप्रबन्धनिबन्धनव्यसनजनितव्यापत्तापक्लमापगमाय प्रभवति, [सः] मायामोहप्ररोहतिरोहितत्रिजगदगदङ्कारः सताम् सारस्वतः महिमा इह प्रथते।

अर्थ—जरा, मृत्यु और व्याधिके दृढ़ बन्धनका अनुसन्धान करनेसे उत्पन्न हुई महान् आपत्तिके संताप-क्लेशको समूल नष्ट करनेके लिए जो अतीव समर्थ होता है, वह माया द्वारा उत्पन्न हुए मोह (अज्ञान) से समावृत (ढँकी) हुई त्रिलोकीका महाचतुर चिकित्सक अर्थात् त्रैलोक्यके समस्त अज्ञानको समूल नष्ट कर

१. 'परमार्थ' इति पाठान्तरम्।
२. 'सुविशुद्धवृत्तं' इति पाठान्तरम्।
३. 'प्रथतेतराम्' इत्यपि पाठः।

देनेवाला महाकविकी सरस्वतीका माहात्म्य समस्त संसारमें सर्वत्र विस्तारको प्राप्त होता है।

चमत्कारोत्कर्षं कमपि कमनीयं विमृशतां
दिशन्ती सा काचिज्जयति कविवाचां परिणतिः ।
[1]यदासृष्टे चेतस्यमृतमिति निःश्रयसमिति
प्रियं धामेत्युच्चैः पदमिति समुद्यन्ति मतयः ॥ २५ ॥

अन्वय—विमृशताम् कम् अपि कमनीयम् चमत्कारोत्कर्षम् दिशन्ती सा काचित् कविवाचाम् परिणतिः जयति, यदासृष्टे चेतसि [इदमेव] अमृतम् इति [इदमेव] निःश्रेयसम् इति [इदमेव] प्रियम् धाम इति [इदमेव] उच्चैःपदम् इति मतयः समुद्यन्ति ।

अर्थ—मनन (विचार) करनेवाले सहृदय लोगोंको अनुपम (अलौकिक) चमत्कार दिखलाती हुई श्रेष्ठ कवियोंके वचनोंकी उस प्रौढ़िमाको धन्यवाद है, जिस (उक्ति) से सींचे हुए भावुकोंके चित्तमें बस 'यही अमृत है', 'यही कैवल्य है', [ब्रह्मादिकोंका भी परम कारण होनेसे] 'यही परम प्रेमास्पद है' और 'यही उच्च पद (मोक्ष) है' इस-इस प्रकारकी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं ।

मधुस्यन्दी मन्दीकृतविपदुपाधिर्भवमरु-
भ्रमक्लेशावेशप्रशमकमनीयो विजयते ।
अखण्डश्रीखण्डद्रवनवसुधासारसरसः
प्रसादो वाग्देव्याः प्रवरकविकाव्यामृतवपुः ॥ २६ ॥

अन्वय—मधुस्यन्दी मन्दीकृतविपदुपाधिः भवमरुभ्रमक्लेशावेशप्रशमकमनीयः अखण्ड-श्रीखण्डद्रवनवसुधासारसरसः प्रवरकविकाव्यामृतवपुः वाग्देव्याः प्रसादः विजयते ।

अर्थ—मधुररसको बहानेवाला, विपत्तिरूपी उपाधिको मन्द करनेवाला तथा संसाररूप मरुस्थलमें भ्रमण करनेसे उत्पन्न हुए क्लेशोंके आवेशको शान्त करनेवाला, श्रीखण्ड (मलयज चन्दन) और नवीन सुधाके अखण्ड रसके समान सरस श्रेष्ठकविके काव्य-सुधारूप शरीरवाला वाग्देवी (वाणी) का प्रसाद सर्वत्र विजयको प्राप्त होता है ।

घनानन्द[2]स्यन्दोद्गतविपुलबाष्पार्द्रनयनं
सलीलभ्रूवल्लीवलनविवलद्भालपुलिनम् ।
उदञ्चद्रोमाञ्चस्तबकितकपोलं विदधते
सुधार्द्रा धन्यानां वदनमनवद्याः कविगिरः ॥ २७ ॥

अन्वय—अनवद्याः सुधार्द्राः कविगिरः, धन्यानाम् वदनम् घनानन्दस्यन्दोद्गत-विपुलबाष्पार्द्रनयनम् सलीलभ्रूवल्लीवलनविवलद्भालपुलिनम् उदञ्चद्रोमाञ्चस्तबकितकपोलम् विदधते ।

---

१. 'यदातुष्टे' इत्यपि पाठः ।

२. 'स्पन्दोद्गत' इति च पाठः ।

अर्थ—पद-दोष और अर्थ-दोषसे रहित एवं अमृतसे सींची हुई महाकविकी वाणी [शिवभक्ति-रूप अमृतसे आर्द्र अन्तःकरणवाले] भाग्यवान् लोगोंके मुँहको गाढ़ आनन्द-प्रवाह द्वारा उत्पन्न बाष्पों (अश्रुओं) से पूर्ण नेत्रोंवाला, लीलामयी (टेढ़ी) भ्रुकुटियोंके स्फुरणसे अति चञ्चल ललाटवाला और उद्गत रोमाञ्चसे स्तबकित कपोलोंवाला बना देती है ।

धन्यानाममृतं द्रवन्ति हृदये कर्णे वलन्मल्लिका-
लङ्कारस्तबकन्ति कण्ठपुलिने मुक्ताकलापन्त्यपि ।
शैलान्दोलितदुग्धसिन्धुलहरीभङ्गाभिरामोद्गमाः
श्यामाकामुकखण्डमण्डनकथासन्दर्भगर्भा गिरः ॥ २८ ॥

अन्वय—शैलान्दोलितदुग्धसिन्धुलहरीभङ्गाभिरामोद्गमाः श्यामाकामुकखण्डमण्डनकथा-सन्दर्भगर्भाः गिरः धन्यानाम् हृदये अमृतं द्रवन्ति, कर्णे वलन्मल्लिकालङ्कारस्तबकन्ति, कण्ठपुलिने अपि मुक्ताकलापन्ति ।

अर्थ—मन्दराचलसे मथे हुए क्षीरसागरकी लहरियोंके समान मनोहर जिनका उद्गम है ऐसी, श्रीशङ्करकी कथासे गर्भित महाकवियोंकी उक्तियाँ भाग्यवान् पुरुषोंके हृदयमें अमृतरसके समान प्रभाव डालती हैं; कानोंमें प्रफुल्लित मल्लिका (जाती-पुष्प-) रूप अलङ्कारके गुच्छ-सी बन जाती हैं और कण्ठतटमें मुक्ताहार-सी बन जाती हैं ।

धन्यानां भणितिच्छलेन वदनेषूद्यन्ति हृत्कर्णिका-
धाम्नः सूक्तिसुधावबोधविधुतापीडस्य चण्डीपतेः ।
किं जूटाहिकिरीटरत्नरुचयः किं स्रग्रजःसूचयः
किं मौलीन्दुमरीचयः किममरस्रोतस्वतीवीचयः ॥ २९ ॥

अन्वय—धन्यानाम् वदनेषु भणितिच्छलेन [तेषामेव] सूक्तिसुधावबोधविधुतापीडस्य हृत्कर्णिकाधाम्नः चण्डीपतेः जूटाहिकिरीटरत्नरुचयः उद्यन्ति किम् ? किं वा स्रग्रजःसूचयः उद्यन्ति ? किं वा मौलीन्दुमरीचयः उद्यन्ति ? किं वा अमरस्रोतस्वतीवीचयः उद्यन्ति ?

अर्थ—अहा ! शिवभक्ति-रसामृतका पान करनेवाले भाग्यशाली कविवरोंके मुखारविन्दसे जो प्रौढ़ उक्तियाँ निकलती हैं, क्या वे उनकी उस सूक्ति-सुधाको सुनकर उनके हृदयस्थ आश्चर्य-चकित भगवान् सदाशिवके जटाजूटके सर्पोंकी रत्न-किरणें सूक्तिके व्याजसे निकल रही हैं ? अथवा क्या उनके हृत्पद्मसे भगवान् सदाशिवकी सुमनोहर मालाकी दीप्तियाँ निकल रही हैं ? किंवा उनके भालस्थ चन्द्रकी सुमनोहर किरणें निकल रही हैं या उनके हृत्पद्ममें विराजमान शिवके मौलि-मण्डलस्थ मन्दाकिनीकी स्वच्छ तरङ्गें उमड़ रही हैं ?

सान्द्रानन्दकरे धृतामृतकरे नास्त्येष राकाकरे
न प्रौढप्रसरे निसर्गशिशिरे स्वर्गापगानिर्झरे ।

गाढप्रेमभरे स्मरज्वरहरे नोद्दामरामाधरे
यः शम्भोर्मधुरे स्तुतिव्यतिकरे ह्लादः सुधासोदरे ॥ ३० ॥

अन्वय - सुधासोदरे मधुरे शम्भोः स्तुतिव्यतिकरे यः ह्लादः [अस्ति], एषः (आनन्दः) सान्द्रानन्दकरे धृतामृतकरे राकाकरे न अस्ति, प्रौढप्रसरे निसर्गशिशिरे स्वर्गापगा-निर्झरे न अस्ति, गाढप्रेमभरे स्मरज्वरहरे उद्दामरामाधरे [च] न अस्ति ।

अर्थ—सुधाके सहोदर अति सुमधुर श्रीशङ्करकी स्तुतिमें जो परम आनन्द है, वह अमृतमय किरणोंको धारण करनेवाले परम सुखदायक पूर्ण चन्द्रमाके दर्शन एवं तीव्र वेगवाले और स्वभावतः शिशिर गङ्गाके जल-प्रवाहमें अवगाहन करने तथा अत्यन्त गाढ़ प्रेमसे पूरित और काम-ज्वरको हरनेवाले तथा लालिमादि गुणोंसे परिपूर्ण कान्ताके अधरामृतके पानसे भी कदापि नहीं प्राप्त हो सकता ।

[कवि और काव्य कैसा होना चाहिए ? यह एक साथ कहते हैं—]

ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा-
भक्तिव्यक्तिविशिष्टरीतिरुचितैरर्थैर्धृतालङ्कृतिः ।
वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः
शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः ॥ ३१ ॥

अन्वय—ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धः अभिधाभक्तिव्यक्तिविशिष्टरीतिः उचितैः अर्थैः धृतालङ्कृतिः वृत्तस्थः परिपाकवान् अविरसः सद्वृत्तिः अप्राकृतः सत्कविः, तस्य एव सूक्तिक्रमः यथा भुवि कस्य न शस्यः [भवति ?] ।

अर्थ—ओजस्वी (महातेजस्वी), अतीव सुमधुर, श्रीशिवके अनुग्रहसे निर्मल, उपनयन आदि संस्कारोंसे सुविशुद्ध एवं नाम, गुरुजन-भक्ति और प्रख्यातिसे विश्रुत-कीर्ति, उचित पुरुषार्थसे उपार्जित धनादिक सम्पत्तिसे अलङ्कृत, वृत्त (सदाचार-)परायण, गाम्भीर्यादि सद्गुण-सम्पन्न, सरस और सद्-वृत्ति-(शुद्ध-जीविका) वाला सत्कवि उसीके सूक्ति-क्रम (काव्य-परिपाटी) के समान संसारमें किसका स्तुत्य (स्तुति करने योग्य) नहीं होता ? अर्थात् सभीका प्रशंसनीय होता है। सत्कविका काव्य भी ओजस्वी (ओजो-गुणयुक्त), मधुर (माधुर्य गुणयुक्त), प्रसाद-विशद (प्रसाद नामक शब्दगुणसे विशद), संस्कारसे शुद्ध, लोक, छन्दःशास्त्र और काव्यादिकोंके परिशीलनसे उत्पन्न हुई व्युत्पत्ति द्वारा विशुद्ध, अभिधा (मुख्य शब्द-व्यापार), भक्ति (गौण-उपचार) और व्यक्ति (व्यञ्जना) से विशिष्ट वैदर्भी आदि रीतियोंसे सम्पन्न, उचित अर्थों (वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इन तीन अर्थों) द्वारा और 'पुनरुक्तवदाभास' आदि शब्दालङ्कार तथा उपमा आदि अर्थालङ्कारोंसे अलङ्कृत, सुन्दर वृत्तों (वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों) में स्थित, अतीव प्रौढ़, सरस, कैशिकी आदि सुन्दर वृत्तियोंसे युक्त और अप्राकृत (प्राकृत भाषासे भिन्न) होता है। ऐसा सूक्ति-क्रम (सत्काव्य) भी इस पृथ्वीमें किसका प्रशंसनीय नहीं होता अर्थात् सभीका प्रशंसनीय होता है। [कविको कैसा होना चाहिए और काव्य कैसा अच्छा होता है, यह सब

एक ही पद्यमें कविने बतला दिया। कुछ लोग कवि या काव्यसे सदाचारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहते, उनको भट्टजीकी इस सम्मति पर विचार करना चाहिए।]

प्राप्ता कल्पलतेव चेद्भगवती वागीश्वरी कैरपि
प्राक्पुण्यैः स्वपरोपकारकरणप्रौढा पुनर्दुर्लभा।
अज्ञैस्तज्ज्ञजनोपदेशविहितावज्ञैर्दुराशाहतै-
रस्ता दुर्मदकर्दमे फलति किं पापं सशापं विना ॥ ३२ ॥

अन्वय—कैः अपि प्राक्पुण्यैः, कल्पलता इव भगवती वागीश्वरी प्राप्ता चेत् [तर्हि] पुनर्दुर्लभा [सा वागीश्वरी] स्वपरोपकारकरणप्रौढा [भवति, सा एव] पुनः तज्ज्ञजनोपदेश-विहितावज्ञैः दुराशाहतैः अज्ञैः दुर्मदकर्दमे अस्ता [सती] सशापम् पापम् विना किम् फलति ?

अर्थ—यदि किन्हीं महाभाग्यशाली पण्डितोंने प्राचीन अनेक जन्मोंमें उपार्जित सुकृत (पुण्य) के द्वारा कल्पलताके समान सकल मनोरथोंको देनेवाली, अतिदुर्लभ भगवती वाणी (सरस्वती) को प्राप्त कर लिया, तो वह सुदुर्लभ (बार-बार न मिलने वाली) वाणी [श्रीपरमेश्वरकी स्तुतिकर] अपना और अन्य लोगोंका परम उपकार (कल्याण) अवश्य करती है। किन्तु ऐसी सुदुर्लभ वाणीका सरस ईश्वर-भक्तोंको उपदेश न कर उसे अनधिकारी लोगोंको उपदेश करनेवाले, धन-कणके लोभसे मारे हुए अज्ञानसे भरे कुकवि यदि ईश्वर-भक्तिसे विमुख मदोन्मत्त शठोंके प्रशंसारूप कीचड़में फेंक दें, तो फिर वह वाणी उन अभागे कुकवियोंको शाप और पापके सिवा अन्य फल क्या दे सकती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

विस्रब्धं विलसन्त्युपस्कृतपदन्यासा विलासालसा
साहङ्कारमकारणारिभिरभिध्याताभिजाताकृतिः।
क्षिप्ता दृप्तनृपान्धकूपकुहरे दाशैरिवाशाग्रहै-
र्ग्रस्तैः सूक्तिनिभेन तारकरुणं [1]गौरीदृशी रोदिति ॥ ३३ ॥

अन्वय—विस्रब्धम् विलसन्ती उपस्कृतपदन्यासा विलासालसा अभिजाताकृतिः [अकस्मात्] अकारणारिभिः (कुकविभिः) साहङ्कारम् अभिध्याता आशाग्रहग्रस्तैः [तैः एव पुनः] दाशैः इव दृप्तनृपान्धकूपकुहरे क्षिप्ता ईदृशी गौः सूक्तिनिभेन तारकरुणम् रोदिति।

अर्थ – 'यह पुरुष सम्यक् प्रकार मेरी रक्षा कर मुझे उचित स्थानमें ही ले जायगा' इस प्रकार विश्वास-पूर्वक हर्षसे विलास करती हुई, सुन्दर पादों (चरणों) के न्यास (उत्थापन-स्थापन) से सुशोभित, मन्द-विलासयुक्त एवं सुकुमार आकृतिवाली, कामधेनु-कुलमें उत्पन्न हुई भी गाय अकस्मात् निष्कारण वैरी वन-चाण्डालोंके द्वारा अहंकारपूर्वक अन्धकूपके विवर (छिद्र) में फेंक दी जाय तो वह अतीव दीनतापूर्वक उच्च स्वरसे रोती है। इसी तरह 'यह पुरुष मुझे सम्यक् प्रकारसे संरक्षित करके उचित स्थानमें ही ले जायगा' इस प्रकार विश्वस्त होकर हर्षसे उल्लास करती हुई, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारोंसे युक्त पदों (सुबन्त और तिङन्तों) के विन्याससे

१. 'वागीश्वरी' इत्यपि पाठः।

सुशोभित, नवीन-नवीन सुमनोहर रचनाओंसे पूर्ण, सुकुमार और कुलीन आकृतिवाली भी वाणी (अकस्मात्) निष्कारण वैरी कुकवियोंकी द्वेष-दृष्टिसे अहङ्कारपूर्वक चिन्तित की गयी और किरातोंके समान वित्तकी आशाके लोभसे ग्रस्त हुए उन्हीं कुकवियोंके द्वारा अहंकार-दूषित अपरीक्षक राजाओंके मुखरूपी अन्धकूपमें फेंक दी जाय, तो उन कुकवियोंकी प्रौढ़ उक्तियोंके व्याजसे दीनतापूर्वक अति उच्च स्वरसे मानो रोने लगती है।

उष्णं निःश्वसिति क्षितिं विलिखति प्रस्तौति न प्रेयसः
प्रीतिं सूक्तिभिरीशितुः करतले धत्ते कपोलस्थलम् ।
वाग्देवी हृदयज्वरेण गुरुणा [1]क्रान्ता हताशैर्वृथा
नीताविष्कृतकोपनिष्कृपनृपस्तोत्रत्रपापात्रताम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—हताशैः [कुकविभिः] वृथा आविष्कृतकोपनिष्कृपनृपस्तोत्रत्रपापात्रताम् नीता वाग्देवी गुरुणा हृदयज्वरेण क्रान्ता [सती] उष्णम् निःश्वसिति, क्षितिम् विलिखति, ईशितुः सूक्तिभिः प्रेयसः प्रीतिम् न प्रस्तौति, करतले कपोलस्थलम् धत्ते ।

अर्थ—लोभने जिनकी आशाको ग्रस्त कर रखा है, ऐसे कुत्सित कवि सरस्वतीको ऐसे राजाओंकी स्तुति करनेमें लगाते हैं, जो स्वभावतः क्रोधी तथा निर्दय होते हैं। बेचारी सरस्वती ऐसे घृणित कार्यसे लज्जित होकर हृदयमें जलने लगती है, शोकसे क्लान्त होकर गरम-गरम साँसें लेती है और पृथ्वीमें लिखती है तथा अपनी दिव्य सूक्तियोंसे अपने परम-प्रिय स्वामी (परमेश्वर) के साथ (दृढ़) प्रीति भी नहीं करती और कपोलस्थलको अपने करतलपर रख लेती है। [इसलिए कवि लोगोंको प्राकृत क्षुद्र-पुरुषोंका गुणगान न करके परमेश्वरके ही गुणगानद्वारा अपनी वाणीको सफल (धन्य-धन्य) करना चाहिए।]

अस्थाने गमिता लयं हतधियां वाग्देवता कल्पते
धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा ।
स्थाने तु व्ययिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये
चेतोनिर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते शिवावाप्तये ॥ ३५ ॥

अन्वय—हतधियाम् वाग्देवता अस्थाने लयम् गमिता धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा कल्पते, [सद्भिः] तु स्थाने व्ययिता [सती] सताम् प्रख्यातये भूतये चेतोनिर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते [च] शिवावाप्तये प्रभवति ।

अर्थ—धनके लोभ अथवा प्रमादसे हत-बुद्धि, कुत्सित कवियोंद्वारा कुत्सित स्थानमें अर्थात् ईश्वरके चरणारविन्दसे विमुख विषयी लोगोंकी प्रशंसामें नष्ट की हुई वाणी केवल उन कुकवियोंको धिक्कार देनेके लिए, उनके पराभव* के लिए,

१. 'क्लान्ता' इति पाठः ।

* क्योंकि ईश्वर-भक्ति-विमुख शठ लोग अपने गुरुका भी तिरस्कार करते हैं, अतः ऐसे पुरुषोंकी प्रशंसासे अवश्य ही पराभव (तिरस्कार) प्राप्त होगा ।

पश्चात्तापके लिए और पाप‡ के लिए समर्थ होती है। किन्तु सुकवियों द्वारा सुन्दर स्थानमें अर्थात् गुरु-आज्ञाकारी, कृतज्ञ, सरल, सहृदय और सर्वथा ईश्वरके चरणारविन्द-मकरन्दमें ही समासक्त-चित्त, भावुक लोगोंको उपदेश देनेमें व्यय की हुई वाणी सत्कवियोंके नामको प्रख्यात करनेके लिए, उन्हें सकल सम्पत्ति प्रदान करनेके लिए, मनकी प्रसन्नताके लिए, प्रत्येक व्यक्तिके उपकारके लिए और अंतसमयमें आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति-रूप परम कल्याण-(मोक्ष) की प्राप्तिके लिए समर्थ होती है।

[इस तरह ग्रन्थकर्ता ईश्वर-भक्ति-विमुख कुत्सित-कवियोंके काव्योंकी निन्दा कर अब 'एताः पूर्वकविप्रणीत०' इत्यादि वक्ष्यमाण श्लोकके पूर्वार्धसे अपनी विनम्रता वर्णित कर उत्तरार्धसे अनेक जन्मोपार्जित पुण्योंके द्वारा प्राप्त भगवद्भक्तिरूपी रसायनका निरन्तर पान करनेवाले बड़भागी भावुक लोगोंकी अपने काव्यके विषयमें स्वाभाविकी अतिस्पृहणीयताको देख अपनेको धन्य-धन्य समझते हुए अपनी वाणीकी सफलताका प्रतिपादन करते हैं--]

एताः पूर्वकविप्रणीतविविधग्रन्थामृतास्वादन-
क्रीडादुर्ललितं हरन्ति हृदयं वाचः कथं धीमताम् ।
केषाञ्चित्पुनरीश्वरस्तुतिपदव्याहारहेवाकिनां
यास्यन्ति स्पृहणीयतां भुवि भवक्लेशस्पृशां मादृशाम् ॥ ३६ ॥

इति काश्मीरकमहाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुतिकुसुमाञ्जलौ' कवि-काव्य-प्रशंसाख्यं पञ्चमं स्तोत्रम् ।

अन्वय---एताः [मदीयाः] वाचः पूर्वकविप्रणीतविविधग्रन्थामृतास्वादनक्रीडादुर्ललितम् धीमताम् हृदयम् कथम् हरन्ति ? पुनः भुवि केषाञ्चित् मादृशाम् भवक्लेशस्पृशाम् ईश्वरस्तुतिपदव्याहारहेवाकिनाम् [स्वयमेव] स्पृहणीयताम् यास्यन्ति ।

अर्थ—यह मेरे वचन प्राचीन (कालिदास प्रभृति) कवियोंके बनाये हुए विविध ग्रन्थरूप अमृतका समास्वादन करनेवाले सहृदयों (विद्वानों) के हृदयको कैसे हरेंगे ? अर्थात् जो विद्वान् कालिदास आदि प्राचीन महाकवियोंके शृङ्गार, वीर और हास्यरस-प्रधान काव्योंका समास्वादन करते हैं, उन्हें मेरे यह (भक्ति और शान्तरस-प्रधान) वचन कैसे प्रिय लगेंगे ? (बढ़िया कलाकन्द चखकर महुवा कौन खायेगा ?) । किन्तु हाँ, कहीं जो बिरले मेरे सरीखे भव-बाधासे पीड़ित और ईश्वरकी स्तुतिके परम उत्कट-अभिलाषुक (भगवत्तत्त्वके जिज्ञासु) हैं, उन लोगोंको ये मेरे वचन स्वयं ही प्रिय लगेंगे । वे अवश्य इसका आदर करेंगे ।

‡ कुमार्गगामी कुत्सित पुरुषोंके पाप उन्हें उपदेश देनेवालेको भी स्पर्श कर लेते हैं ।

षष्ठ स्तोत्र

[अब यहाँसे 'हराष्टक' नामक षष्ठ स्तोत्र आरम्भ करते हुए कवि कहते हैं—]

जयत्यखिलखेचरप्रवरमौलिरत्नप्रभा-
प्ररोहपरिपीवरीकृतनखांशुपादाम्बुजः ।
विशालनयनत्रयीरचितधामधामत्रयी-
तिरस्कृतजगत्त्रयीपरिणतान्धकारो हरः ॥ १ ॥

अन्वय—अखिलखेचरप्रवरमौलिरत्नप्रभाप्ररोहपरिपीवरीकृतनखांशुपादाम्बुजः विशालनयनत्रयीरचितधामधामत्रयीतिरस्कृतजगत्त्रयीपरिणतान्धकारः हरः जयति ।

अर्थ— ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि समस्त देवताओंके मुकुटोंमें जड़ी हुई पद्मरागादि मणियोंकी प्रभासे जिसके चरणके नखोंकी लालिमा वृद्धिको प्राप्त हो रही है, ऐसा और विशाल नेत्रत्रयी (तीनों नेत्रों) में स्थित तीनों तेजों (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि) से तीनों लोकोंके गाढ़ अन्धकारको समूल नष्ट करनेवाला वह हर (शरणागतोंके कष्टोंको हरनेवाले भगवान् सदाशिव) सर्वोत्कृष्ट है ।

जयत्यमरदीर्घिकासलिलसेकसंवर्धित-
प्रचण्डनयनानलग्लपिततीव्रतापव्यथः ।
अचिन्त्यचरितोज्ज्वलज्वलदनन्यसाधारण-
प्रभावमहिमाहितत्रिभुवनोपकारो हरः ॥ २ ॥

अन्वय—अमरदीर्घिकासलिलसेकसंवर्धितप्रचण्डनयनानलग्लपिततीव्रतापव्यथः अचिन्त्यचरितोज्ज्वलज्वलदनन्यसाधारणप्रभावमहिमाहितत्रिभुवनोपकारः हरः जयति ।

अर्थ—देवताओंकी पुष्करिणियों (सरोवरों) के जलका सिंचन करके खूब वृद्धिको प्राप्त किये [तृतीय] नेत्राग्निसे संसाररूपी मरुस्थलके तापत्रय (तीनों तापों) को शान्त करनेवाले और अचिन्त्य अद्भुत (आश्चर्यमय) चरित्रों* से देदीप्यमान लोकोत्तर प्रभावकी महिमा द्वारा तीनोंका उपकार करनेवाले हरकी सदा जय हो ।

जयत्यचलकन्यकाललितदोर्लतालिङ्गित-
स्फुरद्गरलकालिमाकलितकान्तकण्ठस्थलः ।
तडिद्वलयलङ्घितोल्लसदमोघमेघभ्रम-
प्रमत्तगुहबर्हिणोपहतनृत्तहर्षो हरः ॥ ३ ॥

---

* जलके सिञ्चनसे लौकिक अग्नि शान्त हो जाती है, किन्तु भगवान् शङ्करके नेत्रकी अग्नि जलके सिञ्चनसे और भी अधिक तेज होती है । अतः भगवान् शङ्करके चरित्रोंमें एक तो यह अद्भुत आश्चर्य है । दूसरा आश्चर्य है—उस अग्निसे संसारके तापोंका शान्त हो जाना; क्योंकि अग्निसे तो ताप और भी अधिकताको प्राप्त होता है ।

अन्वय—अचलकन्यकाललितदोर्लतालिङ्गितस्फुरद्गरलकालिमाकलितकान्तकण्ठस्थलः तडिद्वलयलङ्घितोल्लसदमोघमेघभ्रमप्रमत्तगुहबर्हिणोपहृतनृत्तहर्षः हरः जयति ।

अर्थ—अत्युत्कट कालकूट (विष) की कालिमासे सुमनोहर शिवके कण्ठ-स्थलको नगेन्द्र-कन्या (पार्वती) की अतीव सुललित भुजलताओंसे आलिङ्गित देखकर [अतएव] विद्युत्‌रूपी मेखलासे संयोजित अति श्यामल मेघके भ्रमसे उन्मत्त हुआ मयूर (स्वामी कार्तिकेयका वाहन) हर्षवश नृत्य करने लगता है, उसके नृत्यसे अति सन्तुष्ट हुए भगवान् हरकी जय हो* ।

जयत्यविरलोच्छलद्गरलवह्निहेतिच्छटा-
सटालफणभीषणक्षपणपाशमोक्षक्षमः ।
उदारकरुणारसप्रसरसारसिक्ताशयः
प्रपन्नविपदर्णवोत्तरणकर्णधारो हरः ॥ ४ ॥

अन्वय—अविरलोच्छलद्गरलवह्निहेतिच्छटासटालफणभीषणक्षपणपाशमोक्षक्षमः उदार-करुणारसप्रसरसारसिक्ताशयः प्रपन्नविपदर्णवोत्तरणकर्णधारः हरः जयति ।

अर्थ—अपने शरणागतको निरन्तर उछलते हुए विषरूपी अग्निकी ज्वाला द्वारा जटिल फणोंवाले अतिभीषण यम-पाशसे छुड़ानेवाले, उदार करुणारूपी अमृतके प्रवाहसे आर्द्र चित्त एवं शरणमें आये हुए लोगोंको विपत्तिरूपी समुद्रसे पार कर देनेवाले कर्णधार (मल्लाह) हरकी जय हो ।

[अब श्रीशङ्करकी अद्भुत लीलाओंका वर्णन करते हुए कहते हैं—]

जयत्युदधिनिःसरद्गरनिगारलब्धाभय-
प्रमोदभरनिर्भरत्रिदशदैत्यवृन्दस्तुतः ।
रसातलतलोद्गतज्वलदलङ्घ्यलिङ्गोल्लस-
न्महामहिममोहितद्रुहिणवासुदेवो हरः ॥ ५ ॥

अन्वय—उदधिनिःसरद्गरनिगारलब्धाभयप्रमोदभरनिर्भरत्रिदशदैत्यवृन्दस्तुतः रसातल-तलोद्गतज्ज्वलदलङ्घ्यलिङ्गोल्लसन्महामहिममोहितद्रुहिणवासुदेवः हरः जयति ।

अर्थ—क्षीरसागरसे निकले हुए हालाहलके निगलनेसे प्राप्त हुई निर्भयता द्वारा उत्पन्न प्रमोदभर (हर्षोल्लास) से निर्भर (निश्चिन्त) हुए देवता और दैत्यवृन्दसे वन्दित तथा पातालतलसे निकले हुए अलङ्घनीय अग्निज्वालास्वरूप अनादि ज्योतिर्मय लिङ्गकी महामहिमासे ब्रह्मा और विष्णुको मोहित¶ करनेवाले हर (भगवान् शिव) की जय हो ।

---

* यहाँ नीलकण्ठका सजल मेघ और नगेन्द्र-कन्याकी भुजलताका विद्युन्मेखला उपमान होनेसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

¶ महिम्नस्तोत्र में कहा है—

'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।

जयत्यतुलविक्रमोन्मिषदखर्वगर्वज्ज्वर-
ज्वलच्चपलमन्मथोन्मथनभग्नभोगस्पृहः ।
दशास्यभुजमण्डलीतरलितैकपिङ्गाचल-
त्रसद्गिरिसुताहठग्रथितकण्ठपीठो हरः ॥ ६ ॥

अन्वय—अतुलविक्रमोन्मिषदखर्वगर्वज्वरज्वलच्चपलमन्मथोन्मथनभग्नभोगस्पृहः दशास्यभुजमण्डलीतरलितैकपिङ्गाचलत्रसद्गिरिसुताहठग्रथितकण्ठपीठः हरः जयति ।

अर्थ—अतुलनीय पराक्रमद्वारा प्राप्त हुए महान् अहङ्काररूप ज्वरसे जलते हुए अतिचपल कामदेवको भस्मकर भोगस्पृहाको नष्ट करनेवाले और रावणकी भुजमण्डलीसे उखाड़े हुए कैलाश* पर्वतमें भयभीत हुई पार्वतीसे हठपूर्वक कण्ठस्थलमें आलिङ्गित किये हुए हरकी जय हो।

जयत्यकलितोल्लसन्मदभरोद्धुरान्धासुर-
प्रतिष्करणसान्त्वनप्रथितनिग्रहानुग्रहः ।
जगत्त्रयभयङ्करत्रिपुरघोरदावावली-
सलीलकवलीकृतिप्रलयवारिवाहो हरः ॥ ७ ॥

अन्वय—अकलितोल्लसन्मदभरोद्धुरान्धासुरप्रतिष्करणसान्त्वनप्रथितनिग्रहानुग्रहः, जगत्त्रयभयङ्करत्रिपुरघोरदावावलीसलीलकवलीकृतिप्रलयवारिवाहः हरः जयति ।

अर्थ—तीव्र मदके वेगसे उन्मत्त हुए अन्धकासुरके वध और आश्वासन द्वारा अपने शासन और अनुग्रहको प्रकट करनेवाले तथा तीनों लोकोंके लिए भयंकर त्रिपुरासुरके तीनों पुररूप दावाग्नि (वनाग्नि) को अनायास ही शान्त करनेमें प्रलयकालीन संवर्तक मेघके तुल्य भगवान् हर की जय हो।

जयत्यघवनाशनिः सुमतिमाधवीमाधवः
कृपामृतपयोनिधिर्भवमहार्णवैकप्लवः ।
विपत्तृणसमीरणः प्रणयिचित्तचिन्तामणिः
समस्तभुवनोदयप्रलयकेलिकारो हरः ॥ ८ ॥

इति काश्मीरकमहाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ 'हराष्टकं' नाम षष्ठं स्तोत्रम् ।

अन्वय—अघवनाशनिः सुमतिमाधवीमाधवः कृपामृतपयोनिधिः भवमहार्णवैकप्लवः, विपत्तृणसमीरणः प्रणयिचित्तचिन्तामणिः समस्तभुवनोदयप्रलयकेलिकारः हरः जयति ।

ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश य-
त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥'

* पुष्पदन्तजीने भी कहा है—
अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात् कैलाशेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।

अर्थ—[मन, वचन और शरीर द्वारा उपार्जित] त्रिविध पापरूप वनको नष्ट करनेमें वज्रस्वरूप, सुमतिरूपी माधवी-लताको प्रफुल्लित करनेमें वसन्तऋतुस्वरूप, कृपारूप अमृतके महासागर, संसाररूप महासागरसे पार करानेमें एकमात्र नौकारूप, विपत्तिरूपी तृणके उड़ानेमें वायुके सदृश, शरणागतोंकी इच्छाओंकी पूर्ति करनेमें चिन्तामणि (भक्तोंके निखिल मनोभिलषितोंको परिपूर्ण करनेवाले) और समस्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयरूप क्रीड़ा करनेवाले भगवान् हरकी जय हो।

सप्तम स्तोत्र

[अब श्रीशङ्करकी अनुपम कृपाद्वारा होनेवाले अनेकानेक अपूर्व उपकारोंका निरूपण करते हुए शिवाराधनकी प्रशंसाके लिए महाकवि 'सेवाभिनन्दन' नामक सप्तम स्तोत्रका आरम्भ करते हैं—]

निशान्तनिद्रेव दशेव शैशवी नवीनवध्वाश्चकितेव दृक्छटा।
सुरस्रवन्तीव कथेव शाम्भवी कवीन्द्रवाङ् निर्वृतिमातनोतु वः ॥ १ ॥

अन्वय—निशान्तनिद्रा इव शैशवी दशा इव नवीनवध्वाः चकिता दृक्छटा इव सुरस्रवन्ती इव शाम्भवी कथा इव कवीन्द्रवाक् वः निर्वृतिम् आतनोतु ।

अर्थ—प्रातःकालकी निद्राके समान, बाल्य अवस्था* के समान, नवोढ़ाकी चकित नयनच्छटाके समान, सुरसरिके समान एवं शाम्भवी (शिवजीकी) कथाके समान परम आनन्द प्रदान करनेवाली महाकविकी वाणी आप लोगोंको परम कल्याण (मोक्ष) प्रदान करे‡।

अलौकिकाह्लादनिबन्धनं मनःप्रसादनं स्वानुभवैकसाक्षिकम्।
प्रकाशतां वो हृदि पारमेश्वरं महो रहस्यं सुकवेर्गिरामिव ॥ २ ॥

अन्वय—अलौकिकाह्लादनिबन्धनम् मनःप्रसादनम् स्वानुभवैकसाक्षिकम् पारमेश्वरम् महः सुकवेः गिराम् रहस्यम् इव वः हृदि प्रकाशताम् ।

अर्थ—जैसे अपूर्व आनन्ददायक, मनको प्रसन्न करनेवाला एवं [अन्य लोगोंसे दुर्बोध होनेके कारण] केवल गुरु-परम्परा द्वारा अपने अनुभवसे जानने योग्य सत्कविकी वाणीका रहस्य सहृदयोंके हृदयमें प्रकाशित होता है, वैसे ही अलौकिक (अपूर्व) आनन्दको उत्पन्न करनेवाला, मायाकृत आवरणको हटाकर मनको अतीव निर्मल (प्रसन्न) करनेवाला और गुरु-परम्परा द्वारा केवल अपने ही अनुभवसे जानने योग्य परमेश्वरका वह सत्-चित्-आनन्दरूप प्रकाश (तेज) आपके हृदयमें प्रकाशित हो ।

---

* बाल्यावस्था सब प्रकारसे निश्चिन्त होनेके कारण अति आनन्ददायक होती है ।

‡ यहाँ मालोपमा नामक अलङ्कार है। 'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते'—जहाँ एकके अनेक उपमान हों, वहाँ मालोपमा अलङ्कार होता है ।

स यस्य चापात्सपदि च्युतोऽच्युतः शिखाभिरुग्रो विशिखः शिखावतः ।
पुराण्यकार्षीदपुराणि भैरवो भयानि भिन्द्यादभवो भवः स वः ॥ ३ ॥

अन्वय—यस्य चापात् च्युतः सः अच्युतः विशिखः शिखावतः शिखाभिः उग्रः [सन्] पुराणि अपुराणि अकार्षीत्, सः अभवः भैरवः भवः वः भयानि भिन्द्यात् ।

अर्थ—[त्रिपुरासुरके दाहके समय] जिसके मन्दराचलरूप धनुषसे च्युत (गिरे) हुए अच्युत (विष्णु-)रूपी बाणने अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंसे प्रदीप्त होकर त्रिपुरासुरके तीनों पुरोंको भस्म कर दिया, वह दुर्जनोंको भय देनेवाला अनादि शिव आपके समस्त भीतियोंको नष्ट करे* ।

स यस्य पृष्ठे चरणार्पणं वृषा वृषाधिरोहे कलयत्यनुग्रहम् ।
त्रिलोकनाथः स गिरा सुधावृषा वृषाकपिस्तापमपाकरोतु वः ॥ ४ ॥

अन्वय—वृषाधिरोहे सः वृषा [स्वस्य] पृष्ठे यस्य चरणार्पणम् अनुग्रहम् कलयति, सः त्रिलोकनाथः वृषाकपिः सुधावृषा गिरा वः तापम् अपाकरोतु ।

अर्थ—वृषभपर आरोहण करते समय वृषा (देवराज इन्द्र) अपनी पीठपर जिनके पादार्पण (चरणविन्यास) को अपने प्रति महान् अनुग्रह (महाप्रसाद) समझता है, वह त्रिलोकीनाथ वृषाकपि (वृषभध्वज) शिव अमृतकी वर्षा करनेवाली अपनी दिव्य वाणी द्वारा आपके तीनों तापोंको दूर करें ।

स यस्य पादद्वयमिद्धशासनः सदा समभ्यर्चति पाकशासनः ।
प्रभुः प्रसादामलया दृशा स नः क्रियाद्विपद्भङ्गमनङ्गशासनः ॥ ५ ॥

अन्वय—इद्धशासनः सः पाकशासनः यस्य पादद्वयम् सदा समभ्यर्चति, सः अनङ्गशासनः प्रभुः प्रसादामलया दृशा नः विपद्भङ्गम् क्रियात् ।

अर्थ—बहुत बड़ा शासन करनेवाला वह पाकशासन (इन्द्र) जिस प्रभुके दोनों चरण-कमलोंका सदा पूजन करता है, वे अनङ्गशासन (कामदेवको भस्म करनेवाले) शङ्कर प्रसन्नतासे निर्मल हुई दृष्टि द्वारा हमारी विपत्तियोंका नाश करे ।

चमूर्जयन्भीजनकानका न काः स यस्य सूनुः क्लमहा महामहाः ।
जटाः स बिभ्रत्तरुणारुणारुणाः श्रियः क्रियाद्वः शुभयाभयाभयाः ॥ ६ ॥

अन्वय—काः भीजनकानकाः चमूः न जयन् सः यस्य सूनुः [भवति], सः क्लमहाः महामहाः तरुणारुणारुणाः जटाः बिभ्रत् शुभया आभया [उपलक्षितः] वः अभयाः श्रियः क्रियात् ।

अर्थ—दूसरोंकी सेनाओंको भय उत्पन्न करानेवाली दुन्दुभियोंसे युक्त महाबलवान् दैत्योंकी प्रत्येक सेनाको जीतनेवाला वह कुमार (स्वामी कार्तिकेय) जिसका कुमार (पुत्र) है, वह भक्तजनोंके समस्त दुःखोंका नाश करनेवाला, महातेजस्वी और प्रातःकालीन सूर्यके समान अरुण वर्णवाली जटाओंको धारण करता हुआ,

---

* इस श्लोकमें 'च्युतः, अच्युतः', 'विशिखः, शिखावतः' एवं 'पुराणि, अपुराणि' ये परस्पर विरोधी पद होनेसे यहाँ विरोधाभास नामक अलङ्कार है ।

दिव्यातिदिव्य प्रकाश-सम्पन्न भगवान् सदाशिव आपको अभय (अक्षय) लक्ष्मी प्रदान करें।

[भगवान्की कृपादृष्टिके बिना जीवका अन्तःकरण विशुद्ध नहीं होता, अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना जीव श्रीभगवान्के चरण-कमलोंके (आराधनके लिए) अभिमुख नहीं हो सकता; इसलिए अपने प्रति करुणासागर शिवकी महान् कृपा समझकर महाकवि उनसे कहते हैं—]

मयि ध्रुवं दृग्भवता बतावता कृपामृतार्द्रा महिता हिताहिता।
अतस्तवास्तप्रमयामया मया कृता नुतिः सातिशयाशयाशया ॥ ७ ॥

अन्वय – [अयि] अवता भवता मयि कृपामृतार्द्रा महिता हिता दृक् ध्रुवम् आहिता बत ! अतः मया सातिशयाशया आशया अस्तप्रमयामया तव नुतिः कृता।

अर्थ—अये भगवन् ! शरणागतकी सब प्रकारसे रक्षा करनेवाले आप दया-सागरने मेरे प्रति कृपारूपी अमृतसे आर्द्र और परम पूजनीय (श्लाघ्य) एवं माताके समान हित करनेवाली अपनी करुणापूर्ण दृष्टि अवश्य ही डाली है। इसीलिए तो मैं अपने इस दया-दाक्षिण्यादि-सद्‌गुण-सम्पन्न अन्तःकरणमें आपके दर्शनोंकी आशासे, मृत्यु और रोगोंको नष्ट करनेवाली यह आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

अनभ्रवर्षप्रतिमं विमत्सरा नरा जरारुङ्मरणार्तिभीरवः।
सुधा सुधासूतिवतंसशंसनं विहाय धावन्ति रसायनाय किम् ॥ ८ ॥

अन्वय—विमत्सराः जरारुङ्मरणार्तिभीरवः नराः अनभ्रवर्षप्रतिमम् सुधासूतिवतंसशंसनम् विहाय रसायनाय मुधा किम् धावन्ति ?

अर्थ—हाय ! ईर्ष्यासे रहित अर्थात् शान्त मनवाले, जरा (वृद्धावस्था) और नाना व्याधियों एवं मरनेके दुःखसे भयभीत लोग बिना बादलोंकी-सी वर्षाके समान, अकस्मात् चन्द्रशेखर भगवान्के ही अनुग्रहसे प्राप्त होनेवाली प्रभुकी स्तुति (आराधना) को छोड़कर अन्य रसायन (की खोज) के लिए व्यर्थ ही इधर-उधर क्यों दौड़ते हैं ?

मणिः सुसूक्ष्मोऽपि यथोल्बणं विषं कृशोऽपि वह्निः सुमहद्यथा तृणम्।
शिशुर्मृगेन्द्रोऽपि यथा गजव्रजं तनुः प्रदीपोऽपि यथा तमोभरम् ॥ ९ ॥

यथाल्पमप्यौषधमुन्मदं गदं यथामृतं स्तोकमपि क्षयाद्भयम्।
ध्रुवं तथैवाणुरपि स्तवः प्रभोः क्षणादघं दीर्घमपि व्यपोहति ॥ १० ॥

(युग्मम्)

अन्वय—यथा सुसूक्ष्मः अपि मणिः उल्बणम् विषम् व्यपोहति, यथा कृशः अपि वह्निः सुमहत् तृणम् क्षणात् व्यपोहति, यथा वा शिशुः अपि मृगेन्द्रः गजव्रजम् व्यपोहति, यथा तनुः अपि प्रदीपः तमोभरम् व्यपोहति, अल्पम् अपि औषधम् यथा उन्मदम् गदम् व्यपोहति,

स्तोकम् अपि अमृतम् क्षयात् भयम् व्यपोहति, तथैव अणुः अपि [यया कया वा भाषया कृतः] प्रभोः स्तवः दीर्घम् अपि अघम् ध्रुवम् क्षणात् [एव] व्यपोहति ।

अर्थ—जैसे अत्यन्त सूक्ष्म भी गारुत्मत मणि तीव्र विषको क्षणमें ही शान्त कर देता है, जैसे कणभर भी अग्नि बहुतसे तृणोंके ढेरको शीघ्र नष्ट कर देती है, जैसे छोटा-सा (एक या दो मास का) भी सिंह-शिशु हाथियोंके झुण्डको भगा देता है, जैसे अत्यन्त सूक्ष्म भी दीपक गाढ़ अन्धकारको तुरन्त नष्ट कर देता है, रत्ती भर भी महौषधि जैसे महाउग्र (भयंकर) रोग को शान्त कर देती है और जैसे थोड़ा-सा (एक बिन्दु भर) भी अमृत-कण मरण अथवा क्षय-रोगके भयको दूर कर देता है, वैसे ही थोड़ा-सा (एक या आधा श्लोक) भी [जिस किसी भी भाषासे किया हुआ] ईश्वरका आराधन अनेक जन्म-जन्मान्तरोंमें इकट्ठे किये बहुत-से भी (कायिक, वाचिक और मानसिक) पापोंका अति शीघ्र ही नाश कर देता है ।

अमन्दसन्दर्भगभीरविभ्रमः प्रगल्भवैदर्भपरिश्रमः क्रमः ।
अवश्यमासाद्य गुणोचितं विभुं बिभर्ति सौभाग्यमभङ्गुरं गिरः ॥ ११ ॥

अन्वय—[धन्यस्य कवेः] अमन्दसन्दर्भगभीरविभ्रमः प्रगल्भवैदर्भपरिश्रमः गिरः क्रमः गुणोचितम् विभुम् आसाद्य अवश्यम् [एव] अभङ्गुरम् सौभाग्यम् बिभर्ति ।

अर्थ—[जैसे कामिनीका क्रम या सद्व्यवहार किसी सद्गुणसम्पन्न पति-को पाकर परम सौभाग्यको धारण करता है, वैसे ही धन्य सत्कवियोंके] महान् सन्दर्भ (ग्रन्थ-रचनाओं) में जो अतीव गम्भीर अर्थात् बुद्धिमान् सहृदयोंके ही जानने योग्य उल्लासोंसे भरपूर और अति सुन्दर वैदर्भी रीति (वैदर्भी रचना) से सम्पन्न वाक्यक्रम (काव्य-परिपाटी का विन्यास) है, वह दीनजनोंके प्रति अनुग्रह और संसारसागरसे तारण आदि अनेक लोकोत्तर गुणगणोंसे परिपूर्ण परमेश्वरको पाकर अवश्य ही पूर्ण (अखण्ड) सौभाग्यको धारण करता है ।

[अब तीन श्लोकों द्वारा भगवान्की स्तुतिसे विमुख कविवाणीकी निरर्थकताका प्रतिपादन करते हैं—]

यथा हि शीलेन विना कुलाङ्गना यथा विवेकेन विना मनीषिता ।
सदर्थबोधेन विना यथा श्रुतिर्महीभुजङ्गेन विना यथा मही ॥ १२ ॥
यथा विना द्यौररविन्दबन्धुना विना शशाङ्केन यथा निशीथिनी ।
विदग्धवर्गेण विना यथा सभा विना विभूतिर्विनयेन वा यथा ॥ १३ ॥
कृपाविपाकेन विना यथा मतिर्यथा सुपुत्रेण विना गृहस्थितिः ।
तथैव शोच्या हरिणाङ्कशेखरस्तवोपयोगेन विना सरस्वती ॥ १४ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—यथा हि शीलेन विना कुलाङ्गना शोच्या [भवति], यथा विवेकेन विना मनीषिता शोच्या [भवति], यथा सदर्थबोधेन विना श्रुतिः [शोच्या], यथा वा महीभुजङ्गेन विना मही शोच्या [भवति], यथा अरविन्दबन्धुना विना द्यौः शोच्या, यथा च शशाङ्केन

विना निशीथिनी शोच्या विदग्धवर्गेण विना यथा सभा शोच्या [भवति], विनयेन विना यथा विभूतिः शोच्या, यथा मतिः कृपाविपाकेन विना शोच्या, यथा च सुपुत्रेण विना गृहस्थितिः शोच्या [भवति], तथैव हरिणाङ्कशेखरस्तवोपयोगेन विना सरस्वती शोच्या [भवति]।

अर्थ—जैसे शीलके विना कुलाङ्गना शोचनीय (गर्हित) होती है, जैसे विवेक (कार्याकार्यके विचार) के विना विद्वत्ता शोचनीय है, जैसे तात्त्विक (सत्) अर्थके बिना श्रवण व्यर्थ है, जैसे राजाके बिना पृथिवी शोचनीय होती है, जैसे सूर्यके बिना आकाश और चन्द्रके बिना रात्रि निरर्थक होती है, जैसे विद्वानोंके बिना सभा और विनयके बिना ऐश्वर्य गर्हित है, जैसे परोपकारके बिना मति और सुपुत्रके बिना गृहमर्यादा शोचनीय होती है, वैसे ही भगवान् सदाशिवकी स्तुतिमें उपयोग किये बिना कविकी वाणी भी शोचनीय हो जाती है। सारांश यह है कि अहङ्कारी धनिक और अधिकारी वर्ग राजा-महाराजाओंके स्तुतिरूप निरर्थक प्रलापको छोड़कर सहृदय विद्वानोंको परमेश्वरकी ही स्तुतिमें वाणीका सदुपयोग कर अपनेको कृतार्थ करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

[अब सबको छोड़कर केवल श्रीसदाशिवकी भक्तिके प्रसङ्गसे कवि अपना मनोविनोद करते हैं—]

रमापि देवी मम नो मनोरमा क्षमापि मामभ्यवपत्तु[1]मक्षमा।
मम क्षमैका भगवत्परा पुनर्भवार्तिभङ्गे सरसा सरस्वती॥ १५॥

अन्वय—रमा देवी अपि मम मनोरमा न [भवति], तथा क्षमा देवी अपि माम् अभ्यवपत्तुम् अक्षमा। पुनः मम भवार्तिभङ्गे एका भगवत्परा सरसा सरस्वती [एव] क्षमा [भवति]।

अर्थ—मुझ संयमित-चित्तको अब वह रमादेवी (लक्ष्मी) भी प्रिय नहीं लगती और क्षमा (शान्ति) देवी भी मुझे [जन्म, जरा और मरणके भयसे] आश्वासन नहीं दे सकती। किन्तु मेरी जन्म-मरणरूपी पीड़ाको दूर करनेके लिए तो केवल ईश्वर-परायण और अत्यन्त सरस वाणी ही समर्थ हो सकती है।

अचेतनो यः किल कुस्थितिप्रियः पृथग्विधोपाधिशतक्षताशयः।
निषेव्यते पादतले स यद्गिरिश्चिरं मुनीन्द्रैरपि शुद्धमानसः॥ १६॥

अन्वय—किल यः अचेतनः कुस्थितिप्रियः पृथग्विधोपाधिशतक्षताशयः [अपि] सः गिरिः शुद्धमानसः पादतले चिरम् मुनीन्द्रैः यत् निषेव्यते [, सः एषः गौरीश्वरसंश्रयात्मनः कल्पमहामहीरुहः फलोद्गमः अस्ति इति वक्ष्यमाणश्लोकेन सहान्वयः *]।

अर्थ—प्रसिद्ध है कि [स्थावर होनेके कारण] अचेतन कुस्थितिप्रिय (पृथ्वीमें स्थिति रखनेवाला) तथा वन-हस्ती एवं दुष्ट जन्तुकृत नाना प्रकारकी

१. 'अभ्यवपातुम्' इत्यपि पाठः।

* यहाँसे लेकर चार श्लोकोंका 'कलापक' है। पाठ-सौकर्यके लिए श्लोकोंको साथ न रखकर पृथक्-पृथक् रख दिया है।

पीड़ाओंसे क्षुण्ण मध्यभागवाला भी वह कैलाश-पर्वत जो अतीव शुद्ध-मानस (निर्मल मानससरोवरसे युक्त) होकर पादतलमें चिरकालतक मुनिवरों द्वारा सेवित किया जाता है [, उसका यह सौभाग्य श्रीसदाशिवके संश्रयण (शरणागति)-रूप महाकल्पवृक्षका ही फल है । अथवा शब्दश्लेषद्वारा इसका दूसरा अर्थ यह है— अचेतन (मन्दबुद्धि), कुस्थितिप्रिय (कुत्सित मर्यादाका प्रेमी), शत्रुओं-द्वारा नाना प्रकारके किये हुए तिरस्कार और अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे क्षुण्ण-चित्त मनुष्य भी जो विशुद्ध अन्तःकरण होकर श्रेष्ठ मुनियों द्वारा चरण-तलमें सेवित किया जाता है, यह उसका सौभाग्य श्रीसदाशिवकी शरणागतिरूप महाकल्पवृक्षका ही फल है]।

निसर्गतः सत्पथगर्हितस्थितिर्मलीमसो जिह्मगतिश्च यः फणी ।
स कुण्डली यन्मणिमौलिमण्डितो महाभुजङ्गः पृथुभोगभागपि ॥ १७ ॥

अन्वय—यः फणी निसर्गतः सत्पथगर्हितस्थितिः मलीमसः जिह्मगतिः च [अस्ति], सः अपि यत् कुण्डली मणिमौलिमण्डितः महाभुजङ्गः पृथुभोगभाक् [सञ्जातः, सः एषः गौरीश्वरसंश्रयात्मनः कल्पमहामहीरुहः फलोद्गमः अस्ति इति पूर्ववदन्वयः] ।

अर्थ—स्वभावसे ही सत्पथ (अच्छे मार्ग) में निन्दित-गति, अतीव मलिन (काला) और कुटिल गतिवाला भी सर्प जो कुण्डली (कुण्डलाकार), मणियुक्त फणोंसे सुशोभित, महाभुजङ्ग (सर्पराज) और विशाल भोग (बड़े शरीर) वाला हो गया [, यह सौभाग्य भी उस परमेश्वर शिवकी ही शरणगतिरूप महाकल्पवृक्षका फल है]।

[अथवा—जो पुरुष स्वभावसे ही सन्मार्गमें गर्हित-स्थिति, मलिन अन्तःकरण-वाला एवं न्यायसे विपरीत चलनेवाला होकर भी कुण्डली अर्थात् कानोंमें दिव्य-कुण्डल-धारी, मणियुक्त मस्तकवाला, महाकामी और रमणीय वस्तुओंका उपभोग करने-वाला हो जाता है, यह सब महिमा उस शङ्करकी ही शरणागतिरूप महाकल्पवृक्षका फल है ।]

यदप्यजस्रं जडसङ्गमोचितः स्वभावतुच्छः शशभृत् कलामयः ।
कलङ्कमुक्तं वहते सुधामयं विधूतदोषोदयमुज्ज्वलं वपुः ॥ १८ ॥
स एष गौरीश्वरसंश्रयात्मनः फलोद्गमः कल्पमहामहीरुहः ।
अमुं समासादयितुं हितायतिर्यतेत को नाम न चेतनो जनः ॥ १९ ॥

अन्वय—अजस्रम् जडसङ्गमोचितः कलामयः स्वभावतुच्छः [अपि] शशभृत् यत् विधूतदोषोदयम् कलङ्कमुक्तम् सुधामयम् उज्ज्वलम् वपुः वहते, स एषः गौरीश्वरसंश्रयात्मनः कल्पमहामहीरुहः फलोद्गमः [अस्ति] । हि अमुम् समासादयितुम् कः नाम हितायतिः चेतनः जनः न यतेत ?

अर्थ—[समुद्रसे उत्पन्न होनेके कारण] सदैव जल-संगममें तत्पर, एक कलाको धारण करनेवाला अतएव स्वभावसे तुच्छ भी चन्द्रमा जो

अपने दोषोदय (रात्रिमें ही उदय होनेरूप दोष) को हटाकर—अर्थात् चन्द्रमाका रात्रिमें ही उदय होना यह जो दोष था, उसे श्रीशङ्करके ललाटमें रात-दिन सदैव उदित (प्रकाशमान) हो अपनेसे दूरकर—निष्कलङ्क, अमृतमय और अति उज्ज्वल स्वरूपको धारण करता है, यह श्रीसदाशिवकी ही शरणागतिरूप महाकल्पवृक्षका श्रेष्ठ फल है। [अथवा—जो पुरुष सदैव जड़-सङ्गम (जड़ों या मूर्खोंकी सङ्गति) में ही निरत, शिल्पकलाजीवी और स्वभावतः नीच-प्रकृति होकर भी दोषोदय (दोषोंके होनेकी सम्भावना) से रहित, पाप आदि कलङ्कोंसे रहित, अमृतके समान स्वच्छ और अतीव सुनिर्मल दिव्य शरीरको धारण करता है, यह सब महिमा उस करुणासिन्धु शङ्करकी ही शरणागतिरूप कल्पवृक्षका फल है ।] इसलिए निश्चय ही भविष्यमें अपना हित चाहनेवाला कौन सचेतन बुद्धिमान् पुरुष इस 'भगवच्छरणागति' को प्राप्त करनेका प्रयत्न न करेगा ?

निदाघनिर्दग्धमहामरुभ्रमक्लमच्छिदो मार्गमहीरुहादपि ।
कलिन्दकन्यासलिलौघ[1]सङ्गतत्रिमार्गगाम्भोभरसम्प्लवादपि ॥ २० ॥
सरस्वतीसौभगसारसम्भृतप्रसन्नगम्भीरपदक्रमादपि ।
कुरङ्गनाभीघनकुङ्कुमाङ्कितस्तनाङ्गनालिङ्गनविभ्रमादपि ॥ २१ ॥
अमन्दमानन्दसुधारसद्रवं स्रवन्नवन्ध्यं भवदुःखिते हृदि ।
इयत्यमुष्मिन्भुवनाध्वनि ध्वनिर्नमः शिवायेति चमत्करोति मे ॥ २२ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—इयति [दूरे] अमुष्मिन् भुवनाध्वनि भवदुःखिते मे हृदि 'नमः शिवाय' इति ध्वनिः निदाघनिर्दग्धमहामरुभ्रमक्लमच्छिदः मार्गमहीरुहात् अपि कलिन्दकन्यासलिलौघसङ्गतत्रिमार्गगाम्भोभरसम्प्लवात् अपि सरस्वतीसौभगसारसम्भृतप्रसन्नगम्भीरपदक्रमात् अपि कुरङ्गनाभीघनकुङ्कुमाङ्कितस्तनाङ्गनालिङ्गनविभ्रमात् अपि अवन्ध्यम् अमन्दम् आनन्दसुधारसद्रवम् स्रवन् [एतेभ्यः सर्वेभ्यः सकाशात् अधिकम्] चमत्करोति ।

अर्थ—इस महाअपार भवाटवी-मार्ग (संसाररूपी अरण्य-मार्ग) के बीच इन सांसारिक दुःखोंसे सन्तप्त मेरे हृदयमें 'नमः शिवाय' शब्द की ध्वनि—ग्रीष्म ऋतुके तीव्र तापसे तपे हुए महामरुस्थलमें भटकनेवाले प्राणीके खेदको शान्त करनेवाले मार्ग-वृक्ष (छायावृक्ष) से भी कोटिगुण अधिक, यमुना-जलके प्रवाहसे सम्मिश्रित गङ्गाजलके सुशीतल प्रवाहमें अवगाहन करनेसे भी कोटिगुण अधिक, सरस्वतीकी सुमनोहर सूक्ति-सुधासे गर्भित और प्रसाद-गुण-गुम्फित गम्भीर पदोंके क्रमसे भी शतकोटि गुण अधिक एवं लोकोत्तर सौरभ-सम्पन्न कस्तूरिका और केसरसे विलिम्पित स्तनोंवाली बालाङ्गनाके गाढ़ आलिङ्गनसे भी कोटिगुण

१. 'सलिलौघलङ्घित' इत्यपि पाठः ।

अधिक—परमानन्द-सुधाके रसको प्रवाहित करती हुई मेरे मनमें [पूर्वोक्त सभी वस्तुओंकी अपेक्षा अत्यधिक] चमत्कार उत्पन्न करती है।

विचिन्तयञ्जीवनमेव जीवनं समर्थयन् पार्थिवमेव पार्थिवम् ।
विभावयन् वैभवमेव वै भवं कदाश्रये शङ्करमेव शङ्करम् ॥ २३ ॥

अन्वय—जीवनम् एव जीवनम् विचिन्तयन् पार्थिवम् पार्थिवम् एव समर्थयन् भवम् वैभवम् एव विभावयन् [अहम्] वै शङ्करम् शङ्करम् एव कदा आश्रये ।

अर्थ—अहा, मैं केवल एकमात्र जलको ही अपने जीवनका साधन समझता हुआ अर्थात् 'केवल गङ्गाजल ही पीकर देह धारण करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय करता हुआ, राजाको मिट्टीका ही एक विकार समझता हुआ और इस संसारके वैभवको थोड़े ही दिनों तक रहनेवाला अर्थात् निःसार समझता हुआ उस औढरदानी भगवान् शङ्करका आश्रय कब ग्रहण करूँगा ?

[अथवा—मैं अपने प्रभुसम्बन्धी गङ्गाजल (मन्दाकिनी) को ही अपना जीवन समझता हुआ, पार्थिव अर्थात् मृत्तिकासे बनाये हुए शिवलिङ्गको ही महादानी राजा समझता हुआ अर्थात् मृत्तिका-निर्मित शिवलिङ्गके अर्चनसे ही मेरे सकल मनोरथ सिद्ध हो जायँगे, तब फिर मैं इन महाकृपण क्षुद्र राजाओंका क्यों सेवन करूँ ? ऐसा निश्चय करता हुआ एवं 'सर्वं शिवमयं जगत्' के अनुसार इस समग्र संसारको अपने प्रभुसम्बन्धी अर्थात् शिवमय ही समझता हुआ उस कल्याण-कल्पद्रुम भगवान् सदाशिवके ही चरणोंका कब आश्रय लूँगा ?]

वरं भवेदप्यवरं कलेवरं परं हराराधनसाधनं हि यत् ।
न तु क्रतुध्वंसिनिषेवणोत्सवं विनिघ्नती मुक्तिरयुक्तिपातिनी ॥ २४ ॥

अन्वय—हि यत् परम् हराराधनसाधनम्, [तत्] अवरम् अपि कलेवरम् वरम् भवेत् । तु क्रतुध्वंसिनिषेवणोत्सवम् विनिघ्नती अयुक्तिपातिनी मुक्तिः न वरम् [भवेत्] ।

अर्थ—निश्चय ही जो केवल एक ईश्वरके ही आराधनका साधन हो, वह अवर अर्थात् अति अपवित्र और अधम भी नर-देह श्रेष्ठ है। किन्तु श्रीप्रभुके आराधनारूप महोत्सवमें विघ्न डालनेवाली और प्रभुके ही महान् अनुग्रहसे अकस्मात् प्राप्त होनेवाली भी मुक्ति श्रेष्ठ नहीं है।

[अब इसी श्लोकके अभिप्रायका पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं —]

क्व नीलकण्ठायतनोपसर्पणस्फुटोपकारौ चरणौ महागुणौ ।
क्व चाञ्जनोद्वर्तनचर्चनादिभिः पुरारिपूजार्पणतर्पणौ करौ ॥ २५ ॥
क्व नाम नामग्रहणोत्सवं विभोरभि प्रवृत्ता रसना दिने दिने ।
क्व चाद्रिपुत्रीपतिपादपङ्कजस्फुरद्रजोराजिविराजितं शिरः ॥ २६ ॥
क्व दृक्चिरं पारितचन्द्रशेखरस्वरूपसौभाग्यविलोकनस्पृहा ।
क्व सन्तताकर्णितदर्पकद्विपद्विचित्रचारित्रपवित्रिता श्रुतिः ॥ २७ ॥

क्व निर्धुतानल्पविकल्पविप्लवत्रिलोचनध्याननिबन्धनं मनः।
क्व चापवर्गोऽयममार्ग एव यः स्मरारिसेवासुखसर्वसम्पदाम् ॥ २८ ॥
इदं विदन्तः[1]सुधियो भियोज्झिताः समाधिमाधिच्छिदमाश्रिता अपि।
प्रभुप्रणामस्तुतिचिन्तनार्चनस्फुटोपयोगं बहु मन्वते वपुः ॥ २९ ॥
(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—नीलकण्ठायतनोपसर्पणस्फुटोपकारौ महागुणौ [भक्तानाम्] चरणौ क्व ? अञ्जनोद्वर्तनचर्चनादिभिः पुरारिपूजार्पणतत्परौ करौ च क्व ? दिने दिने विभोः नामग्रहणोत्सवम् अभि प्रवृत्ता रसना क्व नाम ? अद्रिपुत्रीपतिपादपङ्कजस्फुरद्रजोराजिविराजितम् शिरः च क्व ? चिरम् पारितचन्द्रशेखरस्वरूपसौभाग्यविलोकनस्पृहा दृक् क्व ? सन्तताकर्णितदर्पकद्विषद्विचित्रचारित्रपवित्रिता श्रुतिः क्व ? निर्धुतानल्पविकल्पविप्लवत्रिलोचनध्याननिबन्धनम् मनः क्व ? स्मरारिसेवासुखसर्वसम्पदाम् अमार्गः अयम् अपवर्गः च क्व ? इदम् विदन्तः भियोज्झिताः सुधियः आधिच्छिदम् समाधिम् आश्रिता अपि प्रभुप्रणामस्तुतिचिन्तनार्चनस्फुटोपयोगम् वपुः बहु मन्वते।

अर्थ—भगवान् सदाशिवके मन्दिरोंमें जा-जाकर अपनी कृतार्थता प्रकट करनेवाले वे भक्त-जनोंके सर्व-गुण-निधान चरण कहाँ ? श्रीशिव-प्रतिमामें अञ्जन, उद्वर्तन (सुगन्धित पदार्थका अनुलेपन) एवं चन्दन, कुंकुम और कर्पूर आदि पदार्थोंके अनुलेपनादिद्वारा सदाशिवके पूजनमें ही तत्पर हस्तकमल कहाँ ? प्रतिदिन भगवान्के पवित्र नामोच्चारणमें प्रवृत्त हुई भावुकोंकी जिह्वा कहाँ ? गिरिजापतिके चरणारविन्दोंकी सुपवित्र रजोराजि (रजःकणों) से विराजित हुआ भक्तोंका मस्तक कहाँ ? निर्मित प्रतिमादिमें भगवान्के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपके सौन्दर्यका अवलोकन करनेकी अति उत्कट अभिलाषिणी दृष्टि कहाँ ? प्रतिक्षण कामारि भगवान्के विचित्र चरित्र-श्रवणसे अतीव पवित्र हुए श्रोत्र कहाँ ? अनन्त चिन्ताजालोंके उपद्रवोंको त्यागकर केवल परमेश्वरके ही ध्यानमें परायण मन कहाँ ? और शङ्करकी सेवामें प्राप्त होनेवाले अलौकिक आनन्दरूप लोकोत्तर सम्पदाओंका अगोचर वह मोक्ष कहाँ ?* [इसीलिए] इस भक्ति-सिद्धान्तके मर्मको जाननेवाले रसिक लोग निर्भय होकर

---

१. 'वदन्तः' इत्यपि पाठः।

* यदि गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया जाय, तो 'ज्ञातत्वोपलक्षित' अनावृत भगवत्तत्व (शिवतत्त्व) ही कैवल्य (मोक्ष-) पद है। अतः उसका अनादर करना अपने भगवान् शिवका ही अनादर है। इसलिए यहाँ 'मुक्ति' पदसे सालोक्य-सामीप्यादिरूप मुक्ति विवक्षित हैं। अथवा—साध्यकी अपेक्षा साधनमें ही अभिज्ञ जनोंका अधिक आदर होता है; क्योंकि साधनके होनेसे साध्य स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। अतः भावुक लोग मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिका ही अधिक महत्त्व समझते हैं।

जन्म-मरणादि दुःख-परम्पराका मूलोच्छेदन करनेवाली समाधि* (अष्टाङ्ग-योग द्वारा आत्मा और मनकी एकता) में आश्रित होकर भी एकमात्र प्रभुके ही प्रणाम, स्तुति, ध्यान और पूजनमें स्पष्ट उपयोगी अपने शरीरको अति उत्तम समझते हैं। सारांश यह है कि भगवत्-प्रेम-रसिकोंको मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिमें ही अधिक आनन्द प्रतीत होता है, इसीलिए वे लोग भगवद्भक्तिमें मुक्तिको विघ्न समझते हैं— 'मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एकस्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः ।'

[अब प्रवृत्तिमार्गियोंके लिए महाकवि उपदेश दे रहे हैं —]

किमङ्ग मङ्गल्यमनङ्गभङ्गदप्रसादनादन्यदधन्य मन्यसे ।
यदर्थमर्थक्षतिकृत्सुदुष्करप्रयाससाध्येषु मखेषु खिद्यसे ॥ ३० ॥

(कलापकम्)

अन्वय—हे अङ्ग ! अधन्य ! अनङ्गभङ्गदप्रसादनात् अन्यत् मङ्गल्यम् किम् मन्यसे ? यदर्थम् अर्थक्षतिकृत्सुदुष्करप्रयाससाध्येषु मखेषु खिद्यसे ।

अर्थ—अरे ! अभाग्य-ग्रस्त मानव ! तू कामारि भगवान् शङ्करकी प्रसन्नता के सिवा दूसरी कल्याणप्रद (संसार-सागरसे पार करानेवाली) वस्तु और क्या समझता है, जो धनक्षय करनेवाले अति कठिन प्रयत्नोंसे साध्य यज्ञोंमें [उलझकर] खिन्न हो रहा है ? अर्थात् अत्यन्त कष्टसाध्य यज्ञोंके करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह भगवान् शङ्करकी प्रसन्नतासे सहज ही प्राप्त हो जाता है।

इमा हिमानीविमला हविर्भुजां प्रभुप्रसादप्रभवा विभूतयः ।
करोषि यत्तर्पणमात्रकाम्यया दयास्पदप्राण्युपघातपातकम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—[हे अधन्य !] यत्तर्पणमात्रकाम्यया दयास्पदप्राण्युपघातपातकम् करोषि, [तेषाम्] हविर्भुजाम् इमाः हिमानीविमलाः विभूतयः प्रभुप्रसादप्रभवाः [सन्ति] ।

अर्थ—रे अभागे ! तू जिन देवताओंको तृप्त करनेमात्रकी अभिलाषासे [यज्ञोंमें निरपराध] दयापात्र जीवोंकी हिंसाकर पाप बटोर रहा है, उन देवताओं-को हिमालयके समान स्वच्छ ये अणिमा आदि अष्ट-सिद्धियाँ उसी परमेश्वर (सदाशिव) के अनुग्रहसे प्राप्त हुई हैं। अर्थात् जिस प्रभुके अनुग्रहके लेशमात्रसे देवताओंको अणिमा आदि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं, तू उसी करुणा-सागरका ही आराधन क्यों नहीं करता ?

सखे सखेदस्य धनार्जनं प्रति प्रतिग्रहाध्यापनयाजनादिभिः ।
प्रयाति ते वायुरिवायुरिङ्गितं विहन्ति हन्त क्रतवे तवेहितम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—सखे ! प्रतिग्रहाध्यापनयाजनादिभिः धनार्जनं प्रति सखेदस्य ते आयुः वायुः इव प्रयाति, हन्त ! [अतः] क्रतवे तव ईहितम् [तव] इङ्गितम् विहन्ति ।

* 'अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः । तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥' जैसे जल और नमक आपसमें मिल जानेसे एकस्वरूप हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा और मनकी एकताको समाधि कहते हैं।

अर्थ—सखे ! प्रतिग्रह, अध्यापन और यज्ञादिके द्वारा धनोपार्जनके लिए कठोर श्रम करते-करते तुम्हारी आयु प्रतिक्षण वायुके समान बही जा रही है। खेद है कि यज्ञादि सकाम कर्मोंके लिए तुम जो-जो चेष्टाएँ करते हो, वे सभी तुम्हारे ईश्वराराधनरूप अभीष्टको नष्ट कर रही हैं !

अतः स्वतःप्रार्थितसंपदां[1] पदं कदर्थनाहीनमदीनमेनसा।
निदानमानन्दभुवः स्वयम्भुवो भजस्व पादाम्बुज[2]सेवनोत्सवम्॥ ३३ ॥

अन्वय—अतः [हे सखे !] स्वतःप्रार्थितसम्पदाम् पदम् कदर्थनाहीनम् एनसा अदीनम् आनन्दभुवः निदानम् स्वयंभुवः पादाम्बुजसेवनोत्सवम् भजस्व ।

अर्थ—इस कारण हे सखे ! तू स्वतःप्रार्थित अणिमादि समस्त विभूतियोंके महानिधि, पीड़ाहीन, पातकोंके संसर्गसे रहित एवं परम आनन्दके मूल कारण स्वयंभू परमेश्वरके चरणाम्बुजोंका ही सेवन कर।

अक्लेशपेशलमलङ्घ्यकृतान्तदूत-
हुङ्कारभङ्गभिदुरं[3] दुरितेन्धनाग्निम्।
को नाम नामयहरं हरपादपद्म-
सेवासुखं सुमतिरन्वहमाद्रियेत॥ ३४ ॥

अन्वय—अक्लेशपेशलम् अलङ्घ्यकृतान्तदूतहुङ्कारभङ्गभिदुरम् दुरितेन्धनाग्निम् आमयहरम् हरपादपद्मसेवासुखम् कः नाम सुमतिः अन्वहम् न आद्रियेत ?

अर्थ—अहा ! अविद्या आदि पञ्च क्लेशोंके संसर्गसे रहित होनेके कारण अतीव कोमल, अनिवार्य यमदूतोंके हुङ्कार-जन्य त्रासका भेदन करनेवाले, पापरूप काष्ठको भस्म करनेमें अग्निस्वरूप तथा जन्म, मरण, जरा आदि भयङ्कर रोगोंको समूल नष्ट करनेवाले सदाशिवके पादारविन्दकी सेवाके सुखको भला ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो प्रतिदिन सेवन न करेगा ?

रोमन्थमन्थरकुरङ्गशताश्रितेषु
भागीरथीशिशिरशीकरशीतलेषु।
रोहन्महाहफलकन्दलसुन्दरेषु
बद्धास्पदास्तुहिनभूधरकन्दरेषु॥ ३५ ॥
धन्याः समाधिमवधानधना धनादि-
सम्बन्धबन्धमवधूय धियाधियन्तः[4]।

---

१. 'सम्पदास्पदम्' इति पाठान्तरम्। २. 'पूजनोत्सवम्' इत्यपि पाठः।
३. 'भङ्गिभिदुरम्' इति पाठान्तरम्।
४. 'धिया धयन्तः' इत्यपि पाठः।

ज्योतिः परं गलदनल्पविकल्पजाल-
मालोकयन्ति भगवन्तमनन्तमन्तः ॥ ३६ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—रोमन्थमन्थरकुरङ्गशताश्रितेषु भागीरथीशिशिरशीकरशीतलेषु रोहन्महार्हफलकन्दलसुन्दरेषु तुहिनभूधरकन्दरेषु बद्धास्पदाः अवधानधनाः धन्याः धनादिसम्बद्धबन्धम् अवधूय धिया समाधिम् अधियन्तः गलदनल्पविकल्पजालम् परम् ज्योतिः भगवन्तम् अनन्तम् अन्तः आलोकयन्ति ।

अर्थ—रोमन्थ (चर्वित वस्तुके पुनः पुनः चर्वण करने) से आलसी बने हुए मृग-गणोंसे घिरे, भागीरथीके शीत जल-कणोंसे सुशीतल और अति उत्तम कन्द-मूल फलादिसे सुहावने हिमगिरिकी गुफाओंमें आसन लगाकर एकाग्रताको ही अपना परम धन समझनेवाले धन्य पुरुष—धन, पुत्र, कलत्रादि सम्बन्धोंके बन्धन तोड़ एकाग्र बुद्धिके द्वारा समाधि (आत्मा और मनकी एकता) को प्राप्त होते हुए—अपने हृदय-कमलमें समस्त विकल्प-जालसे रहित परम ज्योतिस्वरूप भगवान् सदाशिवको [ज्ञान-चक्षुद्वारा] देखते हैं ।

धन्या भजन्ति नृपवेश्मसु वेत्रिवक्त्र-
हुङ्कारकातरधियस्तरुणेन्दुमौलिम् ।
वैराग्यनिर्वृतमनस्विजनावकीर्ण-
स्वर्गापगापुलिनवाललतालयेषु ॥ ३७ ॥

अन्वय—नृपवेश्मसु वेत्रिवक्त्रहुङ्कारकातरधियः धन्याः वैराग्यनिर्वृतमनस्विजनावकीर्णस्वर्गापगापुलिनवाललतालयेषु तरुणेन्दुमौलिम् भजन्ति ।

अर्थ—अहा ! राजमहलोंके दरवाजोंपर द्वारपालोंके मुखसे निकले हुए हुँकारों ('अन्दर मत जाओ !' इस प्रकार क्रोधभरे वचनों) से कातरमति भाग्यवान् लोग, सांसारिक विषयोंके वैराग्यसे नियमित चित्तवाले मनस्वियोंसे घिरे गङ्गातटके कोमल-लता-गृहोंमें [स्थित होकर] भगवान् शङ्करका ध्यान करते हैं ।

सन्तः स्मरन्ति शशिखण्डशिखण्डसेवा-
हेवाकिनः सुरसरित्पुलिनस्थलेषु ।
लक्ष्मीलवोल्लसदमन्दमदावलेप-
भूपालबालिशविलङ्घनविप्लवानाम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—शशिखण्डशिखण्डसेवाहेवाकिनः सन्तः सुरसरित्पुलिनस्थलेषु लक्ष्मीलवोल्लसदमन्दमदावलेपभूपालबालिशविलङ्घनविप्लवानाम् स्मरन्ति ।

अर्थ—भगवान् चन्द्रशेखर शङ्करकी सेवाका व्यसन रखनेवाले सज्जन लोग गङ्गातटपर [बैठकर, वैराग्यकी दृढ़ताके लिए] थोड़ेसे धनसे उत्पन्न महामदके गर्वसे दूषित अन्तःकरणवाले मूर्ख राजाओंके अपमानरूप उपद्रवोंका स्मरण करते रहते हैं ।

इदं मधुमुखं विषं हरति जीवितं तत्क्षणा-
दपथ्यमिदमाशितं व्यथयते विपाके वपुः ।
इदं तृणगणावृतं बिलमधो विधत्ते क्षणा-
द्यदत्र मलिनोल्बणैर्द्रविणमर्जितं कर्मभिः ॥ ३९ ॥

अतः प्रतनुवैभवोद्भवदखर्वगर्वक्षमा-
पतिप्रणयसंभवं भुवि विडम्बनाडम्बरम् ।
विहाय सुरवाहिनीपुलिनवासहेवाकिनो
भजन्ति कृतिनस्तमीरमणखण्डचूडामणिम् ॥ ४० ॥

(युग्मम्)

अन्वय—अत्र [मनुष्यैः] मलिनोल्बणैः कर्मभिः यत् द्रविणम् अर्जितम्, [तत्] इदम् मधुमुखम् विषम् तत्क्षणात् जीवितम् हरति । इदम् आशितम् अपथ्यम् विपाके वपुः व्यथयते । इदम् तृणगणावृतम् बिलम् क्षणात् अधः विधत्ते । अतः [कृतिनः] भुवि प्रतनुवैभवोद्भवदखर्वगर्वक्षमापतिप्रणयसंभवम् विडम्बनाडम्बरम् विहाय सुरवाहिनीपुलिनवासहेवाकिनः [सन्तः] तमीरमणखण्डचूडामणिम् भजन्ति ।

अर्थ—इस संसारमें मनुष्य अत्यन्त मलिन और उल्बण (उग्र) कर्मोंद्वारा जिस धनका उपार्जन करते हैं, वह आरम्भमें मधुर प्रतीत होनेवाला विष है; अतएव तत्क्षण (उपभोग करते समय ही) भोक्ताके जीवनको नष्ट कर देता है । यह उपभोग करनेसे परिणाममें अतीव अपथ्य-कारक होकर अन्तमें शरीरको व्यथित कर देता है । [मलिन कर्मों द्वारा उपार्जित] यह धन तृण-पुंजसे ढँका मानो एक बड़ा बिल (अन्धकूप) है, अतः उसमें प्रवेश (उपभोग) करनेमात्रसे ही वह मनुष्यका अधः-पात कर देता है । इसी कारण बुद्धिमान् लोग इस असार संसारमें अत्यन्त अचिरस्थायी (क्षणभङ्गुर) वैभवसे उत्पन्न महामदसे मत्त राजाओंकी प्रार्थनासे होनेवाले उपहास (अपमान) के आडम्बरको छोड़कर गङ्गातटमें वास करते हुए एकमात्र चन्द्रशेखर सदाशिवकी आराधना करते हैं ।

किं भूयोभिः परुषविषयैः[1] श्रीविकारैरसारैः
किं वा भूयः पतनविरसैः स्वर्गभोगाभिलाषैः ।
मन्ये नान्यद्भवभयविपत्कातराणां नराणां
मुक्त्वा भक्तिं[2] भगवति भवे शस्यमाशास्यमस्ति ॥ ४१ ॥

दूरोदञ्चच्चटुललहरीहारिहस्तव्युदस्त-
व्यापत्तापत्रिदशतटिनीमज्जनोन्मज्जनेषु ।

---

१. 'परुषविषमैः' इति पाठान्तरम् । २. 'मुक्तिम्' इत्यपि पाठः ।

श्रद्धाबन्धं शशधरशिरःपादराजीवसेवा-
हेवाकैकव्यसनमनसस्तेन तन्वन्ति सन्तः ॥ ४२ ॥
(युग्मम्)

इति काश्मीरकमहाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'सेवाभिनन्दनं' नाम सप्तमं स्तोत्रम् ।

अन्वय—असारैः भूयोभिः परुषविषयैः किम् ? श्रीविकारैः च किम् ? भूयः पतन-विरसैः स्वर्गभोगाभिलाषैः वा किम् ? भवभयविपत्कातराणाम् नराणाम् भगवति भवे भक्तिम् मुक्त्वा अन्यत् आशास्यम् शस्यम् न अस्ति [इति अहम्] मन्ये । तेन सन्तः शशधरशिरः-पादराजीवसेवाहेवाकैकव्यसनमनसः [सन्तः] दूरोदञ्चचटुलहरीहारिहस्तव्युदस्तव्यापत्ताप-त्रिदशतटिनीमज्जनोन्मज्जनेषु श्रद्धाबन्धम् तन्वन्ति ।

अर्थ—[परिपाकमें] अत्यन्त नीरस बहुत-से शब्द-स्पर्शादि कठोर विषयोंसे प्राणीको क्या लाभ हो सकता है ? [क्षणमें ही नष्ट होनेवाले] ऐहिक धनके विकारों-से भी क्या लाभ है ? ['क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार] पुनः पुनः पतन होनेसे अत्यन्त नीरस स्वर्गीय भोगोंकी लालसाओंसे भी क्या होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । अतः मेरा तो यही निश्चय है कि जन्म-मरणरूप इस सांसारिक विपत्तिसे अत्यन्त कातर प्राणियोंके लिए केवल भगवान् शङ्करकी भक्तिको छोड़कर अन्य कोई भी अभिलषित वस्तु कल्याणप्रद नहीं हो सकती । इसी कारण विद्वान् लोग [इन सांसारिक क्षणिक सुखोंमें आसक्त न होकर] चन्द्रमौलि भगवान् शङ्करके ही चरण-कमलोंकी सेवामें तत्पर होकर दूरतक फैलनेवाली चञ्चल तरङ्गरूपी भुजाओंसे [जीवोंकी] जन्म-मरणरूपी महाव्याधि और त्रिविध तापोंको दूर करनेवाली भगवती गङ्गामें बार-बार डुबकी लगानेमें ही निरन्तर दृढ़ अनुराग रखते हैं ।

अष्टम स्तोत्र

[अब यहाँसे भगवान्की शरणागत-वत्सलताका वर्णन करते हुए 'शरणाश्रयण' अर्थात् शिवशरणागति नामक अष्टम स्तोत्र आरम्भ करते हुए कवि कहते हैं—]

कल्याणिनः सुरगिरेरिव संश्रितस्य
लक्ष्म्या हरेरिव रवेरिव दीप्तिभाजः ।
पद्यस्य शम्भुविषयस्य जयन्ति पादा
ये मण्डयन्ति च पुनन्ति च विष्टपानि ॥ १ ॥

अन्वय—शम्भुविषयस्य कल्याणिनः ये पादाः कल्याणिनः सुरगिरेः पादाः इव लक्ष्म्या संश्रितस्य हरेः पादाः इव दीप्तिभाजः रवेः पादाः इव विष्टपानि मण्डयन्ति पुनन्ति च, ते जयन्ति ।

अर्थ—भगवान् शङ्करकी महिमाका वर्णन करनेवाले मङ्गलमय पद्यके जो पाद (चरण) सुवर्णमय सुमेरु-पर्वतके पादों (प्रत्यन्तपर्वतों) के समान, लक्ष्मीसे आश्रित

भगवान् विष्णुके पादों (राजा बलिके बन्धन-समयके तीन पाद-विक्रमों) के समान और दीप्तिमान् सूर्यके पादों (किरणों) के समान समस्त भुवनोंको विभूषित एवं पवित्र करते हैं, वे सर्वोत्कृष्ट हैं।

याः पङ्किलेन कलिलेन वियोजयन्ति
नित्योज्ज्वलेन कुशलेन च योजयन्ति।
ता धूर्जटेरमरनिर्झरिणीतरङ्ग-
भङ्गाभिरामगतयः स्तुतयो जयन्ति ॥ २ ॥

अन्वय – याः [भक्तजनम्] पङ्किलेन कलिलेन वियोजयन्ति, नित्योज्ज्वलेन कुशलेन च योजयन्ति, ताः अमरनिर्झरिणीतरङ्गभङ्गाभिरामगतयः स्तुतयः जयन्ति।

अर्थ—जो भक्तजनोंको पापोंकी मलिनतासे वियुक्त (रहित) और अत्यन्त निर्मल पुण्यसे युक्त कर देती हैं, गङ्गाजीकी दिव्य तरङ्गों के समान अति मनोहर गतिवाली भगवान् शङ्करकी वे स्तुतियाँ धन्य हैं।

संसारदारुणदवानलदह्यमान-
वाक्चित्तकायकुशलीकरणौषधानि।
श्रीभुक्तिमुक्तिवशकर्मणि कार्मणानि
शम्भोर्जयन्ति नुतिचिन्तनपूजनानि ॥ ३ ॥

अन्वय—संसारदारुणदवानलदह्यमानवाक्चित्तकायकुशलीकरणौषधानि, श्रीभुक्तिमुक्तिवशकर्मणि कार्मणानि शम्भोः नुतिचिन्तनपूजनानि जयन्ति।

अर्थ—संसाररूप दारुण दावानलसे जलती हुई वाणी, चित्त और शरीरको शान्त करनेमें महौषधिस्वरूप एवं श्री (लक्ष्मी), भुक्ति (भोग-परम्परा) और मुक्ति (दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप परमानन्दकी प्राप्ति) इन तीनोंको मन्त्रमुग्धकी तरह वश करनेमें वशीकरण-चूर्णरूप भगवान् श्रीशङ्करकी स्तुति, चिन्तन (ध्यान) और पूजन—तीनों धन्य हैं।

दोषाकरस्य शिरसि स्थितिमुत्तमाङ्ग-
च्छेदं[1] विधेरविरहं नरवाहनस्य।
भस्मीकृतिं त्रिपुरपाशधरस्मराणां
वश्यं दिशाञ्च दशकं दशकन्धरस्य ॥ ४ ॥

(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—[येन स्वातन्त्र्येण क्रीडन् इव प्रभुः] दोषाकरस्य शिरसि स्थितिम् [व्यधित], विधेः उत्तमाङ्गच्छेदम् व्यधित, नरवाहनस्य अविरहम् व्यधित, त्रिपुरपाशधरस्मराणाम्

---

१. 'भङ्गम्' इत्यपि पाठः।

भस्मीकृतिम् व्यधित, च दशकन्धरस्य वश्यम् दिशाम् दशकम् व्यधित [, तत् ईश्वरस्य निरङ्कुशम् अप्रतिहतम् स्वातन्त्र्यम् जयति, इति वक्ष्यमाणाष्टमश्लोकेन सहान्वयः] ।

अर्थ—क्रीड़ा करते हुए-से प्रभुने जिस स्वतन्त्रतासे] दोषाकर (रात्रिमें उदित होनेवाले अथवा दोषोंके आकर अर्थात् अनेक दोषवाले भी) चन्द्रमाको अपने शिरमें धारण किया, [बाँयीं कनिष्ठ अङ्गुलिके नखसे] पितामह ब्रह्मदेवके पञ्चम शिरका छेदन कर डाला, नरवाहन कुबेरके साथ दृढ़ मित्रता की, त्रैलोक्य-विजयी त्रिपुरासुर, यमराज और कामदेवको भस्म किया और दशों दिशाओंको अपने भक्त-शिरोमणि रावणके अधीन कर दिया [; वह परमेश्वरकी निरङ्कुश और निरनुरोध या रोक-टोकसे रहित स्वतन्त्रता सर्वोत्कृष्ट है । अर्थात् भगवान् अपने शरणागतोंका उद्धार और मदोन्मत्त खलोंका तीव्र शासन करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं, अतः जिसे जैसा चाहें, वैसा कर सकते हैं] ।

शौर्यानलस्य परशुव्यजनेन दीप्तिं
रामस्य बाहुपरिघप्रतिघं मघोनः ।
हैमं मरुत्तनृपतेर्दिवसानि सप्त
वर्षं सुदर्शनसमर्पणमच्युतस्य ॥ ५ ॥

अन्वय—[येन च स्वातन्त्र्येण] परशुव्यजनेन रामस्य शौर्यानलस्य दीप्तिम् व्यधित, मघोनः बाहुपरिघप्रतिघम् व्यधित, मरुत्तनृपतेः [पुरे] सप्त दिवसानि हैमम् वर्षम् व्यधित, अच्युतस्य सुदर्शनसमर्पणम् व्यधित [; तत् ईश्वरस्य अप्रतिहतम् स्वातन्त्र्यम् जयति, इति पूर्ववदन्वयः] ।

अर्थ—[प्रभुने जिस स्वतन्त्रतासे] अपने भक्त परशुरामजीको अपना परशुरूप पङ्खा प्रदान कर उसके द्वारा उनकी शूरतारूपी अग्निको और अधिक उत्तेजित किया, इन्द्रके बाहुरूपी परिघका स्तम्भन किया, राजा मरुत्तके नगरमें सात दिनोंतक सुवर्णकी अविच्छिन्न वृष्टि की और भगवान् विष्णुको अपना सुदर्शन दे दिया [, वह शङ्करजीकी उदार स्वतन्त्रता धन्य है] ।

श्वेतस्य कण्ठपुलिनात्समवर्तिपाश-
प्रोत्सारणं नयननिर्हरणं भगस्य ।
दुग्धाब्धिदानमुपमन्युमुनेः क्रियासु
दक्षस्य विघ्नकरणं मखदीक्षितस्य ॥ ६ ॥

अन्वय—[येन स्वातन्त्र्येण] श्वेतस्य कण्ठपुलिनात् समवर्तिपाशप्रोत्सारणम् व्यधित, भगस्य नयननिर्हरणम् व्यधित, उपमन्युमुनेः दुग्धाब्धिदानम् व्यधित, मखदीक्षितस्य दक्षस्य क्रियासु विघ्नकरणम् व्यधित [, तत् स्वातन्त्र्यं जयति] ।

अर्थ—[प्रभुने जिस स्वतन्त्रतासे यमराजके भयसे अपने शिवलिङ्गका आलिङ्गन करनेवाले] राजा श्वेतके कण्ठ-प्रदेशसे यमराजके भयङ्कर नागपाशको दूर किया, भग-देवताके नेत्र फोड़ डाले और अपने भक्त बालक-मुनि उपमन्युको क्षीरसमुद्र ही दे

डाला तथा यज्ञमें दीक्षित दक्ष प्रजापतिके यज्ञका विध्वंस किया [, भगवान् शङ्करकी वह स्वतन्त्रता सर्वसमर्थ है]।

शूलाधिरोहण[1]पराभवमन्धकस्य
पूष्णो हनुग्रहमनुग्रहमर्जुनस्य ।
नन्दीश्वरस्य रविजादभयं भुजङ्ग-
भङ्ग्याभिमानमथनं मुनिमानिनीनाम् ॥ ७ ॥

अन्वय—[येन स्वातन्त्र्येण] अन्धकस्य शूलाधिरोहणपराभवम् व्यधित, पूष्णः हनुग्रहम् अर्जुनस्य च अनुग्रहम् व्यधित, नन्दीश्वरस्य रविजात् अभयम् व्यधित, मुनिमानिनीनाम् भुजङ्गभङ्ग्या अभिमानमथनम् व्यधित [, तत् स्वातन्त्र्यम् जयति]।

अर्थ—[जिस स्वतन्त्रतासे] अन्धकासुरको त्रिशूलपर चढ़ाकर तिरस्कृत (प्राणोंसे रहित) किया, सूर्यका हनुग्रह किया (ठुड्ढी ही उखाड़ ली) तथा धनुष देकर अर्जुनपर अनुग्रह किया, अपने गणाधीश नन्दीश्वरको यमराजसे बचाया और कामुक रूपसे मुनि-महिलाओंके सुचारित्र्याभिमानका मन्थन किया, [वह स्वातन्त्र्य सर्वसमर्थ है]।

किं [2]वापरं द्रुहिणकृष्णहरत्वमेत्य
सर्गस्थितिप्रशमनानि जगत्त्रयस्य ।
क्रीडन्निव व्यधित येन निरङ्कुशं तत्
स्वातन्त्र्यमप्रतिहतं जयतीश्वरस्य ॥ ८ ॥

अन्वय—किम् वा अपरम् [बहु ब्रूमः], येन स्वातन्त्र्येण क्रीडन् इव द्रुहिणकृष्णहरत्वम् एत्य जगत्त्रयस्य सर्गस्थितिप्रशमनानि व्यधित, तत् ईश्वरस्य निरङ्कुशम् अप्रतिहतम् स्वातन्त्र्यम् जयति ।

अर्थ—और अधिक क्या कहें, जिस प्रभुता द्वारा क्रीड़ा करते हुए-से भगवान् सदाशिव इच्छामात्रसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप धारणकर त्रैलोक्यकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय किया करते हैं, उनकी वह निरङ्कुश और निरनुरोध प्रभुता सर्वोत्कृष्ट अर्थात् कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुं समर्थ है ।

[यहाँसे २५ श्लोकोंका महाकुलक* आरम्भ करते हुए कहते हैं—]

यस्यातिघोरगरलादपि कण्ठपीठा
त्सञ्जीवनौषधमुदेति वचो नतानाम् ।
यस्य ज्वलद्घनकृशानुशिखोल्बणापि
वर्षत्यमोघममृतद्रवमेव दृष्टिः ॥ ९ ॥

---

१. 'शूलाधिरोपण' इति पाठान्तरम् ।

२. 'चापरम्' इत्यपि पाठः ।

* जहाँ पाँचसे अधिक श्लोकोंका एक साथ अन्वय हो, उसे 'महाकुलक' कहते हैं ।

अन्वय—यस्य अतिघोरगरलात् अपि कण्ठपीठात् नतानाम् सञ्जीवनौषधम् वचः उदेति, यस्य ज्वलद्दनकृशानुशिखोल्वणा अपि दृष्टिः नतानाम् अमोघम् अमृतद्रवम् एव वर्षति, [तम् संश्रितार्तिहरणम् विभुम् शरणम् श्रयामि, इति अग्रे पञ्चविंशतितमेन श्लोकेन सम्बन्धः]।

अर्थ—जिस प्रभुके अत्यन्त घोर हालाहल-भरे हुए भी कण्ठप्रदेशसे भक्त लोगोंको सञ्जीवन प्रदान करनेवाली दिव्य सञ्जीवनी औषधिके समान 'मत डरो ! मत डरो !!' ऐसे अभय-वचन निकलते हैं और जिसकी जलती हुई अग्नि-ज्वालाओंसे उल्बण (उग्र) भी दृष्टि (तृतीय नेत्र) शरणागतोंपर अमृतकी अमोघ वर्षा ही करती है [, उस शरणागत-प्रतिपालक करुणासागर प्रभुकी मैं शरण लेता हूँ। अहा ! प्रभुके दारुण विषसे परिप्लुत हुए भी कण्ठस्थलसे निकली हुई वाणी द्वारा भक्त लोगोंका जीवन और अग्निज्वालाओंसे उग्र हुई दृष्टिसे भी अमृतके रसका प्रवाहित होना कितने आश्चर्यकी बात है]।

दंष्ट्राकरालमपि घोरमघोरवक्त्रं
यस्य प्रपन्नभयभञ्जनभङ्गिमेति ।
यस्याङ्गभस्मकणिकाश्चरणाश्रितेषु
कर्पूरधूलिपटलश्रियमाश्रयन्ति ॥ १० ॥

अन्वय—यस्य दंष्ट्राकरालम् अपि घोरम् अघोरवक्त्रम् प्रपन्नभयभञ्जनभङ्गिम् एति, यस्य च अङ्गभस्मकणिकाः चरणाश्रितेषु कर्पूरधूलिपटलश्रियम् आश्रयन्ति, [तं विभुं शरणं श्रयामि, इति पूर्ववत् सम्बन्धः]।

अर्थ—जिस प्रभुका दाढोंसे विकराल भी वह घोर [और नीलकमलके समान] अघोर* नामक मुँह, अपने शरणागतोंके जन्म-मरण-जन्य भयको दूर कर देता है और जिसके अंगमें लगे भस्मकण चरणाश्रित सेवकोंको कर्पूरके धूलि-पटलके समान स्वच्छ दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्य प्रदान किया करते हैं [, उस अतिशय दयालु प्रभुकी मैं शरण लेता हूँ]।

यस्यापि कृष्णभुजगा भुजगा भजन्त-
मिन्दीवरस्रज इव प्रविनन्दयन्ति ।
किं चाङ्गसङ्गि[1] मरुदीरितमेति यस्य
मुण्डं नमत्स्वमलमङ्गलकम्बुशोभाम् ॥ ११ ॥

अन्वय—यस्य भुजगाः कृष्णभुजगाः अपि इन्दीवरस्रजः इव भजन्तम् प्रविनन्दयन्ति,

---

* इस अघोर मुखका ध्यान रावणने वदनपञ्चक-स्तुतिमें किया है—
'कालाभ्रभ्रमराञ्जनद्युतिनिभं व्यावृत्तपिङ्गेक्षणं
भालेन्दूज्ज्वलितं हिमांशुवदनप्रोद्भिन्नदंष्ट्राङ्कुरम् ।
सर्पप्रोतकपालशुक्तिशकलव्याकीर्णसच्छेखरं
वन्दे दक्षिणमीश्वरस्य कुटिलभ्रूभङ्गरौद्रं मुखम् ॥'

१. 'खट्वाङ्गसङ्गि' इति पाठान्तरम् ।

किम् च [अधिकम्] यस्य अङ्गसङ्गि मुण्डम् मरुदीरितम् [सत्] नमत्सु अमलमङ्गलकम्बु-शोभाम् एति, [तं विभुम् अहम् श्रयामि]।

अर्थ—जिसकी भुजाओंमें लिपटे काले सर्प भी भक्तजनोंको नीलकमलोंकी मालाके समान आनन्द प्रदान करते हैं, अधिक क्या कहें, जिसके अङ्गमें विराजित मुण्ड (ब्रह्म-कपाल) भी वायुसे पूरित होकर भक्त लोगोंके लिए अतीव-निर्मल माङ्गलिक शङ्खके समान परम मङ्गलदायक हो जाता है [, उस शरणागतवल्लभ शङ्कर-की मैं शरण लेता हूँ]।

यस्येभचर्म घनशोणितपङ्कलिप्त-[1]
मङ्गेषु मङ्गलदुगूल*-विलासमेति।
यस्यापि तापविधुरेषु करे कपाल-
मालम्बतेऽमृतकमण्डलुखण्डलीलाम् ॥ १२ ॥

अन्वय—यस्य अङ्गेषु घनशोणितपङ्कलिप्तम् [अपि] इभचर्म मङ्गलदुगूलविलासम् एति, यस्य करे कपालम् अपि तापविधुरेषु अमृतकमण्डलुखण्डलीलाम् आलम्बते [, तं अहम् श्रयामि]।

अर्थ—अत्यन्त घन शोणितसे लिप्त भी गजचर्म जिस भगवान्के दिव्य मङ्गल-मय शरीरमें अति मनोहर माङ्गलिक उत्तरीय वस्त्रके समान बन जाता है और जिस प्रभुके हस्तकमलमें अशुचि कपाल (अपवित्र खप्पर) भी तापत्रय-विह्वलित प्राणियोंके लिए अमृतपूर्ण कमण्डलुके समान बन जाता है [, उस शरणागतवल्लभ प्रभुकी मैं शरणमें जाता हूँ]।

यत्पादपांसुपरिमर्शशुचि श्मशानं
श्रीशैलनैमिषमुखान्यधरीकरोति।
यत्संस्तवादविकलं कुशलं कपाल-
पाली करोति कृतिनां कमलावलीव ॥ १३ ॥

अन्वय—यत्पादपांसुपरिमर्शशुचि [सत्] श्मशानम्, श्रीशैलनैमिषमुखानि [अपि] अधरीकरोति, यत्संस्तवात् कपालपाली कमलावली इव कृतिनाम् अविकलम् कुशलम् करोति [, तमहं श्रयामि]।

अर्थ—जिसकी चरणारविन्द-रजके स्पर्शसे अति पवित्र वह श्मशान श्रीशैल

---

१. 'पङ्कलीलाम्' इत्यपि पाठः।

* यद्यपि प्राचीन कवियोंके ग्रन्थोंमें प्रायः 'दुकूल' शब्द देखा जाता है, किन्तु यहाँ तो कविने 'दुगूल' शब्द प्रयुक्त किया है। महाकवि श्रीजयदेवने भी 'गीतगोविन्द' में 'दुगूल' ही प्रयोग किया है। यथा—

'केलिकलाकुतुकेन च काचिदमुं यमुनाजलकूले।
मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जगतं विचकर्ष करेण दुगूले ॥'

(सिद्धगिरि) और नैमिषारण्य प्रभृति तीर्थोंको भी तिरस्कृत कर देता है और जिसके स्पर्शसे मुण्डमाला भी भाग्यवान् लोगोंको सुमनोहर कमल-पंक्तिके समान अखण्ड सुख देती है [, उस शरणागत-वत्सल प्रभुकी मैं शरण लेता हूँ] ।

यं देवमस्तशिरसं सुरभर्तुरङ्के
लङ्केशवैरिकरवीजिततालवृन्तम् ।
आसीनसुप्तसुखितं शतरुद्रियादि-
मन्त्रैः स्वरेण मधुरेण गृणाति वेधाः ॥ १४ ॥

अन्वय—सुरभर्तुः अङ्के अस्तशिरसम् , लङ्केशवैरिकरवीजिततालवृन्तम् , आसीन-सुप्तसुखितम् यम् देवम् वेधाः शतरुद्रियादिमन्त्रैः मधुरेण स्वरेण गृणाति, [तमहं शरणम् श्रयामि] ।

अर्थ—त्रैलोक्य-रक्षाके लिए त्रिपुरासुर, अन्धकासुर आदि दुष्ट दैत्योंका संहार करके जब महेश्वर अपने मस्तकको इन्द्रकी गोदमें ले सुख-निद्रामें स्थित हो जाते हैं, तब भगवान् विष्णु अपने कर-कमलोंसे उन्हें पङ्खा डुलाने लगते हैं और ब्रह्माजी ['षट्षष्टिर्नीलसूक्तं च पुनर्जपति षोडशीम्' इत्यादि प्रकारके] शतरुद्रिय आदि वैदिक मन्त्रों द्वारा सात प्रकारके सुमधुर स्वरोंसे स्तुति करने लगते हैं [, उन भगवान् शङ्करकी मैं शरण लेता हूँ] ।

हेलावलीढभुवनत्रितयेन येन
गीर्णाः पुरन्दरमुकुन्दरवीन्दवोऽपि ।
यस्य ज्वलद्विपुलभालविलोचनाग्नि-
ज्वालावलीशलभता[1]मगमत्स कालः ॥ १५ ॥

अन्वय—हेलावलीढभुवनत्रितयेन येन पुरन्दरमुकुन्दरवीन्दवः अपि गीर्णाः, सः कालः यस्य ज्वलद्विपुलभालविलोचनाग्निज्वालावलीशलभताम् अगमत् [, तं विभुम् अहम् श्रयामि] ।

अर्थ—तीनों लोकोंको केवल खेल (हँसी) में ही ग्रस्त कर लेनेवाले जिस काल ने अनेक इन्द्र, विष्णु, सूर्य और चन्द्रमा भी निगल लिये हैं, वह काल भी जिस सदाशिवके विशाल भालमें जाज्वल्यमान नेत्राग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंमें पतङ्ग-सा बन गया [, उस परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ] ।

श्वेतं विधोरुदयहेतुमवेत्य पक्षं
कालं च यः क्षयकरं दशमाश्रितस्य ।
श्वेतं दयाविशदयाशु दशानुगृह्य
कालं दशैव नयति स्म शमं विपक्षम् ॥ १६ ॥

अन्वय—यः श्वेतम् पक्षम् दशम् आश्रितस्य विधोः उदयहेतुम् अवेत्य च कालम् पक्षम्

---

१. 'शरभताम्' इति पाठान्तरम् ।

विधोः क्षयकरम् अवेत्य [अत एव] श्वेतम् दयाविशदया दृशा अनुगृह्य विपक्षम् कालम् दृशा एव शमम् नयति स्म [, तम् अहम् शरणम् श्रयामि] ।

अर्थ—जिस शरणागत-वत्सलने मानो श्वेत (शुक्ल) पक्षको अपने बाँये नेत्रमें आश्रित चन्द्रमाके उदयका और काल (कृष्ण) पक्षको उसके क्षयका हेतु समझकर [इसी कारण नामसाम्यसे] श्वेतनामक राजाको [यमराजके भयसे "त्राहि ! त्राहि" पुकारते ही शीघ्र] अपनी दया-पूर्ण दृष्टि द्वारा अनुगृहीत किया और विपक्षी काल (यमराज) को दृष्टिद्वारा ही भस्म किया [, उस विभुकी मैं शरण जाता हूँ] ।

चक्री मुखाग्रविलसज्ज्वलनोग्रजिह्वा-
लीढाम्बरः क्षितिधरेन्द्रधनुर्धरस्य ।
यस्यागमन्निधनसाधनतां पुराणां
बाणीकृतश्च रणमूर्ध्नि गुणीकृतश्च ॥ १७ ॥

अन्वय—क्षितिधरेन्द्रधनुर्धरस्य यस्य रणमूर्ध्नि मुखाग्रविलसज्ज्वलनाग्रजिह्वालीढाम्बरः चक्री बाणीकृतः मुखाग्रविलसज्ज्वलनोग्रजिह्वालीढाम्बरः चक्री च गुणीकृतः पुराणाम् निधन-साधनताम् अगमत् [, तम् अहम् शरणम् श्रयामि] ।

अर्थ—जिसने संग्रामके मध्य मन्दराचल पर्वतरूपी धनुष धारणकर बाणकी नोकमें प्रकट हुए अग्निकी उल्बण ज्वालाओंसे सम्पूर्ण आकाश-मण्डलमें व्याप्त चक्री (सुदर्शन-चक्रधारी) विष्णुको बाण बना और मुखाग्रपर अग्निके समान धधकते हुए महाविषसे भरी हुई उल्बण जिह्वाओंसे युद्धरूप वस्त्रको भस्म करनेवाले चक्री (वासुकी सर्पराज) को प्रत्यञ्चा बनाकर त्रिपुरासुरका संहार किया, उस स्वेच्छा-विहारी भगवान् सदाशिवकी मैं शरण लेता हूँ ।

चक्रायुधं विशिखतामुडुचक्रवर्ति-
चक्राभिधानसुहृदौ रथचक्रभावम् ।
नीत्वासृजत्त्रिदशधाम्नि रसातले च
यो हर्षशोकमयमश्रु पुराङ्गनानाम् ॥ १८ ॥

अन्वय—यः [त्रिपुरसमरे] चक्रायुधम् विशिखताम् उडुचक्रवर्तिचक्राभिधान-सुहृदौ* [च] रथचक्रभावम् नीत्वा त्रिदशधाम्नि रसातले च पुराङ्गनानाम् हर्षशोकमयम् अश्रु असृजत् [, तम् विभुम् शरणम् श्रयामि] ।

अर्थ—जिस प्रभुने [त्रिपुरासुरके युद्धमें] भगवान् विष्णुको बाण तथा चन्द्रमा और सूर्यको रथके दो चक्र बनाकर स्वर्ग तथा पातालकी पौराङ्गनाओंकी

* उडूनाम् = नक्षत्रोंका, चक्रवर्ती = राजा, चन्द्र । चक्राभिधानस्य = चक्रवाक पक्षीका, सुहृद् = मित्र, सूर्य । चकवा-चकवी रातमें बिछुड़ जाते और दिनमें मिलते हैं; इसलिए यहाँ 'चक्राभिधानसुहृद्' से दिनकर सूर्य लिया गया है ।

आँखोंसे हर्ष और शोकके आँसू बहाये, अर्थात् त्रिपुरासुरको मारकर स्वर्गकी स्त्रियोंकी आँखोंसे तो हर्षाश्रु और पातालमें दैत्य-स्त्रियोंकी आँखोंसे पतिमरण-वियोग-जन्य शोकाश्रु-बिन्दुओंको बहाया, उस परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ।

आरूढरीढमपि[1] येन समर्पितेन
प्रीतिं रतिं च हृदि विस्मरति स्म कामः।
तं दृष्टिपातमधिगम्य बिभर्ति यस्य
प्रीतिं रतिं च हृदि को न [2]सुसिद्धकामः॥ १९॥

अन्वय—आरूढरीढम् अपि हृदि समर्पितेन येन कामः प्रीतिम् रतिम् च विस्मरति स्म, यस्य तम् दृष्टिपातम् अधिगम्य सुसिद्धकामः कः हृदि प्रीतिम् रतिम् च न बिभर्ति [, तम् विभुम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—अपमानपूर्वक भी हृदयमें समर्पित किये हुए जिस दृष्टिपातसे कामदेव अपनी प्रीति* और रति नामक दोनों पत्नियोंको भूल गया, प्रभुके उस दृष्टिपातको प्राप्तकर परिपूर्ण मनोरथ हो कौन भक्तजन अपने हृदयमें प्रीति (आनन्द) और रति (सुख) को नहीं धारण करता? अर्थात् जिस प्रभुका दृष्टिपात होनेपर सभीके हृदयमें परम आनन्द प्राप्त होता है, उस करुणासिन्धुका मैं आश्रय लेता हूँ।

कृष्णोपदर्शितपथः पृथुलोष्मभीष्म-
श्लाघ्यं दधद्वपुरुपात्तवनान्तवासः।
व्याधाकृतेरपि धनञ्जय एव यस्य
दृग्गोचरे कृतपदो महसा दिदीपे॥ २०॥

अन्वय—कृष्णोपदर्शितपथः पृथुलोष्मभीष्मश्लाघ्यम् वपुः दधत् उपात्तवनान्तवासः धनञ्जयः एव व्याधाकृतेः अपि यस्य दृग्गोचरे कृतपदः महसा दिदीपे [, तम् अहम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—कृष्ण यानी धूममार्गवाला (कृष्ण-वर्त्मा), अतिशय उष्णताके कारण भयानक और सुमनोहर स्वरूपको धारण करनेवाला एवं मन्दाकिनीके जलके समीप निवास करनेवाला भी अग्नि जिस प्रभुके (तृतीय) नेत्रकी शरण पाकर अत्यन्त तेजसे प्रदीप्त हुआ, उस शरणागत-वत्सल शिवकी मैं शरण हूँ।

अथवा—जिसकी प्रसन्नतासे युद्धमें [जयद्रथादिकोंसे] विजय प्राप्त करनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णसे उपदेश पाकर अतीव बलसे श्लाघ्य-शरीर और वनमें

---

१. 'इव' इति पाठान्तरम्। २. 'समिद्ध' इत्यपि पाठः।

* प्रीति और रति ये दोनों कामदेवकी पत्नियाँ हैं। अतएव 'सोमपाल-विलास' में कविवर जह्लणने कहा है—

'शङ्खपद्मनिधी यूनां कम्बुकण्ठ्याः पयोधरौ।
शृङ्गारानङ्गभृङ्गारौ रतिप्रीतिसमुद्गकौ॥'

निवास करनेवाला धन्यात्मा अर्जुन जिस व्याधरूपधारी शङ्करकी कृपादृष्टि प्राप्तकर पाण्डवोंके बीच महायशस्वी और बलवान् बन गया, उस प्रभुकी मैं शरण हूँ।

युक्तं सुधाकरसुधाकरकद्युसिन्धु-
तोयादि यन्मनसि तापमपाकरोति।
यस्याङ्गसङ्गि शवभस्मकपालमाला-
हालाहलाहिदहनाद्यपि हृद्यमेव ॥ २१ ॥

अन्वय—सुधाकरसुधाकरकद्युसिन्धुतोयादि यन्मनसि तापम् अपाकरोति, [तत्] युक्तम्। [अद्भुतम् तु एतत्] यस्य अङ्गसङ्गि शवभस्मकपालमालाहालाहलाहिदहनादि अपि हृद्यम् एव [भवति, तम् अहम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—चन्द्रमा, अमृतकलश और गङ्गाजल आदि पदार्थ जिस प्रभुके चित्तके खेद (तीनों लोकोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयादि व्यापार-जन्य सन्ताप) को दूर करते हैं, यह तो युक्त ही है। किन्तु [आश्चर्यकी बात तो यह है कि] जिसके अङ्ग-स्पर्शसे प्रेत-भस्म (चिता-भस्म), मुण्डमाला, कालकूट विष, सर्प और अग्नि भी परम मनोहर हो जाते हैं, उस अतर्क्य महिमाशाली ईश्वरकी मैं शरण लेता हूँ।

मूर्तिः क्रिमेः शतपदी श्रवणं प्रविष्टा
दृष्टा रुजामसुहृतं सृजती जनानाम्।
सौरी तनुर्ननु सहस्रपदी यदीय-
नेत्रस्थिता हरति मृत्युभयं श्रितानाम् ॥ २२ ॥

अन्वय—श्रवणम् प्रविष्टा शतपदी क्रिमेः मूर्तिः जनानाम् असुहृतम् रुजाम् सृजती [जनेन] दृष्टा। ननु यदीयनेत्रस्थिता सहस्रपदी सौरी तनुः श्रितानाम् मृत्युभयम् हरति [, तम् अहम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—लोकमें तो कानमें प्रविष्ट सौ पदों (चरणों) वाली 'कर्ण-सर्पिणी' नामक क्रिमि की मूर्ति (कीड़ा) प्राणियोंको प्राणान्त पीड़ा देती देखी जाती है। किन्तु जिसके दाहिने नेत्रमें स्थित सहस्र-पदों (किरणों-) वाली सूर्यकी मूर्ति शरणागतोंके मृत्युभयको हर लेती है [, उस शरणागत-वत्सलकी मैं शरण लेता हूँ]।

आकर्ण्य यः कृपणमार्तवचः कृपाब्धि-
राधूतमूर्धसुरनिर्झरिणीकणौघैः।
उत्सङ्गसङ्गतगिरीन्द्रसुताकुचाग्र-
संसक्तमौक्तिकमणीन्द्विगुणीकरोति ॥ २३ ॥

अन्वय—यः कृपाब्धिः कृपणम् आर्तवचः आकर्ण्य [दयया] आधूतमूर्धसुरनिर्झरिणीकणौघैः उत्सङ्गसङ्गतगिरीन्द्रसुताकुचाग्रसंसक्तमौक्तिकमणीन् द्विगुणीकरोति [, तम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—जो कृपासिन्धु प्रभु आर्तजनोंके 'प्रभो मुझ दीनकी रक्षा करो!' इस

प्रकार दीन-वचन सुनकर प्रसन्न एवं दयार्द्र होते और अपना मस्तक हिलाकर सुरसरिके जल-कणोंद्वारा गोदमें बैठी पार्वतीजीके स्तनप्रान्तकी मुक्तामणियों (मुक्ता-रत्नों) को दुगुना बना देते हैं [, उनकी मैं शरण लेता हूँ]।

[1]उद्गाढभक्तिविधुरव्यपनीततीव्र-
दोषान्धकारमतिमात्रशुचि प्रकाशम् ।
पीयूषमुद्वमति यस्य विविक्तवर्णं
कर्णान्तगामि वचनं च विलोचनं च ॥ २४ ॥

अन्वय—यस्य उद्गाढभक्तिविधुरव्यपनीततीव्रदोषान्धकारम् अतिमात्रशुचि प्रकाशम् विविक्तवर्णम् कर्णान्तगामि च वचनम् विलोचनम् च पीयूषम् उद्वमति [, तम् अहम् श्रयामि] ।

अर्थ—जिस प्रभुके अभय-वचन और लोचनत्रय (तीन नेत्र)—जो क्रमशः अत्यन्त दृढ़ भक्तिवाले भव-भयपीड़ित लोगोंके अविद्यारूपी तीव्र अन्धकारको दूर करनेवाला, अतिशय निर्मल, व्यक्त, पृथक्-पृथक् वर्णोंवाला एवं भक्तजनोंके कर्णोंतक पहुँचनेवाला है तथा अत्यन्त दृढ़ शोभासे सम्पन्न विधु (चन्द्रमा) और रवि (सूर्य) द्वारा रात्रिका गाढ़ अन्धकार दूर करनेवाला, अत्यन्त पवित्र अग्निके प्रकाशसे युक्त, पृथक्-पृथक् श्वेत, कृष्ण और रक्तवर्ण एवं कर्णोंतक विस्तृत हैं—सदा अमृतको बरसाते हैं [, उस शङ्करकी मैं शरण हूँ]।

पात्रीभवन्ति न यदङ्घ्रिसरोजरेणु-
मैत्रीपवित्रशिरसः स्थिरसत्यवाचः ।
साटोपकोपविकटभ्रुकुटिच्छटाना-[2]
मुत्तालकालभटवक्त्रविभीषिकाणाम् ॥ २५ ॥

अन्वय—यदङ्घ्रिसरोजरेणुमैत्रीपवित्रशिरसः स्थिरसत्यवाचः [धन्याः] साटोपकोपविकटभ्रुकुटिच्छटानाम् उत्तालकालभटवक्त्रविभीषिकाणाम् न पात्रीभवन्ति [,तम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—जिस प्रभुके चरण-कमलोंकी रजसे पवित्र मस्तकवाले गम्भीर और सत्यभाषी भाग्यवान् लोग तीव्र कोपसे अत्यन्त विकराल भ्रुकुटियोंवाले उद्भट यमदूतों-के मुखों के भयजनक विकृत दृश्योंके पात्र नहीं होते अर्थात् यमदूतोंका मुँह ही नहीं देखते [, उस ईश्वरकी मैं शरण लेता हूँ]।

सूक्तिं शुचिं श्रवणयोरमृतं स्रवन्तीं[3]
वक्रामभङ्गुरगुणां महतीं वहन्तः ।
गायन्ति[4] यं श्रितवतः परिशुद्धवंश-
विद्या यशांसि कवयः परिवादकाश्च ॥ २६ ॥

---

१. 'यद्गाढ' इति पाठान्तरम् ।
२. 'भ्रूकुटीछलानाम्' इत्यपि पाठः ।
३. 'वहन्तीम्' इति पाठान्तरम् । ४. 'शंसन्ति' इत्यपि पाठः ।

अन्वय - शुचिम् श्रवणयोः अमृतम् स्रवन्तीम् वक्राम् अभङ्गुरगुणाम् महतीम् सूक्तिम् वहन्तः परिशुद्धवंशविद्याः कवयः परिवादकाः च यम् श्रितवतः यशांसि गायन्ति [, तम् विभुम् अहम् शरणम् श्रयामि] ।

अर्थ—अत्यन्त पवित्र, श्रोताओंके कर्णोंमें अमृत बरसानेवाली, औपचारिक वक्र पदोंवाली और ओज, प्रसाद आदि दृढ़ गुणोंसे सम्पन्न सूक्ति (सुन्दर उक्ति) को धारण करनेवाले, विशुद्धवंश और विद्यावाले सुकवि तथा सुन्दर स्वरोंवाली (सुरीली), श्रोताओंके कर्णोंमें अमृत बरसानेवाली, कुटिल (टेढ़ी) और दृढ़ तन्त्रियोंवाली महती (वीणा) को बजानेवाले घरानेदार श्रेष्ठ संगीतज्ञ जिसके शरणागत भक्तोंके सुपवित्र यशका गायन करते हैं [, उस प्रभुकी मैं शरण जाता हूँ] ।

यत्सेवकस्य मदनोल्बणबाणपूग-
क्रान्तालिकान्तविकसत्तिलकोज्ज्वलश्रीः ।
सेव्या[1] भवत्यवसरे कलकण्ठनाद-
हृद्या वधूः कुसुमितोपवनस्थली च ॥ २७ ॥

अन्वय—यत्सेवकस्य मदनोल्बणबाणपूगक्रान्ता अलिकान्तविकसत्तिलकोज्ज्वलश्रीः कलकण्ठनादहृद्या कुसुमिता वधूः उपवनस्थली च अवसरे सेव्या भवति [, तम् शरणम् श्रयामि] ।

अर्थ—मदन (कामदेव) के उल्बण (कठिन) शोषण, मोहन, संदीपन, तापन, उन्मादन नामक पञ्च बाणोंसे आक्रान्त, ललाटके मध्य शोभायमान तिलककी अत्युज्ज्वल कान्तिसे युक्त और कोकिलके समान अति सुमधुर स्वरवाली कुसुमिता वधू (ऋतुमती रमणी) एवं मदन, उन्नत बाण और पूगी-फल (सुपारी) के वृक्षोंसे व्याप्त, भ्रमर-सेवित विकसित तिलक-वृक्षोंसे सुमनोहर कान्तिवाली और कोकिलोंके अति सुमनोहर शब्दोंसे रमणीय उपवन-भूमि (बगीचा) का उचित समयपर जिसका सेवक उपभोग कर पाता है [, उस प्रभुकी मैं शरण लेता हूँ] ।

यस्मिन्नखिन्नमनसो व्यसनावसन्न-
सन्तापशान्तिकृतसम्मतयो[2] वसन्ति ।
कात्यायनी च करुणा च कला च चान्द्री
स्निग्धा च दृक् सुरसरिच्च सरस्वती च ॥ २८ ॥

अन्वय—व्यसनावसन्नसन्तापशान्तिकृतसम्मतयः कात्यायनी च करुणा च चान्द्री कला च स्निग्धा दृक् च सुरसरित् च सरस्वती च यस्मिन् अखिन्नमनसः वसन्ति, [, तम् विभुम् शरणम् श्रयामि] ।

अर्थ—सांसारिक तापोंसे खिन्न भक्तजनोंके समस्त सन्तापको शान्त करनेके लिए परस्पर एकत्रित होकर सहमत हुई कात्यायनी (पार्वतीजी), करुणा, चन्द्रकला, दयामयी दृष्टि, देवगङ्गा और सरस्वती (अभय-वाणी) जिसके मङ्गलमय दिव्य

१. 'देव्या' इति पाठान्तरम् ।
२. 'सङ्गतयः' इति पाठान्तरम् ।

शरीरमें उद्वेगरहित होकर [बड़े ही प्रेमसे] सदा निवास करती हैं [, उस दयासिन्धु परमेश्वर भगवान् शङ्करकी मैं शरण लेता हूँ]।

सन्तापसंपदपहारपटूनि सिद्ध-
सिन्धोरिवेन्दुधवलानि जलानि यस्य ।
आकल्पयन्ति मदयन्ति पवित्रयन्ति
सञ्जीवयन्ति च जगन्ति भृशं यशांसि ॥ २९ ॥

अन्वय—यस्य सन्तापसंपदपहारपटूनि इन्दुधवलानि यशांसि सिद्धसिन्धोः जलानि इव जगन्ति भृशम् आकल्पयन्ति, मदयन्ति, पवित्रयन्ति, सञ्जीवयन्ति च [, तम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—समस्त सन्तापोंके समूहको शान्त करनेमें अतीव चतुर एवं चन्द्रमाके समान स्वच्छ जिस प्रभुका यश—गंगाके जलकी तरह—सारे संसारको अत्यन्त अलङ्कृत, परम आनन्दित, अतिपवित्र और संजीवित कर देता है, उस [भगवान् शिवकी मैं शरण लेता हूँ]।

दुष्कालसङ्कटकटाहकदर्थितानां
तीव्राभिमानमनसां घनसारभांसि ।
[1]भिन्दन्त्यमन्दहरिचन्दनबिन्दुवृन्द-
सन्दोहदोहदमहो चरितानि यस्य ॥ ३० ॥

अन्वय—अहो ! घनसारभांसि यस्य चरितानि दुष्कालसङ्कटकटाहकदर्थितानाम् तीव्राभिमानमनसाम् अमन्दहरिचन्दनबिन्दुवृन्दसन्दोहदोहदम् भिन्दन्ति [, तम् विभुम् अहम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—अहो ! जिसका कर्पूरके समान स्वच्छ (सुपवित्र) चरित्र दुष्काल कलिकालरूपी संकुचित कटाहमें व्यथित (खिन्न) हुए महाअभिमानी जीवोंको परम शान्ति देकर अतिगाढ़ हरिचन्दनपङ्कके प्रवाहमें अवगाहन करनेकी अभिलाषाको शान्त कर देता है [, उस भगवान् शङ्करकी मैं शरण लेता हूँ]।

[2]फुल्लारविन्दमकरन्दधृतप्रसङ्ग-
भृङ्गाङ्गनागुमगुमारवगीतिगर्भम् ।
गायन्ति यस्य चरितं हरितामधीशा
धीशालिनः कमलिनीपुलिनस्थलीषु ॥ ३१ ॥

अन्वय—धीशालिनः हरिताम् अधीशाः कमलिनीपुलिनस्थलीषु फुल्लारविन्दमकरन्दधृतप्रसङ्गभृङ्गाङ्गनागुमगुमारवगीतिगर्भम् यस्य चरितम् गायन्ति [, तम् विभुम् शरणम् श्रयामि]।

अर्थ—सदसद्विवेकशाली इन्द्रादि दिक्पाल देव-सरोवरोंके तटोंपर विकसित कमल-पुष्पोंके मकरन्दमें अत्यन्त अनुरागिणी भ्रमराङ्गनाओंके 'गुम-गुम'

---

१. 'भिन्दन्ति' इत्यपि पाठः ।
२. 'तीरारविन्द' इत्यपि पाठः ।

शब्दरूपी गीतिगानसे गर्भित जिसके अद्भुत अनुपम चरित्रोंको गाया करते हैं [, उस प्रभुकी मैं शरण लेता हूँ] ।

व्यक्तोज्ज्वलालिकचितं मुखमायताक्षं
विस्तीर्णकर्णिकमनर्गलरूढनालम् ।
यं शंसतोऽधिवसति स्वयमुक्तिदेवी
राजीवसद्मकमलाविजिगीषयेव ॥ ३२ ॥

अन्वय—यम् शंसतः व्यक्तोज्ज्वलालिकचितम् आयताक्षम् विस्तीर्णकर्णिकम् अनर्गलरूढ-नालम् मुखम्, उक्तिदेवी राजीवसद्मकमलाविजिगीषया इव स्वयम् अधिवसति [, तम् संश्रितार्तिहरणम् विभुम् शरणम् श्रयामि] ।

अर्थ—[व्यक्त और उज्ज्वल अलियों (भ्रमरावलियों) से सुशोभित, विशाल अक्षों (बीजों) वाले, बड़ी-बड़ी कर्णिका और सुमनोहर नालवाले] 'कमल-गृह' में कमला (महालक्ष्मी) निवास किया करती है; अतः मानो उसे जीतनेके लिए श्रीसरस्वती देवी, जिस सदाशिवकी स्तुति करनेवाले भक्तप्रवरके व्यक्त देदीप्यमान उज्ज्वल ललाट, विशाल नेत्र एवं बड़ी-बड़ी कर्णिका (कर्णकुण्डल) और सुमनोहर कण्ठवाले मुख-कमलमें स्वयं आ विराजमान होती है [, उस शरणागत-कल्पतरु भगवान् शङ्करकी मैं शरण लेता हूँ] ।

आपन्नबान्धवमवन्ध्यवचोविलास-
मासन्न[1]मज्जननमज्जनसान्त्वनेषु ।
देवं सुधाकरकिशोरकृतावतंसं
तं संश्रितार्तिहरणं शरणं श्रयामि ॥ ३३ ॥

अन्वय—आसन्नमज्जननमज्जनसान्त्वनेषु अवन्ध्यवचोविलासम् आपन्नबान्धवम् सुधाकर-किशोरकृतावतंसम् संश्रितार्तिहरणम् तम् देवम् शरणम् श्रयामि ।

अर्थ—माया और मोहरूपी तरङ्गोंसे व्याकुल भवसागरमें निकट भविष्यमें डूबनेवाले भक्तजनोंको 'मा भैषीः ! मा भैषीः !!' (मत डरो ! मत डरो !!) इत्यादि प्रकारसे आश्वासन (धैर्य) देनेमें जिसका वाग्विलास सर्वथा अमोघ होता है, जो शरणागतोंके एकमात्र अभिन्न बान्धव और बालचन्द्रको शिरोभूषण बनाये हुए हैं, उन शरणागत-आर्तिहारी, स्वयं-प्रकाश प्रभुका मैं आश्रय लेता हूँ ।

देवं श्रयामि तमहं मुकुटोरगेन्द्र-
स्फूर्जत्फणामणिसहस्रमिषेण यस्य ।
भालानलेन सुरसिन्धुजलोक्षितेन
प्रोन्मुक्तमङ्कुरसहस्रमिवाचकास्ति ॥ ३४ ॥

---

१. 'सज्जन' इति पाठान्तरम् ।

अन्वय—यस्य मुकुटोरगेन्द्रस्फूर्जत्फणामणिसहस्रमिषेण सुरसिन्धुजलोक्षितेन भालानलेन प्रोन्मुक्तम् अङ्कुरसहस्रम् इव आचकास्ति, तम् देवम् अहम् श्रयामि ।

अर्थ—जिनके शिरोमुकुटस्थित सर्पराज (शेषनाग) की सहस्र फणाओंमें चमकती हुई सहस्र मणियाँ मानो उनके शीषपर विराजमान सुरसरिके नीरसे सिञ्चित भालनेत्रकी अग्निमें उगे सहस्र अङ्कुरोंकी तरह सुशोभित होती हैं, उन स्वयंप्रकाश देवाधिदेव महादेवकी मैं शरण लेता हूँ ।

सानुग्रहोत्तमगणाश्रितपादमूलं
मूर्ध्ना धृताभ्रसरितं सतुषारमूर्तिम् ।
आसेवितं विषधरैः कटकेषु ताप-
शान्त्यै गिरीशमतिहृद्यगुहं श्रयामि ॥ ३५ ॥

अन्वय—सानुग्रहोत्तमगणाश्रितपादमूलम् मूर्ध्ना धृताभ्रसरितम् सतुषारमूर्तिम्, कटकेषु विषधरैः आसेवितम्, अतिहृद्यगुहम् गिरीशम् [अहम्] तापशान्त्यै श्रयामि ।

अर्थ—[जैसे कोई ताप-संतप्त प्राणी अपनी ताप-व्यथाको शान्त करनेके लिए उस गिरीश (गिरिराज) हिमालयकी शरण लेता है, जिसका प्रत्यन्त पर्वतमूल शिखरोंतक जानेवाले नन्दी, भृङ्गी आदि प्रधान-प्रधान शिवगणोंसे सुसेवित है, जो मस्तक (शिखर) पर व्योमगङ्गाको धारण किये, स्वच्छ सुशीतल तुषार (हिम) से सुशोभित, मध्यमें विषधरों (सर्प अथवा विष अर्थात् जलको धारण करनेवाले जलधरों—मेघों) से सुसेवित और अतिमनोहर गुहाओंवाला है, वैसे ही] मैं अपने समस्त पाप-तापोंकी व्यथाको मिटानेके लिए शरणागतोंपर महान् अनुग्रह करनेवाले नन्दी-भृङ्गी आदि गणनायकोंसे सुसेवित, मस्तकपर व्योमगङ्गाको धारण किये, स्वच्छ-शीतल अमृतमूर्ति चन्द्रमासे विराजित, कङ्कणोंकी विषधर सर्पोंसे विभूषित और गुह (स्वामी कार्तिकेय) के साथ परम प्रीति रखनेवाले गिरीश (कैलाशवासी) प्रभुकी शरण लेता हूँ ।

यः क्षीरनीरनिधिमङ्घ्रितले सुधाम्भः-
कुम्भं करे शिरसि देवनदी[1]मदीनाम् ।
हर्तुं बिभर्ति भविनामणुकर्ममाया-
मूलं मलत्रयमयं तमहं श्रयामि ॥ ३६ ॥

अन्वय—यः भविनाम् अणुकर्ममायामूलम् मलत्रयम् हर्तुम् [इव] अङ्घ्रितले क्षीरनीरनिधिम्, करे सुधाम्भःकुम्भम् शिरसि अदीनाम् देवनदीम् बिभर्ति, तम् अयम् अहम् श्रयामि ।

अर्थ—जो प्रभु मानो जीवोंके पुद्गल आत्मा, शुभाशुभ कर्म और माया (अविद्याजन्य) तीनों मलोंको हरनेके लिए चरणतलमें क्षीरसागर, हस्त-कमलमें

१. 'सिद्धनदी' इत्यपि पाठः ।

अमृतपूर्ण कलश और मस्तकपर विशाल देवनदी (व्योमगङ्गा) को धारण करता है, प्राणियोंपर निष्कारण दयाकारी उस भगवान् भूतभावनकी मैं शरण लेता हूँ*।

यस्यापगा स्रगिव सौमनसी जटासु
यः कौमुदीं विरचनामिव मूर्ध्नि धत्ते ।
देवीं वराभयकरामपि यो बिभर्ति
प्रीतः शिवां दृशमिव प्रभुमाश्रये तम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—यस्य जटासु आपगा सौमनसी स्रक् इव [आभाति], यः कौमुदीम् विरचनाम् इव मूर्ध्नि धत्ते, यः प्रीतः [सन्] वराभयकराम् देवीम् दृशम् इव बिभर्ति, तम् प्रभुम् [अहम्] आश्रये ।

अर्थ—जिसकी जटामें देव-गङ्गा स्वच्छ मालतीकी पुष्पमालाके समान सुशोभित होती है, जो चन्द्र-ज्योत्स्नाको चन्दनकी तरह मस्तकपर धारण करता है एवं जो भक्तोंको वरदान और अभयदान देनेवाली प्रसाददृष्टि (कृपाभरे नेत्रों) के समान कर-कमलोंमें वर और अभय-मुद्रा धारण करनेवाली भगवती भवानी देवीको प्रीतिपूर्वक अपने वामाङ्गमें धारण करता है, उस सर्वसमर्थ महेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ।

गौरीं गजास्यजननीं हिमवत्प्रसूतिं
सद्यःपवित्रितजगत्त्रितयां य एकः ।
कात्यायनीं सुरधुनिं च विभुर्बिभर्ति
निर्वाणदं शरणमेमि तमिन्दुमौलिम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यः विभुः एकः सद्यःपवित्रितजगत्त्रितयाम् हिमवत्प्रसूतिम् कात्यायनीम् गौरीम् गजास्यजननीम् सुरधुनिम् च बिभर्ति, तम् निर्वाणदम् इन्दुमौलिम् शरणम् एमि ।

अर्थ—जो परमेश्वर समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिए [तत्काल दर्शन और स्मरण करने मात्रसे] भुवनत्रयको पवित्र करनेवाली, हिमालयसे उत्पन्न, गौरी (कन्या या शुभ्रवर्णा), हेरम्ब-जननी पार्वती और मन्दाकिनीको वामाङ्ग और मस्तकपर धारण करता है, उस परमशान्तिरूप निर्वाणदाता भगवान् चन्द्रमौलिकी मैं शरण जाता हूँ ।

क्वाप्युद्धृतक्रतुविधातृमृगोत्तमाङ्ग-
मुत्सङ्गसङ्गतमृगं [1]क्वचिदोषधीशम् ।
क्रूरं क्वचिन्मृगवधैकरतिं किरातं
वातं क्वचिन्मृगरथं विभुमाश्रयामि ॥ ३९ ॥

अन्वय—क्वापि उद्धृतक्रतुविधातृमृगोत्तमाङ्गम्, क्वचित् उत्सङ्गसङ्गतमृगम् ओष-

* यहाँ उत्प्रेक्षाध्वनि है ।

१. 'दधदोषधीशम्' इत्यपि पाठः ।

धीशम्, क्वचित् मृगवधैकरतिम् क्रूरम् किरातम्, क्वचित् मृगरथम् वातम् विभुम् [अहम् शरणम्] आश्रयामि ।

अर्थ—किसी समय मृगरूपधारी ब्रह्मा* का शिरश्छेद करनेवाले, कभी मृगधर चन्द्रमाका स्वरूप धारण करनेवाले‡, किसी समय मृगोंको मारनेवाले महाक्रूर किरात (भिल्ल) का स्वरूप धारण करनेवाले और कभी-कभी मृगरूप रथमें विहार करनेवाले वायुकी मूर्ति$ धारण किये स्वेच्छाविहारी¶ भगवान् भोलेनाथकी मैं शरण लेता हूँ ।

उद्दामदोषमपि दीर्घगुणं भुजङ्ग-
भोगोपगूढमपि रूढशिखिप्रसङ्गम्¹ ।
कापालिकव्रतसमेतमपि द्विजेन्द्र-
चूडामणिं विभुमनङ्कुशमाश्रयामि ॥ ४० ॥

अन्वय—उद्दामदोषम् अपि दीर्घगुणम् भुजङ्गभोगोपगूढम् अपि रूढशिखिप्रसङ्गम् कापालिकव्रतसमेतम् अपि द्विजेन्द्रचूडामणिम् अनङ्कुशम् विभुम् [अहम्] आश्रयामि ।

अर्थ—जो उद्दाम दोषों (महाउद्धत दोषों अर्थात् भुजाओं) वाला होकर भी महान् गुणशाली (अणिमा आदि ऋद्धि-सिद्धियोंवाला) है, भुजङ्ग-फणाओंसे परिवेष्टित (आलिङ्गित) होकर भी शिखी (भालनेत्रस्थ अग्नि) के साथ प्रीति करता है और कापालिकव्रतधारी (ब्रह्मशिरःकपालधारी) होकर भी द्विजेन्द्र-चूड़ामणि (चन्द्रचूड़) है, उस अनङ्कुश (स्वेच्छाविहारी) अर्थात् सर्वस्वतन्त्र प्रभुका मैं आश्रय लेता हूँφ ।

---

* ब्रह्माजी अपनी पुत्री सन्ध्यादेवीको अत्यन्त रूपवती देख कामातुर हो जब उसके साथ रमण करनेको उत्सुक हुए, तब सन्ध्याने 'यह मेरे पिता होकर मेरे साथ ऐसा जुगुप्सित आचरण करना चाहते हैं' यह सोचकर मृगरूप धारण कर लिया । ब्रह्मा उसे मृगी बनी देख आप भी मृगरूप बन गये । तब जगन्नियन्ता भगवान् महेश्वरने 'यह ब्रह्मा धर्म-प्रवर्तक होकर भी ऐसा महान् जुगुप्सित कर्म करना चाहता है, अतः दण्डनीय है' ऐसा निश्चयकर अपना धनुष (पिनाक) तान एक बाण मारकर उसका शिरश्छेदन किया । वही शिर तबसे मृगशिरा नामक नक्षत्र बन गया ।

‡ भगवान् शिवकी अष्ट-मूर्तियोंमें चन्द्रमा भी एक मूर्ति है ।

$ भगवान् शिवकी अष्ट-मूर्तियों में वायु भी एक मूर्ति है ।

¶ कहीं तो मृगका वध और कहीं उसका रक्षण करनेसे यहाँ प्रभुको स्वेच्छा-विहारी (स्वतन्त्र) कहा गया है।

१. 'शिवप्रसङ्गम्' इति पाठान्तरम् ।

φ कविने यहाँ शब्दश्लेषमें विरोधाभासका पुट देकर खूब चमत्कार किया है । वह कहता है कि जो महादोषोंवाला होकर भी अत्यन्त गुणशाली है, भुजङ्ग-फणाओंसे परिवेष्टित होकर भी शिखी (मयूर) के साथ प्रीति रखता है और कापालिक-व्रतधारी (वाममार्गी) होकर भी द्विजेन्द्र-चूड़ामणि (विप्र-शिरोमणि) कहलाता है, उस निरङ्कुश (उच्छृङ्खल) प्रभुकी मैं शरण लेता हूँ । कितना हृदयग्राही भाव है !

अङ्गे धृताङ्गनमनङ्गकृताङ्गभङ्गं
विश्वाधिनाथमथ खण्डकपालपाणिम् ।
उग्रं शिवं हरमघोरमजं च सद्यो-
जातं च विस्मयनिधिं विभुमाश्रयामि ॥ ४१ ॥

अन्वय—अङ्गे धृताङ्गनम् अनङ्गकृताङ्गभङ्गम् विश्वाधिनाथम् अथ खण्डकपालपाणिम् उग्रम् शिवम् हरम् अघोरम् अजम् च सद्योजातम् विस्मयनिधिम् विभुम् आश्रयामि ।

अर्थ—जो प्रभु अपने वामाङ्गमें अङ्गना (अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत निखिल लावण्य-सुधा-सिन्धुकी महाधिष्ठात्री देवी स्वतन्त्र शक्तिरूपा भवानी) को धारण करता हुआ भी अनङ्ग (कामदेव) का अङ्ग-भङ्ग करनेवाला है, अखिल ब्रह्माण्डनायक होकर भी हाथमें खण्डकपाल (खप्परका टुकड़ा) धारण करता है, उग्र (रौद्ररूप) होते हुए भी शिव (सब मङ्गलोंका दाता) है, हर (सर्वसंहारक) होता हुआ भी अघोर (सौम्य-शिरोमणि) है और अज (अनादि, अजन्मा) होता हुआ भी सद्योजात (अपने प्रतिबिम्बस्वरूप सकल चराचर जगत्के नवीन-नवीन उल्लास-रूपोंमें अभिव्यक्त होनेवाला) है, उस परम आश्चर्यनिधि परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ।

अस्मिन्भवाध्वनि महाविषमेऽसमेषु-
रोषादितस्करतिरस्करणैकवीरम् ।
भीरुः श्रयामि शरणं क्षणदाकुटुम्ब-
लेखाशिखामणिमनुत्तमशक्तिमीशम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—अस्मिन् महाविषमे भवाध्वनि भीरुः [सन् अहम्] असमेषुरोषादितस्करतिरस्करणैकवीरम् अनुत्तमशक्तिम् क्षणदाकुटुम्बलेखाशिखामणिम् ईशम् शरणम् श्रयामि ।

अर्थ—मैं इस महान् दुर्गम भवाटवी (संसार-पथ) में अत्यन्त भयभीत होता हुआ काम-क्रोधादिरूप तस्करोंका तिरस्कार (दमन) करनेवाले महान् वीर, अनुपम शक्तिशाली, चन्द्र-चूडामणि परमेश्वरकी शरण लेता हूँ ।

किं मेरुमन्दरमुखैर्गिरिभिर्गरीयान्
कैलास एव जगदेकगुरुर्गिरीशः ।
यस्याभयङ्करमसङ्करमस्तशङ्क-
मङ्कं सुटङ्कमकलङ्कमलङ्करोति ॥ ४३ ॥

अन्वय—मेरुमन्दरमुखैः गिरिभिः किम् , कैलास एव गरीयान् , यस्य अभयङ्करम् असङ्करम् अस्तशङ्कम् सुटङ्कम् अकलङ्कम् अङ्कम् जगदेकगुरुः गिरीशः अलङ्करोति ।

अर्थ—वे सुमेरु और मन्दराचल आदि पर्वत किस कामके हैं ? अर्थात् किसी भी कामके नहीं । बस, केवल कैलास ही अतिश्रेष्ठ पर्वत है, जिसके अतिसौम्य,

स्वच्छ, निःशङ्क, सुन्दर कलापूर्ण और निष्कलङ्क अङ्क (शिखर) को [अपना निवास-स्थान बनाकर] जगद्गुरु भगवान् गिरीश विभूषित करते हैं।

उल्लङ्घ्य शासनमनन्यजशासनस्य
कोऽप्यन्यशासनमुपासितुमेति निष्ठाम् ।
हित्वा वनं हि नवनागरपर्णपूर्ण-
मुष्ट्रः श्रयत्यवटमेव सकण्टकौघम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—अनन्यजशासनस्य शासनम् उल्लङ्घ्य कः अपि अन्यशासनम् उपासितुम् निष्ठाम् एति । हि नवनागरपर्णपूर्णम् वनम् हित्वा उष्ट्रः* सकण्टकौघम् अवटम् एव श्रयति ।

अर्थ—कोई विरले हतभाग्य मूढजन ही कामदेवके शासक भगवान् शिवका शासन (सच्छास्त्र) छोड़कर मतिको भ्रष्ट करनेवाली कुकथाओं (गन्दे-गन्दे उपन्यास आदि) के अनुशीलनमें ललचाते रहते हैं। ठीक ही है, ऊँट अति सुकोमल ताम्बूल-वनको छोड़ अत्यन्त तीक्ष्ण कण्टकोंसे भरे गड्ढोंमें ही बैठा करता है‡।

[भगवान् शिवकी सेवा जिस किसी भी प्रकार, जिस किसी भी समय और जहाँ कहीं भी की जाय, वह सेवकोंकी सम्पूर्ण मनोभिलाषाओंको अवश्य पूर्ण करती है, इसीको स्पष्ट समझाते हुए कवि कहते हैं—]

अन्यार्थमप्युपहिता शितिकण्ठसेवा
लोकस्य कल्पलतिकेव फलत्यवश्यम् ।

---

* अत्र 'उष्ट्र' इति पदांशे श्रुतिकटुत्वेऽपि भक्तिविषये न दोषः ।

‡ ऐसे ही हतभाग्योंकी दुर्दशापर तरसते हुए भगवान् शुकमुनिने श्रीमद्भागवत (३ । १५ । २३ ।) में कहा है—

'यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥'

इसी अभिप्रायपर टीकाकार रत्नकण्ठने भी कहा है—

'हृद्यं विहाय शिवशास्त्ररसायनं यो
धत्तेऽन्यशासनमतश्रवणेऽभिलाषम् ।
हित्वाभ्रसिन्धुजलमिन्दुकलावदातं
चुण्टीजलं पिबति कुण्ठमतिः स मर्त्यः ॥'

अर्थात् जो ईश्वरके चरित्ररूपी अत्यन्त मनोहर और रुचिकर रसायनको छोड़ अन्य-विषयक कथाओंको सुननेकी अभिलाषा करता है, वह मूढ़मति सुमनोहर चन्द्रकलाके समान स्वच्छ, सुशीतल गङ्गाजलको छोड़ चुण्टीजल (चौवाँ-जल अर्थात् कहींसे टपक-टपककर इकट्ठा होनेवाले क्षुद्र जल) का पान करता है।

उद्दीपिता खलु परस्य कृतेऽपि येन
तस्यापि दर्शयति दीपशिखार्थसार्थम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—शितिकण्ठसेवा अन्यार्थम् उपहिता अपि लोकस्य कल्पलतिका इव अवश्यम् फलति । खलु येन परस्य कृते अपि दीपशिखा उद्दीपिता [चेत्], तस्य अपि अर्थसार्थम् दर्शयति ।

अर्थ—भगवान् नीलकण्ठ शिवकी सेवा यदि किसी अन्य (दूसरे व्यक्ति) के कल्याणार्थ की जाय, तो भी वह कल्पलताके समान लोगोंका अवश्य कल्याण करती है । निश्चय ही दीपशिखा यदि केवल अन्यके निमित्त जलायी जाय, तो वह जलानेवालेको भी घट-पटादि पदार्थ दिखला देती है ।

यद्यर्चितः[1] स भगवानपि जीविकार्थं
तत्रापि किल्बिषविपाकमपाकरोति ।
योऽपि द्युसिन्धुपयसि प्लवते निदाघ-
घर्मच्छिदे भवति सोऽपि हि धौतपापः ॥ ४६ ॥

अन्वय—यदि सः भगवान् जीविकार्थम् अपि अर्चितः, तत्रापि [तस्य] किल्बिषविपाकम् अपाकरोति । हि यः अपि द्युसिन्धुपयसि निदाघघर्मच्छिदे [एव] प्लवते, सः अपि धौतपापः भवति ।

अर्थ—भगवान् सदाशिवको यदि कोई केवल आजीविकाके निमित्त भी भजता हो, तो भी वह प्रभु उसके पाप-परिपाकको दूर कर [उसका उद्धार कर] देते हैं । निश्चय ही देखा जाता है कि यदि कोई पुरुष केवल ग्रीष्म ऋतुकी ताप-व्यथाके निवारणार्थ सुरसरिके नीरमें अवगाहन करे, तो भी वह धौत-पाप (निष्पाप) हो जाता है ।

कुर्वन्ति भक्तिमपरैरपि ये नियुक्ता
भर्गस्य तेऽपि भवदुर्गतिमुत्सृजन्ति ।
स्तन्यार्थमप्युपहिता पृथुकस्य धात्री
पात्रीभवत्यखिलभोगसुखासिकानाम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—अपरैः नियुक्ताः अपि ये भर्गस्य भक्तिम् कुर्वन्ति, ते अपि भवदुर्गतिम् उत्सृजन्ति । पृथुकस्य स्तन्यार्थम् उपहिता अपि धात्री सकलभोगसुखासिकानाम् पात्रीभवति ।

अर्थ—अन्य लोगोंद्वारा नियुक्त होकर भी जो लोग भगवान् भर्ग (सदाशिव) की भक्ति किया करते हैं, वे भी इस भवदुर्गति (सांसारिक दुर्गतियों) से पार हो जाते हैं । [लोकमें भी यह देखा जाता है कि] केवल शिशुको स्तन्य-पान करानेके ही निमित्त नियुक्त की हुई भी धात्री (उपमाता या धाय) समस्त भोग

१. 'यद्यर्थितः' इत्यपि पाठः ।

और सुखशय्यादिकी पात्र बन जाती है, अर्थात् उस धात्रीको माताकी तरह समस्त भोग्य-पदार्थ प्राप्त होने लगते हैं।

[अधिक क्या कहें—]

दम्भादपि ध्रुवमनङ्गजितः प्रयुक्तः
सेवाविधिः [1]प्रमदसम्पदमादधाति ।
वेश्याजनस्य न सुखाय किमङ्गराग-
मालादुगूलधवलः कृतकोऽपि वेषः ॥ ४८ ॥

अन्वय—दम्भात् अपि प्रयुक्तः अनङ्गजितः सेवाविधिः प्रमदसम्पदम् ध्रुवम् आदधाति । [हि परार्थम् विहितः] अङ्गरागमालादुगूलधवलः कृतकः अपि वेषः वेश्याजनस्य सुखाय किम् न भवति ?

अर्थ—केवल दम्भ (पाखण्ड) से ही किया हुआ भी भगवान् भोलेनाथका भजन लोगोंको परमानन्द-सम्पत्ति प्रदान करता है। [निश्चय ही पाखण्डसे केवल लोगोंको मोहित करनेके लिए धारण किया हुआ भी] अङ्गविलेपन (चन्दन), माला और वस्त्रोंसे उज्ज्वल कृत्रिम (बनावटी) वेष क्या उन वेश्याओंको सुख-सन्तोष नहीं पहुँचाता ?

तस्मादुपेत विभुमेव यथातथापि
मुक्तिर्न चेद्भवति किं न गलन्त्यघानि ।
यः स्वेच्छयैव निपतत्यमृतह्रदेऽन्त-
र्मज्जत्यसौ यदि न तत्किमुदेत्यसिक्तः ॥ ४९ ॥

अन्वय—[अयि सहृदयाः !] तस्मात् यथातथा अपि विभुम् एव [शरणम्] उपेत । [भवताम्] मुक्तिः चेत् न भवति, तर्हि अघानि किं न गलन्ति ? यः स्वेच्छया एव अमृतह्रदे निपतति, असौ यदि अन्तः न मज्जति तर्हि तत् किम् असिक्तः उदेति ?

अर्थ—अयि सहृदय लोगो ! इसलिए [अधिक क्या कहें,] जिस किसी भी प्रकार स्वेच्छासे, दूसरोंकी ही प्रेरणासे अथवा किसी अन्य प्रसङ्गसे, किंबहुना, दम्भसे ही क्यों न हो—उस परम कारुणिक प्रभुकी ही शरण जाएँ। कदाचित् दुर्भाग्यवश आप लोगोंको मुक्ति न भी प्राप्त हो, तो क्या अनेक-जन्म-सञ्चित प्राचीन पाप-राशि भी नष्ट न होगी ? [नहीं-नहीं, पाप तो अवश्य ही गल जायँगे, क्योंकि] यदि कोई पुरुष स्वेच्छासे ही किसी सुधा-सरोवर (अमृत-कुण्ड) में गिरे और नीचे डूब न जाय तो क्या वह अमृतबिन्दुओंसे आर्द्र हुए बिना ही वहाँसे निकलता है ? [नहीं-नहीं, वह अवश्य अमृतसे आर्द्र होकर निकलता है]।

क्षीराब्धेरवहेलया वितरणं निर्यन्त्रणं वर्षणं
हेम्नः क्रुद्धकृतान्तमुक्तफणभृत्पाशग्रहोद्बर्हणम् ।

---

१. 'प्रमदसम्मदम्' इत्यपि पाठः ।

यच्चाप्युत्कटकालकूटकवलीकारादि कर्माद्भुतं
क्रीडामात्रकमेव यस्य तदसौ देवः कथं वर्ण्यते ॥ ५० ॥

अन्वय—क्षीराब्धेः अवहेलया वितरणम् निर्यन्त्रणम् हेम्नः वर्षणम् क्रुद्धकृतान्तमुक्तफण-भृत्पाशग्रहोद्बर्हणम् च यत् अपि उत्कटकालकूटकवलीकारादि अद्भुतम् कर्म, तत् यस्य क्रीडामात्रकम् एव भवति, असौ देवः कथम् वर्ण्यते ?

अर्थ—[बालक उपमन्युको] खेल ही खेलमें यों ही सारे क्षीरसागरका दान कर देना, [राजा मरुत्तके राज्यमें] सात दिनों तक सुवर्णकी अविच्छिन्न (अटूट) वर्षा कर देना, [राजा श्वेतको] अत्यन्त कुपित कृतान्त (यमराज) के नागपाशके दृढ़ बन्धनसे मुक्त कर देना, [अधिक क्या,] महाभयंकर कालकूटका पान कर जाना, आदि अनेकानेक अद्भुत कर्म (चरित्र) जिस प्रभुके लिए बालक्रीड़ाके समान हैं, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप क्रीड़ा करनेवाला, स्वयंप्रकाश परमेश्वर हम-सरीखे चर्मचक्षुओं (परिमित बुद्धिवालों) के द्वारा कैसे वर्णित किया जाय ?

स्वच्छन्दस्य यदृच्छया गमयतः प्रेङ्खोलतां भ्रूलता-
माज्ञानुग्रहलाभकत्थनघनस्पर्धानुबन्धोद्धुराः ।
सोष्माणः कलयन्ति यस्य कलहं सेवासु देवासुरा
देवस्यास्य महेश्वरस्य महिमश्लाघाविधौ के वयम् ॥५१॥

अन्वय—स्वच्छन्दस्य यदृच्छया भ्रूलताम् प्रेङ्खोलताम् गमयतः यस्य सेवासु देवासुराः आज्ञानुग्रहलाभकत्थनुनस्पर्धानबन्धोद्धुराः [अत एव] सोष्माणः [सन्तः] कलहम् कलयन्ति, अस्य महेश्वरस्य देवस्य महिमश्लाघाविधौ वयम् के [भवामः] ?

अर्थ—जिस स्वतन्त्र शक्तिशाली परमेश्वरकी भृकुटि-लता स्वेच्छावश किञ्चिन्मात्र कम्पित हो जाय (किञ्चित् संकेत हो जाय) तो सेवाके लिए परम लालायित होकर देवासुर (देवता और दानव) हाथ जोड़े खड़े हो जाते हैं, जिसके आज्ञा-रूप महान् अनुग्रहको पाकर श्लाघासे परस्पर अत्यन्त स्पर्धा-गर्वित हो वे अपने-अपने तेजको प्रकट कर आपसमें कलह करने लगते हैं ('प्रभुने अपनी सेवाके लिए मुझे आज्ञा दी, मुझे दी' इस प्रकार परस्पर वाद-विवाद करने लगते हैं), उस सर्वसमर्थ भगवान् महेश्वर देवकी महिमा वर्णन करनेमें हम स्वल्पशक्तिवालोंकी क्या सामर्थ्य है ?

उर्वीनीरसमीरणारुणशिखिव्योमात्मसोमात्मकै-
रष्टाभिर्विभवैर्बिभर्ति भुवनं भोक्ता च भोग्यश्च यः ।
ब्रूमस्तस्य किमीश्वरस्य महतः स्वैरी स्वकैरेव यः
स्फारैर्ब्रह्मपुरन्दरप्रभृतिभिः शारैरिव क्रीडति ॥ ५२ ॥

इति श्रीकाश्मीरकमहाकविजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य
स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'शरणाश्रयणं' नामाष्टमं स्तोत्रम् ।

अन्वय—यः भोक्ता भोग्यः च उर्वीनीरसमीरणारुणशिखिव्योमात्मसोमात्मकैः अष्टाभिः विभवैः भुवनम् बिभर्ति यः स्वैरी च स्फारैः ब्रह्मपुरन्दरप्रभृतिभिः स्वकैः शारैः इव क्रीडति, तस्य महतः ईश्वरस्य [महिमानम्] किम् ब्रूमः ?

अर्थ—जो स्वच्छन्द परमेश्वर भोक्ता (स्वतन्त्र कर्तारूप) और भोग (कार्य-) रूप होकर पृथ्वी, जल, वायु, सूर्य, अग्नि, आकाश, चन्द्रमा और यजमान इन अष्टमूर्तियोंसे समस्त भुवनोंका धारण और पालन करता है एवं जो अपने ही अंश-स्वरूप ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओंसे स्वेच्छासे निर्मित और नाशित अक्षों (पाँसों) की तरह क्रीड़ा किया करता है, उस महान् (ब्रह्मादि देवोंके भी कारणीभूत) महेश्वरकी अनन्त महिमाका हम क्या वर्णन करें ?

नवम स्तोत्र

[अब कविराज भगवान्से अपनी दीनदशाका वर्णन करते हुए 'कृपणाक्रन्दन' (दीनकी पुकार) नामक नवम स्तोत्र प्रारम्भ करते हैं—]

दीपोत्करै रविरुचां परिपूरणेयं
नीहारवारिभिरिदं भरणं पयोधेः ।
अस्मादृशां मितदृशां नियतैर्वचोभिः
प्रस्तूयते भव तव स्तवचापलं यत् ॥ १ ॥

अन्वय—भव ! मितदृशाम् अस्मादृशाम् नियतैः वचोभिः यत् तव स्तवचापलम् प्रस्तूयते, [तत्] इयम् रविरुचाम् दीपोत्करैः परिपूरणा, इदम् [च] नीहारवारिभिः पयोधेः भरणम् ।

अर्थ—हे ब्रह्मादि स्थावरान्त समस्त चराचरके कारण परम शिव प्रभो ! हम-सरीखे अत्यल्पमति लोगोंके अत्यन्त परिमित वचनोंसे जो आपकी स्तुतिके लिए उद्योग किया जाता है, यह मानो त्रिलोक-चक्षु भगवान् सूर्यकी अनन्त कान्तियोंको दीपकलिकाओंद्वारा परिपूर्ण करना है और ओसकी बूँदोंसे अगाध समुद्रको भरना है। अर्थात् हमारी परिच्छिन्न वाणीसे आप अतर्क्य, अपरिमित, सर्वसाक्षी, परमेश्वरकी स्तुति करना विडम्बनामात्र है; क्योंकि हम चर्मचक्षु लोग आपकी क्या स्तुति कर सकते हैं ? *

[तो फिर 'चुप न रहकर स्तुतिके लिए यत्नशील क्यों हो रहे हैं ?' इस शङ्काकी निवृत्ति करते हुए कहते हैं—]

अत्रापराध्यति गिरो हर धृष्टतेय-
मेषा निसर्गमुखरा मुखरागिणी यत् ।

---

* यहाँ निदर्शनालंकार है ।

प्रौढिं परामनुपयत्यपि वाञ्छति त्वां
स्वामिन् हठादिव परं पुरुषं ग्रहीतुम् ॥ २ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! एषा पराम् प्रौढिम् अनुपयती अपि निसर्गमुखरा मुखरागिणी [सती] यत् हठात् इव त्वाम् परम् पुरुषम् ग्रहीतुम् वाञ्छति, हर ! गिरः इयम् धृष्टता [एव] अपराध्यति ।

अर्थ—प्रभो ! यह मेरी वाणी 'परम-प्रौढ़िमा' [पदार्थमें वाक्य-रचनारूप उत्तम गुणों] को प्राप्त हुए बिना भी स्वभावतः अतिवाचाल और केवल ऊपरी (बनावटी) अनुरागवाली होकर बलात्कारकी तरह आप पर-पुरुष (अव्यक्त-प्रकृतिसे परे परब्रह्म परमेश्वरको ग्रहण [प्राप्त] करनेकी इच्छा करती है, हे हर ! इसमें मेरी वाणीकी धृष्टता (निर्लज्जता) का ही अपराध (दोष) है [, क्योंकि स्वभावतः वाचाल और केवल मुँहपर ही अनुराग दिखानेवाली कोई बाला बाल्यावस्था पारकर भरा-पूरा यौवन न पाये हुए हो, फिर भी यदि वह जबर्दस्ती किसी पर-पुरुष को चाहे, तो यह केवल उसकी धृष्टता ही है] ।

यद्वा भवत्यसुलभो भवदाश्रितस्य
शस्यः स कोऽपि महिमा न हि मादृशोऽपि ।
स्वच्छन्दमन्दमपि यत्र पदं त्वदुक्षा
धत्ते मही भवति हेममयी हि तत्र ॥ ३ ॥

अन्वय—यद्वा, [हे स्वामिन् !] भवदाश्रितस्य मादृशः अपि सः कः अपि शस्यः महिमा असुलभः न हि भवति । हि त्वदुक्षा यत्र स्वच्छन्दमन्दम् अपि पदम् धत्ते, तत्र मही हेममयी भवति ।

अर्थ—अथवा, हे प्रभो ! मुझ-सरीखे दीन-हीन भी आपके आश्रित (शरणागत) व्यक्तिके लिए आपके गुणगणोंकी स्तुति करने योग्य वह विलक्षण श्लाघ्य महिमा कोई सुदुर्लभ नहीं है, अर्थात् आपके शरणागतका आपकी स्तुतिके लिए उत्सुक होना (उद्योग करना) यह कोई कठिन नहीं है । निश्चय ही आपका शरणागत वाहन नन्दी जहाँ थोड़ा-सा भी अपना स्वच्छन्द पद (चरण) रखता है, वहाँकी सारी पृथ्वी सुवर्णमयी हो जाती है ।

भीष्मो विषादपि विषादपिनद्धमेत-
च्चेतश्चकार सविकारमकारणारिः ।
मोहामयस्तमयमस्तमयं नयामि
स्वामिंस्तव स्तवरसायनसेवनेन ॥ ४ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! विषात् अपि भीष्मः अकारणारिः मोहामयः एतत् चेतः विषादपिनद्धम् सविकारम् चकार । [अतः] अयम् [अहम्] तव स्तवरसायनसेवनेन तम् अस्तमयम् नयामि ।

अर्थ—प्रभो ! विषसे भी भयङ्कर, निष्कारण वैरी इस मोहरूपी व्याधिने मेरे चित्तको विषाद (खेद) से आच्छादित और अनेक प्रकारके विकारों (दोषों) से विकृत कर दिया है। इसलिए अब मैं आपके स्तुतिरूपी रसायनके सेवनसे इस मोहरूपी महाव्याधिको समूल नष्ट कर रहा हूँ* ।

एष स्तवस्तव नवप्रमदोपदेश-
मादेशयञ्जयति कोऽपि गुरुर्गिरीश ।
सद्यः पुरः स्फुरति मे दुरतिक्रमेण
यत्सङ्क्रमक्रमवशेन वचोधिदेवी ॥ ५ ॥

अन्वय—गिरीश ! नवप्रमदोपदेशम् आदेशयन् एषः कः अपि गुरुः तव स्तवः जयति । दुरतिक्रमेण यत्सङ्क्रमक्रमवशेन मे वचोधिदेवी सद्यः पुरः स्फुरति ।

अर्थ—[जैसे अलौकिक आनन्दोल्लासको अभिव्यक्त करता हुआ कोई विलक्षण महिमाशाली सद्गुरु शिष्यके अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो संक्रमण-दीक्षा¶ देकर उसके मनमें तत्त्वज्ञान (पद-पदार्थ-ज्ञान) की परिस्फूर्ति कर देता है, वैसे ही] हे गिरीश ! नूतन अलौकिक परमानन्दको अभिव्यक्त करता हुआ आपका यह अनिर्वचनीय महान् प्रभावशाली अनुपम स्तोत्र धन्य है, जिसके सुदुर्गम सङ्क्रम (तात्त्विक अर्थके अन्तःप्रवेश-) रूपी सोपान-क्रमद्वारा मेरी वाणी शीघ्र मेरे सम्मुख स्फुरित (उपस्थित) हो जाती है।

नास्य स्पृहास्ति सरसाय रसायनाय
नायन्त्रितेन्दुवदनावदनामृताय ।
निर्बन्धमेति तु भवत्सविधे विधेहि
निर्बन्धमन्धकरिपो तदिदं मनो मे ॥ ६ ॥

अन्वय—अन्धकरिपो ! अस्य स्पृहा सरसाय रसायनाय न अस्ति । [तथा] अयन्त्रितेन्दुवदनावदनामृताय न अस्ति । तु भवत्सविधे निर्बन्धम् एति । तत् इदम् मे मनः निर्बन्धम् विधेहि ।

अर्थ—प्रभो ! यह मेरा मन सरस (षड्रसयुक्त) रसायन (अमृत) का पान करना नहीं चाहता और न चन्द्रमुखीके अविच्छिन्न (गाढ़) अधरामृतका ही पान करना चाहता है। किन्तु केवल आपके चरणोंके निकट रहनेकी ही इसकी उत्कट लालसा है। इसलिए हे नाथ ! अब आप बेचारे इस मेरे मनको मायाके बन्धनोंसे विमुक्त कर दीजिये।

आभाति शक्रनगरी न गरीयसी मे
प्रीतिं च सिञ्चति न काञ्चन काञ्चनाद्रिः ।

---

* प्रसिद्ध है कि महाव्याधिकी निवृत्ति रसायनके सेवनसे होती है।

¶. 'संक्रमण दीक्षा' आगममें प्रसिद्ध है।

जाने परं हर शरण्यमरण्यमेव
यत्र त्वदङ्घ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात् ॥ ७ ॥

अन्वय—हर ! शक्रनगरी मे गरीयसी न आभाति, काञ्चनाद्रिः च काञ्चन प्रीतिम् न सिञ्चति। यत्र त्वदङ्घ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात्, तत् अरण्यम् एव [अहम्] परम् शरण्यम् जाने।

अर्थ—हे नाथ ! वह स्वर्गलोककी इन्द्रनगरी अमरावती मुझे बहुत बड़ी नहीं लगती और न उस काञ्चनमय सुमेरु पर्वतको देखकर ही कोई विशेष हर्ष होता है। बस, केवल जहाँ आपके चरण-कमलोंके पूजनका अखण्ड सुख प्राप्त हो, उस अरण्यको ही मैं अपना परमोत्तम शरण्य (आश्रय) समझता हूँ।

पुष्पेषुदोहदवशादवशा[1] भृशं या
बभ्राम वामनयनाभुजमञ्जरीषु।
सा साम्प्रतं दृगलिनी बलिनी[2] व्यनक्ति
त्वद्भक्तिकल्पलतिकाफलभोगतृष्णाम् ॥ ८ ॥

अन्वय—[प्रभो !] पुष्पेषुदोहदवशात् अवशा या [मम] दृगलिनी, [पुरा] वामनयनाभुजमञ्जरीषु भृशम् बभ्राम, सा साम्प्रतम् बलिनी [सती] त्वद्भक्तिकल्पलतिकाफल-भोगतृष्णाम् व्यनक्ति।

अर्थ—[प्रभो ! जैसे कोई भ्रमरी पुष्पोंकी अभिलाषासे परवश हो दिन-रात लताओंमें घूमा करती है और कभी सद्भाग्यवश अनुकूल समय आनेपर स्वर्गकी कल्पलताके फल चखनेके लिए लालायित हो उठती है, वैसे ही] कामवासनासे परवश होकर जो मेरी दृष्टिरूपी भ्रमरी पहले दिन-रात कामिनियोंकी भुजलताओंमें भटका करती थी, वही अब इस समय अत्यन्त बलवती (स्वतन्त्र) होकर आपकी भक्तिरूपी कल्पलताका परमानन्दरूप फल भोगनेके लिए अत्यन्त लालायित हो रही है।

[जैसे भगवान् सदाशिवके मुकुटमें विराजमान चन्द्रकला, मस्तकपर मन्दाकिनी और कर-कमलमें धारण किया सुधा-कलश जीवोंके ताप और पापको शान्तकर हृदयमें परम आनन्द प्रदान करते हैं, वैसे ही उनकी भक्ति (शिव-भक्ति) भी इस संसाररूप महामरुस्थलमें बार-बार भटकनेसे नितान्त क्लान्त जीवोंके समस्त ताप और पाप शान्तकर हृदयमें अखण्ड आनन्द प्रदान करती हुई उन्हें संसार (माया -) चक्रके बन्धनोंसे विमुक्त कर देती है। ऐसे-ऐसे अनेकानेक अनन्त चमत्कारोंसे भरी एवं कदाचित् प्रभुके ही महान् अनुग्रहसे किसी बड़भागी भक्तको प्राप्त होनेवाली शिव-भक्तिकी प्रशंसा करते हुए हमारे कविवर प्रभुसे कहते हैं—]

---

१. 'अवशम्' इति पाठान्तरम्। २. 'बलिनीम्' इत्यपि पाठः।

किं निर्मिता मुकुटचन्द्रकलां निपीड्य
किं वा शिरःशरणनिर्झरिणीजलेन ।
किं वा करस्थकलशामृतसंप्लवेन
भक्तिस्त्वया प्रणयिनां भवतापशान्त्यै ॥ ९ ॥

अन्वय—[अयि परमकारुणिक !] त्वया [इयम्] भक्तिः प्रणयिनाम् भवतापशान्त्यै किम् मुकुटचन्द्रकलाम् निपीड्य निर्मिता ? किं वा शिरःशरणनिर्झरिणीजलेन निर्मिता ? किं वा करस्थकलशामृतसम्प्लवेन निर्मिता ?

अर्थ—अयि कारुणिक-शिरोमणे ! [भला, आप यह तो बतलाइये कि] क्या आपने अपने शरणागतोंके सांसारिक पाप-तापोंकी निवृत्तिके लिए अपने मुकुट-की चन्द्रकलाको निचोड़कर उसके सारातिसार अमृतमय तत्त्वसे अपनी इस भक्तिका निर्माण किया ? किंवा, अपने मस्तकपर बैठी पतित-पावनी देवगङ्गाकी सुशीतल जलधारासे इसका निर्माण किया ? अथवा करकमलस्थ कलशके अमृत-से इसका निर्माण किया ? [क्योंकि यदि यह इन वस्तुओंसे न बनी होती, तो फिर जीवोंके पाप-तापोंको मिटाकर हृदयमें परम आनन्द कैसे प्रदान करती ?]

स्वामिन्विचित्रचरितस्य तवापदान-
गीतामृतेषु दृढरूढरतिर्ममेयम् ।
दूरीकृतान्यसरणिर्हरिणीव वाणी
सत्यं पदात्पदमपि क्षमते न गन्तुम् ॥ १० ॥

अन्वय—स्वामिन् ! विचित्रचरितस्य तव अपदानगीतामृतेषु दृढरूढरतिः इयम् मम वाणी दूरीकृतान्यसरणिः [सती] हरिणी इव सत्यम् पदात् पदम् अपि गन्तुम् न क्षमते ।

अर्थ—हे नाथ ! [त्रिपुरासुर-दाह, अन्धकासुर-वध, राजा श्वेतको अभयदान और बालक उपमन्युको क्षीर-सागरका दान आदि अनेकानेक महाविचित्र चरित्रवाले आप परमेश्वरके चरितामृतके गानमें अत्यन्त दृढ़ अनुरागवाली यह मेरी वाणी अन्य सांसारिक कृत्योंको तिलाञ्जलि देकर केवल आपके ही चरितामृत-के गायनमें मग्न हो व्याधके कर्णमनोहर वेणुनिनादके श्रवणमें मग्न हिरणीके समान अब एक पद भी इधर-उधर जानेके लिए समर्थ नहीं हो सकती ।

आश्वासनं यमभयाकुलतामृतानां
सञ्जीवनं भवदवव्यथया मृतानाम् ।
आलम्बनं सुकविराजगिरामृतानां
सङ्कीर्तनं जयति ते चरितामृतानाम् ॥ ११ ॥

अन्वय—[प्रभो !] यमभयाकुलताम् ऋतानाम् आश्वासनम् भवदवव्यथया मृतानाम् सञ्जीवनम् ऋतानाम् सुकविराजगिराम् आलम्बनम् ते चरितामृतानाम् सङ्कीर्तनम् जयति ।

अर्थ—नाथ ! यमराजके भयसे व्याकुलोंको आश्वासन देनेवाले, संसार-

रूप दावानलकी व्यथासे मृतप्राय लोगोंको सञ्जीवित करनेवाले और महाकवियोंकी सत्य वाणियोंके आलम्बनभूत आपके 'चरितामृत' की सदा जय हो ।

दानं तरङ्गतरलः किल दुग्धसिन्धु-
र्मुक्तिः करालतरकालभयात्प्रसादः ।
त्यागोऽपि सप्त दिवसानि सुवर्णवृष्टिः
किं किं न चारुचरितं भवतः प्रशस्यम् ॥ १२ ॥

अन्वय--किल तरङ्गतरलः दुग्धसिन्धुः दानम्, करालतरकालभयात् मुक्तिः प्रसादः, सप्त दिवसानि सुवर्णवृष्टिः त्यागः अपि, [एवम् हे प्रभो !] भवतः किम् किम् चारुचरितम् न प्रशस्यम् ?

अर्थ—बालक उपमन्युको चञ्चल तरङ्गोंवाला स्वच्छ दुग्धसिन्धु दे डालना—यह दान, राजा श्वेतको महाविकराल कालके भयसे मुक्त कर देना—यह प्रसाद और राजा मरुत्तकी नगरीमें सात दिनोंपर्यन्त सुवर्णकी अविच्छिन्न वृष्टि करना—यह त्याग* इस प्रकार भगवन् ! निश्चय ही आपका कौन-कौन-सा मनोहर चरित्र प्रशंसनीय नहीं है ? अर्थात् आपके सभी चरित्र लोकोत्तर और एकसे एक बढ़कर प्रशंसनीय हैं ।

स्वामिन् रजःपरिचितं चपलस्वभावं
जात्या मलीमसमिदं हृदयं मदीयम् ।
त्वत्पादपद्मविषये कृतपक्षपातं
धत्ते प्रमोदभरनिर्भरभृङ्गलक्ष्मीम् ॥ १३ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! रजःपरिचितम् चपलस्वभावम् जात्या मलीमसम् इदम् मदीयम् हृदयम् त्वत्पादपद्मविषये कृतपक्षपातम् [सत्] प्रमोदभरनिर्भरभृङ्गलक्ष्मीम् धत्ते ।

अर्थ—अयि नाथ ! रज (पाप अथवा रजोगुण) से परिपूर्ण, अतिचञ्चल-स्वभाव और जन्मसे ही मलिन यह मेरा मन आपके पादपद्ममें अनुराग करता हुआ, गाढ़ आनन्दके प्रवाहमें मग्न अतिनिश्चल भ्रमरके समान सुशोभित होता है¶ ।

त्वां वामदेवमपि दक्षिणमाश्रितेषु
सर्वत्र शङ्कर वसन्तमपि स्मरारिम् ।
अत्यन्तकोपशमहेतुमनन्तकोप-
शान्त्येककारणमचिन्त्यगतिं श्रयामि ॥ १४ ॥

अन्वय—शङ्कर ! [अहम्] वामदेवम् अपि आश्रितेषु दक्षिणम्, सर्वत्र वसन्तम् अपि स्मरारिम्, अन्तकोपशमहेतुम् अपि अनन्तकोपशान्त्येककारणम् त्वाम् अचिन्त्यगतिम् श्रयामि ।

---

* 'दान' और 'त्याग' में पार्थक्य यह है—पात्रापात्रके विवेकसे जो वितरण होता है, वह 'दान' और तद्विवेकसे रहित जो वितरण होता है, वह 'त्याग' कहलाता है ।

¶ भृङ्ग भी रज (पराग) से परिपूर्ण, अतिचपल स्वभाव, जन्मसे ही मलिन और कमलसे अनुराग करता हुआ गाढ़ आनन्दके उद्रेकसे निश्चल हो जाता है ।

अर्थ—अयि कैवल्यके दाता प्रभो ! वामदेव (लोकाचार अथवा संसारसे विपरीत आचरणोंवाले) होकर भी शरणागतोंपर दक्षिण (अत्यन्त अनुकूल), सर्वत्र वसन्त (जगत्में निवास करनेवाले) होकर भी कामदेवके शत्रु और अन्तक (काल) का उपशम (नाश) करनेवाले होकर भी अनन्त कोपको शान्त (नाश) करनेवाले आप अतिअद्भुत लीला-शक्तिवाले सर्वस्वतन्त्र परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ‡ ।

क्वापि प्रसीदसि दिशन्विशदं प्रकाशं
क्वापि प्रयच्छसि घनावरणोपरोधम् ।
कुर्मः किमत्र महनीयमहामहिम्नो
नास्त्येव नाम नियतिर्नभसः प्रभोश्च* ॥ १५ ॥

अन्वय—[हे ईश !] क्वापि विशदम् प्रकाशम् दिशन् प्रसीदसि [पुनः] क्वापि घनावरणोपरोधम् प्रयच्छसि । [तस्मात् वयम्] अत्र किं कुर्मः ? नाम, महनीयमहामहिम्नः प्रभोः नभसः च नियतिः एव न अस्ति ।

अर्थ—हे ईश ! कहीं (किसीके अन्तःकरणमें) तो आप अत्यन्त सुनिर्मल प्रकाश (तत्त्वज्ञान) का वितरण करते हुए अनुग्रह करते हो, अर्थात् अपने परम अन्तरङ्ग भक्तोंके हृदयमें सुनिर्मल तत्त्वज्ञान प्रकाशित कर उनपर अनुग्रह करते हो, और कहीं [अभागियोंके हृदयको] अतिशय घनान्धकार [महा-अज्ञान] से आच्छादित कर देते हो । प्रभो ! हम लोग इसके लिए क्या कर सकते हैं [आपके इस अन्यायके लिए हमारा क्या वश चल सकता है]? क्योंकि निश्चय ही महामहिमाशाली ईश्वर और आकाशका कोई नियमन नहीं कर सकता । [आकाश भी कहीं तो मेघोंको हटाकर सुनिर्मल प्रकाश कर देता है और कहीं चारों ओर सघन मेघोंसे समाच्छन्न [आच्छादित] कर अन्धकार देता है ।]

चित्तं नतापदुपतापहृतिप्रवृत्तिं
भीताभयार्पणपणप्रवणां च वाणीम् ।
लोकोपकारपरतन्त्रमिदं वपुश्च
कस्त्वत्परः परमकारुणिको बिभर्ति ॥ १६ ॥

अन्वय—[अयि विभो !] नतापदुपतापहृतिप्रवृत्तिम् चित्तम् भीताभयार्पणपणप्रवणाम् वाणीम् च लोकोपकारपरतन्त्रम् इदम् वपुः च त्वत्परः कः परमकारुणिकः बिभर्ति ?

---

‡ कविने यहाँ शब्द-श्लेषको विरोधाभाससे संपुटित कर विशेष चमत्कार किया है । वह कहता है कि जो वाम होकर दक्षिण, वसन्त (वसन्ति कामो यत्र इति वसन्तः = कामका आश्रय) होकर कामका शत्रु और अन्तक (काल) को शान्त करनेवाला होकर अनन्त कोप शान्त करता है, उस अचिन्त्य शक्तिवाले आपकी मैं शरण लेता हूँ । कैसा सुन्दर भाव है !

* अत्रार्चितं (?) द्वयोरिति 'प्रभोर्नभसश्चे'त्युच्यमाने नभसोऽपि श्रीशिवभट्टारकस्यैक-मूर्तित्वात् तदंशेऽपि पूर्वमुद्दिष्टे न दोषः ।

अर्थ—प्रभो ! विनीत भक्तवरोंकी समस्त आपत्तियों और सन्तापोंको हरनेमें प्रवृत्त चित्त, भयङ्कर कालकी टेढ़ी भ्रुकुटियोंके त्राससे भयभीत प्राणियोंको अभयदान देनेके प्रणमें तत्पर वाणी और प्राणियोंके उपकारमें पराधीन शरीर एक आपके सिवा दूसरा कौन परम कारुणिक धारण करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

चित्तं विषादमगमन्न परं प्रसाद-[1]
मौज्झद्विचारमुचितं न बहिः प्रचारम् ।
लेभे न कुत्र विवरं प्रवरं न बोध-
मेतत्त्वयैव भगवन्धृतविप्रयोगम् ॥ १७ ॥

अन्वय—भगवन् ! त्वया एव धृतविप्रयोगम्* [सत्] चित्तम् विषादम् अगमत् , परम् प्रसादम् न अगमत् । उचितम् विचारम् औज्झत् , बहिः प्रचारम् न औज्झत् । एतत् कुत्र विवरम् लेभे ? प्रवरम् बोधम् न लेभे ।

अर्थ—भगवन् ! आपसे ही वियुक्त होनेके कारण मेरा यह चित्त विषाद [खेद] को प्राप्त हुआ, परम प्रसन्नताको प्राप्त नहीं हुआ । [आपके ही वियोगसे इसने] अपना [कर्तव्याकर्तव्य-विवेक त्याग दिया, किन्तु आपके ध्यानमें विघ्न करनेवाले बाह्य विषयोंका सङ्ग नहीं त्यागा । [आपके वियोगसे] इसने कहाँ छिद्र नहीं पाया ? अर्थात् सर्वत्र भयको प्राप्त हुआ, किन्तु तत्त्वज्ञान नहीं पाया ।

अश्रान्तमान्तरमशान्तरजोविकारं
सारङ्गकेतुमुकुट स्फुटमन्धकारम् ।
युक्तं यदन्धयति यद्बधिरीकरोति
कोऽतिप्रसङ्ग इति तत्र न तर्कयामि ॥ १८ ॥

अन्वय— सारङ्गकेतुमुकुट ! अशान्तरजोविकारम् अश्रान्तम् स्फुटम् आन्तरम् अन्धकारम् यत् अन्धयति [तत्] युक्तम् । [किन्तु, तदेव] यत् [पुरुषम्] बधिरीकरोति, [सः] अतिप्रसङ्गः कः इति तत्र न तर्कयामि ।

अर्थ—अयि चन्द्रमुकुट ! जिसका रजोविकार (रजोगुणका विकार) न शान्त हुआ हो, ऐसे अविवेकी पुरुषको आन्तरिक अज्ञानरूप अन्धकार कार्याकार्य-विवेकसे शून्य कर अन्धा बना देता है, यह तो ठीक ही है [, क्योंकि रजोविकार (धूलि-विकार) से युक्त गाढ़ अन्धकार मनुष्यको अन्धा बना ही देता है]। किन्तु वही आन्तरिक

१. 'प्रकाशम्' इत्यपि पाठः ।

* 'विप्रयोग' शब्दका एक अर्थ होता है 'वियोग' तो दूसरा 'वि' और 'प्र' इन दो उपसर्गोंका योग । कविने श्लोकमें इन्हीं 'वि प्र' का कैसा चमत्कारपूर्ण योग बना दिया है, देखिये—'विषाद' में वि और 'प्रसाद में प्र, 'विचार' में वि और 'प्रचार' में प्र, 'विवर' में वि और 'प्रवर' में प्र । कविका भाव यह है कि भगवन् , चित्त आपसे वियुक्त हो जानेपर इन्हीं वि प्र उपसर्गोंवाले शब्दोंके अर्थ प्राप्ति-अप्राप्तिसे युक्त हो जाता है ।

अन्धकार पुरुषको जो अत्यन्त बधिर (श्रवण-शक्तिसे हीन, किसीकी भी बात न सुननेवाला] भी बना डालता है, यह क्या अतिप्रसक्ति है, इसमें मैं कोई तर्क नहीं कर सकता। अर्थात् बाहरका धूलिसम्मिश्रित अन्धकार तो पुरुषको केवल अन्धा ही बना सकता है, बधिर नहीं। किन्तु यह आन्तरिक अज्ञानरूप अन्धकार तो मनुष्यको अन्धा और बहरा भी बना देता है, यह महान् आश्चर्य है।

लीलाविलोलललनानयनान्तवास-
मासाद्य यः क्व न भनक्ति मनस्विनोऽपि।
सोऽयं निविश्य विमले हृदये मदीये
धिङ् मर्ममर्म न भिनत्ति कथं मनोभूः ॥ १९ ॥
स्वामिन्नसन्तमिव तत्र वसन्तमेव
स त्वामवैति किमिदं यदि वा किमन्यत्।
दग्धोऽपि यं पुनरवाप्य बिभर्ति गर्वं
सर्वङ्कषो विजयते स तव प्रसादः ॥ २० ॥ (युग्मम्)

अन्वय—स्वामिन्! यः लीलाविलोलललनानयनान्तवासम् आसाद्य मनस्विनः अपि क्व न भनक्ति? धिक् [अस्तु]! सः अयम् मनोभूः मदीये विमले हृदये [अपि] निविश्य मर्ममर्म कथम् न भिनत्ति? किन्तु सः तत्र वसन्तम् एव त्वाम् [यत्] असन्तम् एव अवैति, इदम् किम्? यदि वा किम् अन्यत्—दग्धः अपि सः यम् अवाप्य पुनः गर्वम् बिभर्ति, सः तव सर्वङ्कषः प्रसादः विजयते।

अर्थ—नाथ! कामदेव ललनाओंके लीला-विलाससे चञ्चल नयनकटाक्षरूप निवासस्थानको प्राप्त हो (कुटिल कटाक्षोंद्वारा) बड़े-बड़े मनस्वियोंको भी मनोभङ्ग कर कहाँ नहीं जीतता? खेदकी बात है! वही मनोज कामदेव आपकी भक्ति-द्वारा सुनिर्मल मेरे हृदयमें भी प्रविष्ट हो मेरे प्रत्येक मर्मका भेदन क्यों न करेगा? अर्थात् त्रैलोक्यविजयी होनेसे अवश्य ही करता है। किन्तु वह मेरे सुनिर्मल हृदयमें आपके सदैव निवास करते हुए भी जो आपको अविद्यमान-सा समझ लेता है, आपकी कुछ परवाह ही नहीं करता, यह क्या बात है? अथवा अधिक क्या! तथ्य यही है कि आपकी नयन-वह्नि (नेत्राग्नि) से दग्धप्राय हुआ भी वह काम जिसे पाकर (जिसके बलपर) अपनेको त्रैलोक्यविजयी समझ पुनः गर्व धारण करता है, यह सब आपके उसी सर्वंकष (सर्वत्र व्याप्त होनेवाले त्रैलोक्यविजयितारूप) अनुग्रहकी सर्वोत्कृष्ट महिमा है।

श्रीखण्डचन्दननिघृष्टकुरङ्गनाभि-
कर्पूरकुङ्कुमकरम्बशुभाङ्गरागम्।
उद्यन्नवीनकदलीदलसौकुमार्यं
बिभ्रत्यनङ्गनटमङ्गलरङ्गमङ्गम् ॥ २१ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] श्रीखण्डचन्दननिघृष्टकुरङ्गनाभिकर्पूरकुङ्कुमकरम्बशुभाङ्गरागम् उद्यन्नवीनकदलीदलसौकुमार्यम् अनङ्गनटमङ्गलरङ्गम् अङ्गम् बिभ्रती [हरिणेक्षणा अपि त्वत्परम् न हरति, इति पञ्चविंशतितमश्लोकेन सहान्वयः]।

अर्थ—नाथ ! सुमनोहर श्रीखण्डचन्दन-मिश्रित कस्तूरिका, कर्पूर और कुङ्कुम-रूप अंगरागसे लिप्त ; नूतन कदली-दलके समान अतिसुकुमार एवं नटराज कामदेवकी मङ्गलमयी रङ्गभूमिरूप (अतिसुकोमल) अङ्ग-यष्टिको धारण करनेवाली [मृगनयना रामा भी आपके भक्तको वश नहीं कर सकती]।

फुल्लारविन्दवदना विकसच्छिरीष-
मालाभुजाभिनवनीलसरोजनेत्रा ।
ब्रह्मास्त्रमप्रतिहतं विहिता हिताय
पुष्पायुधस्य कुसुमैरिव माधवेन ॥ २२ ॥

अन्वय—फुल्लारविन्दवदना विकसच्छिरीषमालाभुजा अभिनवनीलसरोजनेत्रा [अत एव] माधवेन कुसुमैः पुष्पायुधस्य हिताय अप्रतिहतम् ब्रह्मास्त्रम्* विहिता इव [स्थिता हरिणेक्षणा अपि त्वत्परम् न हरति]।

अर्थ—प्रफुल्ल कमलके समान मुखवाली, विकसित शिरीष पुष्पोंकी मालाके समान अतिमनोहर भुजाओंवाली, नूतन नील-कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली [अतएव] मानो ऋतुराज वसन्तने दिव्य कुसुमोंद्वारा अपने सखा कामदेवकी सहायताके लिए अमोघ ब्रह्मास्त्र-सी बनायी हुई [मृगनयना रामा भी आपके भक्तको वश नहीं कर सकती]।

नाथेति जीवितहरेति दयापरेति
सप्रेमकोपमतिकोमलमालपन्ती ।
गाढानुरागविवृताखिलगूढभाव-
मावर्जयन्त्यविषयैर्वचसां विलासैः ॥ २३ ॥

अन्वय—नाथ ! इति, जीवितहर ! इति दयापर ! इति सप्रेमकोपम् अतिकोमलम् आलपन्ती गाढानुरागविवृताखिलगूढभावम् [यथा स्यात् तथा] वचसाम् अविषयैः विलासैः [मनः] आवर्जयन्ती [हरिणेक्षणा अपि त्वत्परम् न हरति]।

अर्थ—'हे नाथ ! हे जीवितहर !! हे दयापर !!!' इस प्रकार सस्नेह कोपयुक्त और अति सुकोमल मधुर आलाप करती हुई, गाढ़ अनुरागद्वारा समस्त गुप्त अभिप्रायको प्रकट करती हुई, वाणीके अगोचर (अवर्णनीय) विलासोंसे मनको मोहित करती हुई [मृगनयना रामा भी आपके भक्तको वश नहीं कर सकती]।

किं वा परं कुपितनिघृणपञ्चबाण-
बाणौघभिन्नहृदया परिरभ्य गाढम् ।

* 'ब्रह्मास्त्रम्' इत्यस्य 'वेदाः प्रमाणम्, श्रुतयः प्रमाणम्' इतिवद् अजहल्लिङ्गता बोद्धव्या।

मुग्धाजनस्य सहजामवजित्य लज्जा-
मौत्सुक्यसान्द्रमधरामृतमर्पयन्ती ॥ २४ ॥

अन्वय—किम् वा परम् [ब्रूमः], कुपितनिर्घृणपञ्चबाणबाणौघभिन्नहृदया [सती] गाढम् परिरभ्य मुग्धाजनस्य सहजाम्, लज्जाम् अवजित्य, औत्सुक्यसान्द्रम् अधरामृतम् अर्पयन्ती [हरिणेक्षणा अपि त्वत्परम् न हरति]।

अर्थ—अधिक क्या कहें, [प्रिय और प्रियाके पारस्परिक सम्मिलनमें कुछ क्षण विलम्ब हो जानेके कारण] अत्यन्त कुपित और निर्दयी कामके बाणोंसे विद्ध-हृदया हो सुगाढ़ आलिङ्गनकर मुग्धाङ्गनाओंकी स्वाभाविक लज्जाको भी जीत (लज्जा त्यागकर) अपने प्राणवल्लभको अतिउत्कण्ठापूर्वक अधरामृतका पान कराती हुई [मृगनयना रामा भी आपके भक्तको वश नहीं कर सकती]।

आक्षिप्तसिन्धुमथनोत्थमहामृतौघ-
भावत्कभक्तिरसपारणनित्यतृप्तम्।
प्रत्याहृतेन्द्रियमवाप्तसमाधिसौख्यं
न त्वत्परं हरति सा हरिणेक्षणापि[1] ॥ २५ ॥

अन्वय—सा हरिणेक्षणा अपि आक्षिप्तसिन्धुमथनोत्थमहामृतौघभावत्क भक्तिरसपारण-नित्यतृप्तम् प्रत्याहृतेन्द्रियम् अवाप्तसमाधिसौख्यम् त्वत्परम् न हरति।

अर्थ—ऐसी वह मृगनयनी भी क्षीरार्णवके मन्थनसे निकले अमृत-पूरको तिरस्कृत करनेवाली आपकी भक्ति-सुधाके रस-पानसे नित्य-तृप्त और ['प्रत्याहार' नामक योगद्वारा] समस्त वैषयिक प्रपञ्चोंसे अपनी इन्द्रियोंको समेटे हुए (रोके हुए) समाधिजन्य परमानन्द सौख्यका अनुभव करनेवाले आपके भक्तवरको कदापि वशमें नहीं कर सकती। सारांश यह है कि संसारभरके एकसे एक उत्तम पदार्थ भी भगवद्-अनुरागी भक्तके चित्तको मोहित (लक्ष्यसे विचलित) नहीं कर सकते।

हेलावलन्मलयमारुतकम्पितानां
शीर्णैः फलैः स्वयमरण्यमहीरुहाणाम्।
वृत्तिर्हरस्मरणघूर्णितचेतसः क्व
दीनं मुखं क्व च पुरः कुमहीपतीनाम् ॥ २६ ॥

अन्वय—हरस्मरणघूर्णितचेतसः हेलावलन्मलयमारुतकम्पितानाम् अरण्यमहीरुहाणाम् स्वयम् शीर्णैः फलैः वृत्तिः क्व, कुमहीपतीनाम् पुरः दीनम् मुखम् च क्व ?

अर्थ—कहाँ तो [अहर्निश] भगवान् भवानीनाथके स्मरणसे अलौकिक रसास्वादमें झूमनेवाले संसार-विरक्त भक्तवरकी मन्द-मन्द मलय-मारुतसे कम्पित वनवृक्षोंके स्वयं गिरे हुए फलोंसे होनेवाली सुपवित्र जीवनयात्रा और कहाँ अति-कुत्सित क्षुद्र-नृपों (क्षुद्र धनिकों) के आगे [धनकणकी याचनासे] अतिदीन

१. 'हरिणायताक्षी' इत्यपि पाठः।

मलिन-मुख ! [अर्थात् धन्यात्मा सन्त पुरुष उस अखण्ड आनन्दकी प्राप्तिके लिए सांसारिक वैषयिक सुखासक्तिसे मुँह मोड़कर अहर्निश भगवच्चिन्तनमें ही तल्लीन रहते हैं, प्रारब्धवश बिना प्रयास स्वतः प्राप्त कन्दमूलादिसे ही अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह करते और सन्तोषमें निमग्न रहते हैं। किन्तु विवेकविहीन विषयासक्त लोग सांसारिक क्षुद्र सुखके लिए धन-मदान्ध लोगोंकी सेवामें परायण हो उनकी चाटुकारितामें अपने बहुमूल्य मनुष्य-जीवनको यों ही निरर्थक नष्ट कर देते हैं।]

नेत्रत्वमीश तव मूर्तिविलोकनेषु
वाक्त्वं भवच्चरितचर्वणविभ्रमेषु ।
त्वत्संकथाश्रवणकर्मणि कर्णभाव-
मिच्छन्ति गन्तुमपराणि[1] ममेन्द्रियाणि ॥ २७ ॥

अन्वय—ईश ! मम [नेत्रेन्द्रियात्] अपराणि इन्द्रियाणि तव मूर्तिविलोकनेषु नेत्रत्वम् गन्तुम् इच्छन्ति। [वागिन्द्रियात्] अपराणि इन्द्रियाणि भवच्चरितचर्वणविभ्रमेषु वाक्त्वम् गन्तुम् इच्छन्ति। [श्रवणेन्द्रियात्] अपराणि इन्द्रियाणि [च] त्वत्संकथाश्रवणकर्मणि कर्णभावम् गन्तुम् इच्छन्ति।

अर्थ—हे जगदीश ! मेरी नेत्रोंसे अन्य श्रोत्रादि इन्द्रियाँ आपकी मनोहारिणी मूर्तिका दर्शन करनेके लिए नेत्र बन जाना चाहती हैं, अर्थात् मेरी श्रोत्रादि इन्द्रियाँ चाहती हैं कि इन नेत्रोंकी तरह हम लोग भी आपका दर्शन करें। वाणीसे अन्य नेत्रादि इन्द्रियाँ आपके लोकोत्तर, कर्णमधुर अद्भुत चरित्रोंके वर्णनके लिए वाणी बन जाना चाहती हैं, अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियाँ चाहती हैं कि इस वाणीकी तरह हम भी अपने प्रभुका गुणानुवाद गाया करें और श्रोत्र इन्द्रियको छोड़ अन्य सभी इन्द्रियाँ आपकी कर्णमनोहर अद्भुत कथाओंको सुननेके लिए श्रोत्र बन जाना चाहती हैं, अर्थात् श्रोत्रोंकी तरह आपकी मङ्गलमयी कथाओंको सुननेके लिए उत्कण्ठित हो रही हैं।

यच्छत्रचामरसिता कृतिनां विभूतिः
स स्वल्प एव भगवन् भवतः प्रसादः ।
[2]त्वत्साम्यमेव तु सतामधिकस्ततोऽपि
यद्वल्कलं च वसनं विपिनं च वासः ॥ २८ ॥

अन्वय—भगवन् ! कृतिनाम् यत् छत्रचामरसिता विभूतिः [भवति], सः भवतः स्वल्पः एव प्रसादः। सताम् तु ततः अपि अधिकः प्रसादः त्वत्साम्यम् [भवति]। [भवच्चरणाम्बुजध्यानासक्तचेतसाम् पुनः] ततः अपि अधिकः प्रसादः [अयम्] यत् वल्कलम् वसनम् विपिनम् च वासः।

१. 'इतराणि' इत्यपि पाठः।
२. 'तत्साम्यम्' इत्यपि पाठः।

अर्थ—भगवन् ! पुण्यात्माओंको छत्र और चँवरोंसे उज्ज्वल जो दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वह तो आपका अतिस्वल्प ही अनुग्रह है, [क्योंकि] विद्वान् धन्यात्माओंको तो उससे भी बढ़कर आपका सायुज्यरूप प्रसाद प्राप्त होता है। फिर आपके चरणाम्बुजकी आराधनामें निरत-चित्त भक्तोंको तो उस सायुज्यसे भी बढ़कर यह वल्कल वस्त्र और विपिनमें निवासका अलौकिक प्रसाद प्राप्त होता है। अर्थात् आपके चरणाम्बुज-सेवापरायणोंको आपके सायुज्यसे भी बढ़कर परमानन्द निःस्पृह होकर एकान्त अरण्यमें रहनेमें प्राप्त होता है*।

त्वत्पादपङ्कजरजश्छुरितौ च पाणी
वाणी भवच्चरितचर्वणगर्विता च।
चित्तं भवद्गुणगणस्मरणव्रतं च
भूयो भवन्ति मम चेदहहास्मि धन्यः॥ २९॥

अन्वय—[हे विभो !] त्वत्पादपङ्कजरजश्छुरितौ च पाणी भवच्चरितचर्वणगर्विता च वाणी भवद्गुणगणस्मरणव्रतम् चित्तम् च भूयः‡ मम भवन्ति चेत् [तर्हि] अहह ! [अहम्] धन्यः अस्मि।

अर्थ—प्रभो ! यदि मेरे हाथ सदैव आपके पाद-पद्मोंकी रजो-राजिसे अनुलिम्पित रहें, मेरी वाणी सदैव बार-बार आपके चरितामृतके चर्वणसे गर्वित रहे और यदि मेरा चित्त सदैव आपके ही गुणगणोंके स्मरणरूप व्रतको धारण करनेवाला (अहर्निश आपके ही गुणगणोंको स्मरण करनेवाला) हो जाय, तब तो अहा ! मैं धन्य-धन्य हूँφ।

---

* इसी आशयका टीकाकार श्रीरत्नकण्ठका भी एक सुन्दर पद्य है—

'वीक्ष्ये न यत्र नयनत्रितयाभिरामं राकेन्दुतर्जि मुखमीश्वर तावकीनम्।
दासस्य नाथ कृपया भवता वितीर्णं सायुज्यमीदृगपि वेद्मि विडम्बनं मे॥'

‡ अतिशयेन बहु इति भूयः, नितरामित्यर्थः। क्रियाविशेषणमेतत्।

φ इसी आशयसे टीकाकार राजानक श्रीरत्नकण्ठने भी कहा है—

'शङ्करपूजननिरतौ पाणी शर्वस्य तीर्थगौ पादौ।
शम्भुकथाश्रवणपरौ कर्णौ नित्यं च भूयास्ताम्॥'

अर्थात् मेरे हाथ नित्य भगवान् शङ्करके पूजनमें निरत हों, मेरे चरण नित्य भगवान् शिवके तीर्थ-क्षेत्रोंकी यात्रामें तत्पर हों और श्रोत्र सदैव भगवान् शम्भुके मङ्गलमय सुपवित्र चरित्रोंके श्रवणमें अनुरक्त हों।

'हरमूर्तिदर्शनपरं चक्षुर्भवपादवासनाघ्रायि।
घ्राणं रसनं च मम श्रीकण्ठगुणाभिधायकं भूयात्॥'

मेरे नेत्र सदैव प्रभुकी मङ्गलमयी मूर्तिके दर्शनमें तत्पर हों, नासिका नित्य भगवान्‌के चरण-पङ्कजके सौगन्ध्यका आघ्राण करे और रसना बार-बार भगवान् श्रीकण्ठ (नीलकण्ठ) के ही गुणगणोंको गाया करे। और—

भिक्षाशनोऽपि भगवंस्त्वमकिञ्चनोऽपि
जीर्णश्मशाननिलयोऽपि दिगम्बरोऽपि ।
किं वापरं वरद घस्मर भस्मरूक्ष-
गात्रोऽपि सन्मम विभुः प्रतिजन्म भूयाः ॥ ३० ॥

अन्वय—भगवन् ! भिक्षाशनः अपि अकिञ्चनः अपि जीर्णश्मशाननिलयः अपि दिगम्बरः अपि, किम् वा अपरम् [ब्रूमः] वरद ! घस्मर ! भस्मरूक्षगात्रः अपि सन् [त्वम् एव] प्रतिजन्म मम विभुः भूयाः ।

हे—भगवान् ! भिक्षान्नभोजी होकर भी, परम अकिञ्चन या निरे दरिद्र होकर भी, जीर्ण-शीर्ण श्मशानके निवासी होकर भी, दिगम्बर होकर भी, अथवा अधिक क्या कहूँ, हे वरद ! हे घस्मर !* भस्मसे रूक्ष-शरीर होकर भी आप ही जन्म-जन्म मेरे स्वामी बनें‡ ।

'नीलकण्ठगलस्पर्शवशान्माद्यतु मम सन्ततं च त्वक् ।
शिवचिन्तनकारि परं चित्तं नित्यं च भूयान्मे ॥'

त्वचा सदैव भगवान् नीलकण्ठके कण्ठस्पर्शसे अर्थात् सदाशिवके श्यामल कण्ठका आलिंगनकर परमानन्दमें प्रमत्त हो और चित्त निरन्तर भगवान् शिवके ही चिन्तनमें तल्लीन रहे ।

'किमपरमधुना वक्ष्ये यत्कर्म कृतं करोमि कर्तास्मि ।
शुभमशुभं वा कृपया तस्यैव शिवार्चनं भूयात् ॥'

अधिक क्या कहूँ, प्रभो आपकी प्रेरणासे मन, वचन और शरीरद्वारा मैं जो शुभ अथवा अशुभ कर्म कर चुका हूँ, जो कर रहा हूँ और जो भविष्यमें करूँगा, आपकी कृपासे मेरे उन सभी कर्मोंसे ही आपका अर्चन (शिवार्चन) हो जाय ।

* घस्मर = प्रलयकालमें समस्त चराचरको भक्षण करनेवाले ।

‡ इसी तरह भगवान् सदाशिवके प्रेममें विभोर टीकाकार श्रीरत्नकण्ठने भी अपनी अनन्य प्रीतिका यह वर्णन किया है—

'लक्ष्मीकान्तमुरस्थकौस्तुभमणिं भ्राजिष्णुपक्षावली
राजन्तं गरुडे सुरालयकृतावासं भजन्तेऽपरे ।
मच्चेतस्तु दिगम्बरे स्मरहरे स्फारास्थिमालाधरे
पादाब्जश्रितशाक्वरे पितृवनागारे निलीनं सदा ॥'

अर्थात् कोई भक्त वक्षःस्थलमें कौस्तुभसे विराजमान, सुमनोहर पंखोंसे सुशोभित पक्षिराज गरुड़पर बैठे वैकुण्ठधाम-निवासी भगवान् लक्ष्मीकान्त श्रीविष्णुकी आराधना करते हैं । किन्तु मेरा चित्त तो उस श्मशानवासी, स्मरहर, विशाल अस्थिमालाधारी, वृषभवाहन, दिगम्बर (नंगे बाबा) भोलानाथके ही चरणोंमें सदाके लिए विलीन हो गया है ।

यद्यपि हरि, हर, राम, कृष्ण आदि सभी स्वरूप एक पूर्ण परब्रह्मके ही हैं, अतः तत्त्वैक-पक्षपाती भावुकोंको इनमें परस्पर किञ्चिन्मात्र भी 'उत्कर्षापकर्ष-विचार' (भेददृष्टि) नहीं

याचे न किञ्चिदपरं वसतिर्गिरीन्द्रे
कैलासनाम्नि [1]भवदध्युषिते ममास्तु ।
किं वा न तत्र भगवन् मम ये सखाय-
स्तेऽन्येऽपि सन्ति गवयाः कपयः कुरङ्गाः ॥ ३१ ॥

अन्वय—भगवन् ! [अहम् त्वाम् कारुणिकम्] अपरम् किञ्चित् न याचे, [किन्तु एतत् एव यत्] भवदध्युषिते कैलासनाम्नि गिरीन्द्रे मम वसतिः अस्तु । ये मम सखायः ते किं वा [ततः] अन्ये अपि गवयाः कपयः कुरङ्गाः किम् तत्र न सन्ति ?

अर्थ—भगवन् ! मैं आप करुणासागरसे और कुछ भी नहीं माँगता । [बस केवल इतना ही माँगता हूँ कि] आपसे अधिष्ठित पर्वतराज कैलासमें मेरा निवास हो । क्या मेरे बान्धव [आपके अन्तरङ्ग भक्तगण] वहाँ निवास नहीं करते ? अथवा उनसे भी अन्य क्षुद्र जीव गवय (बनगाय), कपि (बन्दर) और कुरङ्ग (मृग) भी वहाँ निवास नहीं करते ? अर्थात् देवसभाधिष्ठित सुरभूमिसे भी अधिक आनन्द कैलाशमें इनके साथ रहनेमें है ।

वाचाममी न विषये विषयेषु येषु
तृष्णान्वभावि विषमा विषमाकिरन्ती ।
तन्मां भजोज्ज्वलविलोलविलोचनान्त-
विन्यासभासुर[2]सुधारसुधारसेन ॥ ३२ ॥

अन्वय—[मया] येषु विषयेषु विषम् आकिरन्ती विषमा तृष्णा अन्वभावि, अमी वाचाम् विषये न [सन्ति] । तत् [हे प्रभो ! त्वम्] उज्ज्वलविलोलविलोचनान्तविन्यास-भासुरसुधारसुधारसेन माम् भज ।

अर्थ—मैंने जिन विषयोंमें विष उगलती भयङ्कर तृष्णाका अनुभव किया, वे पाँच इन्द्रियों द्वारा अनुभूत शब्दादि पाँच विषय वाणीके अगोचर हैं, अर्थात् इन विषय-भोगोंका अतिदुःखद परिणाम हमसे वर्णन नहीं हो सकता । इसलिए हे दयासागर ! [इस पूर्वोक्त तृष्णा-विषसे दग्ध हुए मुझ अनाथको आप] उज्ज्वल

होता ; तथापि जन्मजन्मान्तरीय संस्कारवश अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उपासनाकी दृढ़ताके लिए भगवान्के किसी एक स्वरूपमें भावुकोंका विशेष अनुराग होता ही है । किसी-ने कहा भी है :—

'श्रीनाथे जानकीनाथे विभेदो नास्ति कश्चन ।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः ॥'

अर्थात् यद्यपि श्रीनाथ (भगवान् विष्णु) और जानकीनाथ (राम) में भेद किञ्चिन्मात्र भी नहीं है, तथापि मेरे तो सर्वस्व श्रीराम ही हैं ।

१. 'भवताध्युषिते' इति पाठान्तरम् ।

२. 'भास्वर' इत्यपि पाठः ।

और चञ्चल कटाक्षपातरूपी सुमनोहर, सुशीतल सुधारसकी अविच्छिन्न धारासे सिञ्चित कीजिये।

नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं
नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य
भूत्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः॥ ३३॥

अन्वय—[हे भगवन्!] त्वयि भक्तियोगम् विना तव अनुग्रहः न [भवति], तव अनुग्रहम् विना त्वयि भक्तियोगः [च] न [भवति]। अनयोः बीजप्ररोहवत् असौ परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः कस्य भूत्यै न [भवति]?

अर्थ—भगवन्! आपमें भक्तियोग हुए बिना (आपकी भक्तिके बिना) आपका अनुग्रह नहीं होता और आपके अनुग्रहके बिना आपमें भक्तियोग नहीं होता। प्रभो! आपके अनुग्रह और भक्तियोगका यह बीजांकुरके समान* परस्पर कार्यकारणभाव किसका कल्याण नहीं करता? अर्थात् सभीका कल्याण करता है।

शान्तं मनो यदि यमैर्नियमैः किमन्यै-
र्वाणी यदि प्रियहिता स्तुतिचाटुभिः किम्।
कारुण्यमस्ति यदि किं व्रतहोमदानै-
र्भक्तिर्भवे यदि किमन्यसुखाभिलाषैः॥ ३४॥

अन्वय—यदि मनः शान्तम्, [तर्हि] अन्यैः यमैः नियमैः किम्? यदि वाणी प्रियहिता, [तर्हि] स्तुतिचाटुभिः किम्? यदि कारुण्यम् अस्ति, [तर्हि] व्रतहोमदानैः किम्? यदि भवे भक्तिः [अस्ति, तर्हि] अन्यसुखाभिलाषैः किम्?

अर्थ—यदि मन शान्त (परहिंसा, परद्रव्यापहरण आदि दोषोंसे निवृत्त) है, तो फिर अन्य अहिंसादि यमों और शौचाचारादि नियमोंकी क्या आवश्यकता है? यदि वाणी सबके लिए प्रिय और हितकारिणी हो, तो फिर स्तुतिरूप चाटु-वचनोंसे क्या प्रयोजन है? यदि समस्त जीवोंपर दयाभाव बना रहे, तो फिर कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रत, होम और दानसे क्या लाभ है? और यदि भगवान् भवानीनाथके चरणोंमें भक्ति है, तो फिर अन्य सांसारिक क्षुद्र सुखोंकी अभिलाषाओंकी क्या आवश्यकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। सारांश यह है कि विवेकी पुरुषोंको वैषयिक क्षुद्र सुखोंकी अभिलाषा न रखकर एकमात्र भगवद्भक्तिमें ही परायण रहना चाहिए।

भुक्तं विकल्पकवलैः सुरलोकसौख्य-
मालोकिता विविधशास्त्रदृशैव मुक्तिः।

---

* अर्थात् जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीजकी उत्पत्ति हुआ करती है, यानी ये परस्पर एक दूसरेके कार्य-कारण हैं, वैसे ही आपके प्रसादानुग्रहसे आपकी भक्ति और आपकी भक्तिसे आपका प्रसादानुग्रह होता है।

पीता सुधा श्रवणशुक्तिपुटैः समक्ष-
मास्वादिता पुनरियं शिवभक्तिरेव ॥ ३५ ॥

अन्वय—विकल्पकवलैः विविधशास्त्रदृशा भुक्तम् सुरलोकसौख्यम् एव मुक्तिः आलोकिता। पुनः [अस्माभिः तु विविधशास्त्रदृशा] श्रवणशुक्तिपुटैः पीता समक्षम् सुधा इयम् शिवभक्तिः एव मुक्तिः आस्वादिता।

अर्थ—विकल्प अर्थात् कुतर्कनाएँ ही जिनके ग्रास हैं, ऐसे कुछ कुतर्की मन्द-बुद्धियोंने नाना शास्त्रोंका अध्ययनकर स्वर्गलोकके सौख्यको (अप्सराओंके साथ रमण, अमृत-पान और नन्दन-वन-विहार आदि सुखभोगको) ही मुक्ति समझ रखा है। किन्तु हम तो विविध शास्त्राध्ययन-जन्य विवेक-दृष्टिसे श्रोत्र-पुटोंद्वारा पान की गयी साक्षात् सुधारूप इस शिवभक्तिका ही मुक्तिरूपमें प्रत्यक्ष समास्वादन करते हैं।

दीर्घाण्यघान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि
हानिर्बलस्य शरदीव नदीजलस्य ।
दुःखान्यसत्परिभवा इव दुःसहानि
हा निःसहोऽस्मि कुरु निःशरणेऽनुकम्पाम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—[हे प्रभो ! मम] अघानि अधिशुचि अहानि इव दीर्घाणि भवन्ति। शरदि नदीजलस्य इव [प्रतिदिनम्] बलस्य हानिः [भवति]। दुःखानि असत्परिभवाः इव दुःसहानि [भवन्ति]। हा ! निःसहः अस्मि, [तत् मयि] निःशरणे अनुकम्पाम् कुरु।

अर्थ—प्रभो ! मेरे पाप ग्रीष्म-कालके दिनोंकी तरह अहर्निश बढ़ते जा रहे हैं। मेरा शारीरिक-बल प्रतिदिन शरत्कालके नदी-जलके समान क्षीण होता जा रहा है और मेरे दुःख दुर्जनोंद्वारा किये गये तिरस्कारोंके समान असह्य हो गये हैं। हाय, अब मैं इन कष्टोंको नहीं सहन कर सकता ! इसलिए हे नाथ ! मुझ शरणहीन, अनाथ-पर अब शीघ्र अनुकम्पा कीजिये।

निर्भर्त्सितो विपदि बन्धुरिवाभिमानी
मा नीरसं स्पृशतु नाम मनो विवेकः ।
विद्यां निदाघ इव घर्मरुचिर्हिमानी-
मानीय नाशमुपतापयते तु मोहः ॥ ३७ ॥

अन्वय—विपदि निर्भर्त्सितः अभिमानी बन्धुः इव विवेकः नीरसम् चित्तम् मा स्पृशतु नाम। मोहः तु घर्मरुचिः निदाघे हिमानीम् इव विद्याम् नाशम् आनीय मनः उपतापयते।

अर्थ—जैसे विपत्ति-कालमें अपमानित मनस्वी बान्धव उन नीरस [अपना तिरस्कार करनेवाले] बन्धुओंका सहवास नहीं चाहता, वैसे ही विवेक मेरे इस नीरस मनका भले ही स्पर्श न करे। किन्तु जैसे सूर्य ग्रीष्मऋतुमें हिमस्थलीका नाश-

कर लोगोंको संताप देता है, वैसे ही मेरा यह मोह तत्त्वज्ञानरूप विद्याका नाश कर चित्तको संतप्त कर रहा है।

तस्मादुपैति न तनुस्तरसावसायं
सायन्तनी प्रतिपदिन्दुकलेव यावत्।
तावत्कृपां कुरु हतोऽस्म्यहमंहसायं
सा यन्त्रिता मयि तवास्तनयेन येन ॥ ३८ ॥

अन्वय—तस्मात् [हे ईश ! इयम् मम] तनुः सायन्तनी प्रतिपदिन्दुकला इव यावत् तरसा अवसायम् न उपैति, [यावत् च] अस्तनयेन येन तव सा मयि यन्त्रिता, तेन अंहसा अयम् अहम् हतः न अस्मि, तावत् कृपाम् कुरु।

अर्थ—इसलिए हे ईश ! यह मेरा अतिकृश शरीर प्रतिपद्की सायङ्कालीन चन्द्रकलाके समान जबतक शीघ्र क्षीण नहीं हो जाता और नीतिका परित्याग करनेवाले जिस पापने आपकी कृपाको मेरे विषयमें रोक रखा (व्यर्थ कर रखा) है, वह पाप जबतक मेरा सर्वनाश न कर डाले, उसके पहले ही आप शीघ्र कृपाकर मेरा उद्धार कर लीजिये।

अभ्येति मृत्युभटसंहतिरस्तकम्पा
कम्पामहे मनसि यां विनिवेशयन्तः।
एका गतिर्गिरिश तत्र तवानुकम्पा
कम्पात्रतां नयति या न शुभोदयानाम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—गिरिश ! याम् मनसि विनिवेशयन्तः [वयम्] कम्पामहे, [सा] अस्तकम्पा मृत्युभटसंहतिः अभ्येति। [हे विभो !] तत्र एका [सा] तव अनुकम्पा [एव मम] गतिः, या कम् शुभोदयानाम् पात्रताम् न नयति ?

अर्थ—हे गिरीश प्रभो ! जिसे मनमें स्मरण करते ही हम अत्यन्त कम्पित हो जाते हैं, वह निर्भय भयङ्कर यमदूतोंकी श्रेणी हमारे निकट आ रही है। भगवन् ! इस दशामें अब केवल एक वह आपकी कृपा ही मेरी शरण है, जो किस भक्तजनको मङ्गल और उन्नतिका पात्र नहीं बनाती ? अर्थात् जो सभी भक्तोंका मंगल और उन्नति करती है।

यन्निःस्पृहोऽप्यजनयस्तनयं कुमारं
मारं विधाय शलभं नयनानलस्य।
तत्ते परार्थमिति विश्रुतमाकुमारं
मा रंहसा जहिहि देहि तदेहि वाचम् ॥ ४० ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] यत् निःस्पृहः अपि मारम् नयनानलस्य शलभम् विधाय कुमारम् अजनयः, तत् ते [चरित्रम्] परार्थम् इति आकुमारम् विश्रुतम्। तत् रंहसा एहि, मा जहिहि, वाचम् देहि।

अर्थ—[हे भगवन्! आपकी दयालुताका क्या वर्णन करें !] स्वयं निःस्पृह होकर भी जो आपने मार (कामदेव) को अपनी नेत्राग्निका पतङ्ग बनाकर (भस्म कर)कुमार (स्वामी कार्तिकेय) को जन्म दिया। आपका वह चरित्र केवल परोपकार (तारकासुरके भयसे देवताओंकी रक्षा करने) के लिए ही था, यह बात आकुमार (वृद्धोंसे लेकर बालकपर्यन्त) सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसलिए हे विभो ! अब आप बहुत शीघ्र आइये, मेरा परित्याग न कीजिये, मुझे अपना अभय-वचन (मत डरो, मत डरो !) सुनाकर शीघ्र आश्वासन दीजिये।

सर्वस्वमेव मम दत्तमहाप्रहारा
हारामलं हर हरन्त्यरयो विवेकम्।
रक्षाकारी तव कृपात्र कृतावहारा
हा राजशेखरमणेः पुरतो हतोऽहम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—हर ! दत्तमहाप्रहाराः [आन्तराः] अरयः मम सर्वस्वम् एव हारामलम् विवेकम् हरन्ति। अत्र रक्षाकरी तव कृपा कृतावहारा [भवति]। हा ! राजशेखरमणेः [अपि] पुरतः अहम् हतः।

अर्थ—सब सङ्कटोंको हरनेवाले प्रभो ! महान् प्रहार करनेवाले (काम-क्रोधादि छः) आन्तरिक शत्रु मेरे सर्वस्व, मुक्ताहारके समान स्वच्छ विवेकरूपी धनको हरते जा रहे हैं। भगवन् ! सब प्रकार रक्षा करनेवाली आपकी कृपा भी मुझे कुछ सहायता नहीं देती। हाय ! मैं राजशेखरमणि (राजराजेश्वर सार्वभौम सम्राट् या चन्द्रचूडामणि आप) के प्रत्यक्ष समक्ष बुरी तरह मारा जा रहा हूँ।

देवालये वसतिमर्थयते कपोतः
सिन्धौ वणिग्भजति वृत्तिमशङ्कपोतः।
पृष्ठे श्रियं वहति नित्यमनेकपोत-
स्त्वद्भक्तिमेमि सरसीमिव भेकपोतः ॥ ४२ ॥

अन्वय—[हे नाथ !] कपोतः देवालये वसतिम् अर्थयते। वणिक् सिन्धौ अशङ्कपोतः [सन्] वृत्तिम् भजति। अनेकपः नित्यम् पृष्ठे श्रियम् वहति। अतः भेकपोतः सरसीम् इव [अहम्] त्वद्भक्तिम् एमि।

हे नाथ ! कपोत (कबूतर) निरुपद्रव देवालय में निवास करना चाहता है। जहाजी व्यापारी निःशङ्क-पोत (निर्बाध जहाजवाला) होकर समुद्रमें जीविका चलाता है। अनेकप यानी हाथी (ऐरावत) नित्य अपनी पीठपर महालक्ष्मी को ढोया करता है। अतः जैसे भेक-पोत (मेढ़कका बच्चा) निर्मल सरोवरका आश्रय लेता है, वैसे ही मैं भी आपकी भक्तिकी शरण लेता हूँ। सारांश, बेचारा कपोत जबतक किसीके घर रहता है, तबतक उसे अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं और जीविका भी अच्छी तरह नहीं चलती। किन्तु जब वह किसी देवालयकी शरण ले लेता है, तो वहाँ उसे विशेष कष्ट नहीं होने पाता और धार्मिक लोगोंके प्रबन्धसे जीविका भी

अनायास ही चलती है। जहाजी व्यापारी समुद्रकी शरण लेता है, तो वहाँ उसका योग-क्षेम निर्बाध चलता है। हाथी अपनी पीठपर लक्ष्मीको ढोया करता है, तो सदा आनन्दित रहता है। मेढ़कका बच्चा कीचड़से भरे अल्प जलाशयमें पड़ा रहता है, तो वहाँ उसे अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और वहाँसे जब किसी निर्मल सरोवरमें चला जाता है, तो बड़े आनन्दमें रहता है। प्रभो ! मैं भी इसी तरह बहुदुःखमय संसारमें रहता हुआ अनेक सन्तापोंसे सन्तप्त हो गया हूँ, अतः अब आपकी भक्तिकी शरण लेता हूँ। [कितना सुन्दर, स्वाभाविक अनुप्रास, प्रसाद और माधुर्य इसमें भरा है। कपोत, अशङ्कपोत, अनेकपोत और भेकपोतमें 'कपोत' का अनुप्रास बैठानेपर भी अर्थबोधमें तनिक भी क्लिष्टता नहीं है।]

लब्धा धृतिर्दिवि कदाचन वासवेन
सैन्येन सा परिवृतेन न वासवेन।
नो वा बलेन भुवि पीतनवासवेन
त्वां भेजुषो भवति याभिनवा सवेन ॥ ४३ ॥

अन्वय—[हे विभो !] सवेन त्वाम् भेजुषः या अभिनवा धृतिः [भवति], सा वासवेन* सैन्येन परिवृतेन वासवेन कदाचन दिवि न लब्धा, पीतनवासवेन बलेन वा भुवि न [लब्धा]।

अर्थ—हे विभो ! यज्ञ, पूजन आदि द्वारा आपकी सेवा करनेवाले भक्तको जो नूतन अलौकिक धैर्य प्राप्त होता है, वह स्वर्गमें वासव-सेना (अष्ट वसुओंकी महती सेना) से युक्त वासव (इन्द्र) को भी कभी नहीं प्राप्त हो सकता। अथवा भूलोकमें नवासव (नवीन मद्य) का पान करनेवाली महासेनाके बलपर किसी सम्राट्को वह धैर्य कभी नहीं मिल सकता¶।

या दुर्लभा दिवि महर्षभयान कस्य
कालस्य या निधनधाम भयानकस्य।
वाचा तया कृतनतेरभयानकस्य
तुल्यश्रियार्पयसि शं शुभया न कस्य ॥ ४४ ॥

अन्वय—महर्षभयान ! या दिवि कस्य [अपि] दुर्लभा, या भयानकस्य कालस्य निधनधाम, कृतनतेः अभयानकस्य तुल्यश्रिया तया शुभया वाचा [त्वम्] कस्य शम् न अर्पयसि ?

अर्थ—हे महावृषभवाहन ! जो वाणी स्वर्गमें ब्रह्माको भी दुर्लभ है, जो वाणी महाभयानक कालकी भी काल (मृत्युस्थान) है, हे प्रभो ! प्रणाम करनेवाले भक्त-

* वसूनामष्टानां देवयोनीनामिदं वासवं तेन।

¶यहाँ 'पीतनवासवेन' अर्थात् जिसने नवीन मद्यका पान किया है, उन 'बलेन' यानी बलरामजीने भूलोकमें वह धैर्य नहीं पाया—ऐसा भी अर्थ हो सकता है। बलरामकी वीरता और मद्यपान प्रसिद्ध ही है। इस अर्थमें 'सम्राट्' पदका अध्याहार नहीं करना पड़ता।

जनके लिए अभय-आनक (अभय-घोषणा करनेवाले नगाड़े) के समान उस अत्यन्त मधुर और कल्याणकारिणी वाणीसे आप किस-किस शरणागतका कल्याण नहीं करते ? अर्थात् सभीका करते हैं ।

यं वीक्षसे क्षतमहाकलिकाल सन्तं
क्लिष्टं कृतीकृतबृहत्कलिकाल सन्तम् ।
इन्दोरिवामृतमयी कलिका लसन्तं
बालावलोकयति सोत्कलिकालसं तम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—क्षतमहाकलिकाल ! कृतीकृतबृहत्कलिकाल ! क्लिष्टम् सन्तम् यम् सन्तम् [त्वम्] वीक्षसे, लसन्तम् अलसम् तम् इन्दोः अमृतमयी कलिका इव [मनोहरा] बाला सोत्कलिका [स्नेहार्द्रया दृशा] अवलोकयति ।

अर्थ—महान् कलहकारी कालका नाश करनेवाले, [भक्तजनोंके लिए] भयानक कलिकालको भी सत्ययुगके समान बना देनेवाले हे शङ्कर ! दुःखोंसे खिन्न होते हुए जिस सज्जनको आप एकबार भी अपनी प्रसन्न दृष्टिसे देख लेते हो, तो फिर आपके प्रसादसे हर्ष-क्रीड़ा करते हुए और लक्ष्मीके मदसे आलसी बने उस भक्तको चन्द्रमाकी अमृतमयी कलाके समान मनोहर बालाङ्गनाएँ (दिव्यरमणियाँ) अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक प्रेमार्द्र दृष्टिसे देखा करती हैं ।

मुक्तावलीव रहिता शिव नायकेन
मुक्ता भवद्‌गणसभेव विनायकेन ।
वाणी त्वया परिहृताखिलनायकेन
संभाव्यते हृदयसंवननाय केन ॥ ४६ ॥

अन्वय—शिव ! नायकेन रहिता मुक्तावली इव, विनायकेन मुक्ता भवद्‌गणसभा इव अखिलनायकेन त्वया परिहृता वाणी हृदयसंवननाय केन संभाव्यते ?

अर्थ—अयि कल्याणदायिन् ! नायक (बीचके मणि) से रहित मुक्तहारके समान और विनायक (गणपति) से रहित आपके गणोंकी सभाके समान अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक आपसे परित्यक्त (विमुख) वाणी किसीके भी चित्तको कैसे वश कर सकती है ? अर्थात् जो वाणी आपकी स्तुति नहीं करती, वह किसीके हृदयमें कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकती ।

यस्योचितः प्रथितमान समाधिनान्त-
स्तेनार्तिमुद्वहति मानसमाधिनान्तः ।
शुद्धां मतिं स्पृशति पांसुलभावलेप-
स्तत्राप्युपैषि न कृपां सुलभावलेपः ॥ ४७ ॥

अन्वय—प्रथितमान ! यस्य समाधिना अन्तः उचितः, तेन आधिना अन्तः मानसम्

आर्तिम् उद्वहति । पांसुलभावलेपः शुद्धाम् मतिम् स्पृशति, तत्रापि मुलभावलेपः [त्वम्] कृपाम् न उपैषि ।

अर्थ—हे प्रख्यात-मानवाले ! जिसका समाधिसे ही नाश होता है, उस आधि (मानसिक व्यथा) द्वारा मेरा मन अन्दर ही अन्दर दुःख पाता है । मलिन वासनाओंका लेप मेरी शुद्ध सात्त्विक बुद्धिको ढाँक रहा है । फिर भी प्रभो ! आप अभिमानमें गर्वित हो मुझ दीनपर दया नहीं करते !

कामं भवेऽत्र बहवः सुभगस्वभावा
भावा भवन्तु मम तु द्वितयं स्पृहायै ।
शब्दार्थ[1]पाकरुचिरा कविराजगीर्वा
गीर्वाणसिन्धुधरभक्तिरभङ्गुरा वा ॥ ४८ ॥

अन्वय—अत्र भवे सुभगस्वभावाः बहवः भावाः कामम् भवन्तु । [किन्तु] मम स्पृहायै तु शब्दार्थपाकरुचिरा कविराजगीः वा अभङ्गुरा गीर्वाणसिन्धुधरभक्तिः वा [एतत्] द्वितयम् [एव] ।

अर्थ—इस संसारमें भले ही चन्द्रमुखी, चन्द्रिका, चन्दन-वन आदि अनेक सुमनोहर पदार्थ भरे पड़े हों ! परन्तु मुझे एक तो केवल शब्द और अर्थकी प्रौढ़िसे रमणीय कविराजकी वाणी और दूसरी गंगाधर शङ्करकी अविनाशी भक्ति, ये दो ही पदार्थ मनोहर लगते हैं ।

ज्योत्स्नाछटाभिरिव देव चकोरकस्य
भास्वत्प्रभाभिरिव पङ्कजकोरकस्य ।
दैवीभिरद्भिरिव बर्हिकिशोरकस्य
प्रीतिर्न ते नुतिकथाभिरघोर कस्य ॥ ४९ ॥

अन्वय—देव ! अघोर ! चकोरकस्य ज्योत्स्नाछटाभिः इव, पङ्कजकोरकस्य भास्वत्प्रभाभिः इव, दैवीभिः अद्भिः बर्हिकिशोरकस्य इव ते नुतिकथाभिः कस्य प्रीतिः न [भवति] ?

अर्थ—अयि ब्रह्मादि देवोंके साथ क्रीड़ा करनेवाले हे महादेव ! जैसे चकोर पक्षीको चन्द्रमाकी छटासे स्वभावतः अतिप्रीति होती है, जैसे कमल-कलिकाको सूर्यकी प्रभासे स्वभावतः प्रीति होती है एवं जैसे मयूर-बालकको नवीन मेघोंके जलसे स्वाभाविकी प्रीति होती है, वैसे ही आपकी स्तुति और कथाओंसे किस पुरुषको प्रीति (प्रसन्नता) नहीं होगी ?*

वृत्तं क्व ते सकलवाङ्मनसातिवृत्तं
चेतः स्खलद्गति भवावरणात्क चेतः ।

---

१. 'मात्र' इत्यपि पाठः ।

* यहाँ मालोपमा नामक अलङ्कार है ।

विभासवन्तमिति मामनुदत्पवित्रा
भक्तिः स्तुतिस्तव कृतेयमतः सुभक्तिः ॥ ५० ॥

अन्वय—सकलवाङ्मनसातिवृत्तम् ते वृत्तम् क्व, इतः भवावरणात् स्खलद्गति [मम] चेतः च क्व ? इति वित्रासवन्तम् माम् तव पवित्रा भक्तिः अनुदत् । अतः [मया] इयम् [तव] सुभक्तिः स्तुतिः कृता ।

अर्थ—हे विभो ! कहाँ तो समस्त वाणी और मनका अविषय वह आपका अद्भुत चरित्र और कहाँ इस संसारमें अज्ञानरूप आवरणसे कुण्ठित-गति यह मेरा चित्त ! इस कारण अत्यन्त त्रस्त (भयभीत) मुझे आपकी पवित्र भक्तिने ही प्रेरित किया । इसीलिए मैंने यह आपकी सुमनोहर स्तुति की ।

वन्दामहे च विविधं विवदामहे च
लज्जामहे च कलुषाणि भजामहे च ।
ईहामहे च कुवचांसि सहामहे च
दह्यामहे च दुरितैर्जठरस्य हेतोः ॥ ५१ ॥

अन्वय—[वयम्] जठरस्य हेतोः च [कुनृपतीन्] वन्दामहे, च [वादिभिः सह] विविधम् विवदामहे । [क्वापि] च लज्जामहे, कलुषाणि च भजामहे, [विविधम्] च ईहामहे । [खलानाम्] कुवचांसि सहामहे, च दुरितैः [अन्तः] दह्यामहे ।

अर्थ—[हाय !] हम लोग केवल इस क्षुद्र उदरकी पूर्तिके लिए ही मदान्ध राजाओंकी स्तुति किया करते हैं, वादियोंके साथ व्यर्थ ही नाना प्रकारका वाद-विवाद किया करते हैं । कहीं लज्जित होते हैं, अत्यन्त मलिन वस्तु अथवा पापोंका सेवन करते हैं । अनेक तरहकी शुभाशुभ चेष्टाएँ करते हैं, खलोंके कुवचनोंको भी सहते हैं और अनेक कुकर्मोंद्वारा उपार्जित पापोंसे अन्दर ही अन्दर जला करते हैं ।

लब्धं चिरेण सुकृतैरचिरस्थिरं च
मानुष्यकं पुनरिदं सुलभं न चेति ।
जानीम एव च न च स्वहितं विधातु-
मीहामहे वयमहो बत यद्भविष्याः ॥ ५२ ॥

अन्वय – चिरेण सुकृतैः लब्धम् अचिरस्थिरम् च इदम् मानुष्यकम् पुनः सुलभम् न, इति वयम् जानीम एव । [तथापि] स्वहितम् विधातुम् न ईहामहे । अहो ! बत, [वयम्] यद्भविष्याः [भवामः] ।

अर्थ—बहुत दिनोंपर अनेक जन्मोंमें उपार्जित पुण्योंसे प्राप्त यह क्षणभंगुर मनुष्य-शरीर फिर बार-बार नहीं मिल सकता, यह हम अच्छी तरह जानते हैं । फिर भी [इस शरीरद्वारा] हम लोग अपना हित साधने (घोर संसार-सागरसे पार होने) का प्रयत्न नहीं करते । हाय ! कितना आश्चर्य है कि हम लोग 'जैसा हमारे

भाग्यमें होगा' ऐसा सोचकर दैवाधीन हो जाते हैं ! [अपने उद्धारका प्रयत्न ही नहीं करते]।

तस्मादवश्यमवशानविशङ्कमेव
　　भोगोपभोगरसिकानसमाप्तकृत्यान् ।
यावन्न धीवर इवैत्य तिमीनकस्मा-
　　न्मृत्युः क्षणादशरणान् हरते हठेन ॥ ५३ ॥
तावत्प्रसीद कुरु नः करुणाममन्द-
　　माक्रन्दमिन्दुधर मर्षय मा विहासीः ।
ब्रूहि त्वमेव भगवन् करुणार्णवेन
　　त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः ॥ ५४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—तस्मात् अवशान् भोगोपभोगरसिकान् असमाप्तकृत्यान् अशरणान् [अस्मान्] अवश्यम् अविशङ्कम् अकस्मात् एव एत्य, धीवरः तिमीन् इव, यावत् मृत्युः हठेन क्षणात् न हरते, तावत् इन्दुधर ! प्रसीद; नः करुणाम् कुरु; अमन्दम् आक्रन्दम् मर्षय; [माम्] मा विहासीः । भगवन् ! त्वम् एव ब्रूहि, करुणार्णवेन त्वया त्यक्ताः [वयम्] अपरम् कम् शरणम् व्रजामः ?

अर्थ—इसलिए जैसे मछुआ बलात् मछलियोंको पकड़ लेता है, वैसे ही अत्यन्त परतन्त्र, सांसारिक भोगोंको भोगनेमें रसिक और संसार-समुद्रसे पार होनेके लिए कोई भी कृत्य न करनेवाले, शरणहीन हम लोगोंको यह मृत्यु (काल) निश्चय ही जबतक निःशङ्क हो अकस्मात् आकर बलात्कारसे क्षणभरमें अपने अधीन न कर डाले, तबतक हे दयासागर चन्द्रशेखर ! हमपर प्रसन्न हो जाइये और कृपा कीजिये । मेरे इस महान् विलापको अवश्य सुनिये । प्रभो ! मुझे न त्यागिये । भगवन् ! भला, आप ही बतलाइये कि हम लोग आप कृपासागरसे परित्यक्त हो और किसकी शरणमें जायँ ? [क्या आपसे बढ़कर भी कोई ऐसा करुणासागर है, जो हमें इस भवसागरसे पार करा दे, यह भाव है]।

जातस्य मृत्युरिति चेत्स न लङ्घितः किं
　　श्वेतेन शीतकरशेखर नन्दिना च ।
ताभ्यामसौ यदि जितो विपुलैस्तपोभि-
　　रस्माकमल्पतपसां त्वनिवार्य एव ॥ ५५ ॥
तर्ह्यर्चनान्तसमये तव पादपीठ-
　　मालिङ्ग्य निर्भरमभङ्गुरभक्तिभाजः ।
निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य
　　प्राणाः प्रयान्तु मम नाथ तव प्रसादात् ॥ ५६ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—शीतकरशेखर ! जातस्य [अवश्यम् एव] मृत्युः इति चेत् , तर्हि श्वेतेन नन्दिना च सः किम् न लङ्घितः ? यदि ताभ्याम् असौ विपुलैः तपोभिः जितः, अल्पतपसाम् अस्माकम् तु अनिवार्य एव [इति] चेत्, तर्हि नाथ ! तव प्रसादात् अर्चनान्तसमये अभङ्गुरभक्तिभाजः तव पादपीठम् निर्भरम् आलिङ्ग्य निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य मम प्राणाः प्रयान्तु ।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! यदि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इस नियमके अनुसार उत्पन्न हुए जीवकी मृत्यु अवश्यंभावी है, तो आपके सेवक राजा श्वेत और वाहन नन्दी [मार्कण्डेय आदि] ने क्या उसे नहीं जीता ? हाँ, यदि इन लोगोंने उसे अत्यन्त कठिन तपस्याओंद्वारा जीता, किन्तु हम तो अत्यन्त अल्प तपस्यावाले हैं, अतः हमारे लिए वह अनिवार्य है; तो हे नाथ ! मेरेलिए आप केवल इतना ही अनुग्रह कर दीजिये कि जिस समय अत्यन्त गाढ़ भक्तिसे युक्त होकर मैं आपका पूजन कर लूँ, उस समय आपके पादपीठ (चरण-कमल रखनेकी चौकी) का दृढ़ आलिङ्गन कर [अतिगाढ़ प्रेममें मग्न होनेसे] निद्राके समान मेरे नेत्र मुँदे हों, उसी समय मेरे प्राण निकल निकल जायँ ।

[मनके लय हुए बिना ही यदि प्राण निकलें तो सम्भव है कि शरीर छूट जानेपर भी मन शेष रहनेसे वासनाओंका उदय होनेपर पुनः शरीर धारण करना पड़े । अतः बार-बारके इस जन्म-मरणके चक्रसे बचनेके लिए कविने यहाँ बड़ी चतुरतासे प्रभुसे मुक्ति माँगी है । इसी अभिप्रायसे उसने कहा—'निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य मम प्राणाः प्रयान्तु' अर्थात् निद्रित पुरुषके समान जब नेत्र मुँद जायँ, तभी मेरे प्राण निकलें, क्योंकि निद्रा (सुषुप्ति-अवस्था) में देह और मन दोनों लय हो जाते हैं । वैसे ही अत्यन्त गाढ़ प्रेममें तन्मय होनेपर जब देह और मनका अभिमान नष्ट हो जाता है, तब यदि प्राण छूटेंगे तो मुक्ति अवश्य ही होगी !]

एते न किं निबिडबन्धभृतो भुजङ्गाः
किं वा न वक्रिमविलासविकासभाजः ।
किन्तु क्रमादपचिताः पदगुम्फहीनाः
सूक्तामृतानुकरणे कथमुत्सहन्ते ॥ ५७ ॥

तस्माद्भयङ्करमदः फणिकर्णपूर-
हेवाकदुर्ललितमस्तनयं विहाय ।
स्वामिन्निमाः श्रवणयोः प्रणयोपचार-
गर्भा गिरश्चतुरमाभरणीकुरुष्व ॥ ५८ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—[हे शिव !] एते भुजङ्गा किम् निबिडबन्धभृतः, किंवा वक्रिमविलासविकासभाजः न ? किन्तु क्रमात् अपचिताः पदगुम्फहीनाः [सन्ति । अतः] मम सूक्तामृतानुकरणे

कथम् उत्सहन्ते ?* तस्मात् स्वामिन् ! अस्तनयम् अदः भयङ्करम् फणिकर्णपूरहेवाकदुर्ललितम् विहाय प्रणयोपचारगर्भाः इमाः गिरः चतुरम् आभरणीकुरुष्व ।

अर्थ—हे सदाशिव ! आपको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले ये वासुकि आदि भुजङ्ग यद्यपि दृढ़-बन्धन (दृढ़-ग्रन्थि) धारण करते हैं और कुटिल विलासकी सुन्दरतासे भी सम्पन्न हैं, फिर भी चरण न होनेके कारण ये क्रम (पदन्यास) और पदगुम्फ (पाद-रचना) से हीन हैं । इसलिए ये मेरे सूक्तामृतों (सुन्दर वचनामृतों) का अनुकरण करनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं ? अर्थात् ये मेरे इन स्तुतियोंकी तुलना नहीं कर सकते ? [क्योंकि मेरी सूक्ति-सुधा तो दृढ़ रचनाको धारण करनेवाली और वक्रिम-विलास अर्थात् वक्रोक्तिके सौन्दर्यसे सम्पन्न होकर भी [अर्थ-] क्रम और पद-गुम्फ (पदोंकी रचना) से रहित नहीं है, किन्तु अर्थक्रम और यथोचित पदोंकी रचनासे युक्त ही है । अतएव आपके भुजङ्गोंकी अपेक्षा मेरे इन वचनामृतोंमें अधिक गुण हैं ।] इसलिए हे स्वामिन् ! आप इन भयङ्कर भुजङ्गरूपी कर्ण-कुण्डलोंको धारण करनेका दुर्व्यसन छोड़ प्रणय और पूजनसे गर्भित मेरी इन स्तुतियोंको शीघ्र अपना कर्णभूषण बना लीजिये अर्थात् प्रेमसे सुन लीजिये ।

स्वामिन्नबान्धवतया बत या तवेयं
वाणी मया निजगदे जगदेकबन्धोः ।
तामन्तकान्तकर शङ्कर शंसतो मे
कर्णे कुरुष्व करुणां करुणाम्बुराशे ॥ ५९ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! अबान्धवतया मया जगदेकबन्धोः तव [अग्रे] इयम् या वाणी निजगदे, अन्तकान्तकर ! करुणाम्बुराशे ! शङ्कर ! बत शंसतः मे ताम् करुणाम् कर्णे कुरुष्व ।

अर्थ—हे स्वामिन् ! [भयभीतको आश्वासन देनेवाले] बान्धवोंके न होने के कारण मैंने समस्त संसारके एकमात्र बान्धव आपके आगे ये जो वचन कहे हैं (प्रार्थना की है), हे यमके यम मृत्युञ्जय ! हे करुणासागर !! हे शङ्कर !!! आपकी स्तुति करनेवाले मुझ अशरण भक्तकी इस दीन वाणीको अपने कानोंमें धारण कर लीजिये अर्थात् अवश्य सुनिये ।

पश्यन्तमन्धमभिमानिनमस्तमानं
विस्तीर्णकर्णमपि या बधिरं करोति ।
सार्तिं न नर्तयति किं कुनृणामिव श्रीः
तस्मात्क्षमस्व भगवन्नतिलङ्घनानि ॥ ६० ॥

अन्वय—या पश्यन्तम् अन्धम् करोति, अभिमानिनम् अस्तमानम् करोति, विस्तीर्णकर्णम्

* मम सूक्तामृतं तु निविडबन्धभृत् वक्रिमविलासविकासभाक् च अस्ति । तथा क्रमात् अपचितं पदगुम्फहीनं च न । किन्तु क्रमसहितं यथोचितपदबन्धयुतम् । अतः भुजङ्गेभ्यो मदीयसूक्तामृतस्य वैशिष्ट्यमित्यर्थः ।

अपि बधिरम् करोति, सा आर्तिः [दीनम् जनम्] कुनृणाम् श्रीः इव किम् न नर्तयति ? तस्मात् भगवन् ! अतिलङ्घनानि क्षमस्व ।

अर्थ--जो विपत्ति भलीभाँति देखनेवालोंको भी अन्धा बना देती है, स्वाभिमानी (महामनस्वी) को भी स्वाभिमानशून्य बना देती है और अधिक सुननेवालेको भी बधिर कर देती है, क्या वह दीनजनोंको दुर्जनोंकी सम्पत्तिके समान नाच नहीं नचाती ? अर्थात् जैसे अविनीत जनोंकी सम्पत्ति अच्छे नेत्रवालोंको अन्धा, स्वाभिमानीको मानहीन, कानोंसे अच्छी प्रकार सुननेवालोंको भी बधिर बना देती है, वैसे ही यह आर्ति (दुःख-व्यथा) भी हम भव-भय-पीड़ित अनाथोंको क्या-क्या नाच नहीं नचाती ? इसलिए हे भगवन् ! मेरे इन अयुक्त, असम्बद्ध-प्रलापरूप अपराधों (अनादरों) को क्षमा कीजिये । [सारांश, दुःखपीड़ित प्राणी व्यथाके आवेशमें अपने माता, पिता, गुरुजनों, बान्धवों और ईश्वरतक को भला-बुरा कह डालता है । इसीलिए कवि अपने प्रभुसे कहते हैं कि भवभयपीड़ित होनेके कारण असह्य व्यथाके आवेशमें आकर आपसे जो कुछ अयुक्त भी कह रहा हूँ, दयासागर ! उसे क्षमा करें ।]

[अब यहाँसे भक्तजनोंके संरक्षणार्थ कालका संहार करनेके लिए तत्काल प्रकट होनेवाले भगवान् भूतभावनकी लोकोत्तर दयालुता और आशुतोषताको स्मरणकर निर्भीक हो यमराज को उपालम्भ (उलाहना) देनेके लिए 'कालोपालम्भ' नामक 'कुलक' आरम्भ करते हैं—]

उच्छृङ्खलं खलमलङ्घ्यबलं ज्वलन्त-
मन्तः कृतान्तमविकल्पमनल्पदर्पम् ।
आशङ्क्य शङ्करचरित्रपवित्रचित्र-
सूक्तिष्वपि स्थिररुषं प्रति बोधयामः ॥ ६१ ॥

अन्वय—[वयम्] कृतान्तम् शङ्करचरित्रपवित्रचित्रसूक्तिषु अपि स्थिररुषम्, आशङ्क्य [तम्] उच्छृङ्खलम् खलम् अलङ्घ्यबलम् अन्तः ज्वलन्तम् अविकल्पम् अनल्पदर्पम् प्रति बोधयामः ।

अर्थ—भगवान् शङ्करके अद्भुत चरित्रके वर्णनसे अतीव पवित्र और सुमनोहर सूक्तियोंपर भी दीर्घ रोष रखनेवाला समझकर हम उस उच्छृङ्खल, खल, तीनों लोकोंमें जिसके बलका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता ऐसे, क्रोधरूपी अग्निसे अन्दर ही अन्दर जलते हुए, [भले-बुरे सभीके प्रति एक-सा नियम रखनेके कारण] विवेकरहित और महादर्पसे भरे अत्यन्त क्रोधी यमराजको सावधान कर रहे हैं ।

प्रत्यग्रकर्कशमशल्कमुदर्कपथ्यं
तथ्यं सतोषमपदोषमरोषपोषम् ।
सन्धित्सवस्तव कृतान्त हितं मितं च
यद्ब्रूमहे तदवधारय सावधानः ॥ ६२ ॥

अन्वय—कृतान्त ! [त्वया सह] सन्धित्सवः [वयम्] प्रत्यग्रककर्शम् उदर्कपथ्यम् अशल्कम् तथ्यम् सतोषम् अपदोषम् अरोषपोषम् तव हितम् मितम् च यद् ब्रूमहे, तत् सावधानः [सन्] अवधारय ।

अर्थ—हे काल ! हम तुम्हारे साथ मैत्री करना चाहते हैं, अतः तुम्हारे हितके लिए आरम्भमें कटु, भविष्यमें हितकारक, निष्पाप, सत्य, हर्षदायक, निर्दोष, क्रोधभावसे रहित, अत्यन्त प्रिय और परिमित (कहनेमें थोड़ा और अर्थमें गम्भीर) जो कुछ कहते हैं, उसे तुम अत्यन्त सावधान (एकाग्र) होकर सुनो ।

अन्यत्र दर्शय निरङ्कुश हुङ्कृतानि
कीनाश नाशय दुराशय माभिमानम् ।
नाथीकृतेन्दुमुकुटानपि नाम मन्ये
निर्भर्त्सयिष्यसि हतैव तवेयमाशा ॥ ६३ ॥

अन्वय— निरङ्कुश ! कीनाश ! दुराशय ! हुङ्कृतानि अन्यत्र दर्शय, अभिमानम् मा नाशय, नाम [त्वम् किम्] मन्ये [अहम्] नाथीकृतेन्दुमुकुटान् अपि निर्भर्त्सयिष्यसि ? इयम् तव आशा हता एव ।

अर्थ—हे निरङ्कुश ! हे कुत्सित विचारवाले यमराज ! तुम अपनी इन हुङ्कारोंको किसी अन्य पुरुषको दिखलाओ और अपना अभिमान मत खोओ। अरे ओ क्षुद्र ! क्या तुम यह सोचते हो कि मैं शङ्करके किङ्करोंको भी अपना भय दिखलाऊँगा ? यदि हाँ, तब तो तुम्हारी यह आशा अत्यन्त ही निन्दित हैं ।

[इस श्लोकमें 'मन्ये' और 'निर्भर्त्सयिष्यसि' ये दोनों पद अत्यन्त उपहासमें पुरुष-व्यत्यय (मध्यम पुरुषकी जगह उत्तम पुरुष और उत्तम पुरुषकी जगह मध्यम पुरुष, इस प्रकारके विपरीत क्रम) हुआ है, इसके व्यञ्जक है* ।

किसी भावुक भक्तने अपने चित्तके उपहासमें इसी तरह पुरुष-व्यत्यय किया है—

'रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे ! चेतः प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।
किं 'मन्ये' 'विहरिष्यसे' बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ ॥'

अर्थात् अरे ओ चञ्चल-नेत्रोंके साथ स्नेहाभिलाष करनेवाले चित्त ! तुम अपने गम्भीर विचार (विवेक) को छोड़कर मृग-नयनी (कामिनी) को देख नाचते क्या हो ? क्या सोचते हो कि इसके साथ विहार करूँगा ? भले मानुस ! इस अत्यन्त कुत्सित दुराशाको छोड़, क्योंकि यह मनुष्यको इस भवसागरमें डुबोनेके लिए गलेमें बँधी बड़ी भारी शिला है यानी एकदम अधःपात कर देनेवाली है । यहाँ चञ्चल

* अत्यन्त उपहासमें 'मन' धातुकी क्रियाके मध्यम पुरुषमें उत्तम पुरुषका एकवचन हो जाता है । महर्षि पाणिनिका सूत्र है—''प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ।''

नेत्रोंके साथ चित्तकी मित्रताके कारण नेत्र और चित्त दोनोंकी ही निन्दा है और 'मन्यसे' 'विहरिष्यामि' इन दोनों पदोंमें मध्यम और उत्तम पुरुषकी जगह उत्तम और मध्यम पुरुषका व्यत्यय हुआ है ।

टीकाकार कविवर राजानक रत्नकण्ठ भी कालराजको उलाहना देते हुए कहते हैं—

'नित्यं दुर्ललितोऽसि दीनदमने त्वं चेत्तथापि ध्रुवं
रे रे काल कराल मुञ्च विमते व्यर्थां दुराशामिमाम् ।
किं 'मन्ये'* 'प्रहरिष्यसे' जनमिवानाथं बतैनं हठात्
ख्यातं शङ्करकिङ्करं त्रिभुवने प्रेमैकपात्रं विभोः ॥'

अर्थात् रे विकराल काल ! यद्यपि दीन जनोंका दमन करना तुम्हारा नित्यका व्यवसाय ही हो गया है । फिर भी अरे मतिहीन ! यह व्यर्थ दुराशा छोड़ दे । क्या यह सोचता है कि मैं इसे भी अनाथकी तरह जबरदस्ती पकड़ लूँगा ? रे मन्द ! मैं तो समस्त ब्रह्माण्डोंके अधिपति और तुम जैसोंका शासन करनेवाले, कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथा कर्तुम् समर्थ महेश्वरका 'प्रेममात्र' और तीनों लोकोंमें विख्यात 'शङ्कर-किङ्कर' हूँ !]

येनेश्वरेण महता विहितागसस्ते
कृत्वापि शासनमकारि पुनः प्रसादः ।
तत्सेवका वयमतस्तव विद्विषोऽपि
यद्ब्रूमहे हितमदो मनुषे रुषेति ॥ ६४ ॥

अन्वय—[रे काल !] विहितागसः ते शासनम् कृत्वा अपि येन महता ईश्वरेण पुनः [त्वयि] प्रसादः अकारि, वयम् तत्सेवकाः । अतः तव विद्विषः अपि यत् हितम् ब्रूमहे, अदः त्वम् रुषा इति मनुषे ?

अर्थ—अरे काल ! जिस परम कृपालु महेश्वरने राजा श्वेत और मार्कण्डेय आदि भक्तवरोंपर प्रहार करनेवाले तुझ महान् अपराधीको दण्ड देकर भी पुनः जीवन-दान दे महान् अनुग्रह किया, हम उसी दयालु ईश्वरके सेवक हैं । इसलिए तुम्हारे शत्रु होकर भी तुम्हारे हितके लिए जो बात कहते हैं, क्या उसे 'ये द्वेषवश यह कह रहे हैं' ऐसा समझते हो ?

रे दुर्विनीत खल काल पुरा पुरारे-
र्यामाप्तवानसि निजा[1] विनयप्रशास्तिम् ।
श्रुत्वैव तां धृतिमतामपि कम्पमेति
चेतः कथं पुनरुपक्रमसे तदेव ॥ ६५ ॥

* यहाँ भी 'मन्यसे' और 'प्रहरिष्यामि' इस मध्यम और उत्तम पुरुषकी जगह 'मन्ये' और 'प्रहरिष्यसे' यह पुरुष-व्यत्यय हुआ है ।

१. 'निजाविनयस्य शास्तिम्' इत्यपि पाठः ।

अन्वय—रे दुर्विनीत खल काल ! पुरा पुरारेः [सकाशात्] याम् निजाविनयप्रशास्तिम् आप्तवान् असि, ताम् श्रुत्वा एव धृतिमताम् अपि चेतः कम्पम् एति । पुनः तदेव कथम् उपक्रमसे ?

अर्थ—अरे अतिउद्धत दुर्जन काल ! तुम भगवान् मृत्युञ्जयके हाथों अपनी उद्दण्डता (उनके भक्तोंको डराने) का जो फल पा चुके, उसकी कहानी सुनकर ही बड़े-बड़े धैर्यशाली वीरोंका चित्त एकदम काँप उठता है । अरे मति-मन्द ! फिर वही काम क्यों करते हो ?

पाणौ पिधेहि पवनाशनपाशमाशु
नास्तीह ते पुरुषपाश रुषोऽवकाशः ।
निःसङ्करेषु शरणीकृतशङ्करेषु
रे काल कातरभयङ्कर किं करोषि ॥ ६६ ॥

अन्वय—पुरुषपाश ! पवनाशनपाशम् आशु पाणौ पिधेहि । इह ते रुषः अवकाशः न अस्ति । रे कातरभयङ्कर काल ! निःसङ्करेषु शरणीकृतशङ्करेषु किम् करोषि ?

अर्थ—हे कुत्सित पुरुष ! तुम अपना नागपाश [समेटकर] शीघ्र मुट्ठीमें छिपा लो, क्योंकि यहाँ (हमारे विषयमें) तुम्हारे क्रोधको अवकाश ही नहीं है । अरे कातरों (दुर्बलों) को डरा देनेवाले काल ! तुम हम निःसङ्कर (पाप सम्पर्कोंसे रहित) भगवान् शङ्करके शरणागतोंपर क्या बल दिखा सकते हो ? अर्थात् कुछ भी नहीं * ।

व्यापारय स्वपुरुषं पुरुषं परेषु
मा रोपमङ्कुरय शङ्करकिङ्कराणाम् ।
किं [1]विस्मृतं विषधरायुध निर्निरोध-
क्रोधप्रबोधपटहं हरहुङ्कृतं ते[2] ॥ ६७ ॥

---

* इसी अभिप्रायसे राजानक 'रत्नकण्ठ' ने भी कहा है—

'अन्यत्र प्रसरति ते कृतान्त शक्तिर्नैतेषु क्वचिदपि शम्भुकिङ्करेषु ।
एकस्य प्रणयनतस्य पालनार्थं निर्दग्धस्त्वमसि पुरा पुरारिणा यत् ॥'

अर्थात् हे काल ! तुम्हारी सामर्थ्य (शासन) औरोंपर चल सकती है, शङ्करके इन किङ्करोंपर तुम्हारी कभी भी नहीं चल सकती । क्या भूल गये, अपने एक शरणागत भक्तके रक्षार्थ भगवान् शङ्करने तुम्हें भस्म कर डाला था ? इसी तरह उनका दूसरा पद्य यह है—

'क्रोधोद्धुरो जलधरध्वनिधीरघोरहुङ्कारतर्जितसमस्तजनो नितान्तम् ।
शर्वाङ्घ्रिभक्तिकवचेन समावृतस्य किं मे करिष्यति यमोऽपि स दण्डहस्तः ॥'

अर्थात् तीव्र क्रोधसे उद्भट, काले जलधर (मेघ) की गम्भीर ध्वनिके समान अत्यन्त घोर हुङ्कारोंसे समस्त जीवोंको कम्पित करनेवाला और हाथमें दण्ड लिये भीषण यमराज भी मेरा क्या कर सकेगा ? क्योंकि मैं तो शिव-भक्तिरूपी कवच पहने बैठा हूँ ।

१. 'विस्मृतोऽसि भुजगायुध' इति पाठान्तरम् । २. 'तत्' इत्यपि पाठः ।

अन्वय—[हे काल !] स्वपुरुषम् पुरुषम् परेषु व्यापारय, शङ्करकिङ्कराणाम् रोषम् मा अङ्कुरय। हे विषधरायुध ! निर्निरोधक्रोधप्रबोधपटहम् हरहुङ्कृतम् किं ते विस्मृतम् ?

अर्थ—हे काल! तुम अपने दूत शिवभक्ति-विहीनोंके पास भेजो। भगवान् शङ्करके किंकर हम लोगोंका क्रोध अङ्कुरित (उभाड़ा) न करो। अरे सर्पायुध ! क्या तुम भगवान् शङ्करके अप्रतिहत क्रोधकी द्योतक भेर-हुङ्कार भूल गये ?

कीनाश बालिश निरङ्कुश निर्विमर्श
निस्त्रिंश निष्करुण निःशरणेषु चेत्त्वम् ।
निष्कारणं निरनुरोध करोषि रोषं
तत्किं चिकीर्षसि महेश्वरसंश्रितेषु ॥ ६८ ॥

अन्वय—कीनाश बालिश निरङ्कुश निर्विमर्श निस्त्रिंश निष्करुण निरनुरोध ! त्वम् चेत् निःशरणेषु निष्कारणम् रोषम् करोषि, तत् महेश्वरसंश्रितेषु किम् चिकीर्षसि ?

अर्थ—हे क्षुद्र (उपांशु-घाती = छिपकर मारनेवाले) ! हे मूर्ख ! हे निरङ्कुश ! विवेकहीन ! निमर्याद ! हे निर्दयी और किसीका अनुरोध न माननेवाले काल ! जब कि तुम अनाथ जीवोंपर ही बिना कारण क्रोध किया करते हो, तो फिर महेश्वरके शरणागतोंपर क्या करना चाहते हो ? अर्थात् जो अनाथ हैं, उन्हींपर तुम अपना प्रभाव दिखा सकते हो। जिन्होंने त्रिलोकीनाथ भगवान् भवानीनाथको अपना नाथ बना लिया है, उनका तुम कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।

कुर्वन् विरोधमनिरोधमबान्धवेषु
धत्से मुधा यम समुद्धतकन्धरत्वम् ।
तीव्रापराधविधुरेष्वपि साधवो हि
बाधां विधातुमधमेष्वपि न क्षमन्ते ॥ ६९ ॥

अन्वय—यम ! [त्वम्] अबान्धवेषु अनिरोधम् विरोधम् कुर्वन् समुद्धतकन्धरत्वम् मुधा धत्से। हि साधवः तीव्रापराधविधुरेषु अपि अधमेषु अपि बाधाम् विधातुम् न क्षमन्ते।

अर्थ—हे यम ! तुम आश्वासन देनेवाले बान्धवोंसे हीन, विवश (अगतिक) जीवोंके साथ प्रबल विरोध करते हुए व्यर्थ ही गर्वसे सिर ऊँचा किये रहते हो ! क्योंकि सज्जन लोग तो तीव्र अपराधसे भयभीत पामरोंको भी किसी प्रकार पीड़ा नहीं पहुँचाते*।

---

* अतएव नीति में भी कहा है—

'उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुरिति कथ्यते ॥'

अर्थात् जो अपना उपकार करनेवालोंपर ही उपकार किया करता है, उसकी सज्जनता में क्या गुण है। किन्तु जो अपना अपकार करनेवाले लोगोंपर भी उपकार करे, सज्जन उसीको साधु कहते हैं।

यत्प्राणिषु प्रभवसि प्रसभं प्रहर्तुं
प्राप्य प्रभोः प्रमथनाथपितुः प्रसादम् ।
तत्प्राक्कृतस्य दुरितस्य दुरुत्तरस्य
तेषां फलं तव किमन्तक पौरुषं तत् ॥ ७० ॥

अन्वय—अन्तक ! प्रमथनाथपितुः प्रभोः प्रसादम् प्राप्य त्वम् यत् प्राणिषु प्रसभम् प्रहर्तुम् प्रभवसि, तत् तेषाम् प्राक्कृतस्य दुरुत्तरस्य दुरितस्य फलम् । तत् तव किम् पौरुषम् ?

अर्थ—हे काल ! गणनाथके पिता भगवान् शङ्करका प्रसाद पाकर जो तुम जीवोंपर बलात् प्रहार कर पाते हो, यह तो उन प्राणियोंके परिणाममें दुःखदायी, पूर्वोपार्जित निज पापोंका ही फल है । तुम्हारा इसमें क्या पुरुषार्थ है ?

तत्तथ्यमेव किमकारणकण्टकं त्वां
यद्धर्मराज इति काल जनाः स्तुवन्ति ।
लोका न किं जगदमङ्गलमूलकोषं
शंसन्ति मङ्गलविहङ्गम इत्युलूकम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—काल ! जनाः अकारणकण्टकम् त्वाम् यत् धर्मराजः इति स्तुवन्ति, तत् तथ्यम् एव । किम् लोकाः जगदमङ्गलमूलकोषम् उलूकम् मङ्गलविहङ्गमः इति न शंसन्ति ?

अर्थ—हे काल ! जीवोंके निष्कारण वैरी तुम्हें लोग जो 'धर्मराज' (धर्मनिष्ठ राजा) कहा करते हैं, यह ठीक ही है ? क्या संसारके अमङ्गलके मूल-कोष काले उल्लूको भी लोग मङ्गल-विहङ्गम (मङ्गलपक्षी) नहीं कहते ? [सारांश, नीतिशास्त्रका यह नियम है कि 'अभद्रं भद्रमिति ब्रूयात्' अर्थात् अमङ्गलको भी मङ्गलके नामसे पुकारना चाहिए । इसीलिए दुर्योधनको 'सुयोधन' और उल्लूको 'मङ्गलपक्षी' कहते हैं । इसी नियमके अनुसार तुम्हें भी लोग धर्मराज कहते होंगे, यह भाव है] ।

त्वां जीवितेश इति यत्स्तुवते रुदत्यः
कापालिकाः शवदहो गुरवो द्विजाश्च ।
तद्युक्तमन्तक यतः परमः सुहृत्त्वं
तेषामकारणरिपुस्त्वसुहृत्परेषाम् ॥ ७२ ॥

अन्वय—अन्तक ! रुदत्यः कापालिकाः, शवदहः गुरवः द्विजाः च यत् त्वाम् जीवितेश इति स्तुवते, तत् युक्तम् [एव] । यतः त्वम् तेषाम् परमः सुहृत् [असि], परेषाम् तु अकारणरिपुः असुहृत् । [अतः ते त्वाम् जीवितेश इति स्तुवते ।]

अर्थ—हे यमराज ! मृतक व्यक्तिके निमित्त रोनेवाली स्त्रियाँ*, कापालिक (वाममार्गी), शव जलानेवाले (अन्त्येष्टि) क्रिया करानेवाले पुरोहित और ब्राह्मण

* भाड़ा लेकर किसी मृतकके निमित्त कृत्रिम रोनेवाली स्त्रियाँ, जिन्हें काश्मीरमें 'नीरीश्य' और विदेशोंमें 'भड़नूहारी' कहा करते हैं ।

लोग जो तुम्हें जीवितेश (जीवन प्रदान करनेवाला प्राणनाथ) कहा करते हैं, वह ठीक ही है, क्योंकि तुम उनकी जीविकाके संचालक होनेसे उन लोगोंके परम सुहृत् हो। उनसे अतिरिक्त जो अन्य लोग हैं, उनके तो तुम निष्कारण वैरी और असुहृत् (असु + हृत् = प्राणहर्ता) हो। [इसलिए वे लोग तुम्हें जीवितेश [जीवन का हर्ता अर्थात् प्राणहर्ता कहते हैं]।

क्लिश्यन्त्यवश्यमपमार्जनभूतयाग-
निर्याणकर्मचरमेष्टिशिवक्रियाद्यैः ।
ये दैशिकाः परमकारुणिकाः परार्थे
त्वां श्राद्धदेव इति ते रविज स्तुवन्ति ॥ ७३ ॥

अन्वय—रविज ! अवश्यम् अपमार्जनभूतयागनिर्याणकर्मचरमेष्टिशिवक्रियाद्यैः ये परमकारुणिकाः दैशिकाः परार्थे क्लिश्यन्ति, ते त्वाम् श्राद्धदेवः इति स्तुवन्ति ।

अर्थ—हे यम ! परम कारुणिक पुरोहित लोग मृतक प्राणीके निमित्त तत्कालीन आवश्यक कृत्य—अपमार्जन (पञ्चगव्य और उष्णोदकसे मृतकको स्नान कराना), चितायाग एवं निर्याण-कर्म, अन्त्येष्टि कर्म और शैवागम-प्रोक्त शिवक्रिया आदि कर्मोंद्वारा दूसरोंके लिए जो कष्ट उठाया करते हैं, वे ही तुम्हें [श्राद्धांश-भोजी अथवा पितरोंके पति होनेके कारण] 'श्राद्धदेव' कहा करते हैं।

देशं न यात्त्यजति सन्तमसन्तमन्तं[1]
ध्वान्तं नयंस्तव पिता समवर्त्यतोऽर्कः ।
त्वं सत्स्वसत्स्वपि समं प्रहरस्यतोऽपि
सद्यः[2] स्तुवन्ति समवर्तिनमन्तक त्वाम् ॥ ७४ ॥

कोपं विधाय तव येन कृतः प्रसाद-
स्तत्सेवकेष्वपि चिकीर्षसि यत्प्रसादम् ।
किं तत्र वर्तयसि मां समवर्त्यतोऽपि
त्वं स्तूयसे विषमवर्त्यपि मर्मविद्भिः ॥ ७५ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—अन्तक ! तव पिता अर्कः ध्वान्तम् अन्तम् नयन् सन् यत् सन्तम् असन्तम् [च] देशम् न त्यजति, अतः समवर्ती [एव]। त्वम् [तु] सत्सु असत्सु अपि समम् प्रहरसि, अतः अपि जनाः त्वाम् समवर्तिनम् सद्यः स्तुवन्ति। अतः विषमवर्ती अपि [त्वम्] मर्मविद्भिः समवर्ती [इति] स्तूयसे। [किंतु] येन कोपम् विधाय तव प्रसादः कृतः, तत्सेवकेषु अपि यत् त्वम् प्रसादम् चिकीर्षसि, तत्र माम् प्रति किम् वर्तयसि ?

अर्थ—हे अन्तक ! तुम्हारे पिता भगवान् सूर्यदेव संसारभरके गाढ़ अन्धकार-

---

१. देशं नयन्मृशति सन्तमसं तमन्तम्' इत्यपि पाठः । २. 'सत्यम्' इति पाठान्तरम् ।

को नष्ट करते हुए भले या बुरे किसी भी देशको नहीं छोड़ते, इसलिए वे समवर्ती (समदर्शी) हैं। परन्तु तुम तो सज्जन और दुर्जन सभीपर प्रहार किया करते हो। इस कारण साधु और असाधुके विचारसे रहित तुम विषमवर्तीको भी मर्मवेत्ता लोग ['तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे] 'समवर्ती' कहकर तुम्हारी प्रशंसा कर देते हैं। [अच्छा, अब कहना बहुत हो चुका, यह तो बतलाओ कि] जिस करुणासागरने पहले तुमपर कोपकर पुनः प्रसादानुग्रह किया, उसके सेवकोंपर भी क्या तुम कुछ अनुग्रह (प्रहार) करना चाहते हो ? यदि हाँ, तो बतलाओ मेरे प्रति कैसा बर्ताव करोगे ?

भालस्थलानि कलयस्यमलेन्दुमौलि-
पादारविन्दमकरन्दसितानि येषाम् ।
त्वं मानवानसि विमानय मा नयज्ञ
तन्मानवानवसि रौद्र यदि स्वमौद्रम् ॥ ७६ ॥

अन्वय—नयज्ञ ! त्वम् मानवान् असि, [अतः] रौद्र ! यदि स्वमौद्रम् अवसि, तत् येषाम् भालस्थलानि अमलेन्दुमौलिपादारविन्दमकरन्दसितानि कलयसि, [तान्] मानवान् मा विमानय ।

अर्थ—हे नीतिज्ञ यम ! तुम बड़े स्वाभिमानी हो। इसलिए हे रौद्र, यदि तुम अपनी मानमुद्रा सदा बनाये ही रखना चाहते हो, अर्थात् अपना अहंकार नष्ट करना नहीं चाहते, तो जिनके ललाट-प्रदेश भगवान् चन्द्रमौलिके पादारविन्द-मकरन्दसे स्वच्छ देखो, उन्हें अपमानित न किया करो ! [क्योंकि वे लोग तुम्हारा सारा गर्व चूर-चूर कर डालेंगे।]

दुर्वृत्तदर्पशमनाच्छमनोऽसि यत्त्वं
यद्वा यमोऽस्यधमसंयमनात्तदन्यत् ।
मन्ये मदं शमयितुं प्रभवस्तवैव
त्वामेव वा यमयितुं भवभक्तिभाजः ॥ ७७ ॥

अन्वय—[अन्तक !] त्वम् यत् दुर्वृत्तदर्पशमनात् शमनः असि, यत् वा अधम-संयमनात् यमः असि, तत् अन्यत् । [अहम् तु] मन्ये, यत् भवभक्तिभाजः तवैव मदम् शमयितुम् वा त्वाम् एव यमयितुम् प्रभवः [भवन्ति] ।

अर्थ—हे यमराज ! तुम दुराचारी (उद्दण्ड) लोगोंके दर्पका शमन करनेके कारण 'शमन' और अधमोंका संयमन करने (पापियोंको दण्ड देने) के कारण 'यम' कहे जाते हो, यह तो अलग बात है। [किन्तु मैं तो] समझता हूँ कि भगवान् शङ्करके भक्त तो तुम्हारा मद शमन करने और तुम्हारा संयमन करने (तुम्हें ही दण्ड देने) के लिए समर्थ हैं। अर्थात् तुम्हारे लिए 'यम' और 'शमन' तो शिवके भक्त ही हैं।

उद्वृत्तमन्तक नृशंस भृशं सगर्व
शर्वस्तवव्यवसितेष्वपि चेष्टसे यत्।
तद्भावि भाविभवभैरवभैरवोग्र-
भालानलोद्भवपराभवकृत्पुनस्ते ॥ ७८ ॥

अन्वय—नृशंस भृशं सगर्व अन्तक ! त्वम् शर्वस्तवव्यवसितेषु अपि यत् उद्वृत्तं चेष्टसे, तत् [पुनः ते] भाविभवभैरवभैरवोग्रभालानलोद्भवपराभवकृत् भावि।

अर्थ—हे पुरुषघातक अत्यन्त अहङ्कारी काल ! भगवान् सदाशिवकी भक्तिमें परायण लोगोंके प्रति भी जो तुम उच्छृङ्खल चेष्टाएँ किया करते हो, तुम्हारी वे चेष्टाएँ भविष्यमें भगवान् भैरवके महान् प्रकाशसे भयानक भाल-नेत्रकी प्रचण्ड अग्निसे तुम्हारा पराभव (भस्मरूप तिरस्कार) करानेवाली होंगी।

किं वान्यदर्कज विशङ्क विशङ्कटास्य
हास्यं चिकीर्षसि यदीश्वरसंश्रयाणाम्।
तन्मा कृथा न हि तवाश्रितवत्सलोऽसौ
सानुग्रहोऽप्यनुचितं क्षमते महेशः ॥ ७९ ॥

अन्वय—विशङ्क ! विशङ्कटास्य ! अर्कज ! किम् वा अन्यत् [ब्रूमः], त्वम् यत् ईश्वरसंश्रयाणाम् हास्यम् चिकीर्षसि, तत् मा कृथाः। हि आश्रितवत्सलः असौ महेशः सानुग्रहः अपि तव अनुचितम् न क्षमते।

अर्थ—अरे निःशङ्क ! विकराल मुखवाले अर्क-पुत्र ! तुमसे और अधिक क्या कहें ! तुम भगवच्छरणागतोंकी जो हँसी उड़ाना चाहते हो, वैसा कदापि न करो ; क्योंकि शरणागतोंसे अत्यन्त प्रेम करनेवाले भगवान् महेश अत्यन्त दयालु होते हुए भी तुम्हारे इस अनुचित आचरणको बार-बार सहन नहीं कर सकते।

भालस्थलीव तिलकेन वधूकटाक्ष-
विक्षोभितेन तिलकेन वनावलीव।
विज्ञप्तिरेणतिलकेन विभावरीव
शोभां वसन्ततिलकेन बिभर्ति शम्भोः ॥ ८० ॥

अन्वय—तिलकेन भालस्थली इव, वधूकटाक्षविक्षोभितेन तिलकेन वनावली इव, एणतिलकेन विभावरी इव [इयम्] शम्भोः विज्ञप्तिः वसन्ततिलकेन शोभाम् बिभर्ति।

अर्थ—जैसे तिलकसे ललाट सुशोभित होता है, जैसे कामिनी* के कटाक्ष-

---

* तिलकका वृक्ष स्त्रियोंके कटाक्षसे ही विकसित होता है, ऐसी कविप्रसिद्धि है। कहा भी है—

'आलिङ्गनैः कुरबकस्तिलकः कटाक्षैः शिञ्जाननूपुरपदाहननैरशोकः।
गण्डूषसीधुपतनैर्बकुलोऽङ्गनानामभ्येति माधवमये समये विकासम् ॥'

वीक्षणसे प्रफुल्लित तिलक वृक्षसे वन-पंक्ति सुशोभित होती है और एणतिलक (मृग-तिलक) चन्द्रमासे रजनी सुशोभित होती है, वैसे ही यह मेरी विज्ञप्ति (भगवान् शङ्करको किया हुआ आत्म-निवेदन) वसन्ततिलक नामक छन्दसे सुमनोहर शोभाको धारण करती है।

[कवि प्रभुसे निज-अवस्था बता रहे हैं—]

वासः क्षीणदशं वयश्च करणग्रामं मनश्चाक्षमं
निःसारेषु दुरीश्वरेष्वपचितेरुद्वेगमङ्गेष्वपि ।
व्यर्थं वेश्म नृजन्म चाखिलमिदं कल्याणशून्यं वपुः
कोषं चोद्वहतः कुरुष्व करुणां चित्ते गिरं च श्रुतौ ॥ ८१ ॥

अन्वय—[अयि स्वामिन् !] क्षीणदशम् वासः वयः च उद्वहतः, अक्षमम् करणग्रामम् मनः च उद्वहतः, निःसारेषु दुरीश्वरेषु अङ्गेषु अपि अपचितेः उद्वेगम् च उद्वहतः, व्यर्थम् वेश्म अखिलम् नृजन्म च उद्वहतः, इदम् कल्याणशून्यम् वपुः कोषम् च उद्वहतः मम [इमाम्] गिरम् श्रुतौ कुरुष्व, चित्ते च करुणाम् कुरुष्व।

हे करुणासागर प्रभो ! मुझ अनाथके इन स्तुति-वचनोंको सुन लीजिये और कृपा कीजिये। [जरा मेरी दुर्दशापर तो विचार कीजिये !] मैं दशाविहीन जीर्ण वस्त्र पहने हुए हूँ और मेरी अवस्था भी बाल्य, यौवनादि मनोरम अवस्थाओंको पारकर जीर्ण (वृद्ध) हो गयी है; मेरी इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय) अपने अपने काम करनेमें असमर्थ हैं और मन भी क्षमा-विरहित (चिड़चिड़ा) हो गया है; कृपणताके कारण सारहीन कुत्सित राजाओंके अपमानसे उद्विग्न हो उठा हूँ और मेरे निर्बल अंगोंमें क्षीणताके कारण कपकपी होने लगी है; मेरा घर धनहीन हो गया है और मेरा मानव-जन्म भी [पारलौकिक पाथेयरूप पुण्योपार्जनसे रहित होनेके कारण] निरर्थक हो गया है। मैं मुक्तिके साधन पुण्यकर्मोंसे हीन इस शरीरको ढो रहा हूँ और मेरे खजानेमें फूटी कौड़ी भी नहीं है।

अज्ञस्तावदहं न मन्दधिषणः कर्तुं मनोहारिणी-
श्चाटूक्तीः प्रभवामि यामि भवतो याभिः कृपापात्रताम् ।
आर्तेनाशरणेन किं तु कृपणेनाक्रन्दितं कर्णयोः
कृत्वा सत्वरमेहि देहि चरणं मूर्धन्यधन्यस्य मे ॥ ८२ ॥

इति श्रीकाश्मीरक-महाकविजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ 'कृपणाक्रन्दनं' नाम नवमं स्तोत्रम् ।

अन्वय—स्वामिन् ! तावत् अज्ञः [अत एव] मन्दधिषणः अहम् याभिः भवतः कृपा-

---

अर्थात् वसन्त-ऋतुमें स्त्रियोंके आलिङ्गनसे कुरबक (लाल कटसरैया), कटाक्ष-वीक्षणसे तिलक, शब्दायमान नूपुरवाले चरणोंके आघातसे अशोक और गण्डूष-सीधु (आसवके कुल्ले) से बकुलका वृक्ष खिल उठता है।

पात्रताम् यामि, [ताः] मनोहारिणीः चाटूक्तीः कर्तुम् न प्रभवामि । किन्तु आर्तेन अशरणेन कृपणेन आक्रन्दितम् कर्णयोः कृत्वा सत्वरम् एहि, अधन्यस्य मे मूर्धनि चरणम् देहि ।

अर्थ—हे विभो ! प्रथम तो मैं स्वयं महा-अज्ञानी हूँ , अतएव मैं मन्दमति जिन स्तुतियोंसे आपका कृपापात्र बन जाऊँ, ऐसी मनोहर चाटूक्तियाँ (खुशामदें) नहीं कर सकता । परन्तु हे प्रभो ! मुझ आर्त और शरण-हीन दीनका यह कृपण आक्रन्दन सुनकर अब आप शीघ्र आइये और मुझ अभागीके मस्तकपर अपना चरण-कमल रखकर आश्वासन दीजिये ।

दशम स्तोत्र

[अब अत्यन्त करुण आलाप करते हुए कवि करुणाक्रन्दन नामक दशम स्तोत्र प्रारम्भ करते हैं—]

जयति चित्तचकोरकचन्द्रिका सुकृतिनां वदनाब्जरविच्छविः ।
श्रवणबर्हिणवर्षणवर्तनी हरिणकेतुकलामुकुटस्तुतिः ॥ १ ॥

अन्वय—सुकृतिनाम् चित्तचकोरकचन्द्रिका वदनाब्जरविच्छविः श्रवणबर्हिणवर्षणवर्तनी हरिणकेतुकलामुकुटस्तुतिः जयति ।

अर्थ—पुण्यात्माओंके चित्तरूपी चकोरके लिए चन्द्रमा, उनके मुखरूपी कमलके लिए सूर्यकान्ति और सहृदय जनोंके श्रवणरूपी मयूरोंके लिए वृष्टि-धाराके समान भगवान् चन्द्रशेखरकी स्तुति सर्वसमर्थ है । अर्थात् जैसे चकोर पक्षीको चन्द्र-दर्शनसे, कमलको सूर्यकी प्रभासे और मयूरको मेघ-धारासे परम आनन्द प्राप्त होता है, वैसे ही भगवान् शिवकी स्तुतिसे पुण्यात्मा लोगोंके चित्त, मुख और कर्णों-को अत्यन्त आनन्द होता है । [यहाँ रूपकालङ्कार है ।]

जयति भक्तिलतानवमाधवः सुकृतपादपपक्वफलोद्भवः ।
विपदुपद्रवविक्लवबान्धवः सुकविसूक्तिवधूवदनासवः ॥ २ ॥
भवमहार्णवनिस्तरणप्लवः प्रवरसूरिमयूरघनारवः ।
हृदयदाहहृतावमृतद्रवः कुमुदिनीरमणाभरणस्तवः ॥ ३ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—भक्तिलतानवमाधवः सुकृतपादपपक्वफलोद्भवः विपदुपद्रवविक्लवबान्धवः सुकविसूक्तिवधूवदनासवः भवमहार्णवनिस्तरणप्लवः प्रवरसूरिमयूरघनारवः हृदयदाहहृतौ अमृतद्रवः कुमुदिनीरमणाभरणस्तवः जयति ।

अर्थ—भक्तिरूपी लताके लिए नूतन वसन्त, पुण्यरूपी पादपके लिए परिपक्व फलका उदय, विपत्तिरूपी महान् उपद्रवोंसे खिन्न लोगोंके लिए प्रिय बान्धव (आश्वासन देनेवाला), सत्कवियोंकी सूक्तिरूपी वधूका अधरामृत, भव-महासागरसे पार कराने-वाली सुदृढ़ नौका, विद्वद्वररूपी मयूरोंके लिए गम्भीर मेघध्वनि और तापत्रयसे दग्ध हृदयकी दाह-व्यथा शान्त करनेके लिए साक्षात् अमृत-प्रवाहरूप भगवान्

चन्द्रशेखरका स्तोत्र सर्वोत्कृष्ट है; अर्थात् मैं उसे प्रणाम करता हूँ [यहाँ भी रूपकालङ्कार है]।

मधुरमिन्दुमुखीवदनादपि क्लमहरं सुरसिन्धुजलादपि ।
त्रिभुवनाधिपतिस्तुतिपावनं जयति सत्कविसूक्तिरसायनम् ॥ ४ ॥

अन्वय—इन्दुमुखीवदनात् अपि मधुरम् सुरसिन्धुजलात् अपि क्लमहरम् त्रिभुवनाधिपतिस्तुतिपावनम् सत्कविसूक्तिरसायनम् जयति ।

अर्थ—चन्द्रमुखीके मुखसे भी अधिक रमणीय, सुरसरिके जल-प्रवाहसे भी अधिक खेद-हर और त्रिभुवननाथ भवानीनाथकी स्तुतिसे अतीव सुपवित्र सत्कविका सूक्तिरूप रसायन सर्वत्र विजयको प्राप्त होता है ।

नवनवभ्रमरस्वनशोभिनी भवमरुभ्रमघर्मशमक्षमा ।
हृदयनन्दनचन्दनकन्दली जयति शङ्करभक्तिरभङ्गुरा ॥ ५ ॥

अन्वय—नवनवभ्रमरस्वनशोभिनी भवमरुभ्रमघर्मशमक्षमा हृदयनन्दनचन्दनकन्दली अभङ्गुरा शङ्करभक्तिः जयति ।

अर्थ—नवीन स्तुतिरूपी भ्रमरोंकी गुंजारसे सुशोभित, संसाररूप भीषण मरुस्थलमें भ्रमणसे उत्पन्न संतापको समूल शान्त कर देनेवाली और भावुकोंके हृदयरूप नन्दन-वनमें चन्दन-लताके समान विराजमान भगवान् सदाशिवकी अविनाशी भक्तिकी सदा जय हो ।

अथ कथञ्चन रूढमपि क्षणं मनसि वीक्ष्य विवेकनवाङ्कुरम् ।
बहुविधव्यसनौघविघट्टितं सपदि विज्ञपयामि जगद्गुरुम् ॥ ६ ॥

अन्वय—अथ कथञ्चन मनसि क्षणम् रूढम् अपि विवेकनवाङ्कुरम् बहुविधव्यसनौघविघट्टितम् वीक्ष्य सपदि जगद्गुरुम् विज्ञपयामि ।

अर्थ—मनमें [विवेक उत्पन्न होता ही नहीं, फिर भी] किसी प्रकार अतिकष्टसे क्षणभरके लिए उत्पन्न हुआ भी विवेकरूप नवीन अङ्कुर नाना प्रकारके काम-क्रोधादि व्यसनरूप बाढ़से विघट्टित हो टकरा रहा है, यह दशा देख अब मैं शीघ्र जगद्गुरु भगवान् सदाशिवसे निवेदन करता हूँ ।

अपि जगद्विदितः करुणापरः परहिताहितमूर्तिपरिग्रहः ।
किमिति हंसि न हंस हृदम्बुजे कृतपदो विपदः शरणार्थिनाम् ॥ ७ ॥

अन्वय—हंस ! जगद्विदितः अपि करुणापरः परहिताहितमूर्तिपरिग्रहः [त्वम् माहशाम्] शरणार्थिनाम् हृदम्बुजे कृतपदः [सन्] इति विपदः किम् न हंसि ?

अर्थ—हे हंस ! (पूर्ण परब्रह्म परमात्मन्) आप जगद्विख्यात हैं; फिर भी [लोगोंपर] अहैतुकी दया रखते हैं । निर्गुण निराकार होकर भी आप भवसागरमें निमग्न प्राणियोंके उद्धारार्थ सगुण साकार स्वरूप धारण करते हैं । आप

मुझ जैसे शरणागतोंके हृदय-कमलमें निवास करते हैं। तब भी इस जन्म-मरणके त्रासरूप विपत्तियोंको क्यों नहीं दूर करते ?*

यदि भवान् विदधीत हृदि स्थितिं व्यसनसम्पदसौ प्रसरेत्कथम् ।
यदि न सा प्रसरेत्प्रसजेत्कथं बुधजनोऽप्यसमञ्जसकर्मसु ॥ ८ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! यदि भवान् हृदि स्थितिम् विदधीत, तर्हि असौ व्यसनसम्पत् कथम् प्रसरेत् ? यदि च सा न प्रसरेत्, तदा बुधजनः अपि असमञ्जसकर्मसु कथम् प्रसजेत् ?

अर्थ—स्वामिन् ! आप दयालु यदि इस हृदयमें सर्वदा विराजमान रहें, अर्थात् हृदयमें सदा आपका स्मरण होता रहे, तो फिर यह काम-क्रोधादि विपत्तियोंकी टोली मनुष्यके सम्मुख आ ही कैसे सकती है ? और यदि वह सम्मुख ही न आये तो फिर बुद्धिमान् पुरुष भी असत्कर्मोंमें क्यों प्रवृत्त हों ? [सारांश भगवद्-विस्मरणसे ही प्राणीकी अधोगति होती है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह परमेश्वरका सदैव स्मरण करता रहे।]

[अब यहाँसे अठारह श्लोकोंका 'महाकुलक' आरम्भ करते हैं—]

इह बृहद्भिरुदग्रपरिग्रहग्रहगृहीतमतिर्व्यसनोद्गमैः ।
यदि न कातरतां परतन्त्रतामफलतां खलतां च भजेज्जनः ॥ ९ ॥

अन्वय—[विभो !] यदि इह बृहद्भिः व्यसनोद्गमैः उदग्रपरिग्रहग्रहगृहीतमतिः जनः कातरताम् परतन्त्रताम् अफलताम् खलताम् च न भजेत्, [तदा भवत्पदपङ्कजपूजनव्यसन-सौमनसीम् अपहाय विभूतिलवोन्मिषन्मदकदर्यविकारकदर्थनाम् कः सहेत, इति अग्रिम-चतुर्विंशतितमश्लोकेन सह सम्बन्धः। एवमग्रेऽपि।]

अर्थ—हे विभो ! इस संसारमें मनुष्य यदि महान् दुर्व्यसनोंकी दुर्वासनाओंसे हठात् उनकी ओर आकृष्ट होकर अतिदीनता, पराधीनता, निष्फलता और खलता (दुर्जनता) को प्राप्त न होता, [तब फिर आपके चरण-कमलोंके पूजनके अखण्ड आनन्दको छोड़ इन थोड़े-से ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त कृपणोंद्वारा किये तिरस्कार-को कौन सहता ?] सारांश, विषयासक्ति ही मनुष्यको अपनी ओर हठात् आकृष्ट कर लेती है। इसी कारण प्राणी उस परमानन्द सुधा-सिन्धुके अभिमुख न होकर स्वार्थी लोगोंके मुँह ताकता रहता है।

यदि भजेत न सज्जनसङ्गमव्यसनसर्पदनल्पकृपास्पदम् ।
हृदयमिन्दुमयूखसुखाहतिव्यतिकरद्रुतचन्द्रमणिश्रियम् ॥ १० ॥

---

* यहाँ भगवान्के लिए 'हंस' सम्बोधन साभिप्राय है। ज्योतिषशास्त्र में कहा है कि कमलके समीप रहनेवाले हंस पक्षीके दर्शनसे लोगोंकी विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं। इसी अभिप्रायसे 'कवि' कहते हैं कि भगवन् ! कमलके समीप रहनेवाला हंस पक्षी अपने दर्शन मात्रसे लोगोंकी विपत्ति दूर कर देता है। फिर हे करुणासागर ! आप तो साक्षात् हंस [पूर्ण परब्रह्म परमात्मा] हैं और हमारे हृदय-कमलमें विराजमान भी हैं। तब हम शरणागतोंकी विपत्तियोंको क्यों दूर नहीं करते ?

अन्वय—सज्जनसङ्गमव्यसनसर्पदनल्पकृपास्पदम् [जनस्य] हृदयम् यदि इन्दुमयूख-सुखाहतिव्यतिकरद्रुतचन्द्रमणिश्रियम् न भजेत, [तदा इत्यादि पूर्ववत्सम्बन्धः ।]

अर्थ—सत्सङ्गरूपी व्यसनसे उमड़नेवाली अपार करुणाका स्थान मनुष्यका यह हृदय यदि चन्द्र-किरणोंके सुखकर सम्पर्कसे द्रवित चन्द्रकान्त मणिके समान न होता, [तो फिर आपके चरणारविन्दके सेवा-रसको छोड़कर क्षुद्र विषयासक्त लोगोंकी सेवा कौन करता ?] अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमाकी किरणोंके सुखद सम्पर्कसे पिघल जाती है, उसी प्रकार सत्पुरुषोंका हृदय भी इन सांसारिक विषयोंके सम्पर्कसे पिघलकर क्षुद्र विषय-भोगोंमें आसक्त हो जाता है। यदि ऐसा न होता, तब तो बुद्धिमान् लोग भगवान्का भजन अवश्य करते।

अभिलषेयुरनर्गलदुर्गतिप्रसरदीर्घनिदाघनिपीडिताः ।
यदि धनागमवन्न घनागमं प्रणयिनस्तृषिता हरिणा इव ॥ ११ ॥

अन्वय—प्रणयिनः अनर्गलदुर्गतिप्रसरदीर्घनिदाघनिपीडिताः [अत एव] तृषिताः हरिणाः घनागमम् इव यदि धनागमम् न अभिलषेयुः, [तदा··· ।]

अर्थ—जैसे अनिवार्य आपत्तियोंके वेगसे प्राणियोंको भय देनेवाले महान् ग्रीष्मसे अत्यन्त पीडित, अतएव प्यासे हरिण घनागम (वर्षाकालके आगमन) की इच्छा करते हैं; वैसे ही जन्म-मरणरूप उग्र आपत्तियोंके वेगरूप महाग्रीष्म-कालसे पीड़ित, अतएव प्यासे अर्थार्थी पुरुष यदि प्रतिक्षण धनागम (धन-प्राप्ति) की अभिलाषा न करते, [तो फिर भगवन् ! आपकी चरणारविन्द-सेवाका आनन्द छोड़ धन-मदान्धोंका तिरस्कार कौन सहता ?]

यदि न पीनघनस्तनभङ्गुरत्रिवलिभङ्गितरङ्गितमध्यमाः ।
इह हरेयुरपाङ्गविलोकितैर्धृतरतिप्रमदाः प्रमदाः मनः ॥ १२ ॥

अन्वय—इह यदि पीनघनस्तनभङ्गुरत्रिवलिभङ्गितरङ्गितमध्यमाः धृतरतिप्रमदाः प्रमदाः मन न हरेयुः, [तर्हि··· ।]

अर्थ—इस भव-सागरमें यदि अतीव स्थूल और कठिन स्तनोंसे सुशोभित त्रिभङ्गी (त्रिवलीकी कान्तिसे मनोहर उदरवाली और रति-सुखको धारण करनेवाली युवतियाँ अपने हाव-भावोंसे मनुष्यके कोमल मनको न हर लेतीं, [तो फिर प्रभो ! आपका भजन छोड़कर मदान्ध क्षुद्र धनिकोंका तिरस्कार कौन सहता ?]

बलवदिन्द्रियतस्करसङ्कुले विषयभीमभुजङ्गमभीषणे ।
दुरितदीर्घदवानलदुःसहे बहलमोहतमोहतसंविदि ॥ १३ ॥
कृतधियोऽपि भवाध्वनि धावतः प्रबलकर्मरयापहृतात्मनः ।
अवसरे प्रहरेयुरमी न चेन्मदनमानमुखाः परिपन्थिनः ॥ १४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—बलवदिन्द्रियतस्करसङ्कुले विषयभीमभुजङ्गमभीषणे दुरितदीर्घदवानलदुःसहे

बहलमोहतमोहतसंविदि भवाध्वनि धावतः प्रबलकर्मरयापहतात्मनः कृतधियः अपि अवसरे अमी मदनमानमुखाः परिपन्थिनः न प्रहरेयुः चेत्, [तदा··· ।]

अर्थ—बलवान् इन्द्रियरूपी तस्करोंसे घिरे, शब्दादि विषयरूपी भीषण भुजङ्गोंसे भयंकर, प्रतिदिन बढ़नेवाले पापरूपी प्रचण्ड दावानलसे अति दुःसह एवं अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारसे समावृत आत्मज्ञान (चैतन्य-प्रकाश) वाले, संसार-पथमें दौड़ते कर्मरूपी प्रबल वायुके वेगसे इतस्ततः उड़ाये जाते हुए बुद्धिमानोंको भी परमेश्वरका ध्यान करते समय यदि ये काम, क्रोध, अहङ्कार आदि दस्युगण पीड़ित न करते, [तो फिर प्रभो ! आप परमात्माकी आराधना छोड़कर कौन बुद्धिमान् मनुष्य विषयी लोगोंकी आराधनामें तत्पर होता ।]

उपचितोऽभिनवाम्रदलावलीकवलनाकुलकोकिलकूजितैः ।
यदि न तर्जयितुं प्रभवेन्मधौ मदनदिग्विजयोद्यमडिण्डिमः ॥ १५ ॥

अन्वय—मधौ अभिनवाम्रदलावलीकवलनाकुलकोकिलकूजितैः उपचितः मदनदिग्विजयोद्यमडिण्डिमः यदि [जनान्] तर्जयितुम् न प्रभवेत् , [तदा··· ।]

अर्थ—वसन्त ऋतुमें नव-नवीन सुकोमल आम्र-पल्लवोंकी पंक्तिके समास्वादनमें आकुल (आसक्त) कोकिलोंकी 'कुहू कुहू' ध्वनिसे संवर्धित, कामदेवके दिग्विजयका डिण्डिम (विजय-नगारा) यदि लोगोंको प्रतिक्षण अपने वश करनेमें समर्थ न होता, [तो हे विभो ! फिर कौन पुरुष आपका भजन न करता ।]

यदि मधौ मधुपानमदोन्मदभ्रमरगायनगुञ्जितगीतयः ।
सुखलवानुभवाय कृतस्पृहं हर हरेयुरिमं न मनोमृगम् ॥ १६ ॥

अन्वय—हर ! मधौ मधुपानमदोन्मदभ्रमरगायनगुञ्जितगीतयः सुखलवानुभवाय कृतस्पृहम् इमम् मनोमृगम् यदि न हरेयुः, [तदा··· ।]

अर्थ—हे पापहारिन् ! वसन्तमें पुष्पोंके रस-पानसे मदोन्मत्त भ्रमररूपी गायनाचार्योंका गुञ्जाररूपी गीत, सुखके लवलेशके अनुभवार्थ उत्कण्ठित मनो-मृगको यदि अपने वशमें न करता, [तो प्रभो ! कौन मनुष्य आपके चरणोंकी शरण छोड़ विषयोंमें आसक्त होता ?*]

अभिनवस्तबकस्तनसन्नताः पवननर्तितपल्लवपाणयः ।
यदि न बन्धनिबन्धनमृध्नुयुर्मधुपगुञ्जितमञ्जुगिरो लताः ॥ १७ ॥

अन्वय—अभिनवस्तबकस्तनसन्नताः पवननर्तितपल्लवपाणयः मधुपगुञ्जितमञ्जुगिरः लताः यदि [मनोमृगस्य] बन्धनिबन्धनम् न ऋध्नुयुः, [तदा··· ।]

अर्थ—[हे प्रभो ! नव-नवीन स्तबकरूप (गुच्छरूप) स्तनोंसे झुकी मलया-

---

* इस पद्यमें 'सुखलवानुभवाय' पद सूचित करता है कि ये रूपादि विषय आरम्भमें मधुर और परिणाममें अत्यन्त दुःखप्रद हैं, अतः साधकोंको इस क्षणभङ्गुर विषय-सुखमें आसक्त न होकर सर्वदा जगदीश्वरके ही चरितामृतका पान करना और उसी अनन्त आनन्द-प्राप्तिके लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

चलकी सुगन्धसे सम्मिश्रित मन्द-मन्द पवनके वेगसे अपने पल्लवरूप हाथोंको नचानेवाली और भ्रमरोंके गुञ्जाररूप मधुर-मनोहर स्वरोंवाली ये सुन्दर लतारूपी वराङ्गनाएँ बेचारे मनोमृगको यदि अपने प्रेम-बन्धनमें न बाँध लें, [तो फिर कौन बुद्धिमान् मनुष्य आपका ध्यान छोड़कर विषयोंमें आसक्त होता ? यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है ।]

यदि शुचौ मनसीव न मानिनां घनमनेहसि तापमुपावहेत् ।
सरजसो हरितस्तरुणैः करैरविरलं परिरिप्सुरहर्पतिः ॥ १८ ॥

अन्वय – तरुणैः करैः सरजसः हरितः अविरलम् परिरिप्सुः अहर्पतिः मानिनाम् शुचौ मनसि इव शुचौ अनेहसि यदि घनम् तापम् न उपावहेत् , तदा··· ।]

अर्थ—जैसे सूर्य नवीन किरणरूपी हाथोंसे सरजस्क (धूलिसे युक्त) दिशारूपी अङ्गनाओंसे गाढ़ आलिङ्गन करनेकी अभिलाषा करता हुआ ग्रीष्म-कालमें अत्यन्त सन्ताप पैदा कर देता है, वैसे ही सरजस्क (रजोधर्मवती) युवतियोंसे गाढ़ आलिङ्गन करनेको उत्कण्ठित कामान्ध लोग [अपने दुःसङ्गके प्रभावसे] इन्द्रिय-निरोध करनेवाले साधकोंके सुनिर्मल मनमें यदि क्षोभ उत्पन्न न करें, [तो भगवन् ! फिर कौन विवेकी मनुष्य आपका आराधन छोड़ विषयासक्त पुरुषोंका अपमान सहता ?]

पृथुलसज्जघनोरुपयोधरा गुरुमरुच्चपलाकुलिताम्बराः ।
यदि भवेयुरिमा न घनागमे मृगदृशश्च दिशश्च धृतिच्छिदः ॥ १९ ॥

अन्वय—यदि घनागमे इमाः पृथुलसज्जघनोरुपयोधराः गुरुमरुच्चपलाकुलिताम्बराः मृगदृशः दिशः च धृतिच्छिदः न भवेयुः, [तर्हि··· ।]

अर्थ—हे विभो ! वर्षाकालमें बड़े-बड़े नितम्बों, जङ्घाओं और स्तनोंसे सुशोभित एवं तीव्र वायुके वेगसे कम्पायमान वस्त्रोंवाली ये मृगनयनाएँ (युवतियाँ) तथा अतिविशाल, सजल और सान्द्र पयोधरों (मेघों) से सुशोभित एवं तीव्र वायु और अतिचपल विद्युत्से समावृत आकाशसे सुमनोहर दिशाएँ यदि मनुष्यका धैर्य न खो डालें, [तो विवेकी पुरुष भी आपका ध्यान छोड़ विषयोंमें क्यों आसक्त होते ? यहाँ समुच्चय अलंकार है ।]

सुरभिगन्धिसहाससुखाम्बुजा धृतमनोहरहंसकविभ्रमाः ।
यदि न मज्जनधाम नतभ्रुवः शरदि संस्मरयेयुरगापगाः ॥ २० ॥

अन्वय—सुरभिगन्धिसहासमुखाम्बुजाः धृतमनोहरहंसकविभ्रमाः मज्जनधाम अगापगाः शरदि [पुरुषान् सुरभिगन्धि, सहासमुखाम्बुजाः धृतमनोहरहंसकविभ्रमाः मज्जनधाम] नतभ्रुवः यदि न संस्मरयेयुः, [तदा··· ।]

अर्थ—शरत्कालमें सुमनोहर सुगन्धियुक्त, विकसित मुखवाले कमलोंसे सुशोभित एवं मनोहर हंसोंके विभ्रम (विलास) को धारण करनेवाली मज्जन (स्नान) के घर गिरि-नदियाँ यदि पुरुषोंको सुगन्धित, ईषद् हास्ययुक्त मुखकमलवाली, मनोहर हंसके समान मन्द-मन्द गति एवं भवसागरमें डुबोने-

वाली युवतियोंका स्मरण न करातीं, तो विवेकी पुरुष क्यों आपका ध्यान छोड़ कृपण लोगोंके अपमान सहते ? [यहाँ शब्दश्लेषोपमामूलक स्मृति अलंकार है ।]

यदि न दीर्घतमाः समवाप्नुयुः सहसि दुर्विषहोल्बणवायवः ।
धृतघनोष्मबृहत्तरुणीस्तनस्मरणकारणतामपि रात्रयः ॥ २१ ॥

अन्वय—सहसि दुर्विषहोल्बणवायवः दीर्घतमाः रात्रयः अपि धृतघनोष्मबृहत्तरुणीस्तनस्मरणकारणताम् यदि न समवाप्नुयुः, [तदा··· ।]

अर्थ—हेमन्त ऋतुकी अत्यन्त दुःसह और प्रचण्ड वायुसे युक्त लंबी-लंबी रातें भी यदि लोगोंको युवतियोंके गहरी गरमाहटसे भरे और स्थूल स्तनोंका स्मरण न करातीं, [तो हे भगवन् ! कौन विवेकशील पुरुष आपका भजन छोड़ धन-मदान्धोंके अपमान सहता ?]

यदि भवेन्न घनावरणोद्गमग्लपितधामनि धामनिधौ बहिः ।
तपसि चेतसि च व्यसनाकुले तपसि रूढरसोऽप्यलसो जनः ॥ २२ ॥

अन्वय—तपसि [सर्वलोकस्य] चेतसि च व्यसनाकुले सति बहिः धामनिधौ घनावरणोद्गमग्लपितधामनि [सति] तपसि रूढरसः अपि जनः यदि अलसः न भवेत्, [तदा··· ।]

अर्थ—हेमन्त ऋतुमें भीषण शीतसे पक्षियोंके व्याकुल हो उठनेपर तथा मृगया आदि व्यसनोंसे चित्तके आकुल होनेपर एवं बाहर सघन मेघों-द्वारा सूर्यके आच्छादित हो जानेपर तपस्यामें बैठा पुरुष भी यदि आलसी न बनता, [तो हे विभो ! कौन बुद्धिमान् पुरुष आपकी पूजाका अखण्ड आनन्द छोड़ धनलवके मदसे गर्वित कुपुरुषोंका मुँह देखता ?]

तदखिलापदुपोद्धरणक्षमं समधिगम्य दुरापमिदं पुनः ।
पवनवेल्लितबालमृणालिनीदलचलज्जलबिन्दुनिभं वपुः ॥ २३ ॥
भव भवत्पदपङ्कजपूजनव्यसनसौमनसीमपहाय कः ।
इह सहेत विभूतिलवोन्मिषन्मदकदर्यविकारकदर्थनाम् ॥ २४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—[यदि पूर्वोक्ताः कामादिविकाराः प्रबला नो भवेयुः,] तत् पुनः भव ! अखिलापदुपोद्धरणक्षमम् दुरापम् पवनवेल्लितबालमृणालिनीदलचलज्जलबिन्दुनिभम् इदम् वपुः समधिगम्य भवत्पदपङ्कजपूजनव्यसनसौमनसीम् अपहाय इह विभूतिलवोन्मिषन्मदकदर्यविकारकदर्थनाम् कः सहेत ?

अर्थ—हे विभो ! [ये पूर्वोक्त काम-क्रोधादि प्रबल विकार यदि मनुष्यके विवेकको नष्ट न कर डालते,] तो फिर इस घोर भवसागरमें सम्पूर्ण विपत्तियोंसे पार करनेमें समर्थ, अत्यन्त दुष्प्राप्य (अनन्त पुण्योंसे प्राप्त होनेवाले) और वायुसे कम्पित सुकोमल कमलके दलमें स्थित अतिचञ्चल जल-बिन्दुके समान अत्यन्त क्षणभङ्गुर मनुष्य-देहको पा आपके चरण-पङ्कजके पूजनका व्यसन छोड़कर कौन विवेकी पुरुष यहाँ थोड़े धनके मदसे उन्मत्त कृपण लोगोंका तिरस्कार सहता ?

[इस महाकुलकमें उक्त सभी भावोंका सारांश यही है कि ये काम-क्रोधादि विकार ही मनुष्यकी इन्द्रियोंको चञ्चलकर उसके विवेक, वैराग्यादि सद्विचारोंको हर लेते हैं। इसीलिए मनुष्य इन अत्यन्त दुःखद विषयोंमें आसक्त होकर अपने उद्धारके लिए भगवान्का भजन, पूजन नहीं कर पाता। इसी कारण वह बार-बार इस भीषण भवसागरके जरा, जन्म और मरणके चक्रमें पीसा जाता है।]

इदमुदश्चति मेघमयं महत् पिहितभास्वदमन्दमहस्तमः ।
घनबलोऽपि स काल उपस्थितस्तदिह हंस पदं कुरु मानसे ॥ २५ ॥

अन्वय—हंस ! पिहितभास्वदमन्दमहः इदम् मे अघमयम् महत् तमः उदञ्चति। घनबलः सः कालः अपि उपस्थितः। तत् इह [मम] मानसे पदम् कुरु।

अर्थ—हे हंस (पूर्ण परब्रह्म परमात्मन्) ! अत्यन्त प्रकाशमान ज्ञानमय तेजको आच्छादित करनेवाला यह मेरा पापमय अज्ञान (अथवा विषादात्मक तमोगुण) हृदयमें प्रस्फुरित हो रहा है, और अतीव बलवान् काल (यमराज अथवा घोर कलिकाल) भी अत्यन्त सन्निकट है। इसलिए अब आप मेरे मानस (मन) में निवास कीजिये।

[इसका दूसरा भी अर्थ है, जो इस प्रकार है—हे राजहंस ! सूर्यके अत्यन्त तेजोमय प्रकाशको आच्छादित करनेवाला घनघोर बादलोंका यह महान् अन्धकार छा रहा है और घने मेघोंवाला वर्षाकाल भी उपस्थित है। इसलिए अब तू इस मानस (मानस-सरोवर) में निवास कर। प्रसिद्ध है कि वर्षाकालमें हंस मानस-सरोवरमें चले जाते हैं।]

इति यदन्तरनन्त तिरोदधन्मुदमुदश्चति मोहमहातमः ।
तव रवीन्दु[1]हुताशनचक्षुषो हृदि निवेदयतीदमसन्निधिम् ॥ २६ ॥

अन्वय—अनन्त ! अन्तः मुदम् तिरोदधत् यत् मोहमहातमः इति उदञ्चति, इदम् [मादृशाम्] हृदि रवीन्दुहुताशनचक्षुषः तव असन्निधिम् निवेदयति।

अर्थ—ब्रह्मादि देवोंने भी जिसका अन्त (पार) नहीं पाया, ऐसे हे अनन्त ! हृदयमें परम आनन्दको आच्छादित करता हुआ जो मोहरूपी महान् अन्धकार इस प्रकार प्रस्फुरित हो रहा है, वह हम जैसोंके हृदयमें सूर्य, चन्द्र और अग्नि इन तीनों तेजोमय पिण्डोंको अपने नेत्रोंमें धारण करनेवाले स्वयं-प्रकाश आप परमेश्वरका असान्निध्य सूचित करता है। अर्थात् यदि आप हमारे हृदयमें विद्यमान रहते, तो फिर वहाँ यह अज्ञानरूप अन्धकार कैसे टिक सकता ? [क्योंकि—]

न हि महेश मनस्त्वदधिष्ठितं भ्रमयितुं प्रभवन्ति भवोर्मयः ।
न हि वनं हरिणाधिपरक्षितं क्षपयितुं कपयः क्वचन क्षमाः ॥ २७ ॥

अन्वय—महेश ! हि त्वदधिष्ठितम् [भक्तजनस्य] मनः भ्रमयितुम् भवोर्मयः न प्रभवन्ति। हि हरिणाधिपरक्षितम् वनम् क्षपयितुम् कपयः क्वचन क्षमाः न [भवन्ति]।

---

१. 'विभावसु' इति पाठान्तरम्।

अर्थ--हे महेश ! जिसमें आप परम कृपालु विराजमान रहें, भक्त-जनोंके उस मनको मोहित करने (जन्म-मरणरूप भँवरमें डालने) के लिए भवसागरकी लहरें (विषय-वासनाएँ) समर्थ नहीं हो सकतीं; क्योंकि देखा जाता है कि सिंहपालित वनको उजाड़नेके लिए बन्दर कदापि समर्थ नहीं हो सकते।

वरमरण्यसरित्पुलिनस्थलीतरुतले फलमूलजलाशिनः।
स्थितिरनर्गलवल्कलवाससो न शिवभक्तिमृते त्रिदशेन्द्रता॥
(प्रक्षिप्तमेतत्)

अन्वय—अरण्यसरित्पुलिनस्थलीतरुतले फलमूलजलाशिनः अनर्गलवल्कलवाससः स्थितिः वरम्, शिवभक्तिम् ऋते त्रिदशेन्द्रता [अपि] न वरम्।

अर्थ—वन-सरिताओंके तटवर्ती वृक्षोंकी छायामें बैठ [भगवान् शिवका ध्यान करते हुए] केवल फल, मूल और जलका आहार करनेवाले वल्कल वस्त्रधारी भिक्षुक-का जीवन अतिश्रेष्ठ है, किन्तु शिव-भक्तिके बिना इन्द्रपदकी प्राप्ति भी श्रेष्ठ नहीं है।

भवति पश्यति नश्यति दुर्गतिः स्फुरति शक्तिरुपैति धृतिं मतिः।
स्तुतिकृति प्रतिपत्तिमति श्रुतिस्मृतिभृति स्थितिमेति च निर्वृतिः॥ २८॥

अन्वय—[हे महेश !] भवति पश्यति [सति] दुर्गतिः नश्यति, शक्तिः स्फुरति, मतिः धृतिम् उपैति, प्रतिपत्तिमति श्रुतिस्मृतिभृति [तव] स्तुतिकृति निर्वृतिः स्थितिम् एति।

अर्थ—हे महेश ! आपकी कृपादृष्टि होनेपर सम्पूर्ण दुर्गतियाँ नष्ट हो जाती हैं, महान् शक्ति स्फुरित होने लगती है, बुद्धि अत्यन्त धैर्यको प्राप्त होती है और सर्वत्र पूज्यताको प्राप्त होनेवाले, समस्त वेद-शास्त्रोंके पारङ्गत एवं आपकी स्तुति करनेवाले भक्तजनोंके चित्तमें परम आनन्द स्थिर हो जाता है।

कति न बुद्बुदवद्भववारिधाविह लसन्ति गलन्ति च जन्तवः।
समजनि स्पृहणीयजनिः पुनर्जगति कश्चन यः शिवसेवकः॥ २९॥

अन्वय—इह भववारिधौ बुद्बुदवत् कति जन्तवः न लसन्ति गलन्ति च ? पुनः जगति यः कश्चन शिवसेवकः, सः [एव] स्पृहणीयजनिः समजनि।

अर्थ—इस भवसागरमें जलके बुद्बुदोंके समान न मालूम कितने (असङ्ख्य) जीव उत्पन्न होते और मरते हैं; परन्तु जगत्में जन्म उसीका श्लाघ्य है, जो भगवान् शिवका सेवक हो।

सपदि पीठविलोठितमूर्तिभिर्भगवतः शुचिभिर्धृतभक्तिभिः।
चरणरेणुकणैरिव मादृशैर्दिविषदामपि मूर्ध्नि पदं कृतम्॥ ३०॥

अन्वय—[दिष्ट्या] धृतभक्तिभिः शुचिभिः सपदि पीठविलोठितमूर्तिभिः मादृशैः [भक्तजनैः] भगवतः चरणरेणुकणैः इव दिविषदाम् अपि मूर्ध्नि पदम् कृतम्।

अर्थ—अहा ! बड़े भाग्यसे भक्तिमान्, पवित्र अन्तःकरणवाले और भगवच्चरणारविन्दके पीठ (चौकी) पर शरीरको लोट-पोट करनेवाले मेरे समान बहुतसे भक्तजनोंने अतिपवित्र, सुन्दर, शोभा-सम्पन्न और [भगवान्‌की] चरण-

पीठिकामें गिरे हुए प्रभु-चरणारविन्दके रजःकणोंके समान स्वर्गनिवासी देवताओंके मस्तकोंपर भी अपने चरण रख दिये !

निपततां विषमे विपदम्बुधौ यदवलम्बनमस्तविडम्बनम् ।
जगदमङ्गलभङ्गविधायि तज्जयति रत्नमहो शिवसेवनम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—अहो विषमे विपदम्बुधौ निपतताम् यत् अस्तविडम्बनम् अवलम्बनम् [भवति], तत् जगदमङ्गलभङ्गविधायि शिवसेवनम् रत्नम् जयति ।

अर्थ—अहो ! अतिदुस्तर विपत्तिरूप समुद्रमें डूबे जीवोंका जो एकमात्र बाधारहित अवलम्बन (आश्रय) है, वह सम्पूर्ण जगत्के अमङ्गलका नाश करनेवाला शिव-सेवा (शिवाराधन)-रूपी अद्भुत रत्न धन्य है ! अर्थात् मैं उसे प्रणाम करता हूँ ।

जयति जन्मजरामरणव्यथाशमसमर्थमनर्थ[1]निबर्हणम् ।
सकलमङ्गलधाम सुधामयं भगवदर्चननाम महौषधम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—जन्मजरामरणव्यथाशमसमर्थम् अनर्थनिबर्हणम् सकलमङ्गलधाम सुधामयम् भगवदर्चननाम महौषधम् जयति ।

अर्थ—जन्म, जरा और मृत्युकी पीड़ाको शान्त करनेमें समर्थ, अनर्थकारक अविद्या आदि पञ्च क्लेशोंको निवारण करनेवाला एवं सम्पूर्ण मङ्गलोंका मूल स्थान वह अमृतमय श्रीभगवत्पूजन नामक महौषध सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् भगवच्चरण-पूजन नामक रसायन अमृत, सञ्जीवनी आदि महौषधियोंसे भी अधिक श्रेष्ठ और दुष्प्राप्य है । [क्योंकि—]

इदमसाधितमेव रसायनं निरुपभोगमिदं सुखमक्षयम् ।
अमृतमेतदनम्बुधिमन्थनं यदविनश्वरमीश्वरसेवनम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—यत् अविनश्वरम् ईश्वरसेवनम् [तत्] इदम् असाधितम् एव रसायनम् * । इदम् निरुपभोगम् अक्षयम् सुखम् । एतत् अनम्बुधिमन्थनम् अमृतम् ।

अर्थ—यह जो अविनश्वर (कभी भी नष्ट न होनेवाला) ईश्वर-सेवन (शिवाराधन) है, वह बिना किसीका बनाया हुआ ही रसायन है, यह एक अनुच्छिष्ट (किसीके भी द्वारा न भोगा हुआ) और अक्षय (आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप, अखण्ड) सुख है और यह बिना समुद्र-मन्थनका अमृत है $ ।

किमफलैरपरैर्भवशम्बरैः करितुरङ्गरथाम्बरडम्बरैः ।
भगवदङ्घ्रिसरोरुहसेवनव्यसनमस्तु [2]ममानिधनं धनम् ॥ ३४ ॥

---

१. 'निवारणम्' इत्यपि पाठः ।

* वृद्धावस्थामें भी केशोंकी सफेदी, जरा और रोगोंको हरनेवाले तथा अनेक ओषधियोंके रसोंसे बनाये औषध-विशेषको आयुर्वेदमें 'रसायन' कहते हैं ।

$ यहाँ विभावना अलङ्कारकी ध्वनि है ।

२. 'ममातिधनम्' इति पाठान्तरम् ।

अन्वय—अपरैः अफलैः भवशम्बरैः करितुरङ्गरथाम्बरडम्बरैः किम् ? मम तु भगवदङ्घ्रिसरोरुहसेवनव्यसनम् अनिधनम् धनम् अस्तु ।

अर्थ—संसाररूपी इन्द्रजालके निष्फल (साररहीन) हाथी, घोड़े, रथ और वस्त्रादिके आडम्बरोंसे मुझे क्या प्रयोजन है ? मुझे तो केवल एक भगवच्चरण-कमलोंका सेवन-व्यसनरूप अविनाशी धन चाहिए ¶ ।

वहतु सा रमणी रमणीयताममृतमस्त्वमृतं मधु वा मधु ।
भवतु निर्वृतिधाम तु यामिनीरमणमण्डनसेवनमेव नः ॥ ३५ ॥

अन्वय—सा रमणी रमणीयताम् वहतु, अमृतम् अमृतम् अस्तु, वा मधु मधु [अस्तु] । नः तु यामिनीरमणमण्डनसेवनम् एव निर्वृतिधाम भवतु ।

अर्थ—वह प्रसिद्ध रमणी (कामिनी) भले ही रमणीयता धारण करे, अमृत लोगोंको भले ही अजर-अमर बनाया करे और मधुमक्खियोंका सुमधुर मधु भी भले ही अति मधुरिमा धारण करे । [हमें इन वस्तुओंसे क्या प्रयोजन है ?] हमें तो केवल अखण्ड आनन्दका धाम (कैवल्य सुख देनेवाली) भगवान् चन्द्रशेखरकी अखण्ड भक्ति ही चाहिए ।

अहमहर्निशमेकमना मनागुपरमन्मदमन्मथमत्सरः ।
भवगतीरवगत्य दुरत्ययाः शशधराभरणं शरणं श्रये ॥ ३६ ॥

अन्वय—अहम् भवगतीः दुरत्ययाः अवगत्य उपरमन्मदमन्मथमत्सरः [सन्] अहर्निशम् मनाक् एकमनाः [सन्] शशधराभरणम् शरणम् श्रये ।

अर्थ—संसारकी गतियोंको अत्यन्त दुस्तर जानकर अहङ्कार, काम-क्रोध और मत्सर आदिसे उपरत होता हुआ अब मैं रात-दिन एकाग्रचित्त होकर भगवान् चन्द्रशेखरकी शरण लेता हूँ ।

[अब महाकवि भक्तिरसामृतके परमानन्दमें मग्न हो अपना मनोविनोद करते हैं—]

इदमहं करुणामृतसागरं शशिकिशोरशिरोमणिमर्थये ।
व्रजतु जन्मनि जन्मनि मे वपुर्भवदुपासनसाधनतामिति ॥ ३७ ॥

¶ इसी आशयसे कविवर राजानक श्रीरत्नकण्ठने भी कहा है—

'तातस्त्राता नहि न सहजाश्वासनं यत्र चाम्बा-
स्नेहारम्भो भवति च मृषा बन्धवो यत्र वन्ध्याः ।
चौराहार्यं क्षयविरहितं खिद्यतां देहभाजा-
मेकं तस्मिन् पथि सुमधुरं शम्बलं शम्भुनाम ॥'

अर्थात् छूरेकी धारके समान जिस अति-दुर्गम मार्गमें अत्यन्त खिन्न हुए प्राणियोंको पिता भी नहीं बचा सकता, जहाँ सहोदर भाइयोंका आश्वासन भी नहीं मिलता, जहाँ पुत्र-वत्सला जननीका स्नेह भी व्यर्थ हो जाता है और जहाँ बान्धव जनोंका भी कुछ वश नहीं चलता, उस निराधार पारलौकिक मार्गमें केवल सुमधुर भगवन्नाम ही शम्बल (पाथेय) का काम देता है ।

अन्वय—अहम् करुणामृतसागरम् शशिकिशोरशिरोमणिम् जन्मनि जन्मनि मे वपुः भवदुपासनसाधनताम् व्रजतु इति इदम् [एव] अर्थये ।

अर्थ—मैं करुणारूपी अमृतके महासागर भगवान् बालेन्दुशेखरसे केवल यही प्रार्थना करता हूँ कि प्रभो ! यह मेरा शरीर प्रत्येक जन्ममें आपकी ही उपासनाका साधन बने !

कमपि नाम निकाममनोहरं वहति टङ्कमनङ्कुशमेव यत् ।
तदकलङ्कमलङ्करणं मुखे भवतु मे शिवनाम निरामयम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यत् अनङ्कुशम् कम् अपि निकाममनोहरम् टङ्कम् वहति, तत् अकलङ्कम् निरामयम् शिवनाम मे मुखे अलङ्करणम् भवतु ।

अर्थ—जो किसी स्वच्छन्द और अनिर्वचनीय (अनुपम) मनोहरताको धारण करता है, वह समग्र क्लेशोंसे रहित 'शिव-शिव' यह नाम मेरे मुखका अतिनिर्मल आभूषण बन जाय, अर्थात् मेरे मुखसे सदा निकलता रहे ।

[अब 'कवि' अपने हृदयको उपदेश करते हैं—]

हृदय भावय भावमनाविलं निरवधान बधान दृढां धृतिम्[1] ।
त्वमसमर्थ समर्थयसे सुखं किमविनाशि विना शिवसेवनम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—हृदय ! त्वम् अनाविलम् भावम् भावय । निरवधान ! दृढाम् धृतिम् बधान । असमर्थ ! शिवसेवनम् विना [अन्यत्] किम् अविनाशि सुखम् समर्थयसे ?

अर्थ—अयि हृदय ! अब तू अतिनिर्मल स्वभावको धारण कर । हे अशान्त ! तू दृढ़ धैर्य धारण कर । अरे असमर्थ ! तू एक शिवकी उपासनाके बिना अविनाशी सुख और किसे समझता है ?

भवरसं प्रति सम्प्रति तृष्णया त्यजसि मानस मानसमुन्नतिम् ।
मदनशासनशासनतः परं कमनपायमुपायमुदीक्षसे ॥ ४० ॥

अन्वय—मानस ! [त्वम्] सम्प्रति भवरसम् प्रति तृष्णया मानसमुन्नतिम् त्यजसि । मदनशासनतः परम् अनपायम् उपायम् कम् उदीक्षसे ?

अर्थ—अरे मन ! तू इस समय सांसारिक नीरस रसकी तृष्णाके कारण अपनी परमोन्नति त्याग रहा है । अरे भाई ! अनङ्गशासन भगवान् शङ्करके दर्शनके सिवा इस भवसागरसे पार करनेवाला अन्य अविनाशी उपाय कौन-सा समझता है ?

उपवने पवनेरितमाधवीधवलिते वलिते तरुपङ्क्तिभिः ।
अमलकोमलकोषनिषण्णषट्चरणपारणपावनपङ्कजे ॥ ४१ ॥
समदने मदनेन वशीकृता वरवधूरवधूय भज प्रभुम् ।
अशरणोद्धरणोद्धतधीः शुचामुपरमं परमं स करोति ते ॥ ४२ ॥
(युग्मम्)

---

1. 'मतिम्' ऐसा भी पाठ है ।

अन्वय—पवनेरितमाधवीधवलिते तरुपङ्क्तिभिः वलिते अमलकोमलकोषनिषण्णषट्-चरणपारणपावनपङ्कजे समदने उपवने मदनेन वशीकृताः वरवधूः अवधूय प्रभुम् [एव] भज । अशरणोद्धरणोद्धतधीः सः ते शुचाम् परमम् उपरमम् करोति ।

अर्थ—अरे मन ! मन्द-मन्द पवनसे कम्पित माधवी लताओंसे धवलित, अतिसुमनोहर तरुपंक्तियोंसे सुशोभित, स्वच्छ और सुकोमल कमल-कोषोंमें बैठे भ्रमरोंकी मकरन्द-पारणा (किञ्जल्क-पान) से अतिपावन कमल जहाँ शोभा दे रहे हैं ऐसे, मदनके वृक्षोंसे सुशोभित उपवनमें कामसे वशीभूत कामिनियोंके साथ गाढ़ आलिङ्गनकी अभिलाषा छोड़कर केवल प्रभुका ही भजन कर; क्योंकि शरण-हीन प्राणियोंके उद्धारमें परायण वह अतिदयालु प्रभु ही तेरी जन्म-मरणरूप विपत्तियोंका मूलोच्छेदन करेंगे ।

जहिहि मोहमुपेहि निजां स्थितिं त्यज शुचं भज मानपरिग्रहम् ।
अहरहर्हरपादसरोरुहस्मृतिरसायनपानपरं भव ॥ ४३ ॥

अन्वय—[हे मानस !] मोहम् जहिहि । निजाम् स्थितिम् उपेहि । शुचम् त्यज । मानपरिग्रहम् भज । अहरहः हरपादसरोरुहस्मृतिरसायनपानपरम् भव ।

अर्थ—हे मन ! तू अज्ञानको छोड़, अपनी मर्यादामें स्थित हो जा । शोक-मोहका परित्याग कर दे, उन्नतिको प्राप्त कर । सर्वदा भगवान् शङ्करके पाद-पद्मके स्मरणरूप अमृतके पानमें लीन हो जा ।

तदसमञ्जसमङ्ग यदङ्गनानयनचापलशापमुपेयताम् ।
नयसि नित्यबहिर्मुख शङ्करस्मरणसौमनसीमपि हेयताम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—नित्यबहिर्मुख ! अङ्ग ! [त्वम्] यत् अङ्गनानयनचापलशापम् उपेयताम् नयसि, शङ्करस्मरणसौमनसीम् अपि हेयताम् नयसि, तत् असमञ्जसम् ।

अर्थ—अरे परिणामतः दुःखद बाह्य विषयोंमें ही आसक्त मन ! जो तू नरकमें डालनेवाले कामिनीके कटाक्षोंको ही अच्छा समझता है और प्रभु-स्मरण-रूप परमानन्द-विश्रान्तिको भी सर्वदा त्याग देता है, यह अत्यन्त अनुचित है । [क्योंकि—]

यदि समर्थयसे दुरतिक्रमं कुपितकालभटभ्रुकुटीभयम् ।
तदचिकित्स्यभवामयभेषजं भज भुजङ्गमभूषणतोषणम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—[हे चित्त !] यदि कुपितकालभटभ्रुकुटीभयम् दुरतिक्रमम् समर्थयसे, तत् अचिकित्स्यभवामयभेषजम् भुजङ्गमभूषणतोषणम् भज ।

अर्थ—अरे चित्त ! यदि तू अत्यन्त कुपित यमदूतोंकी विकराल भ्रुकुटियोंके भयको अलंघनीय समझता है, अर्थात् यदि यमदूतोंसे सदैव भयभीत रहता है, तो इस संसाररूप असाध्य रोगकी एकमात्र रामबाण औषधि भुजङ्ग-भूषण शङ्करको ही सन्तुष्ट कर ।

यदि चिकीर्षसि सौहृदमात्मनः परिजिहीर्षसि यद्यघबन्धनम् ।
यदि तितीर्षसि संसृतिसागरं श्रय [1]मयस्करमीश्वरसेवनम् ॥ ४६ ॥

अन्वय—[हे चित्त !] यदि आत्मनः सौहृदम् चिकीर्षसि, यदि अघबन्धनम् परिजिहीर्षसि, यदि [च] संसृतिसागरम् तितीर्षसि, तर्हि मयस्करम्* ईश्वरसेवनम् श्रय ।

अर्थ—अरे प्रिय चित्त ! यदि तू उस पूर्ण परब्रह्म परमात्मासे मैत्री करना चाहता है, यदि कारागाररूप पापोंके बन्धनोंको त्यागना चाहता है और यदि जन्म-मरण-प्रवाहरूप संसार-सागरको पार करना चाहता है, तो शीघ्र ही परम कल्याणकारक ईश्वराराधनका आश्रय ले ।

यदि वराक सुकर्मविपाकतः करतले पतितस्तव शेवधिः ।
तमखिलापदपाकरणक्षमं नयसि मूढ निरर्थकतां कथम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—वराक ! यदि सुकर्मविपाकतः तव करतले शेवधिः पतितः, [तर्हि] मूढ ! अखिलापदपाकरणक्षमम् तम् निरर्थकताम् कथम् नयसि ?

अर्थ—अरे दयनीय मन ! यदि किन्हीं प्राचीन, अनेक जन्मोंमें उपार्जित पुण्योंके परिपाकसे यह मानुष-जन्मरूप निधि तेरे हाथ लग गयी है, तो रे मूढ़ ! सम्पूर्ण आपत्तियोंको दूर करनेमें समर्थ [भगवान्‌की उपासनाके योग्य] उस निधिको व्यर्थ ही क्यों बरबाद कर रहा है ?

[अग्रिम श्लोकसे यही स्पष्ट करते हैं—]

अमलशीलकुलश्रुतविश्रुतं सदसदर्थविचारविशारदम् ।
पुरजिदर्चनसौख्यपराङ्मुखं नयसि मानस मानुषजन्म यत् ॥ ४८ ॥

अन्वय—मानस ! अमलशीलकुलश्रुतविश्रुतम् सदसदर्थविचारविशारदम् मानुषजन्म, यत् पुरजिदर्चनसौख्यपराङ्मुखम् नयसि ‡ ।

अर्थ—अरे मन ! तेरा यह मनुष्य-जन्म अतिपवित्र शील, कुल और विद्यासे प्रख्यात तथा नित्यानित्य वस्तु या कार्याकार्यके विवेकमें अतिनिपुण है । [व्यर्थ ही] तू इसे भगवान् त्रिपुरारिके पूजनके सौख्यसे पराङ्मुख बनाये ढो रहा है !

श्रमदमन्थरमन्थरयाहतिध्वनदमुद्रसमुद्रसमानया ।
शमितशापदशापदमेहि मे हर गिरा वितरावितथं वरम् ॥ ४९ ॥

---

१. 'यशस्करम्' इत्यपि पाठः ।

* वेदोंमें 'मयस्कर' शब्द कल्याणवाचक देखा जाता है । जैसे रुद्रसूक्तमें कहा है—'नमः शङ्कराय च मयस्कराय च ।' यद्यपि भाषामें 'मयस्कर' शब्दका कोई प्रसिद्ध प्रयोग नहीं देखा जाता, तथापि यहाँ भक्तिके विषयमें अप्रसिद्ध पदका प्रयोग करना भी दोष नहीं कहा जा सकता । अथवा 'छन्दोवत्कवयोऽपि प्रयुञ्जते' (वेदके समान कवि लोग भी शब्दोंका प्रयोग किया करते हैं) इस न्यायसे भी इसका समाधान हो सकता है ।

‡ श्लोक ३९ से यहाँतक दस श्लोकों द्वारा चित्तके उपदेशका 'कुलक' है ।

अन्वय—हर ! [त्वम्] एहि, भ्रमदमन्थरमन्थरयाहतिध्वनदमुद्रसमुद्रसमानया गिरा शमितशापदशापदम् अवितथम् वरम् वितर ।

अर्थ—अयि विपत्तिहर शम्भो ! अब आप शीघ्र आइये ! [और समुद्र-मन्थन-के समय] बड़ी तेजीसे घूमते मन्दराचलके वेगके आघातसे गम्भीर शब्दायमान मर्यादा-हीन समुद्रके समान गम्भीर वाणीसे मुझ भयभीतको बार-बार जन्म-मरणरूपी महान् आपत्तिको शान्त करनेवाला सत्य वरदान (मत डरो ! मत डरो ! ऐसा अभय-वचन) दीजिये !

अनुगृहाण गृहाण घृणार्णव प्रणयिनः प्रणयानुगुणं वचः ।
उपकुरुष्व कुरुष्व दृढं मनागशरणोद्धरणप्रवणं मनः ॥ ५० ॥

अन्वय—घृणार्णव ! अनुगृहाण, प्रणयिनः प्रणयानुगुणम् वचः गृहाण । [त्वम्] उपकुरुष्व । अशरणोद्धरणप्रवणम् मनः मनाक् दृढम् कुरुष्व ।

अर्थ—अयि करुणासागर ! अपने शरणागतके प्रति अनुग्रह कीजिये और मुझ याचककी याचना स्वीकार कर उसके अनुकूल प्रतिवचन दीजिये । प्रभो ! इस भवाब्धिसे पारकर मुझपर महान् उपकार कीजिये । मेरे समान शरणहीन, दीनजनोंके उद्धारमें परायण अपना मन थोड़ा-सा दृढ़ कर लीजिये ।

पृथु शिरस्त्रिदशापगया श्रितं करुणया हृदयं शिवया वपुः ।
कथमतिप्रमिते भगवन् धृतिः श्रवणरन्ध्रपदेऽपि न मे गिरः ॥ ५१ ॥

अन्वय—भगवन् ! तव पृथु शिरः त्रिदशापगया श्रितम् , [पृथु] हृदयम् करुणया [श्रितम् , पृथु] वपुः शिवया [श्रितम् । तर्हि तव] अतिप्रमिते अपि श्रवणरन्ध्रपदे मे गिरः धृतिः कथं न [भवति] ?

अर्थ—भगवन् ! आपने गङ्गाको अपना विशाल मस्तक प्रदान कर दिया, करुणाके निवासार्थ अपना उदार हृदय दे दिया और जगदम्बा पार्वतीजीको बैठनेके लिए अपनी विस्तृत गोद ही सौंप दी । भगवन् ! फिर आप ऐसे उदार औढरदानी होकर भी बेचारी मेरी वाणीके लिए आपके अतिसूक्ष्म कर्ण-विवरमें [थोड़ी-सी] जगह कैसे नहीं हो पाती अर्थात् मेरी बात क्यों नहीं सुनते ?

त्वदनुरागभरेण कदर्थिता त्वदनुरञ्जनकर्मणि चाक्षमा ।
इति मतिर्मम चाटुपराङ्मुखी हर करोति निजार्तिनिवेदनम् ॥ ५२ ॥

अन्वय—हर ! त्वदनुरागभरेण कदर्थिता त्वदनुरञ्जनकर्मणि च अक्षमा इति मम मतिः चाटुपराङ्मुखी [सती] निजार्तिनिवेदनम् करोति ।

अर्थ—भगवन् ! जैसे अपने प्रियतम-विषयक अत्यन्त अनुरागसे विह्वल, किन्तु उसका मनोरञ्जन करनेमें असमर्थ होनेके कारण कोई कामिनी चाटु वचनोंसे पराङ्मुख हो प्रियतमसे अपना दुःख निवेदन करती है, वैसे ही यह मेरी मति भी आपके विषयमें गाढ़ अनुरागसे विह्वल है, किन्तु आपका मनोरञ्जन करने योग्य कार्य करनेमें असमर्थ है । इस कारण आपकी चाटुकारिता (खुशामदें) न कर केवल आपसे अपना दुःख निवेदन कर रही है ।

प्रियतमोऽसि मतेर्मम सा पुनर्न गुणवत्यपि ते हृदयङ्गमा ।
इति महेश भवद्विरहातुरा भजति कामपि कामकदर्थनाम् ॥ ५३ ॥

अन्वय—महेश ! [त्वम्] मम मतेः प्रियतमः असि । सा पुनः गुणवती अपि ते हृदयङ्गमा न । इति [सा] भवद्विरहातुरा काम् अपि कामकदर्थनाम् भजति ।

अर्थ—हे महेश ! शील, सदाचार, पातिव्रत्य आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न कोई कामिनी पतिको अपना प्राणप्रिय समझती हो, फिर भी उसे प्रिय न लगती हो, तो वह काम-व्यथासे पीड़ित हो असह्य वेदना पाती है। ठीक इसी तरह आप मेरी मतिके प्राणप्रिय हो और यह गुणवती (सत्त्व रज, तम इन तीनों गुणों या दया-दाक्षिण्यादि गुणोंसे सम्पन्न) होकर भी आपको प्रिय नहीं लगती। इस कारण यह आपके विरहसे व्याकुल हो [अपना अभीष्ट पूर्ण न होनेसे] अत्यन्त असह्य व्यथा पा रही है।

भव भवत्परिरम्भरसोऽस्तु मा त्वदुपभोगविधौ तु कथैव का ।
तव तु दर्शनमात्रककाङ्क्षिणीं मम मतिं कथमित्थमुपेक्षसे ॥ ५४ ॥

अन्वय—भव ! [तस्याः] भवत्परिरम्भरसः मा अस्तु त्वदुपभोगविधौ तु कथा एव का ? किन्तु तव दर्शनमात्रककाङ्क्षिणीम् मम मतिम् इत्थम् कथम् उपेक्षसे ?

अर्थ—हे भगवन् ! मेरी इस मतिको भले ही आपके आलिङ्गनका सौख्य न मिले; फिर आपद्वारा उपभोग करनेकी तो बात ही क्या ! किन्तु स्वामिन्, केवल आपका दर्शनमात्र चाहनेवाली मेरी मतिकी इस प्रकार क्यों उपेक्षा कर रहे हैं ?

कुटिलतां न जगाम निकामतो न सहजं मलिनत्वमुपेयुषी ।
वहसि किं घनरागकदर्थितां मम मतिं प्रति कर्कशमाशयम् ॥ ५५ ॥

अन्वय—[स्वामिन् ! इयम्] निकामतः कुटिलताम् न जगाम, सहजम् मलिनत्वम् च न उपेयुषी। [तर्हि] घनरागकदर्थिताम् मम मतिम् प्रति कर्कशम् आशयम् किम् वहसि ?

अर्थ—स्वामिन् ! यह मेरी मतिरूपी कामिनी स्वभावतः कुटिल नहीं हुई है और स्वभावतः दोषोंसे भरी भी नहीं है। तब आपके गाढ़-स्नेहसे विह्वलित इस मेरी मतिके प्रति आपका हृदय इतना कठोर क्यों हो गया ? अर्थात् उसपर कृपा कीजिये।

अथ गता परिणामदशामिति त्यजसि चेन्मम मुग्धतमां मतिम् ।
किमपरं घनमोहविमूर्छिता प्रथयतां तव निर्दयतामियम् ॥ ५६ ॥

अन्वय—अथ परिणामदशाम् गता इति चेत् मम मुग्धतमाम् मतिम् त्यजसि, तर्हि अपरम् किम् [वच्मि] ? घनमोहविमूर्छिता इयम् तव निर्दयताम् प्रथयताम् !

अर्थ—और यदि यह मतिरूपी कामिनी परिणाम-दशा (अत्यन्त प्रौढ़ता या प्रकृतिके परिणाम) को प्राप्त हो गयी है, ऐसा समझकर आप [वास्तवमें] अत्यन्त मुग्धा या मूढ़तमा मेरी इस मतिका त्याग करते हैं, तो मैं और क्या कहूँ ?

अत्यन्त मोह (अज्ञान या कामोद्रेक) से मूर्च्छित हो यह अब आपकी निर्दयता ही प्रकट करेगी* ।

इदमनङ्गजनङ्गमसङ्गम[1]भ्रमदमन्दमलं चपलं मनः ।
अमृतकुम्भकर द्युतरङ्गिणीधर सुधाकरशेखर शोधय ॥ ५७ ॥

अन्वय—अमृतकुम्भकर द्युतरङ्गिणीधर सुधाकरशेखर ! इदम् अनङ्गजनङ्गमसङ्गम-भ्रमदमन्दमलम् चपलम् मनः शोधय ।

अर्थ–हाथमें अमृतकुम्भ और शीशपर गङ्गा धारण करनेवाले हे चन्द्रशेखर मृत्युञ्जय ! कामरूपी चाण्डालके सङ्गसे फैलनेवाले अत्यन्त मलसे युक्त मेरे इस चञ्चल मनको पवित्र कर दीजिये; [क्योंकि पवित्र करनेके साधन अमृत-कलश, गङ्गा और चन्द्र तीनों आप धारण किये हुए हैं । इसी अभिप्रायसे यहाँ शंकरजीको ये विशेषण दिये गये हैं]।

भवमरुभ्रमखेदकदर्थितं सुविषमैस्तृषितं विषयोष्मभिः[2] ।
मदयते हृदयं मम निर्भरं भव भवचरणस्मरणामृतम् ॥ ५८ ॥

अन्वय—भव ! भवमरुभ्रमखेदकदर्थितम् सुविषमैः विषयोष्मभिः तृषितम् मम हृदयम् निर्भरम् भवच्चरणस्मरणामृतम् मदयते ।

अर्थ—अयि शम्भो ! संसाररूपी अतिघोर मरुस्थलमें भटकनेसे अत्यन्त खिन्न और विषयरूपी प्रचण्ड तापसे तृषित मेरे हृदयको अब आपका चरण-स्मरणरूप अमृत परम आनन्द दे रहा है। अर्थात् संसाररूपी मरुस्थलके भ्रमणसे सन्तप्त मेरे हृदयका तीव्र ताप आपके चरणारविन्दके स्मरणामृतको सेवन करनेसे समूल नष्ट हो रहा है।

विषयपन्नगपाशवशीकृतं भवमहार्णवमग्नमनीश्वरम् ।
बहलमोहमहोपलपीडितं हर समुद्धर मां शरणागतम् ॥ ५९ ॥

अन्वय—हर ! विषयपन्नगपाशवशीकृतम् भवमहार्णवमग्नम् बहलमोहमहोपलपीडितम् अनीश्वरम् माम् शरणागतम् समुद्धर ।

अर्थ—अयि समस्त दुःखहारिन् ! विषयरूपी नागपाशोंसे बँधे, संसाररूपी

---

* इसी आशयका टीकाकार श्रीराजानक रत्नकण्ठका एक श्लोक है—

'किं सुप्तोऽसि किमाकुलोऽसि जगतः सृष्टस्य रक्षाविधौ
किं वा निष्करुणोऽसि नूनमथवा क्षीणः स्वतन्त्रोऽसि किम् ।
किं वा मादृशनिःशरण्यकृपणाभाग्यैर्जडोऽवागसि
स्वामिन् यन्न शृणोषि मे विलपितं यन्नोत्तरं यच्छसि ॥'

अर्थात् भगवन् ! स्वयं ही निर्मित इस जगत्की रक्षा करनेमें क्या आप सो गये हैं, क्या व्याकुल है, क्या निष्करुण हैं या निश्चय ही क्षीण हो गये हैं या स्वतन्त्र हो गये हैं ? किंवा मुझ जैसे अशरण्य और कृपणके दुर्भाग्यसे आप जड़, मूक हो गये हैं ? स्वामिन् ! क्या कारण है कि आप मेरा यह विलाप नहीं सुनते और कोई उत्तर नहीं देते ?

१. 'प्रसृमरप्रचुरावरणम्' इति पाठान्तरम् ।

२. 'विषयोर्मिभिः' इत्यपि पाठः ।

महासमुद्रमें निमग्न और उसपर भी अतिगाढ़ मोह (अज्ञान-) रूपी महाशिलासे प्रताडित मुझ अनाथ शरणागतका उद्धार कीजिये ।

यमभटैर्ह्रियमाणमयन्त्रणैरशरणं शरणं चरणौ श्रितम् ।
घनघृणामृतनिर्भरया दृशा मदनमर्दन मामवलोकय ॥ ६० ॥

अन्वय—मदनमर्दन ! अयन्त्रणैः यमभटैः ह्रियमाणम् अशरणम् चरणौ शरणम् श्रितम् माम् घनघृणामृतनिर्भरया दृशा अवलोकय ।

अर्थ—कामदेवका मान-मर्दन करनेवाले प्रभो ! अनियन्त्रित (अत्यन्त उच्छृङ्खल) यमदूतोंद्वारा खींचकर ले जाये जानेवाले, सर्वथा अनाथ और आपके चरणोंकी शरण आये हुए मुझ दीनको गाढ़ कृपारूपी अमृतसे परिपूर्ण दृष्टिसे देखिये ।

अभयघोषमिषोन्मिषितामृतद्रवमवन्ध्यधृतस्मितचन्द्रिकम् ।
वदनचन्द्रमसं तव पश्यतो मम कदा नु तमः शममेष्यति ॥ ६१ ॥

अन्वय—[मदन-मर्दन !] अभयघोषमिषोन्मिषितामृतद्रवम् अवन्ध्यधृतस्मितचन्द्रिकम् तव वदनचन्द्रमसम् पश्यतः मम तमः कदा नु शमम् एष्यति ?

अर्थ—अयि काम-रिपो ! 'मत डरो ! मत डरो !!' इस प्रकार अभय-घोषके प्रदानके व्याजसे अमृत-रसका स्राव करनेवाले एवं भक्तजनोंके अभीष्ट वरदानमें सर्वथा अमोघ ईषत्-हास्यरूप चन्द्रिकासे सुशोभित आपके मुखचन्द्रको देखते हुए मेरा यह अज्ञानान्धकार कब दूर होगा ?

प्रबलतापकदर्थितविग्रहं द्विजपतिं परिपालयितुं शिशुम् ।
वहसि किं न विभो हृदये दयां शिरसि निर्जरनिर्झरिणीमिव ॥ ६२ ॥

अन्वय—विभो ! प्रबलतापकदर्थितविग्रहम् शिशुम् द्विजपतिम् परिपालयितुम् , शिरसि निर्जरनिर्झरिणीम् इव, हृदये दयाम् किम् न वहसि ?

अर्थ—अयि विभो ! जैसे आप परम कृपालुने राजयक्ष्मा रोगके तापसे खिन्न शिशु द्विजपति (बाल-चन्द्रमा) की रक्षाके लिए अपने शिरमें परम शीतल जलवाली देवनदी मन्दाकिनीको धारण किया है, वैसे ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापोंसे सन्तप्त मुझ अनाथ द्विजपति-शिशु (ब्राह्मण-बालक) का पालन करनेके लिए अपने विशाल हृदयमें दयाको क्यों नहीं धारण कर लेते ?

प्रणततापविपत्क्षपणक्षमां दलितसन्ततसन्तमसस्थितिम् ।
हृदि निधेहि दयाममृतस्रुतं हरिणकेतुकलामिव मूर्धनि ॥ ६३ ॥

अन्वय—[विभो !] प्रणततापविपत्क्षपणक्षमाम् दलितसन्ततसन्तमसस्थितिम् अमृतस्रुतम् दयाम् , मूर्धनि हरिणकेतुकलाम् इव, हृदि निधेहि ।

अर्थ—हे विभो ! जिस प्रकार आपने अपने मस्तकपर शरणागतोंके समस्त तापोंको शान्त करनेमें समर्थ और गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेवाली अमृतवर्षिणी चन्द्रकलाको धारण किया है, उसी प्रकार शरणागतोंके त्रिविध तापरूपी विपत्तिको

दूर करनेमें समर्थ, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको समूल नष्ट करनेवाली और अमृत बरसानेवाली विशाल करुणाको [भी] हृदयमें धारण कीजिये।

अभिमताधिकसिद्धिविधायिनीं भवदवच्छिदमव्यभिचारिणीम्।
वह विभो हृदये दयितां दयां वपुषि भूधरराजसुतामिव ॥ ६४ ॥

अन्वय—विभो ! अभिमताधिकसिद्धिविधायिनीम् भवदवच्छिदम् अव्यभिचारिणीम् दयिताम् दयाम् , वपुषि भूधरराजसुताम् इव, हृदये वह ।

अर्थ—विभो ! जैसे आपने शरणागतोंको इच्छितसे भी अधिक सिद्धि देनेवाली संसाररूपी दावानलको समूल नष्ट करनेवाली और सर्वदा साथ रहनेवाली प्रियतमा श्रीगिरिजाको अपनी गोदमें बैठा रखा है, वैसे ही भक्तजनोंको उनके मनोरथोंसे भी अधिक वर देनेवाली, संसाररूपी घोर दावानलको समूल नष्ट कर देनेवाली और सर्वदा सुस्थिर रहनेवाली प्रियतमा करुणाको भी अपने हृदयमें बैठा लीजिये।

चिन्तामणिः स्फटिकजातिरचेतनोऽपि
कल्पद्रुमः कठिनकाष्ठविनिर्मितोऽपि ।
तिर्यग्दशामपि गता किल कामधेनु-
र्भाग्यैरभीष्टफलदा कृतिनां भवन्ति ॥ ६५ ॥
त्वं तु प्रभो त्रिभुवनैकमहेश्वरोऽपि
पर्याप्तशक्तिरपि पूर्णकृपार्णवोऽपि ।
आक्रन्दतोऽपि करुणं विधिवञ्चितस्य
त्यक्तादरोऽसि मम दर्शनमात्रकेऽपि ॥ ६६ ॥ [युग्मम्]

अन्वय—स्फटिकजातिः चिन्तामणिः अचेतनः अपि, कल्पद्रुमः कठिनकाष्ठविनिर्मितः अपि, कामधेनुः [च] तिर्यग्दशाम् गता अपि कृतिनाम् भाग्यैः अभीष्टफलदा भवन्ति । प्रभो ! त्वम् तु त्रिभुवनैकमहेश्वरः अपि पर्याप्तशक्तिः अपि पूर्णकृपार्णवः अपि [सन्] करुणम् आक्रन्दतः अपि विधिवञ्चितस्य मम दर्शनमात्रके अपि त्यक्तादरः असि ।

अर्थ—भगवन् ! [जरा देखिये तो] स्फटिक पत्थरसे उत्पन्न चिन्तामणि अचेतन (जड़ पदार्थ) होकर भी, कल्पवृक्ष अत्यन्त कठोर काष्ठमय होकर भी और कामधेनु पशुरूप होकर भी पुण्यात्मा लोगोंको उनके भाग्यसे नाना प्रकारके अभीष्ट वरोंको देते हैं। किन्तु हे विभो ! आप तो तीनों लोकोंके एकमात्र महान् अधिपति होकर भी, पूर्ण शक्तिसे सम्पन्न होकर भी और कृपाके पूर्ण समुद्र होकर भी अत्यन्त दीनतासे चिल्लाते हुए भी मुझ भाग्यहीनको केवल दर्शन देनेमें भी इतनी आनाकानी करते हों ! [यह मेरे ही भाग्यकी खूबी है*]।

* इसी तरहके अभिप्रायसे टीकाकार श्रीरत्नकण्ठ भी अपने चित्तसे कहते हैं—
'निश्चेतनं तृणमणिस्तृणमाददाति लोहं च लोहमणिरात्मवशं करोति ।
रे चित्त ! चेतनमपि त्वमभाग्यतो मे स्वाधीनमाचरसि नो स्वविभुं दयालुम् ॥'

चिरं द्वारोपान्ते स्थितमवसरो[1]द्वीक्षणधिया
तिरस्कारः सोढः[2] कुपितमुखरद्वाःस्थविहितः।
मुखं दीनं कृत्वा[3] विभवलवगर्वान्धितदृशां
कदीशानामग्रे क इव न विसोढः परिभवः ॥ ६७ ॥ [तिलकम्]

अन्वय—[अस्माभिः] अवसरोद्वीक्षणधिया विभवलवगर्वान्धितदृशाम् [कदीशानाम्] द्वारोपान्ते चिरम् स्थितम्। [तत्रैव] कुपितमुखरद्वाःस्थविहितः तिरस्कारः सोढः। [तदेवम्] कदीशानाम् अग्रे दीनं मुखम् कृत्वा कः इव परिभवः न विसोढः ?

अर्थ—विभो ! 'अन्दर जानेका कब अवसर मिलेगा' इस विचारसे हम लोग स्वल्प धनके मदसे अन्ध क्षुद्र राजाओंके दरवाजोंपर चिरकाल खड़े रहे और वहीं कुपित एवं वाचाल द्वारपालों द्वारा किया गया तिरस्कार भी खूब सहा। इस प्रकार महान् अहंकारी क्षुद्र धनिकोंके आगे दीन मुख कर हमने कौन-कौन-से अपमान नहीं सहे ? अर्थात् अनेक अपमान सहे।

परिम्लानो मानस्तनुरपि तनुस्ताम्यतितमां
मनो मोहावर्ते भ्रमति धृतिरस्तं व्रजति च।
कथापि क्लेशानामवतरति नोच्छेदपदवीं
दवीयस्यामस्यां भवभुवि मुधा धावति मतिः ॥ ६८ ॥

अन्वय—[हे विभो ! मम] मानः परिम्लानः। तनुः अपि तनुः ताम्यतितमाम्। मनः मोहावर्ते भ्रमति, धृतिः च अस्तम् व्रजति। क्लेशानाम् अपि कथा उच्छेदपदवीम् न अवतरति। मतिः अस्याम् दवीयस्याम् भवभुवि मुधा धावति।

अर्थ—भगवन् ! अब मेरा अभिमान (मैं भी कोई हूँ, ऐसा अहंकार) अत्यन्त म्लान हो गया है। कृश भी शरीर अत्यन्त ग्लानि पा रहा है। मन मोहरूपी भँवरमें चक्कर खा रहा है और धैर्य भी अस्त हो चला है। क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशों) के भी नष्ट होनेकी सम्भावनातक नहीं दीखती और मति इस अपार संसाररूपी दुःखभूमिमें व्यर्थ ही दौड़ रही है।

तदेवं दुर्वारव्यसनशतसंपातविषमं
विशन्नेष स्वामिन्नहह सुमहन्मोहगहनम्।
अविन्दन्नाश्वासक्षममपरमापन्नसुहृदं
जनोऽवज्ञापात्रं भवति करुणाब्धेर्न भवतः ॥ ६९ ॥

अर्थात् तृणमणि (तृणग्राहक क्षुद्र मणि 'कहरवा') अचेतन (जड़ पदार्थ) को अपनी तरफ खींच लेती है और लोहमणि (चुम्बक) अचेतन (जड़) लोहको भी अपने वशमें कर लेती है। परन्तु अरे चित्त ! तू तो मेरे अभाग्यवश अतिशय दयालु प्रभु साक्षात् 'चेतन' को भी अपने वशमें नहीं कर पाता !

१. 'उद्वीक्षण' इति पाठान्तरम्। २. 'प्राप्तः' इत्यपि पाठः। ३. 'धृत्वा' इति पाठान्तरम्।

अन्वय—स्वामिन् अहह ! तत् एवम् दुर्वारव्यसनशतसंपातविषमम् सुमहन्मोहगहनम् विशन् [अत एव] आश्वासक्षमम् अपरम् आपन्नसुहृदम् अविन्दन् एषः जनः करुणाब्धेः भवतः अवज्ञापात्रम् न भवति ।

अर्थ—स्वामिन् ! खेद है कि इस प्रकार अनेक अनिवार्य विपत्तियोंके संपातोंसे गहन, महामोहरूपी दुर्गम निर्जल स्थानमें प्रवेशकर, [अतएव एकमात्र आपके सिवा] आश्वासन देनेमें समर्थ और विपत्तिसे घिरे अनाथ जनोंको अपनानेवाले अन्य किसी ईश्वर या बान्धवको न पाता हुआ यह दीन प्राणी (मैं) आप करुणा-सागरके लिए तिरस्कार-योग्य नहीं है ।

कदर्याणामग्रे तरलनलिनीपल्लवतल-
प्रलीनप्रालेयप्रचलकमलामूढमनसाम् ।
अदभ्रभ्रूभङ्ग[1]प्रभवमवमानं हतधियः
सहन्ते हन्तेह द्रविणकणतृष्णान्धितदृशः ॥ ७० ॥

अहं तु प्रत्यग्रप्रभुचरणराजीवरजसा
पवित्रं मूर्धानं दधदधिकभक्तिग्रहगुरुम् ।
भ्रुकुंसत्वं बिभ्रत्प्रमदभरसन्दर्भरभसा-
द्भजेयं भूतेशभ्रुकुटिघटनाभाजनभुवम् ॥ ७१ ॥
[युग्मम्]

अन्वय—हन्त ! इह द्रविणकणतृष्णान्धितदृशः हतधियः तरलनलिनीपल्लवतलप्रलीन-प्रालेयप्रचलकमलामूढमनसाम् कदर्याणाम् अग्रे अदभ्रभ्रूभङ्गप्रभवम् अवमानम् सहन्ते । अहम् तु प्रत्यग्रप्रभुचरणराजीवरजसा पवित्रम् अधिकभक्तिग्रहगुरुम् मूर्धानं दधत् , प्रमदभर-सन्दर्भरभसात् भ्रुकुंसत्वम् बिभ्रत् भूतेशभ्रुकुटिघटनाभाजनभुवम् भजेयम् ।

अर्थ—हाय ! कितने परितापकी बात है कि इस नीरस संसारमें धनके कणकी तृष्णासे जिनकी बुद्धि मारी गयी है, ऐसे हतभाग्य लोग अतिचञ्चल कमल-पत्रपर गिरे हिमकणोंके समान अत्यन्त चलायमान लक्ष्मीके मदसे मूढ़ (अन्ध) कृपण लोगोंके आगे उनकी टेढ़ी भ्रुकुटियों (नजरों) से किये गये अपमानको सहन करते हैं। किन्तु मैं तो [यह चाहता हूँ कि] प्रभुके सुकोमल चरणारविन्दकी रजसे पवित्र और अतिगाढ़ भक्तिके व्यसनसे उन्नत-मस्तक होता हुआ भक्तिरसरूपी आसवके पानसे परमानन्द-प्रवाहके वेगमें आकर स्त्रीवेषधारी नट बनकर भगवान् भैरव शङ्करकी भ्रूभङ्ग-रचनाका पात्र बनूँ । [भाव यह है कि मूढ़बुद्धि लोग तो कामके भ्रूभंगके पात्र हुआ करते हैं । किन्तु मैं धन्य शिवभक्ति-रसके आनन्दमें स्त्रीवेषधारी नट बनकर भगवान् भैरव (शङ्कर) की भ्रूभंग-रचनाका पात्र बनूँ] ।

[अब कवि शिवभक्तिरसामृतके आनन्दोद्रेकमें अपना मनोविनोद करते हैं-]

---

१. प्रसवमवसानम्' इति पाठान्तरम् ।

सुरस्रोतस्वत्यास्तटविटपिपुष्पौघसुरभौ
गिरिग्रावग्रामस्खलनमुखरस्रोतसि जले ।
श्रमक्षामैरङ्गैरगणितभवक्लेशविपदां
कदा स्यान्नस्तृप्तिर्हरचरणसेवासुखरसैः ॥ ७२ ॥

अन्वय—तटविटपिपुष्पौघसुरभौ गिरिग्रावग्रामस्खलनमुखरस्रोतसि सुरस्रोतस्वत्याः जले श्रमक्षामैः अङ्गैः [उपलक्षितानाम् , अत एव] अगणितभवक्लेशविपदाम् नः हरचरणसेवा-सुखरसैः तृप्तिः कदा स्यात् ?

अर्थ—अहा ! तटवर्ती वृक्षोंके सुमनोहर पुष्पोंसे सुगन्धित और पर्वतकी शिलाओंसे टकरानेके कारण शब्दायमान प्रवाहवाले सुरसरिके जलमें—श्रमसे कृशित अङ्गोंवाले और सांसारिक क्लेशरूपी विपत्तियोंपर कुछ भी ध्यान न देनेवाले—हम लोगोंको सदाशिवके पादारविन्दकी सेवाके सुखसे कब अतिशय तृप्ति मिलेगी ?

अमन्दानन्दानां दलदलघुसन्तापविपदां
पदाम्भोजद्वन्द्वं शिरसि दधतामिन्दुशिरसः ।
कदा नः कालिन्दीसलिलशबलैरम्बरसरि-
त्तरङ्गैरङ्गारीभवति भवबन्धेन्धनचयः ॥ ७३ ॥

अन्वय—इन्दुशिरसः पदाम्भोजद्वन्द्वम् शिरसि दधताम् [अत एव] अमन्दानन्दानाम् दलदलघुसन्तापविपदाम् नः भवबन्धेन्धनचयः कालिन्दीसलिलशबलैः अम्बरसरित्तरङ्गैः कदा अङ्गारीभवति ?

अर्थ—[अहा !] भगवान् इन्दुमौलिके पादपद्म-युगलको मस्तकपर धारण करनेवाले [अतएव] अतिगाढ़ आनन्दमें मग्न और महान् सन्तापरूपी विपत्तियों-से निर्मुक्त हम लोगोंका यह सांसारिक-बन्धनरूपी इन्धनचय (जलती लकड़ियोंका गट्ठा) यमुनाके जलसे मिश्रित देव-सरिता गङ्गाकी तरङ्गोंसे (तीर्थराज प्रयागस्थ त्रिवेणीके जलसे) कब बुझा अंगार होगा ?* अर्थात् सांसारिक बन्धनरूप जलता हुआ इंधनका ढेर कब बुझ जायगा ?

सान्द्रानन्दस्तिमितकरणः पुण्यनैपुण्यभागी
भागीरथ्यास्तटविटपिनः क्वापि मूले निलीनः ।
सर्वाकारं गिरिपतिसुताकान्तमेकं प्रपन्नः
स्वात्मारामः शमसुखसुधास्वादमभ्येति धन्यः ॥ ७४ ॥

अन्वय—सर्वाकारम् एकम् गिरिपतिसुताकान्तम् प्रपन्नः [अत एव] सान्द्रानन्द-

* 'मुकुटकोषकार लिखते हैं कि 'अंगार' शब्दका प्रयोग 'साग्नि' (जलते हुए) और 'निरग्नि' (बुझे हुए) दोनों अर्थोंमें काव्योंमें पाया जाता है । यथा—'अङ्गारचुम्बितमिव व्यर्थमानमास्ते' और 'कलङ्कस्तत्रत्यो व्रजति मलिनाङ्गारतुलनाम् ।'

स्तिमितकरणः पुण्यनैपुण्यभागी धन्यः स्वात्मारामः भागीरथ्याः तटविटपिनः क्वापि मूले निलीनः [सन्] शमसुखसुधास्वादम् अभ्येति ।

अर्थ—अहा ! एकाग्रचित्त होकर मन, वचन, कर्मद्वारा सम्पूर्ण प्रयत्नोंसे एकमात्र सदाशिवका ही शरणागत [अतएव] अतिगाढ़ आनन्दसे निश्चल (सात्त्विक-भावापन्न) इन्द्रियोंवाला कोई महान् पुण्यशाली, आत्मामें रमण करनेवाला भाग्यवान् पुरुष ही पतित-पावनी भागीरथीके तटवर्ती वृक्षके नीचे कहीं बैठकर शान्ति-सुखरूप अमृतका आस्वादन करता है ।

अभिजनगुणख्यातिप्रज्ञाभिमानभरोद्धुरां
क इव सदसि प्रह्वीकर्तुं क्षमेत[1] शिरोधराम् ।
विदधति मुहुर्हेलाखेलं भवत्यवधीरणं
भ्रमयितुममी युक्ता न स्युर्यदीन्द्रियवैरिणः ॥ ७५ ॥

अन्वय—[स्वामिन् !] भवति मुहुः हेलाखेलम् अवधीरणम् विदधति [सति] अमी इन्द्रियवैरिणः [जनम्] भ्रमयितुम् यदि न युक्ताः स्युः, [तर्हि] कः इव [पुमान्] सदसि अभिजनगुणख्यातिप्रज्ञाभिमानभरोद्धुराम् शिरोधराम् प्रह्वीकर्तुम् क्षमेत ?

अर्थ—स्वामिन् ! आपद्वारा बार-बार हँसीसे तिरस्कार करनेपर (आपके विमुख होनेपर) ये इन्द्रियरूपी वैरिगण यदि जीवको मथ डालनेके लिए कटिबद्ध न होते, तो कौन पुरुष [क्षुद्र लोगोंकी] सभामें सत्कुल, गुण, कीर्ति एवं बुद्धिके अभिमानसे उन्नत अपनी ग्रीवाको झुकाता ? अर्थात् कोई भी नहीं । [क्योंकि —]

मानः कस्य न वल्लभः खलमुखप्रेक्षित्वदुःस्था स्थितिः
कस्य प्रीतिकरी त्रपाभरनतं कस्मै शिरो रोचते ।
किन्तु स्वामिनि सावलेपहृदये दासीकृताः शत्रुभिः
क्षुद्रानद्यतनेश्वरान् धनमदक्षीबान्निषेवामहे ॥ ७६ ॥

अन्वय—मानः कस्य वल्लभः न ? खलमुखप्रेक्षित्वदुःस्था स्थितिः कस्य प्रीतिकरी ? [याञ्चावशात्] त्रपाभरनतम् शिरः कस्मै रोचते ? किन्तु स्वामिनि सावलेपहृदये [सति] शत्रुभिः दासीकृताः वयम् धनमदक्षीबान् क्षुद्रान् अद्यतनेश्वरान् निषेवामहे ।

अर्थ—भगवन् ! अभिमान या सत्कार किसे प्रिय नहीं लगता ? [दुःख-व्यथाकी असह्यताके कारण] खलोंका मुँह देखनेसे सत्पुरुषकी जो दीन-दशा होती है, उसे कौन अच्छा समझता है ? [याचनावश] लज्जाके भारसे शिरको नम्र करना किसे अच्छा लगता है ? किन्तु हाय, करें क्या ? आप-सरीखे प्रभुके दरबारमें हमारा तिरस्कार होनेपर (आपके विमुख हो जानेसे ही) इन काम-क्रोधादिरूप शत्रुओंने हमें अपना दास बना लिया है । इसीलिए हम लोग धनके मदसे उन्मत्त क्षुद्र आधुनिक नृपोंकी सेवा करते रहते हैं !

---

१. 'सहेत' इत्यपि पाठः ।

स्तब्धा द्वारि यदास्महे क्षितिभुजां निर्भर्त्सिता वेत्रिभि-
र्यद्गर्वान्धनरेन्द्रवल्लभदुरुद्गारैर्विदह्यामहे ।
यन्मिथ्यास्तुतिपातकैर्भगवतीं वाचं तिरस्कुर्महे
तत्सर्वं तव वक्रवक्त्रवलनामात्रस्य विस्फूर्जितम् ॥ ७७ ॥

अन्वय—क्षितिभुजाम् द्वारि वेत्रिभिः निर्भर्त्सिताः [सन्तः] वयम् यत् स्तब्धाः आस्महे, यत् गर्वान्धनरेन्द्रवल्लभदुरुद्गारैः विदह्यामहे [च कुनृपतीनाम्] मिथ्यास्तुतिपातकैः भगवतीम् वाचम् यत् तिरस्कुर्महे, [हे विभो !] तत् सर्वम् तव वक्रवक्त्रवलनामात्रस्य विस्फूर्जितम् [अस्ति] ।

अर्थ—राजाओंके दरवाजोंपर दण्डधारी द्वारपालों (चौकीदारों) से अपमानित होकर हम लोग जो अत्यन्त स्तब्ध हो जाते हैं, जो महामदान्ध राजाओंके मुँह-लगुओंके दुर्वचनों (फटकारों) से जलते रहते हैं और जो क्षुद्र राजाओंके मिथ्या-स्तुतिरूप महान् पातकसे भगवती वाणीका तिरस्कार करते हैं; हे विभो ! यह सब आपके कुटिल दृष्टि करने मात्रका (रुष्ट होनेका ही) फल है ।

दृष्ट्वा पाटलगण्डलेखमरुणोद्बाष्पेक्षणं प्रस्फुरद्-
बिम्बोष्ठं प्रथमापराधकुपितं वक्त्रं कुरङ्गीदृशः ।
यत्सप्रेम सविस्मयं सविनयं सापत्रपं सस्पृहं
सत्रासं च मनोऽभवत्तदधुना श्रान्तं च शान्तं च नः ॥ ७८ ॥

अन्वय—पाटलगण्डलेखम् अरुणोद्बाष्पेक्षणम् प्रस्फुरद्बिम्बोष्ठम् प्रथमापराधकुपितम् कुरङ्गीदृशः वक्त्रम् दृष्ट्वा नः मनः यत् सप्रेम सविस्मयम् सविनयम् सापत्रपम् सस्पृहम् सत्रासम् च अभवत् , तत् [एव] अधुना [शिवभक्तिरसामृतेन सिक्तम् सत्] श्रान्तम् च शान्तम् च [जातम्] ।

अर्थ—लाल-लाल कपोलोंवाले, अरुण और बाष्पमय नेत्रोंवाले, बिम्बके समान अतीव सुन्दर स्फुरित अधरोंवाले और प्रथमापराध (कौमार-हरत्वरूप) से कुपित मृगनयनी कामिनीका मुख-कमल देख [पहले] जो हमारा मन, अतिशय प्रेम-युक्त विस्मय-युक्त, विनय-युक्त, लज्जा-युक्त, तृष्णा-युक्त और त्रास-युक्त हो जाता था, वही अब इस समय शिव-भक्तिरूपी अमृतसे सिञ्चित होनेपर अत्यन्त श्रान्त (खिन्न) और शान्त हो गया है ।

यत्खर्वीक्रियते सुखं विषयजं त्वद्भावनाजन्मना
ह्लादेन क्षणिकं स्थिरेण महता स्वल्पं किमत्राद्भुतम् ।
तच्चित्रं भवदुःखजं भवदनुध्यानप्रमोदाश्रुणा
बाष्पाम्बु ध्रुवमध्रुवेण सुमहत्सूक्ष्मेण यद्धियते ॥ ७९॥

अन्वय—[हे विभो !] क्षणिकम् स्वल्पम् विषयजम् सुखम् स्थिरेण महता त्वद्भावना-

जन्मना ह्लादेन यत् खर्वीक्रियते, अत्र किम् अद्भुतम् ? [किन्तु] अध्रुवेण सूक्ष्मेण च भवदनुध्यानप्रमोदाश्रुणा यत् ध्रुवं सुमहत् च भवदुःखजम् बाष्पाम्बु भिद्यते, तत् चित्रम् !

अर्थ—हे विभो ! अत्यन्त अस्थिर और स्वल्प विषय-जन्य सुख आपके ध्यानसे होनेवाले सुस्थिर और महान् आनन्दसे अतिअल्प हो जाता है, इसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् आपमें एकाकार-वृत्तिसे होनेवाले सुस्थिर आनन्दके सामने इस क्षणभंगुर स्वल्पतम विषय-सुखका अतितुच्छ प्रतीत होना कोई विशेष आश्चर्यकी बात नहीं है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि आपके चिन्तनसे होनेवाले क्षणिक और अत्यन्त सूक्ष्म आनन्दाश्रुसे सांसारिक दुःखोंसे होनेवाला, अत्यन्त सुस्थिर और महान् (बहुत बड़ा) अश्रुप्रवाह जो रुक जाता है। सारांश, क्षणभर और स्वल्प मात्रामें भी किये प्रभुके चिन्तनसे अत्यन्त स्थिर और बहुत बड़े भी सांसारिक दुःखोंका नाश हो जाता है।

अज्ञानान्धमबान्धवं कवलितं रक्षोभिरक्षाभिधैः
क्षिप्तं मोहमहान्धकूपकुहरे दुर्हृद्भिराभ्यन्तरैः।
क्रन्दन्तं शरणागतं गतधृतिं सर्वापदामास्पदं
मा मा मुञ्च महेश पेशलदृशा सत्रासमाश्वासय ॥ ८० ॥

अन्वय—महेश ! अज्ञानान्धम् अबान्धवम् अक्षाभिधैः रक्षोभिः कवलितम् आभ्यन्तरैः दुर्हृद्भिः मोहमहान्धकूपकुहरे क्षिप्तम् क्रन्दन्तम् गतधृतिम् सर्वापदाम् आस्पदम् मा शरणागतम् मा मुञ्च। सत्रासम् पेशलदृशा आश्वासय।

अर्थ – हे महेश ! अज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्ध, [आश्वासन देने योग्य] बान्धवोंसे हीन, इन्द्रिय-नामक राक्षसोंसे ग्रस्त, काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओंद्वारा मोहरूपी महान् अन्धकूपके गड्ढेमें फेंके गये, दीनताके कारण अत्यन्त विलाप करनेवाले, धैर्यसे च्युत और सम्पूर्ण विपत्तियोंके स्थान मुझ अनाथ शरणागतको मत त्यागिये। मुझ भयभीतको अपनी करुणामयी कोमल दृष्टिसे देख आश्वस्त कीजिये।

यद्विश्वोद्धरणक्षमाप्यशरणत्राणैकशीलापि ते
मामार्तं दृगुपेक्षते स महिमा दुष्टस्य मे कर्मणः।
देव्यां दिव्यमृतैः पयोधरधृतैः पृथ्वीं पृणत्यां[1] कणा
द्वित्राश्चेन्न मुखे पतन्ति शिखिनः किं वाच्यमेतद्दिवः ॥ ८१ ॥

अन्वय—[हे विभो !] विश्वोद्धरणक्षमा अपि अशरणत्राणैकशीला अपि ते दृक् माम् आर्तम् यत् उपेक्षते, सः महिमा मे दुष्टस्य कर्मणः [अस्ति युक्तं चैतत्] पयोधरधृतैः अमृतैः पृथ्वीम् पृणत्याम् देव्याम् दिवि द्वित्राः कणाः शिखिनः मुखे न पतन्ति चेत्, [तर्हि] एतत् दिवः किम् वाच्यम् ?

अर्थ—हे विभो ! त्रैलोक्यके उद्धारमें समर्थ होकर भी, एकमात्र अशरण

१. 'स्तृणन्त्याम्' इत्यपि पाठः।

प्राणियोंकी रक्षा करनेवाली होकर भी जो आपकी करुणामयी दृष्टि मुझ आर्तकी उपेक्षा कर रही है, यह सब मेरे प्राचीन पाप-कर्मोंकी ही महिमा है। [क्योंकि यह ठीक ही है कि] देवी द्यौ (आकाश) मेघों द्वारा धारण किये गये जलसे सम्पूर्ण पृथ्वीको परिपूर्ण तर कर देती है, फिर भी यदि दो-तीन भी बूँदें मयूरके मुखमें न पड़ें, तो इसमें आकाशका क्या दोष है ? उसकी क्या निन्दा होगी ?

शुभ्रं बिभ्रत्तरुणकरुणाक्रान्तमश्रान्तमन्तः
स्वान्तं शान्तप्रणतजनताक्लेशलेशप्रवेशम् ।
प्राणत्राणप्रणयकृपणप्राकृतप्राणिवर्ग-
व्यापत्तापक्षपणनिपुणां मुञ्च चण्डीश वाणीम् ॥ ८२ ॥

अन्वय—चण्डीश ! अन्तः अश्रान्तम् तरुणकरुणाक्रान्तम् शान्तप्रणतजनताक्लेशलेश-प्रवेशम् शुभ्रम् स्वान्तम् बिभ्रत् [त्वम्] प्राणत्राणप्रणयकृपणप्राकृतप्राणिवर्गव्यापत्तापक्षपण-निपुणाम् वाणीम् मुञ्च ।

अर्थ—हे चण्डीपते ! अन्तरमें निरन्तर नवीन करुणासे आक्रान्त और शरणागत जनोंके क्लेशोंके लेशमात्र-सम्पर्कसे रहित अर्थात् प्राणियोंके क्लेश जिसको कुछ भी सम्पर्क नहीं कर सकते ऐसे, यानी परम आनन्दस्वरूप, अतीव स्वच्छ हृदयको धारण किये आप, प्राण-रक्षाके लिए याचना करनेवाले दीन, पामर प्राणियोंकी जन्म-मरणादिरूप विपत्तिका सन्ताप दूर करनेमें चतुर अपना प्रतिवचन हमें दीजिये अर्थात् हमें आश्वासन दीजिये ।

अदभ्रश्वभ्रेयं भवसरणिरातङ्कबहुला
गलद्बोधज्योत्स्ना निरवधिरसौ मोहरजनी[1] ।
नयन्त्येते शान्तिं विषमविषयोत्पातमरुतः
प्रदीपं प्रज्ञाख्यं प्रतिदिश दृशं क्लेशशमनीम् ॥ ८३ ॥

अन्वय—आतङ्कबहुला इयम् भवसरणिः अदभ्रश्वभ्रा [अस्ति], असौ निरवधिः मोहरजनी गलद्बोधज्योत्स्ना [अस्ति]। एते विषमविषयोत्पातमरुतः प्रज्ञाख्यम् प्रदीपम् शान्तिम् नयन्ति । [अतः हे विभो !] क्लेशशमनीम् दृशम् प्रतिदिश ।

अर्थ—अनेक दुःखों और रोगोंसे भरी यह भव-सरणि (संसाररूपी मार्ग) अनन्त छिद्रों (दुःखरूप गर्तों) से परिपूर्ण है। यह अपार मोह-रजनी (अज्ञानरूप रात्रि) बोधरूपी प्रकाशसे विहीन है। ये अत्यन्त कठोर विषयरूपी उत्पात-वायु (कल्पान्त-वायु) इस चेतनारूपी दीप (ज्ञान-दीप) को शान्त कर रहे हैं। इसलिए हे विभो ! आप शरणागतोंपर सम्पूर्ण क्लेशोंको शान्त करनेवाली अपनी करुणामयी दृष्टि डालिये ।

---

१. 'मोहजननी' इति पाठान्तरम् ।

शरीरं नीरोगं नवमपि वयः संस्कृतिमती
मतिर्वन्द्या जातिः प्रभुरपि भवान् भक्तिसुलभः ।
इतीयं सामग्री सुकृतशतलभ्या विघटते
न यावत्तावन्मे शृणु करुणमाक्रन्दितमिदम् ॥ ८४ ॥

अन्वय—नीरोगम् शरीरम्, नवम् अपि वयः संस्कृतिमती मतिः वन्द्या जातिः भक्तिसुलभः भवान् प्रभुः अपि इति इयम् सुकृतशतलभ्या सामग्री यावत् न विघटते, तावत् [एव हे विभो !] इदम् मे करुणम् आक्रन्दितम् शृणु ।

अर्थ—नीरोग शरीर, तरुण अवस्था, शास्त्राभ्याससे सुसंस्कृत (विशुद्ध) मति, सब लोगोंद्वारा वन्दनीय श्रेष्ठ ब्राह्मण-जाति और भक्तिमात्रसे सुलभ आप जैसे आशुतोषी प्रभु भी, इस प्रकार पूर्वोपार्जित अनेक सुकृतोंसे प्राप्त यह अलभ्य सामग्री जबतक विघटित न हो जाय, उसके पहले ही हे प्रभो ! आप मेरा यह करुणाक्रन्दन (दीन-विलाप) सुन लीजिये* ।

जयन्ति कृतिनः कवेरमृतसारसिक्ताक्षरा
विकस्वरशरत्सुधाकरकरानुकारित्विषः ।
पुरारिपदपङ्कजस्तवपवित्रचित्रक्रमाः
समुन्मिषितमालतीमुकुलकोमलाः सूक्तयः ॥ ८५ ॥

अन्वय—पुरारिपदपङ्कजस्तवपवित्रचित्रक्रमाः अमृतसारसिक्ताक्षराः विकस्वरशरत्सुधाकरकरानुकारित्विषः समुन्मिषितमालतीमुकुलकोमलाः कृतिनः कवेः सूक्तयः जयन्ति ।

अर्थ—त्रिपुरारिके पद-पङ्कजकी स्तुतिसे पवित्र और मनोहर क्रमवाली, अमृतके रससे सिञ्चित अक्षरोंवाली, शरत्कालके पूर्णचन्द्रकी किरणोंके समान अतिस्वच्छ और मालती-पुष्प (जाती-पुष्प) की विकसित कलियोंके समान अतिसुकोमल, सत्कविकी प्रौढ़ोक्तियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं ।

---

* सारांश, सम्पूर्ण सामग्रीके विद्यमान रहते ही मनुष्यको आत्मकल्याण कर लेना चाहिए, शक्ति क्षीण हो जानेपर प्राणी कर ही क्या सकता है ? महाराज भर्तृहरिने भी कहा है—

'यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥'

अर्थात् जबतक यह शरीर नीरोग और स्वस्थ रहता है, जबतक वह वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण न हो जाय, जबतक आयु-क्षय न हो जाय, तबतक बुद्धिमान् पुरुषको अपने कल्याणके लिए प्रयत्न कर लेना चाहिए; क्योंकि जिस समय घरमें आग लगने लगे, उस समय कूप-निर्माण करनेसे क्या लाभ हो सकता है ?

[महाकवि अब शिवभक्तोंके लोकोत्तर ऐहलौकिक ऐश्वर्यका दिग्दर्शन कराते हैं—]

शिवस्तवकृतो मधौ मलयवायुवेल्लल्लता-
गलन्मधुमदोन्मदभ्रमरपुञ्जगुञ्जच्छलात् ।
नदन्मदनशिञ्जिनीझणितभीतसीमन्तिनी-
भुजाकलितकन्धरा अधिवसन्ति लीलावनम् ॥ ८६ ॥

अन्वय—शिवस्तवकृतः मधौ मलयवायुवेल्लल्लतागलन्मधुमदोन्मदभ्रमरपुञ्जगुञ्जच्छलात् नदन्मदनशिञ्जिनीझणितभीतसीमन्तिनीभुजाकलितकन्धराः [सन्तः] लीलावनम् अधिवसन्ति ।

अर्थ—अहा ! भगवान् शङ्करकी स्तुति करने और सुननेवाले सहृदय जन वसन्त ऋतुके समय—मन्द-मन्द मलय-समीरसे कम्पित लताओंसे गिरनेवाले मकरन्दके मदसे उन्मत्त हुए भ्रमरोंकी गुञ्जारके व्याजसे—कामदेवके धनुषकी शब्दायमान प्रत्यञ्चाकी झङ्कारसे भयभीत सीमन्तिनियों (वधूजनों) की भुजाओंसे कण्ठमें आलिङ्गित हो नन्दन-वनकी विहारस्थलीमें निवास करते हैं । [और—]

अदूरबहिरङ्गनोपवनजातचूतावली-
विलीनकलकोकिलाकलितकाकलीकूजितैः ।
वलन्मलयमारुतप्रचलदुल्लसन्मल्लिका-
विकासिकुसुमस्खलद्भ्रमरमण्डलीगुञ्जितैः ॥ ८७ ॥
निगूढतिमिघट्टनस्फुरितदीर्घिकासंभ्रम-
त्रसत्कमलकोटरस्थितमरालबालस्वनैः ।
रटत्पटहझल्लरीमुरजतूर्यभेरीगण-
प्रणादमुखरीभवद्भवनबर्हिकेकारवैः ॥ ८८ ॥
सुधामधुरवारुणीरसकषायकण्ठोद्भव-
न्नवश्रुतिरसायनप्रगुणगायनीगीतकैः ।
प्रवीणपरिवादकोदितविभासरागस्वर-
क्रमानुगतवल्लकीविकचकीचकप्रक्कणैः ॥ ८९ ॥
प्रभातगुणवर्णनप्रवणबन्दिवृन्दस्तुति-
प्रबुद्धशुकशारिकाकलहकेलिकोलाहलैः ।
बहिर्विहरदङ्गनारणितरत्नकाञ्चीगुण-
क्कणत्कनककिङ्किणीझणझणारवाडम्बरैः ॥ ९० ॥
खुरक्षतवसुन्धरोद्धुरतुरङ्गहेषोन्मिष-
त्प्रबोधधुतकन्धरद्विरदकण्ठघण्टारवैः ।

स्मरालसविलासिनीस्तनभरोपरुद्धोरस-
स्त्यजन्ति शयनं शनैरुषसि शम्भुशंसाजुषः ॥ ९१ ॥

[पञ्चभिः कुलकम्]

इति श्रीकाश्मीरकमहाकवि-श्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ करुणाक्रन्दनं नाम दशमं स्तोत्रम् ।

अन्वय—शम्भुशंसाजुषः स्मरालसविलासिनीस्तनभरोपरुद्धोरसः [सन्तः], उषसि अदूरबहिरङ्गनोपवनजातचूतावलीविलीनकलकोकिलाकलितकाकलीकूजितैः वलन्मलयमारुतप्रचल-दुल्लसन्मल्लिकाविकासिकुसुमस्खलद्भ्रमलमण्डलीगुञ्जितैः निगूढतिमिघट्टनस्फुरितदीर्घिकासम्भ्रम-त्रसत्कमलकोटरस्थितमरालबालस्वनैः रटत्पटहझल्लरीमुरजतूर्यभेरीगणप्रणादमुखरीभवद्भवनबर्हि-केकारवैः सुधामधुरवारुणीरसकषायकण्ठोद्भवन्नवश्रुतिरसायनप्रगुणगायनीगीतकैः प्रवीणपरिवाद-कोदितविभासरागस्वरक्रमानुगतवल्लकीविकचकीचकप्रक्वणैः प्रभातगुणवर्णनप्रवणबन्दिवृन्दस्तुति-प्रबुद्धशुकसारिकाकलहकेलिकोलाहलैः बहिर्विहरदङ्गनारणितरत्नकाञ्चीगुणक्वणत्कनककिङ्किणीझण-झणारवाडम्बरैः खुरक्षतवसुन्धरोद्धुरतुरङ्गहेषोन्मिषत्प्रबोधधुतकन्धरद्विरदकण्ठघण्टारवैः शनैः शयनम् त्यजन्ति ।

अर्थ—भगवान् शङ्करकी स्तुति करनेवाले सत्कवि और सुननेवाले प्रेमरसिक सहृदय जन कामके उद्रेकसे अलसायी कामिनियोंके स्तन-मण्डलसे आलिङ्गित-हृदय हो प्रातःकालमें—गृहसमीपवर्ती बाहरी आँगनकी पुष्प-वाटिकामें आम्रवृक्षोंपर बैठे मधुर स्वरवाले पिकों (नर कोयलों) के 'कुहू' 'कुहू' शब्दोंसे, मलयाचलके मन्द-मन्द समीरसे कम्पित मल्लिकाओंके विकसित पुष्पोंसे स्खलित होनेवाली भ्रमर-मण्डलीकी गुञ्जारोंसे, जलके अन्दर विलीन मछलियोंके संघट्टनसे स्फुरित बावड़ीके जलके कम्पनसे भयभीत कमलोंके मध्य रहनेवाले हंस-शिशुओंके शब्दोंसे, [दरवाजे पर] शब्दायमान दुन्दुभि, झल्लरी, भेरी आदि वाद्योंकी गम्भीर ध्वनि सुनकर [मेघ-भ्रमसे] हर्षविभोर हो नाचनेवाले घरके पालतू मोरोंकी 'केका'-वाणीसे, अमृततुल्य मधुर वारुणी-रस (मद्य) के पानसे सुकोमल कण्ठद्वारा निकलते गायिकाओंके नूतन श्रुति-मधुर गीतोंसे, चतुर वादकोंके मधुर राग, स्वर और क्रमसे सम्मिश्रित वीणाकी ध्वनिसे संमिश्रित वंशीके निनादोंसे प्रभातकालके गुण-गणोंके वर्णनमें तल्लीन बन्दी-गणोंकी स्तुतियोंको सुन जगे हुए शुक और सारिकाओंकी कलह-क्रीड़ाके कोलाहलसे, बाहर विहार करती अङ्गनाओंकी शब्दायमान रत्नमयी काञ्ची (करधनी) पर लटकती स्वर्ण-घण्टिकाओंके 'झण-झण' शब्दों और खुरों द्वारा पृथ्वीको खोदनेवाले उद्धत घोड़ोंकी 'हिनहिनाहट' से जगकर ग्रीवाको कम्पित करनेवाले हाथियोंके कण्ठ-स्थलमें बँधी घण्टाओंकी गम्भीर ध्वनिसे—धीरे-धीरे निद्राका परित्याग करते हैं ।

एकादश स्तोत्र

[अब कवि 'दीनाक्रन्दन' नामक ग्यारहवाँ स्तोत्र प्रारम्भ करते हैं—]

धन्योऽस्मि सम्यगमृतं किमपि स्रवन्ती
सञ्जीवनं भगवती विदधाति यस्य ।
स्नेहस्नुतस्तनयुगा जननीव जीव-
रक्षार्थमार्तिविधुरस्य ममोक्तिदेवी ॥ १ ॥

अन्वय-[शिशोः] जीवरक्षार्थम् [किमपि अमृतम् स्रवन्ती] स्नेहस्नुतस्तनयुगा जननी इव किमपि सम्यक् अमृतम् स्रवन्ती भगवती उक्तिदेवी आर्तिविधुरस्य यस्य मम सञ्जीवनम् विदधाति, [सः अहम्] धन्यः अस्मि ।

अर्थ—जैसे पुत्रवत्सला जननी अपने बालककी प्राण-रक्षाके लिए स्नेहवश स्तन-युगलसे दिव्य अमृत (दुग्ध) को टपकाती है, वैसे ही किसी विलक्षण (अनिर्वचनीय) अलौकिक अमृतको स्रवित करती हुई भगवती वाणी जिस मुझ आर्ति-पीड़ित शिशुका आप्यायन (सञ्जीवन) कर रही है, वह मैं अतीव धन्य हूँ !

धन्योऽस्मि दुःसहविपत्पतितस्य यस्य
वाणी धृतोन्नतिरपुण्यकृतामभूमिः ।
कल्याणिनी सुमनसामुपसेवनीया
सौमेरवीव पदवी न दवीयसीयम् ॥ २ ॥

अन्वय—[दुःसहविपत्पतितस्य धृतोन्नतिः अपुण्यकृताम् अभूमिः सुमनसाम् उपसेवनीया कल्याणिनी] सौमेरवी पदवी इव इयम् धृतोन्नतिः अपुण्यकृताम् अभूमिः कल्याणिनी सुमनसाम् उपसेवनीया वाणी दुःसहविपत्पतितस्य यस्य दवीयसी न, [सः अहम्] धन्यः अस्मि ।

अर्थ—अतिदुःसह विपत्ति (दरिद्रता) में पड़े पुरुषकी परम उन्नतिकारिणी, पापियोंके लिए अतिदुर्गम और देवताओंद्वारा सेवन करने योग्य, सुमेरुपर्वतकी सुवर्णमयी पदवी (मार्ग) के समान शब्द और अर्थकी उन्नतिको धारण करनेवाली, पापियोंके लिए दुष्प्राप्य, सुमनसों (विद्वानों) के सेवन करने योग्य और समस्त मङ्गलमयी वाणी, जन्म-मरणरूपी दुःसह विपत्तिसे ग्रस्त जिसके अतिदूर नहीं है, अर्थात् मुँहमें ही स्थित है, वह मैं धन्य हूँ ।

धन्योऽस्मि मोहतिमिरान्धदृशोऽपि यस्य
सानुग्रहेण विधिना परिकल्पिता मे ।
वल्गुस्वना गुणवती धृतवक्रभङ्गि-
राराधनाय गिरिशस्य सरस्वतीयम् ॥ ३ ॥

अन्वय—[यथा मोहतिमिरान्धदृशः सानुग्रहेण विधिना वल्गुस्वना गुणवती धृतवक्रभङ्गिः च सरस्वती गिरिशस्य आराधनाय क्रियते, तथा मयि] सानुग्रहेण विधिना मोहतिमिरान्धदृशः अपि यस्य मे गिरिशस्य आराधनाय इयम् वल्गुस्वना गुणवती धृतवक्रभङ्गिः सरस्वती परिकल्पिता, [सः अहम्] धन्यः अस्मि ।

अर्थ—जैसे नेत्र-रोगसे अन्ध पुरुषको सौभाग्यवश शङ्करकी आराधना करनेके लिए मधुर स्वरोंवाली, सुन्दर तारों और कुटिल आकारवाली सरस्वती वीणा प्राप्त हो जाती है, वैसे ही मोहरूपी अन्धकारसे अन्ध मुझको सद्भाग्यवश विधाताने अनुग्रहपूर्वक भगवान् सदाशिवकी आराधनाके लिए यह सुमधुर शब्दोंवाली, माधुर्यादि गुणोंवाली एवं उपचार और वक्रोक्तिसे युक्त सरस्वती (वाणी) प्रदान की है; वह मैं धन्य हूँ ।

सञ्जीवनौषधिरवैमि नवा भवाग्नि-
भस्मीकृतस्य विधिना मम निर्मितेयम् ।
वाणी शिवैकविषयाभिनवोढगौरी-
दृष्टिच्छटेव चकिता मकरध्वजस्य ॥ ४ ॥

अन्वय—[अहम् इति] अवैमि [यत् भवाग्निभस्मीकृतस्य मकरध्वजस्य नवा सञ्जीवनौषधिः शिवैकविषया] चकिता अभिनवोढगौरीदृष्टिच्छटा इव विधिना इयम् शिवैकविषया वाणी भवाग्निभस्मीकृतस्य मम नवा सञ्जीवनौषधिः निर्मिता ।

अर्थ - मैं समझता हूँ कि जैसे भवाग्नि (शिवकी नेत्राग्नि) से भस्म कामदेवको पुनः उज्जीवित करनेके लिए ब्रह्माने नवोढा पार्वतीकी चकित दृष्टिच्छटारूपी नवीन संजीवनी ओषधिका निर्माण किया था, वैसे ही भवाग्नि (संसाररूपी वनाग्नि) से भस्म मुझ दीनको संजीवित करनेके लिए विधिने एकमात्र शिवको सन्तुष्ट करनेवाली यह मेरी वाणी (स्तुति) मानो साक्षात् नूतन सञ्जीवनी ओषधि बनायी है ।

जाने कथञ्चिदुदिता मम शोकवह्नि-
तप्तात्स्खलन्मृदुपदा हृदयादियं गौः ।
चेतः प्रवेक्ष्यति शनैः करुणामृतौघ-
निःष्यन्दशीतमपि शीतमयूखमौलेः ॥ ५ ॥

अन्वय—[यथा गौः वह्नितप्तात् उदिता स्खलन्मृदुपदा सती शनैः अमृतौघनिःष्यन्दशीतम् आस्पदम् प्रविशति, तथा] शोकवह्नितप्तात् मम हृदयात् उदिता स्खलन्मृदुपदा इयम् गौः करुणामृतौघनिःष्यन्दशीतम् शीतमयूखमौलेः चेतः अपि शनैः प्रवेक्ष्यति [इति अहम्] जाने ।

अर्थ—मैं समझता हूँ कि [जैसे कोई गाय अग्निसंतप्त स्थानसे किसी तरह निकलकर सुकोमल पदों (चरणों) को लड़खड़ाती हुई धीरे-धीरे जल-प्रवाहसे

सुशीतल स्थलमें पहुँच जाती है, वैसे ही] मेरे शोकाग्नि-सन्तप्त हृदयसे किसी प्रकार (बड़े कष्ट से) निकली, गद्गद अतिकोमल पदोंवाली यह मेरी गौ (वाणी) करुणारूपी अमृतके प्रवाहसे सुशीतल भगवान् चन्द्रमौलिके चित्तमें भी धीरे-धीरे प्रविष्ट हो सकेगी !

यच्चाटुचापलमलङ्घ्यभवभ्रमोऽहं
मोहं वहन्निह मुहुर्मुहुराचरामि ।
तत्र स्पृहावहमहार्यमहार्यपुत्री-
भर्तुः पराध्यर्मपराध्यति सौकुमार्यम् ॥ ६ ॥

अन्वय—मोहम् वहन् अलङ्घ्यभवभ्रमः अहम् इह मुहुः मुहुः यत् चाटुचापलम् आचरामि, तत्र अहार्यपुत्रीभर्तुः अहार्यम् पराध्यर्म् सौकुमार्यम् [एव] अपराध्यति ।

अर्थ—अज्ञानमें डूबा और अपार संसारके भ्रममें पड़ा मैं यहाँ जो बार-बार अनेक चाटूक्तियाँ कहनेकी चपलता कर रहा हूँ, इसमें भगवान् गिरिजापतिकी स्पृहणीय परमोत्कृष्ट सुकुमारता (सुकोमल अन्तःकरण) का ही अपराध है। अर्थात् यदि प्रभुका अन्तःकरण इतना अधिक दयालु न होता, तो मैं इतनी चपलता नहीं कर सकता। प्रभुकी अपार करुणाको ही यादकर यह धृष्टता कर रहा हूँ।

यो मूर्धनि ध्वनदनर्गलनिर्झरौघ-
झाङ्कारिणीममरनिर्झरिणीं दधानः ।
गृह्णाति भक्तजनतः कलशाभिषेकं
कस्तं न विज्ञपयितुं विभुमुत्सहेत ॥ ७ ॥

अन्वय—यः मूर्धनि ध्वनदनर्गलनिर्झरौघझाङ्कारिणीम् अमरनिर्झरिणीम् दधानः [सन् अपि] भक्तजनतः कलशाभिषेकम् गृह्णाति, तम् विभुम् विज्ञपयितुम् कः न उत्सहेत ?

अर्थ—जो प्रभु स्वयं अपने मस्तकमें अविच्छिन्न रूपसे बहनेवाले शब्दायमान निर्झरों (जल-प्रवाहों) से झङ्कार (कल-कल शब्द) करती देवगङ्गाको धारण करता हुआ भी [पूजाके समय] भक्त लोगोंके हाथों कलशका अभिषेक (कमण्डलुका थोड़ा-सा जल) [कृपाकर] ग्रहण कर लेता है; भला उस दयालु-शिरोमणि सदाशिवसे [अपनी दीन-दशा] को निवेदन करनेके लिए कौन उत्साह न करेगा ? अर्थात् सभी करेंगे।

दग्धोऽस्मि तावदमुना दमुना ममान्त-
र्यः प्रज्ज्वलत्यघनिदाघनिदानजन्मा ।
मुक्तस्य मे प्रतिभयातिभयाकुलस्य
वाणी कथं विगलतो गलतोऽभ्युदेति ॥ ८ ॥

अन्वय—यः अघनिदाघनिदानजन्मा दमुना मम अन्तः प्रज्ज्वलति, अमुना तावत् अहम् दग्धः अस्मि । अतः प्रतिभया मुक्तस्य अतिभयाकुलस्य विगलतः मे गलतः वाणी कथम् अभ्युदेति ?

अर्थ—प्रभो ! पापरूपी ग्रीष्मकालद्वारा उत्पन्न जो अग्नि मेरे अन्दर प्रज्वलित हो रहा है, उससे मैं दग्ध हो चुका हूँ। इस कारण मेरी प्रतिभा* नष्ट हो गयी है। अतः मुझ अत्यन्त भयाकुल और विगलित (पतित) के दीन कण्ठसे वाणी (मनोहर स्तुति) कैसे निकल सकती है ?

क्रन्दाम्यतः किमपि नाम पिनाकपाणे
तीव्रार्तिनिस्तरणकारण कातरोऽहम् ।
मोहाटवीविकटसङ्कटसंस्थितस्य
तन्मेऽवधारय शिवाय शिवातुरस्य ॥ ९ ॥

अन्वय—पिनाकपाणे ! तीव्रार्तिनिस्तरणकारण ! अतः कातरः अहम् किम् अपि नाम क्रन्दामि, शिव ! मोहाटवीविकटसङ्कटसंस्थितस्य आतुरस्य मे तत् शिवाय अवधारय ।

अर्थ—इसलिए हे पिनाकपाणे ! हे तीव्र दुःखसे पार लगानेवाले सदाशिव ! अत्यन्त कातर मैं जो कुछ भी ऊँच-नीच (भला-बुरा) विलाप कर रहा हूँ, हे कैवल्यदाता शिव ! मोहरूप अरण्यके महान् सङ्कट-स्थलमें पड़े मुझ आतुरके कल्याणके लिए आप मेरे उस विलापपर अवश्य विचार कीजिये !

आक्रन्दमिन्दुधर धारय देव कर्णे
कस्त्वत्परः परमकारण कर्णधारः ।
मूर्ध्ना वहन्नुडुपखण्डमखण्डपुण्यं
कं कं न तारयसि संसृतिसागराद्यः ॥ १० ॥

अन्वय—इन्दुधर देव ! [मम] आक्रन्दम् कर्णे धारय । परमकारण ! त्वत्परः कर्णधारः कः, यः उडुपखण्डम् मूर्ध्ना वहन् संसृतिसागरात् कम् कम् अखण्डपुण्यम् न तारयसि ?

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! मेरे करुणालापको सुन लीजिये । परमकारण (कारणोंके भी कारण) परमशिव ! आपके सिवा और कौन ऐसा नाविक (मल्लाह या नेता) होगा, जो उडुप-खण्ड (आधी नाव या उडु = नक्षत्रोंका + प = स्वामी अर्थात् चन्द्रकी एक कला) को मस्तकपर धारण करता हुआ किस-किस भाग्यशालीको भवसागरसे पार नहीं उतार देता¶ ?

---

* 'मतिर्नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता ।' अर्थात् नवीन-नवीन उल्लास (रचना-शक्ति-) शालिनी मतिका नाम प्रतिभा है ।

¶ इसी आशयकी राजानक श्रीरत्नकण्ठकी भी दो मार्मिक उक्तियाँ हैं—

'बहुविधपरिभ्राम्यन्मायातरङ्गशताकुलाद्-
भवजलनिधेः को वा त्रासो ममास्ति सुदुस्तरात् ।
तरणिमुडुपं रक्षन्नित्यं विलोचनगोचरे
स भवति विभुर्यस्य स्वामी कृपैकसुधाम्बुधिः ॥'

अर्थात् अनेक प्रकारसे उछलती-कूदती मायारूपी अनन्त तरङ्गोंसे आकुल इस दुस्तर

अस्मादृशैरशुचिभिश्चटुचापलानि
क्लृप्तान्यवैमि न मनस्तव नन्दयन्ति ।
आवर्जनाय विहितान्यपि चन्द्रमौले
कौलेयकस्य लडितानि किमाद्रियन्ते ॥ ११ ॥

अन्वय—चन्द्रमौले ! अस्मादृशैः अशुचिभिः क्लृप्तानि चटुचापलानि तव मनः न नन्दयन्ति [इति अहम्] अवैमि । [दृष्टं चैतत्] आवर्जनाय विहितानि अपि कौलेयकस्य लडितानि [जनैः] किम् आद्रियन्ते ?

अर्थ—भगवन् ! मैं समझता हूँ कि हम-सरीखे अपवित्र लोगोंकी चाटुकारितारूप चञ्चलतासे युक्त वचन आप प्रभुका मन आनन्दित नहीं कर सकते ! क्योंकि कुत्ता अपने स्वामीको वशमें करनेके लिए उसके चरणोंपर खूब लोट-पोट किया ही करता है, पर क्या लोग उसका कोई आदर करते हैं ?

यद्वा न मुग्धचरितान्यपि न प्रसाद-
मुत्पादयन्ति भवतः करुणार्णवस्य ।
स्वामिन्दरत्पुरविहारपरस्य किं न
चेतो हरन्ति तव बालकवल्गितानि ॥ १२ ॥

अन्वय—यद्वा स्वामिन् ! मुग्धचरितानि अपि भवतः करुणार्णवस्य प्रसादम् न उत्पादयन्ति इति न । दरत्पुरविहारपरस्य तव बालकवल्गितानि किम् चेतः न हरन्ति ?

अर्थ—अथवा, हे विभो ! मूर्खोंके चरित्र भी आप करुणासागरके मनमें प्रसन्नता उत्पन्न नहीं करते, ऐसी बात नहीं, अर्थात् करते ही हैं । कारण, दरत्पुर (लम्पाक देशके एक नगर) में तद्देशीय बालकोंके साथ क्रीड़ामें तत्पर आपके चित्तको क्या उन बालकोंके नृत्य नहीं हरते ? अर्थात् हरते ही हैं । [ठीक ही है—]

भव-सागरसे मुझे क्या डर है, जिसका कि तरणि (बड़ी नाव या सूर्य) और उडुप (छोटी नाव या चन्द्रमा) को नित्य दृष्टिमें रखनेवाला (सूर्य-चन्द्ररूप दो नेत्र धारण करनेवाला) अपार करुणारूपी सुधाका सागर भगवान् शङ्कर स्वामी है ! तथा—

'कथं न लोके परिहास्यतामहं
व्रजाम्यतीवार्तिकदर्थिताशयः ।
भवाम्बुधिं तर्तुमकर्णधारकं
जडो यतो याम्युडुपार्धधारिणम् ॥'

अर्थात् मैं लोकमें क्यों न उपहासको प्राप्त होऊँगा ? अवश्य होऊँगा, क्योंकि तीव्र आर्तिसे पीड़ित होकर मैं मूर्ख भवाम्भोधिको पार करनेके लिए अकर्णधार— (कर्णधार यानी मल्लाह को न रखनेवाले या सर्पधारी) और उडुपार्धधारी (आधी नौकाको धारण करनेवाले या अर्धचन्द्रधारी शङ्कर) की शरण ले रहा हूँ !

दीनैर्विमुग्धवचनैरसमञ्जसार्थै-
र्यद्वद् द्रवन्ति हृदयानि दयानिधीनाम् ।
तद्वन्न दृष्टसभसप्रतिभप्रगल्भ-
सन्दर्भगर्भरचनाञ्चितवाक्प्रपञ्चैः ॥ १३ ॥

अन्वय—दीनैः असमञ्जसार्थैः विमुग्धवचनैः यद्वत् दयानिधीनाम् हृदयानि द्रवन्ति, तद्वत् दृष्टसभसप्रतिभप्रगल्भसन्दर्भगर्भरचनाञ्चितवाक्प्रपञ्चैः न [द्रवन्ति] ।

अर्थ—मुग्ध लोगोंके अत्यन्त करुणाजनक (दीन) और अप्रकटितार्थक (अव्यक्त अर्थवाले) वचनोंको सुनकर दयालु प्रभुओंके हृदय जितने द्रवीभूत होते हैं, उतने प्रकाण्ड विद्वानोंकी महाप्रतिभाशाली प्रौढोक्तियोंके सन्दर्भसे गर्भित रचनाओं-वाले वाग्जालोंसे कदापि नहीं हो सकते ।

[इसी बातका पुनः समर्थन करते हैं-]

दुग्धाब्धिदोऽपि पयसः पृषतं वृणोषि
दीपं त्रिधामनयनोऽप्युररीकरोषि ।
वाचां प्रसूतिरपि मुग्धवचः शृणोषि
किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात् ॥ १४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] दुग्धाब्धिदः अपि त्वम् पयसः पृषतम् वृणोषि, त्रिधामनयनः अपि दीपम् उररीकरोषि, वाचाम् प्रसूतिः अपि मुग्धवचः शृणोषि । विनीतजनानुरोधात् किम् किम् न करोषि ?

अर्थ—हे विभो ! [बालक उपमन्युके लिए] क्षीर-समुद्रका दान करनेवाले भी आप [पूजनके समय भक्तोंद्वारा दिये हुए] दुग्ध-बिन्दुको ग्रहण कर लेते हो ! तीन नेत्रोंमें सूर्य, चन्द्र और अग्निरूप तीनों तेजोमय पिण्ड धारण करते हुए भी भक्तोंद्वारा प्रदत्त एक छोटा-सा दीपक स्वीकार कर लेते हो ! और समस्त ब्राह्मी वाणियों (श्रुतियों) के उत्पत्तिस्थान होकर भी [मेरे-सरीखे] अल्पज्ञ और मुग्ध लोगोंकी वाणियों (स्तुतियों) को [स्नेहपूर्वक] सुन लेते हो । [इस प्रकार हे दयासागर !] भक्तिसे विनीत लोगोंके आग्रहसे आप क्या-क्या नहीं करते ?*

---

* इसी अभिप्रायसे टीकाकार राजानक श्रीरत्नकण्ठने भी कहा है —
'गङ्गाधरोऽपि वृणुषे पयसोऽभिषेकं गृह्णासि चार्घ्यकणिकां स्वयमप्यनर्घ्यः ।
ज्योतिः परं त्वमसि दीपमुरीकरोषि किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात् ॥'
अर्थात् भगवन् ! सिरपर निर्मल मन्दाकिनीको धारण करते हुए भी आप भक्तोंके दिये जलाभिषेकको ग्रहण कर लेते हो । स्वयं अनर्घ्य (साक्षात् अद्वितीय परमेश्वर) होकर भी भक्तोंके दिये अर्घ्यके कणको ग्रहण कर लेते हो । और परम ज्योतिर्मय (पूर्ण-परब्रह्म) होकर भी लोगोंके दिये छोटे-से दीपकको ग्रहण कर लेते हो । प्रभो ! भक्तिसे विनीत लोगोंके आग्रहसे आप क्या-क्या करनेको तैयार नहीं रहते ?

यत्सत्यवत्यपि जगद्विदितानसूया
वाणी ममेयमिदमेव हि देव चित्रम् ।
अत्यद्भुतं पुनरिदं यदरुन्धतीयं
त्वामारिराधयिषुरेवमुदीरितापि ॥ १५ ॥

अन्वय—देव ! जगद्विदिता सत्यवती अपि यद् इयम् मम वाणी अनसूया [भवति], इदम् एव चित्रम् ! एवम् उदीरिता अपि [त्वाम्] अरुन्धती इयम् यत् त्वाम् एव आरिराधयिषुः, तत् पुनः अत्यद्भुतम् ।

अर्थ—स्वामिन् ! [देखिये तो !] संसारमें प्रसिद्ध सत्यवती (सत्य व्रतवाली) होकर भी यह मेरी वाणी जो अनसूया (ईर्ष्या-दोषसे रहित) हो गयी है, पहले तो यही एक आश्चर्य है ! दूसरा महान् आश्चर्य यह है कि पूर्वोक्त प्रकार वर्णित यह वाणी पुनः अरुन्धती (आपको प्राप्त न हो सकनेवाली) होकर भी पुनः आपका ही आराधन करनेकी इच्छा करती है* ।

स्वे धाम्नि मे हृदि कृतस्थितिमुक्तिदेवीं
कृत्वा प्रवेशमनयः स्वयमुन्मुखत्वम् ।
धाराधिरूढविरहव्यथितामिदानी-
माधाय धैर्यमवधारयसीत्ययुक्तम् ॥ १६ ॥

अन्वय—[हे स्वामिन् !] स्वे धाम्नि मे हृदि प्रवेशम् कृत्वा कृतस्थितिम् [मम] उक्तिदेवीम् स्वयम् एव उन्मुखत्वम् अनयः । [पुनः, तस्याः] धैर्यम् आधाय इदानीम् धाराधिरूढविरहव्यथिताम् यत् अवधारयसि, इति अयुक्तम् ।

अर्थ—अयि स्वामिन् ! अपने धाम इस मेरे हृदयमें प्रवेश करके वहीं निवास करनेवाली मेरी इस मुदित वाणीको आपने स्वयं ही [अपने अनुराग-पथपर] उन्मुख किया ! [फिर उसे 'मैं तुम्हें अवश्य ग्रहण करूँगा' ऐसा] धैर्य देकर, अब इस समय विरह-व्यथाको पराकाष्ठामें पहुँचकर नितान्त दुःखित इस बेचारीका इस प्रकार जो अपमान कर रहे हो (इसकी बात नहीं सुनते), यह अत्यन्त ही अयुक्त है ।

एका त्वमेव भवितासि मम प्रियेति
दत्तं वरं स्मरसि चेद्गिरिराजपुत्र्याः ।
प्रेम्णा बिभर्षि कथमम्बरसिन्धुमिन्दु-
लेखां च मूर्ध्नि हृदये दयितां दयां च ॥ १७ ॥

---

* कविने यहाँ विरोधाभास अलङ्कारद्वारा विलक्षण चमत्कार दिखाया है । वह कहता है—जो सत्यवती (पराशर मुनिकी पतिव्रता पत्नी) है, वह अनसूया (अत्रि मुनिकी पत्नी) हो गयी है और जो अनसूया है, वह अरुन्धती (वशिष्ठ मुनिकी धर्मपत्नी) हो गयी है । कितना मार्मिक भाव है !

अन्वय—['अपर्णे !] त्वम् एव एका मम प्रिया भवितासि' इति गिरिराजपुत्र्याः दत्तम् वरम् स्मरसि चेत्, [तर्हि स्वामिन् !] प्रेम्णा अम्बरसिन्धुम् इन्दुलेखाम् च मूर्ध्नि दयिताम् दयां च हृदि कथम् बिभर्षि ?

अर्थ—हाँ, आपने पार्वतीजीको यह वरदान दिया था कि 'गिरिजे ! मैं तुम्हारे सिवा दूसरी किसी स्त्रीपर प्यार नहीं करूँगा।' यदि आप इसी वरको याद करते हो, अर्थात् इसी प्रतिज्ञाके भङ्ग होनेके भयसे ही आप बेचारी मेरी वाणीके विषयमें उदासीन हो रहे हों, तब तो यह बतलाइये कि फिर आपने बड़े प्रेमसे देवगङ्गा और चन्द्रकलाको सिर पर क्यों चढ़ाया ? और हृदयमें प्यारी करुणाको भी क्यों धारण किया ? [क्या इनके धारण करनेसे आपकी प्रतिज्ञाका भङ्ग नहीं हुआ ? फिर मेरी वाणीको भी स्वीकार कर लीजिये, यह भाव है]।

एतां निसर्गसरलामभिजातमुग्धा-
मद्धावधीरयसि धीरगभीरमानी।
जानासि किं न शतशो नतसान्त्वनेषु
यद्वृद्धया करुणया नरिनर्तितोऽसि ॥ १८ ॥

अन्वय—अद्धा [हे विभो !] धीरगभीरमानी [त्वम्] निसर्गसरलाम् अभिजात-मुग्धाम् एताम् अवधीरयसि, तत्किं न जानासि यत् शतशः नतसान्त्वनेषु वृद्धया करुणया नरिनर्तितः असि ?

अर्थ—हे विभो ! निश्चय ही अपनेको महान् धैर्यशाली और गम्भीर माननेवाले आप मेरी इस स्वभावतः सरल, अतिसुकुमार और मुग्धा (भोली-भाली) वाणी (स्तुति) को अपमानित कर रहे हो ! पर क्या यह नहीं जानते कि सहस्रों बार भक्तजनोंको आश्वासन (अभय-वचन) देनेमें निरन्तर वृद्धिङ्गत (अतिवृद्धा) करुणाने आपको बार-बार नचाया है ?*

प्रस्तौति निस्त्रपतयार्तिकदर्थितेयं
चाटूनि कर्तुमपि मौग्ध्यविसंस्थुलानि।
कात्यायनीवचनदुर्ललितस्य तानि
मुक्तोपमानि[1] न मनस्तव नन्दयन्ति ॥ १९ ॥

अन्वय—[हे स्वामिन् !] आर्तिकदर्थिता इयम् निस्त्रपतया मौग्ध्यविसंस्थुलानि

* श्लेषपर आधृत समासोक्तिसे इसका यह भाव है कि जिस तरह प्रियापद-नमन और सान्त्वन-व्यापारमें किसी वृद्धा (प्रौढ़ा) नायिका द्वारा बार-बार नचाया गया कोई नायक अपनेको धीर-गंभीर बताकर मुग्धा नायिकाका तिरस्कार करता है, तो वह उचित नहीं। इसी तरह भक्तोंके लिए अत्यन्त वृद्धा (बढ़ी हुई) करुणाकी कठपुतली बने आप द्वारा मेरी मुग्धा वाणीकी उपेक्षा उचित नहीं है। भक्तका कितना सरस यह उपालंभ है !

१. 'शक्तोपमानि' इत्यपि पाठः।

चाटूनि अपि कर्तुम् प्रस्तौति। किन्तु मुक्तोपमानि तानि कात्यायनीवचनदुर्ललितस्य तव मनः न नन्दयन्ति।

अर्थ—हे प्रभो ! 'किस-किस उपायसे मैं अपने नाथकी प्रियतमा बन जाऊँ ?' इस प्रकार मानसिक व्यथासे पीड़ित यह मेरी वाणी निर्लज्जताके कारण मुग्धता (भोले स्वभाव) से विशृङ्खलित चाटुकारिता (खुशामदें) भी कर रही है। किन्तु इसकी अतिसुमनोहर भी वे चाटूक्तियाँ कात्यायनी ¶ (पार्वती) के वचनोंके ही नित्य-अभ्यासी आपके मनको आनन्दित नहीं कर पातीं !

अस्यामसह्यविरहज्वरकातरायां
　　प्रीतिर्न ते यदि परं निरवग्रहस्य।
[1]सर्वान्तरार्तिदलनाय दृढा प्रतिज्ञा
　　विज्ञाततत्त्व कथमीश्वर विस्मृता ते ॥ २० ॥

अन्वय—विज्ञाततत्त्व ईश्वर ! निरवग्रहस्य ते प्रीतिः परम् असह्यविरहज्वरकातरायाम् अस्याम् यदि न भवति चेत् , [तर्हि] सर्वान्तरार्तिदलनाय दृढा प्रतिज्ञा ते कथम् विस्मृता ?

अर्थ—अपनी अन्तर्यामी शक्तिद्वारा सबके हृदयगत भावोंको जाननेवाले परमेश्वर ! निरंकुश (सर्व-स्वतन्त्र) आप अपनी प्रीति यदि केवल आपके असह्य विरह-ज्वरसे कातर मेरी वाणीपर ही नहीं करते, [तो मैं पूछता हूँ कि] समस्त जीवोंकी मानसिक व्यथा दलन करनेके लिए जो आपकी दृढ़ प्रतिज्ञा है, उसे कैसे भूल गये ?

सत्यं कलां वहसि बिभ्रदुमां यदर्धे
　　धत्से दयां हृदि ययार्थिषु नर्तयन्त्या।
नीतोऽसि नीलगल नीलगलत्वमेव
　　मद्वाचि साचि तु मुखं कुरुषे रुषेव ॥ २१ ॥

अन्वय—नीलगल ! सत्यम् कलाम् वहसि ! यत् अर्धे उमाम् बिभ्रत् ताम् हृदि धत्से, यया अर्थिषु [त्वाम्] नर्तयन्त्या त्वम् नीलगलत्वम् एव नीतः असि। किन्तु मद्वाचि तु रुषा इव साचि मुखम् कुरुषे।

अर्थ—हे नीलकण्ठ ! सचमुच आप कला (चन्द्रकला या शिल्प-विशेष) को धारण करते हो, अर्थात् बहुत बड़े कलाबाज हो। कारण, अर्धाङ्गमें श्रीउमाको धारण

¶ यहाँ 'कात्यायनी' पद बड़े मार्केका है, क्योंकि अर्धवृद्धा नायिकाको भी 'कात्यायनी' कहते हैं—'कात्यायन्यर्धवृद्धा या' (अमरकोष)। अतः कवि यहाँ व्यङ्ग्यसे प्रभुका यह उपहास भी कर रहे हैं—प्रभो ! आप एक कात्यायनी (अर्धवृद्धा) के वचनोंके इतने आदी हो गये हैं कि उसके सामने मुग्धा बालाकी मनोहर चाटूक्तियाँ भी आपको अच्छी नहीं लगतीं ! अथवा—बाल नायिका की अपेक्षा वयोधिका नायिकामें अधिक रसानुभूति होती है, अतः यहाँ इस पदसे वह भी भाव लक्षित हो सकता है।

१. सर्वातुरार्ति' इति पाठान्तरम्।

करते हुए हृदयके अन्दर उस दयाको [भी] रखे हुए हो, जिसने शरणागतोंके बीच आपको खूब नाच नचाकर नीलकण्ठ (उनके परित्राणके लिए कालकूट-भक्षणद्वारा काले कण्ठवाला या नाचनेवाला मयूर) ही बना डाला है। किन्तु प्रभो ! आपके विरहसे व्याकुल बेचारी इस मेरी वाणीपर तो आप क्रोधसे-जैसा कुटिल मुख (वक्र-दृष्टि) कर रहे हो !

गृह्णासि मूर्धनि जलैर्धवलैर्विलोलै-
रुद्वेलितां निजपदस्खलितां द्युसिन्धुम् ।
एतामनन्यगतिमुज्झसि साधुवृत्तां
वाचं स्वतन्त्रचरितस्य किमुच्यते ते ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे स्वामिन् !] धवलैः विलोलैः जलैः उद्वेलिताम् निजपदस्खलिताम् द्युसिन्धुम् मूर्धनि गृह्णासि, अनन्यगतिम् साधुवृत्ताम् एताम् [मम] वाचम् उज्झसि। [अतः] स्वतन्त्रचरितस्य ते किम् उच्यते ?

अर्थ—हे प्रभो ! [जैसे कोई स्वेच्छाचारी पुरुष अतिचञ्चल जड़ (मूर्ख) लोगोंसे उद्वेलित (कुल-मर्यादासे च्युत की हुई) और निजपद (पातिव्रत-धर्म) से विचलित (कुलटा) स्त्रीको सिर चढ़ा लेता है और अनन्यपरायणा साध्वी पतिव्रताका परित्याग कर देता है, वैसे ही] आप स्वच्छ और चञ्चल जलोंसे उद्वेलित (कम्पित) एवं निजपद (अपने मूलस्थान सत्यलोक) से च्युत देव-गङ्गाको प्रेमसे मस्तकपर धारण करते हो और इस अनन्य-शरणा एवं सुन्दर-वृत्त (मनोहर छन्दों) वाली मेरी वाणीका परित्याग कर रहे हो। आप स्वतन्त्र, स्वेच्छाचारी परमेश्वर हैं, सब कुछ कर सकते हैं; अतः आपको क्या कहा जाय ?

किं भूयसा यदि न ते हृदयङ्गमेय-
मस्या गृहे वससि किं हृदये मदीये।
सार्धं प्रियेण वसनं तदुपेक्षणं च
दुःखावहं हि मरणादपि मानिनीनाम् ॥ २३ ॥

अन्वय—भूयसा किम् ? इयम् यदि ते हृदयङ्गमा न [भवति], तर्हि अस्याः गृहे मदीये हृदये किम् वससि ? हि प्रियेण सार्धम् वसनम् तदुपेक्षणम् च मानिनीनाम् मरणात् अपि दुःखावहम्।

अर्थ—प्रभो ! अब आपसे अधिक क्या कहूँ ? यदि यह मेरी वाणी आपको प्रिय न लगती हो, तो फिर आप इसके घर (मेरे हृदय) में क्यों निवास करते हो ? देखिये ! यदि प्रियतमा अपने प्राणपतिके साथ निवास करे और पति उसकी उपेक्षा किया करे, तो यह बात मानिनी महिलाओंको मरणसे भी अधिक दुःखदायी हो जाती है।

मातः सरस्वति बधान धृतिं त्वदीयां
विज्ञप्तिमार्तिविधुरां विभवे निवेद्य।

देवी शिवा शशिकला गगनापगा च
कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम् ॥ २४ ॥

अन्वय—मातः सरस्वति ! धृतिम् बधान, शिवा देवी शशिकला गगनापगा च त्वदीयाम् आर्तिविधुराम् विज्ञप्तिम् विभवे निवेद्य अवश्यम् [एव] अबलाजनपक्षपातम् कुर्वन्ति ।

अर्थ—माँ सरस्वति ! तू धैर्य धर [अर्थात् जाने दे, प्रभु तेरी उपेक्षा करें तो भी तू उनकी स्तुति करती ही जा ! यदि वे तेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं करते, तो उनके संग रहनेवाली] वह पार्वती देवी, चन्द्रकला और आकाश-गंगा, ये तीनों स्त्रियाँ तेरी दीन प्रार्थना प्रभुसे निवेदन कर अवश्य ही तुम अबला, स्त्री-जातिका (तुम्हारा) पक्षपात करेंगी, अर्थात् प्रभुसे प्रार्थनाकर उन्हें तुम्हारे अभिमुख कर देंगी ।

एषा निसर्गकुटिला यदि चन्द्रलेखा
स्वर्गापगा च यदि नित्यतरङ्गितेयम् ।
देवी दयार्द्रहृदया तु नगेन्द्रकन्या
धन्या करिष्यति न ते निबिडामवज्ञाम् ॥ २५ ॥

अन्वय—[मातः !] यदि एषा चन्द्रलेखा निसर्गकुटिला स्वर्गापगा च नित्यतरङ्गिता [भवति, तर्हि] दयार्द्रहृदया धन्या देवी नगेन्द्रकन्या तु ते निबिडाम् अवज्ञाम् न करिष्यति ।

अर्थ—माँ ! यदि वह चन्द्रकला स्वभावसे ही बड़ी कुटिल है और व्योम-गङ्गा भी नित नयी तरंगों (मनोभावों = सनकों) वाली और केवल बातें बनानेमें चतुर है, [अतः ऐसी नारियोंका तुझे विश्वास नहीं होता तो न सही ;] अतिशय दयार्द्रहृदया महाभागा भगवती श्रीगिरिजा देवी तो तेरी कठोर अवहेलना कदापि न करेंगी ? [वे 'नगेन्द्र-कन्या' यानी पर्वतराज हिमालयकी पुत्री हैं । शिलामय पिताके समान क्षमाशील हैं, अतः किसीके भी अवगुणोंपर दृष्टि नहीं देतीं । इसलिए वे प्रभुसे तेरा निवेदन स्वीकृत कराकर तुझे अवश्य आश्वस्त कर देंगी, यह भाव है] ।

त्वामेव देवि शरणीकरवाणि वाणि
कल्याणि सूक्तिभिरुपस्तुहि चन्द्रमौलिम् ।
मातर्नयामि न पुनर्भवतीमलीक-
वाचालबालिशविलङ्घन[1]भाजनत्वम् ॥ २६ ॥

अन्वय—देवि कल्याणि वाणि ! [अहम्] त्वाम् एव शरणीकरवाणि । [त्वम्] सूक्तिभिः चन्द्रमौलिम् उपस्तुहि । मातः [अहम्] भवतीम् अलीकवाचालबालिशविलङ्घन-भाजनत्वम् पुनः न नयामि ।

अर्थ—हे देवि, मङ्गलदायिनी, भगवति सरस्वति माँ ! मैं तेरी ही शरण लेता हूँ । तू सुमनोहर उक्तियोंसे भगवान् 'चन्द्रमौलि' की स्तुति कर । माँ ! मैं तुझ

१. 'तिरस्कृतिभाजनत्वम्' इति पाठः साधु प्रतिभाति ।

साध्वीको मिथ्यावाद (झूठी श्लाघा) से वाचाल बने मूर्खों द्वारा अपमानित कराना नहीं चाहता, अर्थात् मैं आपसे केवल एक प्रभुके सिवा अन्य किसी भी प्राकृत पुरुषोंकी प्रशंसा कराना नहीं चाहता ।

देवि प्रपन्नवरदे गुणगौरि गौरि
यद्गौरियं परिमितं स्रवतीह किञ्चित् ।
तत्स्वामिने समुचिते समये सुपाक-
माकूतवेदिनि निवेदयितुं प्रसीद ॥ २७ ॥

अन्वय—[गौः यत् किञ्चित् परिमितम् क्षीरम् स्रवति, तत् च सुपाकं कृत्वा यथा कोऽपि प्रभवे निवेदयति, तथा] प्रपन्नवरदे गुणगौरि देवि गौरि ! इयम् गौः इह यत् किञ्चित् परिमितम् स्रवति, तत् सुपाकम् आकूतवेदिनि ! समुचिते समये स्वामिने निवेदयितुम् प्रसीद ।

अर्थ—[गौ जो कुछ दुग्ध दे, उसे अच्छी प्रकार अग्निपर पकाकर जैसे कोई पुरुष किसी महापुरुषको समर्पण कर देता है, वैसे ही] शरणागतोंको वर देनेवाली ! दया-दाक्षिण्यादि गुणोंसे पूर्ण माँ गिरिजे ! यह मेरी गौ (वाणी) जो कुछ भी परिमित दुग्ध बहा रही है (स्तुति कर रही है), उसे प्रभुके आशयको भलीभाँति जाननेवाली आप अच्छी प्रकार उचित समयपर प्रभुको निवेदित (अर्पण) कर देनेकी कृपा कर दीजिये ।

स्वेच्छाविकल्पितमदृष्टविशिष्टपाकं
मात्राविहीनमिदमार्यजनैरजुष्टम् ।
उन्मत्तभाषितमथापि भवत्यवश्यं
सद्भेषजं विषमयस्य भवामयस्य ॥ २८ ॥

अन्वय—[यद्यपि] इदम् स्वेच्छाविकल्पितम् अदृष्टविशिष्टपाकम् मात्राविहीनम् आर्यजनैः अजुष्टम् उन्मत्तभाषितम् अवश्यम् भवति, अथापि इदम् विषमयस्य भवामयस्य सद्भेषजम् भवति ।

अर्थ—यद्यपि यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) अवश्य ही स्वतन्त्रतासे विनिर्मित, विशिष्ट-पाक (प्रौढ़ता) से रहित, मात्रा (परिमाण) से विहीन, आर्यजनोंसे असेवित और उन्मत्त-प्रलापके समान असङ्गत है; तथापि यह इस विषमय* भव-रोग की एकमात्र अचूक ओषधि है ! अर्थात् यद्यपि मेरा यह निबन्ध उन्मत्त पुरुषके प्रलापके समान असमञ्जस होनेके कारण सभ्योंको प्रिय न लगेगा, तथापि किन्हीं भव-भय-पीड़ित सहृदयोंके लिए तो यह अवश्य परम आदरणीय होगा ।

भालानलं तव यथा मुकुटस्थितैव
शक्नोति नो शमयितुं किल[1] सिद्धसिन्धुः ।

---

* सुख भी परिणाम में दुःखद होने से दुःखरूप ही है, इसी अभिप्राय से यहाँ समस्त संसारको विषमय बतलाया गया है ।

1. 'शिव' इत्यपि पाठः ।

तद्वज्ज्वलन्तमनिशं हृदि शोकवह्निं
वक्त्रे वसन्त्यपि ममात्र सरस्वतीयम् ॥ २९ ॥

अन्वय—[हे स्वामिन् !] यथा किल तव मुकुटस्थिता एव सिद्धसिन्धुः [तव] भालानलम् शमयितुम् न शक्नोति, तद्वत् मम हृदि अनिशम् ज्वलन्तम् शोकवह्निम् [शमयितुम्] अत्र वसन्ती अपि इयम् सरस्वती [त्वत्कृपां विना] न शक्नोति ।

अर्थ—नाथ ! जैसे आपके मुकुटमें ही स्थित देव-गङ्गा आपके ललाटस्थित अग्निको शान्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकती, ठीक वैसे ही दिन-रात मेरे हृदयमें जाज्वल्यमान शोक-चिन्तारूपी अग्निको शान्त करनेके लिए मेरे मुखमें निवास करती हुई भी यह मेरी वाणी आपका प्रसादानुग्रह हुए बिना समर्थ नहीं हो सकती ।

प्राक्चेन्मया विहितमाविलमेव कर्म
स्वामिन् कुतस्त्वयि ममैष दृढोऽनुरागः ।
एकान्तशुक्लमथ चेदतिदुःसहोऽयं
शोकानलो हृदयदाहकरः किमन्तः ॥ ३० ॥

अन्वय—स्वामिन् ! मया प्राक् आविलम् एव कर्म विहितम् चेत्, तदा त्वयि मम एष दृढः अनुरागः कुतः स्यात् ? अथ चेत् मया एकान्तशुक्लम् [एव] कर्म विहितम्, तर्हि अयम् अतिदुःसहः हृदयदाहकरः शोकानलः [मम] अन्तः किं स्यात् ?

अर्थ—नाथ ! यदि मैंने पूर्वजन्ममें केवल कलुषित (पाप) ही कर्म किया होता, तो फिर आपमें मेरा यह दृढ़ अनुराग कैसे होता ? और यदि केवल पुण्य ही किया होता, तो फिर हृदयमें दाह करनेवाला, अत्यन्त दुःसह यह शोकानल (जरा-मरणरूप चिन्ताग्नि) मेरे अन्तरमें क्यों उत्पन्न होता ?*

क्वाप्यन्यजन्मनि विधाय विभोरवश्य-
माराधनामनुशयालु मनो ममाभूत् ।
नो चेत् कथं कुलगुणादिपवित्रमेत-
त्सर्वं नृजन्म मम निष्फलमेव जातम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—[विभो !] क्वापि अन्यजन्मनि विभोः आराधनाम् विधाय मम मनः अवश्यम् [एव] अनुशयालु अभूत् [इति जाने] । नो चेत् तर्हि कुलगुणादिपवित्रम् [अपि] एतत् मम नृजन्म सर्वं निष्फलम् एव कथम् जातम् ?

अर्थ—प्रभो ! [मैं समझता हूँ कि] पहले किसी जन्ममें प्रभुकी मन-वचन-

* अर्थात् पूर्वजन्ममें मैंने शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकारके कर्म किये थे, जिनमें शुभ कर्मोंके परिपाकसे तो आपमें मेरा यह दृढ़ अनुराग हुआ और अशुभ कर्मोंके परिपाकसे आपका वियोग हुआ है । इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि योगियोंके सिवा अन्य लोगोंके कर्म शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके रहते हैं । अतएव भगवान् पतञ्जलि भी कहते हैं—'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।'

कर्मसे आराधना करके भी मेरा मन [फल-प्राप्तिके विषयमें] अवश्य ही पश्चात्ताप-युक्त हुआ होगा। नहीं तो सत्कुल, गुण आदिसे पवित्र होता हुआ भी यह मेरा सारा मनुष्य-जीवन निष्फल ही कैसे रह गया ? अर्थात् कुछ ही सफल होकर कैसे रह गया ? तुम्हारा भक्तिरस पानेपर तो सर्वथा साफल्य ही है।

मानुष्यनावमधिगम्य¹ चिरादवाप्य
निस्तारकं च करुणाभरणं भवन्तम्।
यस्याभवद्भरवशस्तरितुं भवाब्धिं
सोऽहं ब्रुडामि वद कस्य विडम्बनेयम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—[प्रभो !] चिरात् मानुष्यनावम् अधिगम्य निस्तारकम् करुणाभरणम् भवन्तम् [च] अवाप्य यस्य भवाब्धिम् तरितुम् भरवशः अभवत्, सः अहम् यदि [तत्रैव] ब्रुडामि, तर्हि इयम् विडम्बना कस्य [भवति ? इति त्वम्] वद।

अर्थ—विभो ! अनेक जन्मों बाद इस मनुष्य-जन्मरूपी नौकाको प्राप्तकर तथा [अनेक जन्म-परम्परासे उपार्जित पुण्यवश] भवार्णवसे पार करनेवाले आप-सरीखे आशुतोष करुणाभूषण प्रभुको पाकर जिसे (मुझे) इस भवसागरको पार करनेका बड़ा विश्वास हो गया था, वही मैं अब यदि इसी भवसागरमें डूब रहा हूँ, तो वह विडम्बना किसकी होगी, यह आप ही बतलाइयें !

स्वामी प्रसादमुपकारिषु सेवकेषु
योग्येषु साधुषु करोति किमत्र चित्रम्।
सन्तस्त्वभाजनजनेष्वपि निर्निमित्तं
चित्तं वहन्ति करुणामृतसारसिक्तम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—स्वामी उपकारिषु सेवकेषु योग्येषु साधुषु [यदि] प्रसादम् करोति, अत्र किम् चित्रम् ? सन्तः तु अभाजनजनेषु अपि निर्निमित्तम् करुणामृतसारसिक्तम् चित्तम् वहन्ति।

अर्थ—यदि स्वामी मन, वचन, कर्म द्वारा नित्य अपनी उपासना करनेवाले, सेवा-परायण, शील-कुलाचार आदि सद्‌गुणोंसे अलंकृत और अतिविनीत भक्तजनों पर (ही) अनुग्रह किया करें, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? सन्त पुरुष तो कुपात्र जनोंपर भी अकारण अतिशय दयार्द्रचेता हुआ करते हैं*।

---

१. 'अधिरुह्य' इति पाठान्तरम्।

* इसी अभिप्रायसे टीकाकार श्रीरत्नकण्ठने भी कहा है—

'भवदङ्घ्रिसरोजसेविनि प्रकटं चेत्तनुरेव ते कृपा।
यदि नाथ ! तदास्यताश्रिते मयि दृश्येत तदैव ते कृपा ॥'

अर्थात् नाथ ! यदि आप सदैव चरणारविन्दकी सेवा करनेवालेपर ही कृपा करते हों, तब तो आपकी कृपा बहुत ही थोड़ी है। हाँ, यदि आपकी सेवासे विमुख, मुझ अधमपर भी कृपा करें, तब तो जानूँ कि आपकी कृपा अवश्य अतिशय उदार और अहैतुकी है।

तस्मात्समाप्तसकलाभ्युदयाभ्युपाय-
मायस्तचेतसमसम्भवभग्नवृत्तम् ।
सीदन्तमन्तकभयादभयार्पणेन
संभावय स्वयमनर्थकदर्थितं माम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—तस्मात् समाप्तसकलाभ्युदयाभ्युपायम् आयस्तचेतसम् असम्भवभग्नवृत्तम् अन्तकभयात् सीदन्तम् अनर्थकदर्थितम् माम् अभयार्पणेन स्वयम् सम्भावय ।

अर्थ—इसलिए प्रभो ! अभ्युदयके समस्त उपायोंसे रहित, खिन्न-चित्त, प्रयोजनवाली सभी वस्तुओंके अभाव (दरिद्रता) के कारण नष्ट-सदाचार, मृत्युके भयसे आर्त और जरा-मरणादि दुःख-व्यथाओंसे व्यथित मुझ दीनको 'मत डरो ! मत डरो !!' ऐसा अभयदान देकर स्वयं आप ही सँभाल लीजिये ।

त्वां नीतिमान् भजति यः स भवत्यनीति-
र्मुक्तः स यो हि भवता हृदयान्न मुक्तः ।
यस्ते रतोऽपचितयेऽपचितिं स नैति
तत्त्वां श्रितोऽस्मि भवमस्म्यभवो न कस्मात् ॥ ३५ ॥

अन्वय—[नाथ !] यः नीतिमान् त्वाम् भजति, सः अनीतिः भवति । यः भवता हृदयात् न मुक्तः, सः हि मुक्तः भवति । यः ते अपचितये रतः, सः अपचितिम् न एति । तत् [अहम्] त्वाम् भवम् श्रितः अस्मि, तर्हि अभवः कस्मात् न अस्मि ?

अर्थ—नाथ ! जो नीतिमान् (कार्याकार्य-विचारमें परायण) पुरुष आपका भजन करता है, वह अनीति (उपद्रवोंसे रहित) हो जाता है । जिसे आप अपने हृदयसे मुक्त नहीं करते (नहीं त्यागते), वह पुरुष अवश्य ही मुक्त (आत्यन्तिक दुःखोंसे रहित) हो जाता है । [इसी तरह] जो मनुष्य सदैव आपकी अपचिति (पूजा) में तत्पर रहता है, वह कदापि अपचिति (अपचय या हीनता) को नहीं प्राप्त होता । इसी कारण विभो ! मैंने आप भव (ब्रह्मादि जगत्कारणोंके भी कारण) की शरण ली है । सो फिर मैं अभव (जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे रहित) क्यों नहीं होता ?* [यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है] ।

---

* यहाँ कविने भक्तिके नशेकी उड़ानपर सवार हो घरमें भूँजी भाँग न होनेपर भी त्रिलोकीके सम्राट् सदाशिवके दरबारमें एक नालिश ठोक दी है ! वह भी उनके किसी कर्मचारीपर नहीं, खुद उन्हींपर । इस श्लोकके भावार्थको जरा ध्यानसे पढ़िये । आप कह रहे हैं—जो नीतिमान् पुरुष आपका भजन करता है, वह नीति-रहित यानी बदनीयत बन जाता है; जिसे आप हृदयसे बाँधे रखते हैं, वह सभी बन्धनोंसे छूट निकलता है और जो आपकी पूजामें लगा रहता है, वह कभी पूजा-सम्मान नहीं पाता—दुनियामें उसकी कोई इज्जत नहीं होती । यहाँतक तो नजीरें हुईं, अब मुख्य नालिश सुनिये—तब भगवन् ! बताइये तो सही कि फिर मेरे साथ भी ऐसा ही बरताव क्यों नहीं हुआ ? मैं 'भव' यानी

स्वापः सचिन्तमनसो निशि मे दुरापो
निर्दाह एव गमयामि कदा सदाहः ।
रक्ष त्वदेकवशगं शिव मामवश्यं
कस्माद्भवस्यपरुषो मम कर्कशस्त्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—[विभो !] सचिन्तमनसः मे निशि स्वापः दुरापः [भवति । भवदनुग्रहेण] अहम् निर्दाहः सन् सदा अहः* कदा गमयामि ? शिव ! त्वदेकवशगम् माम् अवश्यम् रक्ष । अपरुषः मम त्वम् कर्कशः कस्मात् भवसि ?

अर्थ—हे विभो ! जरा-मरणके भयसे चिन्तित-मन होनेके कारण मुझे रात्रि-में निद्रा दुर्लभ हो गयी है। भगवन् ! आपके अनुग्रहसे मैं आन्तरिक चिन्तासे रहित हो सर्वदा सुखपूर्वक दिन कब बिताया करूँगा ? सदाशिव ! एकमात्र आपकी ही शरण ग्रहण किये मुझ दीनकी अवश्य रक्षा कीजिये। प्रभो ! सुकोमल चित्तवाले मेरे प्रति आप इतने कठोर क्यों रहे हैं ?

पापः खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातुं
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य ।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः ॥ ३७ ॥

अन्वय– अयम् खलः पापः इति माम् विहातुम् न अर्हसि । अकुतोभयस्य कृतमतेः रक्षया किम् ? यस्मात् अहम् असाधुः अधमः अपुण्यकर्मा अस्मि, तस्मात् तव सुतराम् अनुकम्पनीयः ।

अर्थ—अयि विभो ! 'यह खल और पापी है' ऐसा समझकर आप मेरा परित्याग मत कीजिये ! क्योंकि सर्वथा निर्भय और पुण्यात्माको आपकी रक्षासे क्या प्रयोजन है ? चूँकि मैं अत्यन्त असज्जन, अधम और पापात्मा हूँ, इसीलिए आप परम दयालु-का अत्यन्त अनुकम्पनीय हूँ ।

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम् ।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ॥ ३८ ॥

संसार या उसके कारण आपका आश्रय लेकर भी 'अभव' यानी संसारसे मुक्त क्यों नहीं हो रहा हूँ ? ठीक ही तो है, जब इस दरबारमें अन्धेरखाता ही चलता है, तो वह भी पूरा-पूरा उतरना चाहिए और भक्तके साथ भी वैसा ही होना चाहिए । 'प्रभो ! मुझे संसारसे उबार लीजिये' इस माँगका यह कितना सहृदय-हृदयहारी प्रकार है ।

* अहानि इत्यर्थः, जातावेकवचनम् ।

अन्वय—नाथ ! यद्यपि अहम् स्वैः एव कुकृत्यैः अधः गतः, तत्रापि तव अवलेप-पात्रम् न अस्मि । हि यः दृप्तः पशुः स्वयम् [एव] अन्धकूपे पतति, तम् अपि कारुणिकः लोकः न उपेक्षते ।

अर्थ—नाथ ! यद्यपि मैं अपने ही किये कुकर्मोंसे इस अधोगतिको प्राप्त हुआ हूँ, तथापि आप करुणासागरके तिरस्कारका पात्र नहीं हूँ ! जरा देखिये तो, यदि तारुण्यके मदसे गर्वित कोई उद्धत पशु अपनी ही उद्दण्डतासे किसी अन्धकूप (गड्ढे) में गिर जाता है, तो उसे भी दयालु लोग उपेक्षित नहीं करते अर्थात् अन्धकूपसे निकाल ही लेते हैं ।

अत्युन्नतान्निजपदाच्चपलश्च्युतोऽयं
　　भूरीन्भ्रमिष्यति जडप्रकृतिः कुमार्गान् ।
मत्वेति चेत्त्यजसि मामयमीदृगेव
　　गाङ्गस्त्वया किमिति मूर्ध्नि धृतः प्रवाहः ॥ ३९ ॥
हन्तायमार्तिमपि नारकिणां धृतश्चे-
　　न्मूर्ध्ना किलेति वहसे यदि गाङ्गमोघम् ।
एतत्तवोचितमनाथजनार्तिभङ्ग-
　　हेवाकिनो　घनघृणामृतसागरस्य ॥ ४० ॥
अस्मादृशस्य रसना तु सहस्रधेयं
　　गच्छेदवाप्य तव शीर्षमितीरयन्ती ।
किन्तूद्धरामि　भवदग्रपदावमर्श-
　　मात्रादहं त्रिजगतीमिति मे प्रतिज्ञा ॥ ४१ ॥

[तिलकम्]

अन्वय—[विभो !] अत्युन्नतात् निजपदात् च्युतः चपलः अयम् जडप्रकृतिः भूरीन् कुमार्गान् भ्रमिष्यति इति मत्वा माम् त्यजसि चेत्, [तर्हि] ईदृग् एव अयम् गाङ्गः प्रवाहः मूर्ध्नि त्वया किमिति धृतः ? किल मूर्ध्ना धृतः चेत् अयम् नारकिणाम् आर्तिम् हन्ता अपि इति, [तदा] अनाथजनार्तिभङ्गहेवाकिनः घनघृणामृतसागरस्य तव एतत् उचितम् [एव]। अस्मादृशस्य इयम् रसना तु तव शीर्षम् अवाप्य ['गङ्गावत् सुखम् तिष्ठामि'] इति ईरयन्ती सहस्रधा गच्छेत् । किन्तु भवदग्रपदावमर्शमात्रात् अहम् त्रिजगतीम् [क्षणात्] उद्धरामि इति मे प्रतिज्ञा ।

अर्थ—नाथ ! 'अतीव उन्नत स्वरूप-स्थिति से च्युत, चपलस्वभाव यह जड़ प्रकृति (दुष्टात्मा) अनेक कुमार्गोंमें भटकेगा' ऐसा सोचकर यदि आप मेरा परित्याग कर रहे हो, तो [फिर यह बतलाइये कि] इन्हीं अवगुणोंसे भरे (अत्यन्त उन्नत अपने पद सत्यलोकसे च्युत, अतिचञ्चल, जल-प्रकृति* या अचेतन और कुमार्ग यानी पृथ्वीके

* 'डलयोरभेदः' ।

मार्गपर बहनेवाले) इस गङ्गा-प्रवाहको मस्तकपर क्यों धर लिया ? * 'निश्चय ही यह मस्तकपर धारण किया जायगा तो पापी लोगोंकी पीड़ाओंको दूर कर देगा।' इस अभिप्रायसे यदि आपने इसे अपने मस्तकपर धारण किया हो तब तो नाथ ! अनाथ जनोंके दुःख-भारको दूर करनेमें तत्पर आप करुणासागरका यह कर्तव्य उचित ही है। ऐसी स्थितिमें हम-सरीखे भक्त लोगोंकी रसना यदि यह कहनेकी धृष्टता करे कि 'नाथ ! मैं भी आपके मस्तकपर गङ्गाके समान सुखपूर्वक रहूँगी,' तो इसके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ। किन्तु मेरी तो यही प्रतिज्ञा है कि मैं केवल आपके चरणाग्रके स्पर्शमात्रसे क्षणभरमें त्रैलोक्यका उद्धार कर दूँगा [, केवल पापियोंके उद्धारका तो कहना ही क्या है]।

क्षामो निकामजडिमा कुटिलः कलावान्
दोषाकरोऽयमिति चेत्त्यजसि प्रभो माम् ।
एतादृशैरुपगतोऽपि समस्तदोषैः
कस्मात्त्वया शिरसि नाथ धृतः शशाङ्कः ॥ ४२ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] अयम् क्षामः निकामजडिमा कुटिलः कलावान् दोषाकरः इति चेत् माम् त्यजसि; [तर्हि] नाथ ! एतादृशैः समस्तदोषैः उपगतः अपि अयम् शशाङ्कः त्वया शिरसि कस्मात् धृतः ?

अर्थ—हे प्रभो ! 'यह प्राणी अत्यन्त कृश, सर्वथा जड़, कुटिल-अन्तःकरण, कलावान् (ठगनेकी कलामें चतुर) और दोषाकर (दोषोंकी खान) है' यह समझकर यदि आप मेरा परित्याग करते हो, तो फिर हे नाथ ! आपने ऐसे ही अवगुणोंवाले शशाङ्क (कलंकी चन्द्र) को क्यों मस्तकपर धारण किया ? यह भी तो अत्यन्त कृश, अतिशय जडिमा (शीतलता) वाला, कुटिल (टेढ़ा), कलावान् (कलायुक्त) और दोषाकर (रात्रि में उदय होनेवाला) है।

शान्ताकृतिर्द्विजपतिर्विमलः कलङ्क-
मुक्तः किलेति यदि मूर्ध्नि विधुं बिभर्षि ।
एवंविधोऽपि भवता कथमङ्घ्रिपीठ-
प्रान्तेऽपि धर्तुमुचितो न समर्थितोऽहम् ॥ ४३ ॥

अन्वय—किल [अयम्] शान्ताकृतिः द्विजपतिः विमलः कलङ्कमुक्तः इति यदि त्वम् विधुम् मूर्ध्नि बिभर्षि, [तर्हि] एवंविधः अपि अहम् भवता अङ्घ्रिपीठप्रान्ते अपि धर्तुम् उचितः कथम् न समर्थितः ?

अर्थ—'निश्चय ही यह चन्द्रमा शान्त-आकृति, द्विजपति (नक्षत्रोंका स्वामी), स्वच्छ और निष्कलङ्क है' इसी कारण यदि आप इसे मस्तकपर धारण किये हों, तो मैं भी ऐसा ही 'शान्त-आकृति, द्विजपति (ब्राह्मण-श्रेष्ठ), स्वच्छ

---

* यहाँ शब्दश्लेष नामक अलङ्कार है।

(निष्पाप) और निष्कलङ्क हूँ। फिर मुझे सिर चढ़ाना तो दूर, अपने पाद-पीठके एक कोनेमें भी बैठाने योग्य क्यों नहीं माना ?

पापग्रहो धृतिमुपैति विना परेषां
　न स्वापहारमयमित्यथ मां जहासि ।
एवंविधोऽपि तव दक्षिणदृष्टिपात-
　पात्रत्वमीश्वर कथं रुचिमानुपेतः ॥ ४४ ॥

अन्वय—ईश्वर ! अथ अयम् पापग्रहः परेषाम् स्वापहारम् विना धृतिम् न उपैति, इति माम् जहासि चेत्, [तर्हि] एवंविधः अपि रुचिमान् तव दक्षिणदृष्टिपातपात्रत्वम् कथम् उपेतः ?

अर्थ—परमेश्वर ! यदि आप यह समझकर कि 'यह पापात्मा दूसरोंके स्व (द्रव्य) का अपहरण किये बिना चैन नहीं पाता', मेरा त्याग करते हों तो [यह बतलाइये कि] इस लालची सूर्यको आपने अपने दक्षिण नेत्रमें सस्नेह कैसे स्थान दे दिया ? क्योंकि यह भी तो पापग्रह (अनिष्ट फलदायी ग्रह) है और सब लोगोंके स्वाप (निद्रा) का हरण किये बिना चैन नहीं लेता।

मित्रत्वमेष भवतो गुणिबन्धुतां च
　प्रख्याप्य चेदुपगतस्तव वल्लभत्वम् ।
दासत्वमेव तव नित्यमुपेत्य भूत्वा
　सेवापरश्च गुणिनां कथमप्रियोऽहम् ॥ ४५ ॥

अन्वय—एषः भवतः मित्रत्वम् गुणिबन्धुताम् च प्रख्याप्य तव वल्लभत्वम् उपगतः चेत्, [तर्हि] नित्यम् तव दासत्वम् एव उपेत्य गुणिनाम् सेवापरः च भूत्वा अहम् कथम् तव अप्रियः [अस्मि ?]

अर्थ—यदि यह सूर्य आपसे अपना 'मित्रत्व' (सबके साथ मित्रभाव) और 'गुणि-बन्धुता' (कमल या दया-दाक्षिण्यादि गुणवानोंसे बन्धुता) का विज्ञापन कर आपका प्रेम-पात्र बन गया है, तो फिर नित्य आपका दास बनकर और गुणवानोंकी सेवामें परायण होकर भी मैं क्यों आपको अप्रिय हूँ ?

अत्यूष्मलं मलिनमार्गमनेकजिह्वं
　स्पर्शेऽप्यनर्हमवधार्य जहासि चेन्माम् ।
एतादृशोऽपि शुभदृष्टिनिवेशनस्य
　पात्रीकृतः कथमयं भवताश्रयाशः ॥ ४६ ॥

अन्वय—अत्यूष्मलम् मलिनमार्गम् अनेकजिह्वम् स्पर्शे अपि अनर्हम् अवधार्य माम् जहासि चेत्, [तर्हि] एतादृशः अपि अयम् आश्रयाशः भवता शुभदृष्टिनिवेशनस्य कथम् पात्रीकृतः ?

अर्थ—और यदि मुझे अत्यूष्मल (अत्यन्त गर्वित), मलिनमार्ग (पापकर्मा), अनेक जिह्वाओंवाला (क्षण-क्षणमें असत्य बोलनेवाला, दुमुँहा) और स्पर्शके भी अयोग्य समझकर आप मेरा परित्याग करते हों, तो फिर ठीक ऐसे ही इस आश्रयाश (अग्नि) को सपक्षपात अपने तृतीय नेत्रमें क्यों धारण किया है ? कारण यह भी तो अत्यूष्मल (अत्यन्त तपानेवाला), मलिन-मार्ग (कृष्णवर्त्मा यानी अपने गन्तव्य मार्ग-को धूमिल बनानेवाला), अनेक-जिह्व (सात जिह्वाओंवाला) और उष्ण होनेके कारण स्पर्शके भी अयोग्य है।

[यहाँ 'आश्रयाशः' पद साभिप्राय है—अर्थात् जो (निजं आश्रयमेव अश्नातीति आश्रयाशः) अपने आश्रय यानी निवासस्थान या आश्रयदाता को ही चट कर डालता है, उसे भी जब आपने अपनी शरण ले लिया, तब मुझे क्यों नहीं अपना लेते ?]

यद्बन्धुजीवदलसद्रुचिरर्थिभाव-
मायाति साधु विबुधव्रजजीवनाय।
यन्मित्रमण्डलमुखेन च विश्वमेषः
पुष्णाति तेन दहने यदि सादरोऽसि ॥ ४७ ॥
आप्यायनं सुमनसामनिशं विधातु-
मर्थीभवामि यदि कोपि न मेऽस्ति दाता।
कर्तुं च बन्धुजनजीवनमक्षमोऽहं
विश्वं च पोषयितुमीश सुहृन्मुखेन ॥ ४८ ॥
तेनात्र मां निरपराधमवेहि देहि
दृष्टिं प्रसादविशदाममृतद्रवार्द्राम्।
दीनं दयास्पदमदभ्रमदभ्रमेण
भ्रूविभ्रमेण सदयं भज भङ्गुरेण ॥ ४९ ॥ [तिलकम्]

अन्वय—बन्धुजीवदलसद्रुचिः एषः यत् साधु [कृत्वा] विबुधव्रजजीवनाय अर्थिभावम् आयाति, यत् च मित्रमण्डलमुखेन विश्वम् पुष्णाति, तेन यदि दहने सादरः असि। [हे ईश !] सुमनसाम् अनिशम् आप्यायनम् विधातुम् यदि अर्थीभवामि, तर्हि कः अपि दाता मे नास्ति। अहम् बन्धुजनजीवनम् कर्तुम् सुहृन्मुखेन विश्वम् पोषयितुम् च अक्षमः अस्मि। तेन अत्र माम् निरपराधम् अवेहि, प्रसादविशदाम् अमृतद्रवार्द्राम् दृष्टिम् देहि, दयास्पदम् दीनम् अदभ्रमदभ्रमेण भङ्गुरेण भ्रूविभ्रमेण सदयम् भज।

अर्थ—यह अग्नि बन्धुजीव नामक रक्तपुष्पके दलके समान सुमनोहर कान्तिवाला है, विबुध-गणों (देवगणों) के जीवन-निर्वाहार्थ [आज्यादिकी आहुति ग्रहण करते हुए] भलीभाँति याचक बनता है और सायंकाल* मित्र-मण्डल

* श्रुति है कि सूर्य विश्व-पोषणार्थ रात्रिमें अपना तेज अग्निमें छोड़ जाता है।

(सूर्य-मण्डल) के द्वारा विश्वका पोषण करता है। प्रभो ! इसी कारण यदि आप इस 'दहन'को सादर नेत्रमें धारण किये हों, [तो ठीक है। किन्तु इसी तरह यदि मैं भी] अहर्निश देव-द्विजजनोंको तृप्त करनेके लिए याचक बन जाऊँ, तो कोई ऐसा दाता ही नहीं मिलता, जो मेरे द्वारा उनकी तृप्ति करे। अतएव मैं बन्धुजनोंका जीवन चलाने एवं मित्र-मण्डल द्वारा विश्वका पोषण करनेके लिए भी असमर्थ हूँ। इसलिए हे ईश ! इन पूर्वोक्त विषयोंमें आप मुझे निरपराध ही समझिये, प्रसन्नतासे निर्मल और अमृत-द्रवसे आर्द्र दृष्टिद्वारा अनुगृहीत कीजिये और मुझ दीन कृपापात्रको हर्षसे अत्यन्त मत्त कटाक्षोंसे सदय स्वीकार कीजिये।

अन्वग्रहीरमलदृष्टिसमर्पणेन
मित्रं शुचिं द्विजपतिं यदि युक्तमेतत्।
एवंविधेऽपि भगवन् दृशमप्रसन्नां
धत्से मयीति विधिरेष पराङ्मुखो मे ॥ ५० ॥

अन्वय—[भगवन् !] यदि अमलदृष्टिसमर्पणेन मित्रम् शुचिम् द्विजपतिम् [च] अन्वग्रहीः, एतत् युक्तम्। एवंविधे अपि मयि यत् अप्रसन्नाम् दृशम् धत्से, एषः मे विधिः पराङ्मुखः [अस्ति]।

अर्थ—भगवन् ! आपने जो मित्र (सूर्य), शुचि (अग्नि) और द्विजपति (चन्द्रमा) को अपनी विमल दृष्टि (निर्मल नेत्रों)में स्थान दे इनपर अनुग्रह किया, यह तो युक्त ही है। परन्तु ठीक इसी प्रकारके मुझ मित्र (प्राणिमात्रके मित्र*), शुचि (पवित्र निर्दोष) और द्विजपति (श्रेष्ठ ब्राह्मण) पर जो आप प्रसन्न नहीं होते, यह मेरा भाग्य ही प्रतिकूल है, यानी यह मेरे ही दुर्भाग्यकी महिमा है। इसमें आपका कोई दोष नहीं है।

निष्कर्ण एष कुसृतिव्यसनी द्विजिह्वो
मत्वेति चेत्त्यजसि निःशरणं प्रभो माम्।
एतादृशोऽपि पवनाशन एष कस्मा-
च्छ्रीकण्ठ कण्ठपुलिने भवता गृहीतः ॥ ५१ ॥

अन्वय—[प्रभो !] एषः निष्कर्णः कुसृतिव्यसनी द्विजिह्वः [च अस्ति] इति मत्वा माम् निःशरणम् त्यजसि चेत्, [तर्हि] श्रीकण्ठ ! एतादृशः अपि एषः पवनाशनः भवता कण्ठपुलिने कस्मात् गृहीतः ?

अर्थ—प्रभो ! 'यह पुरुष निष्कर्ण (किसीकी बातोंको न सुननेवाला), कुसृति-व्यसनी (कुमार्गगामी) और द्विजिह्व (असत्यवादी) है' ऐसा समझकर आप मेरा परित्याग कर रहे हों, तो फिर श्रीकण्ठ ! इन्हीं सब दोषोंसे भरे अर्थात् निष्कर्ण ‡

* 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते'—ब्राह्मण प्राणिमात्रका 'मित्र' कहा जाता है।

‡ सर्प के कान नहीं होते, इसी कारण उसको 'चक्षुःश्रवा' कहते हैं।

(कर्णहीन), कुसृति-व्यसनी (पृथ्वीमें खिसक-खिसककर चलनेवाले) और द्विजिह्व (दो जिह्वाओंवाले) वासुकि सर्पको आपने कण्ठतटमें क्यों धारण किया ?

जिह्वासहस्रयुगलेन पुरा स्तुतस्त्व-
मेतेन तेन यदि तिष्ठति कण्ठपीठे ।
एकैव मे तव नुतौ रसनास्ति तेन
स्थानं महेश भवदङ्घ्रितले ममास्तु ॥ ५२ ॥

अन्वय—महेश ! एतेन पुरा जिह्वासहस्रयुगलेन त्वम् स्तुतः, तेन यदि [सः तव] कण्ठपीठे तिष्ठति, [तदा] मे तव नुतौ एका एव रसना अस्ति, तेन भवदङ्घ्रितले [एव] मम स्थानम् अस्तु ।

अर्थ—महेश ! इस सर्पराज वासुकिने पहले [किसी जन्ममें शेषनाग-के रूपमें] अपनी दो हजार जिह्वाओंसे, [चिरकालतक] आपकी स्तुति की थी। उसी स्तुतिसे अत्यन्त प्रसन्न हो यदि आपने इसे अपने कण्ठपीठमें स्थान दिया हो, तो मेरे पास आपकी स्तुति करनेके लिए एक ही जिह्वा है, अतः [मुझे इसकी बराबरीका स्थान देना नहीं चाहते हों, तो प्रभो ! केवल इतनी ही कृपा कर दीजिये कि] आपके चरण-तलमें ही मेरा निवास हो जाय !

शृङ्गी विवेकरहितः पशुरुन्मदोऽयं
मत्वेति चेत्परिहरस्यतिकातरं माम् ।
एवंविधोऽपि वृषभश्चरणार्पणेन
नीतस्त्वया कथमनुग्रहभाजनत्वम् ॥ ५३ ॥

अन्वय - अयम् शृङ्गी विवेकरहितः पशुः उन्मदः इति मत्वा अतिकातरम् माम् परिहरसि चेत्, एवंविधः अपि वृषभः त्वया चरणार्पणेन अनुग्रहभाजनत्वम् कथम् नीतः ?

अर्थ—'यह पुरुष शृङ्गी (अत्यन्त अहङ्कारी), विवेक-रहित, पशुसदृश और उन्मत्त है' ऐसा समझकर यदि आप मुझ दीनका परित्याग कर रहे हों, तो फिर आपने ठीक मेरे ही जैसे—शृङ्गी (सींगवाले), विवेक-रहित, पशु और उन्मद—बैल (नन्दी) को भी अपने चरण-कमल अर्पित कर अनुग्रहका पात्र कैसे बनाया ?

पृष्ठे भवन्तमयमुद्वहते कदाचि-
देतावता यदि तवैति दयास्पदत्वम् ।
स्वामिन्नहं तु हृदयेऽन्वहमुद्वहामि
त्वामित्यतः कथमहो न तवानुकम्प्यः ॥ ५४ ॥

अन्वय—अयम् कदाचित् भवन्तम् पृष्ठे उद्वहते, एतावता यदि तव दयास्पदत्वम् एति, [तर्हि] स्वामिन् ! अहम् तु अन्वहम् त्वाम् हृदये उद्वहामि, इति अतः अहो ! [अहम्] कथम् न तव अनुकम्प्यः ?

अर्थ—[जब आपको कहीं जानेकी इच्छा होती है, तब] यह बैल आपको कभी-

कभी अपनी पीठपर बैठा ले जाता है। यदि इसी कारण यह आपकी दयाका पात्र बना है, तो स्वामिन् ! [यह वृषभ तो आपको आपके इच्छानुसार इधर-उधर कभी-कभी ले जाता है, किन्तु] मैं तो आपको प्रतिक्षण अपने हृदयमें वहन करता हूँ, अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि फिर भी मैं क्यों आपका अनुकम्पनीय (दयापात्र) नहीं हूँ ?

क्रूरः पराङ्मुखमसावनृजुर्जहाति
योग्यं गुणग्रहणकर्मणि मार्गणौघम् ।
मत्वेति चेत्त्यजसि मां कथमीदृगेव
स्वामिन्धृतः करतले भवता पिनाकः ॥ ५५ ॥

अन्वय—असौ क्रूरः अनृजुः गुणग्रहणकर्मणि योग्यं मार्गणौघम् पराङ्मुखम् [कृत्वा] जहाति, इति मत्वा माम् त्यजसि चेत्, [तर्हि] स्वामिन् ! ईदृग् एव पिनाकः भवता करतले कथम् धृतः ?

अर्थ—'यह क्रूर, कुटिल पुरुष गुण ग्रहण करने योग्य मार्गणों (याचक-गणों) को पराङ्मुख (हताश) कर छोड़ देता है' ऐसा समझकर यदि आप मेरा परित्याग करते हों, तो हे विभो ! फिर आपने ठीक वैसे ही—क्रूर (कठोर), कुटिल और गुण-ग्रहण (प्रत्यञ्चाके ग्रहण) करनेमें योग्य मार्गणों (बाणों) को पराङ्मुख (तिरछा) कर छोड़नेवाले—इस पिनाक नामक धनुषको अपने हाथमें क्यों धारण किया ?

कोटिं परामुपगतेऽपि गुणे नितान्तं
नम्रं विमृश्य यदि नाजगवं जहासि ।
स्वल्पे गुणेऽपि नतिमानतिमात्रमेव
किं तच्च येन न भवामि तवानुकम्प्यः ॥ ५६ ॥

अन्वय—पराम् कोटिम् उपगते गुणे अपि नितान्तम् नम्रम् विमृश्य यदि अजगवम् न जहासि, [तदा] स्वल्पे गुणे अपि [अहम्] अतिमात्रम् एव नतिमान् । तत् च किम्, येन तव अनुकम्प्यः न भवामि ?

अर्थ—यदि परा कोटि (धनुषके अग्रभाग या करोड़ संख्या) तक गुण (प्रत्यञ्चा या दया-दाक्षिण्यादि) के पहुँचनेपर भी अतीव नम्र समझकर आप पिनाक धनुषको नहीं त्यागते, तो हे विभो ! मैं तो स्वल्प ही गुण (दया दाक्षिण्यादि) से अतिमात्र नम्र हूँ। तब फिर क्या कारण है कि मैं आपका अनुकम्पा पात्र नहीं होता ?

अत्यन्ततीक्ष्णमतिकर्कशमार्जवेन
कृत्वा प्रवेशमतिमात्रमरुन्तुदं माम् ।
मत्वा जहासि यदि नाथ किमर्थमेत-
देवंविधं वहसि हस्तगतं त्रिशूलम् ॥ ५७ ॥

अन्वय—नाथ ! अत्यन्ततीक्ष्णम् अतिकर्कशम् आर्जवेन प्रवेशम् कृत्वा [पश्चात्] अतिमात्रम् अरुन्तुदम् मत्वा यदि माम् जहासि, [तर्हि] एवंविधम् हस्तगतम् एतत् त्रिशूलम् किमर्थम् वहसि ?

अर्थ—नाथ ! मुझे अत्यन्त तीक्ष्ण (रोषयुक्त), अति कठोर-हृदय और पहले बड़ी विनम्रतासे प्रवेशकर पीछे अत्यन्त ही मर्म भेदन करनेवाला समझकर यदि आप मेरी उपेक्षा करते हों, तो फिर ठीक ऐसे ही (अत्यन्त तीक्ष्ण, अतिकठोर और पहले बड़ी सरलतासे प्रवेशकर फिर मर्म-भेदन करनेवाले) हाथमें स्थित इस त्रिशूलको आप क्यों ढो रहे हो ?

ज्ञात्वाथ चेत्समरसंहितकर्मयोग्यं
कोटित्रयोज्ज्वलमुखं त्रिशिखं बिभर्षि ।
निःस्वं न किं समरसं हितकर्मयोग्यं
मां वेत्सि येन कुरुषे मयि न प्रसादम् ॥ ५८ ॥

अन्वय—अथ समरसंहितकर्मयोग्यम् कोटित्रयोज्ज्वलमुखम् ज्ञात्वा चेत् त्रिशिखम् बिभर्षि, तर्हि माम् निःस्वम् समरसम् हितकर्मयोग्यम् किम् न वेत्सि, येन मयि प्रसादम् न कुरुषे ?

अर्थ—[भगवन् ! यदि आप इस] त्रिशूलको समरमें युद्ध करनेके योग्य और कोटित्रय (तीन शिखाओं) से उज्ज्वलित मुखवाला समझकर धारण करते हों, तो फिर क्या मुझ निर्धन (कोटित्रय-विहीन), समरस (सर्वत्र समान या एकरस) और हितकर्म-योग्य (सभीका हितकर्म करने योग्य) नहीं समझते हो, जिससे मुझपर अनुग्रह नहीं करते ?

न्यग्भावितद्विजमखर्वितपूर्वदेव-
गुर्वापदर्पणपरं कृतगोत्रभेदम् ।
संभाव्य चेत्यजसि मां कथमीदृगेव
नेत्रोत्सवस्तव जगद्विजयी कुमारः ॥ ५९ ॥

अन्वय—[हे स्वामिन् !] माम् न्यग्भावितद्विजम् अखर्वितपूर्वदेवगुर्वापदर्पणपरम् कृतगोत्रभेदम् संभाव्य त्यजसि चेत्, [तर्हि] ईदृक्* एषः जगद्विजयी कुमारः कथम् तव नेत्रोत्सवः ? ¶

अर्थ—हे नाथ ! मुझे द्विजों (ब्राह्मणों) का तिरस्कार करनेवाला, अपने इष्टदेवता और गुरुजनोंको दुःख देनेमें तत्पर और [दुःशीलताके कारण] अपने गोत्र (वंश) का भेदन करनेवाला समझकर यदि मेरी उपेक्षा करते हों, तो फिर ठीक

* अर्थात् न्यग्भावितद्विजः अखर्वितपूर्वदेवगुर्वापदर्पणपरः कृतगोत्रभेदः । अत्र अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः ।

¶ नयनप्रकाशकरः अतिप्रियः सुतः इत्यर्थः ।

मेरे ही समान अर्थात् द्विज (मोर) को [अपना वाहन बनाकर] नीचे करनेवाला बड़े-बड़े पूर्वदेवों (दैत्यों) के गुरुजनोंको दुःख देनेमें तत्पर और गोत्र (क्रौञ्च-पर्वत) का विदारक यह जगद्विजयी कुमार (स्वामी कार्तिकेय) आपका अत्यन्त प्रिय कैसे है ?

मत्वाथ नाथ शुचिजातिममुं विशाख-
मस्मिन्मनो यदि बिभर्षि दृढप्रसादम् ।
एवंविधोऽप्यहमनन्यपरायणस्ते
कस्माद्भवामि भगवन्नवहेलभूमिः ॥ ६० ॥

अन्वय—नाथ ! अथ अमुम् शुचिजातिम् विशाखम् मत्वा यदि अस्मिन् मनः दृढप्रसादम् बिभर्षि, तर्हि एवंविधः अपि अनन्यपरायणः अहम् ते अवहेलभूमिः कस्मात् भवामि ?

अर्थ—हे नाथ ! स्वामी कार्तिकेयको शुचिजाति (अग्निसे उत्पन्न) और विशाख (कुमार) समझकर यदि उसपर अत्यन्त प्रेम करते हो, तो मैं भी ठीक ऐसा ही—शुचिजाति (पवित्र जातिवाला ब्राह्मण) और विशाख (शाखाहीन)—और अनन्यशरण हूँ । [भगवन् !] फिर मैं आपकी अवज्ञाका पात्र क्यों हूँ ?

सर्वापहाररतिरुन्मदवक्रवक्त्र-
स्त्याज्योऽस्मि कर्णचपलो यदि तुन्दिलस्ते ।
एवंविधोऽपि भगवन् गणनायकत्वे
कस्मादयं गजमुखो भवता नियुक्तः ॥ ६१ ॥

अन्वय—भगवन् ! सर्वापहाररतिः उन्मदवक्रवक्त्रः कर्णचपलः तुन्दिलः [अहम्] यदि ते त्याज्यः अस्मि, [तर्हि] एवंविधः अपि अयम् गजमुखः भवता गणनायकत्वे कस्मात् नियुक्तः ?

अर्थ – हे भगवन् ! मुझे सर्वापहार (जहाँ कहीं भी मिलनेवाली प्रत्येक वस्तुका अपहरण) करनेमें तत्पर, मदोन्मत्त होनेसे कुटिलमुख, चञ्चल कर्णोंवाला और तुन्दिल (बड़ी तोंदवाला, पेटू) जानकर यदि मेरा परित्याग करते हो, तो फिर आपने ठीक मेरे ही समान—सभी वस्तुओंका अपहरण करनेमें तत्पर*, मदजलभरे टेढ़े मुखवाले, बार-बार कान हिलानेवाले और लम्बोदर गजाननको (गणेशजीको) अपना गणनायक (नन्दी, भृङ्गी, महाकाल आदि गणोंका नेता) क्यों बनाया ?

हस्तं सदा वहति दानजलावसिक्तं
तेनैष चेदलभत प्रमथाधिपत्यम् ।
दानं प्रदातुमधनो यदि न क्षमोऽहं
दासत्वमस्तु मम देव भवद्गणानाम् ॥ ६२ ॥

* 'सर्वापहारो गजास्यः' इति अमरमाला ।

अन्वय—देव ! एषः दानजलावसिक्तम् ¶ हस्तम् सदा वहति, तेन प्रमथाधिपत्यम् अलभत चेत्, तर्हि अधनः अहम् दानम् प्रदातुम् यदि न क्षमः तदा भवद्गणानाम् दासत्वम् [एव] मम अस्तु ।

अर्थ—हे स्वयंप्रकाश परमेश्वर ! यह गणेशजी सदा दान-जल (मदजल) से सिञ्चित हस्त (सूँड़) को धारण किये रहते हैं, इस कारण यदि इन्हें आपने अपने गणोंका अधिपति बना लिया, तो मैं निर्धन होनेसे दान देनेमें असमर्थ हूँ, अर्थात् अतएव सदा दानजलसे (दान देनेके लिए जलसे) सिञ्चित हस्तको धारण नहीं कर सकता, [इस कारण यदि मुझे आप गणेशके समान सेनानायक बनाने योग्य न समझते हों] तो मुझे अपने गणोंका दास ही बना दीजिये ।

हेयोऽस्म्यसेवकतया तव[1] चेद् ग्रहेषु
कुर्वत्सु तुल्यमखिलेष्वपि राशिभोगम् ।
द्वावुज्झतस्तव न दृक्पथमर्कचन्द्रा-
वेतावता परिहृता भवता किमन्ये ॥ ६३ ॥

अन्वय—अखिलेषु अपि ग्रहेषु तुल्यम् [एव] राशि-भोगम् कुर्वत्सु [सत्सु] अर्कचन्द्रौ द्वौ [एव] तव दृक्पथम् न उज्झतः चेत्, तर्हि एतावता [एव] भवता अन्ये असेवकतया किम् परिहृताः [अहम्] कथम् हेयः अस्मि ?

अर्थ—नाथ ! [किसीकी सुरक्षित, कष्टसंगृहीत धनराशिकी तरह] मेषादि बारह राशियोंका भोग तो नवों ग्रह समान ही करते हैं । किन्तु उनमेंसे केवल सूर्य और चन्द्र ही आपके दृष्टिपथसे ओझल नहीं होते (सदा आपकी दरबारदारी करते हैं) । [इसीलिए आपने उन्हें अपनी आँखोंपर बैठा रखा है] तो क्या इतने मात्रसे अपना असेवक मानकर अन्य ग्रहोंको अपनाना आपने त्याग दिया ? [फिर मैं तो आपका अहर्निश चिन्तन करनेवाला शरणागत भक्त हूँ ।] तब मैं आपका हेय कैसे ?

बालावुभौ द्विजपती तव नाथ भक्ता-
वेकस्तयोर्हरति सन्तमसं प्रजानाम्[2] ।
तेनावृतं यदि परं सहसे महेश
द्रष्टुं ततो विषमदृष्टिरिति श्रुतोऽसि ॥ ६४ ॥

अन्वय—नाथ ! बालौ उभौ द्विजपती तव भक्तौ [स्तः] । तयोः एकः प्रजानाम् सन्तमसम् हरति, परम् तेन आवृतम् द्रष्टुं यदि सहसे, महेश ! ततः [एव] [त्वम्] विषमदृष्टिः इति श्रुतः असि ।

अर्थ—हे नाथ ! दोनों कुमार (चन्द्रमा और मैं) द्विजपति (तारकाओंके राजा और ब्रह्मणेन्द्र) हैं और दोनों आपके भक्त हैं । सो उनमें एक द्विजपति (आपका

¶ मदाम्भसाऽवसिक्तम्, दानार्थं जलेन अवसिक्तञ्चेत्यर्थः ।

१. 'यदि' इति पाठान्तरम् ।

२. 'परेषाम्' इत्यपि पाठः ।

मौलिस्थ तारकेश बालचन्द्र) तो समस्त प्रजाओंके अन्धकारको दूर करता है और दूसरे द्विजपति ब्राह्मणेन्द्र को अज्ञानरूप अन्धकारने घेर रक्खा है। ऐसी दशामें यदि आप इसे इस अन्धकारसे घिरा ही रहने दें, तब तो आप सचमुच विषमदृष्टि (पक्षपाती या त्रिनेत्रधारी) हो !

युक्तं रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य
दोषोद्धतेऽपि यदि ते हृदयं दयार्द्रम्।
तत्साम्प्रतं गतिविहीनमनात्मनीनं
दीनं जनं प्रति कुतः करुणावलेपः ॥ ६५ ॥

अन्वय—[भगवन् !] दोषोद्धते अपि रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य ते हृदयम् यदि दयार्द्रम् [अस्ति, तद्] युक्तम्। तत् साम्प्रतम् गतिविहीनम् अनात्मनीनम् दीनम् प्रति कुतः तव करुणावलेपः ?

अर्थ—हे नाथ ! यदि आपका हृदय मद, मात्सर्य आदि दोषोंसे उद्धत शत्रु और अभिन्न मित्र, दोनोंके प्रति समान रूपसे दयार्द्र रहता है, तो आप सरीखे समदर्शीके लिए यह उचित ही है। तो फिर मुझ आत्मविरोधी अगतिक दीनजनके प्रति अब आपकी वह करुणा कहाँ चली गयी ?

अभ्युद्गमोऽयमशनेरमृतांशुबिम्बा-
त्स्वामिन्नसौ दिनमणेस्तिमिरप्ररोहः।
युष्मादृशस्य करुणाम्बुनिधेरकस्मा-
दस्मादृशेष्वशरणेष्ववधीरणं यत् ॥ ६६ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! युष्मादृशस्य करुणाम्बुनिधेः अकस्मात् अस्मादृशेषु अशरणेषु यत् अवधीरणम् [अस्ति], अयम् अमृतांशुबिम्बात् अशनेः अभ्युद्गमः [अस्ति] तथा असौ दिनमणेः तिमिरप्ररोहः [अस्ति]।

अर्थ—हे स्वामिन् ! निमेषमात्रमें तीनों लोकोंका उद्धार कर सकनेवाले आप जैसे करुणासागर द्वारा अकारण ही जो हम सरीखे शरण-हीनोंकी उपेक्षा है, यह अमृतमय चन्द्रमण्डलसे वज्रका निकलना और भगवान् दिनमणिके (सूर्यके) मण्डलसे अन्धकारका प्रादुर्भाव ही है। अर्थात् ऐसा होना चन्द्रमण्डलसे वज्रपात और सूर्य-मण्डलसे अन्धकारके आविर्भाव के तुल्य असंभव है, यह भाव है*।

* इसी आशयसे किसी टीकाकारने कहा है—

'भवजीर्णज्वरातापमोहकम्पाकुलाय मे।
एकं सुदर्शनस्यांशं देहि विश्वचिकित्सक ॥'

अर्थात् हे विश्वचिकित्सक ! संसाररूपी जीर्णज्वरके संतापसे उत्पन्न मोहरूपी कम्पसे व्याकुल मुझ दीनको सुदर्शन (अपने सुन्दर दर्शन) की एक मात्रा दीजिये।

स्वामिन् मृडस्त्वमुरुदुःखभरार्दितोऽहं
मृत्युञ्जयस्त्वमथ मृत्युभयाकुलोऽहम् ।
गङ्गाधरस्त्वमहमुग्रभवोपताप-
तप्तः कथं कथमहं न तवानुकम्प्यः ॥ ६७ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! त्वम् मृडः [असि], अहम् उरुदुःखभरार्दितः [अस्मि] । त्वम् मृत्युञ्जयः [असि], अहम् मृत्युभयाकुलः [अस्मि] अथ त्वम् गङ्गाधरः [असि] अहम् उग्रभवोपतापतप्तः [अस्मि , अतः] अहम् तव कथं कथम् न अनुकम्प्यः ?

अर्थ—हे नाथ ! आप मृड (सबको सुखी करनेवाले) हो, मैं जरा, जन्म और मरण रूपी भारी दुःखोंके भारसे पीड़ित हूँ ; आप मृत्युञ्जय अर्थात् यमराजपर शासन करनेवाले हैं, मैं मृत्युके भयसे आकुल हूँ और आप गङ्गाधर यानी मस्तकमें गङ्गाको धारण करते हो, मैं सांसारिक उग्र तापसे सन्तप्त हूँ। इसलिए बतलाइए कि मैं किस-किस प्रकारसे आपका अनुकम्पनीय नहीं हूँ ? अर्थात् सब प्रकार आपका अनुकम्पा-पात्र (चिकित्सनीय) हूँ ।*

भक्तप्रियः स्वयमपि क्षुधयान्वितस्य
पानोत्सवैकरसिकोऽपि पिपासितस्य ।
तापातुरस्य घनसेवनसादरोऽपि
जानासि नाथ न कथं सहसा ममार्तिम् ॥ ६८ ॥

अन्वय—नाथ ! [त्वम्] स्वयमपि भक्तप्रियः [सन्] क्षुधया अन्वितस्य मम आर्तिम् सहसा कथम् न जानासि ? पानोत्सवैकरसिकः [सन्] अपि [सहसा] पिपासितस्य मम आर्तिम् कथं न जानासि ? तथा घनसेवन-सादरः सन् अपि तापातुरस्य [मम आर्तिम् सहसा कथम् न जानासि ?]

अर्थ—नाथ ! [तुच्छ-पुरुष भी क्षुधा-पिपासा-पीड़ित प्राणीके दुःखोंपर विचार करता है । फिर] आप तो स्वयं भक्तप्रिय (भक्तोंका प्रिय करनेवाले) होकर भी मुझ क्षुधापीड़ित (आपके दर्शनरूपी भूखसे व्याकुल) की पीड़ाको तत्काल क्यों नहीं जान लेते ? पानोत्सव (त्रैलोक्यसंरक्षण) के एकमात्र रसिक होकर भी मुझ पिपासाकुल (आपके दर्शनके प्यासे) के दुःखपर शीघ्र क्यों नहीं पिघलते और घनसेवन (भक्त-

* इसी आशयसे टीकाकार श्रीरत्नकण्ठ लिखते हैं—

'सर्वतो वृतमघैः कृपानिधिः सोऽपि मां ध्रुवमुपेक्षते प्रभुः ।
मृण्मयं समधिगम्य भाजनं स्पर्शरत्नमपि किं करिष्यति ॥'

अर्थात् कृपानिधि भगवान् भी सभी ओरसे पापोंसे घिरा देख निश्चय ही मेरी उपेक्षा कर रहे हैं । स्पर्शमात्रसे सातों धातुओंको सोना बना देनेवाला स्पर्शरत्न (पारस) भी मिट्टीके पात्रको छूकर क्या करेगा ?

जनोंकी गाढ़ सेवा) के प्रेमी होकर भी मुझ तापत्रय-विह्वलितकी व्यथाको शीघ्र क्यों नहीं जानते ?*

सर्वज्ञ सर्वमवगच्छसि भूतभावि
भाग्यक्षयः पुनरसौ भगवन् ममैव ।
जानासि यस्य हृदयस्थित एव नार्तिं
ज्ञात्वापि वा गजनिमीलितमातनोषि ॥ ६९ ॥

अन्वय—सर्वज्ञ ! [त्वम्] सर्वम् भूतभावि अवगच्छसि । भगवन् ! पुनः मम एव असौ भाग्यक्षयः [यत्] यस्य हृदयस्थित एव आर्तिम् न जानासि, ज्ञात्वा अपि वा गजनिमीलितम् आतनोषि ।

अर्थ—अयि सर्वज्ञ परमेश्वर ! आप भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ जानते हो । किन्तु भगवन् ! यह मेरा ही दुर्भाग्य है कि आप अहर्निश मेरे हृदयमें ही रहकर मेरी व्यथाको नहीं जानते, अथवा जानकर भी हाथी का जैसा नेत्रनिमीलन (देखकर भी अनदेखा-सा) कर लेते हो ।

भालेऽनलं तव गले गरलं करे च
शूलं प्रकाशमखिलोऽयमवैति लोकः ।
अन्तर्गतं त्रयमिदं तु मम त्वमेव
जानासि नासि च दयालुरतो हतोऽहम् ॥ ७० ॥

अन्वय—नाथ ! तव भाले अनलम्, गले गरलम्, करे च शूलम् प्रकाशम् अयम् अखिलः लोकः अवैति । मम तु अन्तर्गतम् इदम् त्रयम् त्वम् एव जानासि, दयालुः च न असि, अतः [एव] अहम् हतः ।

अर्थ—नाथ ! आपके ललाटमें अनल (अग्नि), कण्ठमें गरल (कालकूट विष) और हाथमें शूल (त्रिशूल) है, यह बात सब लोग भलीभाँति जानते हैं । किन्तु मेरे तो अनल (अज्ञानसे होनेवाला शोक), गरल (आरम्भमें मधुर और परिणाममें दु:ख देनेवाला पापरूप विष) और जरामरण-रूपी शूल रोग—ये तीनों अन्दर हैं । सो इन्हें (मेरी आन्तरिक व्यथाको) केवल आप अन्तर्यामी ही जानते हो । फिर भी आपको दया नहीं आती, इस कारण मैं इस घोर संसारमें बुरी तरह मारा गया हूँ ।

---

* कविने यहाँ शब्द-श्लेषालङ्कार द्वारा खूब चमत्कार किया है । वह कहता है—नाथ, आप भक्तप्रिय अर्थात् भातके प्रेमी होकर भी मुझ क्षुधापीड़ित (भूखे) की व्यथाको शीघ्र क्यों नहीं देखते, रसायन-सेवनके (जल-पानके) प्रेमी होकर भी प्यासेकी व्यथापर शीघ्र क्यों विचार नहीं करते और घन-सेवन (कर्पूरके सेवन) के प्रेमी होकर भी मुझ तापातुरका दुःख शीघ्र क्यों दूर नहीं करते ? कितना हृदयग्राही भाव है !

एकस्त्वमेव भविनामनिमित्तबन्धु-
नैसर्गिकी तव कृपा सवितुः प्रभेव।
वामः पुनर्मम विधिः परिदेवितानि
जातान्य[1]रण्यरुदितेन समानि यस्य ॥ ७१ ॥

अन्वय—[हे ईश !] एकः त्वम् एव भविनाम् अनिमित्तबन्धुः [असि] सवितुः प्रभा इव तव [एव] नैसर्गिकी कृपा [अस्ति]। पुनः मम विधिः वामः [अस्ति]। यस्य परिदेवितानि अरण्यरुदितेन समानि जातानि।

अर्थ—प्रभो ! संसारी जीवोंके अकारण बन्धु एकमात्र आप ही हैं। सूर्यकी प्रभाके समान स्वाभाविकी करुणा केवल आपकी ही है। परन्तु मेरा भाग्य खोटा है। जो मेरे करुणालाप अरण्य-रोदनसे विफल हो गये हैं।

अत्यन्तदुर्गमयोग्यमभाग्यभाज-
माजन्मनर्मविमुखं मुखरोग्रवाचम्।
दैवादवाप्य सकलापसदं महेश
नैवात्यजत्कुलवधूरिव दुर्गतिर्माम् ॥ ७२ ॥

अन्वय—महेश ! अत्यन्तदुर्गमम् अयोग्यम् अभाग्यभाजम् आजन्मनर्मविमुखम् मुखरोग्रवाचम् सकलापसदम् माम् दैवात् अवाप्य इयम् दुर्गतिः कुलवधूः इव [माम्] नैव अत्यजत्।

अर्थ—हे महेश ! दैववश मुझ अत्यन्त अभागे, अयोग्य, जन्मसे लेकर क्रीड़ा-सुखसे हीन, अत्यन्त असंबद्ध और कठोर भाषण करनेवाले, तुच्छातितुच्छ पुरुषापसदको पाकर यह दुर्गति कुलवधू (पतिव्रता स्त्री) की तरह मुझे छोड़ती ही नहीं।

मुक्त्वा समाधिमसमाधिहरं परं च
प्रोद्दामधाम शिव धाम सुधामयं ते।
भ्रान्तोऽस्मि तेन मलयानिलवेल्ल्यमान-
कल्लोललोलनिधनानि धनानि लब्धुम् ॥ ७३ ॥

अन्वय—शिव ! तेन असमाधिहरम् समाधिम् परम् प्रोद्दामधाम ते सुधामयम् धाम च मुक्त्वा [अहम्] मलयानिलवेल्ल्यमानकल्लोललोलनिधनानि धनानि लब्धुम् [दशदिक्षु] भ्रान्तः अस्मि।

अर्थ—हे शिव ! इसी (पूर्वोक्त) कारणसे मैं महाविषम आधियों (मानसिक-पीड़ाओं) को हरनेवाली 'समाधि' और अत्यन्त उत्कट तेजसे देदीप्यमान अपने सुधामय धाम (परम ज्ञान रूप स्थान) को छोड़कर, मलयानिलसे कम्पित हो रही

१. 'जानाति' इत्यपि पाठः।

तरङ्गोंके समान अति-चञ्चल परिणामवाली (अत्यन्त क्षणभङ्गुर) सम्पदाओंको पानेके लिए [दिशाओंमें व्यर्थ ही] भटक चुका हूँ ।

आराधिताः प्रचपलाश्चपलावदेव
दुष्टेश्वरा न गुरवो गुरवो गुणौघैः ।
यातानि तानि मम हानिमहानि मिथ्या
श्रान्तोऽस्मि हा विततमोहतमोहतोऽहम् ॥ ७४ ॥

अन्वय—[हे विभो ! मया मूढेन] चपलावद् प्रचपलाः दुष्टेश्वराः एव आराधिताः । गुणौघैः गुरवः गुरवः न आराधिताः । [अतः] मम तानि अहानि मिथ्या हानिम् यातानि । हा ! विततमोहतमोहतः अहम् श्रान्तः अस्मि ।

अर्थ—प्रभो ! मुझ मूढ़ने [अब तक] विद्युत्की तरह चञ्चल-चित्त क्षुद्र राजाओंकी ही आराधना की । विद्वत्ता, दया आदि गुणोंसे गम्भीर सद्गुरुओंकी आराधना नहीं की । इस कारण मेरे वे दिन व्यर्थ ही नष्ट हो गये । हाय ! अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारका मारा मैं अब अत्यन्त श्रान्त (खिन्न) हो गया हूँ ।

तृष्णा दिनादिनमबृंहत बंहिमान-
मायामिनी मनसि हैमनयामिनीव ।
नाथ त्रिधामनयनार्पय दृक्प्रसादं
सादं नयान्धतमसं भ्रमसंभृतं मे ॥ ७५ ॥

अन्वय—हे नाथ ! [मम] मनसि तृष्णा आयामिनी हैमनयामिनी इव दिनादिनम् बंहिमानम् अबृंहत । त्रिधामनयन ! [त्वं मयि] दृक्प्रसादम् अर्पय, भ्रमसंभृतम् मे अन्धतमसम् सादम् नय ।

अर्थ—हे नाथ ! मेरे मनमें तृष्णा हेमन्त ऋतुकी दीर्घ रात्रिके समान दिनपर दिन बढ़ रही है । अयि त्रिधामनयन ! (सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूप तीन तेजोमय पिण्डोंको तीनों नेत्रोंमें धारण करनेवाले स्वयंप्रकाश परमेश्वर !) अब आप मुझपर अपनी प्रसाद-दृष्टि डालिये और भ्रमसे (असत्यमें सत्यकी प्रतीतिसे) सञ्चित मेरे अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर दीजिये ।

स्तम्भं विजृम्भयति दम्भमयं भ्रमं च
कंचित्प्रपञ्चयति यच्छति वाचि मुद्राम् ।
कं नाम नामयमयं प्रथयत्यखर्व-
गर्वज्वरज्वलनदुःसहसन्निपातः ॥ ७६ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] अयम् अखर्वगर्वज्वरज्वलनदुःसहसन्निपातः दम्भमयम् स्तम्भम् विजृम्भयति, भ्रमम् च कञ्चित् प्रपञ्चयति; वाचि मुद्राम् यच्छति, कम् नाम आमयम् न प्रथयति ?

अर्थ—भगवन् ! जैसे सन्निपातज्वर वातकी विषमतासे लोगोंको काष्ठके समान स्तब्ध कर देता है, पित्तकी विषमतासे भ्रमका विस्तार कर देता है ('न पित्तेन विना

भ्रमः') और श्लेष्मा या कफकी विषमतासे मूक बना देता है, वैसे ही महान् अहङ्काररूपी ज्वरसे उत्पन्न सन्तापरूप दुःसह संनिपात मनुष्योंको स्तब्ध (कपटमय) बना देता है, असत्यमें सत्य एवं अकार्यमें कार्यरूप भ्रम फैलाता है और वाणीको मूक बना देता है। इस प्रकार प्रभो ! यह अहंकाररूपी सन्निपातज्वर किस-किस रोगको उत्पन्न नहीं करता ? अर्थात् सभी काम-क्रोधादि रोगोंको पैदा कर देता है*।

तत्साम्प्रतं भुवनविश्रुतहस्तसिद्धिं
त्वामोषधीपतिशिखामणिमाश्रयामि ।
मौनं विमुद्रय दरिद्रय मोहनिद्रां
विद्रावय द्रुतमुपद्रवमिन्द्रियाणाम् ॥ ७७ ॥

अन्वय—तत् [हे नाथ !] साम्प्रतम् भुवनविश्रुतहस्तसिद्धिम् त्वाम् ओषधीपति-शिखामणिम् [अहम्] आश्रयामि । [हे विभो ! मम] मौनम् विमुद्रय, मोहनिद्राम् दरिद्रय, इन्द्रियाणाम् उपद्रवम् [च] द्रुतम् विद्रावय ।

अर्थ—इस कारण हे नाथ ! [जैसे कोई सन्निपातका रोगी लोकमें प्रख्यात हस्तसिद्धिवाले (जिसके हाथमें यश हो, ऐसे महायशस्वी) ओषधीश-शिखामणि (सिद्ध-वैद्य) की शरण ले, तो वह वैद्य उस रोगीके मौन (वाणीका स्तम्भन), मोहनिद्रा (मूर्च्छा और निद्रा) और इन्द्रियोंके प्रबल दोषोंको शीघ्र शान्त कर देता है, वैसे ही हे नाथ ! अहंकाररूपी सन्निपातसे पीड़ित] मैं अब आप समस्त भुवनोंमें विख्यात हस्तसिद्धिवाले (अष्टादश भुजाधारीके रूपमें प्रसिद्ध ‡) ओषधिपति-शिखामणि (चन्द्र-चूडामणि) की शरण आया हूँ। सो हे प्रभो ! मेरे मौन (आपकी स्तुतिके विषयमें अवर्णनीयत्व रूप) दोष को दूर कर दीजिये, मोह-निद्रा (अज्ञानरूपी निद्रा) को क्षीण कर दीजिये और चक्षुरादि इन्द्रियोंके उपद्रव (चञ्चलतारूप दोष) को शान्त कर दीजिये ¶।

---

* इसी अभिप्रायसे टीकाकार श्रीरत्नकण्ठने भी कहा है—

'तैस्तैरुग्रैर्विविधरचनैः संभृते यत्र दोषै-
रुत्पद्यन्ते सततमरुचित्रासमोहप्रलापाः ।
संसाराख्यं तमतिविषमं सन्निपातं नराणा-
मेको हन्तुं प्रभवति विभुर्लीलयासौ किरातः ॥'

अर्थात् नाना प्रकारके अनेक महा-उग्र दोषोंके सम्पर्कसे जिसमें नित्य अरुचि (ग्लानि), त्रास, मोह, प्रलाप आदि विपत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, ऐसे संसाररूपी अत्यन्त विषम सन्निपात (रोग) को हरनेके लिए केवल एक 'लीला-किरात' (भिल्ल-रूपधारी भगवान् शिव) ही समर्थ हैं।

‡ स्वच्छन्दतन्त्रमें कहा है—'अष्टादशभुजं देवं नीलकण्ठं सुतेजसम् ।'

¶ इसी अभिप्रायके अनुसार टीकाकार राजानक श्रीरत्नकण्ठजीकी भी एक उक्ति है—

'मोहान्ध्यहरणात्तीव्रभवज्वरनिवारणे ।
देहिनां दक्ष एकस्त्वमोषधीशशिखामणिः ॥'

विस्रम्भमम्भसि भजे भगवन्नगाधे
बाधे रिपुव्यवसितेऽप्यलसीभवामि ।
जागर्मि यन्न समवर्तिनि हन्तुकामे
का मे गतिर्यदि करोषि मनागवज्ञाम् ॥ ७८ ॥

अन्वय—भगवन् ! [अहं मूढः] अगाधे अम्भसि विस्रम्भम् भजे । रिपुव्यवसिते बाधे अपि अलसीभवामि यत् हन्तुकामे समवर्तिनि न जागर्मि । [अतः हे विभो ! त्वम्] यदि मनाक् [एव] अवज्ञाम् करोषि, तर्हि मे का गतिः ?

अर्थ—हे भगवन् ! मैं मूढ़ हूँ, अथाह जलको [थाहवाला समझकर] विश्वस्त हो जाता हूँ और शत्रुओं द्वारा मारनेका निश्चय किये जानेपर भी आलसी बना रहता हूँ, अर्थात् बचावके लिए उद्योग नहीं करता, जो कि यमराजके मारनेकी इच्छा करनेपर भी सचेत नहीं होता । अर्थात् मुझ मूढ़का यमराजके मारनेकी इच्छा करनेपर जागरूक न होना अथाह जलको थाह समझकर विश्वासके साथ उसमें पैठनेकी तरह और शत्रुओं द्वारा मारनेका निश्चय कर लेनेपर भी अपने बचावके लिए उद्योग न करनेकी तरह प्राणघातक है । [ऐसी स्थितिमें हे विभो ! अब दयाके सागर आप] यदि थोड़ी भी उपेक्षा करें, तो मेरी क्या गति होगी ?

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि
यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से ।
इत्यक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः
किं नाम कुर्वति नमो न मनः करोषि ॥ ७९ ॥

अन्वय—[हे विभो !] यः ते रवम् ददाति, अस्य त्वम् वरम् ददासि । वा यः मदम् वहति, तस्य दमम् विधत्से । इति अक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः [त्वम्] नमः कुर्वति [मयि] मनः किं नाम न करोषि ?

अर्थ—जो धन्यात्मा पुरुष [पूजनके समय] आपको 'रव' देता है अर्थात् आपके आगे गाल बजाकर आपको अपना मुखवाद्य या दीन आक्रन्दन सुनाता है, उसे आप ['रव' का उलटा] 'वर' देते हो । जो 'मद' (अहंकार) करता है, उसे आप [बदलेमें 'मद' का उलटा] 'दम' (दमनरूप दण्ड) देते हो । इस प्रकार भगवन् ! 'रव', 'मद' आदि दो-दो अक्षरोंवाले शब्दोंकी विपर्ययरूप क्रीडा करना (दो-दो अक्षरवाले पदोंको उलटा कर देना) आपका स्वभाव ही है । फिर आपको 'नमः' (नमस्कार) करनेवाले [मुझ अनाथ] पर आप ['नमः' का उलटा] 'मनः' (अपना चित्त, अर्थात् अपना अन्तकरण क्यों नहीं करते, अर्थात् मेरी सुधि क्यों नहीं लेते ?

अर्थात् अयि ओषधीशशिखामणे ! (चन्द्रशेखर !) भगवन् ! प्राणियोंके मोहरूपी महान्धकारका हरण कर संसाररूपी तीव्र ज्वरकी शान्ति करनेमें अति चतुर ओषधीश-शिखामणि (वैद्य-शिरोमणि) एक आप ही हो ।

चन्द्रः करे शिरसि चक्षुषि पादमूले
मूर्तावपीति शिव चन्द्रसुभिक्षमेतत् ।
तापान्धकारविधुरं शरणागतं कि-
मायातु लङ्घितवतस्तव मोघभावम् ॥ ८० ॥

अन्वय—शिव ! तव करे शिरसि चक्षुषि पादमूले मूर्तौ अपि चन्द्रः [अस्ति], इति एतत् चन्द्रसुभिक्षम् तापान्धकारविधुरम् शरणागतम् माम् लङ्घितवतः तव मोघभावम् किम् आयातु ?

अर्थ—हे सदाशिव ! आपके हाथमें* चन्द्र है, मस्तकमें चन्द्र है, वामनेत्रमें चन्द्र है, सेवाकारीके रूपमें पादकमलमें चन्द्र है और मूर्त्ति¶ में भी चन्द्र है‡ । आपका यह चन्द्र-सुभिक्ष (चन्द्रमाओंका सुकाल) मुझ तापत्रय और अज्ञानरूप अन्धकारसे विकल शरणागतको अवहेलनासे उपेक्षित कर (मेरा संताप शान्त न कर) क्यों निरर्थक हो ? अर्थात् आप इस स्वायत्त चन्द्र-सुभिक्षसे मेरे तापत्रय और अज्ञानान्धकारको मिटाकर इसे सफल कीजिये, यह भाव है ।

कौटिल्यमिन्दुदलतो न सुधामयत्व-
मूष्माणमूर्ध्वनयनान्न परं प्रकाशम् ।
मालिन्यमेव गलतो न गभीरभावं
त्वत्तोऽपि मे तितउकल्पमवाप चेतः ॥ ८१ ॥

अन्वय—[हे नाथ ! प्रतिक्षणम् भवदीयध्यानासक्तम्] तितउकल्पम् मे चेतः त्वत्तः अपि इन्दुदलतः कौटिल्यम् (एव) अवाप, सुधामयत्वम् न । ऊर्ध्वनयनात् ऊष्माणम् (एव) [अवाप] परम् प्रकाशम् न । गलतः मालिन्यम् एव [अवाप] गभीरभावम् न ।

अर्थ—नाथ ! तितउ (चलनी) के समान, सार वस्तुको छोड़ केवल असार वस्तुको ही ग्रहण करनेवाले मेरे चित्तने [प्रतिक्षण आपके ध्यानमें आसक्त होकर भी] आपकी चन्द्रकलासे केवल कुटिलता ही ग्रहण की, अमृतमयता नहीं । आपके ऊर्ध्व नेत्र (भाल-नेत्र, अग्नि) से केवल अहङ्कार-रूप सन्ताप ही ग्रहण किया, परम प्रकाश नहीं और आपके कण्ठसे केवल मलिनता ही ग्रहण की, गम्भीरता नहीं । अर्थात् जैसे चलनी सार वस्तुको छोड़ केवल असार वस्तुको ही ग्रहण करती है, वैसे ही मेरे चित्तने आपका ध्यान करते हुए भी आप ऐसे सर्वगुणनिधान प्रभुसे भी केवल असारता ही ग्रहण की ।

किं वर्णयामि गुरुतां विपदः पदे मां
स्थाणोर्न्ययुङ्क्त यदियं सहसोपदिश्य ।

* 'देवं सुधाकलशसोमकरम्'—इत्यादि स्थलोंमें शिव द्वारा चन्द्रमाको हाथमें धारण करना पाया जाता है ।

¶ शुभ्र मूर्ति होनेके कारण शम्भुमूर्तिमें भी चन्द्रमाका निवास है ।

‡ चन्द्रकी प्रतिमास बारह मूर्तियाँ होनेके कारण यहाँ चन्द्रका बहुत्व कथन संगत है ।

[1]निःशाखतां सुमनसामनुपेयभावं
विच्छायतां विफलतां रसहीनतां च[2] ॥ ८२ ॥

अन्वय—अहम् विपदः गुरुताम् किं वर्णयामि, यत् इयम् निःशाखताम् सुमनसाम् अनुपेयभावम् विच्छायताम् विफलताम् रसहीनताम् च उपदिश्य सहसा माम् स्थाणोः पदे न्ययुङ्क्त ।

अर्थ—अहा ! मैं [अपनी] विपत्तिकी महिमा क्या बखानूँ, जिसने मुझे शम्भुके स्थानमें शाखाहीनता (निराधारता), सुमनसों (देवों या विद्वानों) की अप्राप्यता, विच्छायता (श्वेत, पीत आदि कान्तिसे विहीनता), विफलता (सकाम कर्मफलोंकी इच्छासे विमुखता) और रसहीनता (ऐहिक सुख वासनाओंसे शून्यता) का उपदेश देकर शीघ्र ही स्थाणु (भगवान् शंकर) के पद (चरण) में नियुक्त किया ।

[श्लेषके आधारपर इसका दूसरा भी अर्थ निकलता है, जिससे रूपक द्वारा प्रार्थीकी बाह्य विपत्तिका चित्र खिंच आता है। वह इस प्रकार है—मैं अपनी विपत्तिकी गुरुता क्या बखानूँ, जिसने मुझे शाखाविहीनता, सुमनसों (पुष्पों) की अप्राप्यता, विच्छायता (छायाविहीनता), विफलता (फलरहितता) और रसहीनता (नीरसता) का उपदेश देकर स्थाणु (ठूंठ) के स्थानपर नियुक्त कर दिया ।

सर्वज्ञशम्भुशिवशङ्करविश्वनाथ-
मृत्युञ्जयेश्वरमृडप्रभृतीनि देव ।
नामानि तेऽन्यविषये फलवन्ति किंतु
त्वं स्थाणुरेव भगवन् मयि मन्दभाग्ये ॥ ८३ ॥

अन्वय—देव ! सर्वज्ञ-शम्भु-शिव-शङ्कर-विश्वनाथ-मृत्युञ्जयेश्वर-मृडप्रभृतीनि ते नामानि अन्यविषये फलवन्ति [सन्ति]। किन्तु भगवन्, मन्दभाग्ये मयि त्वम् स्थाणुः एव [असि]।

अर्थ—अयि स्वयंप्रकाश परमेश्वर! आपके सर्वज्ञ, शम्भु, शिव, शङ्कर, विश्वनाथ, मृत्युञ्जय, ईश्वर, मृड आदि सभी अन्वर्थ नाम अन्य भाग्यशाली भक्त लोगोंके लिए नाना फलप्रद होनेसे सफल हैं। अर्थात् आप भक्तका क्लेश जानकर उसे मिटानेसे 'सर्वज्ञ' (सर्वं जानातीति सर्वज्ञः = सब कुछ जाननेवाला) इस नामको चरितार्थ करते हो। किसीको परम कल्याण प्रदानकर अपने 'शम्भु' (शम्भवति अस्मात् इति शम्भुः = परम कल्याण मोक्ष देनेवाला) नामको चरितार्थ करते हो। किसीको मङ्गल देकर 'शिव' नामको चरितार्थ करते हो। इसी प्रकार आपके शङ्कर, विश्वनाथ, मृत्युञ्जय, ईश्वर, मृड इत्यादि सभी सुन्दर-सुन्दर नाम भाग्यवान् भक्तोंको उत्तम उत्तम फल देकर चरितार्थ होते हैं। किन्तु मुझ अभागेके विषयमें तो आप केवल स्थाणु (ठूंठ) अर्थात् पत्र, पुष्प, फल और शाखासे रहित सूखा वृक्ष (प्रलयमें भी अचल रहनेवाले) ही हो।

श्वेते सुदर्शनसमर्पणतत्परस्य
कृष्णे च यस्य न बभूव विशेषबुद्धिः ।

१. 'विच्छायताम्' इति पाठान्तरम्। २. 'निःशाखतां विरसतां फलहीनतां च' इत्यपि पाठः ।

स त्वं श्रियं सृजसि पुण्यजनेषु मां च
मुञ्चस्यपुण्यजनमेष विधिः क्षतो मे ॥ ८४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] श्वेते कृष्णे च सुदर्शनसमर्पणतत्परस्य यस्य विशेषबुद्धिः न बभूव, सः त्वम् पुण्यजनेषु श्रियम् सृजसि, माम् च अपुण्यजनम् मुञ्चसि । एषः मे विधिः क्षतः ।

अर्थ—हे विभो ! राजा श्वेतको सुदर्शन (अपना सुन्दर दर्शन) और भगवान् कृष्ण (विष्णु) को सुदर्शन चक्र समर्पण करनेमें जिस आपकी (श्वेत और कृष्ण दोनों विरुद्ध वर्णवालोंमें) किञ्चिन्मात्र भी विषम बुद्धि (भेद-दृष्टि) नहीं हुई, वही आप जो पुण्यजनों (कुबेर आदिकों) को श्रेय प्रदान करते हो, और मुझ अपुण्यजन (पुण्यहीन जन) का परित्याग करते हो, यह मेरा ही मन्द-भाग्य है।

आवर्जनं क्रतुभुजां गजवाजिरत्न-
श्रीपारिजातमदिरेन्दुसुधार्पणेन[1]
कृत्वाग्रहीर्गरलमात्मनि यन्महिम्ना
सा ते क्व सम्प्रति कृपा मयि मन्दभाग्ये[2] ॥ ८५ ॥

अन्वय—[हे विभो !] गजवाजिरत्नश्रीपारिजातमदिरेन्दुसुधार्पणेन क्रतुभुजाम् आवर्जनम् कृत्वा (त्वम्) आत्मनि यन्महिम्ना गरलम् अग्रहीः, सा ते कृपा सम्प्रति मयि मन्दभाग्ये क्व [अस्ति] ?

अर्थ—हे विभो ! जिस करुणाकी महिमासे आपने देवताओंको गज (ऐरावत हाथी), वाजी (उच्चैःश्रवा घोड़ा), रत्न (कौस्तुभ मणि), लक्ष्मी, पारिजात (कल्पवृक्ष), मदिरा, चन्द्रमा और सुधा ऐसे-ऐसे उत्तम पदार्थ समर्पण कर उन्हें परम सन्तुष्ट और अपने वशमें करके स्वयं हालाहल विष ग्रहण किया, आपकी वह उदार करुणा मुझ मन्दभाग्यके लिए अब कहाँ चली गयी ?

दृप्तेषु ते मदनदक्षयमान्धकेषु
प्रादुर्भवन्मनसि रोषविषप्ररोहः ।
सिक्तः सुधामयमसूत यया प्रसादं
सा ते क्व सम्प्रति कृपा मयि भाग्यहीने[3] ॥ ८६ ॥

अन्वय—दृप्तेषु मदनदक्षयमान्धकेषु ते मनसि प्रादुर्भवन् [यः] रोषविषप्ररोहः यया सिक्तः सन् सुधामयम् प्रसादम् असूत, सा ते कृपा सम्प्रति मयि भाग्यहीने क्व [अस्ति] ?

अर्थ—[हे विभो ! त्रैलोक्यविजयी होनेके कारण] अत्यन्त अहङ्कारी कामदेव, दक्ष प्रजापति, यमराज और अन्धकासुरके प्रति आपके मनमें उत्पन्न क्रोधरूपी विषके अंकुरने जिस कृपासे सिंचित होकर पुनः [उन्हीं लोगोंके लिए] संजीवनरूप अमृतमय प्रसाद उत्पन्न किया, आपकी वह उदार करुणा मुझ भाग्यहीनके लिए अब कहाँ चली गयी है ?

१. 'मदिराब्जसुधा०' इति पाठान्तरम् । २. 'भाग्यहीने' इत्यपि पाठः ।
३. 'मन्दपुण्ये' इति पाठान्तरम् ।

केचिद्वरस्य भगवन्नभयस्य केचि-
त्सान्द्रस्य केचिदमृतस्य करस्थितस्य।
प्रापुः कृपाप्रणयिनस्तव भाजनत्वं
शूलस्य केवलमभाग्यपरिक्षतोऽहम् ॥ ८७ ॥

अन्वय—भगवन्! केचित् कृपाप्रणयिनः तव वरस्य भाजनत्वम् प्रापुः। केचित् तव अभयस्य [भाजनत्वम् प्रापुः]। केचित् तव करस्थितस्य सान्द्रस्य अमृतस्य [भाजनत्वम् प्रापुः। किन्तु] अभाग्यपरिक्षतः अहम् केवलम् शूलस्य भाजनत्वम् [प्रापम्]।

अर्थ—हे भगवन्! [आपके एक हाथमें वर, दूसरेमें अभय, तीसरेमें अमृत-कलश और चौथे हाथमें 'शूल' है। इनमेंसे] आपकी कृपा चाहनेवाले कोई भक्त आपके 'वर' के पात्र बने, अर्थात् किन्हीं भक्तोंको आपने वर दिया। कोई लोग आपके 'अभय' के पात्र बने। कोई भाग्यवान् आपके करकमलस्थ घनीभूत अमृतके पात्र हो गये। किन्तु अभागा मैं केवल आपके शूल (त्रिशूल या शूल-रोग) का ही पात्र* बना।

अभ्रान्तवृत्ति भवतान्तरधिष्ठितं मे
चेतः प्रकाशवपुषा रविणेव बिम्बम्।
सोपप्लवं यदि कृतं तमसा कदाचि-
दक्षीणपुण्यमहिमैव तदा विभाति ॥ ८८ ॥

अन्वय—यथा ¶ प्रकाशवपुषा रविणा अन्तः अधिष्ठितम् अभ्रान्तवृत्ति बिम्बम् यदि कदाचित् तमसा सोपप्लवम् कृतम्, तदा [तत्] अक्षीणपुण्यमहिम एव विभाति। तथा प्रकाशवपुषा भवता अन्तः अधिष्ठितम् अभ्रान्तवृत्ति मे चेतः यदि कदाचित् तमसा सोपप्लवम् कृतम्, तदा अक्षीणपुण्यमहिम एव विभाति।

अर्थ—प्रभो! आकाशके मध्य स्थित सुप्रकाशमय सूर्यदेवसे अधिष्ठित बिम्ब (सूर्य-मण्डल) यदि कदाचित् तम (राहु) से ग्रस्त हो जाय अर्थात् सूर्यमण्डलमें कभी राहुका ग्रहण लग जाय तो भी उसके पुण्यकी महिमा क्षीण नहीं होती। इसी तरह नाथ! अन्तरमें आप परम ज्योति-स्वरूप चित्प्रकाशमय परब्रह्म परमेश्वरके

*सुना जाता है कि ग्रन्थकारको शूल रोग था। संभव है, इसी अभिप्रायसे उन्होंने यहाँ अपनेको शूलका पात्र बताया हो।

इसी आशयसे टीकाकार श्रीराजानक रत्नकण्ठने भी क्या ही अच्छा कहा है—

'हा हा महार्त्योऽस्मि विमोहितोऽहं जरादिदुःखेन सदैकशूली।
त्रिशूलिनं तं त्रिजगत्प्रसिद्धं चिकित्सकं यामि यदस्य शान्त्यै ॥'

अर्थात् हाय, हाय! जरा-मरणादि दुःखसे सदा एक शूलवाला मैं महा व्यथासे कितना मोहित हुआ हूँ, जो सदा एक-शूली (शूलरोगी) होकर उसकी निवृत्तिके लिए तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध त्रिशूली (तीन शूलवाले या त्रिशूलको धारण करनेवाले) चिकित्सककी शरणमें जा रहा हूँ। जो स्वयं त्रिशूलधारी है, वह मेरे (एक) शूलको कैसे दूर करेगा?

¶ मूल श्लोकके 'इव' शब्दका 'यथा-तथा' अर्थ मानकर यह अन्वय किया गया है।

अधिष्ठित (होनेके कारण) भ्रान्तिमयी वृत्ति (भ्रम) से रहित अर्थात् एकमात्र आपमें ही परायण मेरा चित्त यदि कदाचित् तम (अज्ञान) से सोपद्रव हो जाय, तो भी उसके पुण्यकी महिमा क्षीण नहीं होती।

जानामि नामृतमयं हृदयं प्रवेष्टु-
मुद्दामदुःखदवदाहहतस्तवाहम् ।
धर्तुं हृदि त्रिदशसिन्धुसुधासुधांशु-
शीतं भवन्तमपि न प्रभवामि धिङ्माम् ॥ ८९ ॥

अन्वय—[हे विभो !] उद्दामदुःखदवदाहहतः अहम् तव अमृतमयम् हृदयम् प्रवेष्टुम् न जानामि, त्रिदशसिन्धुसुधासुधांशुशीतम् भवन्तम् अपि हृदि धर्तुम् न प्रभवामि, [इति, उभयथा] माम् धिक्।

अर्थ—हे विभो ! महान् दुःखरूपी दावानलसे सन्तप्त मैं न तो आपके अमृतमय (शीतल) हृदयमें प्रवेश करना जानता हूँ और न देवगङ्गा, सुधा एवं चन्द्रमाके सम्पर्कसे सुशीतल आपको ही अपने हृदयमें धारण करनेके लिए समर्थ हूँ। अर्थात् मैं न तो आपके हृदय में प्रवेश करनेको समर्थ हूँ और न आपका ही अपने हृदयमें धारण कर लेनेके लिए समर्थ हूँ। अतः उभयथा मुझे धिक्कार है।

क्षीणः क्षताखिलकलः प्रविलीनधामा
त्वामाश्रितोऽस्मि सवितारमिवामृतांशुः ।
नास्त्येव जीवनकला मम काचिदन्या
पादार्पणेन कुरुषे यदि न प्रसादम् ॥ ९० ॥

अन्वय—क्षीणः क्षताखिलकलः प्रविलीनधामा [अहम्] अमृतांशुः सवितारम् इव त्वाम् आश्रितः अस्मि। यदि [त्वम्] पादार्पणेन प्रसादम् न कुरुषे [तर्हि] मम काचित् अन्या जीवनकला न एव अस्ति।

अर्थ—हे नाथ ! जैसे अत्यन्त क्षीण, सोलहों कलाओंसे हीन और निस्तेज चन्द्रमा शरणहीन होकर (जीवनरूपी कलाकी प्राप्तिके निमित्त) सूर्य-देवका आश्रय लेता $ है, वैसे ही [जन्म, जरा और मरणरूप विपत्तिके त्राससे] अत्यन्त क्षीण, शिल्प आदि सम्पूर्ण कलाओंसे हीन और क्षीण-तेजवाला मैं अनन्यशरण होकर आपकी शरण आया हूँ, हे विभो ! यदि आप अपना चरणारविन्द अर्पण कर मुझपर अनुग्रह नहीं करते तो मेरी कोई अन्य जीवनकला (मेरे जीवनका साधन) ही नहीं है [ठीक उसी तरह, जिस तरह भगवान् सूर्य समस्त कलाओंसे विहीन चन्द्रपर, अपने पादों (रश्मियों) के अर्पण द्वारा, प्रसाद न करें, तो चन्द्रके लिए जीवनरूप कोई कला ही शेष नहीं रहती]।

$ चन्द्रमा अमावास्याके दिन सूर्यमें प्रविष्ट होता है, यह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है।

घोरान्धकारविधुरं विविधोपताप-
तप्तं विपद्गुरुतुषारपराहतं माम्।
त्वं चेज्जहासि वद कस्तपनेन्दुवह्नि-
नेत्रो हरिष्यति परस्त्रिविधां ममार्तिम् ॥ ९१ ॥

अन्वय—[प्रभो !] घोरान्धकारविधुरम् विविधोपतापतप्तम् विपद्गुरुतुषारपराहतम् माम् त्वम् चेत् जहासि, तदा [त्वमेव] वद, कः परः तपनेन्दुवह्निनेत्रः मम त्रिविधाम् आर्तिम् हरिष्यति ?

अर्थ—प्रभो ! मैं अज्ञानरूपी घोर अन्धकारसे व्याकुल हूँ, आध्यात्मिक आदि अनेक प्रकारके सन्तापोंसे सन्तप्त हूँ तथा विपत्तिरूपी महान् तुषार (हिम) से पराहत हूँ। ऐसी दशा में यदि आप मेरी उपेक्षा कर दें तो, फिर आप ही बतलाइये कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्निको अपने (तीन) नेत्रोंमें धारण करनेवाला कौन दूसरा मेरी इन तीन प्रकारकी पीड़ाओंको दूर करेगा ? [अर्थात् मेरी त्रिविध पीड़ाको हरनेके लिए आपके सिवाय दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है। कारण मैं (१) अज्ञानरूपी अन्धकारसे व्याकुल, (२) महान् तापोंसे सन्तप्त और (३) विपत्तिरूपी हिमसे बाधित हूँ। अतः मेरी इस त्रिविध पीड़ाओंमें से क्रमशः अन्धकार दूर करनेके लिए सूर्य, ताप हरनेके लिए चन्द्रमा और शीत निवारणके लिए अग्नि की आवश्यकता है। वे तीनों (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि) एकमात्र आपके ही नेत्रोंमें हैं; अतः आप यदि मेरे दुःखोंको दूर न करेंगे, तो फिर दूसरा कौन करेगा ? यह भाव है]।

व्यक्तिर्न यस्य न मतिर्न गतिर्न शक्ति-
र्नापि स्मृतिर्विपदपस्मृतिपीडितस्य !
तस्यौषधीशमुकुटं त्रिजगद्गुरुं त्वां
मुक्त्वा करिष्यति परो मम कश्चिकित्साम् ॥ ९२ ॥

अन्वय—[प्रभो !] विपदपस्मृतिपीडितस्य यस्य व्यक्तिः न, मतिः न, गतिः न, शक्तिः न, स्मृतिः अपि न [अस्ति], तस्य मम त्रिजगद्गुरुम् त्वाम् ओषधीशमुकुटम् मुक्त्वा कः परः चिकित्साम् करिष्यति ?

अर्थ—प्रभो ! विपत्तिरूपी अपस्मार रोगसे पीडित जिस व्यक्तिकी न तो कोई प्रसिद्धि है, न बुद्धि है, न गति (गमन करनेकी शक्ति) है, न शक्ति (कोई कार्य करनेकी सामर्थ्य) है और न स्मरणशक्ति ही है, ऐसे मुझ दीनकी चिकित्सा (उद्धार) त्रैलोक्यगुरु आप औषधीशमुकुट (वैद्य-शिरोमणि या चन्द्रशेखर) को छोड़ दूसरा और कौन करेगा ? [कारण अपस्मार रोगसे पीड़ित जिस पुरुषकी न व्यक्ति (अंगोंका प्राकट्य अर्थात् प्रचार) है, न मति है, न गति (शरण) है, न शक्ति और न स्मृति ही है, उसकी चिकित्सा केवल एक औषधीशमुकुट (प्रसिद्ध वैद्यशिरोमणि) के सिवाय दूसरा और कौन कर सकता है ?]

त्वं निर्गुणः शिव तथाहमथ त्वदीयं
शून्यं परं किमपि धाम तथा मदीयम् ।
त्वं चेद् गवि प्रविदधासि धृतिं तथाहं
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९३ ॥

अन्वय—शिव ! [यथा] त्वम् निर्गुणः* [असि], तथा अहम् [अपि]। अथ त्वदीयम् परम् धाम किमपि शून्यम्‡ तथा मदीयम् [अपि]। त्वम् चेत् गवि धृतिम् प्रविदधासि, तथा [अहम् अपि गवि धृतिम् विदधामि], कष्टम् तु [एतत् , यत्] त्वम् शिवः [असि] विधिक्षतः अहम् अशिवः [अस्मि]।

अर्थ—हे सदाशिव ! जैसे आप निर्गुण (प्रकृतिके गुणोंके सम्पर्कसे रहित) हो, वैसे ही मैं भी निर्गुण (पाण्डित्य, दया-दाक्षिण्य आदि सद्‌गुणोंसे रहित) हूँ। जैसे आपका परमधाम शून्य (परम ज्योतिःस्वरूप) है, वैसे ही मेरा भी धाम (गृह) अत्यन्त ही शून्य (अतिदरिद्रताके कारण व्यवहारोपयोगी वस्तुओंसे रहित) है। जैसे आप गौ (वृषभ) में धृति (स्थिति) रखते हैं, वैसे ही मैं भी गौ (वाणी) में प्रीति रखता हूँ। किन्तु कष्ट तो यही है कि [पूर्वोक्त प्रकारसे आप और मुझमें समानता होते हुए भी] आप शिव (परम-कल्याण, आनन्द-सुधाके निधि) हैं और मैं अभागा अशिव (सुखविहीन) हूँ।

कामस्त्वयीव मयि निष्फलतामवाप
क्षिप्तो मयापि विफलो भवतेव कालः ।
विध्वस्तधाम मम देव वपुस्तवेव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९४ ॥

अन्वय—कामः त्वयि इव मयि निष्फलताम् अवाप, भवता इव मया अपि कालः विफलः क्षिप्तः। देव ! तव वपुः इव मम [अपि वपुः] विध्वस्तधाम [अस्ति]। कष्टं तु [एतत्] त्वम् शिवः [असि], विधिक्षतः अहम् अशिवः [अस्मि]।

अर्थ—प्रभो ! जैसे काम (कामदेव) आपके विषयमें निष्फलताको प्राप्त (विफलप्रयास) हुआ, वैसे ही मेरे विषयमें भी काम (अभिलाषा) निष्फलताको ही प्राप्त हुआ। जैसे आपने (राजा श्वेत एवं मार्कण्डेय आदि भक्तजनोंकी रक्षाके निमित्त) काल (मृत्यु) को विफल (निष्फल-प्रयास) किया, वैसे ही मैंने भी काल अपना समय विफल (निरर्थक) कर दिया और अयि देव ! आपका शरीर विध्वस्तधाम (विधुना अस्तम् = क्षिप्तं धाम यत्र सः अर्थात् चन्द्रमाके प्रकाशसे युक्त) है, वैसे ही मेरा शरीर भी विध्वस्तधाम (तेजसे हीन) है। पर खेद तो यही है कि [इस प्रकार आप और मैं, दोनों समान लक्षणवाले होते हुए भी]

* सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था मूलप्रकृतिः, तेषां विषमावस्था विकृतिः, परं न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष इति च सांख्याः। तेन च पुरुषस्य निर्गुणत्वमित्यर्थः।

‡ ब्रह्माण्डोर्ध्वे शून्यास्पदत्वात्परज्योतिःस्वरूपस्य परमात्मनः।

आप तो शिव (तीनों लोकोंके कल्याणदाता) हैं और मैं अभागा अशिव—कल्याणसे वञ्चित—ही हूँ।

यद्वद्विभो तव हृदि प्रविभाति नाग-
स्तद्वन्ममापि भवदेकपरायणस्य ।
यद्वत्स्वधर्मनिरतस्त्वमहं तथैव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९५ ॥

अन्वय - विभो ! यद्वत् तव हृदि नागः प्रविभाति, तद्वत् भवदेकपरायणस्य मम अपि [हृदि, नागः प्रविभाति]। यद्वत् त्वम् स्वधर्मनिरतः [असि], तथैव अहम् [अपि स्वधर्मनिरतः अस्मि]। कष्टं तु [एतत्] त्वम् शिवः [असि], विधिक्षतः अहम् तु अशिवः [अस्मि]।

अर्थ—हे विभो ! जैसे आपके हृदयमें नाग (सर्प—वासुकि) शोभित होता है, वैसे ही मेरे भी हृदयमें नाग (न आगः—अपराध नहीं है, क्योंकि मैं भवदेकपरायण (एकमात्र आपके ही चरणोंमें परायण) हूँ। जैसे आप स्वधर्मनिरत (अपने वृष—वृषभ—में निरत) हो, वैसे ही मैं भी स्वधर्मनिरत (अपने धर्ममें तत्पर) हूँ। इस प्रकार आप और मुझमें समानता होनेपर भी खेद है कि आप शिव हो, किन्तु मैं अभागा अशिव (मङ्गलविहीन) हूँ।

मूर्तिस्तवेव शिव मे विधुरोचितेयं
दृष्टिस्तवेव भगवन् विषमा ममापि ।
शूली विषादहतशक्तिरहं यथा त्वं
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९६ ॥

अन्वय – शिव ! तव मूर्तिः इव इयम् मे मूर्तिः विधुरोचिता [अस्ति]। मम अपि दृष्टिः तव दृष्टिः इव विषमा [अस्ति]। यथा त्वम् विषात् अहतशक्तिः [असि, तथा] अहम् [अपि विषादहतशक्तिः अस्मि]। कष्टम् तु [एतत्] त्वम् शिवः [असि], विधिक्षतः अहम् अशिवः [अस्मि]।

अर्थ—हे सदाशिव ! जैसे आपकी मूर्ति विधु-रोचिता (चन्द्रमासे सुशोभित) है, वैसे ही मेरी भी यह मूर्ति विधुरोचिता (दीनतासे युक्त) है। जैसे आपकी दृष्टि विषमा है (तीन होनेसे विषम संख्यावाली है) वैसे ही मेरी भी दृष्टि विषमा—भेदभाव-से भरी है। जैसे आप शूली (त्रिशूलधारी) हैं वैसे ही मैं भी शूली (दुःखरूपी शूलरोगसे पीड़ित) हूँ। जैसे आप विषादहतशक्ति—विषाद् अहतशक्ति (हालाहलके पानसे अक्षीणशक्ति) हो, वैसे ही मैं भी विषादहतशक्ति (विषाद—खेदसे हत-शक्ति) हूँ। इस प्रकार आप और मेरे एक समान होने पर भी खेद है कि आप शिव (आनन्दमय) हो और मैं अभागा अशिव (सुखसे विहीन) हूँ।

कण्ठे विषं वसति मे विषमं तवेव
भूतेश्वरः पशुपतिश्च भवानिवाहम् ।

अङ्गं ममापि गुरुरुग्ज्वलितं तवेव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥ ९७ ॥

अन्वय—[हे शिव !] तव इव मे कण्ठे विषमम् विषम् वसति, भवान् इव अहम् भूतेश्वरः, पशुपतिः च अस्मि । तव इव मम अपि अङ्गम् गुरु-रुग्-ज्वलितम् [अस्ति], कष्टं तु [एतत्] त्वम् शिवः [असि] विधिक्षतः अहम् तु अशिवः [अस्मि] ।

अर्थ—हे विभो ! जैसे आपके कण्ठमें विषम विषका (हालाहलका) निवास है, वैसे ही मेरे भी कण्ठमें मात्सर्यरूपी विषम विष रहता है । जैसे आप भूतेश्वर (सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर) और पशुपति (अणु, माया और कर्मरूप तीनों पाशोंसे बद्ध समस्त प्राणियोंके पति) हो, वैसे ही मैं भी भूतेश्वर (महान् उग्र—क्रूर लोगों का अग्रणी) और पशुपति (पशु-सदृश अज्ञ, या मूर्खोंका नेता) हूँ । जैसे आपका अङ्ग गुरु-रुक्-ज्वलित (विशाल कान्तिसे दीप्त) है, वैसे ही मेरा भी अङ्ग गुरु-रुक्-ज्वलित (महान् व्याधिसे दग्ध) है, आप और मुझमें समानता होने पर भी हाय ! आप तो शिव हैं, और मैं अभागा अशिव हूँ ।

स्वर्भानुगीर्णमिव पूर्णशशाङ्कबिम्बं
बालाङ्गनाङ्गमिव दारुणरुग्विरुग्णम् ।
श्रीखण्डचन्दनमिवाजगरोपगूढं
व्यूढं नृपस्य पिशुनैरिव पादमूलम् ॥ ९८ ॥

हलाहलाक्तमिव दुग्धमहाब्धिनीरं
तीरं महामकररुद्धमिव द्युसिन्धोः ।
दारिद्र्यदग्धमिव साधुगृहस्थवृत्तं
चित्तं समत्सरमिव श्रुतविश्रुतस्य ॥ ९९ ॥

विद्याविहीनमिव सत्कुलजस्य रूपं
निर्दानभोगमिव कापुरुषस्य वित्तम् ।
मानुष्यमुज्ज्वलकुलश्रुतशीलशुद्धं
जातं विपद्विधुरितं मम शोचनीयम् ॥ १०० ॥

(तिलकम्)

अन्वय—स्वर्भानुगीर्णम् पूर्णशशाङ्कबिम्बम् इव, दारुणरुग्विरुग्णम् बालाङ्गनाङ्गम् इव, अजगरोपगूढम् श्रीखण्डचन्दनम् इव, पिशुनैः व्यूढम् नृपस्य पादमूलम् इव, हालाहलाक्तम् दुग्धमहाब्धिनीरम् इव, महामकररुद्धम् द्युसिन्धोः तीरम् इव, दारिद्र्यदग्धम् साधुगृहस्थवृत्तम् इव, श्रुतविश्रुतस्य समत्सरम् चित्तम् इव, सत्कुलजस्य विद्याविहीनम् रूपम् इव, कापुरुषस्य निर्दानभोगम् वित्तम् इव, उज्ज्वलकुलश्रुतशीलशुद्धम् (अपि इदम्) मम मानुष्यम् विपद्विधुरितम् [सत्] शोचनीयम् जातम् ।

अर्थ—हे प्रभो ! राहुसे ग्रस्त पूर्ण चन्द्रबिम्बके समान, दारुण व्याधि (महारोग) से क्षीण षोडशीके अङ्गके समान, अजगरोंसे परिवेष्टित श्रीखण्ड चन्दनके समान, स्वार्थी खलोंसे परिवृत धार्मिक राजाके राजदरबारके समान, हालाहल विषसे व्याप्त क्षीरसागरके नीरके समान, महाभयङ्कर मगरोंसे अवरुद्ध गङ्गा-तटके समान, दरिद्रतासे निपीडित सद्गृहस्थके चरित्रके समान, विद्वान् पुरुषके ईर्ष्यायुक्त चित्तके समान, विद्या-विहीन कुलीन पुरुषकी सुन्दरताके समान एवं दान और भोगसे रहित कृपणकी सम्पत्तिके समान निर्म्मल कुल, विद्या, शील आदि सद्गुणोंसे विशुद्ध भी मेरा (यह) मनुष्य-जन्म दारिद्रय आदि विपत्तियोंसे विकल होकर सर्वथा शोचनीय हो गया है ।

[कवि यहाँसे अत्यन्त करुणा-जनक विलाप करते हुए कहते हैं—]

पश्चात्पुरः प्रतिदिशं च विमृश्य पश्यन्
क्रूरं कृतान्तहतकं फणिपाशपाणिम्
भूमौ पतामि कृपणं प्रलपामि पाद-
पीठे लुठामि शठवत्कठिनोऽसि कस्मात् ॥ १०१ ॥

अन्वय—[हे विभो !] पश्चात् पुरः प्रतिदिशम् च विमृश्य [आगतम्] कृतान्तहतकम् क्रूरम् फणिपाशपाणिम् पश्यन् [अहम्] भूमौ पतामि, कृपणम् प्रलपामि, [तव] पादपीठे लुठामि । त्वम् शठवत् कठिनः कस्मात् असि ?

अर्थ—हे विभो ! क्रूर और नागपाशको हाथमें लिये यमराजको आगे, पीछे और प्रत्येक दिशाओंमें [सभी ओरसे विचारकर आया हुआ] देख रहा मैं धरती पर गिरता हूँ, दीन विलाप करता हूँ, आपके पादपीठपर लोटता हूँ। आप निरे शठ (धूर्त) की तरह कठोर क्यों हो ?*

आः किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां
हेलावलेपसमयः किमयं महेश ।
मा नाम भूत्करुणया हृदयस्य पीडा
व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते ॥ १०२ ॥

अन्वय—महेश ! अयम् अन्तकः [हठात्] माम् नयति, आः [माम्] किं न रक्षसि ? किम् अयम् हेलावलेपसमयः ? नाम करुणया [तव] हृदयस्य पीडा मा भूत् (परन्तु) शरणागतम् उज्झतः ते व्रीडा अपि नास्ति ?

---

* इसी आशयके अनुसार राजानक श्रीरत्नकंठकी भी एक उक्ति है :—
'जलधर इव गर्जितं वितन्वन्नयमयमागत एव पाशहस्तः ।
शरणमशरणस्य को दयालो ! मम कृपणस्य दयां कुरु त्वमत्र ॥'
अर्थात्—मेघके समान गर्जन-तर्जन करता हुआ नागपाशको हाथमें लिए यह यमराज मुझे ले जानेको आ ही गया है । ऐसी अवस्थामें मुझ शरणहीन और दीनका कौन शरण है ? हे दयासागर ! इस विपत्तिमें आप मुझ दीनपर शीघ्र करुणा कीजिये ।

अर्थ— निमेषमात्रमें ही तीनों लोकोंका उद्धार कर सकनेवाले हे परमेश्वर ! यह यमराज मुझे हठात् ले जा रहा है। आह ! आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते ? प्रभो ! क्या यह खिलवाड़से उपेक्षा करनेका समय है ? मेरी ऐसी दशा देख भले ही करुणासे आपके हृदयमें पीड़ा न हो, किन्तु शरणागतका त्याग करते आपको लज्जा भी नहीं आती ?

अज्ञोऽसि किं किमबलोऽसि किमाकुलोऽसि
व्यग्रोऽसि किं किमघृणोऽसि किमक्षमोऽसि।
निद्रालसः किमसि किं मदघूर्णितोऽसि
क्रन्दन्तमन्तकभयार्तमुपेक्षसे यत् ॥ १०३ ॥

अन्वय—[प्रभो] किम् अज्ञः असि ? किम् अबलः असि ? किम् आकुलः असि ? किं व्यग्रः असि ? किम् अघृणः असि ? किं अक्षमः असि ? किं निद्रालसः असि ? किम् [वा] मदघूर्णितः असि ? यत् क्रन्दन्तम् [अपि माम्] अन्तकभयार्तम् उपेक्षसे ।

अर्थ—हे प्रभो ! क्या आप परपीड़ासे अनभिज्ञ हो ? या निर्बल (ऐसे सङ्कटमें पड़े शरणागतकी रक्षा करनेकी सामर्थ्यसे हीन) हो ? अथवा क्या व्याकुल हो ? या किसी महान् कार्यमें व्यग्र हो ? अथवा क्या अत्यन्त ही निर्दय हो ? किंवा सामर्थ्यसे हीन हो ? या [अनन्तानन्त ब्रह्माण्डोंके उत्पादन, पालन और प्रलयरूप कार्यसे श्रान्त होकर] निद्रासे अलसाये तो नहीं हो ? अथवा [हालाहलरूपी मदिराके] मदसे घूर्णित (मदोन्मत्त) हो ? जो इस प्रकार पुका छोड़कर रो रहे और यमराजके भयसे आर्तकी उपेक्षा कर रहे हो ?*

द्वेषः किमेष कृपणे किमुताक्षमेयं
निस्त्रिंशता किमथवा किमशक्तिरेव।
हुङ्कारमात्रकनिराकरणीयगर्वे
सर्वेश कालहतके यदियत्युपेक्षा ॥ १०४ ॥

अन्वय—अयि सर्वेश, हुङ्कारमात्रकनिराकरणीयगर्वे कालहतके [अपि] यत् इयती

---

* इसी आशयपर श्रीरत्नकंठने दूसरे एक पद्यमें भी बहुत अच्छा कहा है—

'किं सुप्तोऽसि किमाकुलोऽसि जगतः सृष्टस्य रक्षाविधौ
किं वा निष्करुणोऽसि नूनमथवा क्षीबः स्वतन्त्रोऽसि किम्।
किं वा मादृशनिःशरण्यकृपणाभाग्यैर्जडोऽत्रागसि
स्वामिन्यन्न शृणोषि मे विलपितं यन्नोत्तरं यच्छसि ॥'

अर्थात् प्रभो ! क्या आप सोये हैं ? क्या स्वरचित जगत्की रक्षा करनेमें व्यस्त हो ? या निष्करुण (अत्यन्त कठोर) हो, किंवा प्रमत्त हो गये हो ? अथवा स्वतन्त्र हो ? या मेरे समान शरणहीन दीन लोगोंके दुर्भाग्यसे जड़ और मूक तो नहीं हो गये हो ? जो मेरे करुण-विलापको न सुनते हो और न कोई उत्तर ही मुझे देते हो ?

उपेक्षा [भवति], एषः [मयि] कृपणे द्वेषः किम् ? उत इयम् अक्षमा किम् ? निस्त्रंशता किम् ? अथवा अशक्तिः एव किम् ?

अर्थ—हे विश्वनाथ! केवल एक हुङ्कारमात्रसे ही जिसके अहङ्कारका निराकरण हो सकता है ऐसे दुष्ट काल की भी जो आप इतनी अधिक उपेक्षा कर रहे हो, क्या यह मुझ दीनपर आपका द्वेष है ? अथवा क्या यह आपकी अशक्ति है ? किंवा यह निर्दयता है ? या यह आपकी सामर्थ्य-हीनता है ?

इत्यादि दूळ्य इव निष्ठुरपुष्टभाषी
यत्किञ्चन ग्रहगृहीत इवास्तशङ्कः ।
आर्त्या मुहुर्मुहुरयुक्तमपि ब्रवीमि
तत्रापि निष्कृप भिनत्सि न मौनमुद्राम् ॥ १०५ ॥

अन्वय—दूळ्यः इव निष्ठुरपुष्टभाषी ग्रहगृहीतः इव अस्तशङ्कः [अहम्] आर्त्या मुहुर्मुहुः अयुक्तम् अपि इत्यादि यत्किंचन ब्रवीमि, तत्रापि निष्कृप ! [त्वम्] मौनमुद्राम् न भिनत्सि !

अर्थ—दुष्ट अन्तःकरणवाले खलके समान अत्यन्त कठोर भाषण करनेवाला मैं पिशाचग्रस्त पुरुषके समान निःशङ्क होकर आर्तिसे पीड़ित होनेके कारण बार-बार जो पूर्वोक्त प्रकारके अयुक्त वचन कहता हूँ, उसपर भी हे निर्दय ! आप अपनी मौन-मुद्राको नहीं तोड़ते।

भीते भवार्तिविधुरे चरणाग्रलग्ने
भग्नेप्सिते गतिमपश्यति काञ्चिदन्याम् ।
कस्मादनागसि मनागसि विश्वसाक्षि-
न्दाक्षिण्यदिग्धहृदयोऽपि पराङ्मुखस्त्वम् ॥ १०६ ॥

अन्वय—विश्वसाक्षिन् भीते भवार्तिविधुरे चरणाग्रलग्ने, भग्नेप्सिते काञ्चित् अन्याम् गतिम् अपश्यति अनागसि [मयि] दाक्षिण्यदिग्धहृदयः अपि त्वम् मनाक् [अपि] पराङ्मुखः कस्मात् असि ?

अर्थ—समस्त विश्वको एक दृष्टिसे देखनेवाले हे भगवन् ! अनेक उपद्रवोंसे भयभीत, भवसागरमें उत्पन्न घोर व्याधियोंसे व्याकुल, आपके चरणारविन्दोंपर लोटते हुए, भग्न-मनोरथ और आपके सिवा अन्य कोई गति न देख रहे मुझ निरपराध बालकके प्रति स्नेहपूर्ण हृदय होकर भी आप तनिक भी विमुख क्यों हैं ?

स्वामिन्निसर्गमलिनः कुटिलश्चलोऽह-
मेतादृगेव च रिपुर्मम मृत्युपाशः ।
भ्रूपल्लवस्तव तथाविध एव तस्य
शान्त्यै विषे हि विषमे विषमेव पथ्यम् ॥ १०७ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! अहम् निसर्गमलिनः कुटिलः चलः [च अस्मि], मम रिपुः

मृत्युपाशः च एतादृग् एव [अस्ति]। तथाविध एव [निसर्गमलिनः कुटिलः चलः च] तव भ्रूपल्लवः तस्य शान्त्यै [क्षमः]। हि विषमे विषे विषम् एव पथ्यम् [भवति]।

अर्थ—नाथ ! मैं स्वभावसे ही मलिन अन्तःकरणवाला (अतएव) अत्यन्त कुटिल एवं चञ्चल प्रकृति हूँ और मेरा शत्रु वह कालका नागपाश भी ऐसा ही अर्थात् स्वभावतः मलिन (काला), कुटिल और चञ्चल है। [अतः हे भगवन् !] मेरे उस शत्रुकी शान्ति (उसे निश्चेष्ट करने) के लिए ठीक वैसा ही अर्थात् स्वभावतः मलिन—रोएंवाला, धनुषके आकारके समान कुटिल और चञ्चल आपका भ्रुकुटि-पल्लव ही समर्थ हो सकता है। कारण [वृद्ध लोगों का कहना है कि] अत्यन्त उग्र विषमें विष ही पथ्यकारक होता है*।

किं कार्यमेभिरनिशं पुनरुक्तशुक्तै-
रुद्वेगकारिभिरलब्धफलैः प्रलापैः।
एवं विदन्नपि मुहुर्मुखरं विरौमि
पश्यामि न त्वदितरं हि परं शरण्यम् ॥ १०८ ॥

अन्वय—[हे विभो !] पुनरुक्तशुक्तैः उद्वेगकारिभिः अलब्धफलैः एभिः प्रलापैः अनिशम् किम् कार्यम् ? एवम् विदन् अपि अहम् मुहुः मुखरम् विरौमि, हि त्वदितरम् परम् शरण्यम् न पश्यामि।

अर्थ—हे प्रभो ! गद्गद होकर बार-बार कहे हुए [अतएव] बासी ओदनके तुल्य और मनमें उद्वेग उत्पन्न करनेवाले इन निरर्थक प्रलापोंसे क्या लाभ अर्थात् कुछ भी नहीं। ऐसा जानता हुआ भी मैं बारम्बार यह घोर विलाप कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे आपके सिवाय अन्य कोई रक्षक दिखलाई ही नहीं देता।

त्वं चेत्प्रसादसुमुखः प्रणयोक्तिभिः किं
त्वं चेदनादरपरः प्रणयोक्तिभिः किम्।
भाग्योदये सति वृथैव गुणेषु यत्न-
स्तस्मिन्नसत्यपि वृथैव गुणेषु यत्नः ॥ १०९ ॥

अन्वय—[हे नाथ !] त्वम् प्रसादसुमुखः चेत् [तर्हि] प्रणयोक्तिभिः किम् ? त्वम् अनादरपरः चेत् [तर्हि] प्रणयोक्तिभिः किम्। भाग्योदये सति गुणेषु यत्नः वृथैव, तस्मिन् असति अपि गुणेषु यत्नः वृथैव।

---

* इसी तरह दुःख पीड़ित जनोंके प्रस्तावके वर्णनमें कविवर श्रीरत्नकंठजीकी एक अति सुन्दर उक्ति है—

'दुःखितस्य बहुदुःखसंचयैर्दुःखमुग्रमपि किं करिष्यति।
नाहिफेनमहिफेनसेविनः क्वापि दुर्जरतरं भविष्यति॥'

अर्थात् अतीव दुःसह दुःख-परम्पराओंसे दुःखित पुरुषको अत्युग्र दुःख भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं, क्योंकि विषसेवीको अफीम पचानेमें कठिनाई हो क्या यह कभी संभव है ?

अर्थ—हे नाथ ! यदि आप अनुग्रह कर स्वयं ही सुमुख (सुप्रसन्न) हों तो फिर [आपको प्रसन्न करनेके लिए] प्रिय-वचनों या स्तुतियोंकी क्या आवश्यकता है ? और यदि आप विमुख हों तो भी प्रणयोक्तियोंसे क्या लाभ [कारण] मनुष्यका भाग्य उदित होनेपर फिर विद्वत्ता आदि गुणोंमें यत्न करना वृथा ही है और यदि भाग्योदय न हो तो भी गुणोंके लिए प्रयत्न करना वृथा ही है।

जानन्नपीति विरमामि न यत्प्रलापा-
दार्तेर्महेश महिमैष दृशस्तवैव ।
या रात्रिमेव दिवसं तिमिरं प्रकाश-
मग्निं हिमं गरलमप्यमृतं करोति ॥ ११० ॥

अन्वय—महेश ! इति जानन् अपि [अहम्] यत् प्रलापात् न विरमामि एषः तव दृशः [इव] [मम] आर्तेः एव महिमा । या रात्रिम् एव दिवसम् करोति, तिमिरम् [अपि] प्रकाशम् [करोति], अग्निम् [अपि] हिमम् [करोति], गरलम् अपि अमृतम् [करोति] ।

अर्थ—हे परमेश्वर ! यह सब जानता हुआ भी मैं जो इस निरर्थक प्रलापसे विरत नहीं होता वह आपकी अनुग्रह दृष्टिके समान मेरी विपत्तिकी ही महिमा है। क्योंकि यह विपत्ति [आपकी अनुग्रहदृष्टिके समान] रात्रिको ही दिन, अन्धकारको ही प्रकाश, अग्निको भी हिम (अतिशीतल) और विषको भी अमृत बना देती है। अर्थात् जैसे आपकी अनुग्रह-दृष्टि अतीव असंभव कार्योंको भी संभव कर देती है, वैसे ही यह आर्ति भी असंभव को संभव कर डालती है। क्योंकि आर्त्तिपीड़ित-प्राणी तीव्र दुःखकी वेदनामें रात्रिको भी दिन समझ बैठता है, अन्धकारको प्रकाश समझ लेता है, अग्निको शीतल ओर विषको मधुर रसायन समझ बैठता है * ।

आर्तिः श्रुतैव कृपणात्करुणां तवान्त-
रुत्पादयत्यनिशमग्निशिखां शमीव ।
जातैव निर्दहति तामियमित्यमुत्र
किं ब्रूमहे महदनङ्कुशमीश्वरस्य ॥ १११ ॥

अन्वय—[प्रभो] कृपणात् श्रुता एव आर्तिः तव अन्तः शमी अग्निशिखाम् इव अनिशम् करुणाम् उत्पादयति । इयम् जाता एव ताम् निर्दहति । इति अमुत्र ईश्वरस्य महत् अनङ्कुशम् किम् ब्रूमहे ?

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे शमीवृक्षकी शाखा अपने अन्दर सदैव अग्नि-ज्वालाको

* इसी आशयकी किसी भक्त कविकी एक उक्ति है—
'अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्मो धर्मतामियात् ।
अनुकूले जगन्नाथे विपरीते विपर्ययः ॥'
अर्थात् ईश्वरके अनुकूल होनेपर शत्रु भी मित्र, विष भी अमृत और अधर्म भी धर्म हो जाता है। किन्तु उनके प्रतिकूल होनेपर सभी विपरीत (मित्र भी शत्रु, अमृत भी विष और धर्म भी अधर्म) हो जाता है।

उत्पन्न करती है। वह अग्नि उत्पन्न होते ही उस (शमी वृक्षकी शाखा) को ही भस्म कर डालती है। ठीक ऐसे ही दीन जनोंकी विपत्ति केवल सुनने मात्रसे ही आपके हृदयमें सदैव करुणा उत्पन्न करती है और वह करुणा उत्पन्न होते ही [जिससे वह उत्पन्न होती है] उसी दीनजनोंकी विपत्तिको [तत्क्षण] भस्म कर देती है। इसलिए इस विषयमें आप सर्वशक्ति-सम्पन्न सर्वस्वतन्त्र परमेश्वरकी इस अनिवार्य ऐश्वर्यशक्ति [की महिमा] को हम क्या कहें ?

यन्नाम पामरजनोचितमत्र किञ्चि-
दौचित्यमुक्तमसमञ्जसमभ्यधायि ।
तत्रापि भर्तुरुचिता रुचिरीश्वराणां
चेतश्चमत्कृतिकरी कपिझम्पिकापि[1] ॥ ११२ ॥

अन्वय—[हे विभो !] अत्र यत् किञ्चित् पामरजनोचितम्, औचित्यमुक्तम्, असमञ्जसम् अभ्यधायि नाम, तत्रापि भर्त्तुः रुचिः उचिता [एव] कपिझम्पिका अपि ईश्वराणाम् चेतश्चमत्कृतिकरी [भवति एव]।

अर्थ—हे विभो ! मैंने इस स्तुति-पुष्पाञ्जलिमें पामर जनोंके समान परमार्थसे हीन और अत्यन्त अयुक्त जो कुछ भी कहा है, उसे भी सुननेमें सर्वस्वतन्त्र आप प्रभुकी रुचि होना उचित ही है। कारण [लोकमें भी यह प्रायः देखा जाता है कि] बन्दरोंका इधर-उधर उछलना-कूदना भी कभी-कभी समर्थ लोगोंके चित्तमें चमत्कार पैदा करता ही है।

चौरैर्गृहीतमपि दष्टमपि द्विजिह्वै-
ग्रस्तं ग्रहैरपि निरुद्धमपि द्विषद्भिः ।
व्याघ्रैरुपद्रुतमपि द्रुतमाक्षिपद्भि-
रन्विष्टमप्यवनिभृत्पुरुषैः सरोषैः ॥ ११३ ॥
भूताभिभूतमपि सिन्धुजलेऽपि मग्नं
भग्नं रणेऽपि पतितं दवपावकेऽपि ।
किं भूयसा यमभटैरपि कृष्यमाणं
कस्त्रातुमर्हति महेश्वरमन्तरेण ॥ ११४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—चौरैः गृहीतम् अपि, द्विजिह्वैः दष्टम् अपि, ग्रहैः ग्रस्तम् अपि, द्विषद्भिः निरुद्धम् अपि, द्रुतम् आक्षिपद्भिः व्याघ्रैः उपद्रुतम् अपि, रणे सरोषैः अवनिभृत्पुरुषैः अन्विष्टम् अपि, भूताभिभूतम् अपि, सिन्धुजले मग्नम् अपि, रणे भग्नम् अपि, दवपावके पतितम् अपि, भूयसा किम् ? यमभटैः अपि कृष्यमाणम् त्रातुम् [केवलम्] महेश्वरम् अन्तरेण [अपरः] कः अर्हति ?

---

(१) 'कपिझम्पिकैव' इत्यपि पाठः।

अर्थ—चोरोंसे पकड़े हुए भी, सर्पोंसे काटे हुए भी, ब्रह्मराक्षस, वेताल आदि ग्रहोंसे ग्रस्त किये भी, प्रबल शत्रुओंसे रोके हुए भी, शीघ्र झपटते हुए व्याघ्रोंसे पकड़े हुए भी, अति क्रोधयुक्त राजपुरुषोंसे खोजे हुए भी, भूत-प्रेतादिकोंसे डराये हुए भी, समुद्रमें डूबे हुए भी, संग्राममें पराजित किये हुए भी, दावानलमें गिरे हुए भी, बहुत क्या कहें ? [इन सबसे भी अधिक महाभयदायी, नागपाश, दण्ड, मुद्गर आदि हाथमें लिए अतिविकराल] यमदूतोंसे खींचे जाते हुए भी आर्त्त प्राणीको बचानेके लिए एकमात्र करुणासागर भगवान् महेश्वर सदाशिवके सिवाय दूसरा और कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

तज्ज्ञो बतास्म्यभिलषन् सुखमक्षयं य-
दुःखैकधाम वपुरस्थिरमर्थयामि ।
यद्वा भवाब्धितरणाय पुराणमुग्र-
शीलं पुमांसमुडुपार्धधरं श्रयामि ॥ ११५ ॥

अन्वय—बत ! [अहम्] तज्ज्ञः अस्मि !* यत् अक्षयम् सुखम् अभिलषन् दुःखैकधाम अस्थिरम् वपुः अर्थयामि । यद्वा भवाब्धितरणाय उग्रशीलम् उडुपार्धधरम् पुराणम् पुमांसम् श्रयामि ।

अर्थ (प्रतीयमान)—ओह ! मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ, अर्थात् मैं महामूर्ख हूँ ‡ जो कि अखण्ड-सुखको चाहता हुआ केवल दुःखोंसे भरे क्षणभंगुर शरीरको माँगता हूँ ? अथवा भवसागरको तरनेके लिए अत्यन्त उग्र-स्वभाव (रौद्र) उडुपार्धधर (आधी नौकाको धारण किये हुए) पुराणपुरुष (अत्यन्त वृद्ध) की शरण लेता हूँ ! [क्योंकि जिसका स्वभाव महान् उग्र है, जो आधी नाव रखता और अतीव वृद्ध है, वह मुझे कैसे भवसागरके पार लगा सकेगा ?]

अर्थ (वास्तविक)—अहा ! मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ, जो उस अखण्ड सुखकी अभिलाषा-पूर्तिके लिए ही इस बहुदुःखमय अस्थिर मनुष्य-देहकी माँग करता हूँ अथवा इस अपार भवसागरको पार करनेके लिए उग्रशील (रुद्ररूप) उडुपार्धधर (अर्धचन्द्रधारी) भगवान् पुराण-पुरुषोत्तमका आश्रय ले रहा हूँ ।

दृङ्मार्गमात्रपतिताः सहसैव यस्य
पञ्चत्वमिन्दुरविहव्यभुजोऽप्यवापुः ।
धीमानहं बत तमेव सदाशिवं य-
द्देवं श्रयामि शरणं मरणार्तिभीरुः ॥ ११६ ॥

---

* भक्तराजस्य सविडम्बनमात्मानं प्रत्युक्तिरियम्, अर्थात् नाहं विचक्षणोऽस्मीत्यर्थः ।

‡ यहाँ विपरीता जहल्लक्षणा है । इस तरह लक्षणासे व्यक्त निन्दा स्तुति-पर्यवसायिनी है । आगेके श्लोकोंमें भी यही समझना चाहिए ।

अन्वय—यस्य दृङ्मार्गमात्रपतिताः इन्दुरविहव्यभुजः अपि सहसा एव पञ्चत्वम् अवापुः, बत ! अहम् धीमान् यत् मरणार्तिभीरुः सन् तम् एव देवम् सदाशिवम् शरणम् श्रयामि।

अर्थ (प्रतीयमान)—ओह ! जिसके दृष्टिगोचर होते ही बड़े-बड़े तेजस्वी चन्द्र, सूर्य और अग्नि भी सहसा पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त हो गये। खेद है, मैं कितना मूर्ख हूँ, जो मृत्यु-पीड़ासे भयभीत होता हुआ उसी सदा अशिव (अकल्याण-कारी) की शरण ले रहा हूँ !

अर्थ (वास्तविक)—अहा ! जिसके दृष्टि-गोचर होने मात्रसे चन्द्र, सूर्य और अग्नि [मूलतः एक-एक होकर] भी पञ्चत्व (पञ्च-पञ्च संख्यावत्त्व) को प्राप्त हो गये अर्थात् पाँच-पाँच बन गये*। मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ, जो मरणपीड़ासे भयभीत होता हुआ उसी दयालु सदाशिवकी शरण ग्रहण कर रहा हूँ।

स्थाणुः स यत्र विभुरस्य वधूरपर्णा
सा यत्र यत्र च तयोस्तनयो विशाखः।
प्रज्ञावतामहमहो प्रवरः प्रवेष्टु-
मिच्छामि धाम तदभीष्टफलाप्तये यत् ॥ ११७ ॥

अन्वय—यत्र सः स्थाणुः विभुः, यत्र अस्य वधूः सा अपर्णा, यत्र च तयोः तनयः विशाखः [अस्ति] यत् अहम् अभीष्टफलाप्तये तत् धाम प्रवेष्टुम् इच्छामि अहो अहम् प्रज्ञावताम् प्रवरः [अस्मि]।

अर्थ (प्रतीयमान)—अहो ! जिस धाममें स्थाणु (ठूँठ) स्वामी है, जहाँ उसकी वधू अपर्णा (पत्र-रहित लता) स्वामिनी है और जहाँ उन दोनों (स्थाणु और अपर्णा) का पुत्र विशाख (शाखा-रहित) है, वहाँ मैं अपना मनोभीष्ट फल पानेके लिए प्रवेश करना चाहता हूँ, अतः मैं बुद्धिमानोंमें बड़ा ही श्रेष्ठ हूँ अर्थात् बड़ा ही मूर्ख हूँ। [क्योंकि जहाँका मालिक ठूँठ, मालकिन बिना पत्तेवाली लता और कुँवर शाखारहित हो, वहाँ अभिलषित फल मिलनेकी आशा ही क्या हो सकती है ?]

अर्थ (वास्तविक)—अहा ! जिस धाममें भगवान् स्थाणु (प्रलयमें भी अटल रहनेवाले सदाशिव) स्वामी हैं, जहाँ उनकी प्रियतमा भगवती अपर्णा (पार्वती) हैं और जहाँ उनके प्रिय-पुत्र विशाख (स्वामी कार्तिकेय) हैं, उस

* स्वच्छन्दतन्त्रमें कहा है कि 'पञ्चवक्त्रं विशालाक्षम्' अर्थात् महादेवजीके पाँच मुख हैं। वे हैं—(१) सद्योजात, (२) तत्पुरुष, (३) अघोर, (४) वामदेव और (५) ईशान इन पाँच मुखों के नेत्रोंमें आश्रय पाकर चन्द्र, सूर्य, अग्नि ये तीनों पाँच-पाँच बन गये। भगवान्के तीन नेत्रोंमें चन्द्र, सूर्य और अग्नि रहते हैं, यह प्रसिद्ध ही है। यही भाव कविने यहाँ 'पञ्चत्व' इस श्लिष्ट पदसे व्यक्त किया है।

शिवलोकमें मैं अपने मनोभिलषित फलकी प्राप्तिके लिए प्रवेश करना चाहता हूँ, अतः सचमुच मैं बुद्धिमानोंमें बड़ा ही श्रेष्ठ हूँ।

मार्जारशूकरशृगालकरालवक्त्र-
वेतालभूतशतसङ्कुलमीश्वरस्य ।
भीष्मं निशाचरपिशाचरवैः प्रवेष्टु-
मिच्छामि धाम मतिमानतिमात्रभीरुः ॥ ११८ ॥

अन्वय—अतिमात्रभीरुः [सन् अहम्] मार्जारशूकरशृगालकरालवक्त्रवेतालभूतशतसङ्कुलम् निशाचरपिशाचरवैः भीष्मम् ईश्वरस्य धाम प्रवेष्टुम् [यत्] इच्छामि [तत् अहम्] मतिमान् अस्मि।

अर्थ (प्रतीयमान)— अहा! अत्यन्त भीरु स्वभाववाला भी मैं मार्जार (बिलाव), शूकर और शृगालोंके-से विकराल मुखवाले सैकड़ों वेताल * और भूतगणोंसे समाकुल, निशाचर और पिशाचगणोंके भीषण शब्दोंसे भयानक भूतपतिके धाममें प्रवेश करना चाहता हूँ, अतः मैं बड़ा ही बुद्धिमान् अर्थात् मूर्खोंमें शिरोमणि हूँ! [कारण, मुझ अत्यन्त भीरु स्वभाववालेकी भयानकतम इस मण्डलीसे वेष्टित भूतनाथके धाममें क्या कभी भयनिवृत्ति संभव हो सकती है? यह भाव है।]

अर्थ (वास्तविक)—अहा! संसारसे अतीव भयभीत हो मैं मार्जार, शूकर और शृगालोंके-से बड़े-बड़े विकराल मुखवाले शतशः वेताल और भूतगणोंसे समाकुल, निशाचर और पिशाचगणोंके भीषण शब्दोंसे भयानक शिवधाममें प्रविष्ट होना चाहता हूँ, अतः मैं महाबुद्धिमान् हूँ। (कारण, आचार्योंने कहा ही है कि आपका यह सारा शील-स्वभाव है तो अमंगल तथा भयप्रद; किन्तु स्मर्ता और शरणागतके लिए आप परम मंगलमय तथा भयहारक हैं]।

कर्णेक्षणादचरणात्त्रिफणात्कृतान्त-
पाशात्त्रसन्धृतसहस्रफणोरगेन्द्रम् ।
प्राज्ञः सहस्रशिरसं पुरुषं सहस्र-
नेत्रं सहस्रचरणं शरणं श्रयामि ॥ ११९ ॥

अन्व—अहम् प्राज्ञः कर्णेक्षणात् अचरणात् त्रिफणात् कृतान्तपाशात् त्रसन्, धृतसहस्रफणोरगेन्द्रम् सहस्रशिरसम् सहस्रनेत्रम् सहस्रचरणम् पुरुषम् शरणम् श्रयामि।

अर्थ (प्रतीयमान)—अहा मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ अर्थात् महामूर्ख हूँ, जो केवल नेत्रोंसे सुननेवाले (श्रोत्रहीन), चरणहीन और तीन फणाओंवाले यमराजके नागपाशसे भयभीत होता हुआ, सहस्र फणोंवाले सर्पराजको धारण करनेवाले, सहस्रों शिर, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरणोंवाले महापुरुषकी शरण ग्रहण कर रहा हूँ! [अर्थात् श्रोत्रहीन, पादहीन और तीन फणाओंसे युक्त नाग-पाशसे डरनेवाला

* भूताधिष्ठितं शवशरीरं वेतालः।

सहस्र-श्रोत्र, सहस्र-पाद और सहस्र फणाओंवालेके पास रक्षार्थ जाय, यह कितनी मूर्खता है]।

अर्थ (वास्तविक)—अहा ! मैं बड़ा ही बुद्धिमान हूँ ! जो केवल नेत्रोंसे सुननेवाले (श्रोत्रहीन), चरणहीन और तीन फणोंओंवाले कालके नागपाशसे भयभीत होता हुआ सहस्र-फण सर्पराज वासुकिको धारण करनेवाले, सहस्र-शिर, सहस्र-नेत्र और सहस्र चरणवाले* महापुरुष (विराट्-पुरुष, देवाधिदेव) महादेवकी शरण ले रहा हूँ।

त्रस्तः समस्तजनतापहृतिप्रगल्भा-
दीप्तानलोल्बणदृशः शिव जीवितेशात् ।
प्राज्ञः समस्तजनतापहृतिप्रगल्भं
त्वां जीवितेशमनलोग्रदृशं श्रयामि ॥ १२० ॥

अन्वय—शिव ! समस्तजनतापहृतिप्रगल्भात् दीप्तानलोल्बणदृशः जीवितेशात् त्रस्तः [अहम्] प्राज्ञः समस्तजनतापहृतिप्रगल्भम् अनलोग्रदृशम् त्वाम् जीवितेशम् श्रयामि ।

अर्थ (प्रतीयमान)—हे शिव, मैं महामूर्ख हूँ, जो समस्त जनताका संहार करनेमें प्रवीण और क्रोधवश प्रदीप्त अग्निके समान उल्बण दृष्टिवाले यमराजसे भयभीत होता हुआ समस्त जनताका अप-हरण (संहार) करनेमें प्रवीण और अग्निसे प्रज्वलित नेत्रवाले आप जीवितेश (प्राणान्तकारी) की शरण ले रहा हूँ।

अर्थ (वास्तविक)—हे मुक्तिप्रदायक शिव ! मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ, जो समस्त जनताके संहारमें चतुर और क्रोधवश जलती हुई अग्निके समान नेत्रवाले जीवितेश (काल) से त्रस्त होता हुआ समस्त जनोंके संतापोंको दूर करनेमें चतुर और अग्निसे प्रज्वलित नेत्रवाले आप जीवितेश (जीवनके आधार) प्राणनाथकी शरण ले रहा हूँ।

निर्भर्त्सितक्रतुमृगं समशिश्रियत्त्वां
संन्यस्तलाञ्छनमृगः कलया मृगाङ्कः ।
यत्कामवैरिणमवेत्य सकाम एव
त्वामाश्रितोऽस्मि सुधियामधिकस्ततोऽहम् ॥ १२१ ॥

अन्वय—[हे विभो !] निर्भर्त्सितक्रतुमृगम् त्वाम् मृगाङ्कः संन्यस्तलाञ्छनमृगः सन् कलया समशिश्रियत् यत् [तु] कामवैरिणम् अवेत्य सकामः एव त्वाम् आश्रितः अस्मि, ततः अहम् सुधियाम् अधिकः ?

अर्थ (प्रतीयमान)—हे विभो ! दक्ष प्रजापतिके यज्ञरूप मृगके विध्वंसक आपका मृगाङ्क (चन्द्रमा) ने अपने लाञ्छन (कलंकरूप) मृगको त्याग करके कला-रूप [व्याज] आश्रयण किया, [वह ठीक ही है ।] किन्तु मैंने जो आपको

* 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' इति श्रुतिः ।

कामवैरी (कामदेवका शत्रु) समझकर भी सकाम (साभिलाष) होकर ही आपका आश्रय लिया है, इसलिए मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ। [अर्थात् चन्द्रमाने सोचा कि मैं तो मृगाङ्क हूँ और प्रभु हैं मृगके वैरी; क्योंकि उन्होंने दक्ष-प्रजापतिके यज्ञमृगको मार डाला, इसलिए उसने अपना मृगलाञ्छन त्यागकर कलारूपसे (व्याजतः) आपकी शरण ली, सो तो ठीक ही है। किन्तु मैं कितना मूर्ख हूँ कि चन्द्रसे यह शिक्षा न लेकर आप काम-वैरीको सकाम हो (सकाम भावसे) सेवित कर रहा हूँ। मुझे भी चाहिए था कि काम छोड़कर (निष्काम होकर) ही आपकी शरण लेता।

अर्थ (वास्तविक) – नाथ ! यज्ञ-मृगको मारनेवाले आपको मृगाङ्कने अपने लाञ्छन मृग (कलङ्क) का त्याग कर कलारूप (षोडशांश रूप) से समाश्रयण किया, परन्तु मैंने तो आपको कामवैरी समझकर भी सकाम (साभिलाष) होकर ही आपका आश्रय लिया है, सो मैं महा बुद्धिमान् हूँ। [अर्थात् बेचारे जल-(जड-) चन्द्रको क्या पता कि अनुचित कार्य करनेवाले यज्ञमृगके घातक प्रभुका मृगजातिसे वैर नहीं। इसीलिए उस वराकने कलामात्र बन अपना लाञ्छन मृग मिटा डाला और फिर प्रभुकी शरण ली। किन्तु मैं तो महाबुद्धिमान् हूँ। 'कामवैरी' के 'काम' और 'सकाम' के 'काम' का स्पष्ट विवेक रखता हूँ। अतएव सकाम बनकर मेरा कामवैरीका आश्रयण युक्त ही है, यह भाव है।]

पद्माश्रितः शतधृतिश्चतुराननोऽपि
यस्मात्पराभवमवापदवाच्यमेव ।
त्यक्तः श्रिया गतधृतिर्मृदुमन्दवक्त्रः
प्राज्ञस्तमीश्वरमनुग्रहमर्थयेऽहम् ॥ १२२ ॥

अन्वय—पद्माश्रितः शतधृतिः चतुराननः अपि यस्मात् अवाच्यम् एव पराभवम् अवापत्, अहम् प्राज्ञः श्रिया त्यक्तः गतधृतिः मृदुमन्दवक्त्रः सन् तम् ईश्वरम् अनुग्रहम् अर्थये।

अर्थ (प्रतीयमान)—ओह ! पद्माश्रित (लक्ष्मीका आश्रित), शतधृति (महाधैर्यशाली) और चतुरानन (चतुर मुखवाला) ब्रह्मा भी जिस ईश्वरसे अवाच्य पराभव ही (अकथनीय तिरस्कार अर्थात् शिरश्छेदनरूप अपमान) पा चुका है, मैं बहुत बड़ा मूर्ख [उस ब्रह्मासे विपरीत] पद्मासे परित्यक्त (दरिद्र), गतधृति (धैर्यहीन) और अतीव मन्दवक्त्र (अचतुर मुख) होकर भी उसी ईश्वरसे अनुग्रहकी प्रार्थना कर रहा हूँ। क्या मेरी मूर्खताका भी कुछ ठिकाना है ?

अर्थ (वास्तविक)—अहा ! पद्माश्रित (कमलासनपर विराजमान) शतधृति और चतुरानन (चार मुखोंवाला) ब्रह्मा भी जिस प्रभुसे महान् पराभवको प्राप्त हुआ अर्थात् उनका पार न पा सका*, मैं श्रीहीन, धैर्यविहीन और अतीव मन्दमुख होकर भी जो उस परमेश्वरसे अनुग्रह चाहता हूँ, सो मैं अतीव चतुर हूँ।

---

* श्रीपुष्पदन्ताचार्य कहते हैं—

आजन्म कर्म विरचय्य फलं यदाप्तं
हृत्वा क्षणात्तदखिलं चिरकालभोग्यम् ।
यः स्वीकरोत्यपुनरागमनाय भक्तं
सेवे तमीश्वरमहो मतिमत्तमोऽहम् ॥ १२३ ॥

अन्वय—[भक्तेन] आजन्म कर्म विरचय्य यत् फलम् आप्तम्, चिरकालभोग्यम् अखिलम् तत् क्षणात् हृत्वा यः भक्तम् अपुनरागमनाय स्वीकरोति, अहो ! अहम् मतिमत्तमः तम् ईश्वरम् सेवे ।

अर्थ (प्रतीयमान)—अहो ! भक्त लोग जन्म भर कर्म कर जिन शुभाशुभ फलोंको प्राप्त करते हैं, चिरकाल-पर्यन्त उपभोग करने योग्य उन समस्त फलोंको जो क्षणमात्रमें अपहरण करके भक्तजनोंका अपुनरागमन कर देता है अर्थात् पास आना ही बन्द कर देता है, मैं उसी स्वामीकी सेवा कर रहा हूँ । वाह, मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ अर्थात् महामूर्ख हूँ ।

अर्थ (वास्तविक)—अहा ! भक्तजन आजन्म अनेक शुभाशुभ कर्म कर चिरकाल तक भोग करने योग्य जिस शुभाशुभ फलको प्राप्त करते हैं, उस चिरकाल-भोग्य फलको क्षणमात्रमें हरण कर जो भक्तवत्सल प्रभु भक्तोंको अपुनरागमन (पुनरावृत्तिसे रहित, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिरूप मोक्षधाम) को पहुँचा देते हैं, मैं उसी दयालु प्रभुकी सेवा कर रहा हूँ, सो बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ ।

श्मशानैकस्थानव्यसनमनलोत्तालनयनं
विषज्योतिर्ज्वालाजटिलकुटिलव्यालवलयम् ।
विभुं मुण्डश्रेणीविकटमुकुटं भीरुहृदयः
श्रयन् भीमं धीमानहमहसनीयः कृतधियाम् ॥ १२४ ॥

अन्वय—श्मशानैकस्थानव्यसनम् अनलोत्तालनयनम् विषज्योतिर्ज्वालाजटिलकुटिल-व्यालवलयम् मुण्डश्रेणीविकटमुकुटम् भीमम् विभुम् श्रयन् भीरुहृदयः अहम् धीमान् कृतधियाम् अहसनीयः ।

अर्थ (प्रतीयमान)—अहो ! मैं अत्यन्त भीरुहृदय होकर भी केवल श्मशान-स्थानमें निवास करनेवाले, प्रचण्ड अग्निसे भीषण नेत्रोंवाले, विषरूपी अग्नि-ज्वालाओं-से जटिल बने कुटिल सर्पोंका कङ्कण धारण करनेवाले और अतिविकराल मुण्डमालाओं-का मुकुट पहननेवाले अत्यन्त भयानक महेश्वरका आश्रय ले रहा हूँ, सो क्या मैं

'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥'

विद्वज्जनोंका उपहास-पात्र नहीं हूँ ? अर्थात् अवश्य हूँ * ।

अर्थ (वास्तविक)—अहा ! जो मैं अत्यन्त भीरुहृदय होकर भी श्मशान-स्थानमें प्रीति रखनेवाले, अग्निसे प्रज्वलित नेत्रोंवाले, विषज्वालासे जटिल बने कुटिल सर्प (वासुकि) का कङ्कण धारण करनेवाले और मस्तक पर विशाल मुण्डमाला धारण करनेवाले महाभीम भगवान् महेश्वरका आश्रय ले रहा हूँ , सो मैं विद्वज्जनोंका सम्माननीय हूँ ।

अहो तत्त्वज्ञोऽहं करतलविलीनैकफणिनः
समुत्त्रस्यन्कालात्क्रमकवलितैकैकभविनः ।
महाकालं सर्वावयवसुलभानल्पभुजगं
सकृद्विश्वग्रासप्रवणमतिमभ्येमि शरणम् ॥ १२५ ॥

अन्वय—अहो ! करतलविलीनैकफणिनः क्रमकवलितैकैकभविनः कालात् समुत्त्रस्यन् अहम् [यत्] सर्वावयवसुलभानल्पभुजगम् सकृद्विश्वग्रासप्रवणमतिम् महाकालम् शरणम् अभ्येमि, [तत्] तत्त्वज्ञः अस्मि ।

अर्थ (प्रतीयमान)—अहो ! मैं बड़ा ही तत्त्वज्ञ अर्थात् महान् मूर्ख हूँ, जो हाथमें केवल एक सर्प (नाग पाश) को छिपाये रखनेवाले और क्रमशः एक-एक प्राणीको निगलनेवाले कालसे भयभीत होता हुआ समस्त अवयवों (हाथ, पाँव, कण्ठ आदि प्रत्येक अङ्ग) में अनेक सर्प धारण करनेवाले और एक ही बार समस्त विश्व-को निगल जानेवाले महाकालकी शरणमें जा रहा हूँ !

अर्थ (वास्तविक)—अहा ! मैं हाथमें नागपाश धारण किये और क्रमशः प्रत्येक प्राणीको निगलनेवाले काल (यमराज) से अतीव भयभीत होता हुआ जो प्रत्येक अङ्गोंमें भुजङ्ग धारण करनेवाले और प्रलयकालमें समस्त ब्रह्माण्डका ग्रास करनेवाले महाकाल (कालके भी काल) भगवान् शंकरकी शरण ले रहा हूँ, सो निश्चय ही तत्त्वज्ञ अर्थात् परमार्थको जाननेवाला हूँ ।

शृङ्गी यत्र स्फटिकशिखरी यत्र शृङ्गी पिनाकः
शृङ्गी सोऽपि स्फुरति वृषभो वल्लभो यत्र भर्तुः ।
तत्र त्रस्तः प्रकृतिसरलः स्वल्पवागप्रगल्भः
प्राज्ञः सेवासमयमुचितं स्वामिनः प्रार्थयेऽहम् ॥ १२६ ॥

अन्वय—यत्र भर्तुः वल्लभः स्फटिकशिखरी शृङ्गी, यत्र च पिनाकः [अपि] शृङ्गी, यत्र च सः वृषभः अपि शृङ्गी स्फुरति, तत्र त्रस्तः प्रकृतिसरलः स्वल्पवाक् अप्रगल्भः अहम् प्राज्ञः, उचितम् सेवासमयम् स्वामिनः प्रार्थये ।

अर्थ—जिस दरबारमें प्रभुका प्रियतम स्फटिक शिखरधारी शृङ्गी (चोटियों-

---

* यहाँ काकु है ।

वाला) कैलास पर्वत है, जहाँ प्रभुका प्रियतम शृङ्गी (शृङ्ग-विनिर्मित) पिनाक धनुष है और जहाँ प्रभुका प्रियतम वह शृङ्गी (दो सींगवाला) नन्दी वृषभ है, प्रभुके उस दरबारमें मैं भीरु, सरल-स्वभाव, मितभाषी और अप्रौढ़ पुरुष प्रभुकी सेवाके लिए उनसे उचित अवसर माँग रहा हूँ। सचमुच मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ*।

विश्रान्तिर्न क्वचिदपि विपद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतप्ते
चित्ते वित्ते गलति फलति प्राक्प्रवृत्ते कुवृत्ते।
तेनात्यन्धं सपदि पतितं दीर्घदुःखान्धकूपे
मामुद्धर्तुं प्रभवति भव त्वां दयाब्धिं विना कः ॥ १२७॥

अन्वय—भव ! वित्ते गलति, प्राक्प्रवृत्ते कुवृत्ते फलति [सति] विपद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतप्ते चित्ते क्वचित् अपि विश्रान्तिः न अस्ति। तेन अत्यन्धम् सपदि दीर्घदुःखान्धकूपे पतितम् माम् उद्धर्तुम् त्वाम् दयाब्धिम् विना कः प्रभवति ?

अर्थ—हे विभो ! धन क्षीण हो जाने और पूर्वजन्मार्जित दुष्कर्मोंके फलदानोन्मुख होनेपर विपत्तिरूपी ग्रीष्मके अतिप्रचण्ड तापसे तप्त मेरे चित्तमें कहीं भी शान्ति नहीं है। इस कारण अत्यन्त अन्ध अतएव संप्रति दीर्घ दुःखरूपी अन्धकूपमें गिरे मुझ पतितका उद्धार करनेके लिए एकमात्र आप दयासागरको छोड़ दूसरा कौन समर्थ है ?

येषामेषा तनुधनलवप्रार्थनानर्थकन्था
पन्थानं न प्रदिशति परं स्थानमानन्दि लब्धुम्।
तेषामेषामकृपण कृपाभाजनानां जनाना-
माशापाशाकुलितमनसां दृष्टिमिष्टां निधेहि ॥ १२८॥

अन्वय—अकृपण ! एषा तनुधनलवप्रार्थनानर्थकन्था येषाम् परम् आनन्दि स्थानम्

---

* यहाँ भी कविने शब्दश्लेषसे बड़ा ही चमत्कार कर दिखाया है। वह कहता है—जिस दरबारमें शृङ्गी (दर्पोद्धत) स्फटिक शिखरधारी अचेतन पर्वत स्वामीका प्रियतम है, जहाँ शृङ्गी (अहङ्कारी) पिनाक धनुष भी प्रभुका प्रियतम है और जहाँ शृङ्गी (घमण्डी) बैल महाराजका परम प्रेमास्पद है अर्थात् जहाँ ऐसे-ऐसे महा अहङ्कारी लोग रहा करते हैं, उस दरबारमें जो मैं प्रभुसे सेवाके लिए उचित अवसर माँग रहा हूँ, सो मैं कितना विद्वान् हूँ ? क्या मेरी मूर्खताकी भी कोई सीमा है ?

इसी अभिप्रायके टीकाकार श्रीरत्नकण्ठके भी दो पद्य मिलते हैं—

'दोषाकरः शिरसि कण्ठतले द्विजिह्वः पादान्तगोऽपि सततं खलु यस्य शृङ्गी।
द्वारान्तिकं कथमुपैमि हि भैरवस्य तस्य प्रभोर्विशरणः कृपणोऽतिसाधुः॥'
'दोषाकरः स कुटिलो विमतिश्च शृङ्गी कोपी सदा बहुतरामपि स द्विजिह्वः।
एते यदि प्रियतमा भवतस्तदाहमेकोऽपि तादृगिह मां शिव किं त्यजेथाः॥'

लब्धुम् पन्थानम् न प्रदिशति, तेषाम् एषाम् कृपाभाजनानाम् आशापाशाकुलितमनसाम् जनानाम् इष्टाम् दृष्टिम् निधेहि ।

अर्थ—हे दानियोंमें श्रेष्ठ परमेश्वर ! यह स्वल्प धन-कणकी प्रार्थनारूपी अनर्थ-परम्परा जिन लोगोंको परम आनन्दपूर्ण मोक्ष धामको प्राप्त करनेका मार्ग नहीं बतलाती, उन (मेरे समान) आशापाशोंसे आकुल चित्तवाले कृपायोग्य दीनजनोंको अपनी अनुग्रहपूर्ण दृष्टिसे देखिये ।

उदञ्चय मुखं मनागभयघोषमुद्घोषय
प्रयच्छ विशदां दृशं [1]गतिविहीनमाश्वासय ।
किमन्यदयमागतः कुपितदृष्टिरुत्कन्धरः
कृतान्त इति मा स्म भूरविरलावलेपालसः ॥ १२९ ॥

अन्वय—[हे विभो !] मनाक् मुखम् उदञ्चय, अभयघोषम् उद्घोषय । विशदाम् दृशम् प्रयच्छ, गतिविहीनम् आश्वासय । किम् अन्यत् [वच्मि], अयम् उत्कन्धरः कुपित-दृष्टिः कृतान्तः आगतः इति अविरलावलेपालसः मा स्म भूः ।

अर्थ—हे प्रभो ! तनिक मुझे अपना मुखारविन्द दरशाइये और 'मत डरो ! मत डरो !!' ऐसा अभय-शब्द सुनाइए । नाथ ! मुझपर अपनी प्रसाद-निर्मल दृष्टि डालिये और मुझ शरण-विहीनको आश्वासन दीजिये । और अधिक क्या [कहूँ] ? ग्रीवा ऊपर उठाये हुए, क्रोधसे विकराल दृष्टि यह काल [मुझे ले जानेको] आ गया है । इसलिए नाथ ! अब आप मेरे प्रति अतिशय उपेक्षावश आलसी न हो जायँ* ।

मुहुः किमपरं ब्रुवे भुजगपाशपाणिं पुरः
स्फुरन्तमिव रोषणं रविजकिङ्करं पश्यतः ।
धृतिश्चलति मे गतिः स्खलति मूर्तिरुद्वेल्लति
स्थितिर्ज्वलति निर्वृतिर्विगलति स्मृतिर्मीलति ॥ १३० ॥

---

१. धृतिविहीनमित्यपि पाठः ।

* इसी अभिप्रायसे श्रीरत्नकण्ठने भी प्रभुसे कहा है—

'त्रैलोक्योद्धरणैकदक्ष करुणासिन्धो बतेमं जनं
त्वं श्वेताभयदानविश्रुतयशःस्तोमो न चेद्रक्षसि ।
क्रुद्ध्यत्कालकरालहुङ्कृतिपरित्रस्तोऽहमुच्चैस्तरा-
मब्रह्मण्यमुदीरयाम्यशरणः स्वामिन्नये कं प्रति ॥'

अर्थात् त्रैलोक्यके उद्धार करनेमें परम समर्थ ! करुणासागर सदाशिव !! राजा श्वेतकेतु आदि भक्तजनोंको अभयदान देकर अपनी करुणाकी यशःपताकाको फहरानेवाले आप यदि मुझ दीनकी रक्षा न करें, तो फिर कुपित-कालके भयानक हुङ्कारोंसे भयभीत और शरणहीन मैं अपना करुण आक्रन्दन किसे सुनाऊँ ? क्या आपसे भी बढ़कर और भी कोई दयासागर है ?

अन्वय—[हे विभो !] मुहुः किम् अपरम् ब्रुवे, रोषणम् भुजगपाशपाणिम् रवि-जकिङ्करम् पुरः स्फुरन्तम् इव पश्यतः मे धृतिः चलति, गतिः स्खलति, मूर्तिः उद्वेल्लति, स्थितिः ज्वलति, निर्वृतिः विगलति, [च] स्मृतिः मीलति ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपसे बार-बार और अधिक क्या कहूँ ? अत्यन्त कुपित और नागपाशको हाथमें लिये यम-दूतोंको सामने प्रकट होते-से देखते हुए मेरा धैर्य छूट जाता है, गति (शक्ति) लड़खड़ा जाती है, शरीर काँप उठता है, शय्या जलने लगती है, सुख मिट जाता है और स्मृति नष्ट हो जाती है।

दुर्गं यत्सुगमत्वमेति भजते दूरं यदभ्यर्णतां
यत्क्रीडोपवनत्वमेति मरुभूर्मित्रायते यद्रिपुः ।
यस्याः सा भुवि शक्तिरप्रतिहता सार्तिस्त्वदाक्रन्दने
स्वामिन्मामनुदत्कृपापि नुदतु त्वां मत्समाश्वासने ॥ १३१ ॥

अन्वय—यत् दुर्गम् [अपि] सुगमत्वम् एति, यत् दूरम् [अपि] अभ्यर्णताम् भजते, यत् मरुभूः [अपि] क्रीडोपवनत्वम् एति, यत् रिपुः [अपि] मित्रायते, भुवि यस्याः सा अप्रतिहता शक्तिः [अस्ति], सा आर्तिः त्वदाक्रन्दने माम् अनुदत् । स्वामिन् ! मत्समाश्वासने कृपा अपि त्वाम् नुदतु ।

अर्थ—हे भगवन् ! जिससे (जिसकी सामर्थ्यसे) दुर्गम भी सुगम हो जाता है, जिसकी सामर्थ्यसे अत्यन्त दूर भी सन्निकट हो जाता है, जिसकी सामर्थ्यसे बीहड़ मरुस्थल भी विहार करने योग्य उपवन (बाग) बन जाता है और जिसकी सामर्थ्यसे शत्रु भी मित्र बन जाता है, इस प्रकार संसारमें जिसकी शक्ति ऐसी अप्रतिहत (दुर्निवार्य) है, उस विपत्तिने मुझे आपसे अपना करुण आक्रन्दन करनेके लिए प्रेरित किया । दयालो ! अब मुझे आश्वासन देनेके लिए आपकी करुणा भी आपको प्रेरित करे ।

द्वारि श्रीश्च सरस्वती च वसतः स्वामिंस्तवास्तक्रुधौ
मां तु श्रीर्भवदङ्घ्रिविष्टरतले नित्यप्ररूढस्थितिम् ।
यावन्मात्रसरस्वतीपरिचयद्वेषादहासीदतो
वह्निं दुर्वहमुद्वहामि हृदये ग्लायन्नुदन्वानिव ॥ १३२ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! अस्तक्रुधौ श्रीः च सरस्वती च [तव] द्वारि वसतः । [किन्तु] भवदङ्घ्रिविष्टरतले नित्यप्ररूढस्थितिम् माम् तु यावन्मात्रसरस्वतीपरिचयद्वेषात् श्रीः अहासीत्, अतः उदन्वान् इव ग्लायन् हृदये दुर्वहम् वह्निम् उद्वहामि ।

अर्थ—हे प्रभो ! लक्ष्मी और सरस्वती दोनों परस्पर वैरभावको छोड़कर आपके द्वार पर निवास करती हैं । परन्तु सदैव आपके चरण-सिंहासनके तले बैठनेवाले मुझे, सरस्वतीसे थोड़ा सा परिचय होनेके कारण, लक्ष्मीने द्वेषवश त्याग दिया । इसलिए मैं ग्लानिको प्राप्त होता हुआ समुद्रके समान हृदयमें अतिदुःसह शोकाग्निको धारण करता हूँ ।

नाथ प्राथमिकं विवेकरहितं तिर्यग्वदस्तं वय-
स्तारुण्यं विहतं विराधितवधूविस्रम्भणारम्भणैः ।
स्वामिन्संप्रति जर्जरस्य जरसा यावन्न धावन्नयं
मृत्युः कर्णमुपैति तावदवशं पादाश्रितं पाहि माम् ॥ १३३ ॥

अन्वय—नाथ ! [मया] प्राथमिकम् वयः तिर्यग्वत् विवेकरहितम् अस्तम् । विराधितवधूविस्रम्भणारम्भणैः तारुण्यम् विहतम् । स्वामिन् ! सम्प्रति जरसा जर्जरस्य [मम] धावन् अयम् मृत्युः यावत् कर्णम् न उपैति, तावदेव अवशम् पादाश्रितम् माम् पाहि ।

अर्थ—हे नाथ ! मैंने बाल्यावस्था तो पशुके समान कार्याकार्यके विवेकके बिना ही बरबाद कर डाली और युवावस्था प्रणय-कुपिता वधूके समाश्वासन (मनाने) में नष्ट कर दी । प्रभो ! अब इस समय वृद्धावस्थासे अत्यन्त जर्जर (जीर्ण) हुए मेरे कानोंके समीप जब तक अति वेगसे दौड़ती वह मृत्यु न आ जाय, उसके पहले ही आप अपने चरणाश्रित मुझ अनाथकी रक्षा कीजिये, मुझे बचा लीजिये* ।

आसीद्यावदखर्वगर्वकरणग्रामाभिरामाकृति-
स्तावन्मोहतमोहतेन न मया श्वभ्रं पुरः प्रेक्षितम् ।
अद्याकस्मिकपातकातरमतिः कं प्रार्थये कं श्रये
किं शक्नोमि करोमि किं कुरु कृपामात्मद्रुहं पाहि माम् ॥ १३४ ॥

अन्वय—[प्रभो !] यावत् [मम] आकृतिः अखर्वगर्वकरणग्रामाभिरामा आसीत्, तावत् मोहतमोहतेन मया पुरः [स्थितम्] श्वभ्रम् न प्रेक्षितम् अद्य आकस्मिकपातकातरमतिः कम् प्रार्थये, कम् श्रये किम् शक्नोमि, किम् करोमि ? [हे विभो !] कृपाम् कुरु, आत्मद्रुहम् माम् पाहि ।

अर्थ—प्रभो ! जब तक मेरी आकृति अत्यन्त गर्वित इन्द्रियोंसे सुमनोहर थी (जब तक मेरी इन्द्रियों और शरीरमें बल था) तब तक तो मोहरूपी अन्धकारसे

---

* इसी अभिप्रायकी श्रीरत्नकण्ठकी भी एक उक्ति है :—

'बाल्ये मोहमहान्धकारपटलग्लानेन्द्रियस्य प्रिया-
वक्त्राम्भोरुहसौरभोद्भवमदोन्मत्तात्मनो यौवने ।
वृद्धत्वे किल घोरयातिजरसा ग्रस्तस्य नष्टस्मृते-
स्त्वं चेन्नाद्य कृपां करोषि मम कस्त्रातास्ति शंभोऽपरः ॥'

अर्थात् शंभो ! बाल्यावस्थामें मेरी इन्द्रियाँ मोहरूपी गाढ़ अन्धकारके परदेसे ढँकी रहीं और युवावस्थामें मैं प्रियाके मुखकमलकी सुगन्धिसे उत्पन्न मदसे उन्मत्त रहा । नाथ ! अब इस समय वृद्धावस्थामें अत्यन्त घोर जराने मुझे ग्रस्त कर लिया है, अतएव मेरी सारी स्मृति भी नष्ट हो गयी है ऐसी अवस्थामें पतितपावन ! यदि अब आप मुझपर कृपा न करें, तो फिर आप ही बतलाइये, मेरी रक्षा दूसरा कौन करेगा ?

आक्रान्त मैंने अपने सामनेका गड्ढा (अन्धकूप) नहीं देखा। अब आज (वृद्धावस्थामें, समस्त इन्द्रियों और शरीरकी सामर्थ्य हीन हो जानेपर) आकस्मिक पतन होनेसे मेरी मति एकदम कातर हो गयी है [सो अब ऐसी हालतमें] किससे प्रार्थना करूँ, किसकी शरण गहूँ , कैसे समर्थ होऊँ ? और क्या करूँ ? हे पतित-पावन ! अब आप ही मुझ अनाथपर कृपा कीजिये । मुझ आत्मद्रोहीकी रक्षा कीजिये ।

जात्यन्धः पथि सङ्कटे प्रविचरन्हस्तावलम्बं विना
यातश्चेदवटे निपत्य विपदं तत्रापराधोऽस्य कः ।
धिग्धिङ्मां सति शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति
स्निग्धे स्वामिनि मार्गदर्शिनि शठः श्वभ्रे पतत्येव यः ॥ १३५ ॥

अन्वय—[हे विभो !] जात्यन्धः सङ्कटे पथि हस्तावलम्बम् विना प्रविचरन् अवटे निपत्य विपदम् यातः चेत्, तत्र अस्य कः अपराधः ? [तम्] माम् धिक् धिक् यः शठः शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति मार्गदर्शिनि स्निग्धे स्वामिनि च सति श्वभ्रे एव पतति ।

अर्थ—हे नाथ ! यदि कोई जन्मान्ध (नेत्रहीन) पुरुष सङ्कटमय मार्गमें बिना किसीके हाथके सहारे चलता हुआ गड्ढेमें गिरकर मर जाय, तो इसमें उस बेचारे जन्मान्धका क्या अपराध है ? अर्थात् वह निन्दा-पात्र नहीं हो सकता। किन्तु मुझे तो बार-बार धिक्कार है, जो मैं मूर्ख शास्त्ररूपी [तीसरा] नेत्र होते हुए, प्रज्ञा (सद्-बुद्धि) रूपी दीपक होते हुए और सन्मार्गके दर्शक आप जैसे अतिदयालु स्वामीके होते हुए भी [बार-बार] भवसागररूप अन्धकूपमें ही गिरता जाता हूँ ।

त्राता यत्र न कश्चिदस्ति विषमे तत्र प्रहर्तुं पथि
द्रोग्धारो यदि जाग्रति प्रतिविधिः कस्तत्र शक्यक्रियः ।
यत्र त्वं करुणार्णवस्त्रिभुवनत्राणप्रवीणः प्रभु-
स्तत्रापि प्रहरन्ति चेत्परिभवः कस्यैष गर्हावहः ॥ १३६ ॥

अन्वय—यत्र विषमे पथि कश्चित् अपि त्राता नास्ति तत्र द्रोग्धारः यदि प्रहर्तुम् जाग्रति, तर्हि तत्र कः प्रतिविधिः शक्यक्रियः ? यत्र [तु] त्वम् करुणार्णवः त्रिभुवनत्राणप्रवीणः प्रभुः [त्राता असि] तत्रापि [द्रोग्धारः] प्रहरन्ति चेत्, [तर्हि] एषः परिभवः कस्य गर्हावहः ?

अर्थ—प्रभो ! जिस सङ्कटमय मार्गमें अपना कोई रक्षक न हो, वहाँ यदि शत्रु लोग मारनेको तत्पर हों, तो क्या प्रतीकार हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। किन्तु जहाँ त्रैलोक्यकी रक्षा करनेमें समर्थ आप करुणा-सिन्धु प्रभु रक्षक विद्यमान हैं, वहाँ भी यदि ये काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुगण आपके शरणागतको मारते हैं, तो शरणागतका यह अपमान किसके लिए निन्दावह होगा ? [इसपर आप ही जरा विचार कीजिये] ।

किं शक्तेन न यस्य पूर्णकरुणापीयूषसिक्तं मनः
किं वा तेन कृपावता परहितं कर्तुं समर्थो न यः ।

शक्तिश्चास्ति कृपा च ते यमभयाद्भीतोऽपि दीनो जनः
प्राप्तो निःशरणः पुरः परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति ॥ १३७ ॥

अन्वय—यस्य पूर्णकरुणापीयूषसिक्तम् मनः न अस्ति, तेन शक्तेन [अपि] किम् ? वा यः परहितम् कर्तुम् न समर्थः, तेन कृपावता [अपि] किम् ? [हे विभो !] शक्तिः कृपा च ते अस्ति । यमभयात् भीतः निःशरणः दीनः जनः अपि [तव] पुरः प्राप्तः, अतः परम् स्वामी स्वयम् [एव] ज्ञास्यति ।

अर्थ—हे प्रभो ! जिस पुरुषका अन्तःकरण पूर्ण कृपारूपी सुधासे आर्द्र न हो, वह यदि शक्ति-सम्पन्न भी हो, तो उससे क्या लाभ ? अर्थात् कुछ भी नहीं । जो पुरुष दूसरेका उपकार करनेमें समर्थ नहीं वह यदि अत्यन्त दयालु भी हो, तो उससे भी क्या लाभ ? अर्थात् कुछ भी नहीं । किन्तु हे नाथ ! आपके पास तो पूर्ण शक्ति, और अपार कृपा दोनों ही विद्यमान हैं । यमराजके भयसे त्रस्त यह शरणहीन-दीन (मैं) आपके सामने उपस्थित है । अब इससे आगे प्रभु स्वयं ही जान लेंगे (स्वयं ही अशरणकी रक्षा करेंगे) ।

भृङ्गारे करपुष्करप्रणयिनि स्वर्निम्नगानिर्झरे
सम्पूर्णे करुणारसे परिणतस्फारे तुषारत्विषि ।
अस्ति स्वादु च शीतलं च सुलभं पीयूषमोषच्छिदे
प्राप्तश्च प्रणयी पुरः परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति ॥ १३८ ॥

अन्वय—[हे स्वामिन् !] करपुष्करप्रणयिनि भृङ्गारे, स्वर्निम्नगानिर्झरे, सम्पूर्णे करुणारसे, परिणतस्फारे तुषारत्विषि च स्वादु शीतलम् सुलभम् च पीयूषम् ओषच्छिदे अस्ति पुरः [अयम्] प्रणयी च प्राप्तः, अतः परम् स्वामी स्वयम् [एव] ज्ञास्यति ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपने अपने करकमलस्थित सुवर्णकलशमें, जटाजूटमें विराजमान देवगङ्गाके प्रवाहमें, हृदयस्थ सम्पूर्ण करुणारसमें और ललाट पर सुशोभित परिपूर्ण चन्द्रमामें—सबमें सुन्दर, स्वादु, शीतल और अत्यन्त सुलभ अमृत भक्त-जनोंके संसाररूपी दावानलसे उत्पन्न हुए सन्तापको शान्त करनेके लिए भरा है और यह ताप-सन्तप्त याचक भी आपके आगे उपस्थित है । अब आगे आप ही स्वयं समझ जायँगे । अर्थात् मुझपर अवश्य कृपा करेंगे ।

आर्तिः शल्यनिभा दुनोति हृदयं नो यावदाविष्कृता
सूते लाघवमेव केवलमियं व्यक्ता खलस्याग्रतः ।
तस्मात्सर्वविदः कृपामृतनिधेरावेदिता सा विभो-
र्यद्युक्तं कृतमेव तत्परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति ॥१३९॥

अन्वय—शल्यनिभा आर्तिः यावत् [सहृदयस्याग्रे] नो आविष्कृताः तावत् इयम् हृदयम् दुनोति, खलस्य अग्रतः व्यक्ता [सती इयम्] केवलम् [वक्तुः] लाघवम् एव सूते । तस्मात् सा सर्वविदः कृपामृतनिधेः विभोः [पुरः मया] आवेदिता । यत् युक्तम् तत् कृतम् एव, अतः परम् स्वामी स्वयम् ज्ञास्यति ।

अर्थ—जब तक अपनी आर्ति (विपत्ति) किसी सहृदय दयालुके आगे न प्रकट की जाय, तब तक वह शल्य (बाण) के समान हृदयको दुःख देती है। यदि वही किसी खल (निर्दय) के सामने प्रकट की जाय, तो केवल कहनेवालेकी लघुताको ही व्यक्त करती है। इसलिए नाथ! मैंने आप सर्वज्ञ (अन्तर्यामी), करुणा-रूपी अमृतके सागर सर्व-समर्थ प्रभुके समक्ष ही उसका निवेदन किया है। जो उचित था सो मैंने कर ही दिया, अब आगे आप स्वयं जान लेंगे अर्थात् उसे अवश्य दूर करेंगे।

लेखाः सन्तु प्रसन्ना बुधसदसि शुचेरागमस्यास्तु लब्धि-
मिथ्यादृष्टिश्च माभूदनुपधिरहतो दीर्घकालोऽस्तु भोगः।
सभ्याः सर्वेऽनुवृत्तिं विदधतु तदपि न्यायतो नास्ति मुक्तिः
सम्यग्दर्शी प्रमाता रचयति न भवानीश्वरश्चेद्विचारम् ॥१४०॥

अन्वय—बुधसदसि लेखाः प्रसन्नाः सन्तु, तथा [बुधसदसि] शुचेः आगमस्य लब्धिः अस्तु। मिथ्यादृष्टिः च मा भूत्, अनुपधिः अहतः दीर्घकालः भोगः अस्तु, सर्वे सभ्याः अनुवृत्तिम् विदधतु। तदपि न्यायतः मुक्तिः नास्ति, [यावत्] सम्यग्दर्शी प्रमाता भवानीश्वरः चेत् विचारम् न रचयति।

अर्थ—देव-सभामें ब्रह्मा, विष्णु आदि देवगण प्रसन्न हों; पण्डितोंकी सभामें निर्दोष शास्त्रके अध्ययनका लाभ हो। अज्ञान और नास्तिकता न हो; कपट-रहित, अत्यन्त चिरस्थायी ऐहिक या आमुष्मिक अखण्ड भोग भी प्राप्त हों और सभी सभ्य जन (विद्वज्जन) शास्त्रोक्त मार्गका अनुसरण भी करें अर्थात् सब कुछ अनुकूल हो। फिर भी जब तक सम्यग्दर्शी (विश्वसाक्षी) स्वयं प्रमाता भवानीश्वर भगवान् शङ्कर विचार न करें, तब तक वस्तुतः मुक्ति (आत्यन्तिकी दुःखकी निवृत्ति) नहीं हो सकती*।

जानुभ्यामुपसृत्य रुग्णचरणः को मेरुमारोहति
श्यामाकामुकबिम्बमम्बरतलादुत्प्लुत्य गृह्णाति कः।
को वा बालिशभाषितैः प्रभवति प्राप्तुं प्रसादं प्रभो-
रित्यन्तर्विमृशन्नपीश्वर बलादार्त्यास्मि वाचालितः ॥ १४१ ॥

अन्वय—ईश्वर! रुग्णचरणः जानुभ्याम् उपसृत्य मेरुम् कः आरोहति? उत्प्लुत्य अम्बरतलात् श्यामाकामुकबिम्बम् कः गृह्णाति? कः वा बालिशभाषितैः प्रभोः प्रसादम् प्राप्तुम् प्रभवति? इति अन्तः विमृशन् अपि आर्त्या [त्वत्स्तवने] बलात् वाचालितः अस्मि।

---

* कविने यहाँ शब्दश्लेषसे क्या ही अच्छा चमत्कार कर दिखाया है! वह कहता है—लेख (लेख्य पत्र) अतीव सुनिर्मल हों, बुध-समाजमें शुचि आगम (जिसकी प्राप्तिमें दोष न हो) की प्राप्ति हो, मिथ्यादृष्टि (अनुचितसाक्षिता या झूठी गवाही) भी न हो, अनुपधि (अवधि-रहित) दीर्घकालिक और अहत (किसीसे भी अनुपभुक्त) भोग (कब्जा) हो और सभी सभ्य जन उसे अङ्गीकार भी करते हों। यह सब कुछ हो, किन्तु जब तक सम्यग्दर्शी प्रमाता, भवानीश्वर (न्यायाधीश) स्वयं विचार न करें, तब तक न्याय-निर्वाह (नीतिसे निर्वाह) नहीं हो सकता।

अर्थ—हे ईश्वर! रोगग्रस्त चरणोंवाला कौन पुरुष केवल घुटनोंके बल चलकर सुमेरु पर्वतपर चढ़ सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं। उछलकर चन्द्र-मंडलको कौन पकड़ सकता है? और मूर्खतापूर्ण वचनोंसे प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है? कोई भी नहीं। सो भगवन्! इन सब बातोंका अपने मनमें अच्छी तरह विचार करता हुआ भी मैं आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ। क्या करूँ? इस विपत्तिने ही मुझे बलात् वाचाल (आपकी स्तुतिके लिए उन्मुख) कर दिया है।

धत्ते पौण्ड्रकशर्करापि कटुतां कण्ठे चिरं चर्विता
वैरस्यं वरनायिकापि कुरुते सक्त्या भृशं सेविता।
उद्वेगं गगनापगापि जनयत्यन्तर्मुहुर्मज्जनाद्
विश्रद्धां मधुरापि पुष्यति कथा दीर्घेति विश्रम्यते॥ १४२॥

अन्वय—[यथा] पौण्ड्रकशर्करा अपि चिरम् चर्विता कण्ठे कटुताम् धत्ते, वरनायिका अपि सक्त्या भृशम् सेविता वैरस्यम् कुरुते, अन्तः मुहुः मज्जनात् गगनापगा अपि उद्वेगम् जनयति [तथैव] मधुरा अपि कथा दीर्घा [सती] विश्रद्धाम् पुष्यति, इति [मया] विश्रम्यते।

अर्थ—पुण्ड्र देशमें उत्पन्न ईख (पौंड़ा) की शर्करा भी चिरकाल तक चबानेपर कण्ठमें कटुता पैदा करती है अर्थात् कड़वी लगने लगती है, सुन्दर युवती भी आसक्तिसे दीर्घकाल तक सेवित करने पर अत्यन्त फीकी मालूम पड़ती है और बार-बार अन्दर डुबकी लगानेपर देवगङ्गा भी मनमें उद्वेग पैदा करने लगती है। इसी तरह अति सुन्दर मधुर कथा भी बहुत लम्बी होनेसे श्रोताओंके मनमें अश्रद्धा पैदा कर देती है, इसलिए नाथ! मैं भी अब इस करुणाजनक-विलापसे विरत होता हूँ।

इत्थं तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशतव्यायत-
व्यामोहव्यसनावसन्नमनसा दीनं यदाक्रन्दितम्।
तत्कारुण्यनिधे निधेहि हृदये त्वं ह्यन्तरात्माखिलं
वेत्स्यन्तःस्थमतोऽर्हसि प्रणयिनः क्षन्तुं ममातिक्रमम्॥ १४३॥

इति काश्मीरक-महाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य
स्तुति-कुसुमाञ्जलौ दीनाक्रन्दनं नामैकादशं स्तोत्रम्।

अन्वय—इत्थम् तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशतव्यायतव्यामोहव्यसनावसन्नमनसा [मया] यत् दीनम् आक्रन्दितम्, हे कारुण्यनिधे! तत् हृदये निधेहि। हि त्वम् अन्तरात्मा अखिलम् अन्तःस्थम् वेत्सि, अतः प्रणयिनः मम अतिक्रमम् क्षन्तुम् अर्हसि।

अर्थ—हे प्रभो! इस प्रकार अनन्त चिन्ता जालोंसे अहर्निश वृद्धिगत (अतीव विस्तृत) व्यामोहसे खिन्न मनसे मैंने आपके सामने जो यह दीन आक्रन्दन किया है, हे करुणा-सागर! इसे आप अपने हृदयमें रख लीजिये। यतः आप अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) हो, हृदयके सभी भावोंको जानते हो, इसलिए नाथ! मुझ दीन शरणागतके इस अति प्रागल्भ्ययुक्त वदन-वचन-विन्यास (उक्ति) अपराधको क्षमा कर सकते हैं।

द्वादश स्तोत्र

अब कवि "तमःशमन" (अज्ञानरूप अन्धकार-नाशक) नामके बारहवें स्तोत्रका आरम्भ करते हुए कहते हैं:—

मखैरुपास्योऽपि नयज्ञसेव्यो निरामयोऽपि प्रथितोग्रशूलः ।
वेदप्रियोऽप्यश्रुतिवल्लभो यः श्रयामि तं देवमचिन्त्यशक्तिम् ॥ १ ॥

अन्वय—यः मखैः उपास्यः अपि नयज्ञसेव्यः, निरामयः अपि प्रथितोग्रशूलः, वेदप्रियः अपि अश्रुतिवल्लभः (अस्ति), तम् अचिन्त्यशक्तिम् देवम् श्रयामि ।

अर्थ—जो स्वयंप्रकाश परमेश्वर यज्ञों द्वारा उपास्य होकर भी नयज्ञ-सेव्य (नीतिज्ञ जनों द्वारा सेवनीय) है; शीत, आतप आदि छः ऊर्मियों (रोगों) से रहित * होकर भी प्रसिद्ध उग्रशूल (त्रिशूल) धारी है और श्रुतियोंसे (वेदोंसे) परम प्रेम करनेवाला होकर भी अश्रुतिवल्लभ (अश्रुति = कर्णहीन सर्पोंसे प्रेम रखनेवाला) है, उस ब्रह्मादि देवोंसे भी अचिन्त्य-शक्ति भगवान् सदाशिवकी मैं शरण लेता हूँ ¶ ।

स्तुत्यस्त्वमेव स्तुतिकृत्त्वमेव स्तुतिस्त्वमेव त्वदृतेऽस्ति नान्यत् ।
इयं त्वविद्या यदहं स्तुवे त्वां स्तुत्येति मिथ्या पृथगर्थबुद्धिः ॥ २ ॥

अन्वय—[हे विभो !] स्तुत्यः त्वमेव, स्तुतिकृत् त्वमेव, स्तुतिः च त्वमेव [असि], त्वदृते अन्यत् न [किञ्चित्] अस्ति, यद् अहम् स्तुत्या त्वाम् स्तुवे, इति मिथ्या पृथगर्थबुद्धिः इयं तु अविद्या (एव) ।

अर्थ—हे विभो ! एकमात्र स्तुति करनेके योग्य आप ही हैं, स्तुति करनेवाले भी आप ही हैं और स्तुति भी आप ही हैं । अर्थात् जो कुछ भी पदार्थ दिखलाई देता है, सब आप ही हैं । आपके सिवाय और कुछ भी नहीं है । भगवन् ! मैं इस स्तोत्रसे आपकी स्तुति कर रहा हूँ, यह जो स्तुत्य-स्तुति-स्तोतारूप मिथ्या भेददृष्टि है यह तो अविद्या (केवल अज्ञान) ही है ।

---

* 'शीतातपौ शरीरस्य लोभमोहौ च चेतसः ।
प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे षडूर्मिरहितः शिवः' ॥

अर्थात् भगवान् शंकर छः ऊर्मियोंसे रहित कहे गये हैं । वे छः ऊर्मियाँ ये हैं— १. शीत और २. आतप ये दो शरीर की, ३. लोभ और ४. मोह ये दो मन की तथा ५. क्षुधा और ६. पिपासा प्राण की ।

¶ यहाँ कविने शब्दश्लेषमें विरोधाभासका पुट देकर इसे खूब चमत्कृत कर दिया है । वह कहता है कि जो मखों (यज्ञों) से उपास्य होकर भी 'न यज्ञसेव्य' यज्ञोंसे असेव्य है; निरामय (व्याधि-रहित) होकर भी प्रसिद्ध उग्र शूलरोग वाला है और वेदप्रिय होकर भी अश्रुतिवल्लभ—वेदप्रिय नहीं है । आपाततः भासमान यह विरोध उपर्युक्त अर्थ करनेसे मिट जाता है ।

स्तौम्येव तत्रापि पुनः पुनस्त्वां नश्यत्यविद्या यदविद्ययैव ।
रजः प्ररूढं मुकुरे प्रमार्ष्टुं रजो विना न ह्यपरोऽस्त्युपायः ॥ ३ ॥

अन्वय—तत्रापि अहम् त्वाम् पुनः पुनः स्तौमि एव, यत् अविद्या अविद्यया एव नश्यति । हि मुकुरे प्ररूढम् रजः प्रमार्ष्टुम् रजः विना अपरः उपायः न अस्ति ।

अर्थ—[भगवन् ! यद्यपि कर्ता, करण और कार्य सब आप ही हैं, अतः आप अद्वितीय पूर्ण परब्रह्ममें स्तुत्य, स्तोता और स्तुतिकी पृथक्-पृथक् कल्पनाएँ करना केवल अविद्या है] फिर भी मैं तो बार-बार आपकी स्तुति करता हूँ, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति अविद्यासे ही होती है । निश्चय ही दर्पण पर लगी धूलिको साफ करनेके लिए धूलिको छोड़ दूसरा उपाय नहीं है ।

विजृम्भमाणे तमसि प्रगल्भे यथा भवासक्तमतिः स्थितोऽहम् ।
हतेऽपि तस्मिन्नुदितावबोधस्तथा भवासक्तमतिर्भवेयम् ॥ ४ ॥

अन्वय—प्रगल्भे तमसि विजृम्भमाणे यथा अहम् भवासक्तमतिः स्थितः, तथा तस्मिन् हते अपि उदितावबोधः सन् भवासक्तमतिः भवेयम् ।

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे अति गाढ़ अज्ञानरूप अन्धकारके उदित (प्रकट) होनेपर मेरी मति इस भव (संसार) में आसक्त हुई है, वैसे ही इस अज्ञानके नष्ट हो जाने पर भी तत्त्वज्ञानसे सुसम्पन्न होती हुई मेरी मति भव (सदाशिवके चरणकमलों) में आसक्त हो जाय ।

जगद्विधेयं ससुरासुरं ते भवान् विधेयो भगवन् कृपायाः ।
सा दीनताया नमतां विधेया ममास्त्ययत्नोपनतैव सेति ॥ ५ ॥

अन्वय—भगवन् ! ससुरासुरम् जगत् ते विधेयम् , भवान् कृपायाः विधेयः, सा नमताम् दीनतायाः विधेया, सा च मम अयत्नोपनता एव अस्ति । इति —

अर्थ—हे भगवन् ! देवता और दानवों सहित यह समस्त जगत् आपका वशवर्ती (अधीन) है, आप कृपाके वशमें हैं, वह कृपा भक्तजनोंकी दीनताके वशमें है और वह दीनता मुझे बिना प्रयत्न ही प्राप्त है । अतः—

जाने न शैथिल्यमुपैष्यवश्यं ममार्तिभङ्गे भगवंस्तथापि ।
विज्ञप्यसे कर्म ममैव मा भून्मयि प्रसादप्रतिघस्तवेति ॥ ६ ॥

अन्वय—भगवन् ! अवश्यम् मम आर्तिभङ्गे शैथिल्यम् न उपैषि [इति अहम्] जाने, तथापि ममैव कर्म मयि तव प्रसादप्रतिघः मा भूत् , इति [त्वम्] विज्ञप्यसे ।

अर्थ—प्रभो ! मुझ दीनका दुःख नाश करनेमें आप कदापि शिथिलता नहीं करेंगे, यह मैं भलीभाँति जानता हूँ , पर मेरा ही अशुभ (पाप) कर्म मुझपर आपका अनुग्रह होनेमें रुकावट डालनेवाली अर्गला न बन जाय ? (मेरा पाप आपकी कृपाको रोक न दे), इसलिए मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ ।

पथ्यं च तथ्यं च भरक्षमं च स्निग्धं च मुग्धं च मनोहरं च ।
सलीलमुन्मील्य वचः प्रसन्नं प्रपन्नमाश्वासय चन्द्रमौले ॥ ७ ॥

अन्वय—चन्द्रमौले ! पथ्यम् च तथ्यम् च भरक्षमम् च स्निग्धम् च मुग्धम् च मनोहरम् च सलीलम् प्रसन्नम् वचः उन्मील्य, माम् प्रपन्नम् आश्वासय ।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! पथ्य (संसाररूपी व्याधिको नष्ट करनेवाला), तथ्य (अडिग अर्थात् सत्य मधुर) समस्त जगत्‌का उद्धार करनेमें सक्षम, अतिकोमल (भक्तोंपर पक्षपात करनेवाला), जगत्‌का चित्त हरनेवाला और लीलायुक्त, अति-प्रसन्न (अभय) वचन बोलकर मुझ शरणागतको आश्वासन दीजिये ।

मधुद्रवार्द्रं विषमाहरामः पिण्डीनिगूढं बडिशं गिलामः ।
अन्तर्निविष्टोत्कटकण्टकौघं ग्रसामहे पौण्ड्रकपिण्डखण्डम्[1] ॥ ८ ॥
यदामुखे कामधुरानजस्रं विपाकरूक्षान् विषयान् भजामः ।
विभो विदन्तोऽपि किमत्र कुर्मो जहाति सक्तिं न मतिर्वराकी ॥ ९ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—[प्रभो ! वयम्] यद् आमुखे कामधुरान् विपाकरूक्षान् विषयान् अजस्रम् भजामः, [तदेतत्] मधुद्रवार्द्रम् विषम् आहरामः, पिण्डीनिगूढम् बडिशम् गिलामः, अन्तर्निविष्टोत्कटकण्टकौघम् पौण्ड्रकपिण्डखण्डम् ग्रसामहे । विभो ! [एवम्] विदन्तः अपि अत्र वयम् किम् कुर्मः ? वराकी मतिः सक्तिम् न जहाति ।

अर्थ—प्रभो ! हम लोग आरम्भमें मधुर और परिणाममें विषके समान अत्यन्त रूखे इन शब्दादि विषयोंका जो निरन्तर सेवन करते हैं, सो शहदसे आर्द्र विषका भक्षण करते हैं, [मछली की तरह] आटेकी गोलीमें छिपायी बन्सी*-को निगलते हैं तथा अन्दर अत्यन्त कठोर काँटोंसे भरा ईखका टुकड़ा निगलते हैं, अर्थात् हम लोगोंका आरम्भमें थोड़े मधुर और परिणाममें दुःखप्रद शब्दादि विषयोंका सेवन अज्ञानसे मधुमिश्रित विष-भक्षणके तुल्य, मछलीका आटेकी गोलीमें छिपाई बंसीको निगलनेके समान तथा अत्यन्त उत्कट कंटकराशिसे परि-व्याप्त पौंड़ेके टुकड़ेको मुंहमें डालनेके सदृश अत्यन्त घातक है । हे विभो ! यह सब जानते हुए भी हम इस विषयमें क्या करें ? क्योंकि हमारी यह मन्द मति विषयोंकी आसक्तिको छोड़ती ही नहीं ।

मुक्तामया दीर्घगुणाः सुवृत्ता नैर्मल्यभाजो दधतः फलर्द्धिम् ।
कथं न हारा इव भक्तिमन्तः पदं हृदीशस्य भजन्ति सन्तः ॥ १० ॥

अन्वय—भक्तिमन्तः सन्तः, मुक्तामयाः दीर्घगुणाः सुवृत्ताः नैर्मल्यभाजः फलर्द्धिम् दधतः भक्तिमन्तः हाराः इव, ईशस्य हृदि पदं कथम् न भजन्ति ।

१. 'पुण्ड्रकपिण्डखण्डम्' इत्यपि पाठः ।
* मछलियोंको फंसानेका साधन 'बडिश' ।

अर्थ—जैसे दीर्घ गुणों-(बड़े-बड़े सूत्र) वाले, सुवृत्त (वर्तुलाकार अर्थात् गोल), अतीव सुनिर्मल और भक्तिमान् (रङ्ग-विरङ्गे तथा अनूठे ढंगसे गुँथे हुए) प्रचुर मोतीवाले हार प्रभुओंके हृदयमें स्थान प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही मुक्तामय (जन्म, जरा, मरणरूप रोगसे रहित), दीर्घगुण (दया, दाक्षिण्य, विद्वत्ता आदि उत्तम गुणोंसे युक्त) सुवृत्त (सदाचारी), अत्यन्त निर्मल (निर्दोष), पुण्य-रूप फलोंकी समृद्धिसे संपन्न भक्तिमान् सन्त पुरुष ईश्वरके हृदयमें स्थान क्यों नहीं पाते हैं ?

गुहाश्रितो धर्मरतिर्गिरीशप्रथां दधानो भवतः प्रसादात् ।
सत्याहितप्रीतिरहीनभक्तिर्भवानिवाहं भगवन् भवेयम् ॥ ११ ॥

अन्वय—भगवन् ! भवतः प्रसादात् अहम् भवान् इव गुहाश्रितः धर्मरतिः गिरीश-प्रथाम् दधानः सत्याहितप्रीतिः अहीनभक्तिः [कदा] भवेयम् ?

अर्थ—भगवन् ! जैसे आप गुहाश्रित (स्वामी कार्तिकेयसे सेवित), धर्मरति (वृषभपर प्रीति रखनेवाले), गिरीश-प्रथा (गिरीश नाम) धारण करनेवाले, सत्याहितप्रीति (सती पार्वतीपर प्रीति रखनेवाले) और अहीनभक्ति (वासुकि आदि श्रेष्ठ सर्पोंसे सुशोभित) हैं, वैसे ही आपके अनुग्रहसे मैं भी आपके ही समान गुहाश्रित (तपस्याके लिए केवल गुहाका आश्रय लेनेवाला), धर्मरति (अपने धर्ममें तत्पर), गिरीश (कैलासनिवासी) इस ख्यातिको धारण करनेवाला, सत्याहितप्रीति (सत्य वचनमें प्रेम रखनेवाला) और आपमें उत्तम भक्ति रखनेवाला कब होऊँगा ?

यमेकमाराध्य महारिसङ्गमादसंशयं भक्तजनः प्रमुच्यते ।
उपस्थितस्तस्य भवत्प्रसादतः कथं हरेरुग्र महारिसङ्गमः ॥ १२ ॥

अन्वय—उग्र ! यम् एकम् आराध्य भक्तजनः महारिसङ्गमात् असंशयम् प्रमुच्यते, तस्य हरेः भवत्प्रसादतः महारिसङ्गमः कथम् उपस्थितः ?

अर्थ—हे उग्ररूप धारण करनेवाले सदाशिव ! जिस एक श्रीहरिके आराधनसे भक्त लोग महारिसङ्गमसे (महान् शत्रुओंके सङ्गमसे) निःसन्देह मुक्त हो जाते हैं, उसी श्रीहरिको आपकी कृपासे महारिसङ्गम (प्रबल शत्रुओंका सङ्गम = सुदर्शन चक्रका लाभ) कैसे उपस्थित (प्राप्त) हुआ ?

सुदुर्लभोऽयं भवति ग्रहः पुनर्मुखेऽप्यसौ सन्निहिता सरस्वती ।
इदं कुरु क्षेत्रमतीवपावनं किमर्थमर्थिन्युचिते विलम्बसे ॥ १३ ॥

अन्वय—[हे विभो !] भवति अयम् ग्रहः सुदुर्लभः, पुनः [मम] मुखे असौ सरस्वती अपि सन्निहिता । [अतः भगवन् !] इदम् क्षेत्रम् अतीवपावनम् कुरु । उचिते अर्थिनि किमर्थम् विलम्बसे ?

अर्थ—हे प्रभो ! आपके प्रति मेरा यह अतीव सुदुर्लभ (अनुराग) है और मेरे मुखमें यह सरस्वती (वाणी) भी सन्निहित है । [अतः हे भगवन् ! अपने दर्शन देकर] अब इस क्षेत्रको (मुझे) अतीव पवित्र कर दीजिये । प्रभो ! सब प्रकार से

योग्य मुझ कृपा-पात्रपर [कृपा करनेमें] विलम्ब क्यों कर रहे हो ?*

न कस्य सौभाग्यवती¶ चमत्कृतिं
दिशत्यसौ भाग्यवती सरस्वती ।
विभुं जितक्लेशमपि स्थिराजिनं
करोति यत्सम्मुखमस्थिराजिनम् ॥ १४ ॥

अन्वय—सौभाग्यवती, भाग्यवती असौ सरस्वती कस्य न चमत्कृतिम् दिशति ? यत् (इयम्) जितक्लेशम् स्थिराजिनम् अस्थिराजिनम् विभुम् अपि सम्मुखम् करोति ।

अर्थ—सौभाग्य-युक्त और भाग्यवती यह मेरी सरस्वती (स्तुति रूपा वाणी) किसके मनमें चमत्कार नहीं पैदा करती ? क्योंकि यह अविद्या आदि पाँच क्लेशोंको जीतनेवाले, सदा गजचर्मधारी एवं अस्थियोंकी मालाओंसे शोभित प्रभु सदाशिवको भी अपने सम्मुख कर लेती है ।

अनुज्झितानुत्तमदानसंपदः सदाखिलज्ञानविहीनचेतसः ।
अकालभीतिग्लपितान्करोति यः प्रभुः प्रसन्नः कुपितश्च देहिनः ॥ १५ ॥
पुरा चिरं[1] यो विदधे वनान्तरे विधुः पदं रूढकुरङ्गसौहृदः ।
सदा परस्वापहरोऽपि यो रविस्तयोः समत्वं दृशि यस्य भासते ॥ १६ ॥
कथं विभो तस्य तव प्रवर्ततां सतामसेव्ये पथि पातितात्मसु ।
दयाविधेयस्य सदास्मदादिषु प्रसादपात्रेषु मनागनादरः ॥ १७ ॥
(तिलकम्)

अन्वय—यः प्रभुः प्रसन्नः सन् देहिनः अनुज्झितानुत्तमदानसम्पदः, सदा अखिलज्ञान् अविहीनचेतसः, अकालभीतिग्लपितान् करोति, कुपितः च सन् देहिनः अनुज्झितानुत्तमदान् , असंपदः, सदा अखिलज्ञान-विहीनचेतसः, अकालभीतिग्लपितान् करोति । रूढकुरङ्गसौहृदः यः

---

* कविने यहाँ भी शब्द-श्लेषसे अपूर्व चमत्कार भर दिया है । वह कहता है कि प्रभो ! यह अतिदुर्लभ ग्रह (सूर्यग्रहण) है, पासमें ही सरस्वती नदी है यह, अत्यन्त पवित्र कुरुक्षेत्र तीर्थ भी है और यह अतीव सुयोग्य दान-पात्र (प्रतिग्रहीता) भी आपके पास ही खड़ा है [दानकी यह सारी सामग्री तैयार है] । अब विलम्ब क्यों कर रहे हैं ?

¶ श्लोकमें 'सौभाग्यवती असौभाग्यवती' और 'स्थिराजिनम् अस्थिराजिनम्' परस्पर विरुद्धार्थक पदोंसे विरोध प्रतीत होता है । पूर्वोक्त अर्थसे उसका परिहार हो जाता है, अतः यह विरोधाभास अलङ्कार है ।

१. 'पुरा चिरम्' इसका सभङ्ग श्लेषवश दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है । वह इस प्रकार है—पहले (त्रेतायुगमें) कुरङ्गों (मृगों) के घनिष्ठ मित्र बनकर चिरकाल (चौदह वर्ष) तक वनमें स्थित भगवान् रामचन्द्र जैसे महापुरुष और सदा परस्व (दूसरोंके धन) का अपहरण करनेवाले निम्न पुरुष दोनोंपर, आपकी समान दृष्टि है यानी दोनोंको आप समान दृष्टिसे देखते हैं ।

विधुः पुरा चिरम् वनान्तरे पदम् विदधे, यः अपि रविः सदा परस्वापहरः, तयोः समत्वम् यस्य दृशि भासते । विभो ! सदा दयाविधेयस्य तस्य तव सताम् असेव्ये पथि पातितात्मसु अस्मदादिषु प्रसादपात्रेषु मनाक् अनादरः कथम् प्रवर्तताम् ?

अर्थ—प्रभो शिव ! आप प्रसन्न होते हैं, तो लोगोंको सदा अत्युत्तम दान-सम्पत्तियोंसे युक्त, तत्त्ववेत्ता, एकाग्रचित्त और कालकी भयबाधासे रहित कर देते हैं; और कुपित होते हैं तो उन्हें स्वाभाविक मदसे युक्त, संपत्तिविहीन, समस्त ज्ञानसे विहीन-चित्त और असमयमें ही भयसे खिन्न कर देते हैं; साथ ही आप उन चन्द्र-सूर्यपर समान दृष्टि रखते हैं (आपके नेत्रोंमें समान रूपमें वे रहते हैं), 'जो चन्द्र कुरङ्ग (शश) का साथी बनकर पहले चिरकाल तक वन (जल) में स्थित रहा, तप करता रहा और जो सूर्य सदा दूसरेका स्वाप (निद्रा) हरण किया करता है ।' हे विभो ! इस प्रकार सदैव दयाके वशीभूत और समदृष्टि आप सज्जनोंद्वारा असेवनीय, अत्यन्त कुत्सित पापकर्ममें अज्ञानवश अपनी आत्माको गिरानेवाले दया-पात्र हम लोगोंकी थोड़ी भी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ?

विभो भवद्भालविलोचनानलप्रसूतधूमैरिव साश्रुलोचनः ।
सघर्मलेशस्तव दक्षिणेक्षणप्ररूढचण्डद्युतिभाभरैरिव ॥ १८ ॥
घनप्ररोहत्पुलकाङ्कुरो भवच्छिखण्डखण्डेन्दुकरोत्करैरिव ।
सदन्तवीणस्तुहिनौघशीतलत्वदुत्तमाङ्गद्युनदीजलैरिव ॥ १९ ॥
तरङ्गिताङ्गो भवदङ्गदस्फुरत्फणीन्द्रफूत्कारसमीरणैरिव ।
भवेयमानन्दसुधापरिप्लुतः प्रसन्नमालोक्य भवन्तमग्रतः ॥ २० ॥
(तिलकम्)

अन्वय—विभो ! अग्रतः प्रसन्नम् भवन्तम् आलोक्य, आनन्दसुधापरिप्लुतः सन् (अहम्) भवद्भालविलोचनानलप्रसूतधूमैः इव साश्रुलोचनः, तव दक्षिणेक्षणप्ररूढचण्डद्युतिभाभरैः इव सघर्मलेशः, भवच्छिखण्डखण्डेन्दुकरोत्करैः इव घनप्ररोहत्पुलकाङ्कुरः, तुहिनौघशीतलत्वदुत्त-माङ्गद्युनदीजलैः इव सदन्तवीणः, भवदङ्गदस्फुरत्फणीन्द्रफूत्कारसमीरणैः इव तरङ्गिताङ्गः भवेयम् ।

अर्थ—हे प्रभो, एकमात्र आपका ही ध्यान करनेसे अपने सम्मुख प्रसन्न मुख-मुद्रामें आपके दर्शन प्राप्तकर आपके भालनयनकी अग्निसे उत्पन्न धूमराशिसे मानो अश्रुपूर्ण नेत्र, आपके दक्षिण नेत्रमें विराजमान सूर्यकी दीप्तिसे मानो पसीनेकी नन्हीं-नन्हीं बूँदोंसे युक्त, आपके जटाजूटमें स्थित चन्द्रकलाकी किरण राशियोंसे मानो घने रोमाञ्चोंसे व्याप्त, हिम (बर्फ) राशिकी तरह अत्यन्त शीतल आपके मस्तकमें विराजमान गङ्गाके जलपूरसे मानो शीतवश सीत्कारके साथ दांत खट-खटाता हुआ आपके बाजूबन्दमें चमचमाते हुये वासुकि आदि फणिराजोंकी फुफकार वायुके झोंकोंसे मानो कांप रहा मैं परमानन्द सुधासे सिक्त होऊँ ।

[अब कवि भगवान् सदाशिवकी सेवामें अपना सर्वस्व समर्पण कर देनेवाले चन्दन, पुष्प, गन्ध आदि पदार्थोंके अहोभाग्यका वर्णन करते हैं—]

यदेष सेहे परशुक्षतव्यथां प्रभोः प्रियः स्यामिति चन्दनद्रुमः ।
भुजङ्गमालिङ्गितकन्धरो ध्रुवं बिभर्ति साम्यं गिरिजापतेरतः ॥ २१ ॥

अन्वय—यत् एषः चन्दनद्रुमः (अहम्) प्रभोः प्रियः स्याम् इति परशुक्षतव्यथाम् सेहे, अतः (एव) भुजङ्गमालिङ्गितकन्धरः (सन्) गिरिजापतेः साम्यम् ध्रुवम् बिभर्ति ।

अर्थ—अहा ! इस चन्दन वृक्षने [मैं] प्रभुका प्रियतम बन जाऊँ ! ऐसा समझकर पहले अत्यन्त तीक्ष्ण कुठार-प्रहार (कुल्हाड़ेकी चोट) की व्यथा सही थी, इसीलिए यह अब सर्पोंसे वेष्टित होकर भगवान् गिरिजापति सदाशिवकी समताको धारण करता है ।

यच्चक्रिरे धृतनखान्तनिपातपीडाः
प्रीतिं प्रभोः सुमनसां सुमनस्त्वमेतत् ।
यत्स्वामिनो न दहनेऽपि निपत्य सेवा-
हेवाकमौज्झदगुरोरपि गौरवं तत् ॥ २२ ॥

अन्वय—धृतनखान्तनिपातपीडाः [सुमनसः] यत् प्रभोः प्रीतिम् चक्रिरे, एतत् [एव] सुमनसाम् सुमनस्त्वम् । [अगुरुः च] यत् दहने अपि निपत्य स्वामिनः सेवाहेवाकम् न औज्झत्, तत् अगुरोः अपि गौरवम् ।

अर्थ—अहा ! [प्रभुकी सेवाके निमित्त चुने जाते समय पुष्पोंने] लोगोंकी तीक्ष्ण नखधाराओंकी दुःसह पीड़ा सहते हुए प्रभुके साथ जो परम प्रेम किया, यही उन सुमनसों (पुष्पों) का सुमनस्त्व (सहृदयता या परम उदारता) है । इसी तरह अगरु धूपने अग्निमें गिर कर भी जो प्रभुकी पूजाका व्यसन नहीं छोड़ा, यह उस अगरुका भी महान् गौरव है ।

आदौ प्रदर्श्य परमामृजुतामथान्त-
राविश्य मर्मणि न यन्निशितास्तुदन्ति ।
स्वामिन् शरा इव खलाः कृतिनो वनेषु
स त्वत्पदाम्बुजरजःकणजः प्रसादः ॥ २३ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! आदौ परमाम् ऋजुताम् प्रदर्श्य, अथ मर्मणि अन्तः आविश्य, निशिताः शराः इव, खलाः यत् वनेषु [स्थितान्] कृतिनः न तुदन्ति, सः त्वत्पदाम्बुजरजः-कणजः प्रसादः [अस्ति] ।

अर्थ - नाथ ! पहले अत्यन्त सरलता दिखलाकर, फिर अन्दर मर्म स्थानोंमें प्रवेशकर अत्यन्त तीखे बाणोंके समान खल एकान्त वनमें रहनेवाले तपस्वियोंको जो पीड़ा नहीं पहुँचाते, वह सब आपके चरण-कमलों के रजःकण का ही अनुग्रह है ।

त्वन्नाम पामरजनैरपि गीयमान-
मानन्दमर्पयति यं हृदि भक्तिभाजाम् ।
स्वामिन्नमानवयवेष्वखिलेषु नून-
मुद्भिद्यते बहिरसौ पुलकच्छलेन ॥ २४ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! [हालाकादौ] पामरजनैः अपि गीयमानम् त्वन्नाम भक्तिभाजाम् हृदि यम् आनन्दम् अर्पयति, नूनम् असौ अखिलेषु अवयवेषु अमान् [सन्] पुलकच्छलेन बहिः उद्भिद्यते ।

अर्थ—नाथ ! ('हालाक' आदि लोक-गीतोंमें) निम्न श्रेणीके लोगों द्वारा भी गाया जानेवाला आपका मङ्गलमय नाम भावुकोंके हृदयमें जो अलौकिक आनन्द उत्पन्न करता है, वह सम्पूर्ण अङ्गोंमें न समाता हुआ रोमाञ्चके बहाने बाहर फूट पड़ता है ।

घर्मः प्रकम्पपुलकौ गिरि गद्गदत्व-
मित्यादयोऽन्त्यसमये प्रभवन्त्यवस्थाः ।
त्वद्दर्शनात्कृतधियां दधताममन्द-
मानन्दमन्तकभयाद्भगवन् परेषाम् ॥ २५ ॥

अन्वय—भगवन् ! त्वद्दर्शनात् अमन्दम् आनन्दम् दधताम् कृतधियाम् अन्त्यसमये घर्मः, प्रकम्पपुलकौ, गिरि गद्गदत्वम् , इत्यादयः अवस्थाः प्रभवन्ति, परेषाम् [तु] अन्तकभयात् प्रभवन्ति ।

अर्थ—हे भगवन् ! [ध्यानके द्वारा] आपका साक्षात्कार करनेसे, अति गाढ़ आनन्दको प्राप्त पुण्यात्मा लोगोंको प्राण-प्रयाणके समय (हर्षके मारे) अङ्गोंमें स्वेद (पसीना), कम्प, रोमाञ्च एवं वाणी में गद्गदता इत्यादि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु अभागे पापी लोगोंकी तो ये ही अवस्थाएँ अर्थात् अङ्गोंमें स्वेद, कम्प और रोमाञ्च, गद्गद वाणी इत्यादि दशाएँ, [अन्त समयमें] महाभयङ्कर यमराज के भयसे प्राप्त होती हैं ।

अन्त्यक्षणे भव भवच्चरणाब्जसेवा-
हेवाकिनो दधति केचन कण्ठपीठे ।
भोगीन्द्रभोगमधिगम्य भवद्गणत्व-
मन्ये कृतान्तकरकोटरकोटिकृष्टम् ॥ २६ ॥

अन्वय—भव ! भवच्चरणाब्जसेवाहेवाकिनः केचन अन्त्यक्षणे भवद्गणत्वम् अधिगम्य, कण्ठपीठे भोगीन्द्रभोगम् दधति, अन्ये कृतान्तकरकोटरकोटिकृष्टम् दधति ।

अर्थ—हे सदाशिव ! आपके चरण-कमलोंकी सेवामें व्यसन रखनेवाले कोई विरले पुण्यात्मा लोग मृत्यु के समय (यह भौतिक शरीर छोड़ दिव्य शरीर धारणकर) आपके गणोंमें स्थान प्राप्तकर (त्वद्रूप बन जाते हैं, अतः) अपने कण्ठतटमें वासुकि आदि सर्पोंकी फणाओंको धारण करते हैं । अभागे पापी लोग तो अन्तसमय गलेमें यमराजके 'नागपाश' से बँधकर उन्हें (सर्पोंकी फणाओंको) धारण करते हैं ।

भीताभयार्पणविधौ किल कालनाशं
कर्तुं न यः क्षणमपि क्षमते कदापि ।

श्वेताभयार्पणपरस्य कथं नु काल-
नाशक्षमत्वमभवत्तव तस्य देव ॥ २७ ॥

अन्वय—देव ! यः भीताभयार्पणविधौ कालनाशम् कर्तुम् क्षणम् अपि कदापि न क्षमते किल [इति अहं वेद्मि] । तस्य तव श्वेताभयार्पणपरस्य कालनाशक्षमत्वम् कथम् नु अभवत् ?

अर्थ—अयि स्वयंप्रकाश परमेश्वर ! मैं जानता हूँ कि आप भयभीत लोगोंको अभयदान देनेमें कालका नाश करनेमें (काल-क्षेप करनेमें) निश्चय ही एक क्षण भी समर्थ नहीं होते अर्थात् क्षणभर भी विलम्ब नहीं करते । किन्तु वे ही आप राजा श्वेतको अभयदान देनेमें कालका (यमराजका) नाश करनेमें कैसे समर्थ हुए ?*

भङ्क्तुं न पारयति यः क्वचिदेव देव
कामं कृपामृतमृदुस्तव दृष्टिपातः ।
उद्दामरोषपरुषः किल कामभङ्ग-
मङ्गीचकार कथमेष महेश पूर्वम् ॥ २८ ॥

अन्वय—देव ! कृपामृतमृदुः यः तव दृष्टिपातः [प्रह्वजनस्य] कामम् भङ्क्तुम् क्वचित् एव न पारयति किल । महेश ! एषः [एव] उद्दामरोषपरुषः (सन् कामभङ्गम् पूर्वम् कथम् अङ्गीचकार ?

अर्थ—अयि परमपदमें रमण करनेवाले परमेश्वर ! कृपारूपी अमृतसे आर्द्र आपका दृष्टिपात भक्तजनोंके काम (अभिलाष) को भङ्ग करनेके लिए निश्चय ही कदापि समर्थ नहीं होता । हे भगवन् ! फिर उसी आपके दृष्टिपातने प्रचण्ड क्रोधसे अति कठोर होते हुए पहले उस कामदेवका भङ्ग कैसे किया ? [यह बड़े आश्चर्यकी बात है] ।

किं मेरुमन्दरमुखा गिरयः शिरोभि-
रत्युन्नतैर्दधति गर्वमखर्वमेते ।
एतत्तुषारकिरणाभरणप्रणाम-
प्रह्वं जगज्जयति मामकमुत्तमाङ्गम् ॥ २९ ॥

अन्वय—एते मेरुमन्दरमुखाः गिरयः अत्युन्नतैः शिरोभिः अखर्वम् गर्वम् किम् दधति ? एतत् तुषारकिरणाभरणप्रणामप्रह्वम् मामकम् उत्तमाङ्गम् जगत् जयति ।

अर्थ—ये सुमेरु, मन्दराचल आदि पर्वत अत्यन्त ऊँचे शिरों (शिखरों) को धारण कर महान् अहङ्कार क्यों किया करते हैं ? [कारण उनके शिरों या शिखरों

---

* अर्थात् आर्त लोगोंके परित्राणमें कालनाश (समयनाश) करनेको असमर्थ होते हुए भी आप राजा श्वेतको अभय देते समय कालका नाश करनेमें समर्थ हुए ? एक ही देवमें परस्पर विरोधी कालनाशकी सर्वथा अक्षमता और क्षमता निश्चय ही आश्चर्यजनक है, यह भाव है । श्लिष्ट 'कालनाश' शब्दसे यह भाव बन पड़ा । आगेके श्लोकमें भी इसी तरहकी कल्पना है ।

का यह औन्नत्य तो चल है]। [किन्तु] भगवान् चन्द्रशेखरको प्रणाम करनेमें अतीव नम्र यह मेरा शिर ही इस संसारमें सर्वश्रेष्ठ (कृतार्थ) है।

गात्रान्तरातिशयशंसि यदेतदुच्चै-
र्नामोत्तमाङ्गमिति नाथ शिरो बिभर्ति।
तद्युज्यते भव भवच्चरणारविन्द-
पीठप्रणामपरमस्य नमस्यमस्य ॥ ३० ॥

अन्वय—नाथ ! भव ! यत् एतत् शिरः गात्रान्तरातिशयशंसि उत्तमाङ्गम् इति उच्चैः नाम बिभर्ति, तत् भवच्चरणारविन्दपीठप्रणामपरमस्य अस्य नमस्यम् युज्यते [एव]।

अर्थ—हे नाथ सदाशिव ! यह मस्तक जो अन्य अङ्गोंसे अपनी श्रेष्ठता बतलानेवाले 'उत्तमाङ्ग' (उत्तम अङ्ग) इस ऊँचे नामको धारण करता है, वास्तवमें वह उचित ही है ; क्योंकि यह शिर सदा आपके चरणारविन्दोंको प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है। अर्थात् प्रभुको नमन करने से ही मस्तकका नाम 'उत्तमाङ्ग' पड़ा है, न कि अन्य अङ्गोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेसे, यह भाव है।

किं श्रीघनोऽप्यसुगतः किमुमाधवोऽपि
न त्वं कदाचन जनार्दनतां बिभर्षि।
स्वामिन्न गजारिरपि किं नगजाप्रियस्त्वं
स्वातन्त्र्यमस्ति यदि वा भवतः किमन्यत् ॥ ३१ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! श्रीघनः अपि त्वम् असुगतः किम्, किमुमाधवः (किम् उमाधवः, किमु माधवः वा) अपि त्वम् जनार्दनताम् कदाचन न बिभर्षि ? गजारिः अपि त्वम् नगजाप्रियः किम् ? यदि वा भवतः स्वातन्त्र्यम् अस्ति, किम् अन्यत् ब्रूमहे ?

अर्थ—स्वामिन् ! क्या आप श्रीघन (परम ऐश्वर्य कैवल्यरूपा श्रीसे परिपूर्ण) होकर भी त्रैलोक्य भरके जीवोंके प्राणोंमें व्याप्त नहीं हो रहे हो ? उमाधव (पार्वतीके प्राणप्रिय) होकर भी आप कभी जनार्दनता (प्राणियोंको पीड़ा देना) क्या नहीं धारण करते ? नाथ ! आप गजारि (गजासुरके अरि) होकर भी नगजा-प्रिय (गिरिजाके वल्लभ) क्यों हैं ? अथवा भगवन् ! आप सर्वथा स्वतन्त्र, कर्तुम्, अकर्त्तुम्, अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं, अतः आपकी महिमाका क्या वर्णन करें ?*

* कविने यहाँ शब्दश्लेषको विरोधाभाससे खूब चमत्कृत किया है। वह कहता है—प्रभो ! आप श्रीघन (बुद्ध) होकर भी असुगत (अ + सुगत—बुद्ध नहीं) क्यों हैं ? माधव (हरि) होकर भी जनार्दनता (विष्णुता) को कभी क्यों नहीं धारण करते ? और गजारि (गजके शत्रु) होकर भी क्यों नगजाप्रिय (न + गज + अप्रिय = गजके प्रिय) हो ? अथवा [मेरे ये प्रश्न ही व्यर्थ है] आप सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, जो चाहे सो कर सकते हैं। आपसे अधिक क्या कहा जाय ? वाह !

अरुणद्युतिग्लपितशीतदीधिति प्रकटीकृतालिकमलं विलोक्य मे ।
भवतः प्रभातमिव भाललोचनं भजते कदा नु विषमं शमं तमः ॥३२॥

इति काश्मीरकमहाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ तमःशमनं नाम द्वादशं स्तोत्रम्

अन्वय—अरुणद्युतिग्लपितशीतदीधिति प्रकटीकृतालिकमलम् प्रभातम् इव भवतः भाललोचनम् विलोक्य, मे विषमम् तमः शमम् कदा नु भजते ?

अर्थ—अरुणकी दीप्तिसे चन्द्रमाको म्लान करदेनेवाले और कमलोंको विकसित कर उन पर भ्रमरगणको प्रकटित करनेवाले प्रभातकालको देख [रात्रिका] घोर अन्धकार शान्त (नष्ट) हो जाता है। ठीक इसी तरह हे नाथ ! जिसकी* अत्यन्त अरुण दीप्तिसे चन्द्रमा म्लान हो रहा है और जिससे आपका ललाट सुप्रकाशित हो रहा है, ऐसे आपके भाल-नेत्रको देखकर मेरा यह घोर अन्धकार (अज्ञान) कब शान्त (दूर) होगा ?

त्रयोदश स्तोत्र

[अब यहाँसे कविराज प्रभुको प्रसन्न करनेवाले "प्रभुप्रसादन" नामक तेरहवें स्तोत्रको आरम्भ करते हैं]

अथ नुतिभिरमन्थराक्षराभिः सुजनमनोमृगवागुराभिराभिः ।
विभुमभयदमादरादरातिक्षपणपणप्रवणं प्रसादयामः ॥ १ ॥

अन्वय—अथ अमन्थराक्षराभिः सुजनमनोमृगवागुराभिः आभिः नुतिभिः, अभयदम् अरातिक्षपणपणप्रवणम् विभुम् आदरात् प्रसादयामः ।

अर्थ—अब हम अतीव प्रौढ़ पदोंवाली और सहृदयोंके मनरूपी मृगोंको बन्धनमें डालनेवाले पाश-स्वरूप इन स्तुतियोंसे समस्त जगत्को अभय देनेवाले, आन्तरिक और बाह्य समस्त शत्रुओंके विध्वंसरूप नियमके पालनमें तत्पर परमेश्वर महेश्वरको अति आदरपूर्वक प्रसन्न करना चाहते हैं ।

सुरमुकुटविटङ्करत्नरोचिःखचितनखाङ्कुरकेसराभिरामम् ।
पुरहरचरणारविन्दयुग्मं शिरसि विधत्त किरीटवाञ्छया किम् ॥ २ ॥

अन्वय—[अयि भावुकाः !] सुरमुकुटविटङ्करत्नरोचिःखचितनखाङ्कुरकेसराभिरामम् पुरहरचरणारविन्दयुग्मम् शिरसि विधत्त, किरीटवाञ्छया किम् ?

अर्थ—अयि भगवत्प्रेमी सज्जनो ! देवताओंके मुकुटरूपी विटङ्कों (बाह्य अग्रभागों) पर जड़े रत्नोंकी कान्तियोंसे सम्मिश्रित नखाङ्कुरोंके केसरोंसे मनोहर त्रिपुरारि भगवान् सदाशिवके चरणारविन्दयुगलको मस्तकपर धारण कीजिये ।

* शिवपक्षे 'अलम् अरुणद्युतिग्लपितशीतदीधिति प्रकटीकृतालिकम्' इत्थम् अन्वयः ।

(क्षणभङ्गुर) मुकुट धारण करनेकी अभिलाषासे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

कलयतु भवतामभग्नवृत्ति[1]र्हरहरशङ्करशङ्करेति सूक्तिः ।
अविरलगलमण्डनप्रतिष्ठां, किममलमौक्तिकदामकामनाभिः ॥ ३ ॥

अन्वय—अभग्नवृत्तिः हरहरशङ्करशङ्करेति सूक्तिः भवताम् अविरलगलमण्डनप्रतिष्ठाम् कलयतु, अमलमौक्तिकदामकामनाभिः किम् भवति ?

अर्थ—[अये रसिक जनो !] क्षण भर भी विच्छिन्न न होनेवाली अर्थात् सदैव कण्ठमें रहनेवाली 'हर ! हर ! शङ्कर ! शङ्कर !' इस प्रकारकी अतिहर्षसे होनेवाली सूक्तिको ही आप लोग अपने कण्ठका श्रेष्ठ आभूषण बनाइये। अत्यन्त स्वच्छ मुक्ताहारको धारण करनेकी इच्छासे कौन-सा लाभ है ?

कलयत मणिकुण्डलेऽवलेपं श्लथयत निर्मलमल्लिकाभिलाषम् ।
हरचरितनुतिक्रमैरजस्रं कुरुत नवश्रवणावतंसलीलाम् ॥ ४ ॥

अन्वय—[यूयम्] मणिकुण्डले अवलेपं कलयत, निर्मलमल्लिकाभिलाषम् श्लथयत, अजस्रम् हरचरितनुतिक्रमैः नवश्रवणावतंसलीलाम् कुरुत ।

अर्थ—[अयि भक्तजनो !] आप लोग [इन क्षणभङ्गुर] मणियोंके कुण्डलोंमें अत्यन्त घृणा कीजिये और स्वच्छ जाति-पुष्पोंकी माला पहननेकी इच्छा भी शिथिल कीजिये ! सदैव उस अविनाशी शंकरके दिव्य-चरित्रों और स्तुति-रचनाओंको ही अपने कर्णोंके नवीन दिव्य-आभूषण बनाइए।

इह विहत[2]भवोपतापमापत्प्रशमसमर्थमनर्थनाशहेतुम् ।
नमति न मतिमानमानवीयप्रमदविधानपरं परं हरं कः ॥ ५ ॥

अन्वय—इह विहतभवोपतापम् आपत्प्रशमसमर्थम् अनर्थनाशहेतुम् अमानवीयप्रमदविधानपरम् परम् हरम् कः मतिमान् न नमति ?

अर्थ—अहा ! इस भवसागरमें, सांसारिक समस्त पाप-तापोंको शान्त कर देनेवाले, जन्म-मरणरूपी आपत्तियोंको समूल नष्ट करनेमें समर्थ, अनर्थकारक अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश स्वरूप क्लेशोंको नष्ट करनेवाले, शरणागतोंको लोकोत्तर परमानन्द देनेमें अतीव तत्पर उस परात्पर (मायासे परे) भगवान् शङ्करको कौन बुद्धिमान् पुरुष प्रणाम नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं।

त्रिजगति भजति स्थितिं बुधानां धुरि दुरितक्षतिशिक्षितः स एकः ।
शशिशकलशिखामणिप्रणामप्रणयि बिभर्ति शिरश्चिरस्थिरं यः ॥ ६ ॥

अन्वय—यः शशिशकलशिखामणिप्रणामप्रणयि शिरः चिरस्थिरम् बिभर्ति, सः एकः दुरितक्षतिशिक्षितः, त्रिजगति [अपि] बुधानाम् धुरि स्थितिम् भजति ।

१. 'भक्तिः' इति पाठान्तरम् । २. 'विहित' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—जो कोई भाग्यवान् चिरकाल तक भगवान् चन्द्रशेखरको प्रेमसे प्रणाम करनेवाले मस्तकको धारण करता है, एकमात्र वही समस्त दुष्कृतोंको समूलोन्मूलन करनेमें चतुर पुरुष तीनों लोकोंमें सभी बुधजनोंके आगे सम्मान पाता है। अर्थात इस लोकमें तो विद्वज्जनों और परलोकमें देवताओं के आगे स्थान (सम्मान) पाता है।

स जयति जगदीश शक्तिपातस्तव कवितुर्यदसक्तमुक्तिदेवी ।
रसमसमचमत्कृतिप्रसूतिं वितरति काञ्चनसिद्धिमेति येन ॥ ७ ॥

अन्वय—जगदीश ! सः तव शक्तिपातः जयति, यत् उक्तिदेवी कवितुः असक्तम् असमचमत्कृतिप्रसूतिम् [तम्] रसम् वितरति, येन काञ्चन सिद्धिम् एति ।

अर्थ—हे जगदीश ! वह आपका शक्तिपात (आपकी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि) सर्वोत्कृष्ट है, जिसकी कृपासे वाग्देवी (सरस्वती) निरासक्त कविको लोकोत्तर चमत्कारोंके प्रवाहको बहानेवाला वह रस बाँटती है, जिस अद्भुत रससे वह कौन सी सिद्धिको नहीं पा लेता ? अर्थात् अणिमा आदि सभी सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है*।

इह विदधतु नाम पामराणां प्रणतिकृतामपरे प्रभुप्रतीतिम् ।
प्रभवति न तु मृत्युभीतिभङ्गे जगति भवन्तमृतेऽमृतेश कश्चित् ॥ ८ ॥

अन्वय—अपरे प्रणतिकृताम् पामराणाम् प्रभुप्रतीतिम् विदधतु नाम । इह तु जगति अमृतेश ! भवन्तम् ऋते मृत्युभीतिभङ्गे कश्चित् न प्रभवति ।

अर्थ—अन्य लोग केवल अपनेसे किसी श्रेष्ठ पुरुषको ही प्रणाम करनेवाले (थोड़ी सी शक्तिको पाकर अपनेको बहुत बड़ा समझनेवाले) पामर जनोंको भले ही अपना प्रभु समझा करें, किन्तु हे मृत्युञ्जय ! इस सारे संसारमें केवल आपके सिवा और कोई भी प्रभु प्राणीके मृत्युभयका नाश नहीं कर सकता, अर्थात् प्रभुके सिवा और कोई भी प्राणीको मृत्यु-भयसे बचा नहीं सकता। [क्योंकि—]

वियदियति महस्विमण्डले कः श्रितवति कर्तुमनष्टचेष्टमीष्टे ।
विषमतमतमः प्रबन्धमन्धं जगदगदं घृणिमन्तमन्तरेण ॥ ९ ॥

---

* कविने यहाँ शब्दश्लेष द्वारा बड़ा ही विलक्षण भाव दर्शाया है। वह कहता है—अयि जगदीश ! आपके उस शक्तिपातकी बलिहारी है, जिसकी कृपासे रसवेत्ता पुरुष (चतुर वैद्य) अकिंचनको लोकोत्तर चमत्कारी वह 'रस' (पारद) प्रदान कर देता है, जिससे वह काञ्चन-सिद्धि (सुवर्णसिद्धि) को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् यथेच्छ सुवर्ण बना लेता है। आयुर्वेदमें कहा है—

कृष्णाभ्रं मारितं येन पारदं च वशीकृतम् ।
द्वारमुद्घाटितं तेन कुबेरस्य यमस्य च ॥

अन्वय—इयति [अपि] महस्विमण्डले वियत् श्रितवति [सति] विषमतमतमः-प्रबन्धम् अन्धम् जगत् अनष्टचेष्टम् अगदम् कर्तुम् घृणिमन्तम् अन्तरेण कः ईष्टे ?

अर्थ—आकाशमें चन्द्रमा, तारागण आदि इतने बड़े-बड़े तेजोमण्डलके होते हुए भी गाढ़ अन्धकारसे अन्ध जगत्को सम्पूर्ण चेष्टाओंसे परिपूर्ण और नीरोग (आरोग्य) करनेके लिए केवल भगवान् सूर्यदेवके सिवा दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

शकलितकलितर्ष सप्रकर्ष प्रकटितहर्ष महर्षभाधिरूढ ।
दिश विशदमदभ्रमभ्रसिन्धुद्रवधवलं भवलङ्घनं प्रसादम् ।। १० ।।
प्रभवति भवति प्रसादरम्यां दिशति दृशं न विभा विभावरीणाम् ।
सवितरि वितरिष्यति प्रकाशं नहि महिमप्रभवो विभावरीणाम् ।। ११ ।।
(युग्मम्)

अन्वय—शकलितकलितर्ष ! सप्रकर्ष ! प्रकटितहर्ष ! महर्षभाधिरूढ ! अदभ्रम् अभ्रसिन्धुद्रवधवलम् भवलङ्घनम् विशदम् प्रसादम् दिश । भवति विभौ प्रसादरम्याम् दृशम् दिशति [सति] अरीणाम् विभा न प्रभवति, हि सवितरि प्रकाशम् वितरिष्यति [सति] विभावरीणाम् महिमप्रभवः न ।

अर्थ—अयि कलियुगके तर्ष (लोभ) को खण्डित करनेवाले, सर्वश्रेष्ठ, परम हर्षको प्रकट करनेवाले, महान् वृषभपर अधि-रूढ़ सदाशिव ! गङ्गा-प्रवाहके समान अत्यन्त स्वच्छ और इस भीषण भवसागरको उल्लङ्घन करनेवाला प्रसादानुग्रह वितरण कीजिये । हे प्रभो ! आपके द्वारा प्रसन्नतासे रमणीय दृष्टि डालने पर (आपकी सुदृष्टि होनेपर) इन काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रु या बाह्य शत्रुओंका प्रभाव कुछ भी नहीं हो सकता; क्योंकि सूर्य द्वारा प्रकाश-वितरण करने पर रात्रियोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता ।

समुचितसदसद्विचारचर्याचतुरतरः कतरः कलौ मदन्यः ।
इह परमशिवं भवं विजेतुं परमशिवं भवमेव सेवते यः ।। १२ ।।

अन्वय—कलौ समुचितसदसद्विचारचर्याचतुरतरः मदन्यः कतरः [अस्ति] यः इह परम् अशिवम् भवम् विजेतुम् परमशिवम् भवम् एव सेवते ।

अर्थ—इस कलि-कालमें सत् और असत् वस्तुओंका सम्यक् विचार करनेमें मेरे समान परम चतुर दूसरा और कौन होगा, जो इस परम अशिव (अत्यन्त अमङ्गल) भव (संसार) को जीतनेके लिए परमशिव (सच्चित् आनन्दघनस्वरूप) भव (भगवान् शङ्कर) की ही सेवा करता है ?

शमयितुमलमग्निमग्निरेव ग्लपयति हन्त हिमं हिमं विवृद्धम् ।
जरयति च पयः पयः किमन्यद्धरति भवं भव एव भक्तिभाजाम् ।।१३।।

अन्वय—हन्त ! विवृद्धम् अग्निम् शमयितुम् अग्निः एव अलम्, विवृद्धम् हिमम्

हिमम् [एव] ग्लपयति, पयः [एव] पयः जरयति । अन्यत् किम् ? भक्तिभाजाम् भवम् भव एव हरति ।

अर्थ—अहा, महान् अग्निको शान्त करनेके लिए अग्नि ही समर्थ हो सकता है। महान् हिमको हिम ही शान्त करता है [अत्यन्त अधिक पीये] जलको [गरम] जल ही पचा सकता है। अधिक क्या [कहा जाय !] भक्तजनोंके भव (संसार) को भव (सदाशिव) ही हर सकता है अर्थात् मुक्ति देता है।

वरमजिनजटाभृतः कपालप्रणयिकरस्य नरस्य भैक्ष्यवृत्तिः ।
स्मरहरचरणारविन्दसेवाविरहवती न तु चक्रवर्तिमूर्तिः ॥ १४ ॥

अन्वय—अजिनजटाभृतः कपालप्रणयिकरस्य नरस्य भैक्ष्यवृत्तिः वरम्, न तु स्मरहरचरणारविन्दसेवाविरहवती चक्रवर्तिमूर्तिः ।

अर्थ—मृगचर्म और जटाओंको धारण किये तथा हाथमें कपाल (खप्पर) धारण किये मनुष्यकी भिक्षावृत्ति श्रेष्ठ है। परन्तु भगवान् शङ्करकी सेवासे विमुख चक्रवर्ती (सम्राट्) की मूर्ति श्रेष्ठ नहीं है।

मरुभुवि वरमुष्णरश्मिरश्मिप्रकरकदर्थितमूर्तिरेकभेकः ।
न तु भवदनुरागभागधेयग्लपनविपद्विकलीकृतो मनुष्यः ॥ १५ ॥

अन्वय—मरुभुवि उष्णरश्मिरश्मिप्रकरकदर्थितमूर्तिः एकभेकः वरम् । किन्तु भवदनुरागभागधेयग्लपनविपद्विकलीकृतः मनुष्यः न वरम् ।

अर्थ—मरुस्थलमें सूर्यकी (अति उष्ण) किरणोंसे सन्तप्त वह अकेला मेढक श्रेष्ठ है। परन्तु हे भगवन् ! आपके अनुराग रूपी अहोभाग्यकी हीनतारूप विपत्तिसे विकल (जड़ीभूत) मनुष्य श्रेष्ठ नहीं है।

कलिमलपटली मलीमसत्वं नयति मतिं हतदर्प दर्पणाभाम् ।
इति शितिगल शीतरश्मिरश्मिप्रसरसितं रसितं तवार्थयामः ॥ १६ ॥

अन्वय—हे हतदर्प ! [इयम्] कलिमलपटली दर्पणाभाम् मतिम् मलीमसत्वम् नयति, इति (हेतोः) शितिगल ! शीतरश्मिरश्मिप्रसरसितम् तव रसितम् अर्थयामः ।

अर्थ—अहङ्काररूपी व्यसनका नाश करनेवाले हे सदाशिव ! यह कलि-मल-पटली (कलिकालके पापोंकी राशि) दर्पणके समान स्वच्छ हमारी मतिको मलिन कर रही है। इसलिए हे नीलकण्ठ ! [हम इसे स्वच्छ करनेके लिए] चन्द्रमाकी किरणोंके सञ्चारसे अति-उज्ज्वल आपका अभय वचन चाहते हैं।

नुतिमुखरमुखः प्रसादपात्रं भवति ममेति यदैष ते कृतान्तः ।
अपि कवलितसप्तलोकलोकः प्रभवति नैव तदैष मे कृतान्तः ॥ १७ ॥

अन्वय—[प्रभो !] नुतिमुखरमुखः मम प्रसादपात्रम् भवति, इति एषः यदा ते कृतान्तः [अस्ति], तदा कवलितसप्तलोकलोकः अपि एषः कृतान्तः मे न प्रभवति ।

अर्थ—हे प्रभो ! 'स्तुतिसे वाचाल मुखवाला पुरुष मेरी प्रसन्नताका पात्र होता है, अर्थात् स्तुतिमें तत्पर पुरुषपर मैं अवश्य ही अनुग्रह करता हूँ' ऐसा यदि आपका कृतान्त (सिद्धान्त या निश्चय) है, तब तो फिर सातों लोकोंका ग्रास करनेवाला भी यह कृतान्त (काल) मुझे भयभीत करनेमें कदापि समर्थ नहीं हो सकता।

तव रविजपुरान्धकप्रमाथे दृशि विशिखे त्रिशिखे च यः कृतास्थः।
परिचरणपरः पुराविरासीत् स जयति दैवतमुत्तमं कृशानुः ॥ १८ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] रविजपुरान्धकप्रमाथे [क्रमेण] दृशि, विशिखे, त्रिशिखे च कृतास्थः [सन्] तव परिचरणपरः यः पुरा आविरासीत्, सः उत्तमम् दैवतम् कृशानुः जयति।

अर्थ—हे प्रभो ! यमराज, त्रिपुरासुर एवं अन्धकासुरका संहार करनेके लिए क्रमशः आपके [तृतीय] नेत्र, [विष्णुरूपी] बाण एवं त्रिशूलमें स्थित हो जो पहले आपकी सेवामें तत्पर हो प्रकट हुआ था, वह उत्तम दैवत अग्निदेव सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् आपकी आठों मूर्तियोंमें सबसे उत्तम है।

समजनि जनितस्पृहः स एकस्त्रिजगति चन्द्रकिरीट कृष्णसारः।
उपकरणपदं जगाम कृत्तिस्तव चरणास्तरणक्रमेण यस्य ॥ १९ ॥

अन्वय—चन्द्रकिरीट ! जनितस्पृहः सः [एव] एकः कृष्णसारः त्रिजगति समजनि, यस्य कृत्तिः तव चरणास्तरणक्रमेण उपकरणपदम् जगाम।

अर्थ—अहा ! अयि चन्द्रमुकुट ! तीनों लोकोंमें केवल एक वही कृष्णसार मृग [आपकी भक्तिमें आसक्त भावुकोंके लिए] अति स्पृहणीय उत्पन्न हुआ, जिसका चर्म आपके चरणारविन्दोंके बैठनेका आसन बनकर क्रमशः आपकी सुखशय्याका साधन बन गया है।

जनिरपि जयिनी विनीतरीतिर्जगति भुजङ्गमपुङ्गवस्य तस्य।
मणिकटकमुदस्य यस्य शस्यं भव भवदङ्गदभङ्गिमेति भोगः ॥ २० ॥

अन्वय—भव ! जगति तस्य भुजङ्गमपुङ्गवस्य विनीतरीतिः जनिः अपि जयिनी, यस्य भोगः शस्यम् मणिकटकम् उदस्य भवदङ्गदभङ्गिम् एति।

अर्थ—अयि समस्त ब्रह्माण्डोंके आदिकारण, सदाशिव ! उस सर्पराजका विनय युक्त उत्तम सौभाग्यशाली जन्म भी तीनों लोकोंमें सर्वोत्कृष्ट है, जिसका शरीर सुन्दर मणिमय कङ्कणको हटाकर आपके केयूरकी शोभा धारण करता है।

अलभत भगवन्नवन्ध्यमेकस्त्रिभुवनसीमनि जन्म पुङ्गवेन्द्रः।
तव भव शवभस्मरूषितोऽङ्घ्रिः शिरसि धृतो विनयानतेन येन ॥ २१ ॥

अन्वय—भगवन् भव ! त्रिभुवनसीमनि [सः] एकः पुङ्गवेन्द्रः अवन्ध्यम् जन्म अलभत, विनयानतेन येन तव शवभस्मरूषितः अङ्घ्रिः शिरसि धृतः।

अर्थ—हे भगवन् परमशिव ! इस त्रैलोक्य-मार्गमें (तीनों लोकोंके बीच) एकमात्र उस महावृषभ नन्दीका ही जन्म सफल हुआ, जिसने विनयसे अत्यन्त नम्र हो चिता-भस्मलिप्त आपके चरणकमल अपने मस्तकपर धारण किये हैं।

जनयति जगति स्पृहां न केषां जनिरपि कुञ्जरशेखरस्य तस्य ।
त्रिभुवनमहितस्य यस्य कृत्तिर्भव भवदम्बरडम्बरं बिभर्ति ॥ २२ ॥

अन्वय—भव ! त्रिभुवनपूजितस्य तस्य कुञ्जरशेखरस्य जनिः अपि, जगति केषाम् स्पृहाम् न जनयति ? यस्य कृत्तिः भवदम्बरडम्बरम् बिभर्ति ।

अर्थ—अयि सदाशिव ! जिसका चर्म आपके वस्त्रका काम देता है, उस त्रैलोक्य-पूजित गजराजका जन्म भी संसारमें किन भक्तजनोंका स्पृहणीय नहीं होता ? अर्थात् सभी भक्तजनोंके मनमें ऐसा जन्म पानेकी इच्छा जाग उठती है।

स जयति जितकाल कालकूटः स्वजनिपवित्रितमुग्धदुग्धसिन्धुः ।
तव कवलभुवं जवादवाप्तः कलयति यः शितिकण्ठ कण्ठपीठम् ॥ २३ ॥

अन्वय—जितकाल शितिकण्ठ ! स्वजनिपवित्रितमुग्धदुग्धसिन्धुः सः कालकूटः जयति, यः तव कवलभुवम् जवात् अवाप्तः [सन्] कण्ठपीठम् कलयति ।

अर्थ—कालको जीतनेवाले, हे नीलकण्ठ ! अपने जन्मसे क्षीर-सागरको पवित्र कर देनेवाला वह हालाहल विष धन्य है धन्य है, जो आपके द्वारा झटपट गटागट पीया गया आपके कण्ठ प्रदेशको विभूषित (नीला) करता है।

परिणतशरदिन्दुसुन्दराभं वदनमनभ्रनभोनिभश्च कण्ठः ।
इति शुभमुभयं विभोरभिन्नत्रिदशधुनीयमुनाविडम्बि वन्दे ॥ २४ ॥

अन्वय—विभोः परिणतशरदिन्दुसुन्दराभम् वदनम् अनभ्रनभोनिभः कण्ठः च इति शुभम् उभयम् अभिन्नत्रिदशधुनीयमुनाविडम्बि वन्दे ।

अर्थ—अहा ! शरत्कालके पूर्ण चन्द्रकी तरह अत्यन्त सुन्दर-स्वच्छ मुख और मेघरहित आकाशके समान नीला कण्ठ, परस्पर संसृष्ट गङ्गा और यमुनाका अनुकरण करनेवाले, प्रभुके मङ्गलमय इन दोनों अङ्गोंको मैं प्रणाम करता हूँ।

हिमहिमकरहारि वारि गाङ्गं कुवलयकान्ति कलिन्दकन्यकाम्भः ।
इति शुभमुभयं प्रभुप्रसादाद्वपुरिव हारिहरं वरं प्रपद्ये ॥ २५ ॥

अन्वय—हिमहिमकरहारि गाङ्गम् वारि कुवलयकान्ति कलिन्दकन्यकाम्भः [च] इति शुभम् उभयम् वरम् प्रभुप्रसादात् हारिहरम् वपुः इव [कदा] प्रपद्ये ।

अर्थ—अहा ! हिम और हिमकर (चन्द्रमा) के समान स्वच्छ गङ्गाजल एवं नीलकमलकी कान्तिके समान यमुना-जल, इन दोनों मङ्गलदायी उत्कृष्ट वस्तुओंको प्रभुके अनुग्रहसे मैं प्रभुकी हरिहर रूप मूर्तिके समान कब पाऊँगा ?

धृतकुटिलकलः किलान्धकारी [1]रुचितमलीमसभोगिभोगयोगः ।
त्वयि सपदि पराङ्मुखे यथाऽहं त्वमिव महाकलिकालभग्नशक्तिः ॥२६॥
कवलितविषमक्लमं दधानः सततसमाश्रिततारकारिरूपम् ।
द्विजपतिमुकुटस्तथैव जातु त्वमिव शिव त्वयि सम्मुखे भवेयम् ॥ २७ ॥

अन्वय—शिव ! सपदि त्वयि पराङ्मुखे [सति] यथा अहम् त्वम् इव धृतकुटिलकलः अन्धकारी रुचितमलीमसभोगिभोगयोगः महाकलिकालभग्नशक्तिः [अस्मि], तथैव त्वयि सम्मुखे [सति] त्वम् इव कवलितविषमक्लमम् सततसमाश्रिततारकारिरूपम् दधानः द्विजपतिमुकुटः च जातु भवेयम् ?

अर्थ—अयि सदाशिव ! जैसे मैं इस समय आपके विमुख होनेपर आपके ही ही समान* धृतकुटिलकल (अतीव तुच्छ शिल्प-कलाओंको धारण करनेवाला), अन्धकारी (अज्ञानरूप अन्धकारसे युक्त), अत्यन्त मलिन भोगियों (विषयी लोगों) के भोगों (विषयों) से प्रेम रखनेवाला एवं महाकलिकालभग्नशक्ति (महान् कलह करनेवाले कलिकालके द्वारा नष्टशक्ति) हूँ ; वैसे ही आपके सम्मुख (प्रसन्न) हो जानेपर भी ठीक आपके ही समान¶ कवलितविषमक्लम (अति-विषम क्लेशोंसे रहित) सतत-समाश्रित-तार-कारि (सदा अपने शरणागतोंको विपत्तिसे पार करनेवाले) स्वरूपको धारण करनेवाला और द्विजपति-मुकुट (ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ) कब होऊँगा ?

जय जयद वचो विमुञ्च मुञ्चन्मधु मधुरं जनरञ्जनप्रगल्भम् ।
हर हर दुरितं ममाद्य माद्यद्भव भव भीमदभीमदर्शनस्त्वम् ॥ २८ ॥

अन्वय—जयद ! त्वम् मधुरम् जनरञ्जनप्रगल्भम् मधु मुञ्चत् वचः विमुञ्च । हर ! अद्य माद्यत् मम दुरितम् हर । भव ! भीमदभीमदर्शनः भव ।

अर्थ—भक्तोंको विजय प्रदान करनेवाले सदाशिव ! आप अतिमधुर, भक्तजनोंका मनोरञ्जन करनेमें समर्थ एवं अमृतरसको बहानेवाला अपना अभय-वचन सुनाइये । भवसागरके दुःखको हरनेवाले प्रभो ! अब आप अत्यन्त प्रसन्न होकर मेरे सम्पूर्ण पापको हर लीजिये । हे भव ! संसारसे भयभीत हम लोगोंपर अति सौम्य प्रसन्न-दृष्टि हो जाइये ।

निजवृजिनविजृम्भितं ममैतत्त्रिजगदनुग्रहनित्यदीक्षितस्त्वम् ।
क्वचिदपि भगवन्नदृष्टपूर्वं प्रथयसि यन्मयि विह्वलेऽवलेपम् ॥ २९ ॥

---

१. 'रुचिर' इति पाठान्तरम् ।

* भगवान् शिव भी धृतकुटिलकल (टेढ़ी चन्द्रकला धारण करनेवाले) अन्धकारि (अन्धकासुरके शत्रु), मलिन (कृष्ण वर्ण) भोगियों (सर्पगणों) के भोगों (कायाओं) से प्रेम रखनेवाले और महाकलि कालकी शक्तिको क्षीण करनेवाले हैं ।

¶ आप भी कवलितविष (विष भक्षण करनेवाले), अक्लम (क्लेशोंके सम्पर्कसे रहित), सतत-समाश्रिततारकारि (तारकासुरके निहन्ता स्वामी कार्तिकेय षडानन द्वारा सदा समाश्रित) हैं ।

अन्वय—भगवन् ! त्रिजगदनुग्रहनित्यदीक्षितः त्वम् क्वचित् अपि अदृष्टपूर्वम् यत् मयि विह्वले अवलेपम् प्रथयसि, [तत्] मम (एव) निजदुरितविजृम्भितम् ।

अर्थ—हे भगवन् ! सदा तीनों लोकोंपर अनुग्रह करनेका निरन्तर व्रत धारण किये हुए भी आप, सर्वथा अभूत-पूर्व शरणागतका तिरस्कार जो [आज पहले पहल केवल] मुझ दीन विह्वलपर कर रहे हैं, यह सब मेरे ही पापों का फल है ।

प्रणमति विधुरे पुरो ऽवलग्ने[1] दधति मयि प्रसभं गदाभियोगम् ।
किमिति परिजने दयामृतार्द्रां दृश[2] मपकारवतीव नो दधासि ॥ ३० ॥

अन्वय—[अयि प्रभो !] विधुरे पुरः अवलग्ने प्रसभम् गदाभियोगम् दधति प्रणमति मयि परिजने, अपकारवति इव, दयामृतार्द्रां दृशम् किमिति नो ददासि ?

अर्थ—हे प्रभो ! अत्यन्त दीन, अपने सामने उपस्थित, रोगोंसे ग्रस्त और अतीव विनीत मुझ सेवकपर अपकार करनेवाले शत्रुपर जैसे, दयारूपी अमृतसे आर्द्र अपनी कृपादृष्टि क्यों नहीं डालते ?*

स्फुटविकटविकस्वरप्रदीप्तज्वलनमहीनमहीन्द्रहार चक्षुः ।
बलवदलवदर्पकालकामक्षयकरमाकरमाशु मुञ्च सिद्धेः ॥ ३१ ॥

अन्वय—अहीन्द्रहार ! [दीनजनम् प्रति] स्फुटविकटविकस्वरप्रदीप्तज्वलनम् बलवदलवदर्पकालकामक्षयकरम् सिद्धेः आकरम् अहीनम् चक्षुः मुञ्च ।

अर्थ—अयि नागेन्द्रहार ! अतीव स्पष्ट उत्कट और विशाल अग्निसे प्रदीप्त, बलवान् और पूर्ण अहङ्कारी यमराज तथा कामदेवका नाश करनेवाली एवं अणिमा आदि अष्ट-सिद्धियाँ देनेवाली अपनी परिपूर्ण दृष्टि (तृतीय नेत्र) मुझ दीनपर डालिये ।

हिमकरमकरध्वजौ न रूपं कविधिषणौ धिषणौचितीं न तीव्राम् ।
रणमरुणमरुत्सखौ जिगीषोरनुहरतो हरतोषिणो न तेजः ॥ ३२ ॥

अन्वय—जिगीषोः हरतोषिणः रूपम् हिमकरमकरध्वजौ [अपि] न अनुहरतः । [तस्य] तीव्राम् धिषणौचितीम् कविधिषणौ [अपि] न [अनुहरतः । तथा] अरुणमरुत्सखौ [अपि तस्य] रणम् तेजः च न [अनुहरतः] ।

अर्थ—सर्वत्र विजयकी इच्छा रखनेवाले शिव-भक्तके रूपका अनुकरण चन्द्रमा और कामदेव भी नहीं कर सकते । उसकी तीव्र बुद्धिकी समता शुकाचार्य और

१. 'विलग्ने' इति पाठान्तरम् । २. 'उपकारवति' इत्यपि पाठः ।

* यहाँ कविने अपकारवति ('प्' व्यंजनसे रहित) इस श्लिष्ट विशेषणके आधार पर पदोंका प्रकारान्तरसे विग्रह करते हुए विनीत भक्तके श्लोकस्थित सभी विशेषणोंको शत्रुजनके विशेषणोंमें परिणत करनेकी चातुरी दिखायी है । 'प्रणमति', 'पुरः' 'प्रसभम्' और 'परिजने' इनमेंसे 'प्' व्यंजन हटाकर ('अ-पकारवति' कर) उनके अर्थ देखिये—रणमति विधुरे = युद्धमें मग्नमति होनेसे व्याकुल; उरोऽवलग्ने = हृदयमें चुभे हुए; रसभङ्गदाभियोगम् दधति = रसका भंग करनेवाले अभियोगको धारण करनेवाले; अरिजने इव = शत्रुकी तरह ।

बृहस्पति भी नहीं कर सकते एवं सूर्य और अग्नि भी उसके संग्राम और तेजको नहीं हर सकते, अर्थात् भगवान् शिवके भक्तकी तुलना कोई भी नहीं कर सकता।

रविकरविकसत्सिताब्जशुभ्रप्रसृमरचामरचारुहासिनी श्रीः।
भव न भवनमुज्झति क्षणं यत्सुकृतवतां तव तां प्रणौमि शक्तिम्* ॥ ३३ ॥

अन्वय—भव ! रविकरविकसत्सिताब्जशुभ्रप्रसृमरचामरचारुहासिनी श्रीः यत् सुकृतवताम् भवनम् क्षणम् [अपि] न उज्झति, तव ताम् शक्तिम् प्रणौमि।

अर्थ—सदाशिव ! सूर्यकी किरणोंसे विकसित श्वेत कमलके समान स्वच्छ छत्र चामररूप सुन्दर हास्यसे युक्त लक्ष्मी जिसके प्रभावसे पुण्यवानोंके भवनको क्षण भर भी नहीं छोड़ती, आपकी उस अपार ऐश्वर्यरूपी अनन्त शक्ति (भक्ति) को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।

यदभयद भवत्यवस्थितेऽन्तः समहिम नो हि मनो विशोकमासीत्।
विशदविशदकर्मकर्दमे तत्सपदि विषादि विषाद केन जातम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—अभयद ! विषाद ! हि, भवति अन्तः अवस्थिते [सति] समहिम नः मनः यत् विशोकम् आसीत्, तत् [एव] सपदि अविशदकर्मकर्दमे विशत् [सत्] विषादि केन जातम् ? [इति न जाने]।

अर्थ—हे अभयदान देनेवाले ! विष भक्षण करनेवाले भगवन् ! निश्चय ही आपके अन्दर स्थित रहनेपर महत्त्व-युक्त जो हमारा मन शोक-रहित था, वही इस समय अति कलुषित पापकर्मरूप कीचड़ में गिरता हुआ न मालूम अत्यन्त दुखी कैसे हो गया ?

नयविनयविशुद्धमन्तरुद्यद्दहनसमानसमास्तरोषदोषम्।
यमनियमनियन्त्रितं मनो मे कुरु सविलासविलासिनीविरक्तम् ॥३५॥

अन्वय—[हे विभो !] मे मनः नयविनयविशुद्धम् अन्तः उद्यद्दहनसमानसमास्तरोषदोषम् यमनियमनियन्त्रितम् सविलासविलासिनीविरक्तम् कुरु।

अर्थ—प्रभो ! मेरे इस मनको नीति (कार्या-कार्य विचार) और विनय (ज्ञान और वयोवृद्ध लोगोंमें नम्रता) से निर्मल, अन्तरमें अग्नि-ज्वालाके समान उठनेवाले क्रोध और दोषोंसे रहित, यम* और नियमों¶ से नियन्त्रित (मर्यादित) एवं विलासवती रमणीसे विरक्त बना दीजिये।

---

* 'भक्तिम्' पाठ भी अच्छा है।

* यम दस प्रकारके हैं—

'आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा च दया स्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥'

¶ नियम दस निम्नलिखित हैं—

'शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश ॥'

अवसरसरसालसालघूर्यन्मधुरवधूरवधूतचित्तचिन्तः ।
स सकलकलधौतधौतमूर्तिस्तव नतिमानतिमात्रचित्रचिद्यः ॥ ३६ ॥

अन्वय—[हे विभो !] अतिमात्रचित्रचित् यः तव नतिमान् [भवति], सः अवसरसरसालसालघूर्यन्मधुरवधूरवधूतचित्तचिन्तः सकलकलधौतधौतमूर्तिः [भवति] ।

अर्थ—हे भगवन् ! जो अत्यन्त विस्मयकारक ज्ञानसे सम्पन्न पुरुष आपकी स्तुति किया करता है, वह रति-प्रसङ्गमें उत्तमोत्तम युवतियोंके बहुत-से सरस, अलस, मणित, सीत्कार आदि सुमधुर शब्दों द्वारा मनोव्यथासे रहित और सुन्दर सुवर्णके समान गौर आकृति हो जाता है ।

मलमलमलघुं विहन्तुमाप्तुं[1] मुदमुदयं समयं समर्थ्य चान्तः ।
महमहमहहेश्वरप्रशंसामयमयमाश्रयमाश्रयं सुखानाम्[2] ॥ ३७ ॥

अन्वय—अहह ! अन्तः उदयम् समयम् समर्थ्य, अलघुम् मलम् अलम् विहन्तुम् मुदम् आप्तुम् सुखानाम् आश्रयम् ईश्वरप्रशंसामयम् महम् अयम् अहम् आश्रयम् ।

अर्थ—अहा ! अब मैंने मनमें अपने भाग्योदयका समय संनिहित जानकर महान् पापरूपी मल नष्ट करने और परम आनन्द स्वरूप कल्याण पानेके लिए सम्पूर्ण सुखोंके आश्रय प्रभु-प्रशंसामय (शिवप्रशंसारूपी) महोत्सवकी शरण ले ली है ।

गुणिभिर्विबुधैर्हरीन्द्रमुख्यैर्भव संसाररिपोर्द्विषः स्तुतस्य ।
हितमातनुते तव प्रसादादसुहृत्प्राणहरोऽपि पुण्यभाजाम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—भव ! गुणिभिः हरीन्द्रमुख्यैः विबुधैः [च] स्तुतस्य संसाररिपोः द्विषः तव प्रसादात् प्राणहरः अपि असुहृत् पुण्यभाजाम् हितम् आतनुते ।

अर्थ—हे प्रभो ! पाण्डित्य, दया, दाक्षिण्यादि गुणवाले सहृदय जनों तथा हरि, इन्द्र आदि देवोंसे वन्दनीय एवं संसाररूपी शत्रुका निवारण करनेवाले आपके अनुग्रहसे प्राणहर्ता शत्रु भी पुण्यात्माओंके लिए हितकारक बन जाता है ।

अपि नाथ जनार्दनस्य विष्णोरपि वैकुण्ठ इति प्रसिद्धिभाजः ।
अधिकंसरुषोऽपि चेद्भवत्तो झगिति प्रागभवत्सुदर्शनाप्तिः ॥ ३९ ॥
अपि सर्वजनाविरुद्धबुद्धेरपि तीक्ष्णस्य परं जितक्रुधोऽपि ।
न कथं मम साधुनापि यद्वा जगदीशोऽसि विभुः किमुच्यते ते ॥ ४० ॥

(युग्मम्)

अन्वय—नाथ ! जनार्दनस्य अपि, वैकुण्ठ इति प्रसिद्धिभाजः अपि, अधिकंसरुषः अपि विष्णोः सुदर्शनाप्तिः भवत्तः प्राक् झगिति अभवत् । [तर्हि] सर्वजनाविरुद्धबुद्धेः अपि, तीक्ष्णस्य अपि, जितक्रुधः अपि मम अधुना अपि सा कथम् न ? यद्वा [त्वम्] जगदीशः विभुः असि, [मया] ते किम् उच्यते ?

---

१. 'विहर्तुम्' इति पाठान्तरम् । २. 'गुणानाम्' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—हे नाथ ! जनार्दन (लोगोंको पीड़ित करनेवाले या धर्मनाशक खलोंका नाश करनेवाले) भी, वैकुण्ठ (निश्चय ही कुण्ठित-गति या 'वैकुण्ठ') नामसे प्रसिद्ध भी और 'अधिकं-सरुषः' (अत्यधिक क्रोधी या दुष्ट कंसपर क्रोध करनेवाले) होकर भी भगवान् विष्णुको पहले आपने शीघ्र ही सुदर्शन (चक्र) दे डाला, तो फिर समस्त जनोंसे अविरोधी (अर्थात् किसीको भी पीड़ा न देनेवाले) भी वैकुण्ठ (यानी कुण्ठसे भिन्न—तीक्ष्णबुद्धि या अकुण्ठित गतिवाले) और क्रोध-भावसे रहित भी मुझ अनाथको अभी तक आपके सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) की प्राप्ति क्यों नहीं हुई ? अथवा आप सारे जगत्के ईश्वर और सर्व-स्वतन्त्र हैं। मैं आपसे क्या कह सकता हूँ ?

सुमनःसुलभे तथा न नाके सुमनःसुन्दरसौरभे न चास्थाम् ।
सुमनःसु च नाश्नुते सुधार्द्रासु मनः सुष्ठु यथा भवत्कथासु ॥ ४१ ॥

अन्वय—[हे प्रभो ! भक्तजनस्य] मनः सुमनःसुलभे नाके अपि तथा आस्थाम् न अश्नुते । सुमनःसुन्दरसौरभे च [तथा आस्थाम्] न [अश्नुते]। सुमनःसु च [तथा आस्थाम्] न [अश्नुते], यथा सुधार्द्रासु भवत्कथासु सुष्ठु [आस्थाम् अश्नुते] ।

अर्थ—हे प्रभो ! भक्तजनोंका मन देवताओंके लिए सुलभ स्वर्गमें भी वैसी आस्था (प्रीति) नहीं रखता, फूलोंकी सुमनोहर सुगन्धिमें भी वैसा प्रेम नहीं रखता और मालती पुष्पों या विद्वज्जनोंमें भी वैसी प्रीति नहीं करता, जैसी प्रीति सुधासे सिक्त आपकी कथाओंमें किया करता है* ।

श्रीर्देवी जयति यया कटाक्षितानां
हस्तस्था सकलसमीहितार्थसिद्धिः ।
सा यस्मादजनि तमब्धिमर्भकाय
प्रादाद्यः कथमिव वर्ण्यते स देवः ॥ ४२ ॥

अन्वय—यया कटाक्षितानाम् सकलसमीहितार्थसिद्धिः हस्तस्था [भवति, सा] श्रीः देवी जयति । सा यस्मात् अजनि, तम् अब्धिम् अर्भकाय यः प्रादात्, सः देवः कथम् इव वर्ण्यते ।

अर्थ—जिसके कृपा-कटाक्षसे सम्पूर्ण मनोभिलषित पदार्थोंकी सिद्धि हस्तगत

---

* इसी तरह सुमन शब्दको लेकर टीकाकार रत्नकण्ठने भी एक पद्य लिखा है—

उन्मात्तानां यदि सुमनसां वृन्दमेतत् सुमालां
धृत्वा नित्यं त्वमतिकृपया प्रेमपात्रीकरोषि ।
हा धिक्कष्टं किमपरमतो मोहमद्येन कस्मा-
दुन्मत्तं मामपि सुमनसं न त्वमङ्गीकरोषि ॥'

अर्थात् मदोन्मत्त देवगणोंसे पुष्पमाला स्वीकार कर आप उन्हें नित्य अति कृपापूर्वक अपना प्रेमपात्र बनाते हैं । किन्तु मोहमद्यसे उन्मत्त गुरु विद्वान्को आप स्वीकार नहीं करते, हाय इससे बढ़कर खेदकी बात क्या है !

हो जाती है, वह लक्ष्मीदेवी सर्वोत्कृष्ट है। वह लक्ष्मीदेवी भी जिस (क्षीर-सागर) से उत्पन्न हुई, उस क्षीर-सागरको जिसने बालक उपमन्युको दे डाला, वह (ब्रह्मादि देवोंसे भी अवर्णनीय) अतिशय दयालु भगवान् सदाशिव हम अल्प-शक्तिवाले लोगोंसे किस प्रकार वर्णित किया जा सकता है ?

नार्हत्यमन्दरयमन्दरयत्नलब्धा
स्पर्धां सुधा न वसुधानवधिश्च यस्य ।
सोऽयं नवः शिव नवः शिवतातयेऽस्तु
विद्वत्सभाजनसभाजनभाजनं वः ॥ ४३ ॥

इति श्रीकाश्मीरकमहाकविजगद्धरभट्टविरचिते महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'प्रभुप्रसादनं' नाम त्रयोदशं स्तोत्रम् ।

अन्वय—अमन्दरयमन्दरयत्नलब्धा सुधा, अनवधिः वसुधा च, यस्य स्पर्धाम् न अर्हति, सः अयम् विद्वत्सभाजनसभाजनभाजनम् नवः शिवनवः वः शिवतातये अस्तु ।

अर्थ—तीव्र वेगवाले मन्दराचल पर्वतके प्रयत्न से प्राप्त सुधा (अमृत) और यह अनन्त वसुधा भी जिसकी समता [कदापि] नहीं कर सकती, वह विद्वत्सभाजनोंका प्रीतिपात्र यह 'प्रभुप्रसादन' नामक नवीन शिव-स्तव आपके कल्याणका विस्तार करे ।

चतुर्दश स्तोत्र

[अब कविराज 'हित' नामक चौदहवाँ स्तोत्र प्रारम्भ करते हैं—]

येन नेत्रकरशेखरस्पृशा हन्ति सन्तमसमन्तरीश्वरः ।
ऐन्दवं दवथुहारि हारि तद्धाम कामदमदभ्रमस्तु वः ॥ १ ॥

अन्वय—नेत्रकरशेखरस्पृशा येन ईश्वरः [भक्तजनस्य] अन्तः सन्तमसम् हन्ति, हारि दवथुहारि तत् ऐन्दवम् धाम वः अदभ्रम् कामदम् अस्तु ।

अर्थ—बाँयें नेत्र, बायें हाथ और मुकुटमें देदीप्यमान जिस चान्द्र-तेजसे भगवान् सदाशिव अपने भक्तजनोंके अन्तरमें स्थित अज्ञानको दूर करते हैं, वह सम्पूर्ण सन्तापोंको हरनेवाला, अतिमनोहर चान्द्र-तेज आप लोगोंकी कामनाओंको पूर्ण करे ।

भक्तिनिर्भरगभीरभारतीवैभवो भव भवन्नवेषु यः ।
शुष्कशष्पमिव तस्य भासते वासवासनपरिग्रहग्रहः ॥ २ ॥

अन्वय—भव ! यः भवन्नवेषु भक्तिनिर्भरगभीरभारतीवैभवः [भवति] तस्य वासवासनपरिग्रहग्रहः शुष्कशष्पम् इव भासते ।

अर्थ—भगवन् ! जो कोई पुरुष भक्तिसे परिपूर्ण अतिगम्भीर वाणी द्वारा आपकी स्तुति किया करता है, उस धन्यात्माको इन्द्रासन (स्वर्गके राज्य) ग्रहणकी अभिलाषा शुष्क पर्ण (सूखी घास की) तरह अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ती है ।

उल्लसत्पुलकलाञ्छितं वपुर्बाष्पपूरितपुटे विलोचने ।
गद्गदा हरहरेति भारती संभवन्ति भवभक्तिशालिनाम् ॥ ३ ॥

अन्वय—भवभक्तिशालिनाम् उल्लसत्पुलकलाञ्छितम् वपुः, बाष्पपूरितपुटे विलोचने, हरहर इति गद्गदा भारती [च] संभवन्ति ।

अर्थ—भगवान् शङ्करके भक्तोंका शरीर अत्यन्त हर्षसे उत्पन्न रोमाञ्चोंसे पुलकित हो उठता है, नेत्रपुट हर्षाश्रुओंसे डबडबा जाते हैं और वाणी 'हर, हर !' की रटसे अत्यन्त गद्गद हो जाती है ।

नीलकण्ठ तरुणेन्दुशेखर त्र्यम्बक त्रिनयनेति भक्तितः ।
गद्गदं निगदतस्तृणोपमं हेमपूर्णमखिलं महीतलम् ॥ ४ ॥

अन्वय—नीलकण्ठ ! तरुणेन्दुशेखर ! त्र्यम्बक ! त्रिनयन ! ['मां पाहि'] इति भक्तितः गद्गदम् निगदतः [कस्यापि धन्यस्य] हेमपूर्णम् अपि अखिलम् महीतलम् तृणोपमम् [भवति] ।

अर्थ—हे नीलकण्ठ ! हे तरुणेन्दुशेखर ! हे त्र्यम्बक ! (तीनों लोकोंके पिता*) हे त्रिनयन ! 'मेरी रक्षा कीजिये' इस प्रकार भक्तिसे गद्गद होकर प्रार्थना करनेवाले महाभाग्यशालीके लिए सुवर्णसे पूर्ण भी यह सारा भूमण्डल सूखे तृणकी तरह [अत्यन्त तुच्छ] हो जाता है ।

अन्तकभ्रुकुटिभीतिविह्वलश्वेतसान्त्वनविधौ बभूव यत् ।
मां प्रति प्रतिपदं कदर्थितं तत्क संप्रति कृपामृतं तव ॥ ५ ॥

अन्वयय—[हे विभो !] अन्तकभ्रुकुटिभीतिविह्वलश्वेतसान्त्वनविधौ यत् बभूव, तत् तव कृपामृतम् प्रतिपदम् कदर्थितम् माम् प्रति सम्प्रति क्व [गतम्] ?

अर्थ—भगवन् ! भीषण यमराजकी कुटिल भ्रकुटिके भयसे विह्वल राजा श्वेतको आश्वासन देनेके लिए आपका जो करुण अमृतमय वचन प्रकट हुआ था, आपका वह वचन पद-पद पर पीडित मुझ दीनके प्रति आज कहाँ चला गया है ?

वह्निशीतकरघर्मरश्मयो लोचनत्रितयवर्तिनस्तव ।
शीततापतिमिरार्दितस्य मे नाथ चित्रलिखिता इव स्थिताः ॥ ६ ॥

अन्वय—नाथ ! तव लोचनत्रितयवर्तिनः वह्निशीतकरघर्मरश्मयः, शीततापतिमिरार्दितस्य मे चित्रलिखिताः इव स्थिताः ।

अर्थ—हे नाथ ! आपके तीनों नेत्रोंमें बसनेवाले अग्नि, चन्द्र और सूर्य शीत (जरा, मरण और भयरूपी तीव्र वायु से उत्पन्न शीत), ताप (आध्यात्मिक

---

* 'त्रयाणां लोकानाम् अम्बकः पिता, इति त्र्यम्बकः ।' अत एव—"द्यौर्भूमिरापस्तिस्रोऽम्बा अस्य" इति महाभारते ।

आधिदैविक और आधिभौतिक तीन सन्ताप) एवं अज्ञानरूपी अन्धकारसे पीड़ित मुझ अनाथ के [इन दुःखोंको हरनेके] लिए चित्र-लिखितसे (निश्चेष्ट-से) हो गये हैं।

सम्भ्रमभ्रमदमन्दमन्दरक्षीरनीरधिगभीरया गिरा।
त्रातुमर्हसि कृतान्तकिङ्करैर्मामशर्मभिरभिद्रुतं द्रुतम् ॥ ७ ॥

अन्वय—अशर्मभिः कृतान्तकिङ्करैः अभिद्रुतम् माम् सम्भ्रमभ्रमदमन्दमन्दरक्षीरनीरधिगभीरया गिरा द्रुतम् त्रातुम् अर्हसि।

अर्थ—हे नाथ! अत्यन्त अमङ्गलकारी यमदूतोंसे घिरे मुझ अनाथको, अतिवेगसे घूम रहे महान् मन्दराचलसे युक्त क्षीर-सागर की-सी गम्भीर वाणी द्वारा शीघ्र बचा लीजिये।

कालकिङ्करकरान्तरस्फुरद्भोगभोगिपरिणद्धकन्धरम्।
अन्तरेण भवदीयहुङ्कृतिं नाथ मोचयितुमुत्सहेत कः ॥ ८ ॥

अन्वय—नाथ! कालकिङ्करकरान्तरस्फुरद्भोगभोगिपरिणद्धकन्धरम् मोचयितुम् भवदीय-हुङ्कृतिम् अन्तरेण कः उत्सहेत?

अर्थ—हे नाथ! यमदूतोंके हाथोंमें चमकते नाग-पाशोंसे जिसका गला बँधा है, ऐसे [महासङ्कटमें पड़े] पुरुषको बचानेके लिए एकमात्र आपकी हुँकारको छोड़ दूसरा कौन समर्थ हो सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं।*

उत्कटभ्रुकुटिभीमदर्शनद्वाःस्थहुङ्कृतिखलीकृतात्मभिः।
द्वारि यः क्षितिभुजां पराभवः सह्यते द्रविणलेशतृष्णया ॥ ९ ॥
स त्वदायतनदेहलीतले पुष्पपात्रकरपत्रिकाकरम्।
कंचिदेव [1]भवदर्चनोत्सुकं चन्द्रशेखर करोति कातरम् ॥ १० ॥
(युग्मम्)

अन्वय—चन्द्रशेखर! उत्कटभ्रुकुटिभीमदर्शनद्वाःस्थहुङ्कृतिखलीकृतात्मभिः क्षिति-

* इसी अभिप्रायसे टीकाकार श्रीरत्नकण्ठने कहा है :—

'देवाः सन्तु सहस्रशः कमलभूकंसारिमुख्याः पुरो
विश्वाभीप्सितदानकल्पतरवो भक्त्यन्वितानां नृणाम्।
क्रोधाक्रान्तललाटलक्ष्मविषमभ्रूभङ्गसंतर्जन-
त्रस्तानां परिपालनैकनिरतो मृत्युञ्जयान्नोऽपरः॥

अर्थात्—भक्तजनोंको मनोभिलषित सम्पूर्ण वरदान देनेवाले देव तो ब्रह्मा, विष्णु आदि अनेक हैं। किन्तु क्रोधसे आक्रांत भयङ्कर यमराजके उग्र ललाट और टेढ़ी भ्रुकुटियोंसे अत्यन्त भयभीत लोगोंकी रक्षा करनेवाला एकमात्र भगवान् मृत्युञ्जयके सिवाय दूसरा कोई भी नहीं है!

१. 'भव दर्शनोत्सुकम्' इति पाठान्तरम्।

भुजाम् द्वारि द्रविणलेशतृष्णया यः पराभवः सह्यते, सः त्वदायतनदेहलीतले भवदर्चनोत्सुकम् कंचिदेव कातरम् पुष्पपात्रकरपत्रिकाकरम् करोति ।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! अति-विकराल भ्रुकुटियोंसे भयानक द्वारपालोंके हुङ्कारोंसे जड़ीभूत लोभी पुरुष क्षुद्र धनिकोंके दरवाजोंपर, धनलेशकी तृष्णाके कारण, जिस अपमानको सहते हैं, वह अपमान आपके मन्दिरकी देहलीपर आपके पूजनके लिए उत्सुक हाथमें पुष्प-पात्र और जल-कलश लिए किसी अत्यन्त कातर धन्यात्मा पुरुषको ही आपके दर्शनोंको सुअवसर प्रदान कर देता है । [अर्थात् क्षुद्र धनिकोंके दरवाजेपर थोड़ेसे चाँदीके ठीकरोंके लिए गया हुआ कोई याचक अतिविकराल टेढ़ी भौंवाले द्वारपालोंसे अपमानित हो यदि हाथोंमें फूल और झारी ले पूजनार्थ आपके मन्दिरकी देहलीकी ओर मुडता और आपका दर्शन पा जाता है, तो वह उसका बहुत बड़ा पुण्य कहा जायगा । किसी बिरलेको ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है, यह भाव है ।]

अन्तरेण भवदङ्घ्रिसेवनं देव केवलमियं विडम्बना ।
यन्नृणां कमलिनीदलस्खलन्नीरशीकरचला विभूतयः ॥ ११ ॥

अन्वय—देव ! नृणाम् यत् कमलिनीदलस्खलन्नीरशीकरचलाः विभूतयः [सा] इयम् भवदङ्घ्रिसेवनम् अन्तरेण केवलम् विडम्बना [एव] ।

अर्थ—अयि परमेश्वर ! कमलपत्रमें हिलते हुए जलकणोंके समान चलायमान यह जो लोगोंकी क्षणभंगुर सम्पत्तियाँ हैं, वह सब आपके चरणकमलोंकी सेवाके बिना केवल विडम्बनामात्र हैं !

यत्तु निर्जरतरङ्गिणीतटे सौहृदं हरिणबालकैः समम् ।
भूभृतां च तृणवद्विलोकनं श्रीरियं भव भवत्प्रसादतः ॥ १२ ॥

अन्वय—भव ! यत् तु निर्जरतरङ्गिणीतटे हरिणबालकैः समम् सौहृदम् भूभृताम् च तृणवत् विलोकनम्, इयम् श्रीः भवत्प्रसादतः [भवति] ।

अर्थ—हे प्रभो ! और गङ्गाके पावन तटपर मृगबालकोंके साथ मित्रता और राजाओंको शुष्क तृणके समान देखना, यह अति अद्भुत सम्पत्ति अहोभागी विरक्तों-को आपके ही अनुग्रहसे प्राप्त होती है ।

त्वामुपेत्य शरणं महेश्वरं देव निःशरण एव चेदहम् ।
दोष एष मम जाह्नवीजले तर्षुलो हि शफरः स्वदुष्कृतैः ॥ १३ ॥

अन्वय—देव ! त्वाम् महेश्वरम् शरणम् उपेत्य चेत् अहम् निःशरण एव [विमुखो व्रजामि], एष दोषः मम [एव] हि जाह्नवीजले शफरः स्वदुष्कृतैः [एव] तर्षुलः [भवति] ।

अर्थ—हे ईश्वर ! आप त्रिलोकीनाथकी शरणमें आकर यदि मैं निःशरण ही (निराश होकर ही) चला जाऊँ, तो यह दोष मुझ अभागेका ही है । क्योंकि मधुर-सलिला जाह्नवीके जलमें रहकर भी मत्स्य यदि प्यासा ही रह जाय, तो यह उसीके पापोंका दोष है ।

गद्गदोद्गतगिरश्चिर[1]स्थिरप्रेमहेमनिकषोपलोपमम् ।
शंसतः शिव शिवेति शाम्भवं नाम कामपि दशां प्रशास्ति मे ॥ १४ ॥

अन्वय—गद्गदोद्गतगिरः शंसतः मे चिरस्थिरप्रेमहेमनिकषोपलोपमम् शिवशिव इति शाम्भवम् नाम काम् अपि दशाम् प्रशास्ति ।

अर्थ—अहा ! अत्यन्त गद्गद वाणीसे प्रभुका स्तवन करनेवाले मुझ विरहीके शिवभक्ति-विषयक चिरस्थायी प्रेमरूपी सुवर्णके लिए कसौटी-स्वरूप 'शिव ! शिव !' यह शिवनाम मुझे किसी विलक्षण, अनिर्वचनीय परमानन्द-रूप अमृतसे आप्लावित दशामें ला देता है ।

वारि वारितभवार्ति मूर्ध्नि ते भाति भातिधवले हिमत्विषः ।
तेन ते नतिमिमो दवच्छिदे देहि देहिषु करावलम्बनम् ॥ १५ ॥

अन्वय—[प्रभो !] हिमत्विषः भातिधवले ते मूर्ध्नि वारितभवार्ति वारि भाति, तेन वयम् दवच्छिदे ते नतिम् इमः । [अतः] देहिषु करावलम्बनम् देहि ।

अर्थ—हे नाथ ! चन्द्रमाकी कान्तिसे अतीव स्वच्छ आपके मस्तक पर संसारकी जन्म-मरणरूप सकल पीड़ाओंको दूर करनेवाला गङ्गाजल सुशोभित हो रहा है। अतः हम लोग इन सांसारिक पाप-तापोंकी शान्तिके लिए आपकी प्रणतिकी शरण आ रहे हैं (आपकी स्तुति कर रहे हैं)। इसलिए हम-सरीखे अनाथोंको अपने हाथका सहारा दीजिये !

मूढमूढविपदं पदं शुचामन्धमन्धकरिपोऽरिपोथितम् ।
मोघमोघमितमेतमेनसां मां तमान्तकरतार तारय ॥ १६ ॥

अन्वय—अन्धकरिपो ! तमान्तकर-तार ! मूढम् ऊढविपदम्, अन्धम् मोघम् एनसाम् ओघम् इतम् एतम् माम् [भवोदधेः] तारय ।

अर्थ—हे अन्धकासुरके शत्रु ! सूर्यको नेत्र-गोलकमें धारण करनेवाले सदाशिव ! मोहसे अतीव व्याकुल, विपत्तिसागरमें पड़े, सम्पूर्ण शोकोंके आगार, अज्ञानसे अन्धे, काम-क्रोधादि शत्रुओंसे पिसे निरर्थक जन्म बितानेवाले और पापोंके प्रवाहमें डूबे मुझ अनाथको भव-सागरसे पार कीजिये ।

यं स्वयं स्वरसभैरवै रवैरक्षर क्षपितराक्षसेक्षसे ।
मारमार भुवि भासते स ते भानुभानुभरभासुरः सुरः ॥ १७ ॥

अन्वय—स्वरसभैरवैः रवैः क्षपितराक्षस ! अक्षर ! मारमार ! [त्वम्] यम् ईक्षसे, सः ते सुरः भानुभानुभरभासुरः भुवि भासते ।

अर्थ—स्वभावतः अतिभयङ्कर शब्दोंसे दुष्ट राक्षसोंका क्षय करनेवाले, हे अक्षर अविनाशी देव ! कामको मारनेवाले सदाशिव ! आप स्वयं करुणादृष्टिसे जिस पुरुषको देख लेते हो, वह देवता सूर्य-किरणोंके समान देदीप्यमान होकर इस धरा-

---

१. 'स्थित' इति पाठान्तरम् ।

मण्डलमें परम शोभाको पाता है, अर्थात् जिस मनुष्यपर आपकी कृपा-दृष्टि हो जाती है, वह मनुष्य नहीं, किन्तु मनुष्यरूपमें देवता ही मालूम पड़ता है।

बाणबाणकृतपूजनैर्जनैरादरादघटि यैस्तव स्तवः।
वास्तवास्तव त एव तावता बन्दिवन्दितयशोगणा गणाः॥ १८॥

अन्वय—[हे विभो !] बाणबाणकृतपूजनैः यैः जनैः आदरात् तव स्तवः अघटि, तावता एव तेतव वास्तवाः बन्दिवन्दितयशोगणाः गणाः [भवन्ति]।

अर्थ—भगवन्! बाणनामक पुष्पोंसे बाण-लिंग (जागेश्वर-प्रतिमा नामक सूक्ष्मलिङ्ग) का पूजन करनेवाले जो लोग आदरपूर्वक आपकी स्तुति किया करते हैं, बस, उतने ही पूजनसे वे लोग बन्दियों द्वारा वन्दित-यशोगण (जिनके यशका गायन किया जाता है ऐसे) होते हुए आपके गण (अनुचर) बन जाते हैं।

त्वां सतामरसवासवासवाः ज्ञातदुर्गमगमागमागमाः।
अर्चयन्ति सदिनं दिनंदिनं गीर्भिरम्बरसदःसदःसदः॥ १९॥

अन्वय—[हे प्रभो !] सतामरसवासवासवाः ज्ञातदुर्गमगमागमागमाः अम्बरसदःसदः-सदः त्वाम् सदिनम् गीर्भिः दिनंदिनम् अर्चयन्ति।

अर्थ—हे प्रभो! वासव (इन्द्र) के पान करने योग्य कमलों सहित आसवका पान करनेवाले और अत्यन्त दुर्गम (दुर्विज्ञेय) समस्त वेद-शास्त्रोंके गूढ़ रहस्यको जाननेवाले देव-सभाके सदस्य (देवता लोग) अपनी वाणियोंके द्वारा आप परम प्रभुकी प्रतिदिन पूजा किया करते हैं।

न मे तथा प्रीतिमनेकपाली करोति नो वा दयिताङ्कपाली।
यथोक्तिदेवी स विभुः कपाली ययार्च्यते सेवकलोकपाली॥ २०॥

अन्वय—सेवकलोकपाली कपाली सः विभुः यया अर्च्यते, [सा] उक्तिदेवी यथा मे प्रीतिम् करोति, अनेकपाली दयिताङ्कपाली वा तथा मे प्रीतिम् नो करोति।

अर्थ—सेवक लोगोंका पालन और हाथमें कपालको धारण करनेवाले प्रभु (भगवान् सदाशिव) की स्तुति करनेवाली वाणी मुझे जितनी प्रिय लगती है, उतनी प्रिय हाथियोंकी वह आली (घटा) और प्रियतमाकी अङ्कपाली (आलिङ्गन) भी नहीं लगती।

भवन्तमाराध्य परार्ध्यवैभवं भवं विधाय द्विषतां पराभवम्।
भवं च जित्वा जहतः पुनर्भवं भवन्ति मुक्ताः पदमाप्य शाम्भवम्॥ २१॥

अन्वय—[भक्ताः] परार्ध्यवैभवम् भवन्तम् भवम् आराध्य, द्विषताम् पराभवम् विधाय, भवं च जित्वा पुनर्भवं जहतः शाम्भवम् पदम् आप्य, मुक्ताः भवन्ति।

अर्थ—भक्त लोग आप अपार ऐश्वर्यशाली भगवान् शिवकी आराधना कर, आन्तर और बाह्य शत्रुओंका पराभव कर, संसारको जीत, पुनर्जन्मसे छूटते हुए शिवलोक प्राप्त कर, मुक्त हो जाते हैं।

न वंशवृत्तेर्गणयामि तानवं न बन्धुरं कञ्चन नौमि मानवम् ।
नवं तवानन्दितदेवदानवं न वञ्चितोऽहं रचयन्सदा नवम् ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] अहम् वंशवृत्तेः तानवम् न गणयामि । कञ्चन बन्धुरम् मानवम् न नौमि । आनन्दितदेवदानवम् तव नवम् नवम् रचयन् अहम् [विधिना] न वञ्चितः ।

अर्थ—हे भगवन् ! मैं कुल-मर्यादाके तानव (कमी)को कुछ नहीं गिनता और न किसी रमणीय (श्रेष्ठ) मानवकी प्रशंसा ही करता हूँ। कारण, मैं देव और दानवोंको आनन्द देनेवाली आपकी नवीन-नवीन स्तुति रचता हुआ दैवका मारा नहीं हूँ, अर्थात् महान् भाग्यशाली हूँ ।

धनञ्जयाक्षं सकलार्थसाधनं धनञ्जयाराधितमाधिबाधनम् ।
धनं विदित्वा विपदां विशोधनं धनन्ति धन्या विभुमृद्धिवर्धनम् ॥ २३ ॥

अन्वय—विपदाम् विशोधनम् धनम् विदित्वा धन्याः धनञ्जयाक्षम् सकलार्थसाधनम् आधिबाधनम् ऋद्धिवर्धनम् विभुम् धनन्ति ।

अर्थ—सम्पूर्ण सांसारिक विपत्तियोंको दूर करनेवाले शिव-स्तुतिरूप धनको जानकर धन्यात्मा लोग तृतीय नेत्रमें अग्निको धारण करनेवाले, सकल पुरुषार्थोंके साधनभूत, अर्जुनसे आराधित, सम्पूर्ण पीड़ाओंका नाश करनेवाले एवं सकल सम्पत्तियोंको बढ़ानेवाले भगवान् शिवकी प्रार्थना किया करते हैं ।

कलापिनः प्रावृषि यद्वदम्बुदध्वनिर्घनानन्दविशङ्कलापिनः ।
कलापिनद्धस्फुटजूटधारिणस्तथामृतं वर्षतु गीः कलापि नः ॥ २४ ॥

अन्वय—यद्वत् प्रावृषि अम्बुदध्वनिः घनानन्दविशङ्कलापिनः कलापिनः अमृतम् [वर्षति], तथा कलापिनद्धस्फुटजूटधारिणः कला गीः अपि नः अमृतम् वर्षतु ।

अर्थ—जैसे वर्षाकालमें मेघोंकी ध्वनि गाढ़ आनन्दसे निःशङ्क गाते हुए मयूरके लिए अमृत बरसाती है; वैसे ही चन्द्रकलासे बँधे जटाजूटको धारण करनेवाले भगवान् शङ्करकी मधुर वाणी भी हमारे लिए अमृतकी वर्षा करे ।

नृजन्म तस्यैव भवानवद्यं भवानवद्यन्दवमीक्षते यम् ।
त्यजत्यजातोपरमा समानं रमासमानन्दकरी न चैनम् ॥ २५ ॥

अन्वय—भव ! दवम् अवद्यन् भवान् यम् ईक्षते, तस्यैव नृजन्म अनवद्यम् । अजातोपरमा असमानन्दकरी रमा च समानम् एनम् न त्यजति ।

अर्थ—हे भगवन् ! सन्तापको मिटाते हुए आप जिस धन्यात्माको अपनी प्रसाद-दृष्टिसे निहार लेते हो, उसी पुरुषका मानव-जन्म निर्दोष यानी सार्थक है। परमानन्ददायिनी और अक्षय मोक्षलक्ष्मी भी उस सम्मानित पुरुषको कभी नहीं त्यागती ।

[अब तीन श्लोकों द्वारा इस स्तोत्रका उपसंहार करते हैं]

अतः परं जगति किमस्ति नीरसं
यदुक्तमप्यसकृदुदीर्यते वचः।
सहस्रशश्चिरमपि चर्विता पुन-
र्नवं नवं स्रवति रसं शिवस्तुतिः ॥ २६ ॥

अन्वय— उक्तम् अपि वचः यत् असकृत् उदीर्यते, जगति अतः परम् नीरसम् किम् अस्ति ? [किन्तु] सहस्रशः चिरम् अपि चर्विता शिवस्तुतिः पुनः नवम् नवम् रसम् स्रवति।

अर्थ—कही हुई बातको जो फिर-फिर कहना, इससे बढ़कर संसारमें नीरस वस्तु और क्या होगी ? कुछ भी नहीं, अर्थात् जिस बातको कई बार कह दिया हो, उसीको फिर-फिर कहना बड़ा ही फीका मालूम पड़ता है। [किन्तु कितने आश्चर्यकी बात है कि] सहस्रों बार चिरकाल तक वर्णित भी भगवान् शिवकी स्तुति [बार-बार वर्णन करने पर भी] नित्य नवीन-नवीन रस टपकाती रहती है !

मृत्युं मृत्युञ्जय जय जगद्घस्मरं भस्मभावं
कामं कामं नय नयनजोद्दामधामच्छटाभिः।
भव्याभ व्याकुलकुलवधूरुत्कयेत्याचरन्तं
सत्रासत्राणचण चरितान्यद्भुतानि स्तुमस्त्वाम् ॥ २७ ॥

अन्वय—भव्याभ ! [त्वम् मदनुग्रहेण] जगद्घस्मरम् मृत्युम् जय, नयनजोद्दामधामच्छटाभिः कामम् भस्मभावम् नय, व्याकुलकुलवधूः उत्कय, इति अद्भुतानि चरितानि आचरन्तम् त्वाम्, हे सत्रासत्राणचण ! मृत्युञ्जय ! स्तुमः।

अर्थ—सौम्य, मेरे प्रिय सेवक वत्स ! 'तू मेरे अनुग्रहसे विश्व भक्षक कालको जीत ले, अपने नेत्रोंसे निकले तीव्र तेजकी छटाओंसे निश्चय ही कामको भस्म कर डाल और तेरे दर्शनके लिए व्याकुल कुल-वधुओंको परम उत्कण्ठित कर !' इस प्रकार [अपने सेवकको पुचकार कर आशीर्वाद देते हुए] अनेक अद्भुत चरित्र करनेवाले, भयभीतोंकी रक्षा करनेमें प्रख्यात हे मृत्युञ्जय ! हम आपकी स्तुति करते हैं।

यत्तत्सर्गनिसर्गनिर्मितिकरं यद्रावणद्रावण-
व्यापारावसरावसक्तमथ यत्संवर्तसंवर्तकम्।
स्वाभासं भवसंभवस्थितिलयस्फारोचितं रोचितं
भासा कारणकारणं दिशतु तद्धामेहितं मे हितम् ॥ २८ ॥

इति श्रीकाश्मीरकमहाकविश्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'हितं' नाम चतुर्दशं स्तोत्रम्।

अन्वय—यत् तत्सर्गनिसर्गनिर्मितिकरम्, यत् रावणद्रावणव्यापारावसरावसक्तम्, अथ

यत् संवर्तसंवर्तकम्, तत् स्वाभासम् भवसंभवस्थितिलयस्फारोचितम्, भासा रोचितम्, कारण-कारणम् धाम ईहितम् मे दिशतु ।

अर्थ—जो परमतेज [ब्रह्मारूपसे] स्वभावतः सृष्टिका निर्माण करता है, जो [विष्णु – रामरूपसे] रावणका नाश करनेमें लगा हुआ है, अर्थात् रावणका नाशकर जगत्-रक्षामें लगा है और जो रुद्ररूपसे प्रलयका प्रवर्तक होता है, वह जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेमें समर्थ, स्वानुभव मात्रसे गम्य और स्वयं प्रकाशसे दीप्त एवं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, शिव और सदाशिव इन छः जगत्कारणों का भी कारण, परम-शिव नामक परमज्योति मुझे अभीष्ट वर दे ।

पञ्चदश स्तोत्र

[अब यहाँसे भगवान्की करुणाका आराधन करनेके लिए कवि 'करुणाराधन' नामक पन्द्रहवें स्तोत्रका आरम्भ करते हैं—]

अधुना तपसेव देवतामभियोगेन सरस्वतीमिव ।
सुहृदेव समीहितां श्रियं प्रगुणेनेव गुणेन संसदम् ॥ १ ॥
प्रतिभामिव काव्यकर्मणा वसुना कीर्तिमिवार्थिगामिना ।
मनसीव शमेन निर्वृतिं सुकृतेनेव परत्र सद्गतिम् ॥ २ ॥
करुणां हरिणाङ्कलक्ष्मणः सकलार्थार्पणकल्पवल्लरीम् ।
विपदन्तकरीमुपासितुं स्तुतिलेशेन मनः प्रवर्तते ॥ ३ ॥
[तिलकम्]

अन्वय—[सकलार्थार्पणकल्पवल्लरीम् विपदन्तकरीम्] देवताम्, तपसा [उपासितुम्] इव, अभियोगेन सरस्वतीम् [उपासितुम्] इव, सुहृदा समीहिताम् श्रियम् [उपासितुम्] इव, प्रगुणेन गुणेन संसदम् [उपासितुम्] इव, काव्यकर्मणा प्रतिभाम् [उपासितुम्] इव, अर्थिगामिना वसुना कीर्तिम् [उपासितुम्] इव, शमेन मनसि निर्वृतिम् [उपासितुम्] इव, सुकृतेन परत्र सद्गतिम् [उपासितुम्] इव, अधुना स्तुतिलेशेन सकलार्थार्पणकल्पवल्लरीम् विपदन्तकरीम् हरिणाङ्कलक्ष्मणः करुणाम् उपासितुम् [मे] मनः प्रवर्तते ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष तपस्यासे, कल्पलताके समान सकल पुरुषार्थोंको देनेवाली और विपत्तियोंका नाश करनेवाली देवताकी उपासना (आराधना करने) में प्रवृत्त होता है, जैसे कोई अभ्यासके द्वारा सरस्वतीकी उपासनामें प्रवृत्त होता है, जैसे कोई मित्रों के द्वारा स्वाभीष्ट लक्ष्मीकी उपासना (उपार्जन) करनेमें प्रवृत्त होता है, जैसे कोई (दया, दान, दाक्षिण्य आदि) सद्गुणोंसे परिपूर्ण पांडित्य द्वारा सभाकी उपासनामें प्रवृत्त होता है, जैसे कोई कविता-चातुरीसे प्रतिभाको उपार्जित करता है, जैसे कोई सत्पात्रमें दान किये धनसे सुकीर्तिको उपार्जित करता है, जैसे कोई शम (इन्द्रियोंके निग्रह) द्वारा अपने मनकी शान्ति प्राप्त करता है, जैसे कोई पुण्योपार्जनसे परलोकमें सद्गतिको प्राप्त करनेके लिए प्रवृत्त होता है; वैसे ही अब

मेरा मन लेशमात्र स्तुति द्वारा, सकल पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों) की कल्पवल्ली और सम्पूर्ण विपत्तियों का नाश करनेवाली, भगवान् शङ्करकी करुणा (कृपा) की उपासना (आराधना) करनेमें प्रवृत्त होता है ।*

करुणां भवतो विकासिनीममलैरीश गुणैरलङ्कृताम् ।
नलिनीमलिनीव भारती भजतीयं मम वल्गुवादिनी ॥ ४ ॥

अन्वय—ईश ! [वल्गुवादिनी] अलिनी [विकासिनीम् अमलैः गुणैः अलंकृताम्] नलिनीम् इव इयम् वल्गुवादिनी मम भारती, विकासिनीम् अमलैः गुणै अलङ्कृताम् भवतः करुणाम् भजति ।

अर्थ—हे परमेश्वर ! जैसे मधुर स्वरोंवाली भ्रमरी, विकसित और सुनिर्मल गुणों (तन्तुओं) से अलंकृत कमलिनीका सेवन करती है, वैसे ही अतीव मधुर

---

* इसी आशयसे टीकाकार श्रीरत्नकण्ठने भी चार पद्य रचे हैं, जिनमें तृतीय पद्यकी अर्धाली खण्डित हो जानेसे नहीं मिलती, शेष श्लोक इस प्रकार हैं—

प्रभातलेखेव रथाङ्गनाम्नां मल्ली प्रफुल्लेव मधुव्रतानाम् ।
दीप्तिः खरांशोरिव पङ्कजानां वृष्टिर्घनोत्थेव दवार्दितानाम् ॥
छायेव वृक्षस्य सदाध्वगानां शीताम्बुधारेव तृषातुराणाम् ।
वाणीव साधोः कलिखेदितानां सुधेव दुर्मृत्युभयाकुलानाम् ॥
.... ।
शम्भुस्तुतिस्तत्पदभावितानामश्रान्तमानन्दभरं तनोति ॥'

(तिलकम्)

अर्थात् जिस प्रकार चक्रवाकोंको (चकवा चकवीको) प्रभातकालकी रेखा (लकीर) अमन्द आनन्द देती है, खिली हुई मल्लिका मधुसेवी भ्रमरोंको आनन्द देती है, सूर्यकी किरणें कमलोंको विकासका आनन्द सरसाती है, मेघवृष्टि दावानलसे पीड़ितोंको सन्तर्पित करती है, वृक्षकी छाया पथिकोंको यात्राक्लमके परिहारका आनन्द देती है, शीत-मधुर जल धारा पिपासुओंको तृप्त करती है, सन्तोंकी वाणी कलिकालके कष्टोंसे खिन्नजनोंको आश्वासनका आनन्द देती है, अपमृत्युके भयसे व्याकुल जनोंको सुधा (अमृत) आनन्द देती है । उसी तरह भगवान् सदाशिव की स्तुति शिवभक्तोंको निरन्तर विपुल आनन्द देती है ।

'दिष्ट्या प्रपेव तृषितेन मरुप्रचारात्
क्लिन्नेक्षणेन घनसारशलाकिकेव ।
छाया तरोरिव परिश्रमिणाध्वगेन
तापातुरेण समवापि महेशभक्तिः ॥'

अर्थात् जिस प्रकार मरुभूमि में चलनेके कारण पिपासित व्यक्तिको सौभाग्यवश प्रपा (प्याऊ) प्राप्त हो जाती है, नेत्र-रोगीको सौभाग्यवश कपूरकी सलाई मिल जाती है, लम्बी यात्रासे थके-माँदे पथिकको सौभाग्यवश वटवृक्षकी सघन छाया मिल जाती है, उसी प्रकार त्रिविध तापोंसे संतप्त मुझे सौभाग्यवश आशुतोष भगवान् शंकरकी भक्ति प्राप्त हो गयी है ।

बोलनेवाली यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) आपकी अत्यन्त विशाल (अपार) और निष्कपट* गुणोंसे अलंकृत करुणाकी सेवा कर रही है ।

उपलक्ष्य तवान्धकारितां मयि धत्ते पदमन्धकारिता ।
विषमामवलोक्य ते दृशं मम दृष्टिर्विषमत्वमश्नुते ॥ ५ ॥

अन्वय—[ईश !] तव अन्धकारिताम् उपलक्ष्य मयि अन्धकारिता पदम् धत्ते, ते विषमाम् दृशम् अवलोक्य, मम [अपि] दृष्टिः विषमत्वम् अश्नुते ।

अर्थ—हे ईश ! आपकी अन्धकारिता (अन्धकासुरसे शत्रुता) देख मुझमें भी 'अन्धकारिता' (अज्ञानता) आ गयी है, और आपकी 'विषम दृष्टि' (तीन नेत्र) देखकर मेरी भी दृष्टि 'विषमता' (उग्रता) को प्राप्त होती है ।

तव वीक्ष्य वृषाधरीकृतिं घटते मेऽपि वृषाधरीकृतिः ।
धृतवक्रकलत्वमीक्ष्य ते प्रथते वक्रकलत्वमेव मे ॥ ६ ॥

अन्वय—[हे विभो !] तव वृषाधरीकृतिम् वीक्ष्य, मे अपि वृषाधरीकृतिः घटते, ते धृतवक्रकलत्वम् ईक्ष्य मे [अपि] वक्रकलत्वम् एव प्रथते ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी 'वृषाधरीकृति' (वृषभ-वाहनता) देख मेरी भी 'वृषाधरीकृति' (धर्मकी अधोगति) होती है और आपके 'धृतवक्रकलत्व' (चन्द्रमाकी कुटिल कलाके धारण) को देखकर मुझमें भी 'धृत-वक्र-कलत्व'—कुटिल-शिल्प-कला अर्थात् कपटमयी जीविकाका भाव—आ गया है ।

तव वीक्ष्य च भग्नकामतामुदितेयं मम भग्नकामता ।
करुणामपि ते समीक्ष्य मे करुणा गीर्न कथं प्रवर्तताम् ॥ ७ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] तव भग्नकामताम् वीक्ष्य मम च इयम् भग्नकामता उदिता, ते करुणाम् अपि समीक्ष्य मे [अपि] करुणा गीः कथं न प्रवर्तताम् ?

अर्थ—हे नाथ ! आपकी भग्नकामता (कामदेवका नाश कर देना) देखकर मुझमें भी यह भग्नकामता (क्षीण-मनोरथता) उदित हो गयी है, तो फिर आपकी करुणाको भी देखकर मेरी भी वाणी करुणा (दीन) क्यों न बन जाय ?

ससुरासुरमानुषं जगद्यदधीनं स भवानपीश्वरः ।
वशवर्तिपदे ययार्पितो जयतीयं करुणैव तावकी ॥ ८ ॥

अन्वय—ससुरासुरमानुषम् जगत् यदधीनम्, सः भवान् ईश्वरः अपि यया वशवर्तिपदे अर्पितः, [सा] इयम् तावकी करुणा एव जयति ।

अर्थ—अहा, हे प्रभो ! देव, दानव और मनुष्यों सहित यह समस्त जगत जिसके अधीन है, उस आप ईश्वरको भी जिस (कृपा) ने अपने अधीन कर रक्खा है, वह आपकी करुणा ही सर्वोत्कृष्ट (सर्वसमर्थ) है ।

---

* अनाथ और दीनजनोंपर अकारण उपकार आदि निष्कपट गुणोंसे भरी ।

करुणा तव जीवितेश्वरीमतिशेते भगवन्नुमामपि ।
उमया हृतमर्धमेव यत्सकलस्त्वं पुनरेतया हृतः ॥ ९ ॥

अन्वय—भगवन् ! तव करुणा [तव] जीवितेश्वरीम् उमाम् अपि अतिशेते, यत् उमया तव वपुषः अर्धमेव हृतम्, एतया पुनः त्वम् सकलः हृतः ।

अर्थ—हे षड्विध-ऐश्वर्यशालिन् प्रभो ! आपकी करुणा [निमेषमात्रमें तीनों लोकोंका उद्धार करनेवाली] आपकी प्राणेश्वरी पार्वतीजीसे भी अधिक श्रेष्ठ है । कारण, उमा (अपर्णा) [अनन्यसाधारण कठोर तपसे शरीरको अत्यन्त कृश करके भी अर्धनारीश्वर रूपमें] आपके शरीरका आधा ही भाग हर सकीं, परन्तु इस करुणाने तो आपको सम्पूर्ण ही हर लिया है, अर्थात् समय-समयपर अनाथोंका रक्षण करनेके लिए अनेक रूपधारी बना डाला है ।

करुणा तव शस्यते यया जितकामोऽपि भवान् वशीकृतः ।
इदमन्यदियं यदम्बिकामपि देवीमनयद्विधेयताम् ॥ १० ॥

अन्वय—[अस्माभिः] तव करुणा शस्यते, यया जितकामः अपि भवान् वशीकृतः । इदम् [च] अन्यत् [अद्भुतम्] यत् इयम् देवीम् अम्बिकाम् अपि विधेयताम् अनयत् ।

अर्थ—हे प्रभो ! हम तो आपको करुणाकी प्रशंसा करते हैं, जिसने जितकाम (कामदेवपर विजय पानेवाले, जितेन्द्रिय) आपको भी अपने वशमें कर लिया है । हे नाथ ! एक यह और भी आश्चर्यकी बात है कि इसने [न केवल आपको वशमें कर रखा है, किन्तु] आपकी प्राणेश्वरी जगज्जननी उमाको भी अपने वशमें कर लिया है ।

जगदम्बुभुवा भुवाम्भसा सितभासा नभसा नभस्वता ।
धृतमुष्णरुचात्मना च यत्करुणाया महिमा तवेश सः ॥ ११ ॥

अन्वय—ईश ! [जगद्रक्षणाय अष्टमूर्तिधरेण त्वया] यत् अम्बुभुवा* भुवा अम्भसा सितभासा नभसा नभस्वता उष्णरुचा आत्मना च जगत् धृतम्, सः महिमा तव करुणायाः [एव] ।

अर्थ—हे ईश ! जगत्की रक्षाके निमित्त [स्वेच्छा-निर्मित अष्टमूर्ति आपने] जो अग्नि, पृथिवी, जल, चन्द्रमा, आकाश, वायु, सूर्य और आत्मा (प्रकृति और विकृतिसे पृथक् स्थित यजमान-रूप), इन अष्ट-मूर्तियोंसे त्रैलोक्यको धारण किया है, यह सब महिमा भी तो आपकी करुणाकी ही है ।

अहतप्रसरां प्रसादिनीं सहसापोहिततापसंपदम् ।
शरणं करुणातरङ्गिणीं प्रतिपद्ये तव देव पावनीम् ॥ १२ ॥

अन्वय—देव ! अहतप्रसराम् प्रसादिनीम् सहसा अपोहिततापसंपदम् पावनीम् तव करुणातरङ्गिणीम् [अहम्] शरणम् प्रतिपद्ये ।

---

* अग्निना, 'अद्भ्योऽग्निर्जातः' इति श्रुतेः ।

अर्थ—हे देव ! अप्रतिहत शक्तिसम्पन्न, अनुग्रहसे परिपूर्ण और समस्त तापोंको शीघ्र समूल नष्ट करनेवाली आपकी पतित-पावनी करुणा-तरङ्गिणी (कृपारूपिणी गङ्गा) की मैं शरण लेता हूँ ।

प्रणयेन चिरं प्रसादिता मदनाशाकुलितेन चेतसा ।
तरुणी करुणा करोति ते न कथं नाथ हृदि स्थिरं पदम् ॥ १३ ॥

अन्वय—नाथ ! मदनाशाकुलितेन चेतसा चिरम् प्रणयेन प्रसादिता तरुणी करुणा ते हृदि स्थिरम् पदम् कथं न करोति ।

अर्थ—हे नाथ ! मदके नाशसे आकुलित चित्त द्वारा चिरकाल तक प्रणय-पूर्वक (बड़े प्रेमसे) प्रार्थनावश प्रसन्न की हुई तरुणी (अतीव उदार) करुणा आपके हृदयमें अपना चिरस्थायी स्थान क्यों नहीं बना लेती ?*

भुजगा इव चन्दनद्रुमं ग्लपयन्तो विषमा नयन्ति माम् ।
परिहार्यदशामरातयो मदमानप्रमुखा धृतिच्छिदः ॥ १४ ॥

अन्वय—यथा¶ धृतिच्छिदः विषम् ग्लपयन्तः भुजगाः चन्दनद्रुमम् परिहार्यदशाम् आनयन्ति तथा धृतिच्छिदः विषमाः मदमानप्रमुखाः अरातयः ग्लपयन्तः [माम्] परिहार्य-दशाम् नयन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! जैसे देखते ही मनुष्यका धैर्य नष्टकर देनेवाले, विषको उगल रहे, अति भीषण सर्प चन्दन-वृक्षको सर्वसाधारणके लिए त्याज्य बना देते हैं (अर्थात् सेवनीय नहीं रखते), वैसे ही धैर्य और सुखका विच्छेद करनेवाले ये उग्र मद, मान आदि शत्रु मारते हुए मुझे त्याज्य अवस्था (सब लोगोंसे त्याग देने योग्य दशा) को पहुँचा रहे हैं ।

करुणामरुणानुजन्मनस्तनुमुच्चैरिव पक्षपातिनीम् ।
समुपैमि धृताच्युतश्रियं शरणं भूधरपुत्रिकापतेः ॥ १५ ॥

अन्वय—[उच्चैः पक्षपातिनीम् धृताच्युतश्रियम्] अरुणानुजन्मनः तनुम् इव, [भक्तजनेषु] उच्चैः धृताच्युतश्रियम् भूधरपुत्रिकापतेः करुणाम् शरणम् समुपैमि ।

अर्थ—मैं अत्यन्त ऊँचे पक्षों (पङ्खों) से चलनेवाली तथा पीठपर अच्युत और श्री (श्रीविष्णु और लक्ष्मी) को धारण करनेवाली अरुणानुज (गरुड़ *) की

---

* कविने यहाँ श्लेषोक्तिसे प्रभुका खूब उपहास कर चमत्कार दिखाया है । वह कहता है—प्रभो ! मदन (कामदेव) की आशासे विह्वलित चित्त द्वारा चिरकाल तक बड़े प्रणय पूर्वक प्रसन्न की हुई तरुणी युवती अर्थात् षोडशवर्षीया 'करुणा' नायक-शिरोमणि आपके मनमें अपना चिरस्थायी स्थान क्यों नहीं बनाती ?

¶ श्लोकस्थ 'इव' शब्दके अर्थ 'यथा' को लेकर यह अन्वय किया गया है ।

* सूर्यका सारथि अरुण और विष्णुवाहन गरुड़ दोनों कश्यप एवं विनताके पुत्र हैं । उनमें भी अरुण गरुड़का अग्रज (बड़ा भाई) है और गरुड़ अरुणका (छोटा भाई) । देखिये—अमरकोष (१।१।३२) 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः ।'

कायाके समान भक्तजनोंपर उच्च पक्षपात (अधिक स्नेह) रखनेवाली और अच्युत-श्री (अक्षय लक्ष्मी) को धारण करनेवाली गिरिजा-पति भगवान् शिवकी करुणाकी मैं शरण ले रहा हूँ।

स्फुरितारुणचारुचक्षुषा वपुषा निर्भरघर्मविप्रुषा।
परुषाशयतामुपेयुषा सरुषा यत्प्रहरन्ति योषितः ॥ १६ ॥
भगवन् दृढबद्धमूलयोर्द्विषतोरेष सहस्रशाखयोः।
अविषह्यनिपातपीडयोरनुभावः कुसुमेषुरोषयोः ॥ १७ ॥
अनयोः करुणैव तावकी नियतं मूलनिकृन्तनक्षमा।
यमलार्जुनयोरिवोर्जिता शिशुलीला नरकान्तकारिणः ॥ १८ ॥

[तिलकम्]

अन्वय—स्फुरितारुणचारुचक्षुषा निर्भरघर्मविप्रुषा परुषाशयताम् उपेयुषा सरुषा वपुषा योषितः यत् [पुरुषान्] प्रहरन्ति, भगवन् ! एषः दृढबद्धमूलयोः सहस्रशाखयोः अविषह्य-निपातपीडयोः द्विषतोः कुसुमेषुरोषयोः [एव] अनुभावः। अनयोः [पुनः] नरकान्तकारिणः ऊर्जिता शिशुलीला यमलार्जुनयोः इव, तावकी करुणा एव नियतम् मूलनिकृन्तनक्षमा।

अर्थ—अतिमनोहर चंचल लाल-लाल नेत्रों एवं सघन स्वेद-बिन्दुओंसे युक्त तथा कठोर-चित्तताको प्राप्त और क्रोध-युक्त शरीर द्वारा स्त्रियाँ जो पुरुषोंपर प्रहार किया करती हैं, भगवन् ! यह उन अत्यन्त दृढ़मूल अनेक शाखावाले और परिणाममें असह्य पीड़ादायक काम और क्रोधरूपी शत्रुओंका ही प्रभाव है। सो हे प्रभो ! जैसे उन यमलार्जुनोंका मूलोच्छेदन करनेमें श्रीकृष्णजीकी बाललीला समर्थ हुई, वैसे ही इन दोनों काम और क्रोधके मूलको काटनेके लिए एकमात्र आपकी करुणा ही समर्थ है।

न विधिर्निधिलाभसंभृतो न विनोदो मृगनाभिसम्भवः।
न च शारदचन्द्रचन्द्रिका न कलं कोकिलकण्ठकूजितम् ॥ १९ ॥
न शिशोरसमञ्जसं वचो न मृगाक्षीपरिरम्भविभ्रमः।
मधुरा न कवीन्द्रभारती न च साम्राज्यविभूतिजृम्भितम् ॥ २० ॥
न रसायनपानकौतुकं न च शक्रासनवासवासना।
परिपूरयितुं क्षमेत ते करुणाया हर षोडशीं कलाम् ॥ २१ ॥

[तिलकम्]

अन्वय—हर ! निधिलाभसंभृतः विधिः ते करुणायाः षोडशीम् कलाम् परिपूरयितुम् न क्षमेत, मृगनाभिसम्भवः विनोदः [अपि] ते…न क्षमेत, शारदचन्द्रचन्द्रिका [च] ते…न क्षमेत, कलम् कोकिलकण्ठकूजितम् [अपि] ते…न क्षमेत, शिशोः असमञ्जसम् वचः [च] ते…न क्षमेत, मृगाक्षीपरिरम्भविभ्रमः [च] ते…क्षमेत, मधुरा कवीन्द्रभारती [च] ते…न

क्षमेत, साम्राज्यविभूतिजृम्भितम् [च] ते⋯न क्षमेत, रसायनपानकौतुकम् [अपि] ते⋯न क्षमेत, शक्रासनवासवासना च ते करुणायाः षोडशीम् कलाम् [अपि] पूरयितुम् न क्षमेत ।

अर्थ—अयि सदाशिव ! महानिधिका लाभ आपकी करुणाकी सोलहवीं कलाकी पूर्ति (बराबरी) नहीं कर सकता। मृगनाभिकी सुगन्धसे उत्पन्न परम आनन्द भी आपकी करुणाकी सोलहवीं कलाकी तुलना नहीं कर सकता। शरत्कालीन पूर्ण चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना भी उसकी सोलहवीं कलाको तुलित नहीं कर सकती। कोकिलके कण्ठकी मधुर ध्वनि, बालकोंका असमञ्जस वचन (तोतले बोल), मृगनयनीका गाढ़ आलिङ्गन, महाकविकी सुमधुर वाणी और चक्रवर्तीका राज्य-वैभव, जरा-मरणको हरनेवाले रसायनके पानका कौतूहल और इन्द्रके सिंहासनपर बैठनेकी अभिलाषा—ये सभी वस्तुएँ आपकी करुणाकी सोलहवीं कलाकी भी समानता कदापि नहीं कर सकतीं।

सुरभिर्न मम स्पृहास्पदं सुरभिर्दक्षिणमारुतोऽपि वा।
सुरभिक्षुवितीर्णवाञ्छिता सुरभिर्नो करुणा यथा तव ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे विभो !] यथा तव करुणा मम स्पृहास्पदम्, तथा सुरभिः न, सुरभिः दक्षिणमारुतः अपि वा, सुरभिक्षुवितीर्णवाञ्छिता सुरभिः [च तथा मम स्पृहास्पदम्] न भवति ।

अर्थ—हे नाथ ! आपकी करुणा मुझे जितनी प्रिय लगती है, उतने प्रिय मुझे वह सुरभि (वसन्त), सुरभि (अत्यन्त सुगन्धित) मलय-मारुत और भिक्षुक देवताओंको मनोभीष्ट वर देनेवाली सुरभि (कामधेनु)—ये सब नहीं लगते।

समुदेति यदश्रु शोकजं रुचिरानन्दमयं विभाति तत्।
पुलकः प्रथते भयेन यः स चमत्कारकृतः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
क्लमजं दृशि यन्निमीलनं परमार्थानुभवादुदेति तत्।
शरणं करुणामुपेयुषां कृतिनां चन्द्रकिरीट तावकीम् ॥ २४ ॥
[युग्मम्]

अन्वय—चन्द्रकिरीट ! शोकजम् यत् अश्रु समुदेति, तत् तावकीम् करुणाम् शरणम् उपेयुषाम् कृतिनाम् रुचिरानन्दमयम् विभाति । भयेन यः पुलकः प्रथते, सः चमत्कारकृतः प्रवर्तते । दृशि यत् क्लमजम् निमीलनम्, तत् परमार्थानुभवात् उदेति ।

अर्थ—अयि चन्द्रमुकुटधारिन् ! सांसारिक जनोंका जन्म, जरा, मरणादि शोकसे जो अश्रुपात होता है, वही अश्रुपात आपकी करुणाके शरणमें आये हुए पुण्यात्माओंको परम आनन्दमय प्रतीत होता है। सांसारिकोंको जन्म-मरणके भयसे जो रोमाञ्च होता है, वही उनमें भक्ति-रसके अद्भुत चमत्कारसे प्रकट होता है। और संसाररूपी मरुस्थलमें भ्रमणके श्रमसे सांसारिकोंके नेत्रोंमें जो निमीलन होता है, वही (नेत्र-निमीलन) उनको तत्त्वज्ञानके साक्षात्कारसे उदित होता है। अर्थात् अश्रुपात, रोमाञ्च आदि अवस्थाएँ शोक और आनन्द उभयजन्य होती हैं।

भजतः सरलेव भारती नरकङ्कालकृतग्रहस्य मे।
करुणा प्रथतामुमापते कलिकालाञ्छितविग्रहस्य ते ॥ २५ ॥

अन्वय—उमापते ! कालकृतग्रहस्य कलिकालाञ्छितविग्रहस्य, नरकम् भजतः मे भारती सरला इव प्रथताम्। (माम् दृष्ट्वा नरकङ्कालकृतग्रहस्य, कलिका-लाञ्छित-विग्रहस्य) ते करुणा (अपि) प्रथताम्।

अर्थ—हे उमानाथ ! मृत्युसे पकड़े हुए, कलिकाल द्वारा वृद्धिंगत वैर-भाववाले और नरकको प्राप्त मुझ दीनकी यह वाणी (स्तुति) साध्वी स्त्रीके समान विकासको प्राप्त हो और मुझ दीनको देखकर नरकंकाल (मुण्डमाला) के व्यसनी (धारण करनेवाले) और चन्द्रकलासे सुशोभित शरीरवाले आपकी करुणा भी विकसित (वृद्धिको प्राप्त) हो।

भगवन् मदिरामदोन्मदप्रमदापाङ्गतरङ्गभङ्गुरम्।
जरसा तरसावसादितं वपुरायाति न यावदापदम् ॥ २६ ॥
कुपितान्तककिङ्करेरितः कुटिलां तद्भ्रुकुटिं विडम्बयन्।
न घनाञ्जनपुञ्जसन्निभो भुजगो यावदुदेति कन्धराम् ॥ २७ ॥
न कुकर्मविपाककल्पिता नरके यावदुदेति वेदना।
गदिता शमनानुगामिभिः परुषा गीरिव मर्मभेदिनी ॥ २८ ॥
यदि तावदियं न गाहते हृदयं ते करुणातरङ्गिणी।
बत दुःसहतापसंपदामितरा का शरणार्थिनां गतिः ॥ २९ ॥
[कलापम्]

अन्वय—भगवन् ! मदिरामदोन्मदप्रमदापाङ्गतरङ्गभङ्गुरम् जरसा तरसा अवसादितम् (मम) वपुः यावत् आपदम् न आयाति; कुपितान्तककिङ्करेरितः कुटिलाम् तद्भ्रुकुटिम् विडम्बयन् घनाञ्जनपुञ्जसन्निभः भुजगः च यावत् कन्धराम् न उपैति; कुकर्मविपाककल्पिता वेदना नरके शमनानुगामिभिः गदिता परुषा मर्मभेदिनी गीः इव यावत् न उदेति; [हे दयालो !] तावत् यदि इयम् ते करुणातरङ्गिणी ते हृदयम् न गाहते, तर्हि बत दुःसहताप-सम्पदाम् शरणार्थिनाम् इतरा का गतिः ?

अर्थ—हे भगवन ! मदिराके मदसे उन्मत्त वाराङ्गनाके कुटिल कटाक्षोंके समान चञ्चल और जरा (वृद्धावस्था) द्वारा बलात् जीर्ण किया हुआ यह मेरा शरीर जब तक विनाशको प्राप्त नहीं होता; अत्यन्त कुपित यमदूतोंसे प्रेरित उनकी ही कुटिल भ्रुकुटिका अनुकरण करनेवाला भयानक और गाढ़ कज्जलके पुञ्जके समान काला नागपाश जब तक गलेमें नहीं पड़ जाता और कुकर्मोंके परिपाकसे प्राप्त वेदना नरकमें यमदूतों द्वारा कही हुई अति कठोर मर्मभेदी वाणीके समान जब तक प्राप्त नहीं हो जाती, हे दयालो ! तब तक (उसके पहले ही) यदि आपके हृदय-सागरमें वह करुणा-नदी, न उमड़ पड़े, तो हाय ! फिर अत्यन्त असह्नीय सन्तापोंसे

तब हम दीन शरणागतोंकी क्या दशा होगी ?

न समानसमागमा तथा प्रमदाय प्रमदा यतात्मनाम् ।
शिवदा शिवदास्यकृद्यथा स्वदमानस्वदमानघा मतिः ॥ ३० ॥

अन्वय—यथा स्वदमानस्वदमा शिवदा शिवदास्यकृत् अनघा मतिः यतात्मनाम् प्रमदाय [भवति] तथा समानसमागमा प्रमदा न ।

अर्थ—परमशान्तिको प्राप्त शिवदा (कैवल्यदायिनी) और शिवकी सेवामें परायण निर्मल मति, जितेन्द्रिय (तपस्वी) लोगोंको जैसा परमानन्द प्रदान करती है, वैसा आनन्द मानपूर्वक प्राप्त होनेवाली मानवती (प्रणय-कुपिता) युवती कदापि नहीं दे सकती ।

एकः पुरन्दरपुरं दरवेल्लितभ्रूः
किंस्विज्जनङ्गमजनं गमयेन्महर्षिः ।
किं तामसं पदमसम्पदमिन्द्रमन्यो
धन्योदया भव दया भवतो न चेत्स्यात् ॥ ३१ ॥

अन्वय—भव ! भवतः धन्योदया दया चेत् न स्यात्, तर्हि दरवेल्लितभ्रूः एकः महर्षिः जनङ्गमजनम् पुरन्दरपुरम् किंस्वित् गमयेत् ? [तथा] अन्यः महर्षिः इन्द्रम् असम्पदम् तामसम् पदम् किं गमयेत् ।

अर्थ—भगवन् ! यदि आपकी धन्योदया (धन्य उदयवाली) दया न होती, तो फिर किञ्चित् भ्रूभङ्गमात्रसे ही एक महर्षि अर्थात् विश्वामित्र [वशिष्ठके शापसे] चाण्डाल बने त्रिशंकुको स्वर्गमें कैसे पहुँचाते ।* और दूसरे महर्षि अर्थात् गौतम इन्द्रको शोभाविहीन (सहस्रभग रूप) अन्धमय पदको कैसे पहुँचा सकते ? अर्थात् महर्षि विश्वामित्र और गौतमको वह शापानुग्रह करनेकी शक्ति आपकी ही कृपासे तो प्राप्त हुई ।

---

* इस सम्बन्धमें पुराणोंमें निम्नलिखित दो आख्यायिकाएँ पायी जाती हैं — एक बार राजा त्रिशंकुने एक यज्ञ आरम्भ किया, किन्तु मदान्ध हो अपने पुरोहित महर्षि वशिष्ठजी-को उसमें निमन्त्रण नहीं दिया । इस कारण वशिष्ठजीने कुपित होकर उस त्रिशंकुको शाप दिया कि 'जनङ्गमो भूयाः' (तू चाण्डाल बन जा) । तब फिर महर्षि विश्वामित्रजीने भगवत्कृपाके बलसे उस चाण्डाल बने त्रिशंकुको स्वर्गमें पहुँचा दिया ।

इसी तरह एक बार इन्द्रने महर्षि गौतमकी पत्नी अहल्याका गौतमवेषमें शीलभङ्ग किया । उतनेमें गौतम आ पहुँचे, तब इन्द्र उनके भयसे मुनि-पत्नीकी योनिमें जाकर छिप गया । फिर जब महर्षिने स्नान कर अग्निहोत्रके समय 'इन्द्राय स्वाहा' कहकर इन्द्रको आहुति दी तो वह (इन्द्र) अपना हाथ लम्बा करता हुआ भग (योनि) से निकला । इसपर गौतमने अत्यन्त कुपित होकर उसे 'त्वं सहस्रभगो भूयाः' (तू हजार भगोंवाला हो जा !) ऐसा शाप दिया । उस दिनसे इन्द्र सहस्रभग हो गया ।

आर्द्रे मनस्युदितमार्तजनोपताप-
संपर्कतोऽथ दृशि कन्दलितं शुभायाम्।
वाचि क्षणात्कुसुमितं फलितं च कृत्ये
कारुण्यबीजमजरं जयतीन्दुमौलेः ॥ ३२ ॥

अन्वय—[विभोः] आर्द्रे मनसि आर्तजनोपतापसंपर्कतः उदितम्, अथ शुभायाम् दृशि कन्दलितम्, वाचि क्षणात् कुसुमितम् [पुनः] कृत्ये च फलितम्, इन्दुमौलेः अजरम् कारुण्यबीजम् जयति।

अर्थ—प्रभुके कोमल अन्तःकरणमें, आर्तजनोंके सन्तापके सम्पर्कसे, उगा हुआ, फिर उनकी करुणाभरी शोभन दृष्टिमें वृद्धिको प्राप्त, पश्चात् क्षणमात्रमें वाणीमें ('मत डरो ! मत डरो !' इस प्रकारके अभय शब्दोंमें) विकसित और पुनः दीनोंकी रक्षा करनेमें फलित, भगवान् शङ्करका अजर करुणारूपी बीज सर्वसमर्थ है, अर्थात् उसकी बलिहारी है।

[अब यहाँसे कवि, चार श्लोकों द्वारा प्राणियोंकी अन्तिम अवस्थाका वर्णन करते हुए प्रभुके चित्तमें करुणा उत्पन्न करनेवाला दीन आक्रन्दन करते हैं—]

रोगैरुग्रैरखिलविगलत्सौष्ठवो नष्टचेष्टः
पर्यस्ताङ्गोऽशुचिनि शयने भग्नसर्वाभ्युपायः।
यावज्जीवं विहितमहितं कर्म कर्तव्यमूढः
स्मृत्वा स्मृत्वा दलितहृदयः कातरः कान्दिशीकः ॥ ३३ ॥

अन्वय—उग्रैः रोगैः अखिलविगलत्सौष्ठवः नष्टचेष्टः, [अत एव] अशुचिनि शयने पर्यस्ताङ्गः भग्नसर्वाभ्युपायः कर्तव्यमूढः सन् यावज्जीवम् विहितम् अहितम् कर्म स्मृत्वा स्मृत्वा दलित-हृदयः कातरः कान्दिशीकः* [देही यस्मिन् काले मृत्युना कवलितवपुः भीतिम् अभ्येति, तत्र ऐश्वरीं करुणाम् अन्तरेण कः इव त्राता ?' इति षट्त्रिंशत्तमश्लोकेन सह त्रयाणामेतेषां श्लोकानामन्वयः।]

अर्थ—अत्यन्त कठिन असाध्य रोगोंसे जिसकी समस्त रमणीयता नष्ट हो गयी है, अतएव अपवित्र शय्यापर हाथ पाँव आदि अङ्गोंको फैलाकर निश्चेष्ट सोया हुआ, किंकर्तव्यमूढ़ होकर जन्मभरके किये पाप कर्मोंको बार-बार स्मरण करनेसे (हाय ! मुझ मूर्ख ने क्यों इतना पाप इकट्ठा किया, ऐसे पश्चात्ताप से) जिसका हृदय एकदम विदीर्ण हो गया है, उपाय सब कुण्ठित हो गये हैं अति कातर और भयाकुल हुआ—[प्राणी जब अन्तकालमें मृत्यु-ग्रस्त होकर महान् संकटको प्राप्त होता है, उस समय केवल परमेश्वरकी करुणाको छोड़कर दूसरा कौन उसकी रक्षा कर सकता है ? इस तरह ३६वें श्लोकके साथ इन तीनों श्लोकोंका अन्वय समझना चाहिए।]

* कांदिशम् यामीति भयेन त्रस्त इत्यर्थः।

तर्षोत्कर्षात्कलुषपरुषैः कर्मभिः शर्महृद्भि-
र्यत्सम्प्राप्तं कथमपि[1] भृशं क्लेशयित्वा शरीरम् ।
रिक्थग्राहैर्द्रविणमखिलं लुण्ठ्यमानं तदग्रे
पश्यन्नश्यत्सकलकरणो दह्यमानः शुचान्तः[2] ॥ ३४ ॥

अन्वय—तर्षोत्कर्षात् कलुषपरुषैः शर्महृद्भिः कर्मभिः भृशम् शरीरम् क्लेशयित्वा कथमपि यत् सम्प्राप्तम्, तत् अखिलम् द्रविणम् रिक्थग्राहैः अग्रे लुण्ठ्यमानम् पश्यन् नश्यत्सकलकरणः अन्तः शुचा दह्यमानः सन् —

अर्थ—अतीव लालचके कारण कलुषित, महाकठोर और कल्याणनाशक कर्मों द्वारा शरीरको अत्यन्त कष्ट देकर बड़े यत्नसे सञ्चित सम्पत्तिको अपने ही सामने भाई-बन्धुओं द्वारा लूटी जाती देख अत्यन्त तीव्र व्यथा द्वारा इन्द्रियोंकी शक्तिका एकदम ह्रास हो जानेके कारण मनमें (अन्दर ही अन्दर) शोकरूपी अग्निसे जलता हुआ—

शोकोद्रेकादविरलगलद्बाष्पपूर्णेक्षणाभिः
सत्पत्नीभिश्चकितचकितं[3] लोचनैरीक्ष्यमाणः ।
पुत्रैर्मित्रैः सहजसचिवैर्बन्धुभिर्भृत्यवर्गै-
राक्रन्दद्भिः करुणकरुणैः पीड्यमानः प्रलापैः ॥ ३५ ॥

अन्वय—शोकोद्रेकात् अविरलगलद्बाष्पपूर्णेक्षणाभिः सत्पत्नीभिः चकित-चकितम् लोचनैः ईक्ष्यमाणः, पुत्रैः मित्रैः सहजसचिवैः बन्धुभिः भृत्यवर्गैः आक्रन्दद्भिः करुणकरुणैः प्रलापैः पीड्यमानः सन्—

अर्थ—[अतएव इसे ऐसी हालतमें देखकर] शोकोद्रेकके कारण निरन्तर गिरते हुए बाष्पोंसे पूर्ण नेत्रोंवाली धर्मपत्नियों द्वारा अत्यन्त कातर नेत्रोंसे देखा जा रहा और रोते-बिलखते हुए पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु आदि कुटुम्बियोंके अत्यन्त करुणाजनक विलापोंको सुनकर और भी दुःखी होता हुआ; तथा—

स्वस्थावस्थैर्भृशमशुचिताशङ्किभिर्वेश्मगर्भा-
दन्तर्लीनस्मृतिरपि हठान्निष्ठुरैः [कृष्यमाणः ।
यस्मिन्काले कवलितवपुर्मृत्युनाऽभ्येति भीतिं
तत्र त्राता क इव करुणामैश्वरीमन्तरेण ॥ ३६ ॥

अन्वय—स्वस्थावस्थैः भृशम् अशुचिताशङ्किभिः निष्ठुरैः [बन्धुवर्गैः] किञ्चित् अन्तर्लीनस्मृतिः अपि वेश्मगर्भात् हठात् [दाहार्थम्] कृष्यमाणः (सन्) यस्मिन् काले मृत्युना कवलितवपुः भीतिम् अभ्येति; तत्र ऐश्वरीम् करुणाम् अन्तरेण, क इव त्राता ?

(१) कृशमपि, इत्यपि पाठः । (२) 'शुचार्त्तः' इति पाठान्तरम् ।
(३) 'चकितचकितैः' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—[अब इसके रहनेसे हमारा यह सारा घर अपवित्र हो जायगा इस प्रकार घृणापूर्वक] अत्यन्त अपवित्रताकी आशङ्का करनेवाले, महा निठुर हृष्ट-पुष्ट बान्धवों द्वारा हठात् अन्तरमें तनिक होश-हवासके रहते हुए भी हाथ-पाँव पकड़ कर दाहके निमित्त श्मशानको ले जाया जाता हुआ, यह प्राणी जब अन्तकालमें मृत्यु-ग्रस्त होकर महान् संकटको प्राप्त होता है, उस समय केवल परमेश्वरकी करुणाको छोड़ दूसरा कौन उसकी रक्षा कर सकता है ? अर्थात् उस समय केवल ईश्वरकी कृपा ही प्राणीको आश्रय देती है ।

वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः
शिखण्डे खण्डेन्दुः स्वयमपि विभुः खण्डपरशुः ।
तथापि प्रत्यग्रं शरणमुपयातं प्रति विभो-
रखण्डो व्यापारो जगति करुणाया विजयते ॥ ३७ ॥

अन्वय—[प्रभोः] वपुःखण्डे शैलेन्द्रदुहितुः खण्डः प्रतिवसति, शिखण्डे खण्डेन्दुः [प्रतिवसति], स्वयम् अपि विभुः खण्डपरशुः, तथापि प्रत्यग्रम् शरणम् उपयातम् प्रति विभोः करुणायाः अखण्डः व्यापारः जगति विजयते ।

अर्थ—प्रभुके शरीरके एक खण्डमें (वामभागमें) श्रीगिरिजाका खण्ड (अर्धभाग) स्थित है, मुकुटमें खण्डेन्दु (चन्द्रमाका खण्ड, अर्धचन्द्र) निवास करता है और स्वयं भी प्रभु खण्डपरशु (आधे परशुको धारण करनेवाले) हैं। तथापि (इस प्रकार सब तरह खण्डता होनेपर भी) नवीन शरणागतके प्रति प्रभुकी करुणाका अखण्ड व्यापार होता है, [सचमुच यह बड़े आश्चर्यकी बात है]।

जय जितामय[1] जय सुधामय जय धृतामृतदीधिते
जय हतान्धक जय पुरान्तक जय कृतान्तकसंहृते ।
जय परापर जय दयापर जय नतार्पितसद्गते
जय जितस्मर जय महेश्वर जय जय त्रिजगत्पते ॥ ३८ ॥

अन्वय—जितामय ! [त्वम्] जय, सुधामय ! [त्वम्] जय, धृतामृतदीधिते ! [त्वम्] जय, हतान्धक ! [त्वम्] जय, पुरान्तक ! [त्वम्] जय, कृतान्तकसंहृते ! [त्वम्] जय, परापर ! [त्वम्] जय, दयापर ! [त्वम्] जय, नतार्पितसद्गते [त्वम्] जय, जितस्मर ! [त्वम्] जय, महेश्वर ! [त्वम्] जय, हे त्रिजगत्पते ! [त्वम्] जय जय ।

अर्थ—हे सकल व्याधियोंको जीतनेवाले सदाशिव ! आपकी जय हो। हे परम आनन्दरूपी अमृतमयी प्रकृतिवाले शिव ! आपकी जय हो। हे मुकुटमें चन्द्रमाको धारण करनेवाले ! आपकी जय हो। हे अन्धकासुरको मारनेवाले शङ्कर ! आपकी सदा जय हो। हे त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले शिव ! आपकी जय हो।

---

१. 'निरामय' इति पाठान्तरम् ।

हे कालका संहार करनेवाले मृत्युञ्जय ! आपकी जय हो। हे ब्रह्मादि जगत्कारणोंके भी कारण परमेश्वर ! आपकी जय हो। हे दयाके सागर ! आपकी जय हो। हे भक्त-जनोंको सद्गति देनेवाले प्रभो ! आपकी जय हो। हे कामको जीतनेवाले प्रभो ! आपकी जय हो। हे सब देवोंके देव महादेव ! आपकी जय हो और हे त्रिलोकीके नाथ ! आपकी बार-बार जय हो।

स्थानास्थाननियन्त्रणाविरहितो निर्हेतुरप्रार्थितः
सत्यं सत्त्वहितार्थ एव तरणेरम्भोभृतश्चोद्यमः।
तृष्णातापशमक्षमस्तु न रविर्न ध्वान्तशीतान्तकृ-
न्मेघः स त्वखिलार्तिहृद्विजयते माहेश्वरोऽनुग्रहः ॥ ३९ ॥

अन्वय—स्थानास्थाननियन्त्रणाविरहितः निर्हेतुः अप्रार्थितः तरणेः अम्भोभृतः च उद्यमः सत्त्वहितार्थः एव भवति इति सत्यम्, [किन्तु] मेघः तृष्णातापशमक्षमः न, रविः [च] ध्वान्तशीतान्तकृत् न, सः माहेश्वरः अनुग्रहः तु अखिलार्तिहृत् विजयते।

अर्थ—सूर्य और मेघका उद्यम पात्र और अपात्रकी अपेक्षासे रहित (सर्वत्र समान भाव), बिना ही कारण, बिना प्रार्थना किये ही सदैव जीवोंके हितके ही लिए होता है, यह सब सत्य है। फिर भी मेघ तृष्णारूपी तापको हरनेमें समर्थ नहीं हो सकता और न सूर्य अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश नहीं कर सकता है। किन्तु वह भगवान् 'महेश्वर'का अनुग्रह तो पाप, ताप, अन्धकार आदि सभी आपत्तियोंको दूर कर देता है; अतः वह सर्वोत्कृष्ट, सर्वसमर्थ है।

बहुना किमत्र करुणामुमापतेः सुदशावतारकृतमूर्जितश्रियम्।
भजतानिरुद्धहृदयेप्सितागमप्रवणां विभूतिमिव कैटभद्विषः ॥ ४० ॥

इति श्रीकाश्मीरकमहाकविजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य
स्तुतिकुसुमाञ्जलौ 'करुणाराधनं' नाम पञ्चदशं स्तोत्रम्।

अन्वय—[अयि भावुकाः !] अत्र किम् बहुना, कैटभद्विषः विभूतिम् इव सुदशावतारकृतम् अनिरुद्धहृदयेप्सितागमप्रवणाम् उमापतेः करुणाम् भजत।

अर्थ—अयि भावुको ! अब अधिक क्या कहें, आप लोग सुन्दर (मत्स्य, कच्छप आदि) दश अवतारोंको धारण करनेवाली, लक्ष्मीसे विराजित और अनिरुद्ध (श्रीकृष्ण-पौत्र) के मनोरथ (बाणकन्या उषाकी प्राप्तिरूप अभिलाषा) को पूर्ण करनेमें तत्पर भगवान् विष्णुकी अखण्ड विभूतिके समान, शरणागतोंको सुदशा (सुन्दर दशा, भाग्योदय) वितरण करनेवाली, समस्त श्रीको सम्पादित कर देनेवाली और अभीष्ट मनोरथोंको पूर्ण करनेमें ही तत्पर भगवान् सदाशिवकी 'करुणा' का आराधन कीजिये।

———

षोडश स्तोत्र

[अब यहाँसे कवि 'उपदेशन' नामक सोलहवें स्तोत्रका आरम्भ करते हैं—]

वृषलक्ष्मणः प्रणतलोकबन्धवः कलितालिकस्खलितसिद्धसिन्धवः ।
द्युतिभिर्जयन्ति तुलितोदितेन्दवश्चरणारविन्दमकरन्दबिन्दवः ॥ १ ॥

अन्वय—प्रणतलोकबन्धवः कलितालिकस्खलितसिद्धसिन्धवः द्युतिभिः तुलितोदितेन्दवः वृषलक्ष्मणः चरणारविन्दमकरन्दबिन्दवः जयन्ति ।

अर्थ—विनीत भक्तजनोंको आश्वासन देनेवाले, ललाटसे गङ्गाकी दिव्य धारा बहानेवाले और कान्तिसे पूर्ण चन्द्रकी तुलना रखनेवाले वृषभध्वज भगवान् सदाशिवके चरणारविन्दोंके मकरन्दबिन्दु सर्वोत्कृष्ट हैं, अर्थात् मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ।

अमलैः फलैरविरलैरलङ्कृता हरितारुणप्रणतशालिशालिनी ।
प्रतिभाति जीर्णतृणवत्तव स्तवं वसुधा सुधाद्युतिवतंस शंसतः ॥ २ ॥

अन्वय—सुधाद्युतिवतंस ! तव स्तवम् शंसतः अविरलैः अमलैः फलैः अलङ्कृता हरितारुणप्रणतशालिशालिनी [अपि] वसुधा जीर्णतृणवत् प्रतिभाति ।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! आपकी स्तुति करनेवाले भक्तको सघन, स्वच्छ मृद्वीका (द्राक्षा) आदि फलोंसे शोभायमान तथा [आरम्भमें] हरी-हरी और परिपक्व होनेपर पीले रङ्गकी होकर झुकी हुई धानकी बालियोंसे अतिमनोहर भी पृथ्वी एक सूखे तृणके समान प्रतीत होती है । अर्थात् आपका भक्त सारे संसारके वैभवको तृणके समान तुच्छ समझता है ।

तिमिरं चिरन्तनमनन्त सन्ततग्लपितावलोकमवलोकनार्थिनः ।
सृजतामृतं दशसु दिक्षु चक्षुषा कलिकालकल्मषमुषा मुषाण मे ॥ ३ ॥

अन्वय—अनन्त ! अवलोकनार्थिनः मे, सन्ततग्लपितावलोकम् चिरन्तनम् तिमिरम् [त्वम्] दशसु दिक्षु अमृतम् सृजता कलिकालकल्मषमुषा चक्षुषा मुषाण ।

अर्थ—हे अनन्त, परमेश्वर ! आपका दर्शन चाहनेवाले मुझ सेवकके निरन्तर प्रकाश (ज्ञान) को म्लान कर देनेवाले अनेक-जन्मोपार्जित अज्ञानरूपी अन्धकारको आप दशों दिशाओंमें कल्याण-वितरण करनेवाली और कलिकालके पातकको हरनेवाली प्रसन्नदृष्टिसे हर लीजिये ।

वहता हतान्धतमसामसादितां
द्युतिभिः कलामविकलां कलावतः ।
दिशता प्रकाशविशदाशमाशयं
वपुषा शिवं शिवपुषा पुषाण मे ॥ ४ ॥

अन्वय [हे प्रभो !] हतान्धतमसाम् असादिताम् द्युतिभिः अविकलाम् कलावतः कलाम् वहता प्रकाशविशदाशम् आशयम् दिशता शिवपुषा वपुषा मे शिवम् पुषाण ।

अर्थ—हे नाथ ! गाढ़ अन्धकारका नाश करनेवाली और कान्तिसे परिपूर्ण अविनाशी चन्द्रकलाको धारण करनेवाले और दिव्य प्रकाश द्वारा अतीव सुनिर्मल अभिलाषायुक्त अन्तःकरण देनेवाले कल्याणकारी शरीरसे मेरे कल्याणकी वृद्धि कीजिये ।

*घनघर्मलङ्घितकपोलभित्तयः श्वसितानुबन्धविधुरीकृताधराः ।
धनिनां पुरः प्रकटयन्ति दुर्गतिं द्युतिहीनदीनवदना धनार्थिनः ॥ ५ ॥

अन्वय—[धनलवप्राप्त्याशया धावं धावं दूरगमनात् ।] घनघर्मलङ्घितकपोलभित्तयः श्वसितानुबन्धविधुरीकृताधराः द्युतिहीनदीनवदनाः धनार्थिनः धनिनाम् पुरः [स्वाम्] दुर्गतिम् प्रकटयन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! [थोड़ासा धन पानेकी आशासे दूर-दूर दौड़नेके कारण] जिनके कपोल पसीनेसे तरबतर हो गये हैं, श्वास बढ़ जानेसे जिनके अधर ओष्ठ अत्यन्त म्लान हो गये हैं और शरीर कान्तिहीन हो गया है, ऐसे धनाभिलाषी लोग क्षुद्र धनिकोंके आगे अपनी दुर्गति (दीनता) प्रकट करते हैं ।

तदनन्तरं तरलिताक्षरां गिरं चिरसम्भृतप्रमदसादगद्गदाम् ।
विहितावहेलजगतीपतीक्षितास्त्रपयापयापितमुखाः प्रयुञ्जते ॥ ६ ॥

अन्वय—तदनन्तरम् विहितावहेलजगतीपतीक्षिताः त्रपया अपयापितमुखाः [त एव याच्ञया] तरलिताक्षराम् चिरसंभृतप्रमदसादगद्गदाम् गिरम् प्रयुञ्जते ।

अर्थ—तदनन्तर महा-अपमान करनेवाले उन धनिकोंके दृष्टि-गोचर होकर, अत्यन्त लज्जाके कारण मुँह नीचा करके [याच्ञावश] चञ्चल अक्षरोंवाली और [दाताकी कुटिल मुखमुद्रा देखनेसे] अपनी चिरकालिक धनलाभेच्छाकी पूर्ति असम्भव जानकर गद्गद वाणीका प्रयोग किया करते हैं ।

अवधीर्यमाणमथ दीर्घमत्सरैरवबोधवन्ध्यहृदयैरनादृतम् ।
गुणकौशलं शलभजृम्भितोपमं प्रथयन्ति यान्ति च परं पराभवम् ॥७॥

अन्वय—अथ दीर्घमत्सरैः अवबोधवन्ध्यहृदयैः अवधीर्यमाणम् अनादृतम् शलभजृम्भितोपमम् गुणकौशलम् प्रथयन्ति, परम् पराभवम् च यान्ति ।

अर्थ—तदनन्तर अतीव मत्सरसे भरे ज्ञानलव-विहीन तत्त्वज्ञानसे शून्य हृदय अनभिज्ञ लोगोंसे अपमानित और तिरस्कृत अपना गुण-चातुर्य वे ही लोग फतिंगेके उड़नेकी तरह प्रकट करते और अत्यन्त अपमानको प्राप्त होते हैं ।

इति दीर्घदुर्भरकुटुम्बडम्बरा धनसंग्रहग्रहगृहीतचेतसः ।
सुधियोऽपि यान्ति निबिडं विडम्बनं वनवासिभिः प्रहसितप्रवृत्तयः ॥८॥

* यहाँसे चार श्लोकोंका 'चक्कलक' है । प्रारंभिक तीन श्लोकोंका अन्वय चतुर्थ श्लोकके 'विडम्बनम् यान्ति' के साथ है ।

अन्वय—इति दीर्घदुर्भरकुटुम्बडम्बरः धनसंग्रहग्रहगृहीतचेतसः सुधियः अपि वनवासिभिः प्रहसितप्रवृत्तयः [सन्तः] निबिडम् विडम्बनम् यान्ति ।

अर्थ—इस प्रकार बड़े दुर्भर कुटुम्बके आडम्बर (प्रपञ्च) को धारण करनेवाले और धन-संग्रहकी उत्कट इच्छारूपी भूतबाधासे व्याकुल, असन्तोषी पुरुष (लालची लोग) एकान्त वनमें निवास करनेवाले तपस्वियों (मुनिजनों) द्वारा उपहासको प्राप्त होते हुए बड़ी भारी विडम्बना पाते हैं ।

कृतिनः पुनर्मृदुमृदङ्गमङ्गल-
स्वनसन्निभध्वनितनिर्झरोर्मिषु ।
कृतवृत्तयः सुलभशाद्वलावली-
वलितस्थलेषु[1] तुहिनाद्रिसानुषु ॥ ॥
सुरसिन्धुरोधसि गृहीतकेतकी-
चलिता[2]ङ्गुलीकिसलयेन पाणिना ।
विविधां विधाय विधिना पिनाकिनः
करुणार्णवस्य चरणाब्जसत्क्रियाम् ॥ १० ॥
हरिणैः कुशाग्रकवलाभिलाषिभि-
र्भरणार्थिभिश्च कलविङ्कशावकैः ।
अतिथीभवद्भिरहताह्निकक्रियाः
फलमूलकल्पितशरीरवृत्तयः ॥ ११ ॥
दिवसावसानसमये सरन्मरु-
त्परिकीर्णजीर्णतृणपर्णमर्मराः ।
तनुजाह्नवीसलिलशीकरोत्करैः
शिशिराः शिवाय[3] चरिता वनस्थलीः ॥ १२ ॥
धवलीकृतास्वमलभानुभानुभि-
र्ज्वलितौषधीषु रजनीष्वनन्तरम् ।
कलकण्ठकण्ठकुहरोद्गतस्वर-
स्वरसार्पितश्रुतिसुखासु शेरते ॥ १३ ॥
इति बिभ्रतः परिकरं प्रियङ्करं
हरपादपङ्कजरजःप्रसादजम् ।

---

१. 'ललितस्थलीषु' इति पाठान्तरम् । २. 'दलित' इत्यपि पाठः ।
३. 'चिराय' इत्यपि पाठः ।

विहसन्ति मूढमनसां महीभुजां
गजकर्णतालतरलाश्रयाः श्रियः ॥ १४ ॥

[षड्भिः कुलकम्]

अन्वय—पुनः कृतिनः मृदुमृदङ्गमङ्गलस्वनसन्निभध्वनितनिर्झरोर्मिषु सुलभशाद्वलीवलितस्थलेषु तुहिनाद्रिसानुषु वृतवृत्तयः [सन्तः] सुरसिन्धुरोधसि गृहीतकेतकीचलिताङ्गुलीकिसलयेन पाणिना करुणार्णवस्य पिनाकिनः विविधाम् चरणाब्जसत्क्रियाम् विधिना विधाय, कुशाग्रकवलाभिलाषिभिः हरिणैः भरणार्थिभिः कलविङ्कशावकैः च अतिथीभवद्भिः अहताह्निकक्रियाः फलमूलकल्पितशरीरवृत्तयः दिवसावसानसमये सरन्मरुत्परिकीर्णजीर्णतृणपर्णमर्मराः तनुजाह्नवीसलिलशीकरोत्करैः शिशिराः वनस्थलीः शिवाय चरिताः [सन्तः], अनन्तरम् अमलभानुभानुभिः अमलासु ज्वलितौषधीषु कलकण्ठकण्ठकुहरोद्गतस्वरस्वरसार्पितश्रुतिसुखासु रजनीषु शेरते । इति हरपादपङ्कजरजःप्रसादजम् प्रियङ्करम् परिकरम् बिभ्रतः [कृतिनः] मूढमनसाम् महीभुजाम् गजकर्णताल तरलाश्रयाः श्रियः विहसन्ति ।

अर्थ—इसके विपरीत, उन पूर्वोक्त असन्तोषी लोगोंसे भिन्न सदैव सन्तुष्ट धन्यात्मा पुरुष तो कोमल मृदङ्गकी मङ्गलमयी ध्वनिके समान मनोहर कल-कल शब्द करनेवाले झरनोंकी तरंगोंसे युक्त और अनायास सुलभ हरी-हरी घासोंसे वेष्टित स्थलोंवाले कैलास-पर्वतके शिखरोंपर निवास करते हैं; पतित-पावनी देवगङ्गाके तट पर, पूजाके लिए चुने हुए केतकी-पुष्पोंसे चलित अङ्गुलि-रूप पल्लवोंवाले हाथोंसे करुणा-सागर भगवान् सदाशिवके चरण-कमलोंका नाना प्रकार सविधि पूजन कर, पूजनके लिए लाये गये कुशाङ्कुरोंके कौरके अभिलाषी हरिण और पोषणके अभिलाषी चटकपोतरूप (गौरैयाके बच्चे रूप) अतिथियोंके सत्कार द्वारा आह्निक कृत्यको परिपूर्ण करते हुए जङ्गली फल और मूलसे जीवन-निर्वाह करते हैं; सायंकालके समय, मन्द-मन्द बहनेवाले पवन द्वारा एकत्रित जीर्ण-तृणोंके पत्तोंसे शब्दायमान और गङ्गाजीके नन्हे-नन्हे जल-कणोंसे सुशीतल वन-स्थलीमें कैवल्यके लिए विचरण करते हैं और उसके बाद चन्द्र-किरणों द्वारा अतीव स्वच्छ, अमूल्य महौषधियोंसे प्रकाशित और कोकिलोंके कण्ठविवरसे निकले मनोमोहक 'कुहू-कुहू' स्वरोंसे स्वाभाविक श्रवण-सुखको देनेवाली रात्रियोंमें [सुखपूर्वक] सोया करते हैं। इस प्रकार श्रीशिव-चरणारविन्दके रजःकणकी कृपासे प्राप्त अतीव मनोहर साधन-सामग्रीका उपभोग करते हुए विरक्त-जन मूढमति हाथीके कानोंके समान चञ्चल (अत्यन्त क्षणभङ्गुर) राजाओंकी सम्पत्तिकी खूब हँसी उड़ाया करते हैं।

[अब कवि ५ श्लोकों (कुलक) द्वारा अन्तःकरणमें प्रहार करनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओंकी महिमाका वर्णन करते हैं—]

दधदुद्धतं हर पुरः पुरन्ध्रिभिः प्रबलं बलं गलदपाङ्गभङ्गिभिः ।
हृदयं भिनत्ति मम घस्मरः स्मरः शरपातकातरदृशो भृशं कृशम् ॥ १५ ॥

अन्वय—हर ! पुरः गलदपाङ्गभङ्गिभिः पुरंध्रिभिः उद्धतम् बलम् प्रबलम् दधत् घस्मरः स्मरः शरपातकातरदृशः मम भृशम् कृशम् हृदयम् भिनत्ति ।

अर्थ - हे भव-रोग-हारिन् शम्भो ! विभ्रमयुक्त कटाक्षोंवाली सुचरित्रवती सुन्दरियों द्वारा प्रबल प्रचण्ड सेना लेकर वह जगद्भक्षक कामदेव तीक्ष्ण बाणों द्वारा मेरी विवेकमयी दृष्टिको कातर करता हुआ मेरे अतिकृश हृदयको बेध रहा है ।

जनयन्नयं नयनयोरधीरतां भ्रमयन्भ्रुवं भृशमदभ्रसंभ्रमाम् ।
श्लथयन्प्रयत्नकृतसंगमं शमं हसनीयतां नयति रोष ईश माम् ॥ १६ ॥

अन्वय—ईश ! नयनोः अधीरताम् जनयन्, भृशम् अदभ्रसंभ्रमाम् भ्रुवम् भ्रमयन्, प्रयत्नकृतसङ्गमम् शमम् श्लथयन्, अयम् रोषः माम् हसनीयताम् नयति ।

अर्थ—प्रभो ! नेत्रोंमें अधीरता लाकर और अत्यन्त व्याकुल भ्रुकुटिको घूर्णित (भ्रमित) कर बड़े प्रयत्नोंसे संजोये हुए शम (जितेन्द्रियभाव) को शिथिल करता हुआ यह दुष्ट क्रोध मुझे हँसीका पात्र बना रहा है ।

धनलाभसंभृतविलासवासनाव्यथमानमानसमसत्यसङ्गरम् ।
न विशोभिलोभविवशं स्पृशन्ति मां सुहृदोऽपि कोपितकदर्थितार्थिनम् ॥१७॥

अन्वय—धनलाभसंभृतविलासवासनाव्यथमानमानसम् असत्यसङ्गरम्, विशोभिलोभ-विवशम् कोपितकदर्थितार्थिनम् माम् सुहृदः अपि न स्पृशन्ति ।

अर्थ—धनके लाभसे उत्पन्न विषय-भोगोंकी वासनासे खिन्न चित्त असत्य-प्रतिज्ञ, मलिन लोभसे विह्वलित एवं [समुचित आदर सत्कार न करनेसे] अतिथियों-कोकुपित और विमुख करनेवाले मुझ दुष्टसे खास मेरे मित्र लोग भी संपर्क नहीं रखते । फिर दूसरोंका तो कहना ही क्या है ?

उचितत्रिवर्गरहितं तिरोहितं घनमोहमूढमनसं हसन्ति माम् ।
कृतमेधसामधिसदः सदःसदः सदसद्विवेकविकलं कलङ्कितम् ॥ १८ ॥

अन्वय—उचितत्रिवर्गरहितम् [साधुजनेन] तिरोहितम् घनमोहमूढमनसम् सदसद्विवेक-विकलम् कलङ्कितम् माम् कृतमेधसाम् अधिसदः सदःसदः हसन्ति ।

अर्थ भगवन् ! समुचित त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) से रहित, सज्जनों द्वारा तिरस्कृत, गाढ़ अज्ञानसे मोहितचित्त और सत्-असत्के विवेकसे रहित मुझ दुष्ट कलङ्कीकी विद्वत्सभामें सभ्यजन विडम्बना किया करते हैं ।

इति तर्जयन्ति रिपवः सुदुर्जयाः परिवर्जयन्ति च विशुद्धबुद्धयः ।
न पुनर्जयन्ति विधुरं यथा तथा कुरु हे महेश दृशमेहि देहि नः ॥ १९ ॥

अन्वय—इति सुदुर्जयाः रिपवः [माम्] तर्जयन्ति, विशुद्धबुद्धयः च परिवर्जयन्ति । हे महेश ! [अधुना ते माम्] विधुरम् पुनः यथा न जयन्ति, तथा कुरु । [त्वम् शीघ्रम्] एहि, नः दृशम् देहि ।

अर्थ—इस प्रकार ये अतीव बलवान् काम, क्रोध, लोभ, मोहरूप शत्रु मेरी भर्त्सना करते हैं; विशुद्ध-बुद्धि विद्वान् मुझे सर्वथा दूर रखते हैं । हे महेश !

अब जिस प्रकार फिर ये शत्रु मुझ भयभीतको कदापि न जीत सकें, वैसा कीजिये। आप शीघ्र आइये और हमें अपनी करुणामयी दृष्टिसे निहारिये।

क्व महेश्वरस्मरणसम्भवं भवभ्रमभीमघर्मशमसंमुखं सुखम्।
विपदां पदं मृदुमृणालिनीदलस्खलदम्बुबिन्दुतरलाः क्व सम्पदः ॥ २० ॥

[चक्कलकम्]

अन्वय—भवभ्रमभीमघर्मशमसंमुखम् महेश्वरस्मरणसम्भवम् सुखम् क्व, मृदुमृणालिनी-दलस्खलदम्बुबिन्दुतरलाः, विपदाम् पदम् संपदः क्व ?

अर्थ—असार संसाररूप मरुस्थलमें व्यर्थ भ्रमणसे घोर सन्तापकी शान्ति करनेमें समर्थ, भगवत्स्मरणसे प्राप्त होनेवाला वह परम आनन्दरूप अत्युत्तम सुख कहाँ और कोमल कमलिनीके पत्तेपर पड़े जलबिन्दुओंके समान चञ्चल (अतीव क्षणभङ्गुर) तथा समस्त विपत्तियोंकी खान वे सम्पत्तियाँ कहाँ ? अर्थात् पहला अति उत्कृष्ट है तो दूसरा नित्यगर्हित है।

क्व शिवेश्वरेति कृतगण्डमण्डलीपुलकोद्गमप्रमदमन्थरा गिरः।
क्व यथार्थपार्थिवनिरर्थकानृतस्तुतिविस्तरैरपथपातपातकम् ॥ २१ ॥

अन्वय—कृतगण्डमण्डलीपुलकोद्गमप्रमदमन्थराः शिव ! ईश्वर ! [माम् पाहि] इति गिरः क्व, यथार्थपार्थिवनिरर्थकानृतस्तुतिविस्तरैः अपथपातपातकम् क्व ?

अर्थ—कपोलप्रदेशको रोमाञ्चित कर देनेवाले परम आनन्दसे मन्थर (बोझिल) 'हे शिव, हे ईश्वर, मेरी रक्षा करो !' इस प्रकारकी [सकल विद्वन्मनोमोहक] वाणी कहाँ ? और यथार्थनाम पार्थिवों (मिट्टीके बने पुतले) राजाओंकी निरर्थक मिथ्या स्तुतिके आडम्बरोंसे कुमार्ग-पतनरूप [अतिगर्हणीय] पाप कहाँ ?

क्व समाधिबाधितदुराधिसाधिमा भवसम्भवश्रमदमक्षमः[1] शमः।
क्व मदः प्रदर्शितसमग्रविग्रहः प्रहसन्मनस्विजनगर्हितस्थितिः ॥ २२ ॥

अन्वय—समाधिबाधितदुराधिसाधिमा भवसम्भवश्रमदमक्षमः शमः क्व ? प्रदर्शितसमग्र-विग्रहः प्रहसन्मनस्विजनगर्हितस्थितिः मदः क्व ?

अर्थ—इसी तरह समाधि द्वारा समस्त दुराधियों (जन्म-जरा-मरण-त्रासरूप मानसिक) पीडाओंकी साधिमा (साधुता) को बाधित करनेवाला और सांसारिक श्रमके नाशमें समर्थ वह [अतिप्रशंसनीय] जितेन्द्रियत्व कहाँ और समग्र वैरभावको प्रकट करनेवाला, बुद्धिमानोंसे निन्दनीय मद [अहङ्कार] कहाँ ?

इति मामनर्गलममार्गमार्गणप्रवणाविवेकविकलीकृताशयम्।
करुणानिधान परिबोधय क्षणं क्षणदाविशेषकशिखाशिखामणे ॥ २३ ॥

अन्वय—करुणानिधान ! क्षणदाविशेषकशिखाशिखामणे ! इति अनर्गलम् अमार्गमार्ग-णप्रवणाविवेकविकलीकृताशयम् माम् क्षणम् परिबोधय।

---

१. 'भ्रमशमक्षमः' इति पाठान्तरम्।

अर्थ—हे करुणानिधान चन्द्रशेखर ! इस प्रकार पाप कर्म करनेमें स्वतन्त्र, कुमार्गकी खोजमें तत्पर और अविवेक द्वारा विह्वलित अन्तःकरणवाले मुझ अज्ञानीको अब आप क्षणभर सचेत कीजिये ।

प्रमदा मदारुणदृशः कृशोदरास्तनया नयानतसमस्तमस्तकाः ।
सुहृदो हृदन्तरगतेङ्गितस्पृशः प्रणयार्द्रनिर्भरगिरश्च बन्धवः ॥ २४ ॥
दधतः प्रसादमधुरां धुरामपि प्रभवोऽमृतद्रवसमानमानसाः ।
मुखवीक्षणप्रणयिनः प्रतिक्षणं परिचारकाश्च जयजीववादिनः ॥ २५ ॥
न भयं भयङ्करकृतान्तकिङ्करभ्रुकुटीभवं झटिति हन्तुमीशते ।
भजतामतः क्षपयदापदं पदं हृदये दयामृतनिधे निधेहि नः ॥ २६ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—[हे प्रभो !] मदारुणदृशः कृशोदराः प्रमदाः, नयानतसमस्तमस्तकाः तनयाः, हृदन्तरगतेङ्गितस्पृशः सुहृदः, प्रणयार्द्रनिर्भरगिरः बन्धवः च, प्रसादमधुराम् धुराम् अपि दधतः अमृतद्रवसमानमानसाः प्रभवः, प्रतिक्षणम् मुखवीक्षणप्रणयिनः जयजीववादिनः परिचारकाः च, भयङ्करकृतान्तकिङ्करभ्रुकुटीभवम् भयम् झटिति हन्तुम् न ईशते, अतः दयामृतनिधे ! आपदम् क्षपयत् पदम् भजताम् नः हृदये निधेहि ।

अर्थ—हे नाथ ! मदसे अरुण नेत्रोंवाली कृशोदरी स्त्रियाँ, विनयके द्वारा विनम्र मस्तकवाले पुत्र, हृदयके अभिप्रायको जान लेनेवाले मित्र, स्नेहभरे वचन बोलनेवाले बान्धव, अनुग्रहभारसे भरे और अमृतके प्रवाहके समान [अति स्वच्छ और कोमल] चित्तवाले स्वामी एवं प्रतिक्षण मुख-दर्शनकी अभिलाषा रखनेवाले और 'आपकी जय हो, आप चिरञ्जीवी हों !' ऐसे-ऐसे शुभ वचन बोलनेवाले सेवक लोग अतिभयङ्कर यम-दूतोंकी भ्रुकुटियोंसे उत्पन्न होनेवाले महाभयको दूर करनेमें कदापि समर्थ नहीं हो सकते, अर्थात् प्राणीको मृत्युकी महाभीतिसे नहीं बचा सकते*, इसलिए हे दयासागर ! अब आप हमारी जन्म-मरण-रूप विपत्तिका नाश करते हुए हमारे हृदयमें स्थित हो जाइये ।

---

* इसी अभिप्रायसे टीकाकार श्रीरत्नकण्ठने कहा है—

'तातस्त्राता नहि न सहजाश्वासनं यत्र चाम्बा-
स्नेहारम्भो भवति विफलो बन्धवो यत्र वन्ध्याः ।
चौराहार्यं क्षयविरहितं लिप्यतां देहभाजा-
मेकं तस्मिन्पथि सुमधुरं शम्बलं शम्भुनाम ॥'

अर्थात् जिस अतिदुर्गम मार्गमें अतीव खिन्न प्राणीको पिता नहीं बचा सकता, जहाँ सहोदर भ्राताओंका कोई आश्वासन नहीं मिलता, जहाँ पुत्र-वत्सला जननीका भी स्नेह निष्फल जाता है और बान्धव जन जहाँ कोई सहायता नहीं कर पाते, उस अतिसङ्कटमय परलोक-मार्गमें केवल एक वह अक्षय सुमधुर 'शिवनाम' ही प्राणीका संबल है ।

हन्ताहन्ता प्रथयति मतिह्रासमासञ्जयन्ती
मायामायासितसितशमायामिनी यामिनीव ।
तस्मादस्मान्रविशशिशिखिप्रेङ्खितोद्दामधाम
क्षिप्त्वा चक्षुर्मुदितमुदितावन्ध्यबोधान्विधेहि ॥ २७ ॥

इति काश्मीरकमहाकविश्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ उपदेशनं नाम षोडशं स्तोत्रम् ।

अन्वय—हन्त ! आयासितसितशमा मायाम् आसञ्जयन्ती आयामिनी यामिनी इव [इयम्] अहन्ता [नः] मतिह्रासम् प्रथयति । तस्मात् [हे विभो !] रविशशिशिखिप्रेङ्खितोद्दामधाम मुदितम् चक्षुः क्षिप्त्वा अस्मान् मुदितावन्ध्यबोधान् विधेहि ।

अर्थ—हाय ! अतीव स्वच्छ शम (जितेन्द्रियता) को दुर्बल बना देनेवाली और अज्ञान-रूप अन्धकारको पैदा करनेवाली अहंता अत्यन्त विस्तृत रात्रिके समान हमारी सद्बुद्धिका ह्रास करती जा रही है, इसलिए हे दयासागर ! सूर्य, चन्द्रमा और अग्निरूप तीनों तेजोमय पिण्डोंसे प्रदीप्त अपनी प्रसाद-भरी दृष्टि डालकर हमें उस अखण्ड तत्त्वज्ञानसे पूर्ण बना दीजिये ।

———

सप्तदश स्तोत्र

अब हमारे कवि प्रेमरसिकोंके हृदय-मन्दिरमें ज्ञानमय दीपक प्रकाशित करनेके लिए 'शिवभक्ति'-रूपी कल्पलताकी महिमाका वर्णन करते हुए 'भक्ति' नामक सत्रहवाँ स्तोत्र प्रारम्भ करते हैं—

मन्दस्पन्दे मनसि रसिकीभावमासाद्य सद्यो
हृद्योद्योगा विहर वरदे भारति स्वा रतिस्ते ।
मातर्जातस्पृहमिह महामोहनिद्रावसाने
जानीहीमं जनमनलसं शंसितुं शम्भुभक्तिम् ॥ १ ॥

अन्वय—वरदे ! भारति ! मन्दस्पन्दे [मे] मनसि सद्यः रसिकीभावम् आसाद्य हृद्योद्योगा विहर, ते स्वा रतिः [भवति], मातः इह महामोहनिद्रावसाने इमम् जनम् शम्भुभक्तिम् शंसितुम् अनलसम् जातस्पृहम् जानीहि ।

अर्थ—अयि वरदायिनि सरस्वति ! [अब तू] मेरे निःस्पन्द (निश्चल) मनमें तत्काल उसके प्रति रसिक बनकर तथा मनोहर उद्योगवाली होकर यथेच्छ विहरण कर । माँ ! [अब] इस महामोह-रूपी निद्रा टूट जानेपर मुझे तू भगवान् शङ्करकी भक्तिका वर्णन करनेमें निरलस और साभिलाष समझ ।

द्राक्षा साक्षादमृतलहरी कर्कशात्काष्ठकोषाद्
भूरिच्छिद्रात्प्रकृतिमधुरा मूर्च्छना वंशगर्भात् ।
सूक्तिव्याजान्मम च वदनात्कर्णपेया सुधेयं
निर्गच्छन्ती जनयति न कं विस्मयस्मेरवक्त्रम् ॥ २ ॥

अन्वय—कर्कशात् काष्ठकोषात् [निर्गच्छन्ती] साक्षात् अमृतलहरी द्राक्षा, भूरिच्छिद्रात् वंशगर्भात् [निर्गच्छन्ती] प्रकृतिमधुरा मूर्च्छना, मम च वदनात् सूक्तिव्याजात् निर्गच्छन्ती इयम् कर्णपेया सुधा कम् विस्मयस्मेरवक्त्रम् न जनयति ?

अर्थ—अहा ! अत्यन्त कठोर काष्ठमयी लतासे निकली हुई साक्षात् अमृत-लहरी फलोंकी रानी 'द्राक्षा'*, बहुत छिद्रवाली बाँसुरीके भीतरसे निकलती हुई स्वभावतः मधुर मूर्छना (स्वरोंका आरोह-अवरोह) एवं मेरे मुखसे सूक्तिके ब्याजसे निकलती हुई यह कर्ण-पेया (कानोंसे पीने योग्य) श्रीशिवभक्तिरूपी सुधा किस सचेतन पुरुषको आश्चर्यसे विकसितमुख नहीं बना देती है ?

ध्यात्वा देव प्रमयसमयत्रासमासन्नकल्पं
स्वल्पं ज्ञात्वा सुलभशलभच्छायसच्छायमायुः ।
मत्वा च त्वा सदयहृदयं भक्तिवाल्लभ्यलभ्यं
सभ्यंमन्यास्तव नवविधौ धौतचित्ता यतन्ते ॥ ३ ॥

अन्वय—देव ! प्रमयसमयत्रासम् आसन्नकल्पम् ध्यात्वा, सुलभशलभच्छायसच्छायम् आयुः स्वल्पम् ज्ञात्वा, त्वा च सदयहृदयम् भक्तिवाल्लभ्यलभ्यम् मत्वा धौतचित्ताः सभ्यंमन्याः तव नवविधौ यतन्ते ।

अर्थ—परम पदमें विहार करनेवाले स्वयंप्रकाश परमेश्वर ! मृत्युकालके भयको निकट-प्राय जानकर, आयुको पतङ्गोंकी छायाके समान स्वल्पकालतक रहनेवाली समझकर और आपको अत्यन्त दयालु-हृदय तथा एकमात्र भक्तिके स्नेहसे प्राप्त होनेवाला जानकर पवित्र-चित्त सभ्य पुरुष आपकी स्तुति करनेमें प्रयत्नशील होते हैं ।

कण्ठे कण्ठीरवरवसदृग्दृक्समुद्गोद्गताश्रो-
र्हेलोन्मीलद्विपुलपुलकोद्भूतभूतेशभक्तेः ।
यस्योदेति ध्वनिरनिभृतः शर्वशर्वेत्यखर्वं
गर्वं बिभ्रद्धसति वसतिं वासवीयां स एकः ॥ ४ ॥

अन्वय—दृक्समुद्गोद्गताश्रोः हेलोन्मीलद्विपुलपुलकोद्भूतभूतेशभक्तेः यस्य कण्ठे कण्ठीरवरवसदृक् अनिभृतः 'शर्व ! शर्व ! [माम् पाहि]' इति ध्वनिः उदेति, स एकः अखर्वम् गर्वम् बिभ्रत् वासवीयाम् वसतिम् हसति ।

* 'दाख' के वाचक संस्कृत 'द्राक्षा' शब्दका अर्थ है—'द्राति रसमिति द्राक्षा, यानी सुमधुर रसको बहानेवाली ।

अर्थ—प्रेमाश्रुओंसे परिपूर्ण नेत्रोंवाले और स्वभावतः खड़े हुए विपुल रोमाञ्चोंसे आन्तरिक शिवभक्तिको प्रकट करनेवाले जिस भाग्यशालीके कण्ठमें सिंह-नादके समान अतिस्पष्ट "हे शर्व हे शर्व [रक्षा करो।]" यह ध्वनि निकलती है, एकमात्र वही धन्यात्मा अखर्व गर्व धारण करता हुआ इन्द्र पदका उपहास किया करता है। अर्थात शिवभक्ति-भावित अन्तःकरणवाले सहृदयोंको शिवनामके सामने इन्द्रका अनुपम वैभव भी अति तुच्छ प्रतीत होता है।

तन्मानुष्यं प्रभवति सतामुत्तमा यत्र जातिः
सैका जातिः प्रसरति यशो यत्र पाण्डित्यहेतु[1]।
तत्पाण्डित्यं सरसमधुरा जृम्भते यत्र वाणी
वाणी सापि प्रथयति रतिं शाङ्करी यत्र भक्तिः ॥ ५ ॥

अन्वय—मानुष्यं [जन्म] तत् [एव धन्यम्] सताम् यत्र उत्तमा जातिः प्रभवति, सा [एव] एका जातिः [प्रशस्या], यत्र पण्डित्यहेतु यशः प्रसरति। पाण्डित्यम् [अपि] तत् [एव धन्यम्] यत्र सरसमधुरा वाणी जृम्भते, सा अपि वाणी [धन्यतमा] यत्र शाङ्करी भक्तिः रतिम् प्रथयति।

अर्थ—मनुष्य-जन्म वही श्रेष्ठ है जिसमें साधुओंकी उत्तम जाति, यानी ब्राह्मण जाति उत्पन्न होती है, ब्राह्मण-कुलमें जन्म मिलना अतिश्रेष्ठ है। ब्राह्मण जाति भी वही श्रेष्ठ है जिसमें पाण्डित्यके कारण अपना सुयश फैलता है। पाण्डित्य भी वही श्रेष्ठ है, जिसमें अतीव सरस (शान्त आदि रसोंसे युक्त) मधुर वाणी प्राप्त होती है और वाणी भी केवल वही धन्य है, जिसमें भगवान् सदाशिवकी भक्ति अखण्ड परमानन्दका विस्तार करती है।

येषां वक्त्रे समदमुदितत्वच्चरित्राः पवित्रा
द्वित्रा वित्रासितरविसुतभ्रूविभङ्गप्रसङ्गाः ।
नोज्जृम्भन्ते मधुकणमुचः सूक्तयो भक्तिसिक्ता
धिक्तान् रिक्तान्भुवि भव भवत्पादसेवारसेन ॥ ६ ॥

अन्वय—भव ! वित्रासितरविसुतभ्रूविभङ्गप्रसङ्गाः मधुकणमुचः भक्तिसिक्ताः समदमुदित-त्वच्चरित्राः द्वित्राः पवित्राः सूक्तयः येषाम् वक्त्रे न उज्जृम्भन्ते, भुवि भवत्पादसेवारसेन रिक्तान् तान् धिक्।

अर्थ—भगवन् ! यमराजकी टेढ़ी भ्रुकुटिको सर्वथा छिन्न-भिन्न कर देनेवाली, अमृतकणोंको बरसानेवाली, भक्तिरसामृतसे आर्द्र और गाढ़ अनुरागपूर्वक आपके दिव्यातिदिव्य चरित्रोंका वर्णन करनेवाली [त्रिपुर-दाह, अन्धक-वध आदि रूप] दो-तीन भी पवित्र प्रौढ सूक्तियाँ जिन अभागोंके मुखमें नहीं हैं अर्थात् जिन अधमोंके मुख-

१. 'हेतोः' इत्यपि पाठः।

से आपकी थोड़ी-सी भी स्तुति नहीं निकलती है, संसारमें आपकी चरण-सेवाके रससे छूछे उन नराधमोंको धिक्कार है।

नाथ ज्योत्स्ना बहुलरजनौ कार्तिकीयेव कान्ता
कान्तारान्तर्मथितपथिकप्रौढतापा प्रपेव ।
मा मा भैषीरिति यमभये तावकीनेव वाणी
भावत्की मे सततममृतस्यन्दिनी भाति भक्तिः ॥ ७ ॥

अन्वय—नाथ ! बहुलरजनौ कार्तिकीया कान्ता ज्योत्स्ना इव, कान्तारान्तःमथितपथिकप्रौढतापा प्रपा इव, यमभये 'मा मा भैषीः' इति तावकीना वाणी इव, भावत्की भक्तिः मे सततम् अमृतस्यन्दिनी भाति ।

अर्थ—नाथ ! कृष्ण-पक्षकी अँधियारी रात्रिमें कार्तिक मासकी मनोहर चन्द्रिकाके समान, मरुभूमिके निर्जन मार्गमें श्रान्त पथिकोंके महान् संतापको शान्त करनेवाली प्रपा (प्याऊ) के समान और अत्यन्त कुपित यमराजसे भय होनेपर 'मा भैषीः' (वत्स, मत डर) इस प्रकारकी आपकी अभय-वाणीके समान [सांसारिक पाप-तापोंसे सन्तप्त हृदयमें] निरन्तर अमृतकी-सी वृष्टि करनेवाली आपकी भक्ति मुझे अतीव प्रिय लगती है।

येषामन्तः सुकृतसरणिः स्थाणवीया न भक्ति-
र्व्यक्तिं धत्ते रसकृदसकृन्नास्मि तेषु स्मितेषु ।
लोकः शोकं त्यजति सहसा यत्र तद्भक्तियुक्तं
युक्तं मन्ये रुदितमुदितश्लाघमुल्लाघहेतुम् ॥ ८ ॥

अन्वय—येषाम् अन्तः सुकृतसरणिः स्थाणवीया भक्तिः व्यक्तिम् न धत्ते, तेषु स्मितेषु असकृत् रसकृत् न अस्मि। यत्र रुदिते [अपि] लोकः सहसा शोकम् त्यजति, तत् उदितश्लाघम् उल्लाघहेतुम् भक्तियुक्तम् रुदितम् [अपि] युक्तम् मन्ये ।

अर्थ—अत्यन्त हर्ष द्वारा उत्पन्न होनेवाले जिन हास्योंमें पुण्य-प्राप्तिका मार्ग शिवभक्ति व्यक्त न हो, उन आनन्दजन्य ईषद्-हास्योंमें मुझे कोई विशेष रस नहीं, आसक्ति नहीं, अर्थात् भगवद्भक्ति-विहीन ऐसे हास्योंकी मैं आस्था नहीं करता। [किन्तु] जिस श्रीशिवभक्तियुक्त रोदनमें प्राकृत मनुष्य भी अपना चिन्ताजाल तत्काल त्याग देता है, उस अतिप्रशंसनीय और मनुष्यको नीरोग बनानेवाले शिवभक्ति युक्त रोदनको भी मैं श्रेष्ठ समझता हूँ, अर्थात् भगवद्भक्ति-विहीन हास्यकी अपेक्षा भगवद्भक्ति-युक्त रोदनको मैं अत्युत्तम समझता हूँ।

ध्वान्तं शान्तप्रशममहरद्यन्न सद्यः समुद्य-
न्नुद्योतश्रीकलितकमलोल्लासभानुः स भानुः ।
तद्विध्वस्तप्रमदमदनोद्दीपितोद्दामदोष-
प्लोषं नेतुं प्रभवति भवे शांभवी भक्तिरेव ॥ ९ ॥

अन्वय—उद्योतश्रीकलितकमलोल्लासभानुः सः भानुः सद्यः समुद्यन् शान्तप्रशमम् यत् ध्वान्तम् न अहरत् । भवे विध्वस्तप्रमदम् अदमोद्दीपितोद्दामदोषम् तत् ध्वान्तम् प्लोषम् नेतुम् शाम्भवी भक्तिः एव प्रभवति ।

अर्थ—प्रकाशमयी दीप्ति द्वारा कमलोंको प्रफुल्लित करनेवाली किरणोंवाला वह प्रसिद्ध सूर्य तत्काल उदित होकर शम (जितेन्द्रियता) का नाश करनेवाले जिस अन्धकारको दूर नहीं कर सकता, महान् हर्षके नाशक और इन्द्रियोंके अनिरोध द्वारा महान् दोष पैदा करनेवाले उस अज्ञान-रूप अन्धकारको भस्म करनेके लिए संसारमें एकमात्र भगवान् शङ्करकी भक्ति ही समर्थ है ।

ये सन्तोषप्रशमपिशुने क्लेशराशौ निमग्ना
भग्नाशाभिर्विषमविषयोपासनावासनाभिः ।
तेषामेषा भवभयभिदारम्भसंभावनाभू-
र्भूत्यै[1] भूयस्त्रिजगति गतिः शाम्भवी भक्तिरेव ॥ १० ॥

अन्वय—ये भग्नाशाभिः विषमविषयोपासनावासनाभिः सन्तोषप्रशमपिशुने क्लेशराशौ निमग्नाः, तेषाम् त्रिजगति [अगतीनाम्] गतिः, भूयः भवभयभिदारम्भसंभावनाभूः एषा शाम्भवी भक्तिः एव भूत्यै [भूयात्] ।

अर्थ—जो लोग भग्न आशाओंसे अत्यन्त विषम शब्दादि पञ्च विषयोंके भोगकी वासनाओं द्वारा सन्तोष नष्ट करनेवाली अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशोंकी राशिमें डूबे हुए हैं, त्रिभुवनमें अगतिकोंकी परमगति और संसारके महाभयको समूल दूर कर देनेवाली यह शिव-भक्ति ही उन्हें परम आनन्द प्रदान करे ।

दम्भस्तम्भस्थगितगतयः सावहेलामहेला-
हेलालापभ्रमितमतयः सन्त्यसंख्याः पुमांसः ।
भार्गीं भक्तिं दधति हृदये निस्तरङ्गामभङ्गां
गङ्गातीरे विहितरतयो दुर्लभाः पूरुषास्ते ॥ ११ ॥

अन्वय—दम्भस्तम्भस्थगितगतयः सावहेलामहेलाहेलालापभ्रमितमतयः पुमांसः [भुवि] असंख्याः सन्ति, ये [पुनः] गङ्गातीरे विहितरतयः [सन्तः] हृदये निस्तरङ्गाम् अभङ्गाम् भार्गीम् भक्तिम् दधति, ते पूरुषाः दुर्लभाः [सन्ति] ।

अर्थ—दम्भरूपी स्तम्भसे जिनकी पारमार्थिक गति रुक गयी है और रूप-लावण्यके मदसे गर्वित महिलाओंके हाव-भावोंसे जिनकी मति [अज्ञानरूपी भँवरमें] चक्कर खाती है, ऐसे अविवेकी पुरुष इस संसारमें असंख्य भरे पड़े हैं । किन्तु जो लोग पतित-पावनी गङ्गाके पवित्र तटपर निवास करते हुए काल-कामादिके अन्तक भगवान् सदाशिवकी निश्चल और अक्षय्य भक्ति धारण करते हैं, वे सहृदय पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं ।

---

१. 'भूयात्' इत्यपि पाठः ।

शम्भो दम्भो दहति कुहकारम्भसंभावनाभिः
साभिद्वेषस्त्विषमपकषत्येष रोषप्रदोषः ।
सावष्टम्भं भ्रमयति बृहन्मामहङ्कारभारः
पारं नेतुं प्रभवति भवद्भक्तिरेका भवाब्धेः ॥ १२ ॥

अन्वय—शम्भो ! कुहकारम्भसंभावनाभिः दम्भः माम् [दहति], साभिद्वेषः एषः रोषप्रदोषः [मम] त्विषम् अपकषति, बृहत् अहङ्कारभारः सावष्टम्भम् माम् कुपथेषु भ्रमयति, [अतः] माम् भवाब्धेः पारम् नेतुम् एका भवद्भक्तिः [एव] प्रभवति ।

अर्थ—नाथ ! यह दम्भ अत्यन्त द्रोह उत्पन्न करके मुझे जला रहा है, द्वेषसे युक्त यह क्रोधरूपी रात्रि मेरा तेज हर रही है और महान् अहङ्कारका भार मुझे गर्वित कर कुमार्गोंमें भटकाता है, इसलिए प्रभो ! अब मुझ शरणहीनको इस अपार भवसागरसे पार करनेके लिए केवल एक आपकी भक्ति ही समर्थ है ।

द्राक्संधत्ते युधमधिधनुर्बद्धबाणाभिरामैः
सभ्रूभङ्गैर्लटभललनापाङ्गभङ्गैरनङ्गः ।
दोषप्लोषक्षमशमपथापातमातन्वती मे
भीमे भक्तिर्भगवति गतिश्चक्षुषश्चन्द्रिकेव ॥ १३ ॥

अन्वय—अधिधनुर्बद्धबाणाभिरामैः सभ्रूभङ्गैः लटभललनापाङ्गभङ्गैः अनङ्गः युधम् द्राक् संधत्ते, अतः चक्षुषः चन्द्रिका इव, दोषप्लोषक्षमशमपथापातम् आतन्वती भगवति भीमे भक्तिः एव एका मे गतिः [अस्ति] ।

अर्थ—धनुषपर चढ़ाये बाणोंके समान मनोहर कटाक्षोंवाली प्रौढ़ा युवतियोंके कटाक्षविक्षेपों द्वारा यह कामदेव मेरे साथ युद्ध करनेके लिए कमर कसे हुए है । इसलिए [मरुभूमिसे सन्तप्त पुरुषके] नेत्रोंके लिए [पित्तधातुकृत दोष मिटानेवाली] चन्द्रिकाके समान, काम-क्रोधादि रूप दोषोंकी शान्ति करनेमें समर्थ शम-दमरूपी मार्गपर चलने (गिरने) वाली शिव-भक्तिके सिवा अब मेरी दूसरी कोई गति नहीं है ।

कामः कामं धनुरनुनिशं कौसुमं संवृणोतु
व्यालं कालः स्वकरकुहरे भग्नभोगं विधत्ताम् ।
भार्गी भक्तिः सपदि सकलप्रार्थनाकल्पवल्ली
लब्धा दब्धा जगति कति न क्लेशपाशा हताशाः ॥ १४ ॥

अन्वय—कामः अनुनिशम् कौसुमम् धनुः कामम् संवृणोतु, कालः व्यालम् स्वकरकुहरे भग्नभोगम् विधत्ताम् । [मया] सपदि सकलप्रार्थनाकल्पवल्ली भार्गी भक्तिः लब्धा, अतः जगति हताशाः क्लेशपाशाः कति न दब्धाः ।

अर्थ—निश्चय ही अब वह कामदेव [मुझसे हताश होकर] अपना पुष्प-

धनुष हर रात कहीं सुरक्षित छिपा रखे और यमराज (काल) भी अपने नागपाशकी फणाओंको मसलकर उसे हाथोंमें ही सुरक्षित छिपा रखे। कारण, अब मुझे पूर्व पुण्योंके फलस्वरूप सकल अभिलाओंकी कल्पलता श्रीशिवभक्ति प्राप्त हो गयी है, इसलिए अब मैंने संसारमें अविद्या आदि समस्त क्लेश-पाशोंको हताश कर बाँध डाला है। अर्थात् मुझे बन्धनमें डालनेवाले रागद्वेषादि समस्त दोषोंको मैंने श्रीशिव भक्तिके बलसे, मन्त्र-मथित सर्प के समान, निर्वीर्य कर हताश कर डाला है।

राज्ञामाज्ञाविहतिविहतानीकिनीनीरसश्रीः
स श्रीलेशस्तनुरनुचितप्रार्थनस्तावदास्ताम्।
ऐन्द्रं यत्र त्रिभुवनजयप्राज्यसाम्राज्यलक्ष्मी-
लक्ष्मावज्ञास्पदमपि पदं तां स्तुमः शम्भुभक्तिम् ॥ १५ ॥

अन्वय — राज्ञाम् आज्ञाविहतिविहतानीकिनीनीरसश्रीः (अत एव) अनुचितप्रार्थनः सः तनुः श्रीलेशः तावत् आस्ताम्, यत्र त्रिभुवनजयप्राज्यसाम्राज्यलक्ष्मीलक्ष्म ऐन्द्रम् पदम् अपि [लब्धम्] अवज्ञास्पदम् [भवति], ताम् शम्भुभक्तिम् स्तुमः।

अर्थ—आज्ञाभङ्ग होनेसे व्यर्थ सिद्ध हुई अनीकिनी* (सेना) से जिसकी शोभा मन्द पड़ गई अतएव जिसके लिए प्रार्थना करना किसी प्रकार उचित नहीं, इस प्रकारकी राजाओंकी क्षुद्र सम्पत्ति तो दूर रही, जिस शम्भु भक्ति-रसामृतकी प्राप्ति होनेपर त्रैलोक्य विजयसे उत्कृष्ट प्रचुर साम्राज्य लक्ष्मीसे विभूषित इन्द्रपद भी तिरस्करणीय प्रतीत होता है, उस शम्भुभक्तिकी हम स्तुति करते हैं।

कान्तैकान्तव्यसनमनसां वल्कलालङ्कृतानां
ज्ञानाम्भोभिः क्षपितरजसां जाह्नवीतीरभाजाम्।
गाढोत्सेकप्रकटितजटामण्डलीमण्डनानां
नानाकारा भवति कृतिनां[1] मुक्तये भर्गभक्तिः ॥ १६ ॥

अन्वय—कान्तैकान्तव्यसनमनसाम् वल्कलालङ्कृतानाम् ज्ञानाम्भोभिः क्षपितरजसाम् जाह्नवीतीरभाजाम् गाढोत्सेकप्रकटितजटामण्डलीमण्डनानाम् कृतिनाम् नानाकारा भर्गभक्तिः मुक्तये भवति।

* १ हाथी, १ रथ, ३ घोड़े और ५ पैदल मिलकर 'पत्ति' कहलाती है। पत्ति के अंगोंको तिगुना करने पर 'सेनामुख', सेनामुखके अंगोंका तिगुना 'गुल्म', गुल्मांगोंका तिगुना 'गण', गणांगोंका तिगुना 'वाहिनी', वाहिनीके अंगोंका तिगुना 'पृतना', पृतनांगोंका तिगुना 'चमू' और चमूके अंगोंका तिगुना 'अनीकिनी' सेना (अर्थात् हाथी और रथ २१८७, घोड़े ६५६१ तथा पैदल १०९३५ की सेना) कहलाती है तथा तीन अनीकिनीके अंगोंसे अक्षौहिणी कहलाती है।

१. 'भविनाम्' इति पाठान्तरम्।

अर्थ—अतीव मनोहर एकान्तके प्रेमी, वल्कल-वस्त्रोंसे अलङ्कृत, ज्ञान-जलसे पाप-रूप रजका प्रक्षालन कर चुके तथा जाह्नवीके पावन तटका सेवन कर रहे गाढ़-भक्तिके उद्रेकसे प्रकटित जटा-मण्डलीसे मण्डित, पुण्यात्माओंको यह अनेक प्रकारकी शिव-भक्ति कैवल्य-पदवी प्रदान करती है।

मूर्तिर्धूर्तिं प्रथयति यथा मञ्जरी जीर्णपर्णा
कर्णाभ्यर्णं प्रसरति जरा सत्यतो मृत्युदूती।
भोगा भोगा इव विदधतश्चेष्टितं वेष्टयन्ते
हन्तेदानीं शरणमपरं नास्ति नः शम्भुभक्तेः॥ १७॥

अन्वय—नः मूर्तिः जीर्णपर्णा मञ्जरी यथा धूर्तिम् प्रथयति, सत्यतः मृत्युदूती जरा [नः] कर्णाभ्यर्णम् प्रसरति, भोगाः भोगाः इव चेष्टितम् विदधतः [सन्तः नः] वेष्टयन्ते। हन्त! इदानीम् शम्भुभक्तेः अपरम् [नः] शरणम् नास्ति।

अर्थ—हमारा यह शरीर जीर्ण पत्तोंवाली लताके समान काँप रहा है, निश्चय ही यमदूतीकी तरह यह जरा हमारे कानोंके निकट आ रही है और ये भोग (शब्दादि विषय) साक्षात् भोगों (सर्प-शरीरों) की तरह हमें घेर रहे हैं। हाय! अब इस समय केवल एक 'शिव-भक्ति' के सिवा हमारा दूसरा कोई भी शरण नहीं है।

यत्र ध्वान्तक्षपणनिपुणं दुर्बलं[1] धाम चान्द्रं
सान्द्रं यत्र ग्लपयति तमस्तापनो यन्न तापः।
यत्र प्रेङ्खन्न कचति[2] शिखी तेजसाऽन्येन सत्रा
तत्रालोकं दिशति विषमे शाम्भवी भक्तिरेका॥ १८॥

अन्वय—ध्वान्तक्षपणनिपुणम् चान्द्रम् धाम यत्र दुर्बलम् [भवति], यत्र यन् तापनः तापः सान्द्रम् तमः न ग्लपयति, यत्र [च] अन्येन तेजसा सत्रा प्रेङ्खन् शिखी न कचति, तत्र विषमे एका शाम्भवी भक्तिः [एव] आलोकम् दिशति।

अर्थ—गाढ़तम अन्धकारका नाश करनेमें समर्थ चन्द्रमाका तेज भी जिस मोहरूपी अन्धकारको दूर करनेमें असमर्थ हो जाता है, अत्यन्त तेजस्वी सूर्यका तेज भी जिसका नाश नहीं कर सकता और ग्रह, तारागण, मणि आदि सभी तेजों को साथ लेकर प्रज्वलित अग्नि भी जहाँ प्रकाश नहीं कर सकता, ऐसे अति गाढ़ मोहरूपी अन्धकारमें केवल एक शाम्भवी भक्ति ही प्रकाश करती है। अर्थात् मोह-रूपी गाढ़ अन्धकारको केवल भगवान् शंकरकी भक्तिके सिवा दूसरा कोई भी दूर नहीं कर सकता।

मा भूद् भूयोऽभ्यसनसुलभान्वीक्षिकी नाम विद्या
हृद्या दूरे विहरतु विपत्खण्डिनी दण्डनीतिः।

१. 'दुर्लभम्' इति पाठान्तरम्। २. 'खचति' इत्यपि पाठः।

क्वापि स्थेम्ना लसतु कलितोल्लाघवार्तापि वार्ता
नार्ताविहं किमपि शरणं शम्भुभक्तिं विनाऽन्यत् ॥ १९ ॥

अन्वय—भूयोऽभ्यसनसुलभा आन्वीक्षिकी* विद्या मा भूत् नाम, विपत्खण्डिनी हृद्या दण्डनीतिः [अपि] दूरे विहरतु, कलितोल्लाघवार्ता वार्ता अपि क्वापि स्थेम्ना लसतु, आर्तौ शम्भुभक्तिम् विना अन्यत् अर्हम् शरणम् न [भवति]।

अर्थ—मुझे भले ही अधिक अभ्याससे प्राप्त होनेवाली आन्वीक्षिकी विद्या (तर्क-विद्या) का ज्ञान न हो, [कारण वह जीवोंके सांसारिक आन्तरिक पाप-तापों को नहीं मिटा सकती ; बाह्य] विपत्तियोंका नाश करनेवाली मनोहर दण्डनीति (राजनीति) भी दूर रहे [अर्थात् हमसे वह दण्डनीति भी दूर रहे, अर्थात् हमें उस दण्डनीतिकी भी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह भी प्राणीका आत्यन्तिक दुःख दूर नहीं कर सकती] एवं आरोग्यकी वार्ता करनेवाली वार्ता (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि आजीविका) भी कहीं स्थिर होकर बैठ जाय। अर्थात् लौकिक धन-सम्पत्तिकी भी हमें कोई परवाह नहीं, कारण प्राणियोंके जन्म-मरणके सङ्कटमें केवल एक शम्भु-भक्तिके सिवा दूसरा कोई योग्य सहायक नहीं हो सकता।

संसाराब्धेः प्रथमलहरी पातकापातकामा
रामा नाम स्थगयति गतिं मज्जतां सज्जनानाम्।
मोहावर्त्तभ्रमसमुदयत्खेदविच्छेदहेतुः
सेतुर्दूरीभवति च भृशं शेमुषी शेमुषीयम् ॥ २० ॥
तस्मादस्माज्जननमरणक्लेशवेशन्तपङ्का-
च्छङ्कातङ्काकुलितमतयो ये तितीर्षन्ति तेषाम्।
आशापाशग्रथितवपुषां क्रन्दतामातुराणां
प्राणापाते वितरति करालम्बनं शम्भुभक्तिः ॥ २१ ॥
[युगलकम्]

अन्वय—संसाराब्धेः प्रथमलहरी पातकापातकामा रामा [भवाब्धौ] मज्जताम् सज्जनानाम् गतिम् स्थगयति नाम, मोहावर्तभ्रमसमुदयत्खेदविच्छेदहेतुः सेतुः शेमुषी इयम् शेमुषी च दूरीभवति। तस्मात् अस्मात् जननमरणक्लेशवेशन्तपङ्कात् शङ्कातङ्काकुलितमतयः ये पारम् तितीर्षन्ति, तेषाम् शम्भुभक्तिः [एव] करालम्बनम् वितरति।

अर्थ—इस अपार संसार-रूप महासागरकी पहली तरङ्ग और मनुष्यको बड़े-बड़े दुष्कर्मोंमें गिराना चाहनेवाली रामा (युवती) भवसागरमें डूबे सज्जनोंकी

* प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य पश्चादीक्षणम् अन्वीक्षा, सा प्रयोजनं यस्याः सा आन्वीक्षिकी तर्कविद्या।

सद्गति सर्वथा रोक देती है और मोहरूपी भँवरमें चक्कर काटनेसे उत्पन्न खेदको समूल नष्ट करनेवाली तथा संसार-सागरसे पार करनेमें साक्षात् सेतुरूप (पुल-सी) वह शान्तिमयी (शमप्रधान) बुद्धि दूर चली जाती है। इसलिए इस जन्म-मरण-क्लेश रूप दुःख-पल्वलके दुष्कृतरूप कीचड़से उत्पन्न शंकारूप आतंकसे विकलमति जो सहृदय जन महान् विपत्तिसे पार होना चाहते हैं, उन आशारूपी पाशोंसे बँधे और करुण विलाप करनेवाले आतुरोंको अन्तकालमें एकमात्र शम्भुभक्ति ही सहारा देती है।

[अब यहाँसे मुख्य-विषयासक्ति दोषका वर्णन करते हुए कवि कहते हैं—]

एणाक्षीणां स्मरशरशिखाकोटिशौटीर्यभीमाः
प्रेमाकृष्टा झगिति कुटिला ये कटाक्षाः पतन्ति।
कालेनैते कुलिशनिशितास्तुण्डदण्डा जडानां
भिन्दन्त्यन्तर्हृदयमदयं पत्रिणां नारकाणाम् ॥ २२ ॥

अन्वय—स्मरशरशिखाकोटिशौटीर्यभीमाः प्रेमाकृष्टाः झगिति एणाक्षीणां ये कुटिलाः कटाक्षाः [तदासक्तकामिजनं प्रति] पतन्ति, एते [एव] कालेन कुलिशनिशिताः [सन्तः] नारकाणाम् पत्रिणाम् तुण्डदण्डाः [भूत्वा] तेषाम् जडानाम् अन्तर्हृदयम् अदयम् भिन्दन्ति।

अर्थ—कामदेवके बाणोंके अग्रभागकी नोककी-सी तीक्ष्णतावाले अतएव भयङ्कर, प्रेमसे आकृष्ट युवतियोंके जो कटाक्ष उनपर आसक्त कामी जनों पर गिरते हैं, वे ही (कटाक्ष) समय पर वज्रके समान तीक्ष्ण होते हुए नरकोंके पक्षियोंकी चोंचें बनकर उन मूढ कामियोंके हृदयको अत्यन्त निर्दयतापूर्वक भेदन करते हैं, और—

बाहुद्वन्द्वं तुलित-विवलद्बालमाणालनालं
सालङ्कारं रणितवलयं वेष्टितं कण्ठपीठे।
मोहान्धानां महति पततां यातनातङ्कपङ्के
शङ्के पङ्केरुहदलदृशः पाशतामेतदेति ॥ २३ ॥

अन्वय—तुलितविवलद्बालमाणालनालम् सालङ्कारम् रणितवलयम् पङ्केरुहदलदृशः [यत्] बाहुद्वन्द्वम् मोहान्धानाम् कण्ठपीठे वेष्टितम् [तदेव कालेन] महति यातनातङ्कपङ्के पतताम् [तेषाम्] पाशताम् एति, एतत् [अहम्] शङ्के।

अर्थ—कोमल बाल मृणाल (नवीन कमलकी नाल) के समान सुमनोहर, केयूर-कङ्कण आदि आभूषणोंसे अलंकृत, वलयोंसे शब्दायमान जो कामिनीकी भुजाएँ (पहले) मोहान्ध कामी जनोंके कण्ठमें लिपटीं ; मैं सोचता हूँ कि वही भुजाएँ (फिर) अन्तकालमें अत्यन्त घोर नरक-यातनारूपी कीचड़में पड़ते हुए उन (कामी) लोगोंके लिए महान् लोहमय पाश बन जाती हैं। और—

यत्साकूतं मुकुलितदृशः केतकामोदहृद्यं
सद्यः स्विद्यद्वदनममृतस्यन्दि पीतं नताङ्ग्याः।

रागान्धानां निरयनिलये तद्दुरापावसाने
जाने भूयः पतनशपथाक्रोशकोषत्वमेति ॥ २४ ॥

अन्वय—साकूतम् केतकामोदहृद्यम् सद्यः स्विद्यत् अमृतस्यन्दि मुकुलितदृशः नताङ्ग्याः यत् वदनम् [रागान्धैः] पीतम्, तदेव भूयः [तेषाम्] रागान्धानाम् दुरापावसाने निरयनिलये पतनशपथाक्रोशकोषत्वम् एति [इति अहम्] जाने ।

अर्थ—कामान्ध पुरुषोंने हाव भाव आदि विलासोंसे युक्त, केतकी-पुष्पके समान मनोहर, तत्काल स्वेद (सात्त्विक भाव)को प्राप्त होते हुए एवं अमृतको टपकानेवाले जिस कामिनीके मुखका चुम्बन किया, वही मुख फिर उन्हें निरवधि दुःखमय नरकालयमें पतनके लिए शपथरूपी शापका कोष (मञ्जूषा)बन जाता है।

रागोद्रेकात्कनककलशाकारमालम्बिहारं
सारङ्गाक्ष्याः पृथुकुचयुगं गाढमालिङ्गितं यत् ।
तन्मूढानां नरककलिले मज्जतामन्तकाले
नाले लग्नस्थिरतरगुरुग्रावभावं बिभर्ति ॥ २५ ॥

अन्वय—कनककलशाकारम् आलम्बिहारम् यत् सारङ्गाक्ष्याः पृथुकुचयुगम् [मूढैः] रागोद्रेकात् गाढम् आलिङ्गितम् [तदेव] अन्तकाले नरककलिले मज्जताम् [तेषाम्] नाले लग्नस्थिरतरगुरुग्रावभावम् बिभर्ति ।

अर्थ—सुवर्ण-कलशके समान तथा मुक्ता-हारसे सुशोभित कामिनीके जिस पीन स्तन-युगका कामान्ध लोगोंने रागान्ध होकर गाढ़ आलिङ्गन किया, वही स्तनयुग फिर अन्त-कालमें उन मूर्खोंको नरकरूपी पङ्कमें डुबोनेके लिए कण्ठमें लगा हुआ बड़ा भारी अचल पाषाण बन जाता है।

किं भूयोभिर्वचनरचनाडम्बरैर्दीर्घशोका
लोका युक्तं शृणुत सुतरां पश्चिमं वाक्यमेतत् ।
दुःखोदर्कं प्रमुखसुखदं सङ्गमुत्सृज्य साङ्गं
गाङ्गं लब्ध्वा सलिलममलं शम्भुभक्तिं भजध्वम् ॥ २६ ॥
(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—भूयोभिः वचनरचनाडम्बरैः किम् [भवति], दीर्घशोकाः लोकाः । सुतराम् युक्तम् [मम] एतत् पश्चिमम् वाक्यम् शृणुत । दुःखोदर्कम् प्रमुखसुखदम् साङ्गम् सङ्गम् उत्सृज्य, अमलम् गाङ्गम् सलिलम् लब्ध्वा शम्भुभक्तिम् [एव] भजध्वम् ।

अर्थ—अब अधिक क्या कहें ? विवेक उत्पन्न करनेवाले बहुतसे वैराग्यमय वचनोंके आडम्बरोंकी क्या आवश्यकता है ? (अतः) अरे महान् शोकग्रस्त पुरुषो ! (मेरे वचनोंको खूब विचार कर) अब इस अत्यन्त युक्त (यथार्थ) अन्तिम वाक्यको सावधान होकर सुनो—'केवल आरम्भमें सुख देनेवाली और

परिणाममें अत्यन्त दुःख देनेवाली विषयासक्तिको त्याग कर निर्मल गङ्गा-जलको प्राप्त कर भगवान् शिवकी भक्तिकी ही शरण लो।'

त्रैलोक्यं लम्भयन्तस्तृणगणगणनां रोहिणीकान्तलेखा-
रेखालङ्कारभक्तिप्रमुदितमनसो निर्मलं धाम लब्धुम्।
धन्याः संन्यासिनोऽन्तःकलिमलपटलं भूरि भिन्दन्त्यमन्दा
मन्दाकिन्याः पयोभिः शशिमुकुटजटावैजयन्तीदुकूलैः ॥ २७ ॥

अन्वय—त्रैलोक्यम् तृणगणगणनाम् लम्भयन्तः रोहिणीकान्तलेखारेखालङ्कारभक्तिप्रमुदितमनसः धन्याः अमन्दाः संन्यासिनः निर्मलम् धाम लब्धुम् शशिमुकुटजटावैजयन्तीदुकूलैः मन्दाकिन्याः पयोभिः अन्तः भूरि कलिमलपटलम् भिन्दन्ति।

अर्थ—त्रैलोक्यको शुष्क तृणके समान तुच्छ समझते हुए अर्थात् अतीव निःस्पृह तथा श्रीभगवान् शङ्करकी भक्तिसे जिनका मन अलौकिक आनन्दमें मग्न हुआ है ऐसे धन्यात्मा संन्यासी लोग समस्त कर्मोंको श्रीभगवच्चरणोंमें समर्पण करके उस अत्यन्त पवित्र परम पद (कैवल्यधाम) को प्राप्त करनेके लिए शङ्करकी जटाध्वजाके दिव्य वस्त्र ऐसे मन्दाकिनीके स्वच्छ जलोंसे अन्तःकरणके समस्त मलोंको धोते हैं।

एवं देव प्रभेव स्मरहर सकलद्वीपदीपस्य भर्त्तु-
र्भासामासादयन्ती विषमतमतमःखण्डने चण्डिमानम्।
कारागारानुकारे परिभवति भवे बद्धमोहान्धकारे
भावत्की भक्तिरेका शरणमशरणत्राणविश्राणिनी नः ॥ २८ ॥

अन्वय—देव स्मरहर! एवं विषमतमतमःखण्डने भासाम् चण्डिमानम् आसादयन्ती बद्धमोहान्धकारे कारागारानुकारे भवे परिभवति [सति] सकलद्वीपदीपस्य भर्तुः प्रभा-इव अशरणत्राणविश्राणिनी एका भावत्की भक्तिः एव नः शरणम्।

अर्थ—अयि भगवन्! इस प्रकार गाढ़ अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए अति प्रचण्ड दीप्तिको धारण करनेवाली, मोहरूप अन्धकारसे व्याप्त हुए कारागारके समान इस संसारके विपत्ति-बाधाओंसे अतीव तिरस्कार करनेपर सूर्यकी दिव्य कान्तिके समान अनाथोंको शरण देनेवाली एक आपकी भक्ति ही हम लोगोंको शरण दे सकती है।

ये विश्वस्थितिसर्गसंहतिकृतो देवास्त्रयस्तेऽपि यं
सेवन्ते मुखवीक्षणप्रणयिनो दृक्पातमात्रार्थिनः।
यस्याः स प्रभुरप्रमेयमहिमा क्रीडाशकुन्तायते
तां भक्तिं भुवनत्रयाद्भुतमहामाहात्म्यशक्तिं स्तुमः ॥ २९ ॥

अन्वय—विश्वस्थितिसर्गसंहतिकृतः ये त्रयः देवाः [सन्ति] ते अपि [कामयं परमे-

श्वरः आज्ञां विधास्यतीति] मुखवीक्षणप्रणयिनः दृक्पात-मात्रार्थिनः [सन्तः] यं सेवन्ते, सः अप्रमेयमहिमा [अपि] प्रभुः यस्याः क्रीडाशकुन्तायते, ताम् भुवनत्रयाद्भुतमहामाहात्म्यशक्तिम् भक्तिम् [वयम्] स्तुमः ।

अर्थ – संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाले जो ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों देवता हैं, वे भी (न मालूम भगवान् सदाशिव हमें क्या आज्ञा देंगे ? यों) हाथ जोड़कर प्रतिक्षण जिनके मुख-कमलकी ओर देखते हुए, जिनके दृष्टिपात मात्रकी अभिलाषा रखते हुए जिस (प्रभु) की सेवामें तत्पर रहते हैं, वह अतर्क्य महामहिम वैभवशाली परमेश्वर भी जिस (भक्ति) का क्रीडा-शुक बन जाता है, अर्थात् जिसके अधीन होकर बँध जाता है, उस—तीनों लोकोंमें अद्भुत प्रभावशालिनी शक्तिसे सम्पन्न भक्तिको धन्य है ।

[अब इस भक्ति-स्तोत्रका निर्माण करनेसे अपनेको कृतकृत्य समझते हुए कवि कहते हैं—]

गावस्तावद् दुहाना रसमसमसुधासोदरास्वादबन्धुं
भक्तिर्भर्गे निसर्गक्लमशमनचमत्कारभोगैकभूमिः ।
तृप्तिः स्वात्मावभासादनुपमपरमानन्दनिःस्यन्दसंवि-
द्विश्रान्त्येकान्तहेतोरिति सपदि विपत्किङ्करी किङ्करोतु ॥३०॥

इति श्रीकाश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धर-भट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'भक्तिस्तोत्रं' नाम सप्तदशं स्तोत्रम्

अन्वय तावत् असमसुधासोदरास्वादबन्धुम् रसम् दुहाना गावः, निसर्गक्लमशमनचमत्कारभोगैकभूमिः भर्गे भक्तिः, स्वात्मावभासात् अनुपमपरमानन्दनिःस्यन्दसंविद्विश्रान्त्येकान्तहेतोः तृप्तिः च [मे अस्ति] इति सपदि किङ्करी विपत् किम् करोतु ?

अर्थ—अनुपम सुधास्वादनके समान शान्त रसको दुहनेवाली वाणी, स्वाभाविक समस्त क्लेशोंको शान्त करके (अन्तःकरणमें एक) विलक्षण ही चमत्कार पैदा करनेवाली शिव-भक्ति तथा स्वात्मसाक्षात्कार द्वारा प्राप्त हुए अनुपम परमानन्दके झरने बहानेवाले तत्त्वज्ञानरूप विश्रान्तिके कारण उत्पन्न होनेवाली परम तृप्ति—ये तीनों पदार्थ यदि प्राप्त हैं, तो फिर बेचारी विपत्तिरूपी दासी क्या कर सकती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

————

अष्टादश स्तोत्र

अब यहाँ से 'सिद्धि-स्तोत्र' को प्रारम्भ करते हुए कवि कहते हैं—

जयति जितविकारः क्लृप्तलोकोपकारः
कृतविपदपकारः शान्तमोहान्धकारः ।

अतुलपुरुषकारः प्राप्तविश्वाधिकारः
स्मररचितनिकारः पार्वतीचाटुकारः ॥ १ ॥

अन्वय—जितविकारः क्लृप्तलोकोपकारः कृतविपदपकारः शान्तमोहान्धकारः अतुल-पुरुषकारः प्राप्तविश्वाधिकारः स्मररचितनिकारः पार्वती-चाटुकारः जयति ।

अर्थ—शीत, उष्ण आदि छहों विकारोंको जीतनेवाले, समस्त विश्वका उद्धार करनेवाले, जन्म-जरा-मरण-जन्य विपत्तियोंका नाश करनेवाले, मोहरूपी गाढ़ अन्धकारको शान्त करनेवाले, अतुलनीय पुरुषार्थसे सम्पन्न और कामका भस्म करनेवाले समस्त भुवनोंके अधिपति श्रीपार्वतीके प्राणनाथ (श्रीसदाशिव) सर्वोत्कृष्ट हैं ।

अतनुमतनुतामुं प्राणिनां पूर्णशक्ति-
रतनुभुवनगणं यः शर्मदः कर्मभुक्त्यै ।
दिशमदिशदशङ्कां शास्त्ररूपां च मुक्त्यै
स भवतु भवदोषप्लोषकृद्वो महेशः ॥ २ ॥

अन्वय—पूर्णशक्तिः शर्मदः यः प्राणिनाम् कर्मभुक्त्यै अतनुम् अमुम् तनुभुवनगणम् अतनुत, प्राणिनाम् मुक्त्यै अशङ्काम् शास्त्ररूपाम् दिशम् च अदिशत्, सः महेशः वः भवदोष-प्लोषकृत् भवतु ।

अर्थ—पूर्ण स्वतन्त्र अर्थात् महान् ऐश्वर्य-शक्तिसे सम्पन्न और कैवल्य देनेवाले जिस प्रभुने प्राणियोंके शुभाऽशुभ कर्मोंके भोगके लिए इस अनन्त भुवन-रूप शरीरका विस्तार किया और प्राणियोंकी मुक्तिके लिए शास्त्र-रूप निःशङ्क सन्मार्ग (उपाय) का निर्देश किया, वह परमेश्वर आप लोगोंके सम्पूर्ण सांसारिक दोषोंको भस्म करे ।

अनलसहितवृत्तौ सत्कलाभासशुद्धे
बुधवरमुखपद्मे भारती निर्मलोर्मिः ।
वरद परमतापक्लेशजित्त्वत्प्रसादात्
प्रभवति भवदीये मूर्धनि स्वर्धुनीव ॥ ३ ॥

अन्वय—वरद ! अनल-सहित-वृत्तौ सत्कलाभासशुद्धे भवदीये मूर्धनि निर्मलोर्मिः परमतापक्लेशजित् स्वर्धुनी इव, त्वत्प्रसादात् अनलस हित-वृत्तौ, सत्कलाभासशुद्धे बुधवरमुखपद्मे निर्मलोर्मिः परमतापक्लेशजित् भारती प्रभवति ।

अर्थ—अयि भक्ताऽभीष्टप्रद परमेश्वर ! (तृतीय नेत्रकी) अग्निके सहवाससे युक्त और मनोहर चन्द्रकलाकी दीप्तिसे विशुद्ध आपके मस्तकमें निर्मल तरङ्गोंवाली और तीव्र संतापों द्वारा उत्पन्न हुए क्लेशको दूर करनेवाली मन्दाकिनीकी तरह आपके कृपा-प्रसादसे (आपकी स्तुति करनेमें) आलस्य-रहित और हित-कारक शब्द व्यापारवाले तथा सुन्दर (चतुःषष्टि) कलाओंकी शोभासे विशुद्ध बने हुए विद्वद्वरके मुख-कमलमें निर्मल उल्लासरूपी तरङ्गोंवाली और उत्कट सन्ताप एवं

(अविद्यादि पञ्च) क्लेशोंकी निवृत्ति करनेवाली सरस्वती विहरण करती है।

भव भवमरुचारश्रान्तसन्तापतान्ति-
प्रशमनघनवर्षावारिवाहं तवाहम् ।
नमदमरकिरीटप्रोतरत्नांशुपूर-
स्फुरदुरुसुरचापं पादपीठं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

अन्वय—भव ! अहम् भवमरुचारश्रान्तसन्तापतान्तिप्रशमन-घनवर्षावारिवाहम् नमद-मरकिरीटप्रोतरत्नांशुपूरस्फुरदुरुसुरचापम् तव पाद-पीठम् प्रपद्ये ।

अर्थ—हे प्रभो ! मैं संसार-रूपी मरुस्थलमें भ्रमण करनेसे श्रान्त (थके) हुए प्राणियोंके सन्तापोंको शान्त करनेमें वर्षाकालके मेघके समान और नमन करनेवाले (ब्रह्मेन्द्रादि) देवताओंके मुकुटोंपर जड़े हुए रत्नोंके किरण-रूपी विशाल इन्द्रधनुषसे शोभायमान आपकी चरण-पीठिकाका आश्रय लेता हूँ।

करकलितकपोला बालशैवालशय्या-
तललुलितमृणालीपेलवम्लानमूर्तिः ।
चिरविरहविनिद्रा रुद्रदृक्पातपात्रं
दिशि दिशि निशि पश्यत्यङ्गनानङ्गभीरुः ॥ ५ ॥

अन्वय – करकलितकपोला बालशैवालशय्यातललुलितमृणालीपेलवम्लानमूर्तिः चिरविरह-विनिद्रा अनङ्गभीरुः अङ्गना रुद्रदृक्पातपात्रम् निशि दिशि दिशि पश्यति ।

अर्थ—(चिर-वियोगसे व्याकुल होनेके कारण) कपोलको अपने (बाँयें) हाथमें रक्खी हुई, नवीन शैवालके समान सुकोमल शय्यापर कमलकी नालके समान लेटी हुई जिसकी कोमल मूर्ति म्लान हो रही है ऐसी, चिरकालीन विरहसे व्याकुल एवं कामबाणसे पीड़ित हुई कामिनी भगवान् शङ्करके कृपा-पात्र पुरुष (शिवभक्त) को रात्रिमें अतीव उत्कण्ठापूर्वक सभी दिशाओंमें देखती रहती है। अर्थात् शम्भु-चरणानुरत भक्तको सांसारिक उत्तम उत्तम सुख-सम्पत्तियाँ अपने आप ही वर लेती हैं।

हरचरणसरोजद्वन्द्वभक्तिप्रसादा-
दुपरि करिवराणां संचरन्तः सहेलम् ।
घनमदभरनिर्यन्निर्भरामोदलोभ-
स्खलदलिकुलगीतं स्फीतमाकर्णयन्ति ॥ ६ ॥

अन्वय—हरचरणसरोजद्वन्द्वभक्तिप्रसादात् करिवराणाम् उपरि सहेलम् सञ्चरन्तः [शिवभक्ताः] स्फीतम् घनमदभरनिर्यन्निर्भरामोदलोभस्खलदलिकुल-गीतम् आकर्णयन्ति ।

अर्थ—अहा ! श्रीसदाशिवके चरणारविन्दोंकी भक्तिके प्रसादसे भक्त लोग श्रेष्ठ हाथियोंके ऊपर बड़े आनन्दसे चलते हुए अतीव गाढ़ मद-जलसे निकनेवाले उत्कट आमोदके लोभसे टकरा रहे भ्रमरोंका सुन्दर गान सुना करते हैं।

चरणकमलयुग्मं देव निर्दम्भभक्ति-
　ग्रहपुलकितदेहस्तावकं यो ननाम ।
अधिवसति स सेवानम्रसामन्तमौलि-
　स्खलितबकुलमालालालितं पादपीठम् ॥ ७ ॥

अन्वय—देव ! निर्दम्भभक्तिग्रहपुलकितदेहः यः तावकम् चरणकमलयुग्मम् ननाम, सः सेवानम्रसामन्तमौलिस्खलितबकुलमालालालितम् पादपीठम् अधिवसति ।

अर्थ—हे भगवन् ! जो निष्कपट भक्तिके अनुरागसे पुलकित शरीरवाला पुरुष आपके चरण-कमलोंको प्रणाम करता है, वह पुण्यात्मा सेवामें नम्र हुए राजाओं-के मुकुटोंसे गिरे हुए बकुल-पुष्पोंकी मालाओंसे सुगन्धित दिव्य सिंहासनपर विराजित होता है ।

शशिशकलशिखण्ड त्वत्प्रसादेन धन्याः
　सितकरधवलाभ्यां चामराभ्यां विभान्ति ।
उभयत इव वक्त्रं भाविरुद्रत्वलाभ-
　प्रकटनपिशुनाभ्यां स्वर्णदीनिर्झराभ्याम् ॥ ८ ॥

अन्वय—शशिशकलशिखण्ड ! त्वत्प्रसादेन धन्याः वक्त्रम् उभयतः भाविरुद्रत्वलाभ-प्रकटनपिशुनाभ्याम् स्वर्णदीनिर्झराभ्याम् इव, सितकरधवलाभ्याम् चामराभ्याम् विभान्ति ।

अर्थ—अयि चन्द्रार्धशेखर ! धन्यात्मा लोग आपके कृपा-प्रसादसे मुखकमल-के दोनों ओर भविष्यमें होनेवाले शिव-स्वरूपत्व (सारूप्य मुक्ति) के लाभके आवि-र्भावको सूचित करनेवाली मन्दाकिनीकी दो स्वच्छ धाराओंके तुल्य चन्द्रकिरणोंके समान शुभ्र चँवरोंसे सुशोभित होते हैं ।

क्षितिधरपतिपुत्रीवल्लभ त्वत्प्रसादा-
　द्दधति जगति धन्या मूर्ध्नि धौतातपत्रम् ।
घटयितुमधिकत्वं स्वात्मनोऽपि त्वयैत-
　त्सकलमिव वितीर्णं मण्डलं शीतरश्मेः ॥ ९ ॥

अन्वय—क्षितिधरपतिपुत्रीवल्लभ ! त्वत्प्रसादात् धन्याः जगति मूर्ध्नि [यत्] धौतात-पत्रम् दधति, एतत् स्वात्मनः अपि अधिकत्वम् घटयितुम् , [तेषाम्] त्वया सकलम् शीतरश्मेः मण्डलम् वितीर्णम् इव ।

अर्थ—हे उमानाथ ! पुण्यात्मा लोग भूमण्डलमें आपके अनुग्रहसे मस्तकपर जो श्वेत छत्र धारण करते हैं, यह मालूम होता है कि अर्धचन्द्रधारी आपने मानो अपनेसे भी अधिक उत्कृष्ट बनानेके लिए उन्हें सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल दे डाला है ।

अयि हृदय दयार्द्रः स्वर्धुनीनीरधारी
　त्वयि विहरति हस्तन्यस्तपीयूषकुम्भः ।

यदि हिमकरलेखाशेखरः कोऽपरस्ते
भवदवविनिवृत्तौ शंस शीतोपचारः ॥ १० ॥

अन्वय—अयि हृदय ! दयार्द्रः स्वर्धुनीनीरधारी हस्तन्यस्तपीयूषकुम्भः हिमकरलेखाशेखरः यदि त्वयि विहरति, तर्हि [त्वम्] शंस, ते भवदवविनिवृत्तौ अपरः कः शीतोपचारः [अस्ति] ?

अर्थ—अयि प्यारे हृदय ! कृपार्द्र, मस्तकपर स्वर्धुनी (गङ्गा) के नीरको धारण करनेवाले, हाथमें शीतल अमृतपूर्ण कलशको धारण करनेवाले और मस्तकपर शीतल किरणोंवाली चन्द्रकलाको धारण किये हुये भगवान् शङ्कर यदि तेरे अन्दर विहार किया करते हैं, तो तू ही बतला कि तेरे इस संसार-रूप दावानलको शान्त करनेके लिए इससे बढ़कर दूसरा और कौन-सा शीतोपचार हो सकता है ?

सुरवरनुतधैर्या वैरिदुर्वारवीर्या
जगति विविधशास्त्रप्रस्तुताचार्यचर्याः ।
दधति भुवनतन्त्रं कोटिशो रुद्रवर्याः
कृतसततसपर्या ये पुरा शङ्करस्य ॥ ११ ॥

अन्वय—ये पुरा शङ्करस्य कृतसततसपर्याः ते सुरवरनुतधैर्याः वैरिदुर्वारवीर्याः जगति विविधशास्त्रप्रस्तुताचार्यचर्याः रुद्रवर्याः कोटिशः भुवनतन्त्रम् दधति ।

अर्थ—जिन लोगोंने पहले भगवान् श्रीशङ्करकी आराधना की, उन पुण्यात्माओंके धैर्यकी ब्रह्मादि देव भी प्रशंसा करते हैं, बड़े-बड़े पराक्रमशाली शत्रु भी उनके बलका सामना नहीं कर सकते । वे लोग सकल शास्त्रोंमें पारङ्गत हो सारे संसारके आचार्य-स्वरूप होकर लोकमें पूजित होते हैं और साक्षात् भगवान् शङ्कर ही होकर करोड़ों बार आधिकारिक पुरुषोंके रूपमें भुवनतन्त्रको धारण करते हैं अर्थात् लोकशासन करते हैं ।

गिरि गिरिवरकन्याकान्त शान्तप्रथायां
करचरणगणेऽपि क्षामतामश्नुवाने ।
गलगलदवकाशे वापि कीनाशपाशे
भव भवति विना त्वां प्राणिनां त्राणकृत्कः ॥ १२ ॥

अन्वय—गिरिवरकन्याकान्त ! गिरि शान्तप्रथायाम् [सत्याम्] करचरणगणे अपि क्षामताम् अश्नुवाने, कीनाशपाशे गलगलदवकाशे वा सति भव ! प्राणिनाम् त्वाम् विना कः त्राणकृत् [भवति] ।

अर्थ—अयि नाथ, पार्वतीपते ! वृद्धावस्थामें वाणीके बन्द हो जानेपर, हाथ-पाँव आदि इन्द्रियगणके अतीव बलहीन हो जानेपर और गलेपर काल-पाश पड़नेपर (ऐसे महान् सङ्कटमय समयमें) प्राणियोंकी रक्षा हे प्रभो ! केवल एक आपके सिवा दूसरा कौन कर सकता है ?

शयशयननिविष्टं वक्त्रमापाण्डुगण्डं
मतिमतिविरहेण ग्लानिभाजं[1] वहन्ती ।
तनुतनुलतिकार्तिं मानिनी व्याहरन्ती
हर हरति न धैर्यं त्वत्समाधौ बुधानाम् ॥ १३ ॥

अन्वय—हर ! शयशयननिविष्टम् आपाण्डुगण्डम् वक्त्रम् वहन्ती, अतिविरहेण ग्लानिभाजम् मतिम् [वहन्ती] तनुतनुलतिका, आर्तिम् व्याहरन्ती मानिनी [अपि] त्वत्समाधौ बुधानाम् धैर्यम् न हरति ।

अर्थ—प्रभो ! कर-शय्या (हथेली) पर रखे हुए, केवड़ेकी धूलिके तुल्य पीले पड़े गण्डस्थलवाले मुखको तथा प्रियतमके विरहसे अतीव म्लानताको प्राप्त हुई मतिको धारण करती हुई, कृशित अङ्गोंवाली और सखीजनोंसे अपनी मदन-व्यथाका वर्णन कर रही मानिनी (भी) आपके ध्यानमें परायण विद्वज्जनोंके धैर्यको नहीं हर सकती ।

दलदलघुविवेकं व्यक्तशोकातिरेकं
विश विशदमनन्त स्वान्तमन्तःप्रशान्तम् ।
भव भव भवदाहध्वंसवर्षाम्बुवाहः
कलिकलितरुजानां सप्रजानां प्रजानाम् ॥ १४ ॥

अन्वय—अनन्त ! दलद्लघुविवेकम् व्यक्तशोकातिरेकम् विशदम् अन्तःप्रशान्तम् स्वान्तम् विश, भव ! कलिकलितरुजानाम् सप्रजानाम् प्रजानाम् भवदाहध्वंसवर्षाम्बुवाहः भव ।

अर्थ—हे अनन्तपार, परमेश्वर ! हमारे अन्तःकरणका महान् विवेक धीरे-धीरे खण्डित होता जा रहा है और शोककी मात्रा निरन्तर बढ़ती जा रही है, इसलिए हे नाथ ! अब आप आपके ध्यानसे सुनिर्मल तथा अन्तःशान्त हमारे अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो जाइए और घोर कलि-कालके द्वारा पीड़ित हुई समस्त प्रजाको संसार-रूप वनाग्निसे जो तीव्र सन्ताप हो रहा है उसे शान्त करनेके लिए वर्षाकालका (जल वर्षानेवाला) मेघ बन जाइए ।

दहदहतममोघं पाप्मनां दीर्घमोघं
रुचिरुचिरममन्दं सुन्दरानन्दकन्दम् ।
दिश दिशदुपदेशं नाशितक्लेशलेशं
मधुमधुरमुदारं वाक्यपीयूषसारम् ॥ १५ ॥

अन्वय—[हे नाथ !] अहतम् अमोघम् पाप्मनाम् दीर्घम् ओघम् दहत् रुचिरुचिरम् अमन्दम् सुन्दरानन्दकन्दम् नाशितक्लेशलेशम् उपदेशम् दिशत् मधुमधुरम् उदारम् वाक्यपीयूषसारम् दिश ।

---

१. 'ग्लानिभावं' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—हे नाथ ! आप किसीसे भी अबाधित, लम्बी पापराशिको भस्म करनेवाला, अतीव मनोहर, परम आनन्दकन्द और क्लेश-नाशक उपदेशप्रद, मधुके समान सुमधुर, प्रचुर और परम उदार वाक्य-सुधाका सार [मत डरो, मत डरो ऐसे वाक्यमृत] हमें दीजिये।

सरति सरतिरन्तर्घस्मरो मारवीर-
श्चलति च लतिकेव स्फीतभीतिर्मनीषा ।
तमहित महिमानं नाथ निक्षिप्य चक्षुः
शमय शमयमेति प्रीतिमान् येन लोकः ॥ १६ ॥

अन्वय—नाथ ! घस्मरः सरतिः मारवीरः अन्तः सरति, स्फीतभीतिः मनीषा च लतिका इव चलति, चक्षुः निक्षिप्य अहित महिमानम् तम् शमय, येन प्रीतिमान् अयम् लोकः शम् एति ।

अर्थ—हे नाथ ! सारे जगत्को भक्षण करनेवाला, रति (अपनी स्त्री) सहित वीर कामदेव हमारे अन्तःकरणमें घूमता है और बुद्धि अत्यन्त भयभीत होकर लघु लताके समान काँप रही है, इसलिए हे नाथ ! अब एक बार अपनी दृष्टि डालकर इस अनिष्टकारी कामको शान्त कर दीजिए, जिससे मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ।

जघनजघनशोभा स्पर्धमाना सभृङ्गं
कमलकमलकान्तक्रान्तभासा मुखेन ।
मुदितमुदितरागा सेवते देव रामा
मदनमदनवीनैस्त्वत्प्रपन्नं विलासैः ॥ १७ ॥

अन्वय—देव ! जघनज-घनशोभा, अलकाऽन्तक्रान्तभासा मुखेन सभृङ्गम् कमलकम् स्पर्धमाना उदितरागा रामा मदन-मदनवीनैः विलासैः मुदितम् त्वत्प्रपन्नम् सेवते ।

अर्थ—हे प्रभो ! जघनकी शोभासे रमणीय और कुटिल केशोंसे सुशोभित मुख द्वारा भ्रमरोंसे युक्त कमलको भी लज्जित कर देनेवाली, परम अनुरागवती कामिनी मदन (काम) और मदके द्वारा उत्पन्न हुए नवीन हाव-भावोंसे आपके परम प्रसन्न शरणागतकी सेवा करती है।

जनित जनितरङ्गं जृम्भयन्ती भवाब्धि
कलित कलितमिस्रा नाथ कादम्बिनीव ।
हरति हर तितिक्षोन्माथिनी मोहमूर्च्छा
महितमहितवृद्धिः[1] शुद्धबोधप्रकाशम् ॥ १८ ॥

अन्वय—हर ! जनित-जनितरङ्गम् भवाब्धिम् जृम्भयन्ती, कलितकलितमिस्रा कादम्बिनी तितिक्षोन्माथिनी अहितवृद्धिः मोहमूर्च्छा [प्राणिनाम्] महितम् शुद्धबोधप्रकाशम् हरति ।

---

१. 'बुद्धिः' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—हे नाथ ! बार-बार जन्मरूपी तरङ्गोंको पैदा करनेवाले भवसागरको और भी अधिक बढ़ाती हुई, मेघपंक्तिके समान कलहरूप अन्धकारको उत्पन्न करनेवाली, तितिक्षा (क्षमा) को मथ डालनेवाली और अहित-वृद्धि करनेवाली मोहरूपी मूर्छा (प्राणियोंके) उत्तम विशुद्ध बोधरूपी प्रकाशको हर रही है।

भजति भज तिरश्चीं दृष्टिमिष्टप्रसादां
कृतसुकृतसुमेधःप्रैधिताभीष्टसिद्धिम् ।
तिरयति रयमीश व्यापदां दुःसहानां
शमनशमनदक्षं त्वां विना नाथ कोऽन्यः ॥ १९ ॥

अन्वय—ईश ! [त्वां] भजति [मयि] कृतसुकृतसुमेधःप्रैधिताभीष्टसिद्धिम् इष्टप्रसादाम् तिरश्चीम् दृष्टिम् भज । नाथ ! शमनशमनदक्षम् त्वाम् विना दुःसहानाम् व्यापदाम् रयम् अन्यः कः तिरयति ?

अर्थ—हे परमेश्वर ! मुझ सेवकपर पुण्यात्माओंकी मनोभीष्टसिद्धिको पूर्ण करनेवाली अतीव प्रसन्न तिरछी नजर डालिए। हे नाथ ! शमन (यमराज) का शमन (शासन) करनेमें अति चतुर एक आपको छोड़कर इन सांसारिक दुःसह बिपत्तियोंके वेगको दूसरा कौन हटा सकता है ?

समरसमरजोभिः स्वान्तमन्तर्वहद्भि-
र्हितविहितवियोगं मोहमाहन्तुकामैः ।
भव-विभवविमुक्तैर्योगिभिर्योऽभ्युपेत-
स्तमहतमहनीयश्लाघमीशं प्रपद्ये ॥ २० ॥

अन्वय—यः अन्तः समरसम् स्वान्तम् वहद्भिः अरजोभिः हितविहितवियोगम् मोहम् आहन्तुकामैः, भवविभवविमुक्तैः योगिभिः अभ्युपेतः, तम् अहतमहनीयश्लाघम् ईशम् [अहम्] प्रपद्ये ।

अर्थ—समान भावनासे भावित अन्तःकरणवाले अर्थात् सुवर्ण और लोहको, तृण और कामिनीको एवं सर्प और मुक्ताहारको एक समान समझनेवाले, निष्पाप और कल्याणनाशक मोह (अज्ञान) को मारनेमें संलग्न एवं सांसारिक समस्त विषयोंका परित्याग कर देनेवाले योगी लोग जिस प्रभुका समाश्रयण करते हैं, उस परम महनीय श्लाघावाले परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ।

अकलितमहिमानं ध्वस्तमिथ्याभिमानं
[1]ददद‍मृतसमानं बोधमाभासमानम् ।
प्रकटितलघिमानं दुर्वहं वर्धमानं
भवभवमवमानं भिन्द्धि मे बाधमानम् ॥ २१ ॥

---

१ 'दधदमृत' इत्यपि पाठः ।

अन्वय—[अयि विभो!] अकलितमहिमानम् ध्वस्तमिथ्याभिमानम् अमृतसमानम् आभासमानम् बोधम् ददत्, प्रकटितलघिमानम् वर्धमानम् बाधमानम् भवभवम् मे दुर्वहम् अवमानम् भिन्द्धि।

अर्थ—हे नाथ! अमृतके समान प्रकाशमय तत्त्वज्ञान, जिसकी महिमा किसीको भी ज्ञात नहीं और जो मिथ्या अभिमानका समूल नाश कर देता है, प्रदान करते हुए आप लघुताको प्रकट करनेवाले, निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होनेवाले और हृदयमें अत्यन्त बाधा पहुँचानेवाले मेरे सांसारिक अपार अपमानका नाश कर दीजिए।

किमिव मणिभिः किं वा मन्त्रैः किमौषधिसंग्रहै-
रिह बहुविधैः किं वा कार्यं परैरपि भेषजैः।
अमृतमपि न प्रायः पापोपतापशमक्षमं
व्रजत शरणं तस्मादेकं हरं करुणापरम्॥ २२॥

अन्वय—इह मणिभिः किम् इव (भवति), मन्त्रैः वा किम् (भवति), औषधिसङ्ग्रहैः च किम्? बहुविधैः परैः अपि भेषजैः वा किम् कार्यम्? अमृतम् अपि प्रायः पापोपतापशमक्षमम् न (भवति), तस्मात् (अयि भावुकाः!) करुणापरम् एकम् हरम् शरणम् व्रजत।

अर्थ—इस क्षणभङ्गुर संसारमें हीरक, पद्मराग, मरकत आदि बड़ी-बड़ी सुन्दर मणियोंकी प्राप्तिसे क्या लाभ है? अत्युत्तम मन्त्रोंसे भी कौन लाभ है? सुन्दर औषधियोंके संग्रहसे अथवा अनेकों उत्तम-उत्तम रसायनोंसे भी क्या लाभ हो सकता है? और अमृत भी पापों द्वारा उत्पन्न हुए सन्तापको शान्त करनेमें प्रायः समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए अयि सहृदय भावुको! आप लोग अतिशय दयालु भगवान् शङ्करकी ही शरणमें जाओ। (उन्हींकी शरण लेनेसे आपके आत्यन्तिक दुःखोंकी निवृत्ति हो सकेगी।)

इह हि गिरिषु प्रालेयाद्रिर्महःसु विभावसु-
र्गुरुषु जननी मन्त्रेष्वेकाक्षरं परमं पदम्।
सखिषु सुकृतं वैरिष्वंहो नदीषु नभोनदी
प्रभुषु च परः स्वामी देवः शशाङ्कशिखामणिः[1]॥२३॥

अन्वय—हि इह गिरिषु प्रालेयाद्रिः परः, महःसु विभावसुः [परः], गुरुषु जननी [परा], मन्त्रेषु एकाक्षरम् परमं पदम्। सखिषु सुकृतम्, वैरिषु अंहः, नदीषु नभोनदी [परा], प्रभुषु च देवः शशाङ्कशिखामणिः स्वामी परः [अस्ति]।

अर्थ—इस संसारमें समस्त पर्वतोंमें हिमालय श्रेष्ठ है, तेजस्वियोंमें सूर्य श्रेष्ठ है, गुरुजनोंमें माता[2] सबसे श्रेष्ठ है, मन्त्रोंमें एकाक्षर मंत्र 'ॐकार' सबसे श्रेष्ठ है,

१. 'शिरोमणिः' इत्यपि पाठः।

२. गुरु जनोंकी अपेक्षा माता श्रेष्ठ है। भगवान् मनु कहते हैं कि 'सहस्रं हि गुरू

मित्रोंमें पुण्य सबसे श्रेष्ठ मित्र है, शत्रुओंमें पाप सबसे महान् शत्रु है एवं नदियोंमें सबसे श्रेष्ठ आकाशगङ्गा—मन्दाकिनी है, इसी प्रकार सम्पूर्ण देवोंमें सबसे श्रेष्ठ देव महादेव हैं।

न यावदवहीयते धृतिधुरा जराविप्लवै-
र्न जीर्यति सरस्वती न च विशीर्यते शेमुषी ।
न चामयभुजङ्गमैरवशमङ्गमालिङ्ग्यते
भजध्वमजरं विभुं भवजयाय तावद् बुधाः ॥ २४ ॥

अन्वय—बुधाः ! यावत् जराविप्लवैः धृतिधुरा न अवहीयते, [यावत्] सरस्वती न जीर्यति, [यावत्] च शेमुषी न विशीर्यते, यावत् आमयभुजङ्गमैः अवशम् अङ्गम् न आलिङ्ग्यते, तावत् भवजयाय अजरम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—अये बुद्धिमान् पुरुषो ! सभी अङ्गोंको शिथिल कर देनेवाली जरा जब तक धैर्यको नष्ट नहीं कर डाले, जब तक वाणी जीर्ण न हो जाय, जब तक बुद्धि भी मन्द न पड़ जाय, एवं जब तक महान् रोग-रूप भुजङ्ग शरीरमें न लिपट जायँ, उसके पहले ही आप इस संसारके जन्म-मरण आदि बन्धनोंपर विजय पानेके लिए सर्व-समर्थ, अजर अमर भगवान् शङ्करको भज लीजिए ।

[पूर्वोक्त नवीन-नवीन स्तुतिरूप कुसुमोंको भगवदर्पण कर अपनेको कृतकृत्य समझते हुए कवि अब इस स्तोत्रका उपसंहार करते हैं—]

अराणि करुणं मुहुर्मुहुरकारि चाटु प्रभो-
रभावि भवभावनामुदितचेतसान्तर्मुहुः ।
अलोठि मुकुटं मुहुश्चरणपीठिकाविष्टरे
किमन्यदखिलं जितं करतले कृताः सिद्धयः ॥ २५ ॥

इति श्रीकाश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'सिद्धि' स्तोत्रमष्टादशम् ।

अन्वय—[मया] प्रभोः पुरः मुहुर्मुहुः करुणम् अराणि, मुहुः प्रभोः चाटु अकारि, अन्तः भवभावनामुदितचेतसा अभावि, चरण-पीठिकाविष्टरे मुहुः मुकुटम् अलोठि, अन्यत् किम्, मया अखिलम् जितम्, समस्ताः सिद्धयः करतले कृताः ।

माता गौरवेणातिरिच्यते' अर्थात् गुरु लोगोंकी अपेक्षा माताका गौरव कई हज़ार गुणा अधिक होता है । इसीलिए कहा है—

पतिता गुरवस्त्याज्याः न तु माता कदाचन ।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी ॥

अर्थात्—पतित गुरुजनों को त्याग देना चाहिए, किन्तु माता यदि पतिता भी हो जाय तो भी उसका परित्याग करना उचित नहीं है; क्योंकि गर्भमें धारण करने और पालन-पोषण करनेके कारण माताकी महिमा सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

अर्थ—मैंने प्रभुके आगे बार-बार करुण-विलाप किया, प्रभुकी बारम्बार श्लाघा की, निरन्तर श्री शङ्करके ही ध्यानमें परायण होकर चित्तको खूब हर्षित किया, प्रभुकी चरण-पीठिका (चरणारविन्द रखनेकी चौकी) पर अपने मुकुटको खूब रगड़ा। इससे बढ़कर लाभ क्या हो सकता है ? मैंने सारा ही ब्रह्माण्ड जीत लिया और सम्पूर्ण सिद्धियोंको मुट्ठीमें कर लिया।

एकोनविंश स्तोत्र

अब यहाँसे श्रीभगवान्‌का वर्णन करनेके लिए 'भगवद्वर्णन' नामक उन्नीसवाँ स्तोत्र प्रारम्भ करते हैं—

यत्ते परं वरद रूपमतीतमेव
मार्गं गिरां तदिह कः क्षमते [1]गृणातुम्।
अग्राहि यत्तु नतलोकमनुग्रहीतुं
बालेन्दुलक्ष्म भवता तदिदं गृणामि ॥ १ ॥

अन्वय—वरद ! यत् ते परम् गिराम् मार्गम् अतीतम् रूपम्, तत् इह गृणातुम् कः क्षमते ? यत् तु भवता नतलोकम् अनुग्रहीतुम् बालेन्दुलक्ष्म [रूपम्] अग्राहि, तत् [एव] इदम् गृणामि।

अर्थ—हे नाथ ! अव्यक्त (माया) तत्त्वसे भी परे जो आपका निर्विशेष, निराकार मनोवचनातीत स्वरूप है, उसकी स्तुति करनेके लिए संसारमें कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ? क्योंकि ब्रह्मादि देव भी उसका पार न पा सकनेके कारण उसकी महिमाका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। किन्तु आपने भक्तजनोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए जो चन्द्रकला-विभूषित, जटामुकुटमण्डित और त्रिनेत्रधारी सुमनोहर साकार स्वरूप धारण किया है, उसीका थोड़ा-सा वर्णन करता हूँ।

आस्तां परं यदपरं तदपि त्वदीयं
दिव्यं वपुर्नहि महेश विमर्शयोग्यम्।
यत्किञ्चिदेव तु विकल्पविकल्प्यमान-
मानन्दधाम तदपीह भवार्तिभाजाम् ॥ २ ॥

अन्वय—महेश ! त्वदीयम् परम [रूपम्] आस्ताम् ! यत् तु अपरम् तत् अपि त्वदीयम् वपुः विमर्शयोग्यम् नहि [भवति], यत् किंचित् विकल्पविकल्प्यमानम् तदपि इह भवार्तिभाजाम् आनन्दधाम [भवति]।

अर्थ—अयि भगवन् ! आपके उस लोकोत्तर मनोवचनातीत निर्विशेष स्वरूपकी

१. 'गरीतुम्, इत्यपि पाठः।

महिमा तो कौन कहे ? जो आपका दिव्य सगुण (साकार) स्वरूप है, उसकी ही महिमा बड़े बड़े दिव्य दृष्टिवाले भी नहीं जान सकते, हमारे सरीखे चर्मचक्षुओंका तो कहना ही क्या है ? परन्तु हाँ, लोगोंने अपनी बुद्धिके अनुसार जटामुकुट-त्रिनयन-मण्डित, चन्द्रकलासे विभूषित इत्यादि-इत्यादि जैसा वर्णित किया है, उससे ह सांसारिक पापतापोंसे सन्तप्त प्राणियोंको परम आनन्द प्राप्त हो जाता है।

मूर्तिर्ध्रुवं तव [1]शिवामृतवर्तिरेना-
　मासाद्य यत्कतिचिदश्रुलवाः पतन्ति।
नश्यत्यघौघपटलं तिमिरं व्यपैति
　रागः प्रशाम्यति दृशः प्रथते प्रसादः ॥ ३ ॥

अन्वय—शिव ! ध्रुवम्, तव मूर्तिः अमृतवर्तिः, यत् एनाम् आसाद्य कतिचित् अश्रुलवाः पतन्ति, अघौघपटलम् नश्यति, तिमिरं व्यपैति, रागः प्रशाम्यति, दृशः प्रसादः प्रथते।

अर्थ—हे सदाशिव ! आपकी मूर्ति अवश्य अमृतकी वर्त्तिका[2] (रसायनकी बत्ती) है, क्योंकि ध्यान द्वारा इसका साक्षात्कार कर भावुकोंकी आँखोंसे कुछ आनन्दके आँसू गिरते हैं, पाप-राशि नष्ट हो जाती है, मोह-रूपी अन्धकार दूर भाग जाता है, विषयों पर आसक्ति एकदम शान्त हो जाती है और नेत्रोंमें प्रसाद (ज्ञानका अनुग्रह) प्रकट होने लगता है।

सत्यं महार्घगुणरत्ननिधानमेत-
　दालम्बनं तव वपुर्विपदर्दितानाम्।
नो चेन्नखांशुभरकेसरितं किमत्र
　पादाभिधं युगपदुद्गतमब्जयुग्मम् ॥ ४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] सत्यम् एतत् विपदर्दितानाम् आलम्बनम् तव वपुः महार्घगुणरत्ननिधानम् [अस्ति, एवं] नो चेत्, तर्हि नखांशुभरकेसरितम् पादाभिधम् अब्जयुग्मम् अत्र किम् उद्गतम् ?

अर्थ—हे नाथ ! सांसारिक विपदाओंसे पीड़ित हुए आर्त्त जनोंको अवलम्बन देनेवाला यह आपका शरीर (सार्वज्ञ्य, पारमेश्वर्य, स्वातन्त्र्य, असुरविजयत्वादि) बहुमूल्य रत्नोंकी निधि है, यह बात अत्यन्त सत्य है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो फिर इसमें नखोंकी किरण-रूपी केसरसे पूरित चरणरूपी* कमल-युग्म क्यों उत्पन्न होता ? जहाँ कमल-युग्म होता है वहाँ निधि अवश्य होती है।

---

१. शिवामृतमूर्तिः, इत्यपि पाठः।

२. रसायनकी वर्तिकाके सेवनसे भी नेत्रोंसे कुछ दूषित अश्रु गिरते हैं, पटल (आयुर्वेदमें प्रसिद्ध—नेत्ररोग) नष्ट हो जाता है, तिमिर—नेत्र-रोग दूर हो जाता है, राग [नेत्रोंकी रक्तता] शान्त हो जाता है। यहाँ शब्दशक्ति-मूलक उत्प्रेक्षा है।

* 'देवताः पादतो वर्ण्या मनुष्या मुखतस्तथा' अर्थात् देवताओंका वर्णन पादोंसे

पादद्वयं तव भव प्रणतिप्रकर्ष-
हर्षाश्रुबिन्दुभरदन्तुरिताङ्गुलीकम् ।
नीहारशीकरपरिष्कृतपत्रपंक्ति-
पङ्केरुहद्वितयकान्ति भजन्ति धन्याः ॥ ५ ॥

अन्वय—भव ! धन्याः प्रणतिप्रकर्षहर्षाश्रुबिन्दुभरदन्तुरिताङ्गुलीकम् (अत एव) नीहारसीकरपरिष्कृतपत्रपङ्क्तिपङ्केरुहद्वितयकान्ति तव पादद्वयम् भजन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! धन्यात्मा पुरुष प्रणामोद्रेकसे होनेवाले हर्षके अश्रु-बिन्दुओंसे सुशोभित अँगुलिवाले, अतएव नीहार-कणों (ओसके बिन्दुओं) से विभूषित पंखड़ी वाले कमल-युगलकी छविके समान आपके चरण-युगलका सेवन करते हैं ।

भस्मोज्ज्वलं त्रिदशशेखरपद्मराग-
दीप्रप्रभारुणितमङ्घ्रिसरोजयुग्मम् ।
वन्दामहे घुसृणरेणुपरागगर्भ-
कर्पूरपांसुभिरिव च्छुरितं स्मरारेः ॥ ६ ॥

अन्वय—घुसृणरेणुपरागगर्भकर्पूरपांसुभिः छुरितम् इव भस्मोज्ज्वलम् त्रिदशशेखरपद्मरागदीप्रप्रभारुणितम् स्मरारेः अङ्घ्रिसरोजयुग्मम् वन्दामहे ।

अर्थ—भस्मसे उज्ज्वल और देवताओंके मुकुटोंपर जड़ी पद्मरागादि मणियोंकी चटकीली प्रभाओंसे अरुण हुए, अतएव कुंकुम-रेणुओंसे मिश्रित कर्पूरके परागसे व्याप्त हुए-जैसे भगवच्चरणारविन्द-युगलको हमारा प्रणाम है ।

जङ्घालतायुगलमाश्रितगुल्फमूल-
भोगीन्द्रभोगसुभगाभिनवालवालम् ।
शंभोरभीष्टफलदं भवतापतान्ति-
शान्तिक्षमं शमयितुं विपदं श्रयामि ॥ ७ ॥

अन्वय—आश्रितगुल्फमूलभोगीन्द्रभोगसुभगाभिनवालवालम् अभीष्टफलदम् भवतापतान्तिशान्तिक्षमम् शम्भोः जङ्घालतायुगलम् , [अहम्] विपदम् शमयितुम् श्रयामि ।

अर्थ—गुल्फों (घुटनों) पर लिपटे हुए भुजङ्गेन्द्रोंके शरीर-रूपी मनोहर आलवालसे सुशोभित, मनोभीष्ट फल देनेवाली एवं सांसारिक सन्तापोंसे उत्पन्न हुए खेदको शान्तकर देनेवाली भगवान् शङ्करकी जङ्घारूपी कल्प-लताओंका मैं सकल विपदाओंकी शान्तिके लिए आश्रयण करता हूँ ।

वन्दे युगान्तसमयोषितसप्तलोकं
लोकोत्तरं जठरमीश्वरभैरवस्य ।

आरम्भ करना चाहिए और मनुष्योंका वर्णन मुखसे आरम्भ करना चाहिए । इस नियमके अनुसार कविने यहाँसे प्रथम पादपद्मका वर्णन करना आरम्भ किया ।

यत्रैति नाभिकुहरं जगदादिसर्ग-
निर्यज्जनौघनवनिर्गममार्गभङ्गिम् ॥ ८ ॥

अन्वय—युगान्तसमयोषितसप्तलोकम् लोकोत्तरम् ईश्वरभैरवस्य जठरम् वन्दे, यत्र नाभिकुहरम् जगदादिसर्गनिर्यज्जनौघनवनिर्गममार्गभङ्गिम् एति।

अर्थ—जिसके अन्दर कल्पान्त समयमें सातों लोक समा जाते हैं, भगवान् शिवके उस लोकोत्तर दिव्य उदरको, जिसमें नाभि-छिद्र जगत्की आदि-सृष्टिके समय प्राणि-समुदायके निकलनेके लिए नवीन मार्ग-सा बन जाता है, मैं प्रणाम करता हूँ।

सिन्दूरिताऽमरमतङ्गजकुम्भशोभि
सन्ध्याभिताम्रशरदम्बुधरानुकारि ।
वन्दे फणीन्द्रफणरत्नरुचारुणाभं
भस्मौघभास्वरमुरः पुरशासनस्य[1] ॥ ९ ॥

अन्वय—सिन्दूरितामरमतङ्गजकुम्भशोभि, सन्ध्याभिताम्रशरदम्बुधरानुकारि, फणीन्द्र-फणरत्नरुचारुणाभम् भस्मौघभास्वरम् पुरशासनस्य उरः [अहम्] वन्दे।

अर्थ—सिन्दूरसे लिप्त सुरगज (ऐरावत) के गण्डस्थलके समान सुशोभित, सायंकालके समय अरुणिमाको प्राप्त शरत्कालके मेघका अनुकरण करनेवाले, वासुकि आदि सर्पोंके फणोंकी मणियोंकी कान्तिसे अरुणिमाको प्राप्त और भस्म-राशिसे शुभ्र भगवान् सदाशिवके वक्षस्थलको मैं प्रणाम करता हूँ।

स्वामिन्नमी तव भुजा भुजगाधिराज-
भोगोपगूढवपुषो हृदयं मदीयम् ।
आनन्दयन्ति बत भीमभवोपताप-
निर्वापणेन विटपा इव चन्दनस्य ॥ १० ॥

अन्वय—स्वामिन् ! बत, भुजगाधिराजभोगोपगूढवपुषः तव अमी भुजाः भीमभवोपतापनिर्वापणेन मदीयम् हृदयम्, [भुजगाधिराजभोगोपगूढवपुषः] चन्दनस्य विटपा इव, आनन्दयन्ति।

अर्थ—अहा ! हे नाथ ! वासुकि प्रभृति सर्पोंसे परिवेष्टित हुई आपकी ये भुजाएँ भयङ्कर संसारके पापतापोंको शान्त करके मेरे हृदयको, महान् सर्पोंसे परिवेष्टित चन्दन-वृक्षकी शाखाओंके समान, अतीव आनन्दित कर देती हैं।

मध्यस्थितेरुभयपार्श्वगता चकास्ति[2]
हस्तस्य मेरुपरिमर्शविनाकृतेयम् ।
अव्याहतग्रहवशाहितयोगसिद्धि-
र्नक्षत्रपंक्तिरिव देव तवाऽक्षमाला ॥ ११ ॥

१ 'स्मरशासनस्य' इत्यपि पाठः। २. 'श्रियेऽस्तु' इत्यपि पाठः।

अन्वय—देव ! मध्यस्थितेः हस्तस्य उभयपार्श्वंगता मेरुपरिमर्शविनाकृता अव्याहत-ग्रहवशाहित-योगसिद्धिः इयम् तव अक्षमाला, [मध्यस्थितेः हस्तस्य उभयपार्श्वगता मेरुपरि-मर्शविनाकृता अव्याहतग्रहवशाहितयोगसिद्धिः] नक्षत्रपंक्तिः इव चकास्ति ।

अर्थ—हे देव ! मालाके मध्यस्थ (बीचोंबीचमें स्थित हुए) हस्त (कर-कमल) के दोनों ओर लटकी हुई, मेरु (बीचकी मणि) के स्पर्श[1] से रहित और तीव्र आसक्ति-के द्वारा (निरन्तर जपनेसे) अष्टाङ्गयोगको सिद्ध करनेवाली यह आपकी अक्ष-माला* नक्षत्रोंके मध्यस्थ (बीचोंबीचमें स्थित) हस्त नक्षत्रके दोनों ओर स्थित हुई, मेरु (सुमेरु पर्वत) के स्पर्शसे रहित[2] एवं सूर्य, चन्द्रमा आदि तेजस्वी ग्रहोंके द्वारा विष्कम्भ अथवा आनन्दादि योगोंको सिद्ध करनेवाली नक्षत्रमालाके समान, सुशोभित होती है ।

त्वं कालभैरववपुर्ज्वलितानलाश्रि
लोलाङ्गुलीवलनमण्डलितं दधानः ।
संहाररात्रिषु निनर्तिषुरीश शूलं
बालार्कचुम्बितनवाम्बुदभङ्गिमेषि ॥ १२ ॥

अन्वय—ईश ! ज्वलितानलाश्रि लोलाङ्गुलीवलनमण्डलितम् शूलं दधानः संहार-रात्रिषु निनर्तिषुः त्वम् कालभैरववपुः बालार्कचुम्बितनवाम्बुदभङ्गिम् एषि ।

अर्थ—हे ईश ! जलती हुई अग्निके समान धारवाले तथा चञ्चल अँगुलियोंसे घुमानेके कारण गोल (मण्डलाकार) बने त्रिशूलको धारण करते हुए आप प्रलयकाल-की (संहार) रात्रियोंमें ताण्डव नृत्य करते हुए काल-भैरवरूप (काले और भयानक = कालाग्निरुद्रस्वरूप) को धारण करके प्रातःकालके सूर्यसे मिले हुए नवीन (काले) मेघके समान सुशोभित होते हैं ।

शाणोपलोत्कषणशुद्धनवेन्द्रनील-
नीलद्युतिर्जयति ते शितिकण्ठ कण्ठः ।
यस्मिन्घनाञ्जनरुचिर्भुजगः कलिन्द-
कन्याह्रदान्तरितकालियभङ्गिमेति ॥ १३ ॥

अन्वय—शितिकण्ठ ! शाणोपलोत्कषणशुद्धनवेन्द्रनीलनीलद्युतिः ते कण्ठः जयति, यस्मिन् घनाञ्जनरुचिः भुजगः कलिन्दकन्याह्रदान्तरितकालियभङ्गिम् एति ।

अर्थ—हे नीलकण्ठ ! शाण-पत्थरसे घिसी नवीन इन्द्रनील मणिके समान

---

१. उल्लंघन—'मेरुं नैव तु लंघयेत्'—मालाके मेरुको उल्लंघित नहीं करना चाहिए ।

* अकारादिक्षकारान्तवर्णाः पञ्चाशतिः प्रिये ।
शिवशक्तिस्वरूपेण द्विगुणाः साष्टमूर्तिकाः ॥
अष्टोत्तरशतं तेषामक्षमाला प्रकीर्तिता । (तन्त्रराज)

२. क्योंकि सुमेरुके समीपमें आकाशमें ही उन (नक्षत्रों) की गति है ।

नीली कान्तिवाले आपके सर्वोत्कृष्ट कण्ठकी बलिहारी है, जिसमें गाढ़ कज्जलके समान (काला) वासुकि श्रीयमुनाजीके गहरे जलमें स्थित हुए कालिय नागके समान सुशोभित होता है ।

कण्ठो वहन्नपि विषं विषमं तवैष
सद्यः श्रियं सृजति यद् वचसाश्रितेषु ।
स्वामिन्नतस्त्रिभुवनप्रथितप्रतिष्ठं
श्रीकण्ठ इत्युचितमेव तवाभिधानम् ॥ १४ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! विषमम् विषम् वहन् अपि एषः तव कण्ठः वचसा आश्रितेषु यत् सद्यः श्रियम् सृजति, अतः त्रिभुवनप्रथितप्रतिष्ठम् श्रीकण्ठः इति तव अभिधानम् उचितम् एव ।

अर्थ—हे नाथ ! उत्कट विषको धारण करता हुआ भी यह आपका कण्ठ कृपा-रूप अमृतसे सींचे हुए वचनों द्वारा जो अपने शरणागतोंको तत्काल श्री (सकल ऐश्वर्य) प्रदान करता है, इस कारण आपका तीनों भुवनोंमें प्रख्यात 'श्रीकण्ठ' (लक्ष्मीसे संयुक्त कंठवाला) यह नाम युक्त ही है ।

अन्तर्विमृश्य गरलेन गले सलील-
मालिङ्गितं विमलमाननमिन्दुमौलेः ।
हृष्यामि हन्त मुहुरम्बुरुहभ्रमाप्त-
रोलम्बडम्बरविडम्बनपण्डितेन ॥ १५ ॥

अन्वय—हन्त ! अम्बुरुहभ्रमाप्तरोलम्बडम्बरविडम्बनपण्डितेन गरलेन इन्दुमौलेः विमलम् आननम् यत् सलीलम् आलिङ्गितम् , तत् अन्तः विमृश्य [अहम्] मुहुः हृष्यामि ।

अर्थ—अहा ! कमलकी भ्रान्तिसे आये हुए भ्रमरोंकी स्पर्धा करनेमें अत्यन्त चतुर (अर्थात् भ्रमरोंके समान काले) कालकूट (विष) ने भगवान् शङ्करके स्वच्छ मुखको जो बड़े प्रेमसे आलिङ्गित किया, उसे देखकर मैं अपने मनमें बार-बार हर्षको प्राप्त होता हूँ ।

यद्वद्विषं सदमृतं शिरसि प्रसिद्ध-
मम्भस्तवेश विशदं सुमनःस्रवन्त्याः ।
मन्ये तथैव भगवन् भवतो गलस्थं
संपद्यतेऽमृतमिदं नतसान्त्वनेषु ॥ १६ ॥

अन्वय—ईश ! यद्वत् सुमनःस्रवन्त्याः अम्भः विषं सत् तव शिरसि विशदम् अमृतम् [इति] प्रसिद्धम् , तथैव भगवन् ! [अहम्] मन्ये भवतः गलस्थम् इदम् विषम् नतसान्त्वनेषु अमृतम् संपद्यते ।

अर्थ—हे नाथ ! जैसे गङ्गाका जल[1] विष नामसे प्रसिद्ध होता हुआ भी

१. जलको विष भी कहते हैं—'विषं तु गरले तोये' (विश्वकोश) ।

आपके मस्तकमें (आकर) अमृत[1] नामसे प्रख्यात हो गया है। मैं समझता हूँ कि वैसे ही आपके कण्ठमें स्थित हुआ यह विष भी, शरणागतोंको सान्त्वना (आश्वासन) देनेके लिए अमृत बन जाता है।

तद्युक्तमीश वदनाद् भवतः सुधाच्छ-[2]
कान्तेर्यदग्निरपतद्वपुषि स्मरस्य ।
यो लङ्घनं त्रिभुवनैकगुरोर्विधित्सु-
रुल्का न किं पतति चन्द्रमसोऽपि तस्य ॥ १७ ॥

अन्वय—ईश ! सुधाच्छकान्तेः भवतः वदनात् यत् स्मरस्य वपुषि अग्निः अपतत् तत् युक्तम्; यः त्रिभुवनैकगुरोः लङ्घनम् विधित्सुः तस्य चन्द्रमसः अपि उल्का किम् न पतति ?

अर्थ—हे जगदीश ! आपके अमृतके समान स्वच्छ कान्तिवाले मुखारविन्दसे जो कामदेवके देहमें अग्नि की ज्वालाएँ गिरीं, वह ठीक ही है। क्योंकि जो तीनों लोकोंके पूज्य गुरुका उल्लंघन करना चाहता है, क्या उसके ऊपर शीतल अमृतमय चन्द्रमण्डलसे भी उल्का नहीं गिरती ?

दिष्ट्या विरुद्धजनता दमयन्त्यपीयं
दृष्टिस्तवेश्वर बिभर्त्यनलाश्रितत्वम् ।
दिष्ट्या वनैकरतिरप्यवनैकसक्ति-
रेकस्त्वमद्भुतनिधे भगवन्नमस्ते ॥ १८ ॥

अन्वय—ईश्वर ! दिष्ट्या विरुद्धजनताः दमयन्ती अपि इयम् तव दृष्टिः अनलाश्रितत्वम् बिभर्ति, दिष्ट्या वनैकरतिः अपि एकः त्वम् अवनैकसक्तिः [असि] अयि अद्भुतनिधे भगवन् ! ते नमः [अस्तु]।

अर्थ—अहा ! हे ईश्वर ! विरोधियों (नास्तिकों) का दमन करती हुई भी यह आपकी दृष्टि अनल (अग्नि) को धारण करती है। और एकमात्र एकान्त वनमें प्रेम रखनेवाले भी अर्थात् अत्यन्त विरक्त होकर भी आप अवनैकसक्ति—समस्त लोकोंके पालन करनेमें बड़ी आसक्ति रखते हो। इसलिए हे आश्चर्य-निधान परमेश्वर ! आपके लिए नमस्कार है।*

---

१. जलको 'अमृत' भी कहते हैं—अप्सु घृतामृते (अ० को०)।

२. 'सुखाच्छ' इत्यपि पाठः।

* इस तरह प्रभुके स्वरूपका वर्णन करते हुए कविने इस बातको काव्यके सर्वस्य श्लेष-मूलक ध्वनिमें विरोधाभासकी पुट देकर चमत्कृत कर दिया है। वह कहता है कि आपकी दृष्टि दमयन्ती होती हुई भी अनल (राजा नल से अन्य) का आश्रय लेती है और आप एकमात्र वनके प्रेमी होकर भी अवनैकसक्ति—नगर में आसक्ति रखते हो, इसलिए हे आश्चर्य-निधान ! बस, हम अपको नमस्कार करते हैं।

धन्यस्य यस्य वपुषि ग्लपिते तपोभिः
स्वामिन् पतन्ति विषमाणि तवेक्षणानि ।
मुष्णन्ति मुग्धमृगशावदृशां न धैर्य-
सर्वस्वमस्य विषमाणि विलोचनानि ॥ १९ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! तपोभिः ग्लपिते यस्य धन्यस्य वपुषि तव विषमाणि ईक्षणानि पतन्ति, अस्य धैर्यसर्वस्वम् मुग्धमृगशावदृशाम् विषमाणि विलोचनानि न मुष्णन्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! तपस्यासे कृशित हुए जिस पुण्यात्माके शरीरपर आपके विषम नेत्र-कटाक्ष गिरते हैं, उस पुरुषके महान् धैर्यको मुग्ध हरिण-बालकोंके समान नेत्रोंवाली कामिनियोंके विषम (तीक्ष्ण) कटाक्ष भी नहीं हर सकते ।

सत्येव दृग्विलसिते करुणामृतौघ-
शीते जरामरणहारिणि तावकीने ।
नाथ व्यधायि विबुधैरबुधैर्मुधैव
दुग्धोदधिप्रमथनेऽनवधिः प्रयासः ॥ २० ॥

अन्वय—नाथ ! करुणामृतौघशीते जरामरणहारिणि तावकीने दृग्विलसिते सति एव अबुधैः विबुधैः दुग्धोदधिप्रमथने अनवधिः प्रयासः मुधा एव व्यधायि ।

अर्थ—हे नाथ ! कृपारूपी अमृतके प्रवाहसे सुशीतल और जरा-मरण को हरनेवाले, आपके नेत्र-कटाक्षके विद्यमान रहते हुए ही उन मूढ़ देवताओंने क्षीर-सागरके मन्थनके लिए महान् आयास वृथा ही किया ।

श्वेतेऽमृतं यदसृजद्रविजे च वह्नि-
मेकैव दृक्तव तयोः स निजः प्रभावः ।
इक्षौ सुधा विषमुषाणफले च सार्धं
यद्वर्धते किमपराध्यति तत्र वृष्टिः ॥ २१ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] एका एव तव दृक् श्वेते अमृतम्, रविजे च वह्निम् यत् असृजत्, सः तयोः निजः [एव] स्वभावः । [दृष्टं चैतत्]—इक्षौ सुधा, उषाणफले च विषम् यत् सार्धम् वर्धते, तत्र वृष्टिः किम् अपराध्यति ?

अर्थ—हे प्रभो ! आप करुणासागरकी जो एक ही दृष्टि राजा श्वेतके लिए अमृत और यमराजके लिये अग्निके रूपमें प्रकट हुई, वह तो उनके अपने-अपने स्वभावका ही फल है । क्योंकि यदि एक ही रस इक्षुमें अमृतके समान अत्यन्त मधुर और उषाण[1] (मिर्च) के फलमें विष हो जाय, तो इसमें वृष्टिका क्या अपराध है ?

नूनं पयोधिमथनावसरे परेश[2]
पीतं त्वया तदमृतं न तु कालकूटम् ।

१. ऊषण या उषण शब्द मिर्चके वाची हैं । २. 'सुरेश' इत्यपि पाठः ।

अद्यापि यद्वसति ते वचनक्रमे च
दृग्विभ्रमे च तरुणे करुणारसे च ॥ २२ ॥

अन्वय—परेश ! नूनम् पयोधिमथनावसरे त्वया तत् अमृतम् [एव] पीतम्, न तु कालकूटम् [पीतम्] । यत् अद्यापि ते वचनक्रमे च, दृग्विभ्रमे च, तरुणे करुणारसे च, [तत्] वसति ?

अर्थ—हे परमेश्वर ! आपने समुद्र-मन्थनके समय अवश्य अमृतका ही पान किया, उस कालकूट विषका पान नहीं किया । क्योंकि अभीतक आपके अभयदान देनेवाले वचनोंमें, प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिमें और नवीन करुणा-रसमें भी अमृत ही भरा रहता है ।

सत्यं प्रसादसमये चपलत्वमेति
धत्तेऽधिकं च कुटिलत्वमियं तव भ्रूः ।
एतां विना पुनरनर्गलकालपाश-
पाते परास्ति न गतिर्भयविह्वलानाम् ॥ २३ ॥

अन्वय—[हे विभो !] सत्यम् इयम् तव भ्रूः प्रसादसमये चपलत्वम् एति, अधिकम् कुटिलत्वम् च धत्ते, एताम् विना अनर्गलकालपाशपाते भयविह्वलानाम् पुनः परा गतिः न अस्ति ।

अर्थ—हे प्रभो ! अवश्य यह आपकी भ्रुकुटि भक्तजनोंके प्रति अनुग्रह करते समय (उनको मनोभीष्ट वर देनेके लिये) चञ्चलताको प्राप्त होती है और अत्यन्त कुटिलता को भी धारण करती है । हे नाथ ! इस (आपकी भ्रुकुटि) के सिवा अत्युच्छृङ्खल काल-पाशसे विह्वलित दीन जनोंकी दूसरी कोई शरण ही नहीं है ।

आपूरितः सुरसरित्पयसाऽमृताय
जूटः प्रतप्ततपनीयपिशङ्गकान्तिः ।
स्वामिन्नसौ तव नवातपताम्रवेला-
शैलोपगूढ इव दुग्धनिधिर्न कस्य ॥ २४ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! सुरसरित्पयसा आपूरितः प्रतप्ततपनीयपिशङ्गकान्तिः असौ तव जूटः, नवातपताम्रवेलाशैलोपगूढः दुग्धनिधिः इव, कस्य अमृताय न [भवति] ?

अर्थ—हे नाथ ! मन्दाकिनीके स्वच्छ नीरसे पूरित और अग्निसे तपाये सुवर्णके समान पिंगल वर्णवाला यह आपका जटाजूट प्रातःकालीन सूर्यातपसे लालिमाको प्राप्त हुए मन्दराचलसे आलिङ्गित क्षीरसागरके समान किस-किसको नहीं अमृत प्रदान करता ?

स्वामिन्सुधावदवदातरुचिस्तवेय-
माभाति हन्त मुकुटे नृकपालमाला ।

जूटान्तरालविलसत्सुरसिन्धुतीर-
लीलाविहाररसिकेव मरालमाला ॥ २५ ॥

अन्वय—हन्त ! स्वामिन् ! सुधावदवदातरुचिः इयम् नृकपालमाला तव मुकुटे जूटान्तरालविलसत्सुरसिन्धुतीरलीलाविहाररसिका मरालमाला इव आभाति ।

अर्थ—अहा ! हे नाथ ! सुधाके समान स्वच्छ यह नरकपालोंकी माला आपके मुकुटमें ऐसी सुशोभित होती है, जैसी कि आपके जटाजूटके मध्यमें विराजती हुई देवगङ्गाके तीरपर विहार करनेवाली हंसोंकी माला शोभित होती है ।

ब्रह्मादिभिस्तव जगद्गुरुभिः शिरांसि
यान्यर्पितानि परमेश्वर पादपीठे ।
तान्येव मूर्धनि यदाभरणीकरोषि
स प्रौढिमा जयति कोऽपि कृतज्ञतायाः ॥ २६ ॥

अन्वय—परमेश्वर ! जगद्गुरुभिः ब्रह्मादिभिः तव पादपीठे यानि [निजानि] शिरांसि अर्पितानि, तानि एव [शिरांसि त्वम्] यत् मूर्धनि आभरणीकरोषि, सः कः अपि तव कृतज्ञतायाः प्रौढिमा जयति ।

अर्थ—हे परमेश्वर ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि जगद्गुरुओंने आपके चरण-कमलोंमें जिन अपने मस्तकोंको अर्पित किया है, उन्हीं मस्तकोंको जो आप अपना शिरोभूषण बना लेते हो, अर्थात् उन्हें अपने मस्तकपर धारण कर लेते हो, यह आपकी कृतज्ञता[1] की कोई अनिर्वचनीय सर्वोत्कृष्ट महिमा है ।

निर्वाणमेति न जलैरपि यत्र वह्नि-
र्यत्रैष नो पचति तानि महाशिखोऽपि ।
मान्द्यं न विन्दति तमीरमणः कृशोऽपि
ताभ्यामसौ विजयते शितिकण्ठ जूटः ॥ २७ ॥

अन्वय—शितिकण्ठ ! यत्र जलैः अपि वह्निः निर्वाणम् न एति, यत्र एषः (वह्निः) महाशिखः अपि तानि (गङ्गाजलानि) नो पचति, ताभ्याम् (जलवह्निभ्याम्) कृशः अपि तमीरमणः मान्द्यम् न विन्दति, असौ जूटः विजयते ।

अर्थ—हे नीलकण्ठ ! जिसमें गङ्गाजलके प्रवाहसे भी अग्नि (आपका नेत्राग्नि) शान्त नहीं होता, जहाँ अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त होकर भी उस गङ्गाजल-को सुखा नहीं सकता और जहाँ गङ्गाजल तथा अग्निके तेजके सामने कृश चन्द्रमा-की भी शोभा मन्द नहीं पड़ती, उस आपके जटाजूटकी बलिहारी है ।

भालस्थले हुतवहं वहतो जलं च
चन्द्रं च मूर्ध्नि विकटं च कपालखण्डम् ।

---

१. 'परोपकारतत्त्वज्ञो यः कृतज्ञः स उच्यते' । कृतज्ञस्य भावः कृतज्ञता ।

एकत्र मुण्डमपरत्र सुधाघटं च
हस्ते चकास्ति भवतोऽद्भुत एष वेषः ॥ २८ ॥

अन्वय—[हे विभो !] भालस्थले हुतवहम् [गङ्गायाः] जलम् च वहतः, मूर्ध्नि चन्द्रम् विकटम् कपालखण्डम् च वहतः, एकत्र हस्ते मुण्डम् अपरत्र सुधाघटम् च वहतः, भवतः एषः अद्भुतः वेषः चकास्ति ।

अर्थ—हे विभो ! ललाटमें अग्नि और गङ्गाजलको धारण किये हुए, मस्तकपर चन्द्रमा और अति विकट कपालखण्ड (खप्पर) को धारण किये एवं एक हाथमें मुण्डमाला और दूसरेमें अमृत-कलशको धारण किये हुए आपका यह अत्यन्त ही अद्भुत (आश्चर्यजनक) वेष शोभाको धारण करता है ।

दाने नदीनमुपकल्पयतः सहर्ष-
माक्रम्य गामनुपमां गतिमास्थितस्य ।
नागेन्द्र-संभृतमहाकटकस्य कस्य
शस्यं विना त्वदिह राजशिरामणित्वम् ॥ २९ ॥

अन्वय—[हे विभो !] दाने नदीनम् (क्षीरोदधिम्) सहर्षम् उपकल्पयतः गाम् आक्रम्य अनुपमाम् गतिम् आस्थितस्य, नागेन्द्रसंभृतमहाकटकस्य त्वत् विना इह कस्य राजशिरोमणित्वम् शस्यम् ?

अर्थ—हे प्रभो ! बालक उपमन्युको आनन्दपूर्वक क्षीरसागरका दान करनेके लिए आनन्दपूर्वक संकल्प लेनेवाले, वृषभपर बैठकर अनुपम गतिको प्राप्त हुए एवं वासुकि आदि महान् सर्पोंका कङ्कण धारण करनेवाले एक आपके सिवा तीनों लोकोंमें और किसका राजशिरोमणित्व (सिरपर चन्द्रको धारण करना) प्रशंसनीय हो सकता है ? अर्थात् किसीका भी नहीं ।

अर्थान्तर—हे नाथ ! यथेच्छ दान देकर दीन जनोंको हर्षित करनेवाले, सप्तदीपवती पृथ्वीपर आक्रमण करके अनुपम शक्तिको प्राप्त हुए और उत्तम-उत्तम हाथियोंसे युक्त महासेनासे विराजमान हुए आपके सिवाय तीनों लोकोंमें और किसका राजशिरोमणित्व (चक्रवर्ती पद) प्रशंसनीय है ?

कण्ठे विषं विषभृतोऽपि विभूषणानि
गात्रेषु मूर्धनि विषं विबुधस्रवन्त्याः ।
इत्थं विषैकवसतेरपि ते चकास्ति
कर्णामृतं सुकृतिनाममृतेशनाम ॥ ३० ॥

अन्वय—[हे विभो ! तव] कण्ठे विषम् चकास्ति, गात्रेषु [अपि] विभूषणानि विषभृतः चकासति, मूर्धनि च विबुधस्रवन्त्याः विषम् चकास्ति । तत् इत्थम् विषैकवसतेः अपि ते 'अमृतेश' [इति] नाम सुकृतिनाम् कर्णामृतम् [भवति] ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके कण्ठमें विष (कालकूट) सुशोभित हो रहा है,

अङ्गोंके आभूषण भी विषधर (सर्प) ही हैं और मस्तकमें भी गङ्गाका विष (जल) है। इस प्रकार हे नाथ ! यद्यपि आप विषके एकमात्र निवासस्थान हो, तथापि आपका 'अमृतेश' (कैवल्य और सुधाके स्वामी) यह नाम पुण्यात्मा लोगोंके कर्णोंमें अमृत प्रदान करता है।

[अब एक श्लोक द्वारा इस स्तोत्र का उपसंहार करते हुए कहते हैं-]

क्षतविभवविशेषाः प्राणमात्रावशेषा
विपदमनुभवामः कर्मपाको हि वामः।
तदिह भुजगहारः क्लृप्तमोहापहारः
स भवति गतिरेकः कृत्तशोकातिरेकः ॥ ३१ ॥

इति श्रीकाश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्ट विरचिते भगवतो
महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'भगवद्रूपवर्णनं'
नामैकोनविंशं स्तोत्रम्

अन्वय—क्षतविभवविशेषाः प्राणमात्रावशेषाः [वयम्] विपदम् अनुभवामः। हि [अस्माकम्] कर्मपाकः वामः [अस्ति], तत् इह क्लृप्तमोहापहारः कृत्तशोकातिरेकः एकः सः भुजगहारः [एव, मादृशाम्] गतिः भवति।

अर्थ—उत्तम ऐश्वर्यसे हीन होनेके कारण केवल प्राणमात्र ही धारण करनेवाले अर्थात केवल उदर-पूर्तिमें ही अपना जन्म व्यर्थ कर देनेवाले हम लोग जो इन सांसारिक जन्म-मरण रूप विपत्तियोंका अनुभव (भोग) कर रहे हैं, यह हमारे प्राचीन दुष्कर्मोंका ही कुपरिणाम है। इसलिये इस भवसागरके मोह (अनात्म वस्तुमें आत्मभ्रम रूप अज्ञान) को समूल नष्ट करनेवाले और समस्त दुःखों का भेदन करनेवाले एक वह सदाशिव ही अब हमारे आधार हैं।

विंश स्तोत्र

अब इसके अनन्तर कवि अतिशय दयालु भगवान्के मनोहर हास्यका वर्णन करते हुए 'हसित-वर्णन' नामक बीसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए पचीस श्लोकोंके कुलक द्वारा भगवान्के 'विलासहास्य' का वर्णन करते हैं—

यत्सौभगेन घनमोघममोघमेघ-
संघातसंभवमवन्ध्यमधः करोति।
तच्छाम्भवं भवमरुभ्रम-खेद-भेद-
दक्षं विलास-हसितं नुतिभिभजामः ॥ १ ॥

अन्वय—यत् सौभगेन अवन्ध्यम् [सत्] अमोघमेघसंघातसंभवम् घनम् ओघम् अधः करोति, तत् [देहिनाम्] भवमरुभ्रमखेदभेददक्षम् शाम्भवम् 'विलासहसितम्' वयम् नुतिभिः भजामः।

अर्थ—जो (हास्य) अपनी सफल मनोहरताके द्वारा अत्यन्त अमोघ मेघ-राशिसे उत्पन्न हुए अमृतमय प्रवाहको विलज्जित कर देता है और प्राणियोंके संसार-रूपी मरुस्थलके भ्रमणसे प्राप्त हुए खेदको शान्त कर देता है, भगवान् शङ्करके उस 'क्रीडा-हास्य' की हम स्तुतियोंसे सेवा करते हैं।

[वह हास्य क्यों होता है, इसपर कहते हैं—]

यद्वाङ्मयं सकलवाङ्मनसातिवृत्त-
सीमानमीश महिमानममानमेयम्।
अस्मादृशं कृशदृशं भृशमामृशन्त-
मन्तर्विमृष्य भवतो भगवन्नुदेति ॥ २ ॥

अन्वय—ईश ! भगवन् ! सकलवाङ्मनसातिवृत्तसीमानम् अमानमेयम् [तव] महिमानम् भृशम् आमृशन्तम्, अस्मादृशम् कृशदृशम् अन्तः विमृष्य भवतः यत् वाङ्मयम् [विलासहसितं] उदेति [तद् वयम् नुतिभिः भजामः, इति पूर्वेणान्वयः]।

अर्थ—हे भगवन्! मन और वाणीकी अत्यन्त अगोचर और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अनुमानित न होनेवाली आपकी अतर्क्य महिमाके विषयमें अनेकों कुतर्कनाएँ करनेवाले हम सरीखे अल्प दृष्टिवाले मूर्खोंको देखकर आपके मनमें जो हास्य-क्रीड़ा प्रकट होती है, उसकी हम स्तुति करते हैं।

येनोपमन्युमपमन्युमनन्यभाज-
माजन्मतृष्णजमजस्रमज श्रमार्तम्।
आनन्दयः स्वयमदीननदीनदान-
भास्वन्महाफललसत्कुसुमोपमेन ॥ ३ ॥

अन्वय—अज ! अपमन्युम् अनन्यभाजम् आजन्मतृष्णजम् अजस्रम् श्रमार्तम् उपमन्युम् अदीननदीनदानभास्वन्महाफललसत्कुसुमोपमेन येन [विलासहसितेन] स्वयम् आनन्दयः, तत् स्तुतिभिः भजामः, इति पूर्ववत्।

अर्थ—हे अनादि परमेश्वर! परद्रोह आदि दोषोंसे रहित अर्थात् निर्दोष, अनन्यभक्त और आजन्मसे पिपासु होनेके कारण अतीव खिन्न बालक उपमन्युको विशाल क्षीरसागर प्रदान कर, उसके महान् फल-रूप विकसित कुसुमके समान स्वच्छ जिस हास्यसे आपने स्वयं उसे हर्षित किया, उस आपकी हास्यक्रीड़ाकी हम स्तुति करते हैं।

येनापि तापविपदं प्रथमं जहर्थ
नाथ प्रसादसुभगेन भगीरथस्य।
मूर्ध्ना धृतत्रिदशसिन्धुमहाप्रवाह-
निर्वापणेन पुनरस्य पितामहानाम् ॥ ४ ॥

अन्वय—नाथ ! प्रसादसुभगेन येन (विलासहसितेन) प्रथमम् भगीरथस्य तापविपदम्

जहर्थ, पुनः मूर्ध्ना धृतत्रिदशसिन्धुमहाप्रवाहनिर्वापणेन अस्य पितामहानाम् तापविपदम् जहर्थ, तत् हसितं स्तुतिभिः भजाम इति पूर्वेणाऽन्वयः ।

अर्थ – हे नाथ ! प्रसन्नतासे मनोहर (कृपासे परिपूर्ण) जिस हास्य-विलाससे आपने पहले महाराज भगीरथके सन्तापको (अर्थात् हाय ! मेरे पितामह लोग कपिल मुनिके शापसे दग्ध होकर अधोगतिमें पड़े हैं, इस प्रकारके पश्चात्तापको) दूर किया और फिर (उसकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर) शिर पर धारण की हुई देवगङ्गाके महाप्रवाहकी शीतलतासे उसके पितरोंके सन्तापको दूर किया, उस आपके क्रीड़ाहास्यकी हम स्तुति करते हैं । और—

उत्प्रासनाय शमनस्य मनस्यनल्प-
दर्पोद्गमप्रशमविक्लवविक्रमस्य ।
आश्वासनाय च समं समभावि येन
कीनाशपाशविवशस्य नरेश्वरस्य ॥ ५ ॥

अन्वय—अनल्पदर्पोद्गमप्रशमविक्लवविक्रमस्य शमनस्य उत्प्रासनाय, कीनाशपाशविवशस्य नरेश्वरस्य (राज्ञः श्वेतस्य) आश्वासनाय च येन समम् मनसि समभावि, तद् विलासहसितम् वयं स्तुतिभिः भजामः ।

अर्थ—महान् अहङ्कारके वेगके नष्ट हो जानेके कारण क्षीण पुरुषार्थवाले यमराजको और अधिक असह्यता उत्पादन करनेके लिए तथा काल-पाशके भयसे विह्वलित राजा श्वेतकेतुको 'तुम इस दुष्ट यमराजसे मत डरो ! कदापि मत डरो !! इस प्रकार' आश्वासन देनेके लिये एक ही साथ आपके मनमें जो आपका हास्य उत्पन्न हुआ, उस सुललित हास्यकी हम स्तुति करते हैं ।

भावत्कभक्तिभरसंभृतभूरिभूति-
संभाररूढगुरुगर्वगलद्विवेकम् ।
मोहान्धमन्धकमुपाहित-साहसिक्य-
हेवाकमाकलयतो भवतो यदासीत् ॥ ६ ॥

अन्वय — भावत्कभक्तिभर-संभृतभूरिभूतिसंभाररूढगुरुगर्वगलद्विवेकम् मोहान्धम् अन्धकम् उपाहितसाहसिक्यहेवाकम् आकलयतः भवतः यत् (हसितम्) आसीत् , तत् स्तुतिभिः भजामः ।

अर्थ—आपकी ही भक्तिसे प्राप्त हुए महान् वैभवके (ऐश्वर्यके) मदसे अतीव गर्वित हुए अविवेकी और अज्ञानसे अन्ध अन्धकासुरने जब उलटे आपके ही प्रति युद्ध करनेका दुःसाहस किया, तब उस दुष्ट कृतघ्नकी इस कृतघ्नताको देखकर आपके मनमें जो हास्य उत्पन्न हुआ था, उस (आपके सुललित हास्य) की हम स्तुति करते हैं ।

लंकेशकम्पितकुबेरगिरिप्ररूढ-
संरम्भभीरुगिरिजापरिरम्भभाजः ।

यत्ते रुषामवसरेऽप्युदितानवद्य-
हृद्यप्रसादसुमुखस्य समुज्जगाम ॥ ७ ॥

अन्वय—लङ्केशकम्पितकुबेरगिरिप्ररूढसंरम्भभीरुगिरिजापरिरम्भभाजः ते रुषाम् अवसरे अपि उदितानवद्यहृद्यप्रसादसुमुखस्य यत् (हसितम्) समुज्जगाम, तद् वयं स्तुतिभिः भजामः, इति पूर्वेणान्वयः।

अर्थ—हे विभो ! आपके ही अनुग्रहसे लोकोत्तर बल पाकर जब वह दुष्ट रावण कैलास पर्वतको कम्पित करने लगा, तब अत्यन्त व्याकुलताके कारण भयभीत हुई प्रणय-कुपिता पार्वतीजीका आलिङ्गन प्राप्त करते हुए आपने उस कृतघ्नके प्रति क्रोध करने योग्य अवसरमें भी अत्यन्त प्रसन्नमुख होकर जो हास्य प्रकट किया, उसकी हम बन्दना करते हैं।

पूजार्थमम्बुजसहस्रमुपाहितं य-
देकं ततो हृतवतस्तव कैतवेन।
विष्णुं विलोक्य निजलोचनमुत्खनन्त-
मन्तः प्रसन्नमनसो यदमन्दमासीत् ॥ ८ ॥

अन्वय—[हे नाथ ! विष्णुना] तव पूजार्थम् यत् अम्बुजसहस्रम् उपाहितम्, ततः एकम् कैतवेन (अनन्यासक्तिभक्तिपरीक्षणरूपेण छद्मना) हृतवतः, निजलोचनम् उत्खनन्तम् विष्णुम् विलोक्य अन्तः प्रसन्नमनसः तव यत् अमन्दम् [हसितम्] आसीत्, तदित्यादि सर्वं प्राग्वत्।

अर्थ—हे नाथ ! भगवान् विष्णु आपका पूजन करनेके लिये एक सहस्र कमल लाये। आपने उनकी अनन्य भक्तिकी परीक्षा करनेके लिये उन (कमलों) मेंसे एक कमल छिपा दिया। तब एक कमल कम देखकर उसकी पूर्ति करनेके लिये उन्हें अपने एक नेत्र-कमलको उखाड़ते देख उनकी इस प्रकारकी अनन्य भक्तिसे प्रसन्नहृदय हुए आपके मनमें जो 'हास्य' प्रगट हुआ था, उसकी हम सदा वन्दना करते हैं।

दृष्ट्वा वधूजनमनुत्तमरूपसंप-
त्संदर्शनोद्भवमनोभवभग्नवृत्तम्।
आषाढपाणिषु रुषा मुनिषु प्रहर्तु-
मभ्युद्यतेषु तव यद् भृशमुद्बभूव ॥ ९ ॥

अन्वय—अनुत्तमरूपसंपत्संदर्शनोद्भवभग्नवृत्तम् (निजम्) वधूजनम् दृष्ट्वा, रुषा [त्वाम्] प्रहर्तुम् अभ्युद्यतेषु आषाढपाणिषु मुनिषु भृशम् तव यत् [हसितम्] उद्बभूव, तद्वयं नुतिभिर्भजामः।

अर्थ—प्रभो ! आपकी अत्युत्तम रूप-सम्पत्ति पर मुग्ध होनेके कारण अपनी पत्नियोंको कामके वशमें हुई देख कोपावेशमें आकर आपके प्रति प्रहार करनेको उद्यत हुए, पलाशके दण्डको हाथोंमें धारण किये उन मुनियोंकी उस

मूर्खतापर आपके अन्तःकरणमें जो क्रीडाहास्य प्रकट हुआ, उसकी हम स्तुति करते हैं।

अभ्यर्णवर्तिकरगोचरकालकूट-
कूटप्रभानिचयमेचकितेऽधरोष्ठे ।
यत्पूर्वपर्वतशिखाश्रितशीतरश्मि-
रश्मिच्छटाच्छविविडम्बि पुराविरासीत् ॥ १० ॥

अन्वय—पुरा अभ्यर्णवर्तिकरगोचरकालकूटकूटप्रभानिचयमेचकिते अधरोष्ठे पूर्वपर्वतशिखाश्रितशीतरश्मिरश्मिच्छटाच्छविविडम्बि यत् [हसितम्] आविरासीत्, तदिति पूर्ववत् ।

अर्थ—प्रभो ! पहले समुद्र-मन्थनके समय हालाहलको हथेलीमें रखकर जब आप उसको पान करनेके लिये उद्यत हुए, तब आपके मुखके समीपस्थ हाथोंमें लिये कालकूटकी नीली कान्तिसे कालिमाको प्राप्त हुए अधरोष्ठमें—उदयाचल पर्वतपर विराजमान हुए चन्द्रमाकी रश्मिच्छटाको विलज्जित कर देनेवाला जो हास्य प्रकट हुआ था, उस (आपके हास्य) को हमारा प्रणाम है।

यत्कर्णतालवलनानिलधूत-कुम्भ-
सिन्दूर-रेणु-कण-कूणितलोचनस्य ।
बालस्य नागवदनस्य मनस्यभीष्टां
दृष्ट्वैव नाट्यघटनां तव संबभूव ॥ ११ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] कर्णतालवलनानिलधूतकुम्भसिन्दूररेणुकणकूणित-लोचनस्य बालस्य नागवदनस्य मनसि अभीष्टाम् नाट्यघटनाम् दृष्ट्वा एव तव यत् [हसितम्] संबभूव, तदित्यादि पूर्ववत् ।

अर्थ—नाथ ! जब आपके पुत्र गजाननजी अपने कर्णतालों (कानों) को हिलाने लगते हैं, तब उनसे निकलते पवनके द्वारा उनके कपोलसे सिन्दूरके कण उड़ उड़कर उनके नेत्रोंमें जाने लगते हैं। इस कारण जब वे नेत्रोंको मूँद नाचने लगते हैं, तब उनकी वह मनोमोहक नाट्य-घटना देख आपके जो हास्य प्रकट होता है, उस हास्यको हमारा प्रणाम है।

शैलादिवादितमृदङ्गलयानुयात-
नृत्तप्रवृत्तगुहवाहविलोकनेन ।
स्वामिन् महाप्रलयभैरवरूपिणो य-
दाविर्बभूव तव ताण्डवडम्बरेषु ॥ १२ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! महाप्रलयभैरवरूपिणः तव ताण्डवडम्बरेषु [1]शैलादिवादितमृदङ्गलयानुयातनृत्तप्रवृत्तगुहवाहविलोकनेन यत् [हसितम्] आविर्बभूव, तदित्यादि पूर्ववत् ।

---

१. शिलादस्य मुनेरपत्यं शैलादिः नन्दी, प्रमथविशेषः ।

अर्थ—अयि प्रभो ! महाप्रलयके समय जब आप अति भयानक स्वरूपको धारणकर अपने ताण्डव नृत्यकी तैयारी करते हैं, तब नन्दी मृदङ्ग बजाता है। उसकी ध्वनि सुनकर स्वामी कार्तिकेयका वाहन—मयूर (मेघध्वनिके भ्रमसे) ठीक उस मृदङ्गके तालके अनुसार नाच करने लगता है, उसे देखकर आपको जो क्रीडा हास्य उत्पन्न होता है, आपके उस हास्यकी हम सेवा करते हैं।

व्योम प्रचण्डभुजदण्डविघट्यमान-
तारावलीविरहबन्धुरितान्धकारम् ।
स्वामिन् युगान्तसमयाभिनयेषु येन
संभाव्यते पुनरपि प्रचुरप्रकाशम् ॥ १३ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! युगान्तसमयाभिनयेषु प्रचण्डभुजदण्डविघट्यमानतारावलीविरह-बन्धुरितान्धकारम् [अपि] व्योम येन [तव हसितेन] पुनरपि प्रचुरप्रकाशम् संभाव्यते, तदिति पूर्ववत् ।

अर्थ—हे नाथ ! महाप्रलयमें नाट्य करते समय जब आप अपनी प्रचण्ड भुजाओंके द्वारा समस्त तारा-मण्डलको उखाड़ डालते हो, तब चन्द्र-सूर्यादिके प्रकाशके बिना गाढ़ अन्धकारसे भरा हुआ भी आकाश आपके जिस क्रीडा हास्यसे फिर परम प्रकाशमय हो जाता है, उस हास्यकी हम स्तुति करते हैं।

दिक्चक्रवाल-मुखरीकरणप्रगल्भ-
प्रावृट्पयोधरगभीररवानुकारि ।
स्वामिन् कठोरहृदयस्य भयं विधातुं
भीरोश्च दातुमभयं युगपत्क्षमं यत् ॥ १४ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! दिक्चक्रवालमुखरीकरणप्रगल्भप्रावृट्पयोधरगभीररवानुकारि यत् [तव हसितम्] कठोरहृदयस्य भयम् विधातुम् भीरोः च अभयम् दातुम् युगपत् क्षमम् [भवति] तदित्यादि पूर्ववत् ।

अर्थ—हे प्रभो ! समस्त दिङ्मण्डलको वाचाल बना देनेवाले वर्षाकालीन मेघकी गम्भीर ध्वनिका अनुकरण करनेवाला अर्थात् वर्षाकालकी मेघध्वनिकी भाँति समस्त दिङ्मण्डलमें व्याप्त होनेवाला जो आपका हास्य एक ही साथ कठोर हृदय-वाले खलोंको भय और सांसारिक दुःखोंसे भयभीत हुए अनाथोंको अभय देनेमें समर्थ होता है, आपके उस मनोहर हास्यकी हम स्तुति करते हैं।

यत्कालकूटकवलीकरणप्ररूढ-
नीलिम्नि कण्ठपुलिने विमलं निलीनम् ।
नीरन्ध्रनीरभरमेदुर-मेघ-खण्ड-
लग्नेन्दुमण्डलविडम्बनमातनोति ॥ १५ ॥

अन्वय – [प्रभो !] कालकूटकवलीकरणप्ररूढ़नीलिम्नि कण्ठपुलिने निलीनम् विमलम् यत् [हसितम्] नीरन्ध्रनीरभरमेदुरमेघखण्डलग्नेन्दुमण्डलविडम्बनम् आतनोति, तदित्यादि पूर्ववत् ।

अर्थ—कालकूटको निगल जानेके कारण कालिमाको प्राप्त हुए आपके कण्ठतट पर प्रकाशमान होता हुआ जो स्वच्छ हास्य काले मेघके खण्डपर मिले हुए चन्द्र-मण्डलके समान शोभित होता है, आपके उस हास्यकी हम आराधना करते हैं ।

[अब यहाँसे भगवद्हास्यका वर्णन करनेवाले इस महाकुलकके मध्यमें नौ श्लोकोंके गर्भकुलक[1] द्वारा 'भगवती श्री पार्वतीजी' के स्वप्नवृत्तान्तका वर्णन करते हुए कहते हैं—]

ध्यायन्त्यनन्यहृदया हृदयाधिनाथ-
मद्य क्षपामगमयं सखि कल्पकल्पाम् ।
प्राणेशसङ्गमनिमित्तमथ प्रभाते
निद्रा सखीव मम सम्मुखमाजगाम ॥ १६ ॥

अन्वय—सखि [जये !] अनन्यहृदया (अहम्) हृदयाधिनाथम् ध्यायन्ती अद्य कल्पकल्पाम् क्षपाम् अगमयम्, अथ प्रभाते प्राणेशसङ्गमनिमित्तम् सखी इव, निद्रा मम सम्मुखम् आजगाम ।

अर्थ—(हे भगवन् ! जब श्री गिरिजाजी आपके विरहमें अतीव व्याकुलचित्त होकर अपनी सखी जयासे स्वप्नका वृत्तान्त कहने लगीं—) हे सखि जये ! अनन्य-चित्तसे अपने प्राणनाथ (भगवान् सदाशिव) का ध्यान करते हुए मैंने आजकी रात्रि एक कल्पके समान बड़ी कठिनाईसे बितायी, तब फिर प्रातःकालमें सखीकी तरह प्राणप्रियके साथ समागम करा देनेवाली निद्रा देवी मेरे सम्मुख आयी—

तस्मिन्क्षणे नयनवर्त्मनि जीवितेशः
शंसन् दृशा मधुरयैव मनःप्रसादम् ।
चक्रे पदं मम तमोमुकुलीकृतायाः
स्वैरं समेत्य सवितेव सरोरुहिण्याः ॥ १७ ॥

अन्वय—तस्मिन् एव क्षणे स्वैरम् समेत्य मधुरया दृशा मनःप्रसादम् शंसन् मम जीवितेशः तमोमुकुलीकृतायाः मम नयनवर्त्मनि, सरोरुहिण्याः सविता इव, पदम् चक्रे ।

अर्थ—उसी समय स्वेच्छासे आकर अपनी मनोहर सौम्य दृष्टिसे मनको प्रसन्न करते हुए प्राणनाथने मूर्च्छासे व्याकुल हुए मेरे नयनोंमें वैसे निवास किया, जैसे कि अन्धकारसे संकुचित कमलिनीके नयनमार्गमें सूर्यदेव निवास करते हैं । तदनन्तर वह मुझे आश्वासन देते हुए कहने लगे—

---

१. कुलकके मध्यमें जो कुलक होता है, उसे गर्भकुलक कहते हैं ।

अस्मत्कृते सितमयूखमुखि त्वयैत-
त्किं प्रस्तुतं मुनिभिरप्यतिदुष्करं यत् ।
उद्यानचङ्क्रमणकेलिषु खिद्यते या
सा ते कथं कथय कष्टसहाऽङ्गयष्टिः ॥ १८ ॥

अन्वय—सितमयूखमुखि ! यत् मुनिभिः अपि अतिदुष्करम्, तत् एतत् (कर्म) त्वया अस्मत्कृते किम् प्रस्तुतम् ? [हे कोमलाङ्गि !] या उद्यानचङ्क्रमणकेलिषु खिद्यते, सा ते अङ्गयष्टिः कथम् कष्टसहा [भवति, त्वमेव] कथय ।

अर्थ—हे चन्द्रमुखि ! बड़े-बड़े तपस्वी मुनिजनोंसे भी अत्यन्त दुःसाध्य यह तीव्र तप तुमने हमारे लिए क्यों आरंभ किया ? अयि कोमलाङ्गि ! कुसुमोद्यानमें लीलासे टहलनेमें जो कुम्हला जाता है वह तुम्हारा सुकोमल अङ्ग इस कठोर तपके कष्टको कैसे सहन कर सकता है, तुम्हीं बताओ ?

मूर्तिः क्व बालकदलीदलकोमलेयं
तीव्रं तपः क्व मनसोऽपि न गोचरं यत् ।
क्वेषद्विकासि कुसुमं सुमनोलतायाः
क्वोन्मत्तकुञ्जरकठोरकरोपमर्दः ॥ १९ ॥

अन्वय—[हे शशिमुखि !] बालकदलीदलकोमला इयम् [तव] मूर्तिः क्व [भवति] तीव्रम् यत् मनसः अपि अगोचरम्, तत् तपः क्व [भवति] सुमनोलतायाः ईषद्विकासि कुसुमं क्व ? [तस्य] उन्मत्तकुञ्जरकठोरकरोपमर्दः क्व ?

अर्थ—हे चन्द्रानने ! नवीन कदली-दलके समान कोमल यह तुम्हारी मूर्ति कहाँ ? और कहाँ बड़े बड़े मुनियोंसे भी दुःसाध्य, मनका भी अगोचर यह तीव्र तप ? हन्त ! मालती-लताका किञ्चित्विकसित हुआ कोमल पुष्प कहाँ ! और कहाँ हाथीकी कठोर सूंडके द्वारा उस (जाती-पुष्प) का मर्दन ?

एतेन कर्कशकुशग्रहणं करेण
सोढं कथं प्रथम-पल्लवकोमलेन ।
पादौ कथं कमलगर्भनिभौ शिलाश्रि-
श्रेणीषु तीर्थगमनक्लममन्वभूताम् ॥ २० ॥

अन्वय—[हे सुमुखि !] एतेन प्रथमपल्लवकोमलेन [तव] करेण, कर्कशकुशग्रहणम् कथम् सोढम् ? कमलगर्भनिभौ पादौ शिलाश्रिश्रेणीषु तीर्थगमनक्लमम् कथम् अन्वभूताम् ?

अर्थ—हे सुमुखि ! नवीन किसलयके समान सुकोमल इन तुम्हारे हाथोंसे अत्यन्त कठोर कुशोंका ग्रहण कैसे सहन हुआ ? और कमलके कोषके समान अतीव सुकोमल तुम्हारे चरणोंने अत्यन्त तीक्ष्ण शिलाओंकी धारपर (कांकरियोंपर) चलकर तीर्थ-गमनके कष्टको कैसे सहा ? हन्त,—

हारोऽपि भार इव यत्र कुचद्वयं त-
त्सेहे कथं कुलिशकर्कशवल्कलोल्काम् ।
एतत्कथं मृदुमृणाललताभिजातं
पञ्चाग्नितापविपदः पदमङ्गमासीत् ॥ २१ ॥

अन्वय—यत्र हारः अपि भारः इव [भवति] तत् [ते] कुचद्वयम् कुलिशकर्कशवल्कलोल्काम् कथम् सेहे ? [हे तन्वङ्गि !] मृदुमृणाललताभिजातम् एतत् [तव] अङ्गम् पञ्चाग्नितापविपदः पदम् कथम् आसीत् ?

अर्थ—जिस (स्तनमण्डल) में सुमनोहर मुक्ताहार भी महान् भारके समान असह्य हो जाता है, उस अपने सुकोमल स्तनमण्डलमें तुमने वज्रके समान कठोर वल्कलों (वृक्षकी खालों) को कैसे धारण किया ? हे कोमलाङ्गि ! कोमल कमल-की नालके समान सुकुमार तुम्हारे इस अङ्गने पञ्चाग्निके तापको कैसे सहन किया ?

इत्यादिभिर्दशनचन्द्रिकयानुविद्धै-
रन्तर्बहिश्च तिमिरप्रसरं हरद्भिः ।
आश्वासयन्निव निवर्तिततीव्रखेदं[1]
गर्भीकृतस्मितसुधामधुरैर्वचोभिः ॥ २२ ॥

अन्वय—इत्यादिभिः दशनचन्द्रिकया अनुविद्धैः, बहिः अन्तः च तिमिरप्रसरम् हरद्भिः, गर्भीकृतस्मितसुधामधुरैः वचोभिः (माम्) निवर्तिततीव्रखेदम् [यथा स्यात्तथा] आश्वासयन् इव—

अर्थ—दन्तोंकी छटासे व्याप्त, बाहर और अन्दरके अन्धकारको हरनेवाले एवं मनोहर ईषद् हास्यरूपी सुधासे पूर्ण इत्यादि रमणीय वचनोंसे मेरे तीव्र क्लेशको दूर करके मुझे आश्वासन देते हुए-जैसे—

यावत्त्रपापरवशं क्षितिमीक्षमाणं
मुक्ताफलोपमसमुद्गतघर्मलेशम् ।
किञ्चित्करेण मुखमुन्नमयन्नियेष
पीयूषवर्षमिव वर्षितुमेष भूयः ॥ २३ ॥

अन्वय—त्रपापरवशम् क्षितिम् ईक्षमाणम् मुक्ताफलोपमसमुद्गतघर्मलेशम् [मदीयम्] मुखम् करेण किञ्चित् उन्नमयन् एषः (प्रियतमः) भूयः [वचोभिः] पीयूषवर्षम् इव वर्षितुम् यावत् इयेष ।

अर्थ—जब, लज्जावश नीचेको देखते हुए और मुक्ताफलोंके समान सात्त्विक स्वेद-विन्दुओंसे व्याप्त हुए मेरे मुखको अपने हाथसे कुछ ऊपरको उठाते

१. 'खेदां' इत्यपि पाठः ।

हुए प्रियतमने फिर भी (अपने वचनोंसे) अमृतकी-सी वर्षा करनेकी इच्छा की, अर्थात् कुछ कहना चाहा—

तावत्प्रबोधितवता कृकवाकुनादै-
र्दुर्वेधसा सखि तदाचरितं शठेन ।
यत्रैष एव शरणं मम जीवितेशो
यद्वाऽपरो हरति योऽखिलजन्तुवर्गम् ॥ २४ ॥

अन्वय—सखि ! तावत् [एव] कृकवाकुनादैः [माम्] प्रबोधितवता शठेन दुर्वेधसा तत् (कर्म) आचरितम्, यत्र एषः जीवितेशः एव मम शरणम् [भवति] यद्वा अपरः यः अखिलजन्तुवर्गम् हरति, सः एव जीवितेशः (यमः) मम शरणम् [अस्ति] ।

अर्थ—हे सखि ! तब इतनेमें ही, दुष्ट दैवने कुक्कुटोंके निनाद द्वारा मुझे जगाकर वह काम कर दिया, जिसमें अब या तो केवल एक वह जीवितेश (मेरे जीवनके आधार—भगवान् श्रीशङ्कर) ही मेरी शरण हैं, अथवा यदि वह न मिलें तो, फिर जो समस्त जीवोंका संहार किया करता है, वह जीवितेश (यमराज) ही मेरा शरण होगा। अर्थात् अब कान्त या कृतान्त ही मेरे दुःख का अन्तकर सकते हैं ।

इत्यादि तीव्रविरहज्वरया जयायै
यत्स्वप्नवृत्तमुदितं गिरिराजपुत्र्या ।
तच्छृण्वतो वनलतान्तरितस्य यत्ते
जातं प्रमोदभरनिर्भरमानसस्य ॥ २५ ॥

(पञ्चविंशत्या कुलकम्)

अन्वय—इत्यादि यत् स्वप्नवृत्तम्, तीव्रविरहज्वरया गिरिराजपुत्र्या जयायै उदितम्, तत् शृण्वतः वनलतान्तरितस्य प्रमोदभर-निर्भरमानसस्य ते यत् [विलासहसितम्] जातम्, तत् वयम् स्तुतिभिः भजामः, इति सम्बन्धः ।

अर्थ—इत्यादि इत्यादि जो स्वप्नका वृत्तान्त तीव्र विरहमें व्याकुल हुई गिरिजाने अपनी सखी जयासे कहा, उसे वनलताओंकी ओटमें छिपकर सुन रहे परमानन्दपूर्ण अन्तःकरणवाले आपके क्रीडा-हास्य उत्पन्न हुआ, उस हास्यकी हम स्तुति करते हैं ।

[जब श्री पार्वतीजीने "भगवान् सदाशिव ही मेरे पति हों" इस इच्छासे उन्हें प्रसन्न करनेके लिए अपने पिता हिमालयके एकान्त प्रदेशोंमें महान् तप किया, तब उनके अन्तःकरणके आशयको जाननेके लिए भगवान् सदाशिवने कपटसे तरुण-ब्रह्मचारीका वेष बनाकर भगवती श्रीगिरिजाके साथ संवाद करते हुए जो हास्य किया था, उसका वर्णन करते हुए तेरह श्लोकों द्वारा महाकवि फिर द्वितीय कुलकको आरम्भ करते हैं:—]

सञ्जीवनौषधमिदं हरहुङ्कृताग्नि-
ज्वालावलीढवपुषः कुसुमायुधस्य ।

बाले सुधारसमये समये किमर्थ-
मायास्यते त्रिभुवनाभरणं शरीरम् ॥ २६ ॥

अन्वय—बाले ! हरहुंकृताग्निज्वालावलीढवपुषः कुसुमायुधस्य सञ्जीवनौषधम् इदम् त्रिभुवनाभरणम् शरीरम् [त्वया अस्मिन्] सुधारसमये समये किमर्थम् आयास्यते ?

अर्थ—अयि बाले, गिरिराजसुते ! शङ्करके हुङ्काररूपी अग्निकी ज्वालाओंसे भस्म हुए कामदेवको उज्जीवित करनेके लिए नवीन सञ्जीवनी (महौषधि) के समान, इस त्रैलोक्यभूषण शरीरको तुम सुखभोग करने लायक इस युवावस्थामें तीव्र तपस्याके द्वारा इस प्रकार क्यों आयासित कर रही हो ?

कल्पद्रुमैर्निधिभिरोषधिकामधेनु-
चिन्तामणिप्रभृतिभिश्च परिष्कृतस्य ।
किं दुर्लभं तव पितुर्भुवनातिशायि-
श्रीधाम्नि धामनि यदर्थयसे तपोभिः ॥ २७ ॥

अन्वय—[अयि बाले !] कल्पद्रुमैः निधिभिः ओषधिकामधेनुचिन्तामणिप्रभृतिभिः च परिष्कृतस्य तव पितुः भुवनातिशायिश्रीधाम्नि धामनि (गृहे) किम् दुर्लभम् [अस्ति] यत् [त्वम्] तपोभिः अर्थयसे ?

अर्थ—हे बाले ! कल्पवृक्ष, नौ निधि, सञ्जीवनी आदि महौषधि, कामधेनु, चिन्तामणि आदि अमूल्य रत्नोंसे सुसेवित तुम्हारे पिता पर्वतराज श्रीकैलाशके त्रैलोक्यभूषण, श्रीधाम (लक्ष्मीके निवास-स्वरूप) गृहमें तुम्हें कौन वस्तु दुर्लभ है, जिसके लिए तुम ऐसा तीव्र तप कर रही हो ?

[क्या तुम्हारे पिताने तो तुम्हें अपमानित नहीं किया ? नहीं ! नहीं !!]

त्वं जीवितादपि गुरोरधिका स ताव-
दुत्पादयेत्तव न [1]मन्युमधीतनीतिः ।
संभाव्यते तव च नान्यकृतो निकारः
कुर्वीत केसरिसटाहठकर्षणं कः ॥ २८ ॥

अन्वय—त्वम् गुरोः जीवितात् अपि अधिका [प्रिया असि] तावत् अधीतनीतिः सः (तव पिता) तव मन्युम् न उत्पादयेत्; अन्यकृतः निकारः च तव न संभाव्यते [यतः] केसरिसटाहठकर्षणम् कः कुर्वीत ?

अर्थ—तुम तो अपने पिताकी प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो, फिर वे तुम्हारे पिता तो नीतिशास्त्र के ज्ञाता हैं, अतः वह तुम्हारे मनमें क्रोध उत्पन्न ही कैसे कर सकते हैं ? और कोई तुम्हारा अपमान करे, इस बातकी तो सम्भावना तक नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसा मूर्ख कौन होगा, जो सिंहकी जटाको (अयालोंको) बलात्कारसे खींचे ?

---

१. 'रोषं' इत्यपि पाठः ।

श्रद्धानुबन्धविहितव्रतहोमदान-
स्वाध्यायतीर्थगमनादिनिबन्धनानि ।
धन्यस्य कस्य फलितानि तुषारहार-
गौराणि गौरि सुकृतानि पुराकृतानि ॥ २९ ॥

अन्वय—गौरि ! श्रद्धानुबन्धविहितव्रतहोमदानस्वाध्यायतीर्थगमनादिनिबन्धनानि तुषारहारगौराणि पुराकृतानि सुकृतानि कस्य धन्यस्य फलितानि, [यम् त्वम् तपसा प्रसादम् आनयसीत्यग्रे कुलकान्ते 'सा त्वं' इत्यनेन सम्बन्धः ।]

अर्थ—हे गौरि ! श्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त विधिसे किये हुए व्रत, होम, दान, स्वाध्याय, तीर्थ-यात्रा, मन्त्र-पाठ आदि सत्कर्मोंके द्वारा प्राप्त हुए, हिम और मुक्ताहारके समान स्वच्छ, प्राक्कृत पुण्य किस धन्यात्माके उदित हुए हैं, जिसको तुम इस तीव्र तपस्यासे प्रसन्न करना चाहती हो ?

[यहाँसे ६ श्लोकोंमें 'शब्द-श्लेषोक्ति' से अपनेको भी उद्देश्य करके (तरुण ब्रह्मचारी-वेषधारी) सदाशिवकी पार्वतीजीके प्रति उक्ति है—]

दुर्वार-दुर्गति-निकार-कदर्थ्यमान-
मालोक्य लोकमखिलं विपुलाशयेन ।
सद्यःकृतं कनकवर्षणमिन्दुकान्त-
वर्ष्मत्विषा परमकारुणिकेन केन ॥ ३० ॥

अन्वय—दुर्वारदुर्गतिनिकारकदर्थ्यमानम् अखिलं लोकम् आलोक्य इन्दुकान्तवर्ष्मत्विषा परमकारुणिकेन केन विपुलाशयेन सद्यः कनकवर्षणम् कृतम्, [यम् त्वम् तपसा प्रसादम् आनयसि ? इति अग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः] ।

अर्थ—हे गौरि ! समस्त लोगोंको अनिबार्य दुर्गतियोंसे पीड़ित होते देख, चन्द्रमाके समान मनोहर शरीरकी कान्तिवाले किस परम कृपालु, उदार चित्तवाले वीरने तत्काल (उन दीन जनोंको देखते ही) सुवर्णकी अविच्छिन्न वृष्टि की है, जिस धन्यात्माको तुम इस तीव्रतपसे प्रसन्न कर रही हो ? अर्थात् समस्त ऐश्वर्य सम्पत्तिकी महाधिष्ठात्री देवी साक्षात् महालक्ष्मी-स्वरूपा होकर भी आप जिसकी प्राप्तिके लिए इस प्रकारका दिव्याऽतिदिव्य तप कर रही हो, वह लोकोत्तर महादानी अतिशय दयालु कौन है ?

अर्थान्तर—हे सुमुखि ! मरुत्त राजाके नगर-निवासी समस्त लोगोंको दुःसह विपत्ति (अतिशय दरिद्रता) से पीड़ित होते देखकर, मनोहर चन्द्रकलासे विभूषित शरीरवाले, अतिशय कृपालु, मुझ परम-उदारके सिवाय और किसने मरुत्तके नगरमें सात अहोरात्रि-पर्यन्त सुवर्णकी अविच्छिन्न वृष्टि की है, अर्थात् मैंने ही की है। इसलिए मालूम पड़ता है कि तू इस तपस्यासे मुझ (सदाशिव) को ही प्रसन्न करना चाहती है !

गायन्ति कस्य विशदं विषमोग्रकाल-
संरुद्धशक्तिशरणागतरक्षणोत्थम् ।
द्वन्द्वानि नन्दनसदामपदानमिन्दु-
धौतासु कौमुदमहोत्सवयामिनीषु ॥ ३१ ॥

अन्वय—विषमोग्रकालसंरुद्धशक्तिशरणागतरक्षणोत्थम् कस्य विशदम् अपदानम् (अद्भुतं कर्म) इन्दुधौतासु कौमुदमहोत्सवयामिनीषु नन्दनसदाम् द्वन्द्वानि गायन्ति, यं त्वं तपसा प्रसादम् आनयसि ?

अर्थ—अत्यन्त विषम उग्र काल (कलिकाल, अथवा विपत्तिकाल) से रुकी हुई शक्तिवाले शरणागतोंकी रक्षाके निमित्त किये गये किसके निर्मल अद्भुत चरित्रोंको देवतागण पूर्ण चन्द्रमाकी छटासे स्वच्छ कार्तिक मासके महोत्सवकी रात्रियोंमें गाया करते हैं, जिसको प्रसन्न करनेके लिए तुम ऐसा तीव्र तप कर रही हो ?

अर्थान्तर—हे गिरिराजतनये ! अति भीषण काल (यमराज) से पकड़े हुए शरणागत श्रीमार्कण्डेय, श्वेत मुनि आदि भक्त जनोंकी रक्षाके निमित्त किये गये मेरे ही निर्मल चरित्रोंको देवतागण कार्तिक मासकी निर्मल रात्रियोंमें गाया करते हैं, अतः मैं समझता हूँ कि तुम इस तपस्यासे मुझे ही प्रसन्न करना चाहती हो !

केनेश्वरेण महता वहतात्रिनेत्र-
सञ्जातकान्ति वपुरद्भुतभूतिभूषम् ।
उद्दामकामशितमार्गणदौर्मनस्य-
वैरस्यमिद्धमहसा सहसा निरस्तम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—अत्रिनेत्रसञ्जातकान्ति, अद्भुतभूतिभूषम् वपुः वहता इद्धमहसा केन महता ईश्वरेण उद्दामकामशितमार्गणदौर्मनस्यवैरस्यम् सहसा निरस्तम्, यं त्वं तपसा प्रसादं आनयसि ?

अर्थ—चन्द्रमाके समान कान्तिवाले तथा अद्भुत सम्पत्तिसे सुशोभित, अति दिव्य शरीरको धारण करनेवाले किस महा तेजस्वी, सर्वशक्ति-सम्पन्न पुरुषने उद्भट कामदेवके बाणोंके विकारोंका परित्याग किया है, जिसको प्रसन्न करनेके लिए तुम ऐसी तीव्र तपस्या कर रही हो ?

अर्थान्तर—त्रिनेत्रोंसे सुशोभित और आश्चर्यकारिणी विभूतिसे विभूषित दिव्यशरीरको धारण करनेवाले, परम तेजोमय मुझ महेश्वरके सिवाय अत्युद्भट कामदेवके तीक्ष्ण बाणोंका विजय और किसने किया है ? अर्थात् मैंने ही किया है। अतः मैं समझता हूँ कि तुम मुझे ही प्रसन्न करनेके लिए यह तप कर रही हो ?

धन्याः कमस्खलितपौरुषभग्नभूरि-
दर्पान्धकन्दलितलोकविषादमुच्चैः ।
हेलावलीढविषमश्रमवीर्यवह्नि-
भस्मीकृताहितपुरं कवयः स्तुवन्ति ॥ ३३ ॥

अन्वय—[हे गौरि !] कम् अस्खलितपौरुषभग्नभूरिदर्पान्धकन्दलितलोकविषादम् उच्चैः हेलावलीढविषमश्रमवीर्यवह्निभस्मीकृताहितपुरम् धन्याः कवयः स्तुवन्ति ? यं त्वं तपसा प्रसादम् आनयसि ?

अर्थ—हे गौरि ! अपने अमोघ पुरुषार्थके द्वारा महान् अहङ्कारसे अन्धे बने हुए लोगोंके विषादको भग्न कर देनेवाले तथा प्रयत्नके बिना ही बड़े भारी खेदको शान्त कर देनेवाले पराक्रमरूप अग्निसे शत्रुओंके नगरोंको भस्म करनेवाले किस धन्यात्मा पुरुषकी सत्कवि लोग वन्दना करते हैं, जिसको कि तुम इस तपस्याके द्वारा प्रसन्न कर रही हो ?

कः स्वर्धुनीसवनवह्निनिषेवणादि-
धौतां दधत्तनुमनुज्झितभैक्षवृत्तिः ।
कालं द्विजेन्द्रमुकुटः परिशुद्धधर्म-
चर्यारतः क्षपितवानजिनावृताङ्गः ॥ ३४ ॥

अन्वय—स्वर्धुनीसवनवह्निनिषेवणादिधौताम् तनुम् दधत्, अनुज्झितभैक्षवृत्तिः परिशुद्धधर्मचर्यारतः अजिनावृताङ्गः कः द्विजेन्द्रमुकुटः कालम् क्षपितवान् ? यं त्वं तपसा प्रसादम् आनयसि ।

अर्थ—अयि देवि गिरिजे ! नित्य गङ्गास्नान और अग्नि-शुश्रूषा आदिके द्वारा अति निर्मल शरीरवाला, निरन्तर भिक्षावृत्ति करनेवाला, शास्त्रोक्त विशुद्ध धर्माचरणमें तत्पर और मृगचर्मको धारण किया हुआ, [इस प्रकार] अत्युत्तम रीतिसे लोकोत्तर तपस्यामें कालक्षेप करनेवाला वह कौन-सा द्विजेन्द्र-मुकुट (ब्राह्मण-शिरोमणि) है, जिसको कि तुम इस तपस्यासे प्रसन्न कर रही हो ?

अथवा—अयि गिरिराजतनये ! मन्दाकिनी, (तृतीय नेत्र की) अग्नि और सूर्य-चन्द्रमाके योगसे प्रकाशमय, अतीव भव्य शरीरको धारण करनेवाले, विशुद्ध भैक्ष्य-वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले, अत्यन्त स्वच्छ वाहन (वृषभ) पर आरूढ़ होकर विचरण करनेवाले और व्याघ्रचर्मको धारण करनेवाले मुझ द्विजेन्द्रमुकुट (चन्द्रमुकुट —श्री सदाशिव) ने ही कालक्षेप (यमराजका संहार) किया है, जिसे कि तुम इस तपस्यासे प्रसन्न कर रही हो !

उद्धूलितश्चितिरजोभिरखण्डमुण्ड-
मालाकरालशिखरः सुचिरं चचार ।
भीष्मश्मशानवसनव्यसनः कपाल-
खट्वाङ्गपाणिरतितीव्रमपि व्रतं कः ॥ ३५ ॥

अन्वय—चितिरजोभिः उद्धूलितः, अखण्डमालाकराल-शिखरः भीष्मश्मशानवसनव्यसनः कपालखट्वाङ्गपाणिः कः अतितीव्रम् अपि व्रतम् सुचिरम् चचार ? यं त्वं तपसा प्रसादम् आनयसि ।

अर्थ—वदनमें चिता-भस्म रमाया हुआ, शिरमें अखण्ड मुण्डमाला धारण किया हुआ, अति भयानक श्मशानमें निवास करनेवाला और हाथमें कपाल तथा

खट्वाङ्ग धारण कर (इस प्रकार) चिरकाल तक अत्यन्त दुष्कर तप करनेवाला वह कौन-सा तपस्वी है, जिसको प्राप्त करने के लिए तुम ऐसी कठोर तपस्या कर रही हो ?

अथवा—हे गौरि ! अङ्गमें चिता-भस्म रमाकर, मस्तकमें मुण्डमाला धारण करके अति भयङ्कर श्मशानमें निवास करते हुए, हाथमें कपाल और खट्वाङ्ग धारण करके चिरकाल तक अति दुष्कर तप करनेवाला मेरे सिवाय दूसरा और कौन है ? प्रतीत होता है कि तुम मुझे ही प्रसन्न करनेके लिये यह तपस्या कर रही हो ।

मन्ये भवान्तरशतोपचितस्य पुण्य-
पृथ्वीरुहः फलमलभ्यमभाग्यभाजाम् ।
यस्या दृगञ्चलविलोकनमात्रमेव
संभावनं तु वचसा वचसामभूमिः ॥ ३६ ॥

अन्वय—[हे गौरि अहं] मन्ये यस्याः दृगञ्चलविलोकनमात्रम् एव अभाग्यभाजाम् अलभ्यम् भवान्तरशतोपचितस्य पुण्यपृथ्वीरुहः फलम् [अस्ति], वचसा संभावनम् तु वचसाम अभूमिः ।

अर्थ—हे गौरि ! मैं समझता हूँ कि जिसका केवल नेत्रके एक कोनेसे वीक्षण भी अभागोंको कभी प्राप्त नहीं होनेवाला और भाग्यवानोंके अनेकों जन्मोंमें उपार्जित किये हुए पुण्यरूपी वृक्षका फल है, फिर बचनामृतसे आदर पाना तो वाणीका ही अगोचर अर्थात् बहुत दूरकी बात है ।

सा त्वं महार्घगुणरत्नसमुद्रवेला
लावण्यसिन्धुरकलङ्ककुलप्रसूतिः ।
सौभाग्यभाग्यविभवादिभवाभिमान-
भूमानमानयसि यं तपसा प्रसादम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—सा त्वम् महार्घगुणरत्नसमुद्रवेला लावण्यसिन्धुः अकलङ्ककुलप्रसूतिः सौभाग्यभाग्यविभवादि-भवाभिमानभूमानम् यम् तपसा प्रसादम् आनयसि [सः कः] ।

अर्थ—वह तुम, अमूल्य गुण-रूपी रत्नोंकी निधि, मनोहरताकी समुद्र और निष्कलङ्क कुल (हिमालयके वंश) में उत्पन्न होकर भी, इस तीव्र तपस्यासे जिस सौभाग्य, भाग्य, महान् ऐश्वर्य आदिके कारण महाभिमानी पुरुषको प्रसन्न कर रही हो, वह कौन है ?

इत्थं विदग्धरसदिग्धकथाक्रमेण
देव्या समं समभिभाषणलोलुभस्य ।
यद्व्याजवर्णितरुणस्य तवाऽवहित्थ-
संरुद्धमप्यतिभरेण समुद्बभूव ॥ ३८ ॥

अन्वय—[हे विभो !] इत्थम् विदग्धरसंदिग्ध-कथाक्रमेण देव्या समम् समभिभाषण-लोलुभस्य व्याजवर्णितरुणस्य तव अवहित्थसंरुद्धम् अपि यत् (विलासहसितम्) अतिभरेण समुद्बभूव, तेन मे तापम्, विषमम् तमः च जहीत्यग्रेण संबन्धः ।

अर्थ—हे विभो ! इस प्रकार अतीव चतुरता-पूर्ण और रसमय प्रियालापसे श्रीपार्वतीजीके साथ संभाषण करनेमें लालायित ब्रह्मचारीका वेष धारण किए हुए आपको अपने असली स्वरूपके गोपनसे रोका हुआ भी, जो विलास-हास्य प्रचुर मात्रामें उत्पन्न हुआ, उस अद्‌भुत अनुपम हास्यसे आप मेरे पाप-तापों और विषम अज्ञान-रूप अन्धकारको शीघ्र नष्ट कर दीजिए ।

रूपं प्रदर्श्य विदधद् गिरि सानुकम्पं
दिव्यं धृतामृतरसं गिरिसानुकम्पम् ।
येन व्यधा मुखमखण्डसितांशु कान्तं
देव्या वपुश्च पुलकोच्छ्वसितांशुकान्तम् ॥ ३९ ॥

स्वामिन्नुदारघनसारतुषारहार-
कह्लारशारदनिशारमणोपमेन ।
तापं तमश्च विषमं जहि मे सहेल-
मुल्लासितेन हसितेन सितेन तेन ॥ ४० ॥

(युगलकम्)

[हे स्वामिन् !] दिव्यम् धृतामृतरसम् गिरि सानुकम्पम् रूपम् प्रदर्श्य, येन हसितेन गिरिसानुकम्पम् विदधत् [त्वम्] देव्याः मुखम् अखण्डसितांशु-कान्तम् व्यधाः, वपुः च पुलकोच्छ्वसितांशुकान्तम् व्यधाः । स्वामिन् ! उदारधनसारतुषारहारकह्लारशारदनिशा-रमणोपमेन सहेलम् उल्लासितेन तेन सितेन हसितेन मे तापम् विषमम् तमः च जहि ।

अर्थ—हे नाथ ! दिव्य अर्थात् लोकोत्तर अमृत रसको धारण करनेवाले और कृपापूर्ण वचनोंसे युक्त अपने यथार्थ दिव्यस्वरूपका दर्शन कराकर, जिस क्रीड़ा-हास्यसे हिमालयके शिखरोंको कम्पित करते हुए आपने श्रीदेवी पार्वतीके मुखको पूर्ण चन्द्रमाके सदृश मनोहर बनाया और उनके शरीरको लोकोत्तर आनन्दसे पुलकित किया, हे प्रभो ! प्रचुर कर्पूर, हिम, मुक्ताहार, श्वेतकमल और शरत्कालीन पूर्णचन्द्रमाके समान स्वच्छ और लीलासे उल्लासित उस अपने शुभ्र हास्यसे मुझ दीनके तीनों तापों और अज्ञानरूप महान् अन्धकारको दूर कीजिए ।

[अब इस स्तोत्रका उपसंहार करते हैं—]

सहस्रचरणं रविं नयनपङ्कजान्तःस्थितं
सहस्रनयनं हरिं चरणपङ्कजान्तःस्थितम् ।

विमृश्य धृतविस्मयां भगवतीमवेक्ष्योद्गतं
प्रभोरभिमताप्तये हसितमस्तु शर्वस्य मे[1] ॥ ४१ ॥

इति काश्मीरकमहाकविश्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ हसितस्तोत्रं विंशम् ॥

अन्वय – सहस्रचरणम् रविम् [प्रभोः] नयनपङ्कजान्तःस्थितम् विमृश्य, सहस्रनयनम् हरिम् (इन्द्रम् च) प्रभोः चरणपङ्कजान्तःस्थितम् विमृश्य, धृतविस्मयाम् भगवतीम् अवेक्ष्य, उद्गतम् प्रभोः शर्वस्य हसितम् मे अभिमताप्तये अस्तु ।

अर्थ—सहस्र चरण (किरण) वाले सूर्यको प्रभुके नेत्र-कमलमें स्थित देख और सहस्रनेत्रवाले इन्द्रको प्रभुके चरण-कमलके समीमें स्थित देख (इस विपरीत व्यवस्था[2]से) आश्चर्यचकित हुई पार्वतीजीको देखकर भगवान् सदाशिवको जो हँसी छूटी, वह अद्भुत अनुपम हँसी मेरे मनोरथोंको परिपूर्ण करे ।

एकविंश स्तोत्र

[यहाँसे कवि भगवान् सदाशिवके 'अर्धनारीश्वर' स्वरूपका वर्णन करते हुए 'अर्धनारीश्वर' नामक इक्कीसवें स्तोत्रका आरम्भ करते हैं—]

वन्देमह्यमलमयूखमौलिरत्नं देवस्य प्रकटितसर्वमङ्गलाख्यम् ।
अन्योन्यं सदृशमहीनकङ्कणाङ्कं देहार्धद्वितयमुमाधरुद्धमूर्तेः ॥ १ ॥

अन्वय—अमलमयूखमौलिरत्नम् प्रकटितसर्वमङ्गलाख्यम् अहीनकङ्कणाङ्कम् अन्योन्यम् सदृशम् उमार्धरुद्धमूर्तेः देवस्य देहार्धद्वितयम् [वयम्] वन्देमहि ।

अर्थ—एक तरफ (दाहिने अर्धभागमें) चन्द्रमुकुटको धारण किये, सम्पूर्ण मङ्गलोंको देनेवाले (शिव) नामसे विराजित और वासुकि आदि सर्पोंका कङ्कण धारण किये तथा दूसरी तरफ (वायें अर्धभागमें) अर्धचन्द्रका मुकुट धारण किये, 'सर्वमङ्गला' नामको प्रकटित करनेवाले और हाथमें बड़े-बड़े रत्नकङ्कणोंको धारण किये हुए [इस प्रकार] परस्पर एक समान, उमार्धसे (पार्वतीरूप अर्धभागसे) अवरुद्ध मूर्तिवाले भगवान् सदाशिवके अर्धनारीश्वर स्वरूपके (दाहिने और वायें) दोनों अर्धभागोंको हम प्रणाम करते हैं ।

---

१ 'वः' इत्यपि पाठः ।

२—क्योंकि प्रभुने सहस्रचरणवाले (सूर्य) को अपने चरणारविन्दमें स्थान देना चाहिए था और सहस्रनेत्रवाले (इन्द्र) को नेत्र-कमलमें रखना चाहिए था; किन्तु वैसा न करके आपने सहस्रचरणवालेको नेत्र-कमलमें और सहस्रनेत्रवालेको चरण-कमलमें स्थान दिया, इस कारण प्रभुकी उस अद्भुत स्वतंत्रताको देखकर पार्वतीजीको आश्चर्य हुआ ।

तद्वन्दे गिरिपतिपुत्रिकार्धमिश्रं
श्रैकण्ठं वपुरपुनर्भवाय यत्र ।
वक्त्रेन्दोर्घटयति खण्डितस्य देव्याः
साधर्म्यं मुकुटगतो मृगाङ्कखण्डः ॥ २ ॥

अन्वय—यत्र (अर्धनारीश्वररूपे) मुकुटगतः मृगाङ्कखण्डः, खण्डितस्य देव्याः वक्त्रेन्दोः साधर्म्यम् घटयति, तत् गिरिपतिपुत्रिकार्धमिश्रम् श्रैकण्ठम् वपुः अपुनर्भवाय [अहम्] वन्दे ।

अर्थ—जिस (अर्धनारीश्वर स्वरूप) के दाहिने—शिवरूप अर्धभागमें मुकुटमें विराजमान हुआ चन्द्रखण्ड बाँयें (देवीरूप) अर्धभागमें पार्वतीके मुखचन्द्रार्धकी समानताको धारण करता है, उस श्रीगिरिजारूप अर्धभागसे संमिश्रित श्रीशङ्करजीके शरीर (अर्धनारीश्वर स्वरूप) को मैं विमुक्तिके लिए प्रणाम करता हूँ ।

एकत्र स्फटिकशिलामलं यदर्धे प्रत्यग्रद्रुतकनकोज्ज्वलं परत्र ।
बालार्कद्युतिभरपिञ्जरैकभागप्रालेयक्षितिधरशृङ्गभङ्गिमेति ॥ ३ ॥

अन्वय—यत् (अर्धनारीश्वररूपम्) एकत्र अर्धे स्फटिकशिलामलम्, परत्र प्रत्यग्रद्रुत-कनकोज्ज्वलम् सत् बालार्कद्युतिभरपिञ्जरैकभागप्रालेयक्षितिधरशृङ्गभङ्गिम् एति ।

अर्थ—जो अर्धनारीश्वर रूप एक ओर (शिवरूप अर्धभागमें) स्फटिकशिलाके तुल्य स्वच्छ है, दूसरी ओर (देवीरूप अर्धभाग में) तुरन्त गलाये गये सुवर्णके समान गौर वर्णवाला होकर ऐसा सुशोभित होता है कि मानो प्रातःकालके सूर्यके दीप्तिपुञ्जसे एक भागमें पीला बना हुआ हिमालयका शिखर हो ।

यत्रैकं चकितकुरङ्गभङ्गि चक्षुः प्रोन्मीलत्कुचकलशोपशोभि वक्षः ।
मध्यं च कृशिमसमेतमुत्तमाङ्गं भृङ्गालीरुचिकचसंचयाञ्चितं च ॥ ४ ॥
साभोगं घननिबिडं नितम्बबिम्बं पादोऽपि स्फुटमणिनूपुराभिरामः ।
आलोक्य क्षणमिति नन्दिनोऽप्यकस्मादाश्चर्यं परमुदभूदभूतपूर्वम् ॥ ५ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—यत्र (देवीरूपार्धभागे) एकम् चक्षुः चकितकुरङ्गभङ्गि [अस्ति], वक्षः प्रोन्मीलत्कुचकलशोपशोभि [अस्ति], मध्यम् च कृशिमसमेतम् [अस्ति], उत्तमाङ्गम् च भृङ्गा-लीरुचिकचसञ्चयाञ्चितम् [अस्ति], साभोगम् घननिबिडं नितम्बबिम्बम् [अस्ति], पादः अपि स्फुटमणिनूपुराभिरामः [अस्ति], इति आलोक्य, नन्दिनः अपि क्षणम् अकस्मात् अभूत-पूर्वम् परम् आश्चर्यम् उदभूत् ।

अर्थ—जिस (अर्धनारीश्वर-स्वरूप) में एक ओर—देवीरूप अर्धभागमें—एक चक्षु चकित हुए मृगका-सा शोभित है, वक्षःस्थल विशाल स्तन-कलशसे विभूषित है, कटिभाग अतिशय कृशतायुक्त और मस्तक काले भ्रमरोंके समान कृष्ण केशोंसे सुशोभित है । एवं नितम्बमण्डल अतीव विशाल और (वाम) चरण

शब्दायमान मणि-नूपुरसे सुमनोहर है; इस प्रकारके अद्भुतरूपको देखकर नन्दीको भी क्षणभर एकाएक अभूतपूर्व परम आश्चर्य हुआ। और—

यत्रार्धं घटयति भूरिभूतिशुभ्रं चन्द्रांशुच्छुरितकुबेरशैलशोभाम् ।
अर्धं च प्रणिहितकुङ्कुमाङ्गरागं पर्यस्तारुणरुचिकाञ्चनाद्रिमुद्राम् ॥ ६ ॥

अन्वय—यत्र भूरिभूतिशुभ्रम् अर्धम् चन्द्रांशुच्छुरितकुबेरशैलशोभाम् घटयति, अर्धं च प्रणिहितकुङ्कुमाङ्गरागम् [सत्] पर्यस्तारुणरुचिकाञ्चनाद्रिमुद्राम् घटयति ।

अर्थ—जिस अद्भुत रूपमें एक (दाहिना) अर्धभाग गाढ़ विभूति (भस्म) से धवल होकर चन्द्रमाकी किरणोंसे व्याप्त हुए कैलास पर्वतकी शोभा धारण करता है और दूसरा (वाम) अर्धभाग कुङ्कुमयुक्त अङ्गरागसे विलिप्त होकर सूर्यकी अरुण कान्तिसे व्याप्त हुए सुवर्ण शैलकी (सुमेरुकी) शोभा धारण करता है ।

यत्कान्तिं दधदपि काञ्चनाभिरामां प्रोन्मीलद्भुजगशुभाङ्गदोपगूढम् ।
बिभ्राणं मुकुटमुपोढचारुचन्द्रं सन्धत्ते सपदि परस्परोपमानम् ॥ ७ ॥

अन्वय—यत् काञ्चन अभिरामाम् कान्तिम् दधत् अपि प्रोन्मीलद्भुजगशुभाङ्गदोपगूढम्, उपोढचारुचन्द्रम् मुकुटम् बिभ्राणम् [सत्] सपदि परस्परोपमानम् सन्धत्ते ।

अर्थ—जिस अद्भुत स्वरूपमें—शिवरूप दक्षिण अर्धभाग अनिर्वाच्य शोभा धारण करता हुआ भी वासुकि आदि सर्प-रूपी सुन्दर केयूरोंसे परिवेष्टित और सुमनोहर चन्द्रमण्डित मुकुट धारण करता है एवं देवी-रूप अर्धभाग काञ्चन (सुवर्ण) के समान अभिराम कान्ति धारण करता हुआ भी हाथोंमें देदीप्यमान सुन्दर केयूरोंसे परिवेष्टित और अतीव मनोहर कर्पूरसे उज्ज्वलित मुकुट धारण करता है। इस प्रकार दोनों अर्धभाग शब्दश्लेषवश एक दूसरेके उपमान बनते हैं।

आश्चर्यं तव दयिते हितं विधातुं
प्रागल्भ्यं किमपि भवोपतापभाजाम् ।
अन्योन्यं गतमिति वाक्यमेकवक्त्र-
प्रोद्भिन्नं घटयति यत्र सामरस्यम् ॥ ८ ॥

अन्वय—यत्र 'दयिते ! भवोपतापभाजाम् हितम् विधातुम् तव किमपि प्रागल्भ्यम् आश्चर्यम् ।' 'दयित ! भवोपतापभाजाम् ईहितम् विधातुम् तव किमपि प्रागल्भ्यम् (आश्चर्यम्) इति (समवेतयोः शिवयोः) एकवक्त्रप्रोद्भिन्नम् वाक्यम् अन्योन्यम् गतं (सत्) सामरस्यम् घटयति ।

अर्थ—जिस अद्भुत रूपमें (भगवान्का पार्वतीजीके प्रति) 'हे प्रियतमे ! सांसारिक पापतापोंसे सन्तप्त जीवोंका कल्याण करनेके लिए तुमने अद्भुत लोकोत्तर प्रगल्भता धारण की है एवं (श्रीभवानीजीका शंकरजीके प्रति) 'हे प्रियतम ! यह बड़ा ही आश्चर्य है कि भव-भय पीड़ित आर्तजनोंके अभिलषित मनोरथोंको पूर्ण

करनेके लिए आपने एक विलक्षण प्रगल्भता धारण की है।' इस प्रकार परस्पर अभिन्न भावसे मिले हुए शिव और शिवाका एक ही मुखसे निकला हुआ एक ही वाक्य परस्पर में अन्वित होकर एक दूसरेकी समरसता सिद्ध करता है।

प्रत्यङ्गं घनपरिरम्भतः प्रकम्पं
वामार्धं भुजगभयादिवैति यत्र।
यत्रापि स्फुटपुलकं चकास्ति शीत-
स्वःसिन्धुस्नपिततयेव दक्षिणार्धम् ॥ ९ ॥

अन्वय—यत्र वामार्धम् घनपरिरम्भतः भुजगभयात् इव प्रत्यङ्गम् प्रकम्पम् एति, तथा यत्र दक्षिणार्धम् अपि घनपरिरम्भतः शीतस्वःसिन्धुस्नपिततया इव स्फुटपुलकम् चकास्ति।

अर्थ—जिस अद्भुत शरीरमें वामअङ्ग दक्षिणाङ्ग द्वारा किये गये गाढ़-आलिङ्गनसे, सर्पोंके भयसे मानो प्रत्यङ्गमें कम्प (सात्त्विक भाव) को प्राप्त होता है और दक्षिण अङ्ग वामाङ्ग द्वारा किये गये आलिङ्गनसे, शीतल मन्दाकिनीके स्नानसे मानो खूब रोमाञ्चित हुआ प्रतीत होता है।

एकत्र स्फुरति भुजङ्गभोगभङ्गि-
र्नीलेन्दीवरदलमालिका परत्र।
एकत्र प्रथयति भस्मनोऽङ्गरागः
शुभ्रत्वं मलयजरञ्जनं परत्र ॥ १० ॥
एकत्राऽर्पयति विषं गलस्य कार्ष्ण्यं
कस्तूरीकृतमपि पुण्ड्रकं परत्र।
एकत्र द्युतिरमलास्थिमालिकाना-
मन्यत्र प्रसरति[1] मौक्तिकावलीनाम् ॥ ११ ॥
एकत्र स्रुतरुधिरा करीन्द्रकृत्तिः
कौसुम्भं वसनमनश्वरं परत्र।
इत्यादीन्यपि हि परस्परं विरुद्धा-
न्येकत्वं[2] दधति विचित्रधाम्नि यत्र ॥ १२ ॥
(तिलकम्)

अन्वय—यत्र एकत्र भुजङ्गभोगभङ्गिः स्फुरति, परत्र नीलेन्दीवरदलमालिका स्फुरति, एकत्र भस्मनः अङ्गरागः शुभ्रत्वम् प्रथयति, परत्र [च] मलयजरञ्जनम् शुभ्रत्वम् प्रथयति, एकत्र विषम् गलस्य कार्ष्ण्यम् अर्पयति, परत्र अपि कस्तूरीकृतम् पुण्ड्रकम् गलस्य कार्ष्ण्यम् अर्पयति, एकत्र अस्थिमालिकानाम् अमला द्युतिः प्रसरति; अन्यत्र मौक्तिकावलीनां द्युतिः

1. 'प्रथयति' इति पाठः। 2. 'ऐकध्यं' इति पाठः।

एकत्र स्रुतरुधिरा करीन्द्रकृत्तिः वसनम्, परत्र अनश्वरम् कौसुम्भम् वसनम्, इत्यादीनि परस्परम् विरुद्धानि अपि यत्र विचित्रधाम्नि एकत्वम् दधति [तद् वयम् वन्देमहि]।

अर्थ—जिस शरीरमें एक ओर अर्थात् दाहिने अर्धभागमें वासुकि आदि भुजङ्गोंके शरीरोंकी छटा छिटकती है और वाम अङ्गमें नीलकमलोंकी माला शोभित होती है तथा एक ओर (शिवरूप अर्धभागमें) भस्मका अङ्गलेप शुभ्रताको बढ़ाता है और दूसरी ओर अर्थात् पार्वतीरूप अर्धभागमें मलयचन्दनका लेप शुभ्रता बढ़ाता है। एक ओर (दक्षिण अङ्गमें) कालकूट विष कण्ठमें कालिमा अर्पित करता है, दूसरी ओर कस्तूरीका तिलक कण्ठको कृष्ण करता है, एक तरफ अस्थि-मालाओंकी स्वच्छ कान्ति फैलती है और दूसरी तरफ मुक्तावलियोंकी स्वच्छ शोभा फैलती है। एवं एक ओर (शिवरूप अर्धभागमें) रक्तस्रावी गजचर्मरूपी वस्त्र है और दूसरी ओर (श्रीपार्वतीरूप अर्धभागमें) कुसुम्भ (लाल रङ्ग) में रँगा हुआ अक्षय-साड़ीरूप वस्त्र है। यों परस्पर, एक दूसरेकी अपेक्षा विरुद्ध वस्तुएँ भी जिस अद्भुत अर्धनारीश्वर रूपमें एकताको धारण करती हैं [उसे हम प्रणाम करते हैं]।

दन्तानां सितिमनि कज्जलप्रयुक्ते
मालिन्येऽप्यलिकविलोचनस्य यत्र।
रक्तत्वे करचरणाधरस्य चान्यो
नान्योन्यं समजनि नूतनो विशेषः॥ १३॥

अन्वय—यत्र दन्तानाम् सितिमनि अलिकविलोचनस्य कज्जलप्रयुक्ते मालिन्ये अपि, करचरणाधरस्य रक्तत्वे च अन्योन्यम् नूतनः अन्यः विशेषः न समजनि।

अर्थ—जिस अद्भुत रूपमें दाहिने और बाँयें दोनों अर्ध-भागोंमें दन्तोंकी स्वच्छतामें परस्पर कोई नवीन विशेषता (अन्तर) नहीं हुई, क्योंकि दोनों अर्ध-भागोंके दांत श्वेततायुक्त हैं। दोनों भागोंके ललाटस्थ नेत्रकी कालिमामें भी कोई नवीन विशेषता नहीं हुई, क्योंकि दाहिने भागके भालनेत्रमें अग्निजन्य धूम और बाँयें भागके भालनेत्रमें कज्जलकी कालिमा विद्यमान है, अतः परस्पर कोई विशेषता नहीं हुई। एवं दोनों भागोंके हस्त, चरण और अधरकी लालिमामें भी परस्पर कोई नूतन विलक्षणता प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि दोनों समानरूपसे रक्त हैं [प्रभुके उस अर्धनारीश्वर रूप अद्भुत वेषको मैं प्रणाम करता हूँ]।

[ऐसे अद्भुत 'अर्धनारीश्वर' रूपके प्रथम-प्रथम दर्शनसे नन्दी, महाकाल आदि शिव-गणोंने जो-जो वितर्क किये, उनका वर्णन करते हुए कवि कहते हैं—]

कण्ठस्य भ्रमरनिभा विभार्धभागं
मुक्त्वा किं स्थितिमकरोच्छिरोरुहार्धे।
अर्धं वा कनकसदृग्रुचिः कचानां
सन्त्यज्य न्यविशत किं गलैकदेशे॥ १४॥

सौवर्णः करकमले यथैव वामे
सव्येऽपि ध्रुवमभवत्तथैव कुम्भः ।
क्रीडैकप्रसृतमतिर्विभुर्बिभर्ति
स्वाच्छन्द्यादुरसि तमेव नूनमेनम् ॥ १५ ॥

यत्रासीज्जगदखिलं युगावसाने
पूर्णत्वं यदुचितमत्र मध्यभागे ।
संरम्भाद् गलितमदस्तदेव नूनं
विश्रान्तं घनकठिने नितम्बबिम्बे ॥ १६ ॥

इत्यादीन्प्रविदधुरेव यत्र ताव-
त्संकल्पान्प्रथमसमागमे गणेन्द्राः ।
यावत्स प्रणतिविधौ पदारविन्दं
भृङ्गीशः परिहरति स्म नाऽम्बिकायाः ॥ १७ ॥

(चक्कलकम्)

अन्वय—कण्ठस्य भ्रमरनिभा विभा अर्धभागम् मुक्त्वा शिरोरुहार्धे स्थितिम् अकरोत् किम् ? कचानाम् (कपर्दरूपाणाम्) कनकसदृगुरुचिः अर्धम् सन्त्यज्य किं गलैकदेशे न्यविशत ? यथैव वामे करकमले सौवर्णः कुम्भः [अस्ति], ध्रुवम् तथैव सव्ये अपि सौवर्णः कुम्भः अभवत् ; नूनम् तम् एव एनम् (कुम्भम्) क्रीडैकप्रसृतमतिः विभुः स्वाच्छन्द्यात् उरसि बिभर्त्ति ? यत्र युगावसाने अखिलम् जगत् आसीत् , अत्र मध्यभागे यत् पूर्णत्वम् उचितम् । तदेव अदः (पूर्णत्वम्) संरम्भात् गलितम् सत् घनकठिने नितम्बबिम्बे विश्रान्तम् ? यत्र इत्यादीन् सङ्कल्पान् गणेन्द्राः प्रथमसमागम एव तावत् प्रविदधुः यावत् सः भृङ्गीशः प्रणतिविधौ अम्बिकायाः पदारविन्दम् न परिहरति स्म ।

अर्थ—जिस अर्धनारीश्वर रूपके विषयमें 'अहो ! कण्ठकी भ्रमरतुल्य कृष्ण शोभा कण्ठके अर्धभागको छोड़कर 'वामार्ध' के शिरःकेशोंमें चली गई है क्या ? जटाओंकी सुवर्ण सदृश कान्ति दक्षिण अर्धभागको छोड़कर कण्ठके वामार्धमें प्रविष्ट हो गई है क्या ? जैसे बाँयें कर-कमलमें सुवर्णका कलश है, वैसे ही दाहिने कर-कमलमें भी सुवर्णका कलश था, मालूम होता है कि उस सुवर्ण कलशको क्रीड़ामें अति अनुराग रखनेवाले प्रभुने स्वातन्त्र्यवश अपने वक्षःस्थल (हृदय) में धारण कर लिया है ? अहा, कल्पान्त समयमें भगवान्के जिस मध्यभाग (उदर) में यह सारा जगत् लीन हुआ था, उस (मध्यभाग) में जो पूर्णता (स्थूलता) होनो चाहिए थी, वह पूर्णता भगवान्के नाट्य-वेगसे मध्यभागसे खिसककर (बाँयें) कठिन नितम्ब-बिम्बमें स्थित हो गई है क्या ?' इत्यादि बहुविध वितर्क नन्दी आदि शिवगणोंने

प्रथम दर्शनमें ही तब तक किये, जब तक कि उस भृङ्गीशने प्रणाम करते समय श्रीजगदम्बिकाके पादारविन्दको प्रणामसे प्रसन्न नहीं किया।*

किमयं शिवः किमु शिवाऽथ शिवा-
विति यत्र वन्दनविधौ भवति।
अविभाव्यमेव वचनं विदुषा-
मविभाव्यमेव वचनं विदुषाम्॥ १८॥

अन्वय—यत्र वन्दनविधौ अयम् किम् शिवः ? किमु शिवा ? अथ किम् शिवौ इति वचनं विदुषाम् अविभाव्यम् एव भवति। अतः अत्र वचनम् विदुषाम् अविभाव्यम् एव।

अर्थ—जिस अद्भुत अर्धनारीश्वर रूपके विषयमें प्रणाम करते समय "यह शिव हैं ? अथवा शिवा (पार्वती) हैं ? या 'शिव और शिवा' दोनों हैं ?" यह कथन बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओंका अविभाव्य, दुर्विज्ञेय, ही है। अतः (एकत्व द्वित्व अथवा पुंस्त्व और स्त्रीत्व विषयक रहस्य) अविभाव्य—विद्वज्जनोंसे भी दुर्विज्ञेय है। अथवा अविभाव्य अ = भगवान् श्रीविष्णु द्वारा वि = विशेष भावना द्वारा भाव्य (जानने योग्य) है, अर्थात् भगवान् विष्णु ही इसका रहस्य जान सकते हैं।

एकः स्तनः समुचितोन्नतिरेकमक्षि
लक्ष्याञ्जनं तनुरपि कृशिमान्वितेति।
लिङ्गैस्त्रिभिर्व्यवसिते सविभक्तिकेऽपि
यत्राव्ययत्वमविखण्डितमेव भाति॥ १९॥

अन्वय—यत्र एकः स्तनः समुचितोन्नतिः, एकम् अक्षि लक्ष्याञ्जनम्, तनुः अपि कृशिमान्विता इति त्रिभिः लिङ्गैः व्यवसिते अपि सविभक्तिके अव्ययत्वम् अविखण्डितम् एव भाति।

अर्थ—जिस अद्भुत अर्धनारीश्वर रूपमें एक स्तन (वामार्धस्थ) परम उन्नतिको प्राप्त है, एक नेत्र (बाँयाँ नेत्र) कज्जल-युक्त है एवं तनु (वामाङ्ग) कृशतायुक्त है। इस प्रकार इन तीन लिङ्गों (चिह्नों) से विशेष बनावटके सुनिश्चित होने पर भी इसकी अव्ययता (अविनाशिता) सदैव अखण्डित ही बनी रहती है।[1]

---

* भृङ्गरिटि नामक प्रमथने भगवान्के वामाङ्गमें स्थित गिरिजाको प्रणाम नहीं किया, किन्तु केवल भगवान्को ही प्रणाम किया। तब जगदम्बिकाने कुपित होकर उसे शाप दिया, "मैं जगन्माता हूँ, तुम मेरे सम्बन्धी रक्त, मांसादिको त्याग दो।" उसने उनके शापको सुनकर अपने शरीरके रक्त, मांसको त्याग दिया। फिर भगवान् शङ्करने अमृतका अभिषेक करके उसको—'तू केवल अस्थिशेष ही रहकर सदा अमर रह।' ऐसा वरदान देकर अनुगृहीत किया। यह पौराणिक कथा है।

१ यहाँ कविने इस अद्भुत वेषकी महिमाका वर्णन करते हुए इस भावको श्लेष-मूलक ध्वनिमें विरोधाभासका पुट देकर और भी अधिक चमत्कृत कर दिया है। वह

यत्र ध्रुवं हृदय एव यदैक्यमासी-
द्वाक्काययोरपि पुनः पतितं तदेव।
यस्मात्सतां हृदि यदेव तदेव वाचि
यच्चैव वाचि करणेऽप्युचितं तदेव ॥ २० ॥

कान्ते शिवे त्वयि विरूढमिदं मनश्च
मूर्तिश्च मे हृदयसंमददायिनीति।
अन्योन्यमभ्यभिहितं वितनोति यत्र
साधारणस्मितमनोरमतां मुखस्य ॥ २१ ॥

उद्यन्निरुत्तरपरस्परसामरस्य-
संभावनव्यसनिनोरनवद्यहृद्यम् ।
अद्वैतमुत्तमचमत्कृतिसाधनं त-
द्युष्माकमस्तु शिवयोः शिवयोजनाय ॥ २२ ॥
(तिलकम्)

अन्वय—ध्रुवम्, यत्र (द्वयोः शिवयोः) हृदये एव यत् ऐक्यम् आसीत्, पुनः तदेव (ऐक्यम्) वाक्काययोः अपि पतितम्। यस्मात् सताम् यदेव हृदि [भवति] तदेव (तेषाम्) वाचि, यच्चैव वाचि तदेव करणे अपि उचितम्। यत्र 'हे कान्ते ! हे शिवे !! त्वयि विरूढम् इदम् मम मनः त्वयि विरूढा इयम् मम मूर्तिः च मे हृदयसंमददायिनी, इति तथा—'त्वयि कान्ते शिवे विरूढं मम मनः मूर्तिः च मे हृदयसंमददायिनी' इति च अन्योन्यम् अभि अभिहितम् मुखस्य साधारणस्मितमनोरमताम् वितनोति। तत् उद्यन्निरुत्तरपरस्पर-सामरस्यसंभावनव्यसनिनोः शिवयोः अनवद्यहृद्यम् उत्तमचमत्कृतिसाधनम् अद्वैतम् (अर्ध-नारीश्वरत्वं) युष्माकम् शिवयोजनाय अस्तु।

अर्थ—जिस अद्भुत अर्धनारीश्वर रूपमें दोनों शिवों (अर्थात् शिव और शिवा) के हृदयमें जो ऐक्य था, वही ऐक्य फिर उनके वाक्य और शरीरमें भी आ गया (अर्थात् जैसे उनके हृदय अभिन्न थे, वैसे ही वचन और शरीर भी अभिन्न हो गये), क्योंकि सज्जनोंके हृदयमें जो भाव होता है, वही भाव उनके वचनमें भी होना चाहिये और जो भाव वचनमें होता है, वही उनके शरीर अथवा कार्यमें भी होना उचित है, यानी सत्पुरुषोंके हृदय, वचन और कार्य इन सबमें एकता रहती है।

कहता है, जहाँ अत्युन्नत एक स्तन (पुँल्लिङ्ग) है। अञ्जनयुक्त एक अक्षि (नपुंसक) है और कृशतायुक्त तनु (स्त्रीलिङ्ग) है। इस प्रकार पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक इन तीनों लिङ्गोंसे प्रथमा आदि सात विभक्तियोंका सुनिश्चित साहित्य होनेपर भी जहाँ सदैव अव्ययत्व बना ही रहता है। कितना हृदयग्राही भाव है !

जिस रूपमें (भगवान्‌का देवीके प्रति) "हे कान्ते ! हे शिवे !! तुममें लगा हुआ यह मेरा मन और शरीर दोनों मेरे हृदयमें अतिशय आनन्द चमत्कार उत्पन्न करते हैं ।" और (देवीका श्रीभगवान्‌के प्रति) "हे प्रियतम सदाशिव ! आपमें लगा हुआ यह मेरा मन और शरीर मुझे परम आनन्दित करते हैं" इस प्रकारके ईषद्-हास्य-पूर्वक परस्पर एक दूसरेको कहे हुए वचन मुखके सहज स्मितकी सुमनोहरताका विस्तार करते हैं । इस तरह परस्पर एक दूसरेकी निरुत्तरता सम्पादन कर देनेमें अत्यन्त पारङ्गत शिव और शिवाका वह निर्दोष, परममनोहर उत्तमोत्तम चमत्कारकारी अर्धनारीश्वररूप अद्वैत आप लोगोंके कैवल्यसम्पादनके लिए हो ।

लक्ष्याण्यलक्ष्याण्यपरत्र यत्र विलक्षणान्येव हि लक्षणानि ।
साहित्यमत्यद्भुतमीशयोस्तन्न कस्य रोमाञ्चमुदञ्चयेत ॥ २३ ॥

अन्वय—हि यत्र अपरत्र (भगवत्पार्श्वे) अलक्ष्याणि लक्षणानि विलक्षणानि एव लक्ष्याणि, तत शिवयोः अत्यद्भुतम् साहित्यम् कस्य रोमाञ्चम् न उदञ्चयेत ?

अर्थ—अहा, जिस अद्भुत स्वरूपमें दक्षिण भागमें अलक्षित (अदृश्य) स्तन, केश आदि लक्षण वाम भागमें विलक्षण ही ढङ्गके लक्षित होते हैं । वह 'शिव और पार्वतीजीका' अति अद्भुत अद्वैत—साहित्य (अर्धनारीश्वररूप) किस सचेतनको रोमाञ्चित नहीं कर देगा ?

जूटाहेर्मुकुटेन्द्रनीलरुचिभिः श्यामं दधत्यूर्ध्वगं
भागं वह्निशिखापिशङ्गमधरं[1] मध्ये सुधाच्छच्छविः ।
धत्ते शक्रधनुःश्रियं [2]प्रतिमिता यत्रेन्दुलेखानृजु-
र्युष्माकं स पयोधरो भगवतोर्हर्षामृतं वर्षतु ॥ २४ ॥

इति श्रीकाश्मीकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'अर्धनारीश्वर' स्तोत्रमेकविंशम् ।

अन्वय—जूटाहेः मुकुटेन्द्रनीलरुचिभिः ऊर्ध्वगम् भागम् श्यामम् दधती, अधरम् भागम् वह्निशिखापिशङ्गम् दधती, मध्ये सुधाच्छच्छविः अनृजुः इन्दुलेखा, यत्र प्रतिमिता सती शक्रधनुः श्रियम् धत्ते, सः भगवतोः पयोधरः युष्माकम् हर्षामृतम् वर्षतु ।

अर्थ—अपने ऊर्ध्वभागको जटाजूटपर विराजमान वासुकिके मस्तककी इन्द्रनील मणियोंकी कान्तियोंसे श्यामल करती हुई, अधोभागको भालनेत्रकी वह्निज्वालाओंसे पीला बनाती हुई और मध्यमें स्वयं सुधाके समान स्वच्छ छविवाली कुटिल चन्द्रकला जिसमें प्रतिबिम्बित होकर इन्द्रधनुषकीसी (चित्र-विचित्र) शोभा धारण करती है, वह पार्वती और परमेश्वरका दिव्य पयोधर (स्तनरूप मेघ) आप लोगोंके लिए परमानन्दरूप अमृतकी वृष्टि करे ।

---

१. अपरं, इत्यपि पाठः । २. प्रतिमितो यत्रेन्दुलेखाङ्कुरः, इत्यपि पाठः ।

द्वाविंशं स्तोत्रम्

अब कवि 'कादिपदबन्धन' नामक चित्रकाव्य द्वारा बाईसवें स्तोत्रको आरम्भ करते हुए कहते हैं—

काव्यकौशलकलासु कोविदैः कीर्तितः कविकुलैः कुतूहलात् ।
कौमुदीकुमुदकान्तकीर्तिभिः कामितः कुशलकार्यकारिभिः ॥ १ ॥

केरलीकचकलिन्दकन्यकाकूलकालियकडारकन्धरः ।
किल्बिषक्षपणकारणक्रतुक्रान्तिकृत्करटिकृत्तिकर्पटः ॥ २ ॥

केकिकेतनकृशानुकौशिकैः किन्नरैः कविकुबेरकेशवैः ।
कालकूटकवलक्रियाक्रमे क्रन्दितः कलुषकर्षणक्षमः ॥ ३ ॥

कर्णकीलितकपालकुण्डलः कुण्ठितक्रकचकल्पकल्मषः ।
कालकामकदनः[1] कुमुद्वतीकान्तकर्बुरकपर्दकन्दरः[2] ॥ ४ ॥

कापिशायनकषायकामिनीकेलिकूजितकलेन कौतुकात् ।
क्रीडितः क्वणितकीचकक्वणत्कोकिलाकलकलेन कानने ॥ ५ ॥

कुन्दकुड्मलकदम्बकेतकीकाञ्चनारकलिकाकदम्बकैः ।
कर्णिकारकरवीरकोरकैः कैरवैः कुवलयैः कुशेशयैः ॥ ६ ॥

किंशुकैः कपिकपोलकान्तिभिः केसरैः कमलकोपकोमलैः ।
कोविदारकुटजैः कठोरकैः केवलैः कचितकीर्णकुन्तलः ॥ ७ ॥
(युग्मम्)

कृष्णकुण्डलिकठोरकञ्चुकैः क्लृप्तकुञ्जकमनीयकङ्कणः ।
क्रोधकृत्तकरिकुम्भकोटरक्रूरकेसरिकिशोरकण्टकः ॥ ८ ॥

कान्तया कनककाञ्चिकिङ्किणीकान्तया कलितकण्ठकन्दलः ।
कोपयन्कपटतः किरीटिनं क्रीडया कृतकिरातकैतवः ॥ ९ ॥

काककङ्ककुररैः कलङ्किते कश्मले कठिनकृत्यकारिते ।
कांक्षितः क्षतकलेवरैः कटुं कर्षयन्करुणया कदर्थनाम् ॥ १० ॥

कोपकर्कशकृतान्तकिङ्करक्लेशकातरकृपाकृतौ कृती ।
कल्पतां कलिकलङ्ककन्दलीकन्दकर्त्तनकुठारकर्मणे ॥ ११ ॥
(एकादशभिः कुलकम्)

---

१. दहनः, इत्यपि पाठः । २. कर्परः इत्यपि पाठः ।

अन्वय—काव्यकौशलकलासु कोविदैः कविकुलैः कुतूहलात् कीर्तितः, कौमुदीकुमुदकान्तकीर्तिभिः कुशलकार्यकारिभिः कामितः, केरलीकचकलिन्दकन्यकाकूलकालियकडारकन्धरः, किल्बिषक्षपणकारणक्रतुक्लान्तिकृत्, करटिकृत्तिकर्पटः, कालकूटकवलक्रियाक्रमे केकिकेतनकृशानुकौशिकैः किंनरैः कविकुबेरकेशवैः क्रन्दितः, कलुषकर्षणक्षमः कर्णकीलितकपालकुण्डलः, कुण्ठितक्रकचकल्पकल्मषः, कालकामकदनः, कुमुद्वतीकान्तकर्बुरकपर्दकन्दरः, कानने कापिशायनकषायकामिनीकेलिकूजितकलेन क्वणितकीचकक्वणत्कोकिलाकलकलेन च कौतुकात् क्रीडितः, कुन्दकुड्मलकदम्बकेतकीकाञ्चनारकलिकाकदम्बकैः कर्णिकारकरबीरकोरकैः कैरवैः कुवलयैः कुशेशयैः, कपिकपोलकान्तिभिः किंशुकैः, कमलकोषकोमलैः केसरैः कोविदारकुटजैः कणेरकैः केवलैः कचितकीर्णकुन्तलः, कृष्णकुण्डलिकठोरकञ्चुकैः कल्पतकुञ्जकमनीयकङ्कणः क्रोधकृत्तकरिकुम्भकोटरक्रूरकेसरिकिशोरकण्टकः, कनककाञ्चिकिङ्किणीकान्तया कान्तया (गिरिजया) कलितकण्ठकन्दलः, क्रीडया कृतकिरातकैतवः, कपटतः किरीटिनम् (अर्जुनम्) कोपयन् काककङ्ककुररैः कलङ्किते कठिनकृत्यकारिते कश्मले क्षतकलेवरैः (शरणम्) काङ्क्षितः (तेषामेव) कष्टम् कदर्थनाम् करुणया कर्षयन्, कोपकर्कशकृतान्तकिङ्करक्लेशकातरकृपाकृतौ कृती (महेश्वरः) कलिकलङ्ककन्दलीकन्दकर्तनकुठारकर्मणे कल्पताम् ।

अर्थ—काव्य-कौशल और कलाओंमें प्रवीण सत्कवियों द्वारा बड़े कौतूहलसे वर्णित, कौमुदी (चन्द्र-कान्ति) और कुमुद (श्वेत कमल) के समान मनोहर कीर्तिवाले कुशल-कार्यकारियों (पुण्यात्माओं) से अभिलषित, केरलदेशीय अङ्गनाओंके केशपाश एवं कालिन्दी (यमुना) के कूलमें रहनेवाले कालियनागके समान पिङ्गल ग्रीवावाला, पातक उपपातक और महापातकरूप पापोंको दूर करनेवाले यज्ञमृगका शिरच्छेदन करनेवाला, गजचर्मरूप उत्तरीय वस्त्रको धारण करनेवाला, कालकूटकी कवलक्रिया (ग्रास) करते समय स्वामी कार्तिकेय, अग्नि, इन्द्र, किन्नरगण, शुक्राचार्य, कुबेर और भगवान् विष्णुके द्वारा प्रार्थित, त्रिविध पापोंको दूर करनेमें अति प्रवीण, कर्णोंमें कपालरूपी कुण्डल धारण करनेवाला, क्रकच (आरे) के सदृश भयङ्कर कल्मषको कुण्ठित कर देनेवाला, काल और कामदेवको दण्ड देनेवाला, चन्द्रमाकी कान्तिसे कर्बुर जटाजूटकी कन्दरा वाला, आसवके पानसे सुमनोहर कामिनीके केलिकूजितके तुल्य सुमधुर शब्दायमान वेणु-वृक्षोंपर बैठे कोकिलोंके कल-कल रवसे वनमें कौतूहलसे हर्षित हुआ, कुन्दकली, कदम्ब, केतकी और कचनार-कलिकाओंके कदम्बों और कर्णिकार, करवीरके कोरकों एवं कैरव (श्वेत कमलों) कुवलय (नील-कमल) और रक्तोत्पलों तथा कपियोंके कपोलोंके समान कान्तिवाले किंशुक, कमल-कोशके समान सुकोमल कमल एवं कोविदार कुटज और कणेरकके मनोहर पुष्पोंसे सुशोभित बिखरे केशोंवाला, काले सर्पोंके कठोर कंचुकोंका कमनीय कंकण धारण करनेवाला, क्रोधवश हाथियोंके गण्डस्थलोंको विदीर्ण करनेवाले अति क्रूर सिंह-शावकोंका वध करनेवाला, सुवर्णकी काञ्चीपर गुँथी हुई किंकिणियोंसे सुशोभित हुई कान्ता—श्रीगिरिजाके कर-कमलोंसे कण्ठतटमें आलिङ्गित, क्रीड़ासे (अर्जुनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए मल्ल—किरात—वेष धारण कर छलसे) अर्जुनको कुपित करनेवाला, लोहके समान कठोर चंचुवाले काक, कङ्क और कुरर पक्षियोंसे मलिन और अगम्या-

गमन आदि महापातकोंसे उत्पन्न अति सङ्कटमय नरकमें वहाँके क्रूर पक्षियों द्वारा क्षत-विक्षत किये जाते जीवोंद्वारा शरणार्थ प्रार्थित किया जाता हुआ, उन दीन जीवोंकी अति दुःसह पीड़ा दूर करता हुआ एवं कोपसे कठोर यमदूतोंके भयसे त्रस्त हुए प्राणियोंपर निष्कारण दया करनेमें अतीव प्रवीण वह भगवान् सदाशिव इस कलिकालमें उत्पन्न होनेवाली कलङ्करूपी कदलीका कुठारके समान मूलोच्छेदन करें।

कल्लोलिनीकुटिलकैरविणीकुटुम्ब-
कङ्कालकल्पितकरालकिरीटकोटिः।
कात्यायनीकरकरम्बितकीर्यमाण-
कर्पूरकुङ्कुमकणः [1]करुणां करोतु ॥ १२ ॥

इति काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य
स्तुतिकुसुमाञ्जलौ 'कादिपदबन्धस्तोत्रम् सम्पूर्णम्

अन्वय—कल्लोलिनीकुटिलकैरविणीकुटुम्बकङ्कालकल्पितकरालकिरीटकोटिः, कात्यायनीकरकरम्बितकीर्यमाणकर्पूरकुंकुमकणः करुणाम् करोतु।

अर्थ—मन्दाकिनी, कुटिल चन्द्रमा और (महाप्रलय में संहरण किये ब्रह्मादिकों के) शिरःकपालोंका विकराल मुकुट धारण करनेवाला एवं कात्यायनी के कर-कमलोंसे विकीर्यमाण कर्पूर और कुंकुमके कणोंसे सुशोभित परमेश्वर हमारे प्रति करुणा करे।

त्रयोविंशं स्तोत्रम्

अब 'शृङ्खलाबन्ध' नामक चित्र-काव्य द्वारा तेईसवें स्तोत्रका आरम्भ करते हैं—

जगति विबोधितविधुरं विधुरञ्जितचारुशेखरं गिरिशम्।
गिरि शंसामि ससाध्वससाध्वसमानन्ददानपरम् ॥ १ ॥

अन्वय—जगति विबोधितविधुरम् विधुरञ्जितचारुशेखरम् ससाध्वससाध्वसमानन्ददानपरम् गिरिशम् [अहम्] गिरि शंसामि।

अर्थ—संसारमें भयभीत अनाथजनोंको परम आनन्द देकर हर्षित कर देनेवाले, चन्द्रकलासे सुशोभित मस्तकवाले एवं जन्ममरणके चक्रसे त्रस्त हुए सज्जनोंको अतिशय अलौकिक आनन्द प्रदान करनेमें परायण भगवान् श्रीकैलासनिवासी प्रभुकी मैं वाणीरूपमें वन्दना करता हूँ।

न परं शरणं प्रभवति भवति कृतावज्ञमानसे महताम्।
महतां भजति हि सहसा सहसा तव भारती मधुरा ॥ २ ॥

१. 'कमलां' इत्यपि पाठः।

अन्वय—भवति कृतावज्ञमानसे महताम् परम् शरणम् न प्रभवति, हि सहसा सहसा (बलेन) मधुरा तव भारती महताम् (महस्य भावः, ताम्) भजति ।

अर्थ—हे भगवन् ! आपके विमुख हो जानेपर सज्जन लोगोंके लिए अन्य कोई शरण ही नहीं है; क्योंकि आपकी अभय और सुमधुर वाणी ही उनको महत्त्व प्रदान करती है ।

मधुरागारुणनयना नयनाशविधौ पटीयसी प्रमदा ।
प्रमदार्पणार्थमुदिते मुदिते त्वयि सा तृणं भजताम् ॥ ३ ॥

अन्वय—[हे विभो !] प्रमदार्पणार्थम् उदिते त्वयि मुदिते सति, मधुरागारुणनयना, नयनाशविधौ पटीयसी [अपि] सा प्रमदा भजताम् तृणम् भवति ।

अर्थ—हे प्रभो ! कैवल्य (मोक्ष) रूप परम आनन्द देनेके लिए उद्यत हुए आपके सन्तुष्ट होने पर, सुमधुर राग और अरुण नेत्रोंवाली एवं नीतिमर्यादाका नाश करनेमें अति चतुर वह कामिनी आपके भक्तजनोंके लिए शुष्क तृणके समान नगण्य होती है ।

भजतां सरसाममलां मम लाञ्छितशेखरेन्दुना करुणाम् ।
करुणां गिरं नवतया बत याऽर्पयति तव श्रयताम् ॥ ४ ॥

अन्वय—इन्दुना लाञ्छितशेखर ! त्वम् मम (हेतोः) ताम् सरसाम् अमलाम् करुणाम् भज, बत ! तव या श्रयताम् करुणाम् गिरम् नवतया अर्पयति ।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! आप मेरे उद्धारके लिए अपनी उस सरस और निर्मल करुणाका समाश्रयण कीजिए, जो कि आपके सेवकोंकी करुण (अत्यन्त दीन अर्थात् कृश) वाणीको भी नवीन बना देती है ।

श्रयतां नवनविधौ तव धौतवती गीरघं रतिं चतुरम् ।
चतुरन्तमहीपतिता पतिता हेयत्व एव यत्र सताम् ॥ ५ ॥

अन्वय—[अयि विभो !] अघम् धौतवती [मम] गीः चतुरम् तव नवनविधौ रतिम् श्रयताम्, यत्र (गिरि) चतुरन्तमहीपतिता अपि सताम् हेयत्वे एव पतिता (तृणतुल्येत्यर्थः) ।

अर्थ—हे विभो ! यह मेरी मलसे रहित, निष्पाप वाणी शीघ्र आपकी स्तुतिमें अनुराग करे, जिस (स्तुति) के सामने समस्त भूमण्डलका चक्रवर्ती राज्य भी सहृदय जनोंको तुच्छ तृणके समान हेय प्रतीत होता है ।

त्रसतां न कदा भवता भवतापहृता विभो शुभाकृतिना ।
कृतिनामुपकारचितं रचितं शुभमेव भाविहितम् ॥ ६ ॥

अन्वय—[हे विभो !] भवतापहृता शुभाकृतिना भवता त्रसताम् कृतिनाम् उपकारचितम् भाविहितम् शुभम् एव कदा न रचितम् ?

अर्थ—अयि विभो ! संसारके पाप-तापोंको हरनेवाले और अतीव सुमनोहर

आकृतिवाले आपने जन्म-मरणके भयसे त्रस्त हुए पुण्यात्माओंका अनेकानेक उपकारोंसे पूर्ण और भविष्यमें हितकारक कल्याण कब-कब नहीं किया ? अर्थात् सदा ही किया।

विहितं मयि चारु चिरं रुचिरं न गते विवेकलयम्।
कलयन्नमलविभासितभासित रुचिमेहि मे विपाकमलम् ॥ ७ ॥

अन्वय—हे अमलविभासितभासित ! विवेकलयम् गते मयि भवता चिरम् चारु रुचिरम् (प्रियम्) कथम् न विहितम्? [हे विभो !] मे अलम् विपाकम् कलयन् मे रुचिम् एहि।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! मुझ विवेकहीनके प्रति आपने अभी तक अभीष्ट अनुग्रह क्यों नहीं किया ? हे नाथ ! मेरे अनुरागको उत्कट बनाते हुए मेरे रुचिपथ-पर आइए, अर्थात् जिस प्रकार आपमें मेरा अनुराग हो, ऐसी कृपा कीजिए।

कमलं रविरपराजित राजितविकसद्वपुर्यथा कुरुते।
कुरु तेन पथा मा भव मा भव विमुखो दृशं दिश मे ॥ ८ ॥

अन्वय—हे अपराजित ! यथा रविः कमलम् राजितविकसद्वपुः कुरुते, तेन पथा मा (माम्) कुरु, हे भव ! विमुखः मा भव, मे दृशम् दिश।

अर्थ—हे अपराजित शिव ! जैसे सूर्य कमलको शोभायमान और विकसित-वदन करता है वैसे ही मुझे शोभायमान और विकसित वदन कर दीजिये। प्रभो ! विमुख मत होइए, मुझपर अनुग्रह-दृष्टि कीजिए।

दिशमेष विचारहितां रहितां विषयोरगैरहं न लभे।
नलभेकवदतिविलपन् बिलपन्नगवद् वृतः सदा तमसा ॥ ९ ॥

अन्वय—[हे विभो !] नलभेकवत् अतिविलिपन् , बिल-पन्नगवत् सदा तमसा वृतः, एषः अहम् विषयोरगैः रहिताम् , विचारहिताम् दिशम् न लभे।

अर्थ—हे नाथ ! नड (तृण) में रहनेवाले मण्डूकके समान अत्यन्त विलाप करता हुआ और बिलमें रहनेवाले सर्पके समान सदा तमोगुणजन्य अन्धकार (अज्ञान) से आच्छादित हुआ यह मैं, विषयरूपी सर्पोंसे रहित एवं विवेक-मय मार्गको नहीं पा रहा हूँ।

तमसावुज्झितकलहं कलहंसगिरोमया सदा सहितम्।
सहितं गीरुदितरसा तरसा श्रयतां विभुं सदयम् ॥ १० ॥

अन्वय—उज्झितकलहम् कलहंसगिरा उमया सदा सहितम् सहितम् सदयम् तम् विभुम् तरसा उदितरसा असौ (मम) गीः श्रयताम्।

अर्थ—मायाके आवरणसे रहित, सदैव कोकिलके समान मनोहर वाणीवाली श्री उमा पार्वतीसे सहित एवं जीवोंके प्रति हित और दया रखनेवाले सर्वव्यापी प्रभुको अतिशय अनुरागवाली यह मेरी वाणी सदा सेवित करे।

सदयं यदुदारमते रमते कुर्वंस्तदेव देव जनः।
व्रज नः करुणापरतां परतां मा गा देव नमो भवते ॥ ११ ॥

अन्वय – उदारमते ! यत् सत् (तत्त्ववस्तु) तदेव कुर्वन् अयम् जनः रमते, देव ! त्वम् नः करुणापरताम् व्रज, परतां मा गाः, भवते नमः [अस्तु] ।

अर्थ—अयि लोकोत्तर उदार, जो सत्य—तात्त्विक वस्तु है, उसमें ही यह पुरुष (अर्थात् मैं) प्रीति करता है, अतः हे देव ! आप मुझपर दयालु होइए, कठोरताको मत प्राप्त होइए । भगवन् ! आपके लिए प्रणाम है ।

भव तेजःप्रसरसितं रसितं श्रुत्वाऽमृतोपमं भवतः ।
भवतस्त्रासं सकलं सकलङ्कमतिः कदा विमुञ्चामि ॥ १२ ॥

अन्वय—भव ! सकलङ्कमतिः [अहम्] भवतः तेजःप्रसरसितम् अमृतोपमम् रसितम् श्रुत्वा, भवतः (संसारात्) सकलम् त्रासम् कदा विमुञ्चामि ?

अर्थ—हे सदाशिव ! पापोंके सम्पर्कसे कलुषित मतिवाला मैं आपके दिव्य-तेजःपुञ्जकी प्रभासे स्वच्छ और अमृतके समान सुमधुर प्रसाद-वचनको सुनकर संसारके समस्त भयका त्याग कब करूँगा ?

मुञ्चामितभास दृशं सदृशं शशिनः प्रदर्श्य वदनम् ।
वद नन्दयितुं जगतीं जगतीशः कोऽस्तु नामान्यः ॥ १३ ॥

अन्वय—अमितभास ! [त्वम्] शशिनः सदृशम् वदनम् प्रदर्श्य (मयि) दृशम् मुञ्च, [हे विभो !] वद, जगतीम् नन्दयितुम् जगति कः नाम अन्यः ईशः (शक्तः) अस्तु ?

अर्थ—अयि अनन्तप्रकाश परमेश्वर ! आप मुझे अपना चन्द्रसदृश वदनारविन्द दिखाकर मुझपर अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात कीजिए । प्रभो ! आप ही बतलाइए कि संसारको आनन्दित करनेके लिए जगत्में आपके सिवाय दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ?

नामान्यः सुमतिरयं तिरयन्ति यशांसि तस्य[1] वा विपदम् ।
विपदं न विलासमये समये वपुरस्य यात्ययातवयः ॥ १४ ॥
तव यः स्तुतिषु सदा हर दाहरजः क्लेशपाशमयम् ।
शमयन्तीष्वस्तमनास्तमनाहतभाग्यमेव देव नमे ॥ १५ ॥

(युग्मम्)

अन्वय – हर ! क्लेशपाशमयम् दाहरजः शमयन्तीषु तव स्तुतिषु सदा यः अस्तमनाः भवति, अयम् सुमतिः अमान्यः न [भवति], तस्य च यशांसि विपदम् तिरयन्ति, अस्य अयातवयः वपुः विलासमये समये विपदम् न याति, देव ! अहम् तम् अनाहतभाग्यम् एव नमे ।

अर्थ—हे हर ! अविद्यादि पञ्च क्लेश और (आणव, मायीय तथा कार्म) पाशमय दाहको शान्त करनेवाली आपकी स्तुतियोंमें जो सदैव अनुराग रखता है, वह सन्मति लोकमें अमान्य कदापि नहीं होता और उस धन्यात्माका सुयश विपत्तियोंको दूर कर देता है । एवं उसका तरुण शरीर विलासके समयमें क्षीणताको नहीं प्राप्त होता । हे नाथ ! उसी अखण्ड भाग्यशालीको मैं नमन करता हूँ ।

---

१. 'यस्य' इत्यपि पाठः ।

वनमेव शरणमधुना मधुनाशिनुत प्रसादनाय तव ।
यतवति हृदये शकलितकलितमसो मे नमेरुचितम् ॥ १६ ॥

अन्वय—मधुनाशिनुत ! हृदये यतवति सति शकलितकलितमसः मे अधुना तव प्रसादनाय नमेरुचितम् वनम् एव शरणम् ।

अर्थ—हे विष्णु भगवान्‌के आराध्यदेव ! मेरा हृदय आपके भक्त्युद्रेकके लिए प्रयत्न-शील हो गया है, अतः मेरा कलिकालका (अज्ञान-रूप) अन्धकार नष्ट हो गया है । मुझ सेवकका अब आपको प्रसन्न करनेके लिए नमेरु वृक्षोंसे व्याप्त कैलासका वन ही शरण है ।

रुचितं नोरगसदनं सदनन्तमहर्द्धि नन्दनं न वनम् ।
नवनं धृतदीप्रगुणं प्रगुणं तव कर्तुमेव देव रमे ॥ १७ ॥

अन्वय—देव ! सदनन्तमहर्धि उरगसदनम् मे न रुचितम्, सदनन्तमहर्द्धि नन्दनम् वनम् [अपि] न रुचितम् ; [अहम् तु] प्रगुणम् धृतदीप्रगुणम् तव नवनम् एव कर्तुम् रमे ।

अर्थ—हे देव ! शेषनागकी अनन्तानन्त विभूतियोंसे युक्त वह पाताल-लोक मुझे प्रिय नहीं लगता और अनन्त ऋद्धि-सिद्धियोंसे भरा हुआ स्वर्गका नन्दनवन भी अच्छा नहीं लगता । भगवन् ! मैं तो अत्युत्तम अर्थात् समस्त पातकोंको हरनेवाली और ओजःप्रसादादि गुणोंसे पूर्ण आपकी स्तुति करनेमें ही अनुराग रखता हूँ ।

वरमेनोहरममलं मम लङ्घितविघ्न देहि नाम हितम् ।
महितं पदमपि मा नय मानय विधुरं दृशामलया ॥ १८ ॥

अन्वय—लङ्घितविघ्न ! नाम, अमलम् हितम् एनोहरम् वरम् मे देहि । मा महितम् पदम् अपि नय, अमलया दृशा [माम्] विधुरम् मानय ।

अर्थ—अयि शरणागतोंके विघ्नोंका विध्वंस कर देनेवाले शिव, प्रभो ! मुझे पाप-तापोंको हरनेवाला निर्मल शुभप्रद वर दीजिए और मुझे परम पूज्य पदपर भी पहुँचाइए । नाथ ! अपनी सुनिर्मल प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे मुझ दीनको सम्मानित कीजिए ।

मलयानिलमिव सुरभिं सुरभिं कुसुमैरिवावदातवनम् ।
तव नन्दितहृदनामय नाम यमत्रासहृत्कलये ॥ १९ ॥

अन्वय—अनामय ! [अहम्] यमत्रासहृत् तव नाम मलयानिलम् इव सुरभिम्, कुसुमैः सुरभिम् अवदातवनम् इव, नन्दितहृत् कलये ।

अर्थ—हे अनामय ! मैं यम-भीतिको हरनेवाले आपके मङ्गलमय नामको मलयानिलकी सुगन्धिकी तरह और कुसुमोंसे सुरभित स्वच्छ उपवनकी तरह तापत्रय-सन्तापित हृदयको आनन्दित कर देनेवाला समझता हूँ ।

कलयेन्दोरभिभूषित भूषितमुकुटैः सुरैर्नतेश न कैः ।
शनकैरघशमनाशय नाशय विपदं पदं नय मा ॥ २० ॥

अन्वय—इन्दोः कलया अभिभूषित ! भूषितमुकुटैः कैः सुरैः न नत ! (अपि तु सर्वनत !) ईश ! अघशमनाशय ! शनकैः मे विपदम् नाशय, मा (माम्) स्वं पदम् नय।

अर्थ—अयि चन्द्रमौले ! हे दिव्य मुकुटवाले ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि समस्त देवोंसे वन्दित जगदीश ! हे प्राणियोंके पापको शान्त करनेवाले सदाशिव ! अब आप शनैः शनैः मेरी विपत्तिका नाश कीजिए और मुझे अपने अखण्ड धामको ले जाइए।

न यमाहितभयशमने शमनेकविधं प्रसाददक्षमते ।
क्षमते मुनिभिरुपासित पासितरां चेन्न मामदयम् ॥ २१ ॥

अन्वय—प्रसाददक्षमते ! मुनिभिः उपासित ! [त्वम्] चेत् अदयम् माम् न पासितराम्, तदा यमाहितभयशमने अनेकविधम् शम् न क्षमते।

अर्थ—अयि दीनोंपर शीघ्र प्रसन्न होनेवाले ! कपिलादि मुनियों द्वारा उपासित हे शिव ! यदि आप निर्दय होकर मेरी रक्षा नहीं करते हैं, तो नाथ ! फिर यमराजके द्वारा उत्पन्न हुए भयको शान्त करनेके लिए नाना प्रकारकी मङ्गल वस्तुएँ समर्थ नहीं हो सकतीं, अर्थात् आपके सिवाय दूसरा कोई भी कालके भयसे नहीं बचा सकता।*

मदयञ्जितविप्रकृतीः प्रकृतीर्वसुधाधिपो महीवलयम् ।
वलयन्त्रितरिपुरक्षति रक्षति तव यः प्रसादमितः ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे विभो !] यः तव प्रसादम् इतः, [सः] वलयन्त्रितरिपुः वसुधाधिपः जितविप्रकृतीः प्रकृतीः मदयन् अक्षति महीवलयम् रक्षति।

अर्थ—हे भगवन् ! जिसको आपका कृपाप्रसाद प्राप्त हो जाता है, वह पुरुष चक्रवर्ती राजा बनकर अपने लोकोत्तर पुरुषार्थ द्वारा रिपुगणोंका नियन्त्रण कर अपनी प्रजाको समस्त बाधाओंसे निर्मल करके उसे आनन्दित करता हुआ अखण्ड भूमण्डलकी रक्षा करता है।

दमितस्तेन हि शमनः शमनस्तरुचापि तेन जातमुदा ।
तमुदाराहितचरितं चरितं शुभवर्त्मना स्तुवन्त्यमलम् ॥ २३ ॥

---

* इसी आशय पर कवि रत्नकण्ठजीकी भी एक उक्ति है—

स्मृतिर्यत्र क्वापि स्वपरविषये नैव हि भवे-
चिरायासा जाताः सततमिह धन्वन्तरिमुखाः।
विनैकस्माच्छम्भोः सदयनयनोद्वीक्षणलवाद्
भवापस्मारोऽयं विषमविषमः शाम्यति कथम् ॥

अर्थात्—जिस अवस्थामें प्राणीको अपने और परायेकी कोई स्मृति नहीं रहती और जिसकी चिकित्साके विषयमें धन्वन्तरि प्रभृति बड़े बड़े चिकित्सक भी हताश होकर रह गये, ऐसा यह संसाररूपी अति विषम अपस्मार रोग एकमात्र भगवान् शङ्करकी कृपादृष्टिके लेशके बिना कैसे शान्त हो सकता है ?

त्यमलङ्कृतभूभवनं भव नन्दितलोकमीश भावपुषा ।
वपुषा नौम्यभयस्तव यस्तव नुतिषु प्रियासु कृती ॥ २४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—यः प्रियासु तव नुतिषु कृती भवति, हि तेन शमनः दमितः, अनस्तरुचा जातमुदा तेन शम् [अपि] आपि । उदाराहितचरितम् शुभवर्त्मना चरितम् अमलम् तम् [जनाः] स्तुवन्ति । भव ! ईश ! अभयस्तव ! भावपुषा वपुषा अलंकृतभूभवनम् नन्दित-लोकम् त्यम् [तम् पुरुषम्] अहम् नौमि ।

अर्थ—हे भगवन् ! जो पुरुष भक्तजनोंको सुमनोहर लगनेवाली आपकी स्तुति करता है, वह यमराजको दर्प-रहित कर देता है । उस परम तेजस्वी हर्षशाली वीरको कैवल्य-रूप अखण्ड कल्याण भी स्वतः प्राप्त हो जाता है । उस उदार चरितशाली और शुभमार्गपर चलनेवाले निष्पाप भक्तकी सभी लोग उत्तम स्तुति करते हैं । हे अभय कीर्तिवाले ईश्वर ! भावुकोंके अनुरागको परिपुष्ट करनेवाले शरीर द्वारा सारे भूमण्डलको अलंकृत और लोगोंको आनन्दित कर देनेवाले उस सत्पुरुष को मैं प्रणाम करता हूँ ।

सुकृती तव भववारणवारणहरिणेन्द्र सिद्धिभाजनताम् ।
जनतां नयदमलसितं लसितं वपुरर्चये नवैरसकृत् ॥ २५ ॥

अन्वय—भववारणवारणहरिणेन्द्र ! [अहम्] सुकृती जनताम् सिद्धिभाजनताम् नयत् अमलसितम् लसितम् तव वपुः असकृत् नवैः अर्चये ।

अर्थ—अयि संसार-रूपी मदमत्त हाथीका निराकरण करनेमें सिंहरूप, भगवन् ! मैं पुण्यात्मा भक्तजनोंको ऋद्धि-सिद्धिका पात्र बनानेवाली आपकी अति निर्मल और स्वच्छ मूर्तिको स्तुतियों द्वारा अर्चित करता हूँ ।

रसकृद्योऽप्रतिघस्मरघस्मर भवतः स्तवः सदैव सताम् ।
वसतां दिवि भयहृदयं हृदयं कुरुते घनोत्कलिकम् ॥ २६ ॥

अन्वय—अप्रतिघस्मरघस्मर ! यः भवतः स्तवः सदैव सताम् रसकृ । [भवति], सः अयम् भयहृत् (भवतः स्तवः) दिवि वसताम् [अपि] हृदयम् घनोत्कलिकम् कुरुते ।

अर्थ—अयि जगद्विजयी कामदेवको भस्म करनेवाले देवाधिदेव ! जो (आपका स्तव—स्तुति) सहृदयजनोंको नित्य अलौकिक रसास्वाद प्रदान करता है, वह समस्त भयोंका नाश करनेवाला आपका स्तव स्वर्गवासी देवताओंके भी मनको अत्यन्त उत्कण्ठित कर देता है ।

कलिकम्पनमघशरणं शरणं चरणद्वयं भजेऽविकलम् ।
विकलङ्कमतिरहं तव हन्त वरद्विरदराजगतिम् ॥ २७ ॥

इति काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टकृते भगवतो महेश्वरस्य
स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'शृङ्खलाबन्ध' स्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

अन्वय—हन्त, कलिकम्पनम् अघशरणम् अविकलम् वरद्विरदराजगतिम् तव चरण-द्वयम् अहम् विकलङ्कमतिः शरणम् भजे ।

अर्थ—अहा, हे विभो! कलिकाल अथवा संसारचक्रके कलहको मिटा देनेवाले, त्रिविध पापका नाश करनेवाले, समग्र ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण एवं श्रेष्ठ गजराजके समान गतिवाले आपके उस चरणारविन्द युगलकी मैं निष्कपट होकर शरण लेता हूँ।

चतुर्विंश स्तोत्र

अब यहाँसे 'द्विपदयमक' नामक चित्र-काव्यद्वारा चौबीसवें स्तोत्रका प्रारम्भ करते हुए 'कवि' कहते हैं—

वचसि सरस्वति मे विभवं प्रकटय जातरसारम् ।
नुतिभिरुपस्तुहि देवि भवं सकलसुरान्तरसारम् ॥ १ ॥

अन्वय—सरस्वति ! अरम् (अत्यर्थम्) जातरसा [त्वम्] मे वचसि विभवम् प्रकटय, देवि ! सकलसुरान्तरसारम् भवम् नुतिभिः उपस्तुहि ।

अर्थ—अयि मातः सरस्वति ! तू (श्रीशङ्करकी भक्तिमें) अत्यन्त अनुराग-वती होकर मेरी रचनाओंमें परम उल्लासको प्रकट कर। हे वाणी ! अब तू सब देवोंके अधिदेव भगवान् श्रीमहादेवको अत्युत्तम स्तुतियोंसे प्रसन्न कर।

अविरलभस्मरजोधवलं विहितमहाशमलाभम् ।
भज भगवत्यगजाधवलं श्रमशमनं विमलाभम् ॥ २ ॥

अन्वय—भगवति ! (वाणि) त्वम् अविरलभस्मरजोधवलम् विहितमहाशमलाभम् श्रमशमनम् विमलाभम् अगजाधवलम् भज ।

अर्थ—हे भगवति वाणि ! तू अति गाढ़-भस्मकी रजसे शुभ्र, भावुकोंको महान् शम (शान्ति) प्रदान करनेवाले और जीवोंके समस्त सांसारिक खेदको हरनेवाले, अतीव विमल शोभाशाली भगवान् गिरिजापतिको प्रसन्न कर।

दातुमनुत्तमहावपुषं यः प्रबभूव नदीनम् ।
नाथमनुत्तमहावपुषं तं भज देवि न दीनम् ॥ ३ ॥

अन्वय—देवि ! यः अनुत्तमहावपुषम् नदीनम् [बालाय उपमन्यवे] दातुम् प्रबभूव, तम् अनुत्तमहावपुषम् न दीनम् नाथम् भज ।

अर्थ—हे देवि सरस्वति ! जिस प्रभुने बालक उपमन्युके लिए दर्शनसे क्रीड़ा, परिहास आदि अत्युत्तम भावोंको पुष्ट करनेवाला क्षीर-समुद्र बिना किसीकी प्रेरणासे ही दे डाला, उस विशाल तेजोमय शरीर एवं अतिशय उदारचित्तवाले परमेश्वरका भजन कर।

भक्तिरसस्तव देव सतां जयति महामृतहृद्यः ।
चरणतले भवतो वसतां कलिमलपल्वलहृद्यः ॥ ४ ॥

अन्वय—देव ! यः भवतः चरणतले वसताम् सताम् कलिमलपल्वलहृत् [भवति], सः महामृतहृद्यः तव भक्तिरसः जयति ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके चरणारविन्दोंके तले निवास करनेवाले सहृदय भावुकोंके कलिमलपङ्कको हरनेवाला, महा अमृतसे भी सुमनोहर आपका भक्तिरस सर्वोत्कृष्ट अर्थात् कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुं समर्थ है ।

नयनमुदीर्य तमो हर मे निहतमहाविषमेषु ।
येन पुनर्हतमोह रमे वैरिषु नो विषमेषु ॥ ५ ॥

अन्वय—हतमोह ! [त्वम्] निहतमहाविषमेषु नयनम् [तृतीयम्] उदीर्य, मे तमः हर, येन अहम् विषमेषु वैरिषु पुनः न रमे ।

अर्थ—मोहको नष्ट करनेवाले हे सदाशिव ! आप कामदेवको भस्म करनेवाले अपने तृतीय नेत्रको खोलकर मेरे अज्ञान-रूप अन्धकारको दूर कर दीजिए, जिससे कि मैं फिर इन विषम काम-क्रोधादि वैरियोंके साथ रमण न करूँ ।

त्वयि वरदे रुचिरप्रमदाः प्रचलितचामरहस्ताः ।
सदसि भजन्ति जनं प्रमदा रमयति सोऽपि रहस्ताः ॥ ६ ॥

अन्वय—[हे विभो !] त्वयि वरदे सति रुचिरप्रमदाः प्रचलितचामरहस्ताः प्रमदाः, सदसि जनम् भजन्ति, सः अपि जनः रहः ताः रमयति ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके प्रसन्न हो जानेपर गाढ़ हर्षसे भरी और हाथोंमें चँवर डुलाती हुई अंगनाएँ सभामें आपके सेवककी सेवा करती हैं और वह भी रहः-स्थलमें उन्हें (कामिनियोंको) आनन्दित करता है ।

हिमकरकिरणसमूहसितं सुरसरिदम्बुविडम्बि ।
वह भगवन् वदने हसितं मा भवतात्र विडम्बि[१] ॥ ७ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] हिमकरकिरणसमूहसितम् सुरसरिदम्बुविडम्बि हसितम् वदने वह, अत्र (विषये) भवता मा विडम्बि (विलम्बि) ।

अर्थ—हे षडैश्वर्य-सम्पन्न परमेश्वर ! दीनोंपर अनुग्रह करनेके लिये चन्द्र-किरणोंके समान उज्ज्वल और गङ्गाजीके नीरके समान स्वच्छ ईषत्-हास्यको अपने मुखारविन्दमें धारण कीजिए, प्रभो ! इस विषयमें विलम्ब न कीजिए ।

उपमितमन्मथचापलतां भ्रुवमवधूय सहेलम् ।
रविजदृशां घनचापलतां विघटय ता न सहेऽलम् ॥ ८ ॥

अन्वय—[प्रभो] उपमितमन्मथचापलताम् भ्रुवम् सहेलम् अवधूय, रविजदृशाम् घनचापलताम् विघटय, अहम् ताः अलम् न सहे ।

१. विलम्बि, इत्यपि पाठः ।

अर्थ—हे प्रभो ! कामदेवकी चाप-लताके (धनुषके) समान अपनी सुमनोहर भ्रुकुटिको थोड़ा-सा कम्पित करके यमराजके नेत्रोंकी अत्यन्त चापलता (चञ्चलता) को दूर कर दीजिए, क्योंकि अब मैं उन्हें अधिक नहीं सहन कर सकता ।

रविसुतवर्त्म मम स्मरतः श्रुतयमकिङ्करवाणि ।
दलति विभो हृदयं दरतः पुरहर किं करवाणि ॥ ९ ॥

अन्वय—पुरहर ! श्रुतयमकिङ्करवाणि रविसुतवर्त्म[1] स्मरतः मम हृदयम् दरतः दलति, बिभो ! अहम् किम् करवाणि ?

अर्थ—अयि त्रिपुरासुरहर ! यम-किङ्करोंके भयङ्कर वचनोंसे व्याकुलित यमलोक-मार्गका (नरक-मार्गका) स्मरण करनेसे मेरा हृदय भयके मारे विदीर्ण (खण्डित) हो रहा है । प्रभो ! मैं क्या करूँ ?

प्रथयति यस्तव हन्त महं नुतिवचसा रुचिरेण ।
शुभशतसिद्धिसहं तमहं शिरसि वहाम्यचिरेण ॥ १० ॥

अन्वय—हन्त [प्रभो !] यः रुचिरेण नुतिवचसा तव महम् प्रथयति, तम् शुभशत-सिद्धिसहम् अहम् अचिरेण शिरसि वहामि ।

अर्थ—अहा, हे प्रभो ! जो पुरुष सुमनोहर स्तुति-वाक्योंसे आपकी महिमाका विस्तार करता है, उस अनेक माङ्गलिक सिद्धिको सहन करनेवाले धन्यात्माको मैं शीघ्र अपने मस्तक पर वहन करूँ ?

भवभयभञ्जनभङ्गिविधौ भक्तिमतां प्रभवन्तम् ।
विहितहितं विधुरेऽपि विधौ भजत जगत्प्रभवं तम् ॥ ११ ॥

अन्वय—भक्तिमतां [अतिशुभमार्गदर्शनेन] भवभयभञ्जनभङ्गिविधौ प्रभवन्तम्, विधुरे (वक्रे) अपि विधौ विहितहितम् तम् जगत्प्रभवम् भजत ।

अर्थ—अयि सहृदयजन ! अपने भक्तजनोंको अति मङ्गलमय मार्ग बतलाकर संसारके बन्धनसे छुड़ानेमें समर्थ और दैव (भाग्य) के प्रतिकूल होनेपर भी (रेख-में मेख मारकर, भक्तजनोंके दुरदृष्टको मिटाकर) उनका मङ्गल करनेवाले उस आशुतोष जगदीश्वरका भजन कीजिए ।

मदनमहीरुहदवदहनं शिरसि धृतामृतभासम् ।
भजत दुरन्तविषादहनं प्रणतसमर्पितभासम् ॥ १२ ॥

अन्वय [अयि धन्याः !] मदनमहीरुहदवदहनम् शिरसि धृतामृतभासम् दुरन्त-विषादहनम् प्रणतसमर्पितभासम् (तम् विभुम्) भजत ।

अर्थ—ओ धन्यात्माओ ! (इस दुरन्त भवसागरकी दुर्वासनाओंको छोड़कर) कामरूप वृक्षके लिए वनाग्निरूप, मस्तकपर अमृतमय चन्द्रकलाको धारण करनेवाले, अपार संसाररूपी अरण्यके भ्रमणसे उत्पन्न हुए खेदको हरनेवाले एवं भक्तजनोंके हृदयमें विशुद्ध ज्ञान-मय प्रकाश समर्पण करनेवाले भगवान् सदाशिवका भजन करो ।

---

१ अत्र वर्त्मनः स्मृतिमात्रत्वान्न तु तदर्थत्वात् 'स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः' इतिवत्षष्ठ्यभावः ।

वितर नदीरमणं शमनं शकलय खण्डय कामम् ।
प्रथय धनञ्जयभयशमनं रचय पुरं हतकामम् ॥ १३ ॥
इति सदयेन यदाचरितं भुवनहिताय हरेण ।
भजत तदस्य महाचरितं नुतिवचसार्तिहरेण ॥ १४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—(बालाय उपमन्युमुनये) नदीरमणम् वितर[1] (व्यतरत्) शमनम् शकलय (अशकलयत्), कामम् खण्डय (अखण्डयत्), धनञ्जयभयशमनम् प्रथय (अप्रथयत्), पुरम् हतकामम् रचय (अरचयत्), इति सदयेन हरेण भुवनहिताय यत् आचरितम् तत् अस्य महाचरितम् आर्तिहरेण नुतिवचसा भजत ।

अर्थ—जिस परम उदारने बालक उपमन्यु मुनिके लिये क्षीरसागरका दान किया, राजा श्वेत एवं मार्कण्डेयादि भक्तोंकी रक्षाके लिये यमराजको दण्ड दिया, कामदेवको भस्म किया, अर्जुनके भयको—अर्थात् "द्रोणाचार्य, कर्ण आदि वीर सेनापतियोंसे युक्त कौरवोंकी अपार सेनाको मैं कैसे जीत सकूँगा ?" इस प्रकारके त्रासको—दूर किया और त्रिपुरासुरके अहङ्कारका नाश किया। इस प्रकार शरणागतोंके सन्तापको हरनेवाले अतिशय कृपालु हरने संसारके हितके लिये जो जो लीलाएँ रचीं, अयि सहृदय जन ! उन लीलाओंका पाप-तापको मिटा देनेवाले स्तुति-वचनों द्वारा वर्णन किया करो ।

गतिरशुभं हर का तरतां भवति विनाशु भवन्तम् ।
इति चतुरं हर कातरतां रचय च मां शुभवन्तम् ॥ १५ ॥

अन्वय—हर ! अशुभम् आशु तरताम् भवन्तम् विना का गतिः [भवति], इति कातरताम् चतुरम् हर, माम् च शुभवन्तम् रचय ।

अर्थ—हे प्रभो ! इस संसारमें पाप-रूपी महासागरसे शीघ्र पार होनेकी इच्छावाले आर्त्त जनोंकी आपके बिना और कौन गति है ? इसलिए प्रभो ! इस दीनताको शीघ्र दूर कीजिए और मुझे सदैव शुभ मार्ग पर ले जाइए ।

वरद भवन्तमृते धरते भुवनमिदं सकलं कः ।
इति नतिमिन्दुकलाधर ते भजति न कः सकलङ्कः ॥ १६ ॥

अन्वय—वरद ! भवन्तम् ऋते इदम् सकलम् भुवनम् कः धरते ? इति इन्दुकलाधर ! कः सकलङ्कः ते नतिम् न भजति ?

अर्थ—हे वरद ! आपके बिना इस समस्त त्रिभुवनको दूसरा कौन धारण कर सकता है ? इसलिए हे चन्द्रकलाधर ! कौन सकलङ्क (पापयुक्त) पुरुष आपकी स्तुति न करेगा ?

---

(१) 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः, इति सूत्रेण लोट्, तस्य च हिस्वावादेशौ स्वतः, अतो वितर, शकलय, इत्यादि ज्ञेयम् ।

इयमखिलेतरजातिमतां जयति जनिः प्रथमा नः।
सेव्यभुवं विभुरेति मतां यत्र हृदि प्रथमानः॥ १७॥

अन्वय—[हन्त] अखिलेतरजातिमताम् [मध्ये] प्रथमा इयम् नः जनिः जयति, यत्र [अस्माकम्] हृदि प्रथमानः विभुः मताम् सेव्यभुवम् एति।

अर्थ—अहा, इतर सब जातियोंमें प्रथम यह हमारी ब्राह्मण जाति सर्वोत्कृष्ट है, जहाँ कि नित्य हमारे हृदय में प्रकाशमान होता हुआ प्रभु यथेच्छ सेवित किया जाता है।

तुभ्यमयं शितिनाल सतां वरद करोमि नमोऽहम्।
शमय महेश ममालसतां येन भजामि न मोहम्॥ १८॥

अन्वय—शितिनाल! सताम् वरद! अयम् अहम् तुभ्यम् नमः करोमि, महेश! मम अलसताम् शमय, येन [अहम्] मोहम् न भजामि।

अर्थ—हे नीलकण्ठ! हे सज्जनों को वर देनेवाले शिव! यह मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे नाथ! आपकी भक्तिके विषयमें मेरे आलस्यको दूर कर दीजिए, जिससे कि मैं फिर मोहको न प्राप्त होऊँ।

भजसि यया किल कामदया नतजनमीश समस्तम्।
सा मम ते हतकाम दया गमयतु वैशसमस्तम्॥ १९॥

अन्वय—ईश! हतकाम!! किल यया कामदया (दयया) समस्तम् नतजनम् भजसि, सा ते दया मम वैशसम् (दुःखम्) अस्तम् गमयतु।

अर्थ—हे ईश, हे हतकाम! सम्पूर्ण मनोभिलाषोंको देनेवाली जिस कृपासे आप भक्तजनोंको अनुगृहीत करते हैं, वह आपकी दया मेरे दुःखको शीघ्र दूर करे।

येन शुचं हतलोभ जनस्त्यजति सुधामधुरेण।
तेन विभो वचसा भज नः प्रकटितधामधुरेण॥ २०॥

अन्वय—हतलोभ! येन सुधामधुरेण (तव वचसा) जनः शुचम् त्यजति, विभो! तेन प्रकटितधामधुरेण वचसा नः भज।

अर्थ—हे शरणागतोंके लोभको हरनेवाले प्रभो! आपके जिस अमृतसे भी अधिक मधुर अभय-वचनको सुनकर प्राणी शोकको त्याग देता है, उस परम तेजोमय अभय-वाक्यसे मुझे आनन्दित कीजिए।

मदयसि येन जनं सकलं मधुरगिरा वदनेन।
मयि वचनं परिहासकलं प्रतिदिश तावदनेन॥ २१॥

अन्वय—[हे प्रभो!] मधुरगिरा येन वदनेन त्वम् सकलम् जनम् मदयसि, तावत् अनेन (एव) वदनेन मयि परिहासकलम् वचनम् प्रतिदिश।

अर्थ—हे प्रभो! जिस अति सुमधुर वाणीवाले मुखारविन्दसे आप ब्रह्मादि

स्थावर पर्यन्त समस्त जीवोंको आनन्दित करते हो, उसी मुखारविन्दसे मधुर हास्ययुक्त अभय-वचन मुझे सुना दीजिए।

येन सतां विपदानयनं दुरितमदभ्रमहारि।
दिश विशदं मयि तन्नयनं मदनमदभ्रमहारि ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे विभो !] येन (नयनेन) विपदानयनम् अदभ्रम् सताम् दुरितम् अहारि, तत् मदनमदभ्रमहारि विशदम् नयनम् मयि दिश।

अर्थ—हे प्रभो ! जिस नेत्रसे आप सज्जनोंके, विपत्तियोंको बढ़ानेवाले अति विषम पापको हरते हैं, उस काम और मदसे होनेवाले भ्रमको (अनित्य, अशुचि आदिमें नित्य, शुचि इत्यादि भ्रान्तिको) हरनेवाले सुमनोहर नेत्रकमलको एक बार मुझपर डालिए।

जगदखिलं यदि नन्दयसे तिमिरमुषा रसितेन।
इममपि किं न जनं दयसे तेन तुषाररसितेन ॥ २३ ॥

अन्वय—[हे विभो।] तिमिरमुषा रसितेन यदि अखिलम् जगत् नन्दयसे, तर्हि तुषाररसितेन तेन (रसितेन) इमम् अपि जनम् किम् न दयसे ?

अर्थ—हे प्रभो ! यदि आप अज्ञान-रूप अन्धकारको हरनेवाले सुमधुर शब्दसे समस्त जगत्को आनन्दित करते हो, तो फिर हिमके समान शुभ्र उस अभय-शब्दसे मुझ दीनको भी क्यों नहीं अनुकम्पित करते ?

दुरितहृतौ विषसाद करः क्वापि न ते रमणीयः।
अपि स भयं विषसाद करः शमयतु घोरमणीयः ॥ २४ ॥

अन्वय—[हे शिव !] यः रमणीयः ते करः दुरितहृतौ क्वापि न विषसाद, सः विषसादकरः ते करः घोरम् अणीयः भयम् अपि शमयतु।

अर्थ—हे शिव ! जो आपका रमणीय कर-कमल शरणागतोंके पाप-पुञ्जको हरनेमें कभी भी खिन्न नहीं हुआ, वह हालाहलका ग्रास करनेवाला आपका कर-कमल मेरे इस घोर अति-तुच्छ भयको भी दूर (शान्त) करे।

भयहरणे महिताभ यतः प्रथयसि जातरसत्वम्।
मामपि पाहि महाभयतः पुरहर कातरसत्त्वम्[1] ॥ २५ ॥

अन्वय—महिताभ ! यतः भयहरेण जातरसत्वम् प्रथयसि, अतः पुरहर ! कातरसत्त्वम् माम् अपि महाभयतः पाहि।

---

१. यहाँ 'कातरसत्त्वम्' पदमें तकारद्वय (दो तकार) होनेपर भी यमक आदि चित्र-काव्यमें यह दोष नहीं है। कहा है—

यमकश्लेषचित्रेषु दन्त्यौष्ठ्यबवकारयोः।
न भेदो नणयोश्चैव न नकारमकारयोः ॥
हलः परस्य चैकस्य व्यञ्जनस्य द्वयोरपि।
न विशेषो विसर्गस्य भवेच्च रुदसत्त्वयोः ॥

अर्थ—हे पूर्णप्रकाश पुरुषोत्तम ! चूँकि आप संसार भरके भयको हरनेमें परम उत्सुकताको धारण करते हैं, अतः हे नाथ ! मुझ कातर-हृदयको भी इस महाभयसे बचा दीजिए।

भजामि मायाशवरं वरं वरं दिशन्तमन्तं कुनयं नयन्नयम्।
विजित्य कृत्यप्रभवं भवं भवं विखण्डितक्लेशपरम्परं परम् ॥ २६ ॥

अन्वय—कुनयम् अन्तम् नयन्, कृत्यप्रभवम् भवम् विजित्य अयम् (अहम्) मायाशबर वरम् वरम् दिशन्तम् विखण्डितक्लेशपरम्परम् परम् भवम् भजामि।

अर्थ—अब मैं कुनीति, अमर्यादा (छलकपट) का अन्त करता हुआ शुभाशुभ कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले संसार-चक्रको जीतकर अर्जुनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए कपटसे किरात-वेष धारण करनेवाले, शरणागतोंको मनोभिलषित श्रेष्ठ वर देनेवाले एवं अविद्या आदि पञ्च क्लेशोंकी परम्पराको खण्डित कर देनेवाले परम उत्कृष्ट परमेश्वरकी शरण लेता हूँ।

मलक्षयमलक्षयं भव भवत्प्रसादादहं
शिवस्तव शिव स्तवः प्रविहितस्ततोऽयं मया।
समुद्धर समुद्धर व्यसनसङ्कटादर्कजः
समक्षमसमक्षमः स्पृशति चेन्न जिह्रेषि किम् ॥ २७ ॥

अन्वय—भव ! अहम् भवत्प्रसादात् मलक्षयम् अलक्षयम्। शिव ! ततः मया अयम् शिवः तव स्तवः प्रविहितः। हर ! समुत् [त्वम् माम्] व्यसनसङ्कटात् समुद्धर, असमक्षमः अर्कजः (यमः) तव समक्षम् माम् स्पृशति चेत्, तर्हि त्वम् किम् न जिह्रेषि ?

अर्थ—अयि सदाशिव ! आपके प्रसादसे मेरे तीनों मलों (अर्थात् आणव, मायीय और कार्म) का क्षय हो गया है, इसीसे मैंने यह परम कल्याणकारक आपका स्तव (स्तुति) किया है। हे परम आनन्दके सागर ! अब आप मुझे सहर्ष इस जन्म-मरणरूप महासङ्कटसे मुक्त कर दीजिए ! भगवन् ! शुभाशुभके विचार और क्षमासे हीन यमराज यदि मुझे आपके ही सामने बलात्कारपूर्वक स्पर्श करनेकी चेष्टा करता है तो क्या आप दयासागरको इससे लज्जा नहीं आती ?

सन्त्यन्याः कृतिनामनामयगिरः का नाम नामन्थरा
न ज्ञानां हृदि वास्तवास्तव मुदं के वा स्तवास्तन्वते।
वागेषा त्वतिसाध्वसाध्वपतिता यत्साध्वसाध्वभ्यधा-
त्तन्मन्ये महिमानमानयति ते स्थेमानमानन्दकृत् ॥ २८ ॥

इति काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो
महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'द्विपदयमकं'
नाम चतुर्विंशं स्तोत्रम्।

अन्वय—अनामय ! कृतिनाम् अमन्थरा गिरः अन्याः का नाम न सन्ति ? (अपि तु सन्त्येव) के वास्तवाः तव स्तवाः ज्ञानाम् हृदि मुदं न तन्वते ? (अपि तु तन्वत एव) अतिसाध्वसाऽध्वपतिता एषा (मदीया) वाक् तु यत् साध्वसाधु अभ्यधात्, अहम् मन्ये तत् आनन्दकृत् (अभिधानम्) ते महिमानम् स्थेमानम् आनयति ।

अर्थ—अयि अनामय ! आपको प्रसन्न करनेवाली बड़े-बड़े विद्वानोंकी सुमनोहर वाणी क्या और नहीं हैं ? अर्थात् बहुत हैं । क्या आपके वास्तविक स्तोत्र सहृदयोंके हृदयमें परम आनन्द प्रदान नहीं करते ? अर्थात् अवश्य करते हैं । किन्तु हे प्रभो ! "मैं प्रभुकी स्तुति किस प्रकारसे कर सकूँगी !" ऐसे भयमें पड़ी हुई इस मेरी वाणीने आपकी स्तुतिके विषयमें यह जो कुछ भी साधु-असाधु (भला-बुरा) कहा है, सो मैं समझता हूँ कि वह सब सहृदय-जनोंको आनन्द देनेवाला मेरी वाणीका कथन, आपकी महिमाको संसारमें दृढ़ करेगा ।

पञ्चविंशं स्तोत्र

अब यहाँसे चित्रकाव्य यमकद्वारा ही 'रुचिरञ्जन' नामक पच्चीसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए 'कवि' कहते हैं—

किल यस्य कल्पितमहोदयया
हृदयं समाश्रितमहो दयया ।
विभवं यतश्च परमाप दिवः
प्रभुरेष पातु परमापदि वः ॥ १ ॥

अन्वय—अहो ! किल, कल्पितमहोदयया दयया यस्य हृदयम् समाश्रितम्, यतः च दिवः प्रभुः (इन्द्रः) परम् विभवम् आप, एषः (परमेश्वरः) वः परमापदि पातु ।

अर्थ—अहह ! महान् उदय अर्थात् भोग और मोक्षलक्ष्मीको प्रदान करनेवाली उदार करुणा जिस (प्रभु) के विशाल हृदयमें बैठी हुई है और जिस उदार-शिरोमणिने इन्द्रको परम वैभव अर्थात् स्वर्गलोकका आधिपत्य प्रदान किया; वह परमेश्वर आपको इस (जन्म मरण चक्ररूप) घोर आपत्तिसे बचावे ।

तव सेवकस्य परमेश मनः
कुरुते न हन्तुमपि मे शमनः ।
भगवन्नतो वपुरनीरसदृ-
क्तव नौमि सिद्धधुनिनीरसदृक् ॥ २ ॥

अन्वय—परमेश ! शमनः तव सेवकस्य मे हन्तुम् अपि मनः न कुरुते ; अतः भगवन् ! अनीरसदृक् (अहम्) सिद्धधुनिनीरसदृक् तव वपुः नौमि ।

अर्थ—हे परमेश्वर ! यमराज मुझ आपके सेवकको मारनेकी इच्छा तक नहीं

करता, इसलिए हे भगवन् ! शान्त रससे पूर्ण दृष्टि-वाला यह मैं आपके—सुरसरिके नीरके तुल्य—स्वच्छ शरीरको प्रणाम करता हूँ।

स्रगिवार्प्यते कलितसारसना
त्वयि गीर्यया जयति सा रसना।
त्वयि यन्महेश वरदेऽवहितं
हृदयं तदेव वरदेव हितम् ॥ ३ ॥

अन्वय—महेश ! यया (रसनया) कलितसारसना गीः स्रक् इव त्वयि अर्प्यते, सा रसना जयति । वरदेव ! यत् हृदयम् त्वयि वरदे अवहितम् तदेव हितम् [भवति] ।

अर्थ—हे महेश्वर ! जो जिह्वा (अपनी) मेखलाबन्धसे युक्त वाणीको, मालाकी तरह आपको अर्पित करती है वही रसना सर्वोत्कृष्ट है और जो हृदय आपके चरणोंमें लीन (एकाग्र) रहता है, वही हितकारक है।

तव दृक्सुधाकरकलोपमिता
पतिता विपत्तदनु लोपमिता।
भगवन् दृशैव कमला भवतः
सहसाङ्कमेति शमलाभवतः ॥ ४ ॥

अन्वय—भगवन् सुधाकरकलोपमिता तव दृक् [त्वद्भक्तजने] पतिता, तदनु विपत् लोपम् इता । भवतः दृशा एव सहसा कमला शमलाभवतः अङ्कम् एति ।

अर्थ—अयि भगवन् ! चन्द्रकलाके समान सुनिर्मल एवं शीतल आपकी दृष्टि यदि भाग्यवशात् भक्तजनों पर पड़ जाती है, तो सब विपत्तियाँ तत्काल लुप्त हो जाती हैं। हे प्रभो ! आपकी सुदृष्टि होने पर वह मोक्षलक्ष्मी परम शान्त भक्तजनोंकी गोदमें स्वयं ही आ विराजती है।

कुरु नाथ चेतसि वचो दयिता
तव गीरहं न तव चोदयिता।
अथवा महेश पृथुकामतया
न किमारटन्ति पृथुका मतया ॥ ५ ॥

अन्वय—नाथ ! त्वम् (मदीयम्) वचः चेतसि कुरु । (यतः) गीः तव दयिता, (अतः) अहम् तव चोदयिता न [भवामि] अथवा महेश ! मतया पृथुकामतया (घनाभिलाषत्वेन) पृथुकाः किम् न आरटन्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! आप इस मेरी वाणीको अपने हृदय में धारण कर लीजिए। क्योंकि दीनोंके वचन आपको बहुत प्रिय लगते हैं, इसलिये इस विषयमें मैं आपको अधिक नहीं प्रेरित करता। अथवा हे महेश ! तीव्र अभिलाषा-वश बालक लोग क्या-क्या नहीं रटते ? और किसको क्षुब्ध नहीं करते।

विषयैर्मुखे वरद कामधुरैर्विवशीकृतं घटितकामधुरैः ।
भज मां महेश्वर मुदा रहितं दिश भाषितामृतमुदारहितम् ॥ ६ ॥

अन्वय—वरद ! घटितकामधुरैः मुखे कामधुरैः विषयैः विवशीकृतम्, मुदा रहितम् माम् भज । महेश्वर ! उदार-हितम् भाषितामृतम् दिश ।

अर्थ—हे प्रभो ! बड़ी-बड़ी अभिलाषाओंके भारको इकट्ठा करनेवाले, आरम्भ में मधुर लगनेवाले शब्दादि विषयोंसे विह्वल किये हुये और आनन्दसे हीन मुझ दीनको अब अपने वशमें कर लीजिए। हे महेश ! मुझको अपनी उदार और हितकारी अभय वाक्य-सुधा सुनाइए।

विजितं मया जगदमोहतया न रुषा क्षतो मम दमो हतया ।
तृणवत्सुरक्षितिधरोऽपि तया विहितो महेश हृदि रोपितया ॥ ७ ॥

अन्वय—महेश ! मया अमोहतया जगत् विजितम्, हतया रुषा मम दमः न क्षतः । हृदि रोपितया तया सुरक्षितिधरः अपि तृणवत् विहितः ।

अर्थ—अयि महेश्वर ! मोह-भावसे रहित होनेके कारण मैंने सारा जगत् जीत लिया। उस तुच्छ क्रोधने मेरी शान्तिको नहीं बाधित किया। हे प्रभो ! मनमें दृढ़ता से धारण किये अमोह-भावसे मैंने सुमेरु पर्वतको भी, शुष्क तृण के समान, तुच्छ बना दिया है।

मरुतायतेव मलयाचलतः
क्षपिता धृतिः कमलया चलतः ।
तदिमां प्रसादनपरां करुणां
शृणु मे गिरं कुरु परां करुणाम् ॥ ८ ॥

अन्वय—[हे विभो !] मलयाचलतः आयता मरुता इव, कमलया चलतः मम धृतिः क्षपिता । तत् प्रसादनपराम् इमाम् मे करुणाम् गिरम् शृणु, पराम् करुणाम् कुरु ।

अर्थ—हे प्रभो ! मलयाचलसे आते हुए पवनके तुल्य अर्थात् अत्यन्त अस्थिर सांसारिक वैभवोंने मेरे धैर्यको क्षीण कर दिया है। इसलिए हे नाथ ! आपकी आराधनामें तत्पर हुई मेरी वाणीकी करुण-विज्ञप्तिको आप सुन लीजिए और मुझपर विशेष कृपा कीजिए।

भवतः प्रसादमधुरामहतां दृशमीयुषां शमधुरा महताम् ।
धृतिमेत्यपास्य च रमा लसतां सुलभत्वमेति चरमालसताम् ॥ ९ ॥

अन्वय [हे विभो !] प्रसादमधुराम् अहताम् भवतः दृशम् ईयुषाम् महताम् शमधुरा धृतिम् एति, लसताम् (क्रीडताम्) महताम् रमा च चरमालसताम् अपास्य सुलभत्वम् एति ।

अर्थ—हे प्रभो ! प्रसन्नतासे मधुर और कहीं भी विफल न होनेवाली आपकी करुणामयी दृष्टिकी शरण ग्रहण किये महापुरुषोंका धैर्य स्थिर स्थितिको प्राप्त होता

है और उन अपार ऐश्वर्यशालियोंके लिये भगवती श्रीमहालक्ष्मी भी आलस्यरहित होकर अतीव सुलभ हो जाती हैं।

समरे विकीर्णगजराजघटे बत तस्य शक्तिरजरा जघटे।
तव येन सेवनविधौ तरसा मतिरर्पिताऽन्यभविधौतरसा ॥ १० ॥

अन्वय—[हे विभो !] बत, तव सेवनविधौ येन तरसा अन्यभविधौतरसा मतिः अर्पिता, तस्य शक्तिः विकीर्णगजराजघटे समरे अजरा जघटे।

अर्थ—अहा, हे विभो ! जिस धन्यात्माने अपनी स्वच्छ बुद्धिको आपके चरणारविन्दकी सेवामें अर्पित किया है, उस धन्यात्माकी शक्ति बड़े-बड़े हाथियोंकी घटाओंसे आकुल संग्राममें अजर होकर विजय पाती है।

विषयान्प्रति प्रयतमानमदः सुजनो मनः प्रयतमानमदः।
तव शासनेन वशमानयते शरणं ततो नवशमानयते ॥ ११ ॥

अन्वय—[हे नाथ !] प्रयतमानमदः सुजनः विषयान् प्रति प्रयतमानम् अदः मनः तव शासनेन वशम् आनयते; ततः नवशमान् (साधून्) शरणम् अयते।

अर्थ—हे नाथ ! जिसके मान और मद शान्त हो गये हैं, वह सत्पुरुष नित्य विषयोंकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेवाले इस दुष्ट मनको आपके बतलाये हुए उपायों द्वारा वशमें कर लेता है। तदनन्तर वह अखण्ड शान्तिसे भरे महात्माओंकी शरणमें जाता है।

रविजं रजोभिरिव मेचकितं हृदयं विभाव्य शिव मे चकितम्।
वचनं जितामृतरसं भ्रमतः पथि सङ्कटे वितर संभ्रमतः ॥ १२ ॥

अन्वय—शिव ! रजोभिः मेचकितम् इव रविजम् विभाव्य, मे हृदयम् चकितम् [भवति], संभ्रमतः सङ्कटे पथि भ्रमतः मे जितामृतरसम् वचनम् वितर।

अर्थ—हे सदाशिव ! धूलिसे मलिन हुए-से अर्थात् काले यमराजका स्मरण करनेसे मेरा हृदय भयभीत हो जाता है। इसलिए हे नाथ ! भ्रमके कारण संकटमय मार्गमें भ्रमण करनेवाले मुझ दीनको अमृतरसके समान अपना अभय-वाक्य सुना दीजिए।

त्वयि चक्षुरीश कलितापकृति क्षिपति क्षणं शकलितापकृति।
परशक्तिरिद्धवपुरङ्गमिता जनता यया तव पुरं गमिता ॥ १३ ॥

अन्वय—ईश ! कलितापकृति त्वयि शकलितापकृति चक्षुः क्षणम् क्षिपति सति इद्ध-वपुः सा परशक्तिः अङ्गम् इता, यया जनता तव पुरम् गमिता।

अर्थ—हे ईश ! कलिकालके सन्तापका कर्तन करनेवाली एवं प्राणियोंके जरा-मरणको दूर करनेवाली आपकी कृपादृष्टिके होनेपर देहमें ऐसी तेजोमयी शक्ति आ जाती है जिससे कि भक्त लोग आपकी पुरीमें ही पहुँच जाते हैं।

रविजस्य वर्ष्म सहसा रचितं भवताग्निसादसहसारचितम्।
वपुरपि ते मदनघस्मरतां न तथापि भीमदनघ स्मरताम् ॥ १४ ॥

[हे प्रभो !] असहसारचितम् रविजस्य वर्ष्म भवता सहसा अग्निसात् रचितम् । अनघ ! ते वपुः मदनवस्मरताम् आप, तथापि (सः) स्मरताम् भीमत् (भयप्रदम्) न [भवति] ।

अर्थ—हे शिव ! अत्यन्त असहनीय बलसे युक्त यमराजके शरीरको आपने तत्काल भस्म कर दिया । हे मायाके आवरणसे रहित भगवन् , आपके शरीरने उस जगद्विजयी कामदेवको भस्म कर दिया, तथापि यह आपका शरीर आपका स्मरण करनेवालोंको भय नहीं देता, किन्तु परम आनन्द ही प्रदान करता है ।

करुणा क्षतानवधिकोपचयाधिगता मया त्वदधिकोपचया ।
शशिना यथाकुलतरं गलता द्युसरिन्निरर्गलतरङ्गलता ॥ १५ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] यथा, आकुलतरम् गलता (क्षीणवपुषा) शशिना निरर्गल-तरङ्गलता द्युसरित् अधिगता, [तथैव] मया (अपि) क्षतानवधिकोपचया अधिकोपचया करुणा त्वत् (भवत्सकाशात्) अधिगता ।

अर्थ—हे भगवन् ! जैसे (आपके मस्तकपर विराजमान हुए) अत्यन्त व्याकुल होकर क्षीण हुए चन्द्रमाको अविच्छिन्न तरङ्ग-लताओंवाली मन्दाकिनी प्राप्त हुई है, वैसे ही मुझ व्याकुल हुए क्षीणको भी अपार कोपको दूर करनेवाली एवं अतिशय वृद्धिको धारण करनेवाली आपकी करुणा प्राप्त हो गई है ।

गरुडेन यद्विषमपक्षतिना कवलीकृतं विषमपक्षतिना ।
स तव प्रसादमहिमा न परः प्रभुरानतं प्रति हि मानपरः ॥ १६ ॥

अन्वय—[हे महेश !] विषमपक्षतिना अपक्षतिना गरुडेन विषम् (अपि) यत् कवलीकृतम् , सः तव प्रसादमहिमा [भवति] हि परः प्रभुः आनतम् प्रति मानपरः न (भवति) ।

अर्थ—हे प्रभो ! विशाल पक्षोंवाले और बाधाओंसे रहित गरुड़ने जो महान् विषको भी भक्षण कर डाला, वह सब आपकी ही प्रसन्नता की महिमा है । क्योंकि आप अपने विनीत भक्तजनोंका कभी भी अनादर नहीं करते ।

पदमाप्तुमार्तिशमनं गहनं प्रभुमर्थये भृशमनङ्गहनम् ।
वसनं यथार्तिहरणं सहिमे समये तथैव शरणं स हि मे ॥ १७ ॥

अन्वय – आर्तिशमनम् गहनम् पदम् आप्तुम् [अहम्] अनङ्गहनम् प्रभुम् भृशम् अर्थये । यथा सहिमे समये (हेमन्तकाले) वसनम् आर्तिहरणम् [भवति] हि, तथैव सः प्रभुः मे शरणम् [अस्ति] ।

अर्थ—जन्म-मरण-रूपी महाव्याधिको शान्त करनेवाले उस अति दुर्गम परम तेजोमय धामको प्राप्त करनेके लिये मैं प्रभुसे बार-बार प्रार्थना करता हूँ । जैसे हेमन्त-की शीतबाधाके समयमें वस्त्र ही शरण होता है, वैसे ही समस्त दुःखोंको हरनेवाले प्रभु ही मेरी शरण हैं ।

सुरसुन्दरीषु रमणीयतमा स्ववपुर्गुणेन रमणी यतमा ।
तव भक्तमक्षतरसाजर सा भजते समेत्य तरसा जरसा ॥ १८ ॥

अन्वय—अजर, सुरसुन्दरीषु स्ववपुर्गुणेन रमणीयतमा यतमा (या काचित्) रमणी, सा अक्षतरसा [सती] जरसा [उपलक्षितमपि] तव भक्तम् तरसा समेत्य भजते ।

अर्थ—हे अविनाशिन् ! स्वर्गलोककी अप्सराओंमें जो सबसे अधिक रूपलावण्यवती और रमणीयतमा है, वह आपके वृद्ध सेवकको भी अत्यन्त अनुरागसे उपस्थित होकर भजती है ।

त्वयि गीर्मया निजगदे बत या
निखिलं जयामि जगदेव तया ।
मुदितस्य भक्तिसुधया भवतः
सभयस्य किं वसुधया भवतः ॥ १९ ॥

अन्वय—बत मया या गीः त्वयि निजगदे, तया निखिलम् जगत् एव जयामि । (यतः) भवतः सभयस्य भवतः भक्तिसुधया मुदितस्य वसुधया [अपि] किम् ?

अर्थ—हे नाथ ! हर्षका बात है कि मैंने आपके विषयमें जो यह स्तुतिवाणी निवेदित की है, इसमें मैंने सारे जगत्को ही जीत लिया है । परन्तु हे प्रभो ! भव (संसार) से भयभीत और भवकी (आपकी) भक्ति-सुधासे परम आनन्दको प्राप्त हुए पुरुषको यदि सारी पृथ्वी प्राप्त भी हो जाय, तो इससे उसको क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

शिरसि स्रजेव विधुरोचितया
हृदि मद्गिरात्र विधुरोचितया ।
क्रियतां पदं शिव धिया सह तेऽ
विपदं सदानवधि या सहते ॥ २० ॥

अन्वय—शिव ! [तव] शिरसि विधुरोचितया स्रजा इव, विधुरोचितया मद्गिरा अत्र ते हृदि [तया] धिया (अनुग्रहबुद्धया) सह पदम् क्रियताम् ; या (धीः) भक्तजनस्य अनवधि अविपदम् सदा सहते ।

अर्थ—हे सदाशिव ! चन्द्रमासे सुशोभित पुष्पमाला जैसे आपके मस्तकपर स्थान ग्रहण करती है, वैसे ही मेरी यह संकटकालोचित वाणी आपकी उस अनुग्रहमयी बुद्धिके साथ आपके हृदयमें स्थान प्राप्त करे, जो भक्त-जनोंकी विपत्तिको निरन्तर सदा सहन नहीं कर सकती ।

विभुमाश्रये विगलदङ्गलतः
प्रमये विभेमि यदमङ्गलतः ।
स विमुच्य पाशमशमं गलतः
कुरुते हि मे भयशमं गलतः ॥ २१ ॥

अन्वय—यत् [अहम्] प्रमये विगलदङ्गलतः सन् अमङ्गलतः बिभेमि, तत् विभुम् आश्रये, हि सः अशमम् पाशम् मे गलतः विमुच्य, गलतः मे भयशमम् कुरुते ।

अर्थ—मैं मरते समय, जब मेरा शरीर गिरता रहेगा, कालकी कराल भ्रुकुटियोंसे डरता हूँ, इसलिए प्रभुकी शरण लेता हूँ; क्योंकि वह कृपालु प्रभु यमराजके दुरन्त नागपाशको मेरे गलेसे हटाकर मुझ जीर्ण-शीर्णके महाभयको शान्त कर देंगे।

चरणौ यथा मुरजितः चमयाधिगतौ भरं धरितुमक्षमया।
नमतां तथैव कृतरक्ष मया भवतो धिया समुचितक्षमया ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे विभो !] यथा भरम् धरितुम् अक्षमया क्षमया मुरजितः चरणौ अधिगितौ, तथैव नमताम् कृतरक्ष ! मया समुचितक्षमया धिया भवतः चरणौ अधिगतौ।

अर्थ – हे नाथ ! जैसे पापियोंका भार धारण करनेमें असमर्थ पृथ्वीको (उसका भार रहनेके लिये अवतीर्ण हुए) भगवान् मुरारिके चरणारविन्द प्राप्त हुए, वैसे ही हे शरणागतोंके प्रतिपालक सदाशिव ! अतीव क्षमायुक्त बुद्धिके द्वारा मुझे भी आपके चरणारविन्द प्राप्त हुए हैं।

तिमिरं रवेरिव विभामुदितां
दृशमाप्य ते जहति या मुदिताम्।
भगवन् रसाद् गिरमिमामुदिता-
मुपकर्णयन्मयि दिशाऽमुदि ताम् ॥ २३ ॥

अन्वय—भगवन् ! रवेः उदिताम् विभाम् इव, मुदिताम् याम् ते दृशम् आप्य [भक्तजनाः] तिमिरम् जहति। [हे विभो !] रसात् (भक्तिरसात्) उदिताम् इमाम् मम गिरम् उपकर्णयन् अमुदि मयि ताम् (दृशम्) दिश।

अर्थ—हे भगवान् ! सूर्यमण्डल से उदित हुई दीप्तिके समान आपकी जिस प्रसन्न-दृष्टिको पाकर भक्तजन तत्काल अज्ञान-रूप अन्धकारका त्याग करते हैं, हे प्रभो ! भक्तिरससे उत्पन्न हुई मेरी इस स्तुतिको सुनते हुए आप मुझ हर्षहीन दीनपर वह प्रसन्न-दृष्टि डालिये।

करुणा सुरैः प्रतिपदानत या
भवतः स्तुता सदपदानतया।
किमु मां भियाप्तमपदानतया
भजसे निरस्तविपदा न तया ॥ २४ ॥

अन्वय—सुरैः प्रतिपदानत ! सदपदानतया भवतः या करुणा [जनैः] स्तुता [भवति]; अपदानतया भिया आप्तम् माम् निरस्तविपदा तया किम् उ न भजसे ?

अर्थ – हे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवोंसे प्रतिक्षण वन्द्यमान आराध्य देव ! भक्तोंके निमित्त अनेकों लोकोत्तर लीलाओंके द्वारा प्रख्यात हुई आपकी जिस करुणाकी भक्तजन सदैव आराधना किया करते हैं; हे भगवन् ! असमय पर प्राप्त हुई बिपत्तिसे ग्रस्त मुझ दीनको आप उस विपद्विनाशिनी करुणासे अनुगृहीत क्यों नहीं करते ?

तव दृग्जयत्यलसतां लसतां
मदनस्तया व्यतनुताऽतनुताम्।
कुशलाय सा किल सतां लसतां
निबिडं शमप्यतनुता तनुताम् ॥ २५ ॥

अन्वय—[हे विभो !] या तव दृक् मदनस्य अतनुताम् व्यतनुत, [सा] लसताम् अलसताम् जयति। किल सा अतनुता दृक् सताम् कुशलाय लसताम् निबिडम् शम् अपि तनुताम्।

अर्थ—हे प्रभो ! जिस आपकी दृष्टिने कामदेवको शरीरसे रहित किया, वह (दृष्टि) भक्तिसे विनत शरणागतोंके, आपके चरणोंके उपासनमें, आलस्यको दूर करती है। सो हे प्रभो ! वह आपकी कभी लघु न होनेवाली दृष्टि सत्पुरुषोंके कल्याणके लिए उल्लसित हो और उनकी खूब मङ्गलवृद्धि करे।

यया भजन्ते भुवि मानवा हितां
विभूतिमन्ते च विमानवाहिताम्।
यमं च याऽधाद्दलशो भयानकं
तया दृशा पास्युरुशोभया न कम् ॥ २६ ॥

अन्वय—[हे विभो !] यया (तव दृशा) भुवि मानवाः हिताम् विभूतिम् भजन्ते, अन्ते च विमानवाहिताम् भजन्ते। या च भयानकम् यमम् दलशः अधात्, तया उरुशोभया दृशा कम् न पासि ?

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी जिस अनुग्रह-दृष्टिसे धन्यात्मा लोग इस लोकमें परम ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं और अन्तमें विमानवाहिता—देवताओंकी पदवी—प्राप्त करते हैं। हे नाथ ! जिस आपकी दृष्टिने भयानक यमराजके मदको चूर किया, उस परममनोहर तेजोमयी करुणा-पूर्ण दृष्टिसे आप किस-किसकी रक्षा नहीं करते ? अर्थात् सभी जीवोंकी रक्षा करते हैं।

परमया रमया रहितस्य मे न रुचिरं रुचिरङ्गमिमं व्यधात्।
हर मयाऽरमयाचि भवानतः कुरु चिरं रुचिरञ्जनमेहि मे ॥ २७ ॥

इति काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टकृते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ "रुचिरञ्जनाख्यं" स्तोत्रं पञ्चविंशम्

अन्वय—परमया रमया रहितस्य मे रुचिः इमम् अङ्गम् रुचिरम् न व्यधात्। [अतः हे] हर ! भवान् मया अरम् अयाचि, हे विभो ! त्वम् एहि, चिरम् मे रुचिरञ्जनम् कुरु।

अर्थ - उत्कृष्ट लक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) से रहित होनेके कारण मेरा मनोरथ सफलताको नहीं प्राप्त हुआ। अतः हे आर्तिहर, मैं चिरकालसे आपसे बार-बार प्रार्थना कर रहा हूँ, अब आप शीघ्र आइए और मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिए।

———

षड्विंशं स्तोत्रम्

अब 'पादादियमक' नामक चित्र-काव्य द्वारा छब्बीसवें स्तोत्र का प्रारम्भ करते हुए कवि कहते हैं—

हन्तापहन्तापदुपद्रवाणां यस्याऽक्षयस्याक्षणिकः प्रसादः ।
[1]सन्तापसन्तापहरा प्रपेव कान्तारकान्ता रसना च यस्य ॥ १ ॥
ताहङ्मता दृङ् महतां समन्तादालोकदा लोकहिता च यस्य ।
तं सन्ततं सन्तमसार्त्तलोकपालं कृपालङ्कृतमीशमीडे ॥ २ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—हन्त, यस्य अक्षयस्य अक्षणिकः प्रसादः आपदुपद्रवाणाम् अपहन्ता [भवति] यस्य च रसना प्रपा इव, सन्तापसन्तापहरा कान्तरकान्ता च [भवति] समन्तात् महताम् आलोकदा मता लोकहिता च ताहक् यस्य दृग् [भवति] तम् सन्तमसार्तलोकपालम् कृपालङ्कृतम् ईशम् [अहम्] सन्ततम् ईडे ।

अर्थ—अहा, जिस अविनाशी अनादि परमेश्वरका अटल अनुग्रह जन्म, जरा और मृत्युरूपी आपत्तियों, उनके अन्तर्गत प्रियवियोग आदि दुःखोंको दूर करता है, जिसकी अमृत-रस भरी जीभ प्रपा (पौसरा)के समान जीवोंके आध्यात्मिकादि त्रिविध तापोंके सन्तापको हरती है और जिसकी महात्माओंको परम प्रकाश देनेवाली, परमाभीष्ट दृष्टि जीवोंका हिताचरण करती है; अज्ञान-रूप अन्धकारसे पीड़ित आर्त-जनोंके प्रतिपालक, कृपासे अलंकृत उस ईशकी मैं बार-बार स्तुति करता हूँ ।

हृद्यः सुहृद्यः सुकृतोर्जितानामन्यूनमन्यूनपि यः पृणाति ।
योऽनामयो नामगृहीतिमात्रादस्तापदस्तापमपाकरोति ॥ ३ ॥

अन्वय—यः सुकृतोर्जितानाम् हृद्यः सुहृत् [भवति] यः अन्यूनमन्यून् अपि पृणाति, यः अनामयः नामगृहीतिमात्रात् अस्तापदः सन् तापम् अपाकरोति; सः [भक्तजनम्] परमे पदे नियोक्ता देवः वः कामम् सफलीकरोत्विति चतुर्दशतमश्लोकेनाऽन्वयः ।

अर्थ - जो परमेश्वर पुण्यात्माओंका परम मित्र बन जाता है, जो अत्यन्त क्रोधी लोगोंको भी पूर्ण मनोरथ कर देता है, जो निरामय परमेश्वर केवल नाम लेने मात्रसे ही जीवोंकी आपत्तियोंका निराकरण करता हुआ उनके सन्तापको दूरकर देता है, वह परम तत्त्वका उपदेष्टा स्वयंप्रकाश परमात्मा आपकी इच्छाओंको सफल करे !

चेतः प्रचेतःप्रमुखा यदेकतानं ततानन्तगुणा वहन्ति ।
योगीति यो गीतिषु गीयमानः सिद्धैः प्रसिद्धैः प्रभुरभ्युपेतः ॥ ४ ॥

अन्वय—प्रचेतःप्रमुखाः ततानन्तगुणाः [अपि, सन्तः] चेतः यदेकतानम् वहन्ति, यः प्रभुः योगी इति गीतिषु गीयमानः, प्रसिद्धैः सिद्धैः अभ्युपेतः, स इत्यादि शेषं पूर्ववत् ।

---

१. 'सत्तापसत्तापहरा' इति केचित्पाठमूचुः ।

अर्थ—वरुण आदि लोकपाल लोग अनेकों गुणोंसे विख्यात होकर भी एकाग्र-चित्त होकर जिसका ध्यान करते हैं, अष्टाङ्ग योगका उपदेष्टा समझकर बड़े-बड़े प्रसिद्ध सिद्ध जन जिसकी शरण लेते हैं, वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर आपकी अभिलाषाओंको पूर्ण करे।

मान्योऽधमान्योऽधरयत्युदग्ररंहोभिरंहोभिरपास्तवृत्तान्¹ ।
नामापि नामापिदधाति वीतालोकस्य लोकस्य तमांसि यस्य ॥ ५ ॥

अन्वय—यः मान्यः उदग्ररंहोभिः अंहोभिः अपास्तवृत्तान् अधमान् अधरयति । नाम, यस्य नाम अपि वीतालोकस्य लोकस्य तमांसि अपिदधाति, स इत्यादि सर्वं पूर्ववत् ।

अर्थ—जो महामान्य प्रभु महा उग्र वेगवाले घोर पातकोंसे नष्ट-सदाचारवाले अधमोंको अधोगतिको पहुँचाता है, और जिसका केवल नाममात्र ही अज्ञानसे अन्ध बने लोगोंके शोक, मोहको दूर कर देता है, वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर आपकी अभिलाषा पूर्ण करे।

भूतिर्विभूतिर्विपुला दिशश्च वासो निवासो निलयः पितृणाम् ।
हीनैरहीनैरपि यस्य भूषाऽराला कराला कलिका च मौलौ ॥६॥

अन्वय—यस्य भूतिः विभूतिः, विपुलाः दिशः च वासः, पितृणाम् निलयः निवासः [अस्ति] हीनैः (भूतादिभिः) अहीनैः अपि यस्य भूषा [भवति] यस्य च मौलौ अराला (वक्रा) कराला कलिका [अस्ति] सः देवः वः कामम् सफलीकरोत्वित्यग्रे सम्बन्धः ।

अर्थ – जिस (अतर्क्य लीला-शक्ति सहायक) परमेश्वरकी भूति (भस्म) ही विभूति (ऐश्वर्य) है, विशाल दिशाएँ ही वस्त्र हैं, श्मशान ही निवासस्थान है, भयङ्कर भूत-प्रेत और सर्प ही आभूषण हैं तथा कुटिल चन्द्रलेखा जिसके मस्तक पर है, वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर आपकी मनःकामनाओंको पूर्ण करे।

यः खेऽलयः खेलति यः शिखाभिः सत्यं हसत्यंहतिहारिणीभिः ।
भानां शुभानां शुचिरीश्वरो यस्तानक्षतानक्षिषु यो बिभर्ति ॥ ७ ॥

अन्वय—यः अलयः (रविः) खे खेलति, अहंतिहारिणीभिः शिखाभिः यः (अग्निः) सत्यम् हसति, यः शुचिः शुभानाम् भानाम् ईश्वरः (चन्द्रः), तान् (एतान्) अक्षतान् यः अक्षिषु बिभर्ति, सः० ।

अर्थ—जो अविनाशी तेज (अर्थात् सूर्य) नित्य आकाशमें खेलता है, जो (अग्नि) पापपुञ्जको हरनेवाली ज्वालाओंसे हास्य करता है एवं जो (चन्द्रमा) सुन्दर ताराओंका स्वामी है, इन तीनों अखण्ड ज्योतियोंको जो प्रभु नित्य अपने नेत्रोंमें धारण करता है, वह स्वयंप्रकाश शिव आपकी कामनाओंको परिपूर्ण करे।

संख्येष्वसंख्येष्वपि यो भटानां वैरस्य वैरस्यभुवो निदानम् ।
निन्दावनिं दावहुताशवन्तं रोषं खरोषं खलु यः प्रमार्ष्टि ॥ ८ ॥

---

१. 'कृल्यान्' इति पाठः ।

अन्वय—यः खलु असंख्येषु संख्येषु अपि भटानाम् वैरस्यभुवः वैरस्य निदानम् निन्दावनिम्, दावहुताशवन्तम् खरोषम् रोषम् प्रमार्ष्टि, सः देवः० ।

अर्थ—जो दयालु परमेश्वर असंख्य युद्धोंमें योद्धा लोगोंके परस्पर द्वेष-भावसे होनेवाले वैरके निदान, निन्दाकी जन्मभूमि एवं दावानलके समान उग्र रोष (क्रोध) को शान्त कर देता है, वह प्रभु आपकी मनोभिलाषाओंको सफल करे ।

यज्ञे नयज्ञेन वृतो न पूर्वं दक्षेण दक्षेण शुभे विधौ यः ।
तस्याऽऽनतस्याऽनघमुज्झितावसादं प्रसादं प्रददौ दयाब्धिः ॥ ९ ॥

अन्वय—नयज्ञेन दक्षेण [अपि] दक्षेण पूर्वम् शुभे विधौ यज्ञे न वृतः यः दयाब्धिः (पश्चात्) आनतस्य तस्य अनघम् उज्झितावसादम् प्रसादम् प्रददौ, सः० ।

अर्थ—नीतिको जाननेवाले और परम चतुर भी दक्ष प्रजापतिने जिस प्रभुको अपने यज्ञमें पहले नहीं वरा, किन्तु पीछे जब अपने अपराधको समझकर उसने नम्रता प्रकट की, तब उस अपराधीपर भी जिस दयासागरने अखण्ड प्रसादानुग्रह किया, वह अतिशय उदार ईश्वर आपकी अभिलाषा पूर्ण करे ।

नीतावनीतावचलैरलभ्यः साध्यैरसाध्यैरपि यस्तपोभिः ।
सेवालसे बालमुनौ किलोपमन्यावमन्यावकरोत्प्रसादः ॥ १० ॥

अन्वय—यः अनीतौ नीतौ अचलैः साध्यैः असाध्यैः तपोभिः अपि अलभ्यः, यः अमन्यौ बालमुनौ उपमन्यौ सेवालसे अपि प्रसादम् अकरोत्, सः० ।

अर्थ—अनुपद्रव नीतिमें अचल श्रद्धा रखनेवाले साध्य (सिद्ध) लोग अनेकों असाध्य तपस्याओंसे भी जिस प्रभुका पार नहीं पा सकते, और जिस प्रभुने अमन्यु (क्रोधसे रहित) बालक उपमन्यु मुनिको बिना सेवासे ही प्रसन्न होकर क्षीर-सागरके दानसे अनुगृहीत किया, वह उदार करुणाकर शङ्कर आपकी अभिलाषा पूर्ण करे ।

नायं विनाऽयं विदधाति लोकः कर्मण्यकर्मण्यतयाभियोगम् ।
सत्त्वानसत्त्वानपि नेतुमास्थामर्थः समर्थः स यतोऽभ्युदेति ॥ ११ ॥

अन्वय—यम् विना अयम् लोकः अकर्मण्यतया कर्मणि अभियोगम् न विदधाति, असत्त्वान् अपि सत्त्वान् आस्थाम् नेतुम् सः समर्थः अर्थः यतः अभ्युदेति, सः० ।

अर्थ—जिसकी कृपाके बिना, अकर्मण्य होनेके कारण, लोग अपने-अपने कर्ममें नहीं प्रवृत्त हो सकते और जो अतिशय करुणालु प्रभु धैर्यहीन प्राणियोंको भी आस्था (स्थिति) देता है, वह भगवान् शङ्कर आपको कृतकृत्य करे

धर्मेण धर्मेण निजोचितेन कामेन कामेन वृताभयेन ।
कालेन काले नतिमागतेन वातेन वा तेन सुखावहेन ॥ १२ ॥
जीवेन जीवेन तदर्पितेन काव्येन काव्येन मनोहरेण[1] ।
मित्रेण मित्रेण तमोवृतानां सौम्येन सौम्येन च सेव्यते यः ॥ १३ ॥
(युग्मम्)

---

१. मनोरमेण, इत्यपि पाठः ।

अन्वय—यः धर्मेण निजोचितेन धर्मेण, वृताभयेन कामेन कामेन, काले नतिम् आगतेन कालेन, तेन सुखावहेन वातेन वा, जीवेन तदर्पितेन जीवेन, काव्येन मनोहरेण काव्येन, तमोवृतानाम् मित्रेण मित्रेण, सौम्येन सौम्येन च सेव्यते; सः० ।

अर्थ—जो प्रभु निजोचित धर्मसे धर्मराजके द्वारा, अभय-प्राप्तिकी इच्छासे कामदेवके द्वारा, समय-समय पर अतीव विनम्रता या अपमानको प्राप्त हुए कालके द्वारा, सुखावह वायुके द्वारा, तदर्पित जीवहुए जीव (देवगुरु श्री बृहस्पति) के द्वारा, मनोहर काव्यसे काव्य (शुक्राचार्य) के द्वारा, अन्धकारग्रस्त जीवोंके मित्र श्री मित्रदेव (सूर्य) के द्वारा और सौम्य बुधके द्वारा अहर्निश सेवित किया जाता है; वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर आपकी उत्तम कामनाओंको पूर्ण करे ।

लोकान् सलोकान् सदयोऽसृजद्यो धाता विधाता विभुरीप्सितानाम् ।
देवः पदे वः परमे नियोक्ता कामं स कामं सफलीकरोतु ॥ १४ ॥

(द्वादशभिः कुलकम्)

अन्वय—ईप्सितानाम् विधाता सदयः विभुः यः धाता सलोकान् लोकान् असृजत्, सः परमे पदे नियोक्ता देवः वः कामम् कामम् (निश्चयेन) सफलीकरोतु ।

अर्थ—शरणागतोंकी सम्पूर्ण अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले जिस सर्वत्र व्यापी विधाताने चराचर-सहित समस्त भुवनोंको रचा, वह निर्वाण-पदको देनेवाला स्वयंप्रकाश परमेश्वर हमारी सम्पूर्ण अभिलाषाओंको अवश्य पूर्ण करे ।

तं वन्दितं वन्दिभिरर्चयन्ते सन्तो लसन्तो ललितैर्वचोभिः ।
तस्याऽजितस्याजिषु नौति लीलामुत्तालमुत्तालरवेण लोकः ॥ १५ ॥
धीरस्य धीरस्यति तस्य तीक्ष्णा बन्धानुबन्धानुगतां प्रवृत्तिम् ।
दानं ददानं दयितेव रागादानन्ददा नन्दयते च तं श्रीः ॥ १६ ॥
संपन्नसम्पन्नवसिद्धिहेतुं धुर्यामधुर्याममरेन्द्रमुख्याः ।
भासा शुभा सा शुचिरीशभक्तिर्यस्याऽभयस्याभरणत्वमेति ॥ १७ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—सम्पन्नसम्पन्नवसिद्धिहेतुम् धुर्याम् याम् (ईशभक्तिम्) अमरेन्द्रमुख्याः अधुः, सा भासा शुभा शुचिः 'ईशभक्तिः' यस्य अभयस्य आभरणत्वम् एति, वन्दिभिः वन्दितम् तम् ललितैः वचोभिः लसन्तः सन्तः अर्चयन्ते । आजिषु अजितस्य तस्य लीलाम् लोकः उत्तालरवेण उत्तालम् (त्वरितम्) नौति । तस्य धीरस्य तीक्ष्णा धीः बन्धानुबन्धानुगताम् प्रवृत्तिम् अस्यति । दयिता इव आनन्ददा श्रीः च [अर्थिभ्यः] दानम् ददानम् तम् रागात् आनन्दयते ।

अर्थ—पूर्ण सम्पत्तियोंकी नवीन सिद्धिदात्री जिस ईशभक्ति को ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवशिरोमणि धारण करते हैं, वह परम प्रकाशमयी विशाल शिवभक्ति जिस निर्भयात्माका आभूषण बन जाती है, उस श्रेष्ठ वन्दियोंसे वन्दित धन्यात्माको सहृदय जन सुललित वचनोंद्वारा परम आदरपूर्वक अर्चित करते हैं । महाघोर

सङ्ग्रामोंमें विजय प्राप्त करनेवाले उस धन्यात्माकी पवित्र लीलाओंको लोग ऊँचे स्वरसे गाया करते हैं। उस धीर पुरुषकी तीक्ष्ण बुद्धि संसार-चक्रके बन्धनोंमें डालनेवाली प्रवृत्तिको शीघ्र त्याग देती है। तथा याचकोंको अनेकों दान देतेहुए उस धन्यात्माको सकल प्रकारका आनन्द देनेवाली लक्ष्मी, प्रेयसी स्त्रीके समान, बड़े अनुरागसे आनन्दित करती है।

[शिवभक्तिकल्पलताके अलौकिक आनन्द-रसास्वादमें मग्न होनेके कारण उसके सामने सांसारिक समस्त वैभवको तृष्ण-तुल्य समझते हुए अब हमारे कवि कतिपय श्लोकोंके द्वारा अपना मनोविनोद करते हैं—]

शङ्का भृशं का भृतकप्रियश्चेदासन्नदासं न जहाति शम्भुः।
नाराधनाराधयितुश्च मिथ्या किं चित्त किंचित्तरलत्वमेषि ॥ १८ ॥
सानन्द सा नन्दनभूस्तृणं ते कल्याण कल्याणगिरिः क्व गण्यः।
सा तेजसा ते जडतामुदस्तकम्पाऽनुकम्पा नुदतीन्दुमौलेः ॥ १९ ॥
जम्बालजं बालरवेरिवाभाऽदीनं नदीनं नवचन्द्रिकेव।
साशङ्क सा शङ्करभक्तिरुच्चैरक्षामरक्षा मदयिष्यति त्वाम् ॥ २० ॥
नो भोगिनो भोगिभिरर्चितो यः सातङ्क सातं कलयञ्जहाति।
स त्वाऽलसत्वालयदैन्यहारी पास्यत्यपास्यत्यशुभं च शंभुः ॥ २१ ॥
(चक्कलकम्)

अन्वय—चित्त ! ते भृशम् का शङ्का ? शम्भुः चेत् भृतकप्रियः तर्हि आसन्नदासम् न जहाति, आराधयितुः आराधना च मिथ्या न [भवति], [त्वम्] किञ्चित् तरलत्वम् किम् एषि ? सानन्द ! सा नन्दनभूः ते तृणम् [भवति] हे कल्याण [सः] कल्याणगिरिः क्वः गण्यः ? [भो चित्त !] उदस्तकम्पा सा इन्दुमौलेः अनुकम्पा [स्वकीयेन] तेजसा ते जडताम् नुदति, साशङ्क ! बालरवेः आभा जम्बालजम् इव, नवचन्द्रिका अदीनम् नदीनम् इव, सा उच्चैः अक्षामरक्षा शङ्करभक्तिः, त्वाम् मदयिष्यति; सातङ्क ! भोगिभिः (विषयाभिलाषिभिः) अर्चितः यः सातम् कलयन् भोगिनः न जहाति, सः अलसत्वालयदैन्यहारी शंभुः त्वा पास्यति अशुभम् च अपास्यति।

अर्थ—अरे चित्त ! तुझे कौन बड़ी शङ्का (चिन्ता) है ? भगवान् शङ्कर भक्तोंको बहुत प्यार करते हैं, इसलिए वे अपने अभिन्न शरणागतका परित्याग कदापि नहीं करते। उनकी आराधना करनेवालेकी प्रार्थना कभी भी मिथ्या (निष्फल) नहीं होती। अतः हे मन ! किञ्चिन्मात्र भी चञ्चलता क्यों करता है ? अरे परम आनन्दमें मग्न मन ! तेरे लिए वह नन्दन वन (इन्द्रका बगीचा) एक तृणके समान है और वह सुवर्ण पर्वत तो कोई गिनतीमें ही नहीं है ? हे प्यारे मन ! शरणागतोंके भयको दूर करनेवाली वह भगवान् शङ्करकी अनुकम्पा अपने प्रकाशसे तेरी जड़ताको दूर कर रही है। अरे ओ शङ्काओंसे घिरा हुआ मन ! जैसे बाल-रविकी आभा कमलको आनन्दित कर देती है और नवचन्द्रिका चञ्चल महासमुद्रको आनन्दित कर देती है,

वैसे ही जीवोंकी हरतरह रक्षा करनेवाली वह भगवान् शङ्करकी विशाल भक्ति तुम्हें हर्षके मारे आह्लादित कर देगी। अरे आधि-व्याधियोंसे घिरा हुआ मन ! भला देख तो, जो अतिशय दयालु प्रभु भोगी (विषयाभिलाषी) लोगोंसे अर्चित हो उन्हें यथेच्छ भोग-सामाग्री प्रदान कर सुखी करता हुआ भोगियों (सर्पों) का भी परित्याग नहीं करता, वह आलस्यके आलय दीनताको हरनेवाला भगवान् शङ्कर सदैव तेरी रक्षा करेगा और तेरे अमङ्गलोंको दूर करेगा।

दोषप्रदोषप्रसृतापि सक्ता सेवारसे वारविलासिनीव।
या निर्भया निर्भररागिणी त्वामायाति मायातिमिरेऽभिसर्त्तुम् ॥ २२ ॥
भावानुभावानुगमेन रूढा बाला नवालानगता वशेव।
साऽनेहसा नेह विहास्यति त्वां कण्ठोपकण्ठोपगतेव वाणी ॥ २३ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—[हे चित्त !] दोषप्रदोषप्रसृता अपि, निर्भररागिणी निर्भया सेवारसे सक्ता या (वाणी), वारविलासिनी इव, मायातिमिरे त्वाम् अभिसर्तुम् आयाति; सा भावानुभावानुगमेन रूढा कण्ठोपकण्ठोपगता वाणी, इह कण्ठोपकण्ठोपगता बाला इव, नवालानगता कण्ठोपकण्ठोपगता वशा (करिणी) इव, त्वाम् अनेहसा न विहास्यति।

अर्थ--अरे ओ भूला मन ! जैसे प्रदोषके समय विचरनेवाली, अतिशय रागवाली और सेवाधर्ममें तत्पर निर्भय अभिसारिका अन्धकारमय समयमें अपने कामुकके पास चली आती है; वैसे ही, पददोष और अर्थदोष रूपप्रदोषमें विचरती हुई भी निश्चल अनुरागवाली एवं भगवत्सेवामें परायण हुई जो निर्भय वाणी (ईश-स्तुति) अविद्यारूप अन्धकारमें तुम्हारे पास आ रही है, वह विवेक और वैराग्यसे उदित भक्तिरसके प्रभावसे अत्यन्त प्रसिद्धिको प्राप्त हुई एवं सदैव तुम्हारे कण्ठमें ही रहनेवाली अभय वाणी अपने प्रियतमके सन्निकटमें गई अतिशय अनुरागवती युवतीकी तरह एवं नवीन गजबन्धनालयके निकट गई, अतीव गाढ़ अनुरागसे पूर्ण करिणीकी तरह, तुम्हें कदापि नहीं छोड़ेगी ? अर्थात् सदैव तुम्हारी सहायता करेगी।

[इस प्रकार अपना मनोविनोद करके कवि अब प्रभुका भी मनोविनोद करते हैं--]

दिव्या यदि व्यायतकान्तयस्ते गौरीश गौरी शशिनः कला च।
विघ्नन्ति विघ्नं तिमिराभिधानं तेनाऽहतेनाऽहमुपद्रुतः किम् ॥ २४ ॥

अन्वय—ईश ! व्यायतकान्तयः दिव्याः ते गौः, गौरी, शशिनः कला च यदि तिमिराभिधानम् विघ्नम् विघ्नन्ति, तर्हि तेन अहतेन (तिमिरेण) अहम् किम् उपद्रुतः [अस्मि] ?

अर्थ—हे ईश ! आपकी अत्यन्त विशाल प्रकाशवाली वाणी, श्रीपार्वती एवं उज्ज्वल चन्द्रकला, ये तीनों वस्तुएँ यदि मोहान्धकाररूप विघ्नको समूल नष्ट कर देती हैं; तो फिर बतलाइए ! यह मोहरूपी अन्धकार मुझे क्यों दुःख दे रहा है ?

मुद्योगमुद्योगभृतो भजन्ते शंसन्ति शं सन्ति च निर्विकल्पाः ।
भक्ता विभक्ता विपदस्त्वदीयाः कस्मादकस्मादहमेव मग्नः ॥ २५ ॥

अन्वय—[हे ईश !] उद्योगभृतः त्वदीयाः भक्ताः मुद्योगम् भजन्ते, शम् शंसन्ति, निर्विकल्पाः च सन्ति, विपदः विभक्ताः च सन्ति, तर्हि अकस्मात् अहम् एव [विपदर्णवे] कस्मात् मग्नः ?

अर्थ—हे प्रभो ! सत्कार्योंमें पूर्ण उद्योग करनेवाले आपके भक्तजन परम आनन्द योगको प्राप्त होते हैं, संसारमें कल्याणके मार्गको प्रकट करते हैं, सदैव निश्चिन्त रहते हैं और विपत्तियोंके संसर्गसे रहित रहते हैं । तो फिर बिना ही कारण एक मैं ही इस विपत्ति-सागरमें क्यों मग्न हो रहा हूँ ?

वाचां तवाचान्तशुचां शुभानामोघा न मोघा नमतां कदाचित् ।
तैरुद्धतैरुद्धर मामनाथं लीनं कुलीनं कुदशान्धकारे ॥ २६ ॥

अन्वय—[अयि विभो !] नमताम् आचान्तशुचाम् तव शुभानाम् वाचाम् ओघाः कदाचित् [अपि] मोघाः न भवन्ति, अतः तैः उद्धतैः (यमभटत्रास-विधायकैर्वाक्यसमूहैः) माम् अनाथम् , कुदशान्धकारे लीनम् , कुलीनम् उद्धर !

अर्थ—हे विभो ! भक्तजनोंके शोकको समूल ही नष्ट कर देनेवाले आपके अभय वचन कभी भी निष्फल नहीं होते ! इसलिए हे नाथ उन, यमदूतोंको त्रास देनेवाले उद्धत वचनोंसे, मुझ अनाथ, कुदशारूपी अन्धकारमें लीन हुए कुलीन (ब्राह्मण) का उद्धार कीजिए ।

कल्पान्तकल्पान्तकभीतियुक्तं रक्षामि रक्षामिह योऽर्हतीति ।
यस्ते नयस्तेन दिश प्रसन्नामत्राऽसमत्रासहरां दृशं मे ॥ २७ ॥

अन्वय—[हे ईश !] इह यः रक्षाम् अर्हति, कल्पान्तकल्पान्तकभीतियुक्तम् तम् रक्षामि, इति यः ते नयः [अस्ति] तेन अत्र असमत्रासहराम् प्रसन्नाम् दृशम् मे दिश ।

अर्थ—हे ईश्वर ! 'इस संसारमें जो अनाथ प्राणी है उसकी मैं कल्पान्त-तुल्य यमभीतिसे हरप्रकार रक्षा करता हूँ', इस प्रकारकी जो आपकी नीति (प्रतिज्ञा) है, उसके अनुसार मुझ अनाथ पर अपनी महात्रासहारिणी प्रसन्न दृष्टि समर्पण कीजिए ।

कन्दर्प कं दर्पमुपैषि यातमस्तं समस्तं सहसा बलं ते ।
भीरो गभीरो गलितः किमुच्चैरक्षोभरक्षो भगवत्प्रसादः ॥ २८ ॥

अन्वय—कन्दर्प ! कम् दर्पम् उपैषि ? ते समस्तम् बलम् सहसा अस्तम् यातम् । अयि भीरो ! अक्षोभरक्षः गभीरः उच्चैः भगवत्प्रसादः किम् गलितः ? (त्वया विस्मृतः किम्) ।

अर्थ—अरे कामदेव ! तू किस अहङ्कार में पड़ा है ? अरे ओ क्षुद्र ! तेरा सम्पूर्ण बल नष्ट हो चुका है ! अरे कातर ! भगवान् शङ्करने तुझे जो एक बार भस्म करके पुनः जीवन दान दिया है, उस महान् गम्भीर भगवत्-प्रसादानुग्रहको क्या तू भूल गया है ? (जो कि मुझ पर कुपित होता है ।)

विद्यामविद्यामपि तां यया त्वामाराध्यमाराध्य सुखी भवामि।
मायापि मा यापतभीरुपैतु याता न या तानवमर्चितुं त्वाम् ॥ २९ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] यया त्वाम् आराध्यम् आराध्य (अहम्) सुखी भवामि, ताम् अविद्याम् अपि (अहम्) विद्याम् [एव जाने] या त्वाम् अर्चितुम् तानवम् न याता, सा यापितभीः माया अपि मा (माम्) उपैतु ।

अर्थ—हे प्रभो ! जिससे आप आराध्य देवकी आराधना करके मैं परम सुखी होता हूँ, उस अविद्याको भी मैं विद्या ही समझता हूँ , और जो (माया) सदैव आपकी पूजामें कृशताको न प्राप्त हो, उस सकल भीतिको दूर करनेवाली माया (मिथ्या मोह) को भी मैं उपादेय ही समझता हूँ ।

रामाभिरामाभिमता धृतार्धे भोगोपभोगोपगतेन केन ।
कस्यान्तकस्यान्तकरी च लक्ष्मीधामानि धामानि बिभर्ति दृष्टिः ॥३०॥

अन्वय—[हे विभो !] भोगोपभोगोपगतेन (त्वदन्येन) केन अभिरामा अभिमता रामा अर्धे धृता ? अन्तकस्य अन्तकरी कस्य च दृष्टिः लक्ष्मीधामानि धामानि बिभर्ति ?

अर्थ—हे प्रभो ! समस्त भोगोंसे परिपूर्ण आपके सिवा और किस देवने त्रैलोक्यसुन्दरी रामा (श्री गिरिजा) को अपने अर्धाङ्गमें धारण किया है और अन्तक (काल) का अन्त करनेवाली किसकी दृष्टि परम शोभाके धाम तेजोमय धामों (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि) को अपने अन्दर धारण करती है ?

कः स्तम्भकः स्तम्भनिभस्य जिष्णोः कस्तापकस्तापकृतः स्मरस्य ।
कारानुकारानुभवे भवेऽस्मिन् को जीवको जीवभृतां विना त्वाम् ॥३१॥

अन्वय—[हे विभो !] त्वाम् विना स्तंभनिभस्य जिष्णोः स्तम्भकः कः [भवति], तापकृतः स्मरस्य तापकः कः [भवति] कारानुकारानुभवे अस्मिन् भवे जीवभृताम् जीवकः कः भवति ?

अर्थ—हे नाथ ! इन्द्रका स्तम्भन करनेवाला आपके सिवाय दूसरा कौन हो सकता है ? और संसारभरको सन्तप्त करनेवाले कामदेवको भस्म करनेवाला भी आपके सिवाय दूसरा कौन हो सकता है ? एवं कारागारके समान भयङ्कर इस संसारमें देहधारी जीवोंका पालन करनेवाला आपके बिना दूसरा कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

या शंसया शंसति शम्भुभक्तिं चेष्टासु चेष्टासु रतिं स्मरस्य ।
तामक्षतामक्षयपुण्यकोषादन्यो वदन्यो वहते तनुं कः ॥ ३२ ॥

अन्वय—या (तनुः) शंसया शंभुभक्तिम् शंसति, स्मरस्य इष्टासु चेष्टासु च रतिम् शंसति, ताम् अक्षताम् तनुम् अक्षयपुण्यकोषात् अन्यः कः वदन्यः वहते ?

अर्थ—जो (शरीर) स्तुतिके द्वारा शिवभक्तिको प्रकट करता है और कामकी अभीष्ट चेष्टाओंमें अनुराग भी प्रकट करता है, ऐसा अखण्ड शरीर अक्षयपुण्यराशिवाले धन्यात्माके सिवा और किसको मिल सकता है ?

याहन्तया हन्त नृपेऽप्यवज्ञामानञ्ज मानं जनयन्त्यभङ्गम् ।
हा निःसहा निःसरणेऽपि भक्त्या सा वागसावागमदन्तिकं ते ॥ ३३ ॥

अन्वय—हन्त ! [हे विभो !] अभङ्गम् मानम् जनयन्ती या (वाक्) अहन्तया नृपे अपि अवज्ञाम् आनञ्ज, हा ! सा [एव] असौ वाक् निःसरणे अपि निःसहा भक्त्या ते अन्तिकम् आगमत् !

अर्थ—हन्त ! प्रभो ! जो अत्यन्त मानवती (वाणी) बड़े अहंकारसे राजाओंके ऊपर भी अपमान प्रकट करती थी; हाय ! वही यह वाणी बाहर निकलनेमें असमर्थ होते हुए भी भक्तिके उत्कर्षसे आपकी शरणमें आ गई है !

[अब इस स्तोत्रका उपसंहार करते हुए कवि कहते हैं—]

देवं यदेवं यमकैर्महेशं तुष्टाव तुष्टावसरोचितं गीः ।
शस्यो यशस्योऽयमुपस्थितोऽस्मादेनोभिदे नोऽभिमतः प्रसादः ॥ ३४ ॥

अन्वय—इयम् तुष्टा गीः यत् एवं यमकैः महेशम् देवम् अवसरोचितम् तुष्टाव, अयम् शस्यः, यशस्यः, नः एनोभिदे अभिमतः च प्रसादः अस्मात् (महेशात्) उपस्थितः ।

अर्थ—इस मेरी वाणीने प्रसन्नतापूर्वक जो इस प्रकार यमका-लङ्कार* के द्वारा भगवान् शङ्करकी यथोचित स्तुति की, यह अति प्रशंसनीय, यशोदायक और हमारे पापोंको हरनेवाला कृपाप्रसाद उसी करुणासागरसे मुझे प्राप्त हुआ है ।

तरलतरलताग्रस्पर्द्धिनी चञ्चलत्वं
रुचिररुचिरमन्दानन्ददा मुञ्चति श्रीः ।
चरति च रतिकान्तध्वंसिशंसारतानां
मधुरमधुरसार्द्रा भारती वक्त्रपद्मे ॥ ३५ ॥

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते
भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'पादादियमकं'
स्तोत्रं षड्विंशम्

अन्वय—तरलतरलताग्रस्पर्द्धिनी [अपि] श्रीः रतिकान्तध्वंसिशंसारतानाम् अमन्दानन्ददा रुचिररुचिः [सती] चञ्चलत्वम् मुञ्चति, रतिकान्तध्वंसिशंसारतानाम् वक्त्रपद्मे च मधुरमधुरसार्द्रा भारती चरति ।

अर्थ—लताग्रके समान अतीव चञ्चल स्वभाववाली भी लक्ष्मी भगवान् श्री शंकरकी स्तुति करनेवाले भाग्यशालियोंको महान् आनन्द प्रदान करती हुई, अपनी चञ्चलताको छोड़कर उनके गृहमें बड़े अनुरागपूर्वक निवास करती है और उनके मुखकमलमें मधुके समान सुमधुर भक्तिरसामृतसे आर्द्र हुई भारती (सरस्वती) नित्य विहार करती है ।

*'स्वर-व्यञ्जन-समुदाय-पौनरुक्त्यं यमकम्' ।

सप्तविंशं स्तोत्रम्

अब यहाँसे 'पादमध्ययमक' नामक चित्रकाव्यद्वारा २७वें स्तोत्रका निर्माण करते हुए कवि कहते हैं—

जयति संयति संगतपाण्डवप्रहरणाहरणाहितकैतवः ।
तरुणदारुणदाशवपुर्धृतस्थिरयशा रयशालिशरो हरः ॥ १ ॥

अन्वय—संयति संगत-पाण्डवप्रहरणाहरणाहितकैतवः तरुणदारुणदाशवपुः धृतस्थिरयशाः रयशालिशरः हरः जयति ।

अर्थ—संग्राममें अर्जुनके आयुधोंका स्तम्भन करनेके लिए छल-कपटको धारण करनेवाले अतीव उद्भट भिल्ल-युवककी मूर्ति धारण करनेवाले, स्थिर यशको धारण करनेवाले और तीव्र वेगशाली बाणोंको धारण करनेवाले भगवान् हरकी सदा जय हो ।

भुवनपावनपादमधर्षितं मघवताऽघवतामपि सस्पृहम् ।
मुनिजनीनिजनीतिपरीक्षणे धवलकेवलकेलिकृतं स्तुमः ॥ २ ॥

अन्वय—भुवनपावनपादम् मघवता अधर्षितम् , अघवताम् अपि सस्पृहम् , मुनि-जनीनिजनीतिपरीक्षणे धवलकेवलकेलिकृतम् [वयम्] स्तुमः ।

अर्थ—जिसके चरणारविन्द सम्पूर्ण भुवनोंको पवित्र कहते हैं, जिसके तेजके सामने महातेजस्वी इन्द्र भी धर्षित हो जाता है और पापात्मा लोग भी जिसकी अत्यन्त स्पृहा करते हैं, जो मुनि-पत्नियोंके शील और सदाचारकी परीक्षा-रूप स्वच्छ क्रीड़ा करता है, उस सर्वस्वतन्त्र शिवका हम स्तवन करते हैं ।

स्थिरमगारमगात्मजया श्रितं स्मरविकारविकासपराङ्मुखम् ।
भुजगराजगराग्निशिखावलीविषमवेषमवेपथुदायिनम् ॥ ३ ॥
शमिषु कामिषु कारुणिकेषु वा वरमघोरमघोपशमक्षमम् ।
घनविपन्नविपन्निधने सदा परमधीरमधीशमुपास्महे ॥ ४ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—अगात्मजया श्रितम् स्थिरम् अगारम् , स्मरविकारविकास-पराङ्मुखम् , भुजगराजगराग्निशिखावलीविषमवेषम् [अपि] अवेपथुदायिनम् , वरम् , अघोरम् , शमिषु कामिषु कारुणिकेषु वा अघोपशमक्षमम् , सदा घनविपन्नविपन्निधने परमधीरम् अधीशम् [वयम्] उपास्महे ।

अर्थ—जो प्रभु सदैव श्रीनगेन्द्रकन्या (पार्वती) से आश्रित होकर भी कामके विकारोंसे पराङ्मुख है, और भयङ्कर सर्पोंके विषरूपी अग्निज्वालाओंसे विकराल वेषवाला होकर भी प्राणियोंको अभय दान देता है । जो जितेन्द्रिय, कामी

और परम कृपालु (सत्त्वगुणी) आदि सभी प्रकारके लोगोंको सन्मार्गमें लगाकर उनके पापोंको दूर करता है एवं महाविपत्तिमें पड़े हुए अनाथोंकी विपत्तिका समूल नाश कर देता है, उस परम उदार, त्रैलोक्याधीश्वर भगवान् महेश्वरकी हम उपासना करते हैं।

श्रुतनयास्तनयास्तनुमध्यमा युवतयो बत योगिमनोहृतः।
यदघनामघनामयवैशसं तदमृतेशमृते शमयन्ति किम् ॥ ५ ॥

अन्वय—बत, [देहिनाम्] यत् अघनामघनामयवैशसम् [भवति] तत् अमृतेशम् ऋते, श्रुतनयाः, तनयाः, योगिमनोहृतः तनुमध्यमाः युवतयः [च] किम् शमयन्ति ?

अर्थ—ओह ! प्राणियोंको पाप नामवाली भयङ्कर व्याधिसे जो महान् दुःख होता है, उस (दुःख) को भगवान् मृत्युञ्जयके बिना क्या सुन्दर नीतिज्ञ पुत्र दूर कर सकते हैं, अथवा योगियोंके भी मनको हरलेनेवाली कृशोदरी युवतियाँ उस दुःखको हटा सकती हैं ? नहीं, उस महात्रासको तो प्रभुके सिवाय कोई भी नहीं मिटा सकता है।

न हरिणा हरिणाङ्कशिखामणे
न विधिना विधिनाऽपि सपर्यता।
तव पुरा वपुराममृशे वयं
क्व नु भवानुभवावृतचेतसः ॥ ६ ॥

अन्वय—हरिणाङ्कशिखामणे ! पुरा तव वपुः हरिणा [अपि] न आममृशे, विधिना सपर्यता विधिना अपि न आममृशे। भवानुभवावृतचेतसः वयम् [तु त्वत्स्तुतिविधाने] क्व नु [भवामः] ?

अर्थ—हे चन्द्रशेखर ! भगवान् विष्णुने भी आपके शरीर (ज्योतिर्मय लिङ्ग) का अन्त नहीं पाया, और शास्त्रोक्त-विधिपूर्वक आपकी सेवामें तत्पर हुए श्रीब्रह्मदेवने भी आपका पार नहीं पाया। तब फिर जन्म-परम्पराओंके अनुभवसे आवृत अन्तः-करणवाले, अर्थात् मायाके आवरणमें पड़े हम लोग आपकी स्तुतिके लिए कैसे साहस कर सकते हैं ?

चतुरगास्तुरगा नगजाः गजाः
स्थिरमुदारमुदात्तबलं बलम्।
प्रभवता भवता विहिते हिते
प्रतिदिशन्ति दिशं कमलामलाम् ॥ ७ ॥

अन्वय—[हे विभो !] प्रभवता भवता हिते विहिते [सति] चतुरगाः तुरगाः, नगजाः गजाः, स्थिरम् उदारम् उदात्तबलम् बलम् (एतानि वस्तूनि) कमलामलाम् दिशम् प्रतिदिशन्ति।

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी कृपादृष्टि होने पर ही अति शीघ्र चलनेवाले घोड़े, श्रेष्ठ हाथी और महादृढ़ बलवाली सेना, ये सब वस्तुएँ मनुष्योंको सुदुर्लभ सम्पत्तियाँ प्रदान करती हैं।

द्विजसमाजसमाधिकदर्थन-
प्रवणरावणराज्यहृतौ कृती ।
चरणयो रणयोग्यबलोऽभव-
न्नवनतो वनतो भरताग्रजः ॥ ८ ॥
शुरभतो भरतोऽप्यभवद् द्विषद्-
गरिमहारिमहाः समवाप्य यम् ।
दिश तमीश तमीपतिशेखर
स्थिरमनुग्रमनुग्रहमेहि मे ॥ ९ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—[हे विभो !] यम् समवाप्य, द्विजसमाजसमाधि-कदर्थनप्रवणरावणराज्यहृतौ कृती [तव] चरणयोः अवनतः भरताग्रजः वनतः (वने स्थितोऽपीत्यर्थः) रणयोग्यबलः अभवत् ; हे ईश, हे तमीपतिशेखर ! यम् समवाप्य, शुभरतः भरतः अपि द्विषद्गरिमहारिमहाः अभवत्, तम् स्थिरम् अनुग्रम् (मङ्गलदायिनम्) अनुग्रहम् मे (मह्यम्) दिश [त्वम्] एहि ।

अर्थ—प्रभो ! जिस (अनुग्रह) को प्राप्त करके वसिष्ठ, विश्वामित्र प्रभृति ब्राह्मणोंकी समाधिको खण्डित करनेवाले दुष्ट रावणको मारनेमें सुचतुर और आपके चरणारविन्दों में अतिनम्र हुए रामचन्द्रजीने वनमें रहकर भी संग्राम करनेकी अमोघ शक्ति प्राप्त की। हे नाथ ! जिसे पाकर ज्येष्ठ भ्राता (श्री रामचन्द्रजी) के बिना राज्यपदवीको नहीं स्वीकार करनेवाले धर्म-तत्पर भरतजीने शत्रुओंके गौरवको निस्तेज करनेवाला तेज प्राप्त किया, उस महा मङ्गलदायक अपने अखण्ड प्रसादानुग्रहको मुझपर समर्पण कीजिए; हे ईश ! अब शीघ्र आइए।

भृशमनीशमनीतिपथस्थितं
मदवशादवशाक्षमुपप्लुतम् ।
अहरहर्हर हर्षयते न किं
हितवती तव तीव्रशुचं रुचिः ॥ १० ॥

अन्वय हर ! भृशम् अनीशम् अनीतिपथस्थितम् , मदवशात् अवशाक्षम् उपप्लुतम् तीव्रशुचम् [माम्] हितवती तव रुचिः अहरहः किम् न हर्षयते ?

अर्थ—हे हर ! अत्यन्त अनाथ, कुमार्ग पर चलनेवाले, अहङ्कारके कारण अजितेन्द्रिय, एवं काम-क्रोधादि वैरियोंसे घिरे हुए मुझ अत्यन्त शोकाकुलको आपकी हितवती रुचि अहर्निश क्यों नहीं हर्षित करती ?

कुशलपेशलपेलवदग्वमन्
रसनया सनयार्त्तिहृतामृतम् ।
मदनसादन सान्त्वय संपदा-
मपदमापदमाश्रितमेहि माम् ॥ ११ ॥

अन्वय—मदनसादन ! कुशलपेशलपेलवदृक् [त्वम्] सनयार्तिहृता रसनया अमृतम् वमन् , सम्पदाम् अपदम् , आपदम् आश्रितम् माम् सान्त्वय, एहि ।

अर्थ—अयि मदनके मानको मर्दन करनेवाले सदाशिव ! मङ्गलसे मधुर और अतीव सौम्यवती दृष्टिको धारण किये हुए आप सदा नीतिपर चलनेवाले लोगोंकी पीड़ाओंको दूर करनेवाली जिह्वासे अमृतवर्षण करते हुए, मोक्ष-सम्पत्तिसे रहित और जन्म, जरा, मरणरूपी विपत्तिसे पकड़े हुए मुझ दीनको आश्वासन दीजिए । प्रभो ! अब आप शीघ्र पधारिए !

कथमनाथमनागसमन्तिके
मदनमर्दन मर्षयसे न माम् ।
भुवनभावन भाति विना त्वया
जगति कोऽगतिकोद्धरणक्षमः ॥ १२ ॥

अन्वय—मदनमर्दन ! [त्वम्] अनागसम् माम् अनाथम् अन्तिके कथम् न मर्षयसे ? भुवनभावन ! त्वया विना जगति अगतिकोद्धरणक्षमः कः भाति ?

अर्थ हे कामविजयिन् ! आप मुझ निरपराध अनाथको अपने सामने क्यों नहीं रख लेते ? अयि अखिल भुवनोंके निर्माता सदाशिव ! आपके बिना अगतिकोंका उद्धार करनेवाला जगत्में दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ।

यदि कृपापर पापरतस्य मे
न कुरुषे परुषे पदमाशये ।
हिततमा कतमा कलुषात्मनो
मम हराऽमहरा घटते गतिः ॥ १३ ॥

अन्वय—कृपापर ! यदि पापरतस्य मे परुषे आशये पदम् न कुरुषे, तर्हि हे हर ! कलुषात्मनः मम अमहरा कतमा हिततमा गतिः घटते ?

अर्थ—हे दया-परायण ! यदि आप मुझ पापात्माके अतिशय कठोर हृदयमें अपना स्थान नहीं बनावेंगे, तो फिर नाथ ! मुझ मलिन-अन्तःकरणका उद्धार करनेवाली दूसरी गति और कौन होगी ?

स्थिरविभा रविभातिरिवोन्मदं
मदमयं दमयन्त्यसमन्तमः ।
तव दया वद यात्युदयं न चेद्
भवतमी बत मीलति मे कथम् ॥ १४ ॥

अन्वय – हे प्रभो ! स्थिरविभा तव दया रविभातिः इव, उन्मदम् मदभयम् असमम् तमः दमयन्ती न चेत् उदयम् याति, तर्हि [त्वमेव] वद, मम भवतमी कथम् मीलति ?

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे सूर्यकी स्थिरदीप्ति गाढ़ अन्धकारको दूर करती हुई उदय होती है, वैसे ही अतिशय स्थिर प्रभावशालिनी आपकी कृपा यदि मेरे इस अत्युत्कट अहङ्कारमय गाढ़ अन्धकार (अज्ञान) को दूर करती हुई नहीं उदय होगी, तो हे नाथ ! फिर आप ही बतलाइए कि मेरी यह संसार-रूपी रजनी कैसे दूर होगी ?

रजनिराजनिराकरणक्षमः
क्षतनिशातनिशातिमिरोत्करः ।
कृतविभातविभाभरभास्वरो
दिनकरो न करोत्युदयं यदा ॥ १५ ॥
दिवि यदा वियदाभरणं कृपा-
परमते रमते न सुधाकरः ।
न शुचिराशु चिरापतितं यदा
स्थिरमपारमपाकुरुते तमः ॥ १६ ॥
तनुकृशानुकृशां ग्रसते यदा
मिहिरजाहिरजातघृणस्तनुम् ।
शिव तदा बत दास्यति मे धृतिं
त्वदितरः कतरः करुणापरः ॥ १७ ॥

(तिलकम्)

अन्वय—[हे विभो !] यदा रजनिराजनिराकरणक्षमः क्षतनिशातनिशातिमिरोत्करः कृतविभातविभाभरभास्वरः दिनकरः उदयम् न करोति, कृपापरमते ! यदा वियदाभरणम् सुधाकरः दिवि न रमते, यदा चिरापतितम् स्थिरम् अपारम् तमः शुचिः (अग्निः) न अपाकुरुते, यदा अजातघृणः मिहिरजाहिः (कालपाशः) तनुकृशानुकृशाम् तनुम् ग्रसते, शिव ! बत !! तदा त्वदितरः कतरः करुणापरः मे धृतिम् दास्यति ?

अर्थ—हे विभो ! जिस अवस्थामें चन्द्रमाको निस्तेज करनेवाला और रात्रिके गाढ़ अन्धकारको दूर करनेवाला, अखण्ड तेजोधामसे प्रदीप्त सूर्य प्रकाश नहीं करता, हे दयासागर ! जिस समय आकाशका भूषण वह सुधाकर (चन्द्रमा) आकाशमें नहीं सुशोभित होता, जिस समय चिरकाल से अवस्थित गाढ़ अन्धकारको अग्नि नहीं दूर कर सकता, और जिस समय अत्यन्त निर्दयी वह काल-पाश अतीव कृश शरीरको पकड़ लेता है, उस समयमें हे नाथ ! एक आपके सिवाय और कौन करुणासागर मुझ अनाथ गतिविहीनको धैर्य देगा ?

निधनसाधनसान्द्रलसद्विषा-
नलकरालकरात्तमहोरगः ।

नियमनाय मनाङ् मम सस्पृहे
भवति धावति धाम यमः कथम्॥ १८ ॥

अन्वय—[अयि विभो !] भवति सस्पृहे (दयापरे) सति, निधनसाधनसान्द्रलसद्विषाऽनलकरालकरात्तमहोरगः यमः, मनाक् नियमनाय मम धाम कथम् धावति ?

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी दयादृष्टि हो जानेपर प्राणियोंका संहार कर देनेवाले महाभयङ्कर विषानलसे विकराल सर्प (नाशपाश) को हाथमें धारण किया हुआ यमराज मुझे किञ्चिन्मात्र भी भय देनेको मेरे पास कैसे आ सकता है ? अर्थात् कभी नहीं आ सकता।

पलितमीलितमीश मम स्मर-
श्चतुरमातुरमारचयन्वपुः।
घनबलेऽनवलेपपरे त्वयि
प्रभविता भवितापकरः कथम् ॥ १९ ॥

अन्वय— ईश ! पलितमीलितम् मम वपुः चतुरम् आतुरम् आरचयन् भवितापकरः स्मरः घनबले त्वयि अनवलेपपरे सति कथम् प्रभविता ?

अर्थ—हे ईश ! जरा (बुढ़ापा) से कुशित मेरे शरीरको कामोद्रेकसे आतुर करता हुआ जीवोंको सन्ताप देनेवाला कामदेव —आप महा बलवान् प्रभुके प्रसन्न हो जाने पर—फिर मेरा क्या कर सकेगा ?

किमधुना मधुनापि युतो वहन्
रतिमभीतिमभीष्टतमामपि।
श्रितमवन्तमबन्ध्यबलं विभुं
जयति मां यतिमानहरः स्मरः॥ २० ॥

अन्वय—[हे विभो !] मधुना युतः अपि, अभीतिम् अभीष्टतमाम् अपि रतिम् वहन् , यतिमानहरः स्मरः अधुना अबन्ध्यबलम् अवन्तम् विभुम् श्रितम् माम् किम् जयति ?

अर्थ—हे प्रभो ! अपने सखा वसन्तसे युक्त होकर भी, अतिशय प्रीतिको उत्पन्न करता हुआ भी, तथा बड़े-बड़े संयमी पुरुषोंके मानको हर लेनेवाला भी वह कामदेव अब सब प्रकारसे रक्षा करनेवाले आप बलवान् प्रभुकी शरणमें आये हुए मुझको कैसे जीत सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं जीत सकता।

विषमरोषमरोः पथि पातय-
न्मतिमनीतिमनीक्षितसत्पथाम्।
भृशमयं शमयन्नियमं कथं
तव पुरो वपुरोषति मे मदः॥ २१ ॥

अन्वय—[हे स्वामिन् !] अनीक्षितसत्पथाम् अनीतिम् मतिम् विषमरोषमरोः पथि पातयन् , भृशम् नियमम् शमयन् अयम् मदः, तव पुरः मे वपुः कथम् ओषति ?

अर्थ—हे नाथ ! सन्मार्गसे विमुख और नीतिसे रहित मतिको अति विषम क्रोधरूपी मरुस्थलके मार्गमें गिराता हुआ तथा यमनियमको समूल नष्ट करता हुआ यह दुष्ट अहङ्कार आप प्रभुके सामने मुझ आपके भक्तके शरीरको कैसे जला सकता है ?

मम निकामनिकारकृतो वृथा
वपुरवापुरवार्यरुषोऽरयः ।
न हि तदाहितदाहमदन्त्यमी
तव हितावहिता हि नतेषु धीः ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे विभो !] निकामनिकारकृतः अवार्यरुषः अरयः, मम वपुः वृथा अवापुः । हि अमी आहितदाहम् तत् (मम वपुः) न अदन्ति; हि नतेषु तव धीः हितावहिता [भवति] ।

अर्थ—हे नाथ ! अत्यन्त तिरस्कार करनेवाले और महान् कोपके भरे हुए ये काम-क्रोधादि शत्रु मुझ आपके सेवकके शरीरमें वृथा (निरर्थक) ही आये । क्योंकि, ये लोग मेरे शरीरमें अपना कुछ भी अधिकार नहीं दिखला सकते ? कारण यह है, कि आपकी दया भक्त-जनोंकी रक्षा करनेमें हर-समय बड़ी सावधान रहती है !

यदि विभा दिवि भाति न तावकी
यदि न मे दिनमेति भवन्मयम् ।
वद महादमहारि तमः कथं
विषमदोषमदो विनिवर्तते ॥ २३ ॥

अन्वय—[हे शिव !] यदि तावकी विभा दिवि न भाति, भवन्मयम् दिनम् मे यदि न एति; तर्हि त्वम् वद महादमहारि विषमदोषम् अदः तमः कथम् विनिवर्तते ?

अर्थ—हे सदाशिव ! यदि आपका परम-प्रकाश बाह्याकाश एवं हमारे हृदयाकाश में न उदय होगा, और यदि मेरा दिन निरन्तर आपके ही स्मरणमें न व्यतीत होगा, तो फिर हे नाथ ! आपही कहिए कि महाशान्तिको हरनेवाला तथा मायावरणसे उत्पन्न अप्रकाश आदि विषम दोषोंसे भरा हुआ यह मेरा अज्ञानरूप अन्धकार कैसे हटेगा ?

कमलिनी मलिनीक्रियते यया
विहतसन्ततसन्तमसापि या ।
स्मरचिता रचितापि च यत्र तां
वितर कातरकामदुघां दृशम् ॥ २४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] यया (वामभागस्थितयेन्दुरूपया दृशा) कमलिनी मलिनी-क्रियते, या अपि (दक्षिणभागस्थिता दृक्) विहतसन्ततसन्तमसा भवति; यत्र च (तृतीयस्यां ललाटस्थितायां दृशि) स्मरचिता रचिता, ताम् कातरकामदुधाम् (चन्द्रार्काग्निरूपत्रिधाममयीम्) दृशम् वितर।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके वामभागमें स्थित जो आपकी चन्द्ररूपी दृष्टि कमलिनी को मलिन (संकुचित) करती है और दक्षिण-भागमें स्थित जो सूर्यरूपी दृष्टि सदैव गाढ़ अन्धकारको दूर करती है, एवं ललाटमें स्थित जो अग्निरूपी दृष्टि कामदेवको भस्म करनेके लिए चिता बनी थी, उन—शरणागतोंकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली—चन्द्र, सूर्य, अग्निरूप तीनों तेजोमय पिण्डोंको धारण करनेवाली—सुमनोहर दृष्टियोंको मुझपर समर्पण कीजिए।

तुहिनवाहिनवानिलजे मनः
सहसि रंहसि रञ्जयति प्रिया।
न रसिकोरसि कोष्णकुचा तथा
तव गुणानुगुणा नुतिगीर्यथा ॥ २५ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] गुणानुगुणा तव नुतिगीः यथा मनः रञ्जयति, सहसि तुहिन-वाहिनवानिलजे रंहसि उरसि रसिका (संसक्ता) कोष्णकुचा प्रिया मनः तथा न रञ्जयति।

अर्थ—हे ईश ! सद्गुणोंमें अनुराग रखनेवाली आपकी स्तुतिवाणी मनको जितना अधिक अनुरञ्जित करती है, उतना हेमन्त ऋतुमें अति शीतल नवीन पवनके वेगसे हृदयसे लिपटी हुई ईषद्-उष्णकुचोंवाली प्रियतमा नहीं अनुरञ्जित कर सकती।

अयमसौ यमसौष्ठवहृत्पुरः
परुषपौरुषपौष्टिकचेष्टितः।
विधुरबन्धुरबन्ध्यपरिग्रहः
स्फुरति मे रतिमेत्य महेश्वरः ॥ २६ ॥

अन्वय—यमसौष्ठवहृत् परुषपौरुषपौष्टिकचेष्टितः विधुरबन्धुः अबन्ध्यपरिग्रहः अयम् [अहम्, एतादृगेव] असौ महेश्वरः मे रतिम् एत्य पुरः स्फुरति।

अर्थ—मैं अहिंसा आदि यमोंके सौष्ठवसे हीन, उग्र पुरुषार्थोंकी परिपुष्टिके लिए अनेक चेष्टाएँ करनेवाला, दीन-बन्धुवाला और सफल दारपरिग्रहवाला हूँ और ऐसे ही—अर्थात् यमके सौष्ठवको हरनेवाले, अपने भक्तोंके पुरुषार्थोंको परिपुष्ट करनेवाले, आपत्तिमें पड़े हुए शरणहीनोंको आश्वासन देनेवाले और सफल परिग्रह (सेवा) वाले, अर्थात् जिसकी सेवा कभी भी निष्फल नहीं होती है—मेरे प्रभु भगवान् महेश्वर भी मुझ पर प्रसन्न होकर, सामने स्फुरित होते हैं। अर्थात् जैसा मैं हूँ, वैसे ही मेरे प्रभु भी हैं, अतः प्रभु और सेवकका यह मिलाप युक्त ही हुआ है।

अनिधनेन धनेन मनस्विना-
मनुगुणेन गुणेन गरीयसा।
अभिजनेन जनेन सुदुष्कृतै-
रशबलेन बलेन च वर्धते ॥ २७ ॥

अभिनवेन नवेन शिवस्य यः
स्तुतिमुदारमुदारभतेऽमुना ।
अवहितस्य हि तस्य तनोति शं
विभवदो भवदोषहरो हरः ॥ २८ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—यः उदारमुत् [सन्] अभिनवेन अमुना नवेन शिवस्य स्तुतिम् आरभते; [सः] अनिधनेन धनेन, मनस्विनाम् अनुगुणेन गरीयसा गुणेन, अभिजनेन जनेन, सुदुष्कृतैः अशबलेन बलेन च वर्धते। हि विभवदः भवदोषहरः हरः तस्य अवहितस्य शम् तनोति।

अर्थ—जो धन्यात्मा अत्यन्त प्रसन्न होकर इस नूतन स्तोत्रसे भगवान् श्री सदाशिवकी स्तुति करता है, वह पुरुष अविनाशी धन, उदार पुरुषोंके अनुकूल श्रेष्ठ गुण, उत्तम कुल और परिवार एवं विशुद्ध बलके सहित नित्य वृद्धि (उन्नति) को प्राप्त होता है। क्योंकि समस्त वैभवोंको देनेवाला, संसारके पुनरागमन-रूप दोषों को दूर हरनेवाला वह उदार प्रभु अवश्य ही उस शान्तात्माका कल्याण करता है।

स सकलासु कलासु विचक्षणः
स मतिमानतिमानसमुन्नतः।
न शशिखण्डशिखण्डमृते स्तुतिं
सुकृतवान् कृतवानपरस्य यः ॥ २९ ॥

अन्वय—यः सुकृतवान् शशिखण्डशिखण्डम् ऋते अपरस्य स्तुतिम् न कृतवान्, सः सकलासु कलासु विचक्षणः, सः मतिमान् अतिमानसमुन्नतः [भवति]।

अर्थ—जो पुण्यात्मा केवल एक भगवान् चन्द्रमौलिके सिवाय अन्य किसी भी प्राकृत पुरुषकी स्तुति नहीं करता, वह मनुष्य (नृत्य, गीत, हास्य आदि) सम्पूर्ण कलाओंमें निपुण, महा बुद्धिमान् और अत्यन्त मानसे उन्नत होता है।

रविरहो विरहोद्धरणाद्दिश-
न्धृतिमुदेति मुदे रथपक्षिणाम्।
यदविषादविषाभिभवं जग-
त्कृतमसन्तमसं स्तुतिभिः प्रभोः ॥ ३० ॥

अन्वय—(रविणा प्रातरुत्थाय) यत् प्रभोः स्तुतिभिः जगत् अविषाद-विषाभिभवम् असन्तमसम् कृतम् ; तत् अहो ! विरहोद्धरणात् धृतिम् दिशन् रथपक्षिणाम् मुदे रविः उदेति ।

अर्थ—सूर्यदेवने प्रातःकालमें जो भगवान् सदाशिवकी स्तुतियोंके द्वारा समस्त जगत्को विषाद और अन्धकारसे रहित किया है, आहा ! इसीसे वह चक्रवाक पक्षियोंके विरहको दूर करके उन्हें धैर्य और आनन्द देता हुआ आकाशमें अभ्युदित हो रहा है !

विनयशोभि यशोभिरतं मनः
परहितारहिता विमला मतिः ।
विपुलमङ्गलमङ्गमिति प्रभोः
प्रतिफलन्ति फलं स्तुतिवीरुधः ॥ ३१ ॥

अन्वय— मनः विनयशोभि [सत्] यशोभिरतम् [भवति] मतिः विमला [सती] परहितारहिता [भवति] अङ्गम् च विपुलमङ्गलम् [भवति], प्रभोः स्तुतिवीरुधः इति फलम् प्रतिफलन्ति ।

अर्थ—प्रभुकी स्तुतिसे मन अति विनीत होकर यज्ञदानादि द्वारा अखण्ड यशको प्राप्त करनेमें तत्पर हो जाता है, और मति अत्यन्त निर्म्मल होकर परोपकारमें परायण हो जाती है एवं अङ्ग मङ्गलमय हो जाता है। आहा ! प्रभुकी स्तुति-रूपी लताएँ ऐसे-ऐसे उत्तम फलोंको फलती हैं ।

जितसुधारसुधारसभारती-
विभवसंभवसंभृतकीर्तयः ।
कविबुधा विबुधाधिपवन्दितं
सुकृतिनः कृतिनः स्तुवते शिवम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—जितसुधारसुधारसभारती-विभवसंभवसंभृतकीर्तयः सुकृतिनः कृतिनः कविबुधाः विबुधाधिपवन्दितम् शिवम् स्तुवते ।

अर्थ—जिनकी भारती (वाणी) का वैभव अमृतके रसको भी तिरस्कृत कर सारे दिगन्तोंमें पवित्र कीर्तिको पैदा करता है, ऐसे महापुण्यशाली, धन्यात्मा कवि एवं पण्डित जन (लौकिक वैभवोंको शुष्क तृणवत् समझकर) इन्द्रादि देवोंके वन्दनीय, देवाधिदेव भगवान् श्री महादेवकी स्तुति करते हैं ।

न महतामहतामलसंविदां
मदयिता दयिताधिगमस्तथा ।
मधुरसाधुरसार्द्रपदा यथा
सयमका यमकामरिपुस्तुतिः ॥ ३३ ॥

अन्वय—मधुरसाधुरसार्द्रपदा, सयमका यमकामरिपुस्तुतिः यथा अहतामलसंविदाम् महताम् मदयिता (भवति), तथा तेषाम् दयिताधिगमः न मदयिता ।

अर्थ—अत्यन्त मधुर और सुन्दर (भक्तिरूपी अमृतके) रससे आर्द्र-पदोंवाली यमकालङ्कारसे युक्त, भगवान् श्री शङ्करकी स्तुति अमोघ पवित्र ज्ञानसे भरे हुए महात्माओंको जितना आनन्द देती है, उतना आनन्द उन्हें सुन्दरी प्रियतमाकी प्राप्तिसे कदापि नहीं मिल सकता !

का नाम नामरवधूरवधूतकान्ता
कान्ता न का नरजनी रजनीपतिश्रीः ।
श्रीमन्तमन्तकरिपुं करिपुङ्गवान्त-
हेतुं स्तुवन्तमविरामविरावमेति ॥ ३४ ॥

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'पादमध्य-यमकाख्यं' स्तोत्रं सप्तविंशम् ।

अन्वय—करिपुङ्गवान्तहेतुम् श्रीमन्तम् अन्तकरिपुम् स्तुवन्तम् (पुरुषम्) अवधूत-कान्ता का नाम अमरवधूः अविरामविरावम् न एति ? [तथा] रजनीपतिश्रीः कान्ता का नरजनी न एति ?

अर्थ—गजासुरके निहन्ता भगवान् श्री अन्तकारिकी स्तुति करनेवाले पुरुषको कौनसी देवाङ्गना बड़े प्रेमसे प्रार्थना करती हुई नहीं भजती ? तथा चन्द्रमाके समान सुमनोहर अङ्गवाली कौन नराङ्गना उसे नहीं भजती ? अर्थात् सभी भजती हैं ।

अष्टाविंशं स्तोत्रम्

अब 'पादान्त-यमक नामक' अट्ठाईसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए कवि कहते हैं—

अन्तश्चेतसि निर्वृतिर्न गमिता नाशं कया शङ्कया
नैषा पुष्यति तेन संहृतगतिः शोभारती भारती ।
भक्तिः किं तु विजृम्भते मम यथैवाभा स्वतो भास्वतो
यादृक्तादृगतः किमप्यभिदधे संप्रत्यहं प्रत्यहम् ॥ १ ॥

अन्वय—कया शङ्कया [मम] चेतसि अन्तः निर्वृतिः नाशम् न गमिता ? तेन संहृतगतिः एषा मम भारती शोभारती न पुष्यति, किन्तु यथैव भास्वतः आभा स्वतः विजृम्भते, तथा मम [अपि] भक्तिः विजृम्भते, अतः सम्प्रति अहम् प्रत्यहम् यादृक्तादृक् किमपि अभिदधे ।

अर्थ—कौन सी शङ्काने मेरे चित्तकी शान्तिको नहीं नष्ट कर डाला ? इसी कारण संकुचित गतिवाली बेचारी यह मेरी भारती शोभा और रति (सन्तोष) को परिपुष्ट नहीं कर सकती ? (अस्तु, तब तो मौन होकर चुप हो जाइए ? ऐसी आशङ्का

का समाधान करते हैं—) किन्तु, जैसे भगवान् सूर्यकी प्रभा स्वतः ही स्फुरित होती है, वैसे ही मेरे भी अन्तःकरणमें भक्ति (मन, वचन, शरीरके द्वारा भगवद्ध्यान-परायणता) स्वतः ही उल्लसित (स्फुरित) होती है। इसीसे अब मैं प्रतिदिन जैसा-तैसा (अच्छा और बुरा) कुछ भी कहता ही रहता हूँ।

वक्त्रं बिभ्रददभ्रदीर्घदहनज्वालं भयं लम्भय-
न्नुद्ग्रीवं घटयन्करे विदधतं व्यालं घनं लङ्घनम्।
प्रत्यासीदति मृत्युरित्युपचितस्फारोचितां रोचितां
श्रुत्वा मां न कथं विभुर्गिरमिमां चित्रायतां त्रायताम्॥ २॥

अन्वय—"[हे दयालो !] अदभ्रदीर्घदहनज्वालम् वक्त्रम् बिभ्रत्, [प्राणिनाम्] भयम् लम्भयन्, घनम् लङ्घनम् विदधतम् उद्ग्रीवम् व्यालम् करे घटयन्, मृत्युः माम् प्रत्यासीदति", इति उपचित-स्फारोचिताम्, रोचिताम्, चित्रायताम् इमाम् गिरम् श्रुत्वा विभुः माम् कथम् न त्रायताम्?

अर्थ—"अयि दयासागर! अति-प्रचण्ड अग्निज्वालासे विकराल मुखको धारण कर प्राणियोंको महाभय दिखलाती हुई, ग्रीवाको ऊपर उठाई हुई, भयङ्कर नागपाशको हाथमें लेकर वह मृत्यु मेरे समीप आ रही है। अतः प्रभो! मुझे सँभालिए!!" इस प्रकार अतीव सुविशाल, सुमनोहर और विचित्र (यमकालङ्कारसे युक्त) इस मेरी वाणीको सुनकर वह दयालु प्रभु मेरी रक्षा क्यों न करेंगे? अर्थात् अवश्य करेंगे।

मन्ये तां स्पृहणीयगौरवगुणामायामिनीं यामिनीं
तत्सेवारसमादधत्तव सुधासंवादिनं वा दिनम्।
यत्रोपान्तगतं वचोभिरुचितैरानन्दिनं नन्दिनं
कुर्वद्भिश्चरितं सुचारु जगतामीशस्य ते शस्यते॥ ३॥

अन्वय—[हे विभो!] यत्र (रात्रौ) उपान्तगतम् नन्दिनम् आनन्दिनम् कुर्वद्भिः उचितैः वचोभिः जगताम् ईशस्य ते सुचारु चरितम् शस्यते, ताम् यामिनीम् स्पृहणीय-गौरवगुणाम् आयामिनीम् मन्ये। तथा यत्र (दिने) [पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टैः] वचोभिः ते चरितम् शस्यते [अहम्] तव सेवारसम् आदधत् तत् दिनम् वा सुधासंवादिनम् मन्ये।

अर्थ—हे नाथ! जिस (रात्रि) में आपके गृहद्वार पर बैठे हुए (द्वारपाल) नन्दीको आनन्द देनेवाले सुमनोहर वचनोंसे आप अखिल ब्रह्माण्डाधीश्वरका अति-पवित्र सुयश गाया जाता है, उस रात्रिको मैं अति स्पृहणीय—गुणगौरववाली समझता हूँ और जिस (दिन) में आपके दरबारके नन्दीको आनन्दित करनेवाले सुन्दर वाक्योंसे आपका सुयश गाया जाता है, उस—आपकी सेवासे सार्थक—दिनको मैं साक्षात् अमृतका सहोदर ही समझता हूँ।

तस्योदेति सदःसदां विदलितग्लानिर्भरो निर्भरो
वाचां वक्त्रसरोरुहे परिणमत्पाकोऽमलः कोमलः।

लक्ष्मीस्तं न जहाति किं च विभवैराभासिताऽऽभासिता
येन त्वं हृदयाम्बुजे भवभयात्त्रातोषितस्तोषितः ॥ ४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] येन भवभयात् त्राता, हृदयाम्बुजे उषितः त्वम् तोषितः, तस्य वक्त्रसरोरुहे सदःसदाम् विदलितग्लानिः, परिणमत्पाकः अमलः कोमलः निर्भरः वाचाम् भरः उदेति । किं च—विभवैः आभासिता, आभा-सिता लक्ष्मीः तम् न जहाति ।

अर्थ—प्रभो ! भवसागरके त्राससे बचानेवाले और हृदय कमलमें निवास करनेवाले आप दयालुको जिसने प्रसन्न कर लिया, उस धन्यात्माके मुख-कमलमें सभासदों (श्रोता लोगों) के विषादको दूर करनेवाला, अत्यन्त प्रौढ़, निर्मल, कोमल—माधुर्य गुणयुक्त एवं गम्भीर वाग्विलास (कविताका वैभव) उदय होता है, और नाना प्रकारके अलौकिक वैभवोंसे सुशोभित, एवं दिव्य कान्तिसे देदीप्यमाना श्रीलक्ष्मीदेवी उस धन्यात्माका परित्याग कदापि नहीं करती हैं।

सेव्यन्ते भगवन्नपास्य[1] कलितोल्लासं मदं[2] संमदं
बिभ्राणास्तरुणीजनेन मधुरव्याहारिणा हारिणा ।
वीज्यन्ते दिवि चन्द्ररश्मिरुचितैः किं चाऽमरैश्चामरै-
राबाल्याद्विदधे त्वदेकविषया यैः शेमुषी शेमुषी ॥ ५ ॥

अन्वय—भगवन् ! यैः आबाल्यात् त्वदेकविषया शेमुषी[3] शेमुषी विदधे, ते संमदम् बिभ्राणाः [सन्तः] कलितोल्लासम् मदम् अपास्य, हारिणा मधुरव्याहरिणा तरुणीजनेन सेव्यन्ते, किं च [त एव जनाः] दिवि अमरैः चन्द्ररश्मि-रुचितैः चामरैः वीज्यन्ते ।

अर्थ—हे भगवन् ! जो लोग बाल्यावस्थासे ही अपनी शान्त मतिको आपके चरणारविन्दमें अर्पित कर देते हैं, उन परमानन्दमें मग्न हुए आपके भक्तोंको 'हम बड़ी मानवती हैं, इसलिए किसके पास जावें ?' इस प्रकारके अहङ्कारको त्यागकर सुमधुर शब्द बोलनेवाली और मनोहर मुक्ताहारसे शोभायमाना तरुणी महिलाएँ सेवित करती हैं, और फिर उन्हीं लोगोंको स्वर्गमें देवता लोग चन्द्रमाके समान स्वच्छ चँवरोंसे सेवित करते हैं।

तूर्णं चूर्णयितुं वपुर्यमभटो झम्पारयं पारय-
न्नुच्चण्डभ्रुकुटीकरालितमुखो यत्रासकृत्त्रासकृत् ।
तां भूमिं परिहर्तुमीश्वर भवत्सेवाधनं बाधनं
दुःखानामधिगम्य हन्मि कुमतिप्रादुष्कृतं दुष्कृतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—[हे ईश्वर !] उच्चण्डभ्रुकुटीकरालितमुखः यमभटः तूर्णम् वपुः चूर्णयितुम् झम्पारयम् (उत्प्लुतिवेगम्) पारयन् यत्र (नरकभूमौ) असकृत् त्रासकृत् [भवति] ताम्

(१) 'अवाप्य' इत्यपि पाठः ।

(२) 'पदं संपदम्' इत्यपि पाठः ।

(३) शेते मनसि इति शेः = मोहस्तं मुष्णातीति शेमुषी (= शमप्रधाना बुद्धिः) ।

भूमिम् परिहर्तुम् , दुःखानाम् बाधनम् भवत्सेवाधनम् अधिगम्य [अहम्] कुमतिप्रादुष्कृतम् दुष्कृतम् हन्मि ।

अर्थ—हे ईश्वर ! जहाँ महाभयङ्कर भ्रुकुटियोंसे विकराल मुखोंवाले यम-दूत प्राणियोंके शरीरको चूर-चूर करनेके लिए बड़े वेगसे कूदते हुए प्राणियोंको बारंबार महा त्रास देते हैं, उस महान् सङ्कटमयी नरकभूमिके कष्टोंसे बचनेके लिए अब मैं समस्त दुखोंको दूर करनेवाली आपकी सेवारूपी धनको पाकर दुष्ट वासनाओंसे उत्पन्न हुए पातकोंको दूर कर रहा हूँ । अतः—

मुञ्चद्भिर्यमकिङ्करैः कृतमहाजृम्भैरवं भैरवं
यावद्दर्शितमाननं न घुसृणक्षोदारुणं दारुणम् ।
तावत्सत्वरमेहि देहि महसां धामेदृशं मे दृशं
या दूरीकुरुते निरन्तरसुधासन्दोहदं दोहदम् ॥ ७ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] कृतमहाजृम्भैः भैरवम् रवम् मुञ्चद्भिः यमकिङ्करैः (क्रोधेन) घुसृणक्षोदारुणम् दारुणम् आननम् यावत् न दर्शितम्, तावत् [एव] त्वम् सत्वरम् एहि, या (तव दृक्) निरन्तरसुधासन्दोहदम् दोहदम् दूरीकुरुते, ईदृशम् महसाम् धाम ताम् दृशम् मे देहि ।

अर्थ—हे प्रभो ! बड़े जोरसे अकड़ते हुए मुँह फाड़-फाड़कर अत्यन्त भीषण, कठोर शब्द करनेवाले यम-दूत क्रोधसे कुंकुमके समान लाल बने हुए मुँहको जब तक मुझे नहीं दिखलाते, उसके पहले ही आप शीघ्र आइए ! और जो (आपकी दृष्टि) अत्यन्त गाढ़-अमृत-पानकी अभिलाषाको भी फीकी कर देती, उस परम तेजोमयी दृष्टिसे मुझे देखिए ।

यावद् दुःसहवह्निहेति-विहित-स्फीतापदं तापदं
जन्तूनां भगवन् भजामि नरकं नाहं सदाहं सदा ।
तावन्मुञ्च वचो यथा मरुपथे बाधावतां धावतां
भीष्मग्रीष्मकदर्थ्यमानवपुषां सञ्जीवनं जीवनम् ॥ ८ ॥

अन्वय—भगवन् ! दुःसहवह्निहेतिविहितस्फीतापदम्, जन्तूनाम् तापदम् , सदा सदाहम् नरकम् यावत् अहम् न भजामि, तावत् [एव] यथा मरुपथे धावताम् बाधावताम् भीष्म-ग्रीष्मकदर्थ्यमानवपुषाम् जीवनम् सञ्जीवनं [भवति] तथा वचः मुञ्च ।

अर्थ—भगवन् ! जब तक मैं अति दुःसह अग्नि-ज्वालाओंसे जीवोंको सन्ताप देनेवाले और सदैव दाहसे भरे हुए घोर नरकमें नहीं चला जाता, उसके पहले ही आप मरुस्थलमें वृथा भटकनेवाले, तथा भीषण उष्णतासे पीड़ित होते जीवोंको शान्ति देनेवाले सुशीतल जलके समान, अपना सुमधुर वचनामृत मुझे सुना दीजिए ।

न्यस्तं येन मनस्त्वयीदमहतोत्साहं तयाऽहन्तया
गाढोद्वेगविधायिनी घटयते सायासतां या सताम् ।

तं भोगैरुपसेवते सुमनसामानन्दने नन्दने
दिव्यस्त्रीजनता विलासविकसच्छोभा सुरं भासुरम् ॥ ९ ॥

अन्वय—[अयि भगवन् !] गाढोद्वेगविधायिनी या (अहन्ता) सताम् सायासताम् घटयते, तथा अहन्तया अहतोत्साहम् इदम् मनः येन (धन्येन) त्वयि न्यस्तम्; तम् सुरम् भासुरम् विलासविकसच्छोभा दिव्यस्त्रीजनता सुमनसाम् आनन्दने नन्दने भोगैः उपसेवते ।

अर्थ—हे प्रभो ! महान् उद्वेगको पैदा करनेवाली जो (अहन्ता) साधुजनोंको क्लेशित करती है, उस अहङ्कारतासे जिसका उत्साह नहीं भङ्ग हुआ ऐसे अर्थात् अहन्तासे रहित मनको, जो धन्यात्मा पुरुष आपके चरणोंमें अर्पित कर देता है, उस परम तेजस्वी देवताको अलौकिक विलाससे सम्पन्न अप्सराएँ देवताओंको आनन्द देनेवाले स्वर्गके नन्दनवनमें अनेक तरहकी भोग-सामग्रियोंसे सेवित करती हैं ।

यस्या हन्ति धृतिं विवेकविहिताह्रासा विलासाविला
मुग्धा दृङ् मदिरामदेन विगलद्वाचारुणा चारुणा ।
रामा काममहास्त्रमर्पयति मे सा हन्त मोहं तमो
येनाऽज्ञानमयं मनस्युपरमत्तापप्रथे पप्रथे ॥ १० ॥

अन्वय—[हे नाथ !] विवेकविहितह्रासा विलासाविला, विगलद्वाचा चारुणा मदिरामदेन अरुणा यस्याः मुग्धा दृक् धृतिम् हन्ति ; हन्त ! सा रामा येन (मोहेन) उपरमत्तापप्रथे मनसि अज्ञानमयम् तमः पप्रथे, तम् काममहास्त्रम् मोहम् मे अर्पयति ।

अर्थ—हे नाथ ! विवेकका ह्रासकर देनेवाली, विलासमें मग्न हुई और वाणीको स्खलितकर देनेवाले–सुन्दर मदिराके मदसे अरुण बनी हुई जिसकी मुग्धा दृष्टि मनके धैर्यको दूर कर देती है, हाय ! वह कामिनी मोहसे सन्तप्त हुए मनमें अज्ञानमय अन्धकारको फैलानेवाले और कामदेवके महान् अस्त्रभूत मोहको मुझे अर्पित करती है अर्थात् मुझे मोहित करती है !

लज्जेऽहं भज दूरमेव रभसादेवं धुता बन्धुता-
संमूढेन मया यया विधृतवानेतामहन्तामहम् ।
किं किं श्रीमदमोहितेन विभवस्थेनाऽहितं नाहितं
येनैतां न भजे पुनर्मयि वरं बाधे हितं धेहि तम् ॥ ११ ॥

अन्वय—[हे विभो !] यया (अहन्तया) संमूढेन मया "अहम् [त्वाम् दृष्ट्वा] लज्जे [अतः त्वम्] रभसात् दूरम् एव भज" एवम् बन्धुता धुता, ताम् एताम् अहन्ताम् अहम् विधृतवान् [अस्मि] अतः श्रीमदमोहितेन विभवस्थेन मया किम् किम् अहितम् न आहितम् ? [हे दयालो !] अहम् पुनः येन एताम् न भजे, तम् बाधे हितम् वरम् मयि धेहि ।

अर्थ—हे विभो ! जिस (अहङ्कार) से मूढ़ होकर मैंने अपने बन्धुओंसे "तुम्हें देखकर मुझे लज्जित होना पड़ता है, अतः तुम मुझसे दूर ही रहो !" ऐसा कहकर उनका परित्याग किया, ऐसे दुष्ट अहङ्कारको मैं धारण किये बैठा हूँ, और वैभवके समय लक्ष्मीके मदसे मोहित होकर मैंने न मालूम क्या-क्या पापाचरण नहीं

किया ? इसलिए हे प्रभो ! अब मैं जिसके प्रसादसे इस दुष्ट अहन्ताके वशमें न प्राप्त हो सकूँ, ऐसा सङ्कटमें हितकारी वरदान मुझे दीजिए।

आनीता चरणान्तिकप्रणयितां कामेन का मेनका
कार्यं किं घनभोगसंभृतविधौ सारम्भया रम्भया।
कान्ता मे परमेश्वरे हतविपत्संभावना भावना
चित्ते कापि रतिर्ययाहितहितत्रातायते तायते॥ १२॥

अन्वय—कामेन चरणान्तिकप्रणयिताम् आनीता मेनका मे का [भवति ?] घन-भोगसंभृतिविधौ सारम्भया रम्भया च मे किम् कार्यम् ? आहित-हितत्राता काऽपि रतिः आयते चित्ते यया तायते, सा हतविपत्संभावना परमेश्वरे भावना मे कान्ता [भवति]।

अर्थ—कामोद्रेकसे स्वतः चरणोंके समीपमें प्राप्त हुई मेनका (अप्सरा) से मुझे क्या प्रयोजन है ? और सम्भोग-सामग्रीके सम्पादनमें तत्पर हुई वह रम्भा भी मुझे प्रिय नहीं लगती। किन्तु मुझे तो जिससे हमारे विशाल चित्तमें अणिमा आदि सिद्धियोंका सञ्चय करनेवाली किसी विलक्षण परमानन्दावाप्तिका सञ्चार होता है, वह जन्म-जरा-मरण-रूपी सङ्कटको मिटानेवाली—प्रभुकी भक्ति ही अति-प्रिय लगती है।

धत्ते यस्य जटा कपालपटलं भव्या कुलं व्याकुलं
हंसानामिव रुन्धतीं भगवतीं गङ्गां तरङ्गान्तरम्।
तस्याधाय महेशितुर्नुतिगिरां नव्याकृतिं व्याकृतिं
भक्त्या निश्चलया नृजन्म सकलं संमानयामानया॥ १३॥

अन्वय—यस्य भव्या जटा व्याकुलम् तरङ्गान्तरम् हंसानाम् कुलम् इव, कपालपटलम् रुन्धतीम् भगवतीम् गङ्गाम् धत्ते, तस्य महेशितुः नव्या-कृतिम् नुतिगिराम् व्याकृतिम् आधाय, अनया निश्चलया भक्त्या सकलम् नृजन्म [वयम्] संमानयामः।

अर्थ—जिसकी भव्य जटा व्याकुल और तरङ्गोंसे घिरे हुए हंसगणोंकी भाँति स्वच्छ कपाल-पटलको रोकनेवाली भगवती गङ्गाको धारण करती है, उस महेश्वरकी नवीन आकृतिको स्तुति-वचनोंसे अभिव्यक्त करके हम इस निश्चल भक्तिके द्वारा सारे ही मनुष्य जन्मको सम्मानित (सफल) कर रहे हैं।

कंचिच्छ्रीर्वसतेः करोतु विकसच्छोभा जनं भाजनं
कंचिद्वन्दिजनः प्रशंसतु मुदं प्रीत्या गतस्त्यागतः।
मन्येऽहं तु समग्रशोकशमनं संन्यासमन्यासमं
यस्मिन्मृत्युजितं भजामि मनसा वाचेष्टया चेष्टया॥ १४॥

अन्वय—विकसच्छोभा श्रीः कंचित् जनम् वसतेः भाजनम् करोतु, त्यागतः प्रीत्या मुदम् गतः वन्दिजनः कंचित् जनम् प्रशंसतु, अहम् तु यस्मिन् मनसा, वाचा, इष्टया चेष्टया च मृत्युजितम् भजामि, [तम्] समग्रशोकशमनम् अन्यासमम् संन्यासम् मन्ये।

अर्थ—लोकोत्तर विकाशशालिनी लक्ष्मी देवी किसीको प्रेमसे भजे और अतिशय त्याग एवं प्रीतिसे हर्षको प्राप्त हुए बन्दीजन भी किसीकी प्रशंसा किया करें, मुझे इनसे क्या काम है ? मैं तो जिस (संन्यास) में मन, वचन और चेष्टासे भगवान् श्रीमृत्युञ्जयका ही भजन करूँ, ऐसे जन्म-मरण-रूपी समस्त शोकको शान्त कर देनेवाले संन्यास (सर्वसङ्गनिवृत्ति) को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।

रूपं यद्भवतो दधत्परिकरं भौजङ्गमं जङ्गमं
सेवन्ते यदपि श्रियः कृतधियः स्वस्था वरं स्थावरम्।
प्राज्यं ज्योतिरिव प्रसह्य तमसां वैकर्तनं कर्तनं
लब्ध्वा तत्प्रतिभा कथं न जनितस्वाभा सतां भासताम् ॥१५॥

अन्वय—[हे प्रभो !] भौजङ्गमम् परिकरम् दधत्, यत् भवतः जङ्गमम् रूपम्, यदपि श्रियः वरम् स्थावरम् रूपम् स्वस्थाः कृतधियः सेवन्ते, तत् (उभयमपि) तमसाम् कर्तनम् वैकर्तनम् प्राज्यम् ज्योतिः इव, प्रसह्य तमसाम् कर्तनम् भवतः रूपम् लब्ध्वा, जनितस्वाभा प्रतिभा सताम् कथम् न भासताम् ?

अर्थ—हे प्रभो ! कुशली लोग आपके वासुकि आदि भुजङ्गोंके परिकरको धारण करनेवाले जिस जङ्गमस्वरूप तथा श्रीपतिरूप स्थावर स्वरूपकी उपासना करते हैं, सो गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेवाली सूर्यकी अखण्ड ज्योतिके समान महामोह-रूपी अन्धकारको हठात् दूर कर देनेवाली आपकी उन दोनों प्रकारकी परम ज्योतिको प्राप्त करके आत्मप्रभा (आत्मस्वरूप) को प्रकाशित कर देनेवाली प्रतिभा (ज्ञानोद्दीप्ति) उन्हें क्यों नहीं भासमान होती ? अर्थात् अवश्य होती है।

स्तोतुं वाञ्छसि संश्रितं मरकतश्यामं गलं मङ्गलं
लब्धुं मानस तत्परं भगवतः सेवासु किं वासुकिम्।
भक्तिश्चेद्भवति स्थितिं मदमरुद्वेगाहते गाहते
तद् बध्नासि धृतिं त्वमप्यहिपतिप्रावारसेवारसे ॥ १६ ॥

अन्वय—मानस ! [त्वम्] मरकतश्यामम् गलम् श्रितम् भगवतः सेवासु तत्परम् वासुकिम् मङ्गलम् लब्धुम् किम् स्तोतुम् वाञ्छसि ? (काकुः) मदमरुद्वेगाहते भवति [प्रभोः] भक्तिः स्थितिम् गाहते चेत्, तत् त्वम् अपि अहिपतिप्रावारसेवारसे धृतिम् बध्नासि !

अर्थ—अरे ओ मन ! क्या तू श्री सदाशिवके मरकत मणिके समान श्यामल कण्ठमें बैठे, प्रभु-सेवामें तत्पर, वासुकि सर्पको मङ्गलकी प्राप्तिके लिए प्रसन्न करना चाहता है ? अरे भाई ! मदरूपी वायुके वेगसे मारे तुम्हारे अन्दर यदि प्रभुकी भक्ति स्थिर हो जायगी, तो फिर तू अपने आप ही प्रभुकी सेवामें प्रेम करने लगेगा।

दृष्ट्वा यन्मघवा विहाय गतवानैरावणं रावणं
पश्यन्पाण्डुतया भयादनुकृतश्यामाधवं माधवम्।

सर्वोऽयं भवतः प्रसादमहिमा हन्ता नवं तानवं
सेवा कस्य न सिद्धये हतवृथासङ्कल्प ते कल्पते ॥ १७ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] रावणम् (रणे) दृष्ट्वा भयात् पाण्डुतया अनुकृतश्यामाधवम् माधवम् पश्यन्, मघवा यत् ऐरावणम् विहाय गतवान्, अयम् सर्वः नवम् तानवम् हन्ता, भवतः प्रसादमहिमा [अस्ति] हतवृथासङ्कल्प ! ते सेवा कस्य न सिद्धये कल्पते ?

अर्थ—हे भगवन् ! आपके भक्त-प्रवर त्रैलोक्य-विजयी रावणको युद्धमें देख भगवान् श्रीविष्णुको भयके मारे चन्द्रमाके समान श्वेत (धूसर) बने हुए देखकर देवराज इन्द्र जो अपने ऐरावत हाथीको छोड़कर भाग गया, यह सब महिमा लघुता (दुर्बलता) को दूर करनेवाले आपके सर्वोत्कृष्ट प्रसादकी ही है। हे असत् संकल्पोंको नष्ट करनेवाले सदाशिव ! आपकी सेवा किसका कल्याण नहीं करती ? अर्थात् सभीका कल्याण करती है।

तं हत्वा सबलं निशाचरपतिं लङ्कालयं कालय-
न्नार्तिं नाकसदामुपेत्य विभवं वैभीषणं भीषणम् ।
वैदेहीमनघां लभेत स कथं रामो हि तां मोहितां
त्वद्भक्तिं यदि न व्यधास्यत नुतो भ्राजिष्णुना जिष्णुना ॥१८॥

अन्वय—[हे प्रभो !] भ्राजिष्णुना जिष्णुना नुतः सः रामः, यदि हि त्वद्भक्तिम् न व्यधास्यत, तर्हि नाकसदाम् आर्तिम् कालयन्, लङ्कालयम् तम् निशाचरपतिम् सबलम् हत्वा, भीषणम् वैभीषणम् विभवम् उपेत्य, अनघाम् मोहिताम् ताम् वैदेहीम् कथम् लभेत ?

अर्थ—हे नाथ ! तेजस्वी इन्द्रसे पूजित वह रामचन्द्रजी यदि आपकी भक्ति (आराधना) न करते, तो फिर समस्त देवताओंके दुःखको दूर करते हुए उस लङ्कापति रावणको सेना-सहित मारकर विभीषणसे महान् सत्कार पाकर अपनी निर्दोष प्रियतमा श्रीवैदेहीको वे कैसे प्राप्त करते ?

लोकं शोकहरं परं प्रति भृशं सन्देहिनां देहिनां
माया मोहतमोविमोहितदृशामायासदा या सदा ।
तां हन्तुं मम किं करोषि विहितज्ञानोदयां नो दयां
यस्या दास्यमपीह नार्हति घनस्फारा सुधारा सुधा ॥ १६ ॥

अन्वय—या माया मोहतमोविमोहितदृशाम् शोकहरम् परम् लोकम् प्रति भृशम् सन्देहिनाम् देहिनाम् सदा आयासदा [भवति] ताम् हन्तुम् विहितज्ञानोदयाम् ताम् दयाम् मम किम् नो करोषि, घनस्फारा सुधारा सुधा यस्या (तव दयायाः) दास्यम् अपि इह न अर्हति।

अर्थ—जो (अनात्मामें आत्मभ्रम पैदा करनेवाली) माया मोहरूपी अन्धकारसे आवृत ज्ञानदृष्टि वाले और सांसारिक शोकमोहको हरनेवाले परलोकपर अति-सन्दिग्ध हुए लोगोंको, अर्थात् मायासे मोहित होकर परलोकके विषयमें 'परलोक है या नहीं'—

इस प्रकार अविश्वस्त हुए लोगोंको, सदा क्लेशित करती है, प्रभो ! उस मायाको दूर करनेके लिए तत्त्व-ज्ञानका उदय करनेवाली ऐसी दया आप मेरे ऊपर क्यों नहीं करते, कि जिसके सामने सुन्दर गाढ़ सुधाकी धारा दासी बनने के योग्य भी नहीं है।

दोषाणां सहसा विधातुमुदयं नो साम्प्रतं साम्प्रतं
स्वालोकक्षपणं करोतु तिमिरं तन्मादृशां मा दृशाम् ।
ख्यातः पौष्ण इव प्रसह्य कमलोल्लासादयं सादय-
न्नार्तिं न प्रकटीकरोति बत कामाशां करः शाङ्करः ॥ २० ॥

अन्वय—साम्प्रतम् दोषाणाम् उदयम् विधातुम् नो साम्प्रतम् ? तत् तिमिरम् मादृशाम् दृशाम् स्वालोकक्षपणम् मा करोतु ! बत !! अयम् ख्यातः शाङ्करः करः, पौष्णः करः इव, प्रसह्य कमलोल्लासात् आर्तिम् सादयन् काम् आशाम् न प्रकटीकरोति ?

अर्थ—ओह ! अब बार-बार जन्म, मरणसे पैदा होनेवाले दोषों (क्लेशों) का उदय होने देना उचित नहीं है ! इसलिए अब वह मोहरूपी अन्धकार मेरे समान शिव-भक्ति-रसामृतसे आर्द्र अन्तःकरणवालोंके ज्ञान-रूपी नेत्रोंके प्रकाशको मत नष्ट करे ! क्योंकि अब तो जैसे सूर्यदेवके कर (किरणें) कमलोंको विकसित करके लोगोंके कष्टोंको दूर करते हुए सम्पूर्ण आशा-(दिशा-)ओंको प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही समस्त भुवनोंमें विख्यात यह भगवान् शङ्करका कर मोक्षलक्ष्मीको उत्पन्न करके संसार-रूपी मरुस्थलके क्लेशोंको दूर करता हुआ हमारी सभी आशाओंको पूर्ण कर रहा है।

शीतस्निग्धं परिमलसुखं घानसारं न सारं
नापि प्रेम्णा कलितललितोद्दामहेला महेला ।
तस्माज्जित्वा भवमनुदितस्तम्भजेयं भजेयं
भूयो भूयो हर परहितारम्भवन्तं भवन्तम् ॥ २१ ॥

अन्वय - शीतस्निग्धम् घानसारम् परिमलसुखम् न सारम्, प्रेम्णा कलितललितोद्दा-महेला महेला अपि न सारम्; तस्मात् हर ! अनुदितस्तम्भजेयम् भवम् जित्वा, परहितारम्भ-वन्तम् भवन्तम् भूयः भूयः भजेयम् ।

अर्थ—अतीव सुशीतल और कोमल कर्पूरके परिमलमें कुछ सार नहीं है, और प्रेमसे सुन्दर सुन्दर मनोहर विलासोंको धारण करनेवाली प्रियतमामें भी कुछ सार नहीं है। इसलिए, हे संसृतिके क्लेशोंको हरनेवाले हर ! अब आप ऐसी कृपा कीजिए जिससे कि, मैं निरहङ्कारी संयमी लोगोंसे पार होने योग्य भव-सागरको जीतकर दीनोंके हित करनेमें परायण आप प्रभुका ही भजन करूँ।

दृष्टिः स्त्रीणां मम निवसतो हानिशान्ते निशान्ते
चित्तं रुन्धे शिशुमिव मृगं वागुरा भङ्गुराभम् ।
तत्सम्पर्कादहमिह सहे देव मानाऽवमाना-
वार्त्तः प्राप्तः शरणमधुना त्वामुदारं मुदारम् ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] हानि शान्ते निशान्ते निवसतः मम चित्तम् स्त्रीणाम् दृष्टिः, भंगुराभम् शिशुम् मृगम् वागुरा इव, रुन्धे। देव ! तत्सम्पर्कात् अहम् इह मानावमानौ सहे, [अतः] अरम् आर्त्तः सन् अहम् अधुना त्वाम् उदारम् मुदा शरणम् प्राप्तः [अस्मि]।

अर्थ—हे प्रभो ! अकिंचनताके कारण शान्त हुए गृहमें निवास करते हुए मेरे चित्तको स्त्रियोंकी दृष्टि, अति चञ्चल मृग-बालकको वागुरा (जाल) के समान, रोक देती है। हे देव ! इसी कारण मैं यहाँ मान और अपमानको सहन करता हूँ, अतः हे देव ! अब मैं अत्यन्त आर्त्त होकर आप उदार प्रभुकी शरणमें आया हूँ।

प्राज्यं राज्यं नृपतिमकरीरत्ननिर्यत्न-निर्य-
द्रश्मिस्रोतः स्नपितचरणं क्रान्त-सामन्तसाम।
सभ्रूभङ्गं मुनिजनमनःक्षोभि रामाऽभिरामा
वक्त्रं बिभ्रत्युपचितरतिर्घस्मरेण स्मरेण ॥ २३ ॥

द्वारि क्षोभः क्षितिधरगुहाभोगजानां गजानां
का वा संख्या प्रकटितविपद्बाधनानां धनानाम्।
इत्थं लक्ष्मीः कथमिव भजेद्धामहीनं महीनं
स्याच्चेन्नैकस्तव कृतरिपुक्षिप्रसादः प्रसादः ॥ २४ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—[हे भगवन् !] कृतरिपुक्षिप्रसादः तव एकः प्रसादः चेत् न स्यात्, तर्हि— धामहीनम् महीनम्, नृपतिमकरीरत्ननिर्यत्ननिर्यद्रश्मिस्रोतःस्नपितचरणम्, क्रान्तसामन्तसाम प्राज्यम् राज्यम्; घस्मरेण स्मरेण उपचितरतिः (पुनः) मुनिजनमनःक्षोभि सभ्रूभङ्गम् वक्त्रम् बिभ्रती अभिरामा रामा [च], द्वारि क्षितिधरगुहाभोगजानाम् गजानाम् क्षोभः, प्रकटितविपद्बाधनानाम् धनानाम् वा का सङ्ख्या ? इत्थम् लक्ष्मीः कथम् इव भजेत् ?

अर्थ—हे भगवन् ! शत्रुओंको शीघ्र नाश करनेवाला एक आपका प्रसादानुग्रह यदि न होता, तो फिर तेजोविहीन महीपतिको राजाओंके शिरोमुकुटोंकी रत्नकिरणोंके प्रवाहसे चरणोंको स्नान करानेवाला और सामन्तकी सन्धिको आक्रमित करनेवाला अत्युत्कृष्ट (चक्रवर्ती) राज्य तथा मनको अतीव क्षोभ पहुँचानेवाले, त्रैलोक्यविजयी कामके बाणोंसे अत्यन्त मोहित हुई, और मुनिजनोंके मनको क्षुभित करनेवाले कुटिल कटाक्षोंसे युक्त मुखको धारण करती हुई मनोहर सुन्दरी एवं महलोंके दरवाजोंपर मदमत्त हाथियोंका क्षोभ और समस्त आपत्तियोंका समूलोच्छेदन करनेवाले विविध प्रकारके असंख्य (मणिमाणिक्यादि) धनके खजाने, इत्यादि-इत्यादि अनुत्तम सम्पत्तियोंसे—लक्ष्मी कैसे सेवित करती ?

भीमां पङ्क्तिं पुरुषशिरसां मस्तकेऽशस्तकेश-
प्रोतां धत्से विबुध-सरितो यां तरङ्गान्तरङ्गाम्।

सैव श्रेयः प्रथयति यथा देव राजीवराजी
त्वत्संपर्काद् घटयति न किं मङ्गलाभङ्गलाभम् ॥ २५ ॥

अन्वय—देव ! [त्वम्] विबुधसरितः तरङ्गान्तरङ्गाम्, याम् अशस्तकेशप्रोताम् भीमाम् पुरुषशिरसाम् पंक्तिम् मस्तके घत्से, सा एव राजीवराजी यथा, श्रेयः प्रथयति, त्वत्सम्पर्कात् किम् मङ्गलाभङ्गलाभम् न घटयति ।

अर्थ—हे परम व्योममें विहार करनेवाले स्वयंप्रकाश देव ! आप देवगङ्गाके तरङ्गोंके साथ-साथ अमङ्गल-केशोंसे ओतप्रोत हुई जिस भयङ्कर नर-कपालोंकी माला-को अपने मस्तकपर धारण करते हो, वही मुण्ड-माला, कमल-पुष्पोंकी मालाके समान, भक्त लोगोंके मङ्गलोंकी अभिवृद्धि करती है। प्रभो ! आपके सम्पर्कसे कौन-सी अमङ्गल वस्तु अखण्ड-मङ्गलमयी नहीं हो जाती ?

कृत्वा शय्यामुपान्ते विरचितकलिकादामशेषामशेषां
संपत्तिं मानयन्तः कुसुमबलगलद्बालतानां लतानाम् ।
सेव्यन्ते हन्त वृन्दैरविरतरतयः सुन्दरीणां दरीणा-
मन्तस्त्वद्भक्तिभाजः सितकरकिरणैरुत्तमायां तमायाम् ॥२६॥

अन्वय—हन्त ! कुसुमबलगलद्बालतानाम् लतानाम् सम्पत्तिम् मानयन्तः (तासामेव लतानाम्) उपान्ते विरचितकलिकादामशेषाम् अशेषाम् शय्याम् कृत्वा, अविरतरतयः त्वद्भक्तिभाजः, दरीणाम् अन्तः सितकरकिरणैः उत्तमायाम् तमायाम् सुन्दरीणाम् वृन्दैः सेव्यन्ते ।

अर्थ—अहा, प्रभो ! कुसुमित-पुष्पोंवाली सुमनोहर लताओंके वैभवको सम्मानित करते हुए, उन्हीं लताओंके समीपमें सुन्दर कलिकाओंकी दिव्य शय्यापर अखण्ड रति-सुखका अनुभव करनेवाले आपके भक्तजनोंको गुफाओंके अन्दर चन्द्र-किरणोंसे सुशोभित रात्रियोंमें सुन्दरी महिलाएँ सेवित करती हैं ।

हन्ताऽहन्तावृतानां मह इव रजनी भासमानं समानं
ज्ञानं ज्ञानन्दकारि ग्लपयति विलसद्बोधनाशा धनाशा ।
वाचा वाचालभावं तव विहितवतां वास्तवेन स्तवेन
श्रेयः श्रेयस्करस्त्वं भव भवसि विपद्भाजनानां जनानाम् ॥२७॥

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते
भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'पादान्त-
यमकाख्यं' स्तोत्रमष्टाविंशम् ।

अन्वय—हन्त ! अहन्तावृतानाम् विलसद्बोधनाशा धनाशा, भासमानम् महः रजनी इव, भासमानम् ज्ञानन्दकारि ज्ञानम् ग्लपयति । भव ! वाचा वास्तवेन स्तवेन तव वाचालभावम् विहितवताम् विपद्भाजनानाम् जनानाम् त्वम्, [यत्] श्रेयस्करः भवसि [तदेव] श्रेयः ।

अर्थ—हा हन्त ! जैसे रात्रि दिनके प्रकाशको हर लेती है, वैसे ही अहङ्कारी

लोगोंके बोधमय प्रकाशको नाश करनेवाली धनकी आशा (तृष्णा) विद्वानोंको आनन्द देनेवाले सुप्रकाशमय ज्ञानको हर लेती है। इसलिए हे सदाशिव ! जो लोग वास्तविक (पारमार्थिक) वाणीसे आपकी यथार्थ स्तुति करके आपको वाचालित कर देते हैं, उन विपत्तिमें पड़े हुए दीनोंपर अत्यन्त दयालु होकर जो आप उनका कल्याण करते हैं, यही अति उत्तम श्रेय है।

एकोनत्रिंशं स्तोत्रम्

अब यहाँसे 'एकान्तर-यमक' नामक चित्र-काव्यके द्वारा उन्तीसवें स्तोत्रको आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

उदारवर्णैरथ सङ्गतैरहं मुदाभिधावद्भिरुपोढलक्षणैः।
पदैरमन्दध्वनिभिर्महेश्वरं प्रभुं प्रपद्ये तुरगोत्तमैरिव ॥ १ ॥

अन्वय—अथ अहम् मुदा उदारवर्णैः सङ्गतैः अभिधावद्भिः उपोढलक्षणैः अमन्द-ध्वनिभिः पदैः [एतादृशैः] तुरगोत्तमैः इव, महेश्वरम् प्रभुम् प्रपद्ये।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष उदार (श्वेत, पीत आदि) वर्णवाले, रथसे जुड़े हुए, हर्षके मारे बड़े वेगसे दौड़नेवाले, सुन्दर लक्षणों-(गलोद्देशस्थ-देवमण्यादि चिह्नों-) से सुशोभित और बड़े जोरसे हिनहिनानेवाले अत्युत्तम (वनायुदेशीय—पारसी) घोड़ों-के द्वारा अपने स्वामीकी शरणमें जाता है। वैसे ही अब मैं उदार (अर्थात् प्रारम्भित ग्रन्थके वर्णनीय रसानुकूल) वर्णों (अक्षरों) वाले, परस्पर सम्बद्ध अर्थवाले, अभिधा (मुख्य शब्द-व्यापार) से युक्त, लक्षणा[1] (रूढ़ि या प्रयोजनसे मुख्य वाच्यार्थको छोड़कर गौण—लक्ष्यार्थको कहनेवाली शब्दशक्ति) को धारण करनेवाले और अत्युत्तम ध्वनि (व्यङ्ग्य अर्थ) से युक्त पदोंसे सहर्ष देवाधिदेव श्रीमहेश्वरकी शरणमें प्राप्त होता हूँ।

शिवेन देव्या जगृहे करोऽहित-
स्त्रसन्यदा कुङ्कुमपङ्करोहितः।
तदास्य योऽर्काग्निनिशाकरोहितः
स्तवः स वः स्यादभयङ्करो हितः ॥ २ ॥

अन्वय—अहितः त्रसन् कुङ्कुमपङ्करोहितः देव्याः करः यदा (विवाहसमये) शिवेन जगृहे, तदा अस्य (भगवतः) यः अर्काग्निनिशाकरोहितः, सः स्तवः वः अभयंकरः हितः [च] स्यात्।

अर्थ—भगवान् श्री शङ्करके कर-कमलपर कङ्कणके समान विराजमान हुए सर्प- (वासुकि-) से डरता हुआ कुङ्कुम-पङ्कके समान अरुण श्रीपार्वतीजीका हस्त-

(१) मुख्यार्थबाधतद्योग-सत्त्वे रूढितः प्रयोजनाद्वा मुख्येनाऽमुख्योऽर्थो यल्लक्ष्यते सा 'लक्षणा'।

कमल जब विवाहके समय शिवजीने ग्रहण किया, उस समय कर्म-साक्षी देवता श्रीसूर्य, अग्नि और चन्द्रमाने भगवान् शिवका जो गुणानुवाद गाया, वह भगवद्गुणानुवादरूप स्तोत्र आपका अभय और हितकारक हो।

अनञ्जनं　नेत्रविकासकारणं
निरङ्कुशं　कर्णकरेणुवारणम् ।
अचन्द्रिकं　चित्तचकोरपारणं
क्रियाद्　ईशार्चनमार्तिदारणम् ॥ ३ ॥

अन्वय—अनञ्जनम् नेत्रविकासकारणम्, निरङ्कुशम् कर्णकरेणुवारणम्, अचन्द्रिकम् चित्तचकोरपारणम् ईशार्चनम् वः आर्त्तिदारणम् क्रियात्।

अर्थ—मायारूपी अञ्जनसे रहित और ज्ञानरूपी नेत्रोंको विकास करनेवाला, अंकुश (पराधीनता) से रहित और श्रोत्ररूपी हाथियोंको रोकनेवाला, एवं चन्द्रमाके प्रकाशसे रहित और चित्तरूपी चकोरको तृप्त करनेवाला ईश्वराधन आप लोगोंके दुःखोंका विदारण करे।※

सुखाकरोति　क्लमहृन्न　माधव-
स्तथामरौ　वोपवनेऽपि मा धवः ।
यथा　शरीरार्धनिरुद्धमाधवः
प्रशस्यमानो　भगवानुमाधवः ॥ ४ ॥

अन्वय—क्लमहृत् माधवः (वसन्तः) मा तथा न सुखाकरोति, वा मरौ उपवने अपि धवः (सुललितवृक्षः) तथा न सुखाकरोति, यथा शरीरार्धनिरुद्धमाधवः प्रशस्यमानः भगवान् उमाधवः सुखाकरोति।

अर्थ—क्लम-(परिश्रमसे उत्पन्नहुए खेद-) को हरनेवाला माधव (वसन्त) मुझे उतना आनन्द नहीं देता और मरुस्थलके उपवनमें सुशीतल छाया करनेवाला धव (मनोहर वृक्ष) भी उतना आनन्द नहीं देता; जितना कि हरिहर-स्वरूपको धारण करके उस शरीरके अर्धभागमें माधव-(विष्णु-स्वरूप-) को धारण करनेवाला, स्तूयमान भगवान् श्रीउमाधव (भवानीनाथ) आनन्द देता है।

दिनान्तरात्र्यागमयोरिवाथवा
सुरस्रवन्तीयमुनौघयोरिव ।
उमारमाकामुकयोः　समागमः
सिताऽसितस्तापमघं च　हन्तु वः ॥ ५ ॥

अन्वय—दिनान्तरात्र्यागमयोः समागमः इव, अथवा सुरस्रवन्तीयमुनौघयोः समागमः इव, उमारमाकामुकयोः सिताऽसितः समागमः वः तापम् अघम् च हन्तु।

※ कारणाऽभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना (अलङ्कार-सर्वस्व)।

अर्थ—जैसे दिनान्त और राज्यारम्भका, अथवा श्रीगङ्गा और यमुनाका सितासित (श्वेत और कृष्ण) समागम लोगोंके ताप और पापका नाश करता है, वैसे ही श्रीउमानाथ (शिव) और रमानाथ-(विष्णु-) का वह सिताऽसित (श्वेत-कृष्ण) समागम आप लोगोंके त्रिविध ताप और पापको दूर करे।

उमाख्यमासाद्य महानियोऽगतः
प्रियं निधिं सौख्यमहानि यो गतः।
करोतु युष्माकमहानि योगतः
शुभान्यसाविद्धमहा नियोगतः ॥ ६ ॥

अन्वय—यः महानियः अगतः उमाख्यम् प्रियम् निधिम् आसाद्य, अहानि सौख्यम् गतः, असौ इद्धमहाः नियोगतः योगतः [च] युष्माकम् शुभानि अहानि करोतु।

अर्थ—जो प्रभु महानीतिशाली हिमालय पर्वतके यहाँसे उमा-नामक प्रिय निधिको पाकर अखण्ड सौख्यको प्राप्त हुआ, वह महातेजस्वी शम्भु शुभ आज्ञा देकर अथवा योग-(समाधि-) द्वारा आपके दिनों-(समय) को मङ्गलमय करे।

द्विजाधिपाधिष्ठितशेखरं महा-
भुजं गवि न्यस्तभरं समुद्वहन्।
वपुः सदाभङ्गदयासमाश्रितं
तनोतु वः संपदमच्युतः शिवः ॥ ७ ॥

अन्वय—द्विजाधिपाधिष्ठितशेखरम् महाभुजम् गवि न्यस्तभरम् सदा अभङ्गदयासमाश्रितम् वपुः समुद्वहन् अच्युतः शिवः वः सम्पदम् तनोतु।

अर्थ—मस्तकपर चन्द्रमासे विराजित, बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले, वृषभपर बैठकर चलनेवाले, सदा दीनोंका उद्धार करनेवाली अविनाशी दयासे समाश्रित शरीरको धारण करता हुआ वह अच्युत (अविनाशी) शिव आप लोगोंके वैभवका विस्तार करे।

अथवा—पक्षिराज श्रीगरुड़के कंधेपर बैठा हुआ, शेषनागपर अपना भार रखनेवाले, सुमनोहर शोभासे सम्पन्न और (कौमोदकी) गदासे विराजमान हुए दिव्य मङ्गलमय शरीरको धारण करता हुआ वह कल्याणदाता अच्युत भगवान् (विष्णुरूपधारी शिव) आपकी सम्पत्तियोंका विस्तार करे।

अघद्रुमध्वंसमहाकरेणवः
सुधासिताः पावककल्करेणवः।
वसन्ति यस्मिन्नभयङ्करेऽणवः
तनोतु[1] शं तेन हरः करेण वः ॥ ८ ॥

---

१. करोतु, इत्यपि पाठः।

अन्वय—यस्मिन् अभयंकरे (करे) अघद्रुमध्वंसमहाकरेणवः सुधासिताः अणवः पावक· कल्करेणवः वसन्ति, तेन करेण हरः वः शम् तनोतु ।

अर्थ—शरणहीन दीनोंको अभयदान देनेवाले जिस करकमलमें पापरूपी वृक्षोंको हाथीके समान नष्ट करनेवाले, सुधाके समान श्वेत भस्मके सूक्ष्म कण सुशोभित होते हैं, उस करुणामय हस्तारविन्दसे भगवान् शङ्कर आपका कल्याण करें ।

धृतिस्त्वदीयेन सुदर्शनेन मे
भवत्यभेदस्तु हरे किमुच्यते ।
परस्परं शङ्करकृष्णयोरिदं
वचः सुखायैकमुखोत्थमस्तु वः ॥ ९ ॥

अन्वय—हरे ! त्वदीयेन सुदर्शनेन मे धृतिः [अस्ति], भवति अभेदः तु किम् उच्यते, [तथा—हेशंभो !] त्वदीयेन सुदर्शनेन मे धृतिः [अस्ति], भवति हरे अभेदः तु किम् उच्यते, इति शङ्करकृष्णयोः परस्परम् एकमुखोत्थम् इदम् वचः वः सुखाय अस्तु ।

अर्थ—"हे विष्णो ! आपके सुदर्शन चक्रसे मेरी अतीव प्रीति है और आपके साथ अभेदभावका तो कहना ही क्या है ? तथा—हेसदाशिव ! आपके अतिमनोहर सुदर्शन-(सुन्दर दर्शन) से मेरा बड़ा ही प्रेम है, अतः आप और हमारे अभेदका तो क्या कहना है ?" इस प्रकार भगवान् श्रीशिव और विष्णुके (हरिहरात्मक स्वरूपके) परस्पर एक ही मुखसे निकला हुआ, यह सुमनोहर वचन आपको अखण्ड आनन्द प्रदान करे ।

न जन्म यस्याद्रिनिवास दारुणः
स ते ज्वलत्यक्ष्णि शिखी सदारुणः ।
यमं न किं तेन शिरःसदाऽरुण-
[1]स्त्वदाश्रितं किं ग्रसतां स दारुणः ॥ १० ॥

अन्वय – अद्रिनिवास ! यस्य दारुणः जन्म न [भवति] सः अरुणः शिखी ते अक्ष्णि सदा ज्वलति, (हेप्रभो !) शिरःसदा तेन (अग्निना) त्वम् यमम् किम् न अरुणः ? (नाऽऽवृणोः ?) सः दारुणः (यमः) त्वदाश्रितम् माम् किम् ग्रसताम् ?

अर्थ—हे कैलाशवासिन् ! जिसकी उत्पत्ति काष्ठसे नहीं होती, वह अरुण अग्नि आपके नेत्रमें सदैव प्रज्ज्वलित होता है; सो हे नाथ ! मस्तकपर बैठे हुए उस अग्निसे आप यमराजको क्यों नहीं भस्म कर देते ? प्रभो ! वह दारुण (क्रूर) यम मुझ आपके आश्रितको क्यों ग्रस्तकर रहा है ?

सदा नगोपाहितबन्धुरस्थितिं
स्तुवे पिनाकेन समेधितश्रियम् ।

१. सदा ।

महर्द्धिकं सोपशमे कृतादरं
हरं हरिं वा तरसा रसादहम् ॥ ११ ॥

अन्वयम्—अहम् सदा नगोपाहितबन्धुरस्थितिम् , पिनाकेन समेधितश्रियम् महर्द्धिकम् सोपशमे कृतादरम् हरम् , वा सदानगोपाहितबन्धुरस्थितिम् नाकेन अपि समेधितश्रियम् महर्द्धिकंसोपशमे कृतादरम् हरिम् , रसात् तरसा स्तुवे ।

अर्थ – मैं नित्य कैलाश पर्वतमें निवास करनेवाले और पिनाक-(धनुष) से सुशोभित, अणिमा महिमा आदि अष्ट-सिद्धियोंसे सम्पन्न एवं संयमी पुरुषपर कृपा करनेवाले भगवान् श्रीशङ्करकी, अथवा—अतीव दानी गोपाल बालोंके साथ (व्रज में) निवास करनेवाले और स्वर्गकी भी सम्पत्तिको लज्जितकर देनेवाली लक्ष्मी (श्री राधाजी) से सम्पन्न एवं महाऋद्धिशाली कंसासुरको मारनेवाले श्री भगवान् विष्णुकी बड़े प्रेमसे वन्दना करता हूँ ।

मनो भृशं भ्राम्यति बालिशं भवे
जहाति भक्तिं च दिवानिशं भवे ।
अतः परं नाम किमस्य शं भवे-
न्निवेदयेत् स्वं यदि कर्म शंभवे ॥ १२ ॥

अन्वय—बालिशम् मनः भवे भृशम् भ्राम्यति, भवे (श्रीशिवे) च दिवानिशम् भक्तिम् जहाति । यदि [इदं मनः] स्वम् कर्म शंभवे निवेदयेत् , अतः परम् अस्य किम् नाम शम् भवेत् ?

अर्थ—हाय-हाय ! यह मूर्ख मन इन्द्रजाल अथवा गन्धर्वनगरके समान (अनित्य) भव (संसार) में रात-दिन भटकता फिरता है और भव-(शङ्कर) की भक्तिको दिन रात भूलता जाता है । आहा ! यदि यह मूर्ख अपने शुभाशुभ कर्मोंको श्रीशम्भुको समर्पण (श्रीशिवार्पण) कर देता तो, इससे अधिक इसका और क्या कल्याण होता ?

समुद्रजन्मानमुपादधत्करे सितद्युतिं वक्त्रनिवेशनोचितम् ।
रतः सदास्कन्दकदर्थनाहतौ हरो हरिर्वा दुरितं धुनोतु[1] वः ॥१३॥

अन्वय—वक्त्रनिवेशनोचितम् असितद्युतिम् समुद्रजन्मानम् (कालकूटम्) करे उपादधत् , सदा स्कन्दकदर्थनाहतौ रतः हरः, वक्त्रनिवेशनोचितम् सितद्युतिम् समुद्रजन्मानम् (शङ्खम्) करे उपादधत् सदास्कन्दकदर्थनाहतौ रतः हरिः वा, वः दुरितं धुनोतु ।

अर्थ—मुँहमें स्थापन करने योग्य, नील कान्तिवाले समुद्रजन्मा कालकूटको कर-कमल में धारण करता हुआ और सदा स्वामी कार्तिकेयके दुःखका निवारण करनेमें तत्पर हर (श्री शिव), अथवा—मुख-कमलमें रखने योग्य, स्वच्छ कान्तिवाले समुद्रजन्मा पाञ्चजन्य शङ्खको कर-कमलमें धारण करता हुआ, सत्पुरुषोंके माया-

१. 'दुनोतु' इत्यपि पाठः ।

वरणसे उत्पन्न हुए दुःखोंको दूर करनेमें तत्पर हरि (श्री विष्णु) आपके समस्त पापोंको दूर करें ।

जिगीषवः क्लेशपरम्पराभवं वनेषु भिक्षाधृतकर्परा भवम् ।
असोढवन्तः कुनृपात्पराभवं भजन्ति सन्तः स्तुतितत्परा भवम् ॥१४॥

अन्वय—क्लेशपरम्पराभवम् भवम् जिगीषवः, वनेषु भिक्षाधृतकर्पराः कुनृपात् पराभवम् असोढवन्तः सन्तः स्तुतितत्पराः (सन्तः) भवम् भजन्ति ।

अर्थ—(अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप) क्लेशोंकी परम्परासे उत्पन्न होनेवाले भव-(संसार-सागर) को जीतनेकी इच्छावाले, भिक्षा करनेके लिए फूटेहुए घटके टुकड़ेको धारण किये, और दुष्ट राजाके किये पराभव को न सहन करनेवाले महात्मा लोग एकान्त अरण्यमें निवास करतेहुए स्तुतिमें तत्पर होकर अहर्निश भव-(श्री शङ्कर-) का भजन करते हैं ।

कदा दधानो घनशान्तिशोभिनीं
शुभाम्बरालङ्करणोचितां तनुम् ।
भजाम्यहं दृष्टिनिवेशनौचितीं
शशीव तिग्मांशुरिवाऽच्युतस्य ते ॥ १५ ॥

अन्वय—[प्रभो !] अहम् घनशान्तिशोभिनीम् शुभाम्बरालङ्करणोचिताम् तनुम् दधानः सन् , शशी इव, तिग्मांशुः इव, ते अच्युतस्य दृष्टिनिवेशनौचितीम् कदा भजामि ?

अर्थ—जैसे घन-शान्ति-(मेघोंकी शान्ति) से शोभित होनेवाले और आकाशको अलंकृत करने योग्य शरीरको धारण करते हुए चन्द्रमा और सूर्य श्री अच्युत-(विष्णु भगवान्) की दृष्टिमें प्रविष्ट होनेकी योग्यताको प्राप्त होते हैं । वैसे ही हेप्रभो ! मैं भी घन-शान्ति-(अतीव शांति) से सुशोभित और सुन्दर वस्त्र एवं अलंकारोंसे अलंकृत शरीरको धारण करता हुआ आप अच्युत प्रभुके कृपा-कटाक्ष प्राप्त करनेकी योग्यताको कब प्राप्त होऊँगा ?

किमाम्रवन्या सुमरालवालया
प्रियाकबर्या किमरालबालया ।
सरःश्रिया किं स-मरालबालया
धृतेशभक्तिर्ह्यमराऽलवाऽलया ॥ १६ ॥

अन्वय—अमर ! सुमरालवालया आम्रवन्या किम् [भवति] ? अरालबालया प्रियाकबर्या [अपि] किम् ? स-मरालबालया सरःश्रिया [च] किम् [भवति] ? हि [मया] अलवा अलया ईशभक्तिः धृता !

अर्थ—हे प्रभो ! बड़े-बड़े आलवालों वाली सुन्दर आम्रकी वनीसे मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं ! और कुटिल केशोंवाली प्रियाकी कबरी-(केशपाश-) से भी मुझे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं । क्योंकि अब मैंने हृदयमें ईश्वरकी विशाल,

अविनाशी भक्तिको धारण कर लिया है। अतः हमें यह सांसारिक पदार्थ नीरस प्रतीत होते हैं)।

[श्रीशिव-भक्ति-रसामृतसे अतीव परितृप्त होकर कवि अब अपना मनोविनोद करते हैं—]

कदाऽनवद्यामतिनिर्मलामहं
महानदीनां सलिलैः प्रसादिभिः।
वहामि हंसैरुपशोभिताम्बरां
प्रभुप्रसादाच्छरदं यथा तनुम् ॥ १७ ॥

अन्वय—अहम् शरदम् यथा, अनवद्याम्, प्रसादिभिः महानदीनाम् सलिलैः अतिनिर्मलाम् , हंसैः उपशोभिताम्बराम् तनुम् प्रभुप्रसादात् कदा वहामि ?

अर्थ—प्रभो ! जैसे शरद् ऋतु निर्दोष, गङ्गा आदि महानदियोंके स्वच्छ सलिलसे अतीव निर्मल एवं हंसोंसे सुशोभित आकाशवाली होती है। वैसे ही मैं आपके प्रसादसे निर्दोष, अणु माया तथा कर्म-जन्य मलोंसे रहित, मन्दाकिनी प्रभृति महानदियोंके स्वच्छ सलिल से अति निर्मल और हंसोंके समान शुभ्र वस्त्रोंसे सुशोभित पवित्र शरीर कब धारण करूँगा ?

प्रभुं प्रपत्तुं स्थलमेहि मालयं
महीधरं मानस वा हिमालयम्।
रसातले वौपयिकाहिमालयं
श्रयन्तमन्वेषय याहि मा लयम् ॥ १८ ॥

अन्वय—मानस ! [त्वम्] प्रभुम् प्रपत्तुम् मालयम् स्थलम् एहि, वा हिमालयम् महीधरम् एहि, वा रसातले औपयिकाहिम् आलयम् श्रयन्तम् प्रभुम् (श्रीहाटकेश्वरम्) अन्वेषय, [बृथायासेन] लयम् मा याहि।

अर्थ—अरे भाई मन ! तू प्रभुको मिलनेके लिए मलयाचल पर्वतमें चला जा, अथवा नगाधिराज श्रीहिमालयमें चला जा, अथवा पातालमें नागराजके आलयमें विराजमान श्रीहटाकेश्वर प्रभुकी शरण ले, किन्तु भवसागरमें निरर्थक भ्रमण करते-करते लय (नाश) को मत प्राप्त हो !

निधाय चक्षुर्दहतो मनोभवं
न कामहानिं प्रवितन्वतो दृशा।
अनष्टमूर्तेर्दधतोऽष्टमूर्तितां
जयन्ति शंभोर्विविधा विभूतयः ॥ १९ ॥

अन्वय—चक्षुः निधाय मनोभवम् दहतः, दृशा कामहानिम् न प्रवितन्वतः, अनष्टमूर्तेः अष्टमूर्तिताम् दधतः शम्भोः विविधा विभूतयः जयन्ति।

अर्थ—तृतीय नेत्र धारण कर कामको भस्म करते हुए (भी) प्रसादमयी दृष्टिसे

काम-(अभिलाष-) की हानि न करनेवाले अर्थात् सकल कामनाओंको पूर्ण करनेवाले और अनष्ट-मूर्ति (अविनाशी मूर्ति) होकर (भी) अष्ट-मूर्ति-(पृथिवी, जल, तेज आदि अष्ट स्वरूपों) को धारण करनेवाले परमेश्वरकी विचित्र विभूतियोंकी जय हो ।

समाश्रितस्त्वां करुणापराऽज यः
क्वचिन्न तस्यास्ति रणे पराजयः ।
परे तमारब्धपरस्पराजयः
श्रयन्ति नाथं धृतचापराजयः ॥ २० ॥

अन्वय—अज ! करुणापर ! यः त्वाम् समाश्रितः, तस्य रणे क्वचित् [अपि] पराजयः न [भवति] तम् आरब्धपरस्पराजयः धृतचापराजयः परे [जनाः] नाथम् श्रयन्ति ।

अर्थ—हे अज ! तथा हे करुणापर शिव ! जो पुरुष आपकी शरण लेता है, उस धन्यात्माका संग्राममें कभी भी पराजय नहीं होता, और उसे परस्पर युद्ध करनेवाले, बड़े-बड़े धनुषधारी वीर लोग अपना नाथ समझकर उसकी शरण लेते हैं ।

ध्रुवं स कृष्णस्तमधश्चकार य-
श्चिराय पक्षद्वयकल्पितस्थितिम् ।
द्विजाधिराजं विनतार्तिहारिणं
बिभर्ति यो मूर्ध्नि स तु त्वमीश्वरः ॥ २१ ॥

अन्वय—यः चिराय पक्षद्वयकल्पितस्थितिम् विनतार्त्तिहारिणम् तम् द्विजाधिराजम् [गरुडम्] अधश्चकार, सः ध्रुवम् कृष्णः (श्रीविष्णुः) । यः तु चिराय पक्षद्वयकल्पितस्थितिम् विनतार्तिहारिणम् द्विजाधिराजम् (चन्द्रमसम्) मूर्ध्नि बिभर्त्ति, स त्वम् ईश्वरः [भवसि] ।

अर्थ—चिर-काल तक जिसके दोनों पक्षों-(पङ्खों-) में निवास किया है ऐसे, विनताके दुःखको दूर करनेवाले द्विजराज—पक्षिराज, श्रीगरुड़—को जिसने अपना वाहन बनाया, वह तो अवश्य ही कृष्ण (काले - श्री विष्णु) हैं । और जो चिरकाल तक शुक्ल, कृष्ण इन दोनों पक्षोंमें रहनेवाले तथा प्रणत लोगोंके सन्तापको दूर करनेवाले द्विजराज-(चन्द्रमा-) को मस्तकपर धारण करते हो, वह आप ईश्वर हो !*

विभुं विरिञ्चोऽपि न वेद नाम यं
नतस्य दुःखं घनवेदनामयम् ।
निहन्ति तस्यापि भवेदनामयं
शुचं भजेन्नाप्यनिवेदनामयम् ॥ २२ ॥

* कविने इस श्लेषोक्तिमें बड़ा ही चमत्कार भर दिया है । वह कहता है कि चिरकाल तक (पूर्व, उत्तर इन) दोनों पक्षोंमें स्थिति रखनेवाले और विनीत जनोंका दुःख दूर करनेवाले द्विजाधिराज (श्रेष्ठ ब्राह्मण) का जिसने तिरस्कार किया है, वह तो कृष्ण अर्थात् मलिन ही है, और जो आप ऐसे ब्राह्मणशिरोमणिको मस्तकपर धारण करते हो, अर्थात् उसका परम सम्मान करते हो, वह आप ईश्वर—सर्वसमर्थ हो गये हो !

समुद्रजालिङ्गितकण्ठपीठं
सदैव सत्याहितसक्तिमच्युतम् ।
अनन्यगा यस्य नवोक्तिमौक्तिकै-
रलङ्करोति प्रचुरा सरस्वती ॥ २३ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—नाम, यम् विभुम् विरिञ्चः अपि न वेद, तम् समुद्रजालिङ्गित-कण्ठपीठम् सदैव सत्याहित-सक्तिम् अच्युतम् यस्य अनन्यगा प्रचुरा सरस्वती नवोक्तिमौक्तिकैः अलङ्करोति, तस्य नतस्य घनवेदनामयम् दुःखम् [सः विभुः] निहन्ति, तस्य (नतस्य) अनामयम् अपि भवेत् । अयम् (भक्तिनम्रः) अनिवेदनाम् शुचम् अपि न भजेत् ।

अर्थ—श्रीब्रह्माजी भी जिसकी महिमाका पार नहीं पा सके, जो कालकूटको कण्ठमें धारण किये रहता है एवं जो धर्मावतार श्रीवृषभपर सदैव स्नेह रखता है, ऐसे अविनाशी परमेश्वर-(श्री सदाशिव) को जिस धन्यात्मा पुरुषकी पतिव्रता (प्रभुके सिवा किसी भी पुरुषकी झूठी प्रशंसा न करनेवाली) वाणी नवीन-नवीन स्तुतिरूपी मुक्ताहारसे अलंकृत करती है, यानी जिसकी वाणी सदा प्रभुकी ही स्तुतिमें तत्पर रहती है, उस भावुकके महावेदनामय दुःखको वह परमात्मा दूर कर देता है और प्रभुकी कृपासे उस-(भक्त) का परम कल्याण भी हो जाता है, एवं वह प्रभु-सेवक अनिर्वचनीय (पुनरावृत्ति-रूप) शोकको फिर कभी भी नहीं प्राप्त होता ।

अभीष्टदायी यमधाममहोदयाद्
ध्वनिर्यया श्वेतनृपे महोदया ।
धृतिं दिशन्ती नमतामहो दया
क सा तवास्मास्वधुना महोदया ॥ २४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] अहो ! महोदया यया श्वेतनृपे यमधामहा अभीष्टदायी ध्वनिः उदयात् , सा नमताम् धृतिम् दिशन्ती महोदया तव दया, अधुना अस्मासु क (गता) ?

अर्थ—आहा ! हे नाथ ! सुप्रकाशको देनेवाली जिस आपकी दयासे राजा श्वेतकी रक्षाके लिए यमराजके तेजको नष्ट करनेवाली और सकल अभीष्टको देनेवाली (मत डरना ! मत डरना !! इस प्रकारकी) ध्वनि प्रकट हुई थी, वह भावुकोंको परम धैर्य वितरण करनेवाली आपकी महा उदार दया इस समय हमारे लिए अब कहाँ चली गई है ?

अयमहं पुरुषोत्तममच्युतं बलिजितं कृतसत्यपरिग्रहम् ।
अचलितश्रियमाश्रितनन्दकं धृतसुदर्शनमीश्वरमाश्रये ॥ २५ ॥

अन्वय—अयम् अहम् पुरुषोत्तमम् अच्युतम् बलिजितम् कृतसत्य-परिग्रहम् अचलित-श्रियम् आश्रितनन्दकम् धृतसुदर्शनम् ईश्वरम् आश्रये ।

अर्थ—अहा ! आपका कृपापात्र यह मैं अब पुरुषोंमें उत्तम, स्वातन्त्र्यशक्ति-

सम्पन्न, त्रिपुरासुर आदि बड़े-बड़े बलियोंको जीतनेवाले, अचल शोभासे सम्पन्न, शरणागतोंको आनन्दित करनेवाले और परम मनोहर स्वरूप धारण करनेवाले भगवान् श्री सदाशिवका आश्रय लेता हूँ।

अथवा अब मैं राजा बलिको जीतनेवाले, श्रीगरुड़-बाहन, अचल लक्ष्मीसे विराजित, नन्दक नामक खड्ग और सुदर्शन चक्रको धारण करनेवाले, पुराण-पुरुष श्री विष्णु-रूप शिवका आश्रय लेता हूँ।

वितन्वती भक्तिमतां समानतां
बिभर्ति या कल्पलतासमानताम् ।
कथं दधन्मूर्तिमिमां समानतां
तव स्तुतिं वच्मि शतं समा न ताम् ॥ २६ ॥

अन्वय—[हे विभो !] या भक्तिमताम् समानताम् वितन्वती कल्पलतासमानताम् बिभर्ति, ताम् तव स्तुतिम् , [अहम्] समानताम् इमाम् मूर्तिम् दधत् , शतम् समाः कथम् न वच्मि ?

अर्थ—हे विभो ! जो भक्त लोगोंको सर्वत्र सम्मानित कराती हुई साक्षात् कल्पलताकी समानताको धारण करती है, उस आपकी स्तुतिको मैं अतीव विनम्र होकर सौ वर्ष तक क्यों न वर्णित करूँ ? [भक्त जनोंसे 'कवि' प्रार्थना करते हैं —]

इह परशुचितोर्जिताकृति-
द्विजपतिशेखरतां बिभर्ति यः ।
त्रिजगति गिरिशं सतां हितं
प्रणमतरामतनुं तमच्युतम् ॥ २७ ॥

अन्वय—[हे भावुकाः !] परशुचितोर्जिताकृतिः यः द्विजपतिशेखरताम् बिभर्ति, इह त्रिजगति सताम् हितम् अतनुम् अच्युतम् तं गिरिशम् प्रणमतराम् ।

अर्थ - अये भावुको ! अतीव स्वच्छ आकृतिसे विराजमान होकर भी जो प्रभु मस्तकपर चन्द्रमाको धारण करता है, उस त्रैलोक्यका उद्धार करनेवाले, अमूर्तिमान् , अविनाशी कैलासवासी प्रभुको सदैव प्रणाम करो ।

अथवा—जो महान् परशुसे विराजमान होकर भी श्रेष्ठ ब्राह्मणभावको धारण करता है, उस स्तुति करनेवालोंका हित करनेवाले श्रीपरशुराम मूर्ति-धारी विष्णुको प्रणाम करो ।

यमं ययारब्धमहामहाऽनयः क्षयं दशा यस्य स शर्महाऽनयः ।
ददासि चेत्तामुदितो महानयः क्षताश्च विघ्नाः कृतकामहानयः ॥ २८ ॥

अन्वय—आरब्धमहामह ! यस्य सः अनयः शर्महा [भवति] तम् यमम् यया दशा [त्वम्] क्षयम् अनयः, ताम् चेत् (मादृशाय कृपापात्राय) ददासि, तर्हि महान् अयः (शुभावहो विधिः) उदितः, कृतकामहानयः विघ्नाः च क्षताः ।

अर्थ—भव-भयसे उद्धार करके [भक्तके मनमें] महान् उत्सवको आरम्भ करनेवाले हे सदाशिव ! जिसकी वह (सारे ही जगत्‌का संहाररूप) अनीति कल्याणको नाश कर डालती है, उस महा भयंकर यमराजको आपने जिस दृष्टिसे भस्मको प्राप्त किया था, उस कृपा दृष्टिको आप यदि मुझ सरीखे अनाथ कृपापात्रोंपर डाल दें, तब तो हम लोगोंका महान् भाग्य उदय हो गया है और उत्तम अभिलाषाओं-को नष्ट करणेवाले (जरा-मरण-रूपी) विघ्न भी नाश हो चुके हैं ।

अनल-संभृतकान्ति दधत्सदा
रुचिरमारचितास्पदमीक्षणम् ।
सुमतये विधुरोपकृतिप्रियो
भवतु वो भगवान् भगवानिव ॥ २९ ॥

अन्वय—अनलसम् भृतकान्ति सदारुचिरमारचितास्पदम् ईक्षणम् दधत् , विधुरोपकृतिप्रियः भगवान् इव (श्रीबुद्ध इव) सदा अनलसंभृतकान्ति रुचिरमारचितास्पदम् ईक्षणम् दधत् , विधु-रोप-कृतिप्रियः भगवान् वः सुमतये भवतु ।

अर्थ—सदैव ध्यानमें निमग्न होनेके कारण आलस्यरहित, सदैव अनुपम शोभावती श्रीसे आश्रित नेत्रोंवाले और दीनोंका उपकार करनेवाले भगवान् श्री बुद्धदेवके समान, सदैव अग्निसे उज्ज्वलितकान्तिवाले और मनोहर कामदेवको भस्म करनेवाले नेत्रको धारण करनेवाले एवं त्रिपुरासुरको दग्ध करते समय श्रीविष्णुको बाण बनानेवाले भगवान् सदाशिव आप लोगोंको भक्तिरूपी सुधाके रसमें अनुराग रखनेवाली सुन्दर मति प्रदान करें ।

न जातु तज्ज्ञाः कृतिनोऽवहन्त या-
मधोगतौ कारणमेव हन्त या ।
त्वयि [1]प्रसन्ने सुमतावहन्तया
न यामि दुःखं नरकावहं तया ॥ ३० ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] तज्ज्ञाः कृतिनः याम् जातु न अवहन्त, या (अहन्ता) अधोगतौ एव कारणम् [भवति] त्वयि सुमतौ प्रसन्ने सति [अहम्] तया अहन्तया नरकावहम् दुःखम् न यामि ।

अर्थ—हे प्रभो ! पारमार्थिक तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् लोग जिस (अहन्ता) को कभी भी नहीं धारण करते, और जो प्राणीकी अधोगतिका मूल कारण है, आप अशरणोंको शरण देनेवाले कृपालुके प्रसन्न हो जाने पर मैं उस अहन्तासे नरकमें ले जानेवाले दारुण दुःखको कदापि नहीं प्राप्त होऊँगा ।

प्रियां मुखे यो धृतपञ्चमस्वरां
गिरं वहन्तीममृतस्य सोदराम् ।

१—'प्रपन्ने' इत्यपि पाठः ।

विशेषविश्रान्तरुचिर्बिभर्ति मां
वपुष्यसौ पुष्यतु वः शिवोऽच्युतः ॥ ३१ ॥

अन्वय—विशेषविश्रान्तरुचिः यः अमृतस्य सोदराम् गिरम् वहन्तीम्, मुखे धृतपञ्चम-स्वराम् माम् (उमाम्) प्रियाम् वपुषि बिभर्ति, असौ अच्युतः शिवः वः पुष्यतु।

अर्थ—अतीव सुमनोहर कान्तिवाला जो प्रभु साक्षात् अमृतकी सहोदर (मधुर) वाणीवाली एवं आरम्भमें पञ्चम स्वर (अर्थात् 'उ'कार) को धारण करनेवाली 'मा' इस वर्णकी आकृतिको अर्थात् 'उ' के सहित 'मा' (= उमापद-वाच्य प्रियतमा श्रीपार्वती) को वामाङ्गमें धारण करता है, वह कारणाऽतीत सदाशिव आपको अतीव पुष्ट करे।

अथवा—'वि = ' गरुड़, और 'शेष = ' शेषनाग, पर अनुराग रखनेवाला जो प्रभु अमृतके समान मधुर वाणीको बोलनेवाली, और मुखमें पञ्चम (नामक) स्वरको धारण करनेवाली प्रिया श्री लक्ष्मीजीको शरीरपर धारण करता है, वह कल्याणदायी अच्युतनारायण आपको अतीव पुष्ट करे।

नुतिर्मयेयं भजतां हिताय ते
कृताऽनया शर्म सतां हि तायते।
मनस्यपि ग्लानिरपोहिताऽऽयते
धृता यदेषा श्रुतिसंहितायते ॥ ३२ ॥

अन्वय—[हे नाथ !] मया इयम् ते स्तुतिः भजताम् हिताय कृता, हि अनया सताम् शर्म तायते। आयते (विस्तीर्णे, यते संयते वा) मनसि ग्लानिः अपि अपोहिता, यत् एषा धृता [सती] श्रुतिसंहितायते।

अर्थ—हे नाथ ! मैंने सहृदय जनोंके हितके लिए यह आपकी स्तुति की है। क्योंकि इस (स्तुति) से सहृदयोंका कल्याण विशालताको प्राप्त होता है, और विशाल अथवा संयमित चित्तकी ग्लानि भी दूर हो जाती है। क्योंकि यह मेरी स्तुति मनमें धारण करनेपर श्रुति-(वेद-) की संहिताके समान हित आचरण करने लगती है।

अमेयमहिमा हिमाद्रितनयानयात्तहृदयो दयोर्जितमतिः।
विभुर्भवरुजं रुजन्नविकलं कलङ्करहितं हितं दिशतु वः ॥ ३३ ॥

अन्वय—अमेयमहिमा हिमाद्रितनयानयात्तहृदयः दयोर्जितमतिः विभुः भवरुजम् रुजन्, अविकलम् कलङ्करहितम् हितम् वः दिशतु।

अर्थ—जिसकी महिमा अतर्क्य है, और श्रीगिरिजाने जिन्हें अतीव प्रेमसे अपने वशमें किया है, वह अतिशय करुणार्द्र-चित्तवाला सर्वव्यापी प्रभु संसारके रोगको समूल नष्ट करता हुआ आप लोगोंको अखण्ड निष्कलङ्क कल्याण प्रदान करे।

उदारकरुणोऽरुणोर्जितमहा
महाहिवलयो लयोज्झितवपुः।

अघौघशमनो मनोधृतमुदा-
मुदात्तविभवो भवो भवतु वः ॥ ३४ ॥

अन्वय—उदारकरुणः अरुणोर्जितमहाः महाहिवलयः लयोज्झितवपुः उदात्तविभवः भवः मनोधृतमुदाम् वः अघौघशमनः भवतु ।

अर्थ—अतीव उदार करुणावाला, सूर्यकी तरह महान् तेजोमय, नागराज श्री वासुकिको हाथोंका कंकण बनानेवाला, अविनाशी और परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर आपके समस्त पातकोंको दूर करे ।

एकः पादोदकमधिशिरः श्लाघ्यमन्यस्य धत्ते
चक्रे पूजां नयनकमलेनाऽपरस्य द्वितीयः ।
इत्यन्योन्यं प्रकृतिमहतामन्तरज्ञौ गुणानां
हर्षोत्कर्षं कमपि कुरुतां कामकंसद्विषौ वः ॥ ३५ ॥

अन्वय—एकः (श्रीशंभुः) अन्यस्य (श्रीविष्णोः) श्लाघ्यम् पादोदकम् अधिशिरः धत्ते । द्वितीयः (श्रीविष्णुः) अपरस्य (श्रीशंभोः) नयनकमलेन पूजाम् चक्रे । इति अन्योन्यम् प्रकृतिमहताम् गुणानाम् अन्तरज्ञौ कामकंसद्विषौ वः कमपि हर्षोत्कर्षम् कुरुताम् ।

अर्थ—एक (श्री शंकरजी) तो दूसरे (श्री विष्णुजी) के श्लाघ्य चरणोदक (चरणसे निकली हुई गङ्गा) को अपने मस्तक पर धारण करते हैं। और दूसरे (श्री विष्णुजी) उनको (श्री शंकरजीको) अपने नेत्र-कमलसे पूजते हैं ।* इस प्रकार परस्पर एक दूसरेके स्वाभाविक महान् गुण-गणोंकी महिमाको जाननेवाले भगवान् शङ्कर और विष्णु दोनों ही देव, आप लोगोंको किसी विलक्षण (अनिर्वचनीय) हर्ष-प्रवाहमें मग्न करें ।

यस्मिन्नद्रिसमुद्रजावहनयोरुत्सृज्य नैसर्गिकं
वैरं केसरि-कुञ्जरप्रवरयोः सौहार्दहृद्या स्थितिः ।
यस्मिन्नप्यहिराजपन्नगभुजौ निर्व्याजमैत्रीयुजौ
निष्प्रत्यूहमसौ महापुरुषयोः सन्धिर्निबध्नातु वः ॥ ३६ ॥

अन्वय—यस्मिन् अद्रिसमुद्रजावहनयोः केसरि-कुञ्जरप्रवरयोः नैसर्गिकम् वैरम् उत्सृज्य, सौहार्दहृद्या स्थितिः (भवति)। यस्मिन् अहिराजपन्नगभुजौ अपि निर्व्याजमैत्रीयुजौ (भवतः) असौ महापुरुषयोः सन्धिः वः निष्प्रत्यूहम् निबध्नातु ।

अर्थ—जिस (महापुरुषोंकी सन्धि) में कैलाश और क्षीरसागरकी कन्याओं (श्री पार्वती और लक्ष्मीजी) के वाहनों (सिंह और गजेन्द्र) के आपसमें स्वाभाविक वैरभाव दूर होकर प्रेमसे अतीव सुमनोहर स्थिति हो जाती है, तथा जिस (मिलन) में नागराज (श्री वासुकि) और गरुड़, ये दोनों भी परस्पर निष्कपट मैत्रीको धारण

* हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्र-कमलम् ।

करते हैं, वह दोनों महापुरुषोंका, अर्थात् भगवान् श्रीशङ्कर और नारायणका पारस्परिक सम्मिलन, आप लोगोंके कल्याणमें निर्विघ्न करे।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते
भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-कुसुमाञ्जलौ' एकान्तर-
यमकस्तोत्रमेकोनत्रिंशम्।

त्रिंशं स्तोत्रम्

अब यहाँसे 'महायमक' नामक तीसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—

शारदीमिव नदीं प्रसादिनीमुच्चकैरवसरोजराजिताम्।
स्तोतुमेष मम मूर्तिमैश्वरीमुच्चकैरवसरोऽजराजिताम्॥ १॥

अन्वय—प्रसादिनीम् उच्च-कैरव-सरोज-राजिताम् शारदीम् नदीम् इव, प्रसादिनीम् अजराजिताम् ऐश्वरीम् मूर्तिम् स्तोतुम् मम एषः उच्चकैः अवसरः [अस्ति]।

अर्थ—श्री अगस्त्यके उदय होनेपर जिसका जल अतीव निर्मल हो गया हो ऐसी एवं ऊँचे-ऊँचे श्वेत और रक्त कमलोंसे सुशोभित हुई, शरत्कालकी नदीके समान अतीव-प्रसन्न, और जरा-मरण-रूप व्याधिसे रहित, ईश्वरीय मूर्तिकी स्तुति करनेके लिए मेरा यही अति उत्तम समय है।

अर्थात्—अभी जब तक यह शरीर स्वस्थ है, तभी तक प्रभुको प्रसन्न करनेका अच्छा अवसर है। [इसीलिए कहा गया है—

यावत्पश्यसि पन्थानं यावत्ते चरणौ स्थितौ।
यावन्न हीयते कायस्तावदात्महितं कुरु॥

अर्थात्—अरे प्राणी ! जब तक तुझे रास्ता (ठीक) सूझता है, जब तक तेरे पैर स्थिर रह सकते हैं और जब तक तेरा शरीर क्षीण नहीं होता, तब तक तू अपना उद्धार कर ले ! क्योंकि पीछे फिर क्या हो सकता है ?]

रोहिणीरमणखण्डमण्डनं नन्दिनन्दिनमनं दिनं दिनम्।
नौमि बिभ्रतमुपोढकालिकासङ्गमं गलमसङ्गमङ्गलम्॥ २॥

अन्वय—नन्दिनन्दिनमनम्, उपोढकालिकासंगमम् असङ्गमङ्गलम् गलम् बिभ्रतम्, रोहिणीरमणखण्डमण्डनम् अहम् दिनम् दिनम् नौमि।

अर्थ—नन्दी गणके नमनको देख अतीव आनन्दित होनेवाले, और कालकूटके पानसे उत्पन्न हुई कालिमासे मनोहर मङ्गलमय कण्ठको धारण करनेवाले प्रभु श्रीचन्द्रार्धमौलिको मैं प्रतिदिन प्रणाम करता हूँ।

नौमि भक्तजनकण्ठनिःसरन्नादरञ्जितमकालकामदम् ।
कालकामदमनादरं जितक्लेशमीशममृतांशुशेखरम् ॥ ३ ॥

अन्वय—[अहम्] भक्तजनकण्ठनिःसरन्नादरञ्जितम् अकालकामदम् कालकामदमनादरम् जितक्लेशम् अमृतांशुशेखरम् ईशम् नौमि ।

अर्थ—भक्त जनोंके कण्ठसे निकले हुए आर्त-नाद—हे प्रभो 'अशरणं मां पाहि' इस प्रकारके करुणाजनक शब्द—को सुनकर अतीव प्रसन्न होनेवाले, बिना समय भी, अर्थात् लोगोंके भाग्यमें न होने पर भी, उनके मनोभिलाषोंको पूर्ण कर देनेवाले, अथवा नहीं देने लायक समयमें भी, शरणागतोंको यथेष्ट वर प्रदान करनेवाले, काल और कामको दमन करनेवाले, मायानिर्मित क्लेशोंको दूर कर देनेवाले भगवान् भगवान् श्री चन्द्रशेखरको मैं प्रणाम करता हूँ ।

भ्राम्यतु द्रविणतृष्णया भृशं मानसं सदिनमानसंसदि ।
त्वत्स्तवामृतमृते तु दुस्तरे बन्धुरध्वनि न बन्धुरध्वनि ॥ ४ ॥

अन्वय—[हे प्रभो ! इदम्] मानसम् द्रविणतृष्णया सदिनमानसंसदि भृशम् भ्राम्यतु, दुस्तरे अध्वनि तु बन्धुर-ध्वनि त्वत्स्तवामृतम् ऋते [कोऽपि] बन्धुः न [भवति] ।

अर्थ—हे नाथ ! यह मूर्ख मन धनके लालचसे अतीव सम्मान देनेवाली राजाओंकी सभामें भले ही (खूब) भटकता रहे, परन्तु इस अत्यन्त दुस्तर मार्ग-(भव-सागर-) में इसे आश्वासन देनेवाला एक आपकी स्तुतिरूप अमृतके सिवाय इसका दूसरा बान्धव और कोई भी नहीं है ।

साधुनाथ नुतिरीप्सया मया या मयार्चित कृतात्र साधुना ।
सा धुनातु विपदं भवामयायामयापनलसद्रसाऽधुना ॥ ५ ॥

अन्वय—नाथ ! मयार्चित ! अधुना मया साधुना अत्र ईप्सया या साधु नुतिः कृता, सा भवामयायामयापनलसद्रसा (मत्कृता स्तुतिः) विपदम् धुनातु ।

अर्थ—हे नाथ, हे मय-(विश्वकर्माके पुत्र-) से पूजित प्रभो ! मैंने जो बड़ी उत्कण्ठासे यह आपकी अति सुन्दर स्तुति की है, सो संसाररूपी महाव्याधिको मिटानेवाली वह (मेरी) स्तुति लोगोंकी समस्त आपत्तियोंको दूर करे ।

न मेऽभिभूतस्य पिता न माता न वा सनाभिर्धनवासनाभिः ।
अरिस्तु रुन्धे सुहृदा वियुक्तं समाधिना मानसमाधिनामा ॥ ६ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] धनवासनाभिः अभिभूतस्य मे मानसम् पिता न [रुन्धे] माता [च] न [रुन्धे] न वा सनाभिः [रुन्धे] । समाधिना सुहृदा वियुक्तम् आधिनामा अरिः तु रुन्धे ।

अर्थ—हे प्रभो ! धनकी वासनाके वशीभूत हुए मेरे मनको पिता, माता अथवा बान्धव, ये कोई भी नहीं समझा सकते । किन्तु समाधि-रूपी बान्धवसे बिछुड़े हुए इस (मेरे मन) को दुष्ट आधि नामक शत्रुने घेर रक्खा है !

दर्पकान्तक विराजमानयाऽदर्पकान्त-कविराजमानया ।
त्वत्प्रसादविधिलब्धया धिया साधवो दधति वैबुधीं धुरम् ॥ ७ ॥

अन्वय—दर्पकान्तक ! साधवः त्वत्प्रसादविधिलब्धया विराजमानया अदर्पकान्त-कविराजमानया धिया वैबुधीम् धुरम् दधति ।

अर्थ—हे काम-शत्रो ! साधु लोग आपके प्रसादसे प्राप्त हुई, परम सुन्दर, अनहंकारी महाकवियोंकी माननीय बुद्धिके द्वारा प्रकाण्ड विद्वत्ता अथवा देव-भावको धारण करते हैं ।

येन शीतकरखण्डशेखर त्वत्प्रसादवशतः करोत्करः ।
कोऽपि तामरसभासनोऽर्जितः कोपिताऽमरसभासनोर्जितः ॥ ८ ॥
रविरलङ्कुरुते नवरञ्जनं स किल यत्तव दक्षिणमीक्षणम् ।
इममपास्य तमः सहजं शनैरविरलं कुरु तेन वरं जनम् ॥ ९ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—शीतकरखण्डशेखर ! येन (रविणा) त्वत्प्रसादवशतः तामरसभाजनः कोपितामरसभासनोर्जितः कोपि (अनन्यसामान्यः) करोत्करः अर्जितः, सः रविः किल नवरञ्जनम् यत् तव दक्षिणम् ईक्षणम् अलङ्कुरुते, तेन (दक्षिणेन, ईक्षणेन), अविरलम् सहजम् तमः अपास्य, इमम् जनम् शनैः वरम् कुरु ।

अर्थ—हे चन्द्रार्धमौले ! जिस -(सूर्यदेव) ने आपके प्रसादसे कमलोंको प्रकाशित करनेवाला, इन्द्रको कुपित[1] कर देनेवाला बलवान् एक विलक्षण ही किरणोंका प्रवाह प्राप्त किया, वह सूर्यदेव आपके जिस नवीन, सुन्दर राग (कज्जल) से रञ्जित दक्षिण नेत्रको सुशोभित करता है, उस नेत्रसे हेनाथ ! मेरे ऊपर अवलोकन (कृपा-कटाक्ष) करके मेरे स्वाभाविक अज्ञान-रूपी अन्धकारको हटाकर मुझे सन्मार्ग पर ले जाइए ।

महतामतामसमहावपुषं तव भक्तिमर्थितवतां भगवन् ।
महतामतामसमहावपुषं प्रथयन्ति कीर्तिमिह सिद्धगणाः ॥ १० ॥

अन्वय—भगवन् ! इह महतामताम् असमहावपुषम् अतामसमहावपुषम् तव भक्तिम् अर्थितवताम् महताम् कीर्तिम् सिद्धगणाः प्रथयन्ति ।

अर्थ—हे भगवन् ! इस संसारमें जो पुण्यात्मा पुरुष अहर्निश महान् उत्सवोंको पैदा करनेवाली, और असाधारण (अति विलक्षण हाव-भावों-(प्रणाम, अर्चन, स्तुति आदि उत्तम चेष्टाओं) की वृद्धि करनेवाली, तथा अतीव सुपवित्र स्वरूपवती आपकी भक्तिका आश्रय लेते हैं, उन महात्माओंकी कीर्तिको सिद्ध-गण समस्त भुवनमें विख्यात करते हैं ।

(१) देव-सभामें बैठे इन्द्रको सूर्यका उष्ण तेज अतीव दुःसह होता है, इसी अभिप्रायसे कुपित करना, कहा गया है ।

अध्यास्यते शमजुषा भवतः प्रसादा-
दामोदराजितरुचारु चिरं जनेन ।
दामोदराजितरुचा रुचिरञ्जनेन
कीर्णं तृणेन मृदुना वनमार्तवेन ॥ ११ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] भवतः प्रसादात् शमजुषा जनेन, चिरम् आमोदराजितरुचारु दामोदराऽजितरुचा रुचिरञ्जनेन आर्तवेन मृदुना तृणेन कीर्णम् वनम् अध्यास्यते ।

अर्थ—भगवन् ! आप दयालुके अनुग्रहसे अतीव शान्तिको प्राप्त हुए भक्तजन चिरकाल तक अतीव सुमनोहर सुगन्धित वृक्षोंसे सुशोभित, साक्षात् श्रीकृष्णजीकी कान्तिके समान अर्थात् (हरे-हरे) और अनुराग-(प्रीति -) को बढ़ानेवाले यथा-कालोचित सुकोमल तृणोंसे भरे हुए वनमें निवास करते हैं ।

तव सवहरिणं घ्नती [1]महर्षिं
यमकृत चापलता नवासमाधिम् ।
पुनरपि दृगलम्भयत्तवैनं
यमकृतचापलतानवा समाधिम् ॥ १२ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] तव चापलता सवहरिणम् घ्नती यम् महर्षिम् (दक्षम्) नवाऽसमाधिम् अकृत, (एतत्तु अत्यद्भुतम्—) यमकृतचापलतानवा (या) तव दृक् एनम् (दक्षप्रजापतिम्) यत् पुनः अपि समाधिम् अलम्भयत् ।

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी चाप-लता-(धनुष -)ने दक्षके 'यज्ञ-मृग' का शिरश्छेदन करते हुए महर्षि-(दक्ष प्रजापति) को नूतन व्यामोह-(व्यथा) से खिन्न किया और (यह तो अत्यन्त ही आश्चर्य है कि—) यमराजकी चपलताको दूर करनेवाली आपकी करुणामयी दृष्टि-लताने फिर उसे समाधि (भुक्ति-मुक्ति निमित्त योग) को प्राप्त कर दिया । [इसीसे आपकी अबन्ध्य कोप-प्रसादता (अपार क्रोध पर भी आशुतोषता) प्रकट होती है ।]

सभाजनेऽनल्परतेर्नृपस्य त्वद्भक्तिभाजः प्रसभाजनेन ।
सभा जनेन प्रगुणेन पूर्णा विभाति निःश्रेयसभाजनेन ॥ १३ ॥

अन्वय—[प्रभो !] त्वद्भक्तिभाजः सभाजने अनल्परतेः नृपस्य सभा, प्रसभाजनेन निःश्रेयसभाजनेन प्रगुणेन जनेन पूर्णा विभाति ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके भक्तजनोंमें अतिशय प्रीति रखनेवाले राजाकी सभा महा तेजस्वी और कल्याण-(मोक्षलक्ष्मी) के पात्र, एवं उत्तमोत्तम गुणवाले लोगोंसे परिपूर्ण होकर अतीव शोभाको प्राप्त होती है ।

अनन्तराऽयन्त्रितवाग्भवस्त्वां
गृणाति यो नित्यमनन्तरायम् ।

---

१. महर्द्धिं, इत्यपि पाठः ।

अनन्तरायं स्वयमेत्य लक्ष्मी-
निषेवते तं समनन्तरायम् ॥ १४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] अनन्तरायन्त्रितवाग्भवः यः त्वाम् नित्यम् अनन्तरायम् गृणाति, तम् अनन्तरायम् समनन्तराऽयम् लक्ष्मीः स्वयम् एत्य निषेवते ।

अर्थ—भगवन् ! जो धन्यात्मा अपने अनन्य अमोघ वाग्वैभव-(वाक्-रचना) से सदैव आपका स्तवन किया करता है, उस अक्षयलक्ष्मीवान् और आसन्नभाग्योदयशाली पुरुषको लक्ष्मी स्वयं आकार सेवित करती है ।

'सहो मयाद्यैरपि यस्य दुर्धरं
यमः स धर्तुं हृदि दुःसहो मया ।
सहोमयाऽभ्येत्य भज प्रसन्नया
दृशा कृतानङ्गभुजांसहोमया ॥ १५ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] मयाद्यैः अपि यस्य सहः दुर्धरम्, सः यमः मया हृदि धर्तुम् दुःसहः [अतः, त्वम्] उमया सह अभ्येत्य, कृतानङ्गभुजांसहोमया प्रसन्नया दृशा [माम्] भज ।

अर्थ—हे भगवन् ! जगन्नगरनिर्माण करनेमें अति प्रवीण मय (विश्वकर्माके पुत्र) आदि महातेजस्वी महर्षि लोग भी जिस-(यम) के बलको नहीं रोक सकते, उस महाभयंकर यमराजके भयको मैं अब अपने हृदयमें नहीं धारण कर सकता । इसलिए हे दयासागर ! अब आप श्री उमाके सहित शीघ्र आकर कामदेवको भस्म करनेवाली अपनी प्रसन्न दृष्टिसे मुझे देखिए ।

कले वरं दातुमुदीरितेऽस्ति या
सुधा सुवाक्ये तव निष्कले वरम् ।
कलेव रङ्कङ्कतनोरसौ कदा
ममेदमाप्याययते कलेवरम् ॥ १६ ॥

अन्वय—[प्रभो ! आश्रितजनस्य] कले(= करे रलयोरैक्यात्) वरम् (उत्कृष्टम्) वरम् दातुम् उदीरिते तव निष्कले सुवाक्ये या सुधा अस्ति, असौ सुधा रङ्कङ्कतनोः कला इव, इदम् मम कलेवरम् कदा आप्याययते ?

अर्थ—हे नाथ ! शरणागत जनोंके हाथमें उत्कृष्ट वरदान देनेके लिए उच्चारण किये हुए आपके निष्कपट और सुमधुर वाक्यमें जो सुधा रहती है, वह सुधा चन्द्रमाकी कलाके समान, मुझ अनाथके इस कलेवर-(शरीर) को कब तृप्त करेगी ?

---

१. अहो, इत्यपि पाठः ।

सदानवारिद्विरदा वरूथिनी
हरेरिव ध्वस्तसहिंसदानवा ।
सदा नवाराद्धशिवा शिवाप्तये
न कस्य गीर्भक्तिविकासदा नवा ॥ १७ ॥

अन्वय—सदा नवाराद्धशिवा भक्तिविकासदा ध्वस्तसहिंसदानवा नवा गीः, हरेः सदानवारिद्विरदा वरूथिनी इव, कस्य शिवाप्तये न [भवति] ।

अर्थ—नित्य नवीन-नवीन स्तुतियोंसे भगवान् शिवकी आराधना करनेवाली, भक्तिको प्रफुल्लित करनेवाली और हिंसक दानवोंका विध्वंसन करनेवाली नवीन वाणी, मद-जलको टपकानेवाले हस्तियोंसे युक्त भगवान् श्रीविष्णुकी सेनाके समान, किस-किस का कल्याण नहीं करती ? अर्थात् सभीका कल्याण करती है ।

घनैरहन्ताकृतलङ्घनैरहं
महारिभिर्निर्मलशर्महारिभिः ।
निराकृतौजा धृतहानिराकृतौ
न तेऽवलेपावसरो नतेऽबले ॥ १८ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] अहम् घनैः अहन्ताकृतलङ्घनैः, निर्मलशर्महारिभिः महारिभिः निराकृतौजाः, आकृतौ धृतहानिः [अस्मि, अतः] नते अबले [मयि] ते अवलेपावसरः न [अस्ति] ।

अर्थ—भगवन् ! अहंकारके अत्यन्त प्रबल तिरस्कारों और निर्मल शान्ति-सुख (विवेक) को हरनेवाले काम-क्रोधादि महावैरियोंने मेरे बलको नष्ट करके मेरा शरीर क्षीण कर दिया है । इसलिए हे नाथ ! मुझ विनीत और निर्बल भक्तका अपमान करनेका (मुझ दीनपर विमुख होनेका) आप महाकृपालुके लिए यह उचित अवसर नहीं है ।

मनस्यदोषेऽप्यतिदौर्मनस्यदो
महारयः पन्नगभीमहार यः ।
तमन्तकम्पैकनिमित्तमन्तकं
नयाशु भङ्गं हतदुर्नयाशुभम् ॥ १९ ॥

अन्वय—पन्नगभीमहार ! हतदुर्नय ! महारयः यः (अन्तकः) अदोषे अपि मनसि अतिदौर्मनस्यदः [अस्ति] तम् अन्त-कम्पैकनिमित्तम् अशुभम् अन्तकम् आशु भङ्गम् नय ।

अर्थ—हे भीषण भुजङ्गोंका हार धारण करनेवाले ! हे दुष्टोंके दमन करनेवाले सदाशिव ! महान् वेगवाला जो (यमराज) निर्दोष (अतीव पवित्र) मनमें भी महादौर्मनस्य (अतीव दुःख) पैदा कर देता है, उस अन्तसमयमें महात्रास देनेवाले, दुःखदायी यमराजको आप शीघ्र मार डालिए !

[श्रीशिव-तत्त्वके ही चिन्तनमें तल्लीन होनेसे अपनेको कृतकृत्य समझते हुए कवि कहते हैं—]

न वारबाणा न हया नवारवा
न दन्तिनः सद्मनि वा नदन्ति नः।
क्षतापदाज्ञा तु विपक्षतापदा
जितो भवः साधु हि पूजितो भवः ॥ २० ॥

अन्वय—नः सद्मनि वारबाणाः न [सन्ति], नवारवाः हयाः न [सन्ति], दन्तिनः वा न नदन्ति, [अस्माभिः] विपत् क्षता, [अस्माकम्] आज्ञा विपक्षतापदा [भवति, अस्माभिः] भवः जितः। हि, साधु भवः पूजितः।

अर्थ—हमारे घरमें न तो कोई कवच (अस्त्र-शस्त्र) हैं, और न उत्तम घोड़े हैं, न हाथी हैं। परन्तु हमने संग्राममें महा विपत्ति-(जन्म, जरा और मरणके भय) को नष्ट कर डाला है और हमारी अमोघ आज्ञा बाह्य अथवा काम-क्रोधादि-रूपी आन्तरिक महाशत्रुओंको दबा ली है। अब हमने (पुनरावृत्तिके द्वारा बार-बार महा कष्ट देनेवाले) भव-(संसार) को जीत लिया है। क्योंकि, हमने तन्मय होकर सम्यक् प्रकारसे श्री भव (शङ्कर) का आराधन किया है !

जलाशया यान्ति मृगा जलाशया
मरावलङ्घ्ये घ्नति पामरा बलम्।
परं हसन्तो जितकोपरंहसं
जना भवेऽप्युज्झितपूजना भवे ॥ २१ ॥

अन्वय—[यथा] जडाशयाः पामराः मृगाः जलाशया बलम् घ्नन्ति, अलङ्घ्ये मरौ यान्ति [तथैव] जडाशयाः पामराः अपि जितकोपरंहसम् परम् हसन्तः भवे उज्झितपूजनाः [सन्तः] भवे यान्ति।

अर्थ—हाय ! जैसे मन्दमति और तुच्छ स्वभाववाले मृग जलकी आशासे अथाह मरुस्थलकी मरीचिका (मृगतृष्णाके जल)-में भटक-भटकर अपने बलको नष्ट कर डालते हैं। वैसे ही अत्यन्त नीच स्वभाववाले मतिमन्द पामर लोग भी भव (श्री शिव) की आराधनाको छोड़कर निष्क्रोधी (क्षमाशील) पुरुषोंकी हँसी करते हुए अनित्य भव-(संसार) में भटकते फिरते हैं।

अमन्दरागश्रितमन्दरागा-
स्ते देवजाताविह देव जाताः।
ये सिद्धसाध्यार्चित सिद्धसाध्या
रता नवं तेनुरतानवं ते ॥ २२ ॥

अन्वय--देव ! सिद्धसाध्यार्चित ! इह ये [त्वयि] रताः, (सन्तः) ते अतानवम् नवम् तेनुः, ते सिद्धसाध्याः अमन्दरागाश्रितमन्दरागाः देवजातौ जाताः।

अर्थ—परम व्योममें स्वतन्त्र विहरनेवाले, हे सिद्ध और साध्योंके पूजनीय

प्रभो ! जो पुरुष आपकी शरण होकर नित्य आपका स्तवन करते हैं, वे धन्यात्मा बड़े अनुरागसे मन्दराचल पर्वतमें, जहाँ कि आपका सदैव सान्निध्य रहता है, निवास करते हुए अमर हो जाते हैं।

सदय मोदय मोदयमोक्षदं
कृशमदः शमदः शमदः कुरु।
न हि तता हितताऽऽहितताायनैः
कृतनुते तनु ते तनुते शुभम् ॥ २३ ॥

अन्वय—सदय ! मा मोदय, कृशमदः शमदः [त्वम्] उदयमोक्षदम् अदः शम् कुरु। हि आहितताायनैः[1] कृतनुते ! तता ते हितता, तनु शुभम् न तनुते ?

अर्थ—हे दयालो ! मुझे अपने कृपा-कटाक्षसे आनन्दित कीजिए। प्रभो ! अखिल ब्रह्माण्डाधीश्वर होनेपर भी निरहङ्कार और परम शान्तिके दाता आप भोग और मोक्षको देनेवाला कल्याण कीजिए ! हे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, संहारादि करनेवाले ब्रह्मादि देवोंसे वन्दित देव ! आपकी वह विशाल उदारता शरणागतोंको स्वल्प कल्याण (मामूली सौख्य) नहीं देती, किन्तु अपार सुख सम्पत्ति प्रदान करती है।

रसमये समयेऽसमयेहया
धनमहीनमहीनमहीष्वपि ।
कृतमुदात्तमुदात्तमुदाहृतं
तदिदमापदमाप दमापहम् ॥ २४ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] अहीनमहीषु अपि उदाहृतम् उदात्तम् कृतमुत् अहीनम् [यत्] धनम् [मया] रसमये समये असमया ईहया आत्तम्, तत् इदम् दमापहम् (धनम्) आपदम् आप।

अर्थ—भगवन् ! बड़े-बड़े भुजङ्गोंसे सुरक्षित स्थलोंसे भी अति कष्टतया जिस अत्युत्तम अमूल्य धनको मैंने युवावस्थामें अनेकों कष्ट-साध्य उपायोंसे प्राप्त किया था, वह, अतीव मद पैदा करके परम शान्तिको हरनेवाला, धन अब आपकी कृपासे नष्ट हो गया है।

मदनवादनवादनवासनायतनयातनया तनयाऽम्बुधेः।
अकृत वै कृतवैकृतवैशसा सकमला कमला कमलाघवम् ॥ २५ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] वै अम्बुधेः तनया कृतवैकृतवैशसा सकमला कमला मदनवादनवादनवासनायतनया तनया कम् (पुरुषम्) अलाघवम् अकृत (अपि तु सर्वं लघूकृतवतीत्यर्थः)।

---

1. आहितं तायनं—पालनं यैस्ते तादृशा विष्ण्वादयस्तैः।

अर्थ—हे भगवन्! क्षीरसागरकी दुहिता, समस्त विकारोंकी जननी, कमल-पुष्प पर विराजमान होनेवाली कमला (लक्ष्मी) काम-क्रीड़ा और उत्तम-उत्तम भोजन की उत्कट वासनाको पैदा करके उन पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए अनेकों प्रयत्न कराकर अनर्थ कराती हुई किस किस पुरुषको नीच नहीं बना डालती ? अर्थात् सभीको नीच बना डालती है। [अतः—]

कमलयाऽमलया मलयाद्रिवत्-
त्रसदयासदया सदयाप्यया।
प्रवरधीवर धीवर धीरया
कलय माऽलयमालयमापदाम् ॥ २६ ॥

अन्वय—धीवर! प्रवरधीवर! (त्वम्) मलयाद्रिवत् अमलया, त्रसदया सदया सदयाप्यया धीरया कमलया अलयम् आपदाम् आलयम् मा (माम्) कलय।

अर्थ—हे किरात-रूप-धारिन्! अयि सर्वोत्कृष्ट बुद्धिशाली सदाशिव! आप मलयाचल पर्वतके समान निर्मल, भयभीतोंको आश्वासन देनेवाली, अतिशय-दयालुओंको प्राप्त होनेवाली, अचल (मोक्ष)-लक्ष्मीसे मुझ विपत्ति-पीड़ितको अलंकृत कीजिए।

वितरणाभरणा भरणाभय-
क्षममना मम नाम मनागपि।
शुभवने भवने भव नेप्सित-
प्रद रमाऽदरमादरमादधे ॥ २७ ॥

अन्वय—भव! ईप्सितप्रद! वितरणाभरणा भरणाभयक्षममना रमा शुभवने मम भवने मनाक् अपि नाम अदरम् आदरम् न आदधे।

अर्थ—भक्तोंके मनोभीष्टको पूर्ण करनेवाले भोले नाथ! दान ही जिसका आभूषण है ऐसी, तथा प्राणियोंके पालन-पोषण करने और उन्हें अभय देनेमें तत्पर हुई महालक्ष्मी सुन्दर क्रीडोद्यानों (विहारके योग्य बागों) से सुशोभित मेरे गृहमें आनेके लिए किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं करती!

अनयतो नयतो न यतो धृति-
प्रद यमादयमादयमाश्रितः।
त्रसति शंसति शंसति शं च यो
धृतमुदं तमुदन्तमुदञ्चय ॥ २८ ॥

अन्वय—धृतिप्रद! यतः अयम् आश्रितः अनयतः नयतः अयमात् यमात् न त्रसति, यः च शंसति (जने) शम् शंसति, तम् धृतमुदम् उदन्तम् उदञ्चय।

अर्थ—अयि भयभीतोंको धैर्य देनेवाले प्रभो! जिस वृत्तान्तसे यह शरणागत (अर्थात् मैं) कुनीतिसे जीवोंको हरनेवाले अति उच्छृङ्खल यमराजको देखकर किंचित्

मात्र भी भय न करे ऐसे, आराधनामें तल्लीन हुए भक्तोंको निःश्रेयस प्रदान करनेवाले एवं अकाल-मृत्युको हरनेवाले वृत्तान्तको आप शीघ्र प्रकट कीजिए !

शुभवता भवता भवतारिणा
शकलिताऽकलिता कलितापभूः ।
हर कृतान्त-कृतान्त-कृतान्त नो
किममता ममता मम तादृशी ॥ २९ ॥

अन्वय—हर ! कृतान्तकृतान्तकृतान्त ! शुभवता भवतारिणा भवता मम अमता अकलिता कलितापभूः तादृशी ममता किम् नो शकलिता ?

अर्थ—अयि कृतान्त-(यमराज) के सिद्धान्तको (अर्थात् हठात् प्राणियोंके संहाररूप निश्चय) को विनष्ट कर देनेवाले सदाशिव ! आप शरणमें आये हुए लोगों को प्रशस्त कल्याण प्रदान करते हैं और संसार सागरसे पार उतारते हैं। तब आप दयालुने कलिकालके तापको पैदा करनेवाली मेरी इस प्रसिद्ध दुष्ट ममताको (अब तक) क्यों नहीं खण्डित किया ?

विशदशोभयशोभय शोभय
त्रिजगदक्षम-दक्ष-मदक्षम ।
स्वपदमानय मानय मा नय-
क्षत-समक्ष-यमक्षयमक्षय ॥ ३० ॥

अन्वय—विशदशोभयशोभय ! अक्षम-दक्ष-मदक्षम ! अक्षय ! त्रिजगत् शोभय, मा नयक्षत-समक्ष-यमक्षयम् स्वपदम् आनय, (अतएव) मानय ।

अर्थ—हे निर्मल विशाल-अभयदान देनेवाले ! हे उद्धत दक्ष प्रजापतिके मद-को चूर करनेवाले ! हे अविनाशी महेश ! आप तीनों भुवनोंको आनन्दित कीजिए, हे नाथ ! मुझे दुष्टोंका दमन करनेवाली नीतिके द्वारा समक्षमें ही यमराजको निस्तेजित कर देनेवाले अपने परम धाममें ले जाकर सम्मानित कीजिए।

घनाऽघनाशनैः शनैर्नवैर्नवैरिहाऽरिहा
भवान्भवाऽन्वहं वहन्नहीनहीनदानदाः ॥ ३१ ॥
दयोदयोर्जितोऽर्जितो मयोमयोचितश्चितः
यतेय ते हितेहिते रवैरवैरधीरधीः ॥ ३२ ॥
(युगलकम्)

अन्वय—भव ! मया इह अन्वहम् अहीन् वहन् , अहीनदानदाः अरिहा दयोदयोर्जितः, उमया चितः, उचितः भवान् घनाघनाशनैः नवैः नवैः शनैः अर्जितः । अवैरधीरधीः [अहम्] रवैः ते हितेहिते यतेय ।

अर्थ—हे नाथ ! सदैव वासुकि आदि सर्पोंको धारण करते हुए, शरणागतोंको

अखण्ड दान देनेवाले, काम-क्रोधादि शत्रुओंका नाश करनेवाले, अतिशय करुणाशाली उदार और श्रीभवानीके सहित आप सर्व-योग्य प्रभुको, मैंने घोर पापोंका नाश करनेवाली नवीन नवीन स्तुतियोंके द्वारा बड़े ही सरल उपायसे, शीघ्र प्रसन्न करना उचित समझा। इसलिए निवेदन है कि मैं सर्वत्र निर्वैर-बुद्धि होकर गम्भीर स्तुति-वाक्योंसे, अथवा गाल बजाकर, आपकी अभिमत सेवामें तत्पर हो जाऊँ ?

तवात्तबाधने धने गदं गदन्ति केऽन्तिके।
मयाऽऽमयाविना विना विभो विभोजना जनाः ॥ ३३ ॥

अन्वय—विभो ! आत्तबाधने धने [सति] तव अन्तिके मया आमयाविना विना के विभोजनाः जनाः गदम् गदन्ति ? (न केचित्)।

अर्थ—प्रभो ! परम प्रकाशमय (ज्ञानमय) आन्तरिक धन, अथवा सुवर्ण आदि बाह्य धनके नाश होनेके कारण आप दयालुके सामने—केवल मुझ महारोगीके सिवाय दूसरे और कौन भिक्षुक लोग अपने दुःखको निवेदन करते हैं ? अर्थात् कोई नहीं।

स्तवास्तवाऽऽहिता हिता न केन केवलं बलम्।
शुभाऽऽशु भारती रतीशनाशनाऽऽपदापदा ॥ ३४ ॥

अन्वय—रतीशनाशन ! तव हिताः स्तवाः केन न आहिताः, केवलम् शुभा आपदा [मे] भारती आशु बलम् आपत्।

अर्थ—अयि कामदेवका अन्त करनेवाले प्रभो ! आपकी सुमनोहर स्तुति कौन-कौन नहीं करते हैं ? अर्थात् सभी लोग करते हैं। किन्तु महाविपत्तिमें पड़े हुए मुझ दीनकी यह करुणाजनक वाणी शीघ्र ही उन्नतिको प्राप्त हुई है। अर्थात् इतर महाकवियोंकी अपेक्षा मेरी वाणी आपकी स्तुति अधिक करती है।

नतानतानवानवारितारितापदं पदम्।
हराहरामि तेऽमिते शमे शमेवमेव मे ॥ ३५ ॥

अन्वय—हर ! [अहम्] अतानवान् नतान् अमिते शमे [सति] अवारिताऽरितापदम् ते पदम् आहरामि; एवम् एव मे शम् [भविष्यति]।

अर्थ—अयि शरणागतोंके दुःखोंको हरनेवाले प्रभो ! मैं आपके कृपा-प्रसादसे प्राप्त हुए उपदेश (स्तुति-रूप युक्ति) द्वारा अनेकों भक्तजनोंको, महासंयमी पुरुषोंसे प्राप्त होने योग्य और महाबलवान् काम-क्रोधादि शत्रुओंका नाश करनेवाले आपके अखण्ड तेजोमय धाममें सहज ही पहुँचा देता हूँ। अतः इसी प्रकार (आपके भक्तोंकी सेवा करते-करते) मेरा दोनों ही लोकमें कल्याण हो जायगा।

पराऽपराधबान्धवाः सवासवाः सुरासुराः।
सदा सदानमानमाश्रयं श्रयन्ति यन्ति यम् ॥ ३६ ॥

स मा समाहितं हितं बताऽवतादमन्दमम् ।
कलङ्क-लङ्घने घने ह्यबाह्यवासनः स नः ॥ ३७ ॥

(युगलकम्)

अन्वय—बत ! पराऽपराधबान्धवाः सवासवाः सुरासुराः सदा सदानमानम् यम् आश्रयम् श्रयन्ति, यन्ति च । सः समाहितम् अमन्दमम् मा हितम् अवतात् । हि—सः नः घने कलङ्कलङ्घने अबाह्यवासनः ।

अर्थ—अहा ! अपकार करनेवालोंका भी उपकार करनेवाले इन्द्रादि देव और दानव लोग सदैव बड़े दान और सम्मान (पूजा) के सहित जिस प्रभुकी शरण ग्रहण करते हैं, और जो हमारे महान् पापोंको नष्ट करनेकी इच्छा करता है । वह अतिशय करुणालु प्रभु मुझ परम-शान्त, और मोक्ष-लक्ष्मीवान् शरणागतकी सदैव रक्षा करे ।

अलं घना अलङ्घनास्तपस्यतस्तपस्यतः ।
तनुर्हि मेऽतनुर्हिमेऽङ्गतानवं गता नवम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—हि, [हे विभो !] तपसि घनाः अलम् अलङ्घनाः [भवन्ति] अतः तपसि हिमे तपस्यतः मे अतनुः तनुः नवम् अङ्गतानवम् गता ।

अर्थ—हे विभो ! माघ मासमें अत्यन्त शीतल मेघ (जल) सहन नहीं हो सकते । इस कारण अत्यन्त शीत माघ मासमें तपस्या करते हुए मेरा शरीर अतिशय कृशताको प्राप्त हो गया है । अतः आपकी आराधनाके निमित्त कृशताको प्राप्त हुए मुझ दीन पर आप विमुख न हों ! इसलिए मैं आपसे यह अपनी आर्ति निवेदन कर देता हूँ ।

मलमलक्षवलक्षबलस्मर-
स्मरणकारणकार कदङ्कदम् ।
हर हरस्व भजस्व भजन् दिशं
दिश विभासविभासदृशं दृशम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—अलक्षबलक्षवलस्मरस्मरणकारणकार ! हर ! [त्वम्] दिशम् भजन् [मम] कदङ्कदम् मलम् हरस्व, भजस्व ! विभासविभासदृशम् दृशं दिश ।

अर्थ—लक्षण-रहित अर्थात् इयत्तया परिच्छेद करने (मापने) के अयोग्य, अपार बल और तेजः-शाली कामदेवको शोचनीय कर देनेवाले हे महेश्वर ! सत्ता-रूपसे सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी शरणागतजनोंके कल्याणार्थ उत्तरदिशामें (कैलाश पर्वतमें) प्रत्यक्ष विराजमान होते हुए आप मेरे इन कलङ्कदायक (अणु, माया और कर्म जनित त्रिविध) मलोंको दूर कर दीजिए । विज्ञान एवं प्रकाशसे भरी हुई कृपा-दृष्टिसे अनुगृहीत कीजिए ।

भव-संभव-संहत-मोहतमो-
दमनेदमनेकमशङ्कमशम् ।

सविकास-विकार-चितं रचितं
हर मे हर मेदुरितं दुरितम् ॥ ४० ॥

अन्वय—भव-संभव-संहत-मोहतमो-दमन, हर ! अनेकम् अशङ्कम् [कृत्वा] रचितम् अशम् सविकासविकारचितम् मेदुरितम् इदम् मे दुरितम् हर।

अर्थ—संसारसे उत्पन्न हुए महामोह-रूपी अन्धकारको नाश करनेवाले, हे हर ! अज्ञानताके कारण निःशङ्क होकर इकट्ठे किये हुए, अकल्याण-कारक, आधि-व्याधि, प्रिय-वियोग, अप्रिय-समागम आदि अवस्थाके परिणामोंसे भरे हुए, और दूसरोंके सामने प्रकट करके तथा पश्चात्ताप आदिके द्वारा प्रायश्चित्त न करनेके कारण और भी बढ़े हुए मेरे (स्वयं अनुभूयमान) इन अनेक प्रकारके पापोंको दूर कर दीजिए !

कृपणं भगवन् बहुशोऽभिहितं
बहुशोभि हितं दिश मे वचनम् ।
दिशमेव च नन्दितमानस तां
दितमान सतां न पतामि यतः ॥ ४१ ॥

अन्वय—भगवन् ! [मया] बहुशः कृपणम् अभिहितम्, बहुशोभि हितम् वचनम् मे दिश । सताम् नन्दितमानस ! दितमान ! यतः [अहम् संसारे] न पतामि, ताम् एव दिशम् च दिश ।

अर्थ—भगवन् ! मैं चिरकालसे बहुत करुणाजनक विलाप कर रहा हूँ । इसलिए हे नाथ ! अब मुझे अभिमत वरदान और अभयदान देनेवाला सुमनोहर हित-वचन सुना दीजिए । अयि भावुकोंके अन्तःकरणको आनन्दित और मदोद्धतोंके अभिमानको चूर करनेवाले ईश्वर ! जिससे मैं इस संसारमें न गिरूँ, वह उपाय मुझे बतला दीजिए ।

मन्यामहे गतिमृते त्वयि भक्तिमन्या-
मन्यायगां तव दृशैव तमःशमन्या ।
मन्याभिधाभृति नतिं सहते धमन्या-
मन्याभिधेषु न हि धीरभिमानिमन्या ॥ ४२ ॥

अन्वय—[हे विभो !] तमःशमन्या तव दृशा एव त्वयि भक्तिम् ऋते अन्याम् गतिम् वयम् अन्यायगाम् [एव] मन्यामहे । हि अभिमानिमन्या धीः मन्याभिधाभृति धमन्याम् अन्याभिधेषु नतिम् न सहते !

अर्थ—हे भगवन् ! अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करनेवाली आपकी कृपादृष्टिसे ही प्राप्त हुई (आपकी) भक्तिको छोड़कर अन्यान्य सब चेष्टाओंको हम अन्याय पर चलनेवाली समझते हैं । क्योंकि अपनेको अभिमानी (गुण-गम्भीर) समझनेवाली बुद्धि मन्या[1] नामको धारण करनेवाली कन्धरा (गरदन) से केवल एक आपके सिवाय अन्य किसी प्रभुको नमन नहीं किया करती !

१ 'पश्चाद्ग्रीवा शिरा मन्या' (अमरकोष) ।

माऽनारतं निजपरैरुपभुज्यमाना
मानातिवृत्तविभवाऽन्वहमेधमाना ।
मा नाथ भूद् भवतु धीरभिनन्द्यमाना
मानालसैः सुहृदरातिषु मे समाना ॥४३॥

अन्वय—नाथ ! मानातिवृत्तविभवा, अन्वहम् एधमाना, अनारतम् निजपरैः उपभुज्यमाना मा (लक्ष्मीः) माभूत् ? [किन्तु] मानालसैः, अभिनन्द्यमाना मे धीः सुहृदरातिषु समाना भवतु !

अर्थ—हे त्रिलोकीनाथ ! मैं यह नहीं चाहता कि अत्युत्तम वैभवशालिनी, प्रतिदिन वृद्धिको ही प्राप्त होनेवाली, नित्य अपने और पराये लोगोंके उपभोगमें आनेवाली अपार धन-सम्पत्ति मुझको प्राप्त हो जाय। किन्तु प्रभो ! मैं तो आपसे यही माँगता हूँ कि मानी जनों (मनस्वी लोगों) से वन्द्यमान (पूजित) होती हुई यह मेरी बुद्धि अपने शत्रुओं और मित्रोंको एक समान दृष्टिसे देखा करे। अर्थात् आपकी कृपासे मैं समदर्शी बन जाऊँ।

[अहा ! महाराज भर्तृहरिजी भी भगवान्से यही वर माँगते हैं :—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
कदा पुण्याऽरण्ये शिवशिवशिवेतिप्रलपतः ॥

अर्थात् महाभीषण भुजङ्गम और मुक्ताहार, शय्या और कठोर पाषाण-शिला, अमूल्य मणि और लोष्ठ, बलवान् शत्रु और मित्र एवं शुष्क तृण और मनोहर अङ्गना, इन सब वस्तुओंको सदैव एकसमान समझता हुआ किसी पवित्र वनमें 'हे शिव ! हे शिव ! हे शिव !' कहता हुआ मैं अपना समय कब व्यतीत करूँगा ?]

दोषारयस्तरलयन्ति महामदोषा
दोषा धृतिं हरति मोहमयप्रदोषा ।
दोषाकराङ्कवपुरेष्यति मां कदोषा
दोषात्तकण्ठमनिरुद्धमिवोन्मदोषा ॥ ४४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] महामदोषाः दोषारयः माम् तरलयन्ति, मोहमयप्रदोषा दोषा धृतिम् हरति। उन्मदा उषा दोषात्तकण्ठम् अनिरुद्धम् इव, दोषाकराङ्कवपुः उषा माम् कदा एष्यति ?

अर्थ—हे प्रभो ! महान् मद (अहंकार) के दाहसे भरे हुए ये काम-क्रोधादि शत्रु मुझे कम्पित कर रहे हैं, अज्ञानमय-प्रदोषवाली रात्रि मेरे धैर्यको हर रही है। हे नाथ ! जैसे, उषा (बाणासुरकी कन्या) कामके वशमें होकर हाथोंसे कण्ठ-स्थलको आलिङ्गित करती हुई अनिरुद्धके पास आई, वैसे ही श्री चन्द्रमौलिके दर्शनरूपी उषा (प्रभातकी वेला) मेरे सामने कब आवेगी ?

का रामणीयकक्कतेन्दुकरानुकारा-
कारा विना तव कृपां प्रथितोपकारा।
कारागृहेऽत्र भवनामनि मोचिका रा-
काराजखण्डशिखर क्षपितान्धकारा ॥ ४५ ॥

अन्वय—राकाराजखण्डशिखर ! अत्र भवनामनि कारागृहे तव कृपाम् विना रामणीयकक्कतेन्दुकरानुकाराऽऽकारा, प्रथितोपकारा, क्षपितान्धकारा का मोचिका [भवति]

अर्थ—अयि चन्द्रार्धमौले ! इस संसार नामक कारागारमें केवल एक आपकी कृपाको छोड़कर चन्द्रकिरणोंके समान अति सुमनोहर, दीनोपकारमें विख्यात एवं मोहरूपी अन्धकारका निराकरण करनेवाली कौनसी वस्तु प्राणियोंको इस बन्धनसे मुक्त कर सकती है ? अर्थात् कोई भी नहीं।

काशान्तचित्तधृतमुक्तिपथाऽवकाशा-
काशान्तवर्तिरविवत् प्रचुरप्रकाशा।
काशावकीर्णखिलतुल्यकृतान्तकाशा
का शाम्भवीं दृशमृते भृतसेवकाशा ॥ ४६ ॥

अन्वय—शाम्भवीम् दृशम् ऋते काशान्तचित्तधृतमुक्तिपथावकाशा, आकाशान्तवर्तिरविवत् प्रचुरप्रकाशा, काशावकीर्णखिलतुल्यकृतान्तकाशा भृतसेवकाशा का [भवति ?]

अर्थ—शान्त चित्तवालोंको मुक्ति-पथका राह बतानेवाली, आकाश-गत सूर्यके समान अतीव प्रकाशमयी, एवं यमराजकी दिशा (यमपुरी) को काशके तृणोंसे भरे हुए महान् अरण्यके तुल्य कर देनेवाली शङ्करकी कृपा-दृष्टिके बिना, भावुकोंकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली दूसरी वस्तु कौन है, अर्थात् कोई भी नहीं।

कां तापतान्तिमुपयान्ति शुचौ न कान्ताः
कान्तावलम्बितकराः स्खलितांशुकान्ताः।
कान्ता हठाद्वनचरैर्मृदितालकान्ताः
कान्तारगास्त्वदनुरक्तनृपारिकान्ताः ॥ ४७ ॥

अन्वय –[हे भगवन् !] शुचौ कान्तारगाः कान्ताः कान्ताः कान्तावलम्बितकराः स्खलितांशुकान्ताः वनचरैः हठात् मृदितालकान्ताः त्वदनुरक्तनृपारिकान्ताः काम् न तापतान्तिम् उपयान्ति ?

अर्थ—हे भगवन् ! जो भाग्यवान् राजा आपके चरणारविन्दमें अनुराग रखता है, उसके शत्रु लोगोंकी मनोहर अङ्गनाएँ ग्रीष्म ऋतुके समय महा अरण्यमें निवास करती हुई, अपने अपने पतियोंका हाथ पकड़कर उन्हें सहारा देती हुई एवं वसन-विहीन होकर महादुष्ट बनचर लोगोंके द्वारा अनेक प्रकारसे सताई जाती हुई महान विपत्तिको भोगती हैं। सारांश यह है कि भगवद्भक्तोंको कष्ट देनेवालोंकी बड़ी ही दुर्गति होती है।

मायाऽर्करश्मिपटलीव मरुक्ष्माया-
मायासमर्पयति मे दुरितक्रमा या ।
मायाः पदं तव कृपाऽत्र महातमाया-
मायात्युषेव हि कदा कलितोत्तमाऽयाः ॥ ४८ ॥

अन्वय—या दुरतिक्रमा [सा] माया मरुक्ष्मायाम् अर्करश्मिपटली इव मे आयासम् अर्पयति । [हे प्रभो !] हि, अत्र महातमायाम् मायाः पदम् , कलितोत्तमाऽयाः तव कृपा, उषा इव, कदा आयाति ?

अर्थ—भगवन् ! ब्रह्मादिदेव भी जिसका पार नहीं पा सकते, वह माया (अर्थात् अनात्म वस्तुमें आत्मविभ्रम पैदा करनेवाली अविद्या) जन्म-मरण-जन्य आयास (कष्ट)-के द्वारा मुझे बार-बार इस प्रकार खिन्न करती है, जैसे कि उष्णकालके समय मरुभूमिमें सूर्य-किरणोंकी उग्र पटली जीवोंको खिन्न करती है ! इसलिए प्रभो ! इस मोह-मयी महारात्रिमें अत्युत्तम शुभावह भाग्यका उदय करनेवाली वह आपकी कृपा प्रभात-बेलाकी भाँति कब उदय होगी ?

रामादिसेव्यभवभक्तिभृतोऽभिरामा-
रामाश्रितौषधिरिव क्षतदुस्तरामा ।
रामा सतीव कृतसाधुविपद्विरामा
रा मान्यमुज्झति न सद्म न चाऽस्थिरा मा ॥ ४९ ॥

अन्वय—रामादिसेव्यभवभक्तिभृतः मान्यम् सद्म (कर्म) राः (धनं, कर्तृ) रामाश्रिता औषधिः इव, सती रामा इव, अभिरामा क्षतदुस्तरामा कृतसाधुविपद्विरामा न अस्थिरा (अर्थात् 'स्थिरा') मा च न उज्झति ।

अर्थ—श्रीरामादि देवोंके सेवनीय भगवान् शिवके भक्तोंके गृहको धन कभी भी नहीं त्यागता और महाभयङ्कर रोगको दूर करनेवाली दिव्य औषधिके समान एवं सती (पतिव्रता) स्त्रीके समान, सुमनोहर तथा दुस्तर-संसाररूपी महा-रोगको दूर करनेवाली, सज्जनोंके दुःखोंका अन्त करनेवाली अचल (मोक्ष) लक्ष्मी भी उसके घरमें सदैव निवास करती है ।

वारांनिधेरिव सुधा तव दुर्निवारा
वाराणसीव दृगघक्षयकृद् ध्रुवारा ।
वाराङ्गनेव पृतनेव च सास्त्रवारा
वारानुवारमुदयत्युरुकूर्चवारा ॥ ५० ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] दुर्निवारा अघक्षयकृत् ध्रुवारा (अवश्यगम्या) तव दृक् वारांनिधेः सुधा इव, वाराणसी इव, वाराङ्गना इव, उरुकूर्चवारा सास्त्रवारा पृतना इव च, वारानुवारम् उदयति ।

अर्थ—हे भगवन् ! समस्त पापोंका नाश करनेवाली आपकी अमोघ कृपा-दृष्टि अपने भक्तजनोंकी ओर, सुधा-वृष्टि के समान, श्री वाराणसी नगरीके समान, सुमनोहर वाराङ्गनाके समान और महान् दृढ़ कवचोंको धारण करनेवाले अश्ववारों (घुड़सवारों)-से युक्त महा-सेनाके समान, बार-बार उदय होती है।

भद्राभिधे गज इवेशमक्लृप्तभद्रा
भद्रासनेऽर्चितवतः कृतभालभद्रा ।
भद्रा सिता तिथि रिवेप्सितदा विभद्रा
भद्रा तनुर्गुणविडम्बितरामभद्रा ॥ ५१ ॥

अन्वय—भद्राभिधे गजे इव, भद्रासने ईशम् अर्चितवतः अक्लृप्तभद्रा कृतभालभद्रा, सिता भद्रा तिथिः इव ईप्सितदा, गुणविडम्बितरामभद्रा भद्रा तनुः विभद्रा [भवति]।

अर्थ—भद्र नामक हाथीके समान विशाल भद्रासन-(भद्रपीठ नामक सिंहासन) पर श्री परमेश्वरका पूजन करनेवाले धन्यात्मा पुरुषकी ललाटमें भस्म और चन्दनके त्रिपुण्ड्रको धारण करनेवाली, सकलजन-कल्याण-कारिणी, शुक्लपक्षकी भद्रा तिथि (द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी) के समान अभीष्टकी सिद्धि करनेवाली और श्रीरामभद्र (राम) के समान गुण-ग्रामोंसेभरी हुई—सुमनोहर काया (शरीर) सभी लोगोंके मनको मोहित कर देती है।

नाऽगाधमाप तव हृन्मम धीरनागा
नागलयं सुरपुरीव सकाञ्चनागा ।
नाऽगात् परत्र च सृजन्त्यकदर्थना गा
नागाश्रितेन्द्रदिगिवोन्नतनन्दनागा ॥ ५२ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] सकाञ्चनागा सुरपुरी नागालयम् इव, [इयम्] मम अनागा धीः तव अगाधम् हृत् न आप। अकदर्थना गाः सृजन्ती [इयं धीः] नागाश्रिता उन्नतनन्दनागा इन्द्रदिक् इव, परत्र च न अगात्।

अर्थ—भगवन् ! जैसे, काञ्चन-पर्वतके सहित स्वर्ग नगरी पातालको कभी नहीं पहुँच सकती ? प्रभो ! जैसे, हस्ती-(दिग्गज) से आश्रित, और विशाल नन्दन-वनके वृक्षोंसे सुशोभित पूर्व दिशा कभी पश्चिमको नहीं जाती, वैसे ही यह मेरी बुद्धि अतीव अनिन्द्य (निर्दोष) वाणी (स्तुति)-को रचती हुई, आपकी स्तुतिको छोड़कर, अन्यत्र (सांसारिक विषयोंमें) कहीं भी नहीं जाती !

सारासहाऽपि मम धीस्त्वयि मन्दसारा
साराधना विहितमोहतमोऽभिसारा ।
साराव-कोकिलवचः समसूक्तिसारा
सारावलीव गुरुतापकृतापसारा ॥ ५३ ॥

अन्वय—[हे विभो !] विहितमोहतमोभिसारा साराधना सारावकोकिलवचःसमसूक्ति-सारा, सारावली इव, गुरुतापकृतापसारा अपि मम सारासहा धीः त्वयि मन्दसारा [भवति]।

अर्थ—प्रभो ! मोहरूपी निशामें विचरनेके कारण आपकी आराधना करनेवाली, कोकिलोंके सुमनोहर कलरवके समान सूक्ति-सारवाली एवं तीव्र ज्वरके तापको हरनेवाली सारावली नामक औषधिके समान, महाभयंकर पाप-तापोंको दूर करनेवाली भी यह मेरी साराऽग्राहिणी (सारको न ग्रहण करनेवाली) बुद्धि आपकी ओर अग्रसर नहीं होती।

सामात्यभूपसदसीक्षितसूक्तिसामा
सामाजिकाहितनुतिः कृतसेर्ष्यसामा।
सामान्यवर्त्म न ययाश्रयमोजसा मा
सा मान्यता त्वयि विभो मुचदञ्जसा मा ॥ ५४ ॥

अन्वय—[हे विभो !] यया [अहम्] ओजसा सामान्यवर्त्म न आश्रयम्, सा सामात्यभूपसदसि ईक्षितसूक्तिसामा, सामाजिकाहितनुतिः कृतसेर्ष्यसामा मान्यता, त्वयि मा अञ्जसा मा मुचत्।

अर्थ—हे विभो ! जिस (मान्यता)-से मैं सामान्य मार्गका आश्रय न लूँ, अर्थात् केवल एक आपका ही आश्रय लूँ, वह बड़े-बड़े अमात्य-(मन्त्री-) गण और राजाओंसे भरी हुई सभामें सम्मानित होनेवाली, सभ्य पुरुषोंसे वन्दनीया, एवं महान् ईर्ष्यालु (द्रोही) जनोंसे भी पूज्यमान होनेवाली मान्यता (उत्कृष्टता) मेरा परित्याग न करे, अर्थात् मुझे प्राप्त हो।

धारा गिरेरिव तरीव सकर्णधाराऽऽ-
धाराऽर्पणी तव दगूषरवर्षधारा।
धारापुरीव सुखदा दुरितासिधारा
धारा परार्तिहरणे हतषड्विधारा ॥ ५५ ॥

अन्वय—[हे विभो !] गिरेः धारा (सानुभूः) इव आधारार्पणी, सकर्णधारा तरी इव, ऊषरवर्षधारा, धारापुरी इव, दुरितासिधारा परार्तिहरणे धारा (पराकाष्ठा) हतषड्विधारा तव दृक् सुखदा (भवति)।

अर्थ—हे प्रभो ! पर्वतके शिखरकी समभूमिके समान आश्रय देनेवाली, केवटसे युक्त नौकाके समान दीनोंको दुःख-सागरसे पार लगानेवाली, ऊपर भूमिमें अमोघ वर्षधाराके समान, धारापुरीके समान परम मनोहर, पाप-राशियोंके विदारण करनेमें तीक्ष्ण खड्गधाराके समान, दुःखियोंके दुःखोंको हरनेमें अनुपम और शत्रुओं-(काम-क्रोधादि) का नाश करनेवाली आपकी प्रसाद-दृष्टि भाग्य-शालियोंको अखण्ड सौख्य प्रदान करती है।

कालायसोपमरुचिर्गलभूः सुकाला
कालाग्निवद् दगपि ते क्षणदग्धकाला।

काला यथोक्तिरमृदुः क्षतसेवकाला
का लाभकृन्मम विनाऽऽभिरनन्तकाला ॥ ५६ ॥

अन्वय – [हे विभो !] कालायसोपमरुचिः ते गलभूः सुकाला [अस्ति], ते दृग अपि कालाग्निवत् क्षणदग्धकाला, अमृदुः काला यथा, ते उक्तिः अमृदुः [अपि] क्षतसेवकाऽऽला [भवति]। आभिः (भवत्कण्ठभूभवद्दृग्-भवदुक्तिभिः) विना का अनन्तकाला मम लाभकृत् ?

अर्थ—भगवन् ! आपकी कण्ठस्थली काले लौहकी कान्तिके समान सुश्यामला है। आपकी दृष्टि कालाग्नि रुद्रके समान क्षणभरमें ही कालको भस्मकर डालती है। आपकी अमोघ वाणी भी कालीदेवीके समान कठोर बनकर भक्त लोगोंकी आला (अपवाद अर्थात् कलङ्क) को नष्टकर डालती है। हे नाथ ! इन (आपकी कण्ठस्थली, आपकी दृष्टि और आपकी वाणी) के अतिरिक्त और कौन मेरा भलाकर सकता है, अर्थात् कोई भी नहीं।

मुक्तार्पितस्वपदपूर्णकृपाविमुक्ता
मुक्तार्चनादिरतिनाऽऽर्किभयाद्विमुक्ता।
मुक्तावलीव विमला त्वयि गीरमुक्ता
मुक्तान्यमार्गगमनेन मयेयमुक्ता ॥ ५७ ॥

अन्वय—[अयि नाथ !] मुक्तान्यमार्गगमनेन मुक्तार्चनादिरतिना मया, आर्किभयात् इयम् मुक्तार्पितस्वपदपूर्णकृपाविमुक्ता, मुक्तावली इव विमला, अमुक्ता (अनल्पा) गीः त्वयि उक्ता, विमुक्ता (क्षिप्ता च)।

अर्थ—हे नाथ ! अन्य मार्ग (सांसारिक विषयों) को तिलाञ्जलि देकर केवल एक आपकी सेवामें तत्पर और यथाशक्ति मुक्ता आदि वस्तुओंद्वारा आपका पूजन करनेकी इच्छा रखनेवाले मुझ शरणागतने यमराजके भयसे मुक्तावलीके समान निर्मल और मुक्त पदवीको प्राप्त हुए भावुकोंको शिव-सायुज्य प्रदान करनेवाली कृपासे पूर्ण, यह अनल्प वाणी आपके आगे प्रकट कर आपको समर्पित की है।

कल्पाह्ववल्लिरिव धौतविपद्विकल्पा
कल्पाञ्चिता कृतनुतिर्भवतीन्दुकल्पा।
कल्पाख्यसूत्रविदुरागमदृष्टकल्पाऽऽ-
कल्पाक्षयाऽस्तु मम गीरमृतानुकल्पा ॥ ५८ ॥

अन्वय—[हे विभो !] भवति कृतनुतिः, धौतविपद्विकल्पा कल्पाञ्चिता इन्दुकल्पा कल्पाख्यसूत्रविदुरा आगमदृष्टकल्पा अमृतानुकल्पा [इयम्] मम गीः कल्पाह्ववल्लिः इव, आकल्पाक्षया अस्तु।

अर्थ—हे नाथ ! आपका गुणानुवर्णन करनेवाली, (वक्रोक्ति, शब्दश्लेष आदि) शब्दालङ्कार और (उपमा, आदि) अर्थालङ्कारोंसे सुशोभित, जन्म, जरा और मरण जन्य विपत्तिके जञ्जालको नष्ट करनेवाली, चन्द्रमाके समान सुनिर्मल और

सन्तापको हरनेवाली, कल्प-सूत्र एवं सकल शास्त्रोंके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाली और अमृतकी वृष्टिके समान भावुकोंको अजराऽमर कर देनेवाली यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) कल्पलताके समान, इस संसारमें कल्प-पर्यन्त अक्षय बनी रहे !

सहसाऽर्क इवाऽस्मि कृतः सहसा-
ऽसहसारभृदात्मभुवा सहसा ।
स ह सायकमस्यति या सहसा
सहसाध्वसमेत्यपि दुःसहसा ॥ ५९ ॥

अन्वय—[अयि प्रभो !] सहसा (मार्गशीर्षेण) अर्कः इव, आत्मभुवा [अहम्] सहसा, सहसा (बलेन) असहसारभृत् कृतः अस्मि । ह ! सहसा (हास्ययुक्ता) दुःसहसा या (स्त्री) सहसाध्वसम् अपि [मे सम्मुखम्] एति, (तम् स्त्रीरूपं) सायकम् सः [माम्प्रति] अस्यति ।

अर्थ—हे प्रभो ! जैसे मार्गशीर्ष मास सूर्यको निर्बल (मन्दतेज) कर देता है, वैसे ही इस दुष्ट कामने अपने तीव्र बलके वेगसे मुझे बलहीन (क्षीण) कर दिया है । हाय ! जो (स्त्री) अपने हाव-भाव और हास्यादिके द्वारा बड़े-बड़े बलवानोंको भी क्षीण कर डालती है, उस स्त्री-रूप बाणको वह कामदेव मुझ पर चलाता है ।

जनयाऽशुचमार्तमभाजनया-
जनयाचनरञ्जनवेजनया ।
जनयामलखिन्नमखञ्जनया-
ऽज नयाऽमृतमात्मनियोजनया ॥ ६० ॥

अन्वय—अखञ्जनय ! अज ! [त्वम्] अभाजनयाजनयाचनरञ्जनवेजनया आर्तम् अशुचम् जनय । जनयामलखिन्नम् (माम्) आत्मनियोजनया अमृतम् नय ।

अर्थ—हे अखण्ड नीतिवाले ! हे अनादि शिव !! अयोग्य अर्थात् कुपात्र लोगोंको यज्ञ कराने और उनसे याचना करने एवं उन्हीं अनभिज्ञोंके चित्तको अनुरञ्जित करनेके द्वारा प्राप्त हुए महान् उद्वेगसे आर्त्त बने मुझ दीनको दुःखोंसे बचाइए । और हे नाथ ! बन्धु, बान्धव एवं कुटुम्बी लोगोंके झंझटोंसे अत्यन्त क्लेशको प्राप्तहुए इस शरणागतको अब स्वकीय सायुज्य प्रदान करके मोक्षको प्राप्त कीजिए ।

शमनाय शुचां त्वमुमेश मनाक्
शमनार्तिकरः कृतभीशम ना ।
शमनामय देहि विपाशमना-
शमनाथजनप्रथिताशमनाः ॥ ६१ ॥

अन्वय—उमेश ! कृतभीशम ! अनामय ! मनाक् शमनार्त्तिकरः [त्वम्] शुचाम् शमनाय ना [भवसि] अनाथजनप्रथिताशमनाः [त्वम्] विपाशम् अनाशम् शम् [मे] देहि ।

अर्थ—हे पार्वतीश्वर ! हे भक्त जनोंके भयका नाश करनेवाले ! हे अनामय शिव ! आप बिना ही प्रयाससे यमराजको भयभीत करनेवाले हो। हे नाथ ! भक्त जनोंकी विपत्तिको निवारण करनेमें आपका पुरुषार्थ अखण्ड रहता है, और शरणहीन जनोंके मनोरथोंको परिपूर्ण करनेमें आपका चित्त अत्यन्त ही उदार है। इसलिए प्रभो ! मुझको मायापाशसे रहित कैवल्य धाम प्रदान कीजिए।

मधुनाशिनाऽर्चित समं मधुना
मधुनामपुष्पजनुषा मधुना।
मधुनाऽलसामिव वधूमधुना-
मधुना प्लुतां त्वयि गिरं मधुना ॥ ६२ ॥

अन्वय—मधुनाशिना मधुना समम् मधुनामपुष्पजनुषा मधुना (किंजल्केन) अर्चित ! अधुना [अहम्] मधुना अलसाम् वधूम् इव, मधुना प्लुताम् (मधुमधुराम्) गिरम् त्वयि अधुनाम् (सुप्तामिव बोधितवानस्मीत्यर्थः)।

अर्थ—मधुनाशी-(भगवान् श्रीविष्णु) के द्वारा, मधु (वसन्त)-के सहित मधूक नामक पुष्पोंके मधु (पराग)-से पूजित हे प्रभो ! जैसे कोई मधु (मद्य) पानसे आलसी होकर सोई हुई वधूको जगाता है, वैसे ही, मैंने इस समय मधुके समान सुमधुर वाणीको आपके गुणानुवादके लिए सोई हुई-सीको जैसा, जगाया है।

वसु धान्यमुज्झितुमपीवसु धा-
व सुधासितच्छवियशोवसुधा।
वसुधातृवन्द्य यदसावसुधा
वसुधाम दृक्तव नवेव सुधा ॥ ६३ ॥

अन्वय—वसुधातृवन्द्य ! सुधासितच्छवियशोवसुधा [त्वम्] अपीवसु वसु धान्यम् [च] उज्झितुम् धाव। यत् असौ तव वसुधाम दृक्, नवा सुधा इव, असुधा [भवति]।

अर्थ—हे अष्ट वसु और ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंके द्वारा वन्दित सदाशिव ! आप साक्षात् अमृतके समान धवल सुयशकी वसुधा हैं। आपकी वह सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि, इन तीनों तेजोंको धारण करनेवाली दृष्टि, भावुकोंको नवीन सुधाके समान, प्राण-दान देती है। अतः हे प्रभो ! आप धन-धान्यादि सम्पत्तिसे विहीन दीनजनोंको महाधन, धान्य आदि समृद्धि प्रदान करनेके लिए बड़े वेगसे दौड़िये।

समयासिषुः क्व न विकासमयाः
समयापतिं जगति यं समया।
समया भवन्ति च विलासमयाः
स मया गिराऽर्च्यत सुधासमया ॥ ६४ ॥

अन्वय—यम् समयापतिम् समया (निकटे, स्थितस्य जनस्य) अयाः जगति क्व न

विकासम् समयासिषुः ? [यम् समयापतिम्] समया [स्थितानां जनानाम्] समयाः विलासमयाः भवन्ति, सः मया सुधासमया गिरा अर्च्यते ।

अर्थ—[हवन पूजन आदि यज्ञके हीनाऽतिरिक्त दोषके परिहारके लिए यज्ञान्तमें पूजित होनेवाली] समया नामक देवीके पति—जिस उमापतिके चरणारविन्दके निकट निवास करनेवाले भक्तका शुभावह भाग्य (उत्तम भाग्योदय) सारे संसारमें विख्यात हो जाता है, और जिसके शरणागतोंके सभी समय विलास-मय हो जाते हैं, उस प्रभुको मैं सुधाके समान सुमनोहर वाणीसे पूजित करता हूँ ।

कलिकालताम्यदमृतोत्कलिका
कलिकातरे हृदि तवोत्कलिका ।
कलिका स्रजीव जितशाकलिका-
ऽकलि कान्तिभृच्च मुकुटे कलिका ॥ ६५ ॥

अन्वय—[हे भगवन् ! जनेन] कलिकातरे तव हृदि उत्कलिका कलिकालताम्यदमृतोत्कलिका अकलि । जितशाकलिक ! कान्तिभृत् कलिका च [तव] मुकुटे स्रजि कलिका इव, अकलि ।

अर्थ—भगवन् ! लोगोंके कलहको देखकर कृपासे आर्द्र हुए आपके हृदयकी उत्कण्ठा, कलि-कालसे म्लान हुए जीवोंके लिए साक्षात् अमृतकी लहरी-सी बन जाती है । हे किरातरूपधारिन् ! वह ज्योत्स्नामयी चन्द्र-कला आपके मुकुटमें, मालामें पुष्प-कलिका (कुड्मल)-के समान बन जाती है ।

कलयाऽऽश्रितं विरुजमेकलया
कलया विधोर्दलितपाकलया ।
कलया गिरा च सकलाऽकल या
कलया विना विहितशोकलया ॥ ६६ ॥

अन्वय—सकलाकल ! [त्वम्] एकलया दलितपाकलया* विधोः कलया, या कलया (व्याजेन) विना विहितशोकलया [भवति तया] कलया (सुमधुरया) गिरा च आश्रितम् विरुजम् कलय !

अर्थ—हे साकार और निराकाररूप निरञ्जन परमेश्वर ! आप जन्म, जरा और मरणरूप ज्वरका नाश करनेवाली चन्द्रकलासे तथा जो निष्कपट भावसे भक्तजनोंके शोकजालका लय कर देती है, उस अपनी सुमधुर गिरासे मुझ शरणाश्रितको नीरोग कर दीजिए ।

परमारकाऽन्तककृतोपरमा-
ऽपरमानतं तव दृशाऽऽप रमा ।

---

*दलितः पाकलो ज्वरो जरामरणादिरूपो यया सा तया, यद्यपि पाकलो हस्तिज्वर एवायुर्वेदे प्रसिद्धस्तथापि कविभिः सामान्यज्वरेऽपि प्रयुक्तः ।

परमार्थसद्गुणपरम्पर मा
परमार्त्तमुज्झ करुणापर मा ॥ ६७ ॥

अन्वय—परमारकान्तककृतोपरम ! परमार्थसद्गुणपरम्पर ! तव दृशा रमा अपरम् आनतम् [जनम्] आप । करुणापर ! परम् आर्तम् मा मा उज्झ ।

अर्थ—परम-हिंसक यमराजका मान मर्दन करनेवाले ! हे पारमार्थिक-सद्गुण-परम्परा-रूप शंकर ! प्रभो ! आपके कृपा-कटाक्षके लेशमात्रसे आपके शरणागतोंको लक्ष्मी स्वयं सेवित करती है। अतः हे परम उदार ! हे करुणा-परायण ! आप मुझ परम आर्त्त (अतीव दुःखित)-का परित्याग मत कीजिए।

कल-कलकल-कलकण्ठ-वदस्मा-
नव नवनवनवरोचितवाचः ।
भव भव भव-भवभीतिभिदस्य-
न्मदमदमदमदनाऽन्तक दूरम् ॥ ६८ ॥

अन्वय—भव ! अदमद-मदनान्तक ! कल-कल-कल-कलकण्ठवत्, नव-नवन-वरोचित-वाचः अस्मान् अव । मदम् दूरम् अस्यन् भवभवभीतिभित् भव ।

अर्थ—जितेन्द्रियताको हरनेवाले कामदेवका भस्म करनेवाले हे शिव ! अत्यन्त मधुरभाषी कोकिलोंके समान, नवीन स्तुति-रचना द्वारा उत्कृष्ट वचन बोलनेवाले हम शरणागतोंकी रक्षा कीजिए ! और हमारे मद-(दुरहंकार) को दूर करते हुए इस सांसारिक भयसे हमें बचाइए !

अविकल-कल कलकल-कल-कण्ठं
दिश नवनव-नवनवन वरवचः ।
सविभव भव भव भवभवभयभि-
द्धर मदमदमदमदमदयमिमम् ॥ ६९ ॥

अन्वय—अविकल-कल ! नवनव-नवनवन ! [त्वम्, मादृशाय] कलकल-कल-कण्ठम् वरवचः दिश । सविभव ! भव ! [अस्माकम्] भवभवभयभित् भव । अदमदमदम् इमम् अदयम् मदम् हर ।

अर्थ—अयि षोडश-कला-मय, विश्वेश्वर ! हे नवीन-नवीन नुतियों (स्तुतियों) के उपवनमें विहार करनेवाले प्रभो ! अब मुझे अपना सुमधुर अभय-वचन सुना दीजिए। अयि अखण्ड ऐश्वर्यशाली सदाशिव ! हमारे समस्त भयको नाश कीजिए और हमारी अखण्ड शान्ति को नष्ट करनेवाले इस महा निर्दयी अहङ्कारको दूर भगा दीजिए।

देव्यां भ्रमद्भ्रुवि जयाविजयार्चितायां
सक्ता तवाऽस्तविजया विजयाय दृष्टिः ।

वृष्ट्येव भूर्दिविजया विजयाख्यया ते
मूर्त्या त्रसद्रविजयाऽऽवि जयाह्वया च ॥ ७० ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] विजयाय अस्तविजया तव दृष्टिः जयाविजयार्चितायाम् भ्रमद्भ्रुवि देव्याम् (श्रीभवान्याम्) सक्ता । त्रसद्रविजया विजयाख्यया, जयाह्वया च ते मूर्त्या [इयम्] भूः दिविजया वृष्ट्या इव, आवि (रक्षिता) ।

अर्थ—भगवन् ! विजय-(अर्जुन) को विजय प्रदान करनेवाली आपकी करुणामयी दृष्टि जया और विजया नामक सखियोंसे पूजिता श्री भवानीजीपर बड़ा ही अनुराग रखती है, तथा जगत्कण्टक यमराजको भयभीत करनेवाली आपकी विजया और जया नामक स्वयम्भूमूर्ति* आकाशकी वृष्टिके समान समस्त जगत्‌का पालन करती है ।

[भगवद् अनुरक्त भावुकोंको शुभाशीर्वाद देते हुए 'कवि' कहते हैं—]

हरमुपेत रसादमलं घनं
दमलङ्घनं तनुत मा कृतिनः ।
तनुतमाकृति नः श्रयताऽऽदृतं
श्रयतादृतं भवत इत्युदितम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—कृतिनः ! घनम् अमलम् हरम् रसात् उपेत । दमलङ्घनम् मा तनुत । इति न. तनुतमाकृति उदितम् श्रयत ! [जनैः] आदृतम् ऋतम् नः उदितम् भवतः श्रयतात् ।

अर्थ—अयि धन्यात्माओ ! आप लोग भवरोगको हरनेवाले अतिशय स्वच्छ भगवान् हरकी शरणमें अनुरागपूर्वक जाओ ! और शान्तिका उल्लङ्घन मत करो ! ऐ प्यारे भावुको ! हमारे इस अति संक्षिप्त वचनको प्रेमसे ग्रहण करो ! और हमारा यह परम आदरणीय एवं सत्य उपदेश आप लोगोंके हृदयमें प्रविष्ट हो जाय !

शमितसङ्गमसज्जनतापदं
शमितसङ्गमसज्जनतापदम् ।
नमतकाममहीनविभासितं
नमत काममहीनविभासितम् ॥ ७२ ॥

अन्वय—[हे कृतिनः ! यूयम्] कामम् शमितसङ्गम् असज्जनतापदम् शमितसङ्गम-सज्जनतापदम् नमतकामम् अहीनविभासितम् अहीनविभासितम (पूर्णदीप्तिधवलम्) नमत ।

अर्थ—अयि पुण्यात्माओ ! आप लोग काम-क्रोधादि दुष्ट वैरियोंका सङ्ग छुड़ानेवाले और दुर्जनोंको सन्ताप देनेवाले, सत्सङ्गति करनेवाले भावुकोंकी विपत्तियोंको दूर करनेवाले, कामदेवको प्रिय न माननेवाले अर्थात् कामके वैरी, वासुकि आदि श्रेष्ठ सर्पोंसे सुशोभित, एवं पूर्ण-प्रकाशसे स्वच्छ भगवान् श्री सदाशिवको नमन किया करो ।

* काश्मीर देशमें अतीव प्रसिद्ध मूर्ति ।

कलि-तमो-हन-मारवराजितं
स्मर हरं शिखिचन्द्रकलाञ्छितम् ।
कलित-मोहन-मारवराजितं
स्मरहरं शिखि-चन्द्रकलाञ्छितम् ॥ ७३ ॥

अन्वय—[अयि भक्तजन] कलि-तमो-हनम्, आरव-राजितम्, शिखिचन्द्रकलाञ्छितम् कलित-मोहन-मार-वराजितम् स्मरहरम् शिखिचन्द्रकलाञ्छितम् हरम् स्मर ।

अर्थ—अयि भावुक जन ! तुम कलिकालके मोहान्धकारको दूर करनेवाले, भक्तोंको अभय वचन प्रदान करनेवाले, ललाटमें अग्नि और चन्द्रकलासे सुशोभित, महा मोहन करनेवाले वीर कामदेवके अवशीभूत, कामका मान मर्दन करनेवाले, तथा (अर्जुनके अनुग्रहार्थ किरात वेष धारण करके) मयूरपङ्खोंको धारण करनेवाले भव-भयहारी हरका स्मरण करो !

असौ हृदन्तर्हितमोहरोधने
सदा यते रक्ष यशो भियो जय ।
असौहृदं तर्हि तमोहरो धने
सदायतेरक्षयशोभि योजय ॥ ७४ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] असौ (अहम्) हृदन्तर्हितमोहरोधने सदा यते, अतः (त्वम् मम) यशः रक्ष, भियः जय, तर्हि तमोहरः [त्वम्] सदायतेः [मम] धने अक्षयशोभि असौहृदम् योजय ।

अर्थ—हे भगवन् ! अब मैं अपने अन्तःकरणमें छिपे हुए दुष्ट मोहको रोकनेमें सदैव प्रयत्न कर रहा हूँ, अतः जिस प्रकार मैं शान्त पुरुषोंके मध्यमें सुयश पाऊँ, वैसा उपाय कीजिए ! और मेरी भीतिको दूर कीजिए । हे विभो ! मुझ भावी-कल्याणशालीकी, इस क्षणभंगुर सांसारिक नश्वर पदार्थोंसे, अनासक्ति (अरुचि) करा दीजिए । अर्थात् मुझे विषयासक्तिसे विरक्त कर दीजिए !

सकलशं सकपालमलङ्कृत-
प्रमदमस्थिरसं मदनाशनम् ।
भवमदभ्रमहानिधने हितं
शमनमञ्जनमानमताऽलयम् ॥ ७५ ॥

सकलशंसकपालमलं कृत-
प्रमदमस्थिरसंमदनाशनम् ।
भवमदभ्रमहानिधनेहितं
शमनमञ्जनमानमतालयम् ॥ ७६ ॥

(युग्मम्)

अन्वय—[अयि रसिक-शिरोमणयः ! यूयम्] सकलशम् सकपालम् अलंकृतप्रमदम् अस्थिरसम् मदनाशनम् , अदभ्रमहानिधने हितम् , शमनमञ्जनम् अलयम् , सकलशंसकपालम् , अलम् कृतप्रमदम् , अस्थिरसंमदनाशनम् , भवमदभ्रमहानिधनेहितम् , शमनमञ्जनमानमतालयम् भवम् आनमत ।

अर्थ—अयि प्रेम-रसिको ! आप लोग हाथमें सुधा-कलश और कपालको धारण करनेवाले, वामाङ्गमें श्री गिरिजाको धारण करनेवाले, कण्ठमें मुण्ड-मालाको धारण करनेवाले, भाल-नेत्रद्वारा मदनको भस्म करनेवाले, भक्तजनोंको अखण्ड ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले, भावुकोंको अजराऽमर करनेके लिए यमराजका शासन करनेवाले, आदि न्त-रहित (अनादि और अनन्त), सकल भावुकजनोंका पालन करनेवाले, अतिशय आनन्द-दायक, असन्तोषी लोगोंको दुःखदायक, सांसारिक भ्रमोंसे विरक्त लोगोंके प्रार्थनीय, शान्तिशाली विनीत जनोंके सम्मानार्थ सगुण स्वरूप धारण करनेवाले अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डाधिनाथ भगवान् श्रीभवानीनाथकी आराधना किया कीजिए !

तनुशङ्करवैरसमाऽयतया-
ऽतनु शङ्कर वै रस माऽयतया ।
तनु शं करवै रसमायतया-
ऽतनुशं कर वैरसमायतया ॥ ७७ ॥

अन्वय—वै, शङ्कर ! [त्वम्] अयतया असमायतया (उपलक्षितम्) मा अतनु तनुशङ्करवैः रस (संभावय) । शम् तनु । (अहम्) रसम् करवै । [त्वम् माम्] आयतया वैरसमायतया अतनुशम् कर* ।

अर्थ—अयि शङ्कर ! मुझ महाभाग्यशालीको बार-बार अपना अभय-वचन सुनाकर शीघ्र सँभालिए । हमारे कल्याणका विस्तार कीजिए । हे नाथ ! मैं आपके भक्ति-रसका समास्वादन कर रहा हूँ । अतः आप मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिए कि जिससे मैं इन दुष्ट कामक्रोधादि वैरियोंको निर्बल बना डालूँ ।

प्रकाशकलितापदं शकलितापदं शंसता-
मसारसमये हितं रसमयेहितं शङ्करम् ।
हृदि स्मरत रङ्गितं स्मरतरङ्गितं शान्ततां
नयन्तमसमानसन्तमसमानसं चान्तकम् ॥ ७८ ॥

अन्वय—[अयि रसिकावतंसाः ! यूयम्] प्रकाशकलितापदम्, शंसताम् शकलितापदम्, असारसमये हितम् , रसमयेहितम्, हृदि रङ्गितम् स्मरतरङ्गितम् असमानसन्तमसमानसम् अन्तकम् च शान्तताम् नयन्तम् शङ्करम् स्मरत ।

---

* कर इति भौवादिकस्य कृञः लोटि मध्यमपुरुषैकवचने हि प्रत्यये प्रयोगश्छन्दसि, यथा—'तेभ्योकरन्नमः' इति । छान्दसोऽपि प्रयोगो भाषायामपि भक्तिविषये प्रयुक्तः 'छान्दसा अपि क्वचिद् भाषायां प्रयुज्यन्ते' इति वचनात् ।

अर्थ—अयि रसिक-शिरोमणि जनो ! आप लोग इस कलिकालके दुःखोंसे बचानेवाले, शरणागतोंकी आपदाओंको नाश करनेवाले, अन्त-समयके हितकारक, अमृतमय चेष्टाओंवाले, हृदयाकाशमें विहार करनेवाले, कामदेवकी चञ्चलता एवं महाक्रोधान्ध यमराजको शान्त करनेवाले भगवान् शङ्करका स्मरण करो ।

इयं विचित्रताविराजिता मया मनोहरा
जितामया मनो हराऽऽहिता नुतिर्धिनोतु ते ।
त्वयि प्रसन्नमानसेऽसमस्तमोहराशये
समस्तमोहराशये करोमि न स्पृहां पुनः ॥ ७९ ॥

अन्वय—हर ! जितामया विचित्रता-विराजिता मनोहरा इयम् मया आहिता नुतिः ते मनः धिनोतु, [अयि विभो !] तमोहराशये त्वयि प्रसन्नमानसे [सति] असमः [अहम्] पुनः समस्तमोहराशये स्पृहाम् न करोमि ।

अर्थ—अयि सकलापत्तिहर्ता हर ! संसार-रूपी असाध्य रोगको हरनेवाली, यमकाऽलङ्कारकी विचित्रतासे विराजित, यह मेरी मनोहर स्तुति आपके मनको प्रसन्न करे । हे विभो ! प्राणियोंकी मोहराशिको हरनेवाले आप दयालुके प्रसन्न हो जानेपर फिर मैं, विशिष्टताको प्राप्त होकर, इस मोह (अज्ञानता)पर कदापि प्रीति नहीं करूँगा ।

कान्ता कान्तारमध्ये सरिदिव सकुलक्ष्माधरायां धरायां
याता या तारतम्यं क्व न विमलमतिप्रेक्षणेन क्षणेन ।
साभासा भारतीयं तनुरिव तरणेरन्धकारेऽन्धकारेः
स्तुत्या स्तुत्या बुधानां मदयतु हृदयं ग्लानितान्तं नितान्तम् ॥८० ॥

अन्वय—कान्तारमध्ये सरित् इव कान्ता या (भारती) विमलमतिप्रेक्षणेन क्षणेन सकुलक्ष्माधरायाम् धरायाम् क्व न तारतम्यम् याता ? [सा] अन्धकारेः स्तुत्या स्तुत्या (स्तवनीया) इयम् (मम) साभासा भारती, अन्धकारे तरणेः तनुः इव, ग्लानितान्तम् बुधानाम् हृदयम् नितान्तम् मदयतु ।

अर्थ—महा अरण्यमें निर्मल सरिता (नदी) के समान सुमनोहर जो (मेरी निर्मल वाणी) विशुद्ध अन्तःकरणवाले सहृदय लोगोंके परीक्षणके द्वारा क्षणमें ही कुलाचल पर्वतोंके सहित समस्त भूमण्डलमें अत्युत्कृष्टता (सुयश) को प्राप्त हुई है, वह भगवान् सदाशिवकी स्तुति करनेके कारण श्लाघनीय मेरी प्रकाशमयी वाणी, महान् अन्धकारमें सूर्यकी प्रकाशमयी मूर्तिके समान, संसार-रूपी मरुस्थलमें भ्रमण करनेसे नितान्त म्लान हुए सहृदय विद्वानोंके हृदयको अतीव आनन्दित करे ।

वर्षावर्षायमाणा सहृदय-शिखिनां संहितानां हितानां
दात्री दात्री तृणानामिव लवनपटुर्दुष्कृतानां कृतानाम् ।
कल्या कल्याणदाने नुतिरियमशुभं तर्जयन्ती जयन्ती
विश्वं विश्वम्भरान्तं प्रसरतु सुरभीनन्दनस्यन्दनस्य ॥ ८१ ॥

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते
भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-कुसुमाञ्जलौ' महायमकं
नाम त्रिंशं स्तोत्रम् ।

अन्वय—सहृदयशिखिनाम् वर्षावर्षायमाणा, संहितानाम् हितानाम् दात्री, दात्री तृणानाम् इव, कृतानाम् दुष्कृतानाम् लवनपटुः, कल्याणदाने कल्या, अशुभम् तर्जयन्ती, विश्वम् जयन्ती इयम् सुरभीनन्दनस्यन्दनस्य नुतिः विश्वम्भरान्तम् प्रसरतु ।

अर्थ—सहृदयरूपी मयूरोंको वर्षा-कालकी वर्षाके समान आनन्दित करनेवाली, सकल कल्याणराशियोंको देनेवाली, तृणोंको कतरनेवाली दात्री (दराती) के समान पूर्वोपार्जित सकल पापराशियोंको कतरनेमें अतीव चतुर, कैवल्य प्रदान करनेमें अतिशय प्रवीण, सांसारिक दुःखोंको तिरस्कृत करती हुई तथा अपने अमोघ प्रभावातिशयसे समस्त विश्वका विजय करती हुई वृषभवाहन भगवान् श्रीशंकरकी यह स्तुति समस्त भूमण्डल में व्याप्त हो !

एकत्रिंशं स्तोत्रम्

[अब ग्रन्थकार भगवद्भक्तिरसाऽमृतके आस्वादसे विनीत भावुकोंको सदुपदेश देनेके लिए 'नतोपदेश' (नम्र लोगोंको उपदेश) नामक एकतीसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए कहते हैं —]

मनः समाधौ परमान्तरङ्गं विधाय निःस्पन्दमनुत्तरङ्गम् ।
बुधा विधातुं भवभीतिभङ्गं विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ १ ॥

अन्वय—बुधाः ! मनः समाधौ परमान्तरङ्गम् अनुत्तरङ्गम् निस्पन्दम् विधाय, भवभीतिभङ्गम् विधातुम् [यूयम्] गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—अयि विद्वज्जनो ! आप लोग मनको समाधिनिष्ठ (तदेकाकार) और चाञ्चल्यादि दोषोंसे रहित, एवं निःस्पन्द अर्थात् सङ्कल्प-विकल्पसे रहित करके भवसागरके भयको भङ्ग करनेके लिए अर्थात् संसार-सागरसे पार होनेके लिए मन, वचन, कर्मसे भगवान् श्री भवानीनाथकी सेवा करो ।

पाश्यावशेनेव महाविहङ्गं वल्गाबलेनेव महातुरङ्गम् ।
निरुध्य योगेन मनःप्लवङ्गं विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ २ ॥

अन्वय—पाश्यावशेन महाविहङ्गम् इव, वल्गाबलेन महातुरङ्गम् इव, योगेन मनःप्लवङ्गम् निरुध्य, गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ अयि भगवत्प्रेमियो ! जिस प्रकार पाश्या-(पक्षियोंके फँसानेके लिए बने हुए बालोंके बन्धन) से बड़े भारी विहङ्ग (पक्षी) को फँसाया जाता है, और वल्गा-(लगाम) के बलसे बलवान् तुरङ्ग-(घोड़े) को रोका जाता है, उसी प्रकार

यम, नियम आदि अष्टाङ्ग योगके द्वारा इस मन-रूपी प्लवङ्ग-(वानर) को रोककर भगवान् भवानीवल्लभ का भजन करो ।

मन्त्रौषधादिक्रियया भुजङ्गं यथा यथा वागुरया कुरङ्गम् ।
मनस्तथाऽऽयम्य धियाऽस्तसङ्गं विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ ३ ॥

अन्वय—यथा [कश्चित्] मन्त्रौषधादिक्रियया भुजङ्गम् [आयच्छति] यथा [च] वागुरया कुरङ्गम् आयच्छति, तथ अस्तसङ्गम् मनः आयम्य, गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—अयि सदसद्विवेकियो ! (यदि आप इस आवागमनके चक्रसे छुटकारा चाहते हों, तो) जैसे कोई मणि-मन्त्र और औषधिके द्वारा भयङ्कर भुजङ्गको पकड़ लेता है, जैसे कोई वागुरा-(मृगबन्धनी) से कुरङ्ग-(मृग) को पकड़ लेता है, वैसे ही आप लोग एकाग्रचित्ततारूपी बुद्धिसे विषयासक्त मनको पकड़कर श्री पार्वतीप्राण-वल्लभकी आराधना करो ।

भित्त्वाऽलिकं सभ्रुकुटीविभङ्गं यस्याऽग्निरुद्यन् रभसादनङ्गम् ।
ददाह तं मोहतमःपतङ्गं विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ ४ ॥

अन्वय—यस्य सभ्रुकुटीविभङ्गम् अलिकम् भित्त्वा उद्यन् अग्निः अनङ्गम् रभसात् ददाह, तम् मोहतमःपतङ्गम् विभुम् गिरिजाभुजङ्गम् भजध्वम् ।

अर्थ—जिस परमेश्वरके सुन्दर भ्रुकुटियोंसे सुशोभित ललाटको भेदन करके (तीसरे नेत्रसे) प्रकट होते हुए अग्निने जगद्विजयी कामदेवको क्षण-मात्रमें ही भस्म कर डाला, उस मोहरूपी महा अन्धकारके नाशक भगवान् भोलेनाथका भजन करो ।

वहन्तमुद्दामभुजङ्गमङ्गं जटाभरं निर्भरनाकगङ्गम् ।
विलोचनं चाग्निशिखापिशङ्गं विभुं भजध्वं गिरिजाभुजङ्गम् ॥ ५ ॥

अन्वय—उद्दामभुजङ्गम् अङ्गम् वहन्तम्, निर्भरनाकगङ्गम् जटाभरम् वहन्तम्, अग्निशिखापिशङ्गम् विलोचनम् च वहन्तम्, गिरिजाभुजङ्गम् विभुम् भजध्वम् ।

अर्थ—महाभयङ्कर फणधर सर्पोंको लिपटाये हुए अङ्गको धारण करनेवाले, मस्तकपर अचल सुर-गङ्गा (मन्दाकिनी) से विराजित जटाजूटको धारण करनेवाले और ललाटमें अग्निज्वालासे पिशङ्ग नेत्रको धारण करनेवाले श्री गिरिजा-भुजङ्गका स्मरण करो ।

भवबन्धबद्धविधुरोद्धरणं फणिमण्डलज्वलदलङ्करणम् ।
व्रजत क्षमाधरदरीशरणं शरणं तुषारकिरणाभरणम् ॥ ६ ॥

अन्वय—[अयि भक्तिरसास्वादज्ञाः विद्वांसः ! यूयम्] भवबन्धबद्धविधुरोद्धरणम् फणिमण्डलज्वलदलङ्करणम् क्षमाधरदरीशरणम् तुषारकिरणाभरणम् शरणम् व्रजत !

अर्थ—अयि भक्तिरसास्वादके जाननेवाले विद्वानों ! आप लोग संसार-रूपी पाशके बन्धनसे व्याकुल हुए संसारी जीवोंका उद्धार करनेवाले, वासुकि आदि सर्पोंके

अलङ्कार-(हार, कङ्कण आदि आभूषण) को धारण करनेवाले और हिमालयकी गुहामें निवास करनेवाले भगवान् चन्द्रमौलिकी शरणमें जाओ।

कृतघस्मरस्मरनिराकरणं कटुकालकूटकवलीकरणम्।
व्रजत प्रपन्नजनताशरणं शरणं तुषारकिरणाभरणम्॥ ७॥

अन्वय—[अयि भावुकाः !] कृतघस्मरस्मरनिराकरणम्, कटुकालकूटकवलीकरणम्, प्रपन्नजनताशरणम्, तुषारकिरणाभरणम् शरणम् व्रजत।

अर्थ—अयि भावुको ! त्रैलोक्यको क्षुब्ध करनेवाले कामदेवका निराकरण करनेवाले, महान् उग्र कालकूट विषका ग्रास करनेवाले और प्रपन्न जनोंको शरण देनेवाले भगवान् श्रीचन्द्रशेखरकी शरण लीजिए।

मरुमेदिनीरचितसंचरणं त्रिदशेन्द्रशेखरसरच्चरणम्।
व्रजत त्रिदुःखहरणस्मरणं शरणं तुषारकिरणाभरणम्॥८॥

अन्वय—मरुमेदिनीरचितसंचरणम्, त्रिदशेन्द्रशेखरसरचरणम्, त्रिदुःखहरणस्मरणम्, तुषारकिरणाभरणम् शरणम् व्रजत।

अर्थ—मरुस्थलकी स्थलीमें स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाले, ब्रह्मा-विष्णु और इन्द्रादि देवोंके मुकुटोंमें अपने चरण-पङ्कजको स्थापित करनेवाले एवं स्मरण-मात्रसे ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों दुःखोंको दूर करनेवाले शशिशेखर प्रभुकी शरण लीजिए।

प्रणतं जनं जितजरामरणं रचयन्तमाप्तभवनिस्तरणम्।
व्रजताऽऽहितत्रिपुरसंहरणं शरणं तुषारकिरणाभरणम्॥ ९॥

अन्वय—[अयि भवभयभीताः अकिंचनाः ! यूयम्] प्रणतम् जनम् जितजरामरणम्, आप्तभवनिस्तरणम् [च] रचयन्तम्, आहितत्रिपुरसंहरणम्, तुषारकिरणाभरणम् शरणम् व्रजत।

अर्थ—अरे ओ संसारसे भयभीत दरिद्र ! आप लोग, शरणागत जनको जन्म, जरा और मरणसे रहित एवं भवसागर पार करनेवाले और दुष्ट त्रिपुरासुरका संहार करनेवाले शरणागतवत्सल सदाशिवकी शरणमें चले जाओ।

अवधूत-मोह-तिमिरावरणं करिकृत्तिकल्पितपरावरणम्।
व्रजत-प्रकल्पितपुरेशरणं शरणं तुषारकिरणाभरणम्॥ १०॥

अन्वय—अवधूतमोहतिमिरावरणम्, करिकृत्तिकल्पितपरावरणम्, प्रकल्पितपुरेशरणम्, तुषारकिरणाभरणम् शरणम् व्रजत।

अर्थ—अयि भावुको ! मोहरूपी अन्धकारके आवरणको दूर करनेवाले, गजचर्मको उत्तम वस्त्रकी तरह धारण करनेवाले, त्रिपुरासुरके साथ संग्राम करनेवाले भगवान् चन्द्रशेखरकी शरणमें पधारिए।

तरुणतमालमलीमसनालं ज्वलनशिखापटलोज्ज्वलभालम् ।
शिरसि लसत्परमेष्ठिकपालं श्रयत विभुं हतकल्मषजालम् ॥ ११ ॥

अन्वय—[अयि सहृदयाः यूयम्] तरुणतमालमलीमसनालम् , ज्वलनशिखापटलोज्ज्वलभालम् , शिरसि लसत्परमेष्ठिकपालम् हतकल्मषजालम् विभुम् श्रयत ।

अर्थ—अयि सहृदयजन ! आप नवीन तमाल-पुष्पके समान नीले नाल (कण्ठ) वाले, अग्निकी ज्वालाओंसे उज्ज्वलित-भालवाले, मस्तक में ब्रह्मकपाल (महाप्रलय के समय कालाग्निरुद्ररूप धारण करके संहारित किये ब्रह्मादि देवोंके मस्तकोंकी माला)-को धारण करनेवाले एवं समस्त पातकोंके जालको नष्टकर देनेवाले प्रभुका आश्रय लीजिए ।

नरमुखकल्पितशेखरमालं नतजनजम्भितमोहतमालम् ।
नयनशिखाशतशातितकालं श्रयत विभुं हतकिल्विषजालम् ॥ १२ ॥

अन्वय—नर*मुखकल्पितशेखरमालम् , नतजनजम्भितमोहतमालम् नयनशिखाशतशातितकालम् , हतकिल्विषजालम् विभुम् श्रयत ।

अर्थ—अयि विवेकी जनो ! मस्तकपर नर-मुण्ड-मालको धारण किये हुए, विनीत जनोंके मोह-तमाल (मोहान्धकार)-को दूर करनेवाले, नेत्रकी अग्निज्वालाओंसे कालको दग्ध करनेवाले एवं शरणागतोंके पापजालको छेदन करनेवाले परमेश्वरकी शरण लीजिए ।

विषमविषाग्निशिखाविकरालं फणिपतिहारमतीव विशालम् ।
गलभुवि बिभ्रतमुग्रसिरालं श्रयत विभुं हतकल्मषजालम् ॥ १३ ॥

अन्वय—विषमविषाग्निशिखाविकरालम् , गलभुवि अतीव विशालम् , फणिपतिहारम् बिभ्रतम् , उग्रसिरालम् , हतकल्मषजालम् विभुम् श्रयत ।

अर्थ—अत्यन्त उग्र विष-रूप अग्निकी ज्वालाओंसे विकराल, कण्ठपर अतीव विशाल नागराजके हारको धारण किये हुए, निज गणाधीश श्रीभृङ्गिरिटिके स्वरूपमें उग्र नाडियोंको धारण करनेवाले एवं पापोंके जालका मूलोच्छेदन करनेवाले परमेश्वरका आश्रय लीजिए ।

विदलयितुं यमृते भवतालं
त्रिभुवनसीमनि कश्चन नाऽलम् ।
तममलमानसवासमरालं
श्रयत विभुं हतकिल्विषजालम् ॥ १४ ॥

---

* नृणातीति नरः (नृ नये) नरा अत्र नेतारो ब्रह्मादयः तेषां महाप्रलयेषु संहारितानां मुखैर्मुण्डैः कल्पिता शेखरमाला येन सः ।

अन्वय—भवतालम् विदलयितुम् त्रिभुवनसीमनि यम् ऋते कश्चन न अलम्, तम् अमलमानसवासमरालम् हतकिल्विषजालम् विभुम् श्रयत।

अर्थ—इस संसाररूपी ताल-वृक्षका मूलोच्छेदन करनेको त्रिभुवनकी सीमामें जिस-(प्रभु) के सिवाय दूसरा कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है, उस निर्मल अन्तःकरण-रूपी मानसरोवरमें निवास करनेवाले हंस एवं समस्त पातकोंके जालको दूर करनेवाले प्रभुकी शरण लीजिए।

कमलपरागपिशङ्गजटालं
जलधि-समर्पण-तर्पितबालम्।
भवभटभङ्गमहाकरवालं
श्रयत विभुं हतकल्मषजालम् ॥ १५ ॥

अन्वय—कमलपरागपिशङ्गजटालम् जलधिसमर्पणतर्पितबालम्, भवभटभङ्गमहाकरवालम्, हतकल्मषजालम् विभुम् श्रयत।

अर्थ—अयि प्रेम-पथिको! आप लोग कमलके केसरके समान पिङ्गल जटाजूट-वाले, क्षीरसागर प्रदान करके बालक (उपमन्यु) को सन्तृप्त करनेवाले, संसार-रूपी वीर-योद्धाके विघातन करनेमें तीक्ष्ण खड्गके समान, एवं पापोंकी राशिको विनष्ट करनेवाले प्रभुका आश्रय लीजिए।

अतिघस्मर-भस्मरजोधवलं
नतलोकसमर्पितबोधबलम्।
ध्वजधामविराजिमहाधवलं
भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम् ॥ १६ ॥

अन्वय—अतिघस्मरभस्मरजोधवलम्, नतलोकसमर्पितबोधबलम्, ध्वजधामविराजिमहाधवलम् अद्रिसुताधवलम् प्रभुम् भजत।

अर्थ—अतीव घस्मर (अर्थात् रूक्ष) भस्मकी रजसे धवल, विनीत जनोंको बोध-बल समर्पित करनेवाले एवं महा धवल[1] (श्वेतवृषभ) से विराजित ध्वजाको धारण करनेवाले श्रीगिरिजा-धवल (पार्वती-प्राणनाथ) का भजन कीजिए।

प्रभया परिभूतदलद्गवलं
गलमञ्जदरत्नशिखाशबलम्।
दधतं विषक्लृप्तमहाकवलं
भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम् ॥ १७ ॥

---

(१) 'धवलक्षुण्णां पदवीं कासारोपि क्षिप्रमन्वेति' इति कविप्रयोगाद्धवलोऽपि वृषवाचकः।

अन्वय—प्रभया परिभूतदलद्गवलम्, अङ्गदरत्नशिखाशबलम् गलम् दधतम्, विषक्लृप्तमहाकवलम् अद्रिसुताधवलम् प्रभुम् भजत।

अर्थ—नील कान्तिके द्वारा गवल (महिषके-शृङ्ग) को विलज्जित करनेवाले, केयूर (अंगद) की तरह धारण किये हुए वासुकि नागकी रत्न-ज्वालाओंसे शबल कण्ठ वाले, और अत्युग्र कालकूटका कहाकवल करनेवाले श्रीगिरिजा-धवलका भजन करो।

शिखरं द्युनदीलहरीतरलं
गलमूलमुपोढमहागरलम्।
दधतं हृदयं च सुधासरलं
भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम् ॥ १८ ॥

अन्वय—द्युनदीलहरीतरलम् शिखरम् दधतम्, उपोढमहागरलम् गलमूलम् दधतम्, सुधासरलम् हृदयम् च दधतम्, अद्रिसुताधवलम् प्रभुम् भजत।

अर्थ—देव-गंगा (मन्दाकिनी)-की लहरोंसे चञ्चल मस्तक धारण करनेवाले, घोर हालाहलसे नील कण्ठको धारण करनेवाले एवं सुधाके समान सरल हृदयको धारण करनेवाले भगवान् श्रीगिरिजापतिकी सेवा करो।

अपनीतकुकर्मकलङ्कमलं
नतलोकवितीर्णमहाकमलम्।
ददतं शुभसिद्धिविपाकमलं
भजत प्रभुमद्रिसुताधवलम् ॥ १९ ॥

अन्वय—[अयि सहृदयाः !] अपनीतकुकर्मकलङ्कमलम्, नतलोकवितीर्णमहाकमलम्, अलम् शुभसिद्धिविपाकम् ददतम् अद्रिसुताधवलम् प्रभुम् भजत।

अर्थ—अयि भक्तिभावुको ! शरणागतोंके कुकर्म-रूप कलङ्कके मलको दूर करनेवाले, विनीत जनोंको अपार सम्पत्ति प्रदान करनेवाले, एवं अणिमादि अष्ट महासिद्धियोंके फलको वितरण करनेवाले भगवान् गिरिजापतिकी आराधना कीजिए।

ददतं वचनं घनहासकलं
नमतां दलयन्तमघं सकलम्।
भजतां च दिशन्तमभीष्टफलं
भजत प्रभुमद्रितसुताधवलम् ॥ २० ॥

अन्वय—घनहासकलम् वचनम् ददतम्, नमताम् सकलम् अघम् दलयन्तम्, भजताम् च अभीष्टफलम् दिशन्तम् प्रभुम् अद्रिसुताधवलम् भजत।

अर्थ—अयि विनीत जनो ! शरणागतोंको सघन हास्यसे सुशोभित अभय वचन देनेवाले, भक्तोंके सकल पातकोंको नष्ट करनेवाले और सेवकोंको मनोभीष्ट वर देनेवाले श्रीगिरिजावल्लभ प्रभुका आराधन किया करो।

अविरतनतिपरसुरवरशिखर-
प्रणिहितमणिगणमसृणितचरणम् ।
सितकरकरभरधवलितमुकुटं
प्रणमत पुरहरमशरणशरणम् ॥ २१ ॥

अन्वय—अविरतनतिपरसुरवरशिखरप्रणिहितमणिगणमसृणितचरणम्, सितकरकरभरधवलितमुकुटम् अशरण-शरणम् पुरहरम्, प्रणमत ।

अर्थ—सदैव स्तुतिमें तत्पर हुए ब्रह्मादि देवोंके शिरो-मुकुटोंपर जड़े हुए मणि-गणोंसे रञ्जित चरणोंवाले, चन्द्रमाकी किरणोंसे स्वच्छ मस्तकवाले और अशरणोंको शरण देनेवाले त्रिपुर-हर श्रीशङ्करका स्मरण करो ।

भवभवपरिभवधुतविधुरधिया-
मधिगतशम-दम-नियमितमनसाम् ।
अभिमतवितरणपरिणतकरुणं
प्रणमत पुरहरमशरणशरणम् ॥ २२ ॥

अन्वय—भवभवपरिभवधुतविधुरधियाम्, अधिगतशमदमनियमितमनसाम् अभिमतवितरणपरिणतकरुणम् अशरणशरणम् पुरहरम् प्रणमत ।

अर्थ—संसारसे उत्पन्न खेदसे खिन्न होनेके कारण व्याकुलित बुद्धिवाले अतएव शान्ति, दान्ति और तितिक्षासे नियमित मनवाले शरणागतोंको यथेष्ट फल वितरण करनेमें परिपूर्ण करुणावाले शरणागत-वत्सल भगवान् त्रिपुरारिकी आराधना कीजिए ।

तनुतृणगणनिभमनसिजशमन-
प्रशमनपरिचितहुतवहमहिम् ।
परहितकृतमतिमतिमृदुहृदयं
प्रणमत पुरहरमशरणशरणम् ॥ २३ ॥

अन्वय—तनुतृणगणनिभमनसिजशमनप्रशमनपरिचितहुतवहमहितम्, परहितकृतमतिम् अतिमृदुहृदयम् अशरणशरणम् पुरहरम् प्रणमत ।

अर्थ—कामदेव और यमराज इन दोनोंको शुष्क तृणके समान दग्ध करदेनेवाली अग्नि (भाल-नेत्राग्नि) से सुशोभित, शरणहीनोंके हितमें सदैव तत्पर एवं अतिशय कोमल (करुणाऽमृतसे आर्द्र) हृदयवाले, अनाथोंके नाथ भगवान् त्रिपुरारिकी उपासना कीजिए ।

दिनकर-हिमकर-हुतवहनयनं
पदकरकचभरधृतसितकिरणम् ।
विघटित-नतजन-घनतम-तमसं
प्रणमत पुरहरमशरणशरणम् ॥ २४ ॥

अन्वय—दिनकरहिमकरहुतवहनयनम्, पदकरकचभरधृतसितकिरणम्, विघटितनतजनघनतमतमसम् अशरणशरम् पुरहरम् प्रणमत।

अर्थ—दिनकर (सूर्य), हिमकर (चन्द्रमा) और हुतवह (अग्नि) को अपने नेत्रोंमें धारण करनेवाले; चरण-कमल, कर-कमल और जटाजूटमें चन्द्रमाको धारण करनेवाले एवं शरणागतोंके गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेवाले अनाथोंके नाथ भगवान् श्री त्रिपुरारिको नमन करो।

अविरलजलभरसुरसरिदुदय-
त्सरसिजभरनिभधृतनरशिरसम्।
भवदवहुतवहविदलनजलदं
प्रणमत पुरहरमशरणशरणम् ॥२५॥

अन्वय—अविरलजलभरसुरसरिदुदयत्सरसिजभरनिभधृतनरशिरसम् भवदवहुतवहविदलनजलदम् अशरणशरणम् पुरहरम् प्रणमत।

अर्थ—महाप्रवाहवती देवगङ्गामें उदय होनेवाले श्वेत कमलोंके तुल्य नरमुण्डोंको धारण करनेवाले, संसार-दावानलको शान्त कर देनेमें मेघके समान, अनाथोंके नाथ भगवान् श्री त्रिपुरारिको प्रणाम किया करिए।

जहत कल्पितकलुषलोचनतिमिरभञ्जनमञ्जनं
त्यजत दुःस्थितहृदयनन्दनमलयचन्दनरञ्जनम्।
भजत निर्जितविषमवैभव-भवमहार्णवमज्जनं
(१)क्षितिधराधिपदुहितृवल्लभचरणपङ्कजपूजनम् ॥२६॥

अन्वय—[अयि बालिशाः जनाः ! यूयम्] कल्पितकलुषलोचनतिमिरभञ्जनमञ्जनम् जहत। दुःस्थितहृदयनन्दनमलयचन्दनरञ्जनम् (अपि) त्यजत। निर्जितविषमवैभवभवमहार्णवमज्जनम् क्षितिधराधिपदुहितृवल्लभचरणपङ्कजपूजनम् भजत।

अर्थ—अरे ओ भोले-भाले अज्ञानियो ! आप लोग, कलुषित नेत्रोंके रोग (अन्धकार) को हटानेवाले (उत्तम सौवीरादि) अञ्जनको दूर कीजिए; और दुःखित-हृदयको आनन्दित करनेवाले सुशीतल मलयागिरि चन्दनके सुगन्धित लेपनको भी छोड़ दीजिए ! किन्तु इस महा विषम भवसागरसे पार करनेवाले नगेन्द्र-कन्याके नाथके चरणपङ्कजका पूजन कीजिए।

सकलकलिमलपटलपन्नगनिगडखण्डनपण्डितं
विशदशशधरशकलशोभितमुकुटमण्डनमण्डितम्।
हृदयमीहितुमभयमुन्मदमदनदुर्नृपदर्पिडतं
भजत दुस्तरदुरितवारिधितर(२)-तरण्डमखण्डितम् ॥२७॥

---

(१) 'क्षितिधरापतिपुत्रिकापतिपादपङ्कजपूजनम्' इत्यपि साधुः पाठः।
(२) 'वरतरण्ड' इत्यपि पाठः।

अन्वय—[अयि मन्दमतयः !] उन्मदमदनदुर्नृपदण्डितम् हृदयम् अभयम् ईहितुम्, सकलकलिमलपटलपन्नगनिगडखण्डनपण्डितम्, विशदशशधरशकलशोभितमुकुटमण्डनमण्डितम्, अखण्डितम् दुस्तरदुरितवारिधितरतरण्डम् भजत।

अर्थ—अयि मन्दमति ! उन्मत्त कामदेव-रूपी दुष्ट नृपसे दण्डित हृदयको निर्भय करनेके लिए लिए आप लोग, कलिकालके मल-पटल (पाप-पुञ्ज) रूपी नागफाँसको खण्डन करनेमें अति प्रवीण, विशद चन्द्रकलासे शोभायमान मुकुटसे मण्डित एवं दुस्तर पातकरूपी महासागरको पार करनेमें अखण्ड नौका-तुल्य भगवान भवानीनाथकी आराधना करो।

[इस प्रकार भावुकोंको सदुपदेश देकर प्रभुसे भी कुछ कहते हुए तीन श्लोकोंद्वारा अब इस स्तोत्रका भी उपसंहार करते हैं—]

जितसुधाकरगिरिसुताकरसरसिजादरलालितं
नतपुरन्दररुचिरशेखरकुसुमकेसररञ्जितम् ।
द्रुहिण-माधव-कुमुदबान्धव-कमलिनीधव-सेवितं
वितर मूर्धनि चरणपङ्कजममृतशीकरशीतलम् ॥२८॥

अन्वय—[अयि भगवन् !] जितसुधाकरगिरिसुताकरसरसिजादरलालितम्, नतपुरन्दररुचिरशेखरकुसुमकेसररञ्जितम्, द्रुहिणमाधवकुमुदबान्धवकमलिनीधवसेवितम् अमृतशीकरशीतलम् चरणपङ्कजम् (मम) मूर्धनि वितर।

अर्थ—अयि नाथ ! चन्द्रमाको विलज्जित कर देनेवाले गिरि-सुताजीके कोमल कर-कमलोंसे लालित, चरणोंमें नम्र हुए देवराज (इन्द्र) के अति मनोहर मस्तकपर गुँथे हुए कल्पद्रुम और परिजातके सुगन्धित कुसुमोंके केसरसे रञ्जित, ब्रह्मा-विष्णु और चन्द्र-सूर्यसे सेवित एवं अमृतके कणोंके समान सुशीतल चरणकमलको मुझ शरणागतके मस्तकपर रख दीजिए।

अवटमज्जनजनिततर्जनवृजिनभञ्जनसाधनं
कृतनमज्जनहृदयरञ्जनचिरनिरञ्जनपूजनम् ।
त्रिपुरमारणदुरितदारणदरनिवारणकारणं
वितर मूर्धनि चरणपङ्कजममृतशीकरशीतलम् ॥२९॥

अन्वय—[अयि विभो !] अवटमज्जनजनितर्जनवृजिनभञ्जनसाधनम्, कृतनमज्जनहृदयरञ्जनचिरनिरञ्जनपूजनम्, त्रिपुरमारणदुरितदारणदरनिवारणकारणम्, अमृतशीकरशीतलम् चरणपङ्कजम् (मम) मूर्धनि वितर।

अर्थ—हे विभो ! कुत्सित कार्य (दुष्कर्म) रूपी गर्तमें गिराकर महान् त्रास दायक पापोंका मूलोच्छेदन करनेवाले, निष्कपट पूजनके द्वारा भक्तजनोंके हृदयको आह्लादित कर देनेवाले, एवं त्रिपुरासुरके मारण और पातकोंके विदारण तथा संसारके भयका निवारण करनेमें अतिशय प्रवीण, अपने अमृतके समान सुशीतल चरण-पङ्कजको मुझ अनाथके मस्तकपर रख दीजिए।

इदमकृत्रिमरसमसंभृतबहुविधौषधसाधनं
स्तुतिरसायनमयमुपायनमनुगृहाण गृहाण मे ।
वरमुदाहर वरमुदा हर परमदाहरुजाहरं
वितर मूर्धनि चरणपङ्कजममृतशीकरशीतलम् ॥३०॥

अन्वय—हर ! असंभृतबहुविधौषधसाधनम् अकृत्रिमरसम् स्तुति-रसायनमयम् इदम् मे उपायनम् गृहाण, अनुगृहाण । परमदाहरुजाहरम् वरम् वरमुदा उदाहर । अमृतशीकरशीतलम् चरणपङ्कजम् (मम) मूर्धनि वितर ।

अर्थ—हे नाथ ! अनेक प्रकारकी औषधियोंके साधन (विना औषधिका रसायन) और स्वाभाविक परमानन्दसे पूर्ण, मुझ शरणागतके स्तुति-रूपी रसायनसे भरे इस उपायन (भेंट) को प्रेमसे ग्रहण कीजिए, मुझपर अनुग्रह कीजिए। भगवन् ! इस संसार-रूप मरुस्थलके भ्रमणसे उत्पन्न हुए दाहकी पीड़ाको हरनेवाला वरदान दीजिए ! और अमृतके समान सुशीतल अपना कोमल चरण-कमल मेरे मस्तकपर रख दीजिए ।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुति-कुसुमाञ्जलौ 'नतोपदेशस्तोत्रं' सम्पूर्णम्

द्वात्रिंशं स्तोत्रम्

ग्रन्थकार अब 'शरणागतोद्धरण' (अर्थात् शरणागतका उद्धार) नामक बत्तीसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

भवमरुभ्रमविषमसंभ्रमसमुदितक्लमविक्लवं
कुलिशकर्कशहृदयदुर्जनकृतपराभवविप्लवम् ।
अतिभयङ्करयमविजकिङ्करविकृतहुङ्कृतिकातरं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ १ ॥

अन्वय—हर ! भवमरुभ्रमविषमसंभ्रमसमुदितक्लमविक्लवम् , कुलिशकर्कशहृदयदुर्जनकृतपराभवविप्लवम् , अतिभयङ्करयमविजकिङ्करविकृतहुङ्कृतिकातरम् , अशरणम् शरणागतम् जगद्धरम् [भवार्णवात्] चतुरम् (शीघ्रम्) उद्धर ।

अर्थ—हे नाथ ! संसार-रूपी मरुस्थलमें भ्रमणसे उत्पन्न तीव्र तापके खेदसे विकल (व्याकुल) हुए, और वज्रके समान कठोर हृदयवाले दुर्जनोंके द्वारा अपमानित किये हुए, फिर ऐसी दशामें भी अतिशय भयंकर यम दूतोंके विकराल हुंकारों (तर्जनों) से कातर किये गये इस अनाथ, शरणागत जगद्धर भट्टको भवसागरसे शीघ्र पार कीजिए ।

कृतनिकेतनमकरकेतनदलितचेतनवेतनं
ललितलोचनवरवधूजनवचनतर्जनभाजनम् ।
गुणलवोद्गतगुरुमदज्वरजनिततीव्ररुजातुरं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ २ ॥

अन्वय—हर ! कृतनिकेतनमकरकेतनदलितचेतनवेतनम्, ललितलोचनवरवधूजनवचनतर्जनभाजनम्, गुणलवोद्गतगुरुमदज्वरजनिततीव्ररुजातुरम्, अशरणम्, शरणागतम् जगद्धरम् चतुरम् उद्धर।

अर्थ—अयि भगवन्! हृदयमें डेरा बसाये हुए निर्दय कामदेवके द्वारा क्षुण्ण चेतनवाले और सुन्दर नयनोंवाली युवतियोंके तिरस्कारका भाजन, एवं सद्गुणोंके लेशमात्रसे उत्पन्न हुए तीव्र मदज्वरकी महान् व्यथासे आतुर, अनाथ शरणागत जगद्धरको इस भवांभोधिसे शीघ्र पार कीजिए।

प्रमुखपेशलविषमवैशसविषयपाशवशीकृतं
प्रकृतिदुर्ग्रहगुरुपरिग्रहनिबिडपीडितविग्रहम् ।
ज्वलदनर्गलभवदवानल-कवलिताकुलचेतसं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ३ ॥

अन्वय—हर ! प्रमुखपेशलविषमवैशसविषयपाशवशीकृतम्, प्रकृतिदुर्ग्रहगुरुपरिग्रह-निबिडपीडितविग्रहम्, ज्वलदनर्गलभवदवानलकवलिताकुलचेतसम् अशरणम् शरणागतम् जगद्धरम् चतुरम् उद्धर।

अर्थ—प्रभो! आरम्भमें सुख देनेवाले (और परिणाममें महान् दुःख देनेवाले) महा हिंसक विषयरूपी नागपाशोंसे पकड़े हुए, महा उग्र स्वभाववाले परिग्रह (परिकर) से अतिशय पीड़ित, एवं संसाररूपी महाघोर दावानलसे ग्रसित चित्त, अनाथ शरणागत जगद्धरका शीघ्र उद्धार कीजिए।

पवनवेल्लितकमलिनीदलतलचलज्जलचञ्चलं
विभवयौवनसुतसुखादिकमितिविवेकविसंस्थुलम् ।
बलवदिन्द्रियकपटतस्करहठविलुण्ठनविह्वलं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ४ ॥

अन्वय—हर ! विभवयौवनसुतसुखादिकम् पवनवेल्लितकमलिनीदलतलचलज्जलचञ्चलम् [भवति], इति विवेकविसंस्थुलम्, बलवदिन्द्रियकपटतस्करहठविलुण्ठनविह्वलम्, अशरणम् शरणागतम् जगद्धरम् [त्वम्] चतुरम् उद्धर।

अर्थ—अयि शरणागतवत्सल! "धनसम्पत्ति, यौवन, पुत्र, सुख आदि यह सभी वैभव वायुके वेगसे कम्पित कमल-पत्रपर हिलते हुए जल-बिन्दुके समान चञ्चल अर्थात् अत्यन्त क्षणभङ्गर है" इस प्रकारके विवेकसे हीन और उसपर भी महा-

बलवान् इन्द्रियरूपी कपट-तस्करों (छिपे हुए दस्युओं) के बलात्कारसे पीडित जगद्धर नामक अनाथ शरणागतका आप शीघ्र उद्धार कीजिए।

समदनन्दनमदनमर्दन दुरिततर्दनलोलुभं
भुवनभावन परमपावन सुदृढभावनमानतम्।
शशिकलाञ्छितमुकुटलाञ्छित विफलवाञ्छितमाकुलं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ५ ॥

अन्वय—समदनन्दनमदनमर्दन ! भुवनभावन ! परमपावन ! शशिकलाञ्छित-मुकुटलाञ्छित ! हर [त्वम्] दुरिततर्दनलोलुभम्, विफलवाञ्छितम्, आकुलम्, सुदृढभावनम्, आनतम् अशरणम् शरणागतम् जगद्धरम् चतुरम् उद्धर।

अर्थ—हे हर ! हे महामदमत्त कामदेवके मर्दन करनेवाले ! हे सकल भुवन-पालक ! अयि परम पावन ! अयि चन्द्रकलासे सुशोभित मुकुटवाले परमेश्वर ! पापोंका तिरस्कार करनेवाले अर्थात् पापोंको दूर करनेकी अभिलाषावाले, विफल-मनोरथ, अतीव व्याकुल, आपके चरणोंमें दृढ़-भावना रखनेवाले, अतीव विनम्र और शरणहीन शरणागत जगद्धरका शीघ्र उद्धार कीजिए।

जगदनुग्रहमहितविग्रह कृतपरिग्रहसद्ग्रहं
त्रिपुरशासन शबलवासनमसदुपासनलालसम्।
घनचमत्कृतिकृतनमस्कृतिमुचितसत्कृतिसस्पृहं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—जगदनुग्रहमहितविग्रह ! त्रिपुरशासन ! हर ! कृतपरिग्रहसद्ग्रहम्, शबल-वासनम् असदुपासनलालसम्, घनचमत्कृतिकृतनमस्कृतिम्, उचितसत्कृतिसस्पृहम्, अशरणम्, शरणागतम् [माम्] जगद्धरम् चतुरम् उद्धर।

अर्थ—हे समस्त जगत्के उपकारसे श्लाघ्य मूर्तिवाले ! हे त्रिपुरारे ! हे आपत्तिहर ! परिकर (कुटुम्बी जनों) में आसक्ति रखनेवाले, कलुषित (मलिन) वासनावाले, असत् (मायिक) प्रपञ्च अथवा दुर्जनोंमें प्रीति करनेवाले, बड़े ही चमत्कारपूर्वक (विलक्षण ढंगसे) आपको नमस्कार करनेवाले एवं योग्य सत्कार (उचित पूजन) की अभिलाषा रखनेवाले, अनाथ शरणागत जगद्धरका आप शीघ्र उद्धार कीजिए।

वरद नन्दय विपदमर्दय किमिति निर्दयतेदृशी
कृतनिवेदनमतुलवेदनमुदितखेदनवापदम्।
दिश यशोधन हृदयशोधन-विमलबोधनदीं दृशं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ७ ॥

अन्वय—वरद ! कृतनिवेदनम् अतुलवेदनम् उदितखेदनवापदम् [माम्] नन्दय,

विपदम् अर्दय, [हे नाथ ! ते] ईदृशी निर्दयता किमिति [भवति ?] यशोधन ! हृदयशोधन-विमलबोधनदीम् दृशम् दिश । हर ! अशरणम् शरणागतम् जगद्धरम् चतुरम् उद्धर ।

अर्थ—हे स्वामिन् ! आपसे अपनी व्यथाको निवेदन करनेवाले, अतीव पीड़ित और खेदरूपी नूतन विपदासे ग्रस्त हुए मुझ दीनको आनन्दित कीजिए । प्रभो, विपत्तिको दूर कीजिए । नाथ, क्यों आप इतने निर्दय हो गये हैं ? हे महाउदार-कीर्तिशाली प्रभो ! मलिन हृदयको विशुद्ध करनेके लिए विमल बोधरूपी नदीके तुल्य अपनी अनुग्रह-दृष्टि अर्पित कीजिए ? हे हर ! अनाथ शरणागत जगद्धरका शीघ्र उद्धार कीजिए ।

अभयमर्पय कपटमल्पय शिरसि कल्पय मे पदं
मुखमुदञ्चय वचनमञ्चय वरद वञ्चय मा नतम् ।
भृशमविश्रमकृतपरिश्रमशतमतिश्रमनिःसहं
चतुरमुद्धर हर जगद्धरमशरणं शरणागतम् ॥ ८ ॥

अन्वय—वरद ! अभयम् अर्पय, कपटम् अल्पय, मे शिरसि पदम् कल्पय, मुखम् उदञ्चय, वचनम् अञ्चय, नतम् मा वञ्चय । भृशम् अविश्रमकृतपरिश्रमशतम् , अतिश्रमनिःसहम् अशरणम् शरणागतम् जगद्धरम् चतुरम् उद्धर ।

अर्थ—हे वरद ! मुझे अभयदान दीजिए । कपटको हटा दीजिए । प्रभो ! अपने चरण-पङ्कजको मेरे शिरपर रख दीजिए और मौनमुद्राको छोड़कर (अभय) वचन सुना दीजिए । नाथ ! विनीत शरणागतको वञ्चित मत कीजिए । अयि विभो ! नितान्त परिश्रमसे खिन्न और अतीव निःसह, अनाथ शरणागत जगद्धरका अब शीघ्र उद्धार कीजिए ।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरक-महाकवि श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ 'शरणागतोद्धरणं' नाम द्वात्रिंशं स्तोत्रम्

त्रयस्त्रिंशं स्तोत्रम्

अब यहाँसे ग्रन्थकार 'कर्णपूर' (कर्णोंका आभूषण) नामक ३३ वें स्तोत्रकी रचना करते हैं—

काञ्चीकाञ्चनकिङ्किणीकलकलः शिञ्जानमञ्जीरजो
झाङ्कारः सकलाङ्गभूषणमणिश्रेणीझणाडम्बरः ।
वाग्देव्याः [1]प्रचलस्खलद्भुजलताक्षेपक्वणत्कङ्कण-
क्वाणश्चङ्क्रमणक्रमे विजयते चन्द्रार्धमौलेः स्तवः ॥ १ ॥

---

(१) 'प्रचलोच्छलत्' इत्यपि पाठः ।

अन्वय—वाग्देव्याः चङ्क्रमणक्रमे काञ्चीकाञ्चनकिङ्किणीकलकलः, शिञ्जानमञ्जीरजः झाङ्कारः, सकलाङ्गभूषणमणिश्रेणीझणाडम्बरः प्रचलस्खलद्भुजलताक्षेपक्वणत्कङ्कणक्वाणः चन्द्रार्धमौलेः स्तवः विजयते !

अर्थ—भगवान् चन्द्रमौलिका स्तोत्र मानो, वाग्देवी (श्रीसरस्वती) के क्रीड़ारम्भ क्रममें उनकी काञ्ची (करधनी) पर गुँथी हुई सुवर्णमय किङ्किणियों (छोटी-छोटी घण्टिकाओं) का कलकल शब्द है। उनके शब्दायमान नूपुरोंका मनोहर झंकार है। उनके समस्त अङ्गोंपर सुशोभित मणिगणोंकी झणझण ध्वनि है। अथवा उनकी चञ्चल भुजालताओंके हिलनेसे शब्दायमान हुए कङ्कणोंका क्वणन (वीणा ध्वनि) है। उसकी जय हो, अर्थात् उसे मैं नमन करता हूँ।

स्वामिन् वाङ्मयदेवता भगवती स्वेच्छाविहारक्रिया-
क्रीडाकाननमाननं भव भवद्भक्तस्य नूनं व्यधात्।
नो चेन्नूतननूतनः प्रतिदिनं हृद्यः समुद्यन्क्रमा-
दस्मिन्नुज्ज्वलवर्णकोमलपदन्यासः कथं लक्ष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! भव ! नूनम्, भगवती वाङ्मयदेवता भवद्भक्तस्य आननम् स्वेच्छाविहारक्रियाक्रीडाकाननम् व्यधात् ? (एवम्) नो चेत् [तर्हि] अस्मिन् प्रतिदिनम् क्रमात् समुद्यन् नूतननूतनः हृद्यः उज्ज्वलवर्णकोमलपदन्यासः कथम् लक्ष्यते ?

अर्थ—हे नाथ ! हे सदाशिव !! भगवती श्री वाग्देवीने आपके सेवकके अर्थात् मेरे मुखको अवश्य ही अपना स्वेच्छा-विहार-स्थल (स्वतन्त्र क्रीड़ा करनेका स्थान) बना लिया है। यदि ऐसा न होता तो फिर इसमें प्रतिदिन क्रमशः अत्युज्ज्वल वर्णों (अक्षरों) वाला नवीन-नवीन सुमनोहर पदन्यास (कविता-क्रम) कैसे देखनेमें आता है ?

स्वैरं कैरविणीकुटुम्बकलिकालङ्कार सारस्वत-
स्फारस्वारसिकप्रसादविशदस्वाधीनवाग्देवताः।
धन्याः सत्कवयस्तव स्तवनिभात्त्वद्भक्तिभाजां विप-
त्तापाऽपाकृतये दिशन्ति शिशिरस्निग्धाः सुधाविप्रुषः ॥३॥

अन्वय—कैरविणीकुटुम्बकलिकालङ्कार ! सारस्वतस्फारस्वारसिकप्रसादविशदस्वाधीनवाग्देवताः धन्याः सत्कवयः, तव स्तवनिभात् त्वद्भक्तिभाजाम् विपत्तापाऽपाकृतये स्वैरम् शिशिरस्निग्धाः सुधाविप्रुषः दिशन्ति।

अर्थ—अयि चन्द्रमुकुट ! अलौकिक पाण्डित्यके प्रवाहकी स्वाभाविकी प्रसन्नताके द्वारा जिन्होंने सरस्वतीको स्वाधीन कर लिया है, ऐसे धन्यात्मा सत्कवि आपकी स्तुतिके व्याजसे मानो, आपके भक्तोंकी विपत्ति और सन्तापको दूर करनेके लिए अतिशय शीतल और सुकोमल अमृत-कणोंको बरसाते हैं।

यस्य त्वन्नमनैः शिरोदशशती सौन्दर्यसन्दर्शनै-
श्चारित्रश्रवणोत्सवैश्च भवतश्चक्षुःसहस्रद्वयम्।

साफल्यं रसनासहस्रयुगलं त्वत्कीर्तनैश्चाश्नुते
त्रैलोक्याद्भुतमूर्तये भगवते शेषाय तस्मै नमः ॥ ४ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] यस्य शिरोदशशती त्वन्नमनैः साफल्यम् अश्नुते, चक्षुः-सहस्रद्वयम् च भवतः सौन्दर्यसन्दर्शनैः चारित्रश्रवणोत्सवैः च साफल्यम् अश्नुते, रसनासहस्र-युगलम् [च] त्वत्कीर्तनैः साफल्यम् अश्नुते, तस्मै त्रैलोक्याद्भुतमूर्तये भगवते शेषाय नमः ।

अर्थ—हे भगवन् ! जिसके एक सहस्र मस्तक आपको प्रणाम करनेसे सफलता (कृतार्थता) को प्राप्त होते हैं, आपके मनोहर सौन्दर्यके दर्शन तथा आपके अद्भुत चरित्रोंके श्रवणसे दो सहस्र नेत्र साफल्यको प्राप्त होते हैं, एवं आपके गुणानुवादसे जिसकी दो सहस्र जिह्वाएँ साफल्यको प्राप्त होती हैं, त्रैलोक्यसे अद्भुत मूर्तिवाले उस भगवान् शेष (नाग-राज) को हमारा प्रणाम है ।

राकेन्दोरपि माधवादपि सतां सङ्गादपि स्वामिनः
सम्मानादपि कामिनीकुचयुगाभोगोपभोगादपि ।
शम्भो शर्व शशाङ्कशेखर शिव श्रीकण्ठ विश्वेश्वर
त्रायस्वेति सतां हरन्ति हृदयं सान्द्रामृतार्द्रा गिरः ॥ ५ ॥

अन्वय—'शंभो ! शर्व ! शशाङ्कशेखर ! शिव ! श्रीकण्ठ ! विश्वेश्वर ! (माम्) त्रायस्व' इति सताम् सान्द्रामृतार्द्राः गिरः, राकेन्दोः, अपि, माधवात् अपि, सताम् सङ्गात् अपि, स्वामिनः सम्मानात् अपि, कामिनीकुचयुगाभोगोपभोगात् अपि (अधिकम्) हृदयम् हरन्ति !

अर्थ—"अयि शम्भो ! हे शर्व ! हे चन्द्रशेखर ! हे शिव ! हे श्रीकण्ठ ! हे विश्वनाथ ! मेरी रक्षा करो !" इस तरहकी सज्जनोंकी सुकोमल अमृतमयी सूक्तियाँ भावुकोंके हृदयको—पूर्ण चन्द्रमासे भी अधिक, वसन्तसे भी अधिक, सत्सङ्गतिसे भी अधिक, स्वामीके सम्मानसे भी अधिक एवं कामिनीके विशाल स्तन-युगलके गाढ़ालिङ्गनसे भी अधिक आकर्षित करती हैं !

श्यामाकामुकमाधवादिविरसं नासीरकस्तूरिका-
काश्मीरादिनिरादरं मलयजालेपावलेपावहम् ।
कुर्वन्ति प्रविधूतनूतनवधूगाढाङ्गसङ्गस्पृहं
चेतः कस्य न शाम्भवस्तवसुधासिक्ताः सतां सूक्तयः ॥ ६ ॥

अन्वय—शांभवस्तवसुधासिक्ताः सताम् सूक्तयः कस्य चेतः श्यामाकामुकमाधवादि-विरसम्, नासीरकस्तूरिकाकाश्मीरादिनिरादरम्, मलयजालेपावलेपावहम्, प्रविधूतनूतनवधूगाढाङ्ग-सङ्गस्पृहम् न कुर्वन्ति ?

अर्थ—शङ्करकी स्तुति-रूपी सुधासे सींची हुई—भावुकों की—सूक्तियाँ किस सचेतनके चित्तको पूर्ण चन्द्रमा, वसन्त आदि स्पृहणीय पदार्थोंमें निःस्पृह, तथा कर्पूर, कस्तूरिका, काश्मीरी केसर आदिमें निरादर एवं सुशीतल मलयागिरिके चन्दनके

लेपसे उदासीन और नववधूके गाढ़ालिङ्गनकी स्पृहासे विरक्त नहीं कर देती हैं ? अर्थात् शिवकी स्तुति-सुधासे सिक्त सदुक्तियाँ सभीके चित्तको सांसारिक पदार्थोंसे निःस्पृह कर देती हैं ।

यस्यैताः स्तवसूक्तयस्तव मुखे खेलन्ति हेलाजित-
ज्वालाजालजटालकालरसनासंरम्भसंभावनाः ।
वल्गन्त्यस्य पुरः पुरन्दरपुरीकान्ताकटाक्षच्छटा-
बाणश्रेणिशरव्य-दिव्य-वपुषः स्वर्वन्दिवृन्दोक्तयः ॥ ७ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] हेलाजितज्वालाजालजटालकालरसनासंरम्भसंभावनाः एताः तव स्तवसूक्तयः यस्य मुखे खेलन्ति, अस्य पुरन्दरपुरीकान्ताकटाक्षच्छटाबाणश्रेणिशरव्यदिव्यवपुषः पुरः स्वर्वन्दिवृन्दोक्तयः वल्गन्ति ।

अर्थ—हे भगवन् ! क्रोध-ज्वालाओंसे जटिल कालकी विकराल जिह्वाके आटोप (वेग) को बिना ही पौरुषार्थके अर्थात् सहजमें ही पराभूत कर देनेवाली ये आपकी स्तुति-रूपी सूक्तियाँ जिस भाग्यवान्के मुखमें खेलती हैं, अर्थात् जिसके मुखसे निकलती हैं, उस पुण्यात्माका दिव्य शरीर इन्द्रनगर (स्वर्ग) की अङ्गनाओंके कटाक्ष-रूपी बाणोंका लक्ष्य बन जाता है, अतएव उस (धन्यात्मा) के आगे समस्त देवाङ्गनाओंकी सुललित मधुर उक्तियाँ गूँजती रहती हैं ?

हर्षोत्कर्षविवर्द्धिनीः परिणतक्षौद्रद्रवस्पर्धिनी-
र्धन्यानां मधुरास्तव स्तवगिरः कर्णे चिरं कुर्वताम् ।
मान्द्यं विन्दति नन्दनेन्दुवदनासन्दिग्धमुग्धाधर-
प्रोन्मीलन्मधुबिन्दुसुन्दरसुधासन्दोहदो दोहदः ॥ ८ ॥

अन्वय—[अयि विभो !] हर्षोत्कर्षविवर्द्धिनीः परिणतक्षौद्रद्रवस्पर्द्धिनीः तव मधुराः स्तवगिरः चिरम् कर्णे कुर्वताम् धन्यानाम् , नन्दनेन्दुवदनासन्दिग्धमुग्धाधरप्रोन्मीलन्मधुबिन्दु-सुन्दरसुधासन्दोहदः दोहदः मान्द्यम् विन्दति ।

अर्थ—हे विभो ! हर्षके उल्लासको बढ़ानेवाली और सुपरिपक्व मधुद्रव (मधुके रस) की स्पर्धा करनेवाली आपकी मधुर स्तुतिकथाओंको चिरकाल तक कर्णोंमें धारण करनेवाले धन्यात्माओंकी—नन्दन वन (स्वर्गोद्यान) में विहरनेवाली चन्द्रमुखी अङ्गनाओंके मुग्ध अधरामृतके पानकी उत्कट अभिलाषा मन्द (फीकी) पड़ जाती है !

सद्विद्याभ्यसनः सभानिवसनः सौधासनाध्यासनः
शुद्धान्नग्रसनः सुधौतवसनः सत्साध्वसध्वंसनः ।
सह्लादोल्लसनः प्रसन्नहसनः संपन्नसद्वासनः
सत्काव्यव्यसनः सुधार्द्ररसनः शंभोः कृतोपासनः ॥ ९ ॥

अन्वय—शम्भोः कृतोपासनः सद्विद्याभ्यसनः, सभानिवसनः, सौधासनाध्यासनः, शुद्धान्नग्रसनः, सुधौतवसनः, सत्साध्वसध्वंसनः, सह्लादोल्लसनः, प्रसन्नहसनः, संपन्नसद्वासनः सत्काव्यवसनः, सुधार्द्ररसनः (भवति)।

अर्थ—अहा ! भगवान् शिवका उपासक सद्विद्याभ्यासी, सभाचतुर, ऊँचे-ऊँचे महलोंमें निवास करनेवाला, विशुद्धान्नभोजी, सुनिर्मल वस्त्रोंवाला, सज्जनोंको निर्भय करनेवाला, हर्षके उल्लाससे निर्भर, प्रसन्न हास्यवाला, सद्वासना-सम्पन्न एवं सच्छास्त्र-व्यसनी होता है।

राकाकान्तरुचः क्षताखिलशुचः पीयूषधारामुचः
स्वान्तक्लान्तिहृतश्चमत्कृतिकृतः सङ्गीतभङ्गीभृतः ।
शंभोरम्बुदनादविह्वलवलद्बालाङ्गनालिङ्गना-
ह्लादस्वादसुखस्पृहामिह जहत्यन्तर्मृशन्तः स्तुतीः ॥१०॥

अन्वय—इह राकाकान्तरुचः, क्षताखिलशुचः पीयूषधारामुचः, स्वान्तक्लान्तिहृतः, चमत्कृतिकृतः, सङ्गीतभङ्गीभृतः शंभोः स्तुतीः अन्तः मृशन्तः [धन्याः] अम्बुदनादविह्वल-वलद्बालाङ्गनालिङ्गनाह्लादस्वादसुखस्पृहाम् जहति।

अर्थ—इस संसारमें चन्द्रमाके समान निर्मल, समस्त शोकोंको दूर करनेवाली, अमृतकी धाराको बरसानेवाली, चित्तकी ग्लानिको हरनेवाली, मनमें अद्भुत चमत्कार प्रकट करनेवाली, अलौकिक सङ्गीतकी छविको धारण करनेवाली, भगवान् सदाशिवकी स्तुतियोंका मनन करनेवाले भाग्यशाली पुरुष मेघ-ध्वनिको सुनकर विकलता (कामके वशमें होनेसे विह्वलता) को प्राप्त हुई बालाङ्गनाओंके गाढ आलिङ्गनसे होनेवाले सुखास्वादकी (भी) रुचिको त्याग देते हैं।

सारासारविदः सतां भयभिदः प्रह्वोपतापच्छिदः
कारुण्यार्द्रहृदः प्रसन्नसुहृदः स्फारीभवत्संविदः ।
त्राताशेषविशः प्रकाशितदिशः कीर्त्या महीनिर्विशः
कर्षन्तीश निशः प्रसक्तसुदृशस्त्वपादपीठस्पृशः ॥११॥

अन्वय—ईश ! सारासारविदः, सताम् भयभिदः, प्रह्वोपतापच्छिदः, कारुण्यार्द्रहृदः, प्रसन्नसुहृदः, स्फारीभवत्संपदः, त्राताशेषविशः, कीर्त्या प्रकाशितदिशः, महीनिर्विशः त्वत्पाद-पीठस्पृशः प्रसक्तसुदृशः निशः कर्षन्ति।

अर्थ—हे ईश ! सार और असारको जाननेवाले, सज्जनोंके भयको दूर करनेवाले, शरणागतके सन्तापको दूर करनेवाले, करुणासे आर्द्र अन्तःकरणवाले, सहृदय जनोंको प्रसन्न करनेवाले, अपार संवित् (परमार्थ ज्ञान) के भण्डार, समस्त प्रजाको पालन करनेवाले, अत्युज्ज्वल कीर्तिद्वारा समस्त दिगन्तोंको प्रकाशित करनेवाले—आपके पाद-पीठको नमन करनेवाले—भक्त जन अपनी मनोहर अङ्गनाओंके सहित सदैव सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत करते हैं।

दुर्धर्षर्द्धिपुषः सहर्षवपुषस्तर्षप्रकर्षप्लुषः
सर्वोत्कर्षजुषः क्षणक्षतरुषः कल्याणपूर्णायुषः ।
उत्सर्पत्सहसः समिद्धमहसः क्षिप्तोर्जितानेहस-
श्चित्तान्तप्रहसः सुखात्तरहसस्त्वद्ध्यानधौतांहसः ॥१२॥

अन्वय—[हे भगवन् !] त्वद्ध्यानधौतांहसः दुर्द्धर्षर्द्धिपुषः, सहर्षवपुषः, तर्षप्रकर्षप्लुषः, सर्वोत्कर्षजुषः, क्षणक्षतरुषः, कल्याणपूर्णायुषः, उत्सर्पत्सहसः, समिद्धमहसः, क्षिप्तोर्जितानेहसः, चित्तान्तप्रहसः, सुखात्तरहसः [भवन्ति] ।

अर्थ—हे भगवन् ! आपके ध्यानसे निष्पाप धन्यात्मा लोग अखण्ड ऋद्धि-सिद्धिवाले, अतीव हर्षसम्पन्न, तृष्णासे रहित, सर्वोत्कर्षशाली, निष्क्रोधी, कल्याणसे पूर्ण आयुवाले, महान् बली, अतीव तेजस्वी, कालको भी भयभीत कर देनेवाले, अतिशय गम्भीर हास्यवाले एवं सुखपूर्वक कालक्षेप करनेवाले होते हैं ।

कालं बालकुरङ्गकेतनकृतोत्तंसप्रशंसामृत-
स्यन्दास्वादविनोदनैर्यदनयन्निस्पन्द-मन्दं मनः ।
तस्यान्यत्र कविक्रमे कमलिनीकिञ्जल्कपानोत्सव-
व्यग्रस्येव मधुव्रतस्य कुसुमेऽन्यस्मिन्कथं स्याद्रतिः ॥१३॥

अन्वय—निःस्पदमन्दम् यत् मनः बालकुरङ्गकेतनकृतोत्तंसप्रशंसामृतस्यन्दास्वादविनोदनैः कालम् अनयत्, तस्य कमलिनीकिञ्जल्कपानोत्सवव्यग्रस्य मधुव्रतस्य अन्यस्मिन् कुसुमे इव, अन्यत्र कविक्रमे रतिः कथम् स्यात् ?

अर्थ—सङ्कल्प-विकल्पोंसे रहित जिसका शान्त मन सदैव बालेन्दु-शेखरकी प्रशंसा (स्तुति)-रूपी सुधास्वादके विनोद (क्रीड़ा) से अपने समयको व्यतीत करता है, उस धन्यात्माकी आसक्ति—कमलके परागके पानोत्सवमें व्यग्र हुए मत्त भ्रमरको अन्य पुष्पोंकी रुचिके समान—(केवल एक प्रभुकी प्रशंसाके सिवाय) अन्य प्राकृत पुरुषोंकी प्रशंसामें कैसे हो सकती है ?

खट्वाङ्गे मुकुटे करे श्रवणयोः प्रायेण यो भूषणं
ब्रह्मोपेन्द्रपुरःसरामरशिरःश्रेणिं बिभर्ति प्रभुः ।
तत्पादाम्बुजभक्तिभावितमतिर्धन्यः शिरोभूषण-
ख्यातिं निश्चितमश्नुते त्रिभुवनप्रष्ठप्रतिष्ठाजुषाम् ॥१४॥

अन्वय—यः प्रभुः, प्रायेण खट्वाङ्गे, मुकुटे, करे, श्रवणयोः [च] ब्रह्मोपेन्द्रपुरःसरामरशिरःश्रेणिम् भूषणम् बिभर्ति, तत्पादाम्बुजभक्तिभावितमतिः धन्यः त्रिभुवनप्रष्ठप्रतिष्ठाजुषाम् शिरोभूषणख्यातिम् निश्चितम् अश्नुते ।

अर्थ—जो परमेश्वर अपने खट्वाङ्गमें, मुकुटमें, हाथमें एवं कानोंमें स्वयं प्रायः ब्रह्मादि देवोंके मुण्डरूपी आभूषण धारण करता है, उस प्रभुके चरणारविन्दोंकी

भक्तिमें निर्भर धन्यात्मा पुरुष निश्चय ही त्रिभुवनमें प्रतिष्ठित यशस्वियोंका शिरोभूषण बन जाता है।

रोहन्मोहमहीरुहोरुपरशुर्दुर्वारमारज्वर-
प्लोषोल्लाघभिषग्विषौघ-विषम-क्लेशोग्रशापावधिः ।
ताम्यल्लोचनचक्रवाकमिथुनब्रध्नोदयश्चन्द्रिका-
पूरश्चित्तचकोरकस्य जयति श्रीकण्ठपूजाविधिः ॥ १५ ॥

अन्वय—रोहन्मोहमहीरुहोरुपरशुः, दुर्वारमारज्वरप्लोषोल्लाघभिषक्, विषौघविषम-क्लेशोग्रशापावधिः, ताम्यल्लोचनचक्रवाकमिथुनब्रध्नोदयः, चित्तचकोरकस्य चन्द्रिकापूरः, श्रीकण्ठपूजाविधिः जयति।

अर्थ—भगवान् नीलकण्ठकी पूजाविधि मोहरूपी महान् वृक्षका कर्तन करनेमें विशाल कुठारके तुल्य है, कामरूपी तीव्र ज्वरके सन्तापको दूर करनेमें निपुण वैद्यके समान है, क्लेशरूपी विषम विषके लिए उग्र शापकी तरह है, ग्लानिको प्राप्त हुए नयनरूपी चक्रवाकोंके लिए सूर्योदयके समान है। एवं चित्तरूपी चकोरके लिए पूर्णचन्द्रकी छटाके समान सर्वोत्कृष्ट है।

अर्चां वीक्ष्य विचित्रचारुरचनां चन्द्रार्धचूडामणे-
र्व्यक्तिं भक्तिचमत्कृतिः कृतधियो यस्यैति चित्ते मुहुः ।
तस्मिन्सस्पृहमर्पिताः सचकिताः साचीकृताः सस्मिताः
साकूताश्च पतन्ति पक्ष्मलदृशां प्रेमामृतार्द्रा दृशः ॥ १६ ॥

अन्वय—चन्द्रार्धचूडामणेः विचित्रचारुरचनाम् अर्चाम् वीक्ष्य, यस्य कृतधियः चित्ते भक्तिचमत्कृतिः मुहुः व्यक्तिम् एति; तस्मिन् पक्ष्मलदृशाम् सस्पृहम् अर्पिताः, सचकिताः, साचीकृताः, सस्मिताः, साकूताः च प्रेमामृतार्द्राः दृशः पतन्ति।

अर्थ—भगवान् चन्द्रमौलिकी विचित्र पूजाके क्रमको देखकर जिस धन्यात्माके अन्तःकरणमें भक्तिका गाढ़ चमत्कार प्रकट होता है, उस भाग्यशालीपर मनोहर अङ्गनाओंके प्रेमभरे और चकित, कुटिल, मन्दहास्य पूर्वक, साभिप्राय तथा प्रेमरूपी अमृतसे आर्द्र तिरछे कटाक्ष गिरने लगते हैं, अर्थात् शिवभक्तके सामने सभी वैभव स्वतः ही समुपस्थित होने लगता है।

स्वामिन् सौमनसं निबध्य वपुषि स्रग्दाम दृग्दामभि-
र्भस्मीभावितमन्मथस्य भवतो भिन्दन्ति भक्तिस्पृशः ।
दोलान्दोलनविह्वलेन्दुवदनादोःकन्दलीचन्दन-
स्यन्दानन्दनिमीलितार्धनयनास्तापव्यथां मान्मथीम् ॥ १७ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! दृग्दामभिः भस्मीभावितमन्मथस्य भवतः भक्तिस्पृशः वपुषि सौमनसम् स्रग्दाम निबध्य, दोलान्दोलन-विह्वलेन्दुवदनादोःकन्दलीचन्दनस्यन्दानन्दनिमीलितार्ध-नयनाः (सन्तः) मान्मथीम् तापव्यथाम् भिन्दन्ति।

अर्थ—प्रभो ! नेत्रकी ज्योतिसे कामदेवको भस्म करनेवाले आप करुणासागरके भक्तगण शरीरपर दिव्य कुसुमोंकी माला धारण करके, झूलेपर झूलती हुई कामविवशा युवतीको भुजलताओंपर अनुलिप्त सुगन्धित चन्दनके सुखावह आमोद (सुगन्ध) के सुखास्वादमें मग्न होते हुए कामके तापकी व्यथाको दूर करते हैं।

स्वामिन् यस्तव पादपङ्कजयुगं भक्त्याऽभ्यषिञ्चन्मुहु:
पूजान्तेषु नमन्नमन्दमुदितानन्दाश्रुलेशोत्करैः ।
तस्याङ्घ्री ललिताक्षिपक्ष्मपटलप्रान्तस्रुतार्णःकण-
श्रेणीभिः स्नपयन्त्यनङ्गविगलन्मानाः कुरङ्गीदृशः ॥ १८ ॥

अन्वय – स्वामिन् ! यः पूजान्तेषु नमन् , भक्त्या तव पादपङ्कजयुगम् अमन्दमुदितानन्दाश्रुलेशोत्करैः मुहुः अभ्यषिञ्चत् , तस्य अङ्घ्री अनङ्गविगलन्मानाः कुरङ्गीदृशः, ललिताक्षिपक्ष्मपटलप्रान्तस्रुतार्णःकणश्रेणीभिः स्नपयन्ति ।

अर्थ – हे नाथ ! जो पुरुष पूजाके अन्तमें भक्तिपूर्वक आपको प्रणाम करता हुआ आपके चरण-पङ्कजयुगलको आनन्दके अश्रु-बिन्दुओंसे सिञ्चित करता है, उस धन्यात्माके चरणोंको युवतियाँ, उत्कट कामके वश, अमानवती होकर अपने सुललित-नयन-पङ्कजोंसे निकलते हुए प्रेमाश्रुओंसे स्नापित करती हैं ।

त्वामक्षामशुभानुभावविभवं भालाग्निकीलावली-
संरम्भादभियोक्तुमक्षमतया साक्षादुपेक्ष्य स्मरः ।
नूनं हन्ति निरन्तरं भव भवत्सेवैकहेवाकिनं
कर्णाभ्यर्णवलत्कटाक्षविशिखश्रेणीभिरेणीदृशाम् ॥ १९ ॥

अन्वय –भव ! भालाग्निकीलावलीसंरम्भात् (हेतोः) साक्षात् अभियोक्तुम् अक्षमतया, अक्षामशुभानुभावविभवम् त्वाम् उपेक्ष्य, स्मरः नूनम् भवत्सेवैकहेवाकिनम् एणीदृशाम् कर्णाभ्यर्णवलत्कटाक्षविशिखश्रेणीभिः निरन्तरम् हन्ति !

अर्थ—हे भगवन् ! आपके भाल-नेत्रकी अग्नि-ज्वालाओंके आटोपको देखकर, साक्षात् आपके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण, आपकी उपेक्षा करके, वह कामदेव (मुझ) आपके अनन्य भक्तको युवति-जनोंके कर्णान्तगामी (कानों तक पहुँचे हुए) कटाक्षरूपी बाणों से मारता है !

आदौ भक्तिवयस्यया परिचयान्नीतोन्मुखत्वं शनै-
रारूढा विषमेषुवर्त्मसु चिरं भ्रान्ताऽथ तान्तेः पदम् ।
दूतीकृत्य नवानवद्यवचसं देवीं पुरो भारती-
मेषा त्वामुपगन्तुमिच्छति पतिं प्रोद्दामकामा मतिः ॥ २० ॥

अन्वय—आदौ भक्तिवयस्यया परिचयात् शनैः उन्मुखत्वम् नीता, (ततः) विषमेषुवर्त्मसु आरूढा, चिरम् भ्रान्ता, अथ तान्तेः पदम् (जाता) एषा प्रोद्दामकामा मतिः, नवानवद्यवचसम् भारतीम् देवीम् पुरः दूतीकृत्य, त्वाम् पतिम् उपगन्तुम् इच्छति ।

अर्थ—भगवन् ! जैसे कोई प्रियतमा (नायिका) पहले अपनी सखीके द्वारा प्रेम-पन्थसे परिचित होकर, शनैः शनैः प्रिय सम्मिलनके लिए उत्कण्ठित होती है, पुनः कामदेवके वशमें होकर चिरकाल तक इतस्ततः भ्रमण करती हुई नितान्त ग्लानि (खेद) को प्राप्त हो जाती है और फिर किसी चतुर सखीको दूती बनाकर गाढ़ अनुरागपूर्वक अपने प्रियतम (नायक) से मिलने जाती है, वैसे ही हे नाथ ! यह मेरी मति पहले विद्याके संस्कारों द्वारा प्रेम-पन्थसे परिचित होकर भक्तिरूपी सखीकी प्रेरणा द्वारा, शनैः शनैः आपके सम्मिलनके लिए उत्कण्ठित हुई, तदनन्तर चिरकाल तक अति विषम मार्गों (विषयों)में भटक-भटक कर अतीव खिन्नताको प्राप्त हो, अब इस नवीन निर्दोष वचनोंवाली वाणी (स्तुति) को दूती बनाकर अत्युत्कट अनुराग-पूर्वक आप (प्रभु)से मिलना चाहती है।

धूमोद्गारगभीरघस्मरवपुर्निर्भर्त्सितार्कप्रभं
स्फूर्जत्फूत्कृतकर्बुरीकृतसितश्रीकान्तदेहद्युति ।
ग्रासीकर्त्तुमुदग्र-विग्रहगलद्वह्निस्फुलिङ्गं विषं
को जग्राह करेऽमरेश्वरनुतस्त्वामन्तरेणाऽपरः ॥ २१ ॥

अन्वय—[हे भगवन् !] धूमोद्गारगभीरघस्मरवपुर्निर्भर्त्सितार्कप्रभम्, स्फूर्जत्फूत्कृत-कर्बुरीकृतसितश्रीकान्तदेहद्युति, उदग्रविग्रहगलद्वह्निस्फुलिङ्गम् विषम् ग्रासीकर्त्तुम् त्वाम् अन्तरेण, अपरः, कः अमरेश्वरनुतः करे जग्राह ?

अर्थ—हे भगवन् ! धूमके महान् उद्गारोंसे भरी हुई अत्यन्त घोर भयङ्कर आकृति द्वारा सूर्यकी भी प्रभाको फीकी कर देनेवाले, अपने तीव्र फूत्कारोंसे भगवान श्रीविष्णुके भी शरीरकी श्वेत[1] कान्तिको कृष्ण कर देनेवाले, एवं प्रचण्ड अग्निकणोंकी ज्वालाओंको बहानेवाले उस लोक-संहारक हालाहल विषको ग्रास करनेके लिए केवल एक आपके सिवाय और किस दयालुने (उसे) अपने हाथमें उठाया ? अर्थात् किसी ने भी नहीं !

क्रोधोद्भ्रान्तकृतान्तकिङ्करकरद्रोणीमुखप्रेङ्खित-
व्यालालिङ्गितकन्धरः प्रकटयन्नाक्रन्ददीनां गिरम् ।
चक्षुर्दिक्षु विदिक्षु च क्षतधृतिर्निक्षिप्य रक्षाक्षमं
काङ्क्षन् कं शरणं वृणोति मरणे त्वामन्तरेणातुरः ॥ २२ ॥

अन्वय—[हे विभो !] क्रोधोद्भ्रान्तकृतान्तकिङ्करकरद्रोणीमुखप्रेङ्खितव्यालालिङ्गित-कन्धरः, आक्रन्ददीनाम् गिरम् प्रकटयन्, दिक्षु विदिक्षु च चक्षुः निक्षिप्य, रक्षाक्षमम् कांक्षन्, क्षतधृतिः आतुरः मरणे त्वाम् अन्तरेण कम् शरणम् वृणोति ?

---

(१) भगवान् श्रीविष्णुका शरीर पहले श्वेत था, फिर समुद्र-मन्थनावसरमें कालकूटके फूत्कारोंसे काला हो गया। ऐसी पौराणिकोंकी गाथा पाई जाती है।

अर्थ—हे नाथ ! क्रोधसे उन्मत्त यमदूतोंके हाथोंपर लपकते हुए भयङ्कर नागपाशसे गलेमें पकड़ा हुआ, अत्यन्त कातर होकर महा-करुणाजनक विलाप करता हुआ, सभी दिशाओंमें चारों ओर दृष्टि डालकर अपनी रक्षामें सक्षम रक्षकको खोजता हुआ धैर्यहीन, आर्त प्राणी मृत्युके समय केवल एक आप दयासागरके सिवाय और किसकी शरण लेता है ?

वर्षन्ती भवदोषपोषपरुषप्लोषप्रमोषक्षमं
पीयूषं [1]विशदांशुभिर्दश दिशत्काशप्रकाशा दिशः ।
कर्षन्ती विषमं तमः प्रमथितालोकस्य लोकस्य गी-
श्चान्द्री मूर्ध्नि कलेव देव भवतो वक्त्रे विधत्तां पदम् ॥ २३ ॥

अन्वय—[हे प्रभो !] विशदांशुभिः भवदोषपोषपरुषप्लोषप्रमोषक्षमम् पीयूषम् वर्षन्ती, प्रमथितालोकस्य लोकस्य विषमं तमः कर्षन्ती, दश दिशः दिशत्काशप्रकाशा गीः भवतः मूर्ध्नि चान्द्री कला इव, भवतः वक्त्रे पदम् विधत्ताम् ।

अर्थ—प्रभो ! जैसे अपनी सुनिर्मल किरणोंद्वारा सांसारिक सन्तापको शान्त करनेवाले अमृतको बरसाती हुई, गाढ़ अन्धकारको दूर करके समस्त दिशाओंको प्रकाशित करती हुई चन्द्रकला आपके मस्तकपर विराजती है; वैसे ही सांसारिक दोषोंसे उत्पन्न हुए सन्तापको शान्त करनेके लिए अमृतकी वर्षा करनेवाली, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारसे अन्ध हुए लोगोंके उस अन्धकारको दूर हटाती हुई, एवं समस्त दिशाओंको प्रकाशित करती हुई आपकी अभय-वाणी आपके मुखारविन्दमें विराजमान हो !

यत्पर्याप्तकृपाविपाकविकसन्माधुर्यधुर्यं तव
स्वान्तं भीमभवोपतापविपदि स्फीताऽवहेलं मयि ।
स्वामिन्नेष विधिर्ममैव विधुरो दूराध्वखिन्नो जन-
स्तीराद्रत्ननिधेर्व्यपैति विफलः स्वैरेव दुष्कर्मभिः ॥ २४ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! यत् पर्याप्तकृपाविपाकविकसन्माधुर्यधुर्यम् तव स्वान्तम्, भीमभवोपतापविपदि मयि स्फीताऽवहेलम् [भवति], एषः मम एव विधिः विधुरः [अस्ति । हि—] दूराध्वखिन्नः जनः रत्ननिधेः तीरात् स्वैः एव दुष्कर्मभिः विफलः व्यपैति ।

अर्थ—अयि प्राणनाथ ! अपार करुणाके परिपाकसे विकसित माधुर्यसे परिपूर्ण भी जो आपका हृदय मुझ सांसारिक सन्तापोंसे तप्त हुए अनाथका इस तरह तिरस्कार कर रहा है, मेरी सुधि नहीं ले रहा है, यह सब महिमा मेरे ही दुर्भाग्यकी है। क्योंकि अभागा दरिद्र पुरुष अत्यन्त दूरसे चलकर श्रान्त होता हुआ रत्नाकर (समुद्र) के तटपर पहुँचकर भी अपने ही दुष्कर्मोंके कारण वहाँसे निराश चला आता है !

---

(१) दशनांशुभिः इत्यपि पाठः ।

यत्सौन्दर्यसमुद्रसान्द्रलहरीहेलाचलच्चामर-
व्यग्राङ्गाङ्गुलिबालमालववधूदृक्पातपात्रं वपुः ।
सेवासन्निधिशंसिसंभ्रमनमत्सामन्तमौलिस्थली-
लीढाङ्घ्रिद्वयमुद्वहन्ति कृतिनः सौभाग्यभाग्यास्पदम् ॥ २५ ॥

अन्वय—कृतिनः यत् सौन्दर्यसमुद्रसान्द्रलहरीहेलाचलच्चामरव्यग्राङ्गाङ्गुलिबालमालववधूदृक्पातपात्रम् सेवासन्निधिशंसिसंभ्रमनमत्सामन्तमौलिस्थलीलीढाङ्घ्रिद्वयम् सौभाग्यभाग्यास्पदम् वपुः उद्वहन्ति ।

अर्थ—अहा, धन्यात्माओंको, जो—सौन्दर्य-सुधा-सिन्धु-की सघन लहरियोंके समान स्वच्छ चँवर डुलानेमें व्यग्र हस्तारविन्दोंवाली सुन्दरी युवतियाँ जिसे गाढ़ अनुरागपूर्वक तिरछे कटाक्षोंसे देखा करती है ऐसा, और सेवाके लिए हाथ जोड़कर सामने खड़े राजा लोग जिसके चरणोंमें अपने मस्तकको आलिङ्गित करते हैं ऐसा—सौभाग्यशाली भव्य शरीर प्राप्त होता है, यह; तथा—

यच्च प्रेङ्खदखर्वगर्वघटितभ्रूभङ्गभीमाकृति-
क्ष्माभृत्पाशमुखावलोकनघनप्रोल्लङ्घनाभीरुभिः ।
उन्मीलन्मृदुशाद्वले तरुतले स्वर्लोककल्लोलिनी-
कूले मूलफलाशनैः शमसुधास्वादार्थिभिः स्थीयते ॥ २६ ॥

अन्वय—यत् च प्रेङ्खदखर्वगर्वघटितभ्रूभङ्गभीमाकृतिक्ष्माभृत्पाशमुखावलोकनघनप्रोल्लङ्घनाभीरुभिः शमसुधास्वादार्थिभिः (सद्भिः) उन्मीलन्मृदुशाद्वले स्वर्लोककल्लोलिनीकूले तरुतले मूलफलाशनैः स्थीयते ।

अर्थ—महागर्वसे भरी टेढ़ी भ्रुकुटियोंसे जिनका स्वरूप ही महाभय-दायक है ऐसे नृपाभिमानी क्षुद्र नृपशुओंके किये अपमानोंसे दूर रहनेवाले, केवल एक शान्तिरूपी सुधाके समास्वादनमें आसक्त, कन्द-मूल-फलाहारी, महात्मा लोग जो कोमल तृणोंसे भरे गङ्गा-तट-पर वृक्षोंके तले ध्यानमें मग्न बैठे रहते हैं यह, एवं—

यच्चास्मिन्भवडम्बरे परिणमन्मन्दानिलान्दोलन-
व्यालोलन्नलिनीदलाञ्चलचलप्रालेयलेशोपमे ।
दुष्कालव्यसनावसन्नजनतासन्तापनिर्वापण-
व्यापारैकसुकर्मनिर्मलफलारम्भैः सुखं जीव्यते ॥२७॥

अन्वय—यच्च परिणमन्मन्दानिलान्दोलनव्यालोलन्नलिनीदलाञ्चलचलप्रालेयलेशोपमे अस्मिन् भवडम्बरे दुष्कालव्यसनावसन्नजनतासन्तापनिर्वापणव्यापारैकसुकर्मनिर्मलफलारम्भैः [सद्भिः] सुखम् जीव्यते ।

अर्थ—जो पवनके वेगसे हिलते हुए कमल-पत्रपर डोलनेवाले जल-बिन्दुके समान चलायमान इस संसारके प्रपञ्चमें दुष्ट कलिकालके दुःखोंसे म्लान हुई जनताके

सन्तापको शान्त करनेवाले अतीव सुनिर्मल सत्कर्माचरणमें परायण सज्जन लोग सुखपूर्वक जीते हैं यह, और—

निःशङ्कं विकलङ्कमङ्कविकसल्लक्ष्मीकटाक्षेक्षितं
यन्मानुष्यमुपेत्य नित्यमुदिता नन्दन्ति दन्तिव्रजैः ।
यच्चान्ते पुरुहूतवारवनितागीतामृताकर्णन-
प्रोन्मीलत्पुलकावकीर्ण-वपुषः स्वर्मध्यमध्यासते ॥२८॥

अन्वय—यत् अङ्कविलसल्लक्ष्मीकटाक्षेक्षितम् विकलङ्कम् मानुष्यम् उपेत्य, नित्यमुदिताः [सन्तः] निःशङ्कम् दन्तिव्रजैः [सह] नन्दन्ति । यच्च पुरुहूतवारवनितागीतामृताकर्णन-प्रोन्मीलत्पुलकावकीर्णवपुषः [सन्तः] अन्ते स्वर्मध्यम् अध्यासते ।

अर्थ—जो भाग्यवान् लोग गोद में खेलती हुई महालक्ष्मीके कटाक्षोंके परम कृपापात्र, निष्कलङ्क मनुष्य-देह को पाकर (अतुलित वैभवके) आनन्दमें मुदित होकर हाथियोंपर निःशङ्क झूमते रहते है यह, और अन्तकालमें जो इन्द्रकी अप्सराओं-के गानाऽमृतके समास्वादनसे पुलकाङ्कितशरीर होते हुए स्वर्गमें डेरा बसाते हैं :—

सोऽयं सर्वजगत्प्रभोरशरणत्राणैकहेवाकिनः
कारुण्यामृतसागरस्य गिरिजाभर्तुः परोऽनुग्रहः ।
कस्तं न स्तुतिभिर्विमर्शरसिकः प्रौढार्पितप्रीतिभिः
प्राप्तुं शर्मदकर्मनिर्मलफलं नन्दत्यमन्दादरः ॥२९॥
(पञ्चभिः कुलकम्)

अन्वय—सः अयम् [सर्वोऽपि] सर्वजगत्प्रभोः अशरणत्राणैकहेवाकिनः कारुण्या-मृतसागरस्य गिरिजाभर्तुः परः अनुग्रहः [अस्ति, तदेवंभूतम्] शर्मदकर्मनिर्मलफलम् तम् प्रौढार्पितप्रीतिभिः स्तुतिभिः प्राप्तुम् कः अमन्दादरः विमर्शरसिकः न नन्दति ?

अर्थ—यह सब महिमा उस एक अखिल ब्रह्माण्डनायक, अनाथ-जन-प्रतिपालक, करुणाऽमृतके महासागर भगवान् श्रीगिरिजापतिके कृपाप्रसादकी ही है। तब फिर, ऐसे सत्कर्मोंके निर्मल फलरूप प्रभुके कृपा-प्रसादको, प्रौढ़ प्रीतिमयी स्तुतियोंद्वारा प्राप्त करने के लिए, भला कौन सहृदय सहर्ष नहीं उत्सुक होगा ?

दृष्टिः पीयूषवृष्टिर्मधुरमधुरसस्यन्दिनी देव वाणी
पाणी त्वत्पादपीठीपरिमलनरजोराजिमैत्रीपवित्रौ ।
चेतः स्वच्छन्दचर्यापरिणतकरुणारामविश्रामधाम
त्वामक्षामप्रसादामृतजलधिमहो भेजुषामेष पाकः ॥३०॥

अन्वय—देव ! पीयूषवृष्टिः दृष्टिः, मधुरमधुरसस्यन्दिनी वाणी, त्वत्पादपीठीपरि-मलनरजोराजिमैत्रीपवित्रौ पाणी, स्वच्छन्दचर्यापरिणतकरुणारामविश्रामधाम चेतः, अहो ! एषः पाकः त्वाम् अक्षामप्रसादामृतजलधिम् भेजुषाम् [भवति] ।

अर्थ—हे स्वयंप्रकाश परमेश्वर ! अमृतको बरसानेवाली दृष्टि, सुमधुर मधुके रसको टपकानेवाली वाणी, आपके सिंहासनकी रजोराजिसे पवित्र हाथ, और स्वतन्त्रचर्यामें प्रवृत्त एवं करुणाके विश्रामका परम धाम चित्त, ये सब विलक्षण फल आप उदार कृपाप्रसादामृतके समुद्रके सेवकोंको प्राप्त होती हैं !

तस्यैकस्याङ्घ्रिपीठं स्फुटमुकुटमणिप्रौढरोचिःप्रतानैः
क्षोणीपालाः शिरोभिः करपुटघटितैरञ्जसा रञ्जयन्ति ।
धत्ते धन्यः स चैकः सितरुचिरुचिरच्छत्रशुभ्रोत्तरीयां
लक्ष्मीमुद्दामरामाकरकमलचलच्चामरोदारहाराम् ॥३१॥

तं वाणीभिर्गृणन्ति श्रवणपुटसुधास्यन्दिनीभिर्मुनीन्द्रा
गीतैर्गायन्ति विद्याधरवरवनितास्तस्य चित्रं चरित्रम् ।
विद्वद्गोष्ठीषु तस्य प्रसरति कृतिनो दानदाक्षिण्यवार्ता
कीर्तिर्जागर्ति तस्य प्रवरकविवचोभङ्गिसन्मङ्गलेषु ॥३२॥

किं वाऽन्यन्नैष पश्यत्यलमनलशिखापिङ्गजिह्वास्फुलिङ्ग-
स्फूर्जद्दंष्ट्राकरालं भ्रुकुटिकुटिलितं भीषणं कालवक्त्रम् ।
स्वामिन्मन्दानिलान्दोलितललितलतानृत्तकान्ते वनान्ते
शान्तेर्ष्यस्त्वामविद्याजडजगदगदंकारमाराधयेद्यः ॥३३॥
(तिलकम्)

अन्वय—क्षोणीपालाः तस्य एकस्य अङ्घ्रिपीठम् स्फुटमुकुटमणिप्रौढरोचिःप्रतानैः शिरोभिः अञ्जसा रञ्जयन्ति । सः च एकः धन्यः सितरुचिरुचिरच्छत्रशुभ्रोत्तरीयाम् उद्दामरामाकर-कमलचलच्चामरोदारहाराम् लक्ष्मीम् धत्ते । मुनीन्द्राः श्रवणपुटसुधास्यन्दिनीभिः वाणीभिः तम् गृणन्ति । विद्याधरवरवनिताः तस्य चित्रम् चरित्रम् गीतैः गायन्ति । विद्वद्गोष्ठीषु तस्य कृतिनः दान-दाक्षिण्यवार्ता प्रसरति । प्रवरकविवचोभङ्गिसन्मङ्गलेषु तस्य कीर्तिः जागर्ति । किम् वा अन्यत् , एषः अलम् अनलशिखापिङ्गजिह्वास्फुलिङ्गस्फूर्जद्दंष्ट्राकरालम् भ्रुकुटिकुटिलितम् भीषणम् कालवक्त्रम् न पश्यति । स्वामिन् ! यः शान्तेर्ष्यः मन्दानिलान्दोलितललितलतानृत्तकान्ते वनान्ते त्वाम् अविद्याजडजगदगदंकारम् आराधयेत् ।

अर्थ—हे नाथ ! उस धन्यात्माकी चरण-पादुकाको राजा लोग बद्धाञ्जलि होकर अपने शिरो-मुकुटोंपर जड़ी हुई अमूल्य मणियोंकी प्रौढ़ कान्तिसे अनुरञ्जित करते हैं । वही धन्यात्मा चन्द्रमाके समान सुमनोहर छत्ररूपी उत्तरीय (वस्त्र) को धारण करनेवाली एवं सुन्दरी युवतियोंके कर-कमलोंमें सुशोभित श्वेत चँवररूपी मुक्ताहारसे विराजित अखण्ड लक्ष्मीका आश्रय हो जाता है । मुनिजन कानोंमें अमृत बरसानेवाली सुमधुर वाणीके द्वारा उसकी स्तुति करते हैं । विद्याधरियाँ (अप्सराएँ) उसके अद्भुत चरित्रोंका गायन करती हैं । विद्वद्गोष्ठीमें उस धन्यात्माके दया, दाक्षिण्य आदि सद्गुणोंकी प्रशंसा होती है । सत्कवियोंके काव्य-मण्डलमें उसका

यशोगान होता है। और अधिक क्या कहें, वह धन्यात्मा अग्नि-शिखाके समान पीली-पीली क्रोध-जटिल जिह्वाओंद्वारा महाभयङ्कर दाँत और विकराल भ्रुकुटियोंवाले कालके मुखको कभी भी नहीं देखने पाता। जो पुरुष कि ईर्ष्यासे रहित होकर मन्द-मन्द पवनसे कम्पित हुई सुललित लताओंके द्वारा सुमनोहर एकान्त वनमें बैठकर अविद्या-(अहङ्कार या माया) के कारण जड़ीभूत जगत्को आरोग्य करनेवाले आप करुणाम्भोधि वैद्यका आराधन करता है।

आकर्णाकृष्टचापः प्रहरति निभृतं निर्निमित्तापकारी
नारीनेत्रान्ततिर्यग्विवलनविशिखश्रेणिभिः पुष्पचापः।
फूत्कारस्फारफालः स्फुरदुरुगरलज्वालजिह्वाजटालः
कालव्यालः करालः कवलयति वपुर्हन्तुकामः क्व यामः ॥३४॥

तस्मादस्माकमाकस्मिकविकसदसत्कर्मपाकोपताप-
व्यापत्तापातुराणामविरलकरुणासिन्धुरापन्नबन्धुः।
भक्तिश्रद्धाप्रबन्धानमदमरशिरःश्रेणिमाणिक्यमाला-
ज्वालालीढाङ्घ्रिपीठः शरणमशरणत्राणशीलस्त्वमेकः ॥३५॥

(युग्मम्)

अन्वय—निर्निमित्तापकारी पुष्पचापः आकर्णाकृष्टचापः [सन्] नारीनेत्रान्ततिर्यग्विवलनविशिखश्रेणिभिः निभृतम् प्रहरति। फूत्कारस्फारफालः स्फुरदुरुगरलज्वालजिह्वाजटालः हन्तुकामः करालः कालव्यालः वपुः कवलयति। [वयम्] क्व यामः ? तस्मात् आकस्मिकविकसदसत्कर्मपाकोपतापव्यापत्तापातुराणाम् अस्माकम् अविरलकरुणासिन्धुः आपन्नबन्धुः भक्तिश्रद्धाप्रबन्धानमदमरशिरःश्रेणिमालिक्यमालाज्वालालीढाङ्घ्रिपीठः अशरणत्राणशीलः एकः त्वम् [एव] शरणम् [भवसि]।

अर्थ—हाय! बिना ही कारण अपकार करनेवाला कामदेव अपने धनुषको कानों तक खींचकर नारियोंके नेत्र-कटाक्ष-रूपी विषम बाणोंसे नितान्त प्रहार करता है, और फूत्कारपूर्वक कूदता हुआ महान् उग्र विष-ज्वालारूपी जिह्वासे विकराल यमका नाग-फाँस शरीरको ही ग्रास कर रहा है। ऐसी दशामें अब हम किसकी शरणमें जावें ? इसलिए हे भगवन्! असत्कर्मोंके आकस्मिक (अकस्मात् ही आ पड़े हुए) दुष्परिणामोंके द्वारा अतीव आतुर हुए हम अनाथोंको केवल एक निष्कारण करुणाके बान्धव, अनाथोंके नाथ, आप सकल देवाधिदेव प्रभुके सिवाय दूसरा और कौन-सा सहारा है ? अर्थात् कोई भी नहीं।

[अब यहाँसे क्रमशः सदाशिवकी पृथिव्यादि अष्ट-मूर्त्तियोंकी महिमाका वर्णन करते हुए प्रभुकी पृथिवीमूर्तिकी स्तुति करते हैं :—]

या निःशेषौषधीनां जनिरजिनि पुनर्न क्वचित्कम्पसम्प-
त्सम्पर्को यत्र यत्र स्थितिरुपरि परिभ्रंशभाजां जनानाम्।

एषा शेषाहिपीठप्रकटितवसतिः संपदां भूतधात्री
पात्रीकुर्वत्यजस्रं जनमनघमघः प्रक्रमस्ते नमस्ते ॥३६॥

अन्वय—या निःशेषौषधीनाम् जनिः, पुनः यत्र क्वचित् (अपि) कम्पसम्पत्संपर्कः न अजनि। यत्र च परिभ्रंशभाजाम् जनानाम् उपरि स्थितिः [भवति], सा शेषाहिपीठप्रकटित-वसतिः एषा भूतधात्री अजस्रम् जनम् सम्पदाम् पात्रीकुर्वती [आदिमूर्तिनिर्माणप्रारम्भे] ते अनघमघः प्रक्रमः [भवति], तस्मै ते नमः [अस्तु]।

अर्थ—जो सम्पूर्ण औषधियोंकी उत्पत्ति-स्थान है, जो कभी किसी जगहपर भी कम्पको नहीं प्राप्त होती, एवं ऊपरसे गिरते हुए लोगोंको जो अपनी गोदमें बैठाकर विश्राम देती है, वह श्रीशेषनागके मस्तकरूपी सिंहासनपर विराजमाना भूतधात्री (पृथिवी) लोगोंको धनधान्यादि समृद्धि प्रदान करती हुई जगन्निर्माणके आरम्भमें जो आपसे प्रकट होती है, उस आप पृथिवी-रूपी प्रभुको हमारा नमस्कार है। तथा—

संसारेऽस्मिन्नसारे परमिह कुशलं कर्म धर्मप्रधानं
धर्मः शर्मप्रदोऽपि प्रभवति सुधियां सिद्धये शुद्धिहेतोः।
शुद्धौ बद्धस्पृहाणां न भवति कृतिनां यद्विनाऽऽपद्विनाश-
स्त्रैलोक्याप्यायकं तज्जलमपि भगवन् विभ्रमस्ते नमस्ते ॥३७॥

अन्वय—अस्मिन् परम् असारे संसारे धर्मप्रधानम् कर्म कुशलम् [भवति], शर्मप्रदः धर्मः अपि इह शुद्धिहेतोः सुधियाम् सिद्धये प्रभवति। शुद्धौ बद्धस्पृहाणाम् कृतिनाम् यद्विना आपद्विनाशः न भवति, भगवन्! त्रैलोक्याप्यायकम् तत् जलम् अपि [यस्य] ते विभ्रमः [अस्ति], तस्मै ते नमः [अस्तु]।

अर्थ—भगवन्! इस असार संसारमें केवल एक धर्मप्रधान कर्म ही कल्याण-कारक है और वह कल्याणकारक धर्म भी बाह्य तथा अन्तःकरणके विशुद्ध होनेसे ही सिद्ध होता है। बाह्य एवं अन्तःकरणकी विशुद्धि भी, जिस (जल) के बिना नहीं सिद्ध हो सकती, वह तीनों लोकोंको तृप्त एवं पवित्र करनेवाला जल भी जिसकी अचेतन (जड़) मूर्ति है, उस जल-मूर्तिधारी आप प्रभुको हमारा नमस्कार है।

यं मुक्त्वा जीवयन्तं जगदगदमदः सन्ततं सन्तमन्त-
र्जन्तूनां शीतभीतिप्रकटितविपदामस्ति न स्वस्तिहेतुः।
गीर्वाणानां हविर्भिर्ग्लपयति विपदं यज्वनामप्यनल्पैः
सङ्कल्पैः कल्पितैर्यः स भवति विभवः पावकस्ते नमस्ते ॥३८॥

अन्वय—[हे विभो!] सन्ततन् जन्तूनाम् अन्तः सन्तम्, अगदम् अदः जगत् जीवयन्तम् यम् मुक्त्वा, शीतिभीतिप्रकटितविपदाम् जन्तूनाम् स्वस्तिहेतुः [अन्यः कोऽपि] न अस्ति। यः गीर्वाणानाम् विपदम् हविर्भिः ग्लपयति। अनल्पैः कल्पितैः सङ्कल्पैः यज्वनाम् अपि विपदम् ग्लपयति, सः पावकः [यस्य] ते विभवः भवति, तस्मै ते नमः [अस्तु]।

अर्थ—प्रभो ! जो (अग्नि) जठराग्नि रूपसे सदैव प्राणियों के अन्दर स्थित होकर उन्हें नीरोग करता हुआ इस जगत्‌को जीवित करता है। जिसके सिवाय शीतातुर प्राणियोंका कल्याणकारी दूसरा कोई भी नहीं है। जो आहुतियोंके द्वारा देवताओंकी अतृप्ति-(क्षुधा) रूप विपत्तिको दूर करता है, अर्थात् उनको तृप्ति पहुँचाता है, और उत्तम-उत्तम मनोरथोंको प्रदान करके यज्ञ करनेवालोंको तृप्त करता है, वह अग्नि जिसका ऐश्वर्यमूर्तिरूप है, उस अग्निमूर्तिरूप आपको हमारा प्रणाम है।

अन्तः सन्तिष्ठमानः स्थगयति जगतां पञ्चतां पञ्चधा यः
सन्धाय स्थायिभावं प्रसरति सततं यत्र तेजस्विचक्रम् ।
यत्र स्थैर्यं बिभर्ति त्रिभुवनभवनं बिभ्रदाधारभूतां
भूतानां मूर्तिमेष प्रथयति विभुतां मारुतस्ते नमस्ते ॥३९॥

अन्वय—[हे भगवन् !] पञ्चधा अन्तः सन्तिष्ठमानः यः जगताम् पञ्चताम् स्थगयति, यत्र सततम् स्थायिभावम् सन्धाय तेजस्विचक्रम् प्रसरति । यत्र (च) त्रिभुवनभवनम् स्थैर्यम् बिभर्ति, [असौ] भूतानाम् आधारभूताम् मूर्तिम् बिभ्रत् एषः मारुतः (यस्य) ते विभुताम् प्रथयति (तस्मै) ते नमः [अस्तु] ।

अर्थ—भगवन् ! जो (पवन) प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान रूपसे प्राणियोंके शरीरमें पञ्चधा स्थित होकर जगत्‌को पञ्चता-(मृत्यु) से बचाता है, जिसमें स्थित होकर समस्त सूर्यादि-ग्रह एवं तारामण्डल चक्रकी तरह घूमते हैं, एवं जिसमें यह त्रिभुवनरूपी भवन स्थित है, वह समस्त प्राणियोंकी आधारभूत मूर्तिको धारण करता हुआ, यह पवन आपकी विभूतिको प्रख्यात करता है। हे प्रभो ! उस आप पवन-मूर्तिको हमारा प्रणाम है।

यत्र ब्रह्माण्डपिण्डः प्रसरति सरलालाबुतुम्बीविडम्बी
स्थैर्यं झाङ्कारि वारि प्रथयति तदपि स्कन्धबन्धेषु यस्य ।
सोऽपि स्फारेण भर्तुं प्रभवति पवनो यस्य नोद्देशलेशं
धाम्नामाधारभूतं भव भवति वपुस्तन्नभस्ते नमस्ते ॥ ४० ॥

अन्वय—भव ! यत्र सरलालाबुतुम्बीविडम्बी ब्रह्माण्डपिण्डः प्रसरति, तत् झाङ्कारि वारि अपि यस्य (पवनस्य) स्कन्धबन्धेषु स्थैर्यम् प्रथयति, सः अपि पवनः स्फारेण यस्य (नभसः) उद्देशलेशम् भर्तुम् न प्रभवति, तत् नभः तव वपुः धाम्नाम् आधारभूतम् भवति, तस्मै ते नमः [अस्तु] ।

अर्थ—अयि स्वामिन् ! जिस (जल) में यह समस्त ब्रह्माण्ड-गोल, अलाबु-तुम्बी (लौकीकी तुम्बी) की तरह विचरता है, वह शब्दायमान जल भी जिस (पवन) के सात स्कन्ध-बन्धोंमें स्थित रहता है, ऐसा वह पवन भी अपने महान् उल्लास (पूर) से जिस (आकाश) के एक अंशको (भी) नहीं भर सकता, उस आपकी—सूर्य-चन्द्रमा आदि समस्त तेजोंको आधार देनेवाली—आकाशमूर्तिको हमारा प्रणाम है।

धातुश्चातुर्यभाजो जननजननविधौ या मुखेभ्यश्चतुर्भ्यः
साकं नाकस्थितानामजनिषत कृतप्रीतयः स्फीतभासाम् ।
तासामासां श्रुतीनां जनयति नियतं कर्मभिः शर्मकृद्भिः
साफल्यं यः स यज्वा वपुरधृत-विपत्संगमस्ते नमस्ते ॥ ४१ ॥

अन्वय—[हे भगवन्] ! जननजननविधौ चातुर्यभाजः धातुः चतुर्भ्यः मुखेभ्यः, नाकस्थितानाम् कृतप्रीतयः याः (श्रुतयः) साकम् अजनिषत, स्फीतभासाम् तासाम् आसाम् श्रुतीनाम् यः (यज्वा) नियतम् शर्मकृद्भिः कर्मभिः साफल्यम् जनयति, सः अधृतविपत्संगमः यज्वा [यस्य] ते वपुः [अस्ति] तस्मै ते नमः [अस्तु] ।

अर्थ—भगवन् ! प्राणियोंकी सृष्टि करनेमें चतुर ब्रह्माजीके चारों मुखारविन्दोंसे देवताओंको प्रसन्न करनेवाली जो श्रुतियाँ साथ ही प्रकट हुई हैं, उन परम तेजोमयी श्रुतियोंको जो (यजमान) कल्याणदायक सत्कर्मों द्वारा सफल (कृतार्थ) करता है, वह समस्त क्लेशसंसर्गसे रहित यजमान-मूर्ति जिस (आप) की एक विभूति है, उस यजमानमूर्तिरूप आप जगत्प्रभुको हमारा नम्र नमन है ।

प्रेङ्खद्भिर्यन्मयूखैर्विदधति धवले निर्जराः प्राणयात्रां
प्रोद्दामानन्दधाम प्रथयति बहुले पारणं यः पितृणाम् ।
कुर्वन्नुर्वन्तरिक्षं प्रशमिततिमिरं यः समस्तौषधीनां
पीनां पुष्णाति भातिं तनुरतनुरसौ चन्द्रमास्ते नमस्ते ॥ ४२ ॥

अन्वय—निर्जराः धवले प्रेङ्खद्भिः यन्मयूखैः प्राणयात्रात् विदधति, यः बहुले प्रोद्दामानन्दधाम पितृणाम् पारणम् प्रथयति, यः उरु अन्तरिक्षम् प्रशमिततिमिरम् कुर्वन् , समस्तौषधीनाम् पीनाम् भातिम् पुष्णाति, असौ चन्द्रमाः [यस्य] ते अतनुः तनुः [अस्ति], तस्मै ते नमः ।

अर्थ—शुक्लपक्षमें देवता लोग जिसकी अमृतमयी किरणोंसे अपनी प्राण-यात्रा करते हैं, और कृष्णपक्षमें जिससे पितरोंको पारणा सिद्ध होती है, एवं जो इस विशाल आकाशको अन्धकारसे रहित करते हुए सकल औषधियोंको परिपक्व करता है, वह चन्द्रमा जिस-(आप) की एक विशालमूर्ति है, उस आप चन्द्रमूर्तिको नमस्कार है ।

प्रातः प्राभञ्जनेऽस्मिन्पथि पथिकमिव ध्वान्तकान्तारताम्य-
ल्लोकालोकार्पणार्थं प्रमुदितमुदितं यं समर्चन्ति सन्तः ।
सायं ध्यायन्ति सन्ध्याविधिमधि सुधियो बाधिताधिं समाधिं
साधिम्नाऽधिष्ठिता यं त्वमिह स मिहिरः सद्गभस्ते नमस्ते ॥ ४३ ॥

अन्वय—अस्मिन् प्राभञ्जने पथि, पथिकम् इव, ध्वान्तकान्तारताम्यल्लोकालोकार्पणार्थम् प्रातः उदितम् , प्रमुदितम् यम् सन्तः समर्चन्ति, साधिम्ना समाधिम् अधिष्ठिताः सुधियः बाधिताधिम् यम् [सूर्यम्] सन्ध्याविधिम् अधि सायम् ध्यायन्ति, सः त्वम् इह मिहिरः [असि] सद्गभस्ते ! ते नमः ।

अर्थ— हे प्रभो ! पथिकोंके समान, अन्धकाररूपी महा अरण्यमें खिन्न हुए लोगोंको, प्रकाश देनेके लिए प्रातःकाल आकाशमें उदय हुए जिस तेजोमय मूर्ति (सूर्य) को पुण्यात्मा लोग अर्चित करते हैं, और महात्मा लोग सायङ्काल में सम्यक् प्रकारसे समाधिमें स्थित होकर, समस्त आधि-व्याधियोंका नाश करनेवाले जिस सूर्यदेवका ध्यान करते हैं, उस आप सूर्यमूर्तिको हमारा प्रणाम है ।

[अब एक श्लोकके द्वारा निष्कल (निर्विकार) अविनाशी परब्रह्म स्वरूप परम शिवकी स्तुति करते हैं—]

दिग्देशाकारकालैरकलितविभवं यन्महद्बीजभूतं
भूतग्रामस्य यस्य त्रिभुवनविषयं वस्तुजातं विवर्त्तः ।
यस्मिन्हेम्नीव नानाभरणपरिकरो लीयते विश्वमन्ते
तद्भिन्नेष्वप्यभिन्नं भव भवसि परं ब्रह्म तस्मै नमस्ते ॥ ४४ ॥

अन्वय—दिग्देशाकारकालैः अकलितविभवम् यत् [परब्रह्म] भूत-ग्रामस्य महद् बीजभूतम् [अस्ति], त्रिभुवनविषयम् वास्तुजातम् यस्य विवर्तः [अस्ति] । हेम्नि नानाभरण-परिकरः इव, यस्मिन् अन्ते विश्वम् लीयते, भव ! [सः त्वम्] भिन्नेषु अपि अभिन्नम् तत् परम् ब्रह्म भवसि, तस्मै ते नमः ।

अर्थ—सर्वव्यापकताके कारण जिसका महान् ऐश्वर्य दिशा, देश, काल और आकारके द्वारा परिच्छिन्न नहीं हो सकता, और जो [1]चतुर्दश प्रकारकी भूत-सृष्टिका मूल कारण है, अर्थात् जैसे अतीव सूक्ष्म बीजसे महान् वृक्षोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही जिस परम कारणसे यह समस्त चराचर ब्रह्माण्ड प्रादुर्भूत होता है, और त्रैलोक्य-सम्बन्धी यावत् वस्तु-मात्र जिसका विवर्त (अतात्विक परिणाम) है । जिस प्रकार नाना प्रकारके कङ्कण, नूपुर आदि सुवर्णके आभूषण सुवर्णमें ही मिल जाते हैं, वैसे ही कल्पान्तके समय जिस (परब्रह्म) में यह समस्त विश्व लय हो जाता है, उस नाना प्रकारके सकल चराचर प्राणियोंमें एकरूपसे स्थित रहनेवाले आप परिपूर्ण, परात्पर, परब्रह्मको हमारा प्रणाम है ।

इत्थं मत्सूक्तयस्ते शशधरशिखर स्फारसारस्वतौघ-
प्रोन्मीलद्वक्त्रशुक्तिस्खलदमलमिलन्मौक्तिकव्यक्तिभाजः ।
तीव्रापत्तापताम्यत्सहृदयहृदयक्लान्तिशान्तिप्रगल्भा
दर्भाग्रस्पर्द्धिबुद्धिग्रथितदृढगुणाः कर्णपूरीभवन्तु ॥ ४५ ॥

अन्वय—शशधरशिखर ! इत्थम् स्फारसारस्वतौघप्रोन्मीलद्वक्त्रशुक्तिस्खलदमलमि-लन्मौक्तिकव्यक्तिभाजः, तीव्रापत्तापताम्यत्सहृदयहृदयक्लान्तिशान्तिप्रगल्भाः दर्भाग्रस्पर्धिबुद्धि-ग्रथितदृढगुणाः मत्सूक्तयः ते कर्णपूरीभवन्तु ।

---

(१) अष्टविकल्पो दैवस्तैर्य्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥
(सांख्यसिद्धान्त)

अर्थ—हे शशाङ्क-शेखर! इस प्रकार, जैसे सरस्वती नदीके प्रवाहसे विकसित हुई शुक्तियों (सीपों) के मुखसे स्खलित हुई और सूक्ष्म तन्तुओंपर गुँथी हुईं, सुमनोहर मुक्ताएँ अपनी सुशीतलताके द्वारा लोगोंके सन्तापको दूर करती हुईं उनके कर्णोंकी आभूषण बन जाती हैं, वैसे ही सरस्वती (वाणी)-के रस-प्रवाहसे विकसित हुए मुखसे स्खलित होनेवाले वचनरूपी मुक्ताओंको प्रकट करनेवालीं, और तीव्र आपत्तिके सन्तापसे म्लान हुए सहृदय-जनोंके हृदयको परम शान्ति देनेवालीं, एवं कुशाग्रबुद्धिके द्वारा गुँथे हुए (ओजःप्रसादादि) दृढ़ गुणोंवालीं, ये मेरी सूक्तियाँ आपके कर्णोंकी आभूषण बन जायँ।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते
भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-कुसुमाञ्जलौ'
कर्णपूरस्तोत्रं त्रयस्त्रिंशम् ।

चतुस्त्रिंशं स्तोत्रम्

अब इसके अनन्तर ग्रन्थकार 'अग्र्यवर्ण' नामक चौंतीसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

सर्पत्कन्दर्पदर्पज्वरभरहरणव्यग्रवर्चःप्रपञ्च-
प्रत्यग्रब्रध्नचन्द्रज्वलदनलवलत्पक्ष्मलत्र्यक्षवक्त्रः ।
शर्वस्तर्षप्रकर्षश्रमशमनमनस्तर्पणस्वर्णवर्ष-
स्वस्थं तन्वन्सहर्षं जनमनघमघः कल्पयत्वक्षयं वः ॥ १ ॥

अन्वय— सर्पत्कन्दर्पदर्पज्वरभरहरणव्यग्रवर्चःप्रपञ्चप्रत्यग्रब्रध्नचन्द्रज्वलदनलवलत्पक्ष्मलत्र्यक्षवक्त्रः, तर्षप्रकर्षश्रमशमनमनस्तर्पणस्वर्णवर्षस्वस्थम् सहर्षम् जनम् तन्वन् , अनघमघः शर्वः वः अक्षयम् कल्पयतु ।

अर्थ—महा उद्धत कन्दर्पके दर्परूपी सन्निपात-ज्वरको शान्त करनेमें व्यग्र तेजवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्निसे उज्ज्वलित पलक और नेत्रोंवाला, महामहिमाशाली वह भगवान् शम्भु अत्यन्त तृष्णाके वेगसे उत्पन्न हुए खेदको शान्त करनेवाले परम आनन्दरूपी सुवर्ण-वृष्टिके द्वारा भावुकोंको अतिशय हर्षित करते हुए आपको (हम लोगों को) अक्षय धैर्य (स्थिरता) प्रदान करे।

यद्वद्वन्द्यं प्रसन्नं लसदसमरसस्पन्दसन्दर्भगर्भं
मङ्गल्यं नर्मनद्धं तव वचनमदः शश्यमस्यत्कलङ्कम् ।
तद्वद्भर्गस्य वर्यं शशधरशकलं द्यत्ववद्यं कपर्द-
न्यस्तं वक्त्रं प्रशस्तं प्रबलतमतमःखण्डनं मण्डनं वः ॥ २ ॥

अन्वय—[हे भावुकाः !] प्रसन्नम्, लसदसमरसस्पन्दसन्दर्भगर्भम्, मङ्गल्यम् नर्मनद्धम् शस्यम्, कलङ्कम् अस्यत्, अदः नववचनम् यद्वत् वन्द्यम् [भवति], तद्वत् कपर्दन्यस्तम् प्रशस्तम् प्रबलतमतमःखण्डनम् भर्गस्य वर्यम् मण्डनम् वक्रम् शशधरशकलम् वः अवद्यम् द्यतु ।

अर्थ—जिस प्रकार प्रसाद-मधुर, अलौकिक अमृत-रससे गर्भित, मङ्गलदायक, प्रशंसनीय और त्रिविध पापोंको दूर करनेवाला भगवान् शिवका यह स्तुति-वाक्य सर्वत्र वन्द्यमान है, वैसे ही उनके जटाजूटपर धारण किया हुआ, अति मनोहर और तीव्र अन्धकारको नष्ट करनेवाला भगवान् शङ्करका वक्र चन्द्र-खण्डरूप श्रेष्ठ आभूषण आप लोगोंके समस्त पातकोंको दूर करे ।

षट्चक्रस्थः षडध्वप्रसरसरभसः सर्गबन्धप्रगल्भः
प्रत्यग्रप्रह्वनव्यस्तवपठनपरब्रह्मसच्चक्रशक्रः ।
दक्षक्रत्वन्तकत्वं दधदधममदध्वंसलक्ष्यप्रशंसः
संसर्गध्वस्तपङ्को गणगणमचलं कल्पयन् हन्त्वशं वः ॥ ३ ॥

अन्वय—षट्चक्रस्थः षडध्वप्रसरसरभसः सर्गबन्धप्रगल्भः प्रत्यग्रप्रह्वनव्यस्तवपठन-परब्रह्मसच्चक्रशक्रः दक्षक्रत्वन्तकत्वम् दधत्, अधममदध्वंसलक्ष्यप्रशंसः, संसर्गध्वस्तपङ्कः गणगणम् अचलम् कल्पयन् भर्गः, वः अशम् हन्तु ।

अर्थ—शरीरान्तर्वर्ती (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय, भ्रूमध्य, और ब्रह्मरन्ध्र इन) षट्चक्रोंमें निवास करनेवाले, और वाचक (वर्ण, मन्त्र, पद) एवं वाच्य-(कला, तत्व, भुवन) स्वरूप षट्मार्गोंके प्रचारमें उत्कण्ठित, सामने हाथ जोड़कर स्तुति-पाठमें तत्पर हुये ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादि देवोंके वन्दनीय, दक्षप्रजापतिके यज्ञमृगको विध्वंस करनेवाले, अन्धकासुर, त्रिपुरासुर प्रभृति दुष्ट पामरोंके मदका विध्वंस करनेवाले, अपने चरणारविन्दकी रजके स्पर्शसे शरणागतों-के कलङ्कपङ्कको दूर करनेवाले एवं नन्दी, महाकाल आदि गणोंके गणको अचल बनानेवाले भगवान् शङ्कर हमारे समस्त अकल्याणों-(अशुभों) को दूर करें ।

वक्षःसद्मस्थपद्मं करकमलतलप्रज्ज्वलच्छङ्खचक्रं
कंसघ्नं सर्पतल्पं खगवरवहनं नन्दयत्यर्धगं यः ।
धर्मं बध्नन् ध्वजस्थं करगतकलशं वर्ष्म यश्च व्रतस्थं
शंसन्तं संस्मरन्तं नतमनवरतं सोऽव्ययः स्यत्वघं वः ॥ ४ ॥

अन्वय—यः वक्षःसद्मस्थपद्मम् करकमलतलप्रज्ज्वलच्छङ्खचक्रम् कंसघ्नम् सर्पतल्पम् खगवरवहनम् अर्धगम्[1] नन्दयति । यः च ध्वजस्थम् धर्मम् बध्नन्, करगतकलशम् वर्ष्म बध्नन्, शंसन्तम् संस्मरन्तम् व्रतस्थम् नतम् अनवरतम् नन्दयति, सः अव्ययः वः अघम् स्यतु ।

---

१. हरिहरमूर्तेर्दक्षिणार्धगम् ।

६०

अर्थ—जो वक्षःस्थल-रूपी मन्दिरमें लक्ष्मीको धारण करनेवाले तथा कर-कमलोंमें उज्ज्वल पाञ्चजन्य शङ्ख एवं सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाले, कंसारि, शेष-शायी, गरुड़वाहन भगवान् श्रीविष्णुको अपने हरिहररूपके दक्षिण अर्धभागमें धारण करके आनन्दित करता है, और जो अपनी ध्वजामें धर्म (वृषभ), हाथमें पीयूष-कलशको धारण करता हुआ अपना स्मरण और कीर्तन करनेवाले विनीत भक्त-को निरन्तर आनन्दित करता है, वह अव्यय अविनाशी परमेश्वर आपके पापों-का नाश करे।

संरक्षन् भक्तवर्गं यमभटभयतः सभ्यमभ्यर्णलभ्यं
धन्यंमन्यं वदन्यं प्रणयपरवशं पर्षदग्र्यव्यवस्थम्।
वर्षत्वच्छिन्नचञ्चद्गरगवलगलः कस्थरङ्गत्तरङ्ग-
स्वर्गङ्गः शश्वदङ्कस्थलगतनगजस्त्र्यम्बकः सम्पदं वः॥ ५॥

अन्वय—सभ्यम् अभ्यर्णलभ्यम् धन्यंमन्यम् वदन्यम् प्रणयपरवशम् पर्षदग्र्यव्यवस्थम् भक्तवर्गम् यमभटभयतः संरक्षन्, अच्छिन्नचञ्चद्गरगवल-गलः कस्थरङ्गत्तरङ्गस्वर्गङ्गः शश्वदङ्कस्थलगतनगजः त्र्यम्बकः वः सम्पदम् वर्षतु।

अर्थ—सभ्य, सेवामें समुपस्थित, धन्यात्मा, उदार-दानी, अतिशय-प्रेम करनेवाले और सभ्यजनों के अग्रणी भक्तवर्गको यमदूतोंके भयसे बचाता हुआ एवं उग्र कालकूटके वेगसे श्यामलकण्ठवाला, मस्तकपर दिव्य तरंगोंवाली मन्दाकिनी-से सुशोभित, (अर्धनारीश्वररूप धारण करके) श्रीगिरिजाको सदैव अपने अर्धभागमें धारणकरनेवाला वह त्र्यम्बक (त्रिनेत्रधारी) शिव आपको सकल सम्पदा प्रदान करे।

अम्भःकम्प्रं कटप्रं सबहलगरलं पन्नगं कण्ठलग्नं
ग्रथ्नन् मह्यम्नभस्वत्खरकरदहनस्वर्क्षपत्यम्बरत्वम्।
स्कन्धस्थं चर्म भर्मप्रभमलकचयं चन्दनत्वं प्रपन्नं
प्रत्यङ्गं भस्म सत्तच्छददलधवलं स्यत्वजः कल्मषं वः॥ ६॥

अन्वय—अम्भःकम्प्रम् कटप्रम् ग्रथ्नन्, सबहलगरलम् कण्ठलग्नम् पन्नगम् ग्रथ्नन्, मह्यम्नभस्वत्खरकरदहनस्वर्क्षपत्यम्बरत्वम् ग्रथ्नन् स्कन्धस्थम् चर्म ग्रथ्नन्, भर्मप्रभम् अलकचयम् ग्रथ्नन्, चन्दनत्वम् प्रपन्नम् सत्तच्छददलधवलम् भस्म प्रत्यङ्गम् ग्रथ्नन् [सः] अजः वः कल्मषम् स्यतु।

अर्थ—(मस्तकपर) मन्दाकिनीके वेगसे कम्पित जटाजूटको धारण करता हुआ, कण्ठपर महाविषधर सर्पको धारण करता हुआ तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आत्मा (यजमान), चन्द्रमा और सूर्यमूर्त्तिको धारण करता हुआ, कन्धेपर गजचर्मको धारण करता हुआ, शिरमें सुवर्णके समान पिङ्गल केशोंको धारण

करता हुआ, समस्त अङ्गोंपर सप्तपर्ण-(वृक्ष) के पर्ण-(पत्र) के समान सुन्दर स्वच्छ विभूतिको रमाता हुआ वह अनादि, अज परमेश्वर आपके पापोंको क्षीण करे।

सद्यः संन्यस्तगर्वग्रहमहतमहस्त्यक्तसङ्गप्रसङ्गं
सत्त्वस्थं लब्धतत्त्वं मलशबलगलत्सर्वसम्बन्धबन्धम् ।
यत्सम्पर्कप्रयत्नक्षममलयदयं तथ्यपथ्यप्रसक्तं
यच्छत्वच्छं मनस्तत्स्मरहरचरणद्वन्द्वनम्रस्य शं वः ॥ ७ ॥

अन्वय—यत् सद्यः संन्यस्तगर्वग्रहम् अहतमहः त्यक्तसङ्गप्रसङ्गम् सत्वस्थम् लब्धतत्त्वम् मलशबलगलत्सर्वसम्बन्धबन्धम् सम्पर्कप्रयत्नक्षमम् अलयदयम् तथ्यपथ्यप्रसक्तम्, तत् स्मरहरचरणद्वन्द्वनम्रस्य अच्छम् मनः वः शम् यच्छतु ।

अर्थ—तत्काल (स्मरण करते ही) गर्वके व्यसनको दूर करदेनेवाला, अखण्ड तेजसे पूर्ण, बाह्यविषयोंकी आसक्तिसे रहित, सत्वगुणके उद्रेकसे परिपूर्ण, परमार्थ तत्वको प्राप्त हुआ, सम्पूर्ण मलोंके संसर्गसे शून्य, केवल शिवभक्तिरूपी अमृतरसके समास्वादनके लिये प्रयत्न करनेवाला, उदारकरुणाशाली और सत्यसङ्कल्पोंवाला वह श्रीशिवके भक्तका स्वच्छ मन आप लोगोंका कल्याण करे !

सत्यं नश्यत्यवश्यं घनमघपटलं यत्पदस्पर्शबद्ध-
श्रद्धस्य स्पष्टकष्टप्रशमनमनसः कस्य न व्यक्तकल्कम् ।
तस्य व्यस्यत्वशं वः सितकरशरणं मस्तकं ध्वस्तकम्पं
सम्पत्सम्पर्करम्यप्रभमभयकरस्यर्षभस्यन्दनस्य ॥ ८ ॥

अन्वय- स्पष्टकष्टप्रशमनमनसः यत्पदस्पर्शबद्धश्रद्धस्य कस्य व्यक्तकल्कम् घनम् अघपटलम् सत्यम् अवश्यम् न नश्यति ? तस्य अभयकरस्य ऋषभस्यन्दनस्य सितकरशरणम् सम्पत्सम्पर्करम्यप्रभम् ध्वस्तकम्पम् मस्तकम् वः अशम् व्यस्यतु ।

अर्थ—जिस दयालु प्रभुके पदारविन्दके स्पर्शके लिए उत्सुक हुए शरणागतोंके महान् कष्टोंको दूर करनेमें उत्कण्ठित भावुकोंका पाप-पटल अवश्य ही नष्ट हो जाता है, उस शरणागतोंके अभयदाता भगवान् ऋषभध्वजका चन्द्रकिरणोंसे उज्ज्वल, दिव्य शोभासे रमणीय, एवं भक्तजनोंके भयको दूर करनेवाला मस्तक आपके अमङ्गल-का नाश करे।

अत्यन्तस्वच्छमन्तःकरणमशरणप्रत्तरक्षं समक्षं
व्यञ्जन् भञ्जन्नजस्रं नयनतवदनस्तम्भसंरम्भदम्भम् ।
सर्वज्ञः सत्वसङ्कल्पमकरणचणं जन्म कर्मप्रबन्धं
मथ्नन्नत्यर्थमर्थं क्षतसकलमलं वर्धयत्वव्ययं वः ॥ ९ ॥

अन्वय—अशरणप्रत्तरक्षम् अत्यन्तस्वच्छम् अन्तःकरणम् समक्षम् [एव] व्यञ्जन् ;

अजस्रम् नयनतवदनस्तम्भसंरम्भदम्भम् भञ्जन्, सत्वसङ्घक्लमकरणचणम् कर्मप्रबन्धम् [भविनाम्] जन्म अत्यर्थम् मथ्नन्, सर्वज्ञः क्षतसकलमलम् अव्ययम् अर्थम् वः वर्धयतु ।

अर्थ—अनाथ शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले अत्यन्त स्वच्छ अन्तःकरणको सामने प्रकट करता हुआ, विनीतजनोंके मुखकी मौन-मुद्राको भङ्ग करता हुआ अर्थात् शरणागतोंको यथेष्ट वर देकर अतीव हर्षित करता हुआ एवं शुभाशुभ कर्मोंके बन्धनसे जीवोंको कष्ट देनेवाली जन्म-परम्पराको जड़से ही मिटाता हुआ, यानी जीवोंकी पुनरावृत्तिको मिटाता हुआ वह सर्वज्ञ परमेश्वर आप लोगोंके सकल मलोंको दूर करनेवाले अखण्ड परमार्थकी अभिवृद्धि करे ।

गल्वर्कप्रस्थपस्त्यं धरमथमलयं मन्दरं सह्यमन्त-
र्नन्दद्गन्धर्वयक्षं सकनककटकं कल्पतर्वन्तरङ्गम् ।
भद्रं सङ्क्रन्दनस्य प्रहसनसदनं नन्दनं स्वर्गरङ्गं
गच्छन्स्वच्छन्दचर्यः परबलदलनस्तर्पयत्वन्वहं वः ॥ १० ॥

अन्वय—गल्वर्कप्रस्थपस्त्यम् धरम् गच्छन्, अथ मलयम्, मन्दरम्, अन्तर्नन्दद्गन्धर्व-यक्षम् सकनककटकम् कल्पतर्वन्तरङ्गम् सह्यम् गच्छन्, [पुनः] सङ्क्रन्दनस्य भद्रम् प्रहसन-सदनम् स्वर्गरङ्गम् नन्दनम् गच्छन्, परबलदलनः [असौ] स्वच्छन्दचर्यः अन्वहम् वः तर्पयतु ।

अर्थ—(कभी) स्फटिकमय शिखरोंवाले कैलाश पर्वतके भव्यभवनको जाता हुआ, (कभी) मलयाचल और मन्दराचल पर्वतको जाता हुआ, (कभी) जिसके अन्दर यक्ष, गन्धर्व-गण नृत्य करते हैं, जिसका मध्यभाग काञ्चनमय है एवं जिसके मध्यमें मन्दार आदि पाँच प्रकारके कल्पवृक्ष सुशोभित हैं, एतादृश सह्यपर्वतको जाता हुआ, पुनः देवराज इन्द्रके अतिरमणीय स्वर्गरूपी लीलागृह-(क्रीडाभवन) के नन्दनवनरूपी रङ्गभूमिमें जाता हुआ, वह दुष्ट दैत्योंके बलको मथन करनेवाला, स्वतन्त्रचर्यामें तत्पर, स्वेच्छाविहारी प्रभु आपको प्रतिदिन (परम आनन्दरूपी अमृतके रससे) तृप्त करे ।

पद्मस्थं पद्महस्तं गजवरवदनं नन्दनं स्कन्दसंज्ञं
पर्जन्यं हंसमब्जं दशशतनयनं हव्यभक्षं सदण्डम् ।
रक्षःप्रख्यं जलस्थप्रथमथ पवनं मर्त्यपत्त्रं मखघ्नं
संपश्यत्यत्यजन्तं चरणतलमलं यः स कर्षत्वघं वः ॥ ११ ॥

अन्वय—यः अलम् चरणतलम् अत्यजन्तम्*, पद्मस्थम्[१], पद्महस्तम्, गजवरवदनम्, स्कन्दसंज्ञम् नन्दनम्, पर्जन्यम् हंसम्[२], अब्जम्[३] दशशतनयनम् हव्यभक्षम्, सदण्डम्[४] रक्षःप्रख्यम्[५] जलस्थप्रथम्[६] अथ पवनम् मर्त्यपत्त्रम्[७] मखघ्नम्[८] च संपश्यति[९], सः वः अघम् कर्षतु ।

---

* अत्र अलम् चरणतलम् अत्यजन्तम्, इति सर्वत्र सम्बन्धः ।

१—ब्रह्माणम् । २—सूर्यम् । ३—चन्द्रमसम् । ४—यमम् । ५—निर्ऋतिम् । ६—वरुणम् । ७—कुबेरम् । ८—ईशानम् । ९—सम्यक् समदृष्ट्या च पश्यति ।

अर्थ—जो परमेश्वर अपने चरणतलोंका अनन्य शरण लिए हुये ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, स्वामी कार्तिकेय, मेघ, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान (रुद्र), इन सबको सम्यक्-प्रकार समदृष्टि-(स्नेहभरी दृष्टि) से देखता है, वह महान् दयालु समद्रष्टा प्रभु आपके दुष्कर्म-जन्य दुरितोंको दूर करे।

अव्यक्तं यः समग्रं जगदगनगरं व्यञ्जयत्यब्जजः स-
न्यः संरक्षत्यनन्तः स्मरयमदमनः संहरत्यक्रमं यः।
स त्र्यक्षस्तन्त्रमन्त्रप्रणयनसफलग्रन्थकर्मण्यखर्व-
ज्ञत्वः सद्गम्यवर्त्मप्रकटनपरमः स्पर्शयत्वद्वयं वः ॥ १२ ॥

अन्वय—यः अब्जजः [सन्] अव्यक्तम् समग्रम् अगनगरम् जगत् व्यञ्जयति, यः अनन्तः [सन्] समग्रम् जगत् संरक्षति। यः स्मरयमदमनः [सन्] समग्रम् जगत् अक्रमम् संहरति। सः तन्त्रमन्त्रप्रणयनसफलग्रन्थकर्मणि अखर्वज्ञत्वः सद्गम्यवर्त्मप्रकटनपरमः त्र्यक्षः वः अद्वयम् स्पर्शयतु।

अर्थ—जो परमेश्वर (रजोगुणके प्राधान्यसे) ब्रह्मारूप होकर अव्यक्त जगन्नगरको व्यक्त करता है, अर्थात् उसे रचता है, और (सत्वगुणकी उत्कर्षतासे) विष्णुरूप होकर समग्र जगत्की रक्षा करता है। एवं (तमोगुणके बाहुल्यसे) श्री रुद्ररूप होता हुआ फिर समस्त जगत्का एक-साथ ही संहार करता है, वह सकल निगम, शास्त्रोंका निर्माता और सन्मार्गका उपदेष्टा, त्रिनेत्रधारी भगवान् सदाशिव आपको अद्वैत-भावना, अर्थात् एक ही परमात्मा सकल चराचररूपमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, इस प्रकारका अभेद ज्ञान, प्रदान करे।

द्रष्टव्यं सम्यगर्थप्रवचनपरमं शर्मदं पद्यबद्धं
प्रष्ठप्रज्ञप्रशस्यं नमदमरवरः शङ्करः सङ्करघ्नः।
वर्षन्तं भग्नघर्मं प्रमदमयपयः सत्यसङ्कल्पजल्प-
श्रव्यं भव्यं वसव्यं नवमवगमयत्वग्र्यवर्णस्तवं वः ॥ १३ ॥

अन्वय—नमदमरवरः सङ्करघ्नः शङ्करः व द्रष्टव्यम्[१] सम्यगर्थप्रवचनपरमम् शर्मदम् पद्यबद्धम् प्रष्ठप्रज्ञप्रशस्यम् भग्नघर्मम्[२] प्रमदमयपयः वर्षन्तम्, सत्यसंकल्पजल्पश्रव्यम्, भव्यम्, वसव्यम्, नवम् अग्र्यवर्णस्तवम्[३] अवगमयतु[४]।

अर्थ—अयि भावुको! ब्रह्मादि देवोंका वन्दनीय और पापोंके सङ्कटोंसे बचानेवाला भगवान् शंकर सहृदयोंके देखने योग्य, सुन्दर सरल स्वाभाविक सदुक्तियोंसे मनोहर, कल्याणदायक, सुललित-पद्योंसे बद्ध, उत्कृष्ट प्रज्ञा (श्रेष्ठ बुद्धि)-वाले विद्वानोंसे प्रशंसनीय, तापत्रयजनित सन्तापको दूर करनेवाले, परम आनन्दमय

१—सहृदयैः कौतुकेन परीक्ष्यम्। २—भग्नो घर्मस्तापत्रयजो विकारो येन तत्। ३—अग्र्यवर्णेन द्विजन्मना जगद्धरकविना कृतः स्तवः—'अग्र्यवर्णस्तवः' मध्यमपदलोपी समासः। ४—कृपया स्वयं शृण्वन् युष्मानपि बोधयतु।

दुग्धकी वर्षा करनेवाले, सत्य-सङ्कल्पके द्वारा सुनने योग्य, इस अत्युत्तम नवीन अमृयवर्ण स्तोत्रको (अर्थात् विप्रशिरोमणि जगद्धर-भट्टकवि विरचित स्तोत्रको) कृपा पूर्वक स्वयं सुनता हुआ आपको भी बोधित करे।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरक-महाकवि श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते
भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ 'अमृयवर्णस्तवं'
नाम चतुस्त्रिंशं स्तोत्रम्

पञ्चत्रिंशं स्तोत्रम्

अनाथानां नाथो गतिरगतिकानां व्यसनिनां
विनेता भीतानां शरणमधृतीनां भरवशः।
सुहृद् बन्धुः स्वामी शरणमुपकारी वरगुरुः
पिता माता भ्राता त्रिजगति जयत्यन्तकरिपुः॥ १॥

अन्वय – अनाथाम् नाथः, अगतिकानाम् गतिः, व्यसनिनाम् विनेता, भीतानाम् शरणम् अधृतीनाम् भरवशः, सुहृद् बन्धुः, स्वामी, शरणम् , उपकारी, वरगुरुः, पिता, माता, भ्राता, अन्तकरिपुः त्रिजगति जयति।

अर्थ—अनाथ जनोंके नाथ, अगतिकोंकी गति, (स्त्री, द्यूत, मृगया आदि) दुर्व्यसनवालोंके विनेता (उन्हें विनय प्रदान करनेवाले), भयभीतोंको धैर्य देनेवाले, अपनी दीन-अवस्थाको निवेदन करनेवालोंके आश्वासनकारी मित्र, सङ्कटमें भी साथ देनेवाले, स्वामी (निज सेवकोंके वार्त्ताग्राही), दीनोंके प्रतिपालक, महान् उपकारी, कैवल्यदायक अद्वैतज्ञानके महान् उपदेष्टा, पिताकी तरह महान् सङ्कटोंसे बचानेवाले, पुत्रवत्सला जननीकी तरह शरणागतोंका पालन करनेवाले, सहोदर भ्राताकी तरह सुख-दुःखके साथी, त्रिलोकीनाथ भगवान् भवानीनाथकी सदा जय हो ! अहा—

उदारैर्मन्दारै रचितशिखरं चन्द्रशिखरं
समभ्यर्च्य प्रेम्णा विपुलपुलकालङ्कृततनुः।
कदा गन्धाबन्धप्रमदमुदितोद्दाममधुप-
स्फुरद्गुञ्जागर्भैर्विभुमभिभजेयं नुतिपदैः॥ २॥

अन्वय—उदारैः मन्दारैः रचितशिखरम् चन्द्रशिखरम् प्रेम्णा समभ्यर्च्य, विपुलपुलकालङ्कृततनुः [सन्] अहम् गन्धाबन्धप्रमदमुदितोद्दाममधुपस्फुरद्गुञ्जागर्भैः नुतिपदैः विभुम् कदा अभिभजेयम् ?

अर्थ—कई योजनोंतक जिनकी सुगन्ध फैलती है, ऐसे उदार मन्दार-(कल्प-वृक्ष) के पुष्पोंका मुकुट धारण किये हुये चन्द्रमुकुटका सम्यक् प्रकार प्रेमसे पूजन

करके अत्यन्त रामाञ्चित होता हुआ मैं सुन्दर (लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थरूपी) सुगन्धिके परम आनन्दसे मुदित भक्तरूपी भ्रमरोंकी उत्तमोत्तम गीत-ध्वनिसे गर्भित स्तुति-पदोंके द्वारा अपने प्रभुको कब भजूँगा ? हाय ! —

इतो द्वन्द्वक्लेशा विषयमृगतृष्णास्थितिरितो
जरामृत्युव्याधिप्रतिभयमितः सर्वसुलभम् ।
महामोहैर्घोरैरुपहतमितो बोधलसितं
कथं कुर्यादार्यः कृतमतिरपि स्वात्मनि हितम् ॥ ३ ॥

अन्वय—इतः द्वन्द्वक्लेशाः [सन्ति], विषयमृगतृष्णास्थितिः इतः [अस्ति], जरामृत्यु-व्याधिप्रतिभयम् इतः सर्वसुलभम् [अस्ति], घोरैः महामोहैः बोधलसितम् इतः उपहतम् । [इत्थं बहुविघ्नाकुलमनस्त्वात्] कृतमतिः अपि आर्यः स्वात्मनि हितम् कथम् कुर्यात् ?

अर्थ—एक ओर तो शीतोष्णादि द्वन्द्वोंका द्वन्द्व-युद्ध मचा है, दूसरी ओर विषयरूपी मृगतृष्णा चमचमाती है । इधर प्रतिक्षण जरा, मृत्यु और व्याधियाँ सताती हैं । उधर महाघोर मायामोहरूपी लुटेरे स्वच्छ बोधको हर रहे हैं । हाय ! ऐसी दशा-में यदि कोई महाबुद्धिमान् सज्जन भी अपना कल्याण (भवसागरसे पार होनेका उपाय) करना भी चाहे, तो कैसे करे ?

अशेषक्लेशौघग्लपनपरिपन्थी प्रकटय-
न्नयं विघ्नव्रातः प्रबलविपदापादनविधिम् ।
विवेकाख्यं चक्षुस्तिरयति सतां येन सहसा
भवश्वभ्रे पातः प्रतिपदमदभ्रः प्रभवति ॥ ४ ॥

अन्वय—अशेषक्लेशौघग्लपनपरिपन्थी अयम् विघ्नव्रातः प्रबलविपदापादनविधिम् प्रकटयन् सताम् [अपि] विवेकाख्यं चक्षुः तिरयति, येन [देहिनाम्] सहसा भवश्वभ्रे अदभ्रः पातः प्रतिपदम् प्रभवति ।

अर्थ—अविद्यादि पाँच महाक्लेशोंद्वारा महान् दुखदेनेवाला यह (पूर्वोक्त द्वन्द्व आदि) विघ्नोंका समूह प्राणियोंको इस संसाररूपी महा अरघट्टमें डालकर बारम्बार जन्ममरणरूपी भीषण आपदाओंको उत्पन्न करते हुये बड़े-बड़े महात्माओंके भी विवेकरूपी चक्षुओंको ढाँक देता है । इसी कारण सहसा इस संसाररूपी गड्ढेमें प्राणियोंका बार-बार पतन होता रहता है ।

भवद्भक्तिं तस्य व्युपशमसमर्थामथ दृशः
प्रसादं तत्त्वानां घनमहसमासाद्य सुधियः ।
प्रकाशात्मानं त्वामतिविमलया हंसमुदितं
दृशा साक्षात्कृत्य प्रतिजहति मोहान्धतमसम् ॥ ५ ॥

अन्वय—अथ [हे भगवन् !] तस्य व्युपशमसमर्थाम् , दृशः प्रसादम् तत्त्वानाम् ,

घनमहसम् भवद्भक्तिम् आसाद्य, सुधियः [सदा] उदितम् प्रकाशात्मानम् त्वाम् हंसम् अतिविमलया दृशा साक्षात्कृत्य, मोहान्धतमसम् प्रतिजहति ।

अर्थ—परन्तु, हे भगवन् ! पूर्वोक्त उस विघ्न-राशिको समूल नष्ट करनेमें समर्थ और ज्ञानरूपी नयनोंको अत्यन्त निर्मल करनेवाली आपकी अपार प्रकाशमयी भक्तिको प्राप्त करके महात्मा लोग सदैव उदित (अर्थात् अस्तभावसे रहित) परम-प्रकाशस्वरूप आप पूर्ण परमब्रह्म परमात्माको अतीव निर्मल ज्ञान-दृष्टिकेद्वारा साक्षात्कार करके फिर उस मोहरूपी गाढ़ अन्धकारको त्याग देते हैं ।

अनित्ये नित्याशामशुचिनि शुचित्वव्यसनिता-
मनात्मन्यात्मास्थामथ महति दुःखे सुखमतिम् ।
चतुर्धा दुर्भेद्यामविरतमविद्यां परिणतां
हताशेषस्वाभामभिदधति मूलं भवतरोः ॥ ६ ॥

अन्वय—अनित्ये नित्याशाम्, अशुचिनि शुचित्वव्यसनिताम्, अनात्मनि आत्मास्थाम् अथ महति दुःखे सुखमतिम् [इति] अविरतम् चतुर्धा परिणताम् हताशेषस्वाभाम् दुर्भेद्याम् अविद्याम् भवतरोः मूलम् अभिदधति ।

अर्थ—अनित्य वस्तुओंमें नित्यत्व बुद्धि, अपवित्र (देह आदि) में पवित्रताका भ्रम, अनात्म-(जड़-पदार्थों) में आत्मबुद्धि एवं महान् दुःखमें सुख-बुद्धि, इस तरह चार प्रकारसे परिणत हुई और आत्म-प्रकाशको नष्ट कर देनेवाली अविद्या ही इस संसाररूपी महावृक्षकी जड़ है ।

नरास्तत्त्वालोके नियतमनया दूषितदृशो
विवेकप्रध्वंसाद्विदधति भवे कन्दुकगतिम् ।
उपासाभिर्लब्ध्वा भवभयभिदं निर्मलधियः
समाधिं साधिम्ना दधति न पुनर्जन्मविपदम् ॥ ७ ॥

अन्वय—नियतम् अनया तत्वालोके दूषितदृशः नराः, विवेकप्रध्वसात् भवे कन्दुकगतिम् विदधति । पुनः उपासाभिः भवभयभिदम् समाधिम् लब्ध्वा, निर्मलधियः जन्मविपदम् साधिम्ना न दधति ।

अर्थ—हाय, इसी अविद्यासे प्राणियोंकी तात्त्विकी दृष्टि दूषित हो जाती है । इसी कारण कार्याऽकार्य-रूप विवेकके नष्ट हो जाने से प्राणी इस संसारमें गेंदकी भाँति उच्च-नीच योनियोंमें भटकता रहता है । किन्तु बड़े भाग्यवश भगवदुपासनाओंके प्रतापसे भवभीतिका भेदन करनेवाली समाधि (भगवत्परायणता)-को प्राप्त होकर सुविशुद्ध अन्तःकरणवाले धन्यात्मा लोग पुनः-पुनः-आवृत्तिके चक्करसे मुक्त हो जाते हैं ।

[अब यहाँसे ग्रन्थकार परमेश्वरकी महिमाका गान करते हुए कहते हैं ।]

चकाशे नाकाशे रविरविरलैरंशुपटलै-
रमन्दाभैरिन्दुस्तिमिरमहरन्नापि किरणैः ।
न चान्यन्नक्षत्रग्रहदहनरत्नौषधितडि-
त्प्रदीपादिज्योतिः क्वचिदपि पुरा नाथ ददृशे ॥ ८ ॥
तमोभूतं विश्वं किमपि गहनं धाम तदभू-
दथ स्वेच्छाशक्तिप्रकटितमहावैभवभरम् ।
विभज्यात्मानं क्ष्मावनपवनवह्नीन्दुतपन-
स्वखैरंशैरीश त्रिजगदसृजत् कस्त्वदपरः ॥ ९ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—नाथ ! पुरा आकाशे अविरलैः अंशुपटलैः रविः न चकाशे, अमन्दाभैः किरणैः इन्दुः अपि तिमिरम् न अहरत् । अन्यत् नक्षत्रग्रहदहनरत्नौषधितडित्प्रदीपादिज्योतिः च क्वचित् अपि न ददृशे । ईश ! तद् विश्वम् तमोभूतम् (सत्) किमपि गहनम् धाम अभूत् । अथ स्वेच्छाशक्तिप्रकटितमहावैभवभरम् आत्मानम् क्ष्मावनपवनवह्नीन्दुतपनस्वखैः अंशैः विभज्य, त्वदपरः कः त्रिजगत् असृजत् ?

अर्थ—हे ईश ! सृष्टिके पहले आकाशमें अनन्त किरणोंसे देदीप्यमान होकर सूर्य नहीं प्रकाशित होता था, चन्द्रमा भी अपनी दिव्य किरणोंके प्रकाशसे अन्धकारको नहीं हरता था । अन्य नक्षत्र (तारा), ग्रह, अग्नि, मणि, रत्न, औषधि, विद्युत्, दीपक इत्यादि कोई ज्योति भी देखनेमें नहीं आती थी । उस समय यह सारा ही जगत् अन्धकारमय होता हुआ महाघोर दशामें सोया था, तब उसके अनन्तर अपनी इच्छा-शक्तिके द्वारा विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेमें समर्थ, महान् अतुलित ऐश्वर्यके उल्लासको प्रकट करते हुये अपने स्वरूपको पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान, इन अष्टमूर्त्तियोंमें अभिव्यक्त (प्रकट) करके इस त्रिभुवनको आपके सिवाय और किसने रचा ? अर्थात् आपने ही रचा ।

अनादौ संसारे विदधति रजोबाधितधियः
शुभं वा घोरं वा शबलमथ वा कृत्यमणवः ।
ततस्तद्भोगार्थं तरुणकरुणापूर्णहृदयो
विधत्से यत्तेषां तनुभुवननिर्माणमखिलम् ॥ १० ॥
तदेतत्सङ्कल्पप्रकटितसमस्तत्रिजगतः
प्रभोर्लीलामात्रं भुवनमहनीयस्य भवतः ।
तवैकस्य स्वामिन्यदिह सहजे सर्वविषये
क्रियाज्ञाने नित्ये करण-निरपेक्षे प्रभवतः ॥ ११ ॥
(युग्मम्)

अन्वय—[हे भगवन् !] अनादौ संसारे रजोबाधितधियः अणवः[1] शुभम् वा घोरम् वा अथ शबलम् वा कृत्यम् विदधति। ततः तेषां तद्भोगार्थम् तरुणकरुणापूर्णहृदयः [सन्] यत् अखिलम् तनु भुवननिर्माणम् विधत्से, तत् एतत् सङ्कल्पप्रकटितसमस्तत्रिजगतः, भुवन-महनीयस्य भवतः प्रभोः लीलामात्रम् [अस्ति। कुतः ?] स्वामिन् इह यत् एकस्य तव [एव] सहजे, नित्ये, क्रियाज्ञाने सर्वविषये करणनिरपेक्षे प्रभवतः।

अर्थ—भगवन् ! इस अनादि संसारमें रजोगुणके उद्रेकसे (अत्यन्त रागवश) बाधित होकर जीव शुभ, अशुभ अथवा मिश्रित कर्मोंको करते हैं; इसलिये जीवोंके उन (शुभ, अशुभ अथवा शुभाशुभ मिश्रित, तीन प्रकारके) कर्मोंके भोगके लिये आप अतिशय करुणापूर्ण होकर जो इन पृथिव्यादि समस्त भुवनोंका निर्माण करते हो, यह सब केवल सङ्कल्प-मात्रसे ही संपूर्ण जगत्को प्रकट करनेवाले आप अखिल-कोटिब्रह्माण्डाधीश्वर प्रभुकी एक लीला-मात्र (क्रीड़ा) है। क्योंकि आपकी स्वाभाविकी (अकृत्रिम), नित्य, एवं सचराचर भुवनोंकी आधारभूत 'क्रिया-शक्ति' और 'ज्ञान-शक्ति' (ये दोनों ही) करण-निरपेक्ष हैं, अर्थात् कार्यारम्भमें इन्द्रिय अथवा करणोंकी अपेक्षा नहीं रखती हैं।

प्रसिद्धोऽयं पन्था न भवति विचित्रा विरचना
विना यत्कर्तारं स च न भवति ज्ञानरहितः।
अतोऽवश्यं कर्ता त्रिजगति विचित्रे ज्ञ उचितः
स च त्वं त्वय्यन्ये किमिव विवदन्ते हतधियः॥ १२॥

अन्वय—[हे प्रभो !] यत्, कर्त्तारम् विना विचित्रा विरचना न भवति, स च ज्ञान-रहितः (अपि) न भवति, अयम् पन्थाः प्रसिद्धः। अतः विचित्रे त्रिजगति अवश्यम् (एव) कर्त्ता ज्ञः उचितः। सः च त्वम्। अन्ये हतधियः त्वयि किमिव विवदन्ते ?

अर्थ—अयि परमेश्वर ! 'कर्त्ताके बिना यह नाना प्रकारकी विचित्र रचना हो नहीं सकती और वह कर्त्ता भी ज्ञान-रहित (अज्ञानी) नहीं हो सकता।' यह बात विद्वान्से लेकर बाल-गोपाल-पर्यन्त सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। इसलिये इस नानाविध जगत्का कर्त्ता अवश्यमेव कोई सर्वज्ञ ही होना उचित है। वह सर्वज्ञ परमात्मा आप ही हो। तो फिर हाय, अन्य (अनीश्वरवादी) हत-बुद्धि लोग आपके विषयमें वृथा ही वाद-विवाद क्यों करते हैं ?

अथैवं चेद् ब्रूयुः किमयमपरप्रेरितमतिः
स्वतन्त्रो वा देवस्त्रिभुवनविधाने प्रयतते।
अमुष्याद्ये पक्षे न हि परविधेयस्य विभुता
परस्मिन्पक्षे वा फलमपि किमुद्दिश्य यतते॥ १३॥

अन्वय—अथ [ते] एवम् चेत् ब्रूयुः—अयम् देवः किम् अपरप्रेरितमतिः [सन्]

१. आत्मानः।

त्रिभुवनविधाने प्रयतते ? (उत) स्वतन्त्रः वा प्रयतते ? अमुष्य आद्ये पक्षे परविधेयस्य विभुता न हि [भवति], परस्मिन् वा पक्षे किम् अपि फलम् उद्दिश्य यतते ?

अर्थ—हाँ, यदि वे पामर ऐसा कहें कि—'वह परमात्मा क्या किसीकी प्रेरणासे इस भुवनका निर्माण करता है, अथवा स्वयं अपनी इच्छासे ?' इसमें पहले पक्षमें तो (अन्य प्रेरित) प्रभुकी विभुत्व-शक्ति ही नहीं बन सकती, और दूसरे (स्वतन्त्र) पक्षमें किस कामनासे वह प्रभु जगत्को रचता है ? अर्थात् जो स्वेच्छा-शक्तिमय और निरीह (इच्छा-रहित) है, वह क्यों किसी फलके उद्देश्यसे संसारको रचेगा ?

अथाऽस्येयं वाञ्छा प्रभवति न कर्मक्षयमृते
नृणां मुक्तिः सोऽपि क्वचन न विना भोगमुचितः ।
विनाधारं भोगो न भवति वपुर्नापि भुवनं
ततोऽर्हं जन्तूनां तनुभुवननिष्पादनमिति ॥ १४ ॥

अन्वय—अथ, अस्य इयम् वाञ्छा [भवति] यत् कर्मक्षयम् ऋते नृणाम् मुक्तिः न प्रभवति, सः अपि भोगम् विना क्वचन न उचितः । भोगः आधारम् विना न भवति, [स चाधारः] वपुः अपि भुवनम् विना न भवति । ततः जन्तूनाम् तनुभुवननिष्पादनम् इति अर्हम् ।

अर्थ—हाँ, यदि वे लोग कहें कि, परमेश्वरकी इच्छा (कामना) यह है कि कर्मोंके क्षय हुए बिना (नरमात्राभिमानी) जीवोंकी मुक्ति नहीं हो सकती; और भोगके बिना कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता । भोग आधारके (शरीरके) बिना नहीं हो सकता, और वह आधार—शरीर भी भुवनके बिना नहीं हो सकता । इसलिए प्राणियोंके लिए शरीर तथा भुवन, इन दोनोंका (पृथिव्यादि लोकोंका) निर्माण करना उचित ही है । क्योंकि—

इदं युक्तं सान्द्रामृतमधुरयाऽन्तःकरुणया
प्रयुक्तस्याऽजस्रं परहितविधानव्यसनिनः ।
दयालुश्चेल्लोकं सृजति सकलं किं न सुखिनं
कुतो वाऽऽधिव्याधिक्षत इह जनोऽनेन जनितः ॥ १५ ॥

अन्वय—सान्द्रामृतमधुरया अन्तःकरुणया प्रयुक्तस्य अजस्रम् परहितविधानव्यसनिनः इदम् युक्तम् । [सः] दयालुः चेत् [तर्हि] सकलम् लोकम् सुखिनम् (एव) किम् न सृजति ? इह अनेन आधिव्याधिक्षतः जनः कुतो वा जनितः ?

अर्थ—गाढ़-अमृतके समान सुमधुर करुणाकेद्वारा प्रेरित और सदैव परोपकारमें ही परायण प्रभुके लिए यह कर्तव्य तो समुचित ही है । परन्तु, वह परमेश्वर यदि दयालु है, तो फिर वह सारे संसारको क्यों न सुखी बना देता ? और क्यों उसने नाना प्रकारकी आधि और व्याधियोंसे बाधित जीव बनाये हैं ?

अथोपादानं यद्भवति परमाण्वादि जगत-
स्तथा कर्माऽनेहःप्रभृति सहकार्येतदुभयम् ।
विना सृष्टौ नैष प्रभवति यदीशः किममुना
तदेवाऽस्तु व्यक्तं तनुभुवननिर्माणनिपुणम् ॥ १६ ॥

अन्वय—अथ, यत् जगतः [सृष्टौ] परमाण्वादि उपादानम्, तथा कर्मानेहःप्रभृति सहकारि भवति, तत् एतत् उभयम् विना सृष्टौ एषः ईशः यदि न प्रभवति, (तर्हि) अमुना (ईशेन) किम् ? (यतः) तदेव व्यक्तम् तनुभुवननिर्माणनिपुणम् अस्तु !

अर्थ—और हाँ, जगत्‌की सृष्टिमें जो परमाणु आदि उपादान कारण, एवं (शुभ, अशुभ और उभय-मिश्रित) कर्म तथा काल आदि सहकारि कारण हैं, इन दोनों (कारणों) के बिना जगत्‌की सृष्टि करनेमें यदि वह परमात्मा नहीं समर्थ हो सकता है, अर्थात् परमात्मा यदि अणु, कर्म, काल आदि निमित्तके अनुसार ही शुभाशुभ प्राणियोंको रचता है, तो फिर ऐसे परमेश्वर-(को मानने) की ही क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वे दोनों, उपादान और सहकारि कारण, ही जीवोंके शरीर एवं भुवनको अपने आप ही रच लेंगे !

इतीत्थं मुग्धानामिह मतिविमोहाय कुधियः
कुतर्कप्रागल्भीमुखरितमुखा मूढमनसः ।
अधिष्ठातारं त्वां वरद जडवर्गस्य सदयं
न जानन्ति स्वामिन् परमपुरुषं चेतनममी ॥ १७ ॥

अन्वय—इति इत्थम् वरद ! स्वामिन् ! इह मुग्धानाम् मतिविमोहाय कुतर्कप्रागल्भी-मुखरितमुखाः मूढमनसः अमी कुधियः जडवर्गस्य अधिष्ठातारम् चेतनम् परमपुरुषम् त्वाम् सदयम् न जानन्ति ।

अर्थ—इस प्रकार, प्रभो ! मति-मन्द लोगोंकी बुद्धिको भ्रमित करनेके लिए तरह-तरहके कुतर्क करनेमें वाचाल बने हुए वे अज्ञानी दुर्बुद्धि लोग समस्त जड़-वर्गके अधिष्ठाता, परमप्रकाशमय, चेतन-स्वरूप आप करुणासागर परमात्माको नहीं जानते हैं । [क्योंकि—]

यथोपादानं मृत्तदनु सहकारीह लगुडो
जलं चक्रं सूत्रं वरद जडवर्गोऽयमखिलः ।
न यत्नं कौलालं प्रभवति विना कुम्भघटने
तथाधिष्ठातारं न भवति विना त्वां भवविधिः ॥ १८ ॥

अन्वय—[हे वरद !] इह यथा (घटस्य) उपादानम् मृत् , तदनु सहकारी लगुडः, जलम् , चक्रम् , सूत्रम् , अयम् अखिलः जडवर्गः कौलालम् यत्नम् विना कुम्भघटने न प्रभवति; तथा त्वाम् अधिष्ठातारम् विना भवविधिः न भवति ।

अर्थ—प्रभो, जैसे (घटका) उपादान कारण मृत्तिका और सहकारी कारण दण्ड, जल, चक्र, सूत्र आदि यह समस्त जड़-वर्ग (जड़-पदार्थ) कुम्भकारके प्रयत्न बिना घट बनानेमें समर्थ नहीं हो सकता, वैसे ही, आप अधिष्ठाता-(कर्त्ता) के बिना इस जड़ जगत्की रचना कदापि नहीं हो सकती।

[अब इस भव-महासागरमें डूबे हुए प्राणीको उससे पार होनेका उपाय बतलानेके लिए कवि कहते हैं, कि—हाय !]

अविज्ञायैवाऽज्ञः परुषविषमं कर्म कुरुते
विपाके तस्यासौ निपतति भवक्लेशकलिले।
अतो ज्ञानालोकः प्रकटितसमस्तार्थगहनो
महामोहध्वान्तव्यवहितदृशोऽवश्यमुचितः ॥ १९ ॥

अन्वय—अज्ञः अविज्ञाय एव परुषविषमम् कर्म कुरुते। तस्य विपाके सति असौ भवक्लेशकलिले निपतति। अतः महामोहध्वान्तव्यवहितदृशः प्रकटितसमस्तार्थगहनः ज्ञानालोकः अवश्यम् उचितः।

अर्थ—अज्ञानी पुरुष बिना जाने-बूझे ही कुटिल (कुत्सित) कर्म करता है। फिर उस-(पाप-कर्म) का परिपाक (परिणाम) होनेपर वह महाभयङ्कर क्लेश-रूपी दलदलमें गिरता है। इसलिए महामोह-(अविद्या) रूपी अन्धकारसे अन्ध बने अज्ञानी पुरुषके लिए समस्त पदार्थोंके तत्वको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानरूपी प्रकाशकी नितान्त आवश्यकता है।

उपायस्तत्प्राप्तौ भवति न विना शास्त्रमपरो
न शास्त्रं तत्स्वामिन्निह यदुपदिष्टं न भवता।
विविञ्चन्तः सन्तो हितमहितमेते विदधते
हिते सक्तिं मुञ्चन्त्यहितमिति नार्हन्ति पतनम् ॥ २० ॥

अन्वय—तत्प्राप्तौ शास्त्रम् विना अपरः उपायः न भवति। स्वामिन् ! यत् (च) भवता न उपदिष्टम्, तत् शास्त्रम् न (भवति, अतएव) सन्तः हितम् अहितम् (च) विविञ्चन्तः, हिते सक्तिम् विदधते; अहितम् [च] मुञ्चन्ति। इति एते पतनम् न अर्हन्ति।

अर्थ—उस ज्ञानरूपी प्रकाशको प्राप्त करनेके लिए शास्त्रके बिना और कोई समीचीन उपाय नहीं है। और हे प्रभो ! जो आपका उपदिष्ट नहीं, वह शास्त्र नहीं हो सकता। अतएव सज्जन पुरुष सच्छास्त्रके द्वारा विवेक-पूर्वक हित और अहितका विवेचन करते हुए हित-(सन्मार्ग-) में अनुराग करते हैं, और अहित-(कुमार्ग) का परित्याग करते हैं। इसलिए वे (सज्जन) लोग पतित होने योग्य नहीं हैं। क्योंकि—

भवान्धर्मं साक्षादकृत सहजज्ञानमहसा
तमोध्वंसं पुंसामथ तदुपदेशेन विदधे।

प्रमाणं चोक्तिस्ते न हि घनघृणानिघ्नमनसो
जगद्भर्तुर्युक्तं वितथमभिधातुं भगवतः ॥ २१ ॥

अन्वय—[हे विभो !] भवान् सहजज्ञानमहसा धर्मम् साक्षात् अकृत । अथ तदुपदेशेन पुंसाम् तमोध्वंसम् विदधे । ते उक्तिः च प्रमाणम् । हि घनघृणानिघ्नमनसः जगद्भर्तुः भगवतः वितथम् अभिधातुम् न युक्तम् ।

अर्थ—भगवन् ! आपने अपने स्वाभाविक ज्ञानरूपी प्रकाशके द्वारा धर्मका साक्षात्कार किया है। और उस-(धर्म) के उपदेशके द्वारा लोगोंके अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर किया है। आपकी उक्ति समस्त प्रमाणोंमें सर्वोपरि है। क्योंकि आप उदार करुणाके अधीन एवं जगद्के भर्ता हैं। अतः आप असत्य उपदेश कदापि नहीं कर सकते।

तदेतत्कारुण्यं घनतमतमःपङ्कपटली-
विलीनोऽयं लोकस्तव वरद संभाव्य सहजम् ।
दधच्छ्रद्धाबन्धं त्वदुदितमनुष्ठातुमसकृत्
प्रवृत्तो दुष्पारं हर तरति संसारजलधिम् ॥ २२ ॥

अन्वय—वरद ! हर ! घनतमतमःपङ्कपटलीविलीनः अयम् लोकः सहजम् तदेतत् तव कारुण्यम् संभाव्य, त्वदुदितम् अनुष्ठातुम् असकृत् प्रवृत्तः (सन्), श्रद्धाबन्धम् दधत् दुष्पारम् [अपि] संसारजलधिम् तरति ।

अर्थ—हे दयालो ! अत्यन्त सघन अविद्यारूपी पङ्क-पटल-(दलदल) में विलीन हुआ यह जीव इस पूर्वोक्त आपकी स्वाभाविक दयालुताको आदरपूर्वक समझकर, आपके बतलाए हुए सन्मार्गका अनुष्ठान करनेमें अत्यन्त श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होकर, इस अपार भवसागरको तर जाता है।

इत्येवं भगवन्नबन्ध्यमहिमा निर्माय निर्मानुषं
विश्वं विश्वसितं वितत्य तदनु स्फीतैर्विभूतिक्रमैः ।
संहृत्याथ निजे महिम्नि निखिलं तत्कन्दुकान्दोलन-
क्लेशावेशविरामसंभृतसुखं कैवल्यमाकाङ्क्षसि ॥ २३ ॥

अन्वय—भगवन् ! इत्येवम् अबन्ध्यमहिमा [सन्] त्वम् [आदौ] निर्मानुषम् विश्वम् निर्माय, तदनु स्फीतैः विभूतिक्रमैः विश्वसितम् वितत्य, अथ, निखिलम् तत् निजे महिम्नि संहृत्य कन्दुकान्दोलनक्लेशावेशविरामसंभृतसुखम् कैवल्यम् आकाङ्क्षसि ।

अर्थ—हे भगवन् ! इस प्रकार अमोघ महिमाशाली आप पहले इस तमोव्याप्त विश्वको रचकर, फिर अनेक प्रकारके वैभवोंसे इसे जीवित करते हुए पालित-पोषित करते हो। तदनन्तर फिर सारे ही प्रपञ्चको अपने धाममें लीन करके इस सचराचर विश्वका, गेंदके समान, अभ्युत्थान (अभ्युदय) और पतन (हानि) करनेसे उत्पन्न महान्

परिश्रमसे विरहित होनेके लिए अपने अखण्ड आनन्दस्वरूप कैवल्यपदमें स्थित होनेकी इच्छा करते हो, अर्थात् समस्त उपाधियोंको अपनेमें विलयन करके अपने शुद्ध सच्चित्, आनन्द-मय, निराकार निर्विकार स्वरूपमें स्थित हो जाते हो।

इत्थं किं बहुना त्वदङ्घ्रिकमलद्वन्द्वप्रसादादिदं
भूयान्मे भवभीतिभञ्जन विभो भक्तानुकम्पापर।
यत्त्वत्पादसरोजपूजनविधौ भक्तिर्विरोगं वपु-
र्यावज्जीवमथ त्वदेकमनसो मुक्तिस्तवैवाग्रतः ॥ २४ ॥

अन्वय—विभो! भवभीतिभञ्जन! भक्तानुकम्पापर! इत्थम् बहुना किम्? त्वदङ्घ्रि-कमलद्वन्द्वप्रसादात् यत् त्वत्पादसरोजपूजनविधौ भक्तिः, यावज्जीवम् विरोगम् वपुः, अथ त्वदेकमनसः तवैव अग्रतः मुक्तिः [भवति], इदम् मे भूयात्।

अर्थ—अयि जन्म, जरा, मरणके भयको दूर करनेवाले! अयि भक्तजनोंपर अनुकम्पा करनेवाले भगवन्! इस प्रकार अब बहुत कहने की क्या आवश्यकता है? बस, केवल यही एक प्रार्थना है कि आपके चरण-कमल-युगलके प्रसादसे आपके चरणारविन्दके पूजनमें मेरी दृढ़ भक्ति हो, यावज्जीवन शरीर नीरोग रहे, एवं अन्तसमयमें अनन्य-भावसे आपमें ही तल्लीन होकर आपके ही आगे मेरी मुक्ति हो जाय!

एवं देव तव स्तुतिप्रवचनप्राप्तप्रसादस्य मे
भूयो जन्म भविष्यतीति भगवन् मन्ये खपुष्पोपमम्।
स्याच्चेत्प्राक्तनकर्मशेषजनितं तन्नाथ किं भूयसा
भूयासं भवदीयपादकमलस्तुत्या पुनर्निर्वृतः ॥ २५ ॥

अन्वय—देव! भगवन्! एवम् तव स्तुतिप्रवचनप्राप्तप्रसादस्य मे भूयः जन्म भविष्यति इति [अहम्] खपुष्पोपमम् मन्ये। चेत् प्राक्तनकर्मशेषजनितम् तत् स्यात्, तर्हि किं भूयसा [उक्तेन], नाथ! [तत्रापि अहम्] भवदीयपादकमलस्तुत्या पुनः निर्वृतः भूयासम्।

अर्थ—हे भगवन्! इस प्रकार आपकी स्तुतिके प्रवचनसे अनुगृहीत हुए मुझ धन्यात्माका अब पुनर्जन्म होना तो आकाशपुष्पके समान है, अर्थात् सर्वथा ही असम्भव है। हाँ, कदाचित् यदि किसी प्राचीनकर्मके शेष रह जानेके कारण फिर कहीं जन्म हो भी जाय, तो हे नाथ! फिर उस जन्ममें भी मैं आपके ही चरणारविन्दकी स्तुतिके द्वारा पुनः कैवल्यधामको प्राप्त होऊँ!

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-कुसुमाञ्जलौ' 'ईश्वर-प्रशंसा' नाम-स्तोत्रं समाप्तम्।

———

षट्त्रिंशं स्तोत्रम्

[यहाँ से ग्रन्थकार भगवत्स्तुतिकी फलप्राप्तिका वर्णन करनेके लिए 'स्तुतिफलप्राप्ति' नामक छत्तीसवें स्तोत्रका निर्माण करते हैं—]

ते नाथ जन्म सकलं न कलङ्कयन्ति
न द्रोहकर्मरसिकानपि शङ्कयन्ति ।
तान् सस्पृहं मृगदृशः प्रविलोकयन्ति
ये त्वत्पदाब्जरजसाऽलिकमङ्कयन्ति ॥ १ ॥

अन्वय—नाथ ! ते सकलम् जन्म न कलङ्कयन्ति, द्रोहकर्मरसिकान् अपि न शङ्कयन्ति, तान् सस्पृहम् मृगदृशः प्रविलोकयन्ति । ये त्वत्पदाब्जरजसा [निजम्] अलिकम् अङ्कयन्ति ।

अर्थ—हे नाथ ! वे (धन्यात्मा) लोग अपने समस्त जन्मको कलङ्कित नहीं करते हैं, महाद्रोही शत्रु-जनोंको भी शङ्कित नहीं करते हैं* उन्हें सुन्दरी युवतियाँ प्रेमसे अत्यन्त अनुरागपूर्वक देखा करती हैं; जो कि आपके चरण-कमलोंकी रजसे अपने मस्तकको सुशोभित करते हैं ।

ते विद्विषामभिमतं हृदि मोघयन्ति
ज्ञानामृतं च कृपणेषु समर्पयन्ति ।
तेषां वचः क्षितिभुजोऽपि न लङ्घयन्ति
ये त्वां स्तवोक्तिकुसुमर्द्धिभिरर्चयन्ति ॥ २ ॥

अन्वय—ते विद्विषाम् हृदि अभिमतम् मोघयन्ति; ज्ञानामृतम् च कृपणेषु समर्पयन्ति । तेषाम् वचः क्षितिभुजः अपि न लङ्घयन्ति; ये स्तवोक्तिकुसुमर्द्धिभिः त्वाम् अर्चयन्ति ।

अर्थ—वे धन्यात्मा लोग शत्रुओंके मनोरथ-(द्रोह) को निष्फल कर देते हैं । कृपणों-(अज्ञानी जनों) को ज्ञानाऽमृत प्रदान करते हैं । उनके वचनोंको बड़े-बड़े सम्राट् भी लङ्घित नहीं कर सकते हैं ; जो कि सुन्दर स्तोत्र-रूपी कुसुमोंसे आपकी पूजा करते हैं ।

ते जन्मनः फलमनल्पमुदञ्चयन्ति
क्लेशापदः स्वमपरं च विमोचयन्ति ।
तान् वैरिणः सहभुवोऽपि न वञ्चयन्ति
ये त्वामनाथजनबान्धवमर्चयन्ति ॥ ३ ॥

अन्वय—[हे नाथ !] ते जन्मनः अनल्पम् फलम् उदञ्चयन्ति, क्लेशापदः स्वम् अपरम् च विमोचयन्ति । तान् सहभुवः अपि वैरिणः न वञ्चयन्ति । ये त्वाम् अनाथजन-बान्धवम् अर्चयन्ति ।

* समदर्शी होने के कारण ।

अर्थ—हे नाथ ! वे लोग मनुष्य-जन्मके सुमहत्फल-(आत्मकल्याण) को ग्रहण करते हैं; और अविद्यादि पञ्च-क्लेशोंकी आपत्तियोंसे (अथवा संसाररूपी मरुस्थलके भ्रमणसे उत्पन्न हुए क्लेशोंकी आपत्तियोंसे) अपनेको और दूसरोंको मुक्त कर देते हैं। उन्हें स्वाभाविक (काम-क्रोधादि, अथवा बाह्य) शत्रु लोग भी वञ्चित नहीं कर सकते हैं, जो कि आप अनाथजनोंके बान्धवकी पूजा करते हैं।

ते धर्ममिन्दुकरसुन्दरमर्जयन्ति
गीर्भिर्विदग्धहृदयान्यपि रञ्जयन्ति।
तानन्तकभ्रुकुटयोऽपि न तर्जयन्ति
ये त्वां भवामयहरं हर पूजयन्ति ॥ ४ ॥

अन्वय—हर ! ते इन्दुकरसुन्दरम् धर्मम् अर्जयन्ति। गीर्भिः विदग्धहृदयानि अपि रञ्जयन्ति। तान् अन्तकभ्रुकुटयः अपि न तर्जयन्ति। ये त्वाम् भवामयहरम् पूजयन्ति।

अर्थ—अयि भक्तभीतिहर ! वे लोग चन्द्र-किरणोंके समान सुनिर्मल धर्मका उपार्जन करते हैं, और अपनी प्रौढ़-उक्तियोंसे विद्वज्जनोंके भी मनको मोहित कर लेते हैं। उन्हें क्रोधोन्मत्त कालकी विकराल भ्रुकुटियाँ भी नहीं डरा सकतीं, जो कि आप भवभयहारी प्रभुकी पूजा करते हैं।

ते त्वत्स्तुतिं हृदयधाम्नि कपाटयन्ति
दुःखद्रुमं च दृढमापदि पाटयन्ति।
भावं तवैव भुवि बालमिवाटयन्ति
ये वाङ्नटीमभिमुखं तव नाटयन्ति ॥ ५ ॥

अन्वय—[हे विभो !] ते त्वत्स्तुतिम् हृदयधाम्नि कपाटयन्ति, आपदि दृढम् दुःखद्रुमम् च पाटयन्ति। ते तवैव भावम् बालम् इव, भुवि अटयन्ति। ये तव अभिमुखम् वाङ्नटीम् नाटयन्ति।

अर्थ—हे नाथ ! वे लोग अपने हृदयरूपी मन्दिरमें आपकी स्तुति-रूपी कपाट लगा देते हैं; अर्थात् जिस प्रकार लोग अपने घरमें कपाट बन्द करके चौरादिका प्रवेश नहीं होने देते; वैसेही, वे लोग अपने अन्तःकरणरूपी गृहमें आपकी स्तुतिके कपाट लगाकर (कामक्रोधादि) दुर्भावनाओंको चित्तमें नहीं आने देते। और आपत्ति-कालमें महादुःख-रूपी दृढ़ वृक्षको उखाड़ देते हैं। वे लोग आपकी ही भावना (भक्ति) को, बालकोंको पढ़ाते हुए-जैसे, समस्त भुवनमें विख्यात करते हैं। जो कि अपनी वाङ्नटी-(वाणी-रूपी नटी) को आपके सम्मुख नचाते हैं।

ते कर्मरज्जुनिगडं ह्यतिखण्डयन्ति
सूक्तैः श्रुतीर्बुधजनस्य च मण्डयन्ति।
त्वद्भक्तिमप्यधिभवाब्धि तरण्डयन्ति
ये त्वन्मनः स्तुतिधनस्य करण्डयन्ति ॥ ६ ॥

अन्वय—ते हि कर्मरज्जुनिगडम् अतिखण्डयन्ति; सूक्तैः च बुधजनस्य श्रुतीः मण्डयन्ति, अधिभवाब्धि अपि त्वद्भक्तिम् तरण्डयन्ति, ये त्वन्मनः स्तुतिधनस्य करण्डयन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! वे लोग (शुभाशुभ) कर्मरूपी रज्जुओंकी बेड़ीके टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, और अति-सुन्दर—प्रौढ़ उक्तियोंसे सहृदय जनोंके कर्णोंको विभूषित करते हैं। वे इस संसाररूपी महासागरमें भी आपकी भक्ति-रूपी दृढ़ नौकाको स्थापित करके दीन जनोंको आश्वासन देते हैं। जो कि आपके मनको स्तुतिरूपी धनकी पिटारी बना लेते हैं अर्थात् स्तुतिके द्वारा आपके मनको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

पापानि तेऽश्मशकानि व चूर्णयन्ति
गीर्भिर्भ्रुवः सुमनसामपि घूर्णयन्ति ।
लोके निजानि च यशांस्युपकर्णयन्ति
ये धीमतां नुतिकथास्तव वर्णयन्ति ॥ ७ ॥

अन्वय—ते पापानि अश्मशकलानि व (इव) चूर्णयन्ति, गीर्भिः सुमनसाम् अपि भ्रुवः घूर्णयन्ति । लोके च निजानि यशांसि उपकर्णयन्ति; ये धीमताम् [अग्रे] तव नुतिकथाः वर्णयन्ति ।

अर्थ—वे लोग समस्त पापोंको, पाषाणके टुकड़ोंकी तरह चूर-चूर कर देते हैं, अपनी अनुपम वाणीके द्वारा विद्वज्जनोंकी भी भ्रुकुटियोंको कम्पित (आश्चर्यसे चकित) कर देते हैं। वे लोग संसारमें जगह-जगहपर अपने सुनिर्मल यशको सुनते हैं, जो कि सहृदय-जनोंके आगे आपकी स्तुति-कथाओंको वर्णन करते हैं।

ते मारकानपि न संयति घातयन्ति
कारुण्यतः कृतरुषोऽपि न यातयन्ति ।
लोकस्य शोकमभयेन च शातयन्ति
ये शेखरं चरणयोस्तव पातयन्ति ॥ ८ ॥

अन्वय—ते संयति मारकान् अपि न घातयन्ति, कारुण्यतः कृतरुषः अपि न यातयन्ति । लोकस्य शोकम् च अभयेन शातयन्ति, ये शेखरम् तव चरणयोः पातयन्ति ।

अर्थ—वे लोग संग्राममें अपनेको मारनेके लिए उद्यत हुए वैरियोंको भी नहीं मारते[1]; और अतिशय करुणालु होनेके कारण अपने अपकारी लोगोंको भी कष्ट नहीं देते। वे किसी कारण भयभीत हुए दीन-जनोंके शोकको, अभयदान देकर, दूर कर देते हैं, जो कि अपने मस्तकको आप त्रिलोकीनाथके चरणों में झुकाते हैं।

ते [2]पापपाशमधिकं हृदि कर्तयन्ति
भोगस्पृहां च विषयेषु निवर्तयन्ति ।

(१) सबमें समान दृष्टि होनेके कारण।
(२) 'कर्मबन्धमधिकं' इत्यपि पाठः ।

सूक्तैः सचेतनमनांस्यपि नर्तयन्ति
ये चन्द्रचूड चरितं तव कीर्तयन्ति ॥ ९ ॥

अन्वय—चन्द्रचूड ! ते हृदि अधिकम् पापपाशम् कर्तयन्ति, विषयेषु च भोगस्पृहाम् निवर्तयन्ति, सूक्तैः सचेतनमनांसि अपि नर्तयन्ति, ये तव चरितम् कीर्तयन्ति।

अर्थ—हे चन्द्रचूड़ ! वे धन्यात्मा हृदयमें स्थित पाप-रूपी पाशको खण्डित कर देते हैं, और चित्तका निग्रह करतेहुए समस्त विषयोंमेंसे भोगकी इच्छाको हटा लेते हैं, एवं सुमनोहर सूक्तियोंसे विद्वानोंके भी मनको (चमत्कृत करके) नचा देते हैं, जो लोग कि आपके चरित्रका वर्णन करते हैं।

ते जान्मिकानि दुरितान्यवसादयन्ति
सूक्तानि निर्मलमतीननुवादयन्ति ।
गीतानि वैणिकनटानपि नादयन्ति
ये भक्तितस्तव नुतीः प्रतिपादयन्ति ॥ १० ॥

अन्वय—ते जान्मिकानि दुरितानि अवसादयन्ति, सूक्तानि निर्मलमतीन् अनुवादयन्ति । वैणिकनटान् अपि गीतानि नादयन्ति, ये भक्तितः तव नुतीः प्रतिपादयन्ति।

अर्थ—वे जन्म-जन्मान्तरोंमें उपार्जित पापोंको नष्ट कर देते हैं। अपने वचनामृतोंको निर्मल बुद्धिवाले सहृदयोंको पिलाते (सुनाते) हैं। और बड़े-बड़े वीणा-वादकों-(गायकों) को भी अपना यश-रूपी गायन सिखाते हैं, जो लोग कि भक्ति-पूर्वक आप (भगवान्) की स्तुतियोंको रचते हैं।

ते सत्सु कर्मसु रिपूनपि चोदयन्ति
गीर्भिः सतां च हृदयानि विनोदयन्ति ।
तेषां शुचः क्वचन चेतसि नोदयन्ति
ये तावकानि चरितान्यनुमोदयन्ति ॥ ११ ॥

अन्वय—ते रिपून् अपि सत्सु कर्मसु चोदयन्ति, गीर्भिः च सताम् हृदयानि विनोदयन्ति, तेषाम् चेतसि शुचः क्वचन न उदयन्ति, ये तावकानि चरितानि अनुमोदयन्ति ।

अर्थ—वे लोग शत्रुओंको भी सत्कार्योंमें लगाते हैं, और अपनी सूक्तियोंसे सज्जनोंका मनोविनोद करते हैं। उनके चित्तमें शोक कदापि नहीं उदय हो सकता, जो लोग कि भगवान् शिवके चरित्रोंका अनुमोदन करते हैं।

ते विग्रहोग्रमनसोऽपि न खेदयन्ति
मोहं दृढार्गलनिभं हृदि भेदयन्ति ।
स्वं कौशलं मृदुमतीनपि वेदयन्ति
सूक्तानि ये तव निजानि निवेदयन्ति ॥ १२ ॥

अन्वय—ते विग्रहोग्रमनसः अपि न खेदयन्ति, हृदि दृढार्गलनिभम् मोहम् भेदयन्ति। ते मृदुमतीन् अपि स्वम् कौशलम् वेदयन्ति, ये निजानि सूक्तानि तव [पुरः] निवेदयन्ति।

अर्थ—हे नाथ ! वे लोग महावैर-(द्वेषभाव) से भरे हुए लोगोंके भी चित्तको खिन्न नहीं करते, और हृदयमें दृढ अर्गलके समान मोह-पटलको विदीर्ण (खण्ड-खण्ड) कर देते हैं; एवं कोमलमतिवालोंको भी अपना काव्य-कौशल बतला देते हैं, जो कि अपनी सूक्तियोंको आप-(जगत्प्रभु) के आगे निवेदन करते हैं।

ते भेजुषां भवति भक्तिममन्दयन्ति
वाग्वीरुधस्त्वयि रतिं हृदि कन्दयन्ति।
त्वामन्यदर्शनगतानपि वन्दयन्ति
ये वाग्भरेण हृदयं तव नन्दयन्ति ॥ १३ ॥

अन्वय—ते (जनाः) भेजुषाम् भवति भक्तिम् अमन्दयन्ति, हृदि वाग्वीरुधः त्वयि रतिम् कन्दयन्ति, [ते] अन्य-दर्शनगतान् अपि [निजचातुर्यात्] त्वाम् वन्दयन्ति, ये वाग्भरेण तव हृदयं नन्दयन्ति।

अर्थ—वे लोग (भवसागरसे पार उतरनेका उपाय पूछनेके लिए) शरणमें आये हुए दीन-जनोंको आपकी भक्तिसे परिचय करा देते हैं, और अपनी वाणी-रूपी लताका आपमें अनुराग कराके उसे अपने हृदयमें गाड़ देते हैं। वे लोग अपने प्रभावके द्वारा कुटिल-मार्ग-गामी नस्तिकोंको भी आप-(ईश्वर) का अस्तित्व स्वीकृत करा देते हैं, जो कि अपने वाग्वैभवसे आपका मनोरञ्जन करते हैं।

ते भुक्तिमुक्तिसफलर्द्धि विवर्द्धयन्ति
सत्कर्म शर्म शमिताधि च साधयन्ति।
ये त्वां नवैरभिनवैरभिराधयन्ति
यानिक्षुसारमधुरान् सुधियो धयन्ति ॥ १४ ॥

अन्वय—ते भुक्तिमुक्तिसफलर्द्धि सत्कर्म विवर्द्धयन्ति। शमिताधि शर्म च साधयन्ति। ये अभिनवैः नवैः त्वाम् अभिराधयन्ति; यान् इक्षुसारमधुरान् सुधियः धयन्ति।

अर्थ—वे लोग भुक्ति (भोग) और मुक्ति-(मोक्ष) रूपी अक्षय संपत्तिसे भरे हुए सत्कर्मोंकी अभिवृद्धि करते हैं। सकल आधि-व्याधियोंको शान्त करनेवाली शान्तिको उपार्जित करते हैं। जो पुरुष कि ऐसे-ऐसे नूतन स्तोत्रोंसे आपकी आराधना करते हैं, कि जिन (स्तुतियों) को सहृदय लोग सुमधुर इक्षु-रसके समान पीते हैं।

ते संगरे गुरुरुषोऽपि न योधयन्ति
ज्ञानामृतेन हृदयं च विशोधयन्ति।
रोषोद्भवं हृदि रिपोरपि रोधयन्ति
ये त्वां निजा नुतिकथाः प्रतिबोधयन्ति ॥ १५ ॥

अन्वय—ते संगरे गुरुरुषः अपि न योधयन्ति, ज्ञानामृतेन च हृदयम् विशोधयन्ति। रिपोः अपि रोषोद्भवम् हृदि रोधयन्ति, ये त्वाम् निजाः नुतिकथाः प्रतिबोधयन्ति।

अर्थ—वे लोग युद्धमें महान् क्रोधी लोगोंसे भी कुपित नहीं होते; और ज्ञानरूपी अमृतसे अपने हृदयको स्वच्छ करते हैं। वे मारनेको तत्पर हुए वैरीके भी कोपको शान्त कर देते हैं, जो कि आपको अपनी स्तुति और कथा सुनाते हैं।

ते दुर्मदान् बुधसदस्यवमानयन्ति
प्रौढान् प्रणम्य विनयेन च मानयन्ति।
तान् भूतयः स्वयमनन्यसमानयन्ति
ये वासरांस्तव नवैः सशमा नयन्ति॥ १६॥

अन्वय—ते बुधसदसि दुर्मदान् अवमानयन्ति, प्रौढान् च विनयेन प्रणम्य मानयन्ति। तान् अनन्यसमान् भूतयः स्वयम् अयन्ति, ये सशमाः तव नवैः वासरान् नयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष अपने औदार्यातिशयके द्वारा विद्वज्जनोंकी भरी सभामें उद्धत पण्डितमन्योंको अपमानित करते हैं, और सद्विद्वानोंको विनयपूर्वक प्रणाम करके सम्मानित करते हैं। उन महात्माओंके पास सकल सम्पत्तियाँ अपने आप ही आ जाती हैं, जो शान्त-पुरुष आपकी स्तुतिमें दिन बिताते हैं।

ते निर्भये नतिमतः पथि यापयन्ति
नोत्कम्पदानपि रिपूनुपतापयन्ति।
क्लेशापदं पशुसमानपि हापयन्ति
ये त्वां प्रसाद्य दृशमीश्वर दापयन्ति॥ १७॥

अन्वय—ईश्वर! ते नतिमतः निर्भये पथि यापयन्ति, उत्कम्पदान् अपि रिपून् न उपतापयन्ति। पशुसमान् अपि क्लेशापदम् हापयन्ति; ये त्वाम् प्रसाद्य, दृशम् दापयन्ति।

अर्थ—हे ईश्वर! वे पुरुष विनीत जनोंको निर्भय (कैवल्यदायक) मार्गमें लगाते हैं, और (परम शान्त होनेके कारण) महात्रास देनेवाले शत्रुओंको भी सन्ताप नहीं देते। वे लोग पशुओंके समान महा अज्ञानी जीवोंके भी क्लेशोंको दूर कर देते हैं, जो कि (स्तुतियोंके द्वारा) आपको प्रसन्न करके, आपकी कृपादृष्टिके पात्र बन जाते हैं।

ते दुर्मदं शमनमुग्रमदर्पयन्ति
गर्धं च साधुसदनादपसर्पयन्ति।
दानादिनार्थिनिवहानपि तर्पयन्ति
ये तावके मुकुटमङ्घ्रितलेऽर्पयन्ति॥ १८॥

अन्वय—ते दुर्मदम् उग्रम् शमनम् अदर्पयन्ति, साधुसदनात् गर्धम् च अपसर्पयन्ति। दानादिना अर्थिनिवहान् अपि तर्पयन्ति, ये तावके अङ्घ्रितले मुकुटम् अर्पयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष उग्र कालके दर्पको दूर कर देते हैं, और सज्जनोंके गृहसे धनादिके लोभको दूर कर देते हैं, अर्थात् उनकी सब विपत्तियोंको दूर कर देते हैं। दानादिसे याचक-जनोंको सन्तुष्ट कर देते हैं, जो कि प्रभुके चरणारविन्दमें अपने मस्तकको अर्पित करते हैं।

ते सद्‌गृहेषु गुरुमापदमल्पयन्ति
स्वं चाशयं शिशयिषोस्तव तल्पयन्ति।
आर्तिस्पृशामुपकृतीरपि कल्पयन्ति
ये बालकानपि नवं तव जल्पयन्ति॥ १९॥

अन्वय—ते सद्‌गृहेषु गुरुम् आपदम् अल्पयन्ति, शिशयिषोः तव स्वम् आशयम् तल्पयन्ति। ते आर्तिस्पृशाम् उपकृतीः अपि कल्पयन्ति; ये तव नवम् बालकान् अपि जल्पयन्ति।

अर्थ—वे महात्मा विद्वज्जनोंके घरकी विपत्तिको दूर कर देते हैं, और आपके शयन करनेके लिए अपने अन्तःकरणकी शय्या बना देते हैं, अर्थात् अपने निर्मल अन्तःकरणमें आपके बैठनेका स्थान बनाते हैं। वे आर्त्त लोगोंका भी उपकार करते हैं, जो पुरुष कि, बालकोंको भी आपकी स्तुतिका पठन कराते हैं।

ते सापराधमनसोऽपि न कोपयन्ति
तापं ह्रिया विपुलमापदि गोपयन्ति।
त्वद्धाम चामलमतीनधि-रोपयन्ति
ये नार्चनं तव कदाचन लोपयन्ति॥ २०॥

अन्वय—ते सापराधमनसः अपि न कोपयन्ति, आपदि विपुलम् तापम् ह्रिया गोपयन्ति, अमलमतीन् त्वद्धाम अधिरोपयन्ति, ये कदाचन तव अर्चनम् न लोपयन्ति।

अर्थ—वे लोग अपराध करनेवालोंको भी कुपित नहीं करते; आपत्तिमें किसी कारण (अकस्मात्) प्राप्त हुए महान् सन्तापको (भी) लज्जाके मारे बाहर नहीं प्रकट किया करते। वे स्वच्छ अन्तःकरणवाले भावुकोंको आपके धाममें पहुँचा देते हैं; जो लोग कि आपके पूजनका कदापि लोप नहीं करते हैं।

ते शक्तिमप्रतिहतां भुवि जृम्भयन्ति
प्रीतिं परां कृतमतीनुपलम्भयन्ति।
वंशत्रयीमपि निजामभिशोभयन्ति
ये त्वां निजासु नुतिसूक्तिषु लोभयन्ति॥ २१॥

अन्वय—ते अप्रतिहताम् शक्तिम् भुवि जृम्भयन्ति, कृतमतीन् पराम् प्रीतिम् उपलम्भयन्ति, निजाम् वंशत्रयीम् अपि अभिशोभयन्ति; ये त्वाम् निजासु नुतिसूक्तिषु लोभयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष अपनी अमोघ-शक्तिको समस्त विश्वमें विस्तृत कर देते हैं,

विद्वज्जनोंको अपना परम प्रेमी बना लेते हैं, और अपने तीनों वंशों-(पितृवंश, मातृवंश और विद्यावंश) को कीर्तिसे सुशोभित कर देते हैं; जो पुरुष कि अपनी स्तुतियोंसे प्रभुको लुब्ध कर देते हैं ।

ते मग्नमार्त्तजनमापदि तारयन्ति
बुद्ध्या विमृश्य सदसच्च विचारयन्ति ।
अज्ञानमानतिमतां च निवारयन्ति
त्वद्भक्तिमिन्दुधर ये हृदि धारयन्ति ॥ २२ ॥

अन्वय—इन्दुधर ! ते आपदि मग्नम् आर्तजनम् तारयन्ति; बुद्ध्या विमृश्य सदसत् च विचारयन्ति । आनतिमताम् च अज्ञानम् निवारयन्ति, ये (जनाः) त्वद्भक्तिम् हृदि धारयन्ति ।

अर्थ—हे इन्दुधर ! वे लोग महान् विपत्तिमें डूबे हुए आर्त-जनोंको पार लगा देते हैं; और बुद्धिके द्वारा सत् और असत् वस्तुका विवेचन करते हैं । एवं विनीत जनोंके अज्ञानको दूर हटा देते हैं; जो कि आपकी भक्तिको अपने हृदयमें धारण करते हैं ।

ते विद्विषः स्थिररुषोऽप्यनुकूलयन्ति
मोहं महीरुहमिव प्रविमूलयन्ति ।
आज्ञां च मूर्ध्नि महतामवचूलयन्ति
ये भालमङ्घ्रिरजसा तव धूलयन्ति ॥ २३ ॥

अन्वय—ते स्थिररुषः अपि विद्विषः अनुकूलयन्ति, मोहम् महीरुहम् इव प्रविमूलयन्ति । आज्ञाम् च महताम् मूर्ध्नि अवचूलयन्ति, ये तव अङ्घ्रिरजसा भालम् धूलयन्ति ।

अर्थ—वे लोग महान् क्रोधी शत्रुओंको भी अपने अनुकूल कर लेते हैं । मोहको, वृक्षके समान, जड़से ही उखाड़ देते हैं । और अपनी आज्ञाको सज्जनोंका शिरोभूषण बनाते हैं, जो सौभाग्यशाली लोग आपकी चरण-रजको अपने ललाटमें धारण करते हैं ।

ते पङ्कमङ्कगतमात्मनि धावयन्ति
दिङ्मण्डलं च परितः परिपावयन्ति ।
क्लेशान् क्षणात्तृणगणानिव लावयन्ति
ये त्वां प्रकाशवपुषं हृदि भावयन्ति ॥ २४ ॥

अन्वय—ते अङ्कगतम् पङ्कम् आत्मनि धावयन्ति, दिङ्मण्डलम् च परितः परिपावयन्ति, क्लेशान् तृणगणान् इव क्षणात् लावयन्ति, ये प्रकाशवपुषम् त्वाम् हृदि भावयन्ति ।

अर्थ—वे पुरुष अपने अन्तःकरणके मलको स्वयं ही स्वच्छ कर लेते हैं, और अपनी महिमासे समस्त दिगन्तोंको पवित्र कर देते हैं । एवं अविद्यादि पञ्च क्लेशों,

अथवा सांसारिक दुःखोंको क्षणभरमें ही तृणोंके समान काट डालते हैं, जो सज्जन कि आप परम प्रकाशमय प्रभुकी अपने हृदयमें भावना करते हैं।

ते पीवरीं विपदमोकसि कर्शयन्ति
स्वं कौशलं सुमनसश्च विमर्शयन्ति।
प्रीतिं सतां च हृदयेषु निवेशयन्ति
ये त्वत्स्तुतीर्विबुधसद्मसु दर्शयन्ति ॥ २५ ॥

अन्वय—ते ओकसि [स्थिताम्] पीवरीम् विपदम् कर्शयन्ति, स्वम् च कौशलम् सुमनसः विमर्शयन्ति। सताम् च हृदयेषु प्रीतिम् निवेशयन्ति। ये त्वत्स्तुतीः विबुधसद्मसु दर्शयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष अपने गृहकी महान् विपदाओंको नष्ट कर देते हैं; अपने कौशलको विद्वानोंको सुनाते हैं। और सहृदयोंके हृदयमें प्रीति उत्पन्न कर देते हैं; जो पुरुष कि आप (भगवान्) की स्तुतियोंको विद्वानोंके घरोंमें दिखलाते हैं।

ते निर्मलं सुकृतमात्मनि पोषयन्ति
दुष्कर्मकर्दममलं हृदि शोषयन्ति।
क्रूरान् विरोधविधुरानपि तोषयन्ति
ये नाम ते शिवशिवेत्यभिघोषयन्ति ॥ २६ ॥

अन्वय—ते निर्मलम् सुकृतम् आत्मनि पोषयन्ति, दुष्कर्मकर्दमम् हृदि अलम् शोषयन्ति, विरोधविधुरान् अपि क्रूरान् तोषयन्ति; ये शिवशिवेति ते नाम अभिघोषयन्ति।

अर्थ—वे धन्यात्मा अपने सुनिर्मल पुण्यको परिपुष्ट करते हैं। और दुष्कर्म रूपी कीचड़को मनमें ही सुखा डालते हैं; एवं महान् विरोधी, क्रूर लोगोंको भी वे सन्तुष्ट कर देते हैं; जो विवेकी जन आपके 'शिव! शिव!' ऐसे पवित्र नामकी घोषणा (ध्वनि) करते हैं।

ते विश्वमेव चरितैरभिभूषयन्ति
क्रुद्धान् विरुद्धहृदयाँश्च न दूषयन्ति।
नात्युद्भटान् यमभटानपि रोषयन्ति
रागेण ये शिव मनस्तव तोषयन्ति ॥ २७ ॥

अन्वय—ते [निजैः] चरितैः विश्वम् एव अभिभूषयन्ति, विरुद्धहृदयान् क्रुद्धान् च न दूषयन्ति। अत्युद्भटान् यमभटान् अपि न रोषयन्ति, शिव! ये रागेण[1] तव मनः तोषयन्ति।

अर्थ—हे शिव! वे पुरुष अपने सुचरित्रोंसे समस्त विश्वको विभूषित कर देते हैं, और विरुद्धस्वभाववाले क्रूर लोगोंको भी दूषित नहीं करते; महाभयंकर यमदूतों

(१) त्वद्भक्तिरसेन, रागालापेन वा—'गीतवादेन शंकरः' इत्युक्तेः।

को भी कुपित नहीं करते; जो पुरुष कि आपकी भक्तिके अनुरागद्वारा, अथवा गीतालाप से, आप आशुतोषीका मनः-सन्तोष करते हैं ।

ते त्वां कृपाम्बुतृषिते हृदि वर्षयन्ति
स्वान्तौकसोऽघभुजगानपि कर्षयन्ति ।
कम्पं विधाय च यमं भ्रुवि धर्षयन्ति
ये त्वां [1]निजैर्नुतिपदैर्हर हर्षयन्ति ॥ २८ ॥

अन्वय—हर ! ते कृपाम्बुतृषिते हृदि त्वाम् वर्षयन्ति । स्वान्तौकसः अघभुजगान् अपि कर्षयन्ति । भ्रुवि च कम्पम् विधाय यमम् धर्षयन्ति । ये त्वाम् निजैः नुतिपदैः हर्षयन्ति ।

अर्थ—हे हर ! वे लोग आपकी कृपारूपी अम्बुके लिए पिपासित बने हृदयमें आप (प्रभु) की वर्षा कर देते हैं, और निज अन्तःकरणरूप गृहसे पापरूपी महा-भुजंगोंको दूर कर देते हैं । एवं आँखोंके इशारेसे ही यमराजको निस्तेज कर देते हैं; जो कि आपको अपनी स्तुति-रचनाओंसे हर्षित करते हैं ।

ते मौनमुद्रितगिरोऽप्युपहासयन्ति
गीर्भिर्मुखानि सुधियामधिवासयन्ति ।
विश्वं यशोभिरमलैरभिभासयन्ति
ये मानसं तव नवैः प्रविकासयन्ति ॥ २९ ॥

अन्वय—ते मौनमुद्रितगिरः अपि उपहासयन्ति, गीर्भिः सुधियाम् मुखानि अधिवास-यन्ति । अमलैः यशोभिः विश्वम् अभिभासयन्ति । ये नवैः तव मानसम् प्रविकासयन्ति ।

अर्थ—वे लोग अपने सुमनोहर वचनोंसे मौनव्रतधारियोंको भी हँसा देते हैं, और अपनी सूक्तियोंसे विद्वज्जनोंके मुखोंको सुगन्धित करते हैं, एवं अपने निर्मल यशसे सारे विश्वको प्रकाशित कर देते हैं । जो लोग कि सुन्दर स्तुति-रचना-ओंसे प्रभुके चित्तको विकसित कर देते हैं ।

ते चित्तभित्तिमसतामपि चित्रयन्ति
रोषोद्धतानरिजनानपि मित्रयन्ति ।
सूक्तामृतैश्च भुवमेव पवित्रयन्ति
वाङ्नावि ये तव चरित्रमरित्रयन्ति ॥ ३० ॥

अन्वय—ते असताम् अपि चित्तभित्तिम् चित्रयन्ति; रोषोद्धतान् अरिजनान् अपि मित्रयन्ति । सूक्तामृतैः भुवम् एव पवित्रयन्ति । ये तव चरित्रम् वाङ्नावि अरित्रयन्ति ।

अर्थ—वे सत्पुरुष दुर्जनोंकी भी चित्तभित्तियोंको चकित कर देते हैं, महा दाह (कोप) से भरे हुए शत्रुजनोंको भी मित्र बना लेते हैं । एवं मनोहर वचनामृतोंसे

(१) नवैरित्यपि पाठः ।

सारी पृथिवीको पवित्र कर देते हैं, जो महात्मा आपके सुपवित्र चरित्रको अपनी वाणी-रूपी नौकाका अरित्र (आधार-स्तम्भ) बना लेते हैं।

चेतांसि ते सुकृतिनामुपबृंहयन्ति
बाह्यान्तरानसुहृदश्च निबर्हयन्ति ।
नात्मानमानतमरीनपि गर्हयन्ति
ये त्वां नवस्तवविभूतिभिरर्हयन्ति ॥ ३१ ॥

अन्वय—ते सुकृतिनाम् चेतांसि उपबृंहयन्ति; बाह्यान्तरान् असुहृदः च निबर्हयन्ति; अरीन् आनतम् अपि आत्मानम् न गर्हयन्ति, ये त्वाम् नवस्तवविभूतिभिः अर्हयन्ति ।

अर्थ—वे सज्जन सत्पुरुषोंके चित्तको हर्षित करते हैं; बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओंको नष्ट कर देते हैं और शत्रुओंके अधीन होनेपर भी अपनेको गर्हित नहीं समझते हैं; जो महात्मा नवीन-नवीन मनोहर स्तुति-वाक्योंके द्वारा आपका सम्मान करते हैं।

आत्मानं ते कलुषकलिले मग्नमुच्चालयन्ति
ज्ञानाम्भोभिर्मलमलिकुलश्यामलं क्षालयन्ति ।
स्मृत्वा च त्वां प्रमदरभसादंसमास्फालयन्ति
त्वद्भक्त्या ये सकलमलसं चित्तमुत्तालयन्ति ॥ ३२ ॥

अन्वय—ते कलुषकलिले मग्नम् आत्मानम् उच्चालयन्ति, अलिकुलश्यामलम् मलम् ज्ञानाम्भोभिः क्षालयन्ति । त्वाम् च स्मृत्वा प्रमदरभसात् अंसम् आस्फालयन्ति; ये सकलम् अलसम् चित्तम् त्वद्भक्त्या उत्तालयन्ति ।

अर्थ—वे लोग पापरूपी कर्दम-(कीचड़) में डूबे हुए आत्मा-(अपने) को पार कर लेते हैं, अलिकुल-(भ्रमरसंघ) के समान श्यामल (काले) मलों-(त्रिविध पापों) को ज्ञानरूपी निर्मल जलसे प्रक्षालित कर देते हैं। प्रभो ! वे आपको स्मरण करके हर्षके मारे अतीव उत्कण्ठित होकर अपने स्कन्धको आस्फालित (उत्तेजित) करते हैं; जो सज्जन कल्याण मार्गमें आलसी मनको आपकी भक्तिके बलसे शीघ्रगामी (फुर्तीला) बना देते हैं।

ते रामाणां मनसि मदनं सुप्तमुन्निद्रयन्ति
श्लाघां लब्धुं सदसि च सतां चित्तमुन्मुद्रयन्ति ।
तानुद्वृत्ताः कुटिलमतयो न क्वचिच्छिद्रयन्ति
त्वच्चित्तं ये वरद करुणाक्रन्दितैरार्द्रयन्ति ॥ ३३ ॥

अन्वय— वरद ! ते रामाणां मनसि सुप्तम् मदनम् उन्निद्रयन्ति, सदसि च श्लाघाम् लब्धुम् सतां चित्तम् उन्मुद्रयन्ति । उद्वृत्ताः कुटिलमतयः तान् क्वचित् [अपि] न छिद्रयन्ति, ये करुणाक्रन्दितैः त्वच्चित्तम् आर्द्रयन्ति ।

अर्थ—हे वरद ! वे सज्जन युवतिजनोंके मनमें सोये हुए कामको जगा देते हैं; और सभाके बीचमें श्लाघा (प्रशंसा) प्राप्त करनेके लिए सज्जनोंके चित्तकी मौनमुद्राको विचलित कर देते हैं; एवं उन्हें महाक्रूर, कुटिल-मति (धूर्त्त) लोग कभी भी नहीं छेड़ सकते, जो धन्यात्मा अपने करुणालापोंसे आप करुणासागरके चित्तको आर्द्र कर देते हैं।

ते सभ्यानां सदसि नयनान्यश्रु विस्रावयन्ति
क्रोधोत्कर्षं गुरुमुरुरुषां दूरमुत्प्रावयन्ति ।
चेतः सूक्तैर्मणिमिव सतामैन्दवं द्रावयन्ति
स्वामिन् ये त्वामभिनवनवव्याहृतीः श्रावयन्ति ॥३४॥

अन्वय—स्वामिन् ! ते, सदसि सभ्यानाम् नयनानि अश्रु विस्रावयन्ति, उरुरुषाम् गुरुम् क्रोधोत्कर्षम् दूरम् उत्प्रावयन्ति । सूक्तैः सताम् चेतः ऐन्दवम् मणिम् इव, द्रावयन्ति; ये त्वाम् अभिनवनवव्याहृतीः श्रावयन्ति ।

अर्थ—प्रभो ! वे सत्पुरुष सभामें सभ्य-जनोंके नयनोंसे अश्रुधारा बहा देते हैं और ईर्ष्याके भरे हुए महाद्रोही लोगोंके भी क्रोधको दूर कर देते हैं। वे अपनी सूक्तियों-से सहृदय जनोंके चित्तको, चन्द्रकान्ता मणिके समान, पिघला देते हैं, जो लोग कि आपको नवीन-नवीन स्तुति-वचन सुनाते हैं।

तेषां सूक्तीरमलमतयः पूगवच्चर्वयन्ति
क्रूराणां ते मदमभिमुखं प्रेङ्खितं खर्वयन्ति ।
तान् विद्वांसस्तव नवसुधास्वादनायाह्वयन्ति
त्वत्पादाग्रे मुदितमनसो ये शिरः प्रह्वयन्ति ॥३५॥

अन्वय—तेषाम् सूक्तीः अमलमतयः पूगवत् चर्वयन्ति, ते क्रूराणाम् अभिमुखम् प्रेङ्खितम् मदम् खर्वयन्ति । तान् विद्वांसः तव नवसुधास्वादनाय आह्वयन्ति; ये मुदितमनसः [सन्तः] त्वत्पादाग्रे शिरः प्रह्वयन्ति ।

अर्थ—उन महात्माओंकी सूक्तियोंको सहृदय लोग पूगीफल (सुपारी)की तरह चर्वित करते हैं; वे महात्मा क्रूर जनोंके दुष्ट मदको दूर कर देते हैं। और उन्हें विद्वान् लोग आपकी स्तुति-रूपी सुधाके समास्वादनके लिए अपने पास बुलाते हैं, जो सज्जन अत्यन्त मुदितचित्त होकर आपके चरणारविन्दके आगे अपना मस्तक झुकाते हैं।

ते दुर्वृत्तानपि न कृपया पेशलाः क्लेशयन्ति
ग्लानिं ज्ञानां व्यसनजनितामाशये नाशयन्ति ।
तृष्णार्त्तानप्यमृतमधुराः स्वा गिरः प्राशयन्ति
त्वामन्तर्ये शकलितकलिक्लेशमावेशयन्ति ॥३६॥

अन्वय--ते कृपया पेशलाः [सन्तः] दुर्वृत्तान् अपि न क्लेशयन्ति; ज्ञानाम् आशये व्यसनजनिताम् ग्लानिम् नाशयन्ति । तृष्णार्त्तान् अपि अमृतमधुराः स्वाः गिरः प्राशयन्ति; ये शकलितकलिक्लेशम् त्वाम् अन्तः आवेशयन्ति ।

अर्थ—वे पुरुष कृपासे कोमलचित्त होते हुए दुर्जनोंको भी कष्ट नहीं देते, विद्वानोंके अन्तःकरणमें विपत्तियोंके कारण उत्पन्न हुई ग्लानिको दूर कर देते हैं; एवं भगवच्चरितामृतके श्रवणके लिए उत्सुक हुए पिपासुओंको अमृतके समान अपनी सुमधुर सूक्तियोंका पान कराते हैं, जो इस कलिकालके कलह-जन्य क्लेशोंको मिटाने-वाले आप दयालु प्रभुको अपने अन्तःकरणमें बैठा लेते हैं ।

ते रागादीन्मनसि मिलितानाशु विश्लेषयन्ति
क्रोधान्धानप्यतनुविनया न क्वचिद् द्वेषयन्ति ।
मोहध्वान्तं घनमधिमतिव्योम निःशेषयन्ति
त्वत्पार्श्वं ये गिरमभिमतप्राप्तये प्रेषयन्ति ॥३७॥

अन्वय—ते मनसि मिलितान् रागादीन् आशु विश्लेषयन्ति, अतनुविनयाः [सन्तः] क्रोधान्धान् अपि क्वचिद् (अपि) न द्वेषयन्ति । अधिमतिव्योम घनम् मोहध्वान्तम् निःशेषयन्ति, ये अभिमतप्राप्तये गिरम् त्वत्पार्श्वम् प्रेषयन्ति ।

अर्थ—वे लोग अन्तःकरणसे रागद्वेषादि दोषोंको पृथक् कर देते हैं और अत्यन्त विनीत होते हुए क्रोधान्ध लोगोंके साथ कभी भी द्वेष नहीं करते; वे लोग बुद्धि-रूपी आकाशसे मोहरूपी अन्धकारको दूर कर देते हैं; जो पुरुष कि स्वाभीष्ट-प्राप्तिके लिए अपनी वाणीको आपकी सेवामें लगाते हैं ।

ते निर्वेदं मनसि शमिनामद्भुतं ह्रासयन्ति
त्रस्तानस्तंगमितविपदः शश्वदाश्वासयन्ति ।
त्वद्भावैकप्रवणभणितैरन्तकं त्रासयन्ति
स्तुत्या ये त्वां नतजनहृतत्रासमुल्लासयन्ति ॥३८॥

अन्वय—ते शमिनाम् मनसि निर्वेदम् अद्भुतम् ह्रासयन्ति; अस्तंगमितविपदः (सन्तः) त्रस्तान् शश्वत् आश्वासयन्ति । त्वद्भावैकप्रवणभणितैः अन्तकम् त्रासयन्ति, ये नतजनहृतत्रासम् त्वाम् स्तुत्या उल्लासयन्ति ।

अर्थ—वे पुरुष शान्त लोगोंके चित्तसे खेदको दूर कर देते हैं और समस्त विपत्तियोंको दूर करते हुए भयभीतोंको आश्वासन देते हैं । वे आपकी ही भावनाओंसे भरी हुई सूक्तियोंके झङ्कारसे यमराजको भयभीत कर देते हैं; जो कि शरणागतोंके भयको हरनेवाले आप हरको स्तुतिसे प्रसन्न कर लेते हैं ।

ते तज्ज्ञानां परिषदि गुणानात्मनः शंसयन्ति
स्वान्ते चान्तर्यमभुजगजं साध्वसं ध्वंसयन्ति ।
क्लेशान्पाशानिव च निबिडानाशु विस्रंसयन्ति
प्रौढानां ये तव नुतिमधिश्रोत्रमुत्तंसयन्ति ॥३९॥

अन्वय—ते तज्ज्ञानाम् परिषदि आत्मनः गुणान् शंसयन्ति; स्वान्ते अन्तः च यमभुजगजम् साध्वसम् ध्वंसयन्ति। क्लेशान् च निबिडान् पाशान् इव आशु विस्रंसयन्ति; ये तव नुतिम् प्रौढानाम् अधिश्रोत्रम् उत्तंसयन्ति।

अर्थ—वे लोग विद्वज्जनोंकी सभामें अपने सद्गुणोंको विख्यात करते हैं; और अन्तःकरणसे काल-पाशके भयको दूर कर देते हैं, अविद्यादि पञ्च-क्लेशोंको अत्यन्त दृढ़ रज्जुओंके समान, पृथक्-पृथक् कर डालते हैं, जो पुरुष कि आपकी स्तुतियोंको सहृदय जनोंके कर्णोंका आभूषण बनाते हैं।

ते त्वद्भक्तिव्यसनमनघं कर्म निर्वाहयन्ति
त्वत्सेवासु स्थिरमविरतं चित्तमुत्साहयन्ति।
स्वं चाघौघं यममदनवत् त्वद्दृशा दाहयन्ति
त्वां विज्ञप्तिं स्वयमवहितं येऽन्वहं ग्राहयन्ति ॥४०॥

अन्वय—ते त्वद्भक्तिव्यसनम् अनघम् कर्म निर्वाहयन्ति, चित्तम् अविरतम् त्वत्सेवासु स्थिरम् उत्साहयन्ति। स्वम् च अघौघम् यममदनवत् त्वद्दृशा दाहयन्ति, ये अन्वहम् अवहितम् स्वयम् (एव) त्वाम् विज्ञप्तिम् ग्राहयन्ति।

अर्थ—वे पुरुष आपकी भक्ति-रूपी व्यसनवाले सत्कर्मोंके द्वारा अपना कालक्षेप करते हैं। अपने चित्तको निरन्तर आपकी सेवाके लिए प्रोत्साहित करते हैं, एवं पापोंको, काल और कामदेवकी तरह, आपकी ही दृष्टिसे भस्म करा देते हैं, जो भाग्यशाली प्रतिदिन, सावधान होकर, अपने आप ही आपको अपनी करुण-विज्ञप्ति सुनाते हैं।

ते तक्षाणं तरुमिव गुरुं त्वामघं तक्षयन्ति
प्राप्तुं तृप्तिं शुभफलभरं निर्भरं भक्षयन्ति।
प्रत्यासन्नां श्रियमपि धिया तीक्ष्णया लक्षयन्ति
त्वद्भक्तान् ये श्रुतिमिव नुतिं तावकीं शिक्षयन्ति ॥४१॥

अन्वय—ते तक्षाणम् तरुम् इव, त्वाम् गुरुम् अघम् तक्षयन्ति, तृप्तिम् प्राप्तुम् निर्भरम् शुभफलभरम् भक्षयन्ति। तीक्ष्णया धिया प्रत्यासन्नाम् श्रियम् अपि लक्षयन्ति, ये त्वद्भक्तान् श्रुतिम् इव, तावकीम् नुतिम् शिक्षयन्ति।

अर्थ—जैसे कोई लोग तक्षक (बढ़ई) के द्वारा महान् वृक्षको कटवाते हैं, वैसे ही वे पुरुष, आप (भगवान्) के द्वारा अपने महान् पापको कटवाते हैं और परम तृप्त होनेके लिए सत्कर्मरूपी उत्तम फलोंको भक्षण करते हैं; एवं आपके ध्यानमें तल्लीन हुई बुद्धिके द्वारा मोक्ष-लक्ष्मीको अतिशय निकटमें ही (करतलामलकवत्) देख लेते हैं; जो धन्यात्मा कि आपके भक्तोंको श्रुति (वेद) के समान आपकी स्तुति सिखलाते हैं।

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरक-महाकवि श्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ 'स्तुति-फलप्राप्ति'नामकं षट्त्रिंशं स्तोत्रम्।

सप्तत्रिंशं स्तोत्रम्

अब ग्रन्थकार 'स्तुति-प्रशंसा' अर्थात् प्रभुकी स्तुतिकी प्रशंसा, नामक सैंतीसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हैं—

इह हि स्वात्ममहेश्वरपरिभावनशुद्धसंविदः सुधियः ।
कमलदलानि जलैरिव बहिरावरणैर्न लिप्यन्ते ॥१॥

अन्वय—हि, इह स्वात्ममहेश्वरपरिभावनशुद्धसंविदः सुधियः, जलैः कमलदलानि इव, बहिरावरणैः न लिप्यन्ते ।

अर्थ—स्वीय आत्मा-(हृदय) में भगवान् महेश्वरकी भावना (ध्यान) करनेसे, अथवा स्वात्म (त्वंपदार्थ—जीव) और महेश्वर (तत्पदार्थ—ब्रह्म) की अभेद-भावना (अद्वैतभाव) से, जिनकी मति विशुद्ध हो गई है, वे महात्मा लोग इस जगत्में, जलमें कमलपत्रके समान, देहेन्द्रियादि-जन्य शुभाशुभ कर्मोंसे लिपायमान नहीं होते ।

कविमुखकमलोपवने कृतवसतिर्जयति सूक्तिकल्पलता ।
या फलति भुक्तिमुक्ती शिवभक्तिसुधारसासेकैः ॥२॥

अन्वय—कविमुखकमलोपवने कृतवसतिः (सा) सूक्तिकल्पलता जयति, या शिवभक्ति-सुधारसासेकैः भुक्तिमुक्ती फलति ।

अर्थ—अहा ! कविजनोंके मुखकमलरूपी उपवनमें निवास करनेवाली उस सूक्तिलताकी सदा जय हो, जो कि शिवभक्तिरूपी सुधारसके सिञ्चनके द्वारा बुभुक्षु (भोगी) और मुमुक्षु (विरक्त) जनोंके लिए भुक्ति (भोग) और मुक्ति (मोक्ष) रूप दोनों फलोंको उत्पन्न करती है ।

जय जय हर रक्ष भयादेवं देवं शिवं शिवं लब्धुम् ।
यः स्तौति तस्य सफलः सारः सारस्वतः स्वतः स्फारः ॥३॥

अन्वय—हर ! जय जय* [माम्] भयात् रक्ष, एवम् शिवम् लब्धुम् यः देवम् शिवम् स्तौति, तस्य सारः सारस्वतः स्फारः स्वतः सफलः [भवति] ।

अर्थ—'हे शिव ! आपकी जय हो, सदा जय हो । हे भगवन् ! मुझ अनाथकी रक्षा कीजिए !' इस प्रकार जो अपना कल्याण चाहनेवाला पुरुष श्री सदाशिवकी स्तुति करता है, उस धन्यात्माके उत्कृष्ट वाग्विलासको धन्य है ।

शिव शिव शङ्कर शङ्कर भव गतिरिति यः प्रलापमुखरमुखः ।
तस्य हि सफला दिवसाः शिवसायुज्यं च हस्तगतम् ॥४॥

अन्वय—शिव ! शिव !! शङ्कर ! शङ्कर !! [त्वं, मम अगतिकस्य] गतिः भव, इति

* जय जयेति पौनरुक्त्ये भक्त्युल्लासान्न दोषः, एवमग्रेऽपि ।

यः प्रलापमुखरमुखः [भवति], तस्य हि, दिवसाः सफलाः [भवन्ति], शिवसायुज्यम् च हस्तगतम् [भवति]।

अर्थ—'हे शिव! हे कल्याणदायिन्! हे शङ्कर! हे शङ्कर!! आप मुझ गतिहीन दीनको शरण दीजिए।' इस प्रकार जो वाचाल पुरुष बार-बार प्रभुको पुकारता है, उसके सब दिन सफल हो जाते हैं, और उस भाग्यवान्के लिए शिव-सायुज्य (मोक्ष) भी कर-बदर-वत् हस्तगत हो जाता है।

इह खलु पशुपतिनुतिभिः कतिपयमपि यः कृतार्थयति कालम्।
सकलकलिकलुषमुक्तो जीवन्मुक्तः स किं बहुना ॥ ५ ॥

अन्वय—इह खलु यः [1]पशुपतिनुतिभिः कतिपयम् अपि कालम् कृतार्थयति; सः सकलकलिकलुषमुक्तः (सन्) जीवन्मुक्तः (भवति), किम् बहुना (उक्तेन)।

अर्थ—इस असार संसारमें जो पुरुष पशुपतिके आराधनमें किञ्चित्-मात्र (एक पलक, अथवा क्षण या मुहूर्त्त-परिमित) भी समय व्यतीत करता है, वह पुरुष कलिकालके सकल पापोंसे मुक्त होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। अब इससे अधिक क्या कहें?

उपचितकुशलश्रेणिः परमपदारोहणैकनिश्रेणिः।
जयति महामृतवेणिर्विबुधजनाह्लादिनी नुतिः शम्भोः ॥६॥

अन्वय—उपचितकुशलश्रेणिः, परमपदारोहणैकनिश्रेणिः, महामृतवेणिः, विबुधजनाह्लादिनी शम्भोः नुतिः जयति।

अर्थ—भवसागरसे पार करानेवाले कल्याणों (पुण्यपुञ्जों) की वृद्धि करनेवाली, परमपद (अर्थात् मोक्षधाम) में आरोहण करनेकी मुख्य निश्रेणी (मूल सीढ़ी), और परम आनन्दरूपी महाअमृतकी धारा, एवं विद्वज्जनोंके हृदयको आह्लादित करनेवाली शिव-स्तुतिकी सदा जय हो।

किमियं सद्गुरुदृष्टिर्ह्लादैकमयी नु किं जगत्सृष्टिः।
किं वा निरभ्रवृष्टिः श्रवणामृतवर्षिणी नुतिः शम्भोः ॥७॥

अन्वय—श्रवणामृतवर्षिणी इयम् शम्भोः नुतिः, किम् सद्गुरुदृष्टिः (अस्ति ?), किम् नु ह्लादैकमयी जगत्सृष्टिः (अस्ति)? किं वा निरभ्रवृष्टिः (अस्ति* ?)।

अर्थ—अहा! सहृदय जनोंके कानोंमें अमृतकी-सी वर्षा करनेवाली यह शिवकी स्तुति क्या सद्गुरुकी अनुग्रह-दृष्टि है? अथवा क्या यह जगत्की अतिशय आनन्दमयी सृष्टि है? या यह बिना बादलोंकी वृष्टिधारा है?

अक्षयसुखोपभुक्तिः परमशिवावाप्तये नवा युक्तिः।
यदि वा जीवन्मुक्तिः श्रवणामृतवर्षिणी नुतिः शम्भोः ॥८॥

---

(१) पंचक्लेशपाशबद्धा जनाः पशवः, तेषां पतिः—पशुपतिः।

* अत्र संशयालङ्कारः।

अन्वय—श्रवणामृतवर्षिणी शम्भोः नुतिः (किम्) अक्षयसुखोपभुक्तिः (अस्ति) ? (किंवा) परमशिवावाप्तये नवा युक्तिः (अस्ति ?) यदि वा जीवन्मुक्तिः (अस्ति ?)।

अर्थ—कानोंमें अमृत बरसानेवाली यह शिवजीकी स्तुति कैवल्यरूपी अक्षय सुखकी भोग-क्रीड़ा है ? किंवा, यह परमपदको प्राप्त करनेकी कोई नवीन विलक्षण (अनोखी) युक्ति है ? अथवा क्या यह साक्षात् जीवन्मुक्ति ही है ?

क्षेत्रं तदिह पवित्रं तत्तीर्थं पावनं तदायतनम् ।
तदिह तपोवनमनघं यत्र नुतिः शांभवी श्रुतिं विशति ॥९॥

अन्वय—यत्र शाम्भवी नुतिः श्रुतिम् विशति, इह तत् (एव) क्षेत्रम् पवित्रम् , तत् (एव) तीर्थम् पावनम् , तत् आयतनम् पावनम् । इह तत् तपोवनम् अनघम् (भवति)।

अर्थ—जिस जगह भगवान् सदाशिवकी स्तुति कर्णगोचर होती है, सुननेमें आती है, वही क्षेत्र पवित्र है; वही परम पवित्र तीर्थ है, वही अशुद्ध घर है, और वही पवित्र तपोवन है।

सा क्रीडा सा गोष्ठी सा विश्रान्तिः स भूमिकालाभः ।
साऽखिलदुःखनिवृत्तिर्यत्र नुतिः शांभवी श्रुतिं विशति ॥१०॥

अन्वय—सा क्रीडा, सा [एव] गोष्ठी, सा [एव] विश्रान्तिः, सः भूमिकालाभः, सा [एव] अखिलदुःखनिवृत्तिः, यत्र शांभवी नुतिः श्रुतिम् विशति।

अर्थ—अहा ! वही एक वास्तविक क्रीड़ा है, वही वास्तविक सभा है, वही परम विश्रान्ति है। और इस संसाररूपी रंगस्थलमें नृत्य करनेवाले जीवकी वही श्रेष्ठ भूमिकाकी प्राप्ति है, एवं वही आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति (मुक्ति) है, जहाँकि परमेश्वरकी स्तुति कर्णगोचर होती है।

तद्ध्यानं स समाधिः स महायागस्तदर्चनं सकलम् ।
सा खलु परमा दीक्षा यत्र नुतिः शांभवी श्रुतिं विशति ॥११॥

अन्वय—तत् ध्यानम् , सः समाधिः, सः [एव] महायागः, तत् सकलम् अर्चनम् , सा खलु परमा दीक्षा, यत्र शांभवी नुतिः श्रुतिम् विशति।

अर्थ—वही दिव्य ध्यान है, वही यथार्थ समाधि है, वही महा-याग है, वही सम्पूर्ण पूजन है, और वही (परमपद-दायिनी सद्गुरुकी) दीक्षा है, जहाँ कि भगवान् सदाशिवकी स्तुति कर्णगोचर होती है।

[अब कुछ श्लोकोंके द्वारा भावुकजनोंको उपदेश देते हुए कवि कहते हैं]—

यदि पारिजातकुसुमस्तबकस्तव कर्णयोरलङ्करणम् ।
भवितुं भवति न सुलभः श्रुतिपथमेता नय स्तुतीः शम्भोः ॥१२॥

अन्वय—[हे प्रणतजन !] यदि पारिजातकुसुमस्तबकः तव कर्णयोः अलङ्करणम् भवितुम् न सुलभः भवति, तर्हि एताः शम्भोः स्तुतीः श्रुतिपथम् नय।

अर्थ—अयि भावुकजनों ! यदि स्वर्गके नन्दनवनमें स्थित पारिजात नामक

कल्पवृक्षके कुसुमोंका स्तबक आपके कर्णोंका आभूषण नहीं बन सकता; तो आप इन (मेरी) शिव-स्तुतियोंको अपने कर्णोंमें धारण कर लीजिए ! अर्थात् ये मेरी स्तुतियाँ स्वर्गके कल्पतरुके पुष्प-स्तबकोंसे भी अधिक मनोहर हैं ।

अभिलषसि यदि निरोद्धुं पवनादपि दुर्ग्रहं मनोहरिणम् ।
तदिमा गृहाण निभृतं दृढगुणगुणगुम्फिताः स्तुतीः शम्भोः ॥१३॥

अन्वय—[अयि भावुकजन !] पवनात् अपि दुर्ग्रहम् मनोहरिणम् निरोद्धुम् यदि अभिलषसि ? तत् इमा दृढगुणगुणगुम्फिताः[1] शम्भोः स्तुतीः निभृतम् गृहाण ।

अर्थ—अये भावुको ! यदि आप लोग पवनसे भी अधिक दुर्ग्रह (कठिनतासे वशमें होनेवाले) अपने मनो-मृगको रोकना चाहते हो, तो मेरी इन ओजः, प्रसाद, माधुर्यादि शब्दार्थ-गुणरूपी दृढ़ गुणों-(तन्तुओं) से गुम्फित[2] शिव-स्तुतियोंको निश्चल होकर अवश्य ग्रहण करो ।

यदमृतमम्बुधिमन्थनसमुत्थितं तस्य कः स्विदास्वादः ।
इति यदि हृदि तव कौतुकमाकर्णय तत्स्तुतीरिमाः शंभोः ॥१४॥

अन्वय—[हे सहृदयजन !] अम्बुधिमन्थनसमुत्थितम् यत् अमृतम् , तस्य कः स्वित् आस्वादः [भवति], इति यदि तव हृदि कौतुकम् [अस्ति], तत् इमाः शम्भोः स्तुतीः आकर्णय ।

अर्थ—अयि सहृदय लोगों ! समुद्रके मन्थनसे निकले हुए अमृतका अस्वाद कैसा होता है, इस प्रकारका कौतूहल यदि आपके मन में है, अर्थात् यदि आप अमृतका आस्वाद जानना चाहते हों, तो इन (मेरी) भगवान् शङ्करकी स्तुतियोंको सुनिए ।

विषयोपभोगरहितः सहजो ह्लादः सतां मतो मोक्षः ।
तमपि यदीच्छसि वेदितुमवहितहृदयः शृणु स्तुतीः शम्भोः ॥१५॥

अन्वय—[हे प्रणतजन !] विषयोपभोगरहितः सहजः ह्लादः मोक्षः सताम् मतः [अस्ति], तम् अपि वेदितुम् यदि [त्वम्] इच्छसि, तर्हि अवहितहृदयः [सन्] शंभोः स्तुतीः शृणु ।

अर्थ—अयि भावुक पुरुष ! विषयोंके उपभोगसे रहित, स्वाभाविक परमानन्द-रूपी मोक्ष पदार्थ ही सज्जनोंको अभिमत (प्रिय) होता है । उसे भी यदि आप जानना चाहते हैं, तो सावधान होकर भगवान् शङ्करकी स्तुतियोंको सुनिए !

अशुचि शुचामायतनं मलकलिलमिदं कलेवरं सत्यम् ।
भगवदुपासनसाधनमिति भवति न कस्य कमनीयम् ॥१६॥

अन्वय—अशुचि, शुचाम् आयतनम् , मलकलिलम् इदम् कलेवरम् सत्यम् । (एवं-भूतमपि शरीरम्) भगवदुपासनसाधनम् भवति, इति (हेतोः) कस्य न कमनीयम् भवति ?

---

१. दृढा ये गुणा ओजःप्रसादमाधुर्याख्यस्त एव गुणास्तन्तवस्तैर्गुम्फिताः, बद्धाः ।
२. हरिणको बाँधनेके लिए भी गुणों (तन्तुओं) से बँधी हुई वागुरा होती है ।

अर्थ—यह मनुष्य-शरीर वास्तव में अपवित्र, शोक-मोहका घर, एवं पापोंसे अत्यन्त कलुषित है, तथापि यह भगवान्‌की उपासनाका परम साधन है। इसलिए यह किसको प्रिय नहीं लगता अर्थात् सभीको प्रिय लगता है। [अतः—]

यदि मनुषे यमनियमप्राणायामादि दुर्घटं कर्तुम् ।
तदिमं सुगममुपायं श्रय परमपदाप्तये नुतिं शम्भोः ॥१७॥

अन्वय—[हे मनुज !] यदि [त्वम्] यमनियमप्राणायामादि कर्तुम् दुर्घटम् मनुषे, तत् परमपदाप्तये इमम् सुगमम् उपायम् शम्भोः नुतिम् श्रय ।

अर्थ—हे मनुष्य ! यदि तू यम-नियम, प्राणायाम, धारणादि अष्टाङ्ग योगका अभ्यास करना अत्यन्त कठिन समझता है, तो फिर उस परमपदको प्राप्त करनेके लिए इस अत्यन्त सरल, सुगम उपाय—श्रीशिवस्तुतिकी शरण ले !

[श्री शिवस्तुतिके प्रतापसे अपनेको कृतकृत्य समझते हुए कवि कहते हैं—]

सिद्धं सम्यगभीष्टं सत्यगिरामाशिषः सतां फलिताः ।
लब्धं सुकृतस्य फलं निर्व्यूढेयं यतः स्तुतिः शम्भोः ॥१८॥

अन्वय—[मम] अभीष्टम् सम्यक् सिद्धम् । सत्यगिराम् सताम् (अपि) आशिषः फलिताः । सुकृतस्य फलम् [मया] लब्धम् । यतः [मया] इयम् शम्भोः स्तुतिः निर्व्यूढा ।

अर्थ—आहा ! मेरा अभीष्ट (मनोरथ) सम्यक् प्रकार सिद्ध हो गया है, सत्यवादी महात्माओंका शुभाशीर्वाद भी मेरे लिए फलीभूत हो गया है और पूर्वोपार्जित पुण्यका फल भी मुझे प्राप्त हो गया है, जो कि मैंने सम्यक् प्रकार यह भगवान् श्रीसदाशिवकी स्तुति पूर्ण कर दी है।

मम सारः संसारः सकलमिदं मर्त्यजन्म मम सफलम् ।
मम सदृशोऽस्ति न कश्चन यदहं स्तोता शिवस्य संवृत्तः ॥१९॥

अन्वय—मम [धन्यस्य] संसारः सारः, मम इदम् मर्त्यजन्म सकलम् सफलम् । [इह] मम सदृशः कश्चन न अस्ति । यत् अहम् शिवस्य स्तोता संवृत्तः ।

अर्थ—यह निःसार भी संसार मेरे लिए सार हो गया है, और मेरा यह मनुष्य-जन्म सारा ही सफल हो गया है । अहा ! इस पृथिवीमें मेरे समान धन्यात्मा दूसरा और कोई भी नहीं है, जो कि मैं भगवान् शिवकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूँ।

[अब कवि अति-गाढ़ भक्ति-सुधाके पानके आवेशमें उन्मत्त पुरुषकी तरह बोलते हुए कहते हैं—]

प्रणमामि प्रणमामि स्तौमि स्तौमि प्रभुं जगन्नाथम् ।
ध्यायामि ध्यायामि च यामि च विमलं परं धाम ॥२०॥

अन्वय—[अहम्] जगन्नाथम् प्रभुम् प्रणमामि प्रणमामि, प्रभुम् स्तौमि स्तौमि, ध्यायामि ध्यायामि च; विमलम् परम् धाम च यामि ।

अर्थ—अहह ! मैं जगदीश्वर प्रभुको मन, वचन, कर्म और शरीरके द्वारा बारम्बार प्रणाम करता हूँ, पुनः पुनः उनकी स्तुति करता हूँ। और तल्लीन होकर उनके

चरणारविन्द-युगलका बारम्बार ध्यान करता हूँ। उनके प्रसादानुग्रहसे मैं परम निर्वाण धामको प्राप्त होऊँगा, और अवश्य होऊँगा !

इति श्री प्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरक-महाकवि-श्रीमज्जगद्धरभट्ट-
विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ
'स्तुति-प्रशंसा' नामकं स्तोत्रं सप्तत्रिंशम्।

अष्टात्रिंशं स्तोत्रम्

अब यहाँसे ग्रन्थकार 'पुण्यपरिणाम' नामक अड़तीसवें स्तोत्रको प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः पुनातु वः
सहस्रचक्षुर्भगवान् सहस्रपात्।
गलेऽङ्घ्रिमूले नयने च निश्चला-
[1]स्त्रयोऽप्यमी यं पुरुषा उपासते ॥ १ ॥

अन्वय—[2]सहस्रशीर्षा पुरुषः, [3]सहस्रचक्षुः पुरुषः, [4]सहस्रपात् पुरुषः, अमी त्रयः अपि (पुरुषाः) निश्चलाः [सन्तः] यम् (श्रीशिवम्, क्रमेण) गले, अङ्घ्रिमूले, नयने च उपासते, (सः) सहस्रशीर्षा, सहस्रचक्षुः, सहस्रपात् [5]पुरुषः भगवान् वः पुनातु।

अर्थ—सहस्र फणोंवाला पुरुष (अर्थात् श्री शेष-नाग) निश्चल होकर जिसके कण्ठपर विराजित होता है, और सहस्रनेत्रोंवाला पुरुष (अर्थात् इन्द्र) शान्त होकर जिस (प्रभु)-के चरणतलकी उपासना करता है एवं सहस्र चरणों-(अनन्त किरणों-) वाला पुरुष (अर्थात् सूर्य) जिसके (दक्षिण) नेत्रमें सुशोभित होता है। इस प्रकार ये तीनों पुरुष सदैव जिस (महापुरुष)-को सेवामें तत्पर रहते हैं, वह सहस्र (अनन्त) शिरोंवाला, सहस्र (अनेकों) नेत्रोंवाला, और सहस्र (अपरिमित) चरणोंवाला, विराट् पुरुष भगवान् शिव आप लोगोंको पवित्र करे।

सरस्वतीवेन्दुकलोद्गता करैः
सरस्वतीव श्रवणामृतैः स्वरैः।
सरस्वतीवोर्मिभिरीश्वरस्तवैः
सरस्वती वर्षतु वः सुधामियम् ॥ २ ॥

अन्वय—[इव = यथा, तथा] यथा [6]सरस्वति उद्गता इन्दुकला करैः सुधां वर्षति। यथा श्रवणामृतैः स्वरैः सरस्वती[7] सुधां वर्षति, यथा (च) ऊर्मिभिः सरस्वती[8] सुधां वर्षति, तथा इयम् [मम] सरस्वती ईश्वरस्तवैः वः सुधाम् वर्षतु।

---

१. 'उपासते यं पुरुषास्त्रयोऽप्यमी' इति च पाठः। २. शेषः। ३. इन्द्रः। ४. सूर्यः। ५. पुरि पुरि—प्रति शरीरं तिष्ठतीति पुरुषः, विराट्रूपः परमात्मा। ६—समुद्रे। ७—वीणा। ८—तन्नाम्नी नदी।

अर्थ—जैसे समुद्रसे निकली हुई चन्द्रकला अपनी सुशीतल किरणोंसे अमृतकी वर्षा करती है, और जैसे सरस्वती (वीणा) अपने सुमधुर कर्णमनोहर स्वरोंसे (सहृदय जनोंके कानोंमें) अमृत-वर्षा करती है एवं जैसे सरस्वती नदी अपनी सुशीतल तरङ्गोंसे सुधा-वर्षण करती है, उसी तरह यह मेरी सरस्वती (मेरी वाणी भी) ईश्वरकी स्तुतिके द्वारा आप (सहृदय) लोगोंके लिए साक्षात् अमृतकी वर्षा करे।

विमर्शशून्येन मया निरर्थकः
खलेन कालः सकलोऽतिवाहितः।
इदं त्वसारादतिसारमुद्धृतं
धृतं यदीशस्तुतिवेतनं मनः ॥ ३ ॥

अन्वय—विमर्शशून्येन मया खलेन सकलः कालः निरर्थकः अतिवाहितः। तु इदम् असारात् अतिसारम् उद्धृतम्, यत् मनः ईशस्तुतिवेतनम् धृतम्।

अर्थ—सदसद्के विचारसे रहित मुझ खलने अपना सारा समय निरर्थक (वृथा) ही खो डाला। किन्तु भाग्यवश (अब) विचार करनेपर इस अत्यन्त निःसार संसार (प्रपञ्च)-से मैंने यही एक सार (तात्त्विक वस्तु) निकाला है कि इस (महालोभी) मनको ईश्वरस्तुति-रूपी वेतन (मासिक) देना निश्चित किया है।

न हृद्यतामेति परस्य दुर्मुखः
शिशुः स्रवत्पीनसदिग्धनासिकः।
पितुः स्वकीयस्य तु जीविताधिक-
स्तथोपहास्योऽपि ममाऽयमुद्यमः ॥ ४ ॥

अन्वय—यथा, दुर्मुखः स्रवत्पीनसदिग्धनासिकः शिशुः परस्य हृद्यताम् न एति; [किन्तु, स एव शिशुः] स्वकीयस्य पितुः तु जीविताधिकः [भवति], तथा मम अयम् उपहास्यः अपि उद्यमः [भवतीति जाने]।

अर्थ—जैसे, कुत्सित मुखवाला, (अर्थात् चिपटी हुई नाक और कीचसे भरी आँखोंवाला) और झरते हुए (नासिकाके) मलसे लथपथ हुई नासिकावाला अति घृणास्पद, बालक दूसरे लोगोंको मनोहर (प्रिय) नहीं लगता। परन्तु वही बालक उसके पिताको तो प्राणोंसे भी अधिक प्रिय लगता है, वैसे ही उपहास करने योग्य इस मेरे उद्यम (श्री सदाशिव-स्तुति-रूप प्रबन्ध-रचना)-की भी वही दशा है। अर्थात् यद्यपि मेरा यह शिव-स्तुति-रूप काव्य श्रुति-कटु आदि (दुर्मुखत्वादि) दोषोंसे दूषित होनेके कारण सकल-विद्वज्जनमनोहर नहीं होगा, तथापि मेरे लिए तो यह अत्यन्त ही प्रिय है।

अवैमि भाग्योपचयः स पुष्कलः
स शक्तिपातः खलु पारमेश्वरः।
स वा महार्हो महतामनुग्रहो
यदीश्वराराधनसाधनं मनः ॥ ५ ॥

अन्वय—[अहम्] अवैमि, सः पुष्कलः भाग्योपचयः [अस्ति], सः खलु पारमेश्वरः शक्तिपातः[1] [अस्ति]। सः वा महार्हः महताम् अनुग्रहः [अस्ति], यत् मनः ईश्वराराधनसाधनम् [भवति]।

अर्थ—मैं तो समझता हूँ, कि मनुष्यका वही पूर्ण भाग्योदय है, और वही परमेश्वरका कृपाकटाक्ष है; अथवा वही सद्गुरुजनोंका महान् अनुग्रह है, जो कि यह मन, ईश्वरकी आराधनामें तत्पर हो जाता है।

अहो कृतार्थोऽस्मि मनोभिरामया
गिरा गुणालङ्कृतयेह रामया।
तनुः स्थिरेयं भ्रियते निरामया
भवे च यद्भक्तिरभङ्गुरा मया ॥ ६ ॥

अन्वय—अहो ! इह [अहम्] गुणालङ्कृतया मनोभिरामया रामया [इव], गुणालङ्कृतया मनोभिरामया गिरा कृतार्थः अस्मि, यत् मया इयम् स्थिरा निरामया तनुः, भवे अभङ्गुरा भक्तिः च भ्रियते।

अर्थ—अहा ! जैसे कोई पुरुष लज्जा, सौशील्य, लावण्यादि सद्गुणोंसे अलंकृता सती अङ्गनाको पाकर कृतार्थ हो जाता है, वैसे ही मैं भी ओजः प्रसाद और माधुर्यादि गुणोंसे अलंकृत इस सुमनोहर वाणी (स्तुति)-से कृतार्थ हो गया हूँ। जिसके प्रतापसे कि मुझे यह नीरोग और स्थिर शरीर एवं परमेश्वरमें अचल (दृढ़) भक्ति प्राप्त हुई है।

न विद्यया प्रीतिरनर्घमानया
तथा श्रिया वाऽन्वहमेधमानया।
शिवस्तवैकव्रतयाऽसमानया[2]
यथा गिरा सान्द्रसुधासमानया ॥ ७ ॥

अन्वय—अनर्घमानया विद्यया, अन्वहम् एधमानया श्रिया वा तथा न [मे] प्रीतिः [भवति], यथा असमानया सान्द्रसुधासमानया शिवस्तवैकव्रतया गिरा प्रीतिः [भवति]।

अर्थ—परम सम्मानवती अमूल्य विद्या और प्रतिदिन (उत्तरोत्तर) वृद्धिको प्राप्त होनेवाली लक्ष्मीसे मुझे उतनी प्रीति (प्रसन्नता) नहीं होती, जितनी कि अहर्निश श्री शिवकी स्तुति करनेवाली, गाढ़ अमृतके तुल्य इस लोकोत्तर वाणीसे होती है।

पुरः स्फुरन्तं विमृशन्महेश्वरं
विलीनवेद्यान्तरवेदनो दशाम्।
नवस्तवोल्लेखविधौ स्पृशामि यां
ममान्तरात्मा विभुरेव वेत्ति ताम् ॥ ८ ॥

अन्वय—विलीनवेद्यान्तरवेदनः [अहम्] पुरः स्फुरन्तम् महेश्वरम् विमृशन्, नवस्तवोल्लेखविधौ याम् दशाम् स्पृशामि; ताम् [केवलम्] मम अन्तरात्मा विभुः एव वेत्ति।

---

१ दृष्टिपातः। २ 'ममानया' इति च पाठः।

अर्थ—अन्य किसी भी वस्तुका भान (प्रत्यभिज्ञान) न होनेके कारण तन्मय भावनाद्वारा अपने सामने स्फुरित (उदय) होते हुए श्री भगवान् शिवमें ही तल्लीन होता हुआ मैं, इन नूतन स्तोत्रोंको लिखते समय जिस अनिर्वचनीय दशा (परमानन्दमयी भूमिका)-को प्राप्त होता हूँ, उसे केवल एक एक मेरे अन्तरात्मा प्रभु ही जानते हैं।

मनुष्यता पूरुषताऽग्र्यवर्णता
मनीषिता सत्कविता शिवैकता।
इयं मम क्षेमपरम्परा विभोः
स्तुतिप्रसङ्गेन गता कृतार्थताम् ॥ ९ ॥

अन्वय—मनुष्यता, पूरुषता, अग्र्यवर्णता, मनीषिता, सत्कविता, शिवैकता, इयम् मम क्षेमपरम्परा विभोः स्तुतिप्रसङ्गेन कृतार्थताम् गता।

अर्थ—अहा! एक तो मनुष्यता (मनुष्य-जन्मकी प्राप्ति) और फिर उसमें भी पुरुष-शरीर, उसमें भी ब्राह्मण जाति, उसमें भी विद्वत्ता और फिर उसमें भी सत्कविता, उस पर भी फिर यह 'शिवैकता' (भगवान् शिवमें तल्लीनता), इस प्रकार मेरे उत्तरोत्तर कल्याणोंकी यह परम्परा प्रभुकी स्तुतिके द्वारा कृतार्थ (सफलताको प्राप्त) हो गई है!

[इस प्रकार नवीन-नवीन स्तुतिरूपी पुष्पाञ्जलिके समर्पणद्वारा दयालु प्रभुको अतिशय प्रसन्न हुआ जानकर, कवि अपनेको कृतकृत्य समझते हुए कहते हैं—]

ध्रुवं नवानां रसगर्भनिर्भर-
ध्वनिर्घनानामनघेयमावलिः।
पृथुप्रभावं शशिखण्डमण्डितं
प्रहर्षिणं नीलगलं करिष्यति ॥ १० ॥

अन्वय—[यथा, रसगर्भनिर्भरध्वनिः, अनघा नवानाम् घनानाम् आवलिः, पृथुप्रभा-वंश-शिखण्डमण्डितम् नीलगलम्[१] प्रहर्षिणम् करोति, तथा—] इयम् रसगर्भनिर्भरध्वनिः, घनानाम्[२] नवानाम् अनघा आवलिः, ध्रुवम् पृथुप्रभावम् शशिखण्डमण्डितम् नीलगलम् प्रहर्षिणम् करिष्यति।

अर्थ—[जैसे जलसे गर्भित होनेके कारण गंभीर-ध्वनिवाली नवीन मेघ-माला, विशाल शोभावाले (रंग-बिरंगे) पङ्खोंसे सुशोभित नीलकण्ठ (मयूर)-को अत्यन्त हर्षित कर देती है, वैसे ही—] शान्तरससे गर्भित ध्वनि[३]-(उत्तम काव्य अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ) वाले, सघन (अर्थात् ३८ संख्यासे परिमित) स्तोत्रोंकी यह निर्मल माला महान् प्रभावशाली एवं चन्द्रकलासे सुशोभित भगवान् श्रीनीलकण्ठको अवश्य ही हर्षित कर देगी। हाँ—

१. मयूरम् २. अष्टात्रिंशत्संख्यया परिमितत्वाद् बहुलानाम्। ३. इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। (काव्यप्रकाश)।

यदि ह्ययोग्याश्चरणान्तिके वयं
तथापि नः प्राङ्गणसीमसेविनाम् ।
चमत्करिष्यन्ति गिरः प्रभोरिमा
जनङ्गमानामिव गीतरीतयः ॥ ११ ॥

अन्वय—यदि हि, प्रभोः चरणान्तिके [इमाः स्तुतीः श्रावयितुम् वयम्] अयोग्याः, तथापि नः इमाः गिरः, गीतरीतयः जनङ्गमानाम् इव, प्रभोः प्राङ्गणसीमसेविनाम्[1] चमत्करिष्यन्ति ।

अर्थ—यद्यपि प्रभुके चरणोंके समीपमें इन स्तुतियोंको सुनानेके लिए हम अयोग्य हैं, तथापि जैसे, ग्रामीण गीत बाह्य-जनों (चाण्डालादि)-को चमत्कृत कर देते हैं, वैसे ही हमारे ये स्तुति-वचन प्रभुके प्राङ्गणमें रहनेवाले (यमदूतों अथवा नन्द्यादि) गणोंको तो अवश्य ही आश्चर्य चकित कर देंगे !

[फिर भी अपनेको श्रीशिवस्तुतिके द्वारा कृतार्थ समझते हुए कवि कहते हैं—]

परोपकारैरिव राजसेवनं
दरिद्रगार्हस्थ्यमिवार्थितर्पणैः ।
[2]इदं बहुक्लेशमपीश्वरस्तवै-
रवैमि वर्ष्म स्पृहणीयमात्मनः ॥ १२ ॥

अन्वय—बहुक्लेशम् अपि राजसेवनम् परोपकारैः इव, बहुक्लेशम् अपि दरिद्र-गार्हस्थ्यम् अर्थितर्पणैः इव, बहुक्लेशम् अपि इदम् आत्मनः वर्ष्म [अहम्] ईश्वरस्तवैः स्पृहणीयम् अवैमि ।

अर्थ—जैसे, सेवकका अत्यन्त दुःखमय भी राज-सेवन परोपकारके द्वारा स्पृहणीय होता है, और जैसे दरिद्र पुरुषका गृहस्थाश्रम बहुत क्लेशोंसे भरा हुआ भी अतिथि जनोंके सत्कार द्वारा अत्यन्त प्रिय लगता है। वैसे ही सांसारिक दुःखों, अथवा अविद्यादि पञ्च क्लेशोंसे भरे हुए भी इस अपने शरीरको मैं भगवान्‌की स्तुति-के द्वारा स्पृहणीय समझता हूँ ।

सहस्रपत्रैरिव पल्वलोदकं
शिरः फणीन्द्रस्य मणिव्रजैरिव ।
सदोषमप्येतदवैमि मानुषं
मनोरमं जन्म महेश्वरस्तवैः ॥ १३ ॥

अन्वय—सदोषम् अपि पल्वलोदकम् सहस्रपत्रैः इव, सदोषम् अपि फणीन्द्रस्य शिरः मणिव्रजैः इव, [अहम्] सदोषम् अपि एतत् मानुषम् जन्म महेश्वरस्तवैः मनोरमम् अवैमि ।

---

१. यामिकानां गणानामेव । २. 'वपुर्बहुक्लेशमपीदमीश्वरस्तवैरवैमि स्पृहणीय-मात्मनः' इत्यपि पाठः साधुः ।

अर्थ—जैसे सदोष (मलिन) भी सरोवरका जल कमलोंसे सुमनोहर हो जाता है, जैसे सदोष (महा भयङ्कर विषसे भरा हुआ) भी सर्पका फण मणि-गणोंसे प्रिय लगता है। वैसे ही अनेकों दोषों (पापों)-से भरे हुए भी इस मनुष्य-जन्मको मैं भगवान् श्री सदाशिवकी स्तुतियोंसे अतीव मनोहर मानता हूँ।

मृगेन्द्रशावा इव कन्दरोदरात्
करीन्द्रकुम्भादिव मौक्तिकोत्कराः।
विनिःसरन्तः कवितुर्मुखादमी
मनोज्ञतां बिभ्रति कस्य न स्तवाः ॥ १४ ॥

अन्वय—कन्दरोदरात् विनिःसरन्तः मृगेन्द्रशावाः इव, करीन्द्रकुम्भात् विनिःसरन्तः मौक्तिकोत्कराः इव, कवितुः मुखात् विनिःसरन्तः अमी[1] स्तवाः कस्य न मनोज्ञताम् बिभ्रति।

अर्थ—अहा! कन्दरा (गुहा)-के अन्दरसे निकलते हुए मृगेन्द्र-बालकों (सिंहके बच्चों)-के समान और गजेन्द्रके मस्तकसे निकलते हुए मुक्ताओंके अङ्कुरोंके समान, कविके (अर्थात् मेरे) मुखसे निकलते हुए ये (३८) मनोहर स्तोत्र किस सचेतनके मनको नहीं मुग्ध करते ? अर्थात् सभीके मनको मोहित कर देते हैं।

मरालमाला सरसीव निर्मले
कुचस्थले हारलतेव सुभ्रुवाम्।
इयं भवत्वाभरणं महेश्वर-
स्तवावली वक्त्रसरोरुहे सताम् ॥ १५ ॥

अन्वय—निर्मले सरसि[2] मरालमाला इव, सुभ्रुवाम् कुचस्थले हारलता इव, इयम् महेश्वरस्तवावली सताम् वक्त्रसरोरुहे आभरणम् भवतु।

अर्थ—जैसे निर्मल मानसरोवरमें मरालों (हंसों)-की माला सुशोभित होती है, जैसे सुन्दरी युवतियोंके कुचस्थलमें मुक्तावली सुशोभित होती है, वैसे ही विद्वज्जनोंके मुख-कमलमें यह (मेरी बनाई हुई) महेश्वर-स्तवावली सुशोभित हो।

इमां घनश्रेणिमिवोन्मुखः शिखी
चकोरकः कार्तिकचन्द्रिकामिव।
रथाङ्गनामा तरणेरिव त्विषं
स्तवावलीं वीक्ष्य न कः प्रमोदते ॥ १६ ॥

अन्वय—उन्मुखः शिखी घनश्रेणिम् इव, चकोरकः कार्तिकचन्द्रिकाम् इव, रथाङ्गनामा तरणेः त्विषम् इव, इमाम् स्तवावलीम् वीक्ष्य कः न प्रमोदते ?

अर्थ—जैसे (जल-बिन्दुओंके लोभसे) ऊपरको मुख किया मयूर, वर्षाऋतुकी मेघमालाको देखकर आनन्दित होता है; जैसे चकोर-बालक शरत्कालकी चन्द्रप्रभाको

---

१. अष्टात्रिंशत्संख्यकाः। २. मानसे, इत्यौचित्यात्।

देखकर आनन्दित होता है एवं जैसे चक्रवाक पक्षी प्रभात-समयकी सूर्य-कान्तिको देखकर आनन्दित होता है; वैसे ही (मेरी) इस स्तोत्रावलीको देखकर कौन सहृदय नहीं आनन्दित होगा ?

मधुव्रतः सौमनसीमिव स्रजं
सितच्छदः पङ्कजकर्णिकामिव ।
पिको विकोषामिव चूतमञ्जरी-
मिमां न कश्चर्वयति स्तवावलीम् ॥ १७ ॥

अन्वय—मधुव्रतः सौमनसीम् स्रजम् इव, सितच्छदः पङ्कजकर्णिकाम् इव, पिकः विकोषाम् चूतमञ्जरीम् इव, इमाम् स्तवावलीम् कः न चर्वयति ?

अर्थ—जैसे भ्रमर सुगन्धित पुष्पमालाका समास्वादन करता है, जैसे हंस कमलकी कर्णिकाको चर्वित करता है, एवं जैसे कोयल प्रफुल्लित आम्रकी मञ्जरीको आस्वादित करता है, वैसे ही इस (मेरी) स्तोत्रावलीको कौन बुद्धिमान् नहीं आस्वादित करेगा ?

मनस्विनीनामिव साचि वीक्षितं
स्तनन्धयानामिव मुग्धजल्पितम् ।
अवश्यमासां मधु सूक्तिवीरुधां
मनीषिणां मानसमार्द्रयिष्यति ॥ १८ ॥

अन्वय—मनस्विनीनाम् साचि वीक्षितम् इव, स्तनन्धयानाम् मुग्धजल्पितम् इव, आसाम् सूक्तिवीरुधाम् मधु मनीषिणाम् मानसम् अवश्यम् आर्द्रयिष्यति ।

अर्थ—जैसे मानवती युवतियोंके कुटिल कटाक्ष कामी जनोंके चित्तको आर्द्र कर देते हैं; जैसे स्तनन्धयों-(छोटे-छोटे बालकों) की मुग्ध वाणी लोगोंके अन्तःकरणको कोमल कर देती है, वैसे ही इन मेरी सूक्ति-रूपी लताओंका सुमधुर मधु भी सहृदयोंके अन्तःकरणको अवश्य ही आर्द्र कर देगा, अर्थात् तृप्त कर देगा ।

इयं मधुश्रीरिव केलिकाननं
सरोवरं प्रावृडिवातपक्षतम् ।
स्तवावली काव्यकुतूहलं सता-
मकालजीर्णं तरुणीकरिष्यति ॥ १९ ॥

अन्वय—अकालजीर्णम् केलिकाननम् मधुश्रीः इव, आतपक्षतम् सरोवरम् प्रावृट् इव, इयम् स्तवावली अकालजीर्णम् सताम् काव्यकुतूहलम् [पुनः] तरुणीकरिष्यति[1] ।

अर्थ—जिस प्रकार शीतकालसे जीर्ण हुए क्रीडोद्यानको वसन्तलक्ष्मी पुनः नवीन कर देती है; जैसे उष्ण कालसे सूखे हुए सरोवरको वर्षा ऋतु फिर परिपूर्ण कर

१. नवं सम्पादयिष्यति । इदं मदीयं काव्यं परीक्ष्य, अन्येऽपि कवयस्तदुद्युक्तमनसो भविष्यन्तीत्यर्थः ।

देती है। उसी प्रकार यह (मेरी) स्त्रोत्रावली भी अकाल—कलिकालके प्रभावसे जीर्ण हुए विद्वानोंके काव्य-कौतूहल-(काव्य-निर्माणकी उत्कण्ठा) को पुनः नवीन कर देगी। अर्थात् मेरे इस काव्यको देखकर अन्य कविजन भी नवीन काव्य बनानेको उत्सुक होंगे।

विमत्सराणां सदसद्विवेकिनां
महात्मनां मूर्ध्नि धृतोऽयमञ्जलिः।
विलोकयन्तु प्रभुगौरवादिमां
प्रसादबुद्धया मयि वा स्तवावलीम् ॥ २० ॥

अन्वय — विमत्सराणाम्, सदसद्विवेकिनाम् महात्मनाम् मूर्ध्नि अयम् अञ्जलिः[1] धृतः[2]। इमाम् स्तवावलीम् प्रभुगौरवात् विलोयन्तु, वा मयि प्रसादबुद्धया विलोकयन्तु।

अर्थ—मत्सर (ईर्ष्या) से रहित, और सदसद्विवेकी महात्माओंके मस्तकमें मैंने यह स्तुति-कुसुमाञ्जलि समर्पित कर दी है। विद्वानोंसे मेरी यह प्रार्थना है कि, आप लोग इस मेरे—ग्रन्थको भगवद्भक्तिके गौरवके नातेसे देखें, अथवा मुझ दीन-पर अनुग्रह बुद्धिसे देखें।

स्तवावलीढौकनकार्पणच्छला-
दलभ्यमभ्यर्णचरैः सुरैरपि।
प्रभोः पदस्पर्शमशङ्कमीप्सतो
विकत्थनत्वेऽपि न मे विडम्बना ॥ २१ ॥

अन्वय—अभ्यर्णचरैः सुरैः अपि अलभ्यम् प्रभोः पदस्पर्शम् स्तवावलीढौकन-कार्पण-च्छलात् अशङ्कम् ईप्सतः मे विकत्थनत्वे अपि विडम्बना न [अस्ति]।

अर्थ—जो (भगवच्चरण-कमलका स्पर्श) अत्यन्त निकटवर्ती इन्द्रादि देवोंको भी दुष्प्राप्य है, उस भगवच्चरण-कमल-स्पर्श को इस स्तोत्रावलीरूपी उपहारके समर्पण करनेके व्याजसे निःशंक होकर अवश्य ही प्राप्त करनेके लिए उत्सुक हुए मुझ धन्यात्माकी यह (अपनी) श्लाघा करना भी उपहास करने योग्य नहीं है।

कलिमलमषीकल्माषोऽयं मनोमुकुरः पुरः
स्फुरितमपि न व्यक्तं वस्तु ग्रहीतुमभवत्क्षमः।
सपदि विशदैः शब्दब्रह्मोर्मिभिर्विमलीकृते
करबदरवत्पश्यामोऽस्मिन् समस्तमिदं जगत् ॥ २२ ॥

अन्वय—[पुरा] कलिमलमषीकल्माषः अयम् मनोमुकुरः पुरः स्फुरितम् अपि व्यक्तम् वस्तु ग्रहीतुम् न क्षमः अभूत्। सपदि[3] विशदैः शब्दब्रह्मोर्मिभिः[4] विमलीकृते अस्मिन् इदम् समस्तम् जगत् करबदरवत् पश्यामः।

अर्थ—[अहा,] पहले (अर्थात् अज्ञानाऽवस्थामें) कलिकालके मल (पाप)

१. स्तुतिकुसुमाञ्जलिग्रन्थः। २. समर्पितः। ३. इदानीम्।
४. श्रीभगवत्स्तुतिरूपैः तरङ्गैः।

रूपी कज्जलसे कलुषित हुआ यह हमारा मनरूपी दर्पण अपने सामने स्पष्ट दीखती हुई वस्तुको भी नहीं ग्रहण कर सकता (समझ सकता) था। किन्तु (सद्भाग्यवशात्) इस समय अतीव सुनिर्मल शब्द-ब्रह्म रूपी—अर्थात् भगवान् श्रीसदाशिवकी स्तुति-रूपी तरङ्गोंके द्वारा स्वच्छ किये हुए इस मनरूपी दर्पणमें हम इस सारे ही जगत्को 'कर-बदरके समान' (हथेलीपर रक्खे हुए बेरके समान) स्पष्ट देख रहे हैं।

[कहनेका अभिप्राय यह है कि जब तक हम अज्ञान-निद्रामें सोये हुए थे, तब तक हमें प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न (स्त्री, पुत्रादि) रूपसे अनेक तरहकी-सी प्रतीत होती थी, किन्तु बड़े भाग्यवश भगवत्कृपासे ज्ञानरूपी अखण्ड प्रकाशके उदय होनेके कारण, अज्ञानके हटजाने पर, अब हमें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'की भावनाके द्वारा यह सारा ही जगत् एक-रूप अर्थात् अद्वय शिव-रूप भास रहा है। अहा, इसी भावनामें रँगे हुए महाराजा भर्तृहरिजीके हृदयकी भी ठीक यही दशा है। आप कहते हैं कि :—

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिर-संस्कारजनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म तनुते॥

अर्थात् जब तक हमारी दृष्टिमें कामकी वासना द्वारा उत्पन्न हुआ अज्ञान-रूप अन्धकार घुसा हुआ था, तब तक हमने सारे ही जगत्को नारीमय (स्त्रीरूप) देखा। किन्तु अहोभाग्यवश (सद्गुरुकी कृपासे) जब इस दृष्टिमें विवेकरूपी शुद्ध अञ्जन लगा, तब यह हमारी दृष्टि, समदृष्टि होकर, अब सारे ही त्रैलोक्यको ब्रह्म-मय देख रही है।]

आनन्दिनि स्तुवति नन्दिनि गूढमर्थं
देवश्चमत्कृतिकृताङ्गुलिभङ्गभङ्गिः।
अङ्गस्थितां भगवतीमधिरूढहासा-
मासामवश्यमवबोधयति स्तुतीनाम्॥ २३॥

अन्वय—नन्दिनि आसाम् स्तुतीनाम् गूढम् अर्थम् [श्रुत्वा] आनन्दिनि स्तुवति सति, देवः चमत्कृतिकृताङ्गुलिभङ्गभङ्गिः [सन्] अधिरूढहासाम् अङ्गस्थिताम् भगवतीम् आसाम् स्तुतीनाम् गूढम् अर्थम् अवश्यम् अवबोधयति।

अर्थ—अहा! जब भगवान् श्रीशंकरका द्वारपाल (गणाधीश) नन्दी इन मेरी स्तुतियोंके गूढ अर्थ (अभिप्राय)को सुनकर आनन्दपूर्वक, अतीव हर्षके मारे, भगवान शिवके आगे वर्णन करने लगेगा; तब वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर आश्चर्य-चकित होकर (मुँह पर) अङ्गुलिको दबाते हुए, अपने वामाङ्गमें बैठी हुई भगवती श्री भवानी-जीको इन स्तुतियोंका गूढ़ अभिप्राय अवश्य ही सुनायेंगे!

मन्ये मनोवचनकर्मभिरद्भुतानि
यान्यूर्जितानि सुकृतानि पुराकृतानि।

एतानि तानि शिवभक्तिपवित्रितानि
कर्णामृतानि फलितानि सुभाषितानि ॥ २४ ॥

अन्वय—[अहम्] मन्ये [अस्माभिः] यानि ऊर्जितानि अद्भुतानि सुकृतानि मनोवचनकर्मभिः पुरा कृतानि; तानि एतानि शिवभक्तिपवित्रितानि कर्णामृतानि सुभाषितानि फलितानि।

अर्थ—मैं समझता हूँ, कि हमने पूर्व जन्ममें मन, वचन और कर्मके द्वारा जो अनेकानेक अद्भुत सुकृत उपार्जित किये थे, वे ही पुण्य इस जन्ममें श्रीशिवभक्तिसे पवित्र होकर कर्णोंमें अमृत बरसानेवाले इन सुभाषितों (सुन्दर उक्तियों) के रूपमें प्रकट हुए हैं।

एते प्रभोः प्रमथभर्तुरभीष्टमष्टा-
त्रिंशत्स्तवा विमृशतां विदुषां दिशन्तु।
तेनैव दृक्षु धृतघर्मकरामृतांशु-
सप्तार्चिषामिव कलाः सकलार्थलाभम् ॥ २५ ॥

अन्वय—प्रभोः प्रमथभर्तुः एते अष्टात्रिंशत् स्तवाः, तेन एव दृक्षु धृतघर्मकरामृतांशु-सप्तार्चिषाम् कलाः* इव विमृशताम् विदुषाम् अभीष्टम् सकलार्थलाभम् दिशन्तु।

अर्थ—महाप्रभु, नन्दी-भृङ्गी आदि प्रमथगणोंके अधिपति, भगवान् श्रीसदाशिवके ये अड़तीस स्तोत्र—उन्हींके तत्तत् नेत्रोंमें विराजित हुए सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी अड़तीस* कलाओंकी तरह, श्रीशिव-भक्तिरूपी रसायनका समास्वादन करनेवाले सहृदयोंको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चारों अभीष्ट पदार्थ प्रदान करें।

[अब कवि एक श्लोक द्वारा, सहृदय जनोंके हृदयमें परमानन्द-दायक, निज-रचित ग्रन्थकी महिमा वर्णन करते हुए इस ग्रन्थका नामकरण (अर्थात् नामको अभिव्यक्त) करते हैं—]

अयमिह किङ्करेण रचितश्चरणाम्बुजयोः
स्तुतिकुसुमाञ्जलि-र्भगवतस्तरुणेन्दुभृतः ।
अविरलभक्तिसिक्तनवसूक्तिलताऽवचितः
कलयतु सौरभेण सुकृतां स्पृहयालु मनः ॥ २६ ॥

अन्वय—इह, [मया] किङ्करेण भगवतः तरुणेन्दुभृतः चरणाम्बुजयोः रचितः अविरल-भक्तिसिक्तनवसूक्तिलताऽवचितः अयम् स्तुतिकुसुमाञ्जलिः सौरभेण सुकृताम् मनः स्पृहयालु कलयतु।

अर्थ—[माता श्रीसरस्वतीकी सहायतासे] मुझ (जगद्धर-भट्ट नामक)

---

*सूर्यकी द्वादश (१२) कला, चन्द्रमाकी षोडश (१६) कला, और अग्निकी १० कला, इन सबको मिलाकर ३८ कलाएँ होती हैं।

सेवकने—अतिगाढ़ भक्ति-सुधारससे सींची हुई नवीन सूक्तिरूपी लताओंसे चुनकर संगृहीत की हुई यह 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' (स्तुतिरूपी कुसुमोंकी अञ्जलि) भगवान् श्रीशशिशेखरके चरणाम्बुजोंमें समर्पण कर दी है। यह अपने उत्कट सौरभ (सुमनोहर सुगन्ध) से सहृदयोंके मनको मुग्ध करे।

[कवि इस अपने 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' ग्रन्थको प्रभु-चरणाम्बुजमें समर्पण करने के लिए उनके गणोंके नायकोंसे प्रार्थना करते हैं:—]

अयि प्रमथनायक त्रिजगतामधिष्ठायक
प्रसन्नमुख षण्मुख त्रिदशवन्द्य नन्दीश्वर।
निवेदयत भक्तितश्चरणकिङ्करेणाऽर्पितं
पुरः पुररिपोरिमं विकचवाक्यपुष्पाञ्जलिम् ॥ २७ ॥

अन्वय—अयि त्रिजगताम् अधिष्ठायक ! प्रमथनायक ! प्रसन्नमुख ! षण्मुख ! त्रिदशवन्द्य ! नन्दीश्वर ! [मयि कृपां[1] कुरुत]। चरणकिङ्करेण भक्तितः अर्पितम्, इमम् विकचवाक्यपुष्पाञ्जलिम् पुररिपोः पुरः निवेदयत।

अर्थ—अयि त्रैलोक्यनायक गणनाथ ! अयि प्रसन्न मुखवाले स्वामिकार्त्तिकेय ! हे सुरवरवन्द्य नन्दीश्वर ! आप लोग मुझ दीनपर कृपा कीजिए और इस सेवक (जगद्धर भट्ट कवि)ने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रभुके आगे समर्पित की हुई इस विकसित-वाक्यरूपी पुष्पोंकी अञ्जलि (स्तुतिकुसुमाञ्जलि) को प्रेमपूर्वक भगवान् सदाशिवके आगे निवेदित कर दीजिए।

इति परिषदि सिंहस्यन्दन-स्कन्द-नन्दि-
प्रभृतिभिरभिराद्धैर्वन्द्यमावेद्यमानम्।
स्तुतिकुसुमसमूहं प्राभृतीकृत्य शंभो-
र्यदमलमुपलब्धं शर्म तेनेदमस्तु ॥ २८ ॥

भुवि भुवि कुविकल्पः स्वल्पतामेतु जेतुं
धुरि धुरि दुरितौघं वर्द्धतां शुद्धबोधः।
पथि पथि मथितोग्रव्यापदापन्नतापा
नरि नरि परिपूर्णा जृम्भतां शम्भुभक्तिः ॥ २९ ॥

अन्वय—इति परिषदि अभिराद्धैः सिंहस्यन्दनस्कन्द-नन्दिप्रभृतिभिः वन्द्यम् आवेद्यमानम् स्तुतिकुसुमसमूहम् शम्भोः प्राभृतीकृत्य यत् अमलम् शर्म [मया] उपलब्धम्, तेन इदम् (भुविभुवीत्यादि वक्ष्यमाणम्) अस्तु। कुविकल्पः भुविभुवि स्वल्पताम् एतु, शुद्धबोधः दुरितौघम् जेतुम् धुरि धुरि वर्धताम्, पथि पथि मथितोग्रव्यापदापन्नतापा परिपूर्णा शम्भुभक्तिः नरि नरि जृम्भताम्।

---

1. इत्यध्याहारः।

अर्थ—इस प्रकार गणनायक श्रीगणेशजीकी सभामें, विनीत प्रार्थना द्वारा आराधित किये हुए श्रीगणेश, स्वामी कार्त्तिकेय, नन्दीश्वर, महाकाल आदि गण-नायकोंसे प्रशंसनीय एवं वर्णित किये जाते हुए इस 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' ग्रन्थको श्री सदाशिवके चरणाम्बुजमें उपहार देकर मैंने जो विशुद्ध पुण्य प्राप्त किया है, उसके प्रभावसे मैं यह चाहता हूँ कि सारा संसार सुखी हो जाय—जगह-जगह नास्तिकोंके जो कुतर्क बढ़ रहे हैं, वे क्षीण हो जायँ अर्थात् नष्ट हो जायँ। सकल पापोंको नष्ट करनेके लिए विशुद्ध ज्ञान निरन्तर आगे-आगे बढ़ता जाय? और जन्म, जरा, मरणके दुःखोंमें पड़े हुए अनाथ-जनोंके पाप-तापोंको नष्ट करनेवाली भगवान् शङ्करकी भक्ति प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें उमड़ जाय।

इति शुभं भगवच्चरितस्तुति-
व्यतिकरेण यदर्जितमूर्जितम्।
भवतु तेन मनस्यनपायिनी
सुकृतिनां शिवभक्तिचमत्कृतिः ॥ ३० ॥

अन्वय—इति, भगवच्चरितस्तुतिव्यतिकरेण, [मया] यत् ऊर्जितम् अर्जितम्, तेन सुकृतिनाम् मनसि अनपायिनी शिवभक्तिचमत्कृतिः भवतु।

अर्थ—इस प्रकार भगवान् श्रीशङ्करकी स्तुतिके सम्बन्धसे मैंने जो महान् पुण्य उपार्जन किया है, उसके प्रतापसे मैं चाहता हूँ कि पुण्यात्मा लोगोंके अन्तःकरणमें शिव-भक्तिका अविनाशी (निश्चल) चमत्कार उदय हो जाय?

इति श्रीप्रेममकरन्दसमेतं काश्मीरकमहाकविश्रीमज्जगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य 'स्तुति-कुसुमाञ्जलौ' 'पुण्यपरिणाम-स्तोत्र'-मष्टात्रिंशम्।

ग्रन्थकर्तुर्वंशवर्णनम्

अब यहाँसे ग्रन्थकार कुछ श्लोकोंद्वारा अपने वंशका वर्णन करते हैं :—

पुरा पुरारेः पदधूलिधूसरः
सरस्वतीस्वैरविहारभूरभूत्।
विशालवंशश्रुतवृत्तविश्रुतो
विपश्चितां गौरधरः किलाऽग्रणीः ॥ १ ॥

अन्वय—पुरा किल, पुरारेः पदधूलिधूसरः, विशालवंशश्रुतवृत्तविश्रुतः, विपश्चिताम् अग्रणीः 'गौरधरः' (तन्नामकः) सरस्वतीस्वैरविहारभूः[1] अभूत्।

---

१. आरोपेण योजना।

अर्थ—पूर्व कालमें भगवान् श्रीशङ्करके चरणाम्बुजकी रजसे धूसर (स्वच्छ) अर्थात् भगवान् शिवके परमभक्त तथा विशाल वंश (भारद्वाजगोत्रज), सकल विद्या और सदाचारसे सम्पन्न, विद्वज्जनोंमें अग्रगण्य श्री 'गौरधर' भट्ट नामके विख्यात कवि हुए, जिन्हें कि भगवती सरस्वतीने साक्षात् अपने स्वेच्छा-विहारका स्थल बनाया।

भ्रमादनिर्माय पुरातनः कवि-
र्यमग्रिमश्लोकमवश्यमग्रतः ।
विमृश्य पङ्क्तेरुपरि द्विजन्मनां
न्यवीविशत् काकपदाङ्कितं पुनः ॥ २ ॥

अन्वय—पुरातनः कवि[1] यम् अग्रिमश्लोकम् भ्रमात्* अवश्यम् अग्रतः अनिर्माय, पुनः विमृश्य द्विजन्मनाम् पङ्क्तेः उपरि काकपदाङ्कितम्[2] पुनः न्यवीविशत् ।

अर्थ—पुरातन कवि - श्री ब्रह्माने जिस अग्रिमश्लोक– महायशस्वी (गौरधर) को अवश्य भ्रमके कारण सकल विप्रजातिकी सृष्टिके आरंभमें न रचकर, जब पुनः विचार किया, तब फिर (अपने) भ्रमके चिह्नसे अङ्कित करके (अर्थात् भूलका चिह्न लगा कर) उन्हें सम्पूर्ण वर्णों (द्विजातियों)-के ऊपर बिठलाया [जैसे कि कोई कवि अवश्य आदिमें लिखने योग्य श्लोकको, भूलके कारण पहले न लिखकर पुनः विचार करके सब वर्णों (अक्षरों) की पङ्क्तिके ऊपर, अपना भ्रमसूचक चिह्न देकर, उसे लिख देता है]।

अनन्तसिद्धान्तपथान्तगामिनः
समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः ।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना
व्यनक्ति यस्याऽद्भुतविश्रुतं श्रुतम् ॥ ३ ॥

अन्वय—अनन्तसिद्धान्तपथान्तगामिनः, समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः [यस्य] ऋजुः[3] यजुर्वेदपदार्थवर्णना (यजुर्वेदस्य, वेदविलासनाम्नी भाष्यपद्धतिः) यस्य अद्भुतविश्रुतम् व्यनक्ति ।

अर्थ—सम्पूर्ण सिद्धान्तोंके यथार्थ रहस्यको जाननेवाले, एवं सकल शास्त्रोंके पारङ्गत, जिस महान् शक्तिशाली (गौरधर)—का बनाया हुआ निर्मल यजुर्वेदका 'वेद-विलास' नामक भाष्य उनके अद्भुत, प्रकाण्ड-पाण्डित्यको प्रकट करता है।

सुतोऽभवद् रत्नधरः शिरोमणि-
र्मनीषिणामस्य गुणौघसागरः ।

---

१. ब्रह्मा । *भ्रमेण, सृष्ट्याकुलचित्तत्वात् ।

२. काकपदेन भ्रमचिह्नेन अङ्कितस्तम्, यथा कश्चित् कविः अवश्यं आदावेव लेख्यं पद्यमलिखित्वा पुनः वर्णानाम् (अक्षराणाम्) पङ्क्तेः उपरि काकपदं निजभ्रमसूचकं चिह्नं लिखति, तथेत्यर्थः ।

३. निर्मला, निर्दोषा च ।

यमाश्रिताह्वास्त सरस्वती हरे-
रुरःस्थलं रत्नधरं श्रितां श्रियम् ॥ ४ ॥

अन्वय—अस्य सुतः मनीषिणाम् शिरोमणिः, गुणौघसागरः 'रत्नधरः' अभवत्, यम् आश्रिता सरस्वती, रत्नधरम्[1] हरेः उरःस्थलम् श्रिताम् श्रियम् आह्वास्त[2] ।

अर्थ—उस गौरधरके पुत्र श्रीमान् 'रत्नधर' कवि, ऐसे विद्वज्जन-शिरोमणि और गुणगुणोंके सागर हुए कि जिनके आश्रित होकर वाग्देवी सरस्वतीने कौस्तुभरत्नधारी श्रीविष्णु भगवान्के विशाल वक्षःस्थलमें विहार करनेवाली महालक्ष्मीके साथ स्पर्धा (ईर्ष्या) की ।

उदारसत्त्वं विपुलं सुनिर्मलं
प्ररूढमर्यादमगाधमाशयम् ।
प्रविश्य यस्य स्ववशा सरस्वती
पदं बबन्ध स्थिरमम्बुधेरिव ॥ ५ ॥

अन्वय—यस्य उदारसत्त्वम्[3], विपुलम् सुनिर्मलम्, प्ररूढमर्यादम्, अगाधम् आशयम्[4] प्रविश्य स्ववशा सरस्वती, उदारसत्वम्[5] विपुलम्, सुनिर्मलम्, प्ररूढमर्यादम्, अगाधम् अम्बुधेः आशयम् प्रविश्य स्ववशा[6] सरस्वती [नदी] इव, स्थिरम् पदम् बबन्ध[7] ।

अर्थ—जिस रत्नधरके महाधैर्यशाली, विशाल, सुनिर्मल, मर्यादामें स्थित हुए गंभीर अन्तःकरणमें प्रवेश करके भगवती सरस्वतीने उसको इस प्रकार अपना स्थिर आसन बना लिया, जैसे कि—बड़े-बड़े बलवान् जल-जन्तुओंसे युक्त, अति विस्तीर्ण, निर्मल और अपनी मर्यादामें सुस्थित अगाध समुद्रमें प्रविष्ट होकर सरस्वती नदी तदधीन होकर उसे अपना स्थिर आसन बना लेती है, अर्थात् वहींपर सुस्थिर हो जाती है ।

कपोलदोलायितकर्णभूषणं
तरङ्गितभ्रूयुगभङ्गुरालिकम् ।
सचेतसामर्धनिमीलितेक्षणं
क्षणं वितन्वन्ति मुखं यदुक्तयः ॥ ६ ॥

अन्वय—यदुक्तयः सचेतसाम् मुखम् क्षणम् कपोलदोलायितकर्णभूषणम्, तरङ्गितभ्रूयुगभङ्गुरालिकम्, अर्धनिमीलितेक्षणम् वितन्वन्ति ।

अर्थ—जिस (रत्नधर)-की प्रौढ़ उक्तियाँ सहृदयजनोंके मुखको क्षणभर, आश्चर्यकी उमंगोंसे कपोलोंपर हिलते हुए कर्ण-भूषणोंवाला, ऊपरको उठाई हुई भ्रुकुटियोंके द्वारा कुटिल ललाटवाला, तथा अद्भुत रसास्वादमें निमग्न होनेसे अर्ध-निमीलित नेत्रोंवाला बना देती हैं !

---

१. कौस्तुभधारिणम् । २. पस्पर्धे । ३. प्रचुरधैर्यम् । ४. मानसम् । ५. महामकरादियुक्तम् । ६. सुष्ठु अवशा । ७. तत्रैव स्थानमकरोदित्यर्थः ।

अथाऽस्य धीमानुदपादि वादिनां
　　वितीर्णमुद्रो वदनेष्वनेकशः ।
उदारसंस्कारसुसारभारती-
　　पवित्रवक्त्राम्बुरुहो जगद्धरः ॥ ७ ॥

अन्वय—अथ, अस्य धीमान् , वादिनाम् मुखेषु अनेकशः वितीर्णमुद्रः, उदारसंस्कारसुसारभारतीपवित्रवक्त्राम्बुरुहः जगद्धरः उदपादि ।

अर्थ—तदनन्तर, उस रत्नधरका पुत्र यह (मैं) 'जगद्धर भट्ट' ऐसा सुकवि हुआ; जिसने कि वादियोंके मुखोंपर अनेकों बार मौन-मुद्रा प्रदान की, अर्थात् अनेकों बार उन्हें चुप कर डाला । और जिसका मुखारविन्द सकल शास्त्रोंके संस्कारोंसे गर्भित सुरभारती (सरस्वती)-के वैभवद्वारा अतीव सुपवित्र हुआ है ।

अपि स्थवीयःस्वकृतस्थिरस्थितिः
　　कुशाग्रतीक्ष्णामधिरुह्य यन्मतिम् ।
अहो बत स्वैरविहारलीलया
　　पदं न्यधादस्खलितं सरस्वती ॥ ८ ॥

अन्वय—अहो ! बत ! स्थवीयःसु[1] अपि अकृतस्थिरस्थितिः सरस्वती, कुशाग्रतीक्ष्णाम् [अपि] यन्मतिम् अधिरुह्य, स्वैरविहारलीलया अस्खलितम् पदम् न्यधात्[2] ।

अर्थ—अहो ! जो (सरस्वती) अत्यन्त स्थूल बुद्धियोंमें भी निश्चल होकर सुस्थिर नहीं रह सकती, उस सरस्वतीने जिस (जगद्धर)-की कुशाग्र-बुद्धि (अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि)-में बैठकर उसे अपना अचल स्वेच्छाविहारका स्थल बना लिया !

निर्मत्सरः सहृदयः श्रुतपारदृश्वा
　　विश्वातिशायिविनयः प्रियवाक् सुशीलः ।
किं वाऽपरं कविगिरां सदसद्विचार-
　　चातुर्यधुर्यधिषणः शरणं य एकः ॥ ९ ॥

अन्वय—निर्मत्सरः सहृदयः श्रुतपारदृश्वा विश्वातिशायिविनयः प्रियवाक् सुशीलः, किंवा अपरम् [साधु वाक्यं, ब्रूमः] सदसद्विचारचातुर्यधुर्यधिषणः यः एकः कविगिराम् शरणम् [आसीत्] ।

अर्थ—और जो (जगद्धर) अतीव-विमत्सर, शत्रु और मित्रोंमें समान दृष्टि रखनेवाला, सहृदय, सम्पूर्ण-शास्त्रोंका पारङ्गत, संसारभरमें सबसे अधिक विनयशाली, अतीव मधुर बोलनेवाला और सुशील—अथवा इससे और अधिक क्या साधुवाद कहें कि, सत् और असत् वस्तुके विचारके चातुर्यमें जो सबसे अधिक तीव्र-बुद्धि, और सकल कवि-जनोंकी प्रौढ़ उक्तियोंका केवल एक ही शरण (आश्रय) था ।

---

१. स्थूलमतिषु । २. सूक्ष्मे हि वस्तुनि चरणवितरणमत्यद्भुतम् ।

तेनादृतेन शिशुनैव निवेद्यमान-
मानन्दकन्दलितभक्तिकुतूहलेन ।
एतं मृगाङ्ककलिकाकलितावतंस-
शंसारसायनरसं रसयन्तु सन्तः ॥ १० ॥

अन्वय—तेन शिशुना एव आदृतेन आनन्दकन्दलितभक्तिकुतूहलेन, निवेद्यमानम्[1] एतम् मृगाङ्ककलिकाकलितावतंसशंसारसायनरसम् सन्तः रसयन्तु ।

अर्थ—उस जगद्धर कविके द्वारा बाल्यावस्थासे ही अत्यन्त आदरपूर्वक, परमानन्द-से गर्भित गाढ़ भक्तिके कौतूहलसे निवेदन किये जाते, अर्थात् उपहार रूपमें समर्पित किये जा रहे, इस श्रीसदाशिवकी प्रशंसारूपी रसायनका सहृदय लोग समास्वादन करें।

गृह्णन्तु कञ्चन विशेषमशेषमस्मा-
दस्माकमात्तवचनाः[2] कचनाऽन्तरज्ञाः ।
चिन्वन्ति पल्वलजलात् कुशला विशाल-
शेवालजालकलिलात् कमलौघमेव ॥ ११ ॥

अन्वय—अस्माकम् आत्तवचनाः अन्तरज्ञाः अस्मात्[3] अशेषम् कञ्चन विशेषम् गृह्णन्तु । [दृष्टश्चैतत्] कुशलाः विशालशेवालजालकलिलात् पल्वलजलात् कमलौघम् एव चिन्वन्ति ।

अर्थ—हमारे वचनोंको ग्रहण करनेवाले, सत्-असत्के अन्तर (विशेषता)-को जाननेवाले सहृदय लोग, इस काव्य-सन्दर्भमें से किसी विशेष (सारभूत) तत्त्वको अवश्य ग्रहण करें । क्योंकि चतुर लोग अत्यन्त विस्तृत शेवाल (सेवार)-से छाये हुए तडागोदकमेंसे प्रायः कमलोंको ही ग्रहण करते हैं ।

यद्यप्यासामनलसरसस्फारसारं न किंचिद्
वाचामन्तर्विरचितचमत्कारमस्त्यर्थतत्त्वम् ।
तत्राऽप्येतास्त्रिभुवनगुरुस्तोत्रमैत्रीपवित्राः
कर्णाभ्यर्णाभरणसरणिं नेतुमर्हन्ति सन्तः ॥ १२ ॥

अन्वय—यद्यपि, आसाम् अनलसरसस्फारसारम् अन्तः विरचितचमत्कारम् अर्थतत्त्वम् किञ्चित् न अस्ति । तत्रापि, त्रिभुवनगुरुस्तोत्रमैत्रीपवित्राः एताः कर्णाभ्यर्णाभरणसरणिम् नेतुम् सन्तः अर्हन्ति ।

अर्थ—हाँ, यद्यपि इन मेरे वचनोंमें अमन्द [आनन्ददायक गाढ़ रससे गर्भित ऐसा कोई परमार्थ तत्व नहीं भरा है, जो कि लोगोंके मनमें अतीव उत्कट चमत्कार प्रकट कर सके । तथापि—त्रैलोक्यगुरु भगवान् सदाशिवकी स्तुतियोंके

---

१. प्राभृतीकृतम् । २. आत्तवचनात्, इत्यपि पाठः ।

३. सन्दर्भात् । ४. लक्ष्यव्यङ्ग्यद्योत्यपरमार्थतत्त्वम् ।

सम्बन्धद्वारा अत्यन्त पवित्र हुए इन मेरे वचनोंको सज्जन लोग अपने कर्णोंके आभूषण बना सकते हैं। अतः—

प्रेमाणं मणिकर्णिकां प्रति बुधा मन्दीकुरुध्वं मतिं
मुक्तादामनि माकृत स्पृशत मा ताम्बूलहेवाकिताम्।
भूषार्थं प्रभवन्ति कर्णपुलिने कण्ठे मुखाम्भोरुहे
देवस्य स्मरशासनस्य यदिमाः स्तोत्रावलीसूक्तयः॥ १३॥

अन्वय—अयि बुधाः [यूयम्] मणिकर्णिकाम्[1] प्रति प्रेमाणम् मन्दीकुरुध्वम्। मुक्तादामनि मतिम् मा कृत। ताम्बूलहेवाकिताम् [च] मा स्पृशत। यत् इमाः स्मरशासनस्य देवस्य स्तोत्रावलीसूक्तयः भवताम् कर्णपुलिने, कण्ठे, मुखाम्भोरुहे [च] भूषार्थम् प्रभवन्ति।

अर्थ—अयि विद्वज्जनो! अब आप लोग मणिमय कर्णभूषणपर अधिक प्रेम न करें और अमूल्य मुक्ताहारकी भी इच्छा न करें एवं सुगन्धित ताम्बूलको चर्वण करनेकी भी आदत छोड़ दें। क्योंकि भगवान् श्रीशङ्करकी स्तोत्रावलीकी ये मनोहर सूक्तियाँ आप लोगोंके कर्ण, कण्ठस्थल एवं मुखकमलको सुशोभित करनेके लिए पर्याप्त हैं।

[कविने इस ग्रन्थमें कुल जितने पद्य रचे हैं, उन सबको जोड़ करके 'शब्द-श्लेषाऽलङ्कार'के वैचित्र्यसे प्रकारान्तरसे वर्णन करते हुए वे कहते हैं:—]

निक्षिप्तं शतसप्तकेन सहितं पादायुतार्धं मया
निर्हिंसे गुणिनि द्विजेन्द्रमुकुटे धर्मैकधाम्नीश्वरे।
प्रायेण क्लिशितस्य दीनवचसः क्ष्माक्षिप्तमूर्ध्नोऽपि मे
पादं नैकमयं प्रयच्छति विधौ वक्रे करोम्यत्र किम्॥ १४॥

अन्वय—मया [सुवर्णानाम्[2] वृत्तानाम्] शतसप्तकेन सहितम् पादायुतार्धम् (अर्थात् ५७०० संख्यापरिमितम्) निर्हिंसे, गुणिनि, द्विजेन्द्रमुकुटे, धर्मैकधाम्नि ईश्वरे निक्षिप्तम्। [इदानीम्] प्रायेण क्लिशितस्य, दीनवचसः[3] क्ष्माक्षिप्तमूर्ध्नः अपि मे, एकम् पादम् अयम् [ईश्वरः मे] न प्रयच्छति। विधौ वक्रे [सति] अत्र [अहं] किम् करोमि?

आपाततः प्रतीयमान अर्थ—मैंने[4] सुवर्णके ५७०० पाद (सुवर्णके ५७०० चतुर्थांश) अर्थात् १४२५ सुवर्णमुद्राएँ (दीनारें) अतीव संयमी, दया-दाक्षिण्यादि गुणोंसे सम्पन्न, ब्राह्मण-शिरोमणि, अद्वितीय धर्मात्मा एवं अपार वैभवशाली [अर्थात् बहुत धन्याढ्य, जो कि निक्षिप्त वस्तु (धरोहर) को अच्छे प्रकार सुरक्षित रखते हुए

१. मणिमयी चासौ कर्णिका = कर्णाभरणं तां, प्रति। २. अत्र "सुवर्णानां वृत्तानां पादायुतार्धम्" इति वक्तव्ये 'सुवर्णानां वृत्ताना'मिति हीनपदत्वेऽपि शमकथासु भक्तिविषये न दोषः। ३. देहि स्वामिन्निति दीनवचसोऽपि।

४. 'कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः॥' (मनु—८,१७९)
इस शास्त्रीय व्यवस्थाके अनुसार।

मागनेपर उसे लौटा सके, ऐसे] प्रभु (समर्थ-पुरुष) के पास धरोहरके रूपमें दी थीं। किन्तु, इस समय (अकिञ्चनतावश) अत्यन्त दुःखित होकर 'हे स्वामिन् ! मेरी धरोहर मुझे लौटा दीजिए !' इस प्रकार दीन-वचनोंसे प्रार्थना करते हुए एवं अनेकों-बार पृथ्वीपर मस्तक पटकने पर भी, मुझ अभागेको अब यह प्रभु उनमेंसे एक भी सुवर्ण-पाद (अर्थात् एक भी सुवर्ण-चतुर्थांश) वापस नहीं लौटाते ! हाय ! मेरा भाग्य ऐसा प्रतिकूल हुआ, अब मैं क्या करूँ ?

वास्तविक अर्थ—मैंने इस स्तुतिकुसुमाञ्जलि ग्रन्थमें सुन्दर वर्णोंवाले, अर्थात् वर्णनीय रसके अनुरूप अक्षरोंवाले श्लोकोंके ५७०० चरण, अर्थात् १४२५ श्लोक रचकर, उन्हें मायाके आवरणसे शून्य, अणिमा-आदि अष्ट-सिद्धियोंसे सम्पन्न, मस्तकपर शशिकलासे शोभायमान, वृषभवाहन, भगवान् श्रीसदाशिवके चरणोंमें समर्पण किया। किन्तु इस समय अत्यन्त दुःखित होकर, 'हे प्रभो ! हे नाथ ! मुझ अनाथपर कृपा करो' इस प्रकार अत्यन्त करुणाजनक विलाप करने पर, एवं अनेकोंबार मस्तकको धरतीपर पटक पटककर रोनेपर भी, अब मुझ अनाथको वह प्रभु अपना एक चरण भी नहीं देते ! अर्थात् एक बार भी अपने पादपद्मको मेरे मस्तकपर नहीं रखते। हाय ! मेरा भाग्य ही टेढ़ा है, अब मैं क्या करूँ। प्रभुने कहीं कुटिल चन्द्रकलासे तो यह कुटिलता नहीं सीख ली ! नहीं, नहीं, यह सब मेरे ही दुर्भाग्यकी महिमा है। अतः क्या किया जाय ?

कारंकारमकारि वारितशमैररक्षैररक्षैरिदं
निघ्नं विघ्नितशम्भुसेवनसुखाभोगोपभोगं मनः।
किन्तु क्वापि कदापि काऽपि पतिता सा साधुदृष्टिर्यतः
प्राप्तः सूक्तिवपुर्जितोर्जितसुधास्वादः प्रसादः प्रभोः ॥ १५ ॥

अन्वय—वारितशमैः अरक्षैः अक्षैः इदम् [मम] मनः निघ्नम् [सत्] विघ्नित-शम्भुसेवनसुखाभोगोपभोगम् कारङ्कारम् अकारि। किन्तु, क्वाऽपि, कदापि काऽपि सा साधुदृष्टिः [मयि] पतिता; यतः [मया अयम्] सूक्तिवपुः जितोर्जितसुधास्वादः, प्रभोः प्रसादः प्राप्तः।

अर्थ—परम-शान्तिको नष्ट करनेवाले, एवं दस्युप्राय (चोरोंके तुल्य) इन दुष्ट-इन्द्रियोंने मेरे मनको परवश (विषयोंके अधीन) करके, मुझे भगवद्भक्ति-सुधाके समास्वादनके आनन्दसे बार-बार वञ्चित किया। किन्तु भाग्यवश किसी पुण्यके उदय होनेपर कहीं, किसी शुभ अवसरपर, किसी परम दयालु सद्गुरुकी, कोई अद्भुत (अनिर्वचनीय) कृपा-दृष्टि मुझपर हुई, जिसके प्रसादसे कि मुझे अति गाढ सुधाके आस्वादको भी फीका करदेनेवाला यह 'सूक्ति-सुधा'-रूपी भगवत्प्रसाद प्राप्त हुआ।

[अब ग्रन्थकार निज ग्रन्थकी परिसमाप्तिमें अपनी सरस्वतीको कृतकृत्य समझकर उसे धन्यवाद देते हैं—]

यत्सत्यं सदसद्विवेकविकलग्रामीणकग्रामणी-
मिथ्यास्तोत्रपरा पराभवभुवं नीतासि भीतास्यतः ।
मातः कातरतां विमुञ्च यदसौ सौभाग्यभाग्यावधिः
सञ्जातो जगदेकनाथनुतिभिर्वाग्देवि ते विभ्रमः ॥ १६ ॥

अन्वय—मातः ! यत् [अस्मादृशैः मन्दमतिभिः] सदसद्विवेकविकलग्रामीणकग्रामणी-मिथ्यास्तोत्रपरा, पराभवभुवम् नीता असि, अतः भीता असि, (एतत्) सत्यम् । [किन्तु] वाग्देवि ! [इदानीम् , पुनः ताम्] कातरताम् विमुञ्च, यत् जगदेकनाथनुतिभिः असौ ते सौभाग्यभाग्यावधिः विभ्रमः सञ्जातः ।

अर्थ—अयि माँ, सरस्वति ! अयि वाग्देवि ! हमारे सरीखे मन्दमतियोंने जो तुम्हें, कतिपय ग्रामोंका आधिपत्य पाकर नृपाभिमानी बने हुए महान् अविवेकी क्षुद्र-नृपोंकी, मिथ्यास्तुति द्वारा, अतीव लज्जित कर दिया है—इसीसे आप भयभीत हुई हो, यह बात सब सत्य है । किन्तु, माँ ! अब तो आप उस कातरताको छोड़ दीजिए ! क्योंकि अब तो आपको अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश, महाराजाधिराज, भगवान् श्रीजगदीश्वरकी स्तुतियोंद्वारा अखण्ड-सौभाग्य और भाग्यकी पराकाष्ठाका अक्षय-आनन्द प्राप्त हुआ है !

[इति श्रीमज्जगद्धरभट्टकविवंशावलीविवरणम्]

———

(१)

क्वाऽयं सत्कविभारतीपरिणतस्फारोल्लसद्वाग्भरः
क्वाधिव्याधिशताकुलोऽतिविकलप्रज्ञोऽहमेतादृशः ।
इत्थं सन्नपि भक्तिमान् पुनरहं केनाऽपि दिग्वाससा
कारुण्यामृतसागरेण हृदये संप्रेर्यमाणोऽभवम् ॥

(२)

तस्मात्संकलितो 'जगद्धरकवेः स्तोत्रप्रसूनाऽञ्जले-
र्व्याख्याडम्बर' एष यः सुमनसामामोदमाधास्यति ।
तेनाऽनेन विमुग्धबालरचनातुल्येन कृत्येन मे
प्रीतः स्याद् भवभीतिभञ्जनपटुः श्रीपाणिपात्रो गुरुः ॥

(३)

वाराणसीपुरपते ! भगवन्ननाथ-
नाथ !! त्वदीयपुरतो विनिवेदयामि ।
दोषोद्धतोऽपि तनयः स्खलितो ह्यधोऽधो
नोपेक्ष्यते जगति कारुणिकेन पित्रा ॥

(४)

यत्पादपद्मकरुणालवमात्रतोऽपि
मायाविलासरचितभ्रमभीरपैति ।
कोऽपि प्रपन्नजनतापहृतौ पटीयान्
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः ॥

(५)

लोकोत्तरश्रुतगुणैरनुरञ्जितेव
यस्याश्रयं न विजहाति वचोधिदेवी ।
तस्य प्रभोः परमहंसशिरोविभूतेः
प्रीत्यै भवेत् कृतिरियं शरणागतस्य ॥

श्रीमत्-परमहंस-परिव्राजकाचार्य—"श्रीहरिहरानन्द-सरस्वती"—(श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज) चरणाब्ज-किङ्करेण, पर्वतीय-श्रीप्रेमवल्लभत्रिपाठि-शर्मणा कृतेन, सान्वय-'प्रेम-मकरन्द'-नामक-हिन्दी-भाषानुवादेन समेतः, काश्मीरक-महाकवि-"श्रीमज्जगद्धर-भट्ट"-विरचितः 'स्तुति-कुसुमाञ्जलिः' समाप्तः ।

मरालमाला सरसीव निर्मले
कुचस्थले हारलतेव सुभ्रुवाम् ।
इयं भवत्वाभरणं महेश्वर-
स्तवावली वक्त्रसरोरुहे सताम् ॥'
(स्तु० कु० ३८, १५)



श्रीराजानक-रत्नकण्ठ-विरचिता

स्तुतिकुसुमाञ्जलि-

व्याख्या लघुपञ्चिका

श्रीराजानकरत्नकण्ठविरचिता

स्तुति-कुसुमाञ्जलि-

व्याख्या लघुपञ्चिका

श्रेयः शिवाद्वयजुषो दिशतात्स एको
वक्षोजहेमकलशो गिरिराजपुत्र्याः ।
षड्वक्त्रहस्तिवदनावमृतं यदीयं
पातुं मिथः कलहमातनुतो नितान्तम् ॥

रक्षतु कलहेरम्बस्त्रिजगद्वन्द्यः स हेरम्बः ।
बहुविधशृङ्गारचितं यद्वदनं शंभुना रचितम् ॥
सेवकजनसिद्धरमां तां देवीं नमत सिद्धरमाम् ।
या वन्द्या विबुधगणैः स्तुत्या या भूतले च विबुधगणैः ॥
द्विनभोष्टिमिते (१६०२) शाके धौम्यायनकुलोद्भवः ।
काश्मीरदेशवास्तव्यो रत्नकण्ठाभिधः सुधीः ॥
महेशचरणाम्भोजभावनारसभाविते ।
जगद्धरकवेः काव्ये करोति लघुपञ्चिकाम् ॥ (युग्मम्)

तत्र तावदनेकपूर्वजन्मार्जितसुकृतपरिपाकोपलब्धातिगाढभक्तिरसामृतामोदसुगन्ध्यभिनवस्तवप्रसूनाञ्जलि [वि] तरणोद्योगे त्रिजगत्प्रभोः कृतकृत्यमात्मानमाकलयन्नतिप्रौढसूक्तिनैपुण्येन च निजौद्धत्यं प्रकटयन्ह्लादवद्भिरित्यादिना वृत्तपञ्चकेनास्य वक्ष्यमाणसन्दर्भस्य पोठिकां कर्तुं कविराह —

ह्लादवद्भिरिति । इयं सरस्वती । 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः । 'सरोऽस्या आश्रयत्वेनास्ति—मतुपि सरस्वती । इयं च ब्रह्मलोके ब्रह्मसरः समाश्रित्य शापान्नदी भूत्वा भूतलेऽवतीर्णा । अत्र च शक्तिशक्तिमतोरभेदाद् वाणीरूपं वचनमपि सरस्वतीशब्दवाच्यमिति रायमुकुट्याम् । इयं सरस्वती वाणी । ममेति शेषः । स्वामिनः । स्वामिन्नैश्वर्ये इत्यैश्वर्यवाचिनः स्वशब्दान्मत्वर्थे आमिनच् । स्वामी महैश्वर्यवान् श्रीशिवभट्टारकस्तस्य मनः क्षणं रोद्धुमर्हतीति सम्बन्धः । कैः । नवैः स्तवैः । 'णु स्तुतौ' धातुः । किं भूतैः । ह्लादवद्भिः । 'ह्लादी सुखे' धातुः । ह्लादोऽत्र विगलितवेद्यान्तरपरमानन्दवाची । न तु सुखमात्रार्थः । पाठे धातोश्च शब्दाधिक्यात् । अत एव पदांशे श्रुतिकटुत्वपि ह्लादपदं कविना ग्रन्थादिमश्लोके रक्षितम् । श्रीमन्मम्मटाचार्यैरपि काव्यप्रकाशे ग्रन्थादौ भारतीनमस्कारे 'ह्लादेकमयीम्' इति पदांशे

श्रुतिकट्वपि ह्लादपदमनेनैवाभिप्रायेण रक्षितम् । यतोऽग्रे दोषनिरूपणावसरे तैरेवोक्तम्—'दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ' इति । क्वचिदिति शमकथासु भक्तिविषयेऽपि । नोभौ न गुणो न दोषः । श्रुतिकट्ठ-पुनरुक्तादिरित्यर्थः । ह्लादः परमानन्दः कर्तुः सहृदयस्य च विद्यते । येष्वासादितेषु यैर्वा ह्लादवन्तस्तैः । ह्लादो वर्णनीयो विद्यते येषु वा । स्तवैः पुनः किंभूतैः । अमलैः अविद्यमानो मलः पददोषः षोडशविधः श्रुतिकट्वच्युतसंस्कृतादिः, अर्थदोषश्चापुष्टत्वादिर्द्वादशविधो येषाम् । तथा अनर्गलैः गङ्गातरङ्गवदविच्छिन्नप्रसरैः । तथा जीवयन्तीति जीवना भवमरुभ्रमणतृषिताप्यायकाः तैः । तथा अघं पापं शिवेतरं च । वा व्याध्याद्यष्टविधमहारोगं वा कर्तुः सहृदयस्य च हरन्तीति तादृशाः तैः । तथाहि—सूर्यशतकमहाकाव्यकृतो मयूरस्य 'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्' इत्यादिषष्ठेन श्लोकेन श्रीभास्करप्रसादान्महारोगो व्यपगत इति प्रसिद्धिः । तथा क्लमशमक्षमैः क्षमाः क्लेशाः पञ्च अविद्यादयः क्लमः खेदो भवमरुभ्रमणजो वा । तस्य शमे शान्तौ क्षमाः तैः । यथा सरस्वतीनाम्नी नदी । 'सरस्वती नदीभेदे भूवाग्देवतयोरपि' इति विश्वः । जीवनैः तोयैः । 'जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः । स्वामिनो मनो रोद्धुमर्हतीति । तैरपि प्राग्वत् ह्लादवद्भिः परमानन्ददायिभिः । अमलैर्निर्मलैः । अघहरैस्त्रिविधपापहरैः । तथा क्लमो मरुभ्रमणादिजस्तस्य शमे क्षमैः । अत्र इवाद्यनुपादानाच्छब्दशक्तिमूल उपमाध्वनिः । अग्रिमश्लोकेष्वपि चतुर्षु । रथोद्धता छन्दः । 'रान्नरौ लघुगुरू रथोद्धता' इति कविशिक्षायाम् 'रनरैरन्वितं युक्तं लघुना गुरुणा तथा । ख्यातं रथोद्धता नाम वृत्तमेकादशाक्षरम् ॥' इति क्षेमेन्द्रकृते सुवृत्ततिलके ॥ १ ॥

स्वामिन इति । इयं मम सरस्वती वाणी स्वामिनः श्रीशिवभट्टारकस्य मनः उज्झितं स्वैरचापलं स्वेच्छातारल्यं येन तादृशं कर्तुमर्हति । कियन्तं कालम् ? मुहूर्तम्, दिनस्य पञ्चदशांशो रात्रेर्वा मुहूर्तस्तम् । 'दिनस्य यः पञ्चदशोऽपि भागो रात्रेर्भवेत्तद्धि मुहूर्तमानम् ।' इति संहिताविदः । 'मुहूर्तं घटिकाद्वयम्' इति सामान्यलक्षणम् । मुहूर्तमिति 'कालभावाध्वदेशानाम्' इति द्वितीया । किंभूता मम वाणी । स्थिरगुणा । स्थिरा ओजःप्रसादमाधुर्याख्यास्त्रयः शब्दगुणा अर्थगुणाश्च यस्याम् । सह वक्रिम्णा विद्यते श्लिष्टशब्दात्मकेन वैचित्र्येण सह वर्तते या सा सवक्रिमा । यथा 'रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला' इत्यादौ रीतिगुणरसादेर्वचनप्रपञ्चस्य श्लेषार्थवशाद्वैचित्र्यम् । तथा सह वक्रिम्णा उपचारवक्रपदत्वेन वर्तते या । उपचारवक्रभणितिरित्यर्थः । यथाग्रेऽत्रैव तृतीये स्तोत्रे—'खेलत्यलङ्घ्यमहिमा स हिमाद्रिकन्याकान्तः कृतान्तदलनो लघयत्वघं वः' इत्यत्र अघं हरतु इत्यस्य स्थाने लघयतु अत्यन्ततनूकरणेन निःशेषं करोतु इत्युपचारवक्रत्वम् । तथा—'अङ्गीकरोत्वरमभङ्गुरमिङ्गितं वः' इत्यत्र पूर्णमीप्सितं ददातु इत्यस्य स्थाने अभङ्गुरमिङ्गितमङ्गीकरोतु इत्युपचारवक्रत्वम् । एवमन्यत्राप्यूह्यम् । तथा कर्णयोः कर्तुः सहृदयस्य श्रोत्रयोरमृतवर्षिणी । यथा सरस्वती वीणा स्वामिनो मनो मुहूर्तमुज्झितस्वैरचापलं करोति । सापि किंभूता । स्थिरा गुणास्तन्त्र्यो यस्याः सा । पुनः सवक्रिमा कुटिला, कर्णयोरमृतवर्षिणी च ॥ २ ॥

रम्यरीतिरिति । इयं मे सरस्वती वाणी स्वामिनः परमेशस्य मनो रञ्जयत्विति सम्बन्धः । किंभूता वाणी । रम्यरीतिः रम्या रीतिर्मुख्यत्वाद्वैदर्भी रीतिर्यस्याः । तथा अनघा, गुणोज्ज्वला च प्राग्वत् । तथा चारूणि वृत्तानि वसन्ततिलकाशार्दूलविक्रीडितादीनि यस्यां सा चारुवृत्ता । तादृशी चासौ रुचिरा च । तथा च रसेन मुख्येन शान्तेनान्विता । तथा अल-

ङ्कृता वक्रोक्त्यादिशब्दालङ्कारैरुपमाद्यर्थालङ्कारैश्च युक्ता। पुनः किंभूता। प्रणयिनी। निजाभीष्टं प्रार्थयित्रीत्यर्थः। यथा च प्रणयिनी कामिनी स्वामिनो मनो रञ्जयति। सापि किंभूता। रम्यरीतिः। 'प्रचारस्यन्दयो रीतिः' इत्यमरः। 'प्रचारो व्यवहारः' इति रायमुकुटीकारः। 'प्रचारः शीलम्' इति क्षीरस्वामी। 'वैदर्भ्यादावारकूटे प्रचारस्यन्दयोस्तथा। मर्यादायां च रीतिः स्त्री' इति मङ्खः। रम्या रीतिः प्रचारः शीलं वा मर्यादा वा कुलस्त्रीगुणानां यस्याः सा रम्यरीतिः। तथा अनघा निष्पापा वा। गुणैश्च लावण्यादयादाक्षिण्यादिभिरुज्ज्वला। चारु वृत्तं यस्याः सा चासौ रुचिरा च। 'वृत्तमध्ययने पद्ये चारित्रे वर्तने मृते' इति। रसान्विता रसेन रागेण भर्तृविषये स्थिरेणान्विता। 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः। शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे॥" इति विश्वः। तथा अलङ्कृता आभरणयुक्ता॥ ३॥

सत्त्वधाम इति। इयं मे सरस्वती वाणी स्मरजितः परमेशस्य मानसं चित्तं विशतु इति सम्बन्धः। कीदृशं चित्तम्। सत्त्वस्य प्रीत्यात्मकस्य प्रकाशरूपस्य सत्त्वगुणस्य धैर्यस्य वा धाम स्थानम्। किंभूता वाणी। घनः कालस्य कृतान्तस्य विप्लव उपद्रवो मरणत्रासो यस्याः सा। घनो बहलो यः कालविप्लवो यमभीतिस्तदर्थं या सा इति वा। कालस्य वर्तमानतुरीययुगसमयस्य वा विप्लवो यस्याः सा। पुनश्च किंभूता। वरेत्यादि। 'वरो विवाहे देवादेः प्रार्थिते स्वीकृतावपि।' इति मङ्खः। वरस्य देवादेः प्रार्थितस्य लाभः। तदर्थं याचिताः। निजेष्टदेवताध्यानेन। 'पश्चिमाद्यामिनीयाम···प्रसादचेतना' इति कालिदासः। तेन श्लाघ्या यथावर्ण्यमानरसोपयोग्या वर्णा अक्षराणि यस्यां तादृशी चासौ विशदा निर्मला च। विशदशब्दो मध्यस्थतालव्य एव ज्ञेयः। अथवा वरलाभस्य याचितं याचनं तेन श्लाघ्या ये वर्णा अक्षराणीति विग्रहः। अथवा 'हंसस्य योषिद्वरटा वरलापि' इति स्वामी। व्रियते हंसैर्वरला। यथा वरला हंसी मानसाख्यं सरो विशति। किंभूतं सरः। सत्त्वधाम। सत्त्वानां मकरादिप्राणिनां धाम स्थानम्। हंसी किंभूता। आभया दीप्त्या आचितः पूरितः अत एव श्लाघ्यः स्तुत्यश्चासौ यो वर्णः श्वैत्यगुणः। 'आचितं निचितं पूर्णं पूरितं भरितं भृतम्' इति कोषः। तेन विशदा। पुनः किंभूता। सघनेति। घनस्य मेघस्य कालो वर्षासमयः स एव विप्लवः सह तेन वर्तते या सा सघनकालविप्लवा। मे सरस्वतीत्यनेन सूचितमेतत् वक्ष्यमाणस्तुतिकुसुमाञ्जलिरूपा स्तुतिर्यमभयनिवारणार्थमेव मया कृता। यदग्रे स्वयमेव वक्ष्यति—'क्रन्दन्तमन्तकभयार्तमुपेक्षसे यत्' इत्यादिना सर्वत्र॥ ४॥

भक्तित इति। इयं मे सरस्वती वाणी ईश्वरमारिराधयिषति आराधयितुमिच्छति। किं कर्तुम्। ईप्सितमभिलषितं वरं लब्धुम्। किंभूता। कायवाङ्मनोभिः शिवैकताध्यानात् सर्वाणि मङ्गलानि यस्याः। वाणीपक्षे मेनया इत्यत्र मे अनया इति पदच्छेदः। अनया मे निजधिया बुद्ध्या नित्यधिया वा बोधिता प्रबोधिता। अथ च सर्वमङ्गला पार्वती च वरं भर्तारमीश्वरमाराधयति। 'धवः प्रियः पतिर्भर्ता सेक्ता वरयिता वरः।' इति मङ्खः। किं कर्तुम्। ईप्सितं लब्धुम्। कीदृशी। मेनया मेनाख्या निजमात्रा। बोधिता प्रबोधिता। कया हेतुभूतया। निजधिया। कुतः। भक्तितः। यथा सर्वमङ्गला पार्वती ईप्सितं मनोरथेन प्रार्थितमीश्वरमेव वरं भर्तारं लब्धुमाराधितवती। भक्तितः भक्त्या हेतुना। तसिलः सार्वविभक्तिकत्वात्। तथा मदीया सरस्वत्यपि ईश्वरमारिराधयिषति। एतेन स्वात्मनेऽवश्यमीश्वरदर्शनं स्तुतिकरणेन सूचितं ग्रन्थकारेण। यथा पार्वत्या परमेश्वरो वरो लब्ध एव तथेयमपि सरस्वती प्राप्स्यत्येवेति भावः॥ ५॥

प्रथमं स्तोत्रम्

अथातः स्तुतिप्रस्तावनाख्यं प्रथमं स्तोत्रमारभमाण आह—

ओमितीति। वयं तन्महः परं ज्योतिरुपास्महे सेवामः। तत्किंभूतम्। सत् सत्तामात्रं सत्यं सनातनं च। तथा अक्षरं न क्षरति स्वरूपात्प्रचलतीत्यक्षरम्। अत्र उपासे इति वाच्यमाने अतिगाढभक्त्युद्रेकेण तदेकताभावनोत्कर्षेण श्लाध्यमात्मानं मन्यमानेन कविना उपास्महे इति बहुवचनक्रियापदोद्देशः कृतः। एवमग्रेऽपि। तत्किमित्याह—ओमितीति। यत्परमुत्कृष्टमोमिति पदम्। 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति वैयाकरणपरिभाषयास्य पदत्वम्। ओमिति प्रणवरूपमकारोकारोकारमकारात्मकं पदं हृदि हृदाकाशे अनाहतं न केनाप्युदीरितं सत् दन्ध्वनीति अत्यर्थं ध्वनति। कीदृशम्। हृदाकाशादुत्थाय उरसि वक्षसि स्फुरत्। पुनश्च किंभूतम्। गर्भेत्यादि। गर्भे गुम्फितमन्तर्लीनं समस्तं वाङ्मयं चतुर्दशविद्यारूपं यस्य। किमधिकेन वयं पारमेश्वरं परं ज्योतीरूपं महः प्रणवरूपेण हृदाकाशे अनाहतशब्दरूपं वन्दामह इत्याशयः। अस्मिन्वृत्ते प्रथमचतुर्थपादयोः 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति। हरस्य गर्भत्वं च तज्ज्ञैरूह्यम्॥ ६॥

भानुनेति। वयं तन्महः परं ज्योतिरुपास्महे। तत्किम्। येन आन्तरं ध्वान्तमज्ञानं झगिति सहसैव शान्तिमेति। तत्किम्। भानुना सूर्येण तुहिनभानुना चन्द्रेण बृहद्भानुनाऽग्निना च यन्न विनिवर्तितम्। विशेषेणापुनरागमनरूपेण न निवर्तितं न निवारितम्। तथाविधमज्ञानाख्यं गाढं तमः परं ज्योतीरूपेणैव विनिवार्यम्। सहसैवेत्यर्थः। तथा हि—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारका नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' इति श्रुतिः॥ ७॥

कीचकादीति। वयं तन्महः परं ज्योतिरुपास्महे। तत्किम्। यदेकमेव अद्वितीयं ब्रह्म चिदचित्सु चेतनाचेतनेषु चकास्ति देदीप्यमानमस्ति। कुत्र किमिव। कीचका वेणुविशेषाः। 'सरन्ध्राः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः।' इति। आदिशब्देन काहलाभेरीढक्कादिपरिग्रहः। तेषु यथाम्बरं गगनमेकमेवानेकधा चकास्ति। तथाम्बरमणेर्बिम्बं सूर्यबिम्बं यथा एकमेवोर्मिषु जलतरङ्गेष्वनेकधा चकास्ति तद्वत्॥ ८॥

तर्ककर्कश इति। वयं पारमेश्वरं परमेश्वरसम्बन्धि मह उपास्महे। किंभूतम्। अगोचरम्। कासाम्। तर्ककर्कशगिराम्। अनिष्टप्रसञ्जनं तर्कः। 'तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः स्यात्' इति तार्किकरक्षायाम्। अतर्क्यैश्वर्येऽपि परमेश्वरे किमाधारः किंकायः किंचेष्टः किमुपायश्च त्रिभुवनं सृजतीत्यादिर्यो मूढधियां तर्कस्तेन या कर्कशा गिरस्तासामगोचरम्। वाङ्मनसातीतैश्वर्यमित्यर्थः। 'शास्त्रेणापि न वक्तव्यं स्वसंवेद्यं परं पदम्' इत्युक्तेः। स्वसंवेद्यत्वमेवाह—स्वानुभूतीति। पुनश्च किंभूतम्। स्वा चासावनुभूतिरनुभवस्तस्य यः समयः स एवैकः साक्षी यस्य। आत्मीयानुभव एव तस्य परज्योतिषः साक्षीत्यर्थः। तथा मीलिताखिलविकल्पविप्लवं निमीलितसमस्तचिन्ताजालम्॥ ९॥

स्वावभासेति। वयं तन्मह उपास्महे सेवामहे। येन स्वतन्त्रेण कर्त्रा जगत् सुरनरतिर्यगादि रूपमवभास्यते प्रकाश्यते। किंभूतम्। भिन्नम्। कया। मायया मायातत्त्वेन करणेन।

'स्वस्वरूपेषु भावेषु भेदप्रथा माया' इति पराप्रावेशिकायाम् । तया करणभूतया भिन्नं सचित्रं नानारूपमवभासते । किंभूतम् । स्वावभासमयमेव स्वश्चासाववभासः स एव प्रकृतो यस्य । स्वात्मप्रकाशमेवेत्यर्थः । किं केनेव । इन्द्रधनुर्भास्वतेव । यथा भास्वता कर्त्री अभ्रलेखया करणभूतया चित्रं नानावर्णं सर्वमवभास्यते । किंभूतम् । स्वावभासमयमेव ।। १० ।।

युगलकम्—हृद्गुहेति, त्यक्तेति । वयं तं परमेश्वरं स्तुमः । तं कमित्याह—हृद्गुहेत्यादि । ज्ञानिन इत्यध्याहारः । ज्ञानिनो यं परमेशमद्भुतमाश्चर्यमयं दीपमुशन्ति । 'वश कान्तौ' धातुः । उशन्त्यभिलषन्ति । वर्णयन्तीत्यर्थः । किंभूतम् । हृदेव गुहा गह्वरम् । 'देवखातबिले गुहा' इत्यमरः । सैव गहनं गेहं तत्र गूहितं गोपितम् । 'चिद्घनोऽपि जगन्मूर्त्या श्यानो यः स जयत्यजः । स्वात्मप्रच्छादनक्रीडाविदग्धः परमेश्वरः ।।' इति भोगराजः । अत्र अपिशब्द आर्थः । गूहितमपि भासितं प्रकाशितमखिलं जगत्त्रयस्योदरं येन । विरोधाभासः । यद्वस्तु किमपि गोपितं तत्कथं बाह्यं प्रकाशयेत् । पुनश्च किंभूतम् । कन्देति 'नाभेरधस्तान्मेढ्रोर्ध्वे कन्द इत्यभिधीयते ।' मेढ्रादूर्ध्वं नाभेरधो द्व्यङ्गुलं स्थानं कन्दः । स एव कन्दरम् दरी गुहागह्वरं तस्य मुखं तस्मादुद्गतो यः प्राणमारुतः शरीरस्थवायुमुख्यस्तेनैव कृता स्थिरा स्थितिर्यस्य । अत्रापि प्राग्वद् विरोधाभासः । मारुतेन हि दीपो निर्वाप्यते । एष तु चिन्मयो दीपः प्राणवायुना स्थिरस्थितिः । पुनः । त्यक्ताः सर्वा दशा बाल्याद्यवस्था येन । चिदानन्दमयस्य ता न सन्ति । लौकिकस्य तु दशा वर्तयो युज्यन्त एव । पुनश्च किंभूतम् । अविद्यमानौ क्षयोदयौ यस्य तम् , स्वरूपसदृशस्य क्षयोदयौ भवतः । अतश्चाद्भुतं तम् । तथा रूपेण वर्जितस्तम् । लौकिकस्य दीपस्य रूपं दृश्यत एव । तथा अविद्यमानो भित्त्याद्याधारे संश्रयो यस्य । हृदाकाशस्थत्वात् । दीपस्य हि भित्तौ स्थितिरुपपन्ना । न तु षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतस्य चिदानन्दघनस्य । दीपेन हि साञ्जनेन भाव्यम् । तथा अनक्षगोचरम् । अक्षाणामिन्द्रियाणामगोचरम् । बाह्यो हि दीपो नेत्रगम्यः । चिदानन्दमयस्त्विन्द्रियागम्य एव ।। ११, १२ ।।

यस्येति । तं जगतां पतिमुमापतिं महेशं स्तुमः । तं कमित्याह—शस्यं स्तुत्यं महो यस्य सः । तादृशस्य यस्य परमेशस्य पादकमलरेणुभिर्योगमवाप्य । भक्ता इति शेषः । अद्भुतां नीरजस्कतां निर्गतरजोगुणत्वं दधति । 'रजो गुणे च रेणौ च योषितामार्तवेऽपि च' इति मङ्खः । रजस्तमोरहिता एव सात्त्विका मुक्ता इत्यर्थः । ये हि सरजस्कास्ते कथं नीरजस्काः स्युरित्यद्भुतम् । अत्र चरणाब्जरजोभिरित्युच्यमाने यतिभङ्गभयाद्रेणुभिरिति प्रक्रमभङ्गेऽपि भक्तिविषये न दोषः ।। १३ ।।

चार्विति । वयं तं नीलकण्ठं शितिकण्ठं स्तुमः । किंभूतम् । अतिकौतुकम् । अतिशयेन कौतुकं यस्य सः तम् । अत्यद्भुतमित्यर्थः । किंभूतम् । चार्वी या चन्द्रकला तयोपशोभितम् । तथा भोगिभिः सर्पैर्वासुक्याद्यैः सार्धं गृहीतं सौहृदं येन । तथा अभ्युपेतमङ्गीकृतं घनेन कालेनान्तकेन सह शात्रवं शत्रुभावो येन सः तम् । अथ च नीलकण्ठं मयूरम् । 'नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्' इत्यमरः । तस्याद्भुतत्वमाह । तत्पक्षे चारवो ये चन्द्रका बर्हास्तेषां लयो नाशस्तेनोपशोभितम् । मयूरस्य चन्द्रकलयेन शोभा न युक्ता । अत एवाद्भुतत्वम् । पुनश्च भोगिभिः सर्पैः सह गृहीतं सौहृदं येन । मयूरो हि भुजङ्गभुक् । अथ अभ्युपेतमङ्गीकृतं घनकालेन वर्षासमयेन सह शात्रवं शत्रुभावो येन । वर्षाकालेन सह मयूरस्य शत्रुत्वं न विद्यते । किन्तु प्रीतिरेवेत्यद्भुतत्वम् । श्लेषमूलो व्यतिरेकः ।। १४ ।।

इच्छयैवेति। स्वा चासौ शक्तिः शक्तितत्त्वम्। 'जगत्स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छा यास्ति तच्छक्तितत्त्वम्' इति पराप्रावेशिकायाम्। शक्तिः सचिवो यस्य सः तम्। स्वशक्तियुक्तं तं श्रीशिवं स्तुमः। तं कम्। यः परमशिव इच्छयैव इच्छाशक्त्यैव मुख्यया भुवनानि अधः कालाग्निरुद्रभुवनादारभ्य शिवभुवनान्तं सचतुर्विंशतिशतद्वयमितानि भावयन्सम्पादयन्। 'कलाः पञ्च च विज्ञेयास्तत्त्वं षट्त्रिंशदेव च। सचतुर्विंशति ज्ञेयं भुवनानां शतद्वयम् ॥' इति स्वच्छन्दोक्तेः। किंभूतः। प्रियेत्यादिविशिष्टः। प्रिय उपकरणेषूपकारेषु ग्रहो हेवाको यस्य सः। तादृशोऽपि सन्नप्रियोपकरणग्रहः। न प्रिय उपकरणेषु साधनेषु ग्रहो ग्रहणं यस्य सः। तादृशोऽभवत्। तक्ष्णो हि वास्यादिभिर्निर्माणसाधनैर्भवितव्यम्। अत्रापि विरोधाभासः। यः प्रियोपकरणग्रहः स कथमप्रियोपकरणग्रहो भवतीति ॥ १५ ॥

पद्मसद्मेति। पद्मसद्मा ब्रह्मा तस्य करौ ताभ्यां मर्दो हस्तसंवाहनं तेन लालितम्। तथा पद्मनाभो विष्णुस्तस्य नयनमेवाब्जं तेन पूजितम्। 'हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।' इत्युक्तेः। तथा पद्मबन्धुः सूर्यस्तस्य ये मुकुटांशवस्तै रञ्जितम्। ऐश्वरमीश्वरस्येदं पापपद्मयुगलं वयं स्तुमः ॥ १६ ॥

अङ्घ्रियुग्ममिति। अमरेशमस्तकस्रग्भिरिन्द्रशिरःकुसुममालाभिरुज्ज्वलं दीप्तं पदद्वयम्, तथा भस्मभिरुज्ज्वलमुरो वक्षःस्थलं च, तथा हिमरश्मिरश्मिभिश्चन्द्रकरैरुज्ज्वलं शेखरं मुकुटं च बिभर्ति, तं विभुं वयमुपास्महे ॥ १७ ॥

मूर्ध्नीति, कर्तुमिति, आपतन्तमिति। तिलकम्। अहं तं विषादं विषं कालकूटाख्यमत्ति समुद्रमथने इति विषात् शिवस्तमाश्रये। किंभूतम्। अविषादम्। अविद्यमानो विषादो यस्य सः तम्। परमानन्दस्वरूपमित्यर्थः। तं कम्। यो मूर्ध्नि शिरसि सिद्धसिन्धुं गङ्गां वहति। तथा अतनुं महतीं तनुमाकृतिं च वहति। द्वे अपि विशिनष्टि—चन्द्रकरवत्सुन्दरा त्विड् यस्यास्तां गङ्गाम्। चन्द्रकरैः सुन्दरत्विषं तनुं च। तथा फेनपिण्ड इव जलक्षोभोत्थितनदीकफपिण्ड इव पाण्डुरं स्मितमीषद्धासो यस्यास्तां तनुम्। तथा देहिनां शरीरिणां तापहारिणीमाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकाख्यतापत्रयनिवारिकां तनुं च बिभर्ति। समुच्चयालङ्कारः ॥

कर्तुमिति। यस्य सेवकः कर्ता कस्य न मनः सकौतुकं कर्तुमुत्सहत एव। अपि तु सर्वस्य साश्चर्यं विधातुं शक्तो भवति। अत्र च यत्तदावार्थौ। कुतस्तत् यद्यस्मात्कारणाच्छान्तः शममुपगतो नवोऽपि विग्रहो वैरं यस्य स एवंविधोऽपि सन् भीष्मतां भयानकत्वं नैति। तथा विचित्तवीर्यतां विगतं चित्तस्य वीर्यं यस्य स विचित्तवीर्यस्तस्य भावस्तत्ता तां बिभर्ति न च। अथ च शन्तनो राज्ञोऽपत्यं शान्तनवः स एव विग्रहो देहं यस्य तम्। 'आत्मा वै पुत्रनामा स्यात्' इति स्मृतेः। शन्तनुनृपतिमूर्तौ तत्सुतौ यौ तौ भीष्मविचित्तवीर्याख्यौ कथं न भवेतामिति विरोधाभासः ॥

आपतन्तमिति। तथा तं विभुं कम्। यो विभुः पुरोऽग्रत आपतन्तमागच्छन्तम्। श्वेताख्यनृपतित्रासहेतोरिति शेषः। यममन्तकमयमं अविद्यमानो यमो यत्नो यस्य तम्। तथा सविग्रहम्। सह विग्रहेण वैरेण वर्तते यः स तम् अविग्रहमशरीरं व्यधात्। शरणागतश्वेतत्राणाय ददाहेत्यर्थः। तथा दर्पकं दर्पयति कामिनमिति दर्पकः कामस्तम् अदर्पकं अविद्यमानो दर्पो यस्य स तं व्यधात्। निरहङ्कारं चकारेत्यर्थः। विरोधाभासः। त्रिभिर्विशेषकम् ॥१८-२०॥

अम्बरेणेति । वयं शङ्करं शङ्कल्याणं निःश्रेयसरूपं करोति शङ्करस्तम् भजामहे सेवामहे । किंभूतम् । शुभकरं शुभं त्रिजगन्मङ्गलं करोति तादृशम् । पुनश्च किंभूतम् । गगनेनाकाशेन, गच्छन्त्यनेन देवा इति गगनं व्योम, तेनैवाम्बरेण वस्त्रेण परिवेष्टितम् । तथा जीवयन्ति तृषातुरानिति जीवनानि तैर्जीवनैराप्यायकैर्वारिभिर्जलैः । मन्दाकिन्या इति शेषः । तैः श्रितम् । कुत्र शिरसि । तथा भुजानष्टादश । 'अष्टादशभुजं देवं नीलकण्ठं सुतेजसम्' इति स्वच्छन्दतन्त्रराजोक्तेः । तान्गच्छन्तीति भुजगाः । तादृशैर्भोगिभिः सर्पैर्वासुक्याद्यैर्भूषितमलङ्कृतम् । अत्र श्लोके असमस्तपदपुनरुक्तवदाभासः । तथाहि—अम्बरेण गगनेति, जीवनैर्वारिभिरिति, भोगिभिर्भुजगैरिति, शङ्करं शुभकरमिति आभिमुख्ये पौनरुक्त्यं पर्यवसानेऽन्यार्थत्वात्तदभावः । अत्र च 'नौमि पार्षदगणान्वितं विभुम्' इत्यादि पाठो दृश्यते । तत्पक्षे पार्षदानां नन्दिमहाकालादीनां प्रमथानां गणाः समूहास्तैरन्वितम् । "परिषदो द्व्यच्कत्वं च । 'ततः पर्षद्पार्षदाः' इति संसारावर्तादिः । 'स पार्षदैरम्बरमापुपूरे' इति जाम्बवत्यां पाणिनिः" इति रायमुकुट्याम् । अत्रापि पार्षदगण इत्यामुखे पौनरुक्त्यं पर्यवसाने तदभावः ॥ २१ ॥

पावकेन शिखिनेति । पावयति पवित्रीकरोतीति पावकस्तेन पावकेन शिखिना वह्निना उपशोभितम् । ललाट इति शेषः । सिता रुग्यस्य स तादृशेन हिमांशुना चन्द्रेण वामाक्षिकवाटस्थेन, तथा भास्वता भासो विद्यन्ते यस्य स तादृशेन रविणा सूर्येण दक्षिणाक्षिकवाटस्थेन शोभितम् । विभोः श्रीशिवस्य लोचनत्रयमुपास्महे वयम् । अत्रापि श्लोके असमस्तपदपुनरुक्तवदाभासः । एतद्वृत्ताभिप्रायच्छायानुसारेण ममापि वृत्तमेकम्—

> 'भक्तिप्रह्वजनस्य यत्किल तमोध्वान्तं निहत्यान्तरं
> दृष्टयंशेन यमान्तकारि मदनं निर्दर्पकं यद् व्यधात् ।
> भास्वद्भास्करपावकाग्निशशभृच्छीतांशुसंभूषितं,
> तन्नेत्रत्रितयं सदा गिरिसुताकान्तस्य वन्दामहे ॥'

तमस्तमोगुण एव ध्वान्तम् । विस्पष्टमन्यत् ॥ २२ ॥

अभयङ्करमिति । अहमीश्वरस्य नेत्रत्रितयं तथा शूलस्य त्रिशूलस्य शिखात्रयं च वन्दे नौमि । द्वे अपि विशिनष्टि—किंभूतं नेत्रत्रितयम्, अभयङ्करम् । न भयं करोतीत्यभयङ्करम् । 'भयार्तिमेघेषु कृञः' इति खमुञ् । एवंभूतं स्वरूपमाश्रितम् । शूलशिखात्रयं च किंभूतम् । अभयम् । अविद्यमानं भयं परेभ्यो भङ्गभयं यस्य । तथा करम् कर्मभूतं हस्तमाश्रितम् । पुनः किंभूतं नेत्रत्रियतम् । उद्दामान्युद्भटानि यानि समग्राणि धामानि सूर्येन्दुवह्निरूपाणि तैर्योगं दधत् । शूलशिखात्रयं च किंभूतम् । उद्दामानि समग्राणि यानि धामानि तेजांसि तैर्योगं दधत् । तथा नेत्रत्रितयं किंभूतम् । शुचितारकम् । शुचयस्तारकाः कनीनिकाः । 'तारकाक्ष्णोः कनीनिका' इत्यमरः । यत्र तादृशम् । शूलशिखात्रयपक्षे – शुचि निर्मलम् । तारकं तारयति देवगणान्दैत्यरणोदधेरिति तारकं निस्तारकम् ॥ २३ ॥

मीलदिति । शशाङ्कशकलेन चन्द्रखण्डेनाकलितोऽवतंसो यस्य तं चन्द्रखण्डमौलिं श्रीशिवं सन्तः कृतिनः शङ्कर शङ्करेति स्तुवन्ति । किंभूताः । मीलद्विलोचनेत्यादि । मीलन्ति तद्ध्यानेन यानि विलोचनानि तान्येव समुद्राः संपुटकास्तेभ्यः समुद्गतं यदश्रु तस्य स्रोतः प्रवाहस्तेन स्नपितं मूलं येषां तादृशाः कपोलभागा येषां ते ॥ २४ ॥

भ्रान्तोऽस्मीति । दिग्भ्रमे दिङ्मोहेन हतः । एकदा परिचितोऽपि वर्त्मनि विस्मृतमार्ग इत्यर्थः । अत्र वैशसमये दुःखमये समये तुरीययुगसमये तारुण्यातिरिक्ते प्रौढत्वसमये वा महतोऽपमार्गान् अवटवर्त्मनः शिवशास्त्रादन्यशास्त्रोपदेशरूपान्कुमार्गात् मिथ्यैव भ्रान्तोऽस्मि । 'दिक्क्लमहतो' इत्यपि पाठोऽत्र दृश्यते । तत्पक्षे दिक् कर्तृ । अस्तु किमित्याह—वैशसमय इत्यादि । अन्यत्प्राग्वत् । क्लमेन खेदेन भवमरुभ्रमणेन हतः । विश्रम्येत्यादि । श्रीशिवस्य नवने स्तवने एव नन्दनवने देवोद्याने विश्रम्य स खेदो भ्रमणजो ममावसानं समाप्तिं सम्प्रत्यधुना समेति प्राप्नोति च । एतद्वृत्ताशयानुसारेण ममापीदं वृत्तद्वयम्—

'भ्रान्त्वा निसर्गकुटिलेष्वपथेष्वजस्रं मोहान्धकारपटलेन निमीलितोऽयम् ।
दिष्ट्या शिवस्तुतिसुरद्रुमवाटिकायां विश्रान्तिमेति मम [मानसचञ्चरीकः ॥'

तथा— 'मोहध्वान्तग्लपनविवशः कापथेषु प्रकामं
रे रे चित्तभ्रमर विमते किं मुधा बम्भ्रमीषि ।
शम्भुश्लाघासुरतरुवने लीन एकान्ततः स्याः
संतापस्ते भवमरुभवो नान्यथा शंशमीति ॥'

इति ॥ २५ ॥

यत्पार्वणेन्दुकरेति । भगं विद्यते यस्य । 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतम् ॥' तद्वतो भगवतश्चन्द्रमौलेर्महेशस्य तत्सौभगं सौभाग्यं जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । तत्किम् । वचोधिदेव्या वचसामधिदेवी अधिष्ठातृदेवता वाग्देवता तया वाग्देवतयापि समले सकालुष्ये मलिने नश्चेतसि यद्विश्रम्यते । किंभूतया तया । पर्वणि भवः पार्वणः पूर्णश्चन्द्रस्तस्य करवद्रश्मिवत्सुन्दरो यो वाहहंसः श्वेतगरुत् तस्मिन्संवासेन नित्यवासेन दुर्ललितया । सदैवाभ्यस्तयेत्यर्थः । शिवैकताध्यानतत्परेऽस्माकं मनसि कलुषेऽपि यद्वाग्देव्या विश्रम्यते तत्कामुकसौभाग्यफलम् । निश्चयेन प्रियासङ्गम इत्याशयः ॥ २६ ॥

यमिति । 'ही भर्त्सने खेदे च' इति क्षीरस्वामी । ही खेदे । भोश्चित्त मनः, उचितं कर्तुं न भवति । अर्थात्तवैवेत्यर्थः । किं कर्तुम्, गा वाचः कर्मभूता महीनभोगाः कर्तुम् । मही च नभश्च ते महीनभसी । ते गच्छन्तीति महीनभोगाः । चित्त कीदृश, धृतसंयम । धृतः संयमः शान्तिस्वरूपो येन तत् । तस्य सम्बोधनं धृतसंयम । कुत्र । परत्र विषये कर्तुम् । किं कृत्वा । तं पूर्वार्धविशेषणविशिष्टं भगवन्तं श्रीशिवमपहाय त्यक्त्वा । तं कमित्याह—यं भूषयन्तीति । अहीनभोगाः अहीनां भुजगानामिना अहीना भुजगेन्द्रा वासुकिमुख्यास्तेषां भोगा वपूंषि कमनीयं काङ्क्षणीयं भक्तजनैर्यं भूषयन्ति । यं च भगवन्तं स्तुत्वा कृतिनः सुधियोऽहीनभोगा न हीना भोगा विषया येषां ते । परिपूर्णभोगा भवन्तीत्यर्थः । पादान्तयमकम् ॥ २७ ॥

अवाप्येति । मया कर्त्रा अनाविला अकलुषा मतिर्बुद्धिः [स्तुतौ] विरचिता । कं प्रति । तं प्रति । कदा । संप्रति इदानीम् । किंभूतं तम् । कृतमहाविलासम् । कृता महान्तो विलासा येन तम् । कया समम् । उमया पार्वत्या समम् । कुतो हेतोः । अतः । अतः कुत इत्याह—अवाप्येत्यादि । गीर्वाणी अवन्ध्या सफला यतो भवति । कस्य । तमीरमणशेखरं चन्द्रमौलिं ध्यायतः । अर्थाद्भक्तस्य । किं कृत्वा । गुरुभिर्गुणैः पाण्डित्यकवित्वादिभिर्गौरवमवाप्य । कुत्र । जगति । इदमपि वृत्तं पादान्तयमकम् ॥ २८ ॥

मत्वेति । सुकृतस्य पुण्यस्य सुहृदम् । सुकृतेन मानुष्यकप्राप्तिः । मानुष्यकसाहचर्येण सुकृतं वर्धत इत्याशयः । भूयो दुर्लभं जीवलोकं मत्वा । तथा सर्वव्यसनानां मृगयादीनां शमनमेकं मित्रं विवेकं लब्ध्वा । अमलानि च तानि मधुराणि च तैः । तथा भक्त्या वाङ्मनःकायासक्त्या सिक्तैः । भक्तिरसामृतसिक्तैर्वचोभिः केचित्कतिपया एव धन्याः सुकृतिनो हंसं परमात्मानं परमशिवं स्तुवन्ति । 'हंसो विहङ्गभेदे स्यादर्के विष्णौ हयान्तरे । योगिमन्त्रादिभेदेषु परमात्मनि मत्सरे ॥' इति विश्वः । किंभूतं श्रीशिवम् । कृतेत्यादि । कृतः कुमुदिनीकान्तलेखावतंसश्चन्द्रकलावतंसो येन तम् ॥ २९ ॥

अन्तः शून्यमिति । ननु निश्चये । काव्यं निपुणकविकर्म । सुमनसां विदुषाम् । 'सुमनाः स्त्री पुष्पजात्योर्देवपण्डितयोः पुमान्' इति मङ्खः । तेषां हृद्यं हृदयप्रियं न भवति । किंभूतम् । स्थलाम्भोरुहाभम् । शब्दसाम्येन स्थलकमलतुल्यम् । अत्र हेतुमाह—काव्यं किंभूतम् । अन्तः शून्यं लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थरहितम् । तथा गुणैरोजःप्रसादमाधुर्याख्यैस्त्रिभिर्विरहितम् । तथा नीरसं रसाच्छृङ्गारादेर्निर्गतम् । तथा सर्गैः सर्गबन्धैर्हीनम् । 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' इत्यभियुक्तोक्तेः । स्थलकमलमपि अन्तः शून्यं कर्णिकावर्जितम् । तथा गुणैः सूक्ष्मतन्तुभिर्विरहितं निर्मुक्तम् । तथा नीरसंसर्गहीनम् । नीरस्य जलस्य यः संसर्गो योगस्तेन हीनम् । स्थलोत्पन्नत्वात् । एतादृशं स्थलकमलं सुमनसां पुष्पाणां मध्ये न हृद्यं न हृदयप्रियं कस्यापि । तत्रापि एवमपि सति ईशः परमैश्वर्यमहाम्भोधिर्मत्काव्यं श्रवणपुलिने कर्णतटे कर्तुमर्हति । अत्र हेतुमाह—गाढेत्यादि । गाढश्चासौ रागो वाङ्मनःकायैस्तदासक्तिस्तस्यानुबन्धोऽव्युच्छिन्नता तेन प्रोद्यन्ती या भक्तिस्तया प्रगुणितं प्रकृष्टगुणं सम्पादितं यतो मत्काव्यमित्यर्थः । अत एवागर्हं निर्दोषं साधुजनश्लाघ्यम् । स्थलाम्भोजपक्षे—गाढरागानुबन्धो नित्यलौहित्ययोगस्तेन या प्रोद्यन्ती भक्तिर्विच्छित्तिस्तया प्रगुणीकृतम् । अत एवागर्हं निर्दोषम् ॥ ३० ॥

पूर्वश्लोकेनापरितुष्यन्नन्यथा तमेव पुनः समर्थयति—

अथवेति । अथवा पक्षान्तरे । इयं गीर्मम वाणी गिरिजाजीवितनाथं पार्वतीप्राणप्रियं शम्भुं निश्चितमार्द्रतां नयति । कृपामृतरसासिक्तचित्तमुमानाथं सम्पादयतीत्यर्थः । कीदृशं शम्भुम् । इन्दुकान्तम् । इन्दुना मौलिस्थेन कान्तस्तम् । इयं मे गीः किंभूता । अमृतबिन्दुवर्षिणी । तथा इन्दुद्युतिः इन्दुवद्द्युतिर्यस्याः । तथा अमन्दं बहुतरमानन्दमर्पयन्ती । यथा अमृतबिन्दुवर्षिणी अमन्दं चानन्दमर्पयन्ती इन्दुद्युतिश्चन्द्रकान्तिश्चन्द्रकान्तमणिमार्द्रतां नयति जलार्द्रीकरोतीत्यत्रारोपकार्थः ॥ ३१ ॥

इति श्रीशारदाचरणसरोजरजःकणपवित्रस्थलवास्तव्यविपश्चिद्वर-राजानक-शङ्करकण्ठात्मज-राजानकरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलि-व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां स्तुति-प्रस्तावनाख्यं प्रथमं स्तोत्रम् ।

द्वितीयं स्तोत्रम्

अथ नमस्कारस्तोत्रं द्वितीयमारभमाण आह—

ओं नम इति। ओमिति मङ्गलार्थः। परमात्मने। परमो जीवात्मनः परतर आत्मा व्यापकः परमात्मा चिदानन्दघनस्वरूपस्तस्मै नमः कर्तृ अस्तु। किंभूताय। परमार्थैकरूपाय। परम उत्कृष्टो योऽर्थः पुरुषार्थो मोक्षाख्यः स एवैकं रूपं यस्य तस्मै। मोक्षरूपेणानन्दस्वरूपायेत्यर्थः। 'आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्' इति श्रुतेः। परमाणुरूपश्चेत्यर्थः। यद्वा परमार्थः संवित् सैवैकं रूपं यस्य। तथा च श्रीमदाचार्यवरोत्पलदेवविरचितस्तोत्रावल्यां द्वितीये स्तोत्रे—'संविन्मयाय ते' इति। अत्र हि संविन्मयत्वं स्वातन्त्र्येणोल्लसिताशेषविश्वनिर्भरत्वम्। यद्वा परमार्थत एकरूपाय एकस्मै असामान्याय परमात्मने परमशिवाय नमः। तथा च श्रीभट्टनारायणकृते स्तवचिन्तामणौ—'मुहुर्मुहुरविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः। कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः॥' इति। पुनश्च किंभूताय। स्वेच्छयावभासितः प्रकटीकृतो यो भेदो द्वैतप्रथाख्यस्ततो भिन्नः पृथक्स्थः। परमशिवो भगवान्परमेश्वर एक एव, तत्प्रतिबिम्बा एव सर्वे देवाद्या इत्यर्थः। तथा च श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचिते परमार्थसारे—'नानाविधवर्णानां रूपं धत्ते यथामलः स्फटिकः। सुरमानुषपशुपादपरूपत्वं तद्वदीशोऽपि॥' इति॥ १॥

नमः शिवायेति। शिवाय परमेश्वराय नमोऽस्त्विति सम्बन्धः। किंभूताय सूक्ष्मा असूक्ष्माश्च ये क्लेशाः पञ्च अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशास्तेषां यः प्रशमस्त्रैकालिकाभावस्तेन शाली तस्मै। क्लेशशब्दस्योपलक्षणतया कर्मविपाकाशयग्रहणम्। तेन क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टायेश्वराय नमोऽस्त्वित्यर्थः। क्लेशशब्देन रागद्वेषमोहा उच्यन्ते। अस्मिताभिनिवेशयोस्तत्रैवान्तर्भावात्। त्रिगुणेति। यतस्त्रित्वसंख्याका ये गुणाः प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः सत्त्वरजस्तमःपदार्थास्त एव परमतत्त्वसङ्कोचदायित्वाद्ग्रन्थिस्तेन दुर्भेदो दुर्वारो यो भवो देहेन्द्रियविषयसम्बन्धरूपः संसारः स एव बन्धो बन्धनं तं विभेत्तुं शीलमस्येति तस्मै। यद्वा शिवाय परमशिवाय नमोऽस्तु। ननु किमर्थं परमशिव एव नमस्यः। यावता ब्रह्मादयोऽप्यस्मदुत्तीर्णाः सन्ति तेऽपि नमस्करणयोग्या इति, नेत्याह—निःशेषेति। निःशेषा समस्ता ये क्लेशं प्रान्ति पूरयन्तीति क्लेशप्राः। 'प्रा पूरणे' धातुः। क्लेशप्रमादादयस्तेषां शमोऽत्यन्तोच्छेदस्तेन शाली। मायादयो हि ब्रह्मादिनां विद्यन्ते। न तु परमशिवस्येति। स एव भगवाननवच्छिन्नप्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थः परमशिव एव नमस्यः। ननु परमशिवस्य मायाद्यभावेऽपि कुतो नमस्कार्यत्वमित्यत आह—त्रिगुणेति। त्रिगुणानां ग्रन्थः स विद्यते येषां ते त्रिगुणग्रन्थिनः परतत्त्वानभिज्ञाः तेषां यो दुर्भेदो भवोऽनिश्चितपरमशिवरूपविशेषः क्षेत्रज्ञो यस्तस्य बन्धः स्वरूपापरिज्ञानं तस्य विभेदी विनाशकरः यः क्षेत्रज्ञस्य परमशिवत्वं परमशिव इति स एव नमस्य इत्यर्थः। इति प्राचीनाचार्याणां व्याख्या। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः॥ २॥

नमः समस्तेति। कस्मै। प्रस्तुताय श्रीशिवाय। किंभूताय। समस्ता ये गीर्वाणा देवास्तेषां किरीटैर्मुकुटैर्घटितौ मिलितावङ्घ्री यस्य तस्मै। तथा जगदेव नगरं तस्य निर्माणं विधानं तदेव नर्म क्रीडा तदेव शर्म कल्याणं तद्ददातीति शर्मदं कर्म यस्य सः तस्मै। क्रीडयैव जगन्नगरनिर्मात्र इत्यर्थः॥ ३॥

नमस्तमस्वतीति । तमस्वतीकान्तखण्डश्चन्द्रखण्डस्तेन मण्डितो मौलिर्यस्य । तापः आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपस्त्रिविधः । अन्धकारो मोहरूपोऽविद्यामयः, अर्थात्संसारिणां भक्तजनानां च । तेन यो निर्वेदस्तेन यः खेदस्तस्य यो विच्छेदस्तं वेत्तीति तस्मै श्रीशिवाय नमोऽस्तु ॥ ४ ॥

नमः समस्तेति । समस्ता ये सङ्कल्पा भक्तजनस्य ऐहिका आमुष्मिकाश्च । तेषां या कल्पना निष्पत्तिस्तस्यां कल्पशाखी देवतरुर्यथेप्सिताभीष्टदायी तस्मै । विकासिनी या कलिका चन्द्रकला तया कान्तः कलापो जटाजूटो यस्य तस्मै । एवंविधाय स्वयम्भुवे स्थाणवे नमोऽस्तु । देवतरुरपि समीहितपूरणं विधत्ते । कलिकादिभिर्दिव्यकुसुमकुड्मलैः शोभितशाखाकलापश्च भवतीत्यर्थः । अत्रापि वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ५ ॥

नमस्तम इति । तमसा अज्ञानेनाविद्यारूपेण पराभूतो यो भूतवर्गो जनसङ्घस्तमनुकम्पते इत्यनुकम्पी तस्मै । अज्ञानपराभूतप्राणियूथदयालवे इत्यर्थः । तथा श्वेतभानुः सोमः, बृहद्भानुरग्निः, भानुः सूर्यः, तैर्भासितानि चक्षूंषि त्रीणि यस्य तस्मै नमोऽस्तु ॥ ६ ॥

नमः शमेति । शमनस्य यमस्य यो हुङ्कारस्तेन कातरा भीता ये आतुरा आर्तास्तान्हर्षयतीति तस्मै । तथा भवः संसार एवाग्निस्तेन ये विविग्ना भीता व्याकुला वा तेषाममृतं वर्षतीति तस्मै नमोऽस्तु ॥ ७ ॥

नमः समदेति । सह मदेन वर्तते योऽसौ कन्दर्पः कामस्तस्य यो दर्पः स एव ज्वरस्तस्य यो भरस्तं छिनत्तीति भरच्छित् तस्मै । तथा दुःखेन वार्यते दुर्वारा दुर्निवारा चासौ भवरुक् संसाररूपव्याधिस्तस्य भङ्गो नाशस्तस्य भिषक् अगदङ्कारस्तस्मै । वृषलक्ष्मणे श्रीशिवाय नमोऽस्तु । अत्र वृत्तैरुत्तरार्धाभिप्रायच्छायानुसारेण ममापि वृत्तानि चत्वारि—

'तैस्तैरुग्रैर्विविधरचनैः संभृते यत्र दोषै-
रुत्पद्यन्ते सततमरुचित्रासमोहप्रलापाः ।
संसाराख्यं तमतिविषमं संनिपातं नराणा-
मेको हर्तुं प्रभवति विभुर्लीलयाऽसौ किरातः ॥'

लीलया क्रीडया किरातः शबररूपो विभुरीश्वरः संसाररूपं संनिपातं ज्वरविशेषं हर्तुं प्रभवति । किरातः किराततिक्ताख्य ओषधिविशेषश्च संनिपातहरः । अन्यत्स्पष्टम् । तथा—

'भवजीर्णज्वरार्ताय मोहकम्पाकुलाय मे ।
एकं सुदर्शनस्यांशं देहि विश्वचिकित्सक ॥'

शोभनं दर्शनं सुदर्शनं तस्यांशम्, सुदर्शनस्य जीर्णज्वरहरस्य चूर्णस्यांशं च । अन्यत्स्पष्टम् । तथा

'स्मृतिर्यत्र क्वापि स्वपरविषये नैव हि भवेद्
वृथायासा जाता; सततमिह धन्वन्तरिमुखाः ।
विनैकस्माच्छम्भोः सदयनयनोद्वीक्षणलवाद्
भवापस्मारोऽयं विषमविषमः शाम्यति कथम् ॥'

अत्र भवः संसार एवापस्मारो महारोगः । अन्यत्स्पष्टम् । तथा—

'हा हा महार्त्योस्मि विमोहितोऽहं जरादिदुःखेन सदैकशूली ।
त्रिशूलिनं तं त्रिजगत्प्रसिद्धं चिकित्सकं यामि गदस्य शान्त्यै ॥'

एकं शूलं रुग्यस्यास्तीत्येकशूली । 'अस्त्री शूलं रुगायुधम्' इति मङ्खः । त्रिशूलमा युधविशेषः । त्रीणि शूलान्यस्य सन्तीति त्रिशूली तं च । अन्यत्स्पष्टम् ॥ ८ ॥

नम इति । कपालं ब्रह्मकपालमस्यास्तीति कपाली तस्मै कपालिने श्रीशिवाय नमोऽस्तु । किंभूताय । जन्मेति । जन्म च जरा च मृत्युश्च तेभ्यो या भीतिस्तया ये सातङ्काः सदुःखास्तान् पालयतीति तादृशाय । तथा करुणैवामृतं तेन यः संपर्कस्तेन पेशलाय तस्मै ॥ ९ ॥

नमो निसर्गेति । निसर्गेण विघ्नेभ्यो निष्क्रान्तो यः प्रसादः स एवामृतं तस्य सिन्धुः समुद्रस्तस्मै । तथा संसार एव मरुर्धन्वा तत्र यः सन्तापः सम्यक् ताप आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपेण त्रिविधस्तेन तापिता ये आपन्ना आपद्गताः शरणागता वा तेषां बन्धुस्तस्मै श्रीशिवाय नमोऽस्तु ॥ १० ॥

नमः सान्द्रेति । कल्पविरमे संहारकारको महाकालः श्रीशिवस्तस्मै नमोऽस्तु । किंभूताय । सान्द्रेति । सान्द्रं च तदमृतं कृपामृतं निःश्रेयसरूपं वा स्यन्दत इति तादृशं यद् ध्वनितं शब्दो भक्ताभयदानाय प्रसादवाक्यं तेन शोभत इति तादृशाय । तथा भीष्मो भयावह ऊष्मा यस्य तादृशश्चासौ भवः संसार एव ग्रीष्मो निदाघस्तेन यः क्लमः खेदस्तं छिनत्तीति । अथ महाकालः प्रावृट्समयः । सोऽपि घनानां मेघानां ध्वनितशोभी बहलजलप्लाविमेघशब्दशोभी ॥ ११ ॥

नमो वाङ्मनसेति । वाक्च मनश्च वाङ्मनसम् । ततः अतीतो महिमा यस्य तस्मै । वाङ्मनसपदं 'अचतुरविचतुर —' इति सूत्रेण निपातितम् । त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि यस्याः, अष्टौ बुद्ध्यादयो विशेषगुणा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्माः । यद्वाष्टौ गुणा दयाक्षान्त्यनसूयाशौचानायासमङ्गलाचाराकार्पण्यास्पृहाख्या अष्टावात्मगुणाः । तथा अनन्ता गुणा यस्याः सा गुणेभ्यो निष्क्रान्ता निर्गुणा मूर्तिर्यस्य सः । तथा च—'वेदोऽखिलो धर्ममूलमाचारश्चैव तद्विदाम् । अष्टावात्मगुणास्तस्मिन् प्रधानत्वेन संस्थिताः ॥ दया सर्वेषु भूतेषु क्षान्ती रक्षेतरस्य च । अनसूया तथा लोके शौचमन्तर्बहिस्तथा । अस्पृहा च परस्त्रीषु परस्वेषु च सर्वदा । अष्टावात्मगुणाः प्रोक्ता पुराणेषु हि कोविदैः ॥' एवंभूताय परमेष्ठिने । परमे पदे तिष्ठतीति तस्मै । कार्यार्थं ब्रह्मरूपाय नमोऽस्तु ॥ १२ ॥

हंसायेति । हंसाय परमात्मने परमशिवाय नमोऽस्तु । 'हंसो विहङ्गभेदे स्यादर्के विष्णौ हयान्तरे । योगिमन्त्रादिभेदेषु परमात्मनि मत्सरे ॥' इति विश्वः । हंस इति परमात्मैव, हंसः सूर्यस्तस्मै च । द्वावपि विशिनष्टि—परमेश्वरपक्षे दीर्घा ये दोषाः शिवाभेदप्रथाया अपरिज्ञानादिरूपास्तेषामन्तं करोतीति तस्मै । सूर्योऽपि दोषाया रात्रेरन्तं करोति । तथा परमेश्वरपक्षे अम्बरचारिणे हृदयाकाशे परमज्योतीरूपाय । तथा स्वेन महोमहिम्ना ध्वस्तं नाशितं समस्तं तमोऽज्ञानमविद्यापर्यायं तेन । सूर्योऽपि गगनचारी ध्वस्तध्वान्तश्च ॥ १३ ॥

य इति । तस्मै स्मरजिते श्रीशिवाय नमोऽस्तु । तस्मै कस्मै इत्याह—यः परमेशः कांचन अनिर्वाच्यामिनश्रियं प्रभुशोभां धत्ते । 'इनः सूर्ये प्रभौ' इत्यमरः । केन चन्द्रेण । किंभूतेन । सुवर्णेन शोभनो वर्णो यस्य तेन । तथा गाङ्गेयेन गणपतिना । 'गाङ्गेयाखुरथौ' इति मङ्खः । अथाग्निजन्मना कुमारेण सुतेन । असमस्तपदपुनरुक्तवदाभासः । शोभनो वर्णो यस्य

तत्सुवर्णम् । चन्दत्याह्लादयति चन्द्रः । 'चन्द्रं क्लीबे सुवर्णे च स्वर्णे कम्पिल्लके तु ना' इति मङ्खः । गाङ्गेयमग्निजन्म । यथा—'यं गर्भं सुषुवे गङ्गा पावकाद्दीप्ततेजसम् । तदुल्वं पर्वते न्यस्तं हिरण्यं समपद्यत ॥' इति वायुपुराणे । इत्यतो गाङ्गेयमग्निजन्म च । कचति । 'कच दीप्तिबन्धनयोः' । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । पृषोदरादित्वाद्दीर्घत्वम् । काञ्चनम् । अत्र च सुवर्णेन चन्द्रेण गाङ्गेयेनाग्निजन्मना काञ्चनेनेत्यामुखे पौनरुक्त्यप्रतीतिः । पर्यवसानेऽन्यार्थतया तदभावः । असमस्तपदपुनरुक्तवदाभासः ॥ १४ ॥

निजाङ्गेति । नमोऽस्तु शम्भवे । किंभूताय । भक्तानामनुग्रहकारिणे । कयापि । निजं च तदङ्गं लिङ्गाख्यं पुंचिह्नं तस्य भङ्गो नाशस्तस्य भङ्गिस्तयापि । पूर्वं किल भगवतो मुनिशापवशाल्लिङ्गभङ्गो भूतः, ततो भूमण्डले स्वयंभूलिङ्गप्रवृत्तिः । तस्माल्लिङ्गार्चनव्याजेन भक्तानां भगवाननुग्रहकर्ता । तथाहि—'अपूर्वं लावण्यं विवसनतनोस्ते विमृशतां मुनीनां दाराणां समजनि स कोऽपि व्यतिकरः । यतो भग्ने गुह्ये सकृदपि सपर्यां विदधतां ध्रुवं मोक्षोऽश्लीलं किमपि पुरुषार्थप्रसवि ते ॥' इत्यादावेतत्प्रसिद्धिः । पुनः किंभूताय । जम्भारिरिन्द्रस्तस्य यो भुज एव स्तम्भः स्थूणा स स्तम्भितो येन तस्मै । 'स्तम्भाः स्थूणागर्वभावाः' इति चतुर्थभान्तेषु मङ्खः ॥१५॥

निःसामान्यायेति । नमोऽस्तु । कस्मै । स्वामिने महेशाय । कथंभूताय । समानस्य भावः सामान्यम् , तस्मान्निष्क्रान्ताय । अनन्यसदृशतया । मान्याय पूज्याय । तथा न्यायमार्गः सत्यमार्गस्तमुपदिशतीति तस्मै । भक्तेषु सन्मार्गोपदेष्ट्रे । तथा मूर्धन्याय ब्रह्मादीनां वषट्काराणामग्रयाय । वदान्याय दीनजनेषु यथाभिलषितदात्रे । तथा धन्याय ॥ १६ ॥

नमः संहृतेति । नमोऽस्तु । कस्मै । स्वामिने श्रीशिवाय । किंभूताय । संहृतो दग्धः श्वेताख्यनृपाभयदानेन कालो येन तस्मै । पुनः किंभूताय । कालं च तत् अयो लोहं कालायसम् । तद्वद्गले त्विड् यस्य । 'कालकूटविषनिगलनान्नीलकण्ठतयेत्यर्थः । तथा गङ्गया धौतः कलापो जटाजूटो यस्य तस्मै । तथा कलापायं कलायाः शक्तेरपायो नाशः । यद्वा कलायाश्चन्द्रकलायाः शिरस्थाया अपायो नाशस्तमविन्दते अलभमानाय । 'कलनाकालशिल्पेषु वृद्धौ मूलधनस्य च । इन्द्वंशेंऽशे तालगुरौ निवृत्त्यादौ छले कला ॥ शक्तावव्यक्तमधुरे ध्वाने त्रिषु मनोहरे ।' इति मङ्खः ॥ १७ ॥

जिष्णुनेति । लोकान् जिष्णुना जिष्णुना इन्द्रेण, तथा प्रभवतीति प्रभविष्णुस्तादृशेन विष्णुना, तथा आद्येन ब्रह्मणा वेदोपनिषदा, ब्रह्मणा परमेष्ठिना स्तुताय स्वामिने नमः । 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म पुमान्विप्रे प्रजापतौ ।' इति मङ्खः ॥ १८ ॥

कुलेति । अत्रातिप्रसिद्धया भूर्लोकेति शेषः । भूर्लोक एव कमलं तदेवासनं तदधितिष्ठते सृष्टिकार्यार्थं ब्रह्मरूपाय ते नमः । कुलशैला मुख्यशैला अष्टौ—'हिमवान्निषधो विन्ध्यो माल्यवान्पारियात्रकः । गन्धमादनसह्यौ च नीलश्च कुलपर्वताः ॥' इति । कुलशैला एव दलानि यस्य तत् । पूर्णो महान् यः सुवर्णगिरिर्मेरुः स एव कर्णिका यस्य । तथा अनन्तः शेष एव नालं वृन्तं यस्य तदेवंविधं कमलविष्टरम् । अत्र यतिभङ्गभयात्कविना कुवलयस्थाने कमलपदं नेयार्थं रचितम् । 'स्यादुत्पलं कुवलयम्' इति कुवलयस्यापि कमलजातित्वात् । नेयार्थेऽपि भक्तिविषये न दोषः । तस्मादत्र कमलं कुवलयं कौर्भूमेर्वलयं भूमण्डलमित्यर्थः । कमलं कुवलयमेव विष्टरमासनमधितिष्ठते आश्रितवते ब्रह्मरूपाय महेश्वराय नमः । यत्तु अन्यटीकाकारैः 'कमलाख्यं कुवलयम्' इति व्याख्यातम् , तत्प्रमादेन लिखितमिति तज्ज्ञैरनादरणीयम् ॥ १९ ॥

निमित्तमिति। यो विभुः सपङ्कजनाभये सह पङ्केन पापेन वर्तते इति सपङ्कः। तादृशश्चासौ जनस्तस्याभयं तस्मिन् निमित्तमन्तरेण निमित्तं विना प्रवर्तते नित्योद्युक्तो भवति तस्मै पङ्कजनाभये सृष्टेः स्थित्यर्थं विष्णुरूपाय श्रीशिवाय नमः॥ २०॥

नम इति। सह उमया वर्तते सोमं देहं यस्य सः सोमार्धदेहस्तस्मै। तथा सोमस्यार्धं सोमार्धं मौलौ यस्य तस्मै च। श्वेतेत्यादि। श्वेतस्य श्वेतनाम्नोऽभयं कृतान्तात्त्राणं तेन समुद्भूतमुत्पन्नं श्वेताभं सितदीप्ति यशो यस्य तस्मै श्रीशिवाय नमः॥ २१॥

विनतेति। विशिष्टो नायको गणनां विनयते देवरिपून् विनायको गणेशः तथा वीनां पक्षिणां नायको गरुडः तं चोपासीनं सेवमानं दृशा प्रसन्नदृशा भजतेऽनुगृह्णते स्वामिने महेश्वराय कार्यार्थं विष्णुरूपाय नमः। द्वावपि विशिनष्टि—विनतेत्यादि। विनायकं गणेशम्। किंभूतम्। विनतानां प्रह्वाणां नन्दनं हर्षप्रदम्। तथा नागस्य करिणो विग्रहो देहः देहोर्ध्वभागः तेनोग्रं मुखं यस्य तम्। गरुडं च किंभूतम्। विनतानन्दनम्। विनतायाः पक्षिराजमातुर्नन्दनः सुतस्तम्। तथा नागैः सर्पैः सह यो विग्रहो वैरं तेनोग्रं क्रूरं मुखं यस्य तम्। 'विग्रहो वैरदेहयोः' इति कोशः॥ २२॥

नमो ब्रह्मेति। ब्रह्मा च हरिश्च त्र्यक्षो रुद्रश्च त एव श्रवः श्रूयते दूराज्जनैरिति श्रवो यशो यस्य सः तस्मै। ब्रह्मविष्णुरुद्रयशसे। यशोऽर्थे तद्रूपायेत्यर्थः। तथा भवस्य संसारस्य जगद्रूपसमुद्रस्य सेतुस्तारकस्तस्मै। तथा जगतो विश्वस्य ये सर्गस्थितिह्रासास्तेषां हेतवे। कार्यार्थं ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपाय। एवंभूताय वृषकेतवे श्रीशिवाय नमः॥ २३॥

कर्णिकादिष्विति। कर्णिका कर्णाभरणं ताटङ्कः सा आदिर्येषां ते कर्णिकादयः पदार्थास्तेषु। आदिशब्देन माल्यकङ्कणकेयूरनूपुरादिपरिग्रहः। तेषु भेदिषु नामतो भिन्नेषु यथा स्वर्णं कनकमभेदि एकमेव। अर्णवादिषु समुद्रादिषु। आदिशब्देन नदनदीकुल्यातडागपुष्करिण्यादिपरिग्रहः। समुद्रादिषूदकं जलं यथा नामतो भिन्नं इदं सामुद्रमिदं नादेयमित्यादिप्रकारेण नामतो भिन्नेष्वभेदि एकमेवोदकम्। तथा भेदिषु सुरनरपशुपक्षिमृगसरीसृपादिनामतो भिन्नेषु पृथग्रूपेषु परमार्थतः एकमेव परमार्थरूपं तस्मै परस्मै महसे परज्योतीरूपाय चिदानन्दघनस्वरूपाय परमशिवाय नमः॥ २४॥

यमिति। 'पिनाकोऽजगवं धनुः'। पिनाकोऽस्यास्तीति पिनाकी महेशः। तस्मै नमोऽस्तु। किंभूताय। समस्ता ये आपदुपेता आपन्नास्तेषां पालनमेव व्रतं यस्य सः। तस्मै। विभवे प्रभवे। तस्मै कस्मै इत्याह—यमेकमेवेति। यमेकमेव प्रभुं श्रयतो भक्तजनस्य महतेऽपि परस्मै अन्यस्मै नाकिने देवाय स्पृहा लोभः सेवया वराप्त्यर्थं न जायते नोत्पद्यते। यं जगदीशं भजतोऽन्येषु देवेषु वराकेषु कैव स्पृहेत्यर्थः॥ २५॥

विधाविति। जगतः सर्गविधौ सर्गस्य सृष्टेर्विधिर्विधानं तस्मिन्निमित्ते। विधिर्ब्रह्मा। विधौ ब्रह्मणि। विधिशब्द इकारान्तः। भगवता यदाहितमात्तम्। उपाहितमित्यर्थः। 'विधिर्विधायके वाक्ये दैवे स्रष्टृविधानयोः' इति मङ्खः। तथा भगवता यत्प्रतिष्ठितं संस्थापितम्। कस्मिन्। विधौ विष्णौ। विधुशब्द उकारान्तः। कस्मिन्निमित्ते। स्थितिकारणे। तथा भगवता यत्समूढं सम्यगूढं धारितम्। कस्मिन्। ऊढार्धविधौ ऊढो धारितः, विध्यति विरहिणमिति विधुश्चन्द्रः, अर्धविधुरर्धेन्दुर्येन तस्मिन्। 'विधुर्विष्णुः शशी' इति मङ्खः। ऊढार्धविधौ चन्द्रशेखरे। कस्मिन्। कारणे लये संहारे तस्मिन्॥ २६॥

नमः समुत्पादितेति । अत्र श्लोके प्रत्येकपादे भगवन्तं प्रति नमस्कारः । समुत्पादितेति समुत्पादितस्तारकस्य ताकासुरस्य द्विट् शत्रुः कुमारो येन तस्मै । तारकराजमौलये चन्द्रमौलये श्रीशिवाय नमः । तथा त्रिधामेति । त्रीणि धामानि सूर्यसोमाग्नयस्तैराश्रितास्तारकेषु कनीनिकासु त्विट् यस्य स तस्मै नमोऽस्तु । 'कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकापि च' इति विश्वः । तथा जगतोः विश्वस्य तारकं पुण्यं मनोज्ञं पवित्रं च कर्म यस्य तस्मै नमोऽस्तु । 'पुण्यं तु धर्मे सुकृते त्रिषु पूतमनोज्ञयोः' इति मङ्खः ॥ २७ ॥

नमो नमस्त इति । हे परमेश, अमृतभानुमौलये चन्द्रमौलये ते तुभ्यं नमोऽस्तु । तथा अमृतसिद्धिर्निःश्रेयससिद्धिस्तां ददातीति तस्मै ते तुभ्यं नमो नमोऽस्तु । तथा अमृतकुम्भपाणये सुधाकलशपाणये ते तुभ्यं नमो नमोऽस्तु । तथा अमृतभैरवेत्यादि । भानि नक्षत्राणि ईरयतीति भेरः कालः तं वायन्ति दूरीकुर्वन्तीति भेरवाः कालग्रासमाधिरसिका योगिनः । तेषामयं भैरवः । यद्वा भैरवो भीषणः संसारवृत्तविघटनपरो भैरवः । अमृतभैरवात्मने अमृतेश्वरभैरवात्मने ते तुभ्यं नमो नमः ॥ २८ ॥

नमस्तम इति । तमसोऽज्ञानादविद्यापर्यायात्पारे पराघ्र्या उत्कृष्टा वृत्तिः स्थितिर्यस्य तस्मै भगवते परमेश्वराय नमः । तथा समस्ता येऽध्वानः षट् । पदाध्वा वर्णाध्वा मन्त्राध्वा तत्त्वाध्वा कालाध्वा भुवनाध्वा चेति षडध्वानः । तेषु विभक्ता शक्तिर्येन तस्मै नमोऽस्तु । तथा क्रमेण परिपाट्या ब्रह्मविष्णुरुद्रादिरूपेण व्यस्ता पृथक्कृता समस्ता मूर्तिर्येन सः तस्मै ते नमोऽस्तु । तथा शमे तिष्ठन्तीति शमस्थास्तेषु अर्पिते दत्ते भक्तिमुक्ती येन तस्मै ते नमोऽस्तु ॥ २९ ॥

विजयेति । किरातार्जुनीयवृत्तान्ते विजयस्यार्जुनस्य जयं प्रददाति वरप्रदानाद् विजयजयप्रदः तस्मै ते वराय उत्कृष्टाय शबराय किरातरूपाय नमोऽस्तु । तथा सकला ये कलङ्का वाङ्मनःकायोपार्जितपापसङ्घातास्तेषां यः सङ्करस्तं हरतीति तादृशाय हराय महेश्वराय नमोऽस्तु । तथा जगतः अगदं विशल्यीकरणं तत्र प्रगल्भो विभवो यस्य सः तादृशाय भवाय शंभवे नमोऽस्तु । प्रवरा उत्कृष्टा वरा देवादभीप्सितानि तैः प्रकाशितं निःश्रेयसं शिवं येन तस्मै शिवाय निःश्रेयसप्रदाय ते तुभ्यं नमोऽस्तु । इति शिवमोम् ॥ ३० ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां नमस्काराख्यं द्वितीयं स्तोत्रम् ।

तृतीयं स्तोत्रम्

अथात आशीर्वादस्तोत्रं तृतीयमारभमाण आह—

नित्यमिति । तन्महन्महः परमं ज्योतिर्नोऽस्मभ्यं कल्याणं दिशतु ददातु । किंभूतम् । नित्यं त्रिष्वतीतवर्तमानभविष्यद्रूपेषु सत्तारूपेण सनातनम् । निर्गता आवृत्तिरविद्यात्मकमायावरणं यस्मात् । तदतीतमित्यर्थः । तथा निजोऽनुभव एवैकं मानं प्रमाणं साक्षिभूतं यस्य तत् । तथा आनन्दस्य विगलितवेद्यान्तरपरमानन्दस्य धाम स्थानम् । तथा जगन्ति अधः कालाग्निरुद्र-

भुवनादारभ्य शिवभुवनान्तं सचतुर्विंशतिशतद्वयभुवनानि तान्येवाङ्कुरास्तेषां बीजं मूलकारणम्। तथा दिग्देशेति। दिशः पूर्वाद्या दश। देशाः स्थानानि। कालोऽतीतवर्तमानभविष्यद्रूपः। तैर्या कलना नियमेन बन्धः परिच्छेद इति यावत्। तदादीनि यानि वस्तूनि। आदिशब्देनाणुमहद्दीर्घादिपरिग्रहः। तान्येव समस्ता ये हस्तमर्दा हस्तसंवाहनानि तान्न सहत इति तादृशम्। अनन्तत्वात्सर्वत्र दिशि काले च तत्सनातनं परं ज्योतिश्चकास्त्येवेत्यर्थः। परमेश्वरस्य नित्यं सर्वत्र च स्थितत्वाद्दिक्कालादिभिरग्राह्यत्वाद्धस्तमर्दासहत्वम्। यो हि देशकालादिना परिच्छिन्नो भवति स एव हस्तग्राह्यतां सहते। यथा घटादिः। परमेश्वरस्तु न तथा। अपरिच्छेद्यत्वादिति भावः॥ १॥

व्योम्नीवेति। यस्मिन् वैभवे नीरदभरो मेघौघो व्योम्नि नभसीव, वीचिव्यूहस्तरङ्गसमूहः सरसीव, सहस्रमहसि सूर्ये सुधांशुधाम चन्द्रतेज इव उदेति लीयते च इदं जगत्, तत् शांभवं शंभोरिदं वैभवं नोऽस्माकमृद्धयेऽस्तु॥ २॥

लोकत्रयेति। यः कार्येण परोपकारहेतुना लोकत्रयस्य जगत्त्रयस्य स्थितिश्च लयश्चोदयश्च त एव केलिस्तं करोतीति तादृशः यो हरिहरद्रुहिणत्वम्। द्रुह्यत्यसुरेभ्यो द्रुहिणो ब्रह्मा। विष्णुरुद्रब्रह्मत्वं तद्रूपत्वमेति। विश्वेषां जनानां वाङ्मनसातिक्रान्तशक्तिः स देवः शश्वत् सदैव अक्षयं शिवं निःश्रेयसरूपं दिशतु ददातु॥ ३॥

सर्व इति। स त्रिभुवने एको महेश्वरो वो युष्मान् त्रायताम्। स क इत्याह—पुरुषाणुकर्मेति। पुरि देहे शेते इति पुरुष आत्मा। अणवः परमाणवो द्व्यणुकत्र्यणुकादयः। कर्म शुभाशुभे। कालश्च ते आदौ येषां तानि पुरुषाणुकर्मकालादीनि यानि कारणानि उपादाननिमित्तसहकारिकारणादीनि तेषां गणः अवशोऽस्वतन्त्रः कर्त्रधीनो यदनुग्रहेण यस्य परमेश्वरस्यानुग्रहेण विश्वस्य जगतो यः प्रपञ्चो विस्तारस्तस्य रचनायां निर्माणे नैपुण्यमेति। अत्रायं भावः—परमशिवस्य परमात्मन एवेच्छावैभवोल्लासः कुम्भकारस्थाने, परमात्मन एवाणीयस्तरांशांशप्रतिबिम्बजीवात्मसमवेतपार्थिवाद्यणुका उपादानकारणं मृत्स्थाने, कर्म शुभाशुभं निमित्तकारणं दण्डस्थाने, कालादिसहकारिकारणं च चक्रस्थान इति॥ ४॥

एकस्येति। स परमेश्वरो वो युष्माकं परं लाभं पुष्यतु। स किंभूतः। करतले आमलकीफलाभं जगत्पश्यन्। स क इत्याह—यस्यैकस्याद्वितीयस्य पुरतोऽग्रे विश्वप्रपञ्चः स्फुरति। किंभूतस्य। करणेत्यादि। करणानपेक्षे कारणानपेक्षे ज्ञानक्रिये यस्य। सर्वस्य हि ज्ञानं च क्रिया च कारणेन्द्रियायत्तम्। परमेशितुस्तु स्वतन्त्रेच्छैश्वर्यवतः सहजे एव ज्ञानक्रिये इत्यर्थः॥ ५॥

य इति। कृतान्तदलनो यमखण्डनः स हिमाद्रिकन्याकान्तः पार्वतीपतिः वो युष्माकमघं पापं लघयतु अत्यन्ततनूकरणेन निःशेषीकरोतु। इत्युपचारवक्रोक्तिः। अघं हरतु इत्यस्य स्थाने तथोक्तेः। स क इत्याह—यः कन्दुकैरिति। पुराण्यरीणां दारयतीति पुरन्दर इन्द्रः पद्मसद्मा ब्रह्मा, पद्मापतिर्विष्णुः, तदादिभिर्देवैः कन्दुकैरिव खेलनार्थं तेषामधःक्षेपणोर्ध्वोत्थापनकारी क्षणे बाल इव कन्दुकैर्यः अप्रमेयो ब्रह्मादिभिरप्यपरिच्छेद्यः अलङ्घ्यमहिमा च खेलति। 'खिल विच्छेदे' धातुः। अनेकार्थत्वाद्धातूनां खेलति क्रीडत इत्यर्थः॥ ६॥

सेवानमदित्यादि। सेवायां नमन्तो ये निखिलखेचराः समस्तदेवा ब्रह्मादयः तेषां यानि मौलिरत्नानि किरीटमणयः तेषां रश्मयः तेषां छटापटलेन पाटलं लोहितीकृतं पादपीठं

यस्य सः। अत एव धातुभिर्गैरिकादिभिः कपिशीकृतं यच्छैलस्य शृङ्गं तत्र त्वङ्गन्नुल्लसन्। त्वगिर्गत्यर्थः। यो मृगाङ्कश्चन्द्रः तस्येव मधुरा आकृतिर्यस्य स ईश्वरो वः पुष्णातु। गैरिकादि-कपिशीकृतगिरिशृङ्गे हिमांशुवद्रत्नप्रभारुणे पादपीठे शोभावान् भगवानित्यर्थः॥ ७॥

अङ्गं भुजङ्गेति। भुजङ्गैः शेषाहिमुख्यै रचिता कृता अङ्गदभङ्गिः केयूरशोभा यस्मिन् तादृशमङ्गं बाहुसकरूपम्। तथा त्वङ्गन्त उल्लसन्तस्तरङ्गा यस्याः सा। तादृशी गगनाङ्गन-सङ्गिनी गङ्गा यस्य तत्। अङ्गं उत्तमाङ्गरूपम्। तथा विहितो रङ्गतो भ्रमतः अनङ्गस्य कामस्य भङ्गो येन तादृशमङ्गं ललाटरूपम्। तत्स्थानस्थाग्निना कामस्य दाहात्। एवंभूतमङ्गं बिभ्रद्विभुः वो युष्माकमभङ्गुरमखण्डितमिङ्गितमभिलषितमङ्गीकरोतु। अवश्यं वितरणेन पूरयत्वित्यर्थः। अत्रापि पूर्णमीप्सितं ददात्वित्यस्य स्थाने अभङ्गुरमिङ्गितमङ्गीकरोत्वित्युपचारेण वक्रोक्तिः॥ ८॥

यः कुण्डेति। कुण्डमग्निकुण्डं च। मण्डलं यागमण्डलं च। कमण्डलुः कलशोप-योग्यश्च। मन्त्रो निष्कलसकलात्मकश्च। मुद्रा आवाहनादिकाश्च। ध्यानं तदेकचित्तता च। अर्चनं पूजा च। स्तुतिः स्तवराजपाठश्च। जपो मानसोपांशुविहितश्च। तदादीनामुपदेशयुक्त्या योजनं युक्तिस्तया आनतानां भक्तानां दृष्टिपातं विधाय। दैशिकमुखेनेति शेषः। अनुग्रहं प्रसादं भोगापवर्गदं भुक्तिमुक्तिदं व्यानञ्ज प्रकटीचकार स त्रिजगद्गुरुर्महेशो वो रञ्जयतु। यो विभुर्दै-शिकमुखेन कुण्डमण्डलाद्युपदेशयुक्त्या भक्तानामनुग्रहं प्रकटीचकार स त्रिजगद्गुरुर्वो रञ्जयत्वित्यर्थः॥ ९॥

शम्भोरदभ्रेति। 'श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनुः' इत्यमरः। न दभ्रं तनुः अदभ्रं घनं यत् शरदभ्रं वर्षान्ते मेघः। सहि निस्तोयगर्भत्वात्सदा श्वेतो भवति। अम्बरादभ्रं च (?) तुषारं हिमं च तद्वत् शुभ्रम्। तथा भ्राजिष्णुः शोभमानो यो भूतिभरः भस्मसङ्घः तेन शीभरा उच्छ-लन्ती। 'शीभृ कत्थने' भ्वादिः। भास्वरा आभा दीप्तिर्यस्य तत्। तथा भसलो भ्रमरः। भंसते शोभते भसलः। 'भसलो देश्याम्' इति स्वामी। तद्वत् नीलो गलः कण्ठो यस्य। कालकूटाख्य-विषनिगरणात्। भसलनीलगलः। तथा कलङ्कः अलङ्कारो भूषणं यस्य। पूर्णत्वात्। तादृशश्चासौ शारदशशाङ्कः शरदिन्दुः तन्निभं शम्भोर्महेशस्य वपुर्वो युष्मभ्यं शुभं श्रेयो दिश्यात् ददातु। अत्र शम्भुवपुषः शारदेन्दुरुपमानम्। नीलगलस्य तदङ्क उपमानम्। एतदपि प्राचीनादर्शेषु न दृश्यते॥ १०॥

येनोपदिष्टमिति। सकलं यत्कर्म शुभाशुभं तस्य यत्फलं तस्योपलम्भः प्राप्तिः तस्य विस्रम्भभूमिराश्वासनस्थानम्। आरोपः। स देवो वः अभिवाञ्छितसिद्धयेऽस्तु। स क इत्याह— येन विभुना उपदिष्टम्। कृपया दृष्टिपातं विधाय दैशिकमुखेनेति शेषः। उपदिष्टमनपायं निर्नाशं श्रीस्वच्छन्दतन्त्रराजादिष्वागमशास्त्रेषु श्रीशिवभट्टारकोक्तं आप्य प्राप्य। भक्ता इति शेषः। स्वर्गः त्रिदिवः। अपवर्गो निःश्रेयसम्। विभवः अणिमाद्यष्टविभूतिरूपः। तैर्विभवो विभुत्वयुक्ताः। पूर्णा इत्यर्थः। भवन्ति। भक्ता इति शेषः॥ ११॥

मूलोज्झितेनेति। प्रलयेऽपि तिष्ठति स्थाणुः। अद्भुतेनाश्चर्यकारिणा अनिर्वाच्येन अन्यदेवतागणातिरिक्तेन च वपुषा उपलक्षितः भवतां श्रियेऽस्तु। अथ च अद्भुतेनाश्चर्यकारिणा वपुषा स्थाणुः वृक्षच्छेदोऽपि। 'तिष्ठति स्थाणुः। मुण्ड इति ख्यातः' इति रायमुकुट्याम्। अद्भुतः स्थाणुः श्रीशिवभट्टारकः वः श्रियेऽस्तु। द्वयोरपि वपुषी विशिनष्टि—शम्भुपक्षे वपुषा

कीदृशेन । मूलोज्झितेन मूलमादिकारणं तेनोज्झितं तेन । तस्यैव सर्वेषां ब्रह्मादीनामादिकारणत्वात् । तथा कलैव कलिका चन्द्रकला तया कलितेन शोभितेन । तथा तापशान्तिः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकाख्यतापत्रयोपशान्तिः तस्यां क्षमेण । केषाम् । नमतां भक्तिप्रह्वाणाम् । तथा अविपल्लवेन । अविद्यमानो विपदो विपत्तेर्लवो यस्य तत् । अणिमाद्यष्टविधभूतीनामपि दासीत्वात्तद्वपुषः । पुनः किंभूतेन । सद्यस्तत्क्षणमेव प्रणत्यैव शुभफलदायिना । पुनः सुमनोभिर्देवैः यद्वा पण्डितैरुपासितेन पूजितेन । वृक्षच्छेदोऽपि स्थाणुना (वपुषा) अद्भुतेनेति विशिनष्टि—स्थाणुना (वपुषा) किंभूतेन । मूलोज्झितेन मूलं वृक्षमूलं तेनोज्झितेन । छिन्नशाखो हि तरुः स्थाणुः समूल एव । न हि निर्मूलो भवतीत्यद्भुतत्वम् । एवं कलिकाभिः कोरकैः कलितेन शोभितेन । स हि विकलितो भवति । तथा नमतामुपनमतां जनानां तापस्य मरुभ्रमणाद्यस्य शान्तौ क्षमते । न हि स्थाणुस्तापोपशान्तिक्षमः । तथा विगताः पल्लवा यस्य तद्विपल्लवम् । न विपल्लवमविपल्लवम् । तेन । किं तु पल्लवसहितेनेत्यर्थः । एतदप्यद्भुतम् । स्थाणुर्हि विगतपल्लवो भवति । तथा सुमनोभिः पुष्पैरुपासितेन सेवितेन । 'सुमनाः स्त्री पुष्पजात्योर्देवपण्डितयोः पुमान् ।' इति मङ्खः ॥ १२ ॥

दिव्यापगेति । द्विजानां नक्षत्राणामधिपतिश्चन्द्रः । ईश्वरेण परमेशेन वन्दितः । शिरसि धृतत्वात् । वो युष्माकं तिमिरोपशान्त्यै । तिमिरं ध्वान्तमज्ञानरूपं च । ऊष्मा तापत्रयजः मर्वादिभ्रमणजश्च । तयोः शान्त्यै अपुनरागमाय भूयात् । अथ च द्विजानां ब्राह्मणानामधिपतिः । तिमिरोष्मशान्त्यै अविद्यारूपध्वान्तभवमरुभ्रमणजतापोपशान्त्यै । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । द्वावपि विशिनष्टि—दिव्यापगेत्यादि । चन्द्रपक्षे दिव्यापगाया आप्लवनं समीपस्थत्वाज्जलकणव्याप्त्युक्षीरूपम् । तथा पावकस्य तृतीयनेत्रस्थस्य च सेवनम् । तस्यान्तिकस्थत्वात् । ताभ्यां शुचिं निर्मलाम् । अपेतकलङ्कशङ्कां [गतकलङ्कां] विगतबाह्यान्तर्मलां गतकलङ्कशङ्कां च । एककलत्वाच्चन्द्रस्येत्यर्थः । एवंभूतां तनुं बिभ्रत् । अत एव दोषाया रात्रेरनुषङ्गः संसर्गस्तेन रहितः । ब्राह्मणेन्द्रपक्षे दिव्यापगायां गङ्गायां यत्प्लवनं त्रिसन्ध्यं मज्जनम् । तथा पावकसेवनं अग्निहोत्रसेवा । ताभ्यां मूर्तिं शुचिं निर्मलां विगतबाह्यान्तर्मलां गतकलङ्कशङ्कां च बिभ्रत् । तथा दोषेषु मनश्चापल्यादिषु अनुषङ्ग आसक्तिस्तेन रहितः । तथा ईश्वरा देशाधिपतयः तैश्च सेवितो भवति विप्रेन्द्रश्चेति ॥ १३ ॥

दानाम्ब्विति । कनकस्य वर्षे वर्षणं मरुत्ताख्यनृपतेर्गेहे सप्तदिनावधि काञ्चनवर्षणं तत्र घनो मेघः । आरोपः । देवः परमेशो वो युष्मान् पातु । स क इत्याह—दानाम्ब्विति । यस्य महेश्वरस्य तनयः दानाम्बुना मदजलेन निर्भरः पूर्णः करो यस्य । गणपतिस्तनय इत्यर्थः । अथ च यस्य तनयः पुत्रः दानार्थमुदकेन च निर्भरः पूर्णः करः पाणिर्यस्य तादृशो भवति । तथा श्रीमान् महापद्मादिनवसंख्याकनिधिपतिः स प्रसिद्धो धनदः सविधे निकटे यस्य विधेयो भृत्यः आज्ञाकारी । यश्च मुक्तकरेण मुक्ताः सर्वदिक्षु विकीर्णाः करा किरणा येन तादृशेन राज्ञा चन्द्रमसा शिरसि संश्रितः । तथा मुक्तकरेण स्थूललक्षेण च राज्ञा नृपेण संश्रितः । 'राजा मृगाङ्के क्षत्रिये नृपे' इति मङ्खः । यस्य चैवंविधाः पुत्रादयः सदा दानसत्रनिरतास्तस्य स्वामिनः कनकवर्षवितरणे किमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

निर्मत्सराविति । तत् शार्वं शर्वसम्बन्धि वपुर्वो युष्माकं वाञ्छितसिद्धये अस्तु । किंभूतम् । नवेनाभिनवेन एककलत्वोपलक्षितेन राज्ञा चन्द्रमसा अधिष्ठितम् । अथ च नवेन

पूर्वस्माद्राज्ञोऽभिनवोत्थितेन राज्ञा नृपेण चाधिष्ठितम्। तत्किमित्याह—यत्र वपुषि निर्मत्सरौ मत्सराद्द्वेषान्निष्क्रान्तौ अर्कचन्द्रौ समं संभूय निवसतः। अर्को हि दिवाकरः। चन्द्रश्च निशाकरः। अतस्तयोर्मत्सरः। एवमग्रेऽपि। तथा नीरानलौ। नीरं जटाजूटाश्रितं गङ्गाजलम्। अनलश्च नेत्राग्निः। तावपि यत्र निर्मत्सरौ समं वसतः। तथा अमृतहालहलौ सुधाक्ष्वेडौ च नीरोषौ समं वसतः। सुधा महेशस्य करस्थामृतकलशे। 'देवं सुधाकलश-शोभिकरम्' इत्युक्तेः। हालहलः कालकूटाख्यविषविशेषो गले निगीर्णोऽपि शान्तगदः। 'हालाहलं हालहलं वदन्त्यपि हलाहलम्' इति कोषः। अत्र शब्दश्लेषोक्त्या हेतुमाह—राज्ञेत्यादि। तच्च व्याख्यातम्। यत्र हि नवेन राज्ञा अधिनेत्रा अधिष्ठतं नवं राज्यं तत्रान्योन्यं जनस्य वैराणि भवन्तीत्यर्थः॥ १५॥

वक्ता चेति। त्रैधम्। 'द्वित्र्योश्च धमुञ्' स्वार्थे। त्रैधं त्रिभिः प्रकारैः सृष्ट्यादिकार्यार्थे ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपेण क्रमेण संपद्यमानः स वः शिवाय भवतु। स क इत्याह—यो विभुरीश्वरो ब्रह्मरूपेण श्रुतीनां वेदानां चतुर्णां वक्ता। तथा श्रुतीनां तदाकर्णननिष्ठविद्वज्जनकर्णानां सुखयिता सुखोत्पादश्च। 'श्रुतिः श्रवसि वेदे च' इति कोषः। तथा यो विभुर्विष्णुरूपेण कमलया लक्ष्म्या अङ्कितं चिह्नितं वक्षो बिभर्ति। कमलेन पद्मेनाङ्कितं करं पाणिं च वहते। तथा यो विभू रुद्ररूपेण हैमवतीम्। हिमवतोऽपत्यं हैमवती गङ्गा। तदुत्पन्नत्वात्तस्याः। तां मूर्ध्नि बिभर्ति। तथा [वपुषि च] हैमवतीं हिमाद्रितनयां गौरीं च वपुषि शरीरे। वामभाग इत्यर्थः। बिभर्ति॥ १६॥

तापत्रयेति। त्रिपुरद्विषस्त्रिपुरान्तकस्य त्रिलोकमहितं त्रिषु लोकेषु महितं पूजितं त्रिशिखं तिस्रः शिखा अग्राणि यस्य तत् त्रिशिखं त्रिशूलमायुधविशेषः वो युष्माकं तापत्रयापह्रतये आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकाख्यतापत्रयशान्त्यै भूयात्। तथा त्रिलोकमहितं महेश्वरस्य त्रिधामलयनम्। त्रिधाम्नां सूर्येन्द्वग्नीनां लयनम्। गृहमित्यर्थः। नयनत्रयं च त्रिवर्गस्य धर्मार्थकाम-त्रिधामलयनम्। त्रिधाम्नां सूर्येन्द्वग्नीनां लयनम्। गृहमित्यर्थः।

रूपस्य सिद्ध्यै भवतात् भूयात्। तथा त्रिपुरद्विषः। शिरःस्थमिति शेषः। त्रिःस्रोतसोऽपि त्रिपथ-गाया अपि त्रिलोकमहितं जलं सलिलं त्रयो ये मला आणवमायीयकार्माः तेषामपनुतिरत्यन्तदूरीकरणं तदर्थं भूयात्॥ १७॥

यद्दर्शनेति। स विभुर्वः शिवदः अस्तु। शिवमात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपं ददातु। स क इत्याह—धन्याः सुकृतिनो जनाः। यद्दर्शनेत्यादि। यद्दर्शनं तदेकचित्ततया व्याप्तं यद्दर्शनं तदेवामृतं तेन यः सुखानुभवः तेन अर्धनिमीलितानि नेत्रोत्पलानि नेत्रकमलानि। तद्धया-नैकमुखेनेषन्निमीलितानीत्यर्थः। अत्र हेतूत्प्रेक्षामाह—दृङ्मार्गेति। दृङ्मार्गगोचरौ सव्यापसव्य-नेत्रस्थौ यौ रवीन्दू सूर्यचन्द्रौ तयोः करा रश्मयः तेषां प्रकर्षेणातिसामीप्यरूपेण सङ्गः संश्लेषः तस्य भङ्गिः तयेव। [नेत्र-] कमलानां रविकरप्रसक्त्या विकासः, शशिकरप्रकाशेन च संकोचः। अतो नेत्रोत्पलानामर्धनिमीलितत्वमेव जातमित्यर्थः। अत्र नेत्रोत्पलानीति 'उत्पलशब्दस्य पद्मकुमुदादिषु सामान्येन वृत्तिः तेन महोत्पलमिति पद्मस्य संज्ञा। अत एव सामान्यवृत्तित्वान्नी-लाब्जेऽप्येतयोर्वृत्तिर्दृश्यते। तथा च 'इन्दीवरे मांसशून्ये उत्पलं कुष्ठभूरुहे' इति रभसः। 'श्यामं शितिकण्ठनीलं कुवलयमिन्दीवरं च नीलाब्जम्' इति नाममाला च। ननु यद्येवं कथमुत्पल-मित्युक्ते नीलोत्पलादिष्वेव बुद्धिर्जायते, न पद्मादौ। उच्यते—यथा कलायमुद्गादीनां सर्वेषां सप्तदशानां धान्यसंज्ञा इत्युक्तया समानेऽपि धान्यार्थे धान्यमित्युक्ते कलमादिष्वेव बुद्धिर्भवति,

न मुद्रादौ। एवमिहापीत्यदोषः इति स्वामिसर्वधरादयः' इति रायमुकुट्याम्। अन्यैष्टीकाकारैर्नेत्रोत्पलानि नेत्रेन्दीवराण्येव वर्णितानि। तैस्तु तेषां रविकरप्रसक्त्या संकोचः शशिकरप्रकाशेन च विकास इति यदुक्तं तच्चै रायमुकुटटीकासंप्रदायो नावगत इति तज्ज्ञैरुपेक्ष्यम्। अत्र चार्धनिमीलितत्वं मुरारिनाटके मुरारिमिश्रैरपि वर्णितम्—'याम्यामर्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरर्धनिद्रायितो नाभीपल्वलपुण्डरीकमुकुलः कम्बोः सपत्नीकृतः' इति ॥ १८ ॥

कालमिति। श्रीशिवो वः कर्मभूतानवतात्। स क इत्याह—उत्तमा अतिशयिता चासौ चमत्कृतिस्तां करोतीति तादृशो यो विभुः हशैव कालं कृतान्तं शमयन् श्वेतं श्वेतनामानं नृपं सफलप्रयासं कालात्करालादभयप्राप्त्या सफलयत्नं चकार। अत्र च वृत्ते पूर्वार्धोक्तार्थादुत्तरार्धे विपरीतार्थकरणात् विभोः स्वतन्त्रस्योत्तमचमत्कारकारित्वम्।' तदेवाह—श्वेतं यश इत्यादि। असतां दुष्टचित्तानां श्वेतं धवलं यशः प्रकर्षेण शमयन्नत्यन्तं दूरीकुर्वन् यः सतां भक्तिरसामृतसिक्तचेतसां च कालं समयं कृतार्थयति। सर्वलोकप्रशस्यं सम्पादयतीत्यर्थः। अत्र पूर्वार्धे कालशान्त्या श्वेतानुग्रहः। उत्तरार्धे श्वेतशान्त्या कालकृतार्थीकरणमिति प्रभोः स्वातन्त्र्येणोत्तमचमत्कारकृत्त्वमित्यर्थः ॥ १९ ॥

बभ्रुरिति। प्रमथाधिपस्य प्रमथानां गणानां नन्दिमहाकालादीनामधिपः शम्भुस्तस्य जूटो जटाजूटः कपर्दः अरातिभिः शत्रुभिः समं सार्धमप्यमर्षेण रोषेण रहितां स्थितिं वः प्रथयतु विस्तारयतु। स क इत्याह—बभ्रुरित्यादि। यो जूटः अलिकपावकसौहृदम्। अलिके ललाटे। 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः। तत्र यः पावको नेत्राग्निस्तेन सह सौहृदं प्रीतिमतिसमीपस्थत्वं बिभर्ति धारयति। यः किंभूतः। बभ्रुः कपिलः। 'बभ्रुर्विशाले नकुले कृशानावजे मुनौ शूलिनि पिङ्गले च' इति विश्वः। अथ च यो बभ्रुर्नकुलो बिलेशयप्राणिविशेषः स कथमग्निना सह प्रीतिं करोतीति विरोधाभासः। तदन्यार्थत्वे तु विरोधपरिहारः। पुनरपि स कः। यत्र अहिर्वासुकाख्यो नागविशेषः कण्ठोपवीतीभूतः सामरस्यं परस्परसमरसतां प्रीत्यतिशयं शिखिना अग्निना, अथ च कुमारवाहनेन मयूरेण सह अत्यन्तासन्नत्वाद्धत्ते। मयूरस्य भुजङ्गभुक्त्वादत्रापि विरोधाभासः ॥ २० ॥

अव्यादिति। स महेशो वो युष्मानव्यात्। स क इत्याह—यस्य विभोः शिरसि विलोचनाग्निज्वालाभिरवलीढं ग्रस्तं सर्वतो व्याप्तं यत्सुरसिन्धुजलं गङ्गाजलं तेनोपगूढः सर्वतो व्याप्तश्चन्द्रः श्रियं शोभामेति। अत्रोत्प्रेक्षा—कीदृश इव। अद्यापि वर्तमानकालेऽपि वाडवशिखाभिर्वडवाग्निज्वालाभिः परिणद्धो व्याप्तो यो रम्यो दुग्धाब्धिः क्षीरसमुद्रस्तन्मध्यग इव ॥२१॥

अव्यादिति। स परमेशो वो युष्मान् रक्षतु। स क इत्याह—यस्य श्रीशिवभट्टारकस्य पदरेणुभरेण पादाम्बुजरेणुपटलेन धूलिपट्टीकृतेषु अलिकेषु ललाटेषु सुकृतिनां धन्यानां भक्त्या संकुचितानां दण्डवत्प्रणत्या धूलिपट्टितललाटानां तेषु धाता विधिरित्यक्षराणि लिखति। किमित्याह—असाविति शेषः। असौ नृपतिमौलिमालाभिः पूजिताङ्घ्रिकमलः सम्राट् भुवि भूमौ भविता भविष्यतीति ॥ २२ ॥

शैवीति। जूटाहिरत्नानां कपर्दस्थाहिरत्नानां ये किरणास्तेषां छुरणं व्याप्तिस्तेनारुणा शैवी श्रीशिवभट्टारकसम्बन्धिनी सा शीतमरीचिलेखा चन्द्रकला वः शिवं दिशतु। सा का इत्याह—यत्संक्रमं यस्याश्चन्द्रकलायाः प्रतिबिम्बं कुचतटे अत्यन्तस्वच्छे पतितं पटपल्लवेन

उत्तरीयपटपल्लवेन देवी श्रीभवानी आच्छादयति। अत्र हेतुः—कथा। नवीनं नूतनं सान्द्रं यन्नखलक्ष्म नखक्षतचिह्नं तद्धिया। यथा च जयाविजयाद्याः सख्य एतन्न पश्यन्तीत्यर्थः॥ २३॥

देव्यास्तदस्त्विति। इन्दुमौलिः श्रीशिवः तस्य देहार्धे वामभागे बद्धवसतेर्देव्याः पार्वत्यास्तदेकं कुचचूचुकम्। 'चूचुकं तु कुचाग्रं स्यात्' इत्यमरः। तदेव कुचाग्रं भवतामनृतासये मोक्षलक्ष्मीप्राप्त्यै अस्तु। तत्किमित्याह—यदेकं चूचुकं मदनेन प्राक्सापराधेन⋯⋯ ⋯⋯इन्द्रनीलमणिलिङ्गं तस्य भङ्गिं विच्छित्तिमभ्येति। अत्र वक्षःस्थलस्य सुवर्णपीठमुपमानम्। चूचुकस्येन्द्रनीललिङ्गम्॥ २४॥

याः क्षीरेति। द्विर्भाविता द्विगुणीकृता अविरलाः सिद्धसरितो गङ्गायास्तरङ्गा याभिस्ता अघर्मरुचः श्रीशिवभट्टारकशिरःस्थितस्य चन्द्रमसो रुचो दीप्तयो वो युष्माकमघं पापं लघयन्तु दूरीकुर्वन्तु। ता का इत्याह—या रुचः अनङ्गदमनस्य कामरिपोः श्रीशिवस्य जूटं कपर्दं क्षीरसमुद्रलहरीवृतमन्दराख्यगिरिमुद्रां तदाकृतिमुद्रां नयन्ति प्रापयन्ति। नयतिर्द्विकर्मकः॥ २५॥

लोकत्रयेति। अनिह्नुतः प्रकटीकृतो नयो नीतिर्यया। त्रिलोकाभ्युदयकरणहेतोः पातकाब्धिमग्नजनोद्धरणाच्च। अन्यरूपेण जाह्नवी का (?)। चन्द्रचूडेति। चन्द्रचूडस्य श्रीशम्भोर्मुकुटमेव ध्वजस्तत्र वैजयन्ती पताकेव। सा जह्नोस्तनया जाह्नवी वो युष्मानवतात् रक्षतु। सा का इत्याह—लोकाभ्युदयेति। अत्रापि रूपकेण। या जाह्नवी लोकत्रयस्य त्रिजगतः अभ्युदय ऐहिकामुष्मिकस्तस्य जन्ममही जन्मभूमिरूपा। तथा या गङ्गा महीयः अतिमहत् त्रिदिवादप्यधिकं यत्स्थानं तत्राधिरोहणं भक्तजनस्य तदर्थमधिरोहिणी निःश्रेणिका॥ २६॥

भालाग्निकीलेति। भालाग्नेर्ललाटस्थाग्नेः कीलैर्ज्वालाभिः। 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः। तैः कलिताः पूरिता अखिलाः सर्वे रन्ध्रभागा रन्ध्रस्थानानि यस्य तत्। भर्गस्य भृज्यन्तेऽनेन कालादयः भर्गः श्रीशिवस्तस्य शिरःकपालं शिरःस्थं कपालं वो युष्मभ्यं शर्म मोक्षलक्ष्मीसुखं दिशतु ददातु। तत्किमित्याह—तस्य प्रभोः प्रलये कालवह्निवपुषः कालाग्निरुद्ररूपस्य प्रभूतभूतव्रजं अनेकलोकसङ्घं पचतो यत्कपालं महानसत्वम्। महत् अनोऽस्य। महानसम्। अनसा उपकरणं लक्ष्यते। 'अनोऽश्मायः सरसां जातिसंज्ञयोः' इति टच् समासान्तः। 'रसवत्यां तु पाकस्थानमहानसे' इत्यमरः। महानसत्वं रसवतीत्वं व्रजति। महाप्रलये समस्तप्राणिसङ्घं कालाग्निरुद्रः पचतीत्यागमप्रसिद्धिः॥ २७॥

चान्द्रं चेति। शम्भोरेतानि वस्तूनि परमशीतलानि वो युष्माकमूष्मशमनाय भवमरुभ्रमणजतापहरणाय भवन्तु। एतानि कानीत्याह—चन्द्रस्येदं चान्द्रम्। चान्द्रं धाम प्रकाशः। सुरनिर्झरिणी देवनदी तस्या जलं च। तथा हस्ते तिष्ठतीति हस्तस्थः तादृशश्चासौ हेमकलशः तत्र अमृतजीवनं अमृतरूपं वारि। यदुक्तम्—'देवं सुधाकलश—' इति ध्याने। तथा दृशः दर्शनं दृक् तस्य दर्शनस्य विलसितम्। सदयनयनोद्वीक्षणरूपस्य दर्शनस्येत्यर्थः। किंभूतं तत्। स्निग्धं सकृपम्। मुक्तासारम् (?)। तथा सितमतिश्वेतं हसितमीषद्धासश्च॥ २८॥

मूर्ध्नीति। एषा सदृशेषु सदृशसङ्घटना। एकशेषः। वो युष्मान् पुष्णातु। श्रीशिवभक्तिरसोत्कर्षं पोषयत्वित्यर्थः। एषा का। द्युसिन्धुर्देवनदी गङ्गा तया धवले मूर्ध्नि शिरसि धवलैन्दुलेखा चन्द्रलेखा। तथा कं जलम्, इला भूमिश्च केले। तयोरासः स्थानमस्मिन्निति केलासः स्फटिकम्। तन्मयः कैलासः स्फटिकगिरिः। तस्य शिखरे स्वनिवासभूते धवलः श्वेतः धवलो

वृषश्च वाहो वाहनम् । तथा नीहारस्तुहिनं तद्वत् हारिणि मनोरमे धवले वपुषि स्वदेहे एषां भूतिर्विभूतिः भस्मरूपा । अत्र गङ्गानिवासस्थाने मूर्ध्नि धवले सदृशे धवलचन्द्रकला सदृशी वर्णेन । एवमग्रेऽपि ॥ २९ ॥

उत्तप्तेति । एषा इन्दुशिरसश्चन्द्रमौलेरद्भुता आश्चर्यकारिणी विच्छित्तिः शोभा । एकस्मिन्नेकवर्णे वस्तुन्यन्यवर्णमेलनेन विच्छित्तिर्भवति । सेयं विच्छित्तिर्वः कुशलं भवाब्ध्युत्तरणरूपं क्रियात् । एषा केत्याह—कलापे कलापो जटाकटप्रं तत्र । किंभूते । उत्तप्तहेमरुचि उत्तप्तं पावकोत्तीर्णे यद्धेम कनकं तद्वद्रुग् दीप्तिर्यस्य तादृशे । रुचूशब्दः । 'स्युः प्रभाः रुग्रुचिस्त्विड्भा' इत्यमरः । तत्र चन्द्रकला चान्द्रीकला । अत्र पीतवर्णे जटाकलापे श्वेतवर्णेन्दुलेखासङ्घटनेन विच्छित्तिः । एवमग्रेऽपि । तथा बालप्रवालवत् बालविद्रुमवद् रुचिरं तादृशि रक्ते करे पाणौ कपालं धवलम् । तथा ताम्रेऽधरे अधरोष्ठे सितं धवलं च हसितमीषद्धासः ॥ ३० ॥

श्रेयः प्रयच्छत्विति । बालचन्द्रचूडामणेर्बालेन्दुशिरोमणेः श्रीशिवभट्टारकस्य पादपद्मरजःकणावली वो भवतां परं श्रेयो निःश्रेयसरूपं प्रयच्छतु ददातु । केव । कविप्रवरवागिव । 'कवृ वर्णे' । कवते वर्णयति वर्णनीयमिति कविः । महाकविवागिव । उभे अपि विशिनष्टि—सुविशुद्धेत्यादि । चरणरजःकणावली किंभूता । सुष्ठु विशुद्धो वर्णः अतिधवलो यस्याः सा । तथा पूर्णाभिलाषैः पूर्णमनोरथैर्विबुधाधिपैरिन्द्रादिदेवैर्विपश्चिद्वरैर्वा वन्दनीया प्रणमनीया । तथा पुण्या पातकिनोऽपि प्रणतान्पवित्रीकुर्वती । महाकविवागपि सुविशुद्धा वर्णनीयरसोपयोग्या वर्णा यस्याः सा । तथा विबुधाधिपैः पण्डितप्रवरैर्वन्दनीया स्तुत्या । 'विबुधौ कविगीर्वाणौ' इति कोषः । तथा पुण्या मनोज्ञा हृद्या । 'पुण्यं पूते मनोज्ञे च' इति मङ्खः ॥ ३१ ॥

हारीकृतेति । इन्दुमौलेश्चन्द्रमौलेरुरःस्थलं वक्षःस्थलं वो युष्मान् पुष्णातु । भक्तिरसोत्पादनेन पोषयत्वित्यर्थः । किंभूतम् । हारीकृतेति । हारीकृतो हारः सम्पादित उल्बणः कठिनो यः फणीन्द्रो वासुकिस्तस्य फणेषु इन्द्रनीलमणीनां या नीलच्छविः तस्याच्छुरणं व्याप्तिः तेन शारं कर्बुरीकृतम् । पुनः किंभूतम् । निह्नुतेति । निह्नुतः संगोपित आश्लेषसमये नगेन्द्रसुतायाः पार्वत्या आलिङ्गनवशाल्लग्नो यः कुचाग्रकस्तूरीमकरिकायाः कस्तूरीपत्रवल्याः किणश्चिह्नपर्यायो यस्य तत् । कस्तूरीमकरिकाकिणस्य इन्द्रनीलमणिप्रभया निह्नवो जात इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

युष्माकमिति । नवं यन्नीलसरोजं नीलोत्पलं तस्य दाम माल्यं तद्वत् श्यामा द्युतिर्यस्य स शितिकण्ठकण्ठः श्रीशम्भुगलो युष्माकं सुमतये शोभना चासौ मतिः शिवैकतानेन या मतिः तस्यै अस्तु । क इत्याह—यः कण्ठः केतकीधवलः केतकीनामा श्वेतः सुगन्धः पुष्पविशेषः, तद्वद्धवलो यो वासुकिभोगः हारीकृतवासुकिफणस्तेन यो योगस्तस्मात् गाङ्गौघेन गङ्गाजलप्रवाहेण भिन्नं भिन्नवर्णं शारीकृतं गगनमेवाङ्गनं तस्य भङ्गिः शोभा तामेति प्राप्नोति । श्रीशम्भुगलस्य गगनाङ्गनमुपमानम् । वासुकिभोगस्य गङ्गाजलप्रवाह उपमानम् ॥ ३३ ॥

क्षीरार्णवस्येति । स परमेशो दयाब्धिः कृपामृतसमुद्रः । आश्रितवल्लभः आश्रिता वल्लभाः प्रिया यस्य शरणागतत्राता वो युष्माकं मुदं परमानन्दं तनोतु विस्तारयतु । स क इत्याह—यः परमेश्वरः अप्रतिमप्रसादः अनुपमानुग्रहश्चरणाब्जतले स्वकीयपादपद्मतले निवासं स्थानमासेदुषः प्राप्नुवतः क्षीरार्णवस्य भृत्यस्येव पादसंवाहनं कृतवतस्तनयं स्वोदरोत्पन्नं बालम् । बालेन्दुमित्यर्थः । तं मूर्ध्नि लालयति कृपया संरक्षति । अत एवास्याश्रितवत्सलता सुप्रसिद्धैवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

या राजहंसेति। सा श्रीशम्भोर्दृक्। जातावेकवचनम्। नेत्रत्रयीत्यर्थः। सा वो युष्माकं अभीष्टफलपाकं करोतीत्यभीष्टफलपाककृत् अस्तु। केव। द्यौरिव आकाश इव। 'द्यौदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्' इत्यमरः। केषु। प्रावृडन्तशरदादिदिनेषु वर्षान्तशरदारम्भरूपऋतुसन्धिदिनेषु। उभे विशिनष्टि—सा दृक् का। या राजेत्यादि। राजा चन्द्रः। 'राजानौ नृपशीतांशू' इति मङ्खः। हंसः सूर्यः। 'खगयोगिभिदोर्हंसो निर्लोभनृपसूर्ययोः' इति मङ्खः। शिखी अग्निः। 'वृक्षोऽग्निः कुक्कुटो बर्हो शिखिनः' इति मङ्खः। तैस्त्रिभिः सम्यग्भृता कान्तिर्यस्याः सा। सद्यः प्रणत्यन्त एव तिरोहितं घनं दृढमावरणमविद्यारूपमायावरणं यया सा। भक्तेभ्य इति शेषः। कृपया वैशद्यमेति। अथ च वर्षान्तशरदादिऋतुसम्बन्धिद्यौरपि राजहंसैः श्वेतगरुत्पक्षिभिः तथा शिखिभिर्मयूरैश्च संभृता उपचिता कान्तिर्यस्याः सा। वर्षान्तसद्भावात् कतिपये राजहंसा आगच्छन्ति, प्रावृषोऽप्यन्तिमकतिपयदिनसद्भावात्कतिचिन्मयूराश्च तत्र ऋतुसन्धौ भवन्ति। तथा ऋतुसन्धिद्यौरपि कीदृशी। तिरोहितं दूरीकृतं घनानां मेघानामावरणं यया सा। प्रसादं नैर्मल्यं च सद्यस्तत्क्षणमेव एति प्राप्नोति। अभीष्टफलानां शाल्यादीनां पाकं करोति तादृक्च। शब्दश्लेषः॥ ३५॥

अन्तर्धृताहिमकरेति। परमेश्वरस्य श्रीशिवभट्टारकस्य दृक्। जातावेकवचनम्। श्रीशम्भोर्नेत्रत्रयी वो युष्माकममृताय निःश्रेयसाय अस्तु। केव। औदन्वती उदन्वत इयमौदन्वती समुद्रस्य तनुरिव। द्वे अपि विशिनष्टि—किंभूता दृक् नेत्रत्रयी। अन्तर्धृतेत्यादि। अन्तर्धृताः अहिमकर उष्णांशुः सूर्यः ज्वलनोऽग्निः उदितेन्दुः। बालेन्दुरित्यर्थः। ते यया। तथा स्वःसिन्धोर्वियद्गङ्गाया यः सङ्गस्तेन सुभगा रम्या। तथा गजाश्वेत्यादि। गजानां गजोत्तमानां अश्वानां वनायुजादीनां रत्नानां पद्मरागादीनां श्रियो लक्ष्म्या लाभप्राप्तिस्तं करोति। केषाम्। सुमनसां पण्डितानाम्। 'सुमनाः स्त्रीः पुष्पजात्योर्देवपण्डितयोः पुमान्' इति मङ्खः। श्रीशम्भुदृगंशांशप्राप्त्या कृतिनां गजाश्वादिसकलसम्पत्प्राप्तिरित्यर्थः। सामुद्री तनुरपि किंभूता। अन्तर्धृतेत्यादि। अन्तर्धृताः अहयः सर्पाः मकरा जलप्राणिनः ज्वलनोऽग्निर्वाडवः उदितेन्दुः पूर्णेन्दुर्यया। उदितेन्दुरिति भिन्नं पदं वा। उदित उत्पन्न इन्दुर्यस्याः सा। तथा स्वःसिन्धोर्गङ्गाया यः सङ्गो योगस्तेन सुभगा रम्या। तथा गजाश्वेत्यादि। गजः स्वर्गज ऐरावणः अश्व उच्चैःश्रवाः रत्नं कौस्तुभः श्रीः हरिप्रिया तेषां लाभं करोतीति तादृक्। केषाम्। सुमनसां देवानामिन्द्रादीनाम्॥ ३६॥

यत्राग्निरिति। तत्पुररिपोस्त्रिपुरारेर्नयनत्रयं श्रीधाम श्रियः शोभाया लक्ष्म्याश्च धाम स्थानम्। 'श्रीस्तु शोभालक्ष्मीसमृद्धिषु' इति मङ्खः। वो युष्माकं श्रिये मोक्षलक्ष्म्यै अस्तु। तत्किमित्याह—यत्राग्निर्जिह्वां शिखां रसनां च विवृत्य। 'रसनाग्निशिखा जिह्वा' इति कोषः। कणं लवम्। हव्यस्येति शेषः। कणं धान्यांशं च। 'कणोऽतिसूक्ष्मे धान्यांशे' इत्यमरः। न ईप्सति न काङ्क्षति। नित्यतृप्तत्वात्। अथ च योऽपि श्रीधाम्नि लक्ष्मीगृहे वसति सोऽपि याचनार्थं जिह्वां विवृत्य कणं धान्यांशमपि न याचते। यत्र नेत्रत्रये अपेतवसुः अपेतं निवृत्तं वसु तेजो यस्य। अथ च अपेतं वसु धनं यस्य च एतादृशोऽर्को बाह्याकाशस्थसूर्यवन्नेत्रार्कः प्रतिक्षपं प्रतिनिशं तमग्निं नैति न गच्छति। दिनान्ते सावित्रं तेजोऽग्नौ विशतीत्यागमः। नित्यमेव जाज्वल्यमानस्य सूर्यस्याग्नेश्च तत्र सद्भावात्। अथ च श्रीधाम्नि वसन् कोऽप्यपेतवसुर्गतधनो न भवति। तं च नेत्रस्थं सूर्यं क्षीणः अमावास्यायां क्षीणः संश्चन्द्रः, अथ च क्षीणो दरिद्रोऽपि, तं सूर्यं न श्रयति। दर्शे चन्द्रोऽधःस्थ उपरिस्थं सूर्यबिम्बं विशतीति संहितायाम्। श्रीधाम्नि च वसन्कोऽपि न दरिद्रः न च कंचिच्छ्रयति॥ ३७॥

अर्कस्येति । तत्पुररिपोस्त्रिपुरारेर्नयनत्रयं वो युष्मान् त्रायताम् । दक्षिणाक्ष्णि अर्कस्य सहस्रांशोः शिशिरेऽपि न उदक् वामभागे अयनं गमनमुत्तरायणं च । तत्रैव निश्चलस्य तस्य सत्त्वात् । 'शिशिरपूर्वमृतुत्रयमुत्तरं त्वयनमाहुरहश्च तदामरम्' इति संहिताविदः । मकरराशिप्रारम्भे सूर्यस्योत्तरायणं प्रसिद्धम् । यत्र च वामे नेत्रे शीतत्विषश्चन्द्रस्यापि बहुले कृष्णपक्षे कलानामपलापो हानिर्न । 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः । 'बहुलाः कृत्तिका गाव एलाः पुंस्यग्निपक्षयोः । प्रभूते च प्रायिके च शितौ च स्यात्त्रिलिङ्गकः' इति मङ्खः । तस्य सदैव जाज्वल्यमानत्वात् । तथा यत्र ललाटाक्ष्णि वह्निरग्निरप्यह्नि दिनेऽपि क्षामं कृशं धाम तेजो न वहति । रात्राविव दिनेऽपि प्रदीप्तत्वात् ॥ ३८ ॥

यामाश्रित इति । ताः शर्वस्य शिवस्य दृशो नेत्राणि वो युष्माकं शिवमात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिं पुष्णन्ति शिवपुषः तादृशो भवन्तु । ता का इत्याह—यां दक्षिणदृशं रमणीयधामा रम्यतेजा अम्बरमणिर्भास्वानाश्रितः । या च दृग्ललाटगोचरा न अलसा अनलसा अमन्दा । प्रौढैवेत्यर्थः । तादृशी कामान्तकौ मदनयमौ अनलसात् अग्न्यधीनौ व्यधात् । 'तदधीने सातिः कात्स्न्यें' इति सातिप्रत्ययः । यापि वामदृक् इन्दुसंभवसुधावसुधा चान्द्रीसुधाभूमिः । आरोपः ॥ ३९ ॥

पुष्णातु व इति । उरगो वासुकिनाग आभरणं कण्ठे हारस्थाने यस्य सः । तस्योरगाभरणस्य श्रीशिवस्य चेतो मनः तत्कालेत्यादिविशिष्टं वो युष्मान् श्रीशिवभक्तिरसोत्कर्षवितरणेन पुष्णातु वर्धयतु । तत्काले प्रथमगौरीसङ्गसमये कार्यं परस्परप्रेमातिशयरूपं करोति तादृशो दर्पकः कामस्तस्य देहदाहेन जात उत्पन्नोऽनुतापः पश्चात्तापो यस्य तत् । अत्र हेतुमाह—किंभूतस्य शिवस्य । प्रथमसङ्गमे भीता नवोढात्वात् या गौरी पार्वती तस्या विस्रम्भणार्थमाश्वासनार्थं यः प्रणयो याच्ञा तद्भङ्गेन यद्भयं तेनाकुलस्य ॥ ४० ॥

जूट इति । स हरः श्रीशिवो वो युष्माकं दुर्गतिं भवामयोत्थां हरतीति तादृशो भवतु । स क इत्याह—जूट इति । यस्य महेशस्य जूटे कपर्दे कपालशकलानि महाप्रलयादौ हारितब्रह्मादिशिरसां कपालखण्डानि भवन्ति । तथा कलानिधिश्चन्द्रश्च यस्य जूटे भवति । तथा यस्य विभोर्हस्ते सुधाम्बु अमृतोदकं भवति । 'देवं सुधाकलशसोम–' इति ध्यानोक्तेः । तथा सरलमुदारम् । 'सरलः पूतिकाष्ठे स्यादुदारावक्रयोरपि' इति विश्वः । उदारं गरलं कालकूटाख्यं विषं गले कण्ठे यस्य । तथा शक्रादिभिर्देवैः । विहितमिति शेषः । नमनं नतिः । गवा वृषभेण गमनं च यस्य । 'लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । गोशब्दः पुंसि च लक्ष्ये दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

यस्य क्षितिरिति । अमृतनिर्झरनिर्विशेषा सुधाप्रवाहतुल्या । आपन्नाश्वासनेनेत्यर्थः । तस्य प्रभोर्महेश्वरस्य सरस्वती वाणी । 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः । वो युष्माकमशेषाणि सर्वाणि दुरितानि वाङ्मनःकायोपार्जितानि । हन्तु नाशयतु । तस्य कस्येत्याह—यस्येत्यादि । यस्य विभोः श्रीहाटकेश्वरस्य शिरसि मूर्धनि सौमनसी पुष्पसम्बन्धिनी शेषा मालेव । 'उपयुक्तेतरच्छेषं त्रिषु ना नागसीरिणोः । प्रसादान्निजनिर्माल्यदाने स्त्री' इति मङ्खः । यस्य शिरसि पुष्पमालेव क्षितिः शोभते । तथा स प्रसिद्धः शेषाहिः शेषनागो यस्य विभोरङ्गदपदे केयूरस्थाने चकास्ति शोभते ॥ ४२ ॥

श्रीमानिति । अप्राकृतो न प्राकृतो गौणः । सर्वथा मुख्यः प्रसादोऽनुग्रहः हरेण श्रीशम्भुना

कृतो वो युष्माकमघं त्रिविधं पापं हरतु निवारयतु । स क इत्याह—यस्यानुग्रहस्याप्त्यै लाभाय श्रीमान् लक्ष्मीवान् शोभायुक्तश्च कल्पतरुर्देवद्रुमोऽपि नाकल्पत समर्थो नासीत् । तस्य सर्वपुरुषार्थमुख्यनिःश्रेयसदानासमर्थत्वादित्यर्थः । तथा यं श्रीशिवप्रसादं समेत्य प्राप्य रसायनरसाय जराव्याधिहरौषधायापि तृष्णा लोभो नास्ति । 'रसायनं विडङ्गे स्याज्जराव्याधिजिदौषधे' इति विश्वः । अत्रापि प्रागुक्तो हेतुः । तथा गहनः । अष्टाङ्गयोगस्यातिकष्टसाध्यत्वात् । योगः अष्टाङ्गो यमनियमादिकः । हवा यज्ञाश्च कृच्छ्रसाध्याः । तैरपि यः श्रीशम्भुप्रसादो न लभ्यः ॥ ४३ ॥

मुक्तिर्हि नामेति । भूयसा बहुनोक्तेन किं भवति । न किंचिदित्यर्थः । सैव सुधामयूखलेखाशिखाभरणस्य चन्द्रकलाचूडाभरणस्य श्रीशिवस्य भक्तिर्वो युष्माकमभङ्गुरा अविच्छिन्ना भवतु । सा का इत्याह—यदन्तरज्ञाः यस्याः श्रीशिवभक्तेरन्तरं विशेषमन्यपुरुषार्थेभ्यो जानन्ति ये ते तमपि मुक्तिरूपं परमपुरुषार्थमन्तरायं विघ्नमवयन्ति जानन्ति । परमेशदर्शनविघ्नरूपत्वात् तसायुज्यस्येत्यर्थः । तां मुक्तिं कामित्याह—हिर्निश्चये प्रसिद्धौ वा । मुक्तिरात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरपुनर्भवरूपा एकः पुरुषार्थः । सर्वपुरुषार्थमुख्य इत्यर्थः । एतदाशयानुसारेण ममापि वृत्तमेकम् । यथा—

'वीक्षे न यत्र नयनत्रितयाभिरामं
पूर्णेन्दुतर्जि मुखमीश्वर तावकीनम् ।
दासस्य नाथ कृपया भवता वितीर्णं
सायुज्यमीदृगपि वेद्मि विडम्बनं मे ॥'

इति ॥ ४४ ॥

स यत्रेति । तच्छाम्भवं श्रीशम्भोरिदं धाम महन्महः वो युष्मभ्यं धाम तेजः शिवैकताध्यानोत्कृष्टं तेजः स्थानं वा दिशतु ददातु । तत्किमित्याह—यत्र शाम्भवे धाम्नि भक्तानुग्रहार्थे सकलरूपे एते मुदं परस्परसौहार्दं सन्तोषं दधति । एते के । गुहबर्हिणः स्वामिकुमारवाहमयूरः । गिरीन्द्रकन्याहरिः श्रीपार्वतीवाहनसिंहः । अर्कसुतसैरिभः । अर्कयति तपतीत्यर्कः अर्च्यते वा इति स्वामी । सीरिभिर्दान्तैर्भाति सीरिभः कुटुम्बी । तस्यायं सैरिभः । यमवाहनमहिषश्च । कुमारमयूरः कैस्तोषमेति । भवस्य श्रीशम्भोर्ये भुजङ्गा वासुक्याद्याः कण्ठभुजाभरणभूतास्तेषां या जिह्वास्ताभिरञ्चना लेहास्तैः । मयूरो हि भुजङ्गभुक् । मयूरसर्पयोः परस्परविरोधिनोरपि तत्रातिविनीतत्वात् (?)। एवमग्रेऽपि । श्रीपार्वतीसिंहः कैस्तोषमेति । गजास्यस्य गजमुखस्य गणपतेर्यानि करेण कर्षणानि आक्षेपास्तैः । तथा यममहिषः कैः । रवितुरङ्गाणां नेत्रगोचररवेस्तुरङ्गाणां सप्तानां हेषारवैः अश्वनिःस्वनैः । 'हेषा ह्रेषा च निःस्वनः' इत्यमरः । हेषाभिरित्युच्यमाने हेषाशब्दस्य रूढत्वाद्रवशब्दाधिक्यम् । महापुरुषचरणनिकटे परस्परविरोधिनामपि जन्तूनां वैरत्याग इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

यस्मिन्निति । स शाम्भवः श्रीशम्भुसम्बन्धी दृशां तिसृणां त्रिभागस्तृतीयो भागः एकमग्न्यधिष्ठानं तृतीयं नेत्रं वो युष्माकं श्रेयो निःश्रेयसं प्रथयतु तनोतु । श्रेयः किंभूतम् । प्रेयः अतिशयेन प्रियम् । 'प्रियस्थिर' इत्यादिसूत्रेण ईयसुन् । स क इत्याह—यस्मिंस्तृतीयनेत्रे······ त्रिभुवनजयिनोऽपि तस्य श्रीशम्भौ भग्नशक्तित्वात् । यस्मिन्नग्न्यधिष्ठाने नेत्रे प्राप्तकालः प्राप्तान्तसमयः स प्रसिद्धः कालो यमोऽपि शलभलघुतां शलभवत्पतङ्गवल्लघुतां लेभे । तत्र दग्ध इत्यर्थः । शलति शमं लभते वाग्नौ शलभः । तथा जाह्नवीयो गङ्गासम्बन्धी ओघः प्रवाहोऽपि यस्य नेत्राग्नेर्महोनिह्नवे तेजःपिधाने न प्रभवति न समर्थो भवति ॥ ४६ ॥

यः क्रोधाग्नेरिति । परात्परतरे स्थाने देवः परमेश्वरः अत्र लोके सिंहादिदुष्टसत्व-भयावृते परत्र च रविजकिङ्कराद्युत्पन्नभयावृते पथि वर्त्मनि निष्प्रत्यूहं विघ्नाभावं प्रथयतु तनोतु । स क इत्याह—यः क्रोधाग्नेरिति । यो देवो निजस्य क्रोधाग्नेः समिधं काष्ठं दर्पकं काममकरोत् । क्रोधाग्निना कामं ददाहेत्यर्थः । 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित्स्त्रियाम्' इत्यमरः । तथा यो देवो जगतां लोकानां कृतोऽन्तो येन तं कृतान्तं यमं दर्पकन्दच्छेदाभिज्ञं दर्पस्य कन्दो मूलं तस्य च्छेदमभिजानातीति तादृशं व्यथितं चकार । यममपि ददाहेत्यर्थः । यश्च विभुः समस्तं सर्वं मतिह्रासं विश्वस्य लोकस्य शिवाद्भेदप्रथारूपो मतिह्रासस्तमस्तं विनाशं नयति दूरीकरोति । धीमतामित्यर्थः ॥ ४७ ॥

पायादिति । गृणात्युपदेशं शिवाभेदप्रथारूपं गुरुः । त्रिजगतो गुरुः स स्मरहरः स्मरारिर्वो युष्मान्पायात् । स क इत्याह—सोपग्रहाणामित्यादि । सोपग्रहाणां उपग्रहैश्चतुर्भी राहुकेतुध्रुवागस्त्यैः सह वर्तन्ते ये ते सोपग्रहास्तेषां ग्रहाणां सप्तानामादित्यादीनां पङ्क्तिः । 'ग्रहा आदित्याद्याः सप्त । उपग्रहा राह्वाद्याश्चत्वारः' इति गर्गः । तदेवं सोपग्रहग्रहपङ्क्तिरेकादशसंख्याका मिश्रीभूता श्रीशम्भोः शिरःस्थत्वाच्चन्द्रस्य अवशिष्टा दशसंख्याकैव । अत्रैवोत्प्रेक्षापूर्वकमाह—सोपग्रहाणामित्यादि । शिरःश्यामाकामुकमत्सरेण शिरसि यः श्यामाकामुको रजनीशश्चन्द्रस्तस्य मत्सरेण परोत्कर्षासहनं मत्सरस्तेन अयं चन्द्रः कथं जगदीश्वरस्य शिरःस्थो वयं किं न प्रिया विभोरिति रोषेणावशिष्टसोपग्रहपङ्क्तिः प्रह्वा भक्त्या नम्रा ये सुरासुरेश्वरा देवासुराधीशाश्च तेषां शिरांसि तेषु या मन्दाराख्यसुरपुष्पमालास्ताभ्यो गलन् पतन् यः किञ्जल्कोत्करस्तेन पिञ्जरा या नखश्रेणी नखानां दशसंख्यनखानां श्रेणी तन्निभेन तद्व्याजेन यस्य विभोश्चरणौ पादयुगलमाश्रिता । वयमपि स्वामिशिरःस्थचन्द्रवद्विभोः प्रेमभागिनो भवाम इत्येतदर्थं श्रीशम्भोश्चरणौ श्रितेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अर्केन्द्विति । तस्य प्रभोः परमेश्वरस्य स्तुतिः अघमलोष्मशमात् अघानां वाङ्मनःकायोपार्जितानां मलानां मायीयाणवकार्माणां य ऊष्मा तस्य शमान्मन्दाकिनी वियद्गङ्गेव मुदं प्रमोदं वो युष्मभ्यमर्पयतु ददातु । तस्य कस्येत्याह—अर्केन्द्विति । अर्काद्याः सप्त ग्रहाः प्रसिद्धाः यं विभुं मन्दारकुन्दकुमुदैः मन्दाराख्यैः कुन्दपुष्पैः कुमुदपुष्पैश्च यं देवमुदर्चयन्ति उच्चैः कृत्वा अर्चयन्ति पूजयन्ति । इदं वृत्तं प्राचीनादर्शेषु न दृश्यते तथापि व्याख्यातम् ॥ ४९ ॥

भस्मोद्धूलितेति । कात्यायनीकामुकः श्रीशम्भुः । अत्रालङ्कारिकैः कात्यायनीकामुक इत्यत्र विरुद्धमतिकृद्दुष्टत्वं यद्यपि व्याख्यातं तथापि भक्तिविषये न दोषः । वो युष्माकं भद्राय मङ्गलायास्तु । किंभूतः । भस्मना विभूत्या उद्धूलिता मूर्तिर्यस्य । तथा इन्दुवच्चन्द्रवद्धवलश्चासौ ज्योतीरसोर्वीधरः स्फटिकशैलस्तस्य स्कन्धः कायः ।' "स्कन्धः स्यान्नृपतावंशे संपरायसमूहयोः । काये तरुप्रकाण्डे च भद्रादौ छन्दसो भिदि ॥' इति धान्तेषु मेदिनिः ।" इति रायमुकुट्याम् । तत्रासक्तो यस्तुषारगौरो हिमधवलो वृषस्तत्रारूढः । पुनः किंभूतः । दुग्धमहाब्धिमध्ये विकसद्यत्पुण्डरीकं सिताम्भोजम् । 'पुण्डरीकं सिताम्भोजम्' इत्यमरः । तस्योपरि क्रीडन् यो बालमरालो हंसशावस्तद्वन्निर्मला रुचिर्यस्य । अत्र कैलासशैलस्य क्षीराब्धिरुपमानम् । भस्मोद्धूलितमूर्तेर्विभोर्बालमराल उपमानम् ॥ ५० ॥

त्रातेति । एवंविधो मृडः मृडयति सुखयति जगन्निःश्रेयसप्रदानेन मृडः श्रीशिवो वो युष्मान् पातु । भवभयादित्यर्थ । किंभूतः । भीतिभृतां भवरोगभयधारिणां त्राता रक्षिता ।

तथा चिदचितां चेतनाचेतनानां पतिः। तथा सतां स्वात्मनः शिवाभेदप्रथां विदुषां शंसतां स्तुवतां क्लेशं मायावरणजं हन्ता। तथा भक्तिमतां वाङ्मनःकायकर्मभिः शिवैकताध्यानं भक्तिस्तद्वतां मतामभिमतां स्वस्य समतां स्वसायुज्यं कर्ता। तथा असतामज्ञानां श्रीशिवशासनद्वेषिणामपकर्ता हन्ता। तथा देवः सेवकानां भक्तिप्रह्वाणां भुक्तिर्भोगसंहतिरूपा मुक्तिर्निःश्रेयसमपुनर्जन्मरूपं तयोर्या घटना संप्रदानं तस्याः भूः स्थानम्। आरोपः। भूर्भूर्लोकश्च भुवो भुवोलोकश्च स्वः स्वर्लोकश्च तानि। एतदुपलक्षणम्। तेन महोलोकप्रभृतीनामपि ग्रहणम्। तेषां या निर्माणस्थितिसंहृतयः सर्गस्थितिसंहारास्ताभिः प्रकटिता क्रीडा येन सः॥ ५१॥

कृष्णेनेति। धूर्गङ्गा जटायां मुकुटे यस्य स धूर्जटिः परमेशो भूयांसि बहुतराणि श्रेयांसि ऐहिकामुष्मिकानि शुभानि घटयतु। तत्सङ्घटनां करोत्वित्यर्थः। स कः। यस्मात् श्रीशिवभट्टारकात् आप्तसुदर्शनेन प्राप्तसुदर्शनाख्यचक्रेण [कृष्णेन] देवकीनन्दनेनेव आप्तसुदर्शनेन लब्धशोभनदर्शनेन कृष्णेनार्जुनेन विश्वं जगद् विधेयीकृतं स्वायत्तीकृतम्। जितमित्यर्थः। 'कृष्णस्तु केशवे व्यासे वायसे कोकिलेऽर्जुने' इति विश्वः। द्वावपि विशिनष्टि—कृष्णेनार्जुनेन कथंभूतेन। त्रिजगति प्रसिद्धा विजय इति प्रख्यातिः प्रसिद्धिर्यस्य तेन। 'अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः। बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनञ्जयः।' इत्यर्जुननाम्नां प्रसिद्धेः। तथा श्रीशिवस्य पादाब्जपूजाविधौ चरणकमलार्चनविधौ आलोचनं नित्यचिन्तनं कृतवता। तथा वासवसूनुना इन्द्रसुतेन। श्रीकृष्णेनापि कथंभूतेन। त्रिजगत्प्रसिद्धविजयस्य जयशब्दस्य कंसचाणूरादीनां जगद्विध्वंसकराणां विजयात् प्रख्यातिर्यस्य तेन। तथा वासवसूनुना वासवस्येन्द्रस्य सूनुरनुजस्तेन। 'सूनुः पुत्रेऽनुजेऽपि च' इति विश्वः। पुनः किंभूतेन श्रीकृष्णेन। विभोः श्रीशिवस्य पादाब्जपूजाविधौ चरणकमलार्चनविधौ लोचनं कृतवता दत्तवता। धातूनामनेकार्थत्वात्। तथा चोक्तं महिम्नःस्तवराजे पुष्पदन्तगणाधीशेन—'हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्। गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम्॥' इति। अत एव भक्त्युत्कर्षात्प्रसादात्सुदर्शनेन॥ ५२॥

श्रीकण्ठस्येति। श्रीकण्ठस्य श्रीशम्भोर्मूर्तिर्वो युष्मभ्यं श्रेयो निःश्रेयसं दिश्यात् ददातु। केव। नक्षत्रपालीव नक्षत्राणामश्विन्यादीनां पाली पङ्क्तिरिव। द्वे अपि विशिनष्टि—श्रीशिवस्य मूर्तिः किंभूता। सकृत्तिका। कृत्तिर्व्याघ्रचर्मैव कृत्तिका। सह कृत्तिकया वर्तते या सा। 'व्याघ्रचर्मपरीधानं गजचर्मोत्तरीयकम्' इति स्वच्छन्दतन्त्रोक्तेः। तथा आर्तानां भवभयातिपीडितानां भरणी पोषिका। तथा सतो भक्तिप्रह्वान्विदुषः आरोहयति स्वपदं प्रापयति तादृशी। तथा ज्येष्ठा। ब्रह्मादिकारणानामप्यादौ सद्भावात्। तथा भद्रकारि पदमास्पदं यस्याः सा। तथा पुनरपि च वसुना तेजोरूपेण महता युता। अथवा वसुभिर्देवयोनिभिरष्टाभिर्युता। तथा चित्रा आश्चर्यकारिणी। सूर्यादिधामत्रय्या लोचनत्रयीगतत्वादिनेत्यर्थः। तथा विशाखेन कुमारेणान्विता। 'विशाखः शिखिवाहनः' इत्यमरः। तथा अक्षते अनाहते हस्तमूले करतले घटितो मिलित आषाढः पालाशो दण्डो यस्याः सा। 'पालाशो दण्ड आषाढः' इत्यमरः। मघेन सौख्येन महता महिम्ना वा अलङ्कृता भूषिता। तथा वैश्रवणेन धनदेन स्वसख्या आश्रिता। नक्षत्रपङ्क्तिरपि किंभूता। सकृत्तिका सह कृत्तिकया कृत्तिकाख्येनाग्निदैवत्येनान्विता। तथा आर्तभरणी। आ ईषत् अर्थादेकदेशेन ऋता गता भरणी याम्यं यस्यां सा। 'आत्तभरणी' इति पाठे आत्ता गृहीता भरणी नाम तारा यया सा इति नक्षत्रपालीविशेषणम्। शिवमूर्तिपक्षे तु आत्ता भक्तत्वेन स्वीकृताः

तान्बिभर्ति पोषयतीति । तथा सदारोहिणी सदा नित्यमेव निकटस्था रोहिणी प्राजापत्यभं यस्याः । ज्येष्ठया भद्रपदाभ्यां पूर्वोत्तरभद्रपदाभ्यां पुनर्वसुना च नक्षत्रविशेषेण युता । तथा चित्रया विशाखया चान्विता युक्ता । तथा वै निश्चये प्रसिद्धौ वा । श्रवणेन विष्णुदैवतर्क्षेणाश्रिता भवति । एतद्वृत्तार्थाभिप्रायेण मदीयमप्येकं वृत्तम्—

'आर्द्रा कृपामृतरसेन सकृत्तिका···श्लेषा (?) शिवस्य समघा सविशाखपार्श्वा ।
आश्चर्यमात्तभरणी च जगत्त्रयस्य क्रूरर्क्षपङ्क्तिरिव मङ्गलमातनोति ॥'

इति ॥ ५३ ॥

भिन्द्धीति । 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इत्यनुवर्त्य 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण ह्यस्तनीप्रथमैकवचने हि-आदेशः । तेन भिन्द्धि अभिदत् । एवमग्रेऽपि । श्रीभैरवः । प्रागुक्तमस्य निर्वचनम् । श्रीशिवभट्टारको वो युष्मान् पातु रक्षतु । समस्तविघ्नेभ्य इति । किमित्याह —भिन्द्धि क्ष्माधरेत्यादि । श्रीभैरवः क्ष्माधरसन्धिबन्धं भिन्द्धि अभिदत् । तथा श्रीभैरवः उदधेः समुद्रस्याम्भोभरं जलौघं जृम्भय अजजृम्भत् । उद्धते नाट्ये भुजविक्षेपेणेत्यर्थः । तथा श्रीभैरवः क्ष्मापटलं भूवलयं क्षुन्द्धि अक्षुदत् । किंभूतं क्ष्मापटलम् । दलन्त्यो याः फणिनः शेषनागस्य फणाः । चरणविन्यासभरेणेत्यर्थः । ता एव पीठी तया लुठत्सौष्ठवं प्रागल्भ्यं यत्र तत् । तथा प्रौढा ये चपेटा हस्ततलाघातास्तैः पाटितं रटन्निःस्वनत् ताराणां कुटुम्बं समूहो यस्य तत् । तादृशं नभो व्योम पिण्ढि आपिषत् । इत्थमनेन प्रकारेण प्रारब्धमुद्धतं सान्ध्यं सन्ध्यासमयभवं ताण्डवं नाट्यं येन सः ॥ ५४ ॥

भूत्यै वोऽस्त्विति । प्रभोर्जगत्प्रभोः परमेश्वरस्य वपुः अभिनये सन्ध्यायां नाट्यसमये वो युष्माकं भूत्यै विभूतये मोक्षसम्पत्त्यै अस्तु । किंभूतम् । विडम्बितस्मितरुतम् । विडम्बितमुपमितं स्मितरुतं अत्र योग्यतया स्मितमट्टहासस्तद्रुतं हासशब्दो यस्य तत् । कैः मूर्ध्नां उद्धृता चासौ स्वर्धुनी गङ्गा तस्या निध्वानं शब्दस्तेन ध्वनन्ति आननानि मुखानि येषां तैर्भूषाकपालैः भूषार्थं ब्रह्मादिकपालानि तैः । पुनश्च किंभूतं वपुः । त्वङ्गन्तौ नाट्यरङ्गे भ्रमन्तौ यौ तुम्बुरुनारदावृषी ताभ्यामाहता वादिता सती नदन्ती चासौ भेरी तस्या रवस्तेन व्यावल्गन् हर्षान्नृत्यन् यो गुहवाहबर्हो कुमारवाहनमयूरस्तेन विहितः क्रीडानुकारः [क्रीडासादृश्यकारि] क्रीडासाम्यं यस्य तद्विभोर्वपुः ॥ ५५ ॥

आदौ पादतल इति । क्रमेण वर्धमानो महिमा यस्य सः स्वामिप्रसादः श्रीशङ्करानुग्रहो वो युष्माकं भूत्यै मोक्षसम्पदे अस्तु । स क इत्याह—येन श्रीशिवप्रसादेन हेतुना विधुश्चन्द्र आदौ पादतले चरणतले कृतस्थितिः सेवार्थमासीत् । ततोऽनन्तरं करालम्बनं करस्यालम्बनं कर एव वालम्बनमाधारस्तम् । 'देवं सुधाकलशसोम' इति ध्यानमागमोक्तम् । चन्द्रस्यापि द्वादशमूर्तिभेदा द्वादशमासेषु वेदप्रसिद्धाः । ततोऽनन्तरं शुभा या दृक् स्वनेत्रं तत्र यन्निवेशनं तद्दर्शनोत्पन्नं वाल्लभ्यं स्वामिप्रियत्वं तत्प्रपन्नः प्राप्तः । अन्ते परां कोटिमारूढे वाल्लभ्ये येन शिवप्रसादेन हेतुना शिरोधिरोपणं स्वामिशिरोधिरोपणमेव महामाहात्म्यमनिर्वाच्यं माहात्म्यं विधुश्चन्द्रः प्राप्तः । अनेन सर्वदा वाङ्मनःकायविरचितस्वामिभक्त्याप्तपरमप्रसादमहिम्ना विभूत्यष्टकमणिमादिकं हस्ततलगतमेव भवतीति भावः ॥ ५६ ॥

यस्यैकस्येति । असौ पुराणः सनातनः कविः सूरिरनादिबोधः परमेशो वो युष्माकं

प्रीत्यै परमानन्दाय भवतु। किंभूतः। ओजस्विनस्तेजस्विवरस्य काव्यस्योशनसः उदयभूरुत्पत्तिस्थानम्। 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः' इत्यमरः। रुद्रस्याङ्गविक्षेपेण निर्गतत्वाच्छुक्रस्येति क्षीरस्वामी। प्रख्यातेति। प्रकर्षेण ख्याता प्रसिद्धा सर्गस्य सृष्टेर्बन्धस्तस्य रचना तस्याः संरब्धिर्यस्य सः। अतिप्रसिद्धब्रह्माण्डस्तम्बपर्यन्तं सृष्टिरचनासंरम्भ इत्यर्थः। असौ क इत्याह—यस्यैकस्येति। यस्य परमेश्वरस्य एकस्याद्वितीयस्य गौर्वृषभो वाहनं प्रेङ्खति सर्वत्रोल्लसति। किंभूतो गौः। सुवर्णेन कनकेन सम्यग्भृतो यः पदानां चरणानां न्यासस्तेनानवद्या क्रमव्यक्तिश्चरणविक्षेपव्यक्तिर्यस्य। यत्र यत्र श्रीशम्भुवाहनवृषश्चरति तत्र तत्र तच्चरणेभ्यो जाम्बूनदं पततीत्यागमः। पुनः किंभूतः। अनर्गला निर्निरोधा गतिस्तस्याः स्वाच्छन्द्यं स्वाधीनता तेन हृद्या हृदयप्रिया आकृतिर्यस्य सः। अथ च असौ पुराणो वृद्धः कविः कविता प्रीत्यै वोऽस्तु। असौ क इत्याह—यस्य वृद्धकवेर्गीर्वाणी प्रेङ्खति सततमुल्लसति। किंभूता। शोभना निजनिजरसानुकूला ये वर्णा अक्षराणि तैः संभृतः पदानां सुप्तिङन्तानां न्यासो यस्याः सा। तथा अनवद्या निर्दोषा क्रमस्य परिपाट्या व्यक्तिर्यस्याः सा। दुष्क्रमस्य दुष्टत्वात्। पुनः किंभूता। अद्भुता आश्चर्यकारिणी सर्गबन्धस्य रचनायाः संरब्धिराटोपो यस्याः सा। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' इत्युक्तेः। तथा ओजस्विन ओजोगुणयुक्तस्य काव्यस्य निपुणकविकर्मण उदयभूरुत्पत्तिस्थानम्॥ ५७॥

राकेन्दोरिति। त्रिजगद्गुरोः परमेश्वरस्य स्तुतीनां कथाः। 'प्रबन्धकल्पना कथा' इत्यमरः। तासु यानि सूक्तानि शोभनान्युक्तानि वचनानि तानि वो युष्मान् पुष्णन्तु शिवैकतामृतरसेन वर्धयन्तु। किंभूतानि। सुन्दराणि। कस्मादपि। राकेन्दोः पूर्णिमाचन्द्रादपि। अर्थादमृतस्यन्दीनि च। तथा षोडशहायनावधि बाला या अङ्गना कामिनी तस्या या मधुरा आलापकथाः सूक्तानि ता एवामृतं तस्मादपि हृदयग्राहीणि हृद्यानि तथा हारादपि मुक्ताहारादपि हारीणि मनोहराणि। तथा उत्तालं चतुरं यत् शिखालबालस्य चूडालबालस्य वचस्तस्मादपि सम्पूर्णं यत्कर्णामृतं तत्स्यन्दीनि॥ ५८॥

शाणोल्लीढेति। श्रीकण्ठस्य श्रीशम्भोः कण्ठस्थले संसक्ता गिरिसुतादोःकन्दली पार्वतीभुजलता वो युष्मान् पातु रक्षतु। भवभयादिति शेषः। किंभूते श्रीकण्ठकण्ठस्थले। शाणेन निकषोपलेनोल्लीढं नवं यदिन्द्रनीलं मणिविशेषस्तस्येव महस्तेजो यस्य तत् तादृशे। दोःकन्दली किंभूता। कनकस्येव च्छविः शोभा यस्याः सा। सा केत्याह—यां दोःकन्दलीमालोक्य षण्मुखस्य कुमारस्यायं षाण्मुखः शिखी कुमारवाहनमयूरश्चण्डताण्डवनवोल्लेखं चण्डमुद्धतं यत्ताण्डवम्। ताण्डिनृत्यशास्त्रम्, तदस्यास्तीति। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वः। पृषोदरादित्वादिकारस्याकारः ताण्डवमिति रायमुकुट्याम्। तण्डुना नन्दिकेश्वरेण प्रोक्तमिति तु स्वामी। 'ताण्डवं नटनं नाट्यम्' इत्यमरः। उद्धतं यन्नाट्यं तस्य नवोल्लेखं नोज्झति। सनीरेत्यादि। सनीरो यो नीरदो मेघः। अतिश्यामल इत्यर्थः। तस्य दलेन खण्डेन श्लिष्यते या तडित्तस्या विभ्रमो विलासस्तस्य भ्रान्त्या॥ ५९॥

यत्सर्गेति। एवंभूताः केचित्...... शर्वसम्बन्धी स्तवो वो युष्माकं शं सुखं ऐहिकामुष्मिकरूपं कुरुताम्। कीदृशाः प्रेङ्खन्त इत्याह—सर्गस्य जगत्सृष्टेराभरणायमानं आभरणवदाचरतीति तादृशं वपुर्येषाम्। तथा ककुभो दश दिशः। 'दिशस्तु ककुभः काष्ठाः' इत्यमरः। ता एव कामिन्यः तासां कर्णालङ्करणायमानं कर्णावतंसायमानं यशः कीर्तिर्येषां ते। तथा स्वर्गाय-

माणा स्वर्गवदाचरमाणा श्रीर्येषाम् । तथा दुष्कालो वर्तमानस्तुरीययुगसमयः स एवानलस्तेन सन्नाः खेदिता ये सज्जना विद्वज्जनास्तेषां सुधावर्षायमाणा अमृतायमाना उक्तयः सूक्तयो येषाम् । अत्रायं संक्षेपार्थः—अनिर्वाच्यवदान्यतया त्रिजगद्व्यापियशसो लक्ष्मीवन्तः कविवराश्च यल्लोके दृश्यन्ते स महिमा परमेश्वरस्तवस्यैवेत्यर्थः । अतः सर्वथा वाङ्मनःकायैस्तदेकताध्यानेन श्रीशिवभक्तिपरैरेव भाव्यमित्यर्थः ॥ ६० ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायाम् आशीर्वादाख्यं तृतीयं स्तोत्रम् ।

चतुर्थं स्तोत्रम्

अथातः श्रीपरमशिवेन निष्कलनाथेन स्वतन्त्रेण स्वेच्छया सकलमूर्तिना शिवभक्तमुख्यं हरिं प्रेम्णा निजशरीरार्धप्रदानेनानुगृह्णता अर्धनारीश्वरवदद्भुतं हरिहररूपं यद्व्यधायि तदेव मङ्गलाष्टकाख्ये चतुर्थस्तोत्रे संगृह्णन्नाह—

श्रीकम्बुकौस्तुभेति । तत् हारिहरं हरहरसम्बन्धि वपुर्वो मङ्गलं निःश्रेयसरूपं दिशतु वितरतु । तत्किमित्याह—श्रीकम्ब्वित्यादि । श्रयति हरिं श्रीः हरिप्रिया । "कम्बति गच्छति जलान्तः । 'जम्ब्वादयश्च' इति निपातनात्कम्बुः" इति रायमुकुटः । 'काम्यते मङ्गलेष्विति कम्बुः' इति स्वामी । कम्बुरत्र सुदर्शनाख्यः (पाञ्चजन्याख्यः) । कुं भूमिं स्तुभ्नाति व्याप्नोति कुस्तुभोऽब्धिः । ततो जातः कौस्तुभो मणिविशेषः । सुधांशुश्चन्द्रः । विषं कालकूटाख्यो विषभेदः । अमृतं पीयूषम् । तेषाम् । अत्रैकस्मिन्हर्यर्धभागे श्रीकम्बुकौस्तुभानां पार्श्वकरवक्षःस्थलेषु निवासः । अपरत्र हरार्धभागे सुधांशुविषामृतानां मुकुटगलकरतलेषु निवासः । यद्वपुर्लक्ष्मीप्रभृतीनां सौदर्यसौहृदसुखानुभवैकधाम भवति । सोदरस्य भावः सौदर्यम् । समानमुदरं यस्य स सोदरः । सोदरशब्दोऽपि भ्रातृवाचकः । 'अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' इति लक्ष्यदर्शनात् । सौदर्येण सहोदरभावेन एकस्मादेव क्षीराब्धेर्जातत्वात् यत्सौहृदं तेन यत्सुखं तस्य योऽनुभवः परस्परं······तदेकस्थानम् । किंभूतम् । सत्यधर्मेति । सत्यो गरुडः । 'सत्यस्तु गरुडे चैव' इति कोषः । धर्मो वृषः तयोः कृता निष्प्रतिघा प्रतिष्ठा येन तत् । हरिपक्षे । गरुडो वाहनम् । श्रीशिवपक्षे वृष इत्यर्थः । अथ कदाचित् सहोदराणामपि उपरिमध्याधोनिवसनेन परस्परं विरोधोऽपि संभवतीति तत्परिहारार्थं शब्दश्लेषेणाप्याह—सत्यधर्मेति । सत्यधर्मे तथ्यन्याये कृताप्रतिहतप्रतिष्ठम् । यच्च राज्यमेतादृग्भवति तत्र लक्ष्मीप्रभृतीनां······। विषामृतयोः सहोदरत्वेऽप्यतिविनीतत्वात्परस्परं विरोधाभाव इति भावः ॥ १ ॥

आपीडेति । तत् हारिहरं वपुर्वो मङ्गलं दिशतु । तत्किमित्याह—यत्र वपुषि उरगाधिराजः शेषनागः प्रकर्षेण हृष्यति । किंभूतः । वर्ष्म निजदेहं बहुमन्यमानः धन्यं मन्यमानः । कुत्र । एकत्र हरार्धभागे आपीडस्य मौलेर्जटाजूटस्य बन्धनविधौ । अन्यत्र हर्यर्धभागे शयने शय्यायां शेषशायीति प्रसिद्धत्वात् । किंभूतं वर्ष्म । पर्याप्तो भोगस्य फणिकायस्य विभवो भोगानां च विभवो यस्मिन् ॥ २ ॥

अर्धं यदिति । तत् हारिहरं वपुर्वो मङ्गलं दिशतु । तत्किमित्याह—यत् अर्धं हरस्य इन्दुगौरं शीतांशुशुभ्रं उत्पलदलैः कुवलयदलैः । 'स्यादुत्पलं कुवलयम्' इत्यमरः । उमया

पार्वत्यार्चितं विच्छित्तिं परमां शोभामुपैति । सितं वस्तु नीलेन सहातिशोभत इत्यर्थः । तथा अलिद्युति अलिवद्भ्रमरवद्द्युतिः शोभा यस्य तत् । अर्धं हयर्धं श्रिया लक्ष्म्या मालतीभिर्जातीभिरर्चितं सत् विच्छित्तिमुपैति । कृष्णं वस्तु श्वेतेन सहातीव विराजते । किंभूतां विच्छित्तिम् । अनिमिषेत्यादि । अनिमिषाणां देवानाम् । 'अनिमिषाः मत्स्याः सुराः' इति मङ्खः । यानीक्षणानि नेत्राणि तान्येव शुक्तयः पानपात्राणि ताभिः पेयाम् । यद्वा अविद्यमानो निमिषो निमेषो येषां तान्यनिमिषाणि तानि च तानीक्षणानि तान्येव शुक्तयस्ताभिः पेयाम् । अत्यन्तदर्शनीयामित्यर्थः । निमेषरहितानां नेत्राणामेव शुक्त्यारोपः सङ्गच्छते, न तु सनिमेषाणाम् । मधुचषकतुल्ये अस्या नयने इति हि लोके प्रसिद्धम् । तस्मादनिमिषेक्षणान्येव शुक्तय इति विग्रहः पुष्कलः (?) । देवा अपि निमेषरहिता एव स्वभावात् । अतो देवानां नेत्राण्यपि शुक्तितुल्यान्येव । अतोऽनिमिषाणामीक्षणानीत्यपि विग्रहः साधुरेव ॥ ३ ॥

केशाश्रिता इति । तत् हारिहरं वपुर्वो मङ्गलं श्रेयो दिशतु । तत्किमित्याह—यत्र वपुषि हर्यर्धभागे केशाश्रिता जलदा मेघाः । 'यस्य केशेषु जीमूताः' इति स्मृत्युक्तेः । अद्भुतमाश्चर्यकारिणं स्थिरा या तडित् क्षणप्रभा तस्या रसितस्य शब्दस्य प्रसङ्गं प्रकर्षेण सङ्गं वहन्ति । प्रथमतस्तडित् स्थिरैव न भवति । तस्याः पुनरपि रसितं च स्थिरं न भवति । अत आश्चर्यम् । पुनर्जलदाः किंभूताः । नयनेत्यादि । नयने तृतीये नेत्रे या वह्निशिखा अग्निज्वालाः, तथा अभ्रसिन्धोर्गङ्गायाश्च यो झाङ्कारस्तरङ्गनिर्ह्लादः स च गर्भे यस्य तत्तादृशं वपुर्येषाम् । अत्र हरार्धभागे वह्निशिखागङ्गातरङ्गनिर्ह्लादः ॥ ४ ॥

हीनार्धनाभीति । तत् हारिहरं वपुर्वो मङ्गलं निःश्रेयसं दिशतु । तत्किमित्याह—द्रुह्यते परेभ्यो द्रुहिणो ब्रह्मापि यत्र वपुषि तनुं स्वकलेवरमर्धीचिकीर्षति । अर्धं कर्तुमिच्छति । अत्र हेतुमाह—पद्मनाभार्धे इत्यर्थात् । हीनार्धेति । नाभ्या अर्धमर्धनाभि । तत्र हीनो यो नलिनालयः पद्मगृहं तत्र संकटत्वमविस्तृतत्वं तेन सातङ्कं सखेदं संकुचितवृत्त्या अङ्गसंकोचनस्थित्या कदर्थितानि पीडितान्यङ्गानि यस्य सः ॥ ५ ॥

दृग्वर्तिनाविति । तत् हारिहरं वपुर्वो मङ्गलं दिशतु । तत्किमित्याह–यत्र वह्निरग्निस्तृतीयनयनस्थोऽधिकं ज्वलति । क्रुधेति शेषः । किंभूतोऽपि । लाघवं लघुत्वमागतोऽपि । स्वस्याप्यर्धीकरणादित्यर्थः । तत्राधिकज्वलने हेतुमाह—रवितमीरमणौ सूर्यचन्द्रौ अखण्डमूर्ती अखण्डितदेहावेव दृग्वर्तिनौ दक्षिणवामनयनस्थौ दृष्ट्वा, स्वं च वपुरर्धं खण्डितमवेत्य ज्ञात्वा । अत्र हरेर्हरस्य च दक्षिणवामनयनस्थौ सूर्यचन्द्रावित्यागमप्रसिद्ध्या हरिहरवपुषि सामान्यं तयोस्तत्राखण्डितमूर्तित्वम् । अग्नेस्तु हरस्यैव तृतीयनयनस्थत्वादर्धीकरणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

यस्मिन्निति । तत् हारिहरं वपुर्वो युष्मभ्यं मङ्गलं भद्रं दिशतु । तत्किम् । यस्मिन् हरिहरवपुषि हरार्धभागे स प्रसिद्धः पद्मः करात्पतितः न धृतः । दूरीकृत इत्यर्थः । पद्यते लक्ष्मीरत्रेति पद्मः । 'पद गतौ' । किंभूतः पद्मः । गुणास्तन्तवः गुणाः सौन्दर्यविद्वत्तादयश्च यस्य । पुनः किंभूतः । सहृदयः सह हृदयेन कर्णिकारूपेण वर्तते यः । सहृदयो हृदयालुश्च । 'हृदयालुः सहृदयः' इत्यमरः । तथा सफलः सह फलैः पद्माक्षैर्वर्तते योऽसौ सफलः । सार्थकश्च । तथा समूलः सह मूलेन शालूकेन वर्तते यः । समूलकारणश्च । अत्र हेतुमाह—वपुषि किंभूते । स्वातन्त्र्यधामनि स्वतन्त्रतास्थाने । 'न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः' इति स्तोत्रराजोक्तेः । शब्दश्लेषः । गुणिनः

सहृदयस्य सार्थकस्य समूलकारणस्य च जनस्य दूरीकरणे यत्स्वातन्त्र्यमेव प्रभूणां प्रसिद्धमित्यर्थः । तथा यस्मिन्वपुषि हर्यर्धे तद्विपरीतरीतिः । ततः पश्चाद्विपरीतरीतिः कम्बुः शङ्खः पाञ्चजन्यः । अगुणः अहृदयश्च अफलः निर्मूलश्च यच्छङ्खस्तत्र स्थितस्तत्रापि स्वातन्त्र्यधामनीति हेतुः ॥ ७ ॥

पादाग्रनिर्गतमिति । अत्यद्भुतं महाश्चर्यकारि रुचिरमतिरम्यं निरङ्कुशं स्वतन्त्रं च तत् हारिहरं वपुर्वो मङ्गलं श्रेयो दिशतु । तत्किमित्याह—यद्वपुषि हरार्धे त्रिदशापगाया गङ्गाया वारि जलं शिरोऽधिरोहति । गङ्गाधर इति विभुनाम प्रसिद्धमित्यर्थः । किंभूतं गङ्गाया वारि । अवारितं निर्निरोधम् । पुनः किंभूतम् । हर्यर्धभागे पादाग्रान्निर्गतम् । गङ्गा विष्णुपदी जह्नुतनया इति प्रसिद्धेर्विष्णुपादाग्रनिर्गतत्वात्तस्याः । अत्राद्भुतत्वं वारिण ऊर्ध्वगमनात् । जलस्य हि निम्नाधोगामित्वं प्रसिद्धम् । गङ्गाया ईदृग्वारिधारणाद् वपुषोऽद्भुतत्वम् । तथा रुचिरत्वं सितकरकरधवलस्वर्गङ्गाधारणात् । निरङ्कुशत्वं स्वतन्त्रत्वं च पादाधःस्थस्य वारिणः शिरस्यारोपणादिति भावः ॥ ८ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां मङ्गलाष्टकं नाम चतुर्थं स्तोत्रम् ।

पञ्चमं स्तोत्रम्

अथातः कविकाव्यप्रशंसाख्यं पञ्चमं स्तोत्रं वर्णयन्नाह —

आपन्नतापेति । अत्रोपमानीकृतासु घृणादिषु सर्वत्र शिवैकशरणा इति सम्बन्धः । शिव एवैकः शरणं स्थानं रक्षिता वा यस्याः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । ईदृशी वाणी अर्थात्कवेर्जयति सर्वोत्कृष्टा भवति । धातोरनेकार्थत्वाज्जयतिरत्र धातुः सर्वोत्कृष्टार्थे । शिवैकशरणा वाणी कीदृशी । आपन्नतापहरणप्रवणा आपन्नानां जन्मजरामरणातुराणां ताप आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन त्रिविधः । तस्य हरणं तत्र प्रवणा लग्ना । केव । शिवैकशरणा घृणेव । श्रीशम्भुकृपापि तादृशी । तथा वाणी कीदृशी । त्वङ्गदित्यादि । त्वङ्गन्त उल्लसन्तो ये तरङ्गास्तद्वत्सुभगा रम्या । केव । गगनापगेव । स्वर्गङ्गेव । सापि त्वङ्गन्त उल्लसन्तो ये तरङ्गास्तैः सुभगा रम्या शिवैकशरणा च । पुनः किंभूता वाणी । पीयूषसारशिशिरा पीयूषस्यामृतस्य यः सारो दध्न इव शरः तद्वच्छिशिरातिशीतला । केव । शशभृत्कलेव चन्द्रकलेव । सापि पीयूषसारेण शिशिरा शिवैकशरणा च भवति । पुनः कीदृशी । शिवैकशरणा शिव एवैकं शरणं स्थानं यस्याः सा । केव । ईश्वरी पार्वतीव । ईष्टे ईश्वरी । 'अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च । टित्वात् ङीप् । ईश्वरी ।' इति स्वामी । सापि शिवैकशरणा भवति ॥ १ ॥

ये मूर्धनीति । ते कवयो निपुणाः कविकर्मकर्तारो जयन्ति सर्वोत्कृष्टा भवन्ति । अत्र हेतुमाह—मूर्धनीत्यादि । ये कवयस्तां वाग्देवीम् । अपिशब्दस्त्वार्थः । तामपि सर्वोत्कृष्टामित्यर्थः । हृदि चेतसि वहन्ति धारयन्ति । तां कामित्याह—असौ वाक्पतिर्वाचां परापश्यन्तीमध्यमावैखरीभेदेन चतुर्विधानां पतिः परमात्मा परमशिवो यस्यां वाग्देव्यां निजशक्तिस्वरूपायां वसति अन्तरुल्लसति । परनादस्वरूपेणेत्यर्थः । असौ श्रीशिवभट्टारकः । कः । यस्य शम्भोरुष्णीषतां

शिरोवेष्टनतां स भोगिराजः शेषनागः श्रयति, यो धरित्रीं भूमिं पञ्चाशत्कोटिविस्तारामपि मूर्धनि शिरसि स्रजं मालामिव निरायासमुद्वहति धारयति ॥ २ ॥

धन्या इति। धन्या भाग्यवन्तः। कवय इति शेषः। शुचीनि पदार्थदोषरहितानि निर्मलानि पवित्राणि च सुरभीणि शम्भुभक्तिरसामृतामोदसुगन्धीनि। तथा गुणैर्माधुर्यौजःप्रसादाख्यैस्त्रिभिः। पक्षे गुणैस्तन्तुभिरुम्भितानि ग्रथितानि। तथा विविक्तवर्णानि। 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः। विविक्ताः शुद्धा वर्णा अक्षराणि। पक्षे विविक्तः शुद्धो वर्णः श्वेतपीतादिर्येषां तानि सूक्तिकुसुमानि शोभनोक्तिप्रसूनानि। स्ववदनेति। स्ववदनमेवोपवनं तस्मादुद्गताया उत्पन्नाया वाग्वीरुधः वाग्वाण्येव वीरुल्लता तस्याः प्रागुक्तविशेषणानि सूक्तिकुसुमान्युच्चित्य सूक्तिकुसुमावचयं कृत्वा सतां विदुषां सहृदयानां कर्णपुलिनेषु कर्णतटेष्ववतंसयन्त्यवतंसीकुर्वन्ति। ते धन्या इत्यर्थः ॥ ३ ॥

श्रोत्राणीति। शोभनाश्च ते कवयो महाकवयो धन्याः भाग्यवन्तः सतां विदुषां सहृदयानां श्रोत्राणि सुखयन्ति। श्रोत्रसुखं वितरन्तीत्यर्थः। कैः। वचोभिः सूक्तैः। किंभूतैः। अनर्गलमव्युच्छिन्नं गलन्तो ये मधुबिन्दवः। 'मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधु' इति विश्वः। ते गर्भे यस्य स तादृशश्चासौ सन्दर्भो ग्रन्थस्तत्र यानि सुन्दराणि रम्याणि निर्दोषाणि च पदानि सुतिङन्तानि तैरुपचितानि तादृशैः। एन दृशैर्वचोभिः सतां कियदुपकुर्वन्तीत्यर्थः। तेऽपीत्याह—तेऽपि सन्तोऽपि विद्वांसोऽपि सहृदयास्तेषां कवीनां श्रोत्राणि कर्णान्सुखयन्ति। अकृत्रिमेत्यादि। सहजचमत्कारपूर्वकप्रशंसावचनैस्ते सन्तोऽपि तान्प्रत्युपकुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

ते केचिदिति। अस्खलितो बन्धः क्रमो रचना च येषां तादृशा ये नवा अपूर्वाः प्रबन्धाः साहित्योक्तयस्तेषां सन्धाने बन्धने बन्धुरा रम्या गीर्वाणी येषां ते कवयो जयन्ति सर्वोत्कृष्टा भवन्ति। ते के इत्याह—येषां मधुरा हृद्या भणितिरुपचारवक्रलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थसंनिबद्धोक्तिः कर्णे कृतैव श्रुतमात्रैव चमत्करोति। किंभूता। अचर्वितो न सम्यगास्वादितो रसो यस्याः सा। केव। सुधेव। यथा सुधाया रसनाग्रस्पर्शमात्रेणापि चमत्कारस्तथा महाकविप्रौढोक्त्येत्यर्थः। एतद्वृत्ताभिप्रायेण कविकाव्यप्रशंसाप्रसङ्गे ममापीदं वृत्तद्वयम्—

'एकः श्लोकवरो रसौघमधुरो हृद्यः सतां सत्कवे-
नैवेष्टः कुकवेः प्रलापबहुलः कृत्स्नः प्रबन्धोऽपि वा।
वक्रोक्त्या वलितः सहासरभसः पौराङ्गनाविभ्रमो
हर्षोत्कर्षकरो यथा नहि तथा ग्रामीणवध्वा रतम् ॥'

तथा—

'व्यङ्ग्यप्रोतरसानुकूलमधुरस्पष्टाक्षराणि क्रमा-
त्पीयूषद्रवगर्वहन्ति निपुणं दृब्धानि धौताशयैः।
नृत्यन्तीव पदानि यत्र सुजनश्लाघास्पदान्येव तत्
काव्यं काव्यमतः परं जनमनोहाराय भावैव सा ॥' ॥ ५ ॥

तेऽनन्तेति। अनन्तो यो वाङ्मयमहार्णवः। वाङ्मयं चतुर्दशविद्यास्थानरूपमेव महार्णवः तस्य दृष्टं पारं यैस्ते महाकवयः। द्वित्रा इति शेषः। जयन्ति सर्वोत्कृष्टा भवन्ति। क इव सांयात्रिका इव। समुदितानां यात्रा संयात्रा सा प्रयोजनमस्य सांयात्रिकः

पोतवणिगिव । 'सांयात्रिकः पोतवणिक्' इत्यमरः । सोऽप्यनन्तमहोदधिदृष्टपारो भवति । ते के इत्याह—येषां शोभनाश्च ता उक्तयः सूक्तय एव कोमललवङ्गलवास्तैः सन्तो विद्वांसः सहृदयाः सदःसु सभासु वदनानि स्थाननानि अधिवासयन्ति । अद्भुतरसचर्वणेन सुरभीकुर्वन्ति । लवङ्गजातीफलपूगादिसुरभिवस्तुचर्वणेन मतिजाड्यापगम इत्यायुर्वेदे । तथा चोक्तमनेनैव कविना स्वकृतायां बालबोधिन्यां कातन्त्रवृत्तौ—'इह युक्त्यनुगानवद्यहृद्यक्रमदृब्धाः कृतिनां हरन्तु वाचः । मतिजाड्यलवं लवङ्गजातीफलपूतासवलासमासुजन्त्यः ॥' इति ॥ ६ ॥

जिह्वाग्रेति । सत्कवितुर्महाकवेः कस्यचित् जिह्वाग्रमेव रङ्गभू रङ्गस्थानं तत्र स्वयमेव साक्षादेव विलासः । प्रौढोक्तीनामिति शेषः । स एव लास्यम् । पक्षे विलासश्च लास्यं च । तस्योत्सवस्तत्र व्यसनिनी व्यसनयुक्ता उक्तिदेवी वाग्देवी कृतिनां विपश्चितां सहृदयानाम् । 'धीमान्सूरिः कृती कृष्टिः' इत्यमरः । भ्रूकाण्डं च कुण्डले च किरीटं च शिरोधरा च तासां नृत्तोपदेशे गुरुतां दैशिकतामुपैति । तत्प्रौढोक्तिश्रवणेन विपश्चितः शिरो घूर्णयन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं नलचम्पूनिबन्धे महाकविना त्रिविक्रमभट्टेन – 'किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः । परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥' इति ॥ ७ ॥

आवर्जयन्तीति । जठरार्थमात्रमुदरपूरणार्थमात्रं पात्रीकृता व्यथिता अर्थकणिका धनकणाः वेश्यापक्षे । विटानां पक्षे तु—अर्थकणाश्चाटुकरणोपहासवचनकणिका यैस्ते तादृशा गणिकाविटाद्या वेश्याषिङ्गाद्या मठरान्मूर्खान् । मठर इति रूढिपदम् । आवर्जयन्ति वशीकुर्वन्ति । पुनः पक्षान्तरे । भुजगेति । भुजगभूषणः फणिहारः श्रीशिवस्तस्य या भक्तिर्वाङ्मनःकायैस्तदेकतासक्तिस्तया सिक्ता या सूक्तावली तस्या विरचनायां चतुराः प्रगल्भाः कवीन्द्राः कतिपये महाकवयः प्रौढान्प्रगल्भधिषणानावर्जयन्ति वशीकुर्वन्ति ॥ ८ ॥

धन्य इति । स कोऽपि विरलः सुकविः कविवरो धन्यो भाग्यवान्भवति । कृतिनो विद्वांसः बालशशाङ्कमौलेर्बालेन्दुचूडामणेः श्रीशिवस्य चरित्रमिव चित्रमनेकविधमाश्चर्यमयं च त्रिजगत्पवित्रं त्रिजगति पवित्रं कविकर्म काव्यं यस्य सुकवेर्गायन्ति । किंभूतम् । कृत्तलोकार्ति । कृत्ता छेदिता लोकानां जनानामार्तिर्मनःपीडा येन तत् । पुनः किंभूतम् । कार्तिकतुषारकरानुकारि । कृत्तिकाभिर्युक्ता पौर्णमासी कार्तिकी सा यस्मिन्स कार्तिकः । अत्र पूर्णेत्यर्थात् । कार्तिकपूर्णेन्द्वनुकारीत्यर्थः । चरित्रपक्षेऽपि तथैव ॥ ९ ॥

त्रैलोक्येति । सूते जगत् तमोहरणादिति सूर्यः । स एकः सविता चकास्ति । गगने इति शेषः । कवयति वर्णयति वर्णनीयं स कविता द्वितीयश्चकास्ति । भूतल इति शेषः । द्वावपि विशिनष्टि—स एकः सविता किंभूतः । त्रैलोक्यभूषणमणिः । कविता च तादृगेव त्रैलोक्येऽपि तद्यशःसंचारात् । सविता किंभूतः । गुणिवर्गबन्धुः । कविता च गुणिनां विदुषां बन्धुः । स एकः सविता क इत्याह—यस्येत्यादि । पृथिवीभृतः पर्वता अपि शिरोभिः शिखरैर्यस्य सवितुः पादग्रहं पादानां रश्मीनां ग्रहं ग्रहणं विदधतः कुर्वन्तो महिमातिशयं माहात्म्योत्कर्षं शंसन्ति कथयन्ति । शब्दश्लेषः ॥ १० ॥

यस्येति । वयं तं सुकविं कविवरं नमामः । तं कमित्याह—सूक्तिः शोभना प्रौढा उक्तिर्यस्य मुखे वदने वसति । वसतीति क्रियाया मुखे इति दूरस्थपदेनान्वयेऽपि भक्तिविषये न दोषः । केव । हरस्य मूर्ध्नि शिरसि द्युसिन्धुः स्वर्गङ्गेव । तथा हरस्यैव मूर्ध्नि चन्द्रलेखेव चन्द्र-

कलेव वा वसति । त्रयमपि विशिनष्टि—स्रवन्तीत्यादिना । कविसूक्तिः किंभूता । अमृतं सुधारसं स्रवन्ती । चन्द्रकलापि तादृशी । द्युसिन्धुः किंभूता । अमृतं वारि स्रवन्ती । 'अमृतं मोक्ष-वारिणोः । अयाचिते यज्ञशेषे देवान्नसुधयोरपि' इति मङ्खः । पुनः किंभूता कविसूक्तिः । तुषारं हिमं हारश्च मुक्तामयः तद्वदभिरामा निर्दोषा रुचिर्यस्याः । गङ्गा चन्द्रकलापि तादृश्येव । तथा सूक्तिः कीदृशी । अञ्चिता रम्या वक्रभङ्गिरुपचारवक्रपदभङ्गिर्यस्याः । द्युसिन्धुः किंभूता । अञ्चिता रम्या वक्राः कुटिला भङ्गयस्तरङ्गभङ्गयो यस्याः । चन्द्रकलापि अञ्चिता रम्या एक-कलात्वाद् वक्रा कुटिला भङ्गिः शोभा यस्याः ॥ ११ ॥

यातेति । एवंविधा सतां विपश्चितां कवीनाम् । 'सन्सुधीः पण्डितः कविः' इति मङ्खः । बुद्धिर्वाणी च शशिकलामुकुटप्रसादात् श्रीशिवप्रसादात् क्वचिदपि कुत्रापि प्रतिघातं नैति । क्वापि न प्रतिहन्यत इत्यर्थः । द्वे अपि विशिनष्टि—बुद्धिः किंभूता । गुणैर्नैपुण्यगाम्भीर्य-कोमलत्वादिभिरुपचयमाधिक्यं याता । वाणी च किंभूता । गुणैर्माधुर्यौजःप्रसादाख्यैस्त्रिभि-रुपचयं परिपूर्णत्वं याता । तथा प्रकृत्या विमला निर्मला बुद्धिर्वाणी च निर्दोषा । तथा बुद्धिर्वाणी च किंभूता । प्रथमामाद्यां परिणतिं परिपाकं प्रौढत्वं वहन्ती । सांख्यमते बुद्धिर्गुणै-स्त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिरुपचयं परिपूर्णतां प्राप्ता भवति । तथा विमला प्रकृत्या सत्त्वरजस्तमसा-माद्यावस्था प्रकृतिः । तस्या नैसर्गिकीं स्वाभाविकीं प्रथमां परिणतिं परिणामं वहन्ती । प्रकृते-राद्यः परिणामो बुद्धितत्त्वमिति सांख्याः । तथा च—'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माच्च गणः षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥' परिणती रूपान्तरम् ॥ १२ ॥

चन्द्रावचूडेति । चन्द्रावचूडस्य चन्द्रमौलेः श्रीशिवस्य चरणस्मरणेन यः प्रसादस्तस्य सन्दर्भो गुम्फः प्रसादरूपो वा सन्दर्भो ग्रन्थस्तेन निर्भरा पूर्णा गभीरा गीर्येषां ते । तादृशानां कवीनां सूक्तिः शोभना उक्तिः मुखमेव पङ्कजं पद्मं तदेव रङ्गो नाट्यस्थलं तत्र नृत्यन्ती या वाग्देवता तस्याः कनकनूपुरयोः स्वर्णमञ्जीरयोर्नादलीलां नादोपमां वहतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

काव्यमिति । कृतिनां धन्यानां कविपुङ्गवानां महाकवीनां निजं काव्यम् । शिवैकशरण-मिति शेषः । विभाव्य विचार्य पश्चिमे यामिनीयामादौ तद्रसास्वादचमत्कारादर्धनिमीलितानि पिहितानि नैसर्गिकं स्वाभाविकं चापलं जहति त्यजन्ति । निःस्पन्दानि भवन्तीत्यर्थः । तेषां कविपुङ्गवानां भ्रूवल्ल्यो भ्रूलताः । तुः पक्षान्तरे । तच्चापलं गृह्णन्ति । किं कृत्वा । मसृणतां मन्थरतां विहाय त्यक्त्वा ॥ १४ ॥

नीहारेति । सत्कवीनां कविवराणां पूर्वं प्राचीनानेकजन्मसुकृतस्य पुण्यस्य नीहारहार-धवलस्य हिमहारशुभ्रस्यापूर्वोऽद्भुतः स कोऽपि पाकः परीपाको जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । यः सम्प्रतीदानीं वर्तमानजन्मनि अमलासु निर्मलासु निर्दोषासु बालचन्द्रावचूलस्य चन्द्रकला-वतंसस्य श्रीशिवस्य नुतिरूपा याः सूक्तयस्तासु प्रतिफलति प्रतिबिम्बते । प्रकटीभवतीत्यर्थः । प्राचीनानेकजन्मोपार्जितसुकृतपरिपाकेन परमेश्वरस्तुतिसूक्तिषु सत्कविबुद्धिः प्रसरतीत्यर्थः ॥१५॥

सूक्ष्मार्थेति । कविकुञ्जराणां श्रेष्ठाः कवयः कविकुञ्जरास्तेषाम् । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्ष-भकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थवाचकाः ॥' इत्यमरः । तत्सूक्तामृतं जयति सर्वोत्कृष्टं भवति । तत्किमित्याह—सूक्ष्मार्थेति । सुमतयो विमलबुद्धयः सहृदयाः सूक्ष्मार्थेत्यादिविशिष्टम् ।

श्रीशिवस्तुतिप्रबन्धे इति शेषः। यः सूक्ष्मो लक्ष्यो व्यङ्ग्यश्चार्थस्तस्य दर्शनं विचारणं तस्य विमर्शवशेन प्रकर्षेण रूढमुत्पन्नं यद्भ्रूकाण्डताण्डवं तेन निवेदितश्चिद्विकासश्चैतन्योल्लासो यस्य तत्। तादृशं मुखं स्ववदनं यत्काव्यामृतमास्वाद्योद्वहन्ति धारयन्ति। प्रौढोत्ति विचारणध्यानासक्त-निःस्पन्दनकरणग्रामस्य मुखस्य भ्रूताण्डवेनैव चेतनावत्त्वज्ञानमनुमेयमिति भावः ॥ १६ ॥

शब्दार्थमिति। वयं तां कवीन्द्रगिरं महाकविवाणीं स्तुमः। तां कामित्याह—यां गिरं वाणीं श्रवणैः पिबन्तश्चित्रस्थिता इव चित्रलिखिता इव भवन्ति। किंभूताः। संरुद्धेति। संरुद्धः सर्वकरणानां सर्वेन्द्रियाणां ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च प्रसरः संचारो येषां तादृशाः। कां के इव। मृगा अत्र हरिणा मूर्छनामारोहावरोहाभ्यां गीतसारणा मूर्छना तां श्रवणैः कर्णैः पिबन्तो यथा निःस्पन्दसर्वकरणग्रामा भवन्ति तथेत्यर्थः। तथा चोक्तम्—'हरति हरिणचित्तं का कथा चेतनानाम्' इत्यादि। ते के इत्याह—ये मूढाः शब्दार्थमात्रमपि शब्दस्य घटपटादेरर्थस्त-न्मात्रमपि न विदन्ति न जानन्ति। परमार्थस्य तु कैव कथेत्यर्थः ॥ १७ ॥

लभ्य इति। कविभिः स सुजनः सहृदयजनः कुत्र लभ्यः। चेल्लभ्यस्तर्हि भाग्य-वत्तेत्यर्थः। स सुजनः क इत्याह—स्वकृतीः स्वकाव्यानि अग्रे प्रदर्श्य यस्य सुजनस्य भ्रूकन्दलीयुगलं भ्रूलतायुग्मं नेत्रेत्यादि विशिष्टमाकलयन्ति पश्यन्ति। नेत्रे एवोत्पले तयोरुपरि परिस्फुरत् यदुत्तरङ्गं चपलं भृङ्गावलिद्वितयं भृङ्गपङ्क्तिद्वयं तस्य विभ्रमं विलासं बिभर्तीति तादृग्भ्रूलतायुग्मम्। स्वकृतीः प्रदर्श्य हर्षोत्तरलितभ्रूलतः सहृदयजनः कविवरैर्दुर्लभ इत्यर्थः ॥ १८ ॥

स्फारेणेति। उक्तिदेवी वाग्देवी मधुद्रवं रसायनरसद्रवं यदि प्रस्यन्दते प्रकर्षेण स्रवति तदा स्फारेणोद्भटेन सौरभभरेण सौगन्ध्यातिशयेन एणनाभेः कस्तूरिकायाः किं भवति। न किंचित्तेन कार्यमित्यर्थः। तदा तद्घानसारं घनसारस्य कर्पूरस्येदं घानसारमपि सारमसारमेव भवति। 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबे वरे त्रिषु' इत्यमरः। वरे उत्कृष्टे। तदा सुमनसां पुष्पाणा-मियं सौमनसी स्रक् मालापि सौमनस्यं प्रमोदं न पुष्यति न वर्धयति ॥ १९ ॥

संसारेति। संसार एव मारवपथो मरुमार्गः। मरुर्निर्जलो देशः। 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। तत्र प्रथमानो वर्धमानो यः खेदस्तस्य विच्छेदे कोविदं निपुणं इदमित्यध्यक्षं श्रीशिवभक्तिरसामृतसिक्तमित्यर्थः। जीयात् जयतु। तत्कुत इत्याह—यद्यस्मात्कारणादमुना निपुणकविकर्मणा यमुनासनाथं प्रसिद्धमपि यामुनीयमिहानत्या (यमुनया महानद्या ?) सङ्गतं वैबुधसैन्धवं विबुधसिन्धोरिदं देवनद्याः पाथो वारि विस्मारितम्। जनस्येति शेषः। श्रीशिवभक्तिरसामृतसिक्तनिपुणकविकर्मास्वादेनैव संसारमरुभ्रमणोत्थतापखेदविच्छेदः। किं गङ्गायमुनासङ्गमसेवनेनेति भावः ॥ २० ॥

गाम्भीर्येति। जनेन स कविर्विना सुकृतैः पुण्यैः क्व लभ्यः। स क इत्याह—गाम्भीर्यशालिनि प्राकृतैरलब्धाभिप्राये शुचावनघे अमृतौघवत्सुधाप्रवाहवच्छीते अत एव मदनान्तकेन श्रीशम्भुना सदनतां निजालयतां नीते यस्य मानसे चित्ते एकपिङ्गलगिरेर्वैश्रवणाद्रेः कैलासस्येव मानसे मानसाख्ये सरोवरे गाम्भीर्यशालिनि निम्नताशोभिनि शुचौ निर्मले अमृतौघेन वारिप्रवाहेण शीते। मनःपक्षे—अर्था वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यास्त्रयः। मानससरोवरपक्षे—अर्थाः पदार्था नानाविधा अन्तः स्फुरन्ति विलसन्ति प्रतिबिम्बत्वेन लगन्ति च ॥ २१ ॥

यस्येति। असौ द्विजेन्द्रो जन्मना वैदिकसंस्कारेण च द्वाभ्यां जातो द्विजो जयति सर्वोत्कृष्टो भवति। असौ क इत्याह—यस्येत्यादि। यस्य द्विजेन्द्रस्य महाकवेर्वाचु सिन्धुलहरी-वद्गङ्गातरङ्गवच्छुचयो निर्मला निर्दोषाः, तथा कस्य न अवलोकयतो विचारयतो दृष्टेर्ज्ञानस्य प्रसादं प्रसन्नतामर्पयन्त्यो ददत्यः, तथा सुधारसमुचोऽमृतरसमुचो गावो वाचो दिक्षु स्फुरन्ति स द्विजेन्द्रः कवीन्द्रो जयतीत्यर्थः। अथ च स द्विजानां नक्षत्राणामिन्द्रो द्विजेन्द्रश्चन्द्रो जयति। सोऽपि विश्वैकभूषणीभूतः। स क इत्याह—यस्य चन्द्रमसो गङ्गातरङ्गवन्निर्मलाः कस्य न जनस्य दृष्टीनां नेत्राणां प्रसादममृतमयत्वादर्पयन्त्यो ददत्यः, तथा सुधारसमुचोऽमृतमुचो गावो रश्मयो दिक्षु प्रसरन्ति॥ २२॥

संयोगमिति। तं परिशुद्धवृत्तं परिशुद्धं वृत्तं सच्चरित्रं यस्य तादृशम्। सुश्लोकं सुशोभनः श्लोको यशो यस्य तम्। 'श्लोको यशसि पद्ये च' इत्यमरः। एवंविधं शङ्करस्तुतिपरं श्रीशिवस्तुतिसक्तं जनमाप्य कस्य न चेतो मुदं हर्षमेति। अपि तु सर्वस्य। तं कमित्याह—यस्य शम्भुभक्तस्य संयोगं समागममेत्य पादान्तगः पादयोश्चरणयोरन्तं समीपं गच्छति तादृशो लघुरपि प्राकृतोऽपि जनो गुरुतां गौरवमेति प्राप्नोति। यस्य कथंभूतस्य। परमत्यर्थमर्थेन धनेन परिष्कृतो भूषितस्तस्य। आढ्यस्येत्यर्थः। अथ च तं शङ्करस्तुतिपरं शम्भुस्तोत्रलीनं सुशोभनं श्लोकं चतुष्पादीलक्षितं परिशुद्धवृत्तं परिशुद्धं वृत्तं छन्दो वसन्ततिलकशार्दूलविक्रीडितादि यस्य तमाप्य कस्य न चेतो मुदमेति। 'वृत्तं छन्दश्चरित्रयोः' इति विश्वः। तं सुश्लोकं कम्। अर्थेन वाच्येन परिष्कृतस्य शोभितस्य यस्य श्लोकस्य परमग्रन्थं संयोगमेत्य लघुरपि वर्णो 'ह्रस्वं लघु' इति वैयाकरणपरिभाषया प्रसिद्धो गुरुतां गुर्वक्षरभावं 'दीर्घो गुरुः' इति परिभाषितमेति प्राप्नोति। तथा पादान्तगोऽपि श्लोकचरणान्तस्थितो लघुवर्णो गुरुतां गुर्वक्षरतामेति प्राप्नोति। 'संयोगे गुरुः' पादान्ते लघुरपि गुरुतां भजत इति छन्दःशास्त्रे परिभाषितम्॥ २३॥

इह हीति। हि निश्चये। माया अविद्या श्रीशिवतत्त्वाज्जगद्भेदप्रथा तया यो मोहोऽज्ञानम्। सैव मोहो वा। तस्य प्ररोह उद्भवस्तेन तिरोहितं समावृतं यत्त्रिजगत्तस्यागदंकार-श्चिकित्सकः। तन्निवारक इत्यर्थः। 'रोगहार्यगदंकारो भिषग्वैद्यश्चिकित्सके।' इत्यमरः। एवंभूतः सारस्वतः सरस्वत्या वाग्देव्याः सम्बन्धी महिमा निपुणकविकर्मोल्लासरूपः सतां विदुषां प्रथते विस्तारमेति। स क इत्याह—यो वाग्देवीमहिमा प्रभवति समर्थो भवति। कस्मै। जरा विस्रसा च मृत्युश्च व्याधिश्च जरामृत्युरूपो व्याधिर्वा तस्य यः प्रबन्धस्तस्य निबन्धनेनानु-सन्धानेन जनिता या व्यापद्विशेषेणापत्तस्यास्तापेन यः क्लमः क्लेशस्तस्यापगमायात्यन्तदुःख-निवृत्त्यै॥ २४॥

चमत्कारेति। विमृशतां विचारयतां कमप्यनिर्वाच्यं कमनीयं चमत्कारोत्कर्षं दिशन्ती सा काचिदनिर्वाच्या कविवाचां कविवरवचसां परिणतिः प्रौढत्वमया जयति सर्वोत्कृष्टा आस्ते। सा केत्याह—यया कविप्रौढोक्त्या श्रीशिवभक्तिरसामृतसिक्तया आसृष्टे स्पृष्टे चेतसि इदमेवा-मृतमिति इदं निःश्रेयसं कैवल्यमिदमेवेति प्रियं ब्रह्मादिकारणातीतत्वात्प्रेमास्पदमिदमेव स्थान-मिति तेजो वेति इदमुच्चैः पदं द्वादशान्तपदस्थितत्वात्तत्पदस्य इदमेवोच्चैः पदमिति च मतयः समुद्यन्ति उत्पद्यन्ते। शिवैकताध्यायिनां भजमानानामित्यर्थः॥ २५॥

मध्विति। एवंभूतो वाग्देव्याः सरस्वत्याः प्रसादो विजयते सर्वोत्कृष्टो भवति।

'विपराभ्यां जेः' इति नित्यमात्मनेपदम् । किंभूतः । मधु रसायनरसं स्यन्दते तादृशः, तथा मन्दीकृता विपदेवोपाधिर्विपदा वा उप समीपे आधिर्मनःपीडा येन सः । तथा भवः पुनरावृत्तिरूपः संसार एव मरुर्जलरहितो गहनो देशस्तत्र भ्रमेण यः क्लेशावेशस्तस्य प्रशमे कमनीयः काङ्क्षणीयः । तथा अखण्डः पूर्णो यः श्रीखण्डस्य मलयजस्य द्रवो रसः स च नवसुधासारश्च तद्वत्सरसः । पुनः किंभूतः । प्रवरकविकाव्यामृतवपुः महाकविकाव्यामृतमेव वपुर्यस्य सः । श्रीसरस्वत्या मूर्तं शरीरं महाकविकाव्यमेवावगन्तव्यमित्यर्थः ॥ २६ ॥

घनेति । अनवद्या निर्दोषाः पददोषार्थदोषरहिताः सुधार्द्रा अमृतासिक्ताः कविगिरो महाकविवाचो धन्यानां भाग्यवतां शिवभक्तिरसामृतसिक्तचेतसां वदनं मुखमेवंविधं विदधते कुर्वन्ति । कीदृगित्याह—घनो विगलितवेद्यान्तरो य आनन्दः परमानन्दस्तेन यः स्पन्दः कम्पः । 'स्यन्द' इति पाठे परमानन्दप्रवाहस्तेनोद्गत उत्पन्नो यो बाष्पस्तेनार्द्रे नयने यस्य तत् । परमानन्दाश्रुपूरार्द्रलोचनमित्यर्थः । पुनः किंभूतम् । सलीलं सखेलं यद्भ्रूवल्लीवलनं भ्रूलताचलनं तेन विवलद्विशेषेण वलद्भालमेव ललाटमेव पुलिनं यत्र तत् । सलीलभ्रूलतापरिवलनोर्ध्वपरिवृत्तललाटस्थलमित्यर्थः । पुनः किंभूतम् । उदञ्चदुल्लसन्यो रोमाञ्चस्तेन स्तवकितौ सस्तबकौ कृतौ कपोलौ गण्डौ यस्य तत् ॥ २७ ॥

धन्येति । श्यामाकामुकखण्डः खण्डेन्दुः स एव मण्डनं भूषणं यस्य स तस्य श्रीशिवभट्टारकस्य कथासन्दर्भो गर्भे यासां ताः गिरः कविवरवाचो धन्यानां भाग्यवतां हृदये अमृतद्रववदाचरन्ति । क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति, लिङ्गत्वं च प्रतिपद्यते । 'सर्वप्रातिपदिकानां क्विप् वा वक्तव्यः' । तथा तेषां कर्णे वलंश्चासौ मल्लिकालङ्कारस्तबको जातीस्तबकालङ्कारस्तद्वदाचरन्ति । तथा कण्ठपुलिने कण्ठतटे मुक्ताकलापवन्मुक्ताहारवदाचरन्ति । किंभूता गिरः । शैलेन मन्दरेणान्दोलितो मथितो यो दुग्धसिन्धुः क्षीरार्णवस्तस्य लहरीभङ्गवदभिरामः उद्गमो यासां ताः । एतद्वृत्तार्थच्छायानुसारेण ममापीदं वृत्तम्—

'या हीरन्तकि कैरवन्तकि सतां कण्ठेषु हारन्तकि
प्रौढेन्दोः किरणन्तकि प्रतिदिशं कैलासशैलन्तकि ।
गीर्वाणाधिपकुञ्जरन्तकि भुवि त्वत्किङ्करस्येह ताः
कस्यापीश जयन्तकि त्रिजगति ख्याताः परं कीर्तयः ॥' ॥ २८ ॥

धन्यानामिति । धन्यानां शिवभक्तिरसामृतसिक्तचेतसां कविवराणां वदनेषु भणितिच्छलेन प्रौढोक्तिच्छलेन तेषामेव हृत्कर्णिकाधाम्नः हृदेव कर्णिका तस्मिन्धाम स्थानं यस्य तादृशस्य चण्डीपतेः श्रीशिवस्य तेषामेव सूक्तिसुधावबोधेन प्रौढोक्त्यमृताकर्णनेन विधुतापीडस्य विधुतमौलेर्जूटाहिकिरीटरत्नरुचयः कपर्दफणिमुकुटरत्नद्युतयः किमुद्यन्त्युद्गच्छन्ति । किं वा श्रीशिवस्यैव स्रग्रजःसूचयः स्रजां मालानां रजांसि तान्येव सूचय उद्गच्छन्ति । किं वा शम्भोर्मौलीन्दुमरीचयः किं वा अमरस्रोतस्वतीवीचयो देवनदीवीचयः ॥ २९ ॥

सान्द्रेति । सुधायाः सोदरे सहोदरे मधुरे शम्भोः स्तुतिव्यतिकरे स्तुतीनां व्यतिकरस्तस्मिन् यो ह्लादः परमानन्दः एष धृतामृतकरे धृता अमृतमयाः करा रश्मयो येन तादृशे, तथा सान्द्रानन्दकरे सान्द्रो य आनन्दस्तं करोतीति तादृशे राकाकरे पूर्णचन्द्रेऽपि परमानन्दो नास्ति । तथा प्रौढप्रसरे प्रौढः प्रसरो निर्गमो यस्य तादृशे निसर्गशिशिरे स्वभावतः शिशिरेऽपि स्वर्गापगा-

निर्झरे स्वर्गङ्गाप्रवाहे एष ह्लादो नास्ति। तथा गाढः प्रेमभरः स्नेहातिशयो यस्य तस्मिन् स्मरज्वरहरे कामरोगापहे उद्दामरामाधरे लौहित्यादिगुणोद्भटे कान्ताधरोष्ठेऽपि स परमानन्दो नास्ति ॥ ३० ॥

ओजस्वीति। सत्कविर्महाकविः विशेषतः शिवभक्तिरसामृतसिक्तचेताः कस्य न शस्यः स्तुत्यः। किंभूतः। ओजस्वी महातेजस्वी तथा मधुरो रम्यः प्रसादेन श्रीशिवानुग्रहेण विशदो निर्मलः। तथा संस्कारेणोपनयनादिसंस्कारेण शुद्धः तथा अभिधा अभिधानं नामधेयं भक्तिः शम्भुभक्तिः व्यक्तिः प्रसिद्धिः ताभिर्विशिष्टा रीतिः प्रथा यस्य सः। तथा उचितैर्निजविद्योपार्जितैरर्थैर्धनैर्धृता अलङ्कृतिर्भूषा येन। तथा वृत्तस्थः वृत्ते आचारे स्थितः। परिपाकवान् गाम्भीर्यगुणवान्। न विरसः अविरसः वैरस्यरहितः। सद्वृत्तिः सती वृत्तिर्जीविका यस्य तथा अप्राकृतः सत्कविः। को यथा क इव। यथा शब्द इवार्थे। तस्यैव सत्कवेः सूक्तिक्रमः काव्यपरिपाटीरूपः। यथा सोऽपि ओजस्वी ओजोगुणवान्। तथा मधुरो माधुर्याख्यगुणवान्। प्रसादविशदः प्रसादाख्यशब्दगुणेन विशदो निर्मलः। संस्कारेण लोकवृत्तशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणोत्पन्नव्युत्पत्या शुद्धः। तथा अभिधा मुख्यः शब्दव्यापारः भक्तिर्भाक्तो गौणोपचारः व्यक्तिर्व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिः ताभिर्विशिष्टा रीतिर्वैदर्भी यस्य उचितैरर्थैर्वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यैस्त्रिभिर्धृता अलङ्काराः पुनरुक्तवदाभासादयः शब्दालङ्काराः उपमादयश्चार्थालङ्कारा येन सः। वृत्तेषु वसन्ततिलकशार्दूलविक्रीडितादिवृत्तेषु तिष्ठति तादृशः। परिपाकवानतिप्रौढः। तथा अविरसो वर्णनीयोचितरसयुक्तः सरसः। तथा सत्यः शोभना वृत्तयः कैशिक्याद्या यस्य सः। तथा अप्राकृतः न प्राकृतं प्राकृतभाषारूपं यत्र सः ॥ ३१ ॥

प्राप्तेति। कैरपि कृतिभिर्जनैः प्राक्पुण्यैः प्राचीनानेकजन्मोपार्जितपुण्यवशाद् वागीश्वरी भगवती कल्पलतेव स्वर्द्रुमलतेव सकलेष्टदात्री चेद्यदि प्राप्ता तर्हि सा वाग्देवी स्वस्य परस्य चोपकारकरणे विगलितवेद्यान्तरपरमानन्दरूपोपकारकरणे प्रौढा पुनर्दुर्लभास्ति। सैव पुनरज्ञैः कुकविभिस्तज्ज्ञास्तत्त्वज्ञा ये जनास्तेषामुपदेशे कृतावज्ञैः। तथा दुराशया वित्तलोभेन हतास्तैर्दुर्मदकर्दमे दुर्मदो दुर्विदग्धः शठः श्रीशिवभक्तिपराङ्मुखश्च स एव कर्दमः पङ्कस्तत्रास्ता क्षिप्ता। तत्प्रशंसयेत्यर्थः। सशापं सह शापेन वर्तते यत्तादृशं पापं विना किं फलति। तदेव प्रत्युत फलतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

विस्रब्धमिति। विस्रब्धं सविश्वासं एष मां सम्यक् संरक्ष्य स्थान एव गमयतीति विलसन्ती निजोल्लासान्कुर्वती। तथा उपस्कृतः शब्दार्थोभयालङ्कारयुक्तः पदानां सुप्तिङन्तानां न्यासो यस्याः। तथा विलासैर्नवनवनिपुणकविकर्मभिरलसा संभृता। यद्वा न विलासेष्वलसा मन्दा अविलासालसा। विलासवतीत्यर्थः। तथा अभिजाताकृतिः अभिजाता सुकुमारा कुलोद्भवा चाकृतिर्यस्याः ईदृश्यपि गीर्वाणी अकस्मात् साहङ्कारं समदमकारणारिभिर्निष्कारणवैरिभिः कुकविभिरभिध्याता दुष्टत्वेन चिन्तिता तैरेव पुनराशाग्रहग्रस्तैर्वित्ताशालोभग्रस्तैर्दाशैः किरातैरिव शसयोरैक्याद्दासैश्चेटैरिव वा दृसनृपान्धकूपकुहरे दृप्ताः समदा अपरीक्षका ये नृपा अत एव अन्धकूपास्तेषां कुहरं विवरं तस्मिन् क्षिप्ता अत एव सूक्तिनिभेन प्रौढोक्तिव्याजेन तारमत्युच्चैः करुणं दीनं च रोदिति। अथ च गौर्धेनुर्विस्रब्धं साश्वासं एष मां रक्षतीति विलसन्ती उपस्कृतः सशोभः पदन्यासश्चरणन्यासो यस्याः अत एव विलासेनालसा अभिजाताकृतिः ईदृशी कामधेनुः कुलोद्भवा अकस्मादकारणवैरिभिर्वनचण्डालैरन्धकूपविवरे क्षिप्ता तारमत्युच्चैः करुणं दीनं च रोदितीति ॥ ३३ ॥

उष्णमिति। वाग्देवी वाग्देवता हताशैर्धनलवलोभग्रस्ताशैः कुकविभिर्वृथा व्यर्थम्

आविष्कृतेति । कदर्यभावेनाविष्कृतः कोपो यैस्ते तादृशा ये निष्कृपा निर्दया नृपाः कुनृपास्तेषां यत्स्तोत्रं प्रशंसारूपं तत्र या त्रपा मन्दाक्षं तत्पात्रतां नीता गुरुणा महता हृदयज्वरेणाक्रान्ता सती उष्णं निःश्वसिति निःश्वासान्क्षिपति । तथा क्षितिं भूमिं विलिखति धरण्यां रेखाः करोति । तथा ईशितुर्वाक्पतेः सूक्तिभिः शोभनोक्तिभिः प्रेयसोऽतिप्रियस्यापि वस्तुनः प्रीतिं न प्रस्तौति नारभते । तथा करतले कपोलं धत्ते । तस्मादेतदवधार्यते श्रीशम्भुचरणस्तुतिसूक्तिभिर्निजवाणीसाफल्यं कविभिर्विधेयमिति ॥ ३४ ॥

अस्थान इति । हतधियां धनलोभेन प्रमादेन वा ग्रस्तधिषणानां कुकवीनां वाग्देवता वाणी अस्थाने कुत्सितस्थाने दुर्विदग्धे शठे विशेषतः श्रीशिवशासनपराङ्मुखे लयं प्रलयं गमिता । हतधीभिरेवेत्यर्थः । ईदृशी वाणी धिक्काराय धिगितिकरणं निन्दारूपं तस्मै तथा महते पराभवाय । प्रत्युत तादृशो दुर्विदग्धाभिसंज्ञितो गुरोरपि पराभवं विदध्यात् । तथा तापाय पश्चात्तापाय । पापाय दुष्कृतायापि । तादृशस्य कुमार्गेऽपि लीनचित्तत्वात्प्रत्युतोपदेशकस्य दुष्कृतस्पर्शापत्तेः । स्थाने तु । तु इति पक्षान्तरे । सद्भिः पण्डितैः स्थाने गुरोराज्ञाकारिणि कृतज्ञे सरले सहृदये सर्वथा शिवशासनैकनिरते व्ययिता सती सतां विदुषां गुरूणां प्रख्यातये तन्नामप्रख्यापनाय, भूतये सम्पत्त्यै, चेतोनिर्वृतये मनःसौख्याय, परोपकृतये शिष्यप्रशिष्यमुखेन परोपकाराय तथा प्रान्ते पश्चात्समये शिवस्यात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपस्य निःश्रेयसस्य प्राप्तये भवति ॥ ३५ ॥

एतत्स्तोत्रसमाप्तौ ग्रन्थकृत्प्रथमं प्राचीनमहाकवीनां निपुणकविकर्मावधारणेन निजौचित्यम् 'एताः पूर्व–' इत्यादि श्लोकार्धेन वर्णयित्वापि तान्सर्वथा शिवभक्तिपराङ्मुखांस्तृणवदवधूयानेकजन्मपरम्परोपार्जितसुकृतावाप्तश्रीशिवभक्तिरसायनपानव्यसनिनां कृतिनां निजकाव्यस्य स्वयमतिस्पृहणीयतया निजवाण्याः साफल्यं प्रतिजानीते—

एता इति । एता मदीया वाचो धीमतां सुमनसां हृदयं मनः कथं हरन्ति । तेषां हृद्याः कथं भवन्तीत्यर्थः । अत्र हेतुमाह— हृदयं किंभूतम् । पूर्वकवीत्यादि । पूर्वकविभिः कालिदासप्रभृतिभिः प्रणीता ये विविधा ग्रन्थाः सन्दर्भास्त एवामृतं तस्यास्वादस्तत्र या क्रीडा तस्यां दुर्ललितं तदास्वादे नित्याभ्यस्तम् । 'नित्याभ्यस्तं दुर्ललितम्' इति कोषः । तर्हि एतज्ज्ञात्वापि तव कोऽत्र सन्दर्भः कर्तव्य इति व्यसनातिशय इत्याह— केषांचिदिति । केषांचित्कतिपयानां विरलानां मादृशां भवक्लेशस्पृशां संसृतिजक्लेशस्पृशां शिवस्तुतिपदव्याहारहेवाकिनां श्रीशिवस्तुत्यर्थपदानि यानि सुप्तिङन्तानि तेषां व्याहारः सम्यक्कथनं तत्र हेवाकोऽभिलाषो विद्यते येषां तादृशां पुनः स्वयमेवेत्यर्थात् । स्वयमेव स्पृहणीयतां भुवि भूमौ यास्यन्ति । एतद्वृत्तार्थाभिप्रायेण ममापीदं वृत्तम्—

'शिवमुद्दिश्य हि मन्ये धन्यो हालाककर्तापि ।
न पुनस्तदनुद्देशी संस्कृतबहुशास्त्रकर्तापि ॥' ॥ ३६ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां कविकाव्यप्रशंसाख्यं पञ्चमं स्तोत्रम् ।

षष्ठं स्तोत्रम्

अथातो हराष्टकं षष्ठं स्तोत्रमारभमाण आह—

जयतीति । एवंभूतो हरः श्रीशिवो जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । किंभूतः । खे स्वर्गे चरन्तीति खेचरा देवा अलक्ष्यभासः । 'खानि स्वर्गेन्द्रियाकाशाः' इति मङ्खः । तेषां ये प्रवरा ब्रह्मविष्णुशक्रादयस्तेषां मौलिषु मुकुटेषु यानि रत्नानि पद्मरागमणयस्तेषां प्रभाप्ररोहा दीप्त्युत्थरश्म्यग्राणि तैः परिपीवरीकृता मांसलीकृता नखांशवो नखकिरणाः स्वभावतोऽतिलोहिता ययोस्तादृशे पादाम्बुजे पादकमले यस्य सः । पुनः किंभूतः । विशाला अतिविस्तीर्णा । सूर्यचन्द्रवह्नीनामपि तत्रासंकुचितस्थत्वात् । तादृशी चासौ नयनत्रयी नेत्रत्रयी तस्यां रचितं धाम स्थानं यया सा तादृशी चासौ धामत्रयी धाम्नां सूर्यचन्द्रवह्नीनां त्रयी तया तिरस्कृतं जगत्त्रय्यां परिणतं प्रौढमन्धकारं येन सः ॥ १ ॥

[**जयत्यमरेति ।**] हरो जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । किंभूतः । अचिन्त्येति । अचिन्त्यानि चिन्तितुमशक्यानि यानि चरितानि तैरुज्ज्वलो ज्वलन्देदीप्यमानो योऽनन्यसाधारणो न पराधीनो यस्तस्य प्रभावस्य महिमा महत्त्वं तेनाहितः कृतस्त्रिभुवन उपकारो येन सः । अत्राचिन्त्यचरितत्वे हेतुमाह— अमरदीर्घिकेत्यादि । अमराणां देवानां दीर्घिका पुष्करिणी स्वर्गङ्गा तस्या यत्सलिलं तस्य सेकः सेचनं तेन संवर्धितः प्रागल्भ्यं नीतो यो नयनानलो नेत्राग्निस्तेन ग्लपिता शासिता तीव्रा कठिना तापव्यथा भवमरुभ्रमणजतापस्य आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपस्य त्रिविधस्य तापस्य व्यथा येन सः । अत्र सलिलसेकादग्नेः प्रशम एव भवति, तत्रापि तेन नयनाग्नेर्यत्प्राबल्येन ज्वलनमित्येकमद्भुतम् । तत्रापि तेनैव नयनाग्निना तापव्यथाशम इत्यद्भुतं द्वितीयम् । अग्निना तु तापः प्रथत एवेति भावः ॥ २ ॥

[**जयत्यचलेति ।**] हरः श्रीशिवो जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । किंभूतः । अचलेत्यादि । अचलकन्यकायाः पार्वत्या या ललिता रम्या दोर्लता भुजलता तयालिङ्गितं स्फुरद्गरलकालिकाकान्तं कलितकालकूटाख्यविषविशेषकालिमकान्तं कण्ठस्थलं यस्य स तादृशः । पुनः किंभूतः । तडिद्वलयेन विद्युद्वलयेन लङ्घितः क्रान्तो य उल्लसन्नमोघः सनीरो मेघः । अतिश्यामल इत्यर्थः । तस्य भ्रमेण प्रमत्तो यो गुहस्य कार्तिकेयस्य बर्हिणो मयूरस्तेन उपहृतं स्वीकृतं यन्नृत्तं तेन तुष्टः । अत्र नीलकण्ठस्य सजलनीरदउपमानम् । अचलकन्यकादोर्लतायास्तडिद्वलयमुपमानम् । भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ३ ॥

[**जयत्यविरलेति ।**] हरः श्रीशम्भुर्जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । किंभूतः । अविरलमुच्छलदुद्गच्छद्गरलं विषं स एव वह्निस्तस्य या हेतिच्छटा शिखापङ्क्तिस्तया सटालाः सटाभिरिव युक्ता ये फणास्तैर्भीषणो यः क्षपणपाशो यमपाशः । 'क्षपणौ यमनिर्धनौ' इति कोषः । तस्मान्मोक्षः । शरणागतानामित्यर्थः । तस्मिन्क्षमः समर्थः । पुनः किंभूतः । उदारो यः करुणारसः कृपामृतरसस्तस्य यः प्रवाहस्तस्य सारेण सिक्त आशयो यस्य सः । पुनः शम्भुः किंभूतः । प्रपन्नाः शरणार्थमागतास्तेषां यो विपदर्णव आपत्समुद्रस्तस्योत्तरणे पारनिर्वाहे कर्णधारो नाविकः । 'कर्णधारस्तु नाविकः' इत्यमरः ॥ ४ ॥

इदानीं परमेश्वरस्यापदानं वर्णयन्नाह—

जयत्युदधीति । हरः श्रीशम्भुर्जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । किंभूतः । उदधेः क्षीरोदधे-

निःसरन्यो गरः कालकूटाख्यो विषभेदस्तस्य यो निगारो निगलनं तेन यल्लब्धमभयं त्रिजगद्दाहकतादृशविषभयाभावस्तेन यः प्रमोदभरो हर्षभरस्तेन निर्भरं पूर्णं यत्त्रिदशदैत्यवृन्दं तेन स्तुतः। अन्यदप्यपदानमाह—रसातलेत्यादि। रसातलतलात्पातालतलादनादि उद्गतं यदलङ्घ्यमलङ्घनीयं लिङ्गमनलस्कन्धरूपं तस्योल्लसंश्चासौ महामहिमा तेन मोहितौ द्रुहिणवासुदेवौ ब्रह्मविष्णू येन सः। तथा हि—'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः। ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥' इति श्रीपुष्पदन्तगणाधीशविरचिते महिम्नः (पार-) स्तवराजे। द्रुह्यत्यसुरेभ्यो द्रुहिणो ब्रह्मा। वसन्त्यस्मिन्सर्वे देवा वासुः स चासौ देवः। वसुदेवनृपनन्दनो वासुदेवः ॥ ५ ॥

अन्यदपि प्रभोरपदानमाह—

[जयत्यतुलेति।] अतुलविक्रमेणोन्मिषन्नुल्लसन्नखर्वोऽनल्पो यो गर्वज्वरो दर्पज्वरस्तेन ज्वलन्यश्चपलो मन्मथः कामस्तस्योन्मथनं दाहेन भस्मीकरणं तेन भग्ना निवारिता भोगस्पृहा आत्मनो येन सः। कामदहन इत्यर्थः। पुनरपदानमाह—दशास्येति। दशास्यस्य दशमुखस्य रावणस्य या भुजानां विंशतिसंख्यानां मण्डली पङ्क्तिस्तया तरलित उत्थापितो य एकपिङ्गाचलो वैश्रवणाद्रिः कैलासस्तत्र त्रसन्ती सत्रासा चासौ गिरिसुता पार्वती तया हठेन बलात्कारेण ग्रथितमालिङ्गितं कण्ठपीठं यस्य सः। तथा हि—'अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः। अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि प्रतिष्ठा त्वय्यासीद्ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥' इति श्रीगणाधीशपुष्पदन्तोक्तिः ॥ ६ ॥

पुनरपदानमाह—

[जयत्यकलित इति।] एवंभूतो हरः श्रीशम्भुर्जयति। किंभूतः। अकलित······। कलतिर्धातुः कामधेनुरित्यभियुक्ताः। उल्लसन्यो मदभरस्तेनोद्धुर उद्भटश्चासावन्धासुरोऽन्धकासुरस्तस्य प्रतिष्करणं हिंसनं सान्त्वनं च ताभ्यां प्रथितौ निग्रहानुग्रहौ यस्य सः। तथा किंभूतः। जगत्त्रयेति। जगत्त्रये त्रिजगति भयङ्कराणि त्रिपुराणि त्रिपुरासुरपुराणि त्रीणि तान्येव घोरा चासौ दावावली दावाग्निपङ्क्तिः। 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः। तस्याः सलीलं कवलीकृतिर्निर्वापणं तत्र प्रलयवारिवाहः कल्पान्तमेघः। संवर्तक इत्यर्थः। आरोपः। त्रिपुरदाहक इत्यर्थः ॥ ७ ॥

[जयत्यघेति।] हरः श्रीशिवो जयति। अत्रारोपः—श्रीशम्भुः कः। अघवनाशनिः अघमेव वाङ्मनःकायकृतं त्रिविधं पापमेव वनं काननं तत्राशनिर्दम्भोलिः। पुनः श्रीशिवः कः। सुमतिरेव माधवीलता तस्या माधवो वसन्तः। विकासक इत्यर्थः। पुनः कः। कृपैवामृतं तस्य पयोनिधिः समुद्रः। पुनः कः। भवः संसार एव महार्णवस्तत्र एकप्लव एक उडुपः। पुनश्च कः। विपदेव तृणं तत्र समीरणो वातः। निवारक इत्यर्थः। पुनः कः। प्रणयिनां यच्चित्तं तात्स्थ्याल्लक्षणया चित्तस्थं तत्र चिन्तामणिः। यथेप्सितप्रद इत्यर्थः। पुनः। समस्तानि यानि भुवनानि सचत्वारिंशच्छतद्वयप्रमितानि तेषां यावुदयप्रलयौ सर्गनाशौ तावेव केलिस्तं करोतीति तादृशः। परम्परितरूपकम्। इति भद्रम् ॥ ८ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां लघुपञ्चिकायां हराष्टकाख्यं षष्ठं स्तोत्रम्।

सप्तमं स्तोत्रम्

अथातः सेवाभिनन्दनाख्यं सप्तमं स्तोत्रमारभमाण आह—

[निशान्तेति ।] कवीनां निपुणकविकर्मकृतामिन्द्रा महाकवयस्तेषां वाणी वो युष्माकं निर्वृतिं निःश्रेयसमात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिमातनोतु विस्तारयतु । केव । निशाया अन्तोऽवसानं तत्र निद्रा स्वाप इव । सापि यथा निर्वृतिं सुखं करोति । पुनश्च केव । शिशोरियं शैशवी दशा अवस्थेव बाललीलेव । तत्र बालस्य सर्वतो निश्चिन्तत्वादित्यर्थः । पुनश्च केव । नवीनवध्वा नवोढायाः स्त्रियश्चकिता सत्रासा । वरमुद्दिश्य झगिति वक्रविलोकनात्सापि तथैव । पुनश्च केव । सुरस्रवन्ती स्वर्नदी गङ्गेव । सापि स्नानजलपानादिना निर्वृतिं करोति । एताभ्योऽप्युपमाभ्यः सर्वोत्कृष्टामुपमामाह—पुनः केव । शाम्भवी परमशिवसम्बन्धिनी कथेव श्रीशिवमुद्दिश्य प्रबन्धकल्पनेव । 'प्रबन्धकल्पना कथा' इत्यमरः । मालोपमालंकारः ॥ १ ॥

प्रस्तुतं वर्णयति—

[अलौकिकेति ।] पारमेश्वरं परमेश्वरसम्बन्धि महः सच्चिदानन्दघनज्योतिःस्वरूपं वो हृदिहृदये प्रकाशतां प्रकटीभवतु । किंभूतम् । अलौकिकेति । लोके भवो लौकिकः । न लौकिकोऽलौकिकः । तादृशश्चासावानन्दः परमानन्दस्तं निबध्नातीति । अपूर्वं परमानन्दमुत्पादयतीत्यर्थः । पुनः किंभूतम् । मनःप्रसादनम् । मनः प्रसादयति मायावरणाद्याच्छिद्य निर्मलीकरोति । पुनः किंभूतम् । स्वानुभव एवैकः साक्षी यस्य तत् । किमिव । कवेर्महाकवेर्गिरां वाचां रहस्यमिव । गुरुसम्प्रदायादवगतमित्यर्थः । तदपि किंभूतम् । अलौकिको य आह्लादो विगलितवेद्यान्तरः परमानन्दस्तन्निबन्धनम् । तथा मनःप्रसादनम् । स्वानुभवैकसाक्षिकं च । अन्यैर्दुर्बोधत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

[स यस्येति ।] स भवः श्रीशम्भुः अविद्यमानो भव उत्पत्तिर्यस्य सः । अनादित्वात् । वो युष्माकं भयानि ऐहिकामुष्मिकानि भिन्द्यात् । स क इत्याह—यस्य श्रीशम्भोः स प्रसिद्धोऽच्युतो विष्णुर्विशिखः शरस्त्रिपुरदाहार्थं शरीभूतो यस्यैव चापाद्धनुषः । मन्दराद्रेरिति शेषः । धनुर्भूतान्मन्दराद्रेश्च्युतः पतितः । तथा हि महिम्नःस्तवराजे—'रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।' इत्यादि । शिखावतोऽग्नेः । मार्गणफलभूतादिति शेषः । शिखाभिः पुराणि त्रिपुरस्वरूपाणि अपुराणि अनगराण्यकार्षीद्व्यधित । अत्र च्युतः अच्युत इति, विशिखः शिखाभिरुग्र इति, पुराणि अपुराणि इति भवति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ३ ॥

[स यस्य पृष्ठ इति ।] स त्रिलोकनाथो वृषाकपिः श्रीशिवः । 'वृषाकपी वह्नि (विष्णु) शिवावग्निरिन्द्रो दिवाकरः' इति मङ्खः । वो युष्माकं तापमाध्यात्मिकाद्यं त्रिविधमपाकरोतु । कया । गिरा वाचा । किंभूतया । सुधावृषा सुधां वर्षतीति सुधावृट् तया । स क इत्याह—वृषा इन्द्रः । 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः । पृष्ठे स्वस्य पृष्ठे यस्य चरणार्पणं चरणस्य श्रीशिवपादस्यार्पणं न्यासमनुग्रहं महाप्रसादं कलयति जानाति । कदा । वृषाधिरोहे वृषस्य वृषभस्य शम्भुवाहनस्याधिरोह आरोहणे ॥ ४ ॥

[स यस्य पादेति ।] स प्रभुः अनङ्गं शासति हन्तीति । 'शासु हिंसायाम्' धातुः ।

अनङ्गशासनः श्रीशिवः प्रसादेन कृपानुग्रहेणामलया निर्मलया दृशा दृष्ट्या नो विपदो जरामरणोत्थ-व्यापदस्तासां भङ्गो नाशस्तं क्रियात् करोतु । स क इत्याह—पाकशासनो दितिगर्भाणां शासनो घातक इन्द्रः इद्धं दीप्तं शासनमाज्ञारूपं यस्य स तादृशो यस्य श्री शिवस्य पादद्वयमङ्घ्रियुगं सदा समभ्यर्चति सम्यक् सावधानचित्ततयाभ्यर्चति पूजयति ॥ ५ ॥

[चमूरिति ।] शुभया आभया नित्यप्रभया दीप्त्या उपलक्षितः श्रीशम्भुः अविद्यमानं भयं नाशभयं यासां ताः श्रियो लक्ष्मीरूपा वो युष्माकं क्रियात् । स श्रीशिवः किंभूतः । जटा बिभ्रत् । कीदृशीः । तरुणारुणारुणाः तरुणो योऽरुणः सूर्यः । 'मिहिरारुणपूषणः' इत्यमरः । तद्वदरुणाः रक्ताः । यतो 'धूर्जटिर्नीललोहितः' इत्यत्र 'नीलः कण्ठे लोहितः केशेषु' इति स्वामी । जटा बिभ्रत् । कपिलकेशो भगवान् इत्यागमः । स क इत्याह—महामहाः महन्महस्तेजो यस्य स महामहा अतितेजस्वी । क्लमहा क्लमं भक्तजनस्य दुःखं हन्तीति तादृशः । तथा का न चमूर्जयन् । अर्थाद्दैत्यानां चमूः सेनाः । किंभूताः । भीजनकानकाः भियं परसैन्यस्य जनयन्तीति भीजनका आनकाः पटहा यासु ताः । एवंभूता अपि चमूर्जयन्यस्य सूनुः स कुमारः सेनानी-र्भवति ॥ ६ ॥

[मयीति ।] ध्रुवं निश्चये । हे शम्भो इति शेषः । कृपामृतार्द्रा कृपैवामृतं तेनार्द्रा सरसा । तथा महिता पूजिता । सकलजगत्येवेत्यर्थः । तथा हिता हितकारिणी च (इक्) अवता रक्षता भवता त्वया मयि ध्रुवं निश्चयेनाहिता निहिता (बत) अतो हेतोरस्तप्रमयामया प्रमयो मृत्युः 'प्रमयोऽस्त्री दीर्घनिद्रा हिंसा संस्था निमीलनम्' इत्यमरः । आमयो रोगः । अस्तौ दूरीकृतौ प्रमयामयौ मृत्युरोगौ यया सा । अस्तः प्रमयो मृत्युरेव वा रोगो महारोगो यया तादृशी तव नुतिः स्तुतिः (मया) कृता । कया । सातिशयाशयाशया । सह अतिशयेन दयादाक्षिण्यादि-गुणोत्कर्षेण वर्तते योऽसावाशयः तत्र या आशा परमेश्वरानुग्रहेण शिवाभेदप्रथापरिज्ञाना-प्त्याशा तया ॥ ७ ॥

[अनभ्रेति ।] विमत्सरा विगतो मत्सरः परोत्कर्षासहनं येषां ते । शान्तमनस्का इत्यर्थः । तथा जरा रुजो नाना व्याधयः मरणं कालधर्मश्च तैर्या आर्तिः पीडा तस्या भीरवस्त्रस्ता नरा रसायनाय । जरामृत्युहरणार्थमौषधं रसायनम् । 'कल्प' इति भाषायां प्रसिद्धम् । तस्मै किं मुधा व्यर्थं धावन्ति । किं कृत्वा । सुधासूतिवतंसशंसनं सुधासूतिश्चन्द्रोऽवतंसे यस्य स चन्द्रावतंसः श्रीशिवः । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । तस्य श्रीशिवस्य शंसनं स्तुतिं विहाय । किंभूतम् । अनभ्रवर्षेण प्रतिमा यस्य तत् । अनभ्रवर्षवदकस्मात्तदनु-ग्रहेणासम् । श्रीशिवस्तुतिरसायनामृतेन हि मृत्युत्रासपगमः । अतः केवलं जरापमृत्युमात्रहरण-समर्थेन रसायनेन किं कार्यमिति भावः ॥ ८ ॥

मणिः सुसूक्ष्मेति, यथाल्पमिति च युग्मम् । ध्रुवं निश्चये । अणुरप्यति-सूक्ष्मोऽपि वृत्तैकमात्रः पदैकमात्रः यया कयापि भाषया कृतो वा स्वल्पोऽपि प्रभोस्त्रिजगदीशस्य श्रीशिवस्य स्तवो दीर्घमप्यनेकजन्मशतोपार्जितमप्यघं वाङ्मनः-कायोपार्जितं पापं क्षणाद्व्यपोहति विशेषेणापोहति दूरीकरोति । कः कमिवेत्याह—यथा सुसूक्ष्मोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मोऽपि मणिर्गारुत्मताख्यो मणिभेद उल्बणमुद्भटं विषं गरं व्यपोहति । यथा वा कृशोऽपि कणिकामात्रोऽपि वह्निरग्निः सुमहद्द्रुभारसमुच्चितं तृणं व्यपोहति दहति । यथा वा शिशुरेकद्विमासीयोऽपि मृगेन्द्रः सिंहो गजव्रजं हास्तिकं व्यपोहति हन्ति । तनुरत्यन्तसूक्ष्मोऽपि

प्रदीपो यथा तमोभरं समस्तमन्धकारं व्यपोहति हन्ति । यथा वाल्पमपि रक्तिकामात्रमप्यौषधमुन्मर्दं महोग्रं रोगमपोहति हन्ति । यथा च स्तोकमपि चुलकमात्रमप्यमृतं रसायनं क्षयं जरामृत्युसमर्थं रोगं क्षयं यक्ष्माणं महारोगं वा । 'यक्ष्मा क्षयः शोषः' इत्यमरः । युग्मम् ॥ ९-१० ॥

[अमन्देति ।] कवेरिति शेषः । कवेर्धन्यस्य अमन्दो महान्यः सन्दर्भः प्रबन्धस्तत्र गभीरः कुशाग्रीयधिषणैरेव गम्यो विभ्रम उल्लासो यस्य स तादृशः । तथा प्रगल्भः प्रौढो वैदर्भो विदर्भदेशजः परिश्रमो वैदर्भीरीतिरचनापरिश्रमो यस्य सः । गिरो वाण्याः क्रमः परिपाट्या विन्यासो गुणैस्त्रिजगदनुग्रहसंसाराम्बुध्युत्तारणादिगुणैरप्युचितं योग्यं विभुं परमेशमासाद्यं प्राप्यावश्यमभङ्गुरं पूर्णं सौभाग्यं बिभर्ति । यथा कामिन्याः क्रमो व्यवहारः सगुणं कामिनमासाद्य सौभाग्यं परमं बिभर्ति तथेत्यर्थः । 'गुणोर्जितं' इति पाठे गुणैः सर्वज्ञतातृप्त्यादिभिः षड्भिरूर्जितं सबलमित्यर्थः ॥ ११ ॥

अधुना तद्वैपरीत्येन कविवाण्याः शोच्यतां वृत्तत्रयेणाह —

यथा हि शीलनेति, यथा विना द्यौरिति, कृपाविपाकेनेति, तिलकम् । शीलेन सदाचारेण विना यथा कुलस्त्री शोच्या शोचनीया भवति, विवेकेन कार्याकार्यविचारेण विना यथा मनीषिता वैदुष्यं शोच्या भवति, यथा च श्रुतिः श्रवणं सदर्थबोधेन संस्तात्त्विको योऽर्थस्तस्य बोधो ज्ञानं तेन विना यथा शोच्या भवति । 'भुजङ्गः खिङ्गसर्पयोः । कामुकेऽपि' इति मङ्खः । महीभुजङ्गेन पृथ्वीपतिना नेत्रा विना यथा पृथ्वी शोच्या, अरविन्दबन्धुना कमलबान्धवेन रविणा विना यथा द्यौर्वियच्छोच्या, यथा शशाङ्केन चन्द्रमसा विना निशीथिनी रात्रिः शोच्या भवति, विदग्धवर्गेण विदग्धानां मनीषिणां निपुणकविकर्मकृतां वर्गेण समूहेन विना यथा सभा परिषच्छोच्या भवति । विभूतिर्महैश्वर्यमपि विनयेन क्षमापरपर्यायेण विना यथा शोच्या, मतिर्धिषणा कृपाया दीनजनोपकाररूपाया विपाक आधिक्यं तेन विना यथा शोच्या, सुपुत्रेण गुणवता तनयेन विना गृहस्थितिः । तात्स्थ्यात्ताच्छन्द्य (?) इति गृहशब्देन गृहस्थ उच्यते । गृहस्थितिर्गृहस्थस्थितिर्गृहमर्यादा वा यथा शोच्या, तथैव हरिणाङ्कशेखरस्तवोपयोगेन चन्द्रशेखरस्तुत्युपयोगेन विना सरस्वती । कवेरिति शेषः । कविवाणी तथैव शोच्येत्यर्थः । 'भगवत्पदाम्बुजस्तवोपयोगेन' इति च पाठो दृश्यते । कुनृपतिप्रभृतिस्तुतिरूपं प्रलापं विहाय श्रीशिवस्तुत्यमृतरसासिक्तचेतोभिः कविवरैस्तत्स्तुतिकथास्वेवाहर्निशं यत्नो विधेय इत्यर्थः । तिलकम् ॥ १२ १४ ॥

इदानीं सकलं विहाय श्रीशिवभक्तिप्रसङ्गेन मनो विनोदयति—

[रमापीति ।] रमादेवी लक्ष्मीरपि मम संयतचित्तस्य मनोरमा हृद्या न । तथा क्षमापि । अत्रापि देवीत्यध्याहारः । 'क्षितिक्षान्त्यौ क्षमे' इत्यमरः । क्षमादेवी पृथ्वीदेव्यपि मामभ्यवपत्तुमाश्वासयितुम् । जन्मजरामरणार्दितमातुरमित्यर्थः । सापि न क्षमा न समर्था । अत्र सिद्धान्तपक्षमाह—ममैषा सरस्वती वाणी सरसा सह रसेन तदेकताभावनारसेन वर्तते या सा तादृशी भवार्तिभङ्गे भवस्य जन्मनः । उपलक्षणमेतत् । भवार्तैर्जन्ममरणार्तेर्भङ्गस्तस्मिन्सैवैका मम वाणी क्षमा भवति । आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिविधायिनी सैवैका भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अचेतन इति, निसर्गत इति, यदपीति, स एष इति, चतुर्भिः संदानितकम् । संदानितकं चतुर्भिर्वृत्तैरेकान्वयसम्बन्धेन । गौरीश्वरोऽर्धनारीश्वरः स्वेच्छया श्रीशिवः तस्य संश्रयो वाङ्मनःकायकर्मभिस्तत्पादाश्रयणं स एवात्मा स्वरूपं यस्य स तादृशात् । कल्पयति सकलाभीष्ट-

कल्पनाः प्रार्थयितुर्जनस्य कल्पः, कल्पश्चासौ महामहीरुट् महावृक्षः। हलन्तो महीरुह्शब्दः। तस्मात्कल्पमहामहीरुहः श्रीशिवाश्रयणकल्पवृक्षात् स एष अचेतनः इत्यादिवृत्तत्रये वर्णितः फलोद्गमो भवति। स एष क इत्याह—अचेतन इत्यादि। किल प्रसिद्धौ। अचेतनो निश्चेतनः। स्थावरत्वात्। तथा च कुर्भूमः कौ भूमौ स्थितिः सैव प्रिया हृद्या यस्य। तथा पृथग्विधानि नानाविधानि यान्युपाधिशतानि उप समीपे आधयः पीडा वनगजदुष्टसत्वादिकृतास्तेषां शतेन क्षत आशयो मध्यं यस्य स ईदृशो यो गिरिः शैलः कैलासः स श्रीशिवनिवासस्थानौचित्यात्। किंभूतः। शुद्धमानसः शुद्धं मानसं मानसाख्यसरोविशेषो यस्य सः। मुनीन्द्रैश्चिरं बहुकालं पादतले पादाः प्रत्यन्तपर्वतास्तेषां तले यन्निषेव्यते स एष गौरीश्वरसंश्रयणकल्पवृक्षफलोद्गम इत्यर्थः। अथ च यः किल मर्त्योऽचेतनो मन्दबुद्धिः कुत्सिता चासौ स्थितिर्मर्यादा सैव प्रिया यस्य स तादृशः तथा पृथग्विधानि यान्युपाधीनां छिद्राणां शत्रुविहितपराभवानेकविधव्याधिरूपाणां शतानि तैः क्षत आशयश्चित्तं यस्य स तादृशोऽपि गौरीश्वरचरणाम्बुरुहैकाश्रयः सञ्छुद्धमानसः शुद्धं मानसं चित्तं यस्य स तादृशः सन्मुनीन्द्रैरपि पादतले चरणतले निषेव्यते स एष शम्भुचरणाश्रयणकल्पवृक्षफलोद्गम इत्यर्थः॥ निसर्गत इति। फणी निसर्गतः स्वभावतः सत्पथे राजमार्गादौ गर्हिता कुत्सिता गतिर्यस्य। भुजङ्गत्वात्। तथा मलीमसः श्यामवर्णः। जिह्मगतिः कुटिलगतिश्च भवति सोऽपि फणी नाग एवंविधविशेषणविशिष्टो यो ज्ञातः। किंभूतः। कुण्डली 'आसीनस्य कुण्डलमिवास्येति कुण्डली' इति पूर्वे। वयं तु—'कुण्डलमनुकरोतीति कुण्डलशब्दात्प्रातिपदिकात्स्वार्थणिजन्ताद् घञर्थणिजर्थके कुण्डली इति ब्रूमहे" इति रायमुकुट्याम्। मणिमौलिमण्डितो मणियुक्तश्चासौ मौलिस्तेन मण्डितः शोभितः। तथा महाभुजङ्गः भुजं कुटिलं गच्छतीति भुजङ्गः महांश्चासौ भुजङ्गः फणिराजः। तथा पृथुभोगान् पृथुफणान् पृथुभोगं शरीरं वा भजतीति तादृशोः वासुकिर्यदीयमौल्याश्रयणाज्जात इत्यर्थः। अथ च यो निसर्गतः स्वभावात्सतां विदुषां पथे गर्हिता निन्दिता स्थितिर्यस्य स तादृशो भवति। तथा मलीमसो मलिनाशयः। जिह्मं न्याय्याद्विपरीतं गच्छतीति तादृशोऽपि यदाश्रयणात् कुण्डली कुण्डले कर्णकुण्डले यस्य स तादृशः। तथा मणियुक्तमौलिमण्डितः। तथा महाभुजङ्गः महाकामी। पृथुभोगान्महतो विषयान्भजति तादृशोऽपि भवति स एषः गौरीश्वरसंश्रयणकल्पवृक्षस्य फलोद्गमो भवतीत्यर्थः॥ यदपीति। अजस्रं सदैव जडेन जलेन। लडयोरैक्यात्। अब्धेर्जातत्वात्सततं जलसङ्गमे उचितः। तथा कलामयः एककलामयः, अत एव स्वभावेन तुच्छः। एवंभूतो यद्विधूतदोषोदयं विधूतो दूरीकृतो दोषा रात्रावुदयो येन। दिवा च रात्रावपि तत्र भासनात्। तथा सुधामयममृतमयमुज्ज्वलं शुभ्रं वपुर्यद्वहति स एष गौरीश्वरसंश्रयणकल्पवृक्षोत्थफलोद्गम इत्यर्थः। अथ च योऽपि नरो जडानां मूढानां सङ्गमे उचितस्तथा स्वभावेन तुच्छो नीचप्रकृतिः तथा कलामयः शिल्पी सोऽपि गौरीश्वरचरणाश्रयणात्कलङ्केन पातकादिकलङ्केन निर्दयतया वा मुक्तं सुधामयममृतमयमिव विधूतो गतो दोषाणामुदयो यस्य तत्तादृशमुज्ज्वलं वपुर्वहति यत्स एष श्रीशिवानुग्रहफलोद्गम इत्यर्थः। इदानीं पूर्वोक्तार्थसमुच्चयेन सहृदयजनं बोधयत्यवशिष्टवृत्तार्धेना – अमुमित्यादिना। हि निश्चये। अमुं गौरीश्वराश्रयं हिता आयतिरागामिकालो यस्य स तादृशः को नाम सचेतनश्चेतनावाञ्जनः समासादयितुं प्राप्तुं न यतेत यत्नवान्भवेत्। संदानितकम्॥ १६—१९॥

निदाघेति, सरस्वतीति, अमन्देति, तिलकम्। इयति दूरे भुवनाध्वनि भूलोकमार्गे भुवनाध्वनि वा आगमशास्त्रप्रसिद्धेऽमुष्मिन् श्रीशिवचरणाम्बुजभावनयोक्तो नमः शिवायेति शब्दो

भवदुःखिते भवेत्युपलक्षणम्। भवादिदुःखिते जन्मजरामरणादिदुःखिते मे मम हृदि हृदये अवन्ध्यं सुफलम्। परं विश्रान्तिदायित्वात्। अमन्दमानन्दसुधारसद्रवं परमानन्दामृतरसप्रवाहं स्रवन्मे मम एतेभ्यः सर्वेभ्यः सकाशाच्चमत्करोति अत्यन्तं चमत्करोति। एतेभ्यः केभ्य इत्याह— निदाघेति। 'अथ ग्रीष्मे निदाघः स्वेदतापयोः' इति……। निदाघेन ग्रीष्मोत्थसन्तापेन निर्दग्धो यो महामरुर्महान्निर्जलो देशः। 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। तत्र ये भ्रमन्तो जनास्तेषां क्लमः खेदस्तं छिनत्तीति तादृशान्मार्गमहीरुहान्मार्गे छायातरोरप्यमन्दानन्ददायी नमः शिवायेति शब्द इत्यर्थः। तथा कलिन्दकन्यायाः कालिन्द्या यमुनायाः सलिलौघेन सङ्गतो मिलितो यस्त्रिमार्गगाम्भोभरो गङ्गासलिलौघस्तस्य यः संप्लवो जलपूरस्तस्मादपि, तथा सरस्वत्या वाग्देव्या यः सौभगसारः सूक्तिपाटवं तेन संभृतः पूर्णो यः प्रसन्नः प्रसादगुणयुक्तो गम्भीरो मन्दधिषणैर्दुरवबोधाभिप्रायः कविक्रमः कविपदक्रमस्तस्मादपि, तथा कुरङ्गनाभी एणनाभी कस्तूरिका सा च घनं कुङ्कुमं कश्मीरजं च ताभ्यामङ्कितौ स्तनौ यस्यास्तादृशी या अङ्गना वरस्त्री तस्या आलिङ्गनस्य विलासो दृढालिङ्गनमालिङ्गनमेव वा विलासस्तस्मादप्यमन्दमानन्दरसामृतद्रवं स्रवन्नित्यर्थः॥ तिलकम्॥ २०–२२॥

[विचिन्तयन्निति।] अहं कदा कस्मिन्काले शुभसमये शङ्करं शं कैवल्यमात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपं करोति शङ्करः। तं शङ्करं श्रीशिवभट्टारकं श्रये शरणं व्रजामि। किं कुर्वन्। जीवनं जीवधारणं जीवनं सलिलमर्थाच्चपलं प्रवहद्विचिन्तयञ्जानन्। यद्वा जीवनं जलं विभुसम्बन्धि गङ्गाजलम्। 'जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः। जीवनमाप्यायकं स्वदेहधारणतृप्तिकरं विचिन्तयन्। कोऽर्थः। गङ्गाजलमात्रपानेनैव देहतर्पणं करिष्य इति चिन्तयन्नित्यर्थः। तथा पार्थिवं राजानं पृथिव्या मृद्रूपया पञ्चमहाभूत [व्यापि] मुख्यया निर्मितः पार्थिवस्तादृशं विशेषेण चिन्तयन्। यद्वा पार्थिवं मृण्मयं लिङ्गमेव पार्थिवं वदान्यं राजानं समर्थयन्दृढीकुर्वन्। य (एत) दुक्तं भवति—मृण्मयशिवलिङ्गार्चनेनैव सर्वमनोरथपूरणं भविष्यति किञ्चिन्मात्रदायिनृपतिसेवनं न विधास्य इति संभावयन्नित्यर्थः। 'अश्लीलं किमपि पुरुषार्थप्रसवि ते' इत्युक्तेः। तथा वै प्रसिद्धौ। भवं संसारं वैभवमाधिपत्यमेव कतिपयदिनस्थायिनमसारं विचिन्तयन्। अथवा भवं संसारं वैभवं विभुसम्बन्धि एव विभावयन् विशेषेण भावयन्। 'सर्वं शिवमयं जगत्' इति निश्चिन्वन्सन् कदा परमेश्वरमाश्रय इति॥ २३॥

[वरमिति।] अपिशब्दो भिन्नक्रमः। अवरमधमं वस्तुतो विचार्यमाणेऽपवित्रमेव तत्कलेवरं शरीरं वरमुत्कृष्टमतीव मान्यं भवति। तत्किमित्याह—यत्कलेवरं परं केवलं हराराधनसाधनं हरस्याराधनं साधयतीति तादृशम्। धन्यं तदेवेत्यर्थः। न पुनरुक्तिः (?) वरं मा भवत्वित्यर्थः। अत्र हेतुमाह —'क्रतुध्वंसी वृषध्वजः' इत्यमरः। क्रतुध्वंसिनः श्रीशिवस्य निषेवणं वाङ्मनःकायकर्मभिर्नित्यमुपासनं स एवोत्सवो महोत्सवस्तं विनिघ्नती विशेषेण घ्नती। श्रीशम्भुसेवानन्दं हन्यमानेत्यर्थः। अन्यच्च किंभूता। अयुक्त्या अकस्मादेव युक्तिं विना श्रीशिवानुग्रहेणापतन्ती। अपि मुक्तिर्न वरा श्रेष्ठेत्यर्थः। कलेवरे शिरःकरचरणादिभिः परमेश्वरसेवा तावत्साध्यते, मुक्तिस्तु निर्देहत्वाच्छिवार्चाविघ्नकारिणीत्याशयः। तथा चैतद्वृत्ताभिप्रायानुसारेण ममापि वृत्तमिदम्—

'वीक्षे न यत्र नयनत्रितयाभिरामं राकेन्दुतर्जि मुखमीश्वर तावकीनम्।
दासस्य नाथ कृपया भवता वितीर्णं सायुज्यमीदृगपि वेद्मि विडम्बनं मे॥' इति॥२४॥

इदानीं 'वरं भवेदप्यवरं कलेवरम्' इत्यस्यैव वृत्तस्याभिप्रायं विस्तरेण समर्थयति—

क नीलकण्ठेति, क नामेति, क दृक्चिरमिति, क निधुतेति, इदं विदन्त इति, पञ्चभिः कुलकम्। इदं विदन्तोऽपीति। अष्टाङ्गेन योगेनात्ममनसोरैक्यं समाधिः। तथा चोक्तम्—'अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥' इति। समाधिः तम् उप समीपे आधयो जन्मजरामरणादिपीडा उपाधयः। तान्भिनत्तीति तादृशं समाधिमाश्रिता अपि भिया संसारजत्रासेनोज्झिता अपि सुधियो विमलधिय इदं पूर्वोक्तप्रकारेण निर्णीतं विदन्तो जानन्तो वपुः शरीरमेव बहु मन्वते। अत्र हेतुमाह— प्रभुस्त्रिजगदीशः परमेश्वरस्तस्य यः प्रणामोऽष्टाङ्गः, स्तुतिः कीर्तनम्, चिन्तनं तदेकताध्यानम्, अर्चनं च तेषु स्फुटो व्यक्तः तान्येव वा स्फुटो व्यक्त उपयोगः प्रयोजनं यस्य स तादृशम्। इदं किं विदन्त इत्याह— क नीलकण्ठेति। नीलकण्ठस्य श्रीशिवभट्टारकस्य यदायतनं स्वयंभ्वादिस्थानेषु देवागाररूपं तत्र यदुपसर्पणं समीपगमनं तेन स्फुट उपकारो ययोस्तौ। अत एव महान्गुण उक्तलक्षणो ययोस्तौ चरणौ पादौ। भक्तानामिति शेषः। क भवतः, स्मरारिसेवायाः सुखं परमानन्द एव सर्वसंपदः तासाममार्गोऽगोचरोऽपवर्गो मोक्षः क वा भवति। 'दुःखेभ्योऽपवर्जनमपवर्गः' इति स्वामी। इत्यग्रिमे चतुर्थे वृत्ते सम्बन्धः। एतादृशौ चरणौ क। कदाचित्परमेश्वरानुग्रहेण लब्धायामपि मुक्तौ श्रीशिवैक्यावाप्तेर्निर्देहत्वेन श्रीशिवप्रणामस्तुत्यादिसेवाविघ्नकारिणी मुक्ति क्केत्यर्थः। तथा श्रीशम्भुध्यानोक्तप्रकारेण मनोदार्ढ्याय विहितबहिःप्रतिमादौ भावनया अञ्जनं सौवीरं च, उद्वर्तनं सुगन्धद्रव्यचूर्णेन निर्मलीकरणं च, चन्दनकुङ्कुमघन सारादिभिश्चर्चनमनुलेपनं च, तदादिभिः पुरारिपूजार्पणे श्रीशम्भुपूजावितरणे करौ पाणी क, क चापवर्गो मोक्षः॥

तथा रसना जिह्वा क भवति। किंभूता। प्रवृत्ता। कं अभि। नामग्रहणोत्सवमभि। कस्य। विभोः परमेश्वरस्य। कदा। दिने दिने। ईदृशी जिह्वा क, अपवर्गः क। तथा अद्रिपुत्रीपतिपादपङ्कजयोः पार्वतीकान्तपादपद्मयोः स्फुरच्च तद्रजस्तस्य राजिः पङ्क्तिस्तया विराजितं शोभितं शिरः क, क चापवर्गः॥

तथा पारिता निष्पादिता चन्द्रशेखरस्य श्रीशिवस्य सकलस्य प्रतिमाचित्रादौ स्वं च तद्रूपं स्वरूपं तस्य यत्सौभाग्यं सुभगत्वं तस्य विलोकनं तत्र स्पृहा यया सा पारितचन्द्रशेखरस्वरूपसौभाग्यविलोकनस्पृहा। दृग्दृष्टिः क च भवति, क चापवर्गः। तथा सन्ततं प्रतिक्षणमाकर्णितं श्रुतं यद्दर्पकद्विषद्विचित्रचारित्रं स्मरारिविचित्रचरित्रं यया सा तादृशी श्रुतिः कर्णः क, क चापवर्गः॥

तथा निर्धुतास्त्यक्ता अनल्पा विकल्पानां चिन्ताभराणामनेकप्रकाराणां विप्लवा उपद्रवा विकल्पा एव विप्लवा वा, येन तत् तादृशं त्रिलोचनध्याननिबन्धनं श्रीशिवभट्टारकध्यानैकनिरतं मनश्चित्तं क, क चापवर्गो मोक्षः श्रीशिवसेवापरमानन्दसंपदामगोचरः॥ पञ्चभिः कुलकम्॥ २५–२९॥

किमिति। अङ्गेति सम्बोधने। हे अङ्ग अधन्य अभाग्यग्रस्त, अनङ्गभङ्गदप्रसादनात्स्मररिप्वाराधनादन्यत्किं मङ्गल्यं मङ्गले संसाराम्बुधिनिस्तरणरूपे साधु वस्तु मन्यसे। कुतस्तत्। तत्किं यदर्थमित्यादि। हे अधन्यजन, अर्थक्षतिकृतो धनक्षयकराः सुदुष्करा ये प्रयासाः प्रयत्नास्तैः साध्येषु मखेषु क्रतुषु यदर्थं त्वं खिद्यसे। बहुकष्टसाध्यानेकक्रतुभिर्यत्पुण्यं तदेव श्रीशिवनामस्मरणमात्रेणावाप्यमित्यर्थः॥

इमा इति । महद्भिर्मं हिमानी तद्बद्धवलास्तेषां हविर्भुजां देवानामिमा विभूतयः सम्पदोऽणिमाद्यष्टकरूपा प्रभुप्रसादप्रभवाः श्रीशिवानुग्रहलभ्यास्तत्प्रसादेनैव लभ्याः । तेषां हविर्भुजां केषामित्याह—हे अधन्येत्यध्याहारः । यत्तर्पणमात्रकाम्यया येषां देवानां तर्पणमात्रस्य संतर्पणमात्रस्य काम्या अभिलाषस्तया हेतुभूतया दयास्पदं दयाकरणपात्रं ये प्राणिनः पशवस्तेषामुपघातेन हिंसया पातकं करोषि । यत्प्रसादलेशादणिमाद्या अष्टौ विभूतयो देवैरपि प्राप्तास्तस्यैवाराधनं किं न करोषीत्यर्थः ॥

सखे इति । हे सखे, प्रतिग्रहो दानादिः, अध्यापनं शिष्याणाम्, तथा याजनम्, तान्यादौ येषां तैः कर्मभिर्धनस्यार्जनं प्रति सखेदस्य सयत्नस्य ते वायुरिव प्रतिक्षणं सदागतिरायुः प्रयाति गच्छति । अतस्ते तवेहितं पूर्वोक्तमध्यापनादिचेष्टितं कर्तृ इङ्गितमभिप्रेतम् । श्रीशिवाराधनमित्यर्थः । निहन्ति । कस्य । तव । ईहितं किमर्थम् । क्रतवे यज्ञाय । पूर्वोक्तवृत्ताभिप्रायस्यैवैतत्समर्थनम् ॥

अत इति । सखे इत्यध्याहारः । हे सखे, अतः पूर्वोक्तकिमङ्ग मङ्गल्येत्यादि वृत्तत्रयार्थाभिप्रायाद्धेतोः स्वतः प्रार्थितानां सम्पदामणिमाद्यष्टविभूतीनां पदं स्थानं कदर्थनया पीडया हीनम्, एनसा पातकेनाप्यदीनं न दीनम्, तथा आनन्दस्य परमानन्दस्य भुव उत्पत्तेर्निदानमादिकारणम्, स्वयंभुवोऽनादेः श्रीपरमशिवस्य पादाम्बुजसेवनोत्सवं पादाब्जसेवोत्सवं भजस्व । चक्कलकम् ॥ ३०—३३ ॥

अक्लेशेति । अविद्यमानाः क्लेशाः पञ्च अविद्यादयो यस्मिंस्तत्तादृशं पेशलं कोमलं च । अक्लेशेनानायासेन पेशलं वा । तथा अलङ्घ्या अनिवार्या ये कृतान्तदूता रविजदूतास्तेषां हुङ्कारस्तेन भङ्गः कम्पस्तस्य भिदुरं भेदनशीलम् । तथा दुरितं पापमेवेन्धनं काष्ठं तस्याग्निम् । दाहकमित्यर्थः । तथा आमयं जन्मजरामरणमहारोगं हरति तादृशम् । हरपादपद्मसेवासुखं श्रीशिवपादाब्जसेवासुखं को नाम न सुमतिर्धीमानन्वहं प्रत्यहमाद्रियेत । अपि तु सर्व एवाद्रियेतेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

रोमन्थेति, [धन्या इति]—द्वाभ्यां युग्मम् । रोमन्थेन चर्वितचर्वणेन मन्थराण्यलसानि यानि कुरङ्गशतानि कुरङ्गाणां बिन्दुचित्राणां मृगभेदानां शतानि तैराश्रितेषु सेवितेषु तथा भागीरथ्याः स्वर्णद्याः शिशिरशीकरैः शीतलजलकणैः शीतलेषु । तथा रोहन्ति महार्हाण्युत्तमानि फलानि कन्दलानि मूलानि च तैः सुन्दरेषु । 'कन्दली वीरुत्तद्भेदमृगभेदयोः । कपालमूलयोः' इति मङ्खः । एवंविधेषु तुहिनभूधरस्य हिमालयस्य कन्दरेषु गुहासु । 'दरी तु कन्दरा वा स्त्री' इत्यमरः । बद्धमास्पदं निवासो यैस्ते ॥

धन्या भाग्यवन्तः अवधानधना अवधानमेकाग्रतैव धनं येषां ते । धनादिसम्बन्धबन्धं धनादेः आदिशब्देन कान्तासुतादेः सम्बन्ध एव बन्धो बन्धनं तमवधूय त्यक्त्वा समाधिमात्ममनसोरैक्यं धिया बुद्धया अधियन्तोऽधिगच्छन्तः गलदनल्पं महद्विकल्पानां जालं यत्र तत् परं ज्योतिः परज्योतीरूपं परमात्मानं भगवन्तं परमशिवमनन्तमपारमन्तर्हृदि अवलोकयन्ति । ज्ञानचक्षुषेत्यर्थः । युग्मम् ॥ ३५-३६ ॥

धन्या इति । नृपवेश्मसु राजसद्मसु वेत्रिणां द्वाःस्थानां यानि वक्त्राणि तैर्हुङ्कारः मा याह्यन्तरिति हुङ्करणं तेन कातरा दीना धीर्बुद्धिर्येषां तादृशाः प्रागधन्या भाग्यवन्तो जनाः ।

पुनर्विरक्तो वैराग्येण निर्वृतः संयतश्चित्तश्चासौ मनस्विजनस्तेनावकीर्णानि यानि स्वर्गापगापुलिनानि गङ्गातटानि तेषु या बाला लतास्तासामालयेषु स्थानेषु पर्णशालादिकेषु तरुणेन्दुमौलिं बालेन्दुचूडामणिं श्रीशिवं भजन्ति । वाङ्मनःकायकर्मभिराराधयन्तीत्यर्थः ।। ३७ ।।

सन्त इति । सन्तः पण्डिताः । 'सन्सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः । सज्जनाश्च । शशिखण्डः शिखण्डे यस्य स तस्य श्रीशिवस्य सेवायां हेवाकिनो व्यसनिनः सुरसरित्पुलिनस्थलेषु गङ्गातीरभूमिषु लक्ष्मीलवेनोल्लसन्नमन्दो मदेनावलेपोऽहङ्कारो येषां ते तादृशा ये भूपालास्त एव बालिशा मूर्खाः बालिशभूपाला भूपालबालिशा वा । परनिपातः । तेषां विलङ्घनान्यवमानास्तान्येव विप्लवास्तेषां कर्मभूतानां स्मरन्ति । स्मृत्यर्थकर्मणि षष्ठी ।। ३८ ।।

इदमिति, [अत इति]—द्वाभ्याम् । अतो हेतोः प्रकर्षेण तनु अचिरस्थायि यद्वैभवं विभुत्वं तेनोद्भवन्नखर्वो महान् गर्वोऽहङ्कारो येषां तादृशा ये क्षमापतयो नृपास्तेषां प्रणयो याच्ञा । 'प्रणयो याचनार्थना' इति कोषः । ततः संभवो यस्य स तादृशम् । विडम्बना उपहासस्तस्या आडम्बरमाटोपं विहाय त्यक्त्वा सुरवाहिनीपुलिने गङ्गातीरे वासो वसतिस्तत्र हेवाकिनो व्यसनिनः कृतिनो विपश्चितः सहृदयास्तमीरमणखण्डचूडामणिं श्रीशिवं भजन्ति सेवन्ते । अतः कुत इत्याह—अत्रास्मिन्संसारे अत्र जगति वा मलिनानि राजसतामसप्रकृतित्वादत्यन्तमलीमसानि उल्बणान्युद्भटानि च तादृशैः कर्मभिः करणभूतैः । मनुष्यैरिति शेषः । मनुष्यैः कर्तृभिर्यद्द्रविणं धनमर्जितमुपार्जितं तदिदं मधुमुखं विषम् । 'वसन्तदैत्यचैत्रमधूका मधवो मधु । मद्यं पुष्परसं क्षौद्रं मधुरे वाच्यलिङ्गकः ।।' इति मङ्खः । मधुमधुरं मुखमामुखं यस्य तत् । मधुमधुरं विषं स्थावरमादौ चर्वणे मधुरं परिपाकेऽन्तर्दाहकारि तत्क्षणाज्जीवितं हरति यथा तथैव मलीमसानि कर्माण्यादावत्यन्तमधुराणि परिपाके निरयभ्रंशप्रदानीत्यर्थः । तथा मलीमसोल्बणैः कर्मभिर्यद्द्रविणमुपार्जितमिदमाशितं भक्षितमपथ्यं यथा कफपित्ताधिक्ये माषमत्स्यादिभक्षितमामुखे स्वादु विपाके पुनर्वपुः शरीरं व्यथयते तद्वत् । तथा मलिनोल्बणैः कर्मभिर्मनुष्यैर्यद्धनमुपार्जितं तदिदं तृणगणावृतं तृणसमूहादिकैर्गुप्तं बिलं कूपादिप्रायं तदेवोपवेशनात्क्षणादेवाधो विधत्ते । युग्मम् ।। ३९-४० ।।

किमिति । असारैर्निःसारैर्भूयोभिर्बहुभिः परुषविषयैः परुषाः कठिनाः । परिपाकेऽत्यन्तविरसत्वात् । विषयाः शब्दाद्या भोगाश्च तैः । किं वा असारैः क्षणप्रभावदाशुगामिभिः श्रीविकारै रैहिकैर्लक्ष्मीविकारः किं भवति । न किंचित् । तर्हि स्वर्गभोगा एवाशास्यास्तदपि न किञ्चिदित्याह—किं वेत्यादि । स्वर्गे ये भोगा रसायनपानाप्सरोगणाम्लानमालाद्यास्तेषामभिलाषास्तैरप्यामुष्मिकैर्भोगैः किं वा भवति । अत्र हेतुमाह—भूयः पुनः पतनेन स्वर्गाद्भ्रंशेन विरसा नीरसास्तैः । 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इति स्मृतेः । तैरपि किमित्यर्थः । तदिदमुपसंहारेणावश्यं कर्तव्यं मनसि कृत्वाह—मन्ये नान्यदित्यादि । अहं मन्ये निश्चयेन जानामि । भवादित्युपलक्षणम् । भवादेर्जन्मजरामरणादेर्भयं त्रासस्तदेव विपत्कालकर्णी तया कातराणां दीनानां ग्रस्तानां नराणां देहिनां भवति । अस्मादुपासितात् निःश्रेयसोदय इति भावः । तस्मिन्भगवति भवे परमेश्वरे भक्तिं वाङ्मनःकायकर्मभिस्तदेकताध्यानासक्तिं विना अन्यदाशास्यं काङ्क्षणीयं वस्तु नास्ति । तदेव प्रतिक्षणमाकाङ्क्षणीयमिति भावः ।।

दूरोदञ्चदिति । तेन पूर्वोक्तहेतुना सन्तो विचक्षणाः साधवः शशधरशिरःपादराजीवसेवाहेवाकैकव्यसनमनसः शशधरशिरसश्चन्द्रमौलेः श्रीशिवस्य ये पादराजीवे पादकमले तयोः सेवायां

यो हेवाकस्तदेकं व्यसनमैकाग्र्यं यस्य तादृङ्मनो येषां ते तादृशाः। सन्तो दूरमुदञ्चन्त्यो याश्चटुललहर्यश्चपललहर्यस्ता एव हस्ताः पाणयस्तैर्व्युदस्तौ व्यापद्विपत्तिस्तापो मरुभ्रमणादिजः व्यापज्जन्मजरामरणादिमहाव्याधिर्वा ताप आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिको वा त्रिविधः। तौ व्यापत्तापौ यया सा। तादृशी चासौ सुरतटिनी स्वर्णदी गङ्गा तस्यां यानि मज्जनान्युन्मज्जनानि च तेषु। अपि शब्द आर्थः। मज्जनोन्मज्जनेष्वेव श्रद्धाबन्धं भक्तिदार्ढ्यं तन्वन्तीति भद्रम्॥ ४१-४२॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां सेवाभिनन्दनं नाम सप्तमं स्तोत्रम्।

अष्टमं स्तोत्रम्

कल्याणिन इति। शम्भुः श्रीशिवो विषयः स्थानं यस्य तच्छम्भुविषयम्। तादृशस्य पद्यस्य श्लोकस्य। 'पद्यं श्लोके सृतौ पद्या पद्यः शूद्रो निगद्यते' इति विश्वः। पद्यस्य श्लोकस्य पादाश्चत्वारश्चरणा जयन्ति सर्वोत्कृष्टा भवन्ति। ते क इत्याह—ये पादाः श्लोकस्य विष्टपानि भुवनानि। विशन्त्यस्मिन्विष्टपं भुवनम्। मण्डयन्ति भूषयन्ति पुनन्ति च पवित्रीकुर्वन्ति च। पद्यस्य श्लोकस्य किंभूतस्य। कल्याणं मङ्गलमस्यातीति कल्याणि तस्य। 'कल्याणमक्षये हेम्नि कल्याणं मङ्गलेऽपि च' इति विश्वः। श्लोकस्य पादाः कस्येव। सुरगिरेर्देवगिरेः कल्याणिनः कल्याणमक्षयं सुवर्णमस्यास्तीति कल्याणी तादृशस्य कल्याणिनः। सुरगिरेर्मेरोर्यथा पादाः प्रत्यन्तपर्वता विष्टपानि भूषयन्ति पवित्रयन्ति च। तथा पद्यस्य पादाः कस्य क इव। हरेर्विष्णोः पादाः पादप्रक्रमा बलिवन्धनावसरे त्रयो विक्रमा इव। तेऽपि जयन्ति भूषयन्ति च। हरेः किंभूतस्य। संश्रितस्य। कया। लक्ष्म्या हरिप्रियया। पद्यस्य किंभूतस्य। लक्ष्मीर्वर्णशोभा तया संश्रितस्य। तथा श्लोकपादाः क इव कस्य। रवेः सूर्यस्य पादा रश्मय इव। यथा रवे रश्मयो जगन्ति मण्डयन्ति पुनन्ति च। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इति कोषः। रवेः किंभूतस्य। दीप्तिं किरणद्युतिं भजतीति दीप्तभाक्। तस्य। पद्यस्य किंभूतस्य। दीप्तिभाजः। दीप्तिः कान्तिः। दीप्तिः सत्त्वरूपोऽर्थगुणादिर्यस्य तद्दीप्तिभाक्। तादृशस्य। अत्र च 'पद्यस्य' इति पदं विरुद्धमतिकृदिति तस्मात् 'वृत्तस्य' इति पाठः साधुः। 'वृत्तं मध्ये नगे (नागे ?) पद्ये चरित्रे वर्तने मृते' इति मङ्खः॥ १॥

या इति। अमरनिर्झरिणीतरङ्गभङ्गवत् गङ्गातरङ्गभङ्गवदभिरामा गतिर्यासां ताः शम्भोः श्रीशिवस्य स्तुतयो जयन्ति सर्वोत्कृष्टा भवन्ति। ताः का इव। याः स्तुतयः पङ्को विद्यते यस्य तत्पङ्किलं तेन कलिलेन मालिन्येन। कालुष्येणेत्यर्थः। भक्तजनमिति शेषः। भक्तजनं वियोजयन्ति। निष्पापं कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा या नित्योज्ज्वलेन निर्मलेन कुशलेन मङ्गलेन च भक्तजनं योजयन्ति। सकुशलं कुर्वन्तीत्यर्थः॥ २॥

संसारेति। नुतिः स्तुतिश्च चिन्तनं ध्यानं च पूजनमर्चनं च नुतिचिन्तनपूजनानि श्रीशम्भोः श्रीशिवस्य जयन्ति सर्वोत्कृष्टानि भवन्ति। एतानि कानीत्यारोपेणाह—संसारेति। संसार एव दारुणो दवानलो दावाग्निः। दाहकत्वात्। तेन दह्यमाना ये वाक्चित्तकायास्तेषां

कुशलीकरणे उल्लाघत्वकरणे औषधानि महौषधानि । तथा पुनः कानि । श्रीभुक्तीति । श्रीर्लक्ष्मीः भुक्तिर्भोगपरम्परारूपा मुक्तिरात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिश्च तासां वशकर्म वशीकरणं स्वीकरणं तत्र कार्मणानि वशीकरणचूर्णानि ॥ ३ ॥

[दोषाकरेति ।] दोषाकरेत्यादि पञ्चभिः कुलकम् । ईश्वरस्य परमेश्वरस्य निरङ्कुशं निरनुरोधमप्रतिहतमप्रतिघातं तदेतत्स्वातन्त्र्यं जयति सर्वोत्कृष्टं भवति । तत्किमित्याह—येन स्वातन्त्र्येण क्रीडन्निव खेलन्निव दोषाकारस्य दोषा रात्रिं करोतीति दोषाकरश्चन्द्रस्तस्य । अथ च दोषाणामाकरो दोषाकरस्तस्य । अत्रापिशब्द अर्थः । दोषाकरस्यापि शिरसि स्थितिं धारणं व्यधित तज्जयतीति सम्बन्धः । तथा उत्तमाङ्गच्छेदं शिरश्छेदं वामकनिष्ठाङ्गुलिनखेन विधेः पितामहस्यापि येन स्वातन्त्र्येण व्यधित । तथाहि—'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।' इत्येतस्मिन्नेव वृत्ते ब्रह्मणोऽसत्यवादिनः शिरश्छेदः परमेश्वरेण कृत इति पौराणिकाः । तथा येन स्वातन्त्र्येण नरवाहनस्य । 'रुद्रदत्तनरवाहनत्वान्नरवाहनः ।' इति रायमुकुट्याम् । नरवाहनस्य कुबेरस्याप्यविरहं सख्यं व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येण त्रिजगज्जयिनामपि त्रिपुरपुराणि च पाशधरो यमश्च स्मरः कामश्च तेषां भस्मीकृतिं व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येण दशकन्धरस्य श्रीशिवभक्तशिरोमणेर्वश्यमधीनं दिशां दशकमपि व्यधित ॥ ४ ॥

[शौर्यानलस्येति ।] तथा येन स्वातन्त्र्येण रामस्य परशुरामस्य स्वभक्तस्य परशुमायुधविशेषं प्रसादीकृत्य स परशुरेव व्यजनं तालवृन्तं तेन तस्यैव जामदग्न्यस्य शौर्यानलस्य शौर्याग्रेर्दीप्तिं व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येण मघोन इन्द्रस्य बाहुपरिघप्रतिघं दक्षिणबाहुवर्गलस्तम्भनं व्यधित । तथा सप्तदिवसानि सप्तदिनावधि मरुत्तनृपतेर्मरुत्ताख्यराज्ञः पुर इति शेषः । हैमं वर्षं सुवर्णवर्षणं व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येणाच्युतस्य विष्णोः सुदर्शनसमर्पणं सुदर्शनाख्यचक्रप्रसादीकरणं व्यधित । अत्रापि 'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि' इति वृत्ते ॥ ५ ॥

[श्वेतस्येति ।] तथा श्वेतस्य श्वेताख्यनृपतेरन्तकत्रासे स्वयंभूलिङ्गमालिङ्गतः कण्ठपुलिनात्कण्ठतटात्समवर्तिपाशप्रोत्सारणं यमफणिपाशप्रोत्सारणं येन स्वातन्त्र्येण व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येणोपमन्युमुनेरुपमन्युनाम्नो मुनेर्बालस्य क्षीराब्धिदानं क्षीरसमुद्रदानं व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येण मखे क्रतौ निमन्त्रितसर्वदेवतागणे दीक्षितस्य दक्षस्य दक्षप्रजापतेः क्रियासु कर्मसु विघ्नं व्यधित ॥ ६ ॥

[शूलेति ।] तथा येन स्वातन्त्र्येणान्धकस्यान्धकासुरस्य शूले वधार्थं काष्ठमये वधदण्डेऽधिरोहणमारोहणमेव पराभवस्तं व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येण पूष्णो रवेर्हनुः कपोललग्ना । 'कपोलौ तत्परा हनुः' इत्यमरः । हन्वोर्ग्रहो हनुग्रहस्तं व्यधित । तथाऽर्जुनस्य पार्थस्यानुग्रहं जयद्रथकर्णादिमहारथजेतृत्वाख्यं व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येण नन्दीश्वरस्य गणाधीशस्य रविजाद्यमादभयं त्राणं व्यधित । तथा येन स्वातन्त्र्येण मुनिमानिनीनां मुनिस्त्रीणां भुजङ्गभङ्ग्या भुजङ्गस्य कामुकस्य भङ्गिर्विच्छित्तिस्तयाभिमानस्य चारित्र्याभिमानस्य मथनं व्यधित ॥ ७ ॥

[किमिति ।] किं वापरं बहु ब्रूमः श्रीशिवभट्टारकः सकलमूर्तिर्द्रुहिणकृष्णहरत्वं ब्रह्मविष्णुरुद्रत्वमेत्य जगत्त्रयस्य त्रिजगतः सर्गस्थितिप्रशमनानि सृष्टिस्थितिलयान् येन स्वातन्त्र्येण व्यधित । क्रीडन्निवेति सर्वत्र सम्बध्यते । तत्स्वातन्त्र्यं जयतीति सम्बन्धः । अन्यत्र उत्तमाङ्गच्छेदं विधे-

रित्यादि। श्रीशम्भोरवदानानि पुराणेषु प्रसिद्धानीति तदूहोऽत्र न लिखितः। पञ्चभिः कुलकम् ॥ ८ ॥

इतः प्रभृति पञ्चविंशतिश्लोकैर्महाकुलकमाह—

यस्येति। अतिघोरगरलं कालकूटाख्यविषविशेषो यस्मिंस्तादृशादपि यस्य परमेश्वरस्य कण्ठपीठात्सञ्जीवनौषधं सञ्जीवनाख्यौषधं वचो नतानां भक्तिप्रह्वाणां सञ्जीवनं मा भैष्टेत्यादिकमुदेति। अग्रे पञ्चविंशतितमे श्लोके तं विभुं शरणमाश्रयामीति सम्बन्धः। एवमग्रिमश्लोकेष्वपि। तथा घना या कृशानुशिखा अग्निशिखा ताभिरुल्बणा उद्भटापि दृष्टिस्तृतीयनेत्ररूपा नतानां भक्तिप्रह्वानाममृतद्रवमेव सुधारसमेवामोघं वर्षति। इत्येतदत्याश्चर्यं यदतिदारुणविषादपि जीवनमग्नेरप्यमृतप्रवाहप्रसर इति भावः ॥ ९ ॥

दंष्ट्रेति। दंष्ट्राभिः करालं विकरालमपि यस्य सकलनाथस्य पञ्चमुखस्य घोरं कठिनम्। नीलोत्पलाभमिति शेषः। (अघोराख्यं वक्त्रं) प्रपन्नानां शरणागतानां भयस्य भञ्जनं तस्य भङ्गिर्विच्छित्तिस्तामेति। अद्भुतमेतत्। दंष्ट्राकरालादपि परमेश्वराघोरवक्त्राद्भक्तभयभङ्गः। एतदघोरवक्त्रध्यानमपि दशमुखेन वदनपञ्चकस्तुतौ कथितं यथा—'कालाभ्रभ्रमराञ्जनद्युतिनिभं व्यावृत्तपिङ्गेक्षणं भालेन्दूज्ज्वलितं हिमांशुवदनप्रोद्भिन्नदंष्ट्राङ्कुरम्। सर्पप्रोतकपालशुक्तिशकलव्याकीर्णसच्छेखरं वन्दे दक्षिणमीश्वरस्य कुटिलभ्रूभङ्गरौद्रं मुखम् ॥' इति। यस्य चाङ्गे भस्मकणिका विभूतिकणाश्चरणाश्रितेषु भक्तजनेषु कर्पूररजःपटलश्रियमाश्रयन्ति तं विभुं शरणं श्रयामीति सम्बन्धः ॥ १० ॥

यस्येति। भुजानष्टादश गच्छन्तीति भुजगाः कृष्णभुजगाः कृष्णसर्पा इन्दीवरस्रज इव नीलोत्पलमाला इव भजन्तं भक्तजनं प्रकर्षेण विनन्दयन्ति तोषयन्ति। किं चाधिकं वच्मि यस्य विभोरङ्गसङ्गि अङ्गे सङ्गो विद्यते यस्य तन्मुण्डं ब्रह्मशिरःकपालं मरुदीरितं मरुता ईरितं प्रध्मातम्। अत एव ध्वनदित्यर्थात्। नमत्सु भक्तेष्वमलमङ्गलकम्बुशोभाममलो निर्मलो मङ्गलार्थे यः कम्बुः शङ्खस्तस्य शोभामेति प्राप्नोति। रसवदलङ्कारोऽत्र ध्वन्यते। एवमग्रेऽपि ॥ ११ ॥

यस्येति। यस्य विभोर्घनं यच्छोणितपङ्कं तेन लिप्तमिभचर्म गजचर्म मङ्गलदुगूलविलासं मङ्गलार्थे दुगूलम्। 'बहुमूल्यं महाधनम्। क्षौमं दुगूलं स्यात्' इत्यमरः। 'दुह्यते क्षुमाया आकृष्यते' इति क्षीरस्वामी। वैदेशिकादर्शेषु प्रायशो 'दुकूलं' इत्येव पाठो दृश्यते। तत्र प्राचीनकविभिरपि तथैव ग्रन्थेषु स्वकृतेषु पाठो लिखितः। तथापि महाकवि श्रीजयदेवमिश्रेण गीतगोविन्दे 'दुगूल'शब्द उपन्यस्तः। यथा—केलिकलाकुतुकेन च काचिदमुं यमुनाजलकूले। मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जगतं विचकर्ष करेण दुगूले ॥' इति। मङ्गलदुगूलस्य विलासमेति प्राप्नोति। तथा यस्य विभोः करे कपालमपि। अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः। तापास्त्रय आध्यात्मिकाद्यास्त एव तापास्तैर्विधुरा विह्वलास्तेष्वमृतेन पूर्णो यः कमण्डलुः कुण्डी तस्य लीलां विलासं श्रयति तमहं श्रयामीति सम्बन्धः ॥ १२ ॥

यदिति। यस्य विभोः पादयोः पांसू रजस्तेन यः परिमर्शः स्पर्शस्तेन शुचि पवित्रीकृतं सत् श्मशानं पितृवनं श्रीशैलः सिद्धगिरिर्नैमिषं तीर्थविशेषस्ते मुखे येषां तानि तीर्थान्यधरीकरोति तिरस्करोति। तथा यस्य विभोः संस्तवात्परिचयात्स्पर्शरूपात्कपालानां कालाग्निरुद्ररूपेण महाप्रलयादौ संहृतानां ब्रह्मविष्ण्वादिमुण्डानां पाली पङ्क्तिः। 'पाली स्त्र्यश्र्यङ्कपङ्क्तिषु'

इति मङ्कः । कृतिनां विपश्चितां धन्यानां कमलावलीव पद्मश्रेणीवाविकलं पूर्णं कुशलं करोति तं शरणमाश्रयामि ॥ १३ ॥

यं देवमिति । सुरभर्तुरिन्द्रस्याङ्के अस्तं न्यस्तं शिरो येन स तादृशम् । तथा लङ्केशवैरिणो दशमुखशत्रोर्विष्णोर्यः करो हस्तस्तेन वीजितं तालवृन्तं यस्य स तादृशम् । तथासीनस्य सुप्तमासीनसुप्तम् । आसीनसुप्तेनासीनीभूतनिद्रया जानुनिद्रया त्रिजगदुपकाराय त्रिपुरान्धकादिसंहारार्थं विहितयुद्धोद्भूतातिखेदागतया सुखितं सन्तं यं देवमीश्वरं वेधा ब्रह्मा शतरुद्रियादिमन्त्रैः 'षट्षष्टिर्नीलसूक्तं च पुनर्जयति षोडशीम्' इत्यादिलक्षणलक्षितैर्वैदिकैर्मन्त्रैर्मधुरेण स्वरेणोदात्तानुदात्तादिना सप्तविधेन गृणाति स्तौति । तं विभुं शरणमाश्रयामि ॥ १४ ॥

हेलेति । स कालोऽन्तकः । अपिशब्द आर्थः । अन्तकोऽपि यस्य श्रीशिवस्य विपुले विस्तीर्णे भाले ललाटे यो विलोचनाग्निस्तृतीयनेत्रानलस्तस्य या ज्वालानामावली तत्र शलभतां पतङ्गत्वमगमत् । स कालः क इत्याह—येन कालेन हेलावलीढभुवनत्रितयेन हेलयावलीढं ग्रस्तं भुवनत्रितयं येन स तादृशेन सता पुरन्दरमुकुन्दरवीन्दवोऽपि इन्द्रविष्णुसूर्यचन्द्रा अपि गीर्णा निगीर्णाः । प्राग्वत्सम्बन्धः ॥ १५ ॥

श्वेतमिति । यो विभुर्दृशं दृष्टिं वामलोचनरूपामाश्रितस्य विधोश्चन्द्रस्योदयहेतुं श्वेतं पक्षं शुक्लपक्षमवेत्य ज्ञात्वा । कालं पक्षं कृष्णं पक्षं च विधोः क्षयकरं ज्ञात्वा । अत एव श्वेतकाल्योरनुग्रहनिग्रहौ शब्दश्लेषेणान्यथा संभावयति—श्वेतं दयेति । अत एव हेतोः श्वेतं श्वेतनामानं नृपं रविजत्रासेन स्वयंभुलिङ्गमालिङ्गन्तमाशु शीघ्रमेव त्राहीति निवेदनानन्तरमेवानुगृह्य दृशैव तृतीयलोचनरूपया यमं शमं भस्मावशेषतां नयति स्म । किंभूतम् । विपक्षं रिपुं पूर्वोद्दिष्टपक्षविपरीतं च । तमहं शरणं श्रयामीति सम्बन्धः ॥ १६ ॥

चक्रीति । यस्य श्रीशिवस्य रणमूर्ध्नि सङ्ग्रामशिरसि चक्री चक्रं सुदर्शनाख्यमस्यास्तीति चक्री विष्णुर्बाणीकृतः शरीकृतः शरभावं संपन्नः । तथा चक्रं कुण्डलाकारत्वमस्यास्तीति चक्री (सूर्यो) वासुकिश्च । 'चक्री व्यालः सरीसृपः' इत्यमरः । 'चक्रिणौ हरिपन्नगौ' इत्यप्यमरः । गुणीकृतः । गुणो ज्या । अगुणो गुणः संपन्नः । धनुषो ज्याभूतश्च । पुराणां त्रिपुराख्यासुराणां निधनसाधनतां मृत्युनिमित्ततामगमत् । प्राप्येत्यर्थः । द्वावपि विशिनष्टि—मुखाग्रेति । चक्री विष्णुः शरभूतः कीदृक् । मुखस्य शरफलस्याग्रं तत्र विलसञ्ज्वलनः साक्षादग्निस्तस्य या उग्राः कठिना ज्वालाः शिखास्ताभिर्लीढं व्याप्तमम्बरं येन सः । चक्री (सूर्यो) वासुकिश्च । धनुर्गुणः किंभूतः । मुखस्य वदनस्याग्रं तत्र विशेषेण लसन्त्यो या ज्वलनवदग्निवदुग्रा जिह्वा रसनास्ताभिर्लीढमम्बरं युद्धवस्त्रं येन सः । यस्य विभोः किंभूतस्य । क्षितिधराणां पर्वतानामिन्द्रो मन्दराख्यो गिरिः स एव धनुस्तं धारयतीति तादृशस्य ॥ १७ ॥

चक्रेति । यो विभुश्चक्रायुधं विष्णुं विशिखतां शरभावं नीत्वा प्रापय्य तथा उडूनां नक्षत्राणां चक्रवर्ती इन्दुः चक्राभिधानसुहृत्सूर्यस्तौ च रथचक्रभावं क्षोणीरूपस्य रथस्य चक्रद्वयभावं नीत्वा त्रिदशधाम्नि देवालये स्वर्गे पुराङ्गनानां पुरे नगरे या अङ्गनाः कामिन्यः । पौराङ्गना इत्यर्थः । तासां हर्षमयमश्रु असृजत् । तथा रसातले पाताले च पुराङ्गनानां पुराणां त्रिपुराख्यासुराणां या अङ्गनास्तासां शोकमयमश्रु असृजत् । तासां भर्तृवधाच्छोकाश्रूद्गमो जात इत्यर्थः ॥ १८ ॥

[आरुढेति] । यस्य विभोस्तं दृष्टिपातमधिगम्य को न भक्तजनो हृदि हृदये प्रीति-

मानन्दं रतिं सुखं च धत्ते। रतिं क्रीडां वा धत्ते। अपि तु सर्व एवेत्यर्थः। किंभूतः। सुसिद्धकामः सुसिद्धः परिपूर्णः कामो मनोरथो यस्य। तं दृष्टिपातं कमित्याह—आरूढेति। आरुढरीढमिति क्रियाविशेषणम्। आरूढा उत्पन्ना रीढा अवज्ञा यत्र तम्। 'रीढावमाननावज्ञा' इत्यमरः। आरूढरीढं सावहेलमपि हृदि समर्पितेन दत्तेन येन शरेण प्रीतिं प्रीतिनाम्नीं भार्यां रतिं रतिनाम्नीं च भार्यामपि कामोऽनङ्गो विस्मरति स्म। 'रतिप्रीती कामभार्ये' इति लक्ष्यदर्शनात्। तथा हि कविवरजह्लणकृते सोमपालविलासे—'शङ्खपद्मनिधी यूनां कम्बुकण्ठ्याः पयोधरौ। शृङ्गारानङ्ग-भृङ्गारौ रतिप्रीतिसमुद्गकौ॥' अस्यार्थः श्रीराजानकरुचककविरचितायामलङ्कारानुसारिण्याम्—'भृङ्गारौ हेमकशौ। रतिप्रीती कामभार्ये अपि। निधेः सर्वस्वायमानत्वाद्रूपकमेव दृष्टम्। कम्बुसदृशरेखत्वेन कण्ठो यस्याः' इति। तं शरणं श्रयामीति प्राग्वत्सम्बन्धः॥ १९॥

[कृष्णेति।] धनञ्जय एवाग्निरेव यस्य विभोर्दृग्गोचरे तृतीयनयनगोचरे कृतं पदं स्थानं येन स तादृङ् महसा तेजसा दिदीपे दीप्तोऽभूत्। अथ च यस्य विभोर्महेश्वरस्यार्जुनानुग्रहाय व्याधाकृतेः शबररूपिणोऽपि दृग्गोचरे नेत्रवर्त्मनि कृतपदो धनञ्जय एवार्जुन एव पार्थानां मध्ये समरसत्वे दिदीपे। 'हुतभुक्पार्थयोः स्याद्धनञ्जयः' इति मङ्खः। द्वावपि विशिनष्टि—धनञ्जयोऽग्निः किंभूतः। कृष्णो धूम्र उपदर्शितः पन्थाः पथो वा यस्य स कृष्णवर्त्मा अग्निरिति प्रसिद्धः। अकारान्तोऽपि पथशब्दोऽस्ति। तथा बहुलोष्मणा भीष्मं भयानकं श्लाघ्यं च वपुर्देहं दधत्। पुनः किंभूतः। उपात्तः कृतः वनस्य नीरस्य कपर्दवासिनो गङ्गासलिलस्य अन्ते समीपे वासः स्थानं येन सः। 'जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः। धनञ्जयोऽर्जुनः किंभूतः। कृष्णोपदर्शितपथः कृष्णेन श्रीकृष्णेनोपदर्शितः पन्था 'विना श्रीशिवप्रसादं जयद्रथवधः प्रातर्न संभाव्यः' इति श्रीकृष्णोपदेशरूपो यस्य सः। तथा उपात्तो वनान्तेऽरण्ये वासो येन स तादृशः। दुर्योधनेन दुरोदरच्छद्मनापहृतराज्यत्वात्। तमहं शरणं श्रयामीति सम्बन्धः॥ २०॥

[युक्तमिति।] तदेतद्युक्तम्। किमित्याह—सुधाकरश्चन्द्रः। सुधाकरकः सुधा-कमण्डलुः। 'कमण्डलौ दाडिमेना करकः करिकः पुनः। मद्यभाण्डे च करका भवेद्वर्षोपले द्वयोः।' इति मङ्खः। द्युसिन्धुस्तस्यास्तोयं गङ्गाजलं तदादिर्यस्य तत् तापं त्रिजगत्सर्गादिव्यापारजं सन्तापं यस्य विभोर्मनस्यपाकरोति दूरीकरोति। यदिति भिन्नपदं वा। यस्य मनसि सुधाकरादि तापं यदपाकरोति तदेतद्युक्तम्। अद्भुतं त्वेतदित्याह—यस्य महेश्वरस्याङ्गसङ्गि शवभस्म च कपाल-माला च हालाहलं कालकूटाख्यं विषं च अहयो वासुक्यादयश्च दहनोऽग्निस्तृतीयनेत्रस्थस्तदाद्यपि हृद्यमेव॥ २१॥

मूर्तिरिति*। जनेनेति शेषः। श्रवणं कर्णं प्रविष्टा शतपदी शतं पदानि सूक्ष्माणि यस्याः सा तादृशी क्रिमेः कीटस्य मूर्तिर्भाषया 'कर्णसर्पिणी' नाम्नी। 'कर्णजलौका शतपद्युभे' इत्यमरः। जनानां लोकानामसुहृत्तं असून्प्राणान्हरतीत्यसुहृत्तां रुजं सृजत्युत्पादयन्ती जनेन दृष्टा। अत्राप्यत्यद्भुतमाह—ननु निश्चये। यदीयं यस्य विभोरिदं यदीयं नेत्रं दक्षिणं तत्र स्थिता

* अष्टमस्तोत्रीय-द्वाविंशतिश्लोकपर्यन्तं तु प्रतिश्लोकव्याख्यानादौ प्रायः श्लोक-प्रतीकोल्लेखो व्याख्यायां दृश्यते। यत्र च न तदुल्लेखस्तत्र क्षेपकचिह्नान्तर्गततया (ब्रैकेट में) तत्र तत्रास्माभिः स समुट्टङ्कितः। इतः परं व्याख्यायां प्रायस्तदुल्लेखो वर्जितः परिदृश्यते, तथापि बोधसौकर्याय स प्रतिश्लोकमान्तमुट्टङ्क्यते। किन्तु मुधैव मत्वा इतः परं तत्र क्षेपकचिह्नोल्लेखाद्विरम्यत इति सुधियोऽवधारयन्तु।

सहस्रपदी सहस्रं पदानि पादाः किरणाश्च यस्याः सा। पदशब्दोऽपि दृश्यते लक्ष्ये। तादृशी सहस्रपदी सौरी सूरस्य रवेरियं सौरी। 'सूरसूर्यार्यमादित्या' इत्यमरः। सूर्यस्य सहस्रांशुत्वात्। सहस्रपदी तनुर्यत्तृतीयनेत्रस्थिता श्रितानां शरणमापन्नानां मृत्युभयं हरति। तदेतच्चित्रमित्यर्थः। तं शरणं श्रयामीति सम्बन्धः॥ २२॥

आकर्ण्येति। कृपाब्धिर्दयासमुद्रो यः श्रीशिव आर्तवचः 'कृपणमतिदीनं पाहि परमेश्वर' इत्याकर्ण्य श्रुत्वा तद्वचसो मनसि निलीनत्वाद्दयया धूतः कम्पितो यो मूर्धा तत्र या सुरनिर्झरिणी गङ्गा तस्याः कणौघैर्जलकणौघैरुत्सङ्गसङ्गताङ्कस्थिता गिरीन्द्रसुता पार्वती तस्याः कुचाग्रे संसक्ता ये मौक्तिकमणयो मुक्तारत्नानि तान्द्विगुणीकरोति। तमहं शरणं श्रयामीति सम्बन्धः॥ २३॥

उद्गाढेति। एतादृशं यस्य विभोर्वचनं तथा विलोचनं नेत्रं च। जातावेकवचनम्। लोचनत्रयं च पीयूषममृतमुद्वमति स्रवति। द्वे अपि विशिनष्टि—यस्य विभोर्वचनं किंभूतम्। उद्गाढात्यन्तदृढा भक्तिर्वाङ्मनःकायकर्मभिस्तदेकताध्यानासक्तिर्येषां तादृशा ये विधुरा भवभयार्तास्तेषां व्यपनीतः श्रीशिवभेदप्रथावबोधरूपो दोष एवान्धकारो येन तत्। पुनः किंभूतम्। अतिमात्रं शुचि निर्मलं पवित्रं च। तथा प्रकाशं व्यक्तम्। तथा विविक्ताः पृथक्-पृथक्स्थितावर्णा अक्षराणि यस्मिंस्तत्। तथा कर्णान्तगामि। भक्तजनस्येत्यर्थः। विलोचनं लोचन-त्रयमपि किंभूतम्। उद्गाढात्यन्तदृढा भक्तिर्विच्छितिर्ययोस्तौ विधुरश्च विधुश्चन्द्रो रविः सूर्यश्च तौ। ताभ्यां विधुरविभ्यामपनीतो दोषाया* रात्रेरन्धकारो येन तत्। रविचन्द्रयोर्दक्षिण-वामनेत्रस्थितत्वाद्विभोः। पुनः किंभूतम्। अतिमात्रं शुचेरग्नेः प्रकाशो यस्मिन्। तथा विविक्ताः पृथक् पृथक् स्थिता वर्णाः श्वेतकृष्णलोहिता यस्मिंस्तत्। तथा कर्णान्तगामि कर्णान्तायतमित्यर्थः॥ २४॥

पात्रीभवन्तीति। स्थिरा सत्या वाग्येषां ते स्थिरसत्यवाचो यस्य विभोरङ्घ्रिसरोजरेणूनां चरणकमलरजसां मैत्र्या परिचयेन पवित्रं शिरो येषां ते तादृशा धन्या जनाः सह आटोपेनाडम्बरेण वर्तते यः स चासौ कोपस्तेन विकटा विस्तीर्णा भ्रकुटिच्छटा यासु तासाम्। उत्ताला उद्भटा ये कालभटा यमकिङ्करास्तेषां वक्त्रेषु या विभीषिका भयविकृतिसंदर्शनानि तासाम्। यद्वा उत्तालं त्वरितं कृत्वा या विभीषिकास्तासां न पात्रीभवन्ति। कठिनयमभटवक्त्रभीतिसंदर्शनविकृतीर्न पश्यन्तीत्यर्थः॥ २५॥

सूक्तिमिति। कवयो निपुणकविकर्मकर्तारः परिवादका वैणिकाश्च यस्य (श्रीशिवस्य) यशांसि महदपदानोद्भूतानि गायन्ति। कस्य। यं विभुं श्रितवतः श्रीशिवभक्तजनस्य। द्वावपि विशिनष्टि—महतीं सूक्तिं शोभनोक्तिं वहन्तः। किंभूताम्। शुचिं विमलां निर्दोषाम्। तथा श्रोतृसहृदयजनस्य श्रवणयोरमृतं स्रवन्तीम्। तथा वक्रामुपचारवक्रपदयुक्ताम्। वक्रभणिति-मित्यर्थः। 'वक्रभणितिः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणी समुज्ज्वला भक्तिः' इत्यालङ्कारिकाः। तथा अभङ्गुरा दृढा गुणा ओजःप्रसादमाधुर्याणि यस्यां तादृशी। किंभूताः कवयः। वंशः कुलम्, विद्या च चतुर्दशविधा, ते परिशुद्धे येषाम्। परिवादका वैणिकाश्च किंभूताः। महतीं शततन्त्री-कामेकविंशतितन्त्रीकां वा वीणां वहन्तः। किंभूतां महतीम्। सूक्तिं शोभना उक्तिर्यस्यास्ताम्।

* 'दोषा रात्रिमुखे रात्रावत्रानव्ययमप्यसौ' इति विश्वः।

तथा शुचिं सुस्वराम् । श्रोतृकर्णयोरमृतं स्रवन्तीम् । वक्रां कुटिलम् । अभङ्गुरा दृढा गुणास्तन्त्र्यो यस्यास्ताम् ॥ २६ ॥

यदिति । यस्य श्रीशम्भोः सेवको भक्तजनस्तस्यावसरे रहःस्थानावसरे कुसुमिता ऋतुमती अवसरे ऋतौ गर्भग्रहणकाले वा सेव्या भवति । तथा कुसुमिता प्रफुल्ला कुसुमयुता उपवनस्थली च अवसरे सेव्या भवति । उभे अपि विशिनष्टि—वधूः किंभूता । मदनस्य कामस्योल्बणः कठिनो यो बाणपूगः शोषणमोहनसंदीपनतापनोन्मादनाख्यपञ्चबाणानां पूगस्तेन क्रान्ता । तथा अलिकस्य ललाटस्यान्तः । 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः । तत्र विकसन्ती तिलकस्य चित्रकस्योज्ज्वला श्रीः शोभा यस्याः सा । तथा कलो मधुरो यः कण्ठनादः स्वरस्तेन हृद्या । उपवनस्थली च किंभूता । मदना वृक्षविशेषा उल्बणा उन्नताश्च बाणा वृक्षविशेषाः पूगाश्च वृक्षविशेषास्तैः क्रान्ता व्याप्ता । तथा अलिभिर्भ्रमरैः कान्तश्चासौ विकसंश्च तिलको वृक्षभेदः । यः कान्ताकटाक्षैर्विकसति । तेनोज्ज्वला रम्या श्रीर्यस्याः । तथा कलकण्ठानां कोकिलानां नादेन कुहूरुतेन हृद्या रम्या ॥२७॥

यस्मिन्निति । यस्मिन्भगवत्येताः कात्यायनीप्रभृतयोऽखिन्नमनुद्वेगं मनो यासां ताः । तथा व्यसनेन भवमरुभ्रमणजसंतापकष्टेनावसन्नाः खेदिता ये भक्तलोकास्तेषां सन्तापशान्तौ कृता सम्मतिरेकीभूय सम्यक्प्रकारेण मतिर्याभिस्ता वसन्ति । एताः का इत्याह—कात्यायनीत्यादि । कात्यायनी भगवती । करुणा कृपा । चान्द्री कला । सुरसरिद् गङ्गा । स्निग्धा सदया दृक् । सरस्वती वाग्वादिनी च ॥ २८ ॥

सन्तापेति । सम्यक्ताप आध्यात्मिकादिर्भवमरुभ्रमणजो वा तस्य सम्पत् तदपहारे दूरीकरणे पटूनि प्रगल्भानि । तथा इन्दुधवलानि सुधांशुवद्धवलानि सिद्धसिन्धोर्गङ्गाया जलानीव जगन्ति त्रीण्यपि भृशमाकल्पयन्ति भूषयन्ति मदयन्त्यानन्दयन्ति पवित्रयन्ति सञ्जीवयन्ति च ॥ २९ ॥

दुष्कालेति । यस्य विभोश्चरितानि रविजभयत्रस्तश्वेतनृपाभयप्रदानादीनि घनसारभांसि । 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः कर्पूरः' इत्यमरः । घनसारवत्कर्पूरवद्भा दीप्तिर्येषां तानि । दुष्टश्चासौ कालो वर्तमानतुरीययुगसमयः स एव सङ्कटकटाहः सङ्कुचितकटाहस्तेन कदर्थिता व्यथितास्तत्र वा ये तेषाम् । तीव्राभिमानमनसां मनस्विजनानां तीव्राभिमानयुक्तं मनो येषां ते । अमन्दा बहवो ये हरिचन्दनबिन्दवः । 'हरि कपिलं तद्वर्णत्वात् । हरेरिन्द्रस्य वा चन्दनं हरिचन्दनम् ।' इति रायमुकुट्याम् । 'श्रीखण्डाख्यम्' इति स्वामी । तेषां वृन्दम् । सन्दोहो वृन्दप्रवाहस्तत्र दोहदमभिलाषं भिन्दन्ति वारयन्ति ॥ ३० ॥

तीरेति । अहो आश्चर्यम् । हरितामधीशा दिक्पाला दश । 'सूर्याश्वेषु हरित्पुंसि नीले त्रिषु दिशि स्त्रियाम्' इति मङ्खः । धीशालिनो धिया शालन्ते तादृशाः कमलिनीनां पुष्करिणीनां देवकासाराणां पुलिनस्थल्यस्तीरभूमयस्तासु । 'कमलिनी स्या(त्तु ?) त्कासारे पद्मिनीपद्मयोरपि' इति विश्वः । तीरे अरविन्दानि कमलानि । 'फुल्लारविन्द' इति पाठः । फुल्लानि यान्यरविन्दानि पद्मानि तेषां मकरन्दे परागे धृतः प्रकर्षेण सङ्गो याभिस्ता भृङ्गाङ्गना अलिन्यस्तासां यो गुमगुमारवः । गुमगुमेति शब्दानुकरणम् । गुमगुमेत्यारवः स एव गीतिर्गर्भे यस्य तत् । यस्य विभोः पूर्वोक्तानेकापदानस्तुतिरूपं चरितं गायन्ति ॥ ३१ ॥

व्यक्तेति । स्वयमेवोक्तिदेवी वाग्देवी यं विभुं शंसतो भक्तजनस्य मुखं वदनमधिवसत्याश्रयति । कयेव । राजीवसद्मकमलाविजिगीषयेव पद्मालयलक्ष्मीजिगीषयेव । भक्तजन-

वदनं कमलं च द्वे अपि विशिनष्टि—मुखं किंभूतम् । व्यक्तमुज्ज्वलं धवलं चालिकं ललाटम् । 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः । तेन चितं व्याप्तम् । तथा आयते अक्षिणी नेत्रे यस्य तत् । तथा विस्तीर्णा कर्णिका कर्णाभरणं यस्य तत् । तथा अनर्गलं विषमतारहितं रूढं नालं कण्ठो यस्य तत् । राजीवं पद्मं च किंभूतम् । व्यक्ता उज्ज्वलाश्चालयो भ्रमरास्तैः कचितं शोभितम् । 'व्यक्तोज्ज्वलालि' इति भिन्नपदं वा । तथा आयतान्यक्षाणि पद्मबीजानि यस्य तत् । 'रथांशेऽक्षो दैत्यभेदे पाशकद्यूतयोरपि । बीजे बिभीतके कर्षे स्रोतोग्रे क्लीब इन्द्रिये ॥ सौवर्चले' इति मङ्खः । तथा विस्तीर्णा कर्णिका यस्य तत् । 'कर्णिका कर्णभूषणे । करिहस्ताङ्गुलौ पद्मकोषे' इत्यमरः । तथा अनर्गलं रूढं नालं वृन्तं यस्य तत् । लक्ष्म्या पद्ममधिष्ठितमिति तत्स्पर्धया शब्दश्लेषेण तत्समानगुणं श्रीशिवभक्तमुखमाश्रयामीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

आपन्नेति । आपन्नानां शरणागतानां बान्धवस्तम् । तथा अवन्ध्यः सफलो मनोतिगवरप्रदानाद्वचनानां विलासो यस्य तम् । केष्वित्याह—आसन्नेत्यादि । आसन्नं मज्जनं भवोदधौ मायामोहतरङ्गाकुले ब्रुडनं येषां ते तादृशा ये नमन्तो भक्तिप्रह्वा जनास्तेषां सान्त्वनानि 'मा भैष्ट' इत्याद्याश्वासनानि तेषु । तथा सुधाकरकिशोरो बालचन्द्रस्तेन कृत अवतंसो यस्य स तम् । तथा संश्रितानां शरणोपनतानामार्तिस्तं हरतीति तादृशं विभुं श्रीशिवभट्टारकं शरणं श्रयामीति पूर्वेण सह सम्बन्धः । पञ्चविंशत्या कुलकम् ॥ ३३ ॥

देवमिति । अहं तं देवं श्रीशम्भुं शरणं श्रयामीति सम्बन्धः । तं कमित्याह—मुकुटेत्यादि । यस्य श्रीशिवस्य मुकुटे य उरगेन्द्रः सहस्रफणः शेषस्तस्य याः फणास्तासु मणयस्तत्सहस्रस्य मिषेण व्याजेन सुरसिन्धुजलोक्षितेन गङ्गाजलसेचितेन भालानलेन ललाटस्थतृतीयनेत्राग्निना प्रोन्मुक्तमङ्कुरसहस्रमिवाचकास्ति शोभते । सेकादनन्तरं हि प्ररोहोत्पत्तिर्भवति । अद्भुतं जलसेचनादग्निशिखोद्दीपनम् ॥ ३४ ॥

सानुग्रहेति । अहं गिरीशम् । 'गिरेः कैलासस्येशो गिरीशः' इति रायमुकुटीकारः । 'गिरेः कैलासस्येश उपभोग्यत्वाद् गिरीशः' इति सौगतमुनिटीकायाम् । अथ च गिरीणां पर्वतानामीशो गिरीशो हिमवांस्तम् । रूपकम् । हिमवन्तमिव वा । तापस्याध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपस्य शान्त्यै श्रयामि । अन्योऽप्यतितापशान्त्यै हिमवन्तं श्रयति । उभावपि विशिनष्टि—गिरिशं श्रीशिवं किंभूतम् । सहानुग्रहेण प्रसादेन वर्तन्ते ये ते सानुग्रहा उत्तमानां प्रधानानां गणाः समूहाः । 'समवायश्चयो गणः' इत्यमरः । तैराश्रितं पादयोश्चरणयोर्मूलं यस्य तम् । तथा मूर्ध्ना शिरसा धृता अभ्रसरिद्गङ्गा येन स तम् । तुषारा शीतला अमृतमयी मूर्तिर्यस्य स तुषारमूर्तिश्चन्द्रः । सह तुषारमूर्तिना चन्द्रेण वर्तते यः स तम् । तथा कटकेषु कङ्कणेषु विषधरैः सर्पैरासेवितम् । तथा अतिहृद्योऽतिशयेन प्रियो गुहः षण्मुखो यस्य तम् । हिमवन्तमपि कीदृशम् । सानूञ्शेखरान् गृह्णन्तीति सानुग्रहा ये गणा रुद्रानुचरा नन्दिभृङ्गिरिटाद्यास्तैराश्रितं पादानां प्रत्यन्तपर्वतानां मूलं यस्य स तम् । पुनः किंभूतम् । मूर्ध्ना शिरसा धृताभ्रसरितं धृतगङ्गम् । धृतान्यभ्राणि मेघा याभिस्ता गृहीतमेघाः सरितो नद्यो यत्र तमिति वा । पुनः किंभूतम् । सतुषारा सहिमा मूर्तिर्यस्य सः । हिमाश्रयत्वात् । तम् । पुनः किंभूतम् । कटकेषु पर्वतनितम्बेषु । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः । विषधरैः सर्पैर्जलधरैर्मेघैर्वा । 'मेघानां ह्यद्रयो मित्राणि' इत्युक्तत्वात् । आसेवितम् । पुनः किंभूतम् । अतिहृद्या गुहा देवखातबिलानि यस्य स तम् । विषशब्दो जलवाचकश्च ॥३५॥

यः क्षोरेति। अयमहं तमीश्वरं श्रयामीति सम्बन्धः। यः श्रीशम्भुरङ्घ्रितले पादतले क्षीरनीरधिं क्षीरोदधिं बिभर्ति। तथा सुधाकुम्भं सुधाकलशं च करे पाणौ बिभर्ति। 'देवं सुधाकलशसोमकरम्' इति ध्यानोक्तेः। तथा अदीनामुद्भटाम्। तरङ्गभङ्ग्येत्यर्थः। गङ्गां च शिरसि बिभर्ति। अत्र विभोर्निजाङ्गेषु चरणादिषु त्रिष्वमृतरसापूर्णमहाशीतलक्षीरोदध्यादिवस्तुत्रयधारणे उत्प्रेक्षाध्वनिपूर्वकहेतुं युक्तमाह। किं कर्तुम्। भविनां जन्मिनामणुकर्ममायामूलमणुः पुद्गल आत्मा, कर्म शुभाशुभम्, माया अविद्यापरपर्यायं परमात्मनः परमशिवाद् विश्वस्य भेदप्रथारूपमज्ञानम्, सैव मूलं कारणं यस्य तत्तादृशं मलत्रयमाणवमायीयकार्मरूपं हर्तुं दूरीकर्तुम्। अत्रेवशब्दस्यार्थत्वाद्गम्यमानोत्प्रेक्षा। हर्तुमिव बिभर्तीति भावः॥ ३६॥

यस्येति। अहं तं विभुं त्रिजगदधीशं श्रीशिवमाश्रये शरणं भजामि। तं कमित्याह—यस्य प्रभोर्जटास्वापगा आपेन अप्सम्बन्धिना वेगेन गच्छतीति आपगा नदी गङ्गा। सौमनसी। 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः। स्रगिव मालती कुसुममालेव। अनायासकारिणी हृद्या च जटासु भातीति शेषः। तथा यः प्रभुः कौमुदीं कुमुदस्य कैरवस्येयं प्रियत्वात्कौमुदी ज्योत्स्ना तां विरचनामिव विलेपनमिव मूर्ध्नि शिरसि धत्ते। तथा यः प्रभुः शिवां देवीं वरश्चाभयं च वरमुद्रा चाभयमुद्रा च करयोर्वामदक्षिणयोर्यस्याः सा वराभयकरा। तथा चोक्तं श्रीस्वच्छन्दतन्त्रराजे—'वामं भुजं प्रसार्यैव जानूपरि निवेशयेत्। प्रसृतं दर्शयेद्दक्षं वरः सर्वार्थसाधकः॥ अग्रे प्रसारितो हस्तः श्लिष्टशाखो वरानने। पराङ्मुखं च तं कृत्वा अभयः परिकीर्तितः॥' इति। कमिव। दृशमिव। प्रीतिः संस्तुष्टः सन्यथा दृशं धत्ते। दृष्टिः सापि कीदृशी। वरं देवाद्व्रतमभीष्टमभयं भयाभावं च करोतीति वराभयकरा ताम्॥ ३७॥

गौरीमिति। अहं तमिन्दुमौलिं चन्द्रशेखरं श्रीशिवं निर्वाणदमात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपं मोक्षं ददातीति निर्वाणदस्तादृशं शरणं रक्षितारमेमि व्रजामि। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। तं कमित्याह—यो विभुः कात्यायनीं गौरीं पार्वतीम्। 'गौर्यजातरजःकन्या पार्वती त्रिषु पाण्डुनि। पीतेऽरुणे च' इति मङ्खः। सुरनदीं गङ्गां च बिभर्ति धारयति। किंभूतां गौरीं पार्वतीम्। गजास्यजननीं गजास्यस्य गणपतेर्जननी ताम्। तथा हिमवतो गिरीन्द्रात्प्रसूतिरुत्पत्तिर्यस्यास्ताम्। तथा सद्य एव स्मरणदर्शनाद्यनन्तरमेव पवित्रितं जगत्त्रितयं यया। गङ्गापक्षे गौरीं विमलां धवलां च। अन्यत्समानम्॥ ३८॥

कापीति। अहमेवंभूतं विभुं त्रिजगदधीशं स्वतन्त्रमाश्रयामि। शरणमिति शेषः। किंभूतम्। क्वापि कस्मिन्नपि काले उद्धृतमुच्चैर्हृतं छेदितं विधातुर्ब्रह्मणो मृगस्य मृगरूपस्योत्तमाङ्गं शिरो येन स तम्। तथा हि पुराणेषु प्रसिद्धम्—ब्रह्मा स्वां दुहितरं सन्ध्यामतिरूपवतीं विलोक्य कामोद्रेकाद्बलात्तामुपगन्तुमुद्यतः। सा च पिता भूत्वा मामयमुपगच्छतीति लज्जया मृगी बभूव। ततस्तां तथाभूतां दृष्ट्वा ब्रह्मापि मृगरूपमधारयत्। तच्च दृष्ट्वा त्रिजगन्नियन्त्रा महेश्वरेण श्रीशिवभट्टारकेणायं प्रजानाथो धर्मप्रवर्तको भूत्वाप्येतादृशं जुगुप्सितमाचरतीति महतापराधेन दण्डनीयो मयेति पिनाकमाकृष्य शरः प्रक्षिप्तः। तेन ब्रह्मणः शिरश्छिन्नम्। तन्मृगशिरो नक्षत्ररूपं बभूवेति। तथा क्वचित्कदाचित्काले उत्सङ्गे मध्यभागे सङ्गतो मिलितो मृगोऽत्र शशो यस्य स तादृशमोषधीशं चन्द्रं चन्द्ररूपम्। चन्द्रमूर्तिधरमित्यर्थः। अष्टसु मूर्तिषु मध्ये चन्द्रमूर्तिधरत्वात्। तथा क्वचिन्मृगाणां हरिणादीनां वधे एका रतिः सुखं

यस्य स तादृशं किरातरूपम् । तथा क्वचिद् वातं वायुरूपं वायुमूर्तिधरम् । अष्टसु मूर्तिषु वायुमूर्तिधरत्वादपि विभोः । वातं किंभूतम् । मृगरथं मृगो रथभूतो यस्य स तादृशम् । पृषदश्व इति वायोः प्रसिद्धेः । तदेवं भगवाञ्छ्रीशिवभट्टारकोऽनेकरूपः स्वतन्त्र इत्यर्थ । क्वचिन्मृगस्य वधात्कचिद्रक्षणादत्र स्वतन्त्रत्वं विभोः ॥ ३९ ॥

उद्दामेति । अहं निरङ्कुशं केनापि न निरुद्धं स्वतन्त्रं स्वेच्छया यथाभिलषितविधायिनं विभुमाश्रयामि । एतदेवाह — किंभूतम् । उद्दामदोषमुद्दामान उद्भटास्त्रिपुरान्धकासुराद्यनेकदैत्यवधोद्धुरा दोषो भुजा अष्टादश यस्य तम् । दोष्शब्दो हलन्तः । 'अष्टादशभुजं देवं नीलकण्ठं सुतेजसम्' इत्यागमोक्तिः । तथा दीर्घा गुणा अणिमादयोऽष्टौ अनन्यसामान्यशौर्यादिगुणा वा यस्य तम् । यश्चोद्दामदोषः स कथं सगुणो भवतीति विरोधः । अन्यार्थत्वेन तदभावः । तथा किंभूतम् । भुजङ्गभोगा वासुकिनागादिकायास्तैरुपगूढमालिङ्गितमपि रूढ उत्पन्नः शिखिनोऽग्नेस्तृतीयनेत्रस्थस्य प्रकर्षेण सङ्गो यस्य स तादृशम् । यश्च सर्पभोगोपगूढः स कथं रूढः शिखिभिर्मयूरैः सह प्रसङ्गो यस्य स तादृशो भवति । मयूराणामहिभुक्त्वादिति विरोधः । अन्यार्थत्वेन तदभावः । तथा कपालैर्महाप्रलयादौ कालाग्निरुद्ररूपधारिणा श्रीशिवभट्टारकेण संहृतब्रह्मादीनां कपालैर्दीव्यति कापालिकस्तस्य व्रतेन समेतस्तादृशमपि द्विजेन्द्रचूडामणिं द्विजानां नक्षत्राणामिन्द्रो द्विजेन्द्रश्चन्द्रः स चूडामणिर्यस्य स तादृशम् । योऽपि कापालिकव्रतधरः स कथं द्विजेन्द्राणां विप्रवराणां चूडामणिर्भवतीति विरोधः । अन्यार्थत्वेन विरोधाभावः ॥ ४० ॥

अङ्ग इति । अहं विभुं त्रिलोकनाथं श्रीशिवं विस्मयनिधिमत्याश्चर्याश्रयमाश्रयामि । एतदेव विशेषणमहिम्ना स्पष्टयति—अङ्ग इत्यादि । किंभूतम् । धृताङ्गनम् । प्रशस्तान्यङ्गानि यस्याः सा अङ्गना देवी स्वातन्त्र्यशक्तिरूपा । धृता अङ्गना येन स तम् । कुत्र । अङ्गे निजाङ्गे । वामभाग इत्यर्थः । तथा किंभूतम् । अनङ्गस्य कामस्य कृतोऽङ्गभङ्गो दाहेन भस्मीकरणरूपो येन तम् । अत्र योऽङ्गे निजाङ्गसविधे धृतस्त्रीकः स कथं कृतानङ्गभङ्गो भवतीत्याश्चर्यम् । तथा किंभूतम् । विश्वाधिनाथं विश्वं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं तस्याधिनाथोऽधिको नाथस्तम् । पुनः किंभूतम् । खण्डकपालपाणिं खण्डं कपालं ब्रह्मकपालं पाणौ यस्य स तादृशम् । यश्च विश्वाधिनाथो जगति सम्राड् भवति स कथं खण्डकपालपाणिः खण्डघटकर्परपाणिर्भवति । तथा किंभूतम् । उग्रम् । 'उच् समवाये' धातुः । उच्यति प्रलयकाले रौद्रत्वात्क्रुधा समवैतीत्युग्रः, उद्गतः सर्वोपरि वर्तते वा उग्रस्तम् । तथा शिवम् । भक्तलोकानां भवोदध्युत्तरणरूपशिवकारित्वात् । यश्चोग्रः क्रूरो भवति स कथं शिव इत्याश्चर्यम् । तथा कं विभुम् । हरम् । प्रलये कृत्स्नं हरतीति हरस्तम् । तथा अघोरम् । परचैतन्यानन्दघनाद्वयमहाभैरवात्मकस्वस्वरूपे प्रत्यभिज्ञापकत्वात् । तथानाश्रितसदाशिवेश्वरादिरूपभेदात्मपदप्रदत्वादघोरः परमानन्दप्रदस्तम् । यश्च हरो भवति स कथमघोरो न घोरः परमसुखदायीत्याश्चर्यम् । तथा अजम् । न जातोऽजोऽभवोऽनादिर्ब्रह्मादिकारणानामपि कारणत्वात्सत्तामात्ररूपः । तथा सद्यस्तत्क्षणमेव जातः शिवादिक्षित्यन्तविश्वस्य निजप्रतिबिम्बभूतस्य नवनवोल्लासात्सद्योजातरूपः । ईशानतत्पुरुषाघोरवामदेवसद्योजातानां पञ्चब्रह्मणां मध्ये सद्योजातस्तद्रूपमित्यर्थः । यश्चाजः स कथं सद्यो जातो भवतीत्याश्चर्यम् । एतेषां सर्वेषां पदानामन्यार्थत्वेऽविरोधः ॥ ४१ ॥

अस्मिन्निति । अहमस्मिन्भवाध्वनि संसाराध्वनि महाविषमेऽत्यन्तदुर्गमे भीरुः सन्नसमेषुर्विषमेषुः कामः रोषः क्रोधस्तदाद्या ये तस्करा दस्यवस्तेषां तिरस्करणेऽत्यन्तदमने एकवीरमीशं

परमेश्वरमनुत्तमशक्तिमविद्यमान उत्तमो यस्यास्तादृशी शक्तिः स्वातन्त्र्यशक्तिर्यस्य स तादृशं क्षणदाकुटुम्बलेखाशिखामणिं परमेश्वरं श्रयामि। एतद्वृत्तानुसारेण ममापि वृत्तमेकम्। यथा—

'पञ्चेषुणा हृतविवेकधनं कृतान्तपञ्चास्यघोरतरहुङ्कृतिकातरं माम्।
पञ्चेन्द्रियारिकृतवञ्चनपञ्चभद्रं पातुं क्षमोऽस्ति किल पञ्चमुखः स देवः॥'

इति। 'पञ्चभद्र उपप्लुतः' इत्यमरः। अन्यत्स्पष्टम्॥ ४२॥

किमिति। मेरुः स्वर्णाचलः मन्दरो मन्थाचलस्तत्प्रभृतिभिर्गिरिभिः किम्। न किंचित्कृत्यमित्यर्थः। सिद्धान्तमाह—कैलास एव गिरिर्गरीयानत्यन्तं गुरुर्गौरववान् भवति। अत्र हेतुमाह—स कैलासः, कः। यस्य कैलासस्य गिरेरभयङ्करं रक्षितारम्। सर्वसत्त्वानामिति शेषः। असङ्करम् अविद्यमानः सङ्करोऽवकरो मार्जनीक्षिप्तधूल्यादिर्यस्य तम्। 'सङ्करोऽवकरस्तथा। क्षिप्ते' इत्यमरः। तथा सुटङ्कम् शोभनष्टङ्को विच्छित्तिरूपो यस्य स तम्। तथा अकलङ्कं विमलमङ्कं मध्यं जगतामेकगुरुरेकः शासको गिरिः कैलासस्येशो गिरीशः श्रीशिवोऽलङ्करोति भूषयति। निजनिवासानुग्रहेणेत्यर्थः॥ ४३॥

उल्लङ्घ्येति। अनन्यजशासनस्य कामरिपोः श्रीशम्भोः शासनं शास्त्रमुल्लङ्घ्य कोऽपि मूढो विरलोऽन्यशासनमन्यशास्त्रमुपासितुं निष्ठां स्थितिमेति। अत्र दृष्टान्तमाह—हित्वेत्यादि। हि यस्मात्कारणान्नवान्यार्द्राणि यानि नागरपर्णानि ताम्बूलवल्लीदलानि तैः पूर्णं वनं हित्वा त्यक्त्वा। उष्ट्रः उष्यते दह्यते मरावुष्ट्रः क्रमेलकः। सकण्टकौघं सुतीक्ष्णकण्टकमवटमेव भृगुमेव श्रयति। 'प्रपातस्त्ववटो भृगुः' इत्यमरः। अवन्त्यस्माल्लोका इत्यवटः। अत्र चोष्ट्र इति पदांशे श्रुतिकटुत्वेऽपि भक्तिविषये न दोषः। एतद्वृत्ताशयानुसारेण ममापीदं वृत्तमेकम्—

'हृद्यं विहाय शिवशास्त्ररसायनं यो धत्तेऽन्यशासनमतश्रवणेऽभिलाषम्।
हित्वाभ्रसिन्धुजलमिन्दुकलावदातं चुण्टीजलं पिबति कुण्ठमतिः स मर्त्यः॥'

इति॥ ४४॥

यदा कदापि यत्र कुत्रापि येन केनचित्प्रसङ्गेन श्रीशिवसेवा विहिता सर्वाभीप्सितदैवेत्याह—

अन्यार्थमिति। अन्यो यजमानादिः प्रेरकोऽर्थः प्रयोजनं यत्र तदन्यार्थमप्युपहिता कृता शितिकण्ठस्य श्रीशम्भोः सेवा लोकस्य पूजकस्य कल्पलतिकेव सर्वाभीष्टफलप्रदावश्यं फलत्येव। अत्रापि दृष्टान्तमाह—उद्दीपितेति। खलु निश्चये। येन जनेनान्यस्य लोकस्य कृते दीपशिखा उद्दीपिता तस्याप्युद्दीपकस्याप्यर्थसार्थे घटपटादिपदार्थजातं दर्शयति॥ ४५॥

यदीति। स भगवाञ्श्रीशिवः। अपिर्भिन्नक्रमः। जीविकार्थं जीवनोपायार्थमपि केनापि यद्यर्चितस्तत्रापि तस्यार्चकस्य किल्बिषविपाकमपाकरोति नाशयति। अत्र दृष्टान्तयति—द्युसिन्धुपयसि त्रिपथगावारिणि निदाघघर्मच्छिदे ग्रीष्मोष्मशमनाय योऽपि प्लवते मज्जते सोऽपि धौतपापो निर्धूतपातको भवति। हि निश्चये॥ ४६॥

पूर्वोक्तमपि पुनरपि समर्थयति—

कुर्वन्तीति। अपरैरन्यैर्नियुक्ता दत्ताज्ञा अपि ये मर्त्या भर्गस्य श्रीशम्भोर्भक्तिं कुर्वन्ति तेऽपि भवदुर्गतिं जन्मजरामरणव्यापदमुत्सृजन्ति त्यजन्ति। अत्र च दृष्टान्तमाह—स्तन्यार्थ-

मिति। आढ्यजनेनेति शेषः। आढ्यजनेन पृथुकस्य बालकस्य स्तन्यप्रदानायोपहिता गृहीतापि धात्री उपमाता। 'धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामलक्यपि' इति शाश्वतः। अखिलभोगसुखासिकानां सर्वभोगाश्च सुखासिकाः सुखेनासनक्रियाश्च तासां पात्रीभवति। ताः प्राप्नोतीत्यर्थः। 'उपचिता' इत्यपि पाठः॥ ४७॥

दम्भादिति। ध्रुवं निश्चये। दम्भादपि दम्भेनापि प्रयुक्तः कृतोऽनङ्गजितः स्मरारेः पूजाविधिः प्रमदसम्पदं परमानन्दसमृद्धिमादधात्युत्पादयति। अत्रापि दृष्टान्तमाह—वेश्येति। अत्रापि परार्थं विहित इति शेषः। परार्थं विहितोऽप्यङ्गरागो विलेपनं च मालाश्च दुगूलं धौतकौशेयं च तैर्धवल उज्ज्वलः कृतकोऽपि वेषो नेपथ्यं वेश्याजनस्य रूपाजीवाजनस्य सुखाय निजसुखाय किं न भवति। भवत्येवेत्यर्थः॥ ४८॥

पूर्वोक्तप्रकारेण श्रोतृजनं सम्यग्बोधयित्वा पूत्कृत्य वक्ष्यमाणमाह—

तस्मादिति। भोः सहृदया इति शेषः। भोः सहृदयाः, पूर्वोक्तशासनाद् विभुमेव परमकारुणिकं श्रीशम्भुमेव येन केनापि प्रकारेण स्वेच्छया प्रेरणया वा केनापि प्रसङ्गेन वा शरणमुपेत व्रजत। किं बहुनेत्यर्थः। भवतां चेत्सुदुर्लभा मुक्तिरात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिर्निजभाग्यमहिम्ना न भवति तर्ह्यघानि पातकानि प्राक्तनजन्मवृन्दार्जितानि किं न गलन्ति न दूरीभवन्ति। भवन्त्येव। अत्र प्रमाणमाह—यः पुरुषो निजेच्छयैवामृतह्रदे सुधाह्रदे निपतत्यसौ पुरुषश्चेत्तत्र सुधाह्रदे न मज्जति न ब्रुडति तर्ह्यसिक्तोऽमृतबिन्दुसिक्तः किमुदेति। नोदेति। अमृतरसबिन्दुसिक्त एवोदेतीत्यर्थः॥ ४९॥

क्षीराब्धेरिति। यस्य देवस्य श्रीशिवस्य तदेतत्क्रीडामात्रकमेव बालस्य यथा क्रीडनकक्रीडा तथैव भवति। स देवः। 'दिवु क्रीडायाम्' धातुः। दीव्यतीति देवः शिवादिक्षित्यन्ताशेषसृष्ट्यादिक्रीडापरः परशिवः कथमस्माभिश्चर्मचक्षुर्भिर्वर्ण्यते। तदेतत्किमित्याह—यत्क्षीराब्धेः क्षीरोदधेरवहेलया सावहेलं वितरणं दानम्। बालस्योपमन्युमुनेरित्यर्थः। तथा यन्निर्यन्त्रणमव्युच्छिन्नं हेम्नो जाम्बूनदस्य वर्षणं सप्तदिनानि वृष्टिः। मरुत्तस्य नृपतेः पुर इत्यर्थः। तथा यत्क्रुद्धेन कृतान्तेन यमेन मुक्तः प्रक्षिप्तो यः फणभृत्पाशः सर्पपाशस्तेन यो ग्रहो दृढग्रहणं तस्मादुद्बर्हणं मोचनम्। श्वेताख्यनृपतेरित्यर्थः। यच्चोत्कटो महोद्भटश्चासौ कालकूटो विषभेदस्तस्य कवलीकारो निगरणं समुद्रमथनावसरे। तदादि कर्माद्भुतमपदानं यस्य॥ ५०॥

स्वच्छन्दस्येति। अस्य देवस्य शिवादिक्षित्यन्ताशेषसृष्ट्यादिक्रीडापरस्य महेश्वरस्य परमशिवस्य महिम्नः श्लाघाविधौ महत्त्वस्तुतिविरचने के वयं भवामः। यस्य महिमावबोधे ब्रह्मविष्ण्वादयोऽप्यसमर्थास्तत्रास्माकं का गतिरित्यर्थः। अस्य कस्येत्याह—स्वच्छन्दस्येति। यस्य विभोः स्वच्छन्दस्य स्वातन्त्र्यशक्तियुक्तस्य यदृच्छया निजेच्छया शक्त्या भ्रूलतां प्रेङ्खोलतां मनाग्दोलारूपतां चाञ्चल्यं गमयतः प्रापयतः सतः आज्ञैवानुग्रहो महाप्रसादस्तस्य लाभेन कत्थनं विकत्थनं तेन घनः परस्परं स्पर्धया अनुबन्धोऽविच्छेदस्तेनोद्धुराः। अत एव सहोष्मणा वर्तन्ते ये ते देवासुरा ब्रह्मादिदेवा असुराश्च कलहं कलयन्ति कुर्वन्ति। ममैवानुग्रहस्त्रिजगदीशेन कृतो ममैवेति॥ ५१॥

उर्वीति। तस्य महत ईश्वरस्य ब्रह्मादिकारणानामपि कारणस्य किं ब्रूमः। महिमानमिति शेषः। तस्य कस्येत्याह—यः परमेश्वरो भोक्ता स्वतन्त्रकर्तृरूपो भोग्यः कार्यरूपश्चोर्व्या-

दिभिः क्षितिजलपवनादिभिः । अरुणः सूर्यः । शिखी अग्निः । अष्टाभिर्मूर्तिभिर्भुवनं त्रिजगद्बिभर्ति धारयति रक्षति पुष्णाति च । यश्च विभुः स्फारैर्निजोल्लासरूपैर्शैर्ब्रह्मपुरन्दरप्रभृतिभिर्ब्रह्मेन्द्रादिभिः स्वकैः स्वेच्छयोत्थापितैः शारैरिवाक्षैरिव स्वयमेवोत्थापितनिर्नाशितैः क्रीडनकैरिव स्वैरी स्वातन्त्र्यशक्तियुक्तः सदा क्रीडति खेलतीति शिवम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां शरणाश्रयणं नाम अष्टमं स्तोत्रम् ।

नवमं स्तोत्रम्

दीपोत्करैरिति । रूयते स्तूयते त्रिलोक्या इति रविः । तस्य रवेस्त्रिजगच्चक्षुषो या रुचः सहस्रपरिमिता रश्मयस्तासां दीपोत्करैर्गृहमणिसमूहैरियं परिपूरणा । विडम्बनायैव भवतीत्यर्थः । तथा पयोनिधेर्महार्णवस्य नीहारवारिभिरवश्यायजलैरिदं भरणं परिपूर्णीकरणम् । तदपि विडम्बनाय । इयं परिपूरणा, इदं च भरणं किमित्याह—हे भव, भवत्यस्माच्छिवादिक्षित्यन्तं समस्तमिति भवः । परमशिवः । तत्सम्बोधनं हे भव । मितदृशां मिता दृग् ज्ञानं येषां ते तादृशामत्यल्पज्ञानवतामस्मादृशां वराकाणाम् । 'दृग्बुद्धौ दर्शने च स्त्री' इति मङ्खः । चर्मचक्षुषां नियतैः परिमितैर्वचोभिस्तव स्तवचापलं स्तुत्युद्योगिता यत्प्रस्तूयत आरभ्यते तद्विडम्बनायैवेत्यर्थः । निदर्शनालङ्कारः ॥ १ ॥

अत्रेति । अत्र विषये । ममेति शेषः । मम गिरो वाण्या इयं धृष्टता प्रागल्भ्यम् । एवशब्द आर्थः । धृष्टतैवापराध्यति । अत्र कुत्रेत्याह—यद्यस्मात्कारणात् हे स्वामिन् , एषा मम गीः परामुत्कृष्टां प्रौढिं पदार्थे वाक्यरचनादिरूपो गुणविशेषः प्रौढिस्तामनुपयत्यपि अप्राप्नुवन्त्यपि निसर्गेण स्वभावेन मुखरा अत्यन्तवाचाटा मुखे आमुख एव रागः किञ्चिद्वर्णनाभिलाषो यस्या ईदृशी सती यद्धठादिव बलादिव परमुत्कृष्टतरं परात्परतरं पुरुषं परमात्मानं परमशिवं त्वां ग्रहीतुं यद्वाञ्छति तत्तस्या धृष्टतैवापराध्यतीत्यर्थः । अन्च च काचित्स्वभावतो वाचाटा मुख एवानुरागवती च परां बाल्यात्परां प्रौढिं यौवनावस्थामप्राप्नुवत्यपि परमन्यं पुरुषं कामुकं यद्वाञ्छति तत्र तस्या धृष्टतैवापराध्यतीत्यर्थः ॥ २ ॥

यद्वेति । यद्वा पक्षान्तरे । अथवा हे स्वामिन् , मादृशोऽपि वराकस्य यदाश्रितस्य भवन्तं विभुमाश्रितस्य अर्थान्ममैव शस्यः स्तुत्यः स कोऽप्यनिर्वाच्यो महिमा असुलभो दुर्लभो न भवति । हि निश्चये । किन्तु सुलभ एवेत्यर्थः । ममैवैष महिमा भवदाश्रितत्वाद्गिरः । दृष्टं चैतत् । हे विभो, त्वदुक्षा भवदीयवाहनशाक्करो यत्र स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं मन्दमपि पदं धत्ते तत्र मही हेममयी जाम्बूनदमयी भवति । हि निश्चये ॥ ३ ॥

भीष्म इति । विषाद्गरलादपि भीष्मो घोरः अकारणारिर्निष्कारणवैरी मोहामयः । 'मीङ् हिंसायाम्' । आमिनोति हिनस्ति बलमामयः । मोहोऽविद्यापरपर्यायमज्ञानमेवामयो रोगः । विषादपिनद्धं विषादेन दुःखेन पिनद्धं परिवलितं सविकारमनेकचिन्ताजालदोषदुष्टमेतन्मदीयं चेतश्चकार । हे स्वामिन् परमेश्वर, अयमहं तव विभोः स्तवः स्तुतिरेव रसायनं जरामरणव्याधिहरं महौषधं तस्य सेवनेन तमामयं मोहमयमस्तमयं नाशं नयामि । रसायनसेवया हि महामयः शाम्यति ॥ ४ ॥

एष इति । हे गिरीश । गिरेः कैलासस्येशस्तस्यामन्त्रणं हे गिरीश शम्भो, नवप्रमदोपदेशमादेशयन् कुर्वन्कोऽप्यनिर्वाच्यमहिमा गुरुर्महान्दैशिकश्च तव विभोः स्तवः स्तुतिरूपो जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । एष क इत्याह— यस्य स्तवस्य संक्रमस्तत्त्वार्थान्तःप्रवेशः स एव संक्रमः सोपानं तस्य क्रमस्तद्वशेन मे मम वाणी सद्यः पुरोऽग्रे स्फुरति । किंभूतेन । दुरतिक्रमेण दुरारोहेण । दैशिकोऽपि शिष्यस्य मनसि धारणान्तःप्रवेशेन संक्रमणदीक्षां विधत्त इत्यागमोक्तिः ॥ ५ ॥

नास्येति । हे अन्धकरिपो परमेश्वर, अस्य मम मनसः सरसं सह रसैः षड्भिः स्वादुप्रभृतिभिर्वर्तते यत्तत्सरसम् । षड्रसममृतमित्यायुर्वेदे । सरसाय रसायनायामृताय स्पृहा नास्ति । तथा अयन्त्रितमव्युच्छिन्नमिन्दुवदनावदनामृतं चन्द्रमुखीमुखामृतं तस्मै । तु पक्षे । हे विभो, भवतः सविधं निकटं तत्र निर्बन्धं हेवाकमेति । अतो हे विभो, इदं मे मम मनो बन्धाद्भवबन्धान्निर्मुक्तं निर्बन्धं विमुक्तमायाबन्धं वा विधेहि कुरु ॥ ६ ॥

आभातीति । हे हर, शक्रनगरी अमरावती गरीयसी अतिशयेन गुर्वी मे मम न आभाति । तथा काञ्चनाद्रिश्च मेरुगिरिश्च कांचन प्रीतिं न सिञ्चति । तुष्टिं नोत्पादयतीत्यर्थः । हे विभो, यत्रारण्ये त्वच्चरणपङ्कजपूजासुखं स्यात्तदेवारण्यं शरण्यं शरणे साधु परं केवलं जाने । परमुत्कृष्टं वा ॥ ७ ॥

पुष्पेष्विति । बलं विद्यते यस्याः सा बलिनी । सा मे मम दृगलिनी दृग्दृष्टिरेवालिनी भ्रमरी साम्प्रतमिदानीं तव भक्तिर्वाङ्मनःकायैस्तदेकविषयतासक्तिः सैव कल्पलतिका तस्याः फलं परमानन्दरूपं तस्य भोगे तृष्णामभिलाषं व्यनक्ति प्रकटीकरोति । सा केत्याह—येत्यादि । पुष्पेषुः प्रसूनेषुः कामस्तस्य दोहदवशादभिलाषहेतोरवशास्वतन्त्रा या मे दृग्भ्रमरी वामनयनाभुजमञ्जरीषु कामिनीभुजलतासु भृशमत्यर्थं बभ्राम । अथ च यालिनी मञ्जरीषु लतासु पुष्पेषु कुसुमेषु दोहदवशात् पुष्पफलप्रदानौषधं दोहदस्तद्वशादुत्पन्नेषु भृशं बभ्राम सा कल्पलतिका भोगेच्छां प्रकटीकरोति ॥ ८ ॥

अधुना परमेश्वरानुग्रहेण कदाचित्प्राप्यायाः शिवभक्तेर्महिमानं स्तौति—

किमिति । हे हरेति प्रस्तुतम् । मुकुटस्थेन्दुकलां निपीड्येयं भक्तिर्वाङ्मनःकायकर्मभिस्त्वदेकविषयासक्तिः प्रणयिनां शरणापन्नानां भवतापशान्त्यै संसारमरुभ्रमणजतापोच्छित्त्यै त्वया कृपया किं निर्मिता । किं वा शिरः शरणं स्थानं यस्याः सा निर्झरिणी गङ्गा तस्या जलेनातिशीतलेन निर्मिता । किं वा करस्थः कलशस्तदमृतप्रसेकेन । एवं नो चेत्स्याद्भवे जन्मन्यतिकठिने आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपतापत्रयहर्त्री भविनां कथं स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

स्वामिन्निति । हे स्वामिञ्शंभो, विचित्राणि नानाविधानि चरितानि त्रिपुरदाहान्धकासुरवधश्वेताभयदानक्षीराब्धिदानादीनि यस्य स तादृशस्य तवापदानगीतामृतेष्वद्भुतकर्मगीतसुधारसेषु दृढं गाढं रूढोत्पन्ना रतिः परमानन्दो यस्याः सा ममेयं वाणी दूरीकृतान्यसरणिर्दूरीकृता अन्यसरणयोऽन्यमार्गाः श्रीशिवशासनादन्ये यया सा तादृशी सती तत्रैव गीतामृते जातरतिः पदात्पदमेकपदमपि गन्तुं न क्षमते । सत्यमेतत् । केव । हरिणीव । सापि गीतेषु रूढरतिः पदादेकं पदमपि गन्तुं न क्षमते । 'हरति हरिणचित्तं का कथा देवतानां रमयति च महेशं को वराको नरेशः' इति सङ्गीतशास्त्रोक्तेरिति ॥ १० ॥

आश्वासनमिति । यमः कालस्तस्य भयेन त्रासेन याकुलता तां यमभयाकुलतामृतानां गतानाम् । 'ऋ गतौ' धातुः । तथा भवदवव्यथया भवो जन्म । उपलक्षणमेतत् । जन्मजरामरणरूपो यो दवो दवाग्निस्तेन या व्यथा तया मृतानां कथाशेषतां गतानाम् । तथा सुकवीनां राजानः सुकविराजा महाकवयस्तेषां गिरां वाचामालम्बनमाधारभूतम् । किंभूतानां गिराम् । ऋतानां सत्यानाम् । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः । हे स्वामिन्, ते तव चरितामृतानां चरितान्येवामृतानि तेषां सङ्कीर्तनं जयति सर्वोत्कृष्टं भवति ॥ ११ ॥

दानमिति । हे विभो, चारु रम्यं भवतः परमेश्वरस्य किं किं न चरितं जनेन प्रशस्यं स्तुत्यम् । तदेवाह—तत्रानन्यसामान्यतया प्रसिद्धान्दानप्रसादत्यागान्माहेश्वरानाह—दानं चेत्परीक्ष्यमीश्वरस्य तर्हि किलेत्यागमे तरङ्गैस्तरलश्चलो दुग्धसिन्धुः क्षीरार्णवो दानम् । उपमन्युमुनेर्बालस्येत्यर्थः । तथातिभयानककालत्रासान्मोचनं मुक्तिः प्रसादोऽनुग्रहः । श्वेताख्यनृपतेरित्यर्थः । तथा सप्तदिवसानि सुवर्णवृष्टिः कनकवर्षणं मरुत्तनृपतेः पुरे । एष त्यागः । अतः किं किं न चरित्रं विभोः स्तुत्यम् । अत्र च दानत्यागयोर्विशेषः—पात्रापात्रविवेकेन यद्वितरणं तद्दानम् । तदभावेन यद्वितरणं स त्याग इति । यत्तु—'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने ।' इत्यमरसिंहेन स्वकोष उक्तं तत्सामान्येन तज्ज्ञैरुह्यम् ॥ १२ ॥

स्वामिन्निति । भोः स्वामिन्, रजसा पापेन रजोगुणेन परिचितं स्पृष्टम् । तथा चपलः स्वभावो यस्य तम् । तथा जात्या आजन्मतो मलीमसं कलुषम् । इदं मदीयं हृदयं मनस्त्वत्पादपद्मविषये भवदीयचरणाम्बुजस्थले कृतः पक्षपातः स्नेहो येन तादृशं सत्प्रमोदभरेण परमानन्दभरेण निर्भरः पूर्णो यो भृङ्गश्चञ्चरीकस्तस्य भङ्गिं विच्छित्तिं धत्ते । भृङ्गोऽपि रजसि परागे परिचितस्तथातिचपलस्वभावः । जात्या मलीमसः कृष्णवर्णोऽपि । तथा पद्मे कमले दृढः पक्षाणां सूक्ष्मपक्षाणां पातो यस्य तादृशो भवति ॥ १३ ॥

त्वामिति । हे शङ्कर कैवल्यदायिन्, अहं त्वां विभुमचिन्त्यगतिम् अचिन्त्या मनोतिगाद्भुता गतिर्यस्य स तं श्रयामि । एतदेवाह—वामदेवमिति । त्वां किंभूतमपि । वामदेवमपि । 'लोकाचारविपरीतत्वाद्वामश्चासौ देवः' इति रायमुकुटीकारः । वामः सुन्दरो देवः । संसारवामत्वाद्वेति वामदेव इति··· । पुनः किंभूतम् । आश्रितेषु शरणागतेषु दक्षिणमनुकूलम् । 'अनुकूले दक्षिणस्त्रिषु ऋजौ दक्षिणदिग्भवे' इति मङ्खः । यो वामो भवति स कथं दक्षिण इति विरोधः । अन्यार्थत्वे तदभावः । तथा त्वां किंभूतम् । सर्वत्र सचराचरे जगति वसन्तं निवसमानम् । शतृप्रत्ययेनास्य सिद्धिः । तथा किंभूतम् । स्मरारिं कामदहनम् । अथ च यो वसन्तः ऋतुराट् । वसति कामोऽत्र वसन्तः । 'तृभूवहिवसि—'इत्यादिना झच् । वसन्तः पुष्पसमयः ऋतुराट् । स कथं स्मरस्य कामस्यारिरिति विरोधः । अन्यार्थत्वे तदभावः । पुनः किं भूतमपि । अन्तकोपशमहेतुमपि अन्तकस्योपशमः शान्तिस्तस्यैकहेतुम् । पुनः किंभूतम् । अनन्तोऽव्युच्छिन्नो यः कोपस्तस्य शान्तेर्दूरीकरणस्यैककारणम् । यश्चान्तकोपशमहेतुः स कथमनन्तकोपशमहेतुरिति विरोधः । अन्यार्थत्वे तदभावः ॥ १४ ॥

कापीति । हे स्वामिन्, क्वापि कुत्रापि विशदमत्यन्तनिर्मलं प्रकाशं चित्प्रकाशं दिशन् वितरन्प्रसीदस्यनुग्रहं करोषि । धन्यस्य कस्यापि गाढभक्तिरतस्येत्यर्थः । पुनः क्वापि कुत्रापि घनं यदावरणं मायावरणं तेन य उपरोधः सर्वतः संरोधस्तं प्रयच्छसि । तत्तस्माद्वयमत्र

किं कुर्मः । नात्र निश्चये । नियतिर्नियमनं परेण विहितं स्तवनीयमहामहत्त्वस्य प्रभोः श्रीशिवस्य
नभस आकाशस्य च नास्ति । अत्रोचितं द्वयोरिति प्रभोर्नभसश्चेत्युच्यमानम् नभसोऽपि
श्रीशिवभट्टारकस्यैकमूर्तित्वात्तदंशोऽपि पूर्वमुद्दिष्टे न दोषः । नभोऽपि क्वचिदनभ्रत्वात्प्रकाशम्,
तथा क्वापि घनानां मेघानामावरणेन समन्तादाच्छादनेनोपरोधो यस्य तादृशं च भवति ॥ १५ ॥

चित्तमिति । हे स्वामिन्, परमकारुणिकोऽत्यन्तदयालुस्त्वत्परस्त्वदन्यः कः । नतानां
भक्तिप्रह्वाणामापज्जन्मजरामरणव्याधिश्च, उपतापश्च त्रिविध आध्यात्मिकादितापः । यद्वा
आपदा य उपतापस्तस्य हृतौ हरणे प्रवृत्तं चित्तं मनो बिभर्ति । त्वमेको दयालुस्त्रिजगदुद्धरणैक-
हेतुरित्यर्थः । तथा त्वत्परः को भीतानां करालकालभ्रुकुटीत्रस्तानां यदभयार्पणं स एव पणो
नियमस्तत्र प्रवणा लीना प्रगल्भा वा वाणी तां च को बिभर्ति । तथा त्वत्परः को लोकानां
त्रयाणां लोकानां य उपकारस्त्रिभुवनविध्वंसकारित्रिपुरान्धकासुरादिवधेनाभयदानं तत्र परतन्त्रं
परविधेयमिदं वपुः शरीरं 'सकलमूर्तिना भवता त्रिजगदुपकाराय अष्टादशभुजं पञ्चवदनम्'
इत्यादिध्यानोक्तं कस्त्वत्परो बिभर्ति ॥ १६ ॥

चित्तमिति । हे भगवन्नैश्वर्यादिषट्कयुक्त, त्वयैव प्रभुणा कृतो विप्रयोगो विश्लेषो
येन तत्तादृशरूपं सदिदं मदीयं मनो विषादं दुःखं प्राप । न पुनः प्रकाशं चित्प्रकाशम्
तथा त्वयैव कृतविप्रयोगं कृतविरहमेतन्मम चित्तमुचितमवश्यकर्तव्यं विचारं
विवेकमौज्झत् तत्याज । न च बहिःप्रचारं समाधिधारणाविघातिनं बाह्यजनसङ्गमौज्झत् । तथा
त्वयैव प्रभुणा धृतविप्रयोगमेतन्मम चित्तं कुत्र न विवरं छिद्रं लेभे; अपि तु सर्वत्र । न पुनः
प्रबोधं तत्त्वज्ञानावबोधं लेभे । अथ च धृतविप्रयोगं विश्च प्रश्च विप्रावुपसर्गौ ताभ्यां योगो
विप्रयोगः । धृतो 'वि' इत्यस्य, 'प्र' इत्यस्य च योगः संयोगो येन तत् । त्वयैव कृतमित्यर्थः ।
अत्र च वृत्ते त्रिषु चरणेषु विषादमित्यत्र विरुपसर्ग आदिः, प्रकाशमित्यत्र प्र
उपसर्गः । तथा विचारमित्यत्र विः, प्रचारमित्यत्र प्रः । विवरमित्यत्र विरुपसर्ग आदौ प्रबोध-
मित्यत्र च प्र उपसर्गः । एतादृशं विप्रोपसर्गयुतप्राप्त्यप्राप्तियुतं त्वयैव भगवता कृतमित्यर्थः ॥ १७ ॥

अश्रान्तमिति । 'चातके हरिणे पुंसि सारङ्गः शबले त्रिषु' इति मङ्खः । सारङ्गो
हरिणः केतौ यस्य स सारङ्गकेतुश्चन्द्रः । स मुकुटे यस्य स तत्सम्बोधनं हे सारङ्गकेतुमुकुट
श्रीशम्भो, शान्तः शमं गतो रजोविकारो रजोगुणविकारो यस्य तत् तादृशं स्फुटं प्रकटमान्तर-
मन्धकारं तमः । 'अन्धकारोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । आन्तरं तमः । अज्ञानरूपमित्यर्थः । पुरुषं
यदन्धयति कार्याकार्यविवेकानवलोकेनान्धयति तदिदं युक्तम् । रजोविकारेण धूलिविकारेण युक्तं
तमः पुरुषमन्धयत्येव । तदेवान्तरमन्धकारं पुरुषं यद्बधिरीकरोत्येडीकरोति स कोऽतिप्रसङ्गः ।
अतिशयेन प्रसक्तिरित्यर्थः । को भवति । बाह्यमन्धकारं रजसा धूल्या विमिश्रं पुरुषमन्धयति,
न तु बधिरीकरोति । एतत्त्वान्तरमज्ञानरूपं तमः पुरुषमन्धं बधिरं च करोत्येवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

लीलाविलोलेति स्वामिन्निति युग्मम् । यो मनोभूर्मनसिजः । मनोभूरिति साभिप्रायम् ।
न बहिः कुतोऽप्यागत इति । लीलया विलासेन विलोलं तरलं यल्ललनानयनं कामिनीलोचनं तस्या-
न्तोऽपाङ्गः स एव वासो निवासस्तमासाद्य प्राप्य मनस्विनोऽपि वयं संयतचित्ता इति मानिनोऽपि
क्व न भनक्ति । 'भञ्जो आमर्दने' धातुः । मनोभङ्गेन जयति । धिगस्तु । सोऽयं मनोभूः कामो
विमले श्रीशिवभट्टारकभक्त्यासक्तत्वान्मलरहिते । अपिशब्द आर्थः । विमले इत्येतदग्रिमवृत्ते

प्रकटयति। 'विपुले' इत्यपि पाठः। विमलेऽपि मदीये हृदये निविश्य मर्ममर्म कथं न भिनत्ति। भिनत्त्येवेत्यर्थः। मनोभुवस्त्रिलोकविजयित्वादिति भावः।

हे स्वामिन्, स कामो मनोभूस्तत्र मदीये हृदये विमलेऽपि वसन्तमेव त्वां विभुमसन्तमिव असन्नवर्तमानस्तमसन्तमिव त्वां स्वामिनं यदवैति जानाति तदिदं किम्। यदि वा पक्षान्तरे अथवा किमन्यत्। तत्त्वं तत्र ब्रूमः। यं प्रसादं तव पुनरवाप्य दग्धोऽपि भवन्नेत्राग्निना भस्मीकृतोऽपि स मनोभूर्यद्गर्वमहङ्कारं हरकिङ्करलक्ष्यीकरणाहङ्कारं त्रिजगज्जयित्वाहङ्कारं वा बिभर्ति सर्वं कषति व्याप्नोतीति त्रिजगज्जयित्वरूपः प्रसादोऽनुग्रहस्तवैव स तस्य कामस्य विजयते सर्वोत्कृष्टो भवति युग्मम्॥ १९, २०॥

श्रीखण्डेति, फुल्लारविन्देति, नाथेति, किमिति, आक्षिप्तेति पञ्चभिः कुलकम्। हे स्वामिन्, विशेषणविशिष्टा सा प्रसिद्धा हरिणेक्षणापि मृगाक्ष्यपि त्वयि परमेश्वरे परमासक्तं न हरति न वशीकर्तुं क्षमते। कं त्वत्परम्। आक्षिप्तेत्यादि। आक्षिप्तो निर्जितः सिन्धुमथनोत्थः क्षीरोदमथनोत्थो महानमृतौघः सुधाप्रवाहो येन स तादृशो यो भावत्कभक्तिरसो भवदीयभावनारसस्तस्य पारणमाहारस्तेन नित्यतृप्तस्तादृशम्। तथा प्रत्याहृतानि प्रत्याहाराख्ययोगाङ्गेन प्रत्याहृतानीन्द्रियाणि येन स तम्। तथा अवाप्तं समाधेरात्ममनसोरैक्यस्य सौख्यं परमानन्दो येन तादृशम्। हरिणेक्षणा किंभूता। श्रीखण्डचन्दनं श्रीखण्डाख्यश्चन्दनस्तेन निघृष्टानि यानि कुरङ्गनाभिः कस्तूरी, कर्पूरम्, कुङ्कुमं काश्मीरजं चैतानि तेषां करम्बो मेलनं तेन शुभो रम्योऽङ्गरागो यस्य तत्। तथा उद्यन्नवीनं कदलीदलं कदलीलतादलं तद्वत्सौकुमार्यं यस्य तत्। तथा अनङ्गः काम एव नटस्तस्य मङ्गलार्थं रङ्गं स्थानभूतमङ्गम् जातावेकवचनम्। बिभ्रती धारयन्ती। पुनः किंभूता हरिणेक्षणा। फुल्लं यदरविन्दं नलिनं तत्सदृशं वदनं यस्याः सा। तथा विकसन्ति यानि शिरीषाणि शिरीषकुसुमानि तेषां माला तत्सदृशे भुजे भुजलते यस्याः सा। तथाभिनवं नवोत्फुल्लं यन्नीलसरोजं नीलोत्पलं तत्तुल्ये नेत्रे यस्याः। अतएव माधवेन वसन्तेन। 'माधवस्तु वसन्ते स्याद्वैशाखे गरुडध्वजे' इति विश्वः। कुसुमैररविन्दशिरीषनीलोत्पलैः कुसुमायुधस्य कामस्य स्वसख्युर्हिताय। जगद्वशीकरणरूपं हितं तदर्थमप्रतिहतमनाहतं ब्रह्मास्त्रं विहितेव। ब्रह्मास्त्रमित्यस्य 'वेदाः प्रमाणम्' 'श्रुतयः प्रमाणम्' इतिवदजहल्लिङ्गता॥ 'हे नाथ स्वामिन्,' इति सस्नेहमतिकोमलमालपन्ती। तथा जीवितहरेति जीवितमपि हरति क्षणमपि वियोगेन जीवितहरस्तत्संबोधनं हे जीवितहरेति सकोपम्, तथा दयापर दयालो इति सप्रेम, अतिकोमलमालपन्ती। तथा गाढानुरागेण दृढप्रेम्णा विवृतः प्रकटीकृतोऽखिलो गूढो भावो निजाभिप्रायो यत्र तत्। क्रियाविशेषणमेतत्। एवं वचसामविषयैरगोचरैरनिर्वाच्यैर्विलासैर्विभ्रमैरावर्जयन्ती वशीकुर्वती। प्रियतममन इत्यर्थः। किं वा परमन्यद्ब्रूमः—कुपितेत्यादि। हरिणेक्षणा किंभूता। कुपितः प्रेयसोः परस्परप्रेम्णि कतिपयक्षणविलम्बात्कुपितः अतएव निर्घृणः, निर्दयो यः पञ्चबाणः कामस्तस्य बाणानां पञ्चानामोघः समूहस्तेन भिन्नं हृदयं यस्याः सा। एवंभूता सती गाढं दृढं परिरभ्याश्लिष्य मुग्धाजनस्य बालाजनस्य सहजां स्वाभाविकीं लज्जां त्रपामवजित्य सान्द्रमुत्कण्ठया घनं कृत्वा अधरामृतमधरपानामृतमर्पयन्ती। प्रियतमस्येति शेषः। केचित्तु 'सहजां स्वाभाविकीं लज्जामवजित्य कामावेगान्मुग्धाजनस्य बालाजनस्याप्यधरामृतमर्पयन्तीति व्याचख्युः' तद्विचार्यम्। नाथेति पूर्वोदीरितवृत्ते एतदर्थाप्रयोजनात्। पञ्चभिः कुलकम्॥ २१—२५॥

हेलेति । हेलया शनैर्वलंश्चासौ मलयमारुतो दक्षिणानिलस्तेन कम्पितानामरण्यमहीरुहाणां वनशाखिनां स्वयं शीर्णैः फलैर्वृत्तिः शरीरयात्रा क्व । कस्य । हरस्मरणघूर्णितचेतसः हरस्मरणेन घूर्णितमत्युत्कण्ठया तत्रैव घूर्णच्चेतो मनो यस्य स तादृशस्य भक्तजनस्य । एतत्क प्राक्तनानेकजन्मार्जितपुण्यपरम्परया लभ्यम् । तथा कुमहीपतीनां कुनृपाणामग्रे याचनया दीनं मुखं क्व । अत्यन्तगर्ह्यमित्यर्थः ॥ २६ ॥

नेत्रत्वमिति । हे ईश जगदधीश, ममापराणि नेत्रेन्द्रियादन्यानि कर्णादीनि तव स्वच्छस्य निष्कलस्यापि दीनानुकम्पया सकलमूर्तेर्मूर्तिविलोकनेषु देवप्रतिमादर्शनेषु नेत्रत्वं गन्तुमिच्छन्ति । वयमप्येतद्दर्शनोत्सवे नेत्रीभवाम इत्यर्थः । तथा मम वागिन्द्रियादपराणि नेत्रादीनीन्द्रियाणि हे स्वामिन्, भवच्चरितं त्रिपुरदाहकालदहनाद्यद्भुतं कर्म तच्चर्वणमास्वादनं तद्विभ्रमेषु विलासेषु वाक्त्वं जिह्वात्वं गन्तुमिच्छन्ति । अत्रापि प्राग्वत् । तथा मम कर्णादपराणीन्द्रियाणि नेत्रादीनि च त्वत्संकथाश्रवणकर्मणि कर्णभावं गन्तुमिच्छन्ति । रसवदलंकारः ॥२७॥

यच्छत्रेति । कृतिनां पुण्यवतां छत्रमातपत्रं च चामरं च ताभ्यां सिता धवला विभूतिर्यद्भवति हे भगवन् त्रिजगदधीश, स तव प्रसादस्तेषां स्वल्प एवात्यल्प एव । हे भगवन्, तु पक्षान्तरे । सतां विपश्चितां धन्यानां त्वत्साम्यं भवत्सायुज्यं ततोऽपि पूर्वस्मात्प्रसादादप्यधिकं भवति । अत्यन्तदुर्लभत्वात् । अधुना ततोऽप्युत्तरपक्षमाह—ततोऽपि तस्मादपि भवत्सायुज्यावाप्तेरप्यधिकोऽयमेव महान्प्रसादः यद्भवच्चरणाम्बुजध्यानासक्तचेतसः शरीरिणो वल्कलं भूर्जत्वग्वसनं वस्त्रं तथा विपिनं वास आवासो यद्भवति । भवत्सायुज्यपरानन्दादपि गाढतरभवत्सेवारसमहामहनीयपरानन्द इति भावः । तथा चैतदाशयानुसारेण ममापि वृत्तम्—

'वीक्षे न यत्र नयनत्रितयाभिरामं राकेन्दुतर्जि मुखमीश्वर तावकीनम् ।
दासस्य नाथ कृपया भवता वितीर्णं सायुज्यमीदृगपि वेद्मि विडम्बनं मे ॥'

इति ॥ २८ ॥

त्वत्पादेति । अतिशयेन बहु भूयः । क्रियाविशेषणमेतत् । एतानि त्रीणि भूयो नितरां त्वदासक्तानि चेद्भवन्ति तर्ह्यहं धन्यो नितरां भाग्यवानस्मि । अहह आनन्दे । "अहहेत्यद्भुते खेदे परिक्लेशप्रहर्षयोः । सम्बोधनेऽपि' इति मेदिनी" इति रायमुकुट्याम् । एतानि त्रीणि कानि । पाणी वाणी चित्तं च । पाणी हस्तौ कथंभूतौ । भूयो नितरां त्वच्चरणपङ्कजरजोव्याप्तौ । वाणी कथंभूता । भूयो भवच्चरितानां त्रिपुरवधादीनां चर्वणमास्वादनं तेन गर्विता साहंकारा । तथा चित्तं किंभूतम् । भूयो नितरां भवद्गुणगणानां स्मरणं तदेव व्रतमवश्यकर्तव्यं यस्य तत् । यथा च मम वाङ्मनःकायाः श्रीशिवभट्टारकचरणाब्जसेवारसासक्ताः स्युस्तथा आशासे इत्यर्थः । एतद्वृत्ताभिप्रायेण च ममापि गाथाचतुष्टयम्—

'शङ्करपूजननिरतौ पाणी शर्वस्य तीर्थगौ पादौ ।
शम्भुकथाश्रवणपरौ कर्णौ नित्यं च भूयास्ताम् ॥'

'हरमूर्तिदर्शनपरं चक्षुर्भवपादवासनाघ्रायि ।
घ्राणं रसनं च मम श्रीकण्ठगुणाभिधायकं भूयात् ॥'

'नीलगलस्पर्शवशान्माद्यतु मम सन्ततं च त्वक् ।
शिवचिन्तनकारि परं चित्तं नित्यं च भूयान्मे ॥'

'किमपरमधुना वक्ष्ये यत्कर्म कृतं करोमि कर्तास्मि ।
शुभमशुभं वा कृपया तदेव शिवार्चनं भूयात् ॥'

इति ॥ २९ ॥

भिक्षाशनोऽपीति । हे भगवन् वरद, तथा हे घस्मर प्रलयकाले त्रिजगद्भक्षक परमशिव, किं वापरमन्यद् ब्रूमः । भिक्षैव माधुकरी भिक्षैवाशनं यस्य स तादृशोऽपि, तथा अकिंचनोऽपि न विद्यते किंचन यस्य स दरिद्रोऽपि, तथा जीर्णं पुराणं च तच्छ्मशानं पितृवनमालयो निवासो यस्य स तादृशोऽपि, तथा दिगम्बरोऽपि दिग्वासा अपि, तथा भस्मरूक्षगात्रोऽपि भस्मना रूक्षं गात्रं कलेवरं यस्य स तादृशोऽपि सन् प्रतिजन्म जन्मनि जन्मनि त्वं त्वमेव विभुः स्वामी मम भूयाः । एतद्वृत्तानुसारेण ममाप्येकं वृत्तम्—

'लक्ष्मीकान्तमुरस्थकौस्तुभमणिं भ्राजिष्णुपक्षावलौ
राजन्तं गरुडे सुरालयकृतावासं भजन्तेऽपरे ।
मच्चेतस्तु दिगम्बरे स्मरहरे स्फारास्थिमालाधरे
पादाब्जश्रितशाक्करे पितृवनागारे निलीनं सदा ॥'

॥ इति ३० ॥

याच इति । अहं भगवन्तं श्रीशिवमपरं न किंचिद्याचे किन्त्वेतदेव । एतत्किम् । कैलासाख्ये गिरीन्द्रे पर्वतवरे भवता स्वामिनाधिष्ठिते मम भवदनुग्रहेण वसतिरस्तु । हे भगवन् , ये मम सखायः सुहृदस्ते तत्र किं न सन्ति अवश्यं सन्त्येव । मादृशाः श्रीशिवभक्तिरसामृतसिक्तचेतसस्तत्र शैले सन्त्येव । किं वान्येऽपि तत्र कैलासे पर्वतेन्द्रे गवया मृगविशेषाः कपयो वानराः अन्येऽपि कुरङ्गा मृगास्तत्र सखायः किं न सन्त्येव । अयं भावः यः पर्वतेन्द्रः कैलासः श्रीशिवचरणाम्भोजरजःपवित्रितस्थलस्तत्र गवयैः कपिभिः कुरङ्गैः सह वासोऽप्यन्याभ्यः सुरभूमिभ्यो देवसभाधिष्ठिताभ्योऽधिकानन्दप्रदो मम रोचते । अत्र रसवदलंकारो ध्वन्यते ॥ ३१ ॥

वाचामिति । अमी विषयाः पञ्चेन्द्रियानुभूताः शब्दाद्या भोगा वाचां विषये गोचरे न सन्ति । अमी के इत्याह—विषं गरलमासमन्तात्किरन्ती विकिरन्ती तृष्णा येषु विषयेषु मयान्वभावि अनुभूता । तत्तस्मात्कारणात् हे स्वामिन् , उज्ज्वलो धवलो विलोलश्च यो नयनान्तः । नेत्रत्रिभागावलोकनरूप इत्यर्थः । तस्य विन्यासः पातः स एव भासुरः सुधारसः पीयूषरसस्तेन मां पूर्वोक्तविषदग्धं तृष्णातुरं भज । दयस्वेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

नानुग्रह इति । अत्र एवशब्द आर्थः । हे स्वामिन् , तव भक्तियोगमेव विना तवानुग्रहः प्रसादो न भवति । तथा तवैवानुग्रहं विना त्वयि भक्तियोगो न भवति । अनयोस्तवानुग्रहभक्तियोगयोर्बीजप्ररोहवद्बीजाङ्कुरवदसौ परस्परं निमित्तनिमित्तिभावः कार्यकारणभावः कस्य न भूत्यै विभूत्यै भवति । यथा बीजादङ्कुरोत्पत्तिः अङ्कुरादपि प्रवर्धमानाद्बीजोत्पत्तिरेवं भवत्प्रसादभक्तियोगयोरपीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

शान्तमिति । यदि मनः शान्तं परहिंसापरद्रव्यस्पृहादिभ्यो निवृत्तं तर्हि यमैर्बहिःशौचाचारादिभिः, नियमैर्व्रतादिभिश्चान्यैः किम् । न किंचित्कृत्यमित्यर्थः । तथा कस्यापि वाणी सूक्तिः प्रिया मधुरा हिता च हितोपदेशकारिणी च यदि भवति तर्हि स्तुतिचाटुभिः स्तुतिरूपाणि यानि चाटूनि तैः किम् । तथा कारुण्यं भूतानुकम्पा यदि भवति तर्हि व्रतं कृच्छ्रचान्द्रायणादि, होमः शान्तिकर्मादिः, दानं च तैः किम् । न किंचिदित्यर्थः । तथा भवे श्रीशिवे यदि

भक्तिर्वाङ्मनःकर्मभिस्तदासक्तिर्यदि भवति तर्ह्यन्यसुखेष्वस्थिरेष्वभिलाषैः किम् । न किंचित् । विगलितवेद्यान्तरपरमानन्ददायिनी श्रीशिवभक्तिरेवाशास्येत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भुक्तमिति । विकल्पः कुतर्कोहः स एव कवलं ग्रासो येषां ते विकल्पकवला वैकल्पिकाः केचिन्मन्दधियः । तैः कर्तृभिः सुरलोकसौख्यमप्सरःसुधापाननन्दनोद्यानविहारादि भुक्तं मुक्तिरालोकिता विचारिता । सौख्यमिति 'वेदाः प्रमाणम्' इतिवदजहल्लिङ्गं कर्म । स्वर्गभोग एव मुक्तिरिति तैर्निर्णीतमित्यर्थः । अधुना स्वमतमाह । अस्माभिरिति शेषः । अस्माभिस्तु विविधानि यानि शास्त्राणि शिवशासनानुसारीणि तेषां दृग् ज्ञानं तया शिवभक्तिरेव परमेश्वरभक्तिरेव मुक्तिरालोकिता निर्णीता । किंभूता पुनः शिवभक्तिः । समक्षं साक्षादेव सुधा अमृतं पीता तदासक्तमनोभिः पीता । कैः । श्रवणशुक्तिपुटैः श्रवणान्येव शुक्तयः पानपात्राणि तत्पुटानि तैः ॥ ३५ ॥

दीर्घाणीति । ममेति शेषः । हे विभो, अधिशुचि आषाढमासे अहानि दिवसानीव दीर्घाणि मम अघानि पातकानि भवन्त्येव सन्त्येव । तथा शरदि शरत्काले नदीजलस्येव बलस्य देहसामर्थ्यस्य मम हानिः प्रतिदिनमस्ति । तथा मम असतां दुर्जनानां हेतूनां परिभवास्तैः कृता यथा परिभवा दुःसहास्तथैव मम दुःखानि दुःसहानि । हा कष्टे । अहं निःसह एतत्कष्टासहोऽस्मि । तस्मान्मयि निःशरणेऽनुकम्पां दयां कुरु ॥ ३६ ॥

निर्भर्त्सित इति । नाम निश्चये । विपदि विपत्काले शरणार्थमागतोऽभिमानी अहंकृतो बन्धुरिव विवेकः कार्याकार्यविचारो नीरसं शास्त्राभ्यासरसं विना कृतं मम चित्तं मा स्पृशतु न स्पृशताम् । तु पक्षान्तरे । मोहोऽज्ञानं निदाघे ग्रीष्मे धर्मरुचिः सूर्य इव हिमानीं हिमसंहतिं नाशमानीय प्रापय्य यथा जनमुपतापयते तथा विद्यां तत्त्वज्ञानमयीं विद्यां नाशमानीय मनश्चित्तमुपतापयते संतापयति । अर्थान्ममैव । एतद्वृत्तं प्राचीनादर्शेषु न दृश्यते तथापि व्याख्यातम् ॥ ३७ ॥

तस्मादिति । हे स्वामिन् , तस्माद्धेतोः । ममेति शेषः । सायंतनी सायं संन्ध्याकाले भवा सायंतनी प्रतिपदिन्दुकला पर्वेन्दुकलेव तनुस्तरसा बलेन शीघ्रं वावसायं नाशं यावन्न उपैति तावत् कृपां कुरु । अयमहम् । तेनेति शेषः । तेन अंहसा हतोऽस्मि । तेन केनेत्याह— अस्तनयेन अस्तो दूरीकृतो नयो नीतिर्येन तत्तादृशेन येनांहसा पापेन । ममेति शेषः । तव सा कृपा मयि विषये यन्त्रिता । निरुद्धेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अभ्येतीति । भोः स्वामिन् , यां यमभटसंहतिं मनसि विनिवेशयन्तो वयं कम्पामहे अस्तकम्पा अस्तस्त्यक्तः कम्पो यया सास्तकम्पा निर्भया (सा ?) यमभटश्रेणी अभ्येति समीपमेति । तत्र विषये तवैव सानुकम्पा दया ममैका गतिः । सानुकम्पा का । या तवानुकम्पा शुभोदयानां शुभानां मङ्गलानामुदयाः शुभानि चोदयाश्च तेषां वा कं न भक्तजनं पात्रतां नयति ॥ ३९ ॥

यदिति । निःस्पृहोऽपि हे स्वामिन् , मारं म्रियन्तेऽनेन विरहिणो मारः कामस्तं नयनानलस्य नेत्राग्नेः शलभं पतङ्गं विधाय कुमारं षडाननं यत्सुतमजनय उत्पादितवानसि तच्चरितं तव परार्थं परप्रयोजनं तारकासुराद्देवांस्त्रातुमाकुमारं बालपर्यन्तं विश्रुतं प्रसिद्धम् । तत्तस्माद्विभो, त्वं रंहसा वेगेन एहि मा जहिहि । मामित्यर्थः । मां मा त्यज । वाचमभयप्रदानार्थं देहि ॥ ४० ॥

सर्वस्वमिति। हे विभो हर, दत्ता महान्तः प्रहाराः क्षतानि यैस्तेऽरयः। आन्तरा इति शेषः। शत्रवः षट् कामादयः। हारवदमलं धवलतरं निर्मलं विवेकं कार्याकार्यविचारं सर्वस्वं सर्वस्वभूतम्। हा कष्टे। तव राजशेखरमणेः। 'राजा नृपे शशाङ्के च' इति मङ्खः। चन्द्रचूडामणेः। अथ च राज्ञां नृपाणां चूडामणेः सार्वभौमस्य तव पुरतस्तत्सर्वस्वं मम हरन्ति। अत्र विषये तवैव कृपा दया रक्षाकरी। किंभूता। कृतोऽवहारोऽवहेला यया सा। हा कष्टं राजशेखरमणेरपि पुरतोऽहं हतः। चौरैर्मुषित इत्यर्थः॥ ४१॥

देवालय इति। हे विभो, कपोतः पारावतो देवालये देवगृहे वसतिं प्रार्थयते। तथा सिन्धौ समुद्रे वणिक् पोतवणिक् वृत्तिं स्थितिं जीवनोपायं भजति सेवते। किंभूतः। अशङ्कः पोतो यस्य। तथानेकपो द्विपो वाहनभूतः पृष्ठे नित्यं श्रियं लक्ष्मीं वहति। 'पद्मां गजगतां नुमः' इत्यागमोक्तेः। अतो हेतोरहं त्वद्भक्तिमेमि प्राप्नोमि। कः कामिव। भेको मण्डूकः सरसीमिव॥ ४२॥

लब्धेति। हे विभो, सवेन यज्ञेन त्वां विभुं भेजुषः सेवमानस्याभिनवा नूतना या धृतिर्भवति सा धृतिः स्थितिर्वासवेनेन्द्रेण दिवि स्वर्गे कदाचन न लब्धा। जातुचिन्न लब्धेत्यर्थः। किंभूतेन वासवेन। परिवृतेन परिवलितेन। केन। सैन्येन बलेन। किंभूतेन सैन्येन। वासवेन वसूनामष्टानां देवयोनीनामिदं वासवं तेन। भुवि धरायां पीतनवासवेन पीतः नवः नूतन आसवो मैरेयं येन स तेन बलेन बलरामेण सा कदाचन नो वा लब्धेत्यर्थः॥। ४३॥

येति। हे महर्षभयान, महांश्चासौ ऋषभः शाक्करो यानं वाहनं यस्य तत्सम्बोधनं हे महर्षभयान। या तव वाक् दिवि स्वर्गे कस्य ब्रह्मणः। कशब्दो ब्रह्मवाचकः। 'मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोऽम्बुनोः।' इत्यमरः। कस्य ब्रह्मणो दुर्लभा। ब्रह्मणोऽपि दुर्लभेत्यर्थः। तथा या वाक् भयानकस्य घोरस्य कालस्य कृतान्तस्य निधनस्य मरणस्य धाम स्थानं भवति। कृता नतिर्येन स कृतनतिः तस्य भक्तजनस्य कृतेऽभयस्यानकः पटहस्तस्य तुल्यश्रिया सदृशशोभया। तया शुभया अतिमधुरया शुभप्रदया च वाचा कस्य न भक्तिप्रह्वजनस्य कल्याणमर्पयसि ददासि। अपि तु सर्वस्यैव॥ ४४॥

यमिति। हे क्षतमहाकलिकाल महान् कलिः कलहो यस्य स महाकलिः तादृशश्चासौ कालः कृतान्तो महाकलिकालः। क्षतो महाकलिकालो येन स तादृशः। तथा हे स्वामिन् कीदृश, कृतीकृतबृहत्कलिकाल। 'कृतं युगेऽपि पर्याप्ते विहिते' इति विश्वः। कृतं कृतयुगम्। अकृतं कृतं कृतः कृतीकृतः कृतयुगीकृतो बृहत्कलिकालस्तुरीययुगसमयो येन स तस्य सम्बोधनं कृतीकृतबृहत्कलिकाल। क्लिष्टं सन्तं खेदितं वर्तमानं सन्तं साधुं भक्तजनं यद्वीक्षसे प्रसन्नदृशा ईक्षसे। इन्दोश्चन्द्रमसोऽमृतमयी कलेव मनोहरा सोत्कलिका सोत्कण्ठा बाला षोडशहायना वरस्त्री लसन्तं क्रीडन्तमलसं लक्ष्मीमदेन सालसं तं भवदृष्टिगोचरीभूतं भक्तजनमवलोकयति पश्यति। स्नेहार्द्रया दृशेति शेषः॥ ४५॥

मुक्तावलीति। हे शिव निःश्रेयसप्रद, नायकेन। मध्यमो मणिर्नेता च नायकः। नायको (हारमध्यस्थे मणौ पुंस्यु?) त्तमे द्वयोः' इति मङ्खः। नायकेन हारमध्यमणिना रहिता मुक्तावलीव मुक्तालतेव। विनायकेन गणपतिना विना भवद्गणानां नन्दिमहाकालभृङ्गिरीटप्रभृतीनां सभेव अखिलस्य त्रिजगतो नायकेन स्वामिना परिहृता त्यक्ता वाणी हृदयसंवननाय हृदयस्य चेतसः

संवननं वशीकरणं तदर्थे केन जनेन सम्भाव्यते। न केनापीत्यर्थः। श्रीशिवस्तुतिसूक्तिविनाकृता कविवाणी सर्वैरनादरणीयेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

यस्येति। हे प्रथितमान प्रथितो मानोऽभिमानो यस्य तस्य सम्बोधनं प्रथितमान। यस्य आधेर्मनःपीडापर्यायस्य समाधिना आत्मनसोरैक्येन योगाभ्यासोचितेनान्तो नाश उचितो युक्तः। तेनाधिना मनःपीडया। 'आधिर्ना मानसी पीडा' इत्यमरः। अन्तरन्तरे मानसं चित्तमार्तिं पीडामुद्वहति। हे प्रथितमान स्वामिन्, पांसुलो मलिनश्चासौ भावोऽभिप्रायस्तेन लेषः शुद्धां विमलां सात्विकीं मतिं बुद्धिं स्पृशति। हे स्वामिन्, तत्रापि एवमपि सति कृपां दयां नोपैषि। मादृशे जन इति शेषः। त्वं किंभूतः। सुलभावलेपः सुलभोऽवलेपोऽवगणना यस्य। सावलेप इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

काममिति। हे स्वामिन्, कामं निश्चये। अत्रास्मिन्भवे संसारे बहवो भावाः पदार्थाश्चन्द्रमुखीचन्द्रिकाचन्दनोद्यानसौधादयः सुभगस्वभावा रमणीयस्वभावा भवन्तु। सन्त्वित्यर्थः। तु पक्षान्तरे। एतद्द्वितयमेव मम स्पृहायै अभिलाषाय भवति। ममाभीप्सितमेतदेव द्वयमित्यर्थः। एतत्किमित्याह—शब्दार्थेति। शब्दस्त्रिविधः—वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकभेद-भिन्नः। अर्थोऽपि त्रिविधः वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यरूपः। तयोर्यः पाकः प्रौढिस्तेन रम्या कविराजगीर्महाकविवाणी वा। गीर्वाणसिन्धुधरो गङ्गाधरः श्रीशिवस्तस्य भक्तिरभङ्गुरानश्वरा वा। द्वौ वा शब्दौ द्वयोरपि प्राधान्याभिधायकौ। महाकविवाणी श्रीशिवभक्तिश्चेत्येतद्द्वयमेव ममाभीप्सितमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

ज्योत्स्नेति। हे अघोर घोरो जन्मजरामरणत्रासदः। न घोरोऽघोरः शिवप्रदः कल्याणदायी तस्य सम्बोधनं हे अघोर, देव दीव्यति क्रीडति क्रीडनकैरिव ब्रह्मादिभिर्देवैस्तस्य सम्बोधनं हे देव अघोर, चकति चन्द्रामृतपायित्वाद्विषं प्रतिहन्ति। 'चक तृप्तौ प्रतिघाते च'। 'चकिकठिभ्यामोरन्'। चकोरः। कनि चकोरकः। 'चकति तृप्यते ज्योत्स्नया इति चकोरः। कनि चकोरकः' इति स्वामी। एष स्वनामप्रसिद्धो ज्योत्स्नापायी पक्षिविशेषः। तस्य चकोरकस्य यथा ज्योत्स्नाछटाभिश्चन्द्रिकालहरीभिः प्रीतिर्भवति। यथा च भास्वत्प्रभाभिः सूर्यप्रभाभिः पङ्कजकोरकस्य पद्ममुकुलस्य प्रीतिर्भवति। यथा च बर्हिकिशोरकस्य मयूरपोतकस्य दैवीभिः देवस्य मेघस्येमा दैव्यस्ताभिरद्भिर्मेघजलैः प्रीतिः। 'देवः सुरे घने राज्ञि दैवमाख्यातमिन्द्रियम्।' इति शाश्वतः। तथा ते तव नुतिकथाभिः स्तुतिकथाभिः कस्य न प्रीतिर्भवति ॥ ४९ ॥

वृत्तमिति। हे विभो, वाङ्मनसातिवृत्तं वाक्च मनश्च ते वाङ्मनसी ते अतिवृत्तमतिक्रान्तं ते तव वृत्तं चरितं क्व भवति। तथा इतो भवावरणात् भवे जन्मन्यावरणमाच्छादकमज्ञानरूपं तस्मात्स्खलन्ती गतिर्यस्य तच्चेतो मनः अर्थान्मम क्व भवति। इत्यतो हेतोर्विशेषेण त्रासवन्तं मां पवित्रा तव भक्तिरनुदत्। 'णुद प्रेरणे'। प्रेरयामास। अतो हेतोर्मया तव स्वामिनः स्तुतिः कृता। किंभूता स्तुतिः। सुभक्तिः शोभना भक्तिर्विच्छित्तिर्यस्याः ॥ ५० ॥

वन्दामह इति। कुनृपतीनित्यर्थात्। वयं कुनृपतीन्वन्दामहे। अत्रापि जठरस्य हेतोरिति सम्बन्धः। तथा विविधं नानाविधं विवदामहे च विवादं कुर्महे च। वादिभिः सहेति शेषः। जठरस्य हेतोः। तथा क्वापि लज्जामहे। तथा वयं कलुषाणि मलिनानि वस्तूनि पापानि वा भजामहे सेवामहे च। तथा ईहामहे च चेष्टां शुभाशुभां कुर्मः। तथा वयं कुवचांसि

खलानामिति शेषः । सहामहे च । तथा वयं दुरितैः कुकर्मोपार्जितैः पापैरन्तर्दह्यामहे च । जठरस्य हेतोरुदरपूरणार्थम् ॥ ५१ ॥

लब्धमिति । चिरेणानेकजन्मार्जितसुकृतैः पुण्यैर्लब्धमचिरस्थिरं स्वल्पकालस्थायि इदं मानुष्यकं मनुष्यत्वं मनुष्यजन्म पुनः सुलभं नास्तीति वयं जानीम एव । चशब्दोऽवधारणे । तथापि स्वहितं दुस्तरभवार्णवोत्तरणोपायं विधातुं कर्तुं न चेहामहे काङ्क्षामहे । अहो । बत आश्चर्ये । 'खेदानुकम्पासन्तोषनिश्चयामन्त्रणे बत ।' इत्यमरः । अत्याश्चर्यमित्यर्थः । वयं यद्भविष्या दैवपरा भवामः । 'यद्भविष्यो दैवपरः' इति क्षीरस्वामी ॥ ५२ ॥

तस्मादिति, तावदिति—युग्मम् । तस्मात्पूर्वोक्ताद्धेतोरवशानस्वतन्त्रान् भोगोपभोगे रसिकान् न समाप्तं सम्पादितं कृत्यं संसारोत्तरणोपायरूपं यैस्तान् अशरणान् शरणरहितान् । अर्थादस्मान् अवश्यं निश्चितमविशङ्कमकस्मादेत्यागत्य धीवरः कैवर्त इव तिमीन्मत्स्यान्मृत्युर्हठेन क्षणाद्यावन्न हरते हे स्वामिन्निन्दुधर चन्द्रमौले, प्रसीद प्रसन्नो भव नोऽस्माकं करुणां कृपां कुरु । तथा अमन्दं महान्तमाक्रन्दं विलापं मर्षय शृणु । मां मा विहासीः मा त्याक्षीः । दधाति मत्स्यानीति धीवरः । 'धीवरपीवर—' इत्यादिना ष्वरच् । 'कैवर्ते दाशधीवरौ' इत्यमरः । पुनरपि दीनमाक्रन्दं करोति—हे स्वामिन् , त्वमेव ब्रूहि वद कृपासमुद्रेण त्वया त्यक्ताः कमपरं शरणं व्रजामः ॥ युग्मम् ॥ ५३, ५४ ॥

जातस्येति । हे शीतकरशेखर चन्द्रमौले, 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्मादपरिहार्येऽर्थे नानुशोचितुमर्हसि ॥' इति पुराणोक्तेर्जातस्योत्पन्नस्य जन्तोर्मृत्युरिति चेद्वदन्ति सन्तस्तर्हि श्वेतेन श्वेताख्यनृपतिना नन्दिना च शैलादिना गणवरेण स मृत्युः किं न लङ्घितो नोत्तीर्णः किम् । ताभ्यां श्वेतनन्दिभ्यामसौ मृत्युर्विपुलैर्विस्तीर्णैस्तपोभिः कृच्छ्र-चान्द्रायणव्रतविशेषैर्यदि जितः । तु पक्षान्तरे । अल्पतपसामस्माकं कर्तृणामसौ मृत्युस्तर्ह्यनिवार्य एव । तव्यानीयरकाराणां षष्ठी कर्मणि वा स्मृता ॥' इति कर्तरि षष्ठी ॥ ५५ ॥

पुनरपि श्रीशिवभक्त्युत्कर्षेण निजमात्मानं समर्थयति—तर्हीति । यदि मृत्युर्दुर्निवारस्तर्हि हे नाथ मृत्युञ्जय, अर्चनान्तसमयेऽभङ्गुरभक्तिभाजो गाढतरभक्तियुतस्य तवैव पादपीठं निर्भरं दृढमालिङ्ग्य निद्राव्याजेन विशेषेण निमीलिते लोचने येन स तादृशस्य मम भवप्रसादेन प्राणाः प्रयान्तु निर्गच्छन्तु ॥ ५६ ॥

एते नेति, तस्मादिति—युग्मम् । हे श्रीशिव, एते भुजङ्गाः वासुकिप्रभृतयः अर्थात्त-वातिप्रियाः निबिडो दृढो यो बन्धो ग्रन्थिस्तं बिभ्रतीति । तथा एते भुजङ्गाः शेषादयो वक्रिमणः कौटिल्यस्य विलासस्तस्य विकासस्तं भजन्त इति तादृशाः किं वा न भवन्ति । भवन्त्येवेत्यर्थः । किंतु पक्षान्तरे । एते भुजङ्गा मम भक्तिरसोद्युक्तचेतसः सूक्तामृतानुकरणे सूक्तामृतोपमायां कथमुत्स हन्ते कथं प्रभवन्ति । अत्र हेतुमाह—यत एते भुजङ्गाः क्रमात्पदन्यासादपचिता हीनाः । तथा पदगुम्फेन चरणरचनया वर्जिताः । सर्पाणां गूढपादत्वात् । एतद्विशेषणद्वयविशिष्टत्वं यतो मदीयसूक्तामृतस्य नास्ति अतो हेतोर्मदीयसूक्तामृतस्योत्कर्ष इत्यर्थः । तथाहि—अत्र निबिडेति विशेषणद्वयेन भुजङ्गसूक्तामृतयोः समत्वम् । तथा मम सूक्तामृतमपि निबिडो यो बन्धो रचनाभेदस्तं बिभर्तीति निबिडबन्धभृत् । तथा वक्रिमविलासविकासभागपि भवति । वक्रिमविलासो वक्रिमभणितिः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणी समुज्ज्वला उक्तिः । वक्रिम विलासस्य विकासो विस्तरस्तं

भजतीति तादृग्भवति सूक्तामृतमपि मम। किंत्वित्यनेन मदीयसूक्तामृतमपि क्रमादुद्दिष्टक्रमादपचितं हीनं न भवति। किंतु सक्रममेवेत्यर्थः। दुष्क्रमस्यार्थस्य दुष्टत्वात्। तथा मदीयसूक्तामृतं पदगुम्फेन पदबन्धेन हीनं न भवति। यथोचितपदबन्धमित्यर्थः। अतश्च भुजङ्गा मम सूक्तामृतानुकरणे कथं क्षमन्त इत्यभिप्रायः॥ हे स्वामिन्, अस्तस्त्यक्तो नयो यत्र तत्। क्रियाविशेषणमेतत्। अदः भयङ्करं फणिनः सर्पा एव कर्णपूरास्तेषु हेवाक एव दुष्टं व्यसनं विहाय त्यक्त्वा प्रणयो याच्ञा उपचारः पूजा तौ गर्भे यासां ता इमा मम गिरश्चतुरं शीघ्रमाभरणीकुरुष्व। आभरणानि कर्णाभरणानि संपादयेत्यर्थः॥ युग्मम्॥ ५७, ५८॥

स्वामिन्निति। हे अन्तकान्तकर मृत्युञ्जय, करुणाम्बुराशे दयासमुद्र, शङ्कर, शंसतः स्तुवतो मे मम करुणां दीनां तां वाणीं कर्णे कुरुष्व। तां वाणीं किमित्याह — हे स्वामिन्, बध्नाति स्नेहपाशेन बन्धुः। जगतामेकबन्धोस्तवाग्रे। बत अनुकम्पायाम्। अबान्धवतया आश्वासनकारणबन्धुराहित्येनोपलक्षितेन मया इयं या वाणी निजगदे उक्ता॥ ५९॥

पश्यन्निति। हे भगवन्महेश्वर, या आर्तिः रिक्तहस्ततया धनिनं प्रति वीप्सया याच्ञापर्याया पश्यन्तं वीक्षमाणमपि सम्यक्। पुरुषमिति शेषः। पुरुषमन्धमदृशं करोति। अन्धीकरोतीत्यर्थः। तथा अभिमानिनमपि साहङ्कारमपि गतमानं करोति। तथा विस्तीर्णकर्णमपि सम्यक्श्रवणसमाहितकर्णमपि बधिरमेडं करोति सा आर्तिः कुनृणां कुपुरुषाणामिव श्रीर्यथा तं कुपुरुषं किं न नर्तयति। तथा मामपि किं न नर्तयतीत्यर्थः। हे भगवन्, तस्माद्धेतोरतिलङ्घनानि स्वामिनिवेदनायुक्तासंबद्धप्रलापरूपाणि क्षमस्व॥ ६०॥

अथ कतिपयवृत्तैः कालोपालम्भकुलकमारभमाण आह—

उच्छृङ्खलमिति। वयं कर्तारः कृतान्तं रविजं प्रति बोधयामः। यथा उचितकर्मकृत्स भवति तथा तं प्रति बोधयामः। किं कृत्वा। तमेव कृतान्तं स्थिररुषं दीर्घरोषमाशङ्क्य विज्ञाय। कास्वपि। शंकरस्य श्रीशंभोश्चरितानि त्रिपुरदाहादीनि तैः पवित्राश्चित्रा रम्या याः सूक्तयः प्रौढोक्तयस्तास्वपि। पुनः किंभूतम्। उच्छृङ्खलमनियन्त्रणम्। तथा खलं खं शून्यं लाति खलः, खलति चलति वा निग्रहाय खलः पिशुनस्तम्। तथा अलङ्घ्यबलम्। त्रिजगति केनाप्यलङ्घनीयसामर्थ्यम्। तथा अन्तः क्रोधाग्निना ज्वलन्तम्। तथा अविकल्पं समवर्तित्वान्निर्विकल्पम्। तथा अनल्पदर्पं महादर्पयुक्तम्॥ ६१॥

प्रत्यग्रेति। हे कृतान्त, सह अवधानेन एकाग्रतया वर्तते यः स तादृक् त्वं तदवधारय। अवधारणं निश्चयः। तत्किमित्याह—तव हितं तथा मितं स्वल्पमपि बह्वर्थं यद् ब्रूमहे। पुनः किंभूतम्। प्रत्यग्रकर्कशं प्रत्यग्रे आमुखे कर्कशं कटु। पर्यवसाने मधुरमित्यर्थः। तथा अशल्कं निर्दोषमकलुषम्। तथा उदर्के आगामिफले पथ्यं परिणामहितम्। तथा तथ्यं सत्यम्। सतोषं सहर्षम्। अपगता दोषा यस्य तत्। अविद्यमानो रोषेण पोषश्च यस्य तत्। वयं किंभूताः सन्धित्सवस्त्वया सह संधिं कर्तुमभीप्सवः॥ ६२॥

अन्यत्रेति। हे निरङ्कुश निर्निरोध, कीनाश कृतान्त। कुत्सितं नाशयति कीनाशस्तत्संबोधनम्, कीनाशः क्षुद्रस्तत्संबोधनं च। 'कृतान्ते पुंसि कीनाशः क्षुद्रकार्षिकयोस्त्रिषु।' इत्यमरः। हे दुराशय, दुष्ट आशयो यस्य तत्संबोधनम्। त्वमन्यत्र जने हुङ्कृतानि निर्भर्त्सनहुङ्कारान्दर्शय। त्वमभिमानं निजाभिमानं मा नाशय। एतदेवाह—हे क्षुद्र कृतान्त, नाम

निश्चये संभावनायां वा त्वं कर्ता किं मन्ये मन्यसे। अहं कर्ता नाथीकृतेन्दुमुकुटान्, नाथीकृतश्रीशिवभट्टारकानपि निर्भर्त्सयिष्यसि निर्भर्त्सयिष्यामि तवेयमाशा हतैव निन्दितैव। अत्र मन्ये निर्भर्त्सयिष्यसीत्यत्र प्रहासे पुरुषव्यत्ययस्य व्यञ्जकत्वम्। यथा—'रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिरप्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि। किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमामेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ॥' अत्र पुरुषव्यत्ययस्य पुरुषः प्रथममध्यमोत्तमरूपः। रेरे इति। स्थिरं प्रेम यत्र तं महिमानं प्रमुञ्चेत्यन्वयः। चञ्चलाभ्यां लोचनाभ्यामाविष्कृता रुचिरभिलाषो यत्र तदिति चेतोविशेषणम्। लोचनाभ्यामाविष्कृतरुचित्वाच्चेतसो लोचनचेतसोर्द्वयोरपि निन्द्यत्वम्। हतां निन्दिताम्। किं मन्यसे विहरिष्यामीति मध्यमोत्तमपुरुषयोरुत्तममध्यमपुरुषव्यत्ययः। तथा चानुशासनं सूत्रम्—'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च।' इति। रे चेतः, किं त्वमेवं मन्यसे यदहमनया सह विहरिष्यामीति पुरुषव्यत्ययः। एतद्वृत्तानुसारेण ममापीदं वृत्तमेकम्। यथा—

'नित्यं दुर्ललितोऽसि दीनदमने त्वं चेत्तथापि ध्रुवं
रे रे कालकराल मुञ्च विमते व्यर्थां दुराशामिमाम्।
किं मन्ये प्रहरिष्यसे जनमिवानाथं बतैनं हठा-
त्ख्यातं शङ्करकिङ्करं त्रिभुवने प्रेमैकपात्रं विभोः॥'

अत्रापि प्रहासे अहं प्रहरिष्यामीति पुरुष-व्यत्ययस्य व्यञ्जकत्वं ज्ञेयम्॥ ६३॥

येनेश्वरेणेति। रे काल, विहितागसः कृतापराधस्यापि तव शासनं दाहरूपं कृत्वापि महता ईश्वरेण महेश्वरेण दयालुना तव पुनः प्रसादः सजीवीकरणरूपो विहितस्तस्यैव सेवका दासा वयम्। अतो हेतोस्तव विद्विषोऽपि शत्रवोऽपि वयं यद्धितं ब्रूमहे तत्त्वं रुषेति ईदृग्वचनं रुषैव ममैते वदन्तीति मनुषे जानीषे॥ ६४॥

रे दुर्विनीतेति। रे इति हीनसम्बोधने। रे दुर्विनीत दुर्विनययुक्त, रे खल दुर्जन, अधम काल, पुरारेर्मृत्युञ्जयसकाशात् पुरा निजाविनयस्य शङ्करैककिंकरविभीषिकारूपस्य प्रशास्ति शासनं दाहरूपमाप्तवानसि। तां तव प्रशस्तिं श्रुत्वैव धृतिमतां सधैर्याणामपि चेतः कम्पमेति। रे काल, कथं पुनस्तदेव निजदुर्विनीतत्वं प्रक्रमसे आरभसे॥ ६५॥

पाणाविति। कुत्सितः पुरुषः पुरुषपाशस्तस्य संबोधनं हे पुरुषपपाश। 'याप्ये पाशप्'। 'कुपुरुष' इत्यपि पाठो दृश्यते (?) कुत्सितः पुरुषस्तस्यामन्त्रणं हे कुपुरुष, तं पाणौ हस्ते पवनाशनपाशं सर्पपाशमाशु शीघ्रं पिधेहि। इह विषये तव रुषोऽवकाशः स्थानं न भवति। हे कातरभयङ्कर, कातरेषु भयंकरस्तस्यामन्त्रणम्। रे इत्यधमामन्त्रणे। निःसङ्करेषु सङ्करान्निष्क्रान्तेषु तथा शरणीकृतशङ्करेषु किं करोषि। न किञ्चित्करोषीत्यर्थः। एतद्वृत्तार्थानुसारेण ममापि वृत्तद्वयं यथा—

'अन्यत्र प्रसरति ते कृतान्तशक्तिर्नैतेषु क्वचिदपि शम्भुकिंकरेषु।
एकस्य प्रणयनतस्य पालनार्थं निर्दग्धस्त्वमसि पुरा पुरारिणा यत्।'
'क्रोधोद्धुरो जलधरध्वनिधीरघोरहुँकारतर्जितसमस्तजनो नितान्तम्।
शर्वाङ्घ्रिभक्तिकवचेन समावृतस्य किं मे करिष्यति यमोऽपि स दण्डहस्तः॥ ६६॥

व्यापारयेति। हे कीनाश, स्वपुरुषं स्वानुचरं स्वदूतं परेषु शङ्करकिंकरेभ्योऽन्येषु

व्यापारय प्रेषय। त्वं शङ्करकिंकराणां शम्भुसेवकानां रोषं मा अङ्कुरयोत्पादय। हे विषधरायुध। विषधरः सर्प एवायुधं पाशरूपं यस्य स तस्यामन्त्रणम्। हे काल, निर्निरोधो निर्यन्त्रणो यः क्रोधस्तस्य प्रबोधस्तत्र पटहं पटहरूपं हरहुङ्कृतं मृत्युञ्जयहुङ्कृतं ते किं विस्मृतम्। 'आनकः पटहोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः॥ ६७॥

कीनाशेति। हे कीनाश, गलिश मूढ, निरङ्कुश निर्यन्त्रण, निर्विमर्श विगतकार्याकार्यविवेक, निस्त्रिंश निर्मर्याद, निष्करुण निर्दय, हे काल, त्वं चेन्निःशरणेष्वगतिकेषु। हे निरनुरोध, निर्गतः कस्याप्यनुरोधो यस्य तस्यामन्त्रणम्। तादृशेषु चेद्रोषं करोषि तर्हि महेश्वरसंश्रितेषु नाथीकृतशङ्करेषु तत्किं चिकीर्षसि कर्तुमिच्छसि॥ ६८॥

कुर्वन्निति। यमयति जनं, यमलजातत्वाद्वा यमस्तत्संबोधनं हे यम, अबान्धवेष्वाश्वासकविनाकृतेषु विरोधं कुर्वन् समुद्धतकन्धरस्त्वं स्तब्धग्रीवस्त्वं त्वं मुधा व्यर्थं धत्से। अनाथेष्वपि लोकेषु दयालवः प्रभवो यतः सन्तीत्यर्थः। दृष्टं चैतत्। हि निश्चये, यस्मात्कारणाद्वा। तीव्रापराधविधुरेषु भीतेष्वपि अधमेष्वपि पामरजनेष्वपि बाधां पीडां स्वमुखेन परमुखेन वा विधातुं कर्तुं न क्षमन्ते न सहन्ते। तथा च चाणक्यः—"उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुरिति कथ्यते॥" इति॥ ६९॥

यत् प्राणिष्विति। रे काल, प्रमथनाथपितुः प्रमथानां गणानां नाथो गणपतिस्तस्य पिता जनकस्तस्मान्महेश्वरात्प्रभोः प्रसादं प्राप्य यत्त्वं प्राणिषु जन्तुषु प्रसभं बलात्प्रहर्तुं प्रभवसि तत्तेषां प्राणिनां दुरुत्तरस्य दुस्तरस्य प्राक्कृतस्य दुरितस्य फलम्। प्राक्तनदुरितपरिपाकेन तत्तेषां फलम्। हे अन्तक, तत्ते पौरुषं किम्। अन्तं करोतीत्यन्तकः। तत्करोतीति णिजन्तात् ण्वुल् इति रायमुकुट्याम्। तत्सम्बोधनम्॥ ७०॥

तत्तथ्यमेवेति। कलति प्राणिनां धर्माधर्माविति कालः। "कल संख्याने' भौवादिकाद्बहुलवचनाद्धञ्।" इति रायमुकुटीकारः। 'कलयत्यायुः' इति स्वामी। हे काल, जना अकारणकण्टकं निष्कारणवैरिणं त्वां यद्धर्मराज इति स्तुवन्ति। धर्मश्चासौ राजा चेति धर्मप्रधानो वा राजा धर्मराजः। टच्। 'धर्मस्य राजा' इति स्वामी। [तत् तथ्यमेव किम्। वितथमेव तदित्यर्थः ?] दृष्टं चैतत्। जना जगदमङ्गलस्य मूलकोषं मूलकोषभूतमुलूकं घूकम्। उलति नेत्राभ्यां दहत्युलूकः 'ऊर्ध्वे लोकात्' इति नैरुक्तः। तमुलूकं मङ्गलविहङ्गम इति यच्छंसन्ति कथयन्ति। भद्रमुखीवद्विपरीतलक्षणया मङ्गल उलूकः। 'स्यान्मङ्गलः कुजे घूके मङ्गलं कुशले स्मृतम्।' इति शाश्वतः॥ ७१॥

त्वामिति। हे अन्तक यम, रुदत्यो मृतमुद्दिश्य रोदनं कुर्वत्यः स्त्रियः। 'अहूलन् हारी' इति विदेशे प्रसिद्धाः। कश्मीरेषु 'नीरीश्य' इति प्रसिद्धाः। कापालिकाः प्रसिद्धाः। शवं कुणपं दहन्तीति शवदहः। गुरव आगमशास्त्रोदितान्त्येष्टिकर्मकुशलाः। द्विजाश्च वेदोक्तपराची(?)कर्मनिपुणाः। एते सर्वे यत्त्वां जीवितेश इति जीवितस्येशो जीवितेश इति स्तुवन्ति तद्युक्तम्। तत्कुत इत्याह—यतो हेतोस्तेषां रुदत्यादिद्विजान्तानां परमः सुहृत् मित्रमसि। अतस्त्वां ते जीवितस्येशो नाथः प्राणप्रिय इति स्तुवन्ति। हे यम, परेषां तेभ्यः पूर्वोक्तेभ्योऽन्येषामकारणरिपुर्निर्हेतुवैरी असुहृत् असून् हरतीत्यसुहृद्भवसि ते त्वां जीवितस्येशो नेता प्राणहर इति स्तुवन्ति। यश्च सुहृत्स कथमसुहृद्भवतीति विरोधः। अन्यार्थत्वे तदभावः॥ ७२॥

क्लिश्यन्तीति। हे रविज, मृतमुद्दिश्यावश्यमेवापमार्जनं पञ्चगव्योष्णोदकादिभिर्मृत-स्नपनमपमार्जनम्। भूतयागश्चितिवास्तुयागः। निर्याणकर्म। चरमेष्टिः। शिवक्रिया च — तत्र दग्ध्वा शवं मुख्यं कल्पितं वा मृतोद्धृतौ। स्नात्वा दूर्वाक्षतजलैः प्रेते दत्वा जलाञ्जलिम्॥ क्रिया कार्या नदीतीरे तीर्थे वाथ शिवाश्रमे।' इत्याद्यागमशास्त्रे प्रसिद्धा शिवक्रिया तदाद्यैः। आदि शब्देन तन्त्रोक्तविधिना दशाहादिकर्म। तैः कर्मभिः परमकारुणिका अतिदयालवो ये दैशिका गुरवः परार्थे क्लिश्यन्ति क्लेशं भजन्ते ते त्वां श्राद्धदेव इति स्तुवन्ति। श्राद्धं पितृक्रिया। तदंशभागित्वात् पितृपतित्वाद्वा श्राद्धदेव इति रायमुकुटीकारः॥ ७३॥

देशमिति, कोपमिति—युग्मम्। हे अन्तक, तव पिता जनकोऽर्कः। देवैरर्च्यत इत्यर्कः सूर्यः ध्वान्तमन्धकारमन्तं नयन्सन् यत्सन्तं शोभनं देशमसन्तमशोभनमपि न त्यजति अतः समवर्ती अर्क एव भवतीत्यर्थः। त्वं तु सत्सु साधुष्वसत्स्वसाधुष्वपि समं प्रहरस्यतः समवर्ती स्तूयसे। त्वं किंभूतोऽपि। विषमवर्त्यपि साध्वसाधुविचाररहितोऽपि मर्मविद्भिर्मर्मज्ञै रहस्यवेदिभिः समवर्ती स्तूयस इत्यर्थः। निन्दारूपा स्तुतिः। किंतु येन शम्भुना तव प्रसादः कृतः। किं कृत्वा। आदौ क्रोधं कृत्वा। तस्य सेवकेष्वपि त्वं प्रसादमनुग्रहं चिकीर्षसि कर्तुं किमिच्छसि यदि चेन्मां प्रति किं वर्तयसि॥ युग्मम्॥ ७४, ७५॥

भालस्थलानीति। हे नयज्ञ। नयं कार्याकार्यविवेकं जानातीति नयज्ञस्तत्संबोधनं हे नयज्ञ, त्वं मानवानसि मानोऽभिमानोऽस्य विद्यते मानवान् तादृगसि। हे रौद्र, स्वमौद्रं मुद्रा एव मौद्रम्। स्वार्थेऽण्। स्वमानमुद्रां यद्यवसि रक्षसि तदा तान्मानवान्मनुष्यान् मा विमानय मा सावमानान् कुरु। तान्कानित्याह—भालेत्यादि। अमलाः स्वच्छा ये इन्दुमौलिपादारविन्द-मकरन्दाश्चन्द्रमौलिपादपद्मरेणवस्तैः सितानि शुभ्राणि येषां नृणां धन्यानां भालस्थलानि ललाट-स्थलानि कलयसि पश्यसि॥ ७६॥

दुर्वृत्तेति। हे अन्तक, दुर्वृत्तानां दुराचाराणां दर्पोऽहंकारस्तच्छमनाद् यत्त्वं शमनोऽसि तथाधमानां पापिनां संयमनात् यमयतीति यमः यत्त्वमसि तदन्यत्। अयुक्तिमदित्यर्थः। स्वमत-माह—अहमिति मन्ये। युक्तिमदेतदित्यर्थः। यद्भवे महेशे भक्तिभाजस्तवैव मदं शमयितुं प्रभवः समर्थाः। तथा त्वामेव यमयितुं ते प्रभवः। श्रीशिवभक्ता एव तव शमना यमाश्चेत्यर्थः॥७७॥

उद्वृत्तमिति। हे नृशंस पुरुषघातक, भृशमत्यर्थं सह गर्वेण वर्तते यः स सगर्वः। तस्यामन्त्रणं हे सगर्व साहंकार, अन्तक यम, त्वं कर्ता शर्वस्तवव्यवसितेष्वपि शम्भुभक्त्यु-द्युक्तेष्वपि भृशं यदुद्वृत्तं चेष्टसे। उद्वृत्तमिति क्रियाविशेषणम्। उत्क्रान्तमुल्लङ्घितं वृत्तमाचारो यत्र तत्। तदुद्वृत्तव्यापारविधानं भानां दीप्तीनां विभवः। भाशब्द आकारान्तः। भाविभवेन भैरवो भयानको यो भैरवोग्रभालानलस्तस्मादुद्भवो यस्य स तादृग्यः पराभवो दाहरूपस्तं करोतीति तादृशं पुनस्ते तव भावि भविष्यतीत्यर्थः॥ ७८॥

किमिति। विगता शङ्का यस्य स विशङ्कस्तस्यामन्त्रणं हे विशङ्क, तथा विशङ्कटं विकरालमास्यं यस्य स तस्य संबोधनं हे विशङ्कटास्य, अर्कज यम, किं वान्यद् ब्रूमः। तवेति शेषः। यत्त्वमीश्वरसंश्रयाणां नाथीकृतेन्दुमुकुटानां हास्यमुपहासं चिकीर्षसि कर्तुमिच्छसि तन्मा कृथाः। तवोचितं वच्मीत्यर्थः। हि यस्मात्कारणादसौ महेश्वरस्त्रिलोकनाथो दयालुराश्रिताः शरणागता वत्सला अतिप्रिया यस्य स तादृक्सानुग्रहोऽपि सप्रसादोऽपि तवानुचितं पूर्वोक्तं न

क्षमते न सहते । यद्वा दग्धस्यापि तव ब्रह्मादिप्रार्थनया सञ्जीवीकरणेन सानुग्रहोऽपीदमनुचितं न सहत इत्यर्थः ॥ कालोपालम्भकुलकम् ॥ ७९ ॥

भालस्थलीति । तिलकेन विशेषकेण 'तिलकं तु विशेषकम्' इति कोषः । भालस्थलीव ललाटस्थली यथा शोभां बिभर्त्ति । यथा च वधूकटाक्षविक्षोभितेन वध्वा वरकामिन्या यः कटाक्षो नेत्रान्तस्तदालोकनेन विक्षोभितेन प्रफुल्लेन तिलकेन वृक्षविशेषेण वनावली वनपङ्क्तिः शोभते । 'आलिङ्गनैः कुरबकस्तिलकः कटाक्षैः शिञ्जाननूपुरपदाहननैरशोकः । गण्डूषसीधुपतनैर्बकुलोऽङ्गनानामभ्येति माधवमये समये विकासम् ॥' इति । यथा चैणतिलकेन मृगाङ्केण चन्द्रेण विभावरी रात्रिः शोभते तथेयं मम विज्ञप्तिः श्रीशम्भोः कृता वसन्ततिलकेन वृत्तविशेषेण शोभां बिभर्त्ति । 'ख्याता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ ८० ॥

वास इति । ममेत्यध्याहारः । क्षीणा दशा वस्त्रान्ता यस्य तत्तादृशं वासः । तथा क्षीणा दशा बाल्यादयोऽवस्था ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धा आयुर्दायदशा वा यस्य तत्तादृशं वयश्च देहावस्थाविशेषमुद्वहतो धारयतः करुणां दीनां गिरं श्रुतौ कर्णे कुरुष्व स्वामिन्नित्यर्थः । तथा करुणां कृपां चित्ते कुरुष्व । एवमग्रेऽपि । 'अथो दशा वर्तिरन्ते तु वाससो भूमनि स्त्रियाम् । इति मङ्खः । 'देहावस्था वयः पक्षी' इति च । तथा करणग्रामं करणानां बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणां ग्रामः समूहस्तमक्षममसमर्थं निजव्यापारासमर्थम् , न क्षमा क्षान्तिर्यस्य तत्तादृशमक्षमं मनश्चोद्वहतः । तथा निःसारेष्वनुदारचित्ततयान्तःशून्येषु दुरीश्वरेषु कुनृपतिषु सत्सु अपचितेरपमानादुद्वेगं दैन्यमुद्वहतः । तथापचितेः क्षीणत्वादङ्गेषु करचरणादिषूद्वेगमुच्चैर्वेगं जरया सकम्पत्वादुद्वहतः । तथा इदं वेश्म व्यर्थं विगता अर्था धनानि यस्य तत्तादृशमुद्वहतः तथा व्यर्थं निरर्थकं पारलौकिकमार्गशम्बलरूपसुकृतलेशाकरणाद्व्यर्थमखिलं नृजन्म मनुष्यजन्म चोद्वहतो मम । तथा इदं वपुः शरीरं कल्याणशून्यं कल्याणेन मुक्त्युपायरूपेण मङ्गलेन शून्यम् , कोषं गञ्जागारं च कल्याणेन सुवर्णेन शून्यमुद्वहतो मम करुणां कृपां चित्ते कुरुष्व करुणां दीनां च गिरं श्रुतौ कर्णे कुरुष्व ॥ ८१ ॥

अज्ञ इति । हे स्वामिन्, तावत्प्राथम्ये अहमज्ञो भवामि अत एव मन्दधिषणो मन्दबुद्धिरहं यामि स्तुतिभिर्भवतः स्वामिनः कृपापात्रतां प्रेमास्पदत्वं यामि, ता मनोहारिणीर्मनोज्ञाश्चाटूक्तीः कर्तुं न प्रभवामि न समर्थो भवामि । किन्तु पक्षान्तरे अशरणेन विगतशरणेनार्तेन कृपणेन दीनेन क्रन्दितं कर्णयोः कृत्वा सत्वरमविलम्बेन एहि । अधन्यस्याभाग्यवतो मम मूर्धनि शिरसि चरणं पादकमलं देहि निधत्स्व ॥ ८२ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठविरचितायां स्तुति-कुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां कृपणाक्रन्दनं नाम नवमं स्तोत्रम् ।

———

दशमं स्तोत्रम्

जयतीति । हरिणकेतुकलामुकुटस्य चन्द्रकलामुकुटस्य श्रीशिवभट्टारकस्य स्तुतिर्जयति सर्वोत्कृष्टा भवतीति सम्बन्धः । सा का । सुकृतिनां विशिष्टपुण्यभाजां चित्तमेव चकोरकः स्वनामप्रसिद्धो ज्योत्स्नापायी पक्षिविशेषः । तस्य चन्द्रिका ज्योत्स्नेत्यारोपः । तथा तेषामेव सुकृतिनां वदनमेवाब्जं पद्मं तस्मिन् रविच्छविः सूर्यप्रभा । धन्यानां मुखारविन्दविकासविधायिनीत्यर्थः । तथा तेषामेव श्रीशम्भुकथाकर्णनोत्सुकानां श्रवणानि कर्णा एव बर्हिणा मयूरास्तेषु वर्षणवर्तनी वृष्टिधारा ॥ १ ॥

पुनरपि रूपकेण शिवभट्टारकस्तुतिप्रशंसां करोति—

जयतीति, भवेति—युग्मम् । कुमुदिनीरमणाभरणस्तवश्चन्द्राभरणस्य श्रीशिवस्य स्तवो जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । स कः । भक्तिलतानवमाधवः । कायवाङ्मनोभिस्तदुपासनासक्तिर्भक्तिः सैव लतास्तस्या नवः प्रत्यग्रागतो माधवो वसन्तः । विकासक इत्यर्थः । पुनः कः । सुकृतं प्राक्तनानेकजन्मार्जितं पुण्यमेव पादपः शाखी तस्य यत्पक्वं परिपाकवत्फलं तस्योद्भव उदयः । पुनश्च कः । विपज्जन्मजरामरणव्याधिरूपैवोपद्रव उपप्लवस्तेन ये विक्लवास्तेषां बान्धवः । आश्वासक इत्यर्थः । पुनः कः । सुकवीनां महाकवीनां या सुशोभना प्रौढा उक्तिः सैव वधूर्वराङ्गना तस्या वदनासवो मुखासवः । पुनः कः । भवः संसार एव महार्णवस्तस्मान्निस्तरणं तत्र प्लवः पोतः । पुनः कः । प्रवरा वरेण्या ये सूरयः पण्डितास्त एव मयूरास्तेषां घनारवः प्रावृषेण्यमेघशब्दः । पुनः कः । अमृतद्रवः । कुत्र । हृदयस्य दाहस्तस्य हृतिस्तस्याम् ॥ २,३ ॥

वृत्तेनैकेन कविकाव्यप्रशंसां करोति—

मधुरेति । सत्कविसूक्तिरसायनं सत्कवीनां महाकवीनां शोभनाः प्रौढा या उक्तयस्ता एव रसायनममृतं जयति सर्वोत्कृष्टं भवति । किंभूतम् । त्रिभुवनाधिपते । त्रिलोकनाथस्य या स्तुतिस्तया पावनं पवित्रम् । इन्दुमुखीवदनादपि चन्द्रवदनामुखादपि मधुरं रमणीयम् । 'स्वादे रम्ये च मधुरम्' इति । तथा सुरसिन्धुजलादपि गङ्गाजलादपि क्लमहरं खेदहृत् । भवमरुभ्रमणजक्लमहरं च ॥ ४ ॥

नवेति । अभङ्गुरा अव्युच्छिन्नाः शङ्करभक्तिर्जयति सर्वोत्कृष्टा भवति । सा का इत्यारोपेण विशेषयति । हृदयमेव नन्दनं देवोद्यानं तत्र चन्दनकन्दली चन्दनलता हृदयस्य नन्दनं परमानन्दस्तत्र वा । किंभूता श्रीशिवभक्तिः । नवाः प्रत्यगाश्च ते नवाः स्तवास्त एव भ्रमरास्तेषां स्वनेन शब्देन शोभते तादृशी । पुनः किंभूता । भवः संसार एव मरुर्निर्जलो देशस्तत्र भ्रमेण यो घर्मस्तस्य शमे क्षमा । चन्दनलतापि नवनवालिस्वनशोभिनी मरुभ्रमघर्मशमक्षमा भवति ॥ ५ ॥

अथेति । अथानन्तरं कथञ्चन कष्टे सति मनसि चित्ते रूढमपि क्षणं विवेकनवाङ्कुरं विचाररूपनव्याङ्कुरं बहुविधं यद्व्यसनं कामक्रोधादि तदेव ओघो जलपूरस्तेन विघट्टितं संलग्नं सपदि तत्क्षणमेव जगद्गुरुं श्रीशिवं विज्ञपयामि निवेदयामि ॥ ६ ॥

अपीति । हे हंस परमात्मन्परमशिव । 'खगयोगिभिदोर्हंसो निर्लोभनृपसूर्ययोः । विष्णौ प्राणे चात्मनि च' इति मङ्खः । जगद्विदितस्त्रिजगत्प्रसिद्धोऽपि करुणापरो दीनदयालुः तथा परहितार्थं भवोदधिमग्नजगदुद्धरणार्थमाहितो धृतो मूर्तिपरिग्रहः सकलनाथरूपस्त्वं शरणार्थिनां

शरणागतानाम् । मादृशामित्यर्थः । हृदम्बुजे हृत्सरोजे कृतपदः कृतस्थितिः किमिति विपदो जन्मजरामरणत्रासविपदो न हंसि । हंसोऽप्यम्बुजे पद्मसमीपे कृतस्थितिर्दर्शनेनार्थिनां विपदो हन्तीति ज्योतिर्विदः ॥ ७ ॥

यदीति । हे स्वामिन्, भगवान्परमकारुणिको यदि हृदि स्थितिं कुर्वीत तदासौ व्यसनसम्पज्जन्मजरामरणरूपव्यसनसम्पत् । व्यसनानां कामक्रोधादीनां वा सम्पत् कथं प्रसरेत् । यदि च सा न प्रसरेत्तदा बुधजनोऽपि विपश्चिज्जनोऽप्यसमञ्जसकर्मस्वसमीचीनकर्मसु कथं प्रसज्जेत्प्रसक्तो भवेत् ॥ ८ ॥

इतः परं वृत्ताष्टादशकेन महाकुलकमारभमाण आह—

इहेति । हे महेश परमेश, इह जगति बृहद्भिर्व्यसनोद्गमैर्मृगयाक्षपानादिभिरुदग्रो महान्परिग्रहग्रहो ग्रहणहेवाकस्तेन गृहीता मतिर्यस्य स जनः कातरतां दैन्यं परतन्त्रतां पराधीनत्वमफलतां व्यर्थतां खलतां दौर्जन्यं च यदि न भजेत्तदा भवत्पदारविन्दपूजाव्यसनपरमानन्दविश्रान्तिमपहाय को विभूतिलेशोन्मिषन्मदकन्दर्पविकारकदर्थनां सहेतेत्यग्रे स्थितेन सम्बन्धः । एवमग्रेऽपि ॥ ९ ॥

यदीति । जनस्येति शेषः । सज्जनानां सज्जनं सङ्गः । 'संगमव्यसन' इति पाठे सज्जनसङ्गम एव व्यसनं तेनोल्लसन्ती अनल्पा महती कृपा तस्या आस्पदं स्थानं जनस्य हृदयमिन्दुमयूखानां चन्द्रकिरणानां सुखेन या आहतिस्तस्या व्यतिकरेण संपर्केण द्रुतस्य चन्द्रकान्तस्य श्रियं यदि न भजेत सेवेत तदेति पूर्ववत्संबन्धः ॥ १० ॥

अभिलषेयुरिति । प्रणयिनोऽर्थिनो जना अनर्गला अव्युच्छिन्ना या दुर्गतिर्जन्मजरामरणव्यापत् वह्निर्व्यापारेण वा कालकर्णी तस्याः प्रसर एव दीर्घो निदाघस्तेन निपीडिता व्यथितास्तृषिता हरिणा घनागममिव घनागमं यदि नाभिलषेयुस्तदा ॥ ११ ॥

यदीति । पीनाः पीवरा घना दृढा ये स्तनास्तैर्भङ्गुरं त्रिवलिभङ्गि तरङ्गितं मध्यमुदरं यासां ताः । तथा धृतरतिप्रमदाः धृतौ रतिप्रमदौ परमसुखसन्तोषौ याभिस्ताः प्रमदा वरकामिन्य इह जगत्यपाङ्गविलोकितैर्नेत्रत्रिभागावलोकनैर्यदि न मनश्चित्तं हरेयुस्तदा ॥ १२ ॥

बलवदिति, कृतधियोऽपीति—युग्मम् । बलवन्ति यानीन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि तान्येव तस्करा दस्यवस्तैः संकुले भृते । तथा विषयाः पञ्च शब्दाद्यास्त एव भीमा भुजङ्गा अहयस्तैर्भीषणे भयङ्करे । तथा दुरितं दिनाद्दिनमुपचीयमानं दीर्घो दवानलो दवाग्निस्तेन दुःसहे । तथा बहलो यो मोहोऽविद्यापरपर्यायमज्ञानं तदेव तमो ध्वान्तं तेन हता संविच्चैतन्यप्रकाशो यस्मिन्नेवंविधे भवाध्वनि संसारदीर्घाध्वनि धावतो जनान् । प्रबलेन कर्मवायो रयेण वेगेनापहृत आत्मा येषां ते तादृशान् । अवसरे शिवैकताध्यानावसरेऽमी मदनमानमुखाः कामाहङ्कारक्रोधाद्याः परिपन्थिनो दस्यवो यदि न प्रहरेयुस्तदा । गर्भे युग्मम् ॥ १३,१४ ॥

उपचित इति । अभिनवान्याम्रदलानि रसालदलानि तेषामावलिः पंक्तिस्तस्याः कवलने आस्वादे आकुला ये कोकिलास्तेषां कूजितैः कुहूशब्दैरुपचितो वर्धितो मदनस्य कामस्य दिग्विजयोद्योगे डिण्डिमः पटहः । जनानिति शेषः । जनांस्तर्जयितुम् 'मदाज्ञाकारिणः प्रतिक्षणं भवत' इति यदि न प्रभवेद्यदि न शक्नुयात् । "डिण्डीति शब्दं मिनोति डिण्डिमः । "अन्येषामपि' इति डः" रायमुकुटीकारः ॥ १५ ॥

यदीति । हरति पापानि सर्वाणीति हरः । तत्सम्बोधनं हे हर, मधुनः किञ्जल्कस्य पानं तेनोन्मदाः सहर्षा ये भ्रमरास्त एव गायनास्तेषां गुञ्जितान्येव गीतयः सुखलवस्यानुभवाय कृतलोभमिमं मनोमृगं चित्तहरिणं मधौ वसन्ते यदि न हरेयुस्तदा । सुखलवेति वचनं परिणामे सर्वस्यैव दुःखकारित्वद्योतनार्थम् ॥ १६ ॥

अभिनवेति । एवंविधा लता वल्ल्यः विशेषणसाम्याल्लता एव वराङ्गना यदि न ऋध्नुयुः समृद्धिं प्राप्नुयुः । लताकामिन्यः किंभूताः । अभिनवा ये स्तबकास्त एव स्तनास्तैः सन्नताः । तथा पवनेन मलयानिलेन नर्तिताः पल्लवा एव पाणयः करा यासां ताः । तथा मधुपानां रोलम्बानां गुञ्जितमेव मञ्जुर्मधुरा गीर्यासां ता लताः । किम्भूताः । बन्धनिबन्धनम् । मनोमृगस्येति शेषः । मनोमृगबन्धनिबन्धनभूताः । समासोक्तिरलंकारः । तदा ॥ १७ ॥

यदीति । तरुणैर्नवैः करैः किरणैरेव हस्तैः सह रजसा धूल्या वर्तन्ते यास्ताः सरजसः सधूलिकाः । सह रजसा—आर्तवेन वर्तन्ते यास्ताश्च सरजसो रजस्वलाश्च । 'स्याद्रजः पुष्पमार्तवम्' इत्यमरः । हरितो दिशोऽविरलं गाढं परिरिप्सुः परिरब्धुमालिङ्गितुमिच्छुरहर्पतिः सूर्यः समासोक्तिबलेन कामी च मानिनां मानवतां 'वयं कामिनीसविधं न यास्यामः' इति मानिनां शुचौ निर्मले मनसि चित्त इव शुचौ ग्रीष्मे अनेहसि ग्रीष्मकाले यदि घनं तापं सन्तापं नोत्पादयेत् । अत्रापि समासोक्तिरलंकारः । तदा । पूर्ववत्सम्बन्धः ॥ १८ ॥

पृथुलेति । इमा मृगदृशो मृगाक्ष्यो दिशो हरितश्च घनागमे प्रावृषि धृतिच्छिदो धैर्यच्छिदो यदि न भवेयुः । द्वे अपि विशिनष्टि—मृगदृशः किंभूताः । जघनं च ऊरू च पयोधरौ च तज्जघनोरुपयोधरम् । प्राण्यङ्गानां समाहारः । पृथु महत् लसज्जघनोरुपयोधरं यासां ताः । पुनः किंभूताः । गुरुणा महता मरुता वायुना चपलमाकुलितमम्बरं वासो यासां ताः । दिशश्च किंभूताः । पृथुला महान्तः सज्जा घना उरवः पयोधरा मेघा यासां ताः । गुरुणा महता वातेन चपलया विद्युता चाकुलितमम्बरमाकाशं यासु ताः । समुच्चयालंकारः ॥ १९ ॥

सुरभीति । एवंभूता अगापगाः पर्वतनद्यः शरदि शरत्समये । पुरुषानिति शेषः । पुरुषान् कर्मभूतान् नतभ्रुवः कर्मभूता यदि न संस्मरयेयुः संस्मृताः प्रयुञ्जीरन् । अगापगाः किंभूताः । सुरभिगन्धयुक्तं सहासं विकासयुक्तं मुखमग्रं येषां तादृशान्यम्बुजानि यासु ताः । नतभ्रुवां पक्षे ताः कथम्भूताः । सुरभिगन्धि सुगन्धं सहासमीषद्धासयुक्तं मुखं वदनमेवाम्बुजं यासां ताः । पुनः किंभूताः । धृतो मनोहरो रम्यो हंसा एव हंसकास्तेषां विभ्रमो याभिस्ताः । धृतो मनोहरो रमणीयो हंसकसहितः पादकटकयुतः विभ्रमो विशिष्टं भ्रमणं गतिर्याभिस्ताः । 'हंसकः पादकटकः' इत्यमरः । अगापगाः किंभूताः । मज्जनधाम मज्जनस्य स्नानस्य धाम गृहम् । नतभ्रुवोऽपि किंभूताः । मज्जनस्य भवाब्धौ ब्रुडनस्य स्थानम् । शब्दश्लेषोपमया स्मृतिरलङ्कारः ॥ २० ॥

यदीति । सहसि हेमन्ते । 'सहो बले ज्योतिषि च पुंसि हेमन्तमार्गयोः ।' इति मेदिनी । दुर्विषह उल्बण उद्भटो वायुर्यासु ताः तथा दीर्घतमा अतिदीर्घा रात्रयो निशाः । धृतो घन उष्मा यैस्ते तादृशा ये बृहन्तस्तरुणीस्तनास्तेषां स्मरणे कारणतां यदि न समवाप्नुयुः, तदा पूर्वोक्तेन सम्बन्धः ॥ २१ ॥

यदीति । तपसि कृच्छ्रादिव्रते रूढो रसो यस्य स तादृशो जनस्तपस्विजनोऽपि व्यसनाकुले वीनां पक्षिणामसनं हिमवायुना संकुचितपक्षतया दूरीभवनं तेनाकुले तपसि शिशिरे ।

'तपस्तु शिशिरे माघे क्लीबं कृच्छ्रादिके व्रते' इति मङ्खः। तथा चेतसि च सर्वलोकस्य व्यसनैर्मृगयाक्षपानादिभिराकुले सति जनोऽलसो यदि न भवेत्। तथा कस्मिंश्च सति। बहिर्घनानां मेघानां यदावरणं सर्वत आच्छादनं तस्योद्गमस्तेन ग्लपितं धाम यस्य स तस्मिन् धामनिधौ सूर्ये सति ॥ २२ ॥

तदीति युग्मम्। अष्टादशभिः कुलकम् ॥ २३, २४ ॥

इदमिति। हे हंस परमात्मन् परमशिव। 'हंसो विहङ्गभेदे स्यादर्के विष्णौ हयान्तरे। योगिमन्त्रादिभेदेषु परमात्मनि मत्सरे। निर्लोभनृपतौ हंसः शरीरमरुदन्तरे॥' इति विश्वः। मेघमयमित्यत्र मे अघमयमित्यपि पदच्छेदः। हे हंस परमात्मन् राजहंस च पिहितमाच्छादितं भास्वत्कान्तिमत् अमन्दं बहु महस्तेजो ज्ञानस्वरूपं येन तत्तादृशं महत्तमो विषादात्मकस्तमोगुण उदञ्चत्युल्लसति। घनं सान्द्रं बलं सामर्थ्यं यस्य स तादृशः स कालः कृतान्तः, महाबली तुरीययुगसमयो वा काल उपस्थितः सविधं प्राप्तः। तत्तस्मात्कारणादिहास्मिन्समये इहास्मिन्मामके वा मानसे चित्ते पदं सर्वथा स्थितिं कुरु। अथ च इदं मेघमयं जलदप्रचुरम्, पिहितं भास्वतो विवस्वतोऽमन्दं बहु महस्तेजो येन तत्तादृशं तमोऽन्धकारमुदञ्चत्युल्लसति। तथा च घनानां मेघानां बलं यत्र स तादृक्कालः समयो वर्षाकालोऽप्युपस्थितः। अतो हेतोः हे हंस, त्वं मानसे मानसाख्य एव सरसि स्थितिं कुर्वित्यर्थान्तरम्। हंसा वर्षाकाले मानसं सरो यान्तीति प्रसिद्धिः ॥ २५ ॥

इतीति। हे अनन्त ब्रह्मादिभिरपि दुष्प्रापान्त, अन्तः हृदि मुदं परमानन्दं तिरोदधदन्तर्हितं कुर्वत् यन्मोहमहातमः अज्ञानरूपं मोहान्धकारमिति पूर्वोक्तप्रकारेणोदञ्चलत्युल्लसति। हे अनन्त, इदं महातमो हृदि चित्ते मादृशामिति शेषः। मादृशां हृदि रवीन्दुहुताशनचक्षुषस्त्रिधामनयनस्य विश्वप्रकाशकस्य तवासंनिधिमसांनिध्यं निवेदयति वक्ति। मादृशां हृदि परज्योतीरूपस्य तवासांनिध्येन मोहमहातमःप्रादुर्भाव इति भावः ॥ २६ ॥

नेति। हे महेश्वर परमेश्वर, हि यस्मात्कारणात्त्वयातिकृपालुनाधिष्ठितं मनश्चित्तं भक्तजनस्य भ्रमयितुं जन्मजरामरणावर्ते भ्रमयितुं भवोर्मयः संसारलहर्यो न प्रभवन्तीति समर्था न भवन्ति। दृष्टं चैतत्। हि निश्चये हरिणाधिपरक्षितं सिंहपालितं वनं काननं क्षपयितुं बाधितुं कपयो वानराः क्वचन क्षमाः कदापि न क्षमा भवन्ति ॥ २७ ॥

भवतीति। हे महेश, भवति पश्यति कृपयावलोकयति दृष्टयंशेन दुर्गतिर्नश्यति। तथा शक्तिः सामर्थ्यं स्फुरत्युल्लसति। तथा मतिर्बुद्धिर्धृतिं स्थैर्यमुपैति। तथा स्तुतिकृति स्तुतिं करोतीति स्तुतिकृत् तस्मिन् स्तुतिकृति तव भक्तजने मादृशे निर्वृतिः परमानन्दः स्थितिमेति। कीदृशे स्तुतिकृति। प्रतिपत्तिमति प्रतिपत्तिः सर्वतः पूज्यता तद्वति पुनः किंभूते श्रुतिस्मृतिभृति श्रुतिस्मृतिधारके। तत्पारंगम इत्यर्थः। अत्र विशेषणसामर्थ्येन भवत्पादाम्भोरुहस्तुतिपरस्य सर्वतः पूज्यता श्रुतिस्मृतिपारङ्गमत्वमात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपः परमानन्दश्च भवतीत्यर्थः (व्यज्यते) ॥ २८ ॥

कतीति। इहास्मिन्भववारिधौ संसारार्णवे कति न जन्तवोऽसंख्याता लसन्त्युद्भवन्ति गलन्ति लीयन्ते च। कथम्। बुद्बुदवत् बुद्बुदा इव जलापूरे तद्विक्षोभेणोद्भूता जलस्फोटा बुद्बुदास्तद्वत्। पुनः किन्तु, यः कश्चन शिवसेवकः समजनि श्रीशिवभक्तोऽजनि स एव जगति स्पृहणीयजनिः धन्य इत्यर्थः ॥ २९ ॥

संपदीति। दिष्टयेति शेषः। मादृशैर्बहुभिर्धृतभक्तिभिर्धृता भक्तिर्वाङ्मनःकायकर्मभिस्तदुपासासक्तिर्यैस्तादृशैः। तथा शुचिभिः स्वच्छहृदयैः। सपदि इदानीं पीठे विलोठिता पातिता मूर्तिर्निजतनुर्यैस्ते तादृशैः श्रीभगवतश्चरणरेणुकणैरिव। धृतभक्तिभिर्धृता भक्तिर्विच्छित्तिर्यैस्ते। शेषं प्राग्वत्। दिविषदामपि समस्तदेवानामपि मूर्ध्नि शिरसि पदं धृतम्। यथा भगवत्पदारविन्दरेणुभिर्देवानां शिरसि स्थानं कृतम्। प्रणामावसरे तेषां मूर्ध्नि धारणात्। तथा मादृशैरपि बहुभिर्देवशिरसि पदं कृतमिति प्रतिक्षणं श्रीशिवैकताध्यानान्निश्चितं सम्पन्नमेवेति। श्रीकाव्यप्रकाशे—'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः' इत्यत्र कारिकायां 'रमणीयः 'क्षत्रियकुमार आसीदितिवत् 'विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि।' इतिवच्च मूर्ध्न्यपि पदं कृतमिति कालस्य व्यञ्जकत्वं तज्ज्ञैरूह्यम्॥ ३०॥

निपततामिति। विषमे कठिनेऽतिदुस्तरे विपदम्बुधौ जन्मजरामृतिरूपार्णवे निपततां जन्तूनां यदस्तविडम्बनं अस्ता त्यक्ता वारिता वा विडम्बना यस्मिन् येन वा। अवलम्बनमाधारो भवति तद् विश्वस्यामङ्गलस्य संसाररूपाभद्रस्य भङ्गकारि रत्नमद्भुतं जयति सर्वोत्कृष्टं वर्तते। अहो आश्चर्ये॥ ३१॥

जयतीति। जन्मजरामरणैर्या व्यथा तस्याः शमे समर्थम्। तथा अनर्थानामविद्यादिपञ्चक्लेशानां निबर्हणम्। सकलमङ्गलस्य कैवल्यरूपस्य धाम स्थानम्। सुधामयं रसायनमयम्। श्रीशिवचरणाम्बुजपूजननामकं महौषधं जयति। संजीवनाद्यौषधवरेभ्योऽपि दुष्प्रापमित्यर्थः॥३२॥

इदमिति। वृद्धत्वेऽपि वलीपलितजराहरमनेकरसौषधिसाधितं रसायनमित्यायुर्वेदे। इदं पुनरसाधितमेव रसायनं भवति। इदं पुनर्निरुपभोगमनुच्छिष्टमत्ययमैकान्तिकात्यन्तिककर्मदुःखनिवृत्तिरूपं सुखम्। इदं पुनरम्बुधिमथनं विनैवामृतं पीयूषम्। किमित्येतदाह—अविनश्वरमेकनिमेषमात्रेऽप्यभङ्गुरमच्छिद्रमीश्वरसेवनं परमेश्वरसेवनम्। विभावनाध्वनिः॥३३॥

किमिति। संसारेन्द्रजालैर्हस्त्यश्वरथवस्त्राणामाडम्बरैराटोपैः किं ममास्ति। न किञ्चिदित्यर्थः। श्रीशिवभट्टारकचरणकमलसेवाव्यसनमेव मम अनिधनं निर्नाशं धनमस्तु। एतद्वृत्तानुसारेण ममाप्येकं वृत्तम्—

तातस्त्राता नहि न सहजाश्वासनं यत्र चाम्बा-
स्नेहारम्भो भवति च मृषा बन्धवो यत्र वन्ध्याः।
चौराद्यार्यं क्षयविरहितं खिद्यतां देहभाजा-
मेकं तस्मिन् पथि सुमधुरं शम्बलं शम्भुनाम॥ ३४॥

वहतु इति। सा प्रसिद्धा रमणी वराङ्गना रमणीयतामन्यजनमनोहारिणीत्वं वहतु धारयतु। अमृतं निर्जरत्वविधायि अमृतमेवास्तु। मधु माक्षिकं मधु वा परममधुरमस्तु किन्तु नोऽस्माकं यामिनीरमणमण्डनसेवनमेव निर्वृतिधाम परमानन्दधाम कैवल्यविश्रान्तिदमस्तु॥ ३५॥

अहमिति। दुरत्यया अक्षया भवगतीरवगत्य ज्ञात्वा अहर्निशं सर्वदा उपरमन्त उपरमं प्राप्ता मदमन्मथमत्सरा गर्वकामक्रोधा यस्य सः। एकमना एकाग्रचित्तो मनाक् सन्नहं शशधराभरणं चन्द्रमौलिं श्रये॥ ३६॥

इदमिति आत्मानं विनोदयति कविः। करुणामृतसागरं कृपामृताम्भोधिं शशिकिशोर-

शिरोमणिं बालेन्दुवतंसमिदमेवार्थये । एवशब्द आर्थः । इति किमित्याह—जन्मनि भवे मे वपुः कलेवरं भवदुपासनसाधनतां भवदाराधनहेतुतां गच्छत्विति ॥ ३७ ॥

कमिति । नाम निश्चये । यच्छिवनाम शिवशिवेति नाम निरङ्कुशं निर्यन्त्रणं कमपि टङ्कं विच्छित्तिविशेषं निकामं मनोहरमतिरम्यं वहति तदेव शिवनाम निरामयं निर्गता आमयाः क्लेशा अविद्यादयः पञ्च यस्य तन्निरामयं षडूर्मिरहितं वा । अकलङ्कं निष्कलङ्कमलङ्करणं मे मम मुखेऽस्तु ॥ ३८ ॥

हृदयेति स्वहृदयमुपदिशति । हे हृदय, त्वं कर्तृ अनाविलमकलुषं भावं स्वभावं भावय धारय । हे निरवधान सदैवावधानरहित हृदय, दृढां भक्तिविषये मतिं बुद्धिं बधान । हे असमर्थ अक्षम, शिवसेवनं श्रीशिवोपासनं विना अविनाशि अनपायं किं सुखं समर्थयसे जानासि ॥ ३९ ॥

भवरसमिति । हे मानस चित्त, संप्रतीदानीं भवे संसारे रसस्तं प्रति तृष्णया लोभेन मानस्य मानेन वा समुन्नतिस्तां त्यजसि । मदनशासनशासनतः श्रीशिवदर्शनतोऽनपायं निर्नाशं कमुपायं भवाम्भोध्युत्तरणोपायमुदीक्षसे ॥ ४० ॥

उपवन इति समदन इति च युग्मम् । पवनेन वायुना ईरिता माधव्यो माधवीलतास्ताभिर्वलिते । तथा तरुपङ्क्तिभिर्वलिते । तथा अमलाः कोमला ये कोषा बीजकोषास्तत्र निषण्णानां षट्चरणानां भ्रमराणां पारणं किंजल्कस्य तेन पावनानि पङ्कजानि यत्र तादृशे । समदने मदनवृक्षसहिते उपवने मदनेन वशीकृताः सकामोद्रेका वरवधूर्वराङ्गीरवधूय त्यक्त्वा प्रभुं श्रीशिवभट्टारकं भज सेवस्व । कुत इत्याह—स एव प्रभुरशरणानां जनानामुद्धरणे उद्धता धीर्बुद्धिर्यस्य स ते तव परममुत्कृष्टं शुचां जन्मजरामरणदुःखानामुपरमं नाशं करोति ॥ युग्मम् ॥४१, ४२॥

जहीति । हे मानस, मोहमविद्यापर्यायमज्ञानं जहिहि । त्वं निजां स्थितिं मर्यादामुपेहि । शुचं शोकं त्यज । मानपरिग्रहं भज । श्रीशिवपदाम्भोजस्य स्मृतिरेव रसायनपानममृतपानं तत्र परं लीनं भव ॥४३॥

तदिति । हे नित्यबहिर्मुख, नित्यं बहिर्बाह्यव्यापारेषु पर्यवसानविरसेष्वेव मुखं यस्य तत् तादृश, हे चित्त, अङ्ग इष्टमन्त्रणे । त्वमङ्गनानयनचापलं वरकामिनीनेत्रचापलमेव शापः निरयप्राप्तिरूपातिदुःखदः तमुपेयतां प्राप्यतां नयसि । तदेव साधु मन्यस इत्यर्थः । तथा शङ्करस्मरणसौमनसीं श्रीशिवस्मरणपरमसुखविश्रान्तिमपि हेयतां त्याज्यतां नयसि । यत्सर्वथा त्यजसि तदेतदसमञ्जसम् । अयुक्तमित्यर्थः ॥४४॥

यदिति । हे चित्त, त्वं कुपिता ये कालभटा यमभटास्तेषां भ्रुकुटी असौम्याक्षिविकारस्तस्याभयं दुरतिक्रममलङ्घ्यं यदि समर्थयसे मन्यसे तत्तस्मात्कारणादचिकित्स्यस्यासाध्यस्य भवरोगस्य भेषजमगदं भुजङ्गमभूषणतोषणं फणिहारश्रीशिवभट्टारकसन्तोषणं भज ॥४५॥

यदिति । हे चित्त, त्वं यद्यात्मनः सौहृदं चिकीर्षसि कर्तुमिच्छसि तथा त्वं यद्यघैः पातकैर्बन्धनं कारागृहरूपं परिजिहीर्षसि परिहर्तुमिच्छसि, तथा संसृतिसारं भवार्णवं यदि तितीर्षसि तर्तुमिच्छसि तदा मयस्करं मयः कल्याणं परमानन्दरूपं करोतीति मयस्करमीश्वरसेवनं परमशिवसेवनं श्रय । छन्दसि मयः शब्दः कल्याणवाचको दृश्यते । यथा रुद्रानुवाके—'शङ्करायच

मयस्करायं च' इति । अत्र भाषायामप्रयुक्तोऽपि मयस्करशब्दो भक्तिविषयेऽदुष्टः । यद्वा 'छन्दोवत्कवयोऽपि प्रयुञ्जते' इति न्यायेन समाधेयम् ॥४६॥

यदीति । हे वराक चित्त, सुकर्मविपाकतः । शोभनं च तत्कर्म सुकर्म प्राचीनानेकजन्मपुण्यपरम्पराविपाकतस्तव करतले शेवधिर्निधिः पतितः । अखिला या आपदो जन्मजरामरणरूपव्यापदस्तासामपाकरणे दूरीकरणे क्षमं तं शेवधिं श्रीशिवोपासनपरतन्त्रं मानुषजन्मरूपं हे मूढ, निरर्थकतां व्यर्थतां कथं नयसि ॥ ४७ ॥

अमलेति । हे मानस, अमलं स्वच्छं निर्मलं शीलं च कुलं च श्रुतं च तैर्विश्रुतं ख्यातं तथा सदसदर्थविचारे कार्याकार्यविवेके विशारदं निपुणं मानुषजन्म यत्पुरजिदर्चनसौख्यपराङ्मुखं सत् नयस्यतिवाहयसि ॥ दशभिश्चित्तोपदेशकुलकम् ॥ ४८ ॥

भ्रमदेति । हे हर महेश स्वामिन्, त्वमेहि, भ्रमंश्चासावमन्थरश्चासौ मन्थो मन्दराख्यः शैलो वैशाखस्तस्य यो रयो वेगस्तेनाहतिस्तया ध्वनंश्चासावमुद्रो निर्मर्यादः समुद्रस्तस्य समानया गिरा वाण्या शमितशापदशापदं शमिता शापदशा पुनः पुनर्जन्ममरणमहाक्लेशरूपशापावस्था एव आपद्येन स तादृशमवितथं सत्यं वरं मे मह्यं वितर देहि, कृपां कुरु ॥४९॥

अनुगृहाणेति । हे घृणार्णव करुणासमुद्र शंभो, अनुगृहाणानुग्रहं कुरु । प्रणयिनो याचकस्य । अर्थान्मम प्रणयानुगुणं याञ्चानुरूपं वचो गृहाण । त्वमुपकुरुष्व उपकारं भवार्णवोत्तरणरूपं कुरु । त्वं मनागीषत् अशरणोद्धरणप्रवणं विगतशरणमादृशजनोद्धरणलीनं मनश्चित्तं दृढं कुरु ॥ ५० ॥

पृथ्विति । हे भगवन् शम्भो, तव पृथु विस्तीर्णं शिरस्त्रिदशापगया देवनद्या गङ्गया श्रितम् । तथा पृथु उदारं हृदयं करुणया कृपया जगदुद्धारकारिण्या श्रितम् । तथा पृथु विस्तीर्णं वपुः शिवया गिरिजया श्रितम् । हे शम्भो, तवातिप्रमितेऽत्यन्तसूक्ष्मेऽपि श्रवणरन्ध्रपदे कर्णरन्ध्रस्थाने मे मम गिरो वाण्या धृतिर्धारणं कथं न भवतीति शेषः । मदीयां वाचं किं न शृणोषीत्यर्थः । 'धृतिर्धारणधैर्ययोः' इत्यमरः ॥ ५१ ॥

त्वदिति । हे हर, मम मतिः त्वयि विषयेऽनुरागभरेण कदर्थिता व्यथिता तथा त्वदनुरञ्जनकार्ये चाक्षमा असमर्था, इत्यतो हेतोश्चाद्भ्यः पराङ्मुखी सती निजा चासावार्तिस्तस्या निवेदनं करोति । यथैवंविधा कामिनी निजार्तिं स्वामिनो निवेदयति तथेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

प्रियतमेति । हे महेश, मम मतेर्बुद्धेः प्रिययतमोऽसि अत्यन्तप्रियोऽसि प्राणप्रियोऽसि । सा पुनर्मम मतिर्गुणवत्यपि ते तव हृदयङ्गमा न भवति । गुणवती, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तद्वती, दयादाक्षिण्यादिगुणयुक्ता च । इत्यतो भवद्विरहेणातुरा सती कामप्यनिर्वाच्यां कामकदर्थनां कामो मनोरथस्तेन कदर्थनां व्यथां भजति । कामिनीपक्षे—कामेनानङ्गेन व्यथां प्राप्नोति या च कामिनी गुणवत्यपि कामुकस्याप्रिया सा कामप्यनङ्गव्यथां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

भवेति । हे भव, तस्या मम मतेः भवत्परिरम्भस्य भवदालिङ्गनस्य रसो मास्तु । सा कथं भवत्परिरम्भं लभत इत्यर्थः । तु पक्षान्तरे । त्वदुपभोगविधौ त्वया विहितो य उपभोग आस्वादस्तस्य कथैव का भवति । हे स्वामिन् । तु पक्षान्तरे । तव दर्शनमात्रककाङ्क्षिणीं मम मतिमित्थमनेन प्रकारेण कथमुपेक्षसे ॥ ५४ ॥

कुटिलतामिति । हे हर, मम मतिरेव कामिनी कुटिलतां कर्मशाठ्यं कुटिलाशयत्वं च

निकामतः स्वभावतो न जगाम । तथा च मम मतिर्मलिनत्वं सदोषत्वं मालिन्यं चोपेयुषी न भवति । हे स्वामिन् , घनेन रागेण स्नेहेन भवद्विषये स्थितेन कदर्थितां व्यथितां मम बुद्धिं प्रति कर्कशं कठिनमाशयं किं वहसि । तदुपरि कृपां कुर्वित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अथेति । अथानन्तरमियं मतिः परिणामदशां गता, प्रकृतिपरिणामो बुद्धिरिति सांख्याः । तथा परिणामदशां प्रौढत्वं च प्राप्तेयमिति हेतोर्मुग्धतमामतिरम्यामतिमूढां च मम मतिं चेत्त्यजसि, तर्हि किमपरं वच्मि । सा मम मतिर्घनमोहेनाज्ञानेन मूर्छिता व्यथिता, अथ च मोहेन कामोद्रेकेण च मूर्छिता सती तवैव निर्दयतां निष्कृपतां प्रथयतां प्रकटीकुरुताम् । यथा कामिनीत्यर्थः । एतदाशयानुसारेण ममापि वृत्तमेकमम्—

किं सुप्तोऽसि किमाकुलोऽसि जगतः सृष्टस्य रक्षाविधौ
किं वा निष्करुणोऽसि नूनमथवा क्षीबः स्वतन्त्रोऽसि किम् ।
किं वा मादृशनिःशरण्यकृपणाभाग्यैर्जडोऽवागसि
स्वामिन्यन्न शृणोषि मे विलपितं यन्नोत्तरं यच्छसि ।

इति ॥ ५७ ॥

इदमिति । हे अमृतकुम्भकर अमृतकलशपाणे, 'देवं सुधाकलश'—इत्यागमशास्त्रे श्रीमृत्युञ्जयध्यानोक्तेः । तथा द्युतरङ्गिणीधर स्वर्णदीधर, तथा हे सुधाकरशेखर चन्द्रमौले, अनङ्गः काम एव जनंगमश्चण्डालस्तस्य संगमेन भ्रमत्प्रसृमरं अमन्दं प्रचुरं मलं कालुष्यं यस्य तत्तादृशं चपलं मनः अर्थान्मम शोधय निर्मलीकुरु । एतच्छोधने साभिप्रायममृतकुम्भकरेत्यादि विशेषणत्रयम् ॥ ५७ ॥

भवेति । हे भव श्रीशम्भो, भवः संसार एव मरुर्निर्जलो देशस्तत्र भ्रमेण यः खेदस्तेन कदर्थितं व्यथितं तथा सुष्ठु विषमैर्विषयोष्मभिः शब्दादीन्द्रियार्थोष्मभिस्तृषितं मम हृदयं कर्मभूतं, निर्भरं घनं भवच्चरणस्मरणामृतं कर्तृ, मदयते आनन्दयति । भवच्चरणस्मरणामृतेन भवमरुभ्रमणखेदसन्तप्तं मम हृदयं परमानन्दं लभत इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

विषयेति । हे हर महेश, विषयाः शब्दादय एव पन्नगपाशा भुजगबन्धनानि तैर्वशीकृतम् । तथा भव एव महार्णवस्तत्र मग्नम् । तथानीश्वरमनाथम् । बहलो यो मोहोऽविद्यापरपर्यायमज्ञानं स एव मोहोपलो बृहदश्मा तेन पीडितं मां शरणागतं समुद्धर ॥ ५९ ॥

यमभटैरिति । मदनं कामं मर्दयतीति मदनमर्दनः । तत्सम्बोधनं हे मदनमर्दन शम्भो, अयन्त्रणैरनियन्त्रितैर्यमभटै रविजकिंकरैर्ह्रियमाणं तथा अशरणम् । तथा चरणौ भवदीयचरणौ शरणं श्रितम् मां घनं यद् घृणामृतं कृपामृतं तेन निर्भरया परिपूर्णया दृशावलोकय ॥ ६० ॥

अभयेति । हे मदनमर्दन, मा भैषीरिति योऽभयशब्दस्तस्य मिषेण व्याजेनोन्मिषितोऽमृतद्रवो यस्य स तादृशम् । तथा अवन्ध्या सफला भक्तजनाभीप्सितदानेन धृता स्मितचन्द्रिका ईषद्धासज्योत्स्ना येन स तादृशं तव वदनचन्द्रमसं मुखेन्दुं पश्यतो मम तमो विषादात्मकतमोगुणस्वरूपमज्ञानाख्यमन्धकारं कदा नु शममेष्यति । नु वितर्के ॥ ६१ ॥

प्रबलेति । हे विभो, प्रबला ये तापा आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकास्त्रयस्त एव तापास्तैः कदर्थितो व्यथितो विग्रहो यस्य स तादृशं शिशुं द्विजपतिं द्विजानां विप्राणां पतिं

ब्रह्मेन्द्रमर्थान्मां द्विजपतिं नक्षत्रेशं च चन्द्रं शिशुं बालं पालयितुं रक्षितुं निर्जरनिर्झरिणीं देवनदीं गङ्गामिव शिरसि हे विभो, हृदये दयां किं न वहसि ॥ ६२ ॥

प्रणतेति । हे विभो, प्रणतानां प्रह्वाणां तापा आधिदैविकाद्यास्त्रय एव तापास्त एव विपत्तस्याः क्षपणे दूरीकरणे क्षमां समर्थाम् तथा दलिता सततं संतमसस्याज्ञाननाम्नस्तमसः स्थितिर्यया सा तादृशीताममृतश्रुतं दयां हरिणकेतुकलामिव चन्द्रकलामिव शिरसि, हृदि हृदये निजे निधेहि । चन्द्रकलापि तादृशी भवति ॥ ६३ ॥

अभिमतेति । हे विभो, अभिमतादभिलषितादप्यधिकं सिद्धिदात्रीं, भवः संसार एव दवो दावाग्निस्तं छिनत्तीति तादृशीं तथा अव्यभिचारिणीं न व्यभिचरति न निवर्तत इति तादृशीं स्थिरां दयां दयितामति प्रियां वपुषि देहार्धभागे भूधरराजसुतां पार्वतीमिव, हृदये निजे वह धारय । पार्वत्यपि तादृशी भवति ॥ ६४ ॥

चिन्तामणिरिति त्वं त्विति च युग्मम् । एते कृतिनां धन्यानां भाग्यैर्निजैरभीष्टफलदा भवन्ति । एते के, इत्याह —चिन्तामणिः कल्पद्रुमः कामधेनुश्च । तत्र स्फटिकजातिरकोंपलजातिश्चिन्तामणि-श्चिन्तारत्नम् । अचेतनो जडश्च । कल्पद्रुमश्च कठिनं यत्काष्ठं तेन निर्मितः । काष्ठमय इत्यर्थः । किल प्रसिद्धौ । कामधेनुः स्वर्धेनुश्चापि तिर्यग्दशां गता । तिर्यग्रूपेत्यर्थः । त्वं त्विति । हे प्रभो जगदीश, त्रिभुवने एकोऽद्वितीयो महेश्वरो महैश्वर्यवानपि, पर्याप्ता परिपूर्णा शक्तिर्यस्य तादृशोऽपि, पूर्णा या कृपा तस्या अर्णवः समुद्रोऽपि मम दर्शनमात्रकेऽपि दृष्ट्यंशदानेऽपि त्यक्तादरोऽसि । ममैवाभाग्यचातुरीयमित्यर्थः ॥ युग्मम् ॥ एतद्वृत्तद्वयाशयानुसारेण ममाप्येकं वृत्तम्—

निश्चेतनं तृणमणिस्तृणमाददाति लोहं च लोहमणिरात्मवशं करोति ।
रे चित्त चेतनमपि त्वमभाग्यतो मे स्वाधीनमाचरसि नो स्वविभुं दयालुम् ॥

इति ॥ ६५, ६६ ॥

चिरमिति तिलकम् । हे विभो, कुत्सिता ईशाः कदीशास्तेषां कदीशानां कुनृपतीनाम-ग्रेऽस्माभिः क इव न परिभवस्तिरस्क्रियारूपो विसोढः । किं कृत्वा । दीनं मुखं कृत्वा । एतदेवाह— चिरमित्यादि । अस्माभिरवसरोद्वीक्षणधिया अवसरस्योद्वीक्षणं तत्र धीस्तया कदावसरं प्राप्नुम इति धिया कदीशानां द्वारोपान्ते द्वारसविधे चिरं स्थितम् । तथास्माभिस्तत्रैव कुपिता ये मुखरा द्वाःस्था याष्टिकास्तैर्विहितस्तिरस्कारः परिभवः सोढः । 'प्राप्तः' इति च पाठः । कदीशानां किम्भूतानाम् । विभवलवेन यो गर्वस्तेनान्धिता अन्धीकृता दृशो येषाम् ॥ परिम्लान इति निजावस्थां वर्णयति कविः— हे विभो, मानः अहमप्येकोऽस्मीत्येवंरूपोऽभिमानः परिम्लानो म्लानिं गतः । ममेति शेषः । तथा तनुरपि देहयष्टिरपि तनुः कृशापि ताम्यतितमामतिशयेन ताम्यति ग्लानिं भजते । 'तमु ग्लानौ' धातुः । मोहावर्तेऽज्ञानरूपाम्भोभ्रमे मनश्चित्तं भ्रमति । तथा मम धृतिर्धैर्य-मप्यस्तं नाशं व्रजति गच्छति च । तथा क्लेशानामविद्यादीनां पञ्चानामपि कथा उच्छेदपदवीं नावतरति । अस्यां दवीयस्यामतिशयेन दूरायामनन्तायां भवभुवि भवः संसार एव भूस्तस्यां मम मतिर्मुधा व्यर्थं धावति । तदेवमिति । हे स्वामिन्, अहह खेदे । तत्तस्मात्कारणादेवमने-नोक्तप्रकारेण दुर्वाराणि यानि व्यसनशतानि तेषां संपातस्तेन विषमं कठिनं तथा सुष्ठु महद्दीर्घं मोहमेव गहनं दुर्गमनिर्जनस्थानं विशन् अत एवाश्वासनसमर्थमपरं विभोरन्यं नाथं बान्धवं वा, तथापन्नसुहृदमापद्गतसुहृदम् ; आश्वासनक्षममपरमलभमान एव मल्लक्षणो जनः करुणाब्धेः कृपा-समुद्रस्य भवतोऽवज्ञापात्रं न भवति । अवज्ञापात्रं भवितुं नार्हतीत्यर्थः ॥ तिलकम् ॥६७—६९॥

कदर्याणामिति अहमिति च युग्मम्। हे स्वामिन्, हन्त कष्टे। तरलश्चासौ नलिनीपल्लवस्तस्य तलं तत्र प्रलीनं यत्प्रालेयमवश्यायस्तद्वत्प्रचला क्षणस्थायिनी या कमला लक्ष्मीस्तया मूढं मोहान्धं मनो येषां ते तादृशानां कदर्याणां कृपणानामग्रे अदभ्रो घनो यो भ्रूभङ्गस्तत्प्रभवमवमानं हतधियः कुधियः परमेश्वरभक्तिरसादन्यत्र लीनबुद्धयः, इह जगत्यवमानं लभन्ते। किंभूताः। द्रविणकणे या तृष्णा तयान्धिता दृक् येषां ते ॥ अहं त्विति। तु पक्षान्तरे। अहं पुनः। प्रत्यग्रं नवं यत्प्रभुचरणराजीवरजः श्रीशिवचरणाम्भोजरजस्तेन पवित्रम् अधिकश्चासौ भक्तेर्ग्रहो हेवाकस्तेन गुरुं सगौरवं मूर्धानं दधदहं तेन भक्तिरसासवेन यः प्रमदभरः परमानन्दोत्कर्षस्तस्य संदर्भ आटोपस्तस्य रभसादौत्सुक्याद् भ्रुकुंसत्वं स्त्रीवेषधारिनटत्वं बिभ्रत्, भूतेशभ्रुकुटिघटनाभाजनभुवं भूतेशस्य श्रीभैरवस्य भ्रूभङ्गरचनापात्रास्पदत्वं भजेयम्। 'भ्रकुंसश्च भ्रुकुंसश्च भ्रूकुंसश्चेति नर्तकः। स्त्रीवेषधारी पुरुषः' इत्यमरः। स्त्रीवेषधारी नटो भ्रुकुंसः। अयं भावः — हतधियो मूढाः कन्दर्पभ्रूभङ्गभाजनत्वं व्रजन्ति। अहं तु धन्यः श्रीशिवभक्तिरसानन्देन स्त्रीवेषधारिनटत्वं बिभ्रदत एव श्रीभैरवभ्रुकुटिरचनाभाजनत्वं भजेयम् ॥ युग्मम् ॥ ७०—७१ ॥

सुरस्रोत इति। तटविटपिपुष्पौघसुरभौ तीरतरुकुसुमसमूहसुगन्धे पर्वतशिलासमूहस्खलनसशब्दस्रोतसि सुरस्रोतस्वत्या देवनद्या गङ्गाया जले श्रमेण भवमरुभ्रमणजखेदेन क्षामैः कृशैरङ्गैरुपलक्षितानां अत एवागणिता भवक्लेशविपत्संसारकष्टव्यापद्यैस्ते तादृशां नोऽस्माकं, हरचरणसेवासुखरसैः श्रीशिवपादारविन्दसेवामहासौख्यरसैस्तृप्तिः कदा स्यात् ॥ ७२ ॥

अमन्देति। इन्दुशिरसश्चन्द्रमौलेः पदाब्जद्वन्द्वं स्वशिरसि दधतामत एवामन्दानन्दानाम्, तथा दलन्ती अलघुर्महती संतापोऽध्यात्मिकादिस्त्रिविधः सैव विपद्येषां ते तादृशां नोऽस्माकं कालिन्दीसलिलशबलैर्यमुनाजलकर्बुरैरम्बरसरित्तरङ्गैर्गङ्गातरङ्गैः गङ्गायमुनासङ्गमे प्रयाग इत्यर्थः। भवबन्धेन्धनचयः संसारबन्धनैधोराशिः शान्ताग्न्यङ्गारत्वं याति ॥ ७३ ॥

सान्द्रेति। सर्वाकारं वाङ्मनःकायकर्मभिः सर्वप्रयत्नेनैकमेव गिरिसुताकान्तं श्रीशिवभट्टारकमनन्यचित्ततया प्रपन्नः शरणं गतः। अत एव सान्द्रेण विगलितवेद्यान्तरेणानन्देन स्तिमितानि सात्त्विकभावं गतानि करणानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि यस्य सः। तथा स्वात्मारामः स्वात्मन्येवाभिरमत इति। जितेन्द्रिय इत्यर्थः। तथा पुण्यं च नैपुण्यं च पुण्यानां नैपुण्यं वा भजते तादृशः भागीरथ्या गङ्गायास्तटविटपिनस्तीरतरोः क्वापि कुत्रापि मूले निलीनो निषण्णः सन्, शमसुखसुधास्वादं शान्तिसुखामृतास्वादं धन्यो भाग्यवानभ्येति ॥ ७४ ॥

अभिजनेति। भोः स्वामिन्, मुहुः पुनः पुनर्हेलया खेलं मन्थरं कृत्वा भवति त्वयि अवधीरणमवज्ञां कुर्वति सति, अमी इन्द्रियवैरिणो हृषीकशत्रवो भ्रमयितुं। जन्तुमिति शेषः। जन्तुं भ्रमयितुं मथितुं यदि न युक्ताः संनिहिताः सज्ञानास्तद्युक्ता वा यदि न स्युस्तदा क इव पुमान्सदसि सभायामभिजनेन कुलेन गुणो दाक्षिण्यादिः ख्यातिः, कीर्तिश्च प्रज्ञा शेमुषी च, अभिमानभरोऽहंकारातिशयश्च तैरुद्धुरां स्तब्धां शिरोधरां कृकाटिकां प्रह्वीकर्तुं नम्रीकर्तुं क्षमेत क्षान्तिं सहेत। कुलाद्युद्धुरां शिरोधरां नम्रीकर्तुं क्षान्तिर्भवद्वशाफलमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

मान इति। कस्य जन्तोर्मानोऽभिमानः पूज्यत्वं वा वल्लभो न भवति, अपि तु सर्वस्यैव। निजार्तिवशेन यत्खलमुखप्रेक्षित्वं तेन दुःस्था कष्टा स्थितिः कस्य प्रीतिकरी भवति, न कस्यापीत्यर्थः। तथा याञ्चावशादिति शेषः। याचनावशात्त्रपाभरेण लज्जाभरेण नतं शिरः कस्मै रोचते।

किन्तु पक्षान्तरे । स्वामिनि परमेश्वरे सावलेपहृदये सावज्ञमनसि सति शत्रुभी रिपुभिरौचित्यादान्तरैः कामादिभिर्दासीकृता भुजिष्यीकृता वयं धनमदेन क्षीबानद्यतनेश्वरान्वर्तमानसमयेश्वरान्क्षुद्रान् सामान्यान्कुनृपतीन्निषेवामहे ॥ ७६ ॥

स्तब्धा द्वारीति । क्षितिभुजां राज्ञां द्वारि वेत्रिभिः वेत्रं दण्डो विद्यते येषां ते वेत्रिणस्तैर्याष्टिकैर्निर्भर्त्सिता न्यक्कृता यदास्महे । तथा गर्वेणाहंकारेण येऽन्धा नरेन्द्रवल्लभा राजपुरुषास्तेषां दुष्टा ये उद्गारास्तैर्यच्च विदह्यामहे । तथा कुनृपतीनामिति शेषः । कुनृपतीनां मिथ्यास्तुतिपापैश्च यद्भगवतीं वाचं वाग्देवतां तिरस्कुर्महे; हे विभो, तत्सर्वमेतत्तवैव वक्रं कुटिलं यद्वक्त्रं तस्य वलनामात्रं परिवर्तनमात्रं तस्य विस्फूर्जितम् ॥ ७७ ॥

दृष्ट्वेति । पाटले लोहिते गण्डलेखे यत्र तत्तादृशं । उद्गतो वाष्पो ययोस्ते । अरुणे उद्गतवाष्पे उद्गतास्रे ईक्षणे यत्र तत् । तथा प्रस्फुरन्प्रकर्षेण स्फुरमाणो बिम्बसदृश ओष्ठो यस्य तत् तथा प्रथमापराधेन कौमारहरत्वाख्येन कुपितं कुरङ्गीदृशो मृगाक्ष्या वक्त्रं मुखं दृष्ट्वा नोऽस्माकं मनः सप्रेम सस्नेहातिशयं सविस्मयं साश्चर्यं सविनयं सहापत्रपया वर्तते यत्तादृक्सापत्रपं सस्पृहं सत्रासं चाभवद् बभूव, तदेवाधुना श्रीशिवभक्तिरससिक्तं श्रान्तं खिन्नं च शान्तं शमोपेतं च जातम् ॥ ७८ ॥

यदिति । हे विभो, क्षणिकमस्थिरं तथा स्वल्पं च विषयजं विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यो जातं सुखं स्थिरेण ध्रुवेण तथा महता च त्वद्भावनाजन्मना त्वदेकताध्यानजन्मना ह्लादेनानन्देन यत् खर्वीक्रियतेऽल्पीक्रियते किमत्राद्भुतम् । न किञ्चिदित्यर्थः । तत्तु चित्रम् , अध्रुवेण क्षणिकेन तथा सूक्ष्मेण च भवतो यदनुध्यानं चिन्तनं तेन यत् प्रमोदाश्रु आनन्दाश्रु तेन ध्रुवं स्थिरं सुमहच्च भवदुःखजं संसारदुःखजातं बाष्पाम्बु अश्रुजलं यच्छिद्यते तदतीव चित्रमित्यर्थः । स्थिरतरं सुमहद् भवदुःखं भवदनुध्यानेन क्षणिकेन सूक्ष्मेणापि निराक्रियत इति भावः ॥ ७९ ॥

अज्ञानेति । हे महेश परमेश, अज्ञानेनान्धतमसरूपेणान्धम् , अबान्धवं अविद्यमानो बान्धव आश्वासकारी यस्य स तादृशम्, तथा अक्षाभिधैरिन्द्रियनामभी रक्षोभिः कौणपैः कवलितं ग्रस्तम् , आभ्यन्तरैर्दुर्हृद्भिः शत्रुभिः कामक्रोधादिभिः मोहोऽविद्यारूप एव महान्धकूपस्तस्य कुहरं रन्ध्रं तत्र क्षिप्तम्, तथा क्रन्दन्तं विलपन्तम् , शरणार्थमापन्नम् , तथा गता धृतिः पारोत्तरणधैर्यं यस्य स तादृशम् , तथा सर्वा जन्मजरामरणत्रासरूपा या आपदस्तासामास्पदं स्थानं मां कर्मभूतं मा मुञ्च मा त्यज । पेशलया कोमलया सकृपया दृशा सत्रासं मां कर्मभूतमाश्वासय ॥ ८० ॥

यद्विश्व इति । हे स्वामिन् , विश्वस्य त्रिजगत उद्धरणे भवार्णवोत्तारणे क्षमा समर्थापि तथा अशरणानां त्राणं रक्षणमेवैकं शीलं स्वभावो यस्याः सा तादृश्यपि ते तव दृग्दृष्टिरार्तं भवरोगार्तं मां यदुपेक्षते स महिमा मम मत्कस्य दुष्टस्य विरुद्धस्य कर्मणो भवति । युक्तं चैतत् , पयोधरधृतैर्मेघधारितैरमृतैर्जलैः पृथ्वीं पृणत्यां पूरयन्त्यां सत्यां देव्यां भगवत्यां दिवि आकाशे द्वित्राः कणाः शिखिनो मयूरस्य मुखे चेन्न पतन्ति तद्दिवो नभसः किं वाच्यं का निन्दा भवति । 'पयः कीलालममृतम्' इत्यमरः । 'शिखावलः शिखी केकी' इति च । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । ॥ ८१ ॥

शुभ्रमिति । हे चण्डीश शम्भो, अश्रान्तमविरतं तरुणा नवा या करुणा कृपा तयान्तः क्रान्तम् । तथा जनानां समूहो जनता । शान्तः शमं प्राप्तः प्रह्वजनताक्लेशलेशस्य प्रवेशो यत्र तत्तादृशं स्वान्तं हृदयं शुभ्रं स्वच्छं बिभ्रत् त्वं प्राणानां त्राणं तस्य प्रणयो याच्ञा तेन कृपणा दीना

ये प्राकृताः पामराः प्राणिनो जन्तवस्तेषां वर्गः समूहस्तस्य या व्यापज्जन्मजरामरणक्लेशव्यापत्तया यस्तापस्तस्य क्षपणे दूरीकरणे निपुणा दक्षा या तादृशीं वाणीं भारतीं मुञ्च ॥ ८२ ॥

अनभ्रेति । श्वभिर्भ्रान्तं श्वभ्रमिति स्वामी । 'रन्ध्रं श्वभ्रं वपा सुषिः' इत्यमरः । आतङ्कैर्दुःखैः रोगैश्च बहुलेयं भवसरणिः संसारपद्धतिः अदभ्राणि श्वभ्राणि रन्ध्राणि च्छलानि यस्यां सा तादृश्यस्ति । असौ निरवधिरनन्ता मोहरजनी अज्ञानरूपा रात्रिर्गलन्ती निवृत्तास्थिता बोधो ज्ञानमेव ज्योत्स्ना यस्याः सा । निवृत्तज्ञानप्रकाशेत्यर्थः । एते विषमा सुकठिना विषया इन्द्रियार्थाः शब्दादय एवोत्पातमरुतः कल्पान्तवायवः प्रज्ञाख्यं चेतनारूपं प्रदीपं शान्तिं शमं नयन्ति । हे स्वामिन्, अतो हेतोः क्लेशं भवमरुभ्रमणजम्, क्लेशान् पञ्चाविद्यादीन्वा शमयतीति तादृशीं दृशं दृष्टिं प्रतिदिश प्रयच्छ । भक्तिप्रह्वजनायेति शेषः ॥ ८३ ॥

शरीरमिति । निर्गता रोगा ज्वरातीसारादयो यस्मात्तत्तादृशं शरीरम् । वयः शरीरावस्थारूपं नवं तरुणम् । तथा संस्कृतिः शब्दानुशासनसंस्कारस्तद्वती मतिर्बुद्धिः । तथा वन्द्या वन्दनीया सर्वैर्जातिर्ब्राह्मणजातिः । एतान्सर्वान्पूर्वपक्षीकृत्योत्तरपक्षमाह—प्रभुरपीत्यादि । भक्त्या भक्तिमात्रेणैव सुलभो भवानपि भवादृशोऽपि प्रभुः स्वामी । सकलजगदुद्धारकारीत्यर्थः । इत्यनेन प्रकारेणेयं सामग्री नीरोगशरीरादिरूपा यावन्न विघटते विश्लेषं याति, विश्रृङ्खला भवति । हे विभो, तावदेवेदं समाक्रन्दितं विलपितं शृणु कर्णगोचरं नय । अर्थान्ममैव । यावत्सामग्री संपूर्णा भवति तावदेव परमेश्वरोपासा सर्वथा मतिमद्भिर्विधेयेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

जयन्तीति । पुरारेः श्रीशिवभट्टारकस्य पदाम्भोजस्तुतिपवित्रश्चित्रो रम्यः क्रमो यासां ताः । तथा अमृतसारेण सिक्तान्यक्षराणि वर्णानि यासां ताः । तथा विकस्वरः पूर्णो यः शरत्सुधाकरः शारदचन्द्रस्तस्य किरणानुकारिकान्तयः । अतिस्वच्छा इत्यर्थः, यासां ताः । तथा समुन्मिषितानि यानि मालतीमुकुलानि जातीकुड्मलानि तद्वत्कोमलाः सूक्तयः प्रौढोक्तयः कृतिनो धन्यस्य कस्यापि कवेर्जयन्ति सर्वोत्कृष्टा भवन्ति ॥ ८५ ॥

शिवस्तवकृत इति । शिवस्तवकृतः शिवस्य स्तावकाः लीलावनम् अधिवसन्ति क्रीडावने नन्दनाद्यारामे निवसन्ति । कथंभूताः । मलयवायुना वेल्लन्त्यो या लतास्ताभ्यो गलन्मधु किंजल्कस्तेन मदस्तेनोन्मदा ये भ्रमरास्तेषां पुञ्जः समूहस्तस्य गुञ्जारवस्तस्य च्छलादलिगुञ्जारवमिषेण कामधनुर्ज्याशब्दभीतकामिनीभुजाश्लिष्टकन्धरा मधौ वसन्ते नदन्ती शब्दायमाना या मदनशिञ्जिनी । अत्र धनुरित्यध्याहारः । मदनधनुर्गुणस्तस्य क्वणितं विस्फारस्तेन भीता याः सीमन्तिन्यो वराङ्गनास्तासां भुजा बाहास्ताभिराकलिता आश्लिष्टाः कन्धरा ग्रीवा येषां ते तादृशाः ॥ ८६ ॥

अदूर इति (कुलकम्) । शंभोः श्रीशिवभट्टारकस्य शंसा स्तुतिस्तां जुषन्ति सेवन्ते निपुणकविकर्मणां श्रवणेन च ये ते शंभुशंसाजुषः परमेश्वरस्तुतिकर्तारः कवयः श्रोतारः सहृदयाश्च शयनं त्यजन्ति निद्रारसं परिहरन्ति । कदा । उषसि प्रभाते । कैः । अदूरं समीपवर्ति यद्बहिरङ्गनं तत्रोपवनमुद्यानं तत्र जाता याश्चूतवल्ल्यो रसालवृक्षपङ्क्तयस्तासु विलीनाः कला मधुरभाषिणो ये कोकिलाः पुंस्कोकिलास्तैराकलितानि काकलीस्वरविशेषरूपाणि यानि कूजितानि कुहूशब्दास्तैः । 'काकली तु कले सूक्ष्मे' इत्यमरः । पुंस्कोकिलकुहूरवैः शयनं त्यजन्तीत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । तथा वलन्मन्दं भ्रमन् यो मलयमारुतस्तेन प्रचलन्त्य उल्लसन्त्यः सोल्लासा या मल्लिकास्तासां विकासीनि

प्रफुल्लानि यानि कुसुमानि तेभ्यः स्खलन्ती या भसलमण्डली भ्रमरसमूहस्तस्या गुञ्जितानि स्वनास्तैः शयनं त्यजन्तीति योजना। 'भसलश्चञ्चरीकश्च रोलम्बेन्दिन्दिरौ समौ' इति कोषः। तथा निगूढा जलान्तर्निलीना ये तिमयो मत्स्यास्तेषां घट्टनेन हननेन स्फुरितो यो दीर्घिकाणां संभ्रमः कम्पस्तेन त्रसन्तः सत्रासा ये कमलकोटरे पद्ममध्ये स्थिता मरालबाला हंसशिशवस्तेषां स्वनास्तैः शयनं त्यजन्ति। तथा रटन्तः पटहा आनकाः झल्लरी मुरजस्तूर्यो भेरी इति वाद्यभाण्डविशेषास्तासां गणस्तस्य प्रणादेन मुखरीभवन्तो नृत्यन्तो ये भवनबर्हिणो गृहमयूरास्तेषां केकारवाः केकारुतानि तैः शयनं त्यजन्ति। 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। सुधावन्मधुरश्चासौ वारुणीरसो मद्यं तेन कषायः स्निग्धो यः कण्ठस्तस्मादुद्भवद्यन्नवं श्रुतिरसायनं तेन प्रगुणानि यानि गायनीगीतकानि तैः शयनं त्यजन्ति। प्रवीणाः कुशला ये परिवादका वल्लकीवादनशीलास्तैरुदित आलपितो यो विभासस्तन्नामको हिन्दोलपुत्रो रागस्तस्य स्वराणां क्रमैरनुगता या वल्लकी वीणा तस्या विकचकीचकानां च प्रक्वणैः प्रक्वाणैः। "वीणाया क्वणिते प्रादेः प्रक्वाणप्रक्वणादयः।" इत्यमरः॥ तथा प्रभाते यद्गुणवर्णनं तत्र प्रवणानि यानि बन्दिवृन्दानि तेषां स्तुत्या प्रबुद्धा याः शुकशारिकास्तासां कलह एव केलिस्तस्य कोलाहलैः कलकलैः शयनं त्यजन्ति। तथा बहिर्विहरन्त्यो या अङ्गनास्तासां रणितः सशब्दश्चासौ रत्नकाञ्चीगुणस्तत्र क्वणन्त्यो या कनककिङ्किण्यो हेमघण्टिकास्तासां झणझणेतिशब्दानुकाररूपा ये आरवास्तेषामाडम्बरैराटोपैः शयनं त्यजन्ति॥ तथा खुरैः क्षता वसुंधरा भूमिर्यैस्ते तादृशा उद्धुरा ये तुरंगास्तेषां हेषारवस्तेनोन्मिषन्नुल्लसन्प्रबोधस्तेन धुता कंधरा यैस्तादृशा ये द्विरदा हस्तिनस्तेषां कण्ठेषु या घण्टास्तासां रवास्तैरेतैरदूरेत्यादि प्रागुक्तशब्दैः स्मरेण कामोद्रेकेणालसा या विलासिन्यस्तासां स्तनभरेणोपरुद्धमालिङ्गितमुरो वक्षो येषां ते तादृशाः शंभुशंसाजुषः शयनं त्यजन्ति, निद्रारसं परिहरन्तीति शिवम्॥ ८७—९१॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां करुणक्रन्दनं नाम दशमं स्तोत्रम्।

एकादशं स्तोत्रम्

धन्योऽस्मीति। स्नेहेन स्नुतं स्तनयुगं यस्या यया वा तादृशी किमप्यमृतं क्षीरं स्रवन्ती शिशोर्जीवरक्षार्थं जननी मातेव किमपि सम्यगनिर्वाच्यममृतं रसायनं स्रवन्ती भगवती उक्तिदेवी वाग्देवी यस्य मम संजीवनं विदधात्याप्यायनं करोति, सोऽहं धन्योऽस्मि कृती अस्मि॥ १॥

धन्योऽस्मीति। धृता उन्नतिः शब्दार्थौद्धत्यं यया तादृशी। तथापुण्यकृतां दुष्कृतिनामभूमिरगम्या। अप्राप्येत्यर्थः। तथा कल्याणिनी समस्तमङ्गलवती। सुमनसां पण्डितानामुपसेवनीया सेव्या, इयं वाणी भारती दुःसहा या विपज्जन्मजरामरणत्रासरूपा आपत्, तत्र पतितस्य यस्य मम दवीयसी अतिशयेन दूरस्थिता न भवति। किंतु निकटस्थितैव। स्वमुख एव तत्स्थानात्। केव। सौमेरवी सुमेरुगिरिसंबन्धिनी पदवी सरणिरिव। सापि दुःसहविपत्पतितस्य कठिनव्यापत्पतितस्य धृतोन्नतिर्धृता उन्नतिर्यया सा तथा अपुण्यकृतां दुष्कृतिनामभूमिः कल्याणिनी श्वश्रेयसमयी सुमनसां देवानामुपसेवनीया॥ २॥

धन्योऽस्मीति। सहानुग्रहेण वर्तते यः स तादृशेन विधिना स्रष्ट्रा वल्गवः स्वनाः शब्दा यस्याः सा। तथा गुणा माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयः शब्दगुणा अर्थगुणाश्च विद्यन्ते यस्याः सा। तथा

धृता वक्रभङ्गिरुपचारवक्रोक्तिर्यया सा तादृशी चेयं सरस्वती भारती मोहोऽज्ञानमेव तिमिरं तेनान्धा ज्ञानमेव दृक् नेत्रं यस्य स तादृशस्य मम गिरिशस्य शम्भोराराधनायोपासनार्थं परिकल्पिता सोऽहं धन्योऽस्मि। अथ च सरस्वती वीणापि वल्गुस्वना मधुरस्वना। गुणास्तन्त्र्यो विद्यन्ते यस्याः गुणवती। धृतवक्रभङ्गिः कुटिला च, तिमिरेण तिमिराख्येण नेत्रदोषेणान्धदृशः पुरुषस्य गिरिशस्याराधनाय सप्रसादेन विधिना क्रियते ॥ ३ ॥

संजीवनेति। अहमित्यवैमि जाने। इति किम्। भवस्य शम्भोरग्निना तृतीयनेत्रोत्थवह्निना भस्मीकृतस्य मकरध्वजस्य कामस्य नवा संजीवनौषधिः, शिव एवैको विषयः स्थानं यस्याः सा चकिता अभिनवोढा चासौ गौरी पार्वती तस्या दृष्टिच्छटेव दृष्टिलहरीव विधिना सृष्टा। भवः संसार एवाग्निस्तेन भस्मीकृतस्य मम नवा संजीवनौषधिः संजीवनीनाम्नी ओषधिः शिवैकविषया वाणी भारती सृष्टा निर्मिता ॥ ४ ॥

जाने इति। किमिति। शोको जन्मजरामरणजः स एव वह्निस्तेन तप्तान्मम हृदयात् कथंचिदुदिता उत्पन्ना उत्थिता च स्खलन्ति गद्गदानि मृदूनि कोमलानि पदानि सुप्तिङन्तानि यस्याः सा तादृशी इयं मम गीर्वाणी करुणैवामृतप्रवाहनिःष्पन्दस्तेन शीतं शीतमयूखमौलेः श्रीशिवभट्टारकस्य चेतोऽपि शनैः प्रवेक्ष्यति। अथ गौर्धेनुर्वह्निसंतप्तात्स्थानान्निर्याता लुठन्मन्दचरणा जलप्रवाहशीतलमास्पदं प्रविशति, तथेयं मम वाण्यपि भगवतश्चेतः प्रवेक्ष्यतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

यदिति। मोहमविद्यापर्यायमज्ञानं वहन् अलङ्घ्यो लङ्घयितुमशक्यो भवे संसारे भ्रमो यस्य स तादृशोऽहमिह जगति मुहुर्मुहुश्चाटुचापलं चाटून्येव चापलं यदाचरामि करोमि, तत्र चाटुचापलकरणे अहार्यपुत्रीभर्तुरहार्यस्य पर्वतस्य हिमाद्रेः पुत्री पार्वती तस्या भर्तुः श्रीशंभोरहार्यं केनापि हर्तुमशक्यं परार्ध्यमुत्कृष्टं सौकुमार्यं सुकुमारभाव एवापराध्यति। 'अहार्यधरपर्वताः' इत्यमरः। यदि श्रीभगवतः पेशलाशयत्वं न स्यात्तदा ममापि चाटुचापलकृतिर्न भवेदित्याशयः ॥ ६ ॥

यो मूर्धनीति। यो विभुर्मूर्धनि शिरसि निजे ध्वनन्तोऽनर्गला अव्युच्छिन्ना ये निर्झराः प्रवाहास्तेषामोघाः समूहास्तैर्झाङ्कारिणीं सशब्दाममरनिर्झरिणीं देवनदीं गङ्गां दधानः। स्वयमिति शेषः। स्वयं गङ्गां शिरसि दधानः, कृपया भक्तजनतो निजोपासकादर्चनावसरे कलशाभिषेकं मन्त्रगडुकाभिषेकं गृह्णाति, तं दयालुशिरोमणिं विभुं श्रीशिवभट्टारकं विज्ञपयितुं निजावस्थां निवेदयितुं को न उत्सहेत। अपि तु सर्व एवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

दग्धोऽस्मीति। तावत्प्राथम्ये। अमुना दमुनसा अग्निना अहं दग्धोऽस्मि। अमुना केनेत्याह—दमुना ममान्तरित्यादि। "दमुना दम उपशमे" धातुः। अन्तर्भावितण्यर्थाद्दमेः "उनसिः" इत्युनसि प्रत्ययः दम्यतीति दमुना इति स्वामी। दमुना दीर्घमध्योऽपि। 'दमूना दमुनाः प्राचीनबर्हिःशुचिबर्हिषौ' इति नामनिदानाद् इति रायमुकुटीकारः। यो दमुना अग्निरघान्येव निदाघस्तस्य निदानं तस्माज्जन्म यस्य सोऽघनिदाघनिदानजन्मा ममान्तः प्रज्वलति जाज्वलीति। अतश्च प्रतिभया 'मतिर्नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता' तया मुक्तस्य रहितस्य मे। अतश्चातिभयेन जन्मजरामरणत्रासेनाकुलस्य विगलतः पततो मम गलतः कण्ठतो वाणी कथमभ्युदेति ॥ ८ ॥

क्रन्दाम्यत इति। नाम संभावनायाम्। हे पिनाकपाणे, तीव्रार्तिनिस्तरणकारण श्रीशिव, अतः पूर्वोक्तकारणात्कातरो दीनोऽहं किमप्युच्चावचं क्रन्दामि विलपामि। शिव कैवल्यदायिन्,

मोहोऽविद्यैवाटवी अरण्यं सैव विकटसंकटो महासंकटो देशस्तत्र संस्थितस्य मम शिवाया-त्यन्तिकदुःखनिवृत्तये तद्विलपितमवधारय विचारय ॥ ९ ॥

आक्रन्दमिति। हे इन्दुधर चन्द्रमौले, त्वं ममाक्रन्दं कर्णे धारय। शृणुष्वेत्यर्थः। हे परमकारण ब्रह्मादीनां षट्कारणानामपि कारण परमशिव, स कस्त्वत्परः कर्णधारः श्रुतः। अथ च कर्णधारो नाविकः। स क इत्याह—मूर्ध्नेत्यादि। य ईश्वरः कर्णधारः उडून्नक्षत्राणि पातीत्युडुपश्चन्द्रस्तस्य खण्डस्तं चन्द्रशकलं मूर्ध्ना शिरसा वहन्संसृतिसागराद्भवसागरात्कं कं नाखण्डपुण्यं पूर्णपुण्यं जनं तारयति। अथ चोडुपं प्लवः। "उडु जलम्। यथा 'उडुहस्तिनीसहस्रवर्णम्' इति हरिप्रबोधः। अत्रोडुहस्तिनी जलहस्तिनीत्यर्थः। उडव आपः इति शिल्पाकरगुप्तः। उडुनि जले उडुनो जलाद्वा पातीति उडुपम्। उडुपं हस्वादि ह्रस्वमध्यम्। 'उडुपश्चन्द्रभेलयोः' इति धरणिः, चन्द्रगोमी च। अतः पुंस्यपि। "उत्तारयत्यन्द्वय इति उडुपधादपूशब्दस्याकारस्योत्वे नैरुक्ते वर्णविकारे उडुप इत्युज्ज्वलदत्तः" इति रायमुकुटीकारः। उडुपखण्डं प्लवखण्डं धारयन्कर्णधारो नाविकः सागरात्परिपूर्णं तारयति यथा। एतद्वृत्ताशयानुसारेण ममापीदं वृत्तद्वयम्। यथा—

'बहुविधपरिभ्राम्यन्मायातरङ्गशताकुला-
द्भवजलनिधेः को वा त्रासो ममास्ति सुदुस्तरात्।
तरणिमुडुपं रक्षन्नित्यं विलोचनगोचरे
स भवति विभुर्यस्य स्वामी कृपैकसुधाम्बुधिः॥'

तथा—

'कथं न लोके परिहास्यतामहं व्रजाम्यतीवार्तिकदर्थिताशयः।
भवाम्बुधिं तर्तुमकर्णधारकं जडो यतो याम्युडुपार्धधारिणम्॥'

इति।

ईश्वरपक्षे अकर्णांश्चक्षुःश्रवसः सर्पान्वासुक्यादीन्धारयत्यकर्णधारकस्तं तथा उडुपस्य चन्द्रस्यार्धं धारयतीति तादृशं। तथा कर्णमरित्रं धारयतीति कर्णधारः। कर्णधार एव कर्णधारकः। अकर्ण-धारकमुडुपस्य प्लवस्यार्धं धारयतीति तादृशं च ॥ १० ॥

अस्मादृशैरिति। हे स्वामिन्, अशुचिभिरपवित्रैः क्लृप्तानि विहितानि चाटुचापलानि चाटून्येव चापलानि तव प्रभोर्मनो न नन्दयन्तीत्यवैमि। दृष्टं चैतत्। हे चन्द्रमौले श्रीशिव, आवर्जनाय विहितान्यपि कौलेयकस्य शुनो लडितान्यभितः परिवर्तनानि जनेन किमाद्रियन्ते। नाद्रियन्त इत्यर्थः। 'कौलेयकः सारमेयः' इत्यमरः। कुले गृहे वसतीति कौलेयकः श्वा ॥ ११ ॥

यद्वेति। यद्वा पक्षान्तरे। हे स्वामिन्, मुग्धानां मूढानां चरितान्यपि कृपासमुद्रस्य भवतः प्रसादमनुग्रहं न नोत्पादयन्ति अपि तूत्पादयन्ति। तथा हि—हे विभो, दरत्पुरं लम्पाक-देशैकविषयः। दरत्पुरे विहारः खेलनं तत्र परः तादृशस्य स्वतन्त्रस्य भवतस्तद्देशीयबालकैः सह क्रीडापरस्य बालकवल्गितानि बालकानां वल्गितानि नृत्तानि किं न चेतो हरन्ति। अपि तु चेतो हरन्त्येव ॥ १२ ॥

दीनैरिति। दीनैः करुणोत्पादकैः, असमञ्जसार्थैरप्रकटार्थैः। विशेषेण मुग्धानां विमुग्धानां वचनैर्यद्दयानिधीनां दयालूनां विभूनां हृदयानि द्रवन्ति, कृपारसेनार्द्रीभवन्ति, दृष्टा

सभा विद्वत्सभा यैस्ते च तथा सह प्रतिभया नवनवोल्लेखशालिन्या बुद्धया वर्तन्ते ये ते च, तथा प्रगल्भाः प्रौढोक्तयश्च तेषां संदर्भगर्भरचनयाञ्चिता ये वाक्प्रपञ्चास्तैर्दयानिधीनां हृदयानि तद्वन्न द्रवन्ति ॥ १३ ॥

पूर्वोक्तमेव पुनः समर्थयति—दुग्धाब्धिद इति । हे स्वामिन्, दुग्धाब्धिदो बालायोपमन्यवे क्षीरसमुद्रदोऽपि त्वं पयसः क्षीरस्य पृषतं कणमर्चनसमये भक्तजनेन वितीर्णं वृणोषि गृह्णासि । तथा त्रीणि धामान्यर्केन्दुवह्निरूपाणि नयनेषु यस्य तादृशोऽपि त्वं दीपं प्रदीपमुररीकरोष्यङ्गीकुरुषे । तथा वाचां ब्राह्मीणां शब्दानां च प्रसूतिरुत्पत्तिकारणमपि त्वं मुग्धानां मादृशानां वचः स्तुतिवचनं शृणोषि । एतत्कारणं संग्रहेणाह—किं किमित्यादि । हे दयालो, त्वं विनीतजना भक्तिरसामृतसिक्तचेतसस्तेषामनुरोधादुपरोधात्किं किं न करोषि । एतदभिप्रायानुसारेण ममापीदमेकं वृत्तम्—

'गङ्गाधरोऽपि वृणुषे पयसोऽभिषेकं गृह्णासि चार्घ्यकणिकाः स्वयमप्यनर्घ्यः ।
ज्योतिः परं त्वमसि दीपमुरीकरोषि किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात् ॥'

॥ इति ॥ १४ ॥

यत्सत्य इति । हे स्वामिन् देव, जगद्विदिता जगति प्रसिद्धा सत्यवती सत्यं विद्यते यस्याः सा तादृशी सत्यवत्यपि वर्तते सा ममेयं वाणी अनसूया अविद्यमाना असूया रोषो यस्याः सानसूया यद्भवति, इदमेव चित्रमाश्चर्यम् । या च सत्यवती पराशरमुनिवर्यस्त्री सा कथमनसूया अत्रिमुनिपत्नी स्यात् । इदमेकमाश्चर्यम् । इदं पुनरत्यद्भुतमत्याश्चर्यम् । एवमनेन प्रकारेण पूर्वोक्तेनोदीरितापि त्वामरुन्धती न रुन्धती प्राप्नुवती अरुन्धती । अत एव त्वामेवारिराधयिषुराराधयितुमिच्छुरियं मम वाणी यदस्ति तत्पुनरत्याश्चर्यम् । विरोधाभासोऽलङ्कारः । यैव सत्यवती पतिव्रतास्ति, सा कथमनुसूया स्यात् । या चानुसूया सा कथमरुन्धती वसिष्ठपत्नी स्यादिति विरोधः । अन्यार्थत्वेन तदभावः ॥ १५ ॥

स्वे धाम्नीति । हे स्वामिन्, स्वे धाम्नि निजगृहे मे मम हृदि, प्रवेशं कृत्वा तत्रैव कृतस्थितिं विहितस्थितिमुक्तदेवीं वाग्देवीं स्वयमेवोन्मुखत्वं त्वमेवानयः नीतवानसि । त्वं पुनस्तस्या धैर्यमादाय त्वामहं गृह्णामीत्येवं रूपं धैर्यं दत्वा इदानीं परां धारां काष्ठामधिरूढो यो विरहस्तेन व्यथितां तामवधीरयस्यवगणयसीति यदित्येतदयुक्तम् ॥ १६ ॥

एकेति । त्वमेवैका अपर्णा मम प्रिया प्रियतमा भवितासीति दत्तं वरं गिरिराजपुत्र्याः पार्वत्याः स्मरसि चेत् हे स्वामिन्, तर्हि प्रेम्णा प्रेमभरेणाम्बरसिन्धुं गङ्गां मूर्ध्नि किं वहसि । इन्दुलेखां चन्द्रलेखां च मूर्ध्नि किं वहसि । हृदये निजे हृदये दयितां प्रियां दयां कृपां च कथं बिभर्षि धारयसि । अतो मदीयामपि वाणीं हृदि धारयेत्यर्थः ॥ १७ ॥

एतामिति । अद्धा निश्चये । हे स्वामिन्, धीरं गभीरं चात्मानं मन्यत इति धीरगभीरमानी त्वं निसर्गतः सरलामवक्राम् । स्वभावविमलामित्यर्थः । अभिजातमुग्धामभिजाता चासौ मुग्धा सुकुमारा च तामवधीरयसि । हे विभो, तत्किं न जानासि, तत्किमित्याह—शतश इत्यादि । शतशः शतवारं नतानां भक्तिप्रह्वाणां सान्त्वनेष्वाश्वासाय मधुरवचनेषु वृद्धया वृद्धिंगतया जरत्या च करुणया कृपया यन्नरिनर्तितोऽस्यत्यर्थं नर्तितोऽसि । अतो मदीयां वाचं मुग्धां किं त्यजसीत्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रस्तौतीति । हे स्वामिन् इयं मम वाणी आर्त्या केन केन विधिना नाथस्य प्रियतमा स्यामित्यार्त्या कदर्थिता पीडिता, निरूपतया निर्लज्जतया मौग्ध्येन विसंस्थुलानि विश्रृङ्खलानि चाटून सान्त्ववचनान्यपि कर्तुं प्रस्तौत्यारभते । किन्तु तानि मदीयवाण्याश्चाटुवचनानि कात्यायनीवचनेषु दुर्ललितः श्रवणे नित्याभ्यस्तस्तादृशस्य तव मनो न नन्दयन्ति न रञ्जयन्ति । अत्र कात्यायनीति वचनं साभिप्रायम् । यश्च कात्यायन्या अर्धवृद्धाया वचनेषु दुर्ललितः बालाया वचनानि न शृणोतीत्युपहासश्च 'कात्यायन्यर्द्धवृद्धा या' इत्यमरः ॥ १९ ॥

अस्यामिति । हे विज्ञाततत्त्व विज्ञातं तत्त्वं हृदन्तर्गतमन्तर्यामितया येन स तादृश ईश्वर, निरवग्रहस्य निरङ्कुशस्य तव प्रीतिरसह्यो यो विरहो भवद्वियोगः स एव ज्वरस्तेन कातरायां दीनायामस्यां मम वाचि परं केवलं यदि न भवति, तदा सर्वेषामान्तरान्तर्गता यार्तिः अथवा सर्वे ये आन्तरा मनोगता दोषास्तेषामार्तिदलनाय दृढानपायिनी प्रतिज्ञा कथं ते विभो विस्मृता ॥ २० ॥

सत्यमिति । हे नीलगल, नीलो गलः कालकूटाख्यविषविशेषनिगरणाद्यस्य स तादृश, सत्यमेतत्, यत्त्वं चन्द्रकलां वहसि । अथ च कलां शिल्पविशेषं वा वहसि । त्वमेव कलावदग्रणी-रसीति भावः । एतदेवाह—यदुमां पार्वतीमर्धे शरीरार्धे बिभ्रत्त्वं तां दयां कृपां हृदि मनसि धत्से । तां कामित्याह—यया कृपयार्थिषु सामर्थ्याद् ब्रह्मादिदेवेषु त्वां नर्तयन्त्या, त्वमेव नीलगलत्वं तत्त्राणाय कालकूटविषभक्षणान्नीलकण्ठत्वं तथार्थिषु शरणं प्रार्थयत्सु त्रिलोकीजनेषु नीलगलत्वं मयूरत्वं नीतोऽसि । नर्तितोऽसीत्यर्थः । एतत्तावदास्ताम् । तुः पक्षान्तरे । हे स्वामिन्, त्वं तु मद्वाचि त्वद्विरहातुरायां रुषेव मुखं साचि वक्रं कुरुषे ॥ २१ ॥

गृह्णासीति । हे स्वामिन्, धवलैः स्वच्छैर्विलोलैर्लैर्वारिभिर्दलयोरैक्याज्जडैश्चोद्वेलितां कम्पिताम् । वेलां धर्ममर्यादामुत्क्रान्ता उद्वेला तामुद्वेलितामिति साध्वीपक्षे । तथा निजपदान्निज-स्थानात्, निजं दृढं च तत्पदं साध्वीपदं तस्मात्स्खलितां च द्युसिन्धुं गङ्गां गृह्णासि । हे स्वामिन्, अनन्यगतिं न अन्यस्मिन्प्रभुव्यतिरिक्ते वर्णनीये गतिर्यस्याः सा तथानन्यगतिं पतिव्रतां च । साधूनि शोभनानि वृत्तानि वसन्ततिलकशार्दूलविक्रीडितादीनि यस्याः सा ताम्, साधु चारु वृत्तं चरितं यस्याः सा तां चैतां मदीयां वाचं त्यजसि । अतो हेतोः स्वतन्त्रचरितस्य सदा स्वतन्त्रस्य ते तव विभोः किमुच्यते ॥ २२ ॥

किं भूयसेति । किं भूयसा बहुनोक्तेन किम् । हे विभो, इयं मदीया वाणी चेन्न ते हृदयंगमा भवति तर्ह्यस्या गृहे निवासे मदीये हृदये किं वससि । अत्र लौकिकेन व्यवहारेण समाधत्ते सार्धमित्यादि । हि यस्मात्कारणात्सार्धे प्रियेण मनोहरेण भर्त्रा च सह वसनं, तत्रापि तदुपेक्षणं तेन कृतमुपेक्षणमवगणनं मानिनीनां मरणादपि दुःखावहं दुःखदायि भवति ॥ २३ ॥

मातरिति । हे सरस्वति वाग्देवि मातर्जननि, धृतिं धैर्यं बधान । बध बन्धने धातुः । चेन्न विभुर्विज्ञप्तिं शृणोति कैव मम धृतिरित्याशङ्क्याह—देवीत्यादि । शिवा देवी पार्वती वामाङ्गस्था, शशिकला च शिरःस्था, गगनापगा च जटाजूटे, आर्त्या विधुरां करुणां विज्ञप्तिं त्वदीयां विभवे स्वामिने परमेश्वराय निवेद्य वेदयित्वावश्यमेवाबलाजनपक्षपातं स्त्रीजनस्नेहं तव कुर्वन्ति । ता देव्यः स्त्रीजनस्नेहेन विभुं त्वदभिमुखं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

एषेति । हे मातः सरस्वति, निसर्गतः स्वभावेन कुटिला वक्राशया च चन्द्रलेखा, तथा स्वर्गापगा गङ्गा नित्यतरङ्गिता संजातलहरिका वाक्प्रपञ्चचतुरा च यदि भवति, तर्हि नगेन्द्रतनया

देवी पार्वती । नगेन्द्रतनयेतिपदं साभिप्रायम् । शिलेव क्षमाशीला धन्या महाभागा दययार्द्रहृदया ते तव हृदामवज्ञामवहेलां न करिष्यति । सैव विभुनिवेदनेन त्वदाश्वासं करिष्यतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

त्वामेवेति । हे देवि वाणि, कल्याणि मङ्गलावहे वाग्देवि, अहं त्वामेव शरणीकरवाणि । त्वमेव सूक्तिभिः शोभनाभिरुक्तिभिश्चन्द्रमौलिं श्रीशिवमुपस्तुहि । हे मातः, अहं भवतीं वाग्देवीं मलीकेन मिथ्यावादेन ये वाचाला बालिशा मूर्खास्तैर्विहितं यद्विलङ्घनं तिरस्कारस्तस्य भाजनत्वं पात्रत्वं न पुनर्नयामि । 'तिरस्कृतिभाजनत्वम्' इति पाठः साधुः ॥ २६ ॥

देवीति । हे प्रपन्नवरदे, प्रपन्नानां शरणागतानां वरम् अभीप्सितं ददातीति प्रपन्नवरदा तत्संबुद्धौ, हे गुणौरि ! गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिर्गौरी उज्ज्वला तत्संबुद्धौ आकूतवेदिन्याशयज्ञे हे गौरि हेकात्यायिनि, गौः मदीया वाणी इह यत् किञ्चित् परिमितं स्तुतिरूपम् वचनजातं स्रवति तत् सुपाकं समुचिते समये स्वामिने परमेश्वराय निवेदयितुं विज्ञप्तुं प्रसीद । अथ च गौर्धेनुर्यत्किञ्चित्परिमितं क्षीरं स्रवति, तच्च सुपाकं वह्निना सुपक्वं कृत्वा, यथा कोऽपि प्रभवे निवेदयति ॥ २७ ॥

स्वेच्छेति । स्वेच्छया स्वातन्त्र्येण विकल्पितं निर्मितम् । तथा न दृष्टो विशिष्टपाकः प्रौढत्वरूपो येन तत् । तथा मात्रया इदमियदेव वाच्यमिति परिमाणेन विहीनम् । प्रलापरूपमित्यर्थः । तथा आर्यजनः पूज्यतमलोकस्तेनाजुष्टमसेवितमिदं मम वचनं भवति । अथाप्येवमपि सति, इदं मम वचनं विषमयस्य विषप्रकृतेर्भवामयस्य भवरोगस्य भेषजमौषधं भवति । सुखस्यापि परिणामदुःखत्वाद्विषमयस्येत्यर्थः । यद्यपि मम वचनमुन्मत्तजल्पितमिवासमञ्जसम्, तथापि श्रीशिवभक्तिरसामृतमयत्वात्कस्यापि भक्तजनस्य भवरोगौषधं भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

भालानलमिति । हे स्वामिन्, तव मुकुटस्थितैव सिद्धसिन्धुर्गङ्गा तत्र भालानलं ललाटस्थितनेत्राग्निं शमयितुं यथा न शक्नोति न क्षमते । किल निश्चये, तद्वत्तथा दिवानिशं मम हृदि ज्वलन्तं शोकवह्निं जरामरणचिन्ताजनितदुःखाग्निं शमयितुम् अत्र वक्त्रेऽपि मुखेऽपि वसन्तीयं मम सरस्वती वाण्येव सरस्वती नदी न शक्नोति । त्वत्कृपां विनेति शेषः ॥ २९ ॥

प्राक्चेदिति । हे स्वामिन् प्राग्जन्मनि मया आविलं कलुषमेव कर्म चेद्यदि विहितं कृतं तदा एष दृढोऽनुरागो भक्तिरसग्रहस्त्वयि विषये कुतो मम स्यात् । अथानन्तरं यदि मया कर्म शुक्लमेव कृतम्, तर्हि हृदयदाहकरो ममान्तर्दाहकरोऽतिशयेन दुःसहो जरामरणशोकाग्निरन्तः किं स्यात् ॥ ३० ॥

कापीति । हे स्वामिन्, क्वापि प्राग्जन्मनि विभोः श्रीशम्भोराराधनं वाङ्मनःकर्मभिः श्रीशिवभट्टारकोपासां कृत्वापि मम मनोऽवश्यमेवानुशयाल्लु सपश्चात्तापमभूदिति जाने । 'रन्ध्रे शब्देऽथानुशयो दीर्घद्वेषानुतापयोः' इति शाश्वतः । एवं नो चेत्स्यात् तर्हि कुलगुणादिभिः पवित्रमप्येतन्मम मनुष्यजन्म निष्फलं कथं जातम् । कतिपयफलमिति शेषः । त्वद्भक्तिरसग्रहे तु तस्य सर्वथा साफल्यमेवेति भावः ॥ ३१ ॥

मानुष्येति । हे विभो, चिरात्प्राचीनानेकजन्मानन्तरं मानुषस्य भावो मानुष्यं मनुष्यजन्मैव नौस्तरणिस्तामधिगम्य लब्ध्वा, तथा चिरात्प्राक्तनानेकजन्मपरम्परोपार्जितसुकृतपरिपाकेन करुणाभरणं कृपालंकरणं भवन्तं त्वादृशं निस्तारकं । अपारभवार्णवादिति शेषः । एवंभूतं विभुं प्राप्य यस्य मम भवाब्धिं संसाराब्धिं तरितुं भरवशो महान्प्रत्ययः । 'भरोसा' इति भाषया ।

चन्द्रसुभिक्षमपि तापेनाध्यात्मिकादिभेदात् त्रिविधेन महासंतापरूपेण तथान्धकारेणाज्ञानरूपेण च विधुरं व्याकुलं मां वराकं लंघितवतोऽवगणनया दूरीकुर्वतस्तव मोघभावं वैफल्यं किमायातु किं प्राप्नोतु किमर्थं प्राप्नोतु। एतेन चन्द्रसुभिक्षेण स्वायत्तेन मदीयं तापमन्धकारं च निर्वाप्य तत्साफल्यं कुर्वित्यर्थः ॥८०॥

कौटिल्यमिति। हे नाथ, मे मम चेतः प्रतिक्षणं भवदीयध्यानासक्तं सततं ध्यानेनावाप्तसाक्षात्कारस्य तव मौलिस्थेन्दुदलतश्चन्द्रखण्डात् कौटिल्यं वक्रत्वमेवावाप न तु सुधामयत्वममृतमयत्वम्। तथा तवैवोर्ध्वनयनाद्भालस्थलस्थादूष्माणं सगर्वत्वेन सन्तापमेवावाप न तु परमुत्कृष्टं प्रकाशम्। तथा तवैव गलतः कण्ठाद् ध्यानावाप्तौ सकालकूटान्मलिनत्वमेवावाप न तु गभीरत्वम्। मदीयं चेतः किंभूतम्। तितउकल्पं परिपवनसदृशम्। तनोति तन्यते वा तितउः। 'तनोतेर्डउः सन्वच' इति डउप्रत्ययः। सन्वत्त्वाद् द्वित्वमित्वं च। 'चालनी तितउः पुमान्' इत्यमरः। ईषदसमाप्तं तितउ तितउकल्पम्। यथा तितउरसारं गृह्णाति सारं त्यजति तद्वन्मम चेत इत्यर्थः ॥८१॥

किमिति। अहं विपदो जन्मजरामरणजत्रासोत्थविपदो गुरुतां महत्त्वं किं वर्णयामि। यद्यस्मात्कारणादियं विपत्स्थाणोः तिष्ठति सर्वोपरिष्टात्स्थाणुः श्रीशम्भुस्तस्य पदे स्थाने निःशाखतां निराधारत्वं सुमनसां देवानां विदुषां चानुपेयभावं विच्छायतां विगतश्वेतपीतादिकान्तित्वं तथा विफलतां विगतकाम्यफलतां रसेनैहिकरसेन च हीनतां चोपदिश्य मां न्ययुङ्क्त नियुक्तवती। अथ च बाह्यविपदो गुरुत्वं किं वर्णयामि या स्थाणोश्छिन्नशाखद्रुमस्य पदे स्थाने निःशाखतां विगतशाखत्वं तथा सुमनसां पुष्पाणामनुपेयभावमप्राप्यत्वं तथा विच्छायतां स्कन्धलताद्यभावाद्विगतच्छायत्वं तथा विफलत्वं फलराहित्यं रसेन हीनतां चोपदिश्य या विपन्मां न्ययुङ्क्तनियुक्तवती ॥८२॥

सर्वज्ञेति। हे देव, दीव्यति क्रीडति परमे पदे इति देवस्तत्सम्बोधनं हे देव। ते तव सर्वज्ञेत्यादिनामान्यन्यविषयेऽन्यस्थाने फलवन्ति सफलानि। सर्वं जानातीति सर्वज्ञः। शं सुखमैकान्तिकात्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूपं भवत्यस्माच्छम्भुः शिवः कल्याणदायी। शङ्करः शम्भुवत्। विश्वस्य शिवादिक्षित्यन्तस्य जगतो नाथः स्वामी। मृत्युं यमं जयतीति मृत्युञ्जयः। ईष्टे इति ईश्वरः 'ईश ऐश्वर्ये' धातोर्वरन्। मृडयति सुखयति जगदिति मृडः। एतानि नामान्यन्येभ्यो भक्तेभ्यो नानाफलदायित्वेन भवन्नामानि फलवन्ति सन्ति। किन्तु पक्षान्तरे। हे विभो, मन्दपुण्ये मयि त्वं स्थाणुरेव शम्भुरेव। अथ च स्थाणुश्छिन्नशाखो द्रुमोऽफल एव ॥८३॥

श्वेत इति। हे विभो, श्वेते श्वेताख्यनृपतो सु शोभनं दर्शनं तस्य समर्पणे प्रदाने तत्परस्य। तथा कृष्णे श्रीकृष्णे सुदर्शनाख्यचक्रस्य समर्पणं तत्परे। अथ च श्वेते धवले कृष्णे मेचके च। यस्य तव विशेषबुद्धिर्न बभूव। स त्वं पुण्यजनेषु वैश्रवणादियक्षेषु श्रियं लक्ष्मीं सृजसि वितरसि मां चापुण्यजनं पुण्यहीनं जनं मुञ्चसि दूरीकरोषि इति यदेष विधिभाग्यपर्यायो मे मम क्षतश्छलितः। यथा तव श्वेतकृष्णयोः समबुद्धिरासीत्तथा पुण्यजनापुण्यजनयोरपि युक्ता भवितुमर्हति। यतो नैवं तन्ममैवाभाग्यचातुरीत्यर्थः ॥८४॥

आवर्जनमिति। गजरत्नमैरावणस्तत्समर्पणेनेन्द्रस्य तथा वाजिरत्नमुच्चैःश्रवास्तत्समर्पणेन तस्यैव। यद्वा गजश्च वाजी च रत्नं कौस्तुभश्च। श्रीर्लक्ष्मीस्तत्समर्पणेन हरेः।

पारिजातः सुरद्रुमः मदिरा सुरा तत्समर्पणेन······श्रीशम्भोः। सुधायाः पीयूषस्य समर्पणेन देवानां चेति क्रतुभुजामावर्जनं वशीकरणं परमसन्तोषं च कृत्वा हे विभो, त्वमात्मनि यस्याः कृपायाः सुरासुररक्षार्थमुत्पन्नाया महिम्ना माहात्म्येन गरलं विषं कालकूटाख्यं विषविशेषमेवाग्रहीः सा ते कृपा सम्प्रतीदानीं मयि भाग्यहीने क्व भवति ॥८५॥

दृप्तेष्विति। दृप्तेषु त्रिजगज्जयित्वेनातिदर्पवत्सु मदनदक्षयमान्धकेषु कामदक्षप्रजापतियमान्धकासुरेषु यस्ते तव मनसि रोष एव विषं गरलं तस्य प्ररोहोऽङ्कुरः प्रादुर्बभूव स एवाङ्कुरो यया त्रिजगदुद्धारिण्या कृपया कृपामृतरसेन सिक्तः सुधामयं प्रसादमसूत। सञ्जीवतां यया कृपया अजनयदित्यर्थः। सा कृपा सम्प्रति मयि भाग्यहीने क्व भवति ॥८६॥

केचिदिति। हे भगवन्, केचित्कृपाप्रणयिनः कृपाप्रार्थका भक्तजनास्तव विभोरायुधस्थानीयस्य वरस्य भाजनत्वं पात्रत्वं प्रापुः। केचित्पुनरभयस्यायुधस्थानीयस्य। तथा केचित्करस्थितस्य पाणौ स्थितस्य सान्द्रस्योत्सिक्तस्यामृतस्य भाजनत्वं प्रापुः। अभाग्येन परिक्षतो बाधितोऽहं केवलं शूलस्य त्रिशिखस्यायुधविशेषस्य अथ च शूलस्य शूलाख्यहृद्रोगविशेषस्य केवलं पात्रत्वमापम्। 'अस्त्री शूलं रुगायुधम्' इति मङ्खः। एतद्वृत्तानुसारेण मदीयमप्येकं वृत्तम्—

हा हा महार्त्योस्मि विमोहितोऽहं जरादिदुःखेन सदैकशूली।
त्रिशूलिनं तं त्रिजगत्प्रसिद्धं चिकित्सकं यामि यदस्य शान्त्यै॥

इति ॥ ८७ ॥

अभ्रान्तेति। हे प्रभो, प्रकाशरूपं स्फुटं प्रसिद्धं च वपुर्यस्य स तादृशेन रविणा सूर्येण अभ्रान्तवृत्ति अभ्रस्याकाशस्यान्तस्तत्र वृत्तिः स्थितिर्यस्य तद्बिम्बं मण्डलमिवान्तरधिष्ठितं प्रकाशवपुषा चित्प्रकाशवपुषा परमज्योतीरूपेण भवताधिष्ठितमभ्रान्तवृत्ति न भ्रान्ता भ्रमयुक्ता वृत्तिर्यस्य तत्तादृशमनन्यगतिकम्। त्वत्परायणमित्यर्थः। मे मम चेतो यदि तमसः अज्ञानेन कदाचित्सोपप्लवं सोपद्रवं कृतं तत्राप्यक्षीणपुण्यमहिम न क्षीणः पुण्यस्य महिमा यस्य तत्तादृशमेव तत्रापि विभाति। अथ च रविबिम्बं सोपप्लवं राहुग्रस्तं सोपरागं सत्तदप्यक्षीणपुण्यमहिम विभाति। 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' इत्यमरः। 'सोपप्लवोपरक्तौ द्वौ' इति च ॥ ८८ ॥

जानामीति। हे विभो, उद्दामं च तद्दुःखं जरामरणादिदुःखं तदेव दवो दावाग्निस्तेन यो दाहस्तेन हतोऽहममृतमयममृतप्रकृतिकं तव हृदयं प्रवेष्टुं न जानामि। मदीयदुःखदावाग्निदाहेनामृतरसस्य भवदीयहृदयस्थस्य शोषभयेनान्तस्तव हृदयं प्रवेष्टुं न जानामीत्यर्थः। तथा त्रिदशसिन्धुर्गङ्गा सुधा अमृतं सुधांशुश्चन्द्रस्तैः शीतमतिशीतलं भवन्तमपि हृदि स्वमनसि धर्तुं न प्रभवामि महाशीतत्वेन शीताङ्गज्वरप्रादुर्भावशङ्कया त्वामपि हृदि धर्तुं न शक्नोमीत्यर्थः। अतो मां धिगस्तु। अहं न त्वदीयहृदये प्रवेष्टुं शक्तस्त्वामपि स्वहृदये धर्तुं न शक्त इत्युभयथा मां धिगस्त्वित्यर्थः ॥ ८९ ॥

क्षीण इति। अहं क्षीणो जन्मजरामरणत्रासचिन्तया। तथा क्षता अखिलाः कलाः शिल्पाद्या यस्य तथा प्रकर्षेण विलीनं क्षीणं धाम तेजो यस्य सः। तादृशोऽहम्। क्षीणः क्षययुक्तः। क्षताः क्षयं गता अखिलकलाः षोडश यस्य सः। तथा प्रकर्षेण विलीनं धाम तेजो यस्य सः। एवंविधोऽमृतांशुश्चन्द्रः सवितारं सूर्यमिव त्वामाश्रितोऽस्मि। चन्द्रो ह्यमावस्यायां सूर्यमाश्रयती-

त्यागमः। हे प्रभो, सुधांशुतुल्यस्य मम जीवनकला आप्ययनकला अन्या नास्त्येव। अतस्त्वं पादार्पणे चरणदाने यदि न प्रसादं कुरुषे तदा ममान्या आप्यायनकला कापि नास्तीत्यर्थः। अथ च यदि रविः पादानां रश्मीनां प्रदानेन सुधांशोश्चन्द्रस्य प्रसादं न कुरुते तदा सुधांशोरन्या जीवनरूपा कला कापि नास्तीत्यर्थः ॥ ९० ॥

घोरान्धेति। हे विभो, घोरान्धकारविधुरं घोरो योऽन्धकारोऽज्ञानरूपस्तेन विधुरस्तम्। तथा विविधास्त्रित्वाद्ये उप समीपे तापा आध्यात्मिकाद्यास्त्रयस्तापास्त एवोपतापा महासंतापास्तैरुपतप्तं संतापितम्। तथा विपज्जन्मजरादित्रासव्यापत्सैव गुरुर्महांस्तुषारो हिमं तेन पराहतं बाधितं मां वराकं त्वं चेज्जहासि त्यजसि तदा त्वं वद तपनेन्दुवह्निनेत्रस्त्रिधामनयनः परः कस्त्रिविधां मनस्तापतुषारकृतां ममार्तिं हरिष्यति। एतदार्तिहरणे त्वदृते नान्य समर्थ इति भावः ॥ ९१ ॥

व्यक्तिरिति। हे विभो, विपज्जन्मजरामरणमहाचिन्तारूपा विपत्। बाह्यक्रमेण विपद्दारिद्र्यरूपा। सैवापस्मृतिरपस्माराख्यो महारोगस्तया पीडितस्य यस्य मम न व्यक्तिरङ्गानां प्राकट्यं न। मतिबुद्धिर्न। गतिर्गमनशक्तिर्न। न च शक्तिः कुत्रापि व्यापारे सामर्थ्यम्। नापि स्मृतिः स्मरणलेशः। तस्य विपदपस्मारग्रस्तस्य मम त्रिजगद्गुरुमोषधीशमुकुटं चन्द्रमौलिं त्वां मुक्त्वा कः परश्चिकित्सां रुक्प्रतिक्रियां करिष्यति। न कश्चिदित्यर्थः। अथ च यस्यापस्मारपीडितस्य व्यक्तिमत्यादयो न सन्ति तस्यौषधीशमुकुटं वैद्यचूडामणिं मुक्त्वा कोऽपरश्चिकित्सां करोति ॥ ९२ ॥

त्वमिति। हे शिव, गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्यो मूलप्रकृतिकारणेभ्यो निष्क्रान्तो निर्गुणः पुरुषः। 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इति सांख्याः। 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति च। यथा त्वं निर्गुणस्तथाहमपि गुणेभ्यः पाण्डित्यदयादाक्षिण्यादिभ्यो निष्क्रान्तः अथशब्दो यद्यर्थे। यथा त्वदीयं परमुत्कृष्टं धाम स्थानं शून्यम्। ब्रह्माण्डोर्ध्वे शून्यास्पदत्वात्परज्योतिःस्वरूपस्य परमात्मनः। तथा मदीयमपि धाम गृहं परं केवलं शून्यम्। व्यावहारिकोपकरणासंभवात्। तथा चेद्यदि त्वं गवि वृषभे धृतिं स्थितिं वाहनत्वात्प्रकर्षेण विदधासि तथाहमपि गवि वाण्यां धृतिं प्रीतिं विदधामि। 'लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियाँ पुंसि गौः' इत्यमरः। कष्टं त्वेतत्—हे विभो, त्वं शिवोऽसि, अहं तु दैवेन विधिना क्षत उपहतोऽशिवोऽविद्यमानशर्मास्मि ॥ ९३ ॥

काम इति। हे विभो, यथा त्वयि विषये कामो मदनो निष्फलतां विफलमनोरथतामवाप तथा मयि कामोऽभिलाषो वैफल्यमाप। तथा यद्वद्भवता विभुना कालो मृत्युः श्वेतनृपतेः प्रसङ्गेन विफलः क्षिप्तो निरस्तस्तथा मयापि विफलो निरर्थकः कालः समयः क्षितोऽतिवाहितः। हे देव श्रीशंभो, यथा तव वपुः शरीरं विध्वस्तधाम विधुना चन्द्रेणास्तं क्षिप्तं धाम तेजः कान्तिस्वरूपं शिरसि चन्द्रमौलित्वाद्यत्र। तथा मदीयमपि वपुर्विध्वस्तं नष्टं धाम तेजो यस्य तत्तादृशम्। कष्टं त्वेतत्—हे विभो, त्वं शिवस्त्रिजगतः शिवदः। अहं तु विधिक्षतो दैवोपहतोऽशिवोऽस्मि ॥ ९४ ॥

यद्वदिति। हे प्रभो, यथा तव हृदि वक्षसि नागः सर्पो वासुकिः प्रविभाति तथा ममापि हृदि मनस्यपि नागः। अत्र पदच्छेदे न आगः अपराधोऽस्ति वराकस्य। अत्र हेतुः—भवति विषये एकपरायणस्य। तथा हे विभो, यथा त्वं स्वे धर्मे वृषे निरतः सक्तस्तथाहमपि। अत्रापि

पूर्वोक्तो हेतुः। यद्वा सुष्ठु अत्यर्थमधर्मे वेदाविहिते कार्ये नितरां सक्तोऽहम्। कष्टमित्यादि पूर्ववत् ॥ ९५ ॥

मूर्तिस्तवेति। हे शिव विभो, विधुरोचिता विधुना चन्द्रमसा रोचिता शोभिता तव मूर्तिरस्ति। तथा ममापि मूर्तिस्तनुर्विधुरा दीना उचिता युक्ता। हे भगवन्, यथा तव विषमा त्रित्वाद् दृष्टिस्तथा ममापि दृष्टिर्विषमा उग्रा सरोषत्वात्। यथा च त्वं शूली त्रिशूली। तथा विषादहतशक्तिर्विषं कालकूटाख्यं तस्मादहतशक्तिर्न हता शक्तिर्यस्य स तादृगसि तथाहमपि जन्मजरामरणत्रासरूपशूलरोगवान्। तथा तदुत्थेनैव विषादेन दुःखेन हता शक्तिः सामर्थ्यं यस्य स तादृगस्मि। कष्टमित्यादि पूर्ववत् ॥ ९६ ॥

कण्ठ इति। हे विभो, यथा तव कण्ठे विषं कालकूटाख्यं वसति तथा ममापि विषं मात्सर्यरूपम्। यथा त्वं भूतानां चतुर्दशविधसर्गभूतानामीश्वरस्तथा पशुपतिराणवमायीय-कार्माख्यपाशत्रयबद्धाः पञ्चकलाकलिता जनाः पशवस्तेषामीशो यथासि तथाहमपि भूतानां लक्षणया महोग्राणां तथा पशूनामुपचारेणाज्ञानां पतिः। हे विभो, यथा तवाङ्गं गुरुरुग्गुर्वी रुक् शोभा यस्य तादृशं तथा ज्वलितं दीप्तं तथा ममाप्यङ्गं गुरुरुग्ज्वलितं गुर्वी चासौ रुग्जन्मजरादिव्याधिस्तया रुजा ज्वलितम्। 'स्त्रीरुग्रुजा च' इत्यमरः। कष्टमित्यादि पूर्ववत् ॥ ९७ ॥

स्वर्भानुगीर्णमिति। यथा स्वर्भानुना राहुणा गीर्णं ग्रस्तं पूर्णेन्दुबिम्बं शोचनीयं भवति। यथा च दारुणया रुजा महारोगेण रुग्णं भग्नं षोडशहायनाङ्गनाङ्गम् शोच्यम्। यथाजगरेण 'अजं गिलतीत्यजगरः, अजो नित्यो गरोऽस्य वा' इति स्वामी। अजगरेण महता सर्पविशेषेणोपगूढ-मालिङ्गितं यथा श्रीखण्डाख्यचन्दनं शोच्यम्। यथा पिशुनैः खलैर्व्यूढं व्याप्तं नृपस्य पादमूलम् शोच्यम्। यथा च दुग्धमहाब्धिनीरं क्षीरसमुद्रजलं हालाहलेन विषविशेषेणाक्तं मिलितं शोच्यम्। यथा च महामकरैर्जलप्राणिभी रुद्धं गङ्गातीरं शोच्यम्। यथा च दारिद्र्येणाकिंचनत्वेन दग्धं दाहयुक्तं साधोः सतो गृहस्थस्य वृत्तं शोच्यम्। यथा च श्रुतेन शास्त्रेण पठितेन विश्रुतस्य प्रसिद्धस्य जन्तोः समत्सरं सरोषं चित्तं मनः शोच्यम्। यथा च विद्यया विहीनं निर्मलकुलीनस्य रूपं शोच्यम्। यथा च कापुरुषस्य कृपणस्य वित्तं दान-भोगरहितं शोच्यम्। तथैव हे विभो, ममापि मानुष्यं मनुष्यजन्म उज्ज्वलेन निर्मलेन कुलेन श्रुतेन शास्त्रेण शीलेनाचारेण शुद्धं विमलमपि विपदा दारिद्र्येण विधुरित कातरीकृतं शोचनीयं जातम् ॥ तिलकम् ॥ ॥ ९८—१०० ॥

इदानीं तद्वृत्तासक्तचेतस्त्वात्पर इव पश्यन् विलपति—पश्चात्पुर इति। हे विभो, क्रूरं नितान्तं क्रूराशयं फणिपाशपाणिं सर्पपाशहस्तं कृतान्तहतकं दुष्टयमम्। अपिशब्दोऽन्वर्थः। पश्चादपि पुरोऽपि प्रतिदिशं च विमृश्यागतं पश्यन्भूमौ पतामि लुठामि। कृपणं दीनं च प्रलपामि निरर्थकं वच्मि, तथैव विभोः प्रतिमायाः पादपीठे लुठामि शठवत् कितववत् कठिनः कठिनहृदयः कस्मादपि। एतद्वृत्तानुसारेण ममापीदं वृत्तद्वयम्—

'जलधर इव गर्जितं वितन्वन्नयमयमागत एव पाशहस्तः।
शरणमशरणस्य को दयालो मम कृपणस्य कृपां कुरु त्वमत्र ॥'

तथा —

'किं सुप्तोऽसि किमाकुलोऽसि जगतः सृष्टस्य रक्षाविधौ
किं वा निष्करुणोऽसि नूनमथवा क्षीबः स्वतन्त्रोऽसि किम् ।
किं वा मादृशनिःशरण्यकृपणाभाग्यैर्जडोऽवागसि
स्वामिन्यन्न शृणोषि मे विलपितं यन्नोत्तरं यच्छसि ॥' १०१ ॥

आः किमिति । हे महेश ! परमशिव, निमेषमात्रेणापि त्रिजगदुद्धारक ! आः कोपे । अयमन्तको यमो मां नयति । हठादिति शेषः । अतो हि विभो, त्वं मां किं न रक्षसि । हेलया क्रीडयावलेपोऽवगणनं तस्य समयोऽयं किं भवति । नाम संभावनायाम् । ईदृशं पूत्कृत्याक्रन्दन्तं मृत्युग्रस्तं पुरो मामवलोक्य करुणया कृपया तव हृदयस्य चित्तस्य पीडा मा भून्मा भवतु परंतु शरणागतं मामुज्झतस्त्यक्तवतस्तव व्रीडा लज्जापि नास्ति । काक्वा नास्तीत्यर्थः ॥ १०२ ॥

अज्ञोऽसीति । हे विभो ! त्वं किमज्ञोऽसि परपीडानभिज्ञोऽसि । किं वाबलो बलरहितोऽसि । ईदृशसंकटस्थशरणागतरक्षणासामर्थ्यात् । अथवाकुलो व्याकुलोऽसि । किं वा व्यग्रो जगद्रक्षाविधानकार्ये व्यग्रोऽसि । किं वाघृणो निष्करुण एवासि । किं वाक्षमोऽसमर्थोऽसि । किं वा त्रिजगद्धारणे श्रान्तः सन्निद्रयैवालसोऽसि । किं वा मदेनाम्बुधिमथनोदितमदिरामदेन घूर्णितोऽसि । अत्र हेतुमाह—कस्मात्कारणादीदृशं पूत्कृत्याक्रन्दन्तमपि मामन्तकभयार्तं मृत्युभयपीडितमुपेक्षसे त्यजसीति । तव त्रिजगदुद्धारकस्यैतन्न युक्तमित्यर्थः ॥ १०३ ॥

पुनरप्येतदेव समर्थयति—द्वेष इति । हे सर्वेश विश्वनाथ ! कृपणेऽतिकातरेऽर्थान्मयि एष द्वेषः किमदृष्टयवलोकनं किम् । उत पक्षान्तरे अक्षमा किम् । अथवा निस्त्रिंशता निर्दयता किमियं भवति । अथेयमशक्तिः किं भवति । असामर्थ्यमित्यर्थः । यद्यस्मात्केवलं हुंकारमात्रकेणैव निराकरणीयाहंकारे दुष्टकृतान्तेऽपीयती बहुतरा उपेक्षा भवति ॥ १०४ ॥

पूर्वोक्तं संगृह्णाति—इत्यादीति । हे स्वामिन् ! दुरूहाशयः पुरुषो दूढ्यः । 'दुष्टाशयस्तु दूढ्यः स्यात्' इति हलायुधः । दूढो निपातितः रुहो दूढ्य इति (?) । हव्यकव्यविधावनिमन्त्रितः स्वयमागतो दूढ्य इति काश्मीरेषु भाषया विप्रो 'डोड' इति प्रसिद्ध इति च । यथा दूढ्यो निष्ठुरं क्रूरं पुष्टं च भाषत इति निष्ठुरपुष्टभाषी भवति । यथाग्रहो हेवाक एव ग्रहो भूतप्रेतादिस्तेन गृहीतो यथास्तशङ्को यत्किंचन प्रलपितुं निःशङ्को भवेदेवमार्त्या मुहुर्मुहुरयुक्तमप्यनुचितमपि इत्यादिपूर्वोक्तं यत्किंचन ब्रवीमि तत्रापि तथापि हे निष्कृप निर्दय विभो, मौनमुद्रां मौनेन मुद्रा तां न भिनत्सि । न वदसीत्यर्थः ॥ १०५ ॥

पुनरपि स्वावस्थां निवेदयति—भीत इति । हे विश्वसाक्षिन् त्रिजगत्येकदृष्टित्वेन व्यवस्थित, भीते सर्वत उपद्रुते तथा भवार्त्या संसारोदितमनःपीडया विधुरे व्याकुले चरणाग्रलग्ने पादाम्बुजाग्रलुठिते तथा भग्नमीप्सितं संसारार्णवोत्तरणरूपं यस्य स भग्नेप्सितस्तादृशे कांचिदन्यां गतिमुपायमपश्यति न पश्यन्नपश्यंस्तादृशे तथानागसि निरपराधेऽर्थान्मयि दाक्षिण्येन लक्षणया स्नेहेन दीनजनोपरि स्थितेन दिग्धं व्याप्तं हृदयं यस्य तादृशोऽपि त्वं मनागीषदपि पराङ्मुखोऽसि ॥ १०६ ॥

स्वामिन्निति । हे स्वामिन् , निसर्गतः स्वभावतो मलिनो मलिनाशयोऽत एव कुटिलो वक्रश्चलश्चञ्चलप्रकृतिश्चास्मि । एतादृगेव निसर्गमलिनः स्वभावेन श्यामवर्णो वक्रश्चलश्च रिपुः ।

रेपयति गच्छति विघातार्थं रिपुः । 'रेपृ गतौ' । मम रिपुर्घातको मच्छत्रुर्मृत्युपाशोऽन्तकसर्पपाशोऽप्यस्ति । हे स्वामिन्परमेश, तव भ्रूपल्लवोऽपि तथाविध एव निसर्गमलिनः स्वभावतः श्यामलरोमशो वक्रो धनुराकृतिश्चलश्च भवति । अत एव तस्य मद्वधोद्युक्तस्यैतादृशस्यैव मृत्युपाशस्य शान्त्यै निश्चेष्टीकरणाय । क्षम इति शेषः । क्षमो भवति । एतदेव वृद्धसंमत्या द्रढयति—हि यस्मात्कारणाद्विषमेऽत्युग्रे विषे गरले पथ्यं हितं नीरोगत्वविधायि विषमेव भवति । 'हिमेनैव हिमं शाम्येत्' इतिवदित्यर्थः । तथा च दुःखोपहतजनवर्णनप्रस्तावे ममापि वृत्तमेकम्—

दुःखितस्य बहुदुःखसंचयैर्दुःखमुग्रमपि किं करिष्यति ।
नाहिफेनमहिफेनसेविनः क्वापि दुर्जरतरं भविष्यति ॥'

इति ॥ १०७ ॥

किमिति । पुनरुक्ता पुनः पुनः सगद्गदमुक्ता अत एव शुक्ताः पर्युषिताः । 'शुक्तः पर्युषितौदनः' इत्यायुर्वेदे । 'शुक्तमन्नं न भुञ्जीत सद्यो दोषकरं हि तत्' इति च । शुक्तौदनतुल्यैरित्यर्थः । तथोद्वेगं वैमनस्यं कुर्वन्ति तादृशास्तैः । तथालब्धफलैर्निष्फलैः प्रलापैर्निरर्थकसगद्गदवचनैरनिशं सर्वदा किं कार्यं विधेयं स्यात् । न किंचिदित्यर्थः । एवं विदञ्जानन्नप्यहं मुखरं विरौमि घोरं क्रन्दामि । एवं कृतेऽपि हे विभो, त्वदन्यं परमुत्कृष्टं शरण्यं नहि पश्यामि । शरणे साधुः शरण्यस्तम् ॥ १०८ ॥

त्वमिति । हे विभो, प्रसादेन मुखप्रसन्नतयानुग्रहेण वा सुमुखः शोभनवदनस्त्वं चेत्कस्यापि सुकृतिनो भवसि तर्हि तस्य जनस्य विभुं प्रति प्रणयोक्तिभिः सविनयवचनैः प्रतिवचनैर्वा किं भवति । न किंचिदित्यर्थः । सर्वदा स्वातन्त्र्याद्विभोरनभ्रे व्योम्नीवाकस्मात् तत्कृपावृष्टेरुदयादित्यर्थः । हे विभो, त्वं चेत्कस्यापि दुष्कृतिनोऽनादरपरो मुखप्रत्यावर्तनेनानादरपरोऽसि तदा प्रणयोक्तिभिः किं स्यात् । न किंचिदित्यर्थः । दृष्टं चैतत् । पुंसो भाग्योदये भागधेयोदये सति गुणेषु विद्वत्तादिषु यत्नः प्रयत्नो वृथैव भवति । तस्मिन्नसत्यपि गुणेषु यत्नो वृथैव । व्यर्थं इत्यर्थः ॥ १०९ ॥

जानन्निति । हे महेश परमेश, इति पूर्वोक्तप्रकारेण जानन्नप्यहं यत्प्रलापात्सगद्गदव्यर्थवचनान्न विरमामि विरामभवसानं न भजे मौनं न करोमि स एष तस्या आर्तेरेव महिमा । आर्तेः कस्या इव, तव दृश इव तवानुग्रहदृष्टेरिव । तस्या आर्तेः कस्या इत्याह—रात्रिमित्यादि । या आर्तौ रात्रिमेव तमस्विनीमेव दिवसं सप्रकाशं करोति । आर्तो न जानात्येषा रात्रिरिति । तथा तिमिरमपि तमोऽपि प्रकाशं तेजोरूपं करोति । अग्निं ज्वलनमपि हिमं करोति । आर्तो ह्यतिशीतलोऽयमिति मत्वाग्नावपि झम्पां ददातीत्यर्थः । तथा गरलमपि विषमप्यमृतं करोति । रसायनं जानाति । हे विभो, भवदीयानुग्रहदृष्टिरप्येवमेव । तथा हि कस्यापि परमेश्वरभक्तस्येदं वृत्तम्—

'अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्मो धर्मतामियात् ।
अनुकूले जगन्नाथे विपरीते विपर्ययः ॥'

इति ॥ ११० ॥

आर्तिरिति । आर्तिर्जन्मजरामरणत्रासाद्भूता कृपणादीनजनान्मादृशाच्छ्रुतैव श्रुतमात्रैव तव विभोर्दयालोरन्तः करुणां दयां सदैवोत्पादयति । का कामिव । शमी शमीतरुशाखाग्नि-

शिखामिव । यथा शमीशाखाग्निज्वालामुत्पादयति तद्वत् । इदं त्वतिचित्रं तव विभोरियं करुणा जातैव जातमात्रैव तां दीनजनार्तिम् । यस्या दीनजनार्तेः करुणा तथोत्पन्ना तामेव निर्दहति भस्मीकरोति । यथा शमीशाखाया एवोत्पन्नाग्निज्वाला जातमात्रैव शमीं निर्दहति तद्वदित्यर्थः । इति हेतोरमुत्र विषये विभोर्महदनङ्कुशं निर्निरोधमीश्वरत्वमैश्वर्यं वयं किं ब्रूमहे ॥ १११ ॥

यन्नामेति । हे विभो, औचित्येन परमार्थरूपेण मुक्तं रहितमसमञ्जसं वितथप्रायम् । नाम निश्चये । अत्र स्तुतिप्रसूनाञ्जलिप्रबन्धे यत्पामरजनोचितं पामरवचनसदृशमभ्यधाय्युक्तं तत्रापि मादृशपामरजनविरचितस्तुतिवचनेऽपीश्वराणां सदैव स्वतन्त्राणां रुचिरभिलाष उचिता युक्त एव । दृष्टं चैतत्—यथा कपिञ्जपिका वानरोत्प्लुतिरीश्वराणां प्रभूणां चेतश्चमत्कारकरी तद्वन्ममापि पामरस्येयमुक्तिरित्यर्थः ॥ ११२ ॥

चौरैरिति । चौरैः स्तेनैर्गृहीतमपि, तथा द्विजिह्वैः सर्पैर्दष्टमपि, ग्रहैर्ब्रह्मराक्षसवेताला-दिभिर्ग्रस्तमपि द्विषद्भिः शत्रुभिर्निरुद्धमपि, द्रुतमाक्षिपद्भिर्व्याघ्रैः शार्दूलैरुपद्रुतमपि । तथा सरोषैरतिक्रुद्धैरवनिभृत्पुरुषै राजपुरुषैरन्विष्टं गवेषितमपि, भूतैर्ग्रहविशेषैरभिभूतं पराभूतमपि । तथा सिन्धुजलेऽपि समुद्रजलेऽपि भग्नपोतत्वान्मग्नम् । तथा रणेऽपि सङ्ग्रामेऽपि भग्नं पराजितम् । तथा दवपावकेऽपि दवाग्नावपि पतितम् । एतेभ्योप्यति संकटं महाभयमाह—किं भूयसेति, भूयसा बहूक्तेन किम् । यमभटैरपि यमकिंकरैरपि फणिपाशदण्डपाणिभिः कृष्यमाणं क्रन्दन्तं दीनं पुरुषं महेश्वरं परमेश्वरं दयालुमन्तरेण विना कोऽन्यस्त्रातुमर्हति ॥ युग्मम् ॥ ११३, ११४ ॥

तज्ज्ञ इति । बताश्चर्ये । अहं तज्ज्ञोऽस्मि, विचक्षणोऽस्मि। सविडम्बनमात्मानं प्रत्युक्तिः । तज्ज्ञो नास्मीत्यर्थः । यदहमक्षयं निर्नाशं सुखमिच्छन्दुःखैकधाम दुःखस्यैवैकं स्थानम् । सुखस्यापि परिणामदुःखत्वात्, "मनुष्या नित्यदुःखिनः" इत्युक्तेः । ईदृशमस्थिरं वपुः शरीरं यदर्थयामि याचे । पक्षान्तरमाह—यद्वेत्यादि । यद्वा पक्षान्तरे भवः संसार एवापारत्वादब्धिस्तस्य तरणायोग्रशीलमुग्रं कठिनं शीलं स्वभावो यस्य स रौद्रत्वादुग्रशीलस्तं पुराणं पुमांसं पुराणपुरुषमतिवृद्धं पुरुषं च उडुपार्धधरमुडूनि नक्षत्राणि पातीत्युडुपश्चन्द्रस्तस्यार्धं शकलं धारयतीति तादृशस्तं महेश्वरम् । तथा 'उडुपं' ह्रस्वादि ह्रस्वमध्यम् । उडुपश्चन्द्रभेलयोः इति धरणिः । अतः पुंस्यप्युडुपो भेल इति ख्यातः" इति रायमुकुट्याम् । 'उडुपस्तृणप्लवः' इति क्षीरस्वामी उडुपस्य तृणप्लवस्य कश्मीरेषु भाषया 'तरपतुल' इति ख्यातस्यार्धं धारयतीति तं च । यश्चातिवृद्ध उडुपार्धधारी च स कथं समुद्रात्तारयतीति निन्दाप्यन्यार्थत्वेन स्तुतिपर्यवसायिनी ॥११५॥

दृङ्मार्गेति । यस्य श्रीशिवभट्टारकस्य दृशां तिसृणां नेत्रत्रयस्य गोचरमात्रपतिताः सहसैव तत्क्षणमेव रवीन्दुहव्यभुजोऽपि सूर्येन्द्वग्नयोऽपि पञ्चत्वं पञ्चसंख्यावत्त्वमवापुः । अथ च पञ्चत्वं मरणमपि । 'स्यात्पञ्चता कालधर्मः' इत्यमरः । यतः सद्योजाततत्पुरुषाघोरवामदेवेशाना इति भगवतः पञ्चवक्त्राणि । 'पञ्चवक्त्रं विशालाक्षं सर्पगोनासमण्डितम्' इति स्वच्छन्दमहातन्त्रे पञ्चसु वक्त्रेषु प्रत्येकं नेत्रगोचरस्थत्वेन सूर्येन्द्वग्नीनामपि पञ्चत्वं पञ्चसंख्यात्वं कालधर्मश्च । अहं धीमान् । बताश्चर्ये । मरणार्तिभीरुस्तमेव सदाशिवं देवमाश्रयामीति प्राग्वन्निन्दा स्तुतिपर्यवसायिनी ॥११६॥

स्थाणुरिति । यत्र धामन्यास्पदे स्थाणुः । तिष्ठति महाप्रलयेऽप्यनश्वरः स्थाणुर्महेश्वर-श्छिन्नशाखो द्रुमश्च । यत्र विभुः स्वामी । यत्र च तस्यापि स्थाणोर्वधूः सा प्रसिद्धा अपर्णा

शंभोराराधनाय तपसि पर्णानामप्यनशनादपर्णा पार्वती । तथा अपर्णा पर्णरहिता च च्छिन्नशाख-द्रुमस्य वधूः । तयोः स्थाण्वपर्णयोरपि तनयः सुतो विशाखः । विशाखायां जातो विशाखः । 'नक्षत्राल्लुग्बहुलम्' इति स्वामी । स प्रसिद्धो विशाखः कुमारः शाखारहितश्च यत्र । अहो आश्चर्यं । अहं प्रज्ञावतां धीमतां प्रवरोऽभीष्टफलप्राप्तये तद्धाम तदास्पदं प्रवेष्टुमिच्छामि यत्त-द्दहमतिप्राज्ञ इत्यत्रापि निन्दा स्तुतिपर्यवसायिनी ॥ ११७ ॥

मार्जारेति । मार्जारो बिडालः । सूकरो वराहः । सृगालः क्रोष्टा । द्वन्द्वात्परः श्रूयमाणः प्रत्येकमभिसंबध्यते । मार्जारवक्त्राणि च सूकरवक्त्राणि च सृगालवक्त्राणि च वेतालभूतशतानि तैः संकुलम् । भूताधिष्ठितं शवशरीरं वेतालः । भूतो ग्रहविशेषः । एवंभूतम् । तथा निशा-चराणां रक्षसां पिशाचानां च रवैः शब्दैर्भीष्मं भयानकमीश्वरस्य धाम प्रवेष्टुमतिमात्रं भीरुर्मति-मानहमिच्छामि । प्राग्वदत्रापि निन्दा स्तुतौ पर्यवस्यति ॥ ११८ ॥

कर्णेति । अहं प्राज्ञो धीमान्कर्णेक्षणे यस्य स [कर्णः कर्णतां प्राप्तम् ईक्षणं यस्य स कर्णेक्षणः । अत्र कर्णपदस्य श्रोत्रवाचकस्य कर्णतापन्ने लक्षणा । अथवा कर्णयतीति कर्णम् । कर्णयतेः पचाद्यच् । कर्णमाकर्णनकारि ईक्षणं यस्य स कर्णेक्षणः] । तादृशस्तस्माच्चक्षुःश्रवसः तथाचरणादविद्यमानाश्चरणाः पादा यस्य स तादृशस्तस्मात् । गूढपादत्वात्सर्पस्य । तथा त्रिफणात्फणत्रयमात्रयुक्तात्कृतान्तपाशाद्यमसर्पपाशात् त्रसन् धृतः सहस्रफण उरगेन्द्रो वासुकिर्येन स तादृशस्तम् । तथा सहस्रशिरसम् । सहस्रं नेत्राणि यस्य स तादृशम् । सहस्रचरणं सहस्रपादम् । पुरुषं पुरि पुरि शेते पुरुषः परमात्मा । 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' इति श्रुतेः । तं शरणं श्रयामि । इत्यत्रापि प्राग्वत्स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा ॥ ११९ ॥

त्रस्त इति । हे शिव कैवल्यद, जनानां समूहो जनता । समस्तजनताया अपह्नुतिः संहारस्तत्र प्रगल्भस्तस्मात् । तथा क्रोधेन दीप्तानलवदुल्बणे उद्भटे दृशौ यस्य स तादृशस्तस्मात् जीवितेशाद्यमात् त्रस्तो भीतः सन्नहं प्राज्ञो धीमान्समस्तजनानां शिवादिक्षित्यन्तलोकानां तापत्रय आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकास्तेषां ह्नुतिस्तत्र प्रगल्भस्तादृशम् । अनलेनाग्निनोग्रा दृक् तृतीयनेत्रं यस्य स तादृशस्तं जीवितेशं परमात्मानं श्रीशिवं श्रयामि ॥ १२० ॥

निर्भर्त्सितेति । दक्षक्रतुध्वंसने निर्भर्त्सितो हतः क्रतुरेव मृगो येन स तादृशस्तं त्वां विभुं कलया षोडशांशरूपया नितरामस्तो दूरीकृतो लाञ्छनमृगो येन स तादृशः । कलया वृद्धिरूपेण व्याजेन च । एवंभूतो मृगाङ्कश्चन्द्रोऽशिश्रियत् । तद्युक्तमेवेत्यर्थः । यत्तु कामस्य स्मरस्य वैरिणं दाहकं त्वां विभुमनेत्य सकाम एव साभिलाष एव त्वां देवं यदाश्रितोऽस्मि ततोऽहं सुधियां मनीषिणां मध्येऽधिकः । इत्यत्रापि निन्दा स्तुतिपर्यवसायिनी । कामारिं सकामः कथमाश्रयतीति विरोधः । अन्यार्थत्वेन तदभावः ॥१२१॥

पद्माश्रित इति । पद्मं निजासनमाश्रितः श्लेषोक्त्या पद्मां रमां श्रितश्च । शतं धृतयोऽस्य शतधृतिर्दैश्यामिति क्षीरस्वामी । चत्वार्याननानि यस्य स चतुराननः श्लेषेण चतुरमाननं यस्य स तादृशोऽपि ब्रह्मा यस्मादीश्वराद्वाच्यं वक्तुमनर्हमेव पराभवं शिरश्छेदरूपमवाप । 'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः परिच्छेत्तुं यातौ' इत्यत्रापि वृत्ते एतदाकर्ण्याप्यहं प्राज्ञो धीमांस्तद्विपरीतः श्रिया त्यक्तः । अपद्माश्रित इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । गतधृतिर्निर्धैर्यः । मृदु-मन्दं वक्त्रं यस्य स तादृशोऽपि तमेवेश्वरं परमेश्वरमनुग्रहमर्थये । इत्यत्रापि प्राग्वत् ॥ १२२ ॥

आजन्मेति । जन्मन आरभ्य आजन्म, कर्म शुभाशुभं विरच्य्य । भक्तेनेति शेषः । भक्तजनेन यत्फलं शुभाशुभमाप्तं, तदेव चिरकालभोग्यमखिलं फलं, क्षणाद्धृत्वा अपुनरागमनाय ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखनिवृत्तये यो विभुर्भक्तं भक्तजनं स्वीकरोति निजसायुज्यं प्रापयति । अहो आश्चर्ये । तमेवेश्वरं मतिमत्तमो बुद्धिमत्तमः अहं सेवे । अत्रापि प्राग्वद्योजना ॥ १२३ ॥

श्मशानेति । श्मशानमेवैकं प्रियतमं स्थानमस्य तादृशस्तम् । तथानलेनाग्निनोत्तालमुद्भटं नयनं तृतीयं यस्य स तादृशस्तम् । तथा विषज्योतिर्ज्वालाभिर्विषाग्निज्वालाभिर्जटिलो जटावानिव यः कुटिलो व्यालः सर्पो वासुकिः स एव वलयः कङ्कणं यस्य स तादृशस्तम् । तथा मुण्डानां महाप्रलयेषु मृतानां ब्रह्मादीनां ये मुण्डाः कपालास्तेषां श्रेण्येव विकटो विस्तीर्णो मुकुटो यस्य स तादृशं । भीमं भयानकं च श्रीशिवं श्रयन्नहं कृतधियां विदुषामहसनीयोऽहास्योऽस्मि । काक्वा हास्योऽस्मि किं नेत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अहो इति । अहो आश्चर्ये । करतले विलीन एकः फणी फणिपाशो यस्य स तादृशात् । तथा क्रमेण यथाक्रमं कवलितो ग्रस्त एक एको भवी देही येन स तादृशात् । कालात्समुत्त्रस्यन्नहं भीरुहृदयो भीतहृदयः सन् सर्वावयवेषु करचरणादिषु सुलभा अनल्पा महान्तो भुजगाः सर्पाः शेषादयो यस्य स तादृशम् । तथा सकृदेकवारमेव विश्वग्रासप्रवणमतिं जगद्ग्रासप्रवृत्तमतिं महाकालं कालाग्निरुद्रं श्रीशिवभट्टारकं शरणं यदभ्येमि गच्छामि, तत्तत्त्वज्ञः परमार्थज्ञोऽस्मि । अत्रापि प्राग्वद्योजना ॥ १२५ ॥

शृङ्गी यत्रेति । यत्र शिवभट्टारकद्वारि, भर्तुः श्रीशम्भोर्वल्लभः प्रेमभाजनं, स्फटिकशिखरी कैलासः शृङ्गी शिखरी भवति । अथ च शृङ्गी गर्वी । "शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च गर्वे च ।" इति कोषः । यत्र पिनाकोऽजगवं धनुर्भर्तुः श्रीशिवस्य वल्लभः । सोऽपि शृङ्गी शृङ्गेन रचितो दर्पोद्धतश्च । तथा सोऽपि वृषभः स्वामिनो वल्लभः शृङ्गी शृङ्गद्वयवान् गर्वी च स्फुरति । तत्र महाराजद्वारि त्रस्तो भीतः प्रकृत्या स्वभावेन सरल ऋजुः, स्वल्पवागस्पन्दगद्गदवचनोऽप्रगल्भोऽप्रौढः प्राज्ञो धीमानुचितं सेवासमयं सेवावसरं स्वामिनः श्रीशंभोरहं प्रार्थये । अतोऽपि नितरां हसनीयोऽस्मीत्यर्थः । एतद्वृत्ताभिप्रायेण मदीयमपि वृत्तद्वयम्—

'दोषाकरः शिरसि कण्ठतले द्विजिह्वः पादान्तगोऽपि सततं खलु यस्य शृङ्गी ।
द्वारान्तिकं कथमुपैमि हि भैरवस्य तस्य प्रभोर्विशरणः कृपणोऽतिसाधुः ॥'
'दोषाकरः स कुटिलो विमतिश्च शृङ्गी कोपी सदा बहुतरामपि स द्विजिह्वः ।
एते यदि प्रियतमा भवतस्तदाहमेकोऽपि तादृगिह मां शिव किं त्यजेथाः ॥'

इति ॥ १२६ ॥

विश्रान्तिरिति । हे विभो, विपदेव संतापकत्वाद्ग्रीष्मो निदाघस्तस्य भीष्मोष्मणा तप्ते मम चित्ते विश्रान्तिर्नास्ति । तथा गलति क्षयमागच्छति वित्ते धने च सति । तथा प्राक्प्रवृत्ते पूर्वजन्मोपार्जिते च कुवृत्ते दुष्टाचारे फलति सति । मम चित्ते विश्रान्तिर्न भवति । तेन हेतुनात्यन्तं हे भव विभो, सपदीदानीं दीर्घदुःखमेवान्धकूपस्तत्र पतितं मामुद्धर्तुं त्वां दयार्णवं विना कोऽन्यः प्रभवति समर्थो भवति ॥ १२७ ॥

येषामिति । एषा तनुधनलवेति तनुरल्पो यो धनलवस्तस्य याः प्रार्थना याच्ञास्ता एवानर्थकन्था एषा आनन्दि आनन्दः परमानन्दो विद्यते यत्र तत्परमुत्कृष्टं स्थानं लब्धुं पन्थानं मार्गं

शेषां न प्रदिशति न ददाति। अकृपण वदान्य, तेषामेषामस्मल्लक्षणानां दयापात्राणां जनानामाशापाशेनाकुलितमनसामिष्टां स्निग्धां सानुग्रहां दृष्टिं निधेहि मुञ्च ॥ १२८ ॥

उदञ्चयेति। हे विभो, मनागीषन्मुखमुदञ्चय प्रकटीकुरु दर्शय। त्वं च मां प्रत्यभयघोषं मा भैषीरिति वचनमुद्घोषयोच्चैरुच्चारय। त्वं विशदां निर्मलां दृशं प्रयच्छ देहि। त्वं च गतिविहीनमगतिकमाश्वासय। किमन्यदधिकं वच्मि क्रन्दामि च। उच्चैः कन्धरा यस्य स उत्कन्धरः कुपितदृष्टिः क्रोधोद्धुरदृष्टिरयं कृतान्तो यम आगत इत्यतो हेतोरविरलावलेपेन घनावलेपेनालसो मा स्म भूः। एतद्वृत्तानुसारेण ममाप्येकं वृत्तम्—

त्रैलोक्योद्धरणैकदक्ष करुणासिन्धो बतेमं जनं
त्वं श्वेताभयदानविश्रुतयशःस्तोमो न चेद्रक्षसि।
क्रुध्यत्कालकरालहुंकृतिपरित्रस्तोऽहमुच्चैस्तरा-
मब्रह्मण्यमुदीरयाम्यशरणः स्वामिन्नये कं प्रति॥'

इति ॥ १२९ ॥

मुहुरिति। हे विभो, मुहुः पुनः किं ब्रुवे। रोषणं क्रुद्धं भुजगपाशपाणिं सर्पपाशहस्तं पुरःस्फुरन्तमिव यमकिङ्करं पश्यतो मम धृतिश्चलति, गतिरपि स्खलति, मूर्तिरुद्वेल्लति कम्पते, स्थितिरासनं शय्यापि ज्वलति, निर्वृतिः सुखं विगलति, स्मृतिर्मीलति निह्नुता भवति ॥ १३० ॥

दुर्गमिति। यद्यस्या आर्तेः सामर्थ्याद् दुर्गमपि महागहनमपि सुगमत्वमेति। तथा यस्या आर्तेः सामर्थ्याद् दूरमपि निकटतां भजते। मरुभूमिरपि क्रीडोपवनत्वं प्रमदवनत्वमेति। यस्या आर्तेः सामर्थ्याद्रिपुरपि शत्रुरपि मित्रायते। इत्येवंप्रकारेण भुवि भूमौ यस्या आर्तेरप्रतिहता दुर्निवारा शक्तिः। सार्तिस्त्वदाक्रन्दने त्वां विभुं प्रत्याक्रन्दने पूत्करणे मामनुदत्प्रेरयामास। 'नुद प्रेरणे।' हे दयालो, ममाश्वासने कृपापि त्वां नुदतु प्रेरयतु। सर्वथा मामार्तं समाश्वासयेत्यर्थः। तथा च ममापि वृत्तमेकम् 'दर्शनस्पर्शनालापैः परीक्षेन्नवरोगिणम्' इत्यायुर्वेदवचनानुसारेण—'मां पश्य कोमलदृशातुलतापतप्तं मामातुरं भवरुजा स्पृश पाणिना त्वम्। मामालपामृतमयैर्वचनैर्महेश ....'॥ १३१ ॥

द्वारीति। हे स्वामिन्, अस्तक्रुधौ गत रोषे श्रीश्च सरस्वती चेत्युभे अपि तव द्वारि वसतः। तुः पक्षान्तरे। भवदङ्घ्रिविष्टरतले भवत्पादासनतले नित्यं सदैव प्ररूढस्थितिं स्थितिमन्तं यावन्मात्रं स्वल्पमात्रं यः सरस्वत्याः परिचयस्तस्य द्वेषस्तस्माच्छ्रीर्लक्ष्मीर्मामत्यजत्। अतएव हृदये मनसि वह्निं वडवाग्निमुद्वहन् ग्लायन्नुदन्वानिव अहं हृदये मनसि दुर्वहं वोढुमशक्यं शोकाग्निमुद्वहामि ॥ १३२ ॥

नाथेति। हे नाथ, प्रथमं भवं प्राथमिकं बाल्यं वयो विवेकेन कार्याकार्यविचारेण रहितं मया तिर्यग्वत्पशुवदस्तमतिवाहितम्। तथा विराधितेत्यादि। विराधिता प्रणयकोपयुक्ता चासौ वधूस्तस्या विस्रम्भणमाश्वासनं तस्यारम्भणैर्मुहुर्मुहुरारम्भैस्तारुण्यं वयो मया विहतं निर्नाशितम्। हे स्वामिन्, संप्रतीदानीं जरसा विस्रसया जर्जरस्य जीर्णीकृतस्य मम धावन्नतिवेगेन परिक्रामन्मृत्युर्यावन्न कर्णमुपैति कर्णाभ्यर्णमायाति, तावदेवावशमस्वतन्त्रं पादाश्रितं मां पाहि रक्ष ॥ एतद्वृत्ताशयेन च मत्कृते शंभुकृतामनोहर (?) स्तवे ममापि वृत्तमेकम्—

बाल्ये मोहमहान्धकारपटलग्लानेन्द्रियस्य प्रिया-
वक्त्राम्भोरुहसौरभोद्भवमदोन्मत्तात्मनो यौवने।
वृद्धत्वे किल घोरयातिजरसा ग्रस्तस्य नष्टस्मृते-
स्त्वंचेन्नाद्य कृपां करोषि मम कस्त्रातास्ति शम्भोऽपरः।

इति ॥ १३३ ॥

आसीदिति। हे स्वामिन्। ममेतिशेषः। अखर्वोऽनल्पो गर्वोऽहंकारो यस्य स तादृग् यः करणग्राम इन्द्रियवर्गस्तेनाभिरामा रम्या यावन्ममाकृतिरासीत्तावन्मोहोऽज्ञानमेव तमोऽन्धकारस्तेन हतेन मया पुरः स्थितं श्वभ्रं महारन्ध्रं न प्रेक्षितम्। 'रन्ध्रं श्वभ्रं वपा सुषिः' इत्यमरः। अद्य त्वकस्माद्भव आकस्मिको यः पातः पतनं तेन कातरा दीना मतिर्यस्य स तादृशोऽहं कं प्रार्थये याचे। कं श्रये शरणं श्रयामि। किं शक्नोमि पुनरुत्थातुमसामर्थ्यात्। किं करोमि। कृपां कुरु। आत्मने द्रुह्यतीत्यात्मद्रुट् तादृशं मां पाहि ॥ १३४ ॥

जात्यन्ध इति। हे विभो, जात्यन्धो जन्मतोऽन्धः पुरुषस्तत्रापि संकटे पथि मार्गे हस्तावलम्बं विना प्रविचरन्नवटे प्रपाते निपत्य चेद्विपदं मृतिं यातस्तत्रास्य कोऽपराधः। निन्दापात्रं न भवतीत्यर्थः। इदं तु निन्दापात्रस्थानम्। तं मां धिग्धिगस्तु। तं कम्। शास्त्रमेव चक्षुस्तृतीयं, तस्मिन्सत्यपि, प्रज्ञैव प्रदीपस्तस्मिंश्च सति, मार्गदर्शिनि सन्मार्गदर्शके स्निग्धे स्वामिनि च सत्यप्ययं शठो मादृशः श्वभ्रे पतत्येव ॥ १३५ ॥

त्रातेति। यत्र विषमेऽतिसंकटे पथि कश्चिदपि त्राता नास्ति, तत्र द्रोग्धारो वधका यदि जाग्रति वधार्थं तत्र कः प्रतिविधिः प्रत्युपायः शक्यक्रियः कर्तुं शक्यः। तत्र निन्दा कापि नास्तीत्यर्थः। यत्र तु त्वं विभुः करुणार्णवः कृपार्णवस्तथा त्रिभुवनत्राणे प्रवीणो दक्षस्तत्रापि द्रोग्धार आन्तराः षट् कामक्रोधाद्याश्चेत्प्रहरन्ति शरणागतं जनमेष परिभवः कस्य गर्हावहः। स्वामिन्, त्वमेवात्र विचारं कुर्वित्यर्थः ॥ १३६ ॥

किमिति। यस्य पुंसः पूर्णा महती या करुणा कृपा सैव पीयूषममृतं तेन सिक्तं मनो यस्य नास्ति, तेन शक्तेन समर्थेनापि पुंसा किम्। न किञ्चिदित्यर्थः। तथा यः परहितं परोपकारं कर्तुं न समर्थस्तेन कृपावता दयालुनापि पुंसा किम्। न किञ्चिदित्यर्थः। एतत्स्वयमेव पूर्वपक्षीकृत्योत्तरपक्षमाह—हे विभो, शक्तिरनश्वरी कृपा चापारा तवैवास्ति। वदान्यप्रार्थनीयामर्थिप्राप्तिमप्याह—यमभयादित्यादि। यमभयात्कृतान्तत्रासाद्भीतोऽपि निःशरणो दीनो जनो मल्लक्षणः पुरोऽग्रे विभोः प्राप्तः। अतः परं स्वामी स्वयमेव ज्ञास्यति। स्वयमेव निःशरणत्राणं विधास्यतीत्यर्थः ॥ १३७ ॥

भृङ्गारइति। कर एव पुष्करं कमलं तत्र प्रणयः प्राप्तिरस्यास्तीति तादृशे। भृङ्गारः। बिभर्ति शोभामिति। 'भृङ्गारः कनकालुका' इत्यमरः। कनकमयी गलन्तिका भृङ्गारः। हे स्वामिन्, तव कराम्भोजस्थे भृङ्गारे कनकगलन्तिकायां स्वादु शीतलं च पीयूषममृतमोषच्छिदे। ओषो दाहः। 'उष दाहे'। भविनां भवदावाग्निजो दाह ओषस्तस्य च्छिच्छेदनं तस्यै। सुलभं तव पुरस्तवाग्रेऽस्ति। 'देवं सुधाकलशसोमकरं' इति ध्यानोक्तेः। तथा स्वर्निम्नगानिर्झरे स्वर्गङ्गाप्रवाहे तव जटाजूटस्थे स्वादु शीतलं चामृतमस्ति। तथा तव सम्पूर्णे करुणारसेऽपि स्वादु शीतलं च पीयूषमस्ति। परिणतस्फारे परिणतः परिपूर्णः स्फार उल्लासो यस्य स तादृशे परिपूर्णे

तुषारत्विषि चन्द्रमसि स्वादु शीतलं च पीयूषमस्ति। 'देवंसुधाकलशसोमकरं' इत्युक्तेः। एतेषु सर्वेष्वपि स्वादु शीतलं चामृतमोषच्छिदे भक्तजनभवदावाग्निजदाहशान्त्यै तव विभोः पुरः स्थितम्। प्रणयी अर्थी च। अर्थादहम्। प्राप्तः अतः परं स्वामी स्वयमेव ज्ञास्यति। अवश्यमेव कृपां विधायामृतं प्रदास्यतीत्यर्थः॥ १३८॥

आर्तिरिति। शल्यनिभान्तःशल्यसदृशी आर्तिर्जन्मजरामरणभयार्तिः। सहृदयाग्र इतिशेषः। सहृदयाग्रे यावन्नाविष्कृता न प्रकटीकृता। तावद् हृदयं स्वान्तं दुनोति पीडयति। खलस्य शठस्य अग्रतोऽग्रे व्यक्ता प्रकटीकृता। इयमार्तिः केवलं वक्तुर्लाघवमेव सूते, न तु निर्वाहं यातीति हेतोः सर्वविदः सर्वज्ञस्य कृपापीयूषनिधिभूतस्य तव विभोः पुरो निवेदिता। यद्युक्तमासीत्तन्मया कृतमेव। अतः परं स्वामी स्वयमेव ज्ञास्यति। ममार्तिमवश्यं दूरीकरिष्यतीत्यर्थः॥ १३९॥

लेखाइति। लेखा देवाः। लिख्यन्ते चित्रे ध्यानार्थं लेखाः। 'लेखा अदितिनन्दनाः' इत्यमरः। बुधसदसि देवसभायां लेखा ब्रह्मविष्ण्वाद्या प्रसन्नाः सन्तु। तथा बुधसदसि देवसभायां पण्डितसदसि वा शुचेर्निर्दोषस्यागमस्य शास्त्रस्य लब्धिर्लाभोऽस्तु। निर्मलशास्त्राध्ययनमस्त्वित्यर्थः। मिथ्यादृष्टिरज्ञानं नास्तिकता च माभून्मास्तु। अनुपधिश्छद्मरहितो दीर्घकालोऽतिदीर्घकालस्थायी भोग ऐहिक आमुष्मिको वास्तु। 'व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। सर्वे सभ्या विपश्चितोऽनुवृत्तिं तदनुवर्तनं विदधत्वङ्गीकुर्वन्तु। तदप्येवमपि सति न्यायत औचित्यवशान्मुक्तिरात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्षो न भवति। यावन्न सम्यग्दर्शी विश्वसाक्षी स्वयं प्रमाता भवानीश्वरः श्रीशिवभट्टारको विचारं न रचयति। भवान् ईश्वर इति द्वे पदे वा। अथ च लिख्यन्त इति लेखा लेख्यपत्राणि प्रसन्नाः प्रसन्नानि निर्मलानि सन्तु। बुधसदसि पण्डितसभायां शुचेरागमस्य प्राक्तनभूर्जस्य लब्धिः प्राप्तिरस्तु। दृष्टिर्मिथ्या मा भूत्साक्षित्वमनुचितं मास्तु। भोगो भुक्तिरपि दीर्घकालोऽस्तु दीर्घकालिक्यस्तु। दीर्घकालोऽपि किंभूतः। अनुपधिः कालरहितः। अहतोऽन्येन केनापि न हतो न भुक्तः। तथा सर्वे सभ्या अनुवृत्तिमङ्गीकारमपि विदधतु कुर्वन्तु। एवं सत्यपीश्वरविचाराभावे न्यायनिर्वाहो न संभवतीत्यर्थान्तरम्॥ १४०॥

जानुभ्यामिति। हे ईश्वर परमेश, अन्तर्मनसीति विमृशन्नप्यहम् आर्त्या पीडया बलाद् वाचालितो वक्तुं विवशः कृतोऽस्मि। किं विमृशन् को जानुभ्यामुपसृत्य मेरुं मेरुगिरिमारोहति। तथा क उत्प्लुत्याकाशतलाच्छयामाकामुकबिम्बं चन्द्रबिम्बं गृह्णाति। न कोऽपि। तथा को बालिशभाषितैर्मूर्खवचनैर्विभोः स्वामिनः प्रसादं प्राप्तुं प्रभवति शक्नोति॥ १४१॥

अस्य स्तोत्रस्योपसंहारश्लोकावाह—धत्त इति। पुण्ड्रदेशोद्भव इक्षुः पौण्ड्रः। 'रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पौण्ड्रकान्तारकादयः' इत्यमरः। पौण्ड्र एव पौण्ड्रकः। तदुत्था शर्करा पौण्ड्रकशर्करापि चिरं चिरकालं चर्विता सती कण्ठे कटुतां धत्ते। तथा वरनायिकापि वराङ्गनापि भृशं सक्त्या सेविता वैरस्यं नीरसत्वं कुरुते। तथान्तर्मुहुर्मुहुर्मज्जनाद्गगनापगा गङ्गाप्युद्वेगं वैरस्यं जनयति यथा, तथा मधुरापि कथा दीर्घा सती विश्रद्धां श्रद्धाभावं वैरस्यं पुष्यतीति मया विश्रम्यते विश्रामः क्रियते॥ १४२॥

इत्थमिति। इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण तानि तान्यनन्तानि संततं लसन्ति यानि चिन्ताशतानि तैर्विशेषेणायतो यो व्यामोहस्तेन व्यसनं तेनावसन्नं सावसादं मनो यस्य स तादृशस्तेन मया

यद् दीनमाक्रन्दितम् । हे कारुण्यनिधे श्रीशिव, तद्धृदयेऽन्तर्निधेहि । हि यस्मात्कारणात्त्वमन्तरात्माखिलं सर्वमेवान्तःस्थं वेत्सि जानासि । अतः कारणात् प्रणयिनोऽर्थिनः शरणागतस्य ममातिक्रममतिप्रागल्भ्यपुष्टवचनोपन्यासरूपं क्षन्तुमर्हसीति शिवम् ॥ १४३ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्जिकायामेकादशं स्तोत्रम् ।

द्वादशं स्तोत्रम्

अथातस्तमःशमनाख्यं द्वादशं स्तोत्रमारभमाण आह—

मखैरिति । यो देवः श्रीशम्भुर्मखैर्यज्ञैरुपास्योऽपि नयज्ञसेव्यः । नयं जानन्तीति नयज्ञा नीतिशास्त्रनिपुणास्तैः सेव्यः । तथामयाः शीतातपाद्याः षडूर्मयस्तेभ्यो निष्क्रान्तः । 'शीतातपौ शरीरस्य लोभमोहौ च चेतसः । प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे षडूर्मिरहितः शिवः ॥' इत्युक्तेः । तथा प्रथितमुग्रं शूलं त्रिशूलं यस्य सः । तथा वेदाश्चत्वारः प्रिया यस्य सः । अश्रुतिवल्लभः । अश्रुतयो निष्कर्णाः सर्पाः वल्लभा यस्य स तादृग्भवति । तदेवं शिवमचिन्त्यशक्तिं ब्रह्माद्यैरप्यचिन्त्या शक्तिर्यस्य स तादृशं श्रयामि भजे । अत्र च यो मखैरुपास्यः स कथं यज्ञसेव्यो नेति विरोधः । अन्यार्थत्वेन तदभावे विरोधाभासः । तथा यो निरामयो नीरोगो भवति स कथमुग्रं शूलं रोगविशेषो यस्य स तादृशो भवति । तथा यो वेदप्रियो भवति स कथं न श्रुतयो वल्लभा यस्य स तादृग्भवतीति विरोधः । अन्यार्थत्वेन तदभावः ॥ १ ॥

स्तुत्य इति । हे विभो, स्तुत्यः स्तवनीयो जनेन त्वमेवासि । स्तुतिं करोति स्तुतिकृदपि त्वमेवासि । स्तुतिरपि त्वमेवासि । कर्तृकरणकर्मरूपस्त्वमेवासीत्यर्थः । त्वदृतेऽन्यत्किञ्चिन्नास्ति । तुः पक्षान्तरे । यदहं चर्मचक्षुर्मन्दबुद्धिस्त्वां स्तुत्या स्तुवे इयमविद्याज्ञानं पृथगर्थबुद्धिः । स्तुतिस्तुतिकृत्स्तुत्यरूपा मिथ्याबुद्धिः । सर्वथा सर्ववस्तुषु स्वतन्त्रः कर्ता त्वमेवेत्यर्थः ॥ २ ॥

स्तौम्येवेति । तत्राप्येवमेव सत्यहं त्वां यत्पुनः पुनः स्तौम्येव । तत्कुतः । यद्यस्मात्कारणात् अविद्याज्ञानं अविद्ययैवाज्ञानेनैव नश्यति । मुकुरे दर्पणे 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः । प्ररूढं संलग्नं रजः धूलिं प्रमार्ष्टुमपसारयितुं रजः धूलिं विना अपरोऽन्य उपायो नास्ति ॥ ३ ॥

विजृम्भमाण इति । प्रगल्भेऽत्युन्द्रटे तमस्यविद्यापर्यायेऽज्ञाने विजृम्भमाणे उल्लसति सति यथाहं भवासक्तमतिर्भवे संसारे आसक्ता मतिर्बुद्धिर्यस्य स तादृग्यथा स्थितोऽस्मि । तथा तस्मिंस्तमस्यज्ञाने हतेऽपि सत्युदितावबोध उदितज्ञानो भवासक्तमतिर्भवत्युत्पद्यतेऽस्माच्छिवादाकाशादिक्षित्यन्तं जगदिति भवः परमशिवस्तत्रासक्ता मतिर्यस्य स तादृग्भवेयम् ॥ ४ ॥

जगद्विधेयमिति । भगवन् हे षडैश्वर्यसम्पन्न । सुरैरसुरैश्चसहितं देवदनुजसहितं जगत् त्रैलोक्यं ते तव विधेयमाज्ञापालकं वचनेस्थितमित्यर्थः । 'विधेयो विनयग्राही वचनेस्थित आश्रवः' इत्यमरः । अस्ति । भवान् परमभट्टारकः शिव इत्यर्थ । कृपायाः करुणाया विधेयः वशवर्ती विद्यते । सा कृपा नमतां भक्तिविनम्रशिरसां भक्तानां दीनताया दैन्यस्य विधेया वशवर्तिनी । मम तु सा दीनता अयत्नेन अनायासेनोपनता एव प्राप्तैव ॥ ५ ॥

जाने इति । हे भगवञ्शम्भो, अवश्यं मम दीनस्यार्तिभङ्गे शैथिल्यं शिथिलतां कदापि नोपैषीति यद्यपि जाने, तथापि मया त्वं विज्ञप्यस एव निजाभिप्रायनिवेदने । किमर्थमित्याह—इति हेतोः । इति किमिति, ममैव कर्म शुभाशुभत्वे सन्दिग्धं, मयि विषये तव विभोः प्रसाद-प्रतिघः प्रसादेऽनुग्रहे प्रतिघोऽर्गलं मा भूदित्यतो हेतोर्विज्ञप्यस इत्यर्थः ॥ ६ ॥

पथ्यमिति । पथ्यं भवामयध्वंसि, तथ्यमप्रत्यावर्ति, भरक्षमं जगदुद्धारभारक्षमं, स्निग्धं प्रह्वजनेषु सपक्षपातं, मुग्धं मधुराक्षरं, मनोहरं जगच्चेतोहरं, सलीलं सविलासं, प्रसन्नं प्रसादगुण-युक्तं वच उन्मील्य प्रकाश्य, हे चन्द्रमौले सुधांशुवतंस, प्रपन्नं शरणागतमर्थान्मामाश्वासय ॥ ७ ॥

मधुद्रवार्द्रमिति । यदामुख इति । आमुखे आस्वादारम्भकाले कामधुरानीषन्मधुरान् विपाके पर्यवसाने रूक्षान् पर्यन्तविरसान् विषयान् शब्दादीन्यद्वजामः सेवामस्तदेतन्मधुद्रवेण क्षौद्ररसेनार्द्रं विषं गरलमाहरामो भक्षयामः । तथा तदेतत्पिण्डयान्नपिण्डेन निगूढं गुप्तं बडिशं मत्स्यवेधनं गिलामो निगिरामः । मत्स्यवदित्यर्थः । तदेतदन्तर्मध्ये निविष्ट उत्कटः कठिनः कण्टकानामोघो यस्य स तादृशं पौण्ड्रकपिण्डखण्डं पुण्ड्रदेशे भवः पौण्ड्रः पौण्ड्र एव पौण्ड्रकः इक्षुविशेषस्तस्य पिण्डस्तस्य खण्डस्तं ग्रसामहे । अज्ञानादिति शेषः सर्वत्र । 'रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पुण्ड्रकान्तारकादयः' इत्यमरः । हे विभो, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विदन्तोऽपि जानन्तोऽप्यत्र विषये वयं किं कुर्मः । वराकी जडा मतिः सक्तिं विषयेष्वासक्तिं न जहाति । युग्मम् ॥ ८, ९ ॥

मुक्तामया इति । भक्तिमन्तः सन्तः साधवः पण्डिताश्च । 'सन्सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः । ईशस्य परमेशस्य हृदि पदं स्थानं कथं भजन्ति । यथा हारा ईशस्य प्रभोर्हृदि पदं कुर्वन्ति । भक्तिमतः सतो हारांश्च विशिनष्टि—सन्तः किंभूताः । मुक्तामयाः मुक्त आमयो जन्म-जरामरणत्रासरूपो रोगो बाह्यो रोगो वा यैस्ते । तथा दीर्घा गुणा वैदुष्यकवित्वदाक्षिण्यादयो येषां ते । तथा सुवृत्ताः सदाचाराः । तथा नैर्मल्यं निर्दोषत्वं दधतः । तथा फलानां सुकृत-फलानामृद्धिं दधतः । हाराश्च किंभूताः । मुक्तामया मौक्तिकप्रचुराः । तथा दीर्घा गुणास्तन्तवो येषां ते । तथा सुष्ठु वृत्ता वर्तुलाकाराः । तथा फलानां मुक्ताफलानामृद्धिं च दधतः । तथा भक्तिमन्तो विच्छित्तियुक्ताः । शब्दश्लेषोऽलङ्कारः ॥ १० ॥

गुहाश्रित इति । हे भगवन् । कदेति शेषः । भवत्प्रसादाद् भवानिव कदाहं भवेयम् । अहं किंभूतः । गुहाश्रितः गुहां देवखातबिलं तपोऽर्थमाश्रितः । तथा धर्मे सुकृते रतिर्यस्य । पुनः किंभूतोऽहम् । गिरीशप्रथां दधानः वाचस्पतिरितिख्यातिं दधदित्यर्थः । पुनः किंभूतोऽहम् । सत्ये सत्यवचने आहिता प्रीतिर्येन सः । पुनः किंभूतः । अहीना भक्तिः श्रीशिवोपासनासक्ति-र्यस्य सः । भवानपि कथंभूतः । गुहेन कुमारेणाश्रितः । तथा धर्मे वृषे रतिर्यस्य सः । 'वृषोहि भगवान् धर्मः' इति श्रुतेः । गिरीश इति प्रथां दधानः । पुनः किंभूतः । सती दक्षसुता । या हिमाचलगृहे जन्म गृहीत्वा पार्वती जाता । तस्यां पार्वत्यामाहिता प्रीतिर्येन सः । अहीनैर्भुज-गेन्द्रैर्वासुक्यादिभिर्भक्तिः शोभा यस्य सः । अत्रापि शब्दश्लेषः ॥ ११ ॥

यमेकमिति । हे उग्र विभो, यमेकं हरिमाराध्य महारिसङ्गमान्महान्तश्च तेऽरयः शत्र-वस्तेषां सङ्गमस्तस्मान्निःसंशयं भक्तजनः प्रमुच्यते मोक्षं लभते । तस्यैव हरेर्भवत्प्रसादतः कथं महारिसङ्गम उपस्थितः । महान्तोऽरा आश्रया यस्य तन्महारि । यद्वा महच्च तदरि चक्रं सुदर्श-नाख्यं तेन सङ्गमः कथं भवत्प्रसादादुपस्थितः प्राप्तः । 'हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय

पदयोः' इत्यत्र वृत्ते श्रीशिवभट्टारकेण प्रसन्नीभूतेन विष्णवे सुदर्शनाख्यं चक्रं दत्तमिति पौराणिकाः। अत्रापि शब्दश्लेषेणाश्चर्यवर्णनम् ॥ १२ ॥

सुदुर्लभ इति। हे विभो, भवति भवद्विषयेऽयं ग्रहो हेवाको भक्तिसक्तिः। ममेति शेषः। मम पुनः पश्चात्सुदुर्लभः सुष्ठु दुर्लभः। मुखेऽपि ममासौ सरस्वती वाणी सन्निहितास्ति। हे स्वामिन्, त्वं चेदं क्षेत्रं मल्लक्षणमतीव पावनं शुचितरं कुरु। उचिते युक्तेऽर्थिन्यर्थान्मयि किमर्थं विलम्बसे विलम्बं करोषि। अथ च ग्रहो ग्रहणमुपरागापरपर्यायः सूर्यग्रहणसंभवः (समयः ?)सुदुर्लभः भवति। असौ सन्निहिता सरस्वती नदी च। अतीव पावनं कुरुक्षेत्रं तीर्थविशेषश्च। एतानि वस्तूनि सङ्घटितानि। अर्थी च समुचितः सन्निहितः। अत्रावलेपो न युक्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

न कस्येति। सौभाग्यवती सुभगत्वयुक्ता, भाग्यवती भाग्ययुक्ता चासौ सरस्वती वाणी कस्य न चमत्कृतिं चमत्कारं दिशति ददाति। कुतस्तदित्याह—विभुमिति। या सरस्वती विभुं श्रीशिवमपि सम्मुखं यत्करोति। किंभूतमपि। जिताः क्लेशा अविद्यादयः पञ्च येन स तादृशस्तम्। पुनः किंभूतम्। स्थिरमजिनं कृत्तिवासो यस्य स तादृशस्तम्। पुनः किंभूतम्। अस्थिराजिनम्। अस्थिभी राजतेऽस्थिराजी तम्। अत्र सौभाग्यवती असौभाग्यवती, स्थिराजिनमप्यस्थिराजिनमिति विरोधः। अन्यार्थत्वे विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ १४ ॥

अनुज्झितेति, पुरेति, कथमिति। यः प्रभुः श्रीशिवः प्रसन्नः सन्ननुज्झितेत्यादिविशेषणविशिष्टान् देहिनः करोति कुपितश्च। प्रसन्नपक्षे देहिनः किंभूतान्। अनुज्झितात्यक्तानुत्तमात्युत्तमा दानसम्पद्यैस्ते तादृशान्। पुनः किंभूतान्। सदाखिलज्ञान्। तथाविहीनचेतसोऽखण्डितचेतसः। पुनः किंभूतान्। अकालेत्यादि। न कालभीत्या यमभयेन ग्लपिता बाधितास्तानकालभीतिग्लपितान्। कुपितपक्षे देहिनः किंभूतान्। अनुज्झितानुत्तमदान्। 'णुद प्रेरणे' धातुः। अनुत्तः केनाप्यप्रेरितो मदो मदाख्यं व्यसनम्। अनुज्झितोऽत्यक्तोऽनुत्तो मदो यैस्ते तांस्तादृशान्। मदाख्यव्यसनयुक्तानित्यर्थः। तथासंपदः सम्पद्रहितान्। पुनः किंभूतान्। अखिलज्ञानेन विहीनं चेतो येषां ते तादृशास्तानखिलज्ञानविहीनचेतसः। पुनः किंभूतान्। अकालेऽनवसरे या भीतिस्तया ग्लपितान् ग्लानिं प्रापितान् ॥

रूढः कुरङ्गेण शशेन सौहृदं सौहार्दं यस्य स तादृशो यो विधुश्चन्द्रो वनान्तरे जलान्तरे समुद्रस्य पदं स्थितिमकरोदिति। तथा यो रविः सूर्यश्च सदा परेषां स्वापं हरतीति तादृशोऽभूत्। तयोश्चन्द्रसूर्ययोः समत्वं यस्य दृशि भासते। समत्वं समदृक्त्वम्। सह मया लक्ष्म्या वर्तेते यौ समौ। तयोर्भावः समत्वं च। अथ च पुरातीतयुगे रूढः कुरङ्गैर्मृगैः सह सौहृदं संवासो यस्य स विधुर्विष्णुः। रामरूप औचित्यात्। वनान्तरेऽरण्यान्तरे चिरं चतुर्दशसमाः पदं स्थितिं चकार। तथा परस्वं परद्रव्यं हरतीति परस्वापहरोऽपि यो भवति पुरुषस्तयो रामभद्रपरद्रव्यापहरपुरुषयोरुपरि यस्य श्रीशिवस्य दृशि समत्वं भासते। समदृष्ट्या तौ विलोकयतीत्यर्थः। 'विधुर्विष्णौ चन्द्रमसि' इत्यमरः, 'जीवनं भुवनं वनम्' इति च ॥

हे विभो, सदा दयाविधेयस्य कृपायत्तस्य तस्य पूर्वोक्तसमदृष्टित्वस्य तव सतां विदुषामसेव्ये कुत्सिते पथि पातितोऽज्ञानेनात्मा यैस्ते तादृशेषु दयापात्रेष्वस्मदादिषु कथं मनागनादरस्तिरस्कारः प्रवर्तताम्। तिलकम् ॥ १५-१७ ॥

विभो इति, घनेति, तरङ्गिताङ्ग इति। हे विभो, भवदेकध्यानादग्रतः प्रसन्नं भवन्तमालोक्यानन्दसुधया परमानन्दामृतेन परिप्लुतः सिक्तो भवेयम्। अहं किंभूतः। भवद्भाले भवतो ललाटे विलोचनानलान्नेत्राग्नेः प्रसूतैर्धूमैरिव साश्रुनेत्रः। आनन्दाश्रुरूपकमिदम्। पुनः किंभूतः। तव दक्षिणेक्षणे दक्षिणनेत्रे प्ररूढो यश्चण्डद्युतिः सूर्यस्तस्य भाभरैर्दीप्तिपुञ्जैरिव सस्वेदलवः। अत्रापि स्वेदः सात्त्विकभावः॥

पुनः किंभूतः। भवाच्छिखण्डे भवत्किरीटे यः खण्डेन्दुस्तस्य करोत्करैः किरणसमूहैरिव घनाः प्ररोहन्तः पुलकाङ्कुरा यस्य स तादृशः। पुनः किंभूतः। तुहिनौघवच्छीतला या त्वदुत्तमाङ्गगङ्गा तज्जलैरिव सदन्तवीणः। शीतवशाद्दन्तटणत्कारो दन्तवीणा। सदन्तटणत्कार इव।

पुनः किंभूतः। भवदङ्गदे भवत्केयूरे स्फुरन्तो ये फणीन्द्रा वासुकिप्रभृतयस्तेषां ये फूत्कारपवनास्तैरिव तरङ्गिताङ्गः कम्पिताङ्गः। कम्पो हि सात्त्विको भावः। तिलकम्॥ १८-२०॥

अथ श्रीशिवभट्टारकस्य पूजार्हचन्दनपुष्पगन्धादीनां धन्यत्वं वर्णयन्नाह—

यद्देष इति। एष चन्दनद्रुमोऽहं प्रभोः श्रीशिवस्य प्रियः स्यामिति हेतोः परशुना क्षतव्यथां यतः सेहेऽत एव गिरिजापतेः श्रीशम्भोः साम्यं ध्रुवं बिभर्ति। कथमित्याह— किंभूतश्चन्दनद्रुमः। भुजङ्गैरालिङ्गिता कन्धरा मूलादूर्ध्वं पृथुशाखा यस्य सः। शम्भुरपि नागालिङ्गितकन्धरः॥ २१॥

यदिति। सुमनसः पुष्पाणि पूजार्थं पुष्पावचयसमये धृता नखान्तानां निपातेन पीडा याभिस्ताः सुमनसो यत्प्रभोः शम्भोः प्रीतिं चक्रिरे, एतदेव सुमनसां पुष्पाणां सुमनस्त्वं पुष्पत्वं सुशोभनं मनो यासां ताः सुमनसस्तत्त्वं च। अगुरुर्दहनेऽग्नावपि निपत्य, स्वामिनः शम्भोः सेवाहेवाकं न औज्झन्न तत्याज, तदगुरोरपि न गुरुरगुरुस्तस्यापि गौरवं भवति॥ २२॥

आदाविति। हे स्वामिन्, आदौ परामुत्कृष्टामृजुतां सरलत्वं प्रदर्श्य, अथानन्तरमन्तः प्रविश्य निशितास्तीक्ष्णाः शरा इव खला दुर्जनाः यद्वनेषु विपिनेषु स्थितान् कृतिनो विदुषो न तुदन्ति व्यथयन्ति, त्वत्पादाम्बुजरजःकणोद्भूतः स प्रसादः॥ २३॥

त्वन्नाम इति। हे स्वामिन्, पामरजनैर्नीचजनैरपि हालाकादौ[1] गीयमानं भक्तिभाजां हृदि यमानन्दं समर्पयति। नूनं सम्भावनायाम्। अखिलेष्वङ्गेष्वमान् न मान्वर्तमानोऽसावानन्दो बहिः पुलकच्छलेन रोमाञ्चव्याजेनोद्भिद्यते निर्याति॥ २४॥

घर्म इति। हे भगवन्, घर्मः स्वेदः। प्रकम्पः। पुलको रोमाञ्चः। गिरि वाण्यां गद्गदत्वं स्खलद्गतित्वम्। इत्यादयोऽवस्थास्त्वदेकध्यानेन त्वद्दर्शनादमन्दमानन्दं दधतां कृतधियां धीमतामन्त्यक्षणे निर्याणसमये प्रभवन्त्युत्पद्यन्ते परेषामकृतधियां पापिनामेता अवस्था अन्तकभयाद्यमभयान्मृत्युक्षणे भवन्ति॥२५॥

अन्त्यक्षण इति। हे भव शम्भो, भवच्चरणाब्जसेवायां हेवाकिनो धन्याः सुकृतिनो जनाः, केचन विरला, अन्त्यक्षणे मृत्युक्षणे भवद्गणत्वं भवत्प्रमथत्वमवाप्य, कण्ठपीठे निजे भोगीन्द्रभोगं नागेन्द्रफणं दधति। अन्ये पुनः पापिनः कृतान्तस्य यमस्य करमध्यप्रान्तकृष्टम्॥२६॥

---

१. हालाको देशभाषानिबद्धो गीतविशेषः।

भीतेति। हे देव। किल निश्चये। भीतानां जनानामभयार्पणविधाने कालस्य समयस्य नाशः क्षेपस्तं कालनाशं कालक्षेपं, क्षणमपि कर्तुं यो भवान्न क्षमते। अहं वेद्मीति शेषः। तस्य तव। श्वेतस्य श्वेताख्यनृपतेः, यदयं मा भैषीरित्यभयवचनामृतं तदर्पणविधौ कालस्य यमस्य नाशस्तत्र क्षमत्वं कथं न्वभवत्। कालः समयो यमश्च। भीतत्राणार्पणे कालनाशाक्षमस्यापि कालनाशक्षमत्वं श्वेताभयदान इत्यद्भुतमित्यर्थः ॥ २७ ॥

भङ्क्तुमिति। हे देव, दीव्यति परमपदे देवस्तत्सम्बोधनम्। कृपामृतेन कोमलो यस्तव दृष्टिपातः। प्रह्वजनस्येति शेषः। प्रह्वजनस्य काममभिलाषं भङ्क्तुं क्वचिदपि न पारयत्येष एव तव दृष्टिपात उद्दामरोषेण प्रचण्डरोषेण परुषः सन्, हेमहेश परमशिव। किलेत्यागमे। कामभङ्गं कामस्य मदनस्य भङ्गस्तं पूर्वं पुरा कथमङ्गीचकार। कामोऽभिलाषो मदनश्च। यः प्रह्वजनस्य कामभङ्गं नाङ्गीकरोति, स कथं कामभङ्गं करोतीत्यद्भुतम् ॥२८॥

किमिति। मेरुर्हेमाद्रिः। मन्दरो मन्थाद्रिः। तत्प्रभृतयो गिरय एते शैला अत्युन्नतैः शिरोभिः शिखरैरखर्वमनल्पं गर्वमहङ्कारं किं दधति। तच्छिरसामौन्नत्यस्य चलत्वादित्यर्थः। तुः पक्षान्तरे। तुषारकिरणाभरणस्य शम्भोः प्रणामेन प्रह्वं नम्रं मामकमुत्तमाङ्गं शिरो जगज्जयति। शम्भुप्रणामनम्रं मामकं शिर एव कृतार्थं धन्यमित्यर्थः ॥ २९ ॥

गात्रेति। हे भव, भवत्युत्पद्यतेऽस्माच्छिववार्द क्षित्यन्तं समस्तमिति भवस्तस्यामन्त्रणं हे भव नाथ, गात्रान्तरेभ्यः करचरणादिभ्योऽतिशयं शंसतीति तादृगुत्तमाङ्गमित्युच्चैर्नाम शिरो यद्बिभर्ति, तदस्य नाम नमस्यं युज्यत एव। अत्र हेतुमाह—किंभूतस्य। भवतश्चरणारविन्दपीठे पादपीठे प्रणामपरस्य प्रणामपरायणस्य। अत एव तस्योत्तमाङ्गत्वं न तु गात्रान्तरातिशयेनेत्यर्थः ॥ ३० ॥

किमिति। हे स्वामिन्, श्रिया परमैश्वर्यकैवल्यरूपया घनः श्रीघनोऽपि त्वमसुगतोऽसून् प्राणांस्त्रिजगतोऽपि गतोऽसुगतोऽसि। अथ च यः श्रीघनो बुद्धः स कथं सुगतो न भवतीति विरोधाभासः। 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः। मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता' इत्यमरः। उमाधवः उमाया पार्वत्या धवो वल्लभस्त्वं जनार्दनतां जनानर्दयति पीडयतीति जनार्दनस्तद्भावं कदाचन जातु न बिभर्षि। अथ च किमु प्रश्नान्तरे। माधवो हरिरपि सन् जनार्दनतां विष्णुत्वं न बिभर्तीति विरोधाभासः। हे विभो, त्वं गजारिर्गजस्य गजासुरस्यारिर्घातकोऽपि नगजायाः पार्वत्याः प्रियो वल्लभः किं भवसि। यो गजारिः स कथं न गजाप्रियो गजस्याप्रियो रिपुर्गजाप्रिय इति विरोधाभासः। यदि वा पक्षान्तरे। भवतः स्वातन्त्र्यं स्वतन्त्रकर्तृत्वमेव भवति किमन्यद् ब्रूमहे ॥ ३१ ॥

अरुणेति। हे स्वामिन्, अलमत्यर्थमरुणा लोहिता चासौ द्युतिर्दीप्तिस्तया ग्लपितो ग्लानिं प्रापितः शीतदीधितिर्येन तत्। तथा प्रकटीकृतं सुप्रकाशीकृतमलिकं ललाटं येन तत्। 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः। एवंभूतं प्रभातमिव भवतो भाललोचनं विलोक्य मे मम विषमं कठिनं तमोऽज्ञानरूपमन्धकारं शमं कदा नु भजते। प्रभातमपि किंभूतम्। अरुणस्यानूरोः सूर्यसूतस्य द्युत्या ग्लपितो ग्लानिं प्राप्तः शीतदीधितिर्यत्र तत्। पुनः किंभूतम्। प्रकटीकृतालिकमलं प्रकटीकृता अलयो भ्रमरा येषु तानि प्रकटीकृतालीनि कमलानि पद्मानि यत्र तत्। यथा प्रभाते समस्तं तमः शाम्यति तथा ममापीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां

लघुपञ्चिकायां तमःशमनं नाम द्वादशं स्तोत्रम्।

त्रयोदशं स्तोत्रम्

अथातः प्रभुप्रसादनाख्यं त्रयोदशं स्तोत्रमारभमाण आह —

अथेति। अथानन्तरममन्थराणि प्रगल्भानि पदानि यासां तास्तादृशीभिः। तथा सुजनानां विपश्चितां भक्तजनानां मनांस्येव मृगास्तेषां वागुरा मृगबन्धनपाशरूपास्ताभिः। सुजनचेतोबन्धनैकहेतुभिरित्यर्थः। आभिर्वक्ष्यमाणाभिर्नुतिभिः स्तुतिभिरभयदं जगदभयप्रदं तथारातीनां शत्रूणामान्तराणां कामक्रोधादीनां बाह्यानां च रिपूणां यत्क्षपणं दूरीकरणं स एव पणो नियमस्तत्र प्रवणं लग्नं विभुमीश्वरमादराद् भक्त्युल्लासादरेण प्रसादयामः प्रसन्नं कर्तुमिच्छामः॥ १॥

सुरेति। सुराणां देवानां यानि मुकुटानि तान्येव विटङ्कानि बहिःस्था अग्रभागास्तेषु रत्नरोचिर्भिः खचिता ये नखाङ्कुरास्तेषां केसराणि तैरभिरामं पुरहरचरणारविन्दयुग्मं श्रीशम्भुपादाब्जयुगलं हे भक्तजनाः शिरसि विधत्त कुरुत। किरीटवाञ्छया किम्। न किञ्चिदित्यर्थः॥२॥

कलयत्विति। हे भावुकजनाः, अभग्ना क्षणमपि न भग्ना वृत्तिर्यस्याः। सर्वदैव कण्ठस्थितेत्यर्थः। एवंभूता हरहर शङ्करशङ्करेति प्रहर्षोत्कर्षेण या सूक्तिः शोभनोक्तिः सैव भवतामनल्पकण्ठभूषणस्थितिं कलयतु। करोत्वित्यर्थः। अमलमौक्तिकदामकामनाभिः स्वच्छमौक्तिकदामकामनाभिः किं भवति॥ ३॥

कलयतेति। हे भक्तलोकाः, यूयं मणिकुण्डले मणिमये कुण्डले कर्णभूषणे वलये वा "कुण्डलं कर्णभूषायां, पाशेऽपि वलयेऽपि च। काञ्चनद्रुगडूच्योः स्त्री" इति मेदिनी। अवलेपं तिरस्कारं कलयत। निर्मलमल्लिकानां जातीकुसुमानामभिलाषं श्लथं कुरुत। हरचरणनुतिक्रमैः शम्भुस्तुतिक्रमैः नवकर्णावतंसलीलां कुरुत॥ ४॥

इहेति। इह लोके विशेषेण हतो निःशेषीकृतो भयोपतापो भवमरुभ्रमो येन स तादृक् तम्। तथा आपज्जन्मजरामरणत्रासविपत्तस्याः प्रकर्षेण शमे समर्थस्तम्। तथा अनर्थाः पञ्चाविद्यादयः क्लेशास्तेषां नाशे कारणभूतम्। तथा अमानवीयो लोकोत्तरो प्रमदः प्रहर्षः परमानन्दरूपस्तस्य विधाने परो रतस्तं हरं श्रीशिवभट्टारकं परं परादपि परमत्युत्कृष्टं परं केवलं को मतिमान् धीमान्न नमति। अपि तु सर्वः॥ ५॥

त्रिजगतीति। त्रिजगति यो भाग्यवान् शशिकलशिखामणिप्रणामार्थी चिरस्थिरं बहुकालं निजं शिरो बिभर्ति, स एको दुरितक्षतौ सकलपापक्षये शिक्षितो निपुणः। बुधानां पण्डितानामैहिकस्थित्या, परत्र च बुधनां देवानां धुरि त्रिजगत्यपि त्रिलोकमध्येऽपि स्थितिं भजति॥ ६॥

स इति। हे जगदीश त्रैलोक्यनाथ, स तव शक्तिपातोऽदूरमनुग्रहदृष्ट्यवलोकनरूपशक्तिपातो जयति सर्वोत्कृष्टो वर्तते। स क इत्याह—यद्यस्मादुक्तिदेवी वाग्देवी असमा चमत्कृतिप्रसूतिर्लोकोत्तरा चमत्कारप्रसूतिर्यस्मात्स तादृक् तं तथाविधं रसं वितरति ददाति। तं कमित्याह-येनाद्भुतेन रसेन कां च न सिद्धिमपि तु सर्वामष्टविधामणिमादिकमेति प्राप्नोति। अथ च रसविद्भिषक् प्रवरस्तं रसं मृतं पारदं वितरति, येन रसेन काञ्चनसिद्धिं हेमसिद्धिमेति प्राप्नोति।

तथा चायुर्वेदविदः—'कृष्णाभ्रं मारितं येन पारदं च वशीकृतम् । द्वारमुद्घाटितं तेन कुबेरस्य यमस्य च ।' इति । 'अथ चपलो रसः सूतश्च पारदे' इत्यमरः ॥ ७ ॥

इहेति । अपरेऽन्ये लोकाः प्रणतिकृतां क्वापि स्वस्मादधिके पुंसि प्रह्वशिरसां पाभरणां नीचजनानां प्रभुप्रतीतिमयं नः प्रभुः स्वामीति प्रतीतिस्तां विदधतु । तु पक्षान्तरे । इह सकलेऽपि जगति, हे अमृततेश मृत्युञ्जय, भवन्तं प्रभुमृते मृत्युभीतिभङ्गे यमभयनाशे कश्चिन्न प्रभवति समर्थो भवति ॥ ८ ॥

पूर्ववृत्तोक्तमेव दर्शयति—

वियदिति । इयति महति महस्विमण्डले तेजस्विमण्डलेऽपि वियदाकाशं श्रितवति विषमतमतमःप्रबन्धमतिविषमान्धतमसमन्धं जगदनष्टचेष्टं पूर्णसफलचेष्टमगदं नीरोगं कर्तुं क इष्टे समर्थो भवति । कमन्तरेण । घृणिमन्तं सूर्यमन्तरेण । यथैतत्तथैव मृत्युभीतिभङ्गे एक एव श्रीमृत्युञ्जयः प्रभवति नान्य इत्यर्थः । 'वियद्विष्णुपदम्' इत्यमरः ॥ ९ ॥

शकलितमिति, प्रभवतीति । हे महर्षभाधिरूढ शम्भो । किंभूत । शकलितकलितर्ष । शकलितः कलितर्षः कलियुगलिप्सा येन तस्य सम्बोधनम् । तथा सह प्रकर्षेण सर्वोत्कृष्टत्वेन वर्तते यः सः तस्यामन्त्रणम् । तथा प्रकटितो हर्षः परमानन्दो येन स तस्य सम्बोधनम् । एवंविध विभो । अदभ्रमनल्पमभ्रसिन्धुद्रवधवलं गङ्गाप्रवाहवद्धवलं भवलङ्घनं संसारोल्लङ्घनं प्रसादं प्रसन्नताजनितमनुग्रहं दिश देहि ।

हे शम्भो, भवति त्वयि विभौ प्रसादेन रम्यां दृशं दृष्टिं दिशति सति, अरीणां शत्रूणां कामादीनां बाह्यानां वा विभा दीप्तिर्न प्रभवति समर्था भवति । दृष्टं चैतत् । हि यस्मात् कारणात् सवितरि सूर्ये प्रकाशं वितरति दास्यति सति, विभावरीणां रात्रीणां महिमप्रभवः प्रभावोत्पत्तिर्न भवति । विभाति चान्द्रेण महसा विभावरी रात्रिः । युग्मम् ॥ १०, ११ ॥

समुचितेति । सम्यगुचिता या सदसतोर्विचारचर्चा तस्यामतिशयेन चतुरः कलौ तुरीययुगे, स कः पुमान् मदन्योऽस्ति । अहमेव चतुरतरोऽस्मीत्यर्थः । स क इत्याह—यो मल्लक्षणः परमत्यर्थमशिवमसुखदं भवं संसारं विजेतुं विशेषेण जेतुं, कथाशेषतां प्रापयितुं, भवत्यस्माच्छिवादिक्षित्यन्तमिति भवस्तं परमशिवं परमेश्वरं चिदानन्दघनस्वरूपं सेवते ॥ १२ ॥

शमयितुमिति । विवृद्धमग्निमग्निरेव शमयितुमलं समर्थः । हन्त हर्षे आश्चर्ये वा । विवृद्धं महद्धिमं हिममेव हन्ति । पय एव पयः । अग्निना तप्तमित्यौचित्यात् । अत्यन्तं पीतं जलं जरयति । भवः श्रीशिव एव भयं संसारं भक्तिभाजां नृणां हरति । मुक्तिं वितरतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

वरमिति । भिक्षैव भैक्ष्यम् । स्वार्थे ष्यः । भैक्ष्येण वृत्तिर्भिक्षाजीवनं वरं भवति । कस्य । नरस्य । किं भूतस्य । अजिनं मृगचर्म जटाश्च बिभर्तीति तादृशस्य । पुनश्च किंभूतस्य । कपालं घटशकलं हस्ते यस्य स तादृशस्तस्य न त्वीश्वरपादकमलसेवाविरहवती चक्रवर्तिमूर्तिर्वरं भवति ॥ १४ ॥

मरुभुवीति । उष्णरश्मीत्यादि । सूर्यांशुनिकरसन्तप्तमूर्तिरेको भेको मण्डूको मरुभुवि वरमस्तु । हे विभो, भवचरणोपासनानुराग एव भागधेयं तस्य ग्लपनं हानिः सैव विपत्तया विकलीकृतो जडीकृतो मनुष्यो न वरम् ॥ १५ ॥

कलिमलेति । हे हतदर्प । हतो दूरीकृतो दर्पोऽहङ्कारो व्यसनानां मध्ये एकमुद्भटं व्यसनं येन तत्सम्बोधनम् । कलिमलपटली तुरीययुगमलसंहतिर्दर्पणाभां निर्मलमुकुरसदृशीं मतिं बुद्धिं मलीमसत्वं मलिनत्वं नयति । इत्यतो हेतोर्हे शितिगल नीलकण्ठ, शीतरश्मिरश्मिप्रसरसितं चन्द्रांशुप्रसरधवलं प्रसन्नं तव रसितं शब्दमभयवाक्यमर्थयामः काङ्क्षामहे ॥ १६ ॥

नुतिमुखरेति । हे विभो, नुत्या स्तुत्या मुखरं प्रगल्भं मुखं यस्य स तादृशः पुरुषो मम प्रसादपात्रं मत्कृतप्रसादपात्रं भवतीत्येष कृतान्तः सिद्धान्तो निश्चयस्ते तव यदि भवति, अवश्यमेतस्य स्तुतिपरस्य प्रसादं करोमीति यदि ते निश्चयो भवति, तदा ग्रस्तसप्तलोकजनोऽप्येष कृतान्तो यमो मे मम न प्रभवति समर्थो भवति । त्रासयितुमित्यर्थः । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु ।' इति कोषः ॥ १७ ॥

तवेति । हे विभो, रविजो यमः । पुराणि त्रिपुरासुराः । अन्धकश्चासुरः । तेषां प्रमाथे संहरणे क्रमेण दृशि दृष्टौ तृतीयलोचने विशिखे शरे विष्णुरूपे त्रिशिखे त्रिशूले च कृतास्थो विहितस्थितिरन्तकदाहे भाललोचनस्थस्त्रिपुरदाहे शरीभूतविष्णुमुखाग्रस्थोऽन्धकसंहारे त्रिशूलस्थस्तव विभोः परिचरणे सेवायां परस्तत्परो योऽग्निः पुरा पूर्वमाविरासीत् प्रकटीबभूव, स कृशानुरुत्तमं दैवतमष्टास्वपि मूर्तिषूत्तमो देवो जयति सर्वोत्कृष्टो वर्तते ॥ १८ ॥

समजनीति । हे चन्द्रमौले, जनितस्पृह उत्पादिताभिलाषः । त्वद्भक्त्यासक्तजनस्येत्यर्थः । स एवैकः कृष्णसारो मृगविशेषस्त्रिजगति त्रैलोक्ये समजनि समुत्पन्नः । क इत्याह—उपकरणेति । यस्य धन्यस्य कृष्णसारस्य कृत्तिश्चर्म तव चरणारविन्दयोरास्तरणं तस्य क्रमेण शयनसुखेनोपकरणपदं साधनास्पदं जगाम ॥ १९ ॥

जनिरपीति । हे भव विभो, विनीता विनयवती रीतिः सौभाग्यं यस्याः सा जनिरपि जन्मापि भुजङ्गमपुङ्गवस्य भुजगेन्द्रस्य तस्य जगति त्रिजगति जयिनी सर्वोत्कृष्टवती भवति । तस्य कस्येत्याह—शस्यं प्रशस्यं मणिकटकं रत्नकङ्कणमुदस्यापास्य यस्य फणीन्द्रस्य भोगो वपुर्भवत्केयूरविच्छित्तिमेति प्राप्नोति ॥ २० ॥

अलभत इति । हे भगवन् परमशिव, प्रशस्तो गौः पुङ्गवः । पुङ्गवानामिन्द्रो महावृषभः स एकस्त्रिभुवनसीमनि त्रिजगद्वर्त्मन्यप्यवन्ध्यं सफलं धन्यं जन्मालभत । स क इत्याह—हे भव शम्भो, विनयानतेन विनयप्रह्वेण येन महावृषभेण । शवति यात्यस्माज्जीव इति शवः । शवभस्मना रूषितो व्याप्तस्तव विभोश्चरणः शिरसि निजे धृतः ॥ २१ ॥

जनयतीति । हे भव शम्भो, कुम्भौ कुम्भाधोभागौ दंष्ट्रे वास्य स्त इति कुञ्जरो हस्ती, त्रिभुवने पूजितस्य तस्य गजेन्द्रस्य जनिरपि जन्मापि केषां न भक्तजनानां स्पृहामभिलाषं जनयति । अपि तु सर्वेषाम् । तस्य कस्येत्याह—यस्य कृत्तिश्चर्म भवदम्बरडम्बरं भवद्वस्त्राटोपं बिभर्ति ॥ २२ ॥

स जयतीति । हे जितान्तक शितिकण्ठ, स्वजन्या स्वजन्मना पवित्रितो मुग्धो रम्यो दुग्धसिन्धुः क्षीरोदधिर्येन स तादृशः कालकूटो विषविशेषो जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । स क इत्याह—यः कालकूटस्तव कवलभुवं ग्रासपदवीं जवाद्वेगेनावाप्तः संस्तव कण्ठपीठं कलयति भूषयति ॥ २३ ॥

परिणतेति । पूर्णशरच्चन्द्रमनोहराभं विभोः श्रीशम्भोर्मुखं तथानभ्रनभोनिभो

गतमेघाकाशतुल्यो नीलो गलश्चेति शुभं शुभकारि उभयं द्वयमभिन्ने समवेते ये त्रिदशधुनीयमुने गङ्गायमुने ते विडम्बयत्यनुकरोतीति तादृशं वन्दे ॥ २४ ॥

हिमेति। हिमं च हिमकरश्चन्द्रश्च तद्वद्धारि मनोहारि गाङ्गं जलं तथा कुवलयकान्ति नीलोत्पलाभं यमुनाम्भश्चेति शुभदमुभयं वरमुत्कृष्टं प्रभुप्रसादान्प्रपद्ये प्राप्स्यामि। कदेति शेषः। किमिव। हारिहरं हरिहरसम्बन्धि वपुरिव ॥ २५ ॥

धृतेति, कवलितेति। हे शिव, सपदीदानीं त्वयि पराङ्मुखे सति यथैवंविधोऽहं त्वमिवास्मि, तथैव त्वयि सम्मुखे त्वमेवाहं जातु भवेयम्। कदा भविष्यामीत्यर्थः। उभावपि विशेषणैर्विशिनष्टि—अहं किंभूतः। धृताः कुटिला अधमाः कलाः शिल्पानि येन सः। तथान्धकारी अज्ञानरूपान्धकारवान्। तथा रुचितः प्रियो मलीमसो भोगिनां भोगयुक्तानां भोगैर्विषयैः सह योगो यस्य सः। पुनः किंभूतः। महांश्चासौ कलिकालस्तुरीयकालस्तेन भग्ना शक्तिर्यस्य सः। श्रीशिवपक्षे त्वं किंभूतः। धृता कुटिला वक्रा कला चन्द्रकला येन सः। अन्धकस्यासुरविशेषस्यारिरन्धकारिः। पुनः किंभूतः। रुचितः प्रियो मलीमसैर्भोगिभोगैः फणिकलेवरैः सह योगो यस्य सः। पुनः किंभूतः। महाकलिर्महावैरवान् सः कालस्तस्य भग्ना शक्तिर्येन सः। यथा त्वयि पराङ्मुखे त्वमिवाहमस्मि, तथैव च त्वयि सम्मुखे विभो, अहं कदा जातु भवेयम्। अहं किंभूतः। रूपं दधानः। किंभूतं रूपम्। कवलितो दूरं गतो विषमः क्रमो भवमरुभ्रमणजो यस्य तत्। पुनः किंभूतम्। सततं समाश्रितानां सेवकानां तारं विपदो निस्तारं करोतीति सततसमाश्रिततारकारि। अहं किंभूतः। द्विजपतिमुकुटो ब्राह्मणेन्द्रमौलिः। 'मुकुटं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। श्रीशिवपक्षे—त्वं किंभूतः। रूपं दधानः। किंभूतम्। कवलितं ग्रस्तं विषं कालकूटाख्यं येन तत्। पुनः किंभूतम्। अक्रमम्। अविद्यमानाः क्रमाः क्लेशाः पञ्चाविद्यादयो यस्य तत्। पुनः किंभूतम्। तारकस्य तारकासुरस्यारिः कुमारः। सततं समाश्रितस्तारकारिः कुमारो यत्र, येन वा। युगलकम् ॥ २६–२७ ॥

जय इति। जयं जगज्जयं ददातीति तस्य सम्बोधनं, हे जयद, मधुरं स्वादु तथा जनानां रञ्जने प्रगल्भं मध्वमृतं मुञ्चत्स्रवद्वचोऽभयवचो विमुञ्च। हे हर भवदुःखहर, अद्येदानीं माद्यदतीवोल्लसद्दुरितं पापं मम हर दूरीकुरु। हे भव शम्भो, भीर्भयं संसारजं विद्यते येषां ते भीमन्तो मादृशास्तेषामभीमं सौम्यं दर्शनं यस्य स तादृशोऽभीमदर्शनो भव ॥ २८ ॥

निजेति। हे भगवन् परमैश्वर्यादिषट्कयुक्त, क्वचिदपि क्वाप्यदृष्टपूर्वं न पूर्वं दृष्टमवलेपं शरणागतावगणनां मयि वराके यत्प्रथयसि विस्तारयसि, तदेतन्ममैव निजदुरितविलसितम्। यतस्त्वं सदैव त्रिजगदनुग्रहे नित्यं दीक्षितो व्रती ॥ २९ ॥

प्रणमतीति। अपकारो विद्यते यस्य स तादृशेऽपकारवति रिपाविव। प्रणमति प्रह्वे। तथा पुरोऽग्रतोऽवलग्ने लीने। तथा गदेन जन्मजरामरणत्रासरोगेणाभियोग आक्षेपस्तं दधति परिजने दासे मयि, कृपामृतेनार्द्रां दृशं किं नो ददासि किं न वितरसि। अथ च मय्येवं पूर्वोक्त-विशेषणविशिष्टेऽपकारवति। न पकारो विद्यते यस्य सोऽपकारवांस्तादृशे अस्वरपकाररहित-विशेषणविशिष्ट इत्यर्थः। तथा च 'प्रणमति विधुरे' इत्यत्र स्वररहितपकारेण 'प्' इत्यनेन रहिते, रणमतिविधुरे रणे युद्धे या मतिस्तया विधुरे व्याकुले। तथा 'पुरोवलग्ने' इत्यत्रास्वरेण पकारेण रहिते उरोवलग्ने······रसभङ्गदाभियोगं दधति, रसस्य भङ्गो नाशस्तं ददातीति रसभङ्ग

दश्चासावभियोग आक्षेपस्तं दधति। तथा 'परिजने' इत्यत्र स्वररहितपकाररहिते अरिजने इव मर्यीत्यर्थः॥ ३०॥

स्फुटेति। अहीनां सर्पाणामिन्द्रो वासुकिः स एव हारो यस्य स तादृश हे अहीन्द्रहार श्रीशिव, सिद्धेरष्टविधाया अणिमादिकाया आकरमुत्पत्तिस्थाम्। स्फुटो व्यक्तो विकटोऽतीवोत्कटो विकस्वरो विततः प्रदीप्तो ज्वलनोऽग्निर्यत्र तादृशमहीनं परिपूर्णं चक्षुस्तृतीयं चक्षुर्मुञ्च क्षिप। दीनजनं प्रतीत्यर्थः। किंभूतम्। अविद्यमाना लवाः कणा यस्य स तादृशः। पूर्ण इत्यर्थः। अलवो दर्पोऽहङ्कारो ययोस्तौ बलवन्तौ पूर्णदर्पौ च यौ कालकामौ तयोः क्षयं करोति तादृशम्॥ ३१॥

हिमकरेति। हरं श्रीशिवं तोषयतीति हरतोषी श्रीशिवभक्तजनस्तस्य रूपं चन्द्रकामौ नानुहरतो नानुकुरुतः। तथा कविधिषणौ शुक्रबृहस्पती अपि तीव्रामतिक्षीणां धिषणौचितीं शिवभक्तस्य नानुहरतः। तथा अरुणमरुत्सखौ सूर्याग्नी अपि। 'मिहिरारुणपूषणाः' इत्यमरः। तावपि शिवभक्तस्य रणं सङ्ग्रामं (तेजश्च) नानुहरतः। किंभूतस्य जिगीषोः। जेतुमिच्छुर्जिगीषुस्तस्य॥ ३२॥

रविकरेति। हे भव शंभो, सूर्यकिरणफुल्लपुण्डरीकशुभ्रचामरच्छत्रचारुहासवती लक्ष्मीर्भवनं गृहं सुकृतवतां पुण्यवतां जनानां यत्र क्षणं मुञ्चति, तां तव शक्तिमनन्तस्वतन्त्रपारमैश्वर्यरूपां शक्तिं प्रकर्षेण नौमि। 'भक्तिं' इत्यपि पाठः साधुः। त्वद्भक्तिफलमेतदित्यर्थः॥ ३३॥

यदिति। हे अभयद, विषमत्ति विषादस्तत्संबोधनं हे विषाद। हि निश्चये। भवति सच्चिदानन्दघने परमेश्वरेऽन्तरवस्थिते सति समहिम महत्त्वयुक्तं नोऽस्माकं मनो यद्विशोकं विगतजन्मजरामरणदुःखमासीत्तदेवैतन्नो मनः सपदीदानीमविशदकर्मकर्दमे कलुषकर्मपङ्के विशत्पतत्सद्विषादि विषादो दुःखं विद्यते यस्य तत्तादृशं केन हेतुना जातम्। न जान इति शेषः॥ ३४॥

नय इति। हे विभो, नयेत्यादिविशेषणविशिष्टं मे मनः कुरु। इति प्रार्थये इत्यर्थः। नयो नीतिः कार्याकार्यविचारः। विनयो ज्ञानवयोवृद्धेषु प्रह्वता। ताभ्यां विशुद्धं निर्मलम्। तथा अन्तरुद्यन्तौ दहनसमानावग्निसमौ समाप्तौ नाशितौ रोषदोषौ यत्र तत्तथा। यमेन दशविधेन नियमेन चैतावता नियन्त्रितम्। तथा सविलासा या विलासिनी तस्यां विरक्तं निरनुरागम्। 'आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा च दया स्पृहा। ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश।' 'शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ। व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश'॥ ३५॥

अवसरेति। हे विभो, अतिमात्रं चित्रा विस्मयकारिणी चित्संविद्यस्य स तादृशः। 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः।' इत्यमरः। एवंविधो यः पुरुषस्तव नतिमान्प्रणामप्रह्वो भवति, स पुरुषोऽवसरे रतिप्रसङ्गे सरसोऽलसोऽलघुर्बहुरुद्यन्यो मधुरो वधूरवो मणितसीत्काररूपस्तेन धूता निर्नाशिता चित्तचिन्ता मनोव्यथा यस्य स तादृशो भवति, पुनः किंभूतः। सकला सर्वा कलधौतधौता स्वर्णस्वच्छा मूर्तिर्यस्य स तादृग् भवति॥ ३६॥

मलेति। अहहेत्यानन्दे। अन्तर्मनस्युदयं निजोदयं समयं च समर्थ्य ज्ञात्वा, अलघुं

महान्तं मलं दुरितमलं विहन्तुम् । तथा मुदं परानन्दमयीं निर्वृतिमाप्तुं सुखानामाश्रयमीश्वर-प्रशंसामयं श्रीशिवस्तुतिप्रकृतिकं महं महोत्सवमयमहमाश्रयं श्रितोऽस्मि ॥ ३७ ॥

गुणिभिरिति । हे भव परमेश, गुणिभिर्गुणाः पाण्डित्यदयादाक्षिण्यादयो विद्यन्ते येषां ते तैः । तथा विबुधैर्देवैः । हरीन्द्रमुख्यैश्च हरिर्विष्णुरिन्द्रः शक्रो मुख्यो येषां ते तादृशैस्तुतस्य तव । संसार एवच्छिद्रान्वेषित्वाद्रिपुस्तस्य द्विषो निवारकस्य तव, प्रसादात्प्राणहरोऽपि घातकोऽप्यसुहृत् न सुहृदसुहृच्छत्रुः पुण्यभाजां सुकृतिनां हितमातनुते । अत्र गुणिभिर्विबुधैरिति, हरीन्द्र इति, भवसंसार इति, रिपोर्द्विष इति, असून्प्राणान्हरतीत्यसुहृत्प्राणहर इति 'आमुखे पौनरुक्त्यं पर्यवसाने तदभावः' इत्यसमस्तपदोत्थः पुनरुक्तवदाभासः ॥ ३८ ॥

अपि नाथेति, अपि सर्वजनेति । हे नाथ, जनान्धर्मग्लानिकरानर्दयति पीडयतीति जनार्दनस्तस्य तादृशस्यापि जनपीडकस्यापि । तथा विकुण्ठस्यापत्यं वैकुण्ठ इति प्रसिद्धिभाजोऽपि । अथ च वै प्रसिद्धौ कुण्ठ इति । तथा अधिकंसं कंसेऽसुरे रुड्रोषो यस्य स तादृशस्य । अथ चाधिकमत्यर्थं सरुषोऽपि विष्णोर्नारायणस्य सुदर्शनाप्तिः सुदर्शनाख्यचक्राप्तिर्भवतस्त्वत्तो विभोः सकाशाज्झटिति शीघ्रमेव चेद्यदि प्रावपुरा अभवत्तर्हि सर्वजनेष्वविरुद्धबुद्धेरपि तथा कुण्ठाद्भिन्नस्य तीक्ष्णस्य तीक्ष्णमतेरपि तथा परं केवलं जितक्रुधोऽपि गतरुषोऽपि ममाधुनेदानीमपि सा सुदर्शनाप्तिः शोभनदर्शनप्राप्तिः कथं न भवति भवत्सकाशात् । यद्वा पक्षान्तरे । जगदीशोऽसि त्रिलोकनाथोऽसि । विभुः स्वतन्त्रः । मया ते तव किमुच्यते । अत्राप्यसमस्तपदः पुनरुक्तवदाभासः ॥ ३९-४० ॥

सुमन इति । भक्तजनस्येति शेषः । भक्तजनस्य मनश्चित्तं सुमनोभिर्देवैः सुलभे सुप्राप्ये नाके स्वर्गेऽप्यास्थां नाश्नुते भजते । 'आस्थानीयत्नयोरास्था' इत्यमरः । तथा सुमनानां पुष्पाणां सुन्दरं मनोहारि घ्राणतर्पणं च यत्सौरभं तत्रापि भक्तजनमनो नास्थां भजते । तथा सुमनःसु मालतीपुष्पेषु (पण्डितेषु वा) चास्थां भक्तजनमनो न भजते । तथा कथमित्याह—सुधायामृतरसेनार्द्रासु सुधार्द्रासु भवत्कथासु भवचरितकथासु यथा भक्तजनमनः सुष्ठु अत्यर्थमास्थां भजते । 'सुमनाःपुष्पमालत्योस्त्रिदशे कोविदे शनौ' इति विश्वः । अत्र च सुमनः-शब्दप्रसङ्गेन ममापि वृत्तमेकम्—

'उन्मत्तानां यदि सुमनसां वृन्दमेतत्सुमालां
धृत्वा नित्यं त्वमतिकृपया प्रेमपात्रीकरोषि ।
हा धिक्कष्टं किमपरमतो मोहमद्येन कस्मा-
दुन्मत्तं मामपि सुमनसं न त्वमङ्गीकरोषि' ॥ ४१ ॥

श्रीर्देवीति । यया लक्ष्म्या कटाक्षितानां सकलो यः समीहितार्थस्तस्य सिद्धिर्हस्तस्था भवति सा देवी श्रीर्लक्ष्मीर्जयति सर्वोत्कृष्टा भवति । सा तादृश्यपि लक्ष्मीर्यस्मात्समुद्रात्क्षीरोदधेर्जाता तमब्धिमप्यर्भकाय बालायोपमन्यवे यो विभुर्दयालुः प्रादात् , स देवः परमशिवः कथमिव वर्ण्यते व्याख्यायते । ब्रह्मादिभिरपि वर्णयितुमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ ४२ ॥

नार्हतीति । अमन्दरयो महावेगो यो मन्दरो मन्थाद्रिस्तस्य यत्नेन लब्धा सुधा पीयूषमपि तथानवधिरनन्ता वसुधा भूमिरपि यस्य नवस्य स्तवस्य स्पर्धां साम्यं नार्हति । नवो नूतनः सोऽयं शिवनवः शिवस्य नवः स्तवः प्रभुप्रसादनाख्यो वो युष्माकं शिवतातये शिवस्य

तातिस्तस्यै । कल्याणविस्तारायेत्यर्थः अस्तु । नवःस्तवः किंभूतः । विदुषां या सभा गोष्ठी तस्यां जनस्य सभाजनं प्रीतिदर्शनं तस्य भाजनं पात्रमिति शिवम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीराजाजनकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां
लघुपञ्चिकायां प्रभुप्रसादनं नाम त्रयोदशं स्तोत्रम् ।

चतुर्दशं स्तोत्रम्

अथातो हिताख्यं स्तोत्रं चतुर्दशमारभमाण आह—

येनेति । नेत्रं नामनेत्रं च, करो वामकरश्च, शेखरं मुकुटं च, तानि स्पृशतीति नेत्रकरशेखरस्पृक् तादृशेनेन येन चन्द्रतेजसान्तर्मनसि स्थितं सन्तमसमज्ञानाख्यमीश्वरः श्रीशिवो हन्ति । भक्तजनस्येति शेषः । हारि मनोहरं, दवथुहारि संतापहरं, तदैन्दवं चान्द्रं धामादभ्रमनल्पं कृत्वा वो युष्माकं कामदमीहितप्रदमस्तु ॥ १ ॥

भक्तीति । हे भव शिवादिक्षित्यन्तोत्पादक, यः पुरुषो धन्यो भवन्नवेषु भवत्स्तुतिषु भक्त्या निर्भरं पूर्णं गभीरं च यद्भारतीवैभवं वागुल्लासो यस्य स तादृशो भवति, तस्य धन्यस्य वासवासनपरिग्रहग्रह इन्द्रासनग्रहणहेवाकः, शुष्कशष्पमिव शुष्कतृणप्रायो भासते । नितरामवहेलास्पदं भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

उल्लसदिति । भवस्य श्रीशंभोर्भक्त्या शालन्त इति भवभक्तिशालिनस्तेषामेतानि वस्तून्येवंविधानि संभवति । कानीत्याह— वपुर्लोचने भारती च । वपुः किंभूतम् । उल्लसत्पुलकलाञ्छितमुल्लसद्भिरतिप्रमोदेन पुलकै रोमाञ्चैर्लाञ्छितं संभवति । लोचने किंभूते । बाष्पेण हर्षाश्रुणा पूरितौ पुटौ ययोस्ते तादृशे संभवतः । भारती च किंभूता । हरहरेति गद्गदा मुहुः स्खलिताक्षरा ॥ ३ ॥

नीलकण्ठेति । हे नीलकण्ठ, तरुणेन्दुशेखर बालेन्दुमौले, त्रीण्यम्बकानि नेत्राणि यस्य स त्र्यम्बकः । त्रयाणां लोकानामम्बकः पितेत्यागमः 'द्यौर्भूमिरापस्तिस्रोऽम्बा अस्य' इति भारते । तत्सम्बोधनं हे त्र्यम्बक । हे त्रिनयन । मां पाहीति शेषः । इति भक्तितो गद्गदं स्खलत्पदं निगदतो धन्यस्य कस्याप्यखिलमपि महीतलं हेमपूर्णमपि तृणोपमं शुष्कतृणप्रायम् । अतीवावहेलास्पदमित्यर्थः । एतदनुसारेण ममापीदमेकं वृत्तम्—

'शम्भो जगन्नाथ दयाम्बुराशे दीनं जनं पाहि महेश्वरेति ।
संसारकाकोदरदष्टलोकसंजीवने मन्त्रवरः प्रदिष्टः' ॥

इति ॥ ४ ॥

अन्तकेति । अन्तकस्य भ्रुकुटिस्तज्जो भीत्या विह्वलो यः श्वेतः श्वेतनृपस्तस्य सान्त्वनविधौ मा भैषीरित्याश्वासनविधौ यत्तव कृपामृतं बभूव, तदेव कृपामृतं करुणामृतवाक्यं मां प्रति प्रतिपदं कदर्थितं व्यथितं (स्खलद्बहिर्निःसरत्) सम्प्रतीदानीं क्व । गतमितिशेषः ॥ ५ ॥

वह्नीति । हे नाथ, वह्निरग्निः । शीतकरश्चन्द्रः । घर्मरश्मिः सूर्यश्चेति त्रयस्तव लोचनानां

भालस्थवामदक्षिणानां त्रितये वर्तन्ते तादृशाः सन्ति, जरामरणत्रासमहावायुना शीतम् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन त्रिविधस्ताप एव तापः। तिमिरमज्ञानरूपं तमस्तैस्त्रिभिरर्दितस्य पीडितस्य मे, हे नाथ, ते त्रयोऽपि वह्न्यादयो मदीयव्याधित्रयाप्रतीकाराच्चित्रलिखिता इवाकिंचित्करा इव स्थिताः। मदभाग्यादिति शेषः ॥ ६ ॥

संभ्रमेति। संभ्रमेण वेगेन भ्रमन्नमन्दो मन्दरो मन्थाद्रिर्यस्मिन्स चासौ क्षीरनीरधिः क्षीराब्धिस्तद्वद्गभीरया गिरा वाण्या अशर्मभिरकल्याणकारिभिः कृतान्तकिंकरैर्यमदूतैरभिद्रुतं विहितसमीपागमनं द्रुतं शीघ्रं त्रातुमर्हसि ॥ ७ ॥

कालेति। हे नाथ शंभो, कालकिंकराणां यमदूतानां करान्तरे स्फुरन्भोगः कायो यस्य स तादृशो यो भोगी सर्पस्तेन परिणद्धा वलिता कंधरा ग्रीवा यस्य स तादृशस्तं महासंकटपतितं पुरुषं मोचयितुं, भवदीयहुंकृतिं, दूतान्प्रति विहितं हुंकारमन्तरेण क उत्सहेत कः क्षमेत। न कोऽपीत्यर्थः। एतद्वृत्तानुसारेण ममापीदं वृत्तम्—

'देवाः सन्तु सहस्रशः कमलभूकंसारिमुख्याः पुरो
विश्वाभीप्सितदानकल्पतरवो भक्त्यन्वितानां नृणाम्।
क्रोधाक्रान्तललाटलक्ष्मविषमभ्रूभङ्गसंतर्जन-
त्रस्तानां परिपालनैकनिरतो मृत्युञ्जयान्नापरः' ॥ ८ ॥

उत्कटेति, स त्वदेति। हे चन्द्रमौले, उत्कटा या भ्रुकुटिस्तया भीमदर्शना ये द्वाःस्था याष्टीकास्तैः खलीकृत आत्मा येषां तैः पुरुषैः क्षितिभुजां राज्ञां द्वारि द्रविणलेशतृष्णया धनलवतृषा यः पराभवः सह्यते, स पराभवस्त्वदायतने त्वदीयदेवालये या देहली तस्यास्तलं बुध्नं, तत्र भवदर्चने भवत्पूजायामुत्सुकं कंचिदेव विरलं धन्यं पुष्पपात्रं कुसुमपात्रं च करपत्रिका गलन्तिका च पाणौ यस्य स तादृशं सन्तं कातरं भवद्दर्शनावसरप्राप्तिं करोति ॥ ९-१० ॥

अन्तरेणेति। हे देव शंभो, कमलिनीदले पद्मपत्रे स्खलद्यन्नीरं जलं तस्य शीकराः कणास्तद्वच्चला विभूतयः संपदो नृणां यद्भवन्ति, सेयं नृणां केवलं विडम्बना भवति, किमन्तरेण। भवदङ्घ्रिसेवनं भवत्पादकमलसेवनमन्तरेण विना ॥ ११ ॥

यत्त्विति। तु पक्षान्तरे। निर्जरतरङ्गिणीतटे देवनदीतटे कस्यचिद्वन्यस्य हरिणशावकैः समं वने यत्सौहृदमेकत्र निवाससौख्यं, भूभृतां राज्ञामुपरि च तृणवत्सावहेलं यद्विलोकनमियमद्भुता श्रीः संपत्तिः, पूर्वोदितविडम्बनारूपसंपत्तेः परमानन्ददायिनी, हे भव, भवत्प्रसादादेव भवति ॥ १२ ॥

त्वामिति। हे नाथ शंभो, त्वां त्रिलोकनाथं महेश्वरं शरणमनाथदीनजनत्रातारमुपेत्य लब्ध्वा, चेद्यद्यहं मन्दभाग्यो निःशरण एव विमुखो व्रजामि, स एष दोषो ममैव मन्दभाग्यत्वादित्यर्थः। दृष्टं चैतत्। हि यस्मात्कारणाज्जाह्नवीजले शफरो मत्स्यस्तर्षुलस्तृषितः स्वदुष्कृतैरेव भवति ॥ १३ ॥

गद्गदेति। गद्गदा हर्षेण स्खलितपदा उद्गता गीर्वाणी यस्य स तादृशस्य, शंसतः स्तुवतो मम चिरं स्थिरं यत्प्रेम श्रीशिवभक्तिविषयं, तदेव हेम सुवर्णं तस्य निकषोपलतुल्यं शिवशिवेति शाम्भवं नाम, कामप्यनिर्वाच्यां परानन्दामृतरसाप्लावितनुमयीं प्रशस्तिं ददाति ॥ १४ ॥

वारीति । हे विभो, हिमत्विषश्चन्द्रस्य मौलिस्थस्य भातिधवले भया दीप्त्यातिधवलेऽति स्वच्छे तत्र मूर्ध्नि वारि गङ्गाजलं भाति । किंभूतम् । वारितभवार्ति वारिता दूरीकृता भवार्तिर्जन्मजरामरणत्रासरूपा आर्तिर्येन तत् । तेन हेतुना दवः संतापः । 'टुदु उपतापे' धातुः । दवस्य भवमरुभ्रमणजसंतापस्य च्छित्त्यै नतिं प्रणतिं वयमिमः प्राप्नुमः । 'इण् गतौ' धातुः । हे स्वामिन् , देहिषु प्राणिषु मादृशेषु करावलम्बनं हस्तालम्बं देहि ॥ १५ ॥

मूढमिति । अन्धकस्यासुरविशेषस्य रिपुस्तत्संबोधनं हे अन्धकरिपो । हे तमान्तकरतार । तमाया रात्रेरन्तं करोतीति तमान्तकरः सूर्यः स एव तारायां कनीनिकायां यस्य स तत्संबोधनम् । मूढं मोहार्दितं तथा ऊढा धारिता विपज्जन्मजरामृतिरूपा येन स तादृशम् । तथा अन्धमज्ञानतमसा, तथा अरिभिः षड्भिः कामक्रोधादिभिरान्तरैः पोथितो मर्दितस्तादृशम् , तथा मोघं व्यर्थजन्मानम् । तथा एनसां पापानामोघं प्रवाहमितं प्राप्तम् । 'इण् गतौ' धातुः । एवंविधमेतं मां तारय, भवोदधेरिति शेषः ॥ १६ ॥

यमिति । स्वरसेन भैरवा उग्रास्तादृशै रवैः शब्दैर्हे क्षपितराक्षस । क्षपिता राक्षसा देवरिपवो येन तत्संबोधनम् । हे अक्षर न क्षरति स्वरूपात्प्रचलतीत्यक्षरः । हे मारमार । मारं कामं मारयतीति मारमारस्तत्संबोधनम् । त्वं यं धन्यं स्वयं प्रसाददृष्ट्या ईक्षसे विलोकयसि, स ते तव सुरो देवो भुवि भूमौ भासते । किंभूतः । भानोः सूर्यस्य भानवः किरणास्तेषां भरः समूहस्तद्वद्भासुरः प्रदीप्तः । स देव एव मनुष्यरूपेण भासत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

बाणेति । हे विभो, बाणैर्बाणाख्यकुसुमैर्दासीकुरण्ट इति ख्यातैर्बाणे बाणेश्वरप्रतिमाख्ये सूक्ष्मलिङ्गे कृतं पूजनं यैस्तादृशैर्जनैर्यैर्धन्यैरादरात्तव स्तवोऽघटि अकारि, तावता तावतैव पूजनविधिना वास्तवा वस्तुभूताः सारभूता बन्दिभिः स्तुतिपाठकैर्वन्दितः स्तुतो यशोगणो येषां ते तादृशा गणाः प्रमथास्तवानुचरा भवन्ति । 'बाणो बलिसुते शरे । देवभेदे स्त्रियां वाचि द्वयोर्दासीकुरण्टके' इति मङ्खः ॥ १८ ॥

त्वामिति । अम्बरसदःसदःसदोऽम्बरसदां देवानां सदसि सभायां सीदन्ति तिष्ठन्ति तादृशा देवास्त्वां सदिनं सत् शोभनश्चासाविनः स्वामी तं सदिनं, दिनं दिनं प्रतिदिनमर्चयन्ति स्तुवन्ति । काभिः । गीर्भिर्वाणीभिः । 'इनः सूर्ये प्रभौ' इत्यमरः । किंभूता देवाः । सतामरसवासवासवाः । सह तामरसेन पद्मेन वर्तते यः स तादृशो वासवस्येन्द्रस्यासवो दिव्यौषधिरस इन्द्रोचित आसवो येषां ते । 'वासवासनाः' इत्यपपाठः । पादान्ते वर्णयुगलकत्रयस्य समत्वे सति प्रथमपादे तदभावेन यमकोच्छेदात् । पुनः किंभूताः । गमश्चागमश्च गमागमौ, दुर्गमौ गमागमौ येषां ते तादृशाः । ज्ञाता निर्णीता दुर्गमगमागमा आगमाः शास्त्राणि यैस्ते तादृशाः ॥ १९ ॥

न म इति । अनेकपानां हस्तिनामाली पङ्क्तिरनेकपाली करिघटा तथा मे प्रीतिं न करोति । तथा दयितायाः प्रियतमाया अङ्कपाली आलिङ्गनमपि तथा मे प्रीतिं न करोति । तथा कथमित्याह—यथेत्यादि । सा उक्तिदेवी वाग्देवी यथा मे प्रीतिं परमानन्दं करोति । सा वाग्देवी केत्याह—सेवकानां भक्त्यासक्तजनानां लोकं पालयतीति सेवकलोकपाली कपाली श्रीशिवभट्टारको यया वाग्देव्यार्च्यते स्तूयते ॥ २० ॥

भवन्तमिति । भक्तजनास्तं भवं श्रीशंभुं भवन्तं परार्ध्यं वैभवं यस्य स तादृशमाराध्य । अतएव द्विषतां शत्रूणामान्तराणां कामादीनां षण्णां बाह्यानां वा पराभवं विधाय, भवं संसारं

च जित्वा, पुनर्भवं पुनरागनरूपं पुनर्जन्म जहतस्त्यजन्तः शांभवं पदमाप्य, मुक्ता मुक्तिमापन्ना भवन्ति ॥ २१ ॥

न वंशवृत्तेरिति। अहं वंशवृत्तेः कुलस्थितेस्तानवमल्पतां न गणयामि। तथा कंचन बन्धुरं रम्यं मानवं च न नौमि। हे स्वामिन्, आनन्दिता देवा दानवाश्च येन स तादृशस्तं तव नवं स्तवं, नवं नूतनं रचयन्कुर्वन् विधिना न वञ्चितोऽहम् ॥ २२ ॥

धनंजयाक्षमिति। 'धनंजयौ बह्निपार्थौ' इति मङ्खः। धनञ्जयोऽग्निरक्ष्णि यस्य स तादृशस्तम्। सकलार्थसाधनं सकलपुरुषार्थकारणम्। तथा धनञ्जयेनार्जुनेन वैरिजयार्थमाराधितम्। तथा आधीन् मानसीः पीडा बाधयतीति तादृशम्। ऋद्धिवर्धनं संपद्वर्धनं विभु शंभुं धन्या धनन्ति याचन्ते। किं कृत्वा। विपदां संसृतिभयानां विशोधनं धनं शिवस्तुतिरूपं विदित्वा ॥ २३ ॥

कलापिन इति। कलापि मधुरस्वरापि, कलापिनद्धस्फुटजूटधारिणः कलया चन्द्रकलया पिनद्धो बद्धः स्फुटश्चासौ जूटः कपर्दस्तं धारयतीति तस्य श्रीशिवस्य गीर्वाणी, नोऽस्माकममृतं पीयूषं वर्षतु। कथम्। तद्वत्। तद्वत्कथमित्याह—कलापिन इति। घनेनानन्देन विशङ्कं लपति भणतीति घनानन्दविशङ्कलापी तादृशस्य कलापिनो मयूरस्यामृतं वारि यद्वदम्बुदध्वनिर्घनध्वनिर्वर्षति। तद्वत् ॥ २४ ॥

नृजन्मेति। हे भव शम्भो, दवं संतापमवद्यन् खण्डयन् भवान् विभुर्ये पुरुषं धन्यमीक्षते प्रसाददृष्ट्या। तस्यैव नृजन्म मनुष्यजन्मानवद्यं निर्दोषम्। अजातो न जात उपरमो विनाशो यस्यास्तादृशी असमानन्दकरी अनन्यसाधारणपरमानन्ददायिनी रमा मोक्षलक्ष्मीश्च समानं सहमानेन पूजया वर्तते यस्तादृशं एनम् न त्यजति ॥ २५ ॥

एतत्स्तोत्रोपसंहारार्थं वृत्तत्रयमाह—**अतः परमिति।**

असकृत् पुनःपुनरुक्तमपि वचो यत्केनाप्युदीर्यते, जगत्यतः परं नीरसं किमस्ति। न किंचित्। इदं त्वद्भुतमित्याह—सहस्रश इति। सहस्रशः सहस्रवारं चिरमपि बहुकालमपि चर्विता आस्वादिता पुनः शिवस्तुतिः परमेश्वरस्तुतिर्नवं नवं रसं परमानन्दरसं स्रवति ॥ २६ ॥

मृत्युमिति। मृत्युं जयतीति मृत्युंजयोऽमृतेशः। तस्य संबोधनं हे मृत्युंजय। किंभूत। सत्रासत्राणचण। सह त्रासेन संसृतिजन्मना वर्तन्ते ये सत्रासा जनास्तेषां त्राणे रक्षणे चणः प्रख्यातस्तत्संबोधनं तादृश। इत्यनेन प्रकारेणाद्भुतानि कर्माण्याचरन्तं निजभक्तजनाश्वासनेनापदानकर्माणि कुर्वन्तं त्वां स्तुमः। इति किमिति। हे मत्सेवक, जगद्धस्मरं विश्वभक्षकं मृत्युं कालं जय। मदनुग्रहेणेति शेषः। तथा नयनात् स्वनेत्राज्जाता उद्दामा उद्भटा धामच्छटास्तेजच्छटास्ताभिः कामं निश्चयेन कामं मदनं भस्मभावं नयेति, मुमुक्षुं प्रति। भव्या आभा दीप्तिर्यस्य तत्संबोधनं, हे भव्याभ, मत्सेवक, विशेषेणाकुलास्त्वद्दर्शनाभिलाषेण या कुलवध्वस्ता उत्कयोत्कण्ठिताः कुर्विति भक्तं प्रति संबोधनम् ॥ २७ ॥

यत्तदिति। तत्प्रसिद्धं सर्गस्य जगत्सृष्टेर्निसर्गतः स्वभावतः स्वातन्त्र्येण निर्मितिं निर्माणं करोतीति तादृशं ब्रह्मरूपेण यद्धाम परमं तेजः। तथा रावणस्य दशमुखस्य यद् द्रावणं निश्चेष्टीकरणं, तदेव व्यापारस्तस्यावसरस्तत्रावसक्तं लीनम्। रामरूपविष्णुरूपेणेत्यर्थः। यद्धाम-

भवति। तथा यद्धाम संवर्तस्य प्रलयस्य संवर्तकं निवर्तकं रुद्ररूपेण भवति। तद्धाम परमज्योतीरूपं स्वाभासं स्वानुभवैकमानं भवस्य संसारस्य संभव उत्पत्तिः, स्थितिश्च, लयो नाशश्च, तेषां स्फारोऽवतारस्तत्रोचितं योग्यम्। भासा स्वप्रकाशेन रोचितं दीप्तम्। कारणानां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवानां षण्णां, कारणं हेतुभूतं, परमशिवाख्यमीहितमभीष्टं हितं मे मह्यं दिशतु ददात्विति शिवम्॥ २८॥

इति राजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठविरचितायां
लघुपञ्चिकायां हितं नाम चतुर्दशं स्तोत्रम्।

पञ्चदशं स्तोत्रम्

अथातः करुणाराधनाख्यं पञ्चदशं स्तोत्रमारभमाण आह—

अधुनेति, प्रतिभामिति, करुणामिति। सकलपुरुषार्थप्रदानकल्पलतां विपन्नाशकरीं देवतां तपसोपासितुं यथा कश्चित्प्रवर्तते। तथा तादृशीमेव पारमेश्वरीं करुणां स्तुतिलेशेनोपासितुं मम मनः प्रवर्तत इति संबन्धः। एवमग्रेऽपि। यथा च कश्चिदभियोगेनाभ्यासेन सरस्वती-मुपासितुं प्रवर्तते, यथा च सुहृदा समूहेन तन्मुखेन (?) समीहितां लक्ष्मीमुपासितुं प्रवर्तते, यथा प्रकृष्टा गुणा दयादानदाक्षिण्यादयो यस्य स तादृशेन गुणेन पाण्डित्येन कश्चित्संसदं सभा-मुपासितु प्रवर्तते, यथा काव्यकर्मणा काव्यं निपुणकविकर्मैव कर्म व्यवहारस्तेन प्रतिभां नवनवोल्लेखशालिनीं प्रज्ञामुपासितुं कश्चिद्वर्तते, यथा चार्थिगामिना सत्पात्रप्रतिपादितेन वसुना धनेन कीर्तिमुपासितुं कश्चित्प्रवर्तते, यथा च शमेन जितेन्द्रियत्वपर्यायेण पुण्येनोपार्जितेन सद्गतिं शोभनां गतिमुपासितुं कश्चित्प्रवर्तते, तथैवाहमप्यधुनेदानीं सकलार्थानां चतुर्णां पुरुषार्थानां धर्मादीनामर्पणं दानं तत्र कल्पवल्लरीं कल्पलतां, तथा विपदो जन्मजरामरणमहात्रासरूपाया अलक्ष्म्या बाह्याया वा नाशकरीं हरिणाङ्कलक्ष्मणश्चन्द्रमौलेः श्रीशिवभट्टारकस्य करुणां कृपां स्तुतिलवेनोपासितुं मे मनः प्रवर्तते। तिलकम्॥ एतदाशयानुसारेण ममापीदं वृत्तचतुष्टयम्—

'प्रभातलेखेव रथाङ्गनाम्नां मल्लीप्रफुल्लेव मधुव्रतानाम्।
दीप्तिः खरांशोरिव पङ्कजानां वृष्टिर्घनोत्थेव दवार्दितानाम्॥
छायेव वृक्षस्य सदाध्वगानां शीताम्बुधारेव तृषातुराणाम्।
वाणीव साधोः कलिखेदितानां सुधेव दुर्मृत्युभयाकुलानाम्॥
....
शंभुस्तुतिस्तत्पदभावितानामश्रान्तमानन्दभरं तनोति। (तिलकम्)
दिष्ट्या प्रपेव तृषितेन मरुप्रचारात्क्लिन्नेक्षणेन घनसारशलाकिकेव।
छाया तरोरिव परिश्रमिणाध्वगेन तापातुरेण समवापि महेशभक्तिः॥'

घनसारशलाकिका कर्पूरशलाका नेत्रयोरतिशयेन सुखदा। तथा च कस्यापि प्राचीन-महाकवेः कृतिः—सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः, इति॥ १-३॥

करुणामिति। हे ईश शंभो, विकासिनीं विस्तारवतीममलैर्निर्व्याजैर्गुणैरशरणदीनजनोपकारादिभिरलंकृतां शोभितां भवतः करुणां कृपां वल्गुवादिनीयं मम भारती भजति सेवते। का कामिव। अलिनी भ्रमरी नलिनीं पद्मिनीमिव। नलिनीमपि किंभूताम्। विकासिनीं प्रफुल्लाम्। पुनः किंभूताम्। अमलै; स्वच्छैर्गुणैः सूक्ष्मतन्तुभिरलङ्कृतां भूषिताम्। भ्रमरी च किंभूता। वल्गुवादिनी मधुरस्वरा ॥ ४ ॥

उपलक्ष्येति। हे विभो, अन्धकस्यासुरविशेषस्यारिरन्धकारिस्तद्भावमन्धकारितां तववीक्ष्य, अन्धकारिताज्ञानरूपा मयि विषये पदं स्थितिं करोति। तथा विषमां त्रित्वाद्विषमसंख्याकां ते तव दृशमालोक्य, ममापि दृष्टिर्विषमत्वमुग्रत्वं भजते। शब्दश्लेषोऽलंकारः ॥ ५ ॥

तवेति। हे विभो, वृषभस्याधरीकृतिं वाहनत्वात्तव वीक्ष्य, ममापि वृषस्य धर्मस्याधरीकृतिरधोगतिरस्ति। 'वृषो भगवान्धर्मः' इति श्रुतेः। तथा धृता वक्रकला एककलत्वाच्चन्द्रस्य येन सः। तस्य भावं वीक्ष्य, ममापि वक्रकलत्वं वक्राः कलाः शिल्पकला यस्य स तादृशस्तस्य भावस्तत्त्वमेव प्रथते विस्तारं भजते ॥ ६ ॥

तवेति। हे विभो, भग्नो निर्नाशितः कामोऽनङ्गो येन स तादृशस्य भावं तव वीक्ष्य ममापीयं भग्नकामता भग्नो विगत कामो मनोरथो यस्य स तद्भावस्तत्ता ममाप्युदिता। ते तव करुणामपि त्रिजगदुद्धारकारिणीं समीक्ष्य, मे ममापि सा करुणा दीना गीर्वाणी कथं न प्रवर्तताम् ॥ ७ ॥

ससुरेति। सह सुरैरसुरैर्मानुषैश्च विद्यते यत्तत्ससुरासुरमानुषमपि जगत् त्रिभुवनं यस्य परमेश्वरस्याधीनमायत्तं भवति, सोऽपि भवानीश्वरस्त्रिजगत्स्वाम्यपि यया करुणया वशवर्तिपदे निजाधीनत्वपदेऽर्पितः। विधेयो विहित इत्यर्थः। सेयं तव करुणैव सर्वोत्कृष्टत्वेन जयति ॥ ८ ॥

करुणेति। हे भगवन्नैश्वर्यादिषट्कपूर्ण, तव त्रिजगदधीशस्य करुणा कृपा निमेषेण त्रिजगदुद्धारकारिणीं उमामपि पार्वतीमपि तव जीवितेश्वरीं प्राणाधिकामतिशेते। तस्या अप्यतिशयं भजत इत्यर्थः। कुत इत्याह—उमयापर्णया तादृशानन्यसाधारणतपोविशेषक्लिष्टयापि तव वपुषोऽर्धमेवार्धनारीश्वररूपत्वेन हृतम्। एतया पुनः करुणया सकलः सकलवपुस्त्वं हृतः। नीत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

करुणेति। अस्माभिः सा तव करुणा शस्यते स्तूयते। सा केत्याह—यया जितकामोऽपि जितानङ्गोऽपि, जितेन्द्रियोऽपि, भवांस्त्रिजगदधीशोऽपि वशीकृतः। इदं चान्यदद्भुतम्, न केवलमियं करुणा त्रिजगदधीशं त्वामेव वशीकुरुते, यदम्बिकामपि त्रिलोकजननीमपि देवीं विधेयतां निजवश्यतामनयत् ॥ १० ॥

जगदम्बुभुवेति। स्वेच्छयोत्पादितजगद्रक्षणायाष्टमूर्तिधरेण अम्बुभुवाग्निना। 'अद्भ्योऽग्निर्जातः' इति श्रुतेः। अग्निमूर्तिधरेण। तथा भुवा पृथिव्या। तथाम्भसा जलेन। सितभासा चन्द्रमसा। नभसाकाशेन। नभस्वता वायुना। उष्णरुचा सूर्येण। आत्मना प्रकृतिविकृतिपृथक्स्थितेन यजमानरूपेण च जगत्त्रैलोक्यं यद्धृतं स महिमा तव करुणाया एव। अप्रतिहतशक्तेरित्यर्थः ॥ ११ ॥

अहतप्रसरामिति। हे विभो, पावनीं पवित्रीकरणहेतुं तरङ्गिणीं मोहोल्लासवतीमहत-

प्रसरानाहतशक्तिं प्रसादिनीमनुग्रहवतीं तथा अपोहिता निःशेषीकृता तापस्याध्यात्मिकादेस्त्रितयस्य संपद्यया सा तादृशीं करुणामेव तरङ्गिणीं नदीं शरणं प्रतिपद्ये । नदी चाप्रतिहतप्रवाहा प्रसन्नतायुक्ता दूरीकृततापसंपत् पावनी च भवति ॥ १२ ॥

प्रणयेनेति । हे नाथ त्रिलोकस्वामिन्, मदनाशाकुलितेन मदस्याहंकारस्यान्तरशत्रोर्नाशेनाकुलितं तादृशेन चेतसा चिरं बहुकालं प्रणयेन प्रार्थनया प्रीत्या वा प्रसादितारधिता तरुणी प्रत्यग्रा करुणा ते तव हृदि स्थिरं पदं स्थानं कथं न करोति, अपि तु करोत्येव । अथ च मदनाशाकुलितेन मदने कामे या आशा तयाकुलितेन मनसा प्रणयेनातिप्रेमभरेण चिरं प्रसादिता प्रसन्नीकृता, तरुणी षोडशवर्षादुपरि त्रिंशद्वर्षपर्यन्तं तरुणवयस्का, नायकस्य हृदि पदं कथं न धत्त इति श्लेषोक्तिः ॥ १३ ॥

भुजगेति । हे विभो, धृतिं धैर्यं छिन्दन्तीति तादृशाः । तथा विषं गरलं ग्लपयन्तो वमन्तो भुजगाः सर्पाश्चन्दनद्रुमं यथा परिहार्यदशां त्याज्यावस्थामानयन्ति प्रापयन्ति, तथा धृतिं धैर्यं सुखं च च्छिन्दन्तीति तादृशा विषमाः कठिना मां ग्लपयन्तो हन्यमानाः (घ्नन्तः) मदमानप्रमुखा मदश्च मानश्च तौ प्रमुखे येषां तादृशा अरातयः शत्रवः षडान्तरा मां परिहार्यदशां सर्वैरेव जनैस्त्याज्यामवस्थां नयन्ति प्रापयन्ति ॥ १४ ॥

करुणामिति । उच्चैः पक्षाभ्यां द्वाभ्यां प्रपतति पक्षपातिनी तां, तथा धृताच्युतश्रियं धृतोऽच्युतो विष्णुः श्रीःलक्ष्मीश्च यया सा तादृशीमरुणानुजन्मो गरुडस्य तनुमिव पक्षपातिनीं पक्षपातः स्नेहो भक्तजनेषु यस्याः सा तादृशीम् । तथा धृताच्युतश्रियं धृता अच्युतास्खलिता श्रीर्यया तादृशीं भूधरपुत्रिकापतेरुमापतेः करुणां समुपैमि प्रपद्ये ॥ १५ ॥

स्फुरितारुणेति, भगवन्निति, अनयोरिति । स्फुरिते अरुणे चारुणी चक्षुषी यस्य तादृशेन । तथा निर्भरघर्मविप्रुषा घनघर्मबिन्दुना । परुषाशयतां कर्कशचित्ततां प्राप्तवता । तथा सरुषा सरोषेण वपुषा देहेन योषितो यत्प्रहरन्ति । पुरुषानिति शेषः । हे भगवञ्शंभो, दृढं बद्धं मूलं याभ्यां तयोः । तथा अविषह्यनिपाता पीडा ययोः । कुसुमेषुरोषयोः कामक्रोधयोरेषोऽनुभावः प्रभावः । अनयोः पुनर्नियतं निश्चितं तावकी कृपैव मूलस्य निकृन्तने छेदने क्षमा । यथा नरकान्तकारिणो विष्णोरूर्जिता दीप्ता शिशुलीला बाललीला यमलार्जुनयोस्तरुरूपापन्नयोर्मूलच्छेदकारी बभूव ॥ तिलकम् ॥ १६-१८ ॥

न विधिरिति, न शिशोरिति, न रसायनेति । हे हर, निधेर्लाभेन संभृतो विधिरुपायस्ते तव करुणायाः कृपायाः षोडशीं कलां षोडशांशमपि पूरयितुं न क्षमेत न शक्नुयात् । एवमग्रेऽपि । तथा मृगनाभिसंभवः कस्तूरिकोद्भवो विनोद आनन्दोऽपि शंभुकृपाषोडशांशमपि पूरयितुं न क्षमेत । शरदि भवो यः पूर्णचन्द्रः । सुधांशुस्तस्य चन्द्रिका ज्योत्स्नाऽपि तव कृपायाः षोडशीम अपि पूरयितुं क्षमेत । तथा कलं मधुरं कोकिलकण्ठकूजितमपि श्रीशंभुकृपाषोडशांशमपि पूरयितुं न क्षमेत । तथा शिशोर्बालस्यासमञ्जसमसंगतं वचो न । मृगाक्ष्याः परिरम्भ आलिङ्गनं तस्य विभ्रमोऽपि न । तथा कवीन्द्रस्य महाकवेर्भारती वाणी मधुरापि न । तथा साम्राज्यविभूतेश्चक्रवर्तिवैभवोल्लासस्य जृम्भितमपि न । तथाजरामरत्वकृन्महौषधिरसो रसायनं, तस्य पाने कौतुकमपि न । तथा शक्रस्येन्द्रस्यासनं तत्र वासे वासना इन्द्रासनस्थित्यभिलाषोऽपि श्रीशंभुकृपाषोडशांशमपि पूरयितुं न क्षमः ॥ तिलकम् ॥ १९-२१ ॥

सुरभिर्नेति । हे विभो, यथा तव करुणा मम स्पृहास्पदम् । भवतीति शेषः । तथा सुरभिः (वसन्तः) मम स्पृहास्पदं न भवति । तथा सुरभिः सुगन्धोऽपि दक्षिणमारुतो मलयमारुतोऽपि न मम स्पृहास्पदम् । तथा सुरा एव भिक्षवस्तेषु वितीर्णं दत्तं वाञ्छितं यथेष्टं यया तादृशी सुरभिः सुरभिनामा स्वर्गे कामधुक् च मम न स्पृहावहा । 'सुरभिः स्त्री कामधेनुः सल्लकी चैव वालुकी । सुरायां स्यात्सुगन्धौ तु मनोज्ञे त्रिषु ना मधौ' इति मङ्ख ॥ २२ ॥

समुदेतीति, क्लमजमिति । हे चन्द्रकिरीट चन्द्रमौले शंभो, हे भगवन्, शोकजं जन्मजरामरणत्रासदुःखजातं यदश्रु समुदेत्युत्पद्यते, तदेव तावकीं कृपां शरणं प्राप्नुवतां धन्यानां भक्तजनानां रुचिरानन्दमयं परमानन्दमयं विभाति । तथा भयेन जन्मजराद्युत्पन्नेन यः पुलको रोमाञ्चः प्रथते, स एव भक्तिरसाद्भुतविहितः प्रवर्तते प्रकटीभवति । तथा क्रमेण भवमरुभ्रमणजखेदेन दृशि यन्निमीलनं संकोचनं, स एव परमार्थानुगमात्तत्त्वाभ्यासादुदेति । तव कृपां शरणं प्राप्नुवतां धन्यानामित्यर्थः । अश्रुपुलकादयः शोकजा आनन्दजाश्च भवन्तीति विशेषोक्तिः । युगलम् ॥ २३-२४ ॥

भजत इति । हे उमापते, कालेन कलिकालेन तुरीययुगकालेनाञ्छितो विस्तारितो विग्रहो वैरं यस्य स तादृशस्य मे मृत्युना कृतो ग्रहो ग्रहणं यस्य स तादृशस्य नरकं निरयं भजतः सरला साध्वीत्वं व भारती वाणी प्रथतां विकासमेतु । तथा नरकङ्कालकृतग्रहस्य नराणां कङ्काला शिरोस्थीनि तेषु कृतो ग्रहो हेवाको येन तस्य । नरकपालधारिण इत्यर्थः । कलैव कलिका चन्द्रकला तया लाञ्छितः शोभितो विग्रहो यस्य स तादृस्य ते करुणापि कृपापि प्रथतां विकासमेतु । मां दृष्ट्वेत्यर्थः ॥ २५ ॥

भगवन्निति, कुपितान्तकेति, न कुकर्मेति, यदीति । हे भगवञ्शंभो, मदिरायाः सुराया मदेन या उन्मदा प्रमदा वरनारी, तस्या अपाङ्गतरङ्गो नेत्रान्तावलोकनं तद्वद्भङ्गुरमस्थिरं जरसा विस्रसया तरसा बलेनावसादितं जीर्णीकृतं वपुः । ममेति शेषः । यावदापदं विनाशं नैति । कुपितः क्रोधोद्धुरो योऽन्तककिंकरो यमदूतस्तेनेरितः क्षिप्तः कुटिलां वक्रां तद्भ्रुकुटिं, यमदूतभ्रुकुटिमनुकुर्वन्, घनकज्जलराशिसदृशो भुजगः सर्पपाशो यावन्न मे कन्धरां ग्रीवामुपैति, तथा कुत्सितकर्मविपाकेन प्राप्ता वेदना निरये यावन्नोदेति । कठिना मर्मभेदिनी । तथा शमनानुगामिभिर्यमभटैर्गदिता गीरिव । परुषा मर्मभेदिनी च यावन्न ममोदेति । हे दयालो, तावत्प्राथम्ये । ते तवेयं करुणातरङ्गिणी कृपानदी ते तव हृदयमर्थाद्धृदयाम्भोधिं यदि न गहते हे विभो, वद, तदा दुःसहा तापसंपद्येषां ते तादृशानां शरणार्थिनां मादृशां का गतिः । न काचिदित्यर्थः । चक्कलकम् ॥ २६-२९ ॥

न समानेति । स्वदमानः स्वो निजो दमः शमो यस्याः सा स्वदमानस्वदमा । तथा शिवदा कैवल्यदायिनी । तथा शिवस्य परमेश्वरस्य दास्यं दासभावं करोति तादृशी, शिवदास्यकृत् । अनघा निरवद्या मतिर्बुद्धिर्यथा यतात्मनां जितेन्द्रियाणां प्रमदाय परानन्दाय भवति, तथा प्रमदा वरकामिनी प्रमदायानन्दाय न भवति । किं भूता प्रमदा । समानो मानसहितः समागमो यस्याः ॥ ३० ॥

एक इति । 'दरो भये दरी गुहाल्पार्थे त्वव्ययम्' इति मङ्खः । दरमीषद्वेल्लिते भ्रुवौ येन स तादृश एको महर्षिरौचित्यादत्र विश्वामित्रो जनंगमजनं वसिष्ठर्षिशापेन चण्डालीभूतं त्रिशङ्कुं

पुरंदरपुरं स्वर्गं किंस्विद्गमयेत्किं गमयेत्, कथं गमयेदित्यर्थः। अन्यो महर्षिरौचित्यादत्र गौतम इन्द्रमसंपदमविद्यमानसंपदं विश्रान्तिरहितं तामसं पदं तमोमयं सहस्रभगीभूतभवनदं, किं गमयेत्तदा कथं प्रापयेत्। तदा कदेत्याह—हे भव शंभो, धन्य उदयो यस्याः सा दया भवतो यदि न तयोः स्यात्। भवद्दययैव तयोस्तादृशशापानुग्रहशक्तिरासीदित्यर्थः। पूर्वं त्रिशङ्कुनाम्ना नृपेणारब्धे मखे स्वकीयपुरोहितोऽपि वसिष्ठो मदान्धेन न निमन्त्रितः। ततो वसिष्ठेन स्वयजमानाय त्रिशङ्कवे जनंगमो भूया इति शापो दत्तः। यावदन्येन यज्ञयन्त्रा विश्वामित्रेण स त्रिशङ्कुर्भगवद्दयया वचनात्स्वर्गमारोहित इत्याख्यायिका। तथा पूर्वं गौतमभार्यया सहेन्द्रः संगतः।············। ततो गौतमभयात्पलाय्य स इन्द्रस्तद्योन्यन्तरं गतः। ततो गौतमः कृतस्नानोऽग्निहोत्रसमये 'इन्द्राय स्वाहा' इत्याहुतिं दत्तवान्। ततो योन्यन्तरात्स इन्द्रो हस्तमाकृष्य निर्गतः। गौतमोऽप्यतिक्रुद्ध इन्द्राय सहस्रभगो भूयाः, इति शापमदात्। इन्द्रोऽपि तत्तपो माहात्म्येन सहस्रभगः संपन्न इत्याख्यायिका॥ ३१॥

आर्द्र इति। आर्तजनस्याशरणजनस्योपतापः संतापस्तस्य संपर्काद्विभोर्मनसि कृपयार्द्रं उदितमुत्पन्नम्। अथ शुभायां दृशि कन्दलितं संजातकन्दम्। वाच्यभयवाचि क्षणात्कुसुमितं पुष्पितम्। पुनः कृत्ये रक्षाकर्मणि फलितं सफलं जातमिन्दुमौलेः श्रीशिवभट्टारकस्य कारुण्यबीजं कारुण्यमेवाजरमद्भुतं बीजं जयति सर्वोत्कृष्टं भवति॥ ३२॥

अथेदानीं देहिनामन्त्यावस्थां वर्णयन्कविः परमेश्वरकरुणोत्पादकं दीनाक्रन्दनं 'रोगैः' इत्यादिवृत्तचतुष्टयेनाह—

रोगैरिति, तर्षोत्कर्षादिति, शोकोद्रेकादिति, स्वस्थावस्थैरिति। उग्रैर्दुस्तरै रोगैर्ज्वरादिभिरसाध्यैरखिलं विगलत्सौष्ठवं यस्य स तादृशः। अत एवाशुचिन्यपवित्रे शयने शय्यायां पर्यस्तानि विस्तीर्य प्रक्षिप्तान्यङ्गानि करचरणादीनि येन सः। यावज्जीवं जननसमयादारभ्याहितं दुष्कृतं विहितं कर्म स्मृत्वा स्मृत्वा स्मारं स्मारं, मया मूढेन किं कृतमिति पश्चात्तापेन दलितं खण्डितं हृदयं यस्य सः। कातरो दीनः। कान्दिशीकः कां दिशं यामीति भयेन त्रस्तः। 'कान्दिशीको भयद्रुतः' इत्यमरः। तर्षस्य लोभस्योत्कर्षादतिलालसत्वात्कलुषैः क्रूरैश्च शर्मह्वद्भिः कल्याणहरैः कर्मभिर्भृशमत्यर्थं शरीरं क्लेशयित्वा कथमप्यतियत्नेन यत्प्राप्तमखिलं द्रविणं धनं रिक्थग्राहैर्भोगिभिरंशहरैः सहजादिभिस्तद्धनमग्रे लुण्ठ्यमानं पश्यन्। पुनः किंभूतः। नश्यन्त्यत्युग्रव्यथया नष्टचेष्टानि सकलानि करणानि कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियाणि यस्य। अत एवान्तर्मनसि शुचा शोकेन दह्यमानः। एतादृगवस्थमग्रे दृष्ट्वा अविरलं बहु गलद्यद्बाष्पं तेन पूर्णेक्षणाभिः पूर्णनेत्राभिः सत्पत्नीभिः पतिव्रताभिर्भार्याभिश्चकितचकितमतिशयेन दीनं लोचनैरीक्ष्यमाणो दृश्यमानः। पुत्रैस्तनयैर्मित्रैः सुहृद्भिः सहजाश्च सचिवाश्च तैर्बन्धुभिर्भृत्यानां वर्गाः समूहास्तैस्तादृगवस्थं दृष्ट्वा आक्रन्दद्भिः पूत्कृत्य विलपद्भिः, करुणकरुणैरति करुणैः प्रलापैर्हंतुभिरन्तर्लीनकिञ्चित्स्मृतित्वात्पीड्यमानः। ततः किञ्चिदन्तर्लीना स्मृतिर्यस्य स तादृशोऽपि सन् स्वस्थावस्थैर्नीरोगैर्भृशमत्यर्थमशुचिताशङ्किभिरपवित्रत्वशङ्किभिः किंचिदन्तर्लीनस्मृतिरपि स देही वेश्मगर्भाद्गृहान्तरान्निष्ठुरैः कठिनाशयैर्हठाद्बलेन हस्तपादादि गृहीत्वा कृष्यमाणः। दाहार्थमिति शेषः। यस्मिन्समये मृत्युनान्तकेन कवलितं ग्रस्तं वपुर्यस्य स तादृशो भीतिं महासंकटमभ्येति प्राप्नोति, तत्र तादृशि समये ऐश्वरीं परमेश्वरसम्बन्धिनीं करुणां

विना क इव त्राता पालकः। न कोऽपीत्यर्थः। केवलमीश्वरकृपैव तत्र शरणमितिभावः॥ संदानितकम्॥ ३३–३६॥

वपुःखण्ड इति। वपुःखण्डे महेशितुः शरीरार्धे शैलदुहितुः पार्वत्याः खण्डोऽर्धम्। वामभाग इत्यर्थः। प्रभोः शिखण्डे किरीटे खण्डेन्दुरर्धेन्दुः। स्वयमपि स्वामी शंभुः खण्डपरशुः। 'खण्डः परशुरस्य जामदग्न्येन सह कुठारविनिमयात्' इति जितेन्द्रकृतटीकायाम्। तथाप्येवमपि सति सर्वथैव खण्डत्वेऽपि सति प्रत्यग्रं नवं शरणमुपयातं शरणागतं प्रति, विभोः स्वामिनः परमेशस्य जगति त्रिभुवने करुणाया अखण्डो व्यापारो विजयते सर्वोत्कृष्टो भवति। सर्वत्र खण्डत्वेऽप्यखण्डैव करुणा शंभोः शरणागतं प्रतीत्यद्भुतमित्यर्थः॥ ३७॥

जय जितामयेति। हे विभो। कथंभूत। जिताः षडूर्मयः शीतातपाद्या जरामरणादयो वा, बालाद्यवस्था वा आमयाः पर्यवसाने दुःखदायित्वाद्येन जितामय त्वं जय, ब्रह्मादिकारणेभ्योऽप्युत्कृष्टो जय। पुनः किंभूत। सुधापरानन्दरूपा प्रकृतिर्यस्य स त्वं जय। तथा हे धृतामृतदीधिते। धृतः अमृतदीधितिश्चन्द्रो मुकुटे करे च येन तत्संबोधनम्। जय। तथा हतोऽन्धकोऽन्धकासुरो येन तत्संबोधनम्। तादृशस्त्वं जय। तथा पुराणां त्रिपुरासुराणामन्तकस्तत्संबोधनम्। त्वं जय। हे कृतान्तकसंहृते। कृता अन्तकसंहृतिर्यमनिःशेषीकरणं येन तत्संबोधनम्। त्वं जय। हे परात्पर ब्रह्मादिभ्य उत्कृष्ट त्वं जय। हे दयापर करुणापूर्ण, त्वं जय। हे नतार्पितसद्गते नतेभ्यः प्रणतेभ्योऽर्पिता दत्ता सद्गतिः स्वसायुज्यरूपा येन तत्संबोधनम्। जय। हे जितस्मर, जितः विजितः स्मरः कामो येन तत्संबोधनम्। विजय। हे महेश्वर त्वं जय। हे त्रिजगत्पते त्रैलोक्यसंरक्षक त्वं जय॥ ३८॥

बहुनेति। अत्र बहुनोक्तेन किं फलम्? उमापतेः श्रीसदाशिवभट्टारकस्य करुणामनुकम्पां भजत। कामिव, कैटभद्विषो हरेर्विभूतिमिवाधिपत्यमिव। तामपि किंभूताम्। सुशोभना ये दशसंख्या अवतारा अंशा दिव्यमत्स्यदिव्यकच्छपाद्यास्तान्करोतीति तादृशीम्। तथा ऊर्जिता प्रदीप्ता श्रीः हरिप्रिया यस्याः सा ताम्। तथानिरुद्धस्य श्रीकृष्णपौत्रस्य यद्धृदयेप्सितं बाणासुरकन्याया उषायाः प्राप्तिरूपं तस्यागमः प्राप्तिस्तत्र प्रवणा तादृशीम्। पूर्वं पाताले उषा बाणासुरदुहिता स्वप्ने पुरुषमेकमपश्यत्। ततः स प्रद्युम्नतनयोऽनिरुद्धः पातालं प्रविष्ट उषासख्याश्चित्रलेखाया वातायने आत्मानं गोपयित्वा स्थितः। तत्र तयोः स्वयंवररूपः संगोऽभूत्। बाणासुरस्तज्ज्ञात्वानिरुद्धेन सह युद्धमकरोत्। तदनु नारदाभिहितवृत्तान्तेन कृष्णेन कृतदुर्गारूपेण पातालं प्रविश्य बाणासुरस्य भुजच्छेदं विधाय सा उषानिरुद्धसमीपं प्रापितेत्याख्यायिकेति शिवम्॥ ३९-४०॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-रत्नकण्ठविरचितायां
लघुपञ्चिकायां करुणाराधनं नाम पञ्चदशं स्तोत्रम्।

———

षोडशं स्तोत्रम् ।

वृषलक्ष्मण इति । प्रकर्षेण नता भक्तिप्रह्वा ये लोकास्तेषां बन्धव आश्वासकारिणः । तथा कलिता शोभायुक्ता अलिकाल्ललाटात्स्खलिता सिद्धसिन्धुर्गङ्गा येषाम् । तथा द्युतिभिर्दीप्तिभिस्तुलित उदितेन्दुः पूर्णेन्दुर्यैस्त एवंभूता वृषलक्ष्मणो वृषाङ्कस्य श्रीशिवभट्टारकस्य पादपद्मपरागकणा जयन्ति, सर्वोत्कृष्टत्वेन वर्तन्ते ॥ १ ॥

अमलैरिति । हे सुधाद्युतिवतंस चन्द्रमौले, अविरलैर्घनैरमलैः स्वच्छैः फलैर्मृद्वीकाप्रभृतिभिरलंकृता भूषिता । तथा आदौ हरिता नीलाः परिपाकेऽरुणा ये प्रणता नम्राः शालयस्ताभिः शालते तादृश्यपि वसुधा भूमिस्तव विभोः स्तवं शंसतस्त्वां स्तुवतो जीर्णतृणवत्प्रतिभाति भासते ॥ २ ॥

तिमिरमिति । हे अनन्त निर्विनाश विभो, अवलोकनं प्रसाददर्शनमर्थयतीति तादृशस्य मम चिरन्तनमनेकजन्मोपार्जितं तिमिरमज्ञानरूपं तमः । कीदृशम् । सततं नित्यं ग्लपितो म्लानीकृतोऽवलोको येन तत् । अमृतं निःश्रेयसं सृजता वितरता, कलिकाले तुरीययुगसमये कल्मषं पातकं मुष्णातीति तादृशेन चक्षुषा प्रसन्नेन नेत्रेण मुषाण निःशेषीकुरु ॥ ३ ॥

वहतेति । हे विभो, असादितामविनाशितां द्युतिभिरविकलां पूर्णां कलावतश्चन्द्रस्य कलां वहता धारयता । तथा प्रकाशेन विशदा निर्मला आशाभिलाषो यस्य स तादृशस्तमाशयं मनो दिशता । तथा शिवं पुष्णातीति शिवपुट् तादृशेन शिवपुषा वपुषा कलेवरेण मे मम शिवं पुषाण वर्धय ॥ ४ ॥

घनघर्मेति, तदनन्तरमिति, अवधीर्यमाणमिति, इतिदीर्घेति । धनलवप्राप्त्याशया धावं धावं दूरगमनाद्घनेन घर्मेण स्वेदेन लङ्घिता कपोलभित्तिर्येषां ते । तथा दूरधावनेन यः श्वसितस्यानुबन्धस्तेन विधुरीकृतो म्लानीकृतोऽधरो येषां तादृशाः । तथा द्युत्या कान्त्या विहीनं दीनं वदनं मुखं येषान्ते तादृशा धनार्थिनो वित्ताभिलाषिणो जना धनिनामाढ्यानां पुरः स्वां दुर्गतिं प्रकटयन्ति । तदनन्तरं च विहितावहेलाः कृतावगणना ये जगतीपतयो नृपास्तैरीक्षिताः । त्रपया लज्जयापयापितमधोमुखं मुखं येषां तादृशाः । त एव धनार्थिनो याच्ञया तरलितान्यक्षराणि यस्यां सा तादृशीम् , तथा चिरसंभृतो बहुकालं मनसि धृतो यः प्रसादः किंचिद्धनप्राप्तिहर्षस्तस्य यः सादो नाशो दातुर्वक्रमुखत्वादिवीक्षणात् । तेन गद्गदा, पदे-पदे स्खलन्ती ताम् । एवंविधां गिरं वाचं प्रयुञ्जते कथयन्ति । अथानन्तरं दीर्घो मत्सरः परोत्कर्षासहनं येषां तादृशैर्ज्ञानलवदुर्विदग्धैरवधीर्यमाणमवगण्यमानम् । तथावबोधेन तत्त्वार्थावबोधेन वन्ध्यं हृदयं येषां तादृशैरनभिज्ञैरनादृतमकृतादरम् । शलभस्य पतङ्गस्य जृम्भितमुत्प्लुतिस्तत्तुल्यं निजगुणकौशलं त एव धनार्थिनः प्रथयन्ति प्रकाशयन्ति । परमुत्कृष्टं पराभवं च यान्ति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण दीर्घो विततो दुर्भरो दुर्धरः कुटुम्बडम्बरः कुटुम्बाटोपो येषां तादृशाः । धनसंग्रहार्थं यो ग्रहो हेवाकः स एव ग्रहो भूतादिस्तेन गृहीतं मानसं येषां तादृशाः । अतएव वनवासिभिर्जाङ्गलिकलोकैर्मुनिभिः प्रहसिता हसितुं प्रवृत्ता विडम्बिता प्रवृत्तिर्व्यापारो येषां तादृशाः । निबिडं दृढं विडम्बनं यान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ (चक्कलकम्) ॥ ५-८ ॥

कृतिन इति, सुरसिन्धुरोधसीति, हरिणैरिति, दिवसेति, धवलीकृतेति, इति

बिभ्रत इति। पुनः पक्षान्तरे। पूर्वोक्तधनलवलुब्धासंतुष्टजनेभ्यो व्यतिरिक्ताः सदा सन्तोषयुक्ताः कृतिनो धन्याः कोमलमृदङ्गध्वनिनिभस्वनिता निर्झरोर्मयो येषां तादृशेषु। सुलभहरिततृणावली-भिर्वलितं स्थलं येषां तादृशेषु। 'ललित' इति पाठः। एवंभूतेषु तुहिनाद्रिसानुषु शिखरेषु कृतवृत्तयो रचितस्थितयः सन्तः। सुरसिन्धुरोधसि गङ्गातटे गृहीताः पूजार्थमुच्चिता या केतक्यः केतकीकुसुमानि, ताभिश्चलितान्यङ्गुल्य एव किसलयानि पल्लवानि यस्य स तादृशेन पाणिना, कृपाब्धेः श्रीशिवस्य विविधां पञ्चोपचारपूर्विकां विधिना आगमोक्तेन, पादपद्मपूजां विधाय कृत्वा त एव कृतिनो धन्याः पूजार्थमानीतानां कुशाग्राणां ग्रासाभिलाषुकैर्हरिणैः। तथा भरणार्थिभिः पोषणाभिलाषिभिः कलविङ्कशावकैश्चटकपोतैः। अतिथीभवद्भिरर्थिरूपैः, न हता आह्निकक्रिया सन्ध्याजपादिविधानं येषां ते तादृशाः। फलेन वनफलेन मूलेन च शरीरयात्रापर्याप्तेन कृता शरीरवृत्तिर्यैस्ते तादृशाः। तथा दिनान्तसमये सरन्प्रचलन् यो मरुद्वायुस्तेन परिकीर्णानि यानि जीर्णतृणपर्णानि तैर्मर्मराः सशब्दाः। तथा तदनन्तरं तनवोऽल्पा ये गङ्गाजलशीकरास्तेषामुत्करैः समूहैः शिशिरा वनस्थलीः कर्मभूताश्चरिताः संचारिताः। किमर्थम्। शिवाय कैवल्यार्थम्। एवं-भूता धन्याः अमृतभानुभानुभिश्चन्द्रांशुभिर्धवलीकृतासु निर्धौतासु ज्वलितमहोषधीषु। कल-कण्ठानां कुहूमुखानां यः कण्ठस्तस्य कुहरं विवरं तस्मादुद्गतो यः स्वरः कुहूरवस्तेन स्वरसतोऽर्पितं श्रुतिसुखं याभिस्तास्तादृशीषु रजनीषु शेरते सुखं निद्रां कुर्वन्ति। इति पूर्वोक्तेन प्रकारेण श्रीशिव-चरणपङ्कजरजःप्रसादोत्थं प्रियंकरमतीव मनोहरं परिकरं सहायसामग्रीरूपं बिभ्रतो गजानां हस्तिनां कर्णतालवच्चपल आश्रयः स्थितिर्यासां तादृशीः श्रियो लक्ष्मीर्मूढमनसां महीभुजां राज्ञां विशेषेणाट्ट-हासरूपेण हसन्ति। षड्भिः कुलकम्॥ ९-१४॥

अथातः कामक्रोधादीनत्यक्तमनसोऽन्तःप्रहरतो वर्णयति—

दधदुद्धतमिति, जनयन्नयमिति, धनलाभेति, उचितेति, इति तर्जयन्तीति। हे हर भवामयहर, पुरोऽग्रे वलन्ती सविभ्रममपाङ्गभङ्गिर्नेत्रान्तविच्छित्तिर्यासां तास्तादृशीभिः पुरन्ध्रिभिः सुचरित्राभिर्वरवधूभिः प्रबलमुद्धतं बलं दधत्। शरपातेन कामशरपातेनातिकातरा दृग्यस्य स तादृशस्य मम, भृशमतीव कृशं हृदयं घस्मरो जगद्भक्षकः, स्मरो भिनत्ति। हे ईश त्रिलोकनाथ, नयनयोर्नेत्रयोरधीरतां तारल्यं जनयन्, तथा भृशमत्यर्थमदभ्रसंभ्रमां घनव्याकुली-भूतां भ्रुवं भ्रमयन्घूर्णयन्। तथा प्रकृष्टयत्नेन कृतः संगमो येन स तादृशं बहुयत्नलभ्यमपि शमं जितेन्द्रियभावं श्लथं कुर्वन्। एष रोषः क्रोधो मां हसनीयतां बिडम्बनीयतां नयति। धनस्य लाभस्तेन संभृता ये विलासास्तेषु वासना, तया व्यथमानं मानसं यस्य स तादृशम्। तथा असत्यसंगरं मिथ्याप्रतिज्ञम्। तथा विशोभो निःश्रीको यो लोभस्तेन विवशो विह्वलस्तादृशम्। तथा कोपिताः सकोपीकृताः कदर्थिता विमुखीकृता अर्थिनो येन स तादृशं मां सुहृदोऽपि सखायोऽपि न स्पृशन्ति, किं पुनरपरे जनाः। उचितो युक्तो यस्त्रिवर्गो धर्मार्थकामानां त्रयाणां वर्गस्तेन रहितम्। तथा तिरोहितं तिरस्कृतम्। साधुजनेनेत्यर्थात्। तथा घनश्चासौ मोहोऽज्ञानं तेन मूढं मनो यस्य स तादृशस्तम्। तथा सदसतोः कार्याकार्ययोर्विवेकस्तेन विकलो रहितस्ता-दृशम्। कलङ्कितं सकलङ्कं मां कृतधियां मनीषिणामधिसदः सदसि, सदःसदः सभ्यजना हसन्ति विडम्बयन्ति; हे महेश ब्रह्मादीनामप्यधीश, सुष्ठु अत्यर्थं दुर्जया रिपवः शत्रवः कामक्रोधलोभ-मोहाख्या मां तर्जयन्ति भर्त्सयन्ति। तथा विशुद्धबुद्धयो धौतचेतसो विद्वांसोऽपि मां परितो

वर्जयन्ति । हे महेश, ते आभ्यन्तराः कामक्रोधाद्याः शत्रवो विधुरं भीतं मां यथा न जयन्ति तथा कुरु । त्वमेह्यागच्छ । शीघ्रमित्यर्थात् । दृशमनुग्रहदृष्टिं च नोऽस्मभ्यं देहि । पञ्चभिः कुलकम् ॥ १५-१९ ॥

क महेश्वरेति, क शिवेति, क समाधीति, इति मामिति । महेश्वरस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवानामपि षण्णां कारणानामीश्वरो महेश्वरः, परमशिवस्तस्य स्मरणं तस्मात्संभवो यस्य तत्तादृशं सुखं विगलितवेद्यान्तरपरमानन्दरूपं क भवति । अत्युत्कृष्टं भवतीत्यर्थः । किंभूतम् । भवे संसारेऽर्थान्मरुरूपे यो भ्रमो भ्रमणं स एव भीमो घर्मो निदाघस्तस्य शमे शान्तौ संमुखम् । तथा मृदु कोमलं यन्मृणालिनीदलं कमलिनीदलं, तत्र स्खलन्पतन्योऽम्बुबिन्दुर्वारिकणस्तद्वत्तरला चञ्चलाः । तथा विपदां संपत्स्वपि दुष्कृतकर्मस्खलितचित्तत्वेन परिणामेऽत्यन्तदुःखदायित्वात्पदं स्थानं संपदः श्रियः क भवन्ति । नित्यगर्ह्या इत्यर्थः । हे शिव, आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपकैवल्यदायिन्, हे ईश्वर त्रिजगदधीश । मां पाहीत्यर्थात् । एवंभूता गिरो वाचः क भवन्ति । सकलविद्वज्जनमनोहरा इत्यर्थः । किंभूताः । कृतेत्यादि । कृतो गण्डमण्डल्यां कपोलपाल्यां पुलकोद्गमो रोमाञ्चोद्भवो येन स तादृशो यः परमानन्दस्तेन मन्थरा अलसाः । तथा यथार्थः सार्थः पञ्चानामपि महाभूतानां पृथ्वीतत्त्वेनैवाधिकेन मनुष्यसृष्टेः पार्थिवः पृथिव्या निर्मित इति सार्थकः । अत्र 'वृथार्थः' इत्यपि पाठः । तत्पक्षे सम्यक्प्रजापालनादीनां पार्थिवगुणानामसंभवाद्वृथार्था ये पार्थिवास्तेषां या निरर्थका व्यर्था अनृताख्या स्तुतिस्तस्या विस्तरैः कुमार्गपातरूपं पातकं क । अत्यन्तगर्हणीयमित्यर्थः । योगेनात्ममनसोरैक्यं समाधिस्तेन बाधितो दुराधीनां जन्मजरामरणत्रासरूपाणां मनःपीडानां साधिमा बाढत्वं येन स तादृशो भवसंभवो भवमरुभ्रमणजो यः श्रमस्तस्य दमे क्षमः शमो जितेन्द्रियत्वम् । जितात्मत्वमिति यावत् । तत्क । अतिप्रशस्यमित्यर्थः । तथा प्रकर्षेण दर्शितः समग्रः सकलो विग्रहो वैरं येन स तादृशः । तथा प्रकर्षेण हसन्साट्टहासो यो मनस्विजनस्तेन गर्हिता स्थितिर्यस्य स तादृशो मदो गर्वः क । नितान्तगर्ह्य इत्यर्थः । हे क्षणदाविशेषकशिखाशिखामणे चन्द्रकलाशिरोमणे शंभो, इत्यनेन प्रकारेणानर्गलमकार्यकरणेऽपि निर्निरोधं तथा कुमार्गमार्गणे प्रवणो लीनश्चासावविवेकस्तेन विकलीकृतो विह्वलीकृत आशयो यस्य स तादृशं मां, हे करुणानिधान शंभो, क्षणं परिबोधय सावबोधं कुरु । संदानितकम् ॥ २०-२३ ॥

प्रमदेति, दधत इति, न भयमिति । हे दयामृतनिधे कृपामृताम्बुधे श्रीशिव, अतः कारणादापदं जन्ममरणसंकटरूपां विपदं क्षपयन्नाशयत्पदं स्थानं नोऽस्माकं हृदये चित्ते निधेहि । अतः कुत इत्याह—प्रमदेत्यादि । यत एते प्रमदाप्रभृतयो भयानकयमदूतभ्रुकुटीभवं भयं हन्तुं शीघ्रमेव भजतां भक्तजनानां न क्षमन्ते, अतः । के ते इत्याह—प्रमदाः कृशोदर्यस्तनूदराः । मदेन क्षैब्येनारुणा रक्ता दृशो यासां तादृशाः प्रमदा वरकामिन्यः क्रुद्धयमदूतभ्रुकुटीभवं भयं हन्तुं यतो न क्षमन्ते । एवमग्रेऽपि । तथा नयेन नीत्या विनयेन चासमन्तान्नतं प्रह्वं समस्तं मस्तकं शिरो येषां तादृशास्तनयाः सुताश्च प्रागुक्तं भयं हन्तुं न क्षमन्ते । तथा हृदन्तरगतं मनोगतं यदिङ्गितमभिप्रायरूपं तत्स्पृशन्ति तादृशाः सुहृदः सखायोऽपि न क्षमन्ते । तथा प्रणयेन स्नेहेनार्द्रा निर्भरा पूर्णा च गीर्वाग्येषां तादृशा बन्धवश्च न क्षमन्ते । प्रसादेनानुग्रहेण मधुरां रम्यां धुरं ज्येष्ठतामपि दधतो बिभ्रतः । तथामृतप्रवाहसमानं मानसं येषां ते तादृशाः प्रभवो विभवोऽपि

न क्षमन्ते पूर्वोक्तं भयं हन्तुम् । तथा प्रतिक्षणं मुखदर्शनकाङ्क्षमाणाः, त्वं जयेति च वादिनः, परिचारका भृत्याश्च प्रागुक्तं भयं हन्तुं भजतां जनानां न क्षमन्तेऽतस्त्वं दयां विधायास्मद्धृदये पदं निधेहीति ॥ तिलकम् ॥ एतद्वृत्तार्थानुसारेण ममाप्येकं वृत्तम्—

'तातस्त्राता न हि न सहृज्ञाश्वासनं यत्र चाम्बा-
स्नेहारम्भो भवति च मृषा बन्धवो यत्र बन्ध्याः ।
चौराहार्यं क्षयविरहितं खिद्यतां देहभाजा-
मेकं तस्मिन्पथि सुमधुरं शम्बलं शंभुनाम ॥'

इति ॥ २४-२६॥

अथात एतस्य स्तोत्रस्योपसंहारवृत्तमाह—

हन्ताहन्तेति । हन्त खेदे । हे विभो, आयासितस्तनूकृतः सितः स्वच्छः शमो जितात्मस्वरूपो यया सा तादृशी । मायामविद्यारूपमज्ञानपर्यायं तम आसञ्जयन्त्युत्पादयन्ती । आयामिनी विस्तारवती यामिनी रात्रिरिव । अहन्ता नश्वरेऽपि देहेन्द्रियादावहंभावपर्याया, मतेः प्रज्ञाया ह्रासो नाशस्तं प्रथयति विस्तारयति । न इति शेषः । तस्माद्धेतोः हे महेश, रविशशिशिखिभी रवीन्दुवह्निभिः प्रेङ्खितं प्रदीप्तमुद्भटं धाम तेजो यस्य तत्तादृशं मुदितं प्रसादमधुरं चक्षुर्नेत्रं क्षिप्त्वा, उदित उत्पन्नोऽवन्ध्यः सफलो बोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते तादृशास्तान्नोऽस्मान्विधेहि कुर्विति शिवम् ॥ २७ ॥

इति श्रीराजनकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठविरचितायां-
लघुपञ्चिकायामुपदेशनं नाम षोडशं स्तोत्रम् ।

सप्तदशं स्तोत्रम् ।

अथातो भक्तिस्तोत्रं सप्तदशमारभमाण आह—

मन्दस्पन्दे इति । वरं ददातीति वरदा तस्या आमन्त्रणं, हे मातर्वरदे भारति सरस्वति, भक्त्यासक्तिं विनानन्यगतित्वान्मन्दस्पन्दे निःस्पन्दे मनसि । अर्थान्मे । सद्यस्तत्क्षणमेव रसिकीभावं समासक्तित्वमासाद्य, हृद्यो मनःप्रिय उद्योगो यस्यास्तादृशी मदीये मनसि, विहर क्रीडां कुरु । ते तव, स्वा रतिः स्वकीयेच्छा भवति । हे मातर्भारति, इहास्मिन्महांश्चासौ मोहोऽविद्यापरपर्यायोऽज्ञानमेवनिद्रा तस्यावसाने श्रीशिवभक्तिपातावलब्धमोहनिद्रावसाने, इमं जनं मल्लक्षणं श्रीशंभुभक्तिं शंसितुं वर्णयितुमनलसमालस्यरहितं जातस्पृहमुदिताभिलाषं जानीहि ॥ १ ॥

द्राक्षेति । कर्कशात्कठोरात्काष्ठकोषाद्वल्लीरूपकाष्ठान्तरात्साक्षात्प्रत्यक्षत एव सुधालहरी द्राक्षा फलोत्तमा 'द्राति रसमिति द्राक्षा' इति स्वामी । कं न सचेतनं विस्मयेनाद्भुतेन स्मेरमुखं जनयति । तथा भूरिच्छिद्राद्बहुरध्राद्वंशगर्भाद्वेण्वन्तरादुत्पन्ना प्रकृत्या स्वभावेन मधुरा मनोहरा मूर्छना स्वराणामारोहावरोहरूपा, कं न विस्मयस्मेरवक्त्रं करोति । एवमेव मम मुखात्सूक्तिव्याजेन निर्गच्छन्ती श्रोत्रपेयेयं सुधा श्रीशिवभट्टारकस्तुतिरूपा कं न जनं विस्मयेन स्मेरमुखं जनयति ॥२॥

ध्यात्वेति । हे देव, दीव्यति परमे धाम्नीति देवस्तत्संबोधनम् । प्रमयसमयान्मृत्युसमयात्त्रासं भयमासन्नकल्पभीषदसमाप्त आसन्न आसन्नकल्पस्तादृशं निकटस्थं, ध्यात्वा संचिंत्य । तथा शलभानां छाया शलभच्छायं, तत्सदृशमायुः स्वकीयं ज्ञात्वा, तथा त्वा त्वां च सदयहृदयं कृपामृतार्द्रमनस्कं भक्तिवाल्लभ्येन केवलभक्तिस्नेहेन लभ्यं च मत्वा, सभ्यमात्मानं मन्यन्त इति सभ्यंमन्याः, धौतचित्ता धौताशया यतन्ते यत्नं कुर्वन्ति । कुत्र । तव विभोर्नवविधौ स्तवविधौ 'णु स्तुतौ' धातुः ॥ ३ ॥

कण्ठ इति । दृशौ नेत्रे एव समुद्गौ सम्पुटकौ, ताभ्यां उद्गतानि अश्रूणि यस्य स तादृशस्य दृक्समुद्गोद्गताश्रोः । तथा हेलयोन्मीलन्तः पुलका यस्यां सा तादृशी, उद्भूता भूतेशभक्तिः परमेशभक्तिर्यस्य स तादृशस्य यस्य धन्यस्य । कण्ठ्यां गले रवो यस्य स कण्ठीरवः सिंहः । कण्ठशब्दस्त्रिलिंङ्गः । सिंहनादसदृगनिभृतः प्रस्फुटः । हे शर्व । शृणाति हिनस्ति कालाग्निरुद्ररूपेण महाप्रलये शिवादिक्षित्यन्तं जगदिति शर्वः । हे शर्व, त्वं पाहीति ध्वनिरुदेति, स एकः सुकृती अखर्वं महान्तं गर्वं विभ्रद्वासवीयामिन्द्रसंबन्धिनीं वसतिं हसति । ऐन्द्रं पदं विडम्बयतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

तन्मानुष्यमिति । मानुष्यं जन्म तत् तदेव धन्यमित्यर्थः । तत्किमित्याह—साधूनां यत्रोत्तमा जातिर्ब्राह्मणजातिर्यत्र प्रभवत्युत्पद्यते । तथा सैवैका ब्राह्मणजातिः शस्या, यत्र पाण्डित्यहेतु पाण्डित्यमेव हेतुर्यस्य तद्यशः प्रसरति संचरति, वैदुष्यभूषिता ब्राह्मणजातिर्धन्येत्यर्थः । पाण्डित्यमपि तदेव, यत्र सरसा सह रसैःशृङ्गारादिभिर्वर्तते या सा तादृशी, अत एव मधुरा च यत्र वाणी जृम्भते । सापि वाणी धन्यतमा यत्र यस्यां वाण्यां शाङ्करी श्रीपरमेश्वरसंबन्धिनी भक्ती रतिं परमानन्दं प्रथयति विस्तारयति ॥ ५ ॥

येषामिति । हे भव, विशेषेण त्रासितो निवारितो रविसुतस्य यमस्य भ्रूभङ्गप्रसङ्गो भ्रुकुटिप्रसङ्गो याभिस्ताः । तथा मधुकणमुचोऽमृतकणमुचः । तथा भक्त्या भक्तिरसामृतेन सिक्ताः । तथा पवित्राः । समदमुदितत्वच्चरित्राः त्रिपुरदाहान्धकवधादीनि यासु ताः । द्वित्रा द्वे वा तिस्रो वा द्वित्राः सूक्तयः प्रौढोक्तयो येषामभाग्यवतां वक्त्रे मुखे नोज्जृम्भन्ते नोल्लसन्ति । भुवि भूमौ भवच्चरणसेवारसेन रिक्तान्हीनानधमांस्तान्धिगस्तु । धिक्छब्दप्रयोगे द्वितीया ॥ ६ ॥

नाथेति । हे नाथ शिवादिक्षित्यन्तजगन्नाथ परमशिव, बहुलरजनौ कृष्णपक्षरात्रौ कार्तिकीया कार्तिकमाससंबन्धिनी ज्योत्स्ना कान्ता मनोहरा यथा सततममृतस्यन्दिनी भाति । तथा कान्तारं दूरशून्योऽध्वा कान्तारान्तर्मरुभूमध्ये मथितो दूरीकृतः पथिकानामध्वन्यानां प्रौढो महांस्तापो यया सा तादृशी प्रपा पानीयशालिका यथामृतस्यन्दिनी भवति । तथा रे कातर, त्वं मा भैषीः, क्रोधोद्धतादन्तकात्त्वं मा भैषीरिति तव वाणी यमभयेऽन्तकविहितसंकटे यथामृतवर्षिणी भवति, तथैव तावकीना भक्तिर्वाङ्मनःकायकर्मभिस्त्वदासक्तिर्मे मम सततममृतस्यन्दिनी भाति ॥ ७ ॥

येषामिति । येषां प्रमोदोद्भूतानामीषद्धसितानामन्तः सुकृतस्य पुण्यस्य सरणिर्मार्गः पदवी, स्थाणवीया श्रीशंभुसंबन्धिनी भक्तिर्व्यक्तिं प्रकटतां न धत्ते, तेषु स्मितेषु प्रहर्षोद्भूतेष्वपीषद्धसितेष्वसकृद्बहुवारं रसं तदासक्तिरसं करोतीति तादृङ्नास्मि । तन्नाशास इत्यर्थः । यत्र श्रीशंभुभक्तियुक्ते रुदिते रोदनेऽपि लोकः सामान्यलोकोऽपि सहसा तत्क्षणमेव शोकं जन्मजरा-

मरणदुःखं त्यजति, तदेवोदितश्लाघमुत्पन्नस्तुति उल्लाघहेतुं नीरोगताकारणभूतं रुदितमपि युक्तं मन्ये। अपिशब्दश्चार्थः। 'उल्लाघो निर्गतो गदात्' इत्यमर ॥ ८ ॥

ध्वान्तमिति। उद्योतस्य प्रकाशस्य श्रिया कलितो विहितः कमलानामुल्लासो विकासो यैस्तादृशा भानवः किरणा यस्य स तादृशः स प्रसिद्धो भानुः सद्यस्तत्क्षणं समुद्यन्नुदयं कुर्वन्। शान्तः प्रकर्षेण शमो जितेन्द्रियत्वं येन तद् ध्वान्तमविद्यारूपं तमो यन्नाहरन्न दूरीचकार। भवे संसारे विध्वस्तो नाशितः प्रमदो हर्षो येन तत्। तथा अदमेनेन्द्रियसंयमाभावेनोद्दीपिता उद्दामा दोषा दुरितहेतवो येन तत्तादृशं तमोऽज्ञानरूपं प्लोषं दाहं नेतुं शांभवी श्रीशंभुसंबन्धिनी भक्तिरेव प्रभवति समर्था भवति ॥ ९ ॥

ये संतोषेति। भग्नाशाभिर्विषमा ये विषयाः पञ्च शब्दाद्यास्तेषामुपासना सेवा तस्या वासनाभिर्हेतुभिः सन्तोषस्य प्रशमः शान्तिस्तस्य पिशुने सूचके। 'पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः। तादृशे क्लेशराशौ क्लेशानामविद्यास्मितादीनां पञ्चानां राशिः समूहस्तत्र ये जना निमग्ना त्रुडितास्तेषां जनानामेषा शांभवी शंभुसंबन्धिनी भक्तिस्त्रिजगति त्रिभुवनेऽगतीनां गतिर्भूयोऽतिशयेन भवात्संसाराद्यद्भयं तस्य भिदा तस्या आरम्भस्तस्य संभावनाङ्गीकारस्तस्य भूः स्थानं। भूत्यै संपदे भूयात् ॥ १० ॥

दम्भेति। दम्भस्य स्तम्भस्तेन स्थगिता रुद्धा गतिर्येषा ते। तथा 'महान्ते पूज्यन्ते कामिजनेन महिला महेलाश्च' इति स्वामी। सावहेला रूपगर्वेण कामिषु सावगणना या महेला वराङ्गनास्तासां हेलालापास्तैर्भ्रमिता मतिर्बुद्धिर्येषां ते तादृशा असंख्याः संख्योत्तीर्णाः पुमांसो मर्त्याः सन्ति। ये पुनर्गङ्गातीरे जाह्नवीतटे विहिता रतिः स्थानं यैस्तादृशाः सन्तो निस्तरङ्गां निश्चलामभङ्गामक्षयां भार्गीं भक्तिं, भृज्यन्ते दह्यन्तेऽनेन कालकामाद्या भर्गः, श्रीशंभुस्तत्संबन्धिनीं भक्तिं हृदि हृदये दधति, त एव पूरुषा नरा दुर्लभाः ॥ ११ ॥

शंभो इति। हे शंभो, कुहकस्य द्रोहस्य य आरम्भस्ताभिर्हेतुभिरेष दम्भो मां दहति। तथा सहाभिद्वेषेण परोत्कर्षासहिष्णुत्वेन वर्तते यः साभिद्वेषो रोष एव प्रदोषो रजनीमुखं त्विषं दीप्तिं ममापकषति निवारयति। 'कष विलेखने' धातुः। तथा बृहन्महानहंकारभारो गर्वभारः सावष्टम्भं सगर्वं मां भ्रमयति। कुपथेष्वित्यर्थः। अतो भवाब्धौ पतितं मां भवाब्धेः पारं नेतुमेका भवद्भक्तिरेव प्रभवति ॥ १२ ॥

द्रागिति। अधिधनुर्धनुषि बद्धा योजिता ये बाणास्तद्वदभिरामैर्भ्रूभङ्गसहितैर्ललटभललनानां प्रगल्भाङ्गनानामपाङ्गभङ्गा नेत्रान्ततरङ्गास्तैरनङ्गः कामो युधं समरं, द्राक् शीघ्रं संधन्ते। मां प्रति युद्धाय सज्जोऽस्तीत्यर्थः। अतो हेतोर्दोषाः कामक्रोधाद्यास्तेषां प्लोषे दाहे क्षमो यः शमो जितेन्द्रियत्वं तस्य पन्थास्तत्रापातमातन्वती कुर्वती भगवति भीमे श्रीशिवे भक्तिरेका मे गतिः। नान्या गतिरित्यर्थः। केव। चक्षुषो भरुभ्रमणसन्ततस्य चन्द्रिका जोत्स्नेवैका गतिः। सापि दोषाणां पित्तधातुकृतानां प्लोषे क्षमा ॥ १३ ॥

काम इति। कामं निश्चये। अनुनिशं निशिनिशि। कौसुमं कुसुमसंबन्धि, धनुः स्वकीयं कामो मदनः संवृणोतु गोपयतु। मां प्रति हताशो भूत्वा स्वं धनुः क्वापि संगोप्य रक्षत्वित्यर्थः। तथा कालोऽपि स्वकरकुहरे स्वपाणिमध्ये व्यालं सर्पं भग्नभोगं मृदितफणमेव विधत्तां करोतु। स्वकर एव मृदितफणं सर्पपाशं मत्त्रासाय गृहीतमपि संगोप्य स्थापयत्वित्यर्थः। अत्र हेतुमाह—

सकलप्रार्थनानां सर्वकामानां कल्पलता पुनः सपदीदानीं भार्गी भक्तिः श्रीशिवभट्टारकभक्तिर्मया प्राचीनसुकृतपरिपाकेन लब्धा इह जगति। अतएव क्लेशा अविद्यादय एव पाशा दुर्भेदाः पाशाः कति न मया दब्धा ग्रथिताः। किं भूताः। हता नष्टा आशा मद्बन्धनशक्तिर्येषां ते हताशाः। मन्त्रमथितसर्पवन्निर्वीर्या जाता इत्यर्थः॥ १४॥

राज्ञामिति। तावत्प्राथम्ये। राज्ञां नृपाणां स प्रसिद्धः श्रीलेशो लक्ष्मीलवस्तनुरल्पः कतिपयग्रामाधीश्वरत्वात्। अतएव अनुचिता प्रार्थना यस्य स तादृशो लक्ष्मीलवस्तावदास्ताम्। यत्र श्रीशिवभक्तिरसामृतलाभे त्रिभुवनजयेन प्राज्या उत्कृष्टा या साम्राज्यलक्ष्मीश्चक्रवर्तित्वलक्ष्मीस्तस्या लक्ष्म चिह्नमैन्द्रं पदमपि लब्धमवज्ञास्पदं भवति, तां शम्भुभक्तिं स्तुमः॥ १५॥

कान्तेति। नानाकारा बहुप्रकारा भर्गभक्तिः श्रीशिवभक्तिः, कृतिनां विदुषां धन्यानां मुक्तये कैवल्याय भवति। नानाकारत्वमेव विशेषणसामर्थ्यादाह—किं भूतानाम्। कान्तोऽतिप्रियो य एकान्तो विजनप्रदेशस्तत्र व्यसनं हेवाकस्तत्र मनो येषां तादृशानाम्। तथा वल्कलेन भूर्जत्वचालंकृतास्तेषाम्। तथा ज्ञानमेवाम्भांस्यमृतानि तैः क्षपितं धौतं रजो रजोगुणोत्थितं दुरितमेव रजो रेणुर्येषां ते तादृशानां, तथा जाह्नवीतीरभाजां गङ्गातटकृतस्थितीनां तथा गाढो य उत्सेकः श्रीशम्भुभक्तिरसोत्सेकस्तेन प्रकटिता या जटामण्डली सैव मण्डनं येषाम्॥ १६॥

इदानीं स्वावस्थां निवेदयति कविः—

मूर्तिरिति। नोऽस्माकं मूर्तिस्तनुर्धूर्तिं 'धुर्वी हिंसायां' धातुः। धातूनामनेकार्थत्वाद् धूर्तिं कम्पं जराशैथिल्येन प्रथयति विस्तारयति। का यथा। यथाशब्द इवार्थे। जीर्णपर्णा मञ्जरी लता यथा धूर्तिं कम्पं प्रथयति। तथा सत्यतो निश्चितं मृत्युदूती जरा पलितं नः कर्णाभ्यर्णं श्रोत्रसमीपं प्रसरति याति। तथा भोगा विषयाः शब्दाद्याश्चेष्टितं बहिःस्पन्दं वेष्टयन्ते, परिवलितं नः कुर्वते। हन्त कष्टे। इदानीमस्यामवस्थायां शम्भुभक्तेः श्रीशिवभक्तेः सकाशान्नोऽस्माकमपरं शरणं पालयितृपर्यायं नास्ति॥ १७॥

यत्रेति। ध्वान्तस्य बाह्यतिमिरस्य क्षपणं निराकरणं तत्र निपुणं कोविदं चान्द्रं धाम महो यत्र मोहान्धतमसे निराकर्तव्ये दुर्बलमसमर्थं भवति। यत्र च तापनः सूर्यसम्बन्धी ताप उद्योतोऽपि तमोऽविद्यापर्यायं न ग्लपयति न नाशयति। यत्र च प्रेङ्खन्नुल्लसच्छिखी अग्निरन्येन तेजसा ग्रहतारामणिविशेषादिजेन सत्रा सह न कचति न दीप्यते। तत्र विषमेऽतिसंकटे मोहान्धतमसे एकैव शांभवी भक्तिरालोकं प्रकाशं दिशति ददाति। तथा च 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' इति रहस्यश्रुतिः। अतश्च तस्यैव परज्योतिषो भावनयाज्ञानतमोनिवृत्तिरात्यन्तिकी भवतीत्यर्थः॥ १८॥

माभूदिति। नाम निश्चये अतिशयेन बहुर्भूयः। तादृग्यदभ्यसनमभ्यासस्तेन सुलभा भूयोऽभ्यसनसुलभा आन्वीक्षिकी, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य पश्चादीक्षणमन्वीक्षा, सा प्रयोजनं यस्याः सा आन्वीक्षिकी तर्कविद्या माभूत्। सुशिक्षिता माभूदित्यर्थः। यतः सापि जन्मिनो भवार्तिं हर्तुं न क्षमा। 'आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्कविद्यार्थशास्त्रयोः' इत्यमरः। दम्यतेऽनेनेति, दमनं वा दण्डः। स नीयते दम्यं जनं प्रति प्राप्यते यया सा दण्डनीतिरर्थशास्त्रं राजनीतिर्विपत्खण्डिनी बाह्याया विपदः खण्डिन्यपि दूरे विरहतु संचरतु। सापि भवहरी नास्तीत्यर्थः। तथा कलिता

विहिता उल्लाघस्यारोग्यस्य वार्ता वृत्तान्तो यया सा तादृशी वार्तापि, वर्तनं वृत्तिरस्ति अस्यां वार्ता। 'प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः। वृत्तेश्च।' 'आजीवो जीविका वार्ता' इत्यमरः। 'स्त्रियां कृषिः पाशुपाल्यं वाणिज्यं चेति वृत्तयः'। इति च। वार्ता कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यादिरूपा सापि स्थेम्ना स्थैर्येण क्वापि देशे लसतु। तथापि न प्रयोजनमित्यर्थः। सिद्धान्तमाह—नार्तौ वर्हमित्यादि। आर्तौ भविनां जन्मजरामरणत्राससंकटे शंभुभक्तिं विना, अन्यच्छरणं नार्हं योग्यं न भवति॥ १९॥

संसाराब्धेरिति, तस्मादिति। नाम निश्चये। संसार एवाब्धिरनन्तत्वात्, तस्य भवाब्धेः प्रथमलहरी, आद्या वीचिर्महावेगवती, पातके दुष्कृते आपातस्तं कामयते तस्यां कामो वा यस्याः सा। रमते कामिजने रामाङ्गना मज्जतां संसाराब्धौ। सज्जनानां साधूनां गतिमूर्ध्वगमनं स्थगयति रुणद्धि। अत्रोपायविशेषमाह—मोहावर्तेति। मोहोऽज्ञानरूप आवर्तोऽम्भसां भ्रमः, स एव भ्रमो भ्रमणं तेन समुदयन् यः खेदस्तस्य विशेषेण च्छेदस्तत्र हेतुः। सेतुः 'सिन्वन्ति बध्नन्ति यमुत्तरणार्थमिति सेतुः' इति रायमुकुट्याम्। सेतुः सेतुरूपा। भृशमत्यर्थं शेमुषी शमप्रधाना इयं शेमुषी बुद्धिरेव दूरीभवति। इन्द्रियप्रशमस्यातिकष्टसाध्यत्वात्। 'शेते मनसि शेः मोहस्तं मुष्णातीति शेमुषी' इति रायमुकुटीकारः। यतो भवाब्धौ मज्जतां साधूनां रामा गतिं स्थगयति, तस्माद्धेतोर्जननमरणाभ्यां यः क्लेशः प्रयासः स एव वेशन्तः। विशन्ति मज्जन्त्यस्मिन्। 'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरः' इत्यमरः। तत्र यः पङ्को दुष्कृतरूपकर्दमस्तस्माच्छङ्कैवातङ्कस्तेनाकुलिता मतिर्येषां ते तादृशा ये तितीर्षन्ति तर्तुमिच्छन्ति। तेषां जनानामाशैव पाशस्तेन ग्रथितं वपुः कलेवरं येषां ते तादृशानां क्रन्दतामुच्चैर्विलपतामातुराणां दीनानामशरणानां प्राणापातेऽन्तसमये, केवलं श्रीशम्भुभक्तिरेव करालम्बनं वितरति ददाति ॥२०–२१॥

अथातो मुख्यं विषयासक्तिदोषं वर्णयन्कविराह—

एणाक्षीणामिति, बाहुद्वन्द्वमिति, यदिति, रागोद्रेकादिति, किं भूयोभिरिति। स्मरस्य कामस्य ये शराः, पञ्च शोषणमोहनसन्दीपनतापनोन्मादनाख्यास्तेषां शिखाः कोटयः शराग्राणि तेषां शौरीर्यं तीक्ष्णता प्रागल्भ्यं वा तद्वद्भीमाः प्रेम्णा स्नेहेनाकृष्टा झगिति शीघ्रमेव एणाक्षीणां मृगदृशां ये कटाक्षा नेत्रान्तावलोकाः पतन्ति, तदासक्तकामिजनं प्रतीति शेषः। त एव कटाक्षशराः कालेन समयेन वज्रवन्निशितास्तीक्ष्णाः सन्तो नारकाणां नरकस्थानां पत्रिणां पक्षिणां तुण्डदण्डाश्चञ्चुदण्डा अदयं निर्दयं कृत्वा जडानां मूढानां तेषामन्तर्हृदयं भिन्दन्ति। 'पत्रिणौ शरपक्षिणौ' इत्यमरः॥ तुलितं विशेषेण बलद्वालं मार्णालनालं मृणालसंबन्धि नालं येन तत्तादृशम्। तथा सालंकारं केयूरकंकणाद्युपेतम्। तथा रणिताः सशब्दा बलयाः कटका यस्मिंस्तत्। पङ्केरुहदलदृशः पद्मपत्राक्ष्या वरकामिन्या बाहुद्वन्द्वमेतन्मोहान्धानां रागान्धानां कण्ठपीठे वेष्टितं तदेव कालेन महति यातना नरकयातनैवातङ्कः स एव पङ्कः कर्दमस्तस्मिन्पततां पुंसां पाशतां लोहमयपाशतामेति, एतदहं शङ्के॥ साकूतं साभिप्रायं सविलासं च मुकुलितदृशः संकुचिताक्ष्याः केतककुसुमामोदवद्धृद्यम्। सद्यस्तत्क्षणमेव स्विद्यत्स्वेदं सात्त्विकभावं भजत्। अमृतस्यन्दि रसायनरसस्यन्दि। नताङ्ग्याश्चार्वङ्ग्या वदनं मुखं रागान्धैः पीतं परिचुम्बनेनास्वादितमहं जाने, तदेव, भूयः पुनर्दुरापावसाने दुष्प्रापान्ते नरकगृहे पतनार्थं यः शपथः स एवाक्रोशः शापो गर्ह्यवचनं नाम तस्य कोषः [शपथविशेषः] तद्भावमेति प्राप्नोति॥ कनककलशाकारं स्वर्णकलशाकृति। आलम्बि लम्बमानो हारो यस्य तत्तादृशम्। पृथु विस्तीर्णं पीनं च सारङ्गाक्ष्या

मृगाक्ष्याः कुचद्वन्द्वं मूढैः रागोद्रेकाद्रागान्धत्वाद्यद् गाढमालिङ्गितं, तदेव कुचयुगमन्तकाले निर्याणावसरे नरककलिले नरकपङ्के मज्जतां तेषां मूढानां कण्ठे लग्नातिस्थिरगुरुशिलाभावं बिभर्ति धारयति ॥ वचनानां स्वविवेकोत्पादकवैराग्यवचनानां रचनाडम्बरैः रचनाटोपैर्भूयोभिर्बहुतरैः किं भवति । एतत्पूर्वोक्तं मदीयं सूक्तमवधार्य, हे दीर्घशोका लोकाः, सुतरामतिशयेन युक्तं युक्तिमत्पश्चिमं ममैतद्वाक्यं सावधानाः शृणुत । दुखो दुःखदायी, उदर्क उत्तरं फलं यस्य स तादृशम् । परिणामदुःखदमित्यर्थः । प्रमुख आमुख एव सुखदं सङ्गं साङ्गं संपूर्णं त्यक्त्वा, गाङ्गं सलिलं जाह्नवीजलं चामलं निर्मलं लब्ध्वा, शम्भुभक्तिमेव भजध्वं सेवध्वम् ॥२२–२६॥

त्रैलोक्यमिति । त्रैलोक्यं त्रिजगदपि सावहेलं तृणगणगणनां लम्भयन्तः प्रापयन्तः । अतीव निःस्पृहा इत्यर्थः । चन्द्रकलालंकारस्य श्रीशम्भोर्भक्त्या प्रमुदितं प्रकर्षेण मुदितं मनो येषां ते । तथा अमन्दा अजडाः । प्रज्ञा इत्यर्थः । संन्यासिनः श्रीशिवार्पणं विधाय कर्मसंन्यासा धन्याः सुकृतिनो निर्मलं स्वच्छतरं परं ज्योतीरूपं धाम स्थानं परमपदं लब्धुं श्रीशशिमुकुटजटावैजयन्तीदुकूलैर्हरजटापताकाधवलपट्टाम्बरभूतैर्गङ्गाया वारिभिर्भूरि बहुलं कलौ तुरीययुगे मलानामाणवमायीयकार्मत्वेन त्रिविधानां समूहं भिन्दन्ति ॥ २७ ॥

एवमिति । हेदेव स्मरहर श्रीशम्भो, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण वर्णिता विषमतममत्युत्कटं यत्तमोऽविद्यापरपर्यायमज्ञानं तस्य खण्डने चण्डिमानमुत्कटत्वमासादयन्ती प्राप्तवती । बद्धः समुन्नद्धो मोहोऽज्ञानमेवान्धकारो यस्मिंस्तादृशे बन्धके भवे संसारे परिभवति परिभवं कुर्वति, एका भावत्की भक्तिरेवाशरणानां नोऽस्माकं त्राणं परिपालनं तस्य विश्राणिनी दात्री, शरणं भवति । केव । सकलद्वीपदीपस्य दिनमणेः प्रभा दीप्तिरिव । सापि ध्वान्तच्छेदे चण्डिमानमासादयन्ती भवति ॥ २८ ॥

ये विश्वेति । ये त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुरुद्रा विश्वस्य सृष्टिस्थितिसंहारकार्यकृतस्तेऽपि किमयं परमेश आज्ञां विधास्यतीति मुखवीक्षणे परायत्तपरा दृगंशमात्रापेक्षिणो यस्य देवस्य सन्ति, स प्रभुः शिवादिक्षित्यन्तस्य सर्गस्य स्वामी अमेयमहिमा यस्या भक्तेः क्रीडाशकुन्तवदाचरति । तदधीनो बद्धो भवतीत्यर्थः । तां त्रिभुवनेऽप्यद्भुतप्रभावशालिनीं श्रीशिवभक्तिं स्तुमः ॥ २९ ॥

अथैतदारम्भेण कृतार्थमात्मानं मन्यमानः कविराह—

गावस्तावदिति । तावत्प्राथम्ये । असमोऽनन्यसमः सुधासोदरो य आस्वादस्तस्य बन्धुः लक्षणया सदृशस्तादृशं रसं मुख्यमत्र शान्तं रसं दुहाना गावो वाचोऽर्थान्मदीयाः । अथ गावोऽपि रसममृतं दुहानाः सन्ति । तथा निसर्गतः स्वभावेन क्लमः कष्टं तस्य शमनेन यश्चमत्कारयोगोऽत्यद्भुतत्वं तस्यैव भूमिर्भर्गे भक्तिरस्ति यदि । तथा स्वश्चासावात्मा तस्यावभासः प्रबोधस्तस्मादनुपमो यः परमानन्दस्तेन निःस्पन्दा या संविदात्मज्ञानं तस्यां विश्रान्तिः, सैव एकान्तेन हेतुस्तस्माद्विश्रान्तिहेतोस्तृप्तिश्च । अमृतरसास्वादश्चमत्कारभोगस्तर्पणं चेति मे सन्ति । इति हेतोः किंकरी वराकी विपत् किं करोतु किं विधत्ताम् । एतानि वस्तूनि चेद्भवेयुस्तदा विपदवकाशो न भवतीत्यर्थ इति शिवम् ॥ ३० ॥

इति श्रीराजानकशंकरकण्ठात्मजरत्नकण्ठविरचितायां
लघुपञ्चिकायां भक्तिस्तोत्रं नाम सप्तदशं स्तोत्रम् ।

अष्टादशं स्तोत्रम्

अथातः सिद्धिस्तोत्रमारभमाण आह—

जयतीति। जिता विकाराः षडूर्मयः शीतातपाद्या येन सः। यद्वा जिता विकाराः षोडश, शब्दादयः पञ्च, बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, मनश्चेति येन सः। 'न प्रकृतिर्न-विकृतिः पुरुषः' इति सांख्याः। तथा क्लृप्तो विहितो लोकोपकारो विश्वोद्धरणरूपो येन। तथा कृतो विपदो जन्मजरामरणत्रासरूपाया अपकारो विनाशो येन। तथा शान्तः शमं नीतो मोहो-ऽज्ञानमेवान्धकारो येन। तथातुलोऽसामान्यः पुरुषकारस्त्रिपुरदाहान्धकवधकालकामदाहरूपो-ऽवदानविधिर्यस्य। तथा प्राप्तो विश्वस्य शिवादिक्षित्यन्तस्याधिकारः परधामस्थितिर्येन स तादृशः। तथा स्मरस्य रचितः कृतो निकारो दाहरूपो येन सः। पार्वतीचाटुकारः पार्वतीप्राणसमः, श्रीशिवो जयत्युत्कृष्टो भवति ॥ १ ॥

अतनुमिति। पूर्णशक्तिः स्वातन्त्र्यपरमैश्वर्यपूर्णः, शर्म कैवल्यं ददातीति शर्मदो यो विभुः प्राणिनां देहिनां कर्ममुक्त्यै शुभाशुभकर्मभोगायातनुमनन्तममुं तनुभुवनगणं स्वतनुरूप-भुवनानां कालाग्निरुद्रभुवनादारभ्य शिवभुवनान्तानां सचतुर्विंशतिशतद्वयपरिमितानां निवृत्त्यादि-पञ्चकलान्तर्गतानां भुवनानां गणं अतनुत विस्तारयामास। तथा यः परमशिवोऽशङ्कां शङ्कारहितां वेदागमशास्त्ररूपां दिशं मार्गमुपायं वा प्राणिनां देहिनां मुक्त्यै अदिशद् व्यधत्त। 'दिगुपाये निदर्शने। मार्गे ककुभि च स्त्री स्यात्' इति मङ्खः। स महेशो भवस्य संसारस्य दोषाणां प्लोषकृद्दाहकृद्रो युष्माकं भवतु ॥ २ ॥

अनलेति। हे वरद त्वत्प्रसादाद् बुधानां पण्डितानां वरस्तस्य मुखपद्मे भारती सरस्वती प्रभवति। किंभूते मुखपद्मे अनलसा आलस्यरहिता श्रीशिवस्तुत्युद्योगानुकूला हिता च वृत्तिः शब्दव्यापारो यस्मिंस्तादृशे। पुनः किंभूते। सत्यः शोभनाः कलाश्चतुःषष्टि-स्तासामाभासः शोभा तया शुद्धे। भारती किंभूता। निर्मलोर्मिर्निर्मला ऊर्मय उल्लासरूपास्तरङ्गा यस्याः सा। तथा किंभूता। परमा उत्कटा ये तापा आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकास्तथा क्लेशाः पञ्चाविद्यादयस्ताञ्जयतीति तादृशी। भारती केव। भवदीये तावके मूर्ध्नि स्वर्धुनी गङ्गेव। सापि किंभूता। निर्मला ऊर्मयो वीचयो यस्याः। तथा परमो यस्तापः सन्तापस्तेन यः क्लेशस्तं जयतीति तादृशी। भवदीये मूर्ध्नि शिरस्यपि कीदृशे। अनलेनाग्निना सहिता वृत्तिः स्थितिर्यस्य स तादृशे। पुनः किंभूते। सती या कला चन्द्रकला, तस्या आभासेन प्रकाशेन शुद्धे। शब्दश्लेषोऽलंकारः ॥ ३ ॥

भवेति। हे भव महेश, भवः संसार एव मरुर्निर्जलप्रदेशस्तत्र चारेण श्रान्तानां देहिनां यः सम्यगाध्यात्मिकादिस्त्रिविधस्तापः स एव सन्तापस्तस्य तान्तिर्विस्तारस्तत्प्रशमने घनं सान्द्रं प्रावृट्कालवारिवाहम्। तथा नमन्तो येऽमरा ब्रह्मविष्ण्वाद्यास्तेषां किरीटेषु मौलिषु प्रोतान्युम्भि-तानि यानि रत्नानि तदंशुपूर एव स्फुरदुरु इन्द्रचापं यस्मिन्, तादृशं त्वत्पादपीठमहं प्रपद्ये शरणमाश्रयामि ॥ ४ ॥

करकलितेति। करे दक्षिणेतरे कलितो न्यस्तः कपोलो वियोगवशाद्यया सा। तथा बालानि यानि शेवालानि जलनील्यस्ता एव शय्यातलं, तत्र लुलिता लुठिता मृणालीवत्पेलवा

कोमला म्लाना मूर्तिर्यस्याः सा । तथा चिरविरहेणोन्निद्रा । तथानङ्गभीरुः कामोद्रेककातरा अङ्गना वरकामिनी, रुद्रस्य श्रीशम्भोर्यो दृक्पातोऽनुग्रहदृष्टयंशपातस्तस्य पात्रं पुरुषं दिशि दिशि निशि रात्रौ पश्यति ॥ ५ ॥

हरचरणेति । श्रीशंभुपादाब्जभक्तिप्रसादाद्गजेन्द्राणामुपरि सहेलं संचरन्तः श्रीशम्भुभक्ताः, घनो यो मदभरो मदाम्बुभरस्तस्मिन्निर्भरामोदस्तस्य लोभेन स्खलद्यद्दलिकुलं तस्य गीतं स्फीतं पूर्णमाकर्णयन्ति शृण्वन्ति ॥ ६ ॥

चरणेति । हे देव परमेश, निर्दम्भा निश्छद्मा या भवद्भक्तिस्तस्या ग्रहेण रोमाञ्चितो देहो यस्य तादृग् यो धन्यस्तावकं पादाब्जयुगलं ननाम, स सुकृती पुण्यवान् सेवायां नम्रा ये सामन्ता मण्डलेश्वरा नृपास्तेषां मौलिभ्यः स्खलिता या बकुलाख्यकुसुममालास्ताभिर्लोलितं सुरभितं पूरितं च पादपीठमधितिष्ठति ॥ ७ ॥

शशिशकलेति । हे शशिशकलशिखण्ड चन्द्रार्धमौले, धन्याः सुकृतिनस्त्वत्प्रसादेन वक्त्रमुभयतः पार्श्वद्वयेऽपि स्वर्धुनीनिर्झराभ्यामिव सितकरधवलाभ्यां चामराभ्यां विभान्ति । स्वर्धुनीनिर्झराभ्यां किंभूताभ्याम् । भावी यो रुद्रत्वलाभस्तस्य प्रकटनं, तस्य पिशुनौ सूचकौ ताभ्याम् । 'पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः ॥ ८ ॥

क्षितिधरेति । हे पार्वतीवल्लभ श्री शम्भो, धन्याः सुकृतिनो जगति भूमण्डले त्वत्प्रसादान्मूर्ध्न्यातपत्रं छत्रं दधति । अत्रोत्प्रेक्षामाह—स्वात्मनोऽर्धेन्दुधारिणोऽपि सकाशादधिकत्वं लम्भयितुं, तेषां त्वया विभुना एतत्सकलं शीतरश्मेर्मण्डलं वितीर्णं दत्तमिव ॥ ९ ॥

अयीति । अयि आमन्त्रणे । अयि हृदय, दयया कृपामृतरसेनार्द्रः । तथा स्वर्धुनीनीरधारी स्वर्गङ्गाजलप्रवाहधारी । तथा हस्ते न्यस्तः पीयूषकुम्भोऽमृतकलशो येन स तादृशः । तथा हिमकरलेखाशेखरः स्वामी यदि त्वयि विहरति रमते, त्वं शंस, तर्हि भवः संसार एव दवाग्निस्तस्य विनिवृत्तौ शान्तौ कोऽपरः शीतोपचारः ॥ १० ॥

सुरवरेति । पुरा पूर्वजन्मनि ये धन्याः शंकरस्य कैवल्यदायिनो महेशस्य, कृता सततं सपर्या पूजा यैस्ते तादृशा भवन्ति, ते सुकृतिनः सुरवरैर्ब्रह्मादिभिरपि नुतं धैर्यं येषां ते तादृशाः । तथा वैरिभिर्दुर्वारं दुर्निवारं वीर्यं येषां ते तादृशाः । तथा जगति भूमण्डले विविधानि यानि शास्त्राणि चतुर्दशविद्यास्थानानि तैः प्रस्तुता कृता आचार्यचर्या दैशिकक्रमो येषां तादृशाः । तथा रुद्रवद्वर्या वरणीयाः । उत्कृष्टा इत्यर्थः । कोटिशः भुवनतन्त्रं दधति ॥ ११ ॥

गिरीति । हे गिरिवरकन्याकान्त श्रीशम्भो, प्राणिनां देहिनां वृद्धत्वावस्थायां गिरि वाचि, शान्तप्रथायां शान्ता प्रथा विस्तारो यस्याः सा तादृश्यां निवृत्तविस्तारायां गद्गदायां सत्याम् । तथा कराः पाणयः, करणानि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि तेषां गणस्तस्मिंश्च क्षामतां कार्श्यमश्नुवाने प्राप्ते । तथा कीनाशपाशे यमपाशेऽपि गलगलदवकाशे वा । वा शब्दश्चार्थे । गले गलन्पतन्नवकाशो यस्त तस्मिन्गलगलदवकाशे च । गलापतिते यमपाश इत्यर्थः । एतत्संकटे च, हे विभो भव, प्राणिनां देहिनां, त्वां विना कस्त्राणकृत् शरणं, न कोऽपीत्यर्थः ॥ १२ ॥

शयेति । हे हर शम्भो, शयः कर एव शयनं तत्र निविष्टम् । आ समन्तात्पाण्डू गण्डौ यस्य तत्तादृशं वक्त्रं वहन्ती । तथातिविरहेण चिरविरहेण ग्लानिभाजं खेदभाजं मतिं बुद्धिं वहन्ती । तथा तनुः कृशा तनुलतिका यस्याः सा तादृशी । आर्तिं रागान्धत्वं व्याहरन्ती, सखीं

प्रति मानिनी मानवत्यङ्गनापि त्वत्समाधौ त्वामुद्दिश्य यः समाधिर्ध्यानसंलीनमनस्कत्वं, तस्मिन्बुधानां जितेन्द्रियाणां विदुषां धैर्यं न हरति। 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः ॥ १३ ॥

दलदिति। हे अनन्त, ब्रह्मादिभिरप्यलब्धपार, विशदं निर्मलं भवदीयध्यानादन्तः प्रशान्तमिन्द्रियशौटीर्यं तिरस्कुर्वन्। तथा दलन् खण्डशो गच्छन्नलघुर्महान्विवेको यस्य तत्। तथा व्यक्तः शोकस्य जन्मजरामरणदुःखस्यातिरेको यस्य तादृशम्। कलिना तुरीययुगेन कलिता कृता पीडा येषां तादृशाः कलिकलितरुजास्तासाम्। रुजाशब्द आकारान्तः। सप्रजानां सह प्रजया सन्तत्या वर्तन्ते यास्ताः सप्रजास्तासां सप्रजानां प्रजानां, भव एव दवो दवाग्निस्तेन दाहस्तस्य ध्वंसे वर्षाम्बुवाहो वर्षाकालिको मेघो भव संपद्यस्व ॥ १४ ॥

दहदिति। हे नाथ, त्वं वाक्यपीयूषसारं दिश देहि। किंभूतम्। अहतं केनापि न हतम्। तथा किंभूतम्। पाप्मनां पापानां दीर्घं विस्तीर्णमोघं समूहं दहत्। पुनः किंभूतम्। रुच्याभिलाषेण रुचिरं रम्यम्। पुनः किंभूतम्। अमन्दमनल्पम्। पुनः किंभूतम्। सुन्दरो य आनन्दः परमानन्दस्तस्य कन्दं मूलम्। पुनः किंभूतम्। उपदेशं कर्मभूतं दिशद्दत्। किंभूतमुपदेशम्। नाशितः क्लेशानां लेशो येन तत्। तथा किंभूतम्। मधुवन्मधुरम्। पुनः किंभूतम्। उदारम् ॥ १५ ॥

सरतीति। हे नाथ, घस्मरो जगद्भक्षकः। सह रत्या स्वस्त्रिया वर्तते यः स सरतिर्मारवीरोऽन्तर्हृदये सरति संचरति। 'सृ गतौ' धातुः। तथा स्फीता भीतिर्यस्याः सा स्फीतभीतिर्जन्मजरामरणादित्रासेन। मनीषा बुद्धिश्चलति कम्पते। केव। लतिकेव सूक्ष्मलतेव। हे नाथ, अहितो न हितकारी महिमा यस्य स तादृशस्तं मारवीरं स्मरभटं, शमय प्रशान्तं कुरु। किं कृत्वा चक्षुर्निक्षिप्य। कुतस्तत्कुर्वित्याह—येन हेतुना प्रीतिमान्सन्तुष्टोऽयं लोको मादृशः शं कल्याणमेति लभते ॥ १६ ॥

जघनजेति। हे देव शम्भो, जघनाज्जाता घना शोभा यस्याः सा तादृशी। तथालकानां चूर्णकुन्तलानामन्तास्तैः क्रान्ता भा यस्य तदलकान्तक्रान्तभास्तेन तादृशेन मुखेन सभृङ्गं भ्रमरसहितं कमलकं पद्मं स्पर्धमाना। कमलमेव कमलकम्। स्वार्थे कः। तथा उदितो रागो यस्याः सा उदितरागा रामा रमणी। मदनश्च मदश्च ताभ्यां नवीनैर्विलासैस्त्वत्प्रपन्नस्त्वां शरणं प्राप्तस्तं सेवते। कीदृशम्। मुदितम् ॥ १७ ॥

जनितेति। हेहर हेनाथ, 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः। जनिता जनयो जन्मान्येव तरङ्गा येन स तं भवाब्धिं संसाराब्धिं जृम्भयन्त्युल्लासयन्ती। तथा कलितं विहितं कलिस्तुरीययुगः कलहो वा स एव तमिस्रं यया सा कादम्बिनी मेघमालेव। सापि विहिततमिस्रा। तथा तितिक्षां क्षमामुन्मथ्नातीति तितिक्षोन्माथिनी। तथा अहितवृद्धिर्यस्याः सा मोहमूर्छा अविद्यापर्यायाज्ञानमूर्छा महितं पूजितं शुद्धबोध एव प्रकाशस्तं हरति ॥ १८ ॥

भजतीति। हे ईश जगदीश, तिरश्चीं तिर्यक्पातिनीं इष्टः प्रसादो यस्यास्तां दृष्टिं भज आश्रय। कस्मिन्। भजति सेवमाने मयि। तिर्यक्कटाक्षं मयि मुञ्चेत्यर्थः। दृष्टिं किंभूताम्। कृतं सुकृतं यैस्ते तादृशा ये सुमेधसस्तेषु प्रकर्षेणैधिता वर्धिताभीष्टसिद्धिर्यया सा तादृशीम्। शमनस्य यमस्य शमनं शान्तिस्तत्र दक्षस्तं तादृशं त्वां विना, हे नाथ, दुःसहानां व्यापदां जन्मजरामरणरूपव्यापत्तीनां रयं वेगं कोऽन्यस्तिरयति तिरस्करोति ॥ १९ ॥

समरसमिति । समः स्वर्णलोष्ठयोस्तृणस्त्रैणयोः सर्पहारयोः, रसो यस्य तत्समरसमन्तः स्वान्तं वहद्भिः । तथा अरजोभिर्निष्पापैः । तथा हितस्य भवाब्ध्युत्तरणस्य विहितः कृतो वियोगो येन स तादृशं मोहमज्ञानमाहन्तुकामैः । तथा भवे जन्मनि ये विभवास्तैर्विमुक्तास्तादृशैर्योगिभिरष्टाङ्गयोगस्तैर्य ईशो जगदीशः परमशिवोऽभ्युपेत आश्रितस्तमीशं स्वामिनमहता न हता महनीया श्लाघा स्तुतिर्यस्य तादृशं प्रपद्ये शरणं यामि ॥ २० ॥

अकलितेति । हे विभो, अकलितः केनापि न ज्ञातो महिमा यस्य स तादृशम् । तथा ध्वस्तो मिथ्याभिमानो मिथ्याहंकारो येन स तादृशम् । अमृतसमानं पीयूषतुल्यमा समन्ताद्भासमानं प्रकाशमानं बोधं तत्त्वज्ञानं ददद्भितरत् । भक्तजनायेति शेषः । प्रकटितो लघिमा लघुत्वं येन तादृशम् । तथा दुर्वहम् । तथा वर्धमानं वृद्धिं भजन्तम् । तथा बाधमानं चावमानं तिरस्कारं त्वं मे भिन्द्धि ॥ २१ ॥

किमिवेति । मणिभिर्हीरकपद्मरागमरकतादिभिः किमिव भवति । तथा मन्त्रैः प्रत्यङ्गिराविद्यादिमहामन्त्रैः किं वा भवति । तथा औषधसंग्रहैरौषधानां विशल्याद्योषधिविशेषाणां ये संग्रहाः समुदायास्तैश्च किं भवति । परैर्भेषजैरगदैः पथ्यैरपि किं वा कार्यं भवति । प्रायो निश्चये । अमृतमपि रसायनमपि जन्मजरामरणत्रासकारणेन य उपतापस्तस्य शमस्तत्र क्षमं न भवति । तस्मात्करुणापरं दयानिधिं तं प्रसिद्धमेकं हरं शरणं व्रजत गच्छत यूयम् । स एव केवलं मोक्षदायीत्यर्थः ॥ २२ ॥

इहेति । हि निश्चये प्रसिद्धौ वा । गिरिषु निषधविन्ध्यादिषु मध्ये प्रालेयाद्रिर्हिमाचलः पर उत्कृष्टो भवति । कुत्र । इह भूर्लोके । तथा महःसु तेजःसु मध्ये विभावसुः विभा दीप्तिर्वसु धनमस्य विभावसुः सूर्यः परो भवति । तथा गुरुष्वाचार्येषु मध्ये जननी माता परा भवति । 'पतिता गुरुवस्त्याज्या न तु माता कदाचन । गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी' ॥ इति स्मृतेः । तथा मन्त्रेषु मननधर्मेषु मध्ये एकं च तदक्षरं न क्षरति स्वरूपात्प्रचलतीत्यक्षरं परमुत्कृष्टं पदम् । अकारोकारमकारात्मकं प्रणवाख्यं परमुत्कृष्टं भवति । सखिषु मित्रेषु बाह्येषु मध्ये सुकृतमेव परं मित्रम् । परस्मिंल्लोकेऽपि सहायकविधानात् । वैरिषु शत्रुषु बाह्येषु मध्येंऽहः पापमेव परः शत्रुः । तस्यैव पुनःपुनर्जन्मयातनाहेतुत्वात् । नदीषु यमुनादिषु च नभोनदी स्वर्गङ्गैव परा उत्कृष्टा भवति । प्रभुषु ब्रह्मविष्ण्वादिषु च मध्ये एकः शशाङ्कशिखामणिश्चन्द्रशेखरः परोऽत्युत्कृष्टः ॥ २३ ॥

नेति । हेबुधाः सचेतसः, जराया विस्रसाया विप्लवैः करचरणादिवैकल्यदायिभिर्धृतेर्धैर्यस्य धुरा भारो यावन्नावहीयते न हीना भवति । यावन्न सरस्वती वाणी जीर्यति गद्गदा भवति । यावन्न शेमुषी बुद्धिर्विशीर्यते जीर्णा मन्दतरा न भवति । तथा आमया रोगा एव क्रूरत्वाद् भुजंगमास्तैरवशं न स्वायत्तमङ्गं शिरःप्रभृति यावन्नालिङ्ग्यते, तावदेवाजरमक्षरमनन्तं विभुं परमशिवं भवजयाय जन्मशृङ्खलोत्तरणाय भजध्वं सेवध्वम् ॥ २४ ॥

अथेदानीं पूर्वोक्तनवनवस्तवप्रसूनसमर्पणया कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानः कविरुपसंहारश्लोकेनाह—

अराणीति । मया वराकेण मुहुर्मुहुस्तव प्रभोः पुरः करुणं दीनमराणि अकथि । तथा मया मुहुर्मुहुः प्रभोर्जगदीशस्य चाटु चाटुवचनमकारि । तथा मया भवत्यस्मात्सर्वं शिवादि

क्षित्यन्तं विश्वमिति भवः । तस्मिन्या भावना शिवैकताध्यानं तेन मुदितं चेतो यस्य स तेन मुहुरभावि संसन्नम् । तथा चरणपीठिकाविष्टरे श्रीशम्भुपीठिकासने मया मुकुटं स्वकीयमलोठि लोठितं मृदितम् । किमन्यदाशासे । एतदभीष्टावश्यविधेयविधानात् मयाखिलं विश्वं जितम् । अस्माभिर्निजकरतले समस्ताः सिद्धयः कृता इति शिवम् ॥ २५ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठविरचितायां
लघुपञ्चिकायां सिद्धिस्तोत्रं नाम अष्टादशं स्तोत्रम् ।

एकोनविंशं स्तोत्रम्

अथातः श्रीभगवद्वर्णनं नामैकोनविंशं स्तोत्रमारभमाण आह—

यत्ते परमिति । हे वरद, यत्ते स्वामिनः, परं रूपं परादपि परतरं निष्कलाख्य-मल्लक्षणार्थम् । मनसोऽप्यतीतमित्यर्थः । 'अवाङ्मनसगोचरम्' इति स्मृतेः । तत्ते रूपमिह जगति को गृणातुं स्तोतुं क्षमते । 'गृ स्तुतौ' धातुः । ब्रह्मादिभिरपि तन्महिम्नोऽदृष्टपरत्वात्तत्स्तोतुं न शक्यत इत्यर्थः । हे दयालो, यत्तु भवता स्वामिना नतलोकं प्रह्वजनमनुग्रहीतुं रूपं बालेन्दुलक्ष्म चन्द्रलाञ्छनम् । एतदप्युपलक्षणार्थम् । त्रिनेत्रं जटामुकुटमण्डितमित्यादि सकलं रूपं गृहीतं तदेवेदानीं लेशेन गृणामि ॥ १ ॥

आस्तामिति । हे महेश, परं रूपं त्वदीयमास्तां तिष्ठतु । भावत्कं रूपं लोकोत्तर-मवाङ्मनसगोचरं न तावदस्माभिर्वर्णयितुं शक्यमित्यर्थः । हे महेश, यत्तु तव रूपं अपरं न परं तदपि त्वदीयं दिव्यं वपुर्दिव्यचक्षुषां विमर्शयोग्यं न भवति । अस्मादृशां तु चर्मचक्षुषां कैव कथेत्यर्थः । तुः पक्षान्तरे । यत्किंचिद्विकल्पैर्बुद्धिविकल्पैर्विचार्यमाणं बालेन्दुकलाधरत्रिनेत्रजटा-मुकुटमण्डितत्वादिविकल्पितं तदपीह जगति भवे संसारे आर्तिभाजामानन्दधाम ॥ २ ॥

मूर्तिरिति । हे शिव, कैवल्यदायिन्, ध्रुवं निश्चयेन । तव मूर्तिरमृतवर्ती रसायनवर्तिः । सुधागुलिकास्तीत्यर्थः । यद्यस्मात्कारणादेनां भवन्मूर्तिवर्तिमासाद्य, शिवैकताध्यायिनो भक्तजनस्य कतिचिदश्रुकणाः प्रमोदाश्रुकणा यत्पतन्ति, तथाघौघस्य पटलं समूहो नश्यति । तिमिरं मोहान्धकारो व्यपैति दूरे गच्छति । तथा रागो विषयेष्वासक्तिः प्रशाम्यति । तथा दृशो ज्ञानस्य प्रसादोऽनुग्रहः प्रथते प्रकटी भवति । अथ च, स्वच्छरसगुलिकयापि कतिचित्कलुषदुष्टाश्रुलवाः पतन्ति । तथा पटलमप्यायुर्वेदप्रथितो नेत्ररोगविशेषोऽपि नश्यति । तथा तिमिरमपि नेत्ररोग-विशेषो नश्यति । रागो नेत्रयो रक्तता च दूरी भवति । दृशश्चक्षुषः प्रसादो नैर्मल्यं भवति । अत्र शब्दशक्तिमूलोत्प्रेक्षा ॥ ३ ॥

सत्यमिति । सत्यं निश्चितम् । हे विभो, विपदर्दितानां विपदा भवार्त्यार्दितानां पीडितानामालम्बनमाधारस्तव वपुर्महार्घा बहुमूल्या ये गुणाः सार्वज्ञपारमैश्वर्यस्वातन्त्र्यासुर-विजयत्वादयस्त एव रत्नानि, तेषां निधानं निधिभूतमेतत्तव वपुः सत्यमस्ति । न चेदेतन्नखांशु-समूह-केसरितं किंजल्कयुक्तं तव पादयुग्मनामकमब्जयुग्ममत्र किमुत्पन्नम् । अब्जद्वयसांनिध्ये निधानमनुमीयत इत्याशयः । अनुमानालङ्कारः ॥ ४ ॥

पादद्वयमिति । हेभव श्रीशम्भो, प्रणतीनां प्रकर्षः, पुनः पुनर्दण्डवत्प्रणामानां

प्रकर्षस्तेन यो हर्षः परमानन्दस्तेन य उद्भूतोऽश्रुबिन्दुप्रवाहस्तेन दन्तुरिता विचित्रीकृता अङ्गुलयो यस्य तत्तादृशं तवाङ्घ्रिद्वयं धन्याः सुकृतिनो भजन्ति सेवन्ते। किंभूतम्। नीहारकणैरवश्यायकणैर्भूषितपद्मयुग्मसदृशम्॥ ५॥

भस्मोज्ज्वलमिति। भस्मना भूत्योज्ज्वलं धवलम्। 'उज्ज्वलो दीप्तशृङ्गारविशदेषु विकासिनि' इति विश्वः। तथा त्रिदशानां ब्रह्मादीनां शेखरेषु मुकुटेषु ये पद्मरागा मणिविशेषास्तेषां या दीप्राः प्रभास्ताभिररुणितमारक्तीकृतम्। स्मरारेः श्रीशम्भोः पादद्वयं वयं वन्दामहे। कीदृशमिव। घुसृणरेणुनां कुङ्कुमकेसराणां यः परागो धूलिः स गर्भे येषां तादृशा ये कर्पूरपांसवस्तैश्छुरितं व्याप्तमिव। 'देवताः पादतो वर्ण्या मनुष्या मुखतस्तथा' इति कविशिक्षायां कविसंप्रदायः॥ ६॥

जङ्घालतेति। अहं श्रीशम्भोर्जङ्घालतायुगलम्। अत्र लता औचित्यात्कल्पलता बाह्या। अतएव विपदं शमयितुमिति चोक्तम्। जङ्घाकल्पलतायुग्मं विपदं भवार्तिरूपां शमयितुं श्रयामि। किंभूतम्। आश्रितं गुल्फयोः पादग्रन्थ्योर्मूलं यैस्ते तादृशा ये भोगीन्द्राः फणीन्द्रास्तेषां भोगा फणा एव सुभगं रम्यं नवमालबालं यस्य तत्। लतायुग्मस्य च मूले आलवालेन भाव्यम्। तथा किंभूतं जङ्घाकल्पलतायुगलम्। अभीष्टफलदम्। तथा भवे संसारे यस्तापस्त्रिविध आध्यात्मिकादिः स एव तापः संतापस्तेन या तान्तिः क्लान्तिस्तस्याः शान्तौ क्षमम्॥ ७॥

वन्द इति। युगान्तसमये कल्पान्तकाले उषिता अन्तःस्थिताः भूर्लोकाद्याः सप्तलोका यस्मिंस्तत्तादृशं लोकोत्तरं दिव्यमीश्वरभैरवस्य ईश्वरश्चासौ भैरवस्तस्य श्रीशम्भोर्जठरं तदुदरं वन्दे प्रणौमि। तत्किमित्याह यस्मिञ्शम्भुजठरे नाभिकुहरं नाभिरन्ध्रं जगतो भूर्लोकादिजगतो यः सर्गस्तत्र निर्यञ्चासौ जनौघस्तस्य नवो निर्गमनार्थं मार्गस्तस्य विच्छित्तिमेति। यदा स्वतन्त्रो विभुर्निजेच्छया विश्वस्य निर्माणं विधत्ते तदीयनाभिविवरात्सप्तभुवनानि निर्यान्तीत्याशयः॥ ८॥

सिन्दूरितेति। भस्मौघेन भासुरो धवलश्चायम्। तथा फणीन्द्राणामर्थात् हारीकृतानां वासुकिप्रभृतीनां ये फणास्तेषु यानि रत्नानि, तेषां रुचाऽरुणाभं पुरशासनस्य त्रिपुरारेः श्रीशिवस्योरःस्थलं वन्दे। किंभूतम्। सिन्दूरितः सिन्दूरेण शृङ्गारितो योऽमरमतङ्गजस्यैरावणस्य स्वतो धवलवर्णस्य धवलवर्णो यः कुम्भस्तद्वच्छोभत इति सिन्दूरितामरमतङ्गजशोभि। पुनः किंभूतम्। सन्ध्यया प्राक्संध्ययाभिताम्रो यः शरदम्बुधरस्तमनुकरोतीति तादृक्॥ ९॥

स्वामिन्निति। हे स्वामिञ्जगदीश, भुजगाधिराजानां वासुकिप्रभृतीनां भोगैः कायैरुपगूढं वपुर्यस्य तादृशस्य तवामी भुजा मदीयं हृदयमानन्दयन्ति। भीमश्चासौ भवोपतापो जन्माद्युपतापस्तस्य निर्वाणं शमनं तेन। संसारसन्तापनिवारणेनेत्यर्थः। भुजाः क इव। चन्दनद्रुमस्य विटपा इव। चन्दनस्यापि किंभूतस्य। फणीन्द्रभोगोपगूढवपुषः। भुजगेत्यादिविटपविशेषणं वा। तेऽपि सन्तापनिवारणेन हृदयमानन्दयन्ति॥ १०॥

मध्यस्थितेरिति। हे देव परमेश, अव्याहतोऽव्युच्छिन्नो यो ग्रहो हेवाकस्तस्य वशेनाहिता धृता योगस्याष्टाङ्गस्य सिद्धिर्यया सा तादृशी। मध्ये मालाया मध्ये स्थितिर्यस्य स तादृशस्य हस्तस्य करस्य त्वदीयस्योभयपार्श्वे उभे पार्श्वे गता। तथा मेरोर्मध्यस्थरुद्राक्षफलस्य परिमर्शः स्पर्शस्तेन विनाकृता रहिता। 'मेरुं नैव तु लङ्घयेत्' इति तन्त्रोक्तेः। तवाक्षमाला रुद्राक्षमाला चकास्ति राजते। 'श्रियेऽस्तु' इति च पाठो दृश्यते। अकारादिक्षकारान्तवर्णानां पञ्चाशतां

शिवशक्तिमयत्वेन द्विगुणितानां भवादिमूर्त्यष्टकेन सहितानामष्टोत्तरमालाक्षमालेति । तन्त्रराजे—'अकारादिक्षकारान्तवर्णाः पञ्चाशतिः प्रिये । शिवशक्तिस्वरूपेण द्विगुणाः साष्टमूर्तिकाः । अष्टोत्तरशतं तेषामक्षमाला प्रकीर्तिता ॥' इति । नक्षत्रपक्तिरिव । किंभूता । मध्यस्थितेर्नक्षत्रमध्यस्थितस्य हस्तस्य सवितृदैवतस्य हस्तर्क्षस्योभयपार्श्वगता । तथा मेरोर्देवगिरेः परिमर्शेन विनाकृता रहिता । तदन्तेऽन्तरिक्ष एव तद्गतेः । पुनः किंभूता । अव्याहता ये ग्रहा सूर्यादय स्तेषां वशेनाहिता, योगानां विष्कम्भादीनामानन्दादीनां वा सिद्धिर्यया सा ॥ ११ ॥

त्वमिति । ज्वलितानला अश्रयो धारा यस्य तत्तादृशम् । तथा लोला या अङ्गुल्यस्ताभिर्वलनेन भ्रामणेन मण्डलितं मण्डलाकारं भ्रामितं शूलं त्रिशूलं दधानः संहाररात्रिषु महाप्रलययामिनीषु निनर्तिषुर्नाट्यं विधित्सुः शूलं निनर्तिषुश्च त्वं कालभैरवः कालाग्निरुद्रमूर्तिः । तथा कालं कृष्णं भैरवं भयानकं च वपुर्यस्य स तादृशः । बालार्केण चुम्बितो मिलितो यो नवाम्बुदः कृष्णमेघस्तद्भङ्गिं तद्विच्छित्तिमेषि प्राप्नोषि । त्रिशूलस्य भ्रामितस्य बालार्क उपमानं कालभैरवस्य कृष्णाम्बुद उपमानम् ॥ १२ ॥

शाणोपलेति । शितिर्नीलः कालकूटाख्यविषविशेषनिगरणात्कण्ठो यस्य तत्संबोधनं हे शितिकण्ठ, शाणोपलेन निकषोपलेन यदुत्कषणं तेन शुद्धं यदिन्द्रनीलं तस्येव नीला द्युतिर्यस्य स तादृशस्ते तव कण्ठो जयति सर्वोत्कृष्टो भवति । स क इत्याह—यस्मिन्निति । घनं च तदञ्जनं कृष्णाञ्जनं तद्वद्रुचिर्यस्य स तादृग्भुजगो नागो वासुकिर्यस्मिन्गले कलिन्दकन्याया यमुनाया ह्रदेऽन्तरितोऽन्तर्गतो यः कालियो नागस्तस्य कान्तिमेति लभते ॥ १३ ॥

कण्ठ इति । हे स्वामिन्, विषममत्युत्कटं कालकूटाख्यं विषविशेषं वहन्नेष तव कण्ठो वचसा कृपामृतरसार्द्रेण सद्यस्तत्क्षणमुत्थानान्तरमेवाश्रितेष्वापन्नेषु विषये यस्माकारणाच्छ्रियं लक्ष्मीं सृजति ददाति । अत एव कारणात् त्रिजगत्यपि लब्धप्रतिष्ठं श्रीकण्ठ इति, श्रीःशोभा लक्ष्मीश्च कण्ठे यस्य स श्रीकण्ठ इति युक्तमेव तव नाम ॥ १४ ॥

अन्तर्विमृश्येति । हन्त हर्षे । अहं मुहुः पुनः पुनर्हृष्यामि प्रमोदं भजे । कुत इत्याह—अन्तर्मनसि विमृश्य, गरलेन कालकूटेनेन्दुमौलेः श्रीशंभोर्विमलं शुभ्रमाननं मुखं यद् गले कण्ठे गरलेन विषेणालिङ्गितं गृहीतम् । किंभूतेन विषेण । अम्बुरुहभ्रमेण कमलभ्रान्त्या आप्ताः प्राप्ता ये रोलम्बा भ्रमरास्तेषां यो डम्बर आटोपस्तस्य विडम्बने स्पर्धायां पण्डितेन कुशलेन । कमलसौरभागतभृङ्ग पङ्क्ति‥‥‥ ॥ १५ ॥

यद्वद्विषमिति । हे ईश परमशिव । 'विषमप्सु च' इत्यमरः । 'विषं गरले तोये' इति त्रिश्वः । सुमनःस्रवन्त्या गङ्गाया अम्भः, वेवेष्टि कायं पानेनेति विषं जलं विषं सत् । अथ च विषं गरलं सत्तव विभोः शिरशि विशदं निर्मलममृतं जलमथ चामृतं पीयूषमिति यद्वत्प्रसिद्धं जगति जातम् । 'न म्रियतेऽनेनेत्यमृतम्' इति रायमुकुट्याम् । 'अप्सु घृतामृते' इत्यमरः । 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे गरले घृते । आयाचिते च मोक्षे चाथ धन्वन्तरिदेवयोः ।' इति मेदिनी । अहं मन्ये, हे भगवन्, भवतः स्वामिनो दयालोर्गलस्थमिदं विषं कालकूटाख्यं नतानां भक्तिप्रह्वानां सान्त्वनेष्वाश्वासनेषु तवैवामृतं पीयूषं संपद्यते । रसवदलंकारोऽयम् । यथा भावोपहारस्तवे महामाहेश्वराचार्यचूडामणिश्रीमदुत्पलदेवविरचिते—

'कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥' इति ॥ १६ ॥

तद्युक्तमिति । हे ईश जगदीश, अग्निस्तृतीयनयनानलरूपः सुधाच्छकान्तेः पीयूषादप्यतिनिर्मलच्छवेरमृतमयाद्भवतो वदनान्मुखात् ,स्मरस्य कामस्य त्रिलोकनाथमपि भवन्तं लिलङ्घयिषोर्वपुषि देहे यदपतत्तद्युक्तमुचितमेव । यः स्मरस्त्रिभुवनैकगुरोरपि भवत उल्लङ्घनमाक्रान्तिरूपं पराभवं विधित्सुः कर्तुमिच्छुस्तस्य चन्द्रमसोऽप्युल्का विद्युच्छेदः किं न पतति । अपि तु पतत्येव ॥ १७ ॥

दिष्ट्येति । हे ईश्वर शंभो, दिष्ट्या आनन्दे । 'दिष्ट्या शमुपजोषं च आनन्दे' इत्यमरः । जनानां समूहो जनता । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ।' विरुद्धजनता नास्तिकजनसमूहान्दमयन्ती खण्डयन्त्यपि तवेयं दृष्टिस्तृतीयदृगनलाश्रितत्वमग्न्याश्रितभावं बिभर्ति । अथ च या दमयन्ती भीमराजदुहिता सा कथमनलाश्रितत्वं नलान्नलनाम्नो राज्ञोऽन्यस्तदाश्रितत्वं भजत इति विरोधः । अन्यार्थत्वेन तदभावे विरोधाभासः । एतदपि दिष्ट्या, आनन्दकारि । वने कानने एका रतिः सुखं यस्य स तादृगपि भवांस्त्रिजगतोऽवने रक्षणे एका सक्तिर्यस्य स तादृगेकस्त्वमसि । यो वनैकसक्तिः स कथमवनैकसक्तिर्भवतीति विरोधः । अन्यार्थत्वेन तदभावे विरोधाभासः । हे अद्भुतनिधे भगवन् , ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ १८ ॥

धन्यस्येति । हे जगदीश स्वामिन् , तपोभिर्ग्लपितेऽत्यन्तक्षीणे । यस्य धन्यस्य कृतिनो वपुषि कलेवरे । त्रिनेत्रत्वाद्विषमसंख्यानि तवेक्षणानि नेत्राणि पतन्ति, मुग्धमृगशावदृशां बालकुरङ्गशावकनेत्राणां वराङ्गनानामपि विषमाण्यत्यन्ततीक्ष्णानि कामशरतुल्यानि विलोचनान्यस्य धन्यस्य धैर्यमेव सर्वस्वं न मुष्णन्ति । तेषां त्वद्ध्यानामृतसक्तचेतसां समाधिभङ्गक्षमाणि तानि कदापि न भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

सत्येवेति । हे नाथ जगदीश, कृपारसामृतप्रवाहात्यन्तशीतले जन्मजरामरणरूपात्यसाध्यरोगहरे तावकीने भावत्के दृग्विलसिते सत्येवाबुधैर्मूढैर्विबुधैर्देवैर्दुग्धोदधिप्रमथने बहिः शीतलतामात्रगुणं केवलजरामृत्युहरममृतं लब्धुं वृथा प्रयत्नो व्यधायि कृतः ॥ २० ॥

श्वेत इति । हे ईश्वर शम्भो, तव विभोः करुणामृतसागरस्य एकैव दृग्दृष्टिःश्वेते श्वेताख्ये राजन्यमृतं दयारूपं पीयूषं यदसृजत् तथा रविजे यमे च वह्निदाहकरं विलोचनाग्निं तुल्यकालं यच्चासृजत्स तयोरतिशमातिक्रोधभरितमनसोः निजः स्वभाव एव । न तु सदा कृपामृतपूर्णायाः शिवदृष्टेर्दोष इत्यर्थः । दृष्टं चैतत्—इक्षौ पुण्ड्रकनामेक्षुभेदे सुधा अमृततुल्यो रसो यद्वर्धते तथा तत्समीपवर्तिन्युषाणाख्यफलभेदे च यद्विषं सार्धं सममेव वर्धते तत्र वृष्टिर्मेघवृष्टिः किमपराध्यति किमपराधं भजते ॥ २१ ॥

नूनमिति । नूनं निश्चये संभावनायां वा । हे ईश शम्भो, क्षीरोदधिमथनकाले त्वया तत्प्रसिद्धममृतमेव पीतं न तु तत्कालकूटं विषं पीतम् । तत्कुत इत्याह—हे विभो, तव वचनक्रमे च वचनानामशरणजनाभयदानवचसां क्रमे च दृग्विभ्रमे प्रसादावलोकितविलासे च तथा तरुणे नूतने करुणारसे कृपामृतरसे चामृतमेव यद्वसति, अतस्त्वया दयालुनामृतमेव पीतमिति मन्ये । प्रत्येकं च शब्दो वचनक्रमादीनां प्राधान्यद्योतकः ॥ २२ ॥

सत्यमिति । हे विभो, सत्यं निश्चितमेतत् इयं तव भ्रूः प्रसादसमये भक्तिप्रह्वजनस्यानुग्रहकाले चपलत्वं संज्ञयाभीप्सितप्रतिपादनार्थं चञ्चलत्वमेति प्राप्नोति । तथाधिकं कुटिलत्वं च धत्ते । एतां तव भ्रुवं पूर्वोक्तानुग्रहपरां विना पुनर्निर्निरोधमृत्युपाशपाते भयविह्वलानामशरणानां दीनानां परान्या गतिर्नास्ति । सैव तेषां शरणम् । केवलं त्राणविधायिनीत्यर्थः ॥ २३ ॥

आपूरित इति। हे स्वामिन्, प्रतप्तमग्निना प्रकर्षेण द्रवीभूतं निर्मलीकृतं च यत्तपनीयं सुवर्णं तत्सदृशी पिशङ्गा कान्तिर्यस्य स तादृक्। स्वर्गङ्गाजलप्रवाहेणापूरितस्तव जूटो जटाजूटः कपर्दोऽसौ नवातपेन बालातपेन ताम्रश्चासौ वेलाशैलस्तेनोपगूढ आलिङ्गितः परिवलितो दुग्धनिधिः क्षीरोद इवामृताय सुधायै भवति ॥ २४ ॥

स्वामिन्निति। हन्ताश्चर्ये। हे स्वामिन्, सुधावदवदाता निर्मला रुचिर्दीप्तिर्यस्याः सा नृकपालमाला। नयन्त्युत्तमां गतिमात्मानं नरः। नरा अत्र महापुरुषा ब्रह्मादयः। तेषां महाप्रलयकाले कालाग्निरुद्ररूपेण संहारितत्वाद्या कपालमाला इयं शिरोस्थिमाला तव विभोर्मुकुटे आभाति। केव। मरालमाला हंसमालेव। किंभूता सा। जूटान्तराले कपर्दमध्ये विलसन्ती या गङ्गा तस्यास्तीरे क्रीडारसिका ॥ २५ ॥

ब्रह्मादिभिरिति। हे परमेश्वर, जगद्गुरुभिर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादिभिर्महाप्रलयकाले कालाग्निरुद्ररूपेण संहारितैस्तव पादपीठे यानि निजानि शिरांस्यर्पितानि, तान्येव शिरांसि तत्कपालमालारूपाणि त्वं मूर्धनि स्वशिरशि यदाभरणीकरोष्याभरणानि संपादयसि, स कोऽप्यनिर्वाच्यस्तव कृतज्ञतायाः प्रौढिमा प्राधान्यं जयति सर्वोत्कृष्टत्वेन वर्तते। 'परोपकारतत्त्वज्ञो यः कृतज्ञः स उच्यते।' तद्भावः कृतज्ञता ॥ २६ ॥

निर्वाणमिति। हे शितिकण्ठ नीलगल, यत्र तव जूटे कपर्दे जलैरपि स्वर्गङ्गावारिभिरपि वह्निः समीपस्थो विलोचनाग्निर्निर्वाणं शान्तिं नैति न प्राप्नोति। तथैव वह्निरपि महाशिखो महत्यो जाज्वल्यमानाः शिखा हेतयो यस्य स तादृगपि तानि स्वर्गङ्गाजलानि नो पचति नाचामति। तथा ताभ्यां जलवह्निभ्यामपि स्वयं कृशोऽपि एककलत्वात्तमीरमणश्चन्द्रोऽपि मान्द्यं मन्दकान्तित्वं न विन्दति न लभते, सोऽद्भुतस्तव जूटः कपर्दो विजयतेऽत्युत्कृष्टो भवति ॥ २७ ॥

भालस्थल इति। हे विभो, एष तवाद्भुत आश्चर्यकारी वेषो नेपथ्यं चकास्ति शोभते। वेवेष्टि व्याप्नोत्यङ्गं वेषः। 'विष्लृ व्याप्तौ' पचाद्यच् वेषो मूर्धन्यान्तः। विशन्ति नेत्रमनांस्यत्रेति वेशः। अधिकरणे वा घञ्। वेशस्तालव्यान्तश्च। 'वेषो मूर्धन्यान्तस्तालव्यान्तश्चेति प्रागुक्तम्' इति रायमुकुट्याम्। एष वेषः क इत्याह—भालस्थले ललाटतटे हुतवहमग्निं जलं स्वर्गङ्गाजलं च वहतो धारयतस्तव। तथा मूर्ध्नि चन्द्रं कलारूपं च विकटं विस्तीर्णं कपालखण्डं च वहतस्तव एकत्रैस्मिन् हस्ते मुण्डं ब्रह्मशिरः कपालमपरत्रापरस्मिन् हस्तेऽमृतकलशं च वहतस्तवाद्भुत आश्चर्यकारी वेषो नेपथ्यं चकास्ति ॥ २८ ॥

दानेनेति। हे विभो, विना त्वत्त्वत्तो विना, इह त्रिजगति कस्य राजशिरोमणित्वम्। 'राजा भूपे शशाङ्के च' इति मङ्खः। राजा चन्द्रः कलारूपः शिरोमणिर्यस्य स तस्य भावस्तत्त्वं कस्यान्यस्यास्ति। तवैव नान्यस्येत्यर्थः। अथ च राज्ञां मध्ये शिरोमणिः सार्वभौम तद्भावश्चासौ। द्वावपि विशेषणैर्विशिनष्टि—तव किंभूतस्य। दाने दानविषये उपमन्युदानविषये नदीनं नदीनामिनः प्रभुः समुद्रः क्षीरोदस्तं संहर्षं सानन्दं कृत्वोपकल्पयतः सङ्कल्पयतः। तथा गां वृषभम्। गोशब्दः पुंसि वृषभवाचकः। तमाक्रम्याधिरुह्यानुपमामनन्यसदृशीं गतिमास्थितस्याश्रितस्य तथा नागेन्द्रैर्वासुक्यादिभिः संभृतानि महान्ति कटकानि कङ्कणानि यस्य सः। तथा सार्वभौमपक्षे, दानेन वितरणेन दीनं दीनजनं सहर्षं सप्रमोदमुपकल्पयतः कुर्वतः। तथा गां भूमिं सद्वीपामाक्रम्यानुपमां गतिं शक्तिमास्थितस्याश्रितस्य तथा नागेन्द्रैः करिपुङ्गवैः संभृतं पूरितं महत्कटकं सैन्यं यस्य स तादृशस्य। शब्दश्लेषोऽलंकारः ॥ २९ ॥

कण्ठ इति । हे विभो, तव कण्ठे गले विषं कालकूटाख्यो विषभेदश्चकास्ति । तथा तव गात्रेष्ववयवेषु शिरःकरचरणादिष्वपि विषभृतो विषधरा सर्पा वासुक्यादयश्चकासति । तथा तव मूर्ध्नि शिरसि सुरस्रवन्त्याः स्वर्णद्या विषं, वेवेष्टि व्याप्नोति कायमिति विषं, जलं चकास्ति । इत्थमनेन प्रकारेण विषाणां प्रागुक्तानां वसतेः स्थानभूतस्यापि ते अमृतेशेति नाम, अमृतस्य कैवल्यस्य रसायनस्य चेशः स्वामी अमृतेशः । अमृतेश इति नाम सुकृतिनां पुण्यवतां कर्णामृतं श्रोत्ररसायनं भवतीत्यद्भुतम् ॥ ३० ॥

एतस्य स्तोत्रस्योपसंहारं वृत्तेनैकेनाह—

क्षतेति । क्षतः क्षीणः । निवृत्त इत्यर्थः । क्षतो निवृत्तो विभवविशेष ऐश्वर्योत्कर्षो येषां ते तादृशाः । अतएव प्राणमात्रमवशेषो येषां ते तादृशा वयं त्रिपदं जन्मजरामरणापदमनुभवामः । अत्र हेतुमाह—हि यस्मात्कारणात्कर्मपाकः प्राचीनकर्मविपाको वामः प्रतिकूलः । अर्थादस्माकम् । यतः । तत्तस्मात्कारणादिह जगति क्लृप्तमोहापहारः । अनात्मन्यात्मबुद्धिर्मोहः । क्लृप्तो निष्पादितो मोहस्याज्ञानस्यापहारो नाशो येन स तादृशः । तथा कृत्तो भेदितः शोकस्य जन्मजरादिदुःखस्यातिरेक आधिक्यं येन स तादृशः सुप्रसिद्ध एको भुजगहारः फणिहारः श्री शिवभट्टारक एव गतिः शरणं मादृशां भवतीति शिवम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठविरचितायां लघुपञ्चिकायां भगवद्रूपवर्णनं नाम एकोनविंशं स्तोत्रम् ।

विंशं स्तोत्रम् ।

अथातस्त्रिजगदनुग्रहनिरतस्य श्रीशम्भोर्हसितवर्णनं नाम विंशं स्तोत्रमारभमाण आह यदिति । यत्सौभगेनेत्यादि श्लोकपञ्चविंशत्या कुलकेन श्रीशिवभट्टारकस्य विलासहसितं वर्णयति कविः—

यदिति । श्रीशम्भोर्यत्क्रीडाहसितं सुभगस्य भावः सौभगं रामणीयकं प्राशस्त्यं प्रागल्भ्यं वा । तेन हेतुना अवन्ध्यं सफलं सत् अमोघः सर्वथा फलदायी यो मेघसंघातः पर्जन्यसमूहस्तत्संभवं घनमोघं प्रवाहममृतमयमधः करोति, जयति, तच्छाम्भवं श्रीशम्भुसंबन्धि विलासहसितं क्रीडाहसितं, स्मितं, नुतिभिः स्तुतिभिर्वयं भजामः सेवामहे । तदेव स्तुवीमहीत्यर्थः किंभूतं तत् । संसार एव मरुर्निर्जलो दूरोऽध्वा तत्र भ्रमेण यः खेदस्तस्य भेदस्तत्र दक्षं निपुणम् । देहिनामिति शेषः ॥ १ ॥

तद्धसितं किमित्याह—

यदिति । हे भगवन्नैश्वर्यादिषड्गुणनिधे, यद्विलासहसितमुदेत्युत्पद्यते । कस्य । भवतो विभोः । किं कृत्वा । अस्मादृशं मूढं चर्मचक्षुषं विमृश्य । कुत्र । अन्तर्मनसि । अस्मादृशं किंभूतम् । तावकं महिमानं भवदीयमाहात्म्यमामृशन्तं विचारयन्तम् । पुनः किंभूतमस्मादृशम् । कृशा मन्दा दृक् ज्ञानं यस्य स तादृशम् । तावकं महिमानं किंभूतम् । सकलेत्यादि । वाक्च मनश्च वाङ्मनसम् । तदतिवृत्तः सकलः सीमा यस्य स तादृशम् । अवाङ्मनसगोचरमित्यर्थः । सीमावधिः । पुनः किंभूतम् । अमानमेयं न मानैः प्रत्यक्षानुमानादिभिर्मेयो मातुं शक्यस्तादृशम् ॥ २ ॥

तद्विलासहसितं किमित्याह—

येनेति । न जातोऽजोऽनादिस्तत्संबोधनं हे अज अनादे, अपगतो मन्यू रोषः परद्रोहादिर्यस्य स तादृशम् । तथा नान्यं विभुं भजतीत्यनन्यभाक् तादृशम् । तथा आजन्म जन्मारभ्य तृष्णक् पिपासुस्तम् । अतएवाजस्रं श्रमेण खेदेनार्तं खेदकदर्थितमुपमन्युमुपमन्युमुनिं बालं येन विलासहसितेन स्वयमानन्दयः, सानन्दमकरोः । किंभूतेन हसितेन । येन अदीनोऽकातरो यो नदीनामिनः स्वामी समुद्रः क्षीरोदस्तस्य दानं तदेव भास्वद्भास्वरं महाफलं तत्र लसच्छोभमानं यत्कुसुमं तस्योपमा यस्य तत्तादृशेन । क्षीरोददानाख्यप्रदेनेत्यर्थः ॥ ३ ॥

येनेति । हे नाथ शंभो, प्रसादेन सुभगं रम्यं तादृशेन येन विलासहसितेन भगीरथस्यापि सगरवंशजस्य तापविपदं तापो मदीयपितामहाः कपिलमुनीश्वरशापदग्धा निरये पतिता इति यः पश्चात्तापः स एव विपत्ताम् । प्रथमं भगीरथस्य राज्ञो निजभक्तस्य जहर्थ हृतवानसि । पुनतदाराधनतुष्टेन भवता मूर्ध्ना धृता या त्रिदशसिन्धुर्गङ्गा तस्या यो महाप्रवाहस्तेन यन्निर्वापणं शीतलीकरणं तेन । पुनरस्य भगीरथस्य पितामहानां सगरवंशजानां तापोऽतितृष्णासन्ताप एव विपत्तां जहर्थ । तेन भवत्प्रसादोपनतस्वर्गङ्गानीरप्रवाहेण तत्पितामहोद्धरणमकरोरित्यर्थः ॥ ४ ॥

अत्र प्रसङ्गेन विभोः कालदाहापदानं वर्णयति—

उत्प्रासनायेति । 'स्यादाच्छुरितकं हासः सोत्प्रासः' इत्यूर्ध्वं प्रकर्षेणासनं गमनमुत्प्रास आधिक्यम् । 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' । सोत्प्रास अधिको महान् हास आच्छुरितकम् । 'छुर भेदने' । भावे क्तः । स्वार्थे कः । आ समन्तादविच्छिन्नमित्यर्थः । अत एवानल्पो यो दर्पोद्गमोऽहंकारोद्गमस्तस्य प्रशमनेन भाविदाहरूपेण विक्लवः कृशो विक्रमो यस्य स तादृशस्य शमनस्य कालस्योत्प्रासनाय तदसह्योत्पादनार्थं स्वस्याधिक्यगमनाय (?) येन हसितेन मनसि समभावि, अमर्षोत्पादकमधिकं हसितमुपहासः । तथा कालमतिकरालं वीक्ष्य च कीनाशपाशेन कालपाशेन विह्वलस्य नरेश्वरस्य राज्ञः श्वेतनृपस्याश्वासनाय सान्त्वनाय च येन हसितेन समं मनसि समभावि संभूतम् ॥ ५ ॥

तद्धसितं किमित्याह

भावत्केति । हे नाथ, भावत्कभक्त्यतिशयेन संभृता प्राप्ता या भूरिभूतिरनल्पसंपत्तस्याः संभारेण रूढ उत्पन्नो यो गुरुर्महागर्वस्तेन गलन्पतन्विवेकस्तादृक्त्रैलोक्यभयोत्पादकविभूतिसमर्पकप्रभुपूजारूपो यस्य स तादृशम् । मोहेनाज्ञानेनान्धमन्धीकृतमन्धकमन्धकासुरम् । उपाहितो मनसि निश्चितः साहसिक्यहेवाकः प्रत्युत तादृग्विभूतिसमर्पकत्रिलोकनाथेनैव समं युद्धसंरम्भसाहसिक्यहेवाको यस्य स तादृशमाकलयतो जानतो भवतः प्रभोर्यद्धसितमासीत् ॥ ६ ॥

तद्धसितं किमित्याह —

लङ्केशेति । कुत्सितं बेरं देहोऽस्य । कुष्ठित्वात् । कुबेरो धनदः । लङ्केशेन स्वयमेवानुगृहीतेन कम्पितो यः कुबेरगिरिः कैलासस्तेन हेतुना रूढः संरम्भो व्याकुलता यस्यास्तादृशी । अतएव भीरुस्त्रस्ता या गिरिजा पार्वती तस्या अन्यत्राख्यानोक्तरीत्या मानिन्याः परिरम्भमाश्लेषं भजति यस्तादृक् तस्य ते तव रुषां रोषाणामवसरसमयेऽपि पूर्वोक्तरीत्या उदितो योऽनवद्यो हृद्यः प्रसादस्तेन शोभनं मुखं यस्य स तादृशस्य ते यद्विलासहसितं समुज्जगाम समुद्गतम् । उत्पन्नमित्यर्थः ॥ ७ ॥

तद्धसितं किमित्याह —

पूजार्थमिति । हे नाथ, विष्णुना तव पूजार्थमम्बुजसहस्रं कमलसहस्रं यदुपाहितं पूजार्थमानीतं, तन्मध्यादेकं कमलं कैतवेन च्छद्मना अनन्यासक्तिभक्तिपरीक्षणरूपेण हृतवतो गोपयतस्तव, निजं लोचनं तत्कमलपूरणायोत्खनन्तमुत्पाटयन्तं विष्णुं निजभक्तं विलोक्यान्तः प्रसन्नं मनो यस्य स तादृशस्य तवामन्दं बहु यद्धसितमासीत् । एतद्वृत्तान्तवर्णनेन महिम्नःस्तोत्रेऽपि श्रीशिवस्तुतिः—

'हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोः
यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्' । इत्यादिना ॥ ८ ॥

दृष्ट्वेति । अनुत्तमानन्यसदृशी या रूपसंपत्तस्याः सन्दर्शने उद्भवो यस्य तथाविधो मनोभवः कामस्तेन भग्नं वृत्तं शीलं यस्य स तादृशस्तं वधूजनं निजदारसमूहं दृष्ट्वा, आषाढ़पाणिषु पलाशदण्डपाणिषु रुषा पूर्वोक्तवृत्तान्तोदितया त्वां प्रहर्तुमुद्यतेषु मुनिषु भृशमत्यर्थं यद्धसितं तवोद्बभूव उद्भूतम् । 'पलाशो दण्ड आषाढ़ः' इत्यमरः । आषाढासु जात आषाढः । 'विशाखाषाढादण्मन्थदण्डयोः' इति स्वामी । एतद्वृत्ताख्यानमपि 'अपूर्वं लावण्यं विवसनतनोस्ते विमृशताम्' इत्यत्र ॥ ९ ॥

अधुना देवासुराणामपि दाहभयकारिकालकूटाख्यविषविशेषनिगरणापादानं श्रीशम्भोर्वर्णयति प्रसङ्गेन —

अभ्यर्णेति । अभ्यर्णवर्ती करगोचरः करस्थो यो कालकूटो विषविशेषस्तस्य कूटः समूहस्तस्य प्रभानिचयेन मेचकितेऽसितीकृतेऽधरौष्ठे यद्धसितं पुराविरासीत् प्रकटीबभूव । किंभूतम् । पूर्वपर्वतशिखामाश्रितो यः शीतरश्मिश्चन्द्रस्तस्य रश्मिच्छटानां छविं कान्तिं विडम्बयति, तादृशम् ॥ १० ॥

यदिति । कर्णतालयोर्वेल्लनं तेन योऽनिलस्तेन धूताः कुम्भसिन्दूररेणुकणाः कपोलचीनपिष्टरजोलवास्तैः कूणिते निमीलिते पूरिते वा लोचने नेत्रे येन स तादृशस्य । 'कूण संकोचने' 'कूण पूरणे' वा धातुः । एवंभूतस्य बालस्य नागवदनस्य गणपतेर्मनस्यभीष्टां नाट्यस्य घटनां रचनां दृष्ट्वा तव यद्धसितं संबभूव संभूतम् । 'रचना' इत्यपि पाठः ॥ ११ ॥

शैलादीति । हे स्वामिन् , शिलादस्य मुनेरपत्यं शैलादिर्नन्दी प्रमथविशेषस्तेन वादितो यो मृदङ्गस्तस्य लयोऽन्यवाद्यैः सह समत्वं, तमनुगतं यन्नृत्तं तत्र प्रवृत्तो यो गुहवाहः कार्तिकेयवाहनं मयूरस्तस्य विलोकनेन हेतुना महाप्रलये भैरवरूपिणस्तव नवताण्डवडम्बरेषु नूतननाट्यविस्तारेषु यद्धसितमाविर्बभूव । 'लयः साम्यं' इत्यमरः ॥ १२ ॥

तद्धसितं किमित्याह —

व्योमेति । हे स्वामिन् , युगान्तसमयाभिनयेषु महाप्रलयकालनाट्येषु तव प्रचण्डा ये भुजा अष्टादश, त एव दण्डास्तैर्विघट्यमाना ध्वस्यमाना यास्तारावल्यस्तासां विरहेण बन्धुरितः पूरितोऽन्धकारो यत्र तत् । ईदृशमपि व्योमाकाशं येन तव हसितेन पुनरपि प्रचुरप्रकाशं संभाव्यते ॥ १३ ॥

दिगिति । तत्तव हसितं किंभूतम् । हेस्वामिम् , दिक्चक्रवालस्य दिङ्मण्डलस्य मुखरीकरणे प्रतिनादेन मुखरीकृतौ प्रगल्भो यः प्रावृट्पयोधरो वर्षापर्जन्यस्तस्य गभीररवमनुकरोतीति

तादृग् यत्तव हसितं युगपत्तुल्यकालमेव कठोरहृदयस्य कठिनाशयस्य श्रीशिवशासनपराङ्मुखस्य भयं दातुम् , भीरोः कातरस्याशरणस्याभयं दातुं क्षमं समर्थं भवति ॥ १४ ॥

यदिति । तत्तवहसितं पुनः किंभूतमित्याह—कालकूटस्य विषभेदस्य कवलीकरणेन निगलनेन प्ररूढो नीलिमा यस्मिंस्तादृशे तव कण्ठतटे निलीनं लग्नं, बिमलं स्वतो धवलं, नीरन्ध्रो घनः नीरभरेण मेदुरो यो मेघखण्डस्तत्र लग्नं यदिन्दुमण्डलं तस्य विडम्बनं स्पर्धां यत्तव हसितमातनोति विस्तारयति ॥ १५ ॥

इतः परं भगवद्धसितमहाकुलकमध्ये भगवत्याः पार्वत्याः स्वप्नादेशवर्णनं श्लोकनवकेन गर्भकुलकमाह—

ध्यायन्तीति । 'इत्यादि तीव्रविरह' इत्यन्तिमश्लोके तत्स्वप्नवृत्तं शृण्वतः प्रमोदभर-निर्भरमानसस्य यद्धसितं तव जातमिति संबन्धः । गिरिजा पार्वती श्रीशम्भुवियोगेनोन्मदना विरहातुरा स्वसखीं जयां प्रति स्वप्नोदितवृत्तान्तमकथयत् । हे सखि जये, नान्यस्मिन्हृदयं मनो यस्याः सा तादृश्यहं हृदयाधिनाथं प्राणप्रियं भगवन्तं शम्भुं ध्यायन्ती, अद्यास्मिन्वासरे कल्पकल्पां चतुर्दशभिर्मन्वन्तरैरेकः कल्पः । ईषदसमाप्तः कल्पो यस्यास्तादृशीं कल्पकल्पां क्षपां रात्रिमे-कागमयम् । अथानन्तरमस्मत्प्राणेशस्य प्राणप्रियस्य श्रीशिवस्य यः संगमस्तस्य निमित्तं हेतुभूता । आरोपः । सखी सहचरीव, प्रभाते निद्रा मम संमुखमाजगाम । स्वप्ने कदाचित्प्राणेशसंगमोऽपि भवति ॥ १६ ॥

तस्मिन्निति । हे सखि जये, मधुरया सौम्ययैव दृशा दृष्टया, मनःप्रसादं चेतोनैर्मल्यं शंसन्प्रतिपादयंस्तमसा तमोगुणेन मूर्छापर्यायेण मुकुलितायाः संकुचिताया मम स्वैरं स्वेच्छया, स्वतन्त्रत्वात्समेत्यागत्य तस्मिन्नेव क्षणे मम नयनवर्त्मनि नेत्रमार्गे पदं चक्रे स्थितिमकरोत् । क इव कस्याः । सरोरुहिण्याः पद्मिन्याः सविता सूर्य इव । यथा सूर्यः प्रभाते पद्मिन्यास्तम-सान्धकारेण मुकुलीकृतायाः संकुचिताया नेत्रवर्त्मनि पदं करोति तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥

अतः परं स्वप्नदृष्टपरमेश्वरसान्त्ववाक्यमपि पार्वती सख्यै जयायै प्रोवाच । यथा—

अस्मदिति । स्वप्ने दृष्टः शम्भुः पार्वतीमाश्वासयति—हे सितमयूखमुखि, मुनिभिर्वाचं-यमैरपि व्रतिभिर्यदतिशयेन दुष्करं कर्म तदेतत्त्वया कोमलाङ्ग्या किं प्रस्तुतं किमारब्धम् । हे कोमलाङ्गि, त्वं कथय । या तवाङ्गयष्टिरुद्याने कुसुमोद्याने यच्चङ्क्रमणं लीलया भ्रमणं, तत्र ये केलयस्तेषु खिद्यते, सा ते तवाङ्गयष्टिः कथं कष्टसहा भवति ॥ १८ ॥

पुनरप्येतदेव समर्थयति--

मूर्तिरिति । हे शशिमुखि, बालं नवं यत्कदलीदलं तद्वत्कोमला सुकुमारेयं तव मूर्तिः क्व भवति । तीव्रं कठिनं मुनिभिरप्यतिदुष्करं, मनसोऽपि यन्न गोचरं, तत्तपः क्व भवति । दृष्टं चैतद्, यथा—सुमनोलताया मालतीलताया ईषद्विकासि ममाक् प्रफुल्लं कुसुमं क्व भवति । 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः । उन्मत्तो यः कुञ्जरो हस्ती, तस्य करेणोपमर्दस्तस्य जातीकुसुमस्य क्व भवति ॥ १९ ॥

एतेनेति । हे सुमुखि, प्रथमो नूतनो यः पल्लवस्तद्वत्कोमलेन तव करेण पाणिना कर्कशानामतिकठोराणां कुशानां दर्भाणां ग्रहणं कथं सोढम् । तथा हे कोमलाङ्गि, कमलगर्भनिभौ

पद्मकोषनिभौ तव चरणौ शिलानां दृशदामश्रयो धारास्तासां श्रेणिषु पङ्क्तिषु तीर्थगमनेन क्लेशं कथमन्वभूताम् ॥ २० ॥

हार इति। यत्र यस्मिंस्तव कुचद्वन्द्वे हारोऽपि मुक्ताहारोऽपि भार इव क्लेशावहः। द्वे पलसहस्रे भारः। 'तुला स्त्रियाँ पलशतं भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः' इत्यमरः। तत्ते कुचद्वयं कुलिशवद्वज्रवत्कर्कशं कठोरं यद्वल्कलं भूर्जत्वक्, तदेवोल्का विद्युद्धेदस्तां कथं सेहे। हे तन्वङ्गि, मृद्वी या मृणाललता तद्वदभिजातं सुकुमारं तवाङ्गं पञ्चाग्निधारणं नाम तपोविशेषः। तत्र दक्षिणाग्निगार्हपत्याहवनीयास्त्रयः, प्रणीत-(संस्कृतोऽनल-) श्चतुर्थः, पञ्चमस्तु तपनोऽग्निरिति पञ्चाग्नयः। तापः सन्तापस्तेन या विपदतिक्लेशः स एव वा विपत्तस्याः पदं स्थानं कथमासीत् ॥ २१ ॥

इत्यादिभिरिति। हे सखि जये, दशनानां चन्द्रिका ज्योत्स्ना तयानुविद्धैर्व्याप्तैः। अन्तस्तिमिरमज्ञानरूपं तस्य प्रसरं बहिस्तिमिरं च ध्वान्तं हरद्भिः। तथा गर्भीकृतं स्मितमीषद्धसितं तदेव सुधा तया मधुरै रम्यैर्वचोभिर्निवर्तितो दूरीकृतस्तीव्रो महांस्तपश्चरणोत्थः खेदो यत्र तत्। क्रियाविशेषणमेतत्। अश्वासयन्निव। मामित्यर्थात् ॥ २२ ॥

यावदिति। त्रपापरवशं लज्जाधीनम्। अतएव क्षितिमीक्षमाणम्। लज्जयावनतमित्यर्थः। तथा मुक्ताफलोपमाः समुद्गता घर्मलेशाः स्वेदकणाः सात्त्विका यस्य तत्तादृशं च मुखं मदीयं करेण पाणिना किंचिदुन्नमयन्नुत्क्षिपन्नेष प्रियतमः शंभुर्भूयो वचोभिः पीयूषवर्षं सुधावृष्टिमिव वर्षितुं यावदियेष ॥ २३ ॥

तावदिति। हे सखि जये, तावदेव कृकवाकुनादैः कृकेन शिरोग्रीवेण वक्ति रौति। 'कृकेवचः कश्च' इत्युण्। कृकवाकुः। 'कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः' इत्यमरः। कृकवाकुनादैः कुक्कुटरवैर्हेतुभिर्मां प्रबोधितवता शठेन कितवेन दुर्वेधसा दुर्दैवेन तन्मत्प्रबोधनरूपं कर्माचरितं कृतम्। तत्किमित्याह— यत्र एष एव जीवितेश एव, श्रीशंभुरेव मम केवलं शरणं भवति, यद्वा तदलाभे यो जीवितेशो यमोऽखिलजन्तुवर्गं सर्वप्राणिसमूहं हरति स्वसात्करोति, स एव जीवितेशो मृत्युर्मम शरणम्। 'अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति' इतिवदत्रापि योजना। 'जीवितेशौ यमप्रियौ' इति मङ्खः ॥ २४ ॥

इत्यादीति। इत्यादि पूर्वोक्तप्रकारेण 'ध्यायन्त्यनन्यहृदया—' इत्यादि स्वप्नवृत्तं तीव्रो दुर्धरो विरहज्वरो यस्याः सा, तादृश्या गिरिराजपुत्र्या श्रीपार्वत्या, जयायै जयानाम्न्यै स्वसख्यै यदुदितमुक्तं, तदेव स्वप्नवृत्तं शृण्वत आकर्णयतो वनलताभिरन्तरितस्याच्छादितस्य तव, हर्षेण निर्भरं मानसं यस्य स तादृशस्य यद्विलासहसितं जातं, तं नुतिभिर्भजाम इति संबन्धः। पञ्चविंशतिश्लोकैः कुलकम् ॥ २५ ॥

अथेदानीं श्रीशंभुमेव वरमवाप्तुं निजपितुर्हिमाद्रेः प्रदेशेषु महातपांसि चरन्त्याः श्रीपार्वत्याः प्रसन्नाशयावबोधाय व्याजेन तरुणवर्णिरूपं विधायागतस्य शंभोर्भगवत्या सह संवादवर्णनेन विलासहसितमुपश्लोकयञ्श्लोकत्रयोदशकेन कुलकमाह—

संजीवनेति। व्याजतरुणवर्णिरूपो भगवान्पार्वतीं प्रत्याह—हे बाले षोडशहायने मुग्धे च पार्वति, हरस्य श्रीशंभोर्हुंकृतमेवाग्निस्तस्य ज्वालाभिरवलीढं ग्रस्तं वपुर्यस्य स तादृशस्य कुसुमायुधस्य कामस्य संजीवनार्थमाप्यायकमौषधं संजीवनौषधम्। आरोपः। तत्रापि त्रिभुवनस्य सकलस्याभरणभूतम्। सुधारससमयेऽस्मिंस्तारुण्ये त्वया किमर्थमायास्यते खेद्यते ॥ २६ ॥

कल्पद्रुमैरिति। हे बाले मुग्धे, कल्पद्रुमैर्देवद्रुमैर्मन्दारपारिजातसन्तानकल्पवृक्षहरिचन्दनैः पञ्चभिस्तथा निधिभिर्महापद्मपद्मादिभिर्नवभिः, तथौषधिभिः संजीवनीविशल्यीकरणाद्योषधिभिः कामधेनुभिः सुरभ्यादिभिः चिन्तामणिप्रभृतिभिश्च रत्नविशेषैः परिष्कृतस्य भूषितस्य तव पितुर्हिमालयाद्रेर्भुवनमतिशेते इति तादृशी या लक्ष्मीः श्रीस्तस्या धाम्नि स्थाने धामनि गृहे किं तद्वस्तु दुर्लभमस्ति, यत्त्वं बाला तपोभिरतिकष्टप्रदैरर्थयसे मार्गयसि ॥ २७ ॥

त्वमिति। हे बाले, त्वं गुरोः पितुर्जीवितादप्यधिका स्नेहभाजनमसि। स पिता तावदधीता नीतिर्नीतिशास्त्रं येन स तादृक्तव मन्युमपमानकारणं क्रोधं नोत्पादयेत्। तथान्यकृतः परेण केनचिद्विहितो निकारोऽपमानलक्षणश्च तवास्माभिर्न संभाव्यते। युक्तं चैतत्—कः सचेतनः केसरिणः सिंहस्य सटानां हठेन कर्षणमाक्षेपं कुर्वीत। न कोऽपीत्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रद्धेति। हे गौरि। गौरादित्वान्ङीष्। गौरी कनकसप्रभदेहकान्तिः। तथा च स्कान्दे—'इच्छामि देव दिव्यं च वपुः कनकसप्रभम्' इति। हे गौरि पार्वति, श्रद्धाया अनुबन्धेन विहितानि शास्त्रोक्तेन विधिना कृतानि व्रतानि कृच्छ्रातिकृच्छ्रादीनि, होमा वाजपेयाद्या यज्ञाः, दानानि च महादानानि षोडश; तीर्थानि गङ्गाप्रयागनैमिषपुष्करादीनि, तेषु यद्गमनं तदादि। आदिशब्देन स्वाध्यायमन्त्रपाठादि निबन्धनं हेतुर्येषां तानि। तुषारं हिमं हारो मुक्ताहारश्च तद्वद्गौराणि धवलानि। कस्य धन्यस्य कृतिनः पुराकृतानि प्राचीनानि सुकृतानि प्राग्जन्मोपार्जितानि फलितानि ? सा तादृशी त्वं यं धन्यं कर्मभूतं तपसा प्रसादमानयसि प्रसन्नं संपादयसीत्यग्रे कुलकान्ते 'सा त्वं' इत्यनेन संबन्धः। नीञ् द्विकर्मकः ॥ २९ ॥

इतः परं वृत्तषट्के शब्दश्लेषोक्त्या मिषेण स्वात्मानमुद्दिश्यापि भगवतो व्याजतरुणवर्णिरूपस्य पार्वतीं प्रत्युक्तिः—

दुर्वारेति। दुर्वारा दुर्निवारा या दुर्गतिः कालकर्णी तया कदर्थ्यमानं पीड्यमानमखिलं लोकमर्थिजनमालोक्येन्दुवत्कान्ता रम्या वर्ष्मत्विड् देहकान्तिर्यस्य स तादृशेन परमकारुणिकेनातिकरुणावता विपुलाशयेनोदारचित्तेन केन कृतिना सद्यस्तादृशार्थिजनविलोकनानन्तरमेव कनकवर्षणमव्युच्छिन्नं कनकदानं कृतम्, यं धन्यं तपसा प्रसन्नं संपादयसि। अथ च स्वमुद्दिश्य व्याजतरुणवर्णिरूपस्येश्वरस्योक्तिः—दुर्वारविपदपमानकदर्थ्यमानमखिलं सर्वं लोकमौचित्यान्मरुत्तनृपपुरवासिनं लोकमालोक्येन्दुश्चन्द्रः कस्य शिरसोऽन्ते यस्यास्तादृशी इन्दुनार्धचन्द्रेण कान्ता रम्या वा वर्ष्मत्विड् देहप्रभा यस्य स तादृशेन विपुलाशयेन परमकारुणिकेन निमेषमात्रेणापि त्रिजगदुद्धारकारिणा केनार्थान्मया मां विना केन वा मरुत्तनृपपुरे कनकवर्षणं सप्ताहोरात्रावधि हेमवृष्टिः कृता। अतो जाने मामेव तपसा प्रसन्नं संपादयितुमिच्छसीत्यर्थः ॥३०॥

गायन्तीति। हे गौरि, विषम उच्चावचं वदन्नुग्रो भयावहो यः कालस्तुरीययुगकालः कलिर्विपत्कालो वा तेन संरुद्धा शक्तिर्येषां ते तादृशा ये शरणागता याचकजनास्तेषां सम्यग् रक्षणार्थं विषदं निर्मलमपदानं महादानोत्थमद्भुतं कर्म, इन्दुना पूर्णचन्द्रेण धौतासु धवलीकृतासु कौमुदमहोत्सवयामिनीषु 'कुं भूमिं मोदयति पालनेन कुमुद्विष्णुस्तस्यायं प्रियः कौमुदः कार्तिकः।' तथा च नारदपुराणे—कौमुदस्य तु मासस्य या सिता द्वादशी भवेत्। अर्चयेद्यस्तु मां भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ इति। तथा महाभारतेऽपि—कौमुदे शुक्लपक्षे तु योऽन्नदानं करोति हि। स सन्तरति दुर्गाणि प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ इति समयप्रदीपे

धर्मशास्त्रनिबन्धे। महानुत्सवो यासु महोत्सवास्तादृश्यो यामिन्यो रात्रयः। कौमुदकस्य कार्तिकस्य महोत्सवरात्रिषु कस्य धन्यस्यापदानं नन्दनसदां देवानां द्वन्द्वानि मिथुनानि, गायन्ति। यं तपसा प्रसन्नं संपादयितु मिच्छसि। अथ च विषमः शुभाशुभपरीक्षणात् उग्रो महाभीषणो यः कालो मृत्युस्तेन संरुद्धा शक्तिर्यस्य स तादृशो यः शरणागतः प्रसिद्धया श्वेताख्यो नृपस्तस्य रक्षणं कालफणिपाशाद्रक्षणं तदर्थं विषदं स्वच्छमपदानं कालदाहरूपं द्युसदां द्वन्द्वानि चन्द्रातपधवलासु कार्तिकराकारजनीषु कस्यार्थान्मम मत्तोऽन्यस्य कस्य वा गायन्ति, यं मां तपसा प्रसन्नं संपादयसि॥ ३१॥

केनेति। हे गौरि, अत्रेरत्रिनाम्नो मुनीश्वरस्य नेत्रं ततः संजातश्चन्द्रः। 'आत्रेयः क्षणदाकरः' इत्यमरः। तत्सदृशी कान्तिर्यस्य तत्। तथा अद्भुता आश्चर्यकारिणी भूतिः सम्पत्तिरेव भूषा तया वा भूषा यस्य तत् तादृशं वपुर्वहता धारयता। तथा इद्धं दीप्तं महस्तेजो यस्य सः, तादृशेन केन महता ईश्वरेण सर्वतो महासमर्थेन उद्दामा उद्भटाः कामा अभिलाषा येषां तादृशा अत एव शिता अतिक्रुद्धास्तस्य ये मार्गणाः शरास्तेषां मार्गणा अर्थिनस्तेषां दौमनस्यं स्वाभिलषिताप्राप्तिलक्षणं, तेन यद्वैरस्यं तत्सहसा तत्क्षणमेव तेन केन धन्येन निरस्तं यं तपसा प्रसन्नं कर्तुमिच्छसि। अथ च त्रिभिर्नेत्रैः सूर्येन्दुवह्निधामभिः कान्तिर्यस्य तत् तादृशं वपुर्वहता। तथा अद्भुता आश्चर्यकारिणी भूत्या भस्मना भूषा विच्छित्तिर्यस्य तत्तादृशं वपुर्वहता महता ईश्वरेण महेश्वरेण शंभुना उद्दाम उद्भटो यः कामस्तस्य ये शितास्तीक्ष्णा मार्गणाः शरास्तेषां दौमनस्यं पैशुन्यं तेन वैरस्यं निरस्तं दूरीकृतम्॥ ३२॥

धन्या इति। हे गौरि, अस्खलितेन निर्निरोधेन पौरुषेण भग्नश्चलितो भूरिदर्पेणान्धानां लोकानां कन्दलितः पल्लवितो वृद्धिंगतो लोकानां विषादो येन स तम्। तथा हेलयावलीढो निर्नाशितो विषमः श्रमो येन स तादृशो यो वीर्यवह्निर्वीर्यमेवाग्निस्तेन भस्मीकृतान्यहितानां शत्रूणां पुराणि नगराणि येन सः, तादृशं कं धन्याः कवयः स्तुवन्ति, यं तपसा प्रसादयसि। प्राग्वदीश्वरमपि किंभूतम्। अस्खलितेन पौरुषेण भग्नः संहारितो भूरिदर्पो महागर्ववानन्धकोऽन्धकाख्योऽसुरो येन तम्। तथा उच्चैः कृत्वा दलितः खण्डितः लोकानां सप्तानां भूरादीनां विषादो दुःखं येन स तादृशम्। तथा हेलया खेलयावलीढं निगीर्णं विषं कालकूटाख्यो विषभेदो येन सः, तादृशम्। तथा अश्रमं श्रमरहितं कृत्वा वीर्यवह्निना वीर्याग्निना भस्मीकृतान्यहितान्यननुकूलानि पुराणि त्रीणि पुराणि येन सः, तं धन्याः कवयः स्तुवन्ति॥ ३३॥

कः इति। स्वर्धुन्यां गङ्गायां यत्सवनं स्नानं तथा वह्नेस्तरुणाग्नेश्च निषेवणं तदादिकर्मणा धौतां पवित्रां तनुं दधत्। तथा अनुज्झिता भैक्षवृत्तिर्भिक्षाणां समूहो भैक्षं तेन वृत्तिर्जीवनं यस्य सः, तादृक्। तथा परिशुद्धोऽतिस्वच्छो यो धर्मः शास्त्रीयवचनपरिपालनरूपस्तस्मिन् रतः। तथा अजिनेन मृगचर्मणा आवृताङ्गः सः को द्विजेन्द्राणां विप्रवराणां मुकुटो मौलिभूतः कालं समयं क्षपितवान्। वह्निस्तृतीयनयनस्थस्तस्य निषेवणम्। आदिना सूर्यचन्द्रपरिग्रहः। तैर्धौतां निर्मलां तनुं दधत्। तथा अनुज्झितभैक्षवृत्तिः। तथा द्विजानां नक्षत्राणामिन्द्रः शशी स मुकुटे यस्य सः तादृक्। तथा परिशुद्धो धवलो यो धर्मो वृषो वाहनभूतः शाकरस्तत्र चर्यायां रतः। कालं यमं क्षपितवान्। ददाहेत्यर्थः॥ ३४॥

उद्धूलित इति। चितिरजोभिरुद्धूलितोऽनुलिप्तः। तथा अखण्डा चासौ मुण्डानां

नृमुण्डानां माला तया करालं भीषणं शिखरं मौलिर्यस्य स तादृशः। तथा भीष्मं भयावहं यत् श्मशानं पितृवनं तत्र यद्वसनं निवासस्तत्र व्यसनं हेवाको यस्य स तादृक्। तथा कपालं खट्वाङ्गं च ते पाणौ यस्य स तादृक् सः कोऽतितीव्रमपि दुष्करमपि व्रतं चकार, यं त्वं तपसा प्रसन्नं कर्तुमिच्छसि। ईश्वरोऽपि महाप्रलयेषु कालाग्निरुद्ररूपेण संहारितानां ब्रह्मादीनां निर्दग्धानां चितिरजोभिरुद्धूलितोऽनुलिप्तः तथा तेषामेवाखण्डमुण्डमालया पूरितमुकुटः। प्रागुक्तक्रमेण भीषणश्मशानवासव्यसनी कपालखट्वाङ्गपाणिश्च ॥ ३५ ॥

मन्य इति। ईश्वरः पार्वतीमवदत्—हे गौरि, अहं मन्ये। अभाग्यभाजामभाग्यवतामलभ्यमप्राप्यं, भवान्तराणां जन्मान्तराणां शतैरुपचितमर्जितं यत्पुण्यं स एव महीरुट् द्रुमस्तस्य फलं फलभूतम्। आरोपः। यस्यास्तव दृगन्तविलोकनमात्रमेव फलं भवति। तुः पक्षान्तरे। वचसा संभावनं सादरीकरणं तु वचसामभूमिरनिर्वाच्यम् ॥ ३६ ॥

सा त्वमिति। सापि त्वं महार्घाणां गुणरत्नानां समुद्र उत्पत्तिस्थानं तस्य वेला। तथा लावण्यस्य सिन्धुर्नदी। तथा अकलङ्कं यत्कुलं गिरिवरस्य हिमालयस्य तस्मात्प्रसूतिर्यस्यास्तादृशी सती सौभाग्यं सुभगत्वं च भाग्यानि च तेषां विभवस्तदादिभबोऽभिमानभूमाहंकारबाहुल्यं यस्य स तादृशं सौभाग्यभाग्यविभवादिभवाभिमानभूमानं यं धन्यं तपसा एवंविधेन प्रसादं प्रसन्नतां कर्मानयसि सः कस्त्वं वदेति प्रतिश्लोकमन्वयः ॥ ३७ ॥

इत्थमिति। हे विभो, इत्थमनेन प्रकारेण विदग्धा निपुणा रसदिग्धा या कथा, तस्याः क्रमेण, देव्या पार्वत्या समं सम्यगभिभाषणे लोलुभस्य। तथा व्याजेन यो वर्णितरुणो वर्णी ब्रह्मचारी चासौ तरुणस्तद्रूपस्य तवावहित्थेनाकारगुप्त्या संरुद्धमपि पश्चाद्गतमपि यत्तव विलासहसितमतिभरेणातिशयेन समुद्बभूव समुत्पन्नं, तेन विलासहसितेन मम तापमध्यात्मिकादिभेदेन त्रिविधमेव तापं सन्तापं तथा तमोऽज्ञानं च विषमं जहि इत्यग्रे संबन्धः। 'अवहित्थाकारगुप्तिः' इत्यमरः। विकृतस्य रोमाञ्चादेराच्छादनादबहिःस्थितत्वादवहित्था स्त्रीत्वे। 'अवहित्थमथोग्रता' इति भरतोक्तत्वात्क्लीबमपि इति रायमुकुस्याम्। 'अवहित्थमित्येके' इति स्वामी ॥ ३८ ॥

रूपमिति, स्वामिन्निति। हे स्वामिन्, दिव्यं लोकोत्तरं धृतोऽमृतरसो येन तत्तादृशं च गिरि वाण्यां सानुकम्पं सहानुकम्पया कृपया वर्तते यत्तत्तादृशं रूपं निजं प्रदर्श्य, गिरिसानुकम्पं गिरेः प्रकृतत्वाद्धिमाद्रेः सानूनि शिखराणि तेषां कम्पं विदधत्कुर्वंस्त्वं येन विलासहसितेन देव्याः पार्वत्या मुखमखण्डः, पूर्णो यः सितांशुश्चन्द्रस्तद्वत्कान्तं रम्यं प्रमोदेन व्यधा अकरोः। तथा देव्या वपुश्च पुलकै रोमाञ्चैर्हर्षोद्गतैरुच्छ्वसितोंऽशुकान्तो वस्त्रप्रान्तो यस्मिंस्तादृशं व्यधास्तेन विलासहसितेनेति प्राग्वद्योजना। घनस्येव सारो यस्य शैत्याद्धनसारः कर्पूरम्। 'कस्य जलस्य हार इव। शोभाकरत्वात्। पृषोदरादित्वे कह्लारम्' इति स्वामी। शारदं शुक्लं चैतत्' इति च। रायमुकुटीकारस्तु 'के जले ह्लादते सुखं तिष्ठतीति नैरुक्ते। दकारस्य रेफे कह्लारमिति पञ्चिकादयः। सौगन्धिकं तु कह्लारम्। सौगन्धी इति रक्तपुष्पस्य' इत्याह। हे स्वामिन्, उदारो महांश्चासौ घनसारः कर्पूरम्। तुषारो हिमम्। हारो मुक्ताहारः। कह्लारः शारदं शुक्लं जलजम्। शारदनिशाकरः शरत्पूर्णेन्दुः। तैरुपमा यस्य तत्तादृशेन। सहेलमुल्लासितेनोद्घाटितेन सितेन धवलेन तेन हसितेन विलासहसितेन मे मम वराकस्य तापमाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन त्रिविधमेव सन्तापं तथा तमोऽविद्यापर्यायमज्ञानमेव तमो ध्वान्तं विषमं कठिनं जहि दूरीकुरु ॥ ३९-४० ॥

इदानीमेतत्स्तोत्रं विंशमुपसंहरन्नाह—

सहस्रेति। अत्र वृत्ते प्रभोः परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यं वर्णयति कविः। यथा सहस्रं चरणाः पादा रश्मयो यस्य स सहस्रचरणस्तादृशं रविं सूर्यं विभोर्नयनपङ्कजान्तःस्थितिं नेत्रपद्मान्तःस्थितिर्यस्य स तादृशं विमृश्य। अत्र पादशब्दार्थे चरणशब्दस्य नेयार्थत्वं भक्तिविषये न दोषः। तथा सहस्रनयनं सहस्राक्षं हरिमिन्द्रं चरणपङ्कजान्तःस्थितिं चरणावेव पङ्कजे तयोरन्ते समीपे स्थितिर्यस्य स तादृशं विमृश्य, धृतविस्मयां धृतो विस्मय आश्चर्यं यया सा तादृशीं भगवतीं पार्वतीमवेक्ष्योद्गतमुत्पन्नं शर्वस्य श्रीशिवस्य प्रभोर्हसितं मे ममाभिमतार्थयेऽस्तु। अत्र सहस्रपादस्य रवेः पादान्त एव स्थितिर्युक्ता, सहस्रनयनस्य च नयन एव स्थितिर्युक्ताऽऽसीत्तदनपेक्ष्य स्वातन्त्र्येण प्रभुणान्यथाविहितत्वाद्भगवत्या आश्चर्योद्भव इति ॥ ४१ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठविरचितायां लघुपञ्चिकायां हसितस्तोत्रं नाम विंशं स्तोत्रम्।

एकविंशं स्तोत्रम्।

इदानीमर्धनारीश्वरस्तोत्रमेकविंशमारभमाण आह—

वन्देमहीति। अमलाः श्वेता मयूखा रश्मयो यस्य सोऽमलमयूखश्चन्द्रो मौलिरत्नं यस्य तम्। एतद्विशेषणमुभयत्र देहार्धद्वयेऽपि सामान्यम्। तथा ईश्वरार्धपक्षे प्रकटितानि सर्वाणि मङ्गलानि यया सा तादृशी आख्या अभिधा यस्य तत्प्रकटितसर्वमङ्गलाख्यम्। देवीपक्षे प्रकटिता सर्वमङ्गला इत्याख्या येन तत्। सर्वाणि मङ्गलानि यस्यां सर्वमङ्गलदायित्वाच्च सर्वमङ्गला पार्वती। 'शर्वाणी सर्वमङ्गला' इत्यमरः। तथा ईश्वरपक्षे—अहीनां सर्पाणामिना इन्द्रा वासुक्यादयस्त एव कङ्कणा अङ्कं चिह्नं यस्य तत्। देवीपक्षे न हीना अहीनाः कङ्कणा अङ्के मध्ये यस्य तत्तादृशम्। तथा अन्योन्यं परस्परं सदृशम्। शब्दसाम्येन। एवंभूतमुमार्धेन पार्वत्यर्धेन रुद्धा मूर्तिर्यस्य स तादृशं देवस्य श्रीशंभोर्देहार्धयोर्द्वितयं वयं वन्देमहि। शब्दश्लेषोऽलंकारः ॥ १ ॥

तद्वन्द इति। गिरिपतेर्हिमाद्रेः पुत्रिका पार्वती, तदर्धेन मिश्रं समवेतं श्रीकण्ठं पारमेश्वरं वपुरर्धनारीश्वररूपमपुनर्भवायाभूयोजन्मनेऽहं वन्दे। तत्किमित्याह—यत्रेत्यादि। यत्रार्धनारीश्वररूपे मुकुटगतो मुकुटस्थो मृगाङ्कखण्डश्चन्द्रार्धरूपः खण्डितस्यार्धनारीश्वररूपविधानाय देव्या वक्त्रेन्दोर्मुखेन्दोः साधर्म्यं सादृश्यं घटयति कुरुते। एतद्रूपविधानाय खण्डितदेवीवक्त्रार्धमिव मुकुटस्थो मृगाङ्कखण्डो भातीत्यर्थः ॥ २ ॥

एकत्रेति। यदर्धनारीश्वररूपमेकत्रार्धे ईश्वरार्धे स्फटिकशिलावदमलं धवलं, तथान्यत्रार्धे ईश्वरार्धे प्रत्यग्रं नवं यद् द्रुतं गलितं कनकं हेम, तद्वदुज्वलं एवंभूतं सद्बालार्कस्य द्युतिभरेण पिञ्जर एको भागो यस्य स तादृशो यः प्रालेयक्षितिधरो हिमाचलस्तस्य शृङ्गं शिखरं तस्य भङ्गिं विच्छित्तिमिति लभते ॥ ३ ॥

अधुनार्धनारीश्वररूपेऽपि वामार्धभागस्य देवीरूपस्य वर्णनं करोति—

यत्रैकमिति, साभोगमिति। यत्र देवीरूपार्धभागे, एकं चक्षुर्वामं चकितकुरङ्गस्य

त्रस्तमृगशावकस्येव भङ्गिर्यस्य तत्तादृशं भवति। तथा यत्र वामार्धे वक्षः प्रोन्मीलच्चासौ कुच एव कलशः कुचकलशस्तेनोपशोभित इति तादृशं भवति। तथा यत्रार्धे, मध्यं च कृशिम्नातिकृशत्वेन समेतं भवति। तथा उत्तमाङ्ग शिरश्च भृङ्गानां भ्रमराणामाली पंक्तिस्तस्या इव रुचिर्येषां ते तादृशा ये च केशास्तेषां संचयेन समूहेनाञ्चितं रम्यं भवति। तथा यत्र वामार्धे, साभोगं सविस्तारं घनं पीवरं निबिडं दृढं नितम्बबिम्बमस्ति। तथा पादोऽपि वामः स्फुटश्चासौ मणिनूपुरस्तेनाभिरामः। इत्येवंभूतं रूपं क्षणमालोक्य दृष्ट्वा, नन्दिनोऽपि शिलादनन्दनस्यापि प्रमथवरस्य परमुत्कृष्टमभूतपूर्वमाश्चर्यमासीत् ॥ युग्मम् ॥ ४–५ ॥

अधुना तस्याद्भुतस्य रूपस्य दक्षिणवामार्धद्वयमपि वर्णयति—

यत्रार्धमिति। यत्राद्भुते रूपे भूरिभूत्या बहुलभस्मना शुभ्रमर्धं दक्षिणार्धं चन्द्रांशुभिश्छुरितो व्याप्तो यः कुबेरशैलः कैलासगिरिस्तस्य शोभां घटयत्युत्पादयति। तथा अर्धे वामार्धे प्रणिहितः कुङ्कुमस्य कश्मीरजन्मनोऽङ्गरागो यत्र तादृशं सत् पर्यस्ता समन्तात्पतिता अरुणस्य सूर्यस्य रुचिर्यस्मिंस्तादृशो यः काञ्चनाद्रिर्मेरुगिरिस्तस्य मुद्रां घटयत्युत्पादयति ॥ ६ ॥

यदिति। यदद्भुतमर्धनारीश्वररूपं सपदि सद्यः परस्परमुपमानमौपम्यं शब्दश्लेषेणान्योन्यसाम्यं च सन्धत्ते। यथा ईश्वरपक्षे, यद्दक्षिणार्धं कांचनानिर्वाच्यां शोभां दधदपि प्रोन्मीलन्तो भुजगा वासुक्यादयो नागास्त एव शुभान्यङ्गदानि केयूराणि तैरुपगूढमालिङ्गितम्। तथा उपोढः प्राप्तो मौलिं चारुचन्द्रः शशी यस्य स तादृशं मुकुटं मौलिं बिभ्राणम्। भगवतीपक्षे तु यद्वामार्धं काञ्चनाभिरामां काञ्चनवत्कनकवदभिरामां तादृशीं कान्तिं दधदपि प्रोन्मीलन्ति भुजान्गच्छन्तीति भुजगानि यानि शुभानि रम्याण्यङ्गदानि केयूराणि तैरुपगूढम्। तथा उपोढः प्राप्तश्चारू रमणीयश्चन्द्रः कर्पूरं येन तादृङ् मुकुटं बिभ्राणम्। एतत्पक्षेऽपि उपोढश्चारुश्चन्द्रः शशी वा येन तत् ॥ ७ ॥

आश्चर्यमिति। यत्राद्भुते रूपे, इत्यनेन प्रकारेण समवेतयोः शिवयोरकस्मादेकवक्त्रान्मुखात्प्रोद्भिन्नमुद्गतमन्योन्यं परस्परं शब्दसाम्येनैकमेव वाक्यं सामरस्यं समो रसो यत्र तत्सामरसं तस्य भावस्तं घटयत्युत्पादयति। इति किमित्याह—आश्चर्यमित्यादि। भगवत्पक्षे, देवीं प्रति वाक्यम्—'हे दयिते प्रियतमे गौरि, भवेन संसारेण ये उपतापं भजन्ति, तादृशां देहिनां हितमनुकूलं कर्तुं किमपि लोकोत्तरं तवाश्चर्यमद्भुतं प्रागल्भ्यम्।' भगवतीपक्षे, भगवत्याः शिवं प्रति वाक्यं तदेव—'हे दयित प्रियतम, इत्याश्चर्यं भवति। इति किमिति। प्रागल्भ्यं किमपि भवति। किं कर्तुम्। ईहितमभिलषितं विधातुम्। केषाम्। भवोपतापभाजां सन्तप्तानां वा ॥ ८ ॥

प्रत्यङ्गमिति। यत्राद्भुते रूपे वामार्धे देव्यर्धे घनमतिनिबिडं, यत्परिरम्भणमाश्लेषस्तस्मात्प्रकम्पं सात्विकभावमेति लभते। कस्मादिव कम्पमेति। भुजगभयादिव। भयेनापि रोमोद्गमो भवति। यत्रापि दक्षिणार्धे भगवदर्धे घनपरिरम्भतो देव्या अतिनिबिडपरिरम्भणात्स्फुटपुलकं चकास्ति। कयेव। शीतस्वःसिन्धुस्नपिततयेव। शीता अतिशीतला या स्वःसिन्धुर्गङ्गा तया स्नपितं तस्य भावस्तत्ता तयेव। शीतेनापि पुलकोद्गमो भवति ॥ ९ ॥

एकत्रेति, एकत्रेति, एकत्रेति। यत्राद्भुतैकधाम्नि रूपे एकत्र दक्षिणार्धे, भुजङ्गानां वासुकिप्रभृतीनां भोगाः फणास्तेषां भङ्गिर्विच्छित्तिः स्फुरत्युल्लसति। परत्रान्यस्मिन्देव्यर्धे नीलोत्पलदलमालिका स्फुरति। तथा एकत्र भगवदर्धे भस्मनोऽङ्गरागः शुभ्रत्वं प्रथयति

विस्तारयति । परत्र देव्यर्धे, मलयजरञ्जनं चन्दनेन रञ्जनं च शुभ्रत्वं प्रथयति । तथा एकत्र दक्षिणार्धे, विषं कालकूटाख्यं काष्ण्यं कृष्णत्वमर्पयति । परत्र वामार्धे कस्तूरीकृतं पुण्ड्रकं तिलकं गलस्य काष्ण्यं कृष्णत्वमर्पयति । एकत्र दक्षिणार्धेऽस्थिमालिकानां द्युतिः कान्तिरमला शुभ्रा प्रसरति । अन्यत्र वामार्धे मौक्तिकावलीनां द्युतिः कान्तिरमला शुभ्रा प्रसरति । तथा एकत्र भगवदर्धे, स्रुतरुधिरा स्रुतलोहिता करीन्द्रकृत्तिर्गजेन्द्रचर्म भवति । परत्र देव्यर्धेऽनश्वरमक्षयं कौसुम्भं वसनं वासो भवति । कुसुम्भेन रक्तं कौसुम्भम् । इत्यादीन्यन्यानि च वस्तूनि परस्परं विरुद्धान्यपि यत्र विचित्रधाम्न्यद्भुतेऽर्धनारीश्वररूपे एकत्वं दधति ॥ तिलकम् ॥ १०-१२ ॥

दन्तानामिति । यत्र यस्मिन्नर्धनारीश्वररूपेऽन्योन्यं परस्परं द्वयोरपि दक्षिणवामार्धयोर्दन्तानां रदानां सितिमनि श्वेतत्वेऽन्यो नूतनो विशेषो न समजनि । द्वयोरर्धयोरपि दन्तानां सितिम्ना । तथा अलिकविलोचनस्य ललाटस्थनेत्रस्य कज्जलेन धूमेन कज्जलेन कृष्णरञ्जनेन च प्रयुक्ते मालिन्ये काष्ण्र्येऽपि नूतनो विशेषो न समजनि । भगवतो भगवत्याश्चाधिललाटस्थनेत्रतया धूमसौवीराञ्जनमालिन्यसद्भावात् । तथा द्वयोरप्यर्धयोः करचरणाधरस्य करौ च चरणौ चाधरौ च तत्करचरणाधरम् । समाहारे द्वन्द्वः । तस्य रक्तत्वेऽन्योन्यं परस्परं नूतनोऽन्यो विशेषो न समजनि नोत्पन्नः । द्वयोरप्यर्धयोस्तथैवावस्थानात् ॥ १३ ॥

इतः परमद्भुतस्यार्धनारीश्वररूपस्य भगवतः प्रथमदर्शने गणेन्द्राणां नन्दिमहाकालप्रभृतीनां वितर्कः :—

कण्ठस्येति, सौपर्णे इति, यत्रेति, इत्यादीनिति । अर्धनारीश्वररूपेऽद्भुते भगवदर्धे स्थिता भ्रमरनिभा कृष्णा विभा दीप्तिरर्धभागं मुक्त्वा वामभागे देव्याः शिरोरुहार्धे स्थितिं किमकरोत् । तथा भगवदर्धस्थिता कचानां कपर्दरूपाणां कनकसदृग्रुचिः, कपिला रुचिरर्धं निजं सन्त्यज्य त्यक्त्वा, वामार्धस्थितदेव्या गलस्य कण्ठस्यैकदेशस्तत्र किं न्यविशत निविष्टा । भगवान् हि पिङ्गलजटो देवी च कनककान्तिकण्ठभागा ॥ सुवर्णं प्रकृतिर्यस्य स सौवर्णः । यथैव वामे देवीभागे सौवर्णः कुम्भोऽमृतपूर्णो हेमकलशो वामे करकमलेऽभवत् । क्रीडायामेका प्रसृता मतिर्यस्य स विभुः श्रीशंभुः स्वाच्छन्द्यात्स्वातन्त्र्यात्तमेवैनं हेमकलशं नूनं निश्चयेनोरसा बिभर्ति । युगावसाने कल्पान्तावसरे यत्र मध्यभागे भगवतोऽखिलं जगत्त्रिभुवनमासीदत्र मध्यभागे भगवतो यत्पूर्णत्वमुचितं तदेव पूर्णत्वं संरम्भान्नाटयाटोपाद्धेतोरतो मध्याद्गलितं पतितं सद्वामार्धस्थितभगवत्या घने पीने कठिने च नितम्बबिम्बे विश्रान्तम् । नूनं संभावनायाम् । यत्राद्भुतेऽर्धनारीश्वररूपे इत्यादीन्पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तान्संकल्पान्मनोवितर्कान्गणेन्द्रा नन्दिमहाकालादयः प्रथमसमागम एव प्रथम दर्शन एव तावत्प्रविदधुः प्रकर्षेण चक्रुः । तावत्कथमित्याह—यावदित्यादि । सः प्रसिद्धः प्रमथानां मध्ये भृङ्गीशो भृङ्गिरिटिर्नाम प्रमथोऽम्बिकायास्त्रिजगन्मातुः पार्वत्याः पादारविन्दं यावन्न परिहरति स्म यावन्नावर्जयत् । कदा । प्रणतिविधौ प्रणामविधाने । भृङ्गिरिटिः प्रमथेन्द्रो महामाहेश्वरो वामाङ्गस्थितां भगवतीं न प्रणनाम । किं तु भगवन्तमेव प्रणतवानित्यर्थः । पुनस्तयाम्बिकया शप्तः जगन्मातुर्मम संबन्धि रक्तमांसादि त्यजेति सोऽपि तच्छापमाकर्ण्य क्रुद्धस्तत्तत्याज । पुनर्भगवता शंभुना सुधाभिषेकं विधाय त्वमस्थिशेष एवामरो भवेत्यनुगृहीत इत्यागमः ॥ चक्कलकम् ॥ १४–१७ ॥

किमिति । यत्रार्धनारीश्वररूपे वन्दनविधौ— किमयं शिवः, किमु वा शिवा अथानन्तरमेतौ शिवौ किं भवतः । शिवश्च शिवा च शिवौ । 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः ।

अर्थाद् बहुवचनमपीत्यर्थः । अत्रार्धनारीश्वररूपे वचनमेकद्विबहुसंख्यावचनमविभाव्यं सर्वथेत्यर्थः । केचित्तु—'अविभाव्यमित्यत्राकारो भगवान्विष्णुस्तेन विशेषेण भाव्यं भावनया विज्ञेयम् । स एवात्रान्तरं वेत्ति' इत्यर्थान्तरमूचुः ॥ १८ ॥

एक इति । इत्यनेन प्रकारेण त्रिभिर्लिङ्गैश्चिह्नैः स्तनादिभिः, तथा त्रिभिर्लिङ्गैः पुंस्त्रीन-पुंसकैर्व्यवसितेऽपि निर्णीतेऽपि सविभक्तिके विशेषेण भक्तिर्विच्छित्तिस्तत्सहिते । अथ च सह विभक्तिभिः प्रथमादिभिः सप्तभिः सहितेऽपि, यत्राद्भुतेऽर्धनारीश्वररूपेऽव्ययत्वं, न व्येति स्वरू-पात्प्रचलतीत्यव्ययं तद्भावोऽव्ययत्वं महाप्रलयेप्वनश्वरत्वमथ चाव्ययत्वं 'च वा ह' इत्याद्यव्य-यीभावोऽप्यखण्डितमेवाद्भुतं भाति । अथ च यदपि पदं त्रिभिर्लिङ्गैः स्त्रीपुंनपुंसकैर्व्यवसितं ज्ञातं विभक्तिभिश्च सहितं तत्राव्ययत्वमविखण्डितं कथं स्यादिति विरोधः । अत एवाद्भुतत्वम् । तथा चोक्तम्—'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥' इति । यस्य पदस्य लिङ्गसंख्याकारककृतो विभागो नास्ति, तदव्ययमुच्यत इति । त्रिभिर्लिङ्गैः किमित्याह—एकः स्तनो वामार्धे देवीसक्तो समुचितोन्नतिः समुचिता, उन्नतिर्यस्य स भवति । तथा एकमक्षि तत्रैव लक्ष्याञ्जनं लक्ष्यमञ्जनं यत्र तद्भवति । तथा तनुरपि मूर्तिरपि कृशिम्ना कार्श्येनान्विता भवति ॥ १९ ॥

यत्रेति, कान्त इति, उद्यन्निति । ध्रुवं निश्चये । यस्मिन्नर्धनारीश्वररूपे हृदय एव यदैक्यं द्वयोः शिवयोरासीत्तदेवैक्यं तत्सक्तयोर्वाक्काययोरपि पुनः पतितम् । तदेव दृष्टान्तेन संभावयति, यस्माद्धेतोः सतामुत्तमानां सहृदयानां हृदि मनसि यद्भवति, तदेव तेषां वाचि, यच्चैव वाचि भवति. तदेव करणे देहे कर्मणि चोचितम् । यत्रार्धनारीश्वररूपेऽन्योयं परस्परमभि । अन्योन्यमुद्दिश्येत्यर्थः । इत्यभिहितं कथनम् । भावे क्तः । मुखस्य वक्त्रस्य साधारणस्मितेन मनोरमतां वितनोति विस्तारयति । इति किमित्याह—हे कान्ते दयिते शिवे गौरि, त्वयि विषये विरूढं निलीनं मम मनश्च, मूर्तिश्चेत्थं त्वयि विरूढा । उभे इत्यर्थात् । एवं विधे मनश्च मूर्तिश्चेत्युभे मम हृदय संमददायिनी । चेतश्चमत्कारकारिणी इत्यर्थः । दायिनी इति द्विवचनम् । इति पार्वतीं प्रति भगवदुक्तिः । भगवत्या उक्तिर्यथा—त्वयि शिवे महादेवे कान्ते भर्तरि मम मनो विरूढं लीनम् । मूर्तिश्चैषा । अन्यत्प्राग्वत् । उद्यन्निरुत्तरमुत्तरान्निष्क्रान्तं तादृशं यत्परस्परसामरस्यं तस्य संभावनं निश्चयस्तत्र व्यसनिनोरत्यन्तहेवाकिनो शिवयोः पार्वतीपरमेश्वरयोरुत्तमचमत्कारकरमद्वैतमर्धनारीश्वरत्वमस्माकं शिवयोजनाय कैवल्यप्रतिपाद-नायास्तु । किंभूतम् । अनवद्यं निर्दोषं हृद्यं मनोहारि च ॥ तिलकम् ॥ २०—२२ ॥

लक्ष्याणीति । ईशयोः पार्वतीपरमेश्वरयोस्तदत्यद्भुतमतिचमत्कारकारि साहित्यमद्वैतं कस्य सचेतनस्य रोमाञ्चं पुलकं नोदञ्चयेत नोत्पादयेत् । तत्किमित्याह—यत्र शिवयोरद्वैतेऽर्ध-नारीश्वररूपेऽपरत्र भगवत्पार्श्वेऽलक्ष्याण्यदृश्यानि लक्षणानि स्तनहेमावदातगलत्वस्निग्धचिकुर-कलापत्वादीनि विलक्षणान्येव दृश्यानि । भगवतीपार्श्वं इत्यर्थः । अथ च साहित्यं प्रबन्धः लक्ष्यापरपर्यायः । तस्याद्भुतत्वम् । तच्च किम् । लक्ष्याणि पदानि लक्षणानि च अलक्ष्याणि लक्षणानि चालक्षणानि ॥ २३ ॥

जूटाहेरिति । जूटस्य भगवत्कपर्दस्याहेर्वासुकेर्यन्मुकुटं तत्र यानीन्द्रनीलानि मणि-विशेषास्तदीयकान्तिभिरूर्ध्वगं भागं श्यामं दधती । तथा वह्नेस्तृतीयलोचनधाम्नः शिखाभिर्ज्वा-लाभिः पिशङ्गमधरं भागमधोभागमग्निज्वालाकपिलं दधती । तथा मध्ये मध्यभागे सुधाच्छ-

च्छविः स्वयं सुधावदच्छच्छविर्वा । न ऋजुरनृजुः कुटिला इन्दुलेखा चन्द्रकला पूर्वोक्तप्रकारेणोर्ध्वमध्याधोभागेषु श्यामधवलपिशङ्गवर्णा यत्र भगवतोरद्वैतभाजोः स्तनप्रतिमिता प्रतिबिम्बिता शक्रधनुःश्रियमिन्द्रचापश्रियं धत्ते, स भगवतोः पार्वतीपरमेश्वरयोरद्वैतभाजोः पयोधरः स्तन एव पयोधरो मेघो हर्षामृतं परमानन्दामृतं युष्माकं वर्षत्विति शिवम् ॥ २४ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजराजानकश्रीरत्नकण्ठविरचितायां लघुपञ्चिकाया-मर्धनारीश्वरस्तोत्रं नाम एकविंशम् ।

द्वाविंशं स्तोत्रम्

अथातः कादिपदबन्धाख्येन चित्रकाव्यभेदेन द्वाविंशं स्तोत्रमारभमाण आह—

काव्येति, केरलीति केकीति, कर्णेति, कापिशायनेति, कुन्देति किंशुकैरिति, कृष्णेति, कान्तयेति, काकेति, कोपेति । एवंभूतो भगवान् श्रीशिवः कलौ तुरीययुगे यः कलङ्कः स एव कन्दली लता तस्याः कन्दो मूलं तस्य कर्तनार्थं छेदनार्थं यत्कुठारकर्म तस्मै कलिकलङ्कच्छेदाय कल्पतां प्रभवतु । किंभूत इत्याह—काव्येत्यादि । कवित्वबीजरूपप्रतिभाविशेषलोकवृत्तशास्त्रकाव्याद्यवगाहनोद्भूतनिपुणताकाव्यकर्तृविचारयितृशिक्षाभ्यासरूपैकहेतुनिपुणकविकर्म काव्यम् । तत्र यत्कौशलं तथा कलाश्चतुःषष्टिश्च मनोज्ञव्यवहाररूपास्तासु कोविदैर्निपुणैः कविकुलैः कविसमूहैः कुतूहलात्कौतुकात्कीर्तितः स्तुतः । पुनः किंभूतः । कौमुदी ज्योत्स्ना । कुमुदं सिताम्भोजम् । तद्वत्कान्ता रुचिरा कीर्तिर्येषां ते तादृशैः । यद्वा कुमुदकान्तश्चन्द्रस्तद्रुपमकीर्तिभिः । कुशलकार्यकारिभिर्मङ्गलकर्मविधायिभिः कामितोऽभिलषितः । पुनः किंभूतः । केरलो देशविशेषस्तत्र स्त्रीणां प्रायशः केशा पिङ्गला इति प्रसिद्धिः । केरलीनां केरलदेशीयस्त्रीणां कचा केशाः तथा कलिन्दकन्यकाया यमुनाया यत्कूलं तत्र यः कालियो नागभेदस्तद्वत्कडारा पिङ्गला कन्धरा यस्य तादृक् । पुनः किंभूतः । किल्बिषस्य पातकोपपातकमहापातकरूपस्य त्रिविधस्य क्षपणे कारणभूतो यः क्रतुस्तस्य भयेन पलायमानस्य मृगरूपस्य क्लान्तिः शिरश्छेदनरूपा तां करोतीति तादृक् । पुनः किभूतः । करटिकृत्तिकर्पटः करटी हस्ती तस्य कृत्तिश्चर्म तदेव कर्पटमुत्तरीयं यस्य सः । 'व्याघ्रचर्मपरीधानं गजचर्मोत्तरीयकम्' इत्यागमः ॥ पुनः किभूतः । केकी मयूरः स एव केतनं निवासो वाहरूपो यस्य स केकिकेतनः कुमारः । कृशानुरग्निः । कौशिक इन्द्रः । 'मुनीन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । तैः । तथा किंनरैर्देवयोनिभेदैः । "किञ्चिन्नरोऽश्वादिमुखत्वात्किन्नरः । कुत्सितो नरो वा । 'किं क्षेपे' इति समासः" इति स्वामी । तथा कविः शुक्रः कुबेरो धनदः केशवो विष्णुस्तैस्तैर्देवविशेषैः कालकूटस्य विषभेदस्य कवलक्रिया निगलनकर्म तत्क्रमे तत्प्रारम्भे क्रन्दितः कृताह्वानः । पुनः किंभूतः । कलुषस्य त्रिविधस्य पातकस्य कर्षणं दूरीकरणं तत्र क्षमः । पुनः किंभूतः । कर्णयोः कीलिते आरोपिते महाप्रलये कालाग्निरुद्ररूपेण संहारितानां ब्रह्मादीनां कपाले एव कुण्डले येन सः पुनः किंभूतः । कुण्ठितं कुण्ठीकृतं क्रकचकल्पं कल्मषं पापं येन सः । तथा कालो यमः कामः मदनस्तयोः कदनो दाहकः । तथा कुमुद्वतीकान्तेन चन्द्रमसा कर्बुरं व्याप्तं कर्बुरवर्णं वा कपर्दस्य जटाजूटविशेषस्य कन्दरं गह्वरान्तरालं यस्य सः । पुनः किंभूतः । क्रीडितः प्रमुदितः । कुत्र । कानने वने । केन । कापिशायनेनासवविशेषेण

कषाया सुरभिर्भाविता या कामिनी । 'कषायः सुरभौ स्निग्धे भाविते त्रिषु ना रसे' इति मङ्खः । तस्याः केलिकूजितकलेन क्रीडागभीरस्वनेन । कस्मात् । कौतुकात् । पुनः केन । क्वणिताः शब्दायमाना ये कीचका वेणुविशेषास्तेषु क्वणन्त्यो याः कोकिलाः पिक्यस्तत्कलकलेन । पुनः किंभूतः । कुन्दं माध्यं पुष्पविशेषस्तेषां कुड्मलानि कदम्बानि च केतक्यश्च काञ्चनारकलिकाश्च पुष्पविशेषास्तेषां कदम्बकैः समूहैः । तथा कर्णिकाराणि करवीराणि च तेषां कोरकास्तैः । तथा कैरवैः श्वेतजलजैः कुवलयैर्नीलोत्पलैः कुशेशयैः पद्मैः कचिता भूषिताः कीर्णाः प्रकीर्णाः कुन्तलाः केशा यस्य स इत्यग्रिमवृत्तस्थेनान्वयः । अत्र च 'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः परिच्छेत्तुं यातावनलम्' इत्याख्याने श्रीशंभुना केतकी मिथ्यावादेन शप्ता, स्वर्लोकाद् भूमौ पतितेत्यतस्तस्या अनुपादेयत्वेऽपि कादिपदता केतकीकुसुमस्य कविनात्र रक्षितेति न दोषः । 'निरर्गलाः कवयः' इति प्रसिद्धेः ॥ तथा कपेर्वानरस्य कपोलौ गण्डौ तत्कान्तिभिः किंशुकैः पुष्पविशेषैः, तथा कमलकोषवत्कोमलैः केसरैर्बकुलैः, तथा कोविदारैः कुटजैः कणेरकैश्च पुष्पविशेषैः, केवलैः कचिता भूषिताः कीर्णाः कुन्तला यस्य सः । गर्भे युगलकम् ॥ कृष्णकुण्डलिनामसितभुजगानां कञ्चुकैर्निर्लयनीभिः क्लृप्ता विहिताः कुब्जास्तिर्यक्स्थाः कमनीयाः कङ्कणा येन सः । पुनः किंभूतः । क्रोधेन कृत्तानि च्छेदितानि करिकुम्भकोटराणि यैस्तादृशा ये क्रूराः केशरिकिशोराः सिंहशावकास्तेषां कण्टको वधकः । कण्टकशब्दस्य क्षुद्रशत्रुवाचित्वेऽपि सामान्येन वधकत्वार्थतावीति केचित् । 'क्षुद्रवैरिणि रोमाञ्चे तरोरङ्गे च कण्टकः' इति मङ्खः ॥ पुनः किंभूतः । कनककाञ्च्यां हेमरशनायां या किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिकास्ताभिः कान्तया कान्तया पार्वत्या आकलितमालिङ्गितं कण्ठकन्दलं कण्ठमूलं यस्य सः । तथा क्रीडया लीलया अर्जुनानुग्रहाय कृतं किरातकैतवं शबरच्छद्म येन स तादृशः सन्, किरीटिनं पार्थं कपटतः कोपयन्सकोपं सम्पादयन् । पुन किंभूतः । काका वायसाः कङ्काः पक्षिविशेषाः कुररा नादोत्थापितमत्स्या जलचरपक्षिविशेषाः, सामर्थ्याल्लोहचञ्चुवायसकङ्ककुररास्तैर्मलिनीकृते । तथा कठिनकृत्यैरगम्यागमनादिमहापातकैः कारिते, उत्पादिते कश्मले नरकविशेषेऽतिसंकटे क्षतं बाधितं नारकलोहचञ्चुवायसादिभिः कलेवरं वर्ष्म येषां तादृशैर्नारकिभिः काङ्क्षितः । शरणमिति शेषः । तेषामेव कटुमतिकट्वीं कठिनां कदर्थनां पीड़ां कर्षयन् कृशां संपादन् । दूरीकुर्वन्नित्यर्थः । पुनः किंभूतः । कोपेन कर्कशा अत्युद्भटा ये कृतान्तकिंकरा यमभटास्तैः कृतो यः क्लेशस्तेन ये कातरास्त्रस्तास्तेषां कृपाकृतौ रक्षणे कृती कुशलः । कलियुगकलङ्कलतामूलच्छिदे कल्पतामिति संबन्धः । एकादशभिः कुलकम् ॥ १–११ ॥

अथेदानीमस्य स्तोत्रस्योपसंहारार्थमाशीर्वचनं वृत्तेनैकेन वर्णयन्नाह—

कल्लोलिनीति । कल्लोलिनी स्वर्गङ्गा, कुटिल एककलात्वाद् यः कैरविणीकुटुम्बः कुमुदिनीवल्लभश्चन्द्रस्तथा कङ्कालः महाप्रलयेषु संहारितानां ब्रह्मादीनां शरीरास्थि, तैः कल्पितविकरालमौलिशिखरः । तथा कात्यायन्याः पार्वत्याः कराभ्यां करम्बिता मिश्रिताः कीर्यमाणाः कर्पूरकुङ्कुमकणा यस्य स विभुः श्रीशम्भुः कमलां कैवल्यलक्ष्मीं करोत्विति शिवम् ॥ १२ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजराजानकश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां कादिपदबन्धस्तोत्रं नाम द्वाविंशम् ।

———

त्रयोविंशं स्तोत्रम्

अथातः शृङ्खलाबन्धाख्येन चित्रकाव्यभेदेन त्रयोविंशं स्तोत्रमारभमाणः कविराह—

जगतीति । जगति भूमण्डले विबोधिता विशेषेण परमानन्ददायित्वाद्विकासिता विधुरा भीता येन स तादृशम् । तथा विधुना चन्द्रमसा रञ्जितश्चारुः शेखरो मौलिर्यस्य स तादृशम् । ससाध्वसा जन्मजरामरणत्रासभीता ये साधवः सज्जनास्तेभ्योऽसमानन्दस्यानन्यसदृशानन्दस्य दाने परं लीनम् । गिरि वाचि शंसामि स्तौमि ॥ १ ॥

न परमिति । कृता अवज्ञा, अवहेला येन तत्तादृशं मानसं चित्तं यस्य स तादृशो भवति, महतां परमन्यं शरणं न प्रभवति । हि यस्मात्कारणात्सहसा त्वरितमेव सहसा बलेन मधुरा परमामृतमयी तव भारती वाणी, महतां महस्योत्सवस्य भावो महता तां भजति । तवैवाभयवाणी यतो महोत्सव इत्यर्थः ॥ २ ॥

मधुरेति । प्रमदस्य कैवल्यपरमानन्दस्यार्पणार्थे दानार्थमुदिते उद्युक्ते, मुदिते सन्तुष्टे त्वयि विभौ सति, मधुरागारुणनयनापि तथा नयस्य नीतिशास्त्रस्य यो नाशस्तस्य विधौ प्रगल्भापि प्रमदा वरस्त्री अपि सा, भजतां त्वद्भक्तियुक्तानां जनानां तृणं भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

भजतामिति । हे इन्दुना चन्द्रेण लाञ्छितं शोभितं शेखरं मौलिर्यस्य स तस्य संबोधनम् । त्वं सरसां सह सामरस्या तां करुणां कृपां भज आश्रय । कस्य हेतोः । मम । तां कामित्याह—या तव करुणा, बतानन्दे । श्रयतां भजतां सेवकानां करुणां दीनामपि गिरं, नवतया नूतनत्वेनार्पयते ददाति । अतिकरुणातिदीना कृशापि भवत्सेवकानां वाणी यया भवत्कृपया नवेव संपद्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रयतामिति । हे विभो, अघं पापं धौतवती प्रक्षालयित्री सा मम गीर्वाणी चतुरं शीघ्रमेव तव नवनविधौ स्तुतिकर्मणि रतिं सक्तिं भजतां प्राप्नोतु । सा गीः का इत्याह—यत्र गिरि वाण्यां चतुरन्तमह्याश्चतुरन्तभूमेः पत्युर्भावश्चतुरन्तमहीपालतापि सतां सज्जनानां हेयत्व एव त्याज्यत्व एव पतिता । तृणतुल्येत्यर्थः ॥ ५ ॥

त्रसतामिति । हे विभो परमेश, त्रसतां भीतानां जन्मजरामरणत्रासेन, भवतापहृता भवेन संसारेण यस्तापस्तं हरतीति तादृशेन । तथा शुभा मंगलदायिनी आकृतिर्यस्य स तादृशेन च भवता स्वामिना, उपकारैः पातकनिर्मोचनादिरूपैश्चितं पूरितं तथा भावि भविष्यद्धितं यस्मिंस्तत् शुभमेव कैवल्यप्रदानरूपं कृतिनां पुण्यवतां कदा न रचितम् ॥ ६ ॥

विहितमिति । हे अमलविभासितभासित, अमला धवला या विभा कान्तिस्तया सितश्चन्द्रस्तेन भासित, शोभित, चन्द्रशिखामणे, विवेकस्य कार्याकार्यरूपस्य लयो नाशस्तं गते, मयि भवता चिरं चिरकालं प्रियं कथं न विहितम् । हे विभो, मे अलमत्यर्थं विपाकं परिणतिं कलयन्मे रुचिमेहि । यथा मम रुचिर्भावना त्वयि स्वामिनि स्यात्तथा कृपां कुर्वित्यर्थः ॥ ७ ॥

कमलमिति । हे अपराजित शंभो, राजितं शोभितं विकसद्विकासयुक्तं वपुर्यस्य तत्तादृशं कमलं पद्मं रविः सूर्यो यथा कुरुते । हेमव, तेनैव पथा मार्गेण तद्वन्मा मां कुरु । परमानन्दविकासितं कुर्वित्यर्थः । विमुखः पराङ्मुखो मा भव । मे मह्यं दृशमनुग्रहदृष्टिं दिश देहि ॥ ८ ॥

दिशमिति । हे विभो, विषयाः शब्दादय एवोरगाः सर्पा दंशोद्युक्तास्तैः रहितां विचारेण विवेकेन हितां शुभां च तत्त्वदर्शीं दिशं मार्गमेषोऽहं न लभे न प्राप्नोमि । अहम् किं कुर्वन् । नले, डलयोरैक्यान्नडे, तृणविशेषे भेकवन्मण्डूकवदतिविलपन्नतिशयेन विलापं कुर्वन् । तथा बिले पन्नगवत्सर्पवत्तमसा तमोगुणहेतुना अज्ञानेनान्धकारेण च सदा वृत आच्छादितः ॥ ९ ॥

तमिति । उज्झितस्त्यक्तः कलहो मायावरणार्थो येन स तादृशम् । तथा कलहंसगिरा कलहंसवत्कोकिलवन्मधुरा गीर्यस्याः सा तादृश्या उमया पार्वत्या सदा सहितम् । तथा सदयं सकरुणम् । तथा सहितं सह हितेन शुभकर्मणा वर्तते यः स तादृशं च । तरसा अतिशयेन उदित-रसा उत्पन्नसामरस्या असौ मम गीर्विभुं श्रीशिवं श्रयतां भजतु । 'कादम्बे कलहंसः स्याद्राजहंसे च कोकिले' इति मेदिनी ॥ १० ॥

सदयमिति । उदारा विश्वोत्तीर्णा मतिर्यस्य स तस्य संबोधनं—हेउदारमते । देव शंभो, यत् सत्तथ्यं तत्त्ववस्तु, तदेव कुर्वन्नयं जनो रमते प्रहृष्यति । हे विभो, त्वं नोऽस्माकं करुणापरतां दयापरत्वं वज व्रज । 'वज व्रज गतौ' धातुः । परतामन्यत्वं दीनदयालुर्भवान्मा गाः । भवते जगदीशाय नमोऽस्तु ॥ ११ ॥

भवेति । हे भव शंभो, सह कलङ्केन तुरीययुगजन्मोत्थेन वर्तते या सा तादृशी मतिर्यस्य स तादृगहं भवतस्तव स्वामिनस्तेजःप्रसरेण सितं धवलं सुधातुल्यं तव रसितं प्रसादवचनं श्रुत्वा सकलं सर्वं भवतः संसारात्त्रासं जन्मजरामरणोत्थं कदा विमुञ्चामि जातु विमुञ्चामि ॥ १२ ॥

मुञ्चेति । भासनं भासः । अमितोऽव्यवच्छिन्नो भासः प्रकाशो यस्य तस्य संबोधनं, हे अमितभास, त्वं शशिनश्चन्द्रमसः सदृशं वदनं प्रदर्श्य मे मम दृशं प्रसाददृष्टिं मुञ्च क्षिप । हे विभो, त्वं वद । जगतीं भूमिं नन्दयितुमुद्धर्तुमिह जगति को नाम, अन्य ईशः शक्तोऽस्तु । न कोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

नामान्य इति, तवेति । हे हर शंभो, क्लेशा अविद्यादयः पञ्च । पाशा आणवमायीय-कार्मास्त्रयः । तन्मयं दाहरजो दाहरूपं रजः शमयन्तीषु तव स्तुतिषु सदा नित्यमेवास्तमनाः अस्तं क्षिप्तं मनो येन स तादृशो यो भवति, अयं सुमतिर्विमलधिषणोऽमान्यो न भवति । द्वौ नञौ प्रकृतमेवार्थमाहतुः । मान्यः पूज्यो भवतीत्यर्थः । वा समुच्चये । तस्य च धन्यस्य यशांसि, विपदं तिरयन्ति नाशयन्ति । वीनां पक्षिणां वा पदं स्थानं गगनं तिरयन्त्याच्छादयन्ति । अस्य च कृतिनो न यातं वयस्तारुण्यं यस्य तत्तादृशं वपुर्विलासमये विलासप्रचुरे समये विपदं विनाशं न याति । हे देव, अहं तं भवत्स्तुतिपरं अनाहतभाग्यमेव नमे नमामि ॥ युग्मम् ॥ १४–१५ ॥

वनमिति । मधुं मधुनामानं दानवं नाशयतीति मधुनाशी विष्णुस्तेन नुतः स्तुतः । तत्संबोधनं हे मधुनाशिनुत, हृदये चित्ते यतवति । 'यती प्रयत्ने' धातुः । भवद्भक्त्युद्रेकाय सयत्ने सति, शकलितं कलौ तुरीययुगे तमोऽज्ञानमेव तमोऽन्धकारं येन स तादृशस्य मे नमेरुचितं प्रायशः प्रालेयाद्रिवनमेवाधुना तव विभोः प्रसादनाय प्रसन्नीकरणाय शरणं भवति ॥ १६ ॥

रुचितमिति । हे शंभो सती वर्तमाना अनन्ता महर्द्धिर्यस्मिंस्तत् । सती अनन्तस्य नागराजस्य शेषस्य वा महर्द्धिर्यस्मिंस्तादृशमुरगसदनं पातालं मे न रुचितं, नाभिप्रेतम् । तथा सदनन्तमहर्द्धि महाविभूतिकं नन्दनं स्वर्गोद्यानमपि न मे रुचितमभिप्रेतम् । प्रकृष्टाः पातकनिर्मोचनत्वादयो गुणा यस्मिंस्तत्प्रगुणम् । तथा धृता दीप्रा गुणा माधुर्यौजःप्रसादाख्याः

शब्दगुणा अर्थगुणाश्च यत्र तद् धृतदीप्रगुणं नवनम् । 'णु स्तुतौ' धातुः । स्तुतिमेव तव कर्तुं रमे हृष्यामि । 'रमु क्रीडायाम्' ॥ १७ ॥

वरमिति । लङ्घिता निरस्ता विघ्ना येन स तस्य संबोधनं, हेलङ्घितविघ्न । नाम संभावनायाम् । अमलं निर्मलम् । हितं शुभम् । एनांसि पातकानि हरति एनोहरस्तं वरमभिलषितं मम देहि वितर । हे विभो, त्वं मा मां कर्मभूतं, महितं पूजितं पदमपि नय प्रापय । तथा अमलया अतिप्रसन्नया दृशा मां विधुरं दीनं मानय संमानय ॥ १८ ॥

मलयानिलमिति । अविद्यमाना आमया षट् शीताद्याः, मायावरणरूपो वा आमयो, यस्य स तत्संबोधनं हे अनामय, सुरभिं सौगन्ध्ययुक्तं मलयानिलं नन्दितहृदयं यथा कश्चिज्जानाति, तथा [अहं] यमत्रासहृत् तव नाम नन्दितं प्रमोदितं हृत् हृदयं येन तत्तादृशं कलये जाने ॥ १९ ॥

कलयेति । हे इन्दोः कलयाभिभूषित, तथा भुवि भूमावुषितानि प्रणामावसरे मुकुटानि येषां तादृशैः कैः सुरैर्ब्रह्मविष्णिवन्द्रादिभिर्न नत, (अपि तु सर्वनत), हेईश जगदीश, तथा अघं संसाररूपं रोगं देहिनां शमयतीत्यघशमनस्तादृश आशयो यस्य, तस्यामन्त्रणं—हेअघशमनाशय । शनकैर्मे विपदं नाशय । तथा मा मां पदं स्वं धाम नय प्रापय ॥ २० ॥

नेति । प्रसादे दक्षा मतिर्यस्य स तत्संबोधनं—हेप्रसाददक्षमते, तथा मुनिभिः कपिलादिभिरुपासित सेवित विभो, त्वमदयमविद्यमाना दया यत्र तत् । अदयो भूत्वा चेन्न मां पासितरामतिशयेन पासि, तदा यमेनान्तकेनाहितं वितीर्णं यद्भयं तस्य शमनेऽनेकविधं नानाविधमपि शं मङ्गलं मङ्गलवस्तु च न क्षमते । अन्तकभयं दूरीकर्तुं न समर्थं भवतीत्यर्थः । एतद्वृत्ताशयानुसारेण च मदीयं वृत्तमेकम्—

'स्मृतिर्यत्र क्वापि स्वपरविषये नैव हि भवे-
न्निरायासा जाताः सततमिह धन्वन्तरिमुखाः ।
विनैकस्माच्छंभोः सदयनयनोद्वीक्षणलवाद्
भवापस्मारोऽयं विषमविषमः शाम्यति कथम् ॥'

॥ २१ ॥

मदयन्निति । हे विभो, वसुधाधिपो राजा । तव प्रसादमितः प्राप्तः । बलेन यन्त्रिता रिपवो येन स तादृशः । जिता विप्रकृतिर्विकारो याभिस्ता जितविप्रकृतीः प्रकृतीः सत । मदयन्नानन्दयन्, अविद्यमाना क्षतिर्बाधो यस्य तत्तादृशं महीवलयं भूमण्डलं रक्षति ॥ २२ ॥

दमित इति, त्यमिति । हि निश्चये । तेन धन्येन शमनोऽन्तको दमितो निर्दर्पः कृतः । तथा तेन धन्येन जातमुदा संजातहर्षेण शं कल्याणं कैवल्यरूपमपि प्राप्तम् । किं भूतेन । अनस्तरुचा न अस्ता गता रुक् शोभा यस्य तादृशेन । तथा उदाराहितचरितमुदारं महद् आहितं धृतं चरितं येन स तादृशम् । तथा शुभवर्त्मना कल्याणमार्गेण चरितं संचरन्तम् । तथामलं निष्कलङ्कम् । तं पुरुषं जनाः स्तुवन्ति । तथा हे विभो भव, शंभो ईश जगदीश, हे अभयस्तव अभया अव्युच्छिन्ना स्तवा यस्य स तस्य संबोधनम् । भावं श्रीशिवचरणाम्बुजभावनां पुष्णातीति तादृशेन भावपुषा वपुषा देहेनालंकृतं भूषितं भूभवनं भूगृहं येन स तादृशम् । त्यं तं पुरुषं धन्यं नौमि स्तुवे । त्यद्शब्दः सर्वनामतच्छब्दार्थः । तं पुरुषं कमित्याह—हे विभो, प्रियासु भक्तजनमनोहरासु तव नुतिषु स्तुतिषु यो नरः कृती कारको भवति । युग्मम् ॥ २३-२४ ॥

सुकृतीति । हे भववारणवारणहरिणेन्द्र भवः संसार एव मदाविलत्वाद्वारणो हस्ती, तस्य यद्वारणं दूरीकरणं तत्र हरिणेन्द्र व्याघ्र । जनतां जनानां समूहो जनता तां, सिद्धिभाजनतां सिद्धिपात्रतां नयत्प्रापयत् । तथा अमलं सितं च वर्णेन तथा लसितमुल्लसितं च तव वपुः कलेवरमसकृन्मुहुर्मुहुर्नवैः स्तवैरर्चये पूजयामि ॥ २५ ॥

रसकृदिति । हे अप्रतिघस्मरघस्मर । अप्रतिघो निर्निरोधो जगति यः स्मरस्तस्य घस्मरो भक्षकस्तत्संबोधनम् । यो भवतः स्तवः सदैव सतां सत्पुरुषाणां रसकृद्भवति, सोऽयं भवतः स्तवो भयं संसारजं हरतीति भयहृत् । दिवि वसतां देवानामपि हृदयं मनो घनोत्कलिकं विपुलोत्कण्ठं करोति ॥ २६ ॥

कलीति । हन्त आश्चर्ये । तुरीययुगं संसृतिकलहं वा कम्पयतीति तादृशम् । तथा अघं त्रिविधं वाङ्मनःकायोपार्जितं शृणाति हिनस्तीत्यघशरणम् । 'शॄ हिंसायाम्' धातु' । तथा अविकलं सर्वैश्वर्येण पूर्णम् । तथा द्विरदराजवदुत्कृष्टकरीन्द्रवद्गतिर्गमनं यस्य तादृक् च, तव चरणद्वयं पादाम्बुजयुगलमहं भजे सेवे । किं भूतोऽहम् । विकलङ्का मतिर्यस्य स तादृक् ॥ २७ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठ-विरचितायां स्तुतिकुसुमा-
ञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां शृङ्खलाबन्धस्तोत्रं
नाम त्रयोविंशम् ।

चतुर्विंशं स्तोत्रम्

अथातो द्विपदयमकाख्येन चित्रकाव्यभेदेन चतुर्विंशं स्तोत्रमारभमाण आह—

वचसीति । हे सरस्वति वाग्देवि, अरमत्यर्थं जातो रसः श्रीशिवभक्तिरसो यस्याः सा जातरसा त्वं मे मम वचसि । जातावेकवचनम् । वचनेषु विभवमत्युल्लासं प्रकटय । अत्र हेतुमाह – हे देवि वाग्देवि, सकलानां सुराणां देवानां ब्रह्मादीनामन्तरं मध्यं, तत्र सारं सारभूतं भवं श्रीशिवस्तुतिभिर्नानाविधाभिरुपस्तुहि स्तुतिभिराराधय ॥ १ ॥

अविरलेति । अविरलं यद्भस्म विभूतिस्तस्य रजसा धवलं सुसितीकृतम् । तथा विहितः कृतो महान् शमस्य लाभो भावनायुक्तानां येन स तादृशम् । तथा श्रमं भवमरुभ्रमणजखेदं देहिनां शमयतीति तादृशम् । तथा विमला धवला आभा यस्य स तादृशम् । अगजाधवलं धव एव धवलः । स्वार्थे लः । कात्यायनीकामुकं । हे भगवति वाग्देवि, त्वं भज ॥ २ ॥

दातुमिति । न नुत्तं प्रेरितं केनाप्यनुत्तं महद्वपुर्यस्य स तादृशम् । तथा न दीनम् । अकातरमनसमित्यर्थः । तं नाथं परमेशं, हे देवि वाग्देवि, त्वं भज । तं कम् । यो विभुर्नदीनामिनः स्वामी नदीनः क्षीरोदधिस्तं दातुमुपमन्यवे बालाय प्रबभूव । नदीनं किंभूतम् । अनुत्तमहावपुषम् । अनुत्तमा ये हावाः केलिपरिहासादयस्तान्पुष्णाति दर्शनेन यः अनुत्तमहावपुट्, तम् ॥ ३ ॥

भक्तिरस इति । हे देव परमशिव, महामृतादपि हृद्यो हृदयप्रियः स तव भक्तिरसो

जयति, सर्वोत्कृष्टो भवति। स क इत्याह—यो भक्तिरसो भवतः पादाब्जतले वसतां भक्तानां कलौ तुरीययुगे यन्मलं तस्य पल्वलं तडागः। कलिमलमेव पल्वलं वा। तं हरतीति कलिमलपल्वलहृद्भवति ॥ ४ ॥

नयनमिति। हे परमेश, विषमाः पञ्चसंख्यत्वाच्छरा मोहनाद्या यस्य स विषमेषुः कामः। निहतो दग्धो महान् विषमेषुः कामो येन तत्। नयनं तृतीयमुदीर्योत्क्षिप्य, तमोऽज्ञानरूपमन्धकारं, मे मम हर दूरीकुरु। हे हतमोह। हतो दूरीकृतो मोहोऽज्ञानं येन स तस्यामन्त्रणम्। येन हेतुनाहं विषमेष्वत्युद्भटेषु वैरिष्वान्तरेषु कामादिषु। नो रमे न क्रीडामि ॥ ५ ॥

त्वयीति। हे विभो, त्वयि भक्तजनस्य वरदे वरप्रदे सति, रुचिरो रम्यः प्रमद आनन्दो यासां ताः। तथा प्रचलितानि चामराणि यैस्ते तादृशा हस्ता यासां ताः प्रमदा वरनायिकाः। जनं भजन्ति सेवन्ते। कुत्र ? सदसि सभायाम्। सोऽपि जनस्ताः प्रमदा रमयति। तासां संबन्धिनीमात्मनि क्रीड़ां कारयतीत्यर्थः। कुत्र। रह एकान्ते ॥ ६ ॥

हिमकरेति। हे भगवन्नैश्वर्यादिगुणषट्कयुत। चन्द्ररश्मिसमूहवत्सितं तथा गङ्गाजलधवलं हसितमीषद्धासं भक्तानुग्रहाय वदने मुखे वह धारय। अत्रास्मिन्हसिते भवता मा विडम्बि, डलयोरैक्याद्विलम्बो न कार्य इत्यर्थः ॥ ७ ॥

उपमितेति। हे विभो, उपमिता मन्मथस्य चापलता धनुर्बल्ली यया सा तादृशीं भ्रुवं, सहेलं हेलयावधूय। रविजदृशामन्तकदृष्टीनां घनचापलतां घनचापलम्। अत्र स्वार्थे तल्प्रत्ययः। विघटय दूरीकुरु। अत्र हेतुमाह—ता नेत्यादि। ता अन्तकदृक्चापलता यमदृक्चापलानि अहं न सहे। कथम्। अलमत्यर्थम् ॥ ८ ॥

रविसुतवर्त्मेति। हे विभो पुरहर त्रिपुरदहन, श्रुता यमकिंकराणां यमदूतानां वाण्यो वाचो यस्मिंस्तद्रविसुतवर्त्म यमपुरमार्गं स्मरतो मम दरतो भयान्मम हृदयं दलति, खण्डशो गच्छति। हे विभो, अहं किं करवाणि। अत्र वर्त्मनः स्मृतिमात्रत्वान्न तु तदर्थत्वात् 'स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्' इतिवत्षष्ठ्यभावः ॥ ९ ॥

प्रथयतीति। हे विभो, हन्त हर्षे। यो धन्यो रुचिरेण नुतिवचसा स्तुतिवचनेन। तव महमुत्सवं प्रथयति विस्तारयति। शुभशतानां या सिद्धिस्तां सहते इति शुभशतसिद्धिसहस्तादृशं तमचिरेणैव शिरसि वहामि धारयामि ॥ १० ॥

भवभयेति। अतिशुभमार्गदर्शनेन भक्तजनानां भवभयभञ्जनभङ्गिविधौ प्रभवन्तं समर्थम्। तथा केषांचिद्भक्तानां विधुरे वक्रेऽपि विधौ दैवे, विहितं कृतं हितं शुभं येन स तादृशस्तं जगत्प्रभवं जगदीशं भजत सेवध्वम् ॥ ११ ॥

पुनरपि तानुपदिशति—मदनेति। मदनः काम एव महीरुहस्तत्र दवदहनं दावाग्निम्। दाहकमित्यर्थः। तथा शिरसि मूर्ध्नि धृतोऽमृतभाश्चन्दो येन तादृशः। तथा दुरन्तो यो विषादः संसारजं दुःखं, तं हन्तीति दुरन्तविषादहनम्। तथा प्रणतेषु भक्तिप्रह्वेषु सम्यगर्पितो भासो भासनं प्रकाशो येन तादृशं विभुं भजत ॥ १२ ॥

वितरेति, इतीति। इत्यनेन प्रकारेण बालोपमन्युमुनिप्रभृतिषु सदयेन सानुकम्पेन, भुवनहिताय त्रिभुवनशर्मणे हरेण श्रीशिवेन यदाचरितं विहितं तन्महाचरितमपदानकर्म। अस्य श्रीशंभोरार्तिहरेण नुतिवचसा स्तुतिवचनेन भजत। इति किमितीत्याह—वितरेत्यादि। नदीनां

गङ्गादीनां रमणः समुद्रः क्षीरोदधिस्तं वितरत्, हरो बालायोपमन्यवे मुनये। तथा शमनं यमं शकलय—अशकलयत्। श्वेताख्यनृपत्राणाय। तथा कामं खण्डय अखण्डयत्, ददाह। तथा धनञ्जयस्यार्जुनस्य भयशमनं द्रोणाचार्यकर्णादिसेनापतियुक्तां कौरववाहिनीं कथं जेष्यामीति यदर्जुनस्य भयमासीत्तच्छमनं प्रथय अप्रथयत्। तथा हतकामं हतः कामोऽभिलाषस्त्रैलोक्य-विजयरूपो यस्य तत्तादृशं पुरं त्रिपुरं रचय अरचयत्। 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इति सूत्रेण लोटो हिस्वावादेशौ स्तः। तिङामपवादः। अतो वितर व्यतरदित्यादि ज्ञेयम्। युग्मम्॥ १३—१४॥

गतिरिति। हे हर, महासंसारे शिवादिक्षित्यन्तसंहारक, अशुभममङ्गलं पापं, अशुभं वर्त्म वा, आशु तरतां तर्तुमिच्छितां इत्यनेन प्रकारेण कातरतां दैन्यं चतुरं शीघ्रमेव हर दूरीकुरु। मां च शुभवन्तं सदैव मङ्गलयुक्तं कुरु। भवन्तं दीनदयालुं विना का गतिर्भवति॥ १५॥

वरदेति। हे वरद, वरप्रद, भवन्तं त्रिजगदधीशं विना सकलमिदं भुवनं त्रिभुवनं को धरते बिभर्ति। इति हेतोः, हे इन्दुकलाधर चन्द्रमौले, सह कलङ्केन कलियुगमहिमोत्थेन वर्तते यः स तादृशः कस्तव नतिं न भजते। अपि तु सर्व एव॥ १६॥

इयमिति। अखिला इतरा ब्राह्मणजातेरन्याः क्षत्रादिजातयस्तद्वतामखिलेतरजातिमतां मध्ये। निर्धारेण षष्ठी। नोऽस्माकं सा प्रथमा जनिर्जातिर्ब्राह्मणजातिर्जयति सर्वोत्कृष्टा भवति। सा केत्याह—यत्र ब्राह्मणजातौ हृदि चेतसि सततं प्रथमानः प्रकाशमानः, अर्थादस्माकं, मतामभिमतां सेव्यभुवं विभुः स्वामी जगदीश एति॥ १७॥

तुभ्यमिति। हे शितिनाल नीलगल श्रीशंभो, हे सतां कृतिनां वरद, अयमहं तुभ्यं स्वामिने। नमः कर्मभूतं करोमि। नमः शब्दोऽव्ययं नाम चेति वैयाकरणाः। हे महेश परमेश, ममालसतामुदासीनत्वं भवद्भक्तिविषये शमय। तत्कुतइत्याह—येन हेतुनाहं मोहमज्ञानं न भजामि॥ १८॥

भजसीति। हे ईश, हतो दग्धः कामो येन स तस्य संबोधनं, हेहतकाम। अखिलान्कामा-नभिलाषितानि ददातीति तादृश्या अखिलाकामदया यया दयया कृपया समस्तं नतजनं भजसि। दयापात्रीकुरुष इत्यर्थः। सा ते दया कृपा, मम वैशसं दुःखं जन्मजरामरणोत्थमस्तं गमयतु नाशयत्वित्यर्थः॥ १९॥

येनेति। हे हतलोभ! हतो निर्मूलीकृतो लोभ आन्तरो महावैरी नतजनस्य येन तत्संबोधनम्। सुधाया अपि मधुरेण येन तव वचसा अभयवचनेन जनो देहिजनः शुचं संसार-दुःखं त्यजति। हे विभो, प्रकटिता धामधुरा परतेजोधुरा येन तत्तादृशेन तेन वचसा नोऽस्मान्भज। अभयवाक्यं नः प्रकटयेत्यर्थः॥ २०॥

मदयसीति। अनेकजन्मशतोपार्जितसुकृतपरिपाकदृष्टेन, मधुरगिरा, येन वदनेन मुखेन सकलं जनं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं मदयसि प्रमोदयसि। तावत्प्राथम्ये। अनेनैव वदनेन मुखेन परिहासेन क्रीडास्मितेन कलं मधुरं वचनं मयि विषये प्रतिदिश देहि॥ २१॥

येनेति। हे विभो, विपदो विपत्तीरानयतीति विपदानयनमदभ्रं घनं सतां सज्जनानां दुरितं येन नयनेन नेत्रेण कदापि महाभाग्योदयवशात्क्षिप्तेन भवता विभुना अहारि दूरीकृतम्।

हे दयालो, मदनेन कामेन मदेन च यो भ्रमः अनित्याशुच्यादिषु नित्यशुच्यादिभ्रमस्तं हरतीति तादृशं तं नयनं नेत्रं विशदं निर्मलं मयि विषये दिश देहि ॥ २२ ॥

जगदिति । हे विभो, तिमिरमविद्यापर्यायमज्ञानं तिमिरं च बाह्यं मुष्णातीति तिमिरमुट्, तेन रसितेन शब्देन, वाक्यरूपेण यद्यखिलं जगत् शिवादिक्षित्यन्तं नन्दयसे प्रमोदयसि, तर्हि तुषारवत्प्रालेयवत् सितेन शुभ्रेण तेन शब्देनेमं जनं मल्लक्षणं किं न दयसे ? किं नानुकम्पसे ॥ २३ ॥

दुरतेति । हे विभो रमणीयो रम्यस्ते तव यः करो हस्तो दुरितहृतौ भक्तिप्रह्व जनदुरितहरणे क्वापि न विषसाद विषण्णोऽभूत् । स तव करो घोरं कठिनं अणीयोऽतितुच्छमाकस्मिकं भयमपि शमयतु । किं भूतः करः । विषस्य कालकूटाख्यस्य निगलनसमयेऽदनेनावसादं करोतीति तादृशः । अपि प्रश्ने वा ॥ २४ ॥

भयहरण इति । हे महिताभ । महिता पूजिता आभा दीप्तिर्यस्य तस्य संबोधनम् । यतः कारणात् सर्वस्य जगतो भयहरणे जन्मजरामृतित्रासहरणे जातरसस्य भावो जातरसत्त्वं प्रथयसि, अतो मामपि महाभयतोऽतिसंकटजन्मजरामृतित्रासात् पाहि । अत्र कतरसत्त्वमित्यत्र द्वितकारत्वाभावेऽपि चित्रकाव्ये यमकादौ न दोषः । तथाहि—

'यमकश्लेषचित्रेषु दन्त्यौष्ठ्यवबकारयोः ।
न भेदो नणयोश्चैव न नकारमकारयोः ॥
हलः परस्य चैकस्य व्यञ्जनस्य द्वयोरपि ।
न विशेषो विसर्गस्य भवेच्च सदसत्त्वयोः ॥'

इति ॥ २५ ॥

अथेदानीमेतस्य स्तोत्रस्योपसंहारार्थं वृत्तभेदेन श्लोकत्रयमाह—

भजामीति । कुनयं कुत्सितं नयं श्रीशिवशासनमपास्यान्यमार्गानुसृतिरूपमन्तं नयन् त्यजन्, अयमहं मायया छद्मना पार्थानुग्रहाय शबरं किरातरूपम् । तथा वरमुत्कृष्टं वरं देवाद्यभिलषितं वस्तु दिशन्तं वितरन्तम् । तथा विखण्डिता क्लेशानामविद्यादीनां पञ्चानां परम्परा पङ्क्तिर्येन तं परमुत्कृष्टं भवं श्रीशिवं भजामि सेवे । किं कृत्वा । भवं संसारं विजित्य । किंभूतं भवम् । कृत्यात्कर्मणः शुभाशुभात् प्रभव उत्पत्तिर्यस्य तादृशम् ॥ २६ ॥

मलेति । हे भव शंभो, भवत्प्रसादात्तवैव प्रसादान्मलानामाणवमायीयकार्माणां त्रयाणां क्षयस्तमलक्षयमज्ञासिषम् । हे शिव, कैवल्यप्रद, अतो हेतोरयं तव स्तवो मया प्रकर्षेण विहितः प्रविहितः । किंभूतः स्तवः । शिवः कल्याणकृत् । अत्र 'शिवस्तव' इत्यत्र विसर्गाभावेऽपि यमकादौ न दोषः । तदुक्तं प्राक्—

'न विशेषो विसर्गस्य भवेच्च सदसत्त्वयोः' । इति ।

हे हर समस्तदुरितहर, मामित्यर्थात् । त्वं मामस्मद्व्यसनानां जन्मजरादीनां संकटस्तस्मात्समुद्धर । त्वं किंभूतः । समुत् सह मुदा परमानन्देन वर्तते यः । हे दयालो, असमा न समा शुभाशुभविषये क्षमा यस्य स तादृगसमक्षमः । अर्कजो यमस्तव विभोः समक्षं पुरतो यदि मां स्पृशति, बलान्नेतुमभिलषति चेत्तर्हि त्रिजगदधीशोऽपि दीनदयालुः किं न जिहेषि, किं न लज्जसे ॥ २७ ॥

सन्तीति। अविद्यमाना आमया षट् शीताद्या यस्य स तस्यामन्त्रणं हे अनामय, कृतिनां मनीषिणां गिरोऽमन्थरा अतिप्रगल्भा गङ्गाप्रवाहवन्निःसरन्त्यश्चान्याः का नाम न सन्ति। अपि तु सन्त्येव। तथा वास्तवा वस्तुतत्त्वभूतास्तव स्तवाः के वा न ज्ञानां, जानन्तीति ज्ञास्तेषां मनीषिणां, हृदि मुदं परमानन्दं न तन्वते ? अपि तु तन्वत एव। अथ स्वमुद्दिश्याह कविः— वागेषेत्यादि। अतिशयेन साध्वसं भयं, परं पारमत्र कथं गमिष्यामीति रूपं भयं, यत्र स तादृग्योऽध्वा मार्गस्तत्र पतिता त्वेषा मदीया वाग् यद्भवत्स्तुत्युद्योगे साधु असाधु वा पूर्वोक्त-प्रकारेणाभ्यधात्, अहं मन्ये तदभिधानं कर्तृ, ते तव महिमानं माहात्म्यं स्थेमानं दार्ढ्य-मानयति। त्वन्माहात्म्यमेव दृढीकरोतीत्यर्थः। तत्कीदृशम्। आनन्दकृत्। सहृदयानां श्रोतॄणां परमानन्दप्रदमित्यर्थः॥ २८॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-राजानकश्रीरत्नकण्ठविरचितायां
स्तुतिकुसुमाञ्जलि-व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां द्विपदयमक-
स्तोत्रम् नाम चतुर्विंशम्॥

पञ्चविंशं स्तोत्रम्।

अथातश्चित्रकाव्यभेदेनैव यमकेन रुचिरञ्जनाख्यं पञ्चविंशं स्तोत्रमारभमाण आह—

किलेति। कल्पितो महानुदयो मोक्षलक्ष्मीप्राप्तिलक्षणो यया तादृश्या दयया कृपया, यस्य स्वतन्त्रस्य प्रभोर्हृदयं मनः सम्यगाश्रितम्। यतो यस्मात्प्रभोर्दिवः स्वर्गस्य प्रभुरिन्द्रः परं विभवं स्वर्लोकाधिपत्यमाप प्राप। एष परमेश्वरो वो युष्मान्परमापदि जन्मजरामरणरूपायामापदि पातु रक्षतु॥

तवेति। हे भगवन्परमैश्वर्यादि-षट्कलाञ्छित, न नीरसा शान्तरसरहिता दृग् यस्य सोऽनीरसदृगहं सिद्धधुनिनीरसदृक्। धुनिरिति 'कृदिकारात्-' इति धुनिः धुनी च। सिद्धधुन्या देवनद्या नीरं तोयं तस्य सदृक्तुल्यं, गङ्गासलिलधवलं, तव वपुरतो हेतोर्नौमि। अतः कुत इत्याह—हे परमेश, शमनो यमस्तव सेवकस्य त्वद्भक्त्यासक्तचित्तस्य मे मम कर्मभूतस्य हन्तुमपि मनो न कुरुते॥ २॥

स्रगिति। हे महेश, हे वरदेव सर्वदेवेभ्योऽप्युत्कृष्टदेव, कलितं ग्रथितं सारसनं मेखला-बन्धश्चित्रकाव्यप्रसिद्धो यस्यां सा तादृशी गीर्वाणी, स्रगिव मालेव कलितसारसना ग्रथितबन्धन-रज्जुर्यया रसनया जिह्वया त्वय्यर्प्यते सा रसना जयति सर्वोत्कृष्टा भवति। 'मेखलायां सारसन-मुरस्त्रे च नपुंसकम्' इति मङ्खः। तथा हे महेश, यद्धृदयं मनस्त्वयि विभाववहितमेकाग्रं तदेव हितमनुकूलं भवति॥ ३॥

तवेति। हे भगवन् शंभो, सुधाकरकलोपमिता चन्द्रकलातुल्या विमला शीतला च तव दृक्, त्वद्भक्तजने पतिता तदनु भवद्दृष्टिपातानन्तरं विपत्कालकर्णी च लोपं नाशमिता प्राप्ता। हे विभो, भवतो दृशैव दृष्टयैव सहसा त्वरितमेव कमला मोक्षलक्ष्मीरङ्कमेति। कस्य। शमलाभवतः, शमस्य शान्तेर्लाभो विद्यते यस्य तादृशस्य भक्तजनस्य॥ ४॥

कुर्विति । हे नाथ स्वामिन्, त्वं चेतसि निजे, वचो मदीयं कुरु। यतस्तव विभोर्गीर्वाणी दयिता वल्लभा, अतो न तवाहं चोदयिता, प्रेरयिता भवामि । अथवा पक्षान्तरे । हे महेश, मतया इष्टया पृथुकामतया घनाभिलाषत्वेन पृथुकाः शिशवः, किं न रटन्ति, कं वा न क्षोभयन्ति ॥ ५ ॥

विषयैरिति । हे वरद शंभो, घटिता संघटिता कामधुरा अभिलाषभारो यैस्ते तादृशास्तैः । तथा मुखे प्रारम्भ एव कामधुरैरीषन्मधुरैर्विषयैः शब्दादिभिर्वशीकृतं विह्वलीकृतम्, तथा मुदा आनन्देन रहितं च मां भज । आत्मवशं कुर्वित्यर्थः । तथा हे विभो, उदारं च हितं च भाषितामृतमभयवचनं दिश देहि ॥ ६ ॥

विजितमिति । हे विभो, मया जगद्विश्वं विजितम् । कया । अमोहतया अविद्यमानो मोहोऽज्ञानं यस्य तद्भावेन । ज्ञातृत्वेनेत्यर्थः । तया हतया रुषा मम मत्को दमः शमो न क्षतो न बाधितः । हे महेश, हृदि मनसि रोपितया दृढीकृतया, तया सुरक्षितिधरोऽपि सुरगिरिर्मेरुरपि तृणवद्विहितः ॥ ७ ॥

मरुतेति । हे विभो, मलयाचलतो मलयगिरेरायता आगच्छता मरुता वायुनेव चलतोऽदृढस्य कम्पमानस्य मम धृतिः स्थितिः क्षपिता निवारिता । तत्तस्मात्कारणात् प्रसादन-परामाराधनपरां करुणां दीनामिमां मे गिरं वाणीं शृणु । परां करुणां कृपां कुरु ॥ ८ ॥

भवत इति । हे विभो, प्रसादेन प्रसन्नतया मधुरा रम्या तां प्रसादमधुराम् । तथा अहतां न कुत्रापि प्रतिहता तादृशीं, भवतः स्वामिनो दृशं दृष्टिमीयुषां प्राप्नुवतां महतामुत्तमानां शमधुरा शमभरो धृतिं स्थितिमेति । तथा लसतां क्रीडतां महतामुत्तमानां रमा लक्ष्मीः सुलभत्वमेति प्राप्नोति च । किं कृत्वा । चरमालसतां चरमा अधमा चासावलसता तामपास्य दूरी-कृतस्य ॥ ९ ॥

समर इति । हे विभो, तव सेवनविधौ येन धन्येन तरसातिशयेन मतिर्बुद्धिरर्पिता । किं भूता मतिः । अन्यभविषु अन्यजन्मिषु धौतः क्षालितो रसो यस्याः सा । तस्य अजरा शक्तिः, समरे सङ्ग्रामे जयटे (विजयमाप) किंभूते, विकीर्णगजराजघटे ॥ १० ॥

विषयानिति । हे विभो, प्रयतौ शान्तौ मानश्च मदश्च तौ यस्य स तादृक् सुजनः सहृदयजनो विषयान् शब्दादीन्प्रति प्रयतमानं प्रयत्नं कुर्वाणम्, अदः एतत् मनश्चित्तं तव शासनेन भवदुक्तानुशासनेन वशमानयते, विधेयं संपादयति । अतो हेतोरयं सुजनो नवशमान् नवो नूतनः शमो येषां तान्साधून् शरणमयते गच्छति ॥ ११ ॥

रविजमिति । हे विभो शिव, रजोभिर्धूलिभिर्मेचकितं मलिनीकृतमिव रविजं यमं विभाव्य विचिन्त्य, मे मम हृदयं मनश्चकितं त्रस्तं भवति । हे स्वामिन्, संभ्रमतः संभ्रमेण सङ्कटे पथि भ्रमतो मम जितामृतरसं वचनं वितर देहि ॥ १२ ॥

त्वयीति । हे विभो ईश, कलेस्तुरीययुगस्य तापो दूरीकरणजः सन्तापस्तं करोतीति कलि-तापकृति त्वयि, शकलिता अपकृतिर्जन्मजरामरणजा देहिनां येन तच्चक्षुः क्षणं क्षणमात्रं क्षिपति, इद्धं दीप्तिमद्वपुर्यस्यां सा इद्धवपुः, परा उत्कृष्टा शक्तिः परशक्तिरङ्गं देहमिता प्राप्ता । सा परशक्तिः का । यया जनता जनानां समूहस्तव पुरं शिवभवनं, गमिता प्रापिता । त्वच्छक्तिपातानुगृहीतस्य धन्यस्य शिवपुरे गतिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

रविजस्येति । हे विभो न सहते असह्यो यः सारो बलं तेन चितं व्याप्तं रविजस्य यमस्य वर्ष्म देहः सहसा शीघ्रमेवाग्निसाद् रचितम् । अग्निः संपद्यतेऽग्निसात् । 'विभाषा सातिः कार्त्स्न्ये' इति सातिप्रत्ययः । हे अनघ । अविद्यमानमघं मायावरणं यस्य तस्य संबोधनम् । ते तव वपुर्मदनस्य कामस्य घस्मरं भक्षकं दाहकं तद्भावं मदनघस्मरतामाप प्राप । तथापि स्मरतां भक्तजनानां ते तव वपुर्भीमं भीर्भयं विद्यते यस्मात्तन्न भवति । परमानन्दप्रदमेवेत्यर्थः ॥ १४ ॥

करुणेति । हे विभो, निरर्गला तरङ्गरूपा लता यस्याः सा निरर्गलतरङ्गलता द्युसरिद् गङ्गा आकुलतरं व्यग्रत्वेन गलता क्षीणवपुषा शशिना चन्द्रमसा यथाधिगता प्राप्ता, तथैव मयापि क्षतो नाशितोऽनवधिर्बहुलः कोपचयः कोपाधिक्यं यया सा तादृशी । तथा अधिक उपचयो वृद्धिर्यस्याः सा तादृशी च करुणा कृपा त्वत् भवत्सकाशादधिगता प्राप्ता ॥ १५ ॥

गरुडेनेति । हे विभो, विषमे उद्भटे पक्षती पक्षमूले यस्य स तादृशेन । तथा अपगता क्षतिर्बाधा यस्य स तादृशेन च गरुडेन तार्क्ष्येण विषं गरलमपि यत्कवलीकृतं ग्रस्तं, स तवैव प्रसादमहिमा भवति । कुत इत्याह—हि यस्मात् परः प्रभुः स्वामी आनतं प्रह्वजनं प्रति मानपर अनादरपरो न भवति । त्रिजगति त्वमेव भक्तजनानां प्रत्यादरपरायण इत्यर्थः ॥ १६ ॥

पदमिति । आर्तिर्जन्मजरामरणत्रासरूपा तच्छमनं गहनं पदं परं धाम प्राप्तुमहमनङ्गहनं अनङ्गं कामं हन्तीति अनङ्गहा, कामदहनस्तं प्रभुं श्रीशिवं भृशमर्थये । हि यस्मात्कारणात् सहिमे सह हिमेन प्रालेयेन वर्तते यः स सहिमस्तस्मिन्समये काले हेमन्तकाले यथा वसनं वस्त्रं प्रावारप्रायमार्तिहरणं शीतार्तिहरणं, तथा प्रभुः परमशिवो मे भवार्तौ शरणं भवति ॥ १७ ॥

सुरेति । हे अजर निर्नाश शंभो, सुरसुन्दरीष्वप्सरःसु मध्ये स्ववपुर्गुणेनातिशयेन रमणीया रम्या यतमा एका या काचिद् रमणी वरस्त्री भवति, सा न क्षतो नष्टो रसः प्रेमरसो यस्याः सा अक्षतरसा सती, जरसा वार्धक्येनोपलक्षितमपि, तव भक्तं तरसा शीघ्रं समेत्य भजते सेवते ॥ १८ ॥

त्वयीति । हे स्वामिन् , बत हर्षे । मया वराकेण, या गीः स्तुतिरूपा वाणी, त्वयि विषये निजगदे उक्ता; तयोक्तया निखिलं सकलमेव जगज्जयामि । यतो भवतः संसारात् सभयस्य त्रस्तस्यापि, भवतस्तव भक्तिसुधया भक्तिरसायनेन, मुदितस्य प्राप्तपरमानन्दस्य, वसुधया धरित्र्यापि लब्धया किम् । न किंचिदित्यर्थः ॥ १९ ॥

शिरसीति । हे शिव कैवल्यप्रद, विधुना चन्द्रमसा रोचिता शोभिता, तया स्रजा मालया यथा तव शिरसि पदं स्थानं क्रियते, तथैव विधुरे सङ्कटे उचिता तादृश्या विधुरोचितया, मद्गिरा मम वाण्यापि, ते तवात्र हृदि, तया धिया अनुग्रहबुद्ध्या सह पदं स्थानं क्रियताम् । तया धिया कयेत्याह—या धीरनवधि अवधिरहितं कृत्वा, विपदं कालकर्णीं भक्तजनस्य न सहते ॥ २० ॥

विभुमिति । यद्यस्मात्कारणात्प्रमये मरणसमये विगलन्ती पतन्ती अङ्गलता यस्य स विगलदङ्गलतः सन् , अमङ्गलतः अमङ्गलादन्तकभ्रूभङ्गरूपाद्बिभेमि, तद्विभुं परमशिवमाश्रये । शरणार्थमिति शेषः । स एव विभुरशमं न विद्यमानः शमः शान्तिर्यस्य स तादृशं पाशं फणिपाशं गलतः कण्ठाद्विमुच्य, हि—यस्मात्कारणाद् गलतो भयेन पततः क्षीणस्य वा, मे भयशमं महाभयशान्तिं कुरुते करिष्यति ॥ २१ ॥

चरणाविति। हे विभो, भरं भारं धरितुमक्षमया अशक्तया क्षमया धरित्र्या यथा मुरजितो विष्णोश्चरणौ भूभारोद्धरणायावतरिष्यतोऽधिगतौ प्राप्तौ। हे नमतां जनानां कृतरक्ष, शंभो, तथैव मया भवतश्चरणावधिगतौ। कया। धिया बुद्ध्या। किंभूतया? समुचितक्षमया। समुचिता उपपन्ना क्षमा यस्यास्तया ॥ २२ ॥

तिमिरमिति। हे भगवन् परमेश, रवेः सूर्यादुदितां विभां दीप्तिमिव मुदितां प्रसन्नां यां ते तव दृशं दृष्टिमाप्य प्रह्वजनास्तिमिरमज्ञानरूपं तमो जहति त्यजन्ति। रसाद्भक्तिरसादुदिता-मुत्पन्नामिमां मे गिरं वाणीमुपकर्णयन् शृण्वन्, अमुदि अविद्यमानमोदे मयि, तां दृशं दिश देहि। अविद्यमाना मुत्प्रहर्षो यस्य सोऽमुत् तस्मिन्नमुदि ॥ २३ ॥

करुणेति। हे सुरैर्ब्रह्मविष्ण्वादिभिः प्रतिपदानत, प्रतिपदं प्रतिक्षणमा समन्तात् नतः प्रणतस्तस्य संबोधनं प्रतिपदानत। सदपदानतया सन्ति अपदानानि त्रिपुरदाहान्धकवधादीनि यस्य स सदपदानस्तस्य भावस्तत्ता तया उपलक्षिता या भवतः करुणा, जनेन स्तुता भवति। अपदेऽस्थानेऽसमये वा आनता अपदानता तया भिया भीत्या आत्तं गोचरीकृतं मां, निरस्ता दूरीकृता विपद्यया सा तादृश्या निरस्तविपदा। उः प्रणयकोपे निपातः। तया करुणया किं न भजसे। कृपापात्रं मां किं न कुरुष इत्यर्थः ॥ २४ ॥

तवेति। हे विभो, या तव दृक् तृतीया दृष्टिर्मदनस्य कामस्यातनुतामनङ्गत्त्वं व्यतनुत अकरोत्, सा तव दृक् लसतां क्रीडतां भक्तिप्रह्वजनानामलसतां भवच्चरणाम्बुजोपासायामालस्यं जयति दूरीकुरुते। किल निश्चये। सा तव दृक् सतां सज्जनानां कुशलाय लसतामुल्लसतु। तथा सा दृक् निबिडं दृढं शमपि कल्याणमपि तनुतां विस्तारयतु। किंभूता दृक्। अतनुता अविद्यमाना तनुता, अल्पत्वं यस्याः सा। अत्र च कुशलाय शमित्यत्र पौनरुक्त्येऽपि भक्तिविषये यमकादावदोषः ॥ २५ ॥

ययेति। हे विभो यया तव दृशा अनुग्रहदृष्ट्या हितामनुकूलां विभूतिं संपदं, भुवि इह लोके मानवा मनुष्या धन्या भजन्ते लभन्ते। तथाऽन्ते निर्वाणसमये च, विमानवाहितां विमानानि देवयानानि तैर्वाह्यन्ते, विमानवाहिनो देवास्तेषां भावस्तत्ता तां भजन्ते। तथा या तव दृक् भयानकं सकलजगद्भयङ्करं यमं कालं च दलशः खण्डशोऽधाद करोत्। अधादित्यनेकार्थ-त्वाद्धातूनामाङ्पूर्वो धाञ् विधानार्थः। तया उपशोभया उत्कृष्टा शोभा यस्यास्तया दृशा कं न पासि? अपि तु सर्वमित्यर्थः ॥ २६ ॥

परमयेति। परमया उत्कृष्टया रमया लक्ष्म्या रहितस्य मे मम रुचिर्मनोरथोऽङ्गं देहं रुचिरं शोभनं न व्यधात् नाकरोत्। हे हर कालाग्निरुद्ररूपेण महाप्रलये सकलजगत्संहारक, अतः पूर्वोक्तकारणाद्भवान्दीनदयालुर्मया अरमत्यर्थं अयाचि प्रार्थितः। 'टुयाचृ याच्ञायाम्' धातुः। अतः हे विभो, त्वं च मे रुचिरञ्जनं रुचिरमभिप्रायमित्यर्थः। कुरु। त्वं च एह्यागच्छेति शिवम् ॥ २७ ॥

इति श्रीराजानकशंकरकण्ठात्मजराजानकश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलि-व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां रुचिरञ्जनाख्यं स्तोत्रं पञ्चविंशम्।

———

षड्विंशं स्तोत्रम्

अथातः पादादियमकाख्येन चित्रकाव्यभेदेन षड्विंशं स्तोत्रमारभमाण आह—

हन्तेति, तादृगिति। सन्तमसेनाज्ञानरूपेणार्ता ये लोकास्तान्पालयतीति तम्। तथा कृपया दीनदयालुतयाऽलङ्कृतं तमीशं परमेश्वरं सन्ततमीडे स्तौमीति संबन्धः। तं कमित्याह—हन्तेत्यादि। हन्त हर्षे। यस्य परमेश्वरस्याक्षयस्य निर्विनाशस्यानादेश्च अक्षणिकः परमदृढः सनातनः प्रसादोऽनुग्रह आपदुपद्रवाणां जन्मजरामृतिरूपाणां तदन्तर्गतप्रियवियोगादिदुःखानामपहन्ता भवति। तथा यस्य च विभो रसना जिह्वा समन्ताद्व्यापी य आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन त्रिविधस्तापः खेदस्तेन यः सन्तापः सन्तपनं, तं हरतीति सन्तापसन्तापहरा। तथा कान्तारकान्ता कान्तो रम्यो योऽरोऽग्रं, तत्र कं जलमौचित्यादमृतवारि, तदन्ते यस्याः स कान्तारकान्ता। [कान्तार इक्षुभेदस्तद्वत् कान्ता मधुरा] केव। प्रपा पानीयशालिकेव। साप्यतिशयेन सन्तापः सन्तापसन्तापस्तं हरति तादृशी भवति। यद्वा सन्तापो विद्यते येषां ते सन्तापाः। मत्वर्थीय अः। तेषां सन्तापं हरतीति तादृशी भवति। तथा कान्तारे निर्जले मरुप्रदेशे कान्ता मनोज्ञा। अत्र च 'सत्तापसत्तापहरा' इति केचित्पाठमूचुः। तत्पाठे च—'सतां तापः सत्तापस्तस्य सत्ता अस्तित्वं तामपहरतीति रसनापक्षे। प्रपापि समीचीनस्य तापस्य सत्तापहरा भवति' इति व्याचख्युः। अत्र च सहृदया एव प्रमाणम्। पुनश्चाभीष्टदं कमित्याह—तादृगित्यादि। समन्तात्परितो महतामुत्तमानामालोकदा प्रकाशदा महतां मताभिप्रेता, लोकेषु हितानुकूला च यस्य तादृक् दृग्, दृष्टिर्भवति। युग्मम्॥ १-२॥

हृद्येत्यादिद्वादशभिः कुलकम्—

हृद्य इति। परमे पदे परतत्त्वे परमात्मस्वरूपे नियोक्ता उपदेष्टा स देवः परमेशो वः काममभिलाषं सफलीकरोतु। कामं निश्चये। इति कुलकान्तिमश्लोकेन संबन्धः। स क इत्याह—हृद्य इत्यादि। यो देवः सुकृतोर्जितानां पुण्यप्रदीप्तानां हृद्यो हृदयप्रियः सुहृद्भवति। तथा न न्यूनो मन्युः क्रोधो येषां ते अन्यूनमन्यवस्तानपि अनल्पक्रोधानपि यः पृणाति पूरयति, सकामान्करोति। स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः। तथा यः प्रभुरनामयः अविद्यमाना आमयाः षट्, शीताद्या यस्य स तादृक्। ग्रहणं गृहीतिः। स्त्रियां भावे क्तिः। नामगृहीतिमात्रात्केवलं नामग्रहणमात्रेणैव अस्तापदो दूरीकृतविपदस्तापभृतः सन्तापधारकान् जनान्करोति॥ ३॥

चेत इति। तथा प्रचेतःप्रमुखा वरुणाद्या लोकपालास्तता विस्तृता अनन्ता गुणा येषां ते तादृशा अपि सन्तश्चेतश्चित्तं यदेकतानं यदेकाग्रमेव वहन्ति धारयन्ति। यश्च देवो योगीति अष्टाङ्गयोगोपदेशकोऽयमिति प्रसिद्धैः प्रख्यातैः सिद्धैर्देवयोनिभेदैर्गीयमानो गीतिषु स्तूयमानः प्रभुरयमित्यभ्युपेत आश्रितः॥ ४॥

मान्य इति। तथा उदग्रैरंहोभिर्महावेगैरंहोभिः पापैरपास्तं वृत्तमाचारो यैस्तान् अधमान् यो देवोऽधरयत्यधः करोति। किंभूतः। मान्यो जगत्पूज्यः। तथा नाम निश्चये। यस्य परमेश्वरस्य केवलं नामाऽपि वीतालोकस्य, अज्ञानान्धस्य जनस्य तमांसि मोहादिकान्यन्धकाराणि अपिदधाति दूरीकरोति॥ ५॥

भूतिरिति। यस्य देवस्य भूतिर्भस्म विभूतिः संपत्। विपुला विस्तीर्णा दिशश्च वासः।

दिगम्बरत्वाद्देवस्य । तथा पितॄणां निवासः श्मशानं निलयो गृहं भवति । तथा यस्य देवस्य हीनै-र्भूतप्रभृतिभिर्भूषा भुवि तथा स्थानम् । तथा अहीनैर्वासुकिप्रभृतिभिरहीन्द्रैरपि भूषा आभरणम् । हारकेयूरकङ्कणादिस्थाने तेषां सत्वात् । तथा अराला वक्रा कराला करान् किरणान्, आसमन्ताल्लाति आदत्ते कराला किरणवती, कलिका चन्द्रकला च यस्य देवस्य मौलौ भूषा आभरणम् ॥ ६ ॥

य इति । तथा य ईश्वरोऽक्षतान्परिपूर्णान् तान् (त्रीणि धामानि) अक्षिषु त्रिषु बिभर्ति । तान् कानित्याह—अलयः अविद्यमानो लयो नाशो यस्य स यो रविः खे आकाशे खेलति क्रीडति । तथा अंहतिहारिणीभिः पापसंहतिक्षयकारिणीभिः शिखाभिर्ज्वालाभिः सत्यमेव निश्चितमेव योऽग्निर्हसति । तथा यः शुचिर्विमलः शुभानां भानां नक्षत्राणामीशः स्वामी चन्द्रस्तान् ॥ ७ ॥

संख्येष्विति । खलु निश्चये असंख्येषु संख्येषु युद्धेषु, यो वैरस्यं विमनस्कता तस्माद्भवति यस्तादृशस्य वैरस्य निदानमादिकारणम् । तथा निन्दाया अवनिं स्थानभूतं, विडम्बनास्थानम् । तथा दावहुताशवन्तं दावाग्निभूतम् । तथा खरोषं खरस्तीक्ष्ण उषो दाहो यस्य स तादृशं रोषं भटानां योद्धॄणां प्रमार्ष्टि शान्तं करोति ॥ ८ ॥

यज्ञ इति । नयज्ञेन नीतिज्ञेनापि । अपि शब्द आर्थः । तथा दक्षेण निपुणेनापि दक्षेण प्रजापतिनापि पूर्वं शुभे विधौ, यज्ञे क्रतौ न वृतो यो देवः पश्चान्निजापराधं जानत आनतस्य प्रणतस्य तस्य दक्षस्य, अनघमविघ्नमुज्झितावसादमनश्वरं प्रसादं प्रददौ । किंभूतो यः । दयाब्धिः करुणासागरः ॥ ९ ॥

नीताविति । अविद्यमाना ईतय षडतिवृष्टयाद्या उपद्रवा यस्यां सा तादृश्यां नीतावचलै-र्दृढैः साध्यैर्देवयोनिभेदैर्यः स देवोऽलभ्योऽप्राप्यः । कैरपि । तपोभिरपि । तपोभिः किंभूतैः । आसाध्यैरपि कर्तुमशक्यैरपि । यः अमन्यौ रोषरहिते । किल निश्चये । उपमन्यावुपमन्युनाम्नि बालमुनौ, सेवायामलसेऽपि प्रसादं क्षीरोदधिदानरूपमकरोत् ॥ १० ॥

नायमिति । कर्मणि साधुः कर्मण्यः, न कर्मण्योऽकर्मण्यस्तद्भावः, तया स्वोचितविधाना-नभिज्ञतया कर्मण्यभियोगमुद्योगं यं भगवन्तं विना अयं लोको न विदधाति । तथा असत्त्वानधैर्य-वतोऽपि सत्त्वान्प्राणिन आस्थां स्थितिं नेतुं प्रापयितुं समर्थोऽर्थोऽभिधेयं वस्तु, यतो यस्मा-दभ्युदेत्युत्पद्यते ॥ ११ ॥

धर्मेणेति, जीवेनेति । निजोचितेनात्मोपपन्नेन धर्मेण प्रकृतितुल्येन करणेन, धर्मेण पुरुषार्थेन कर्त्रा यो विभुः सेव्यते । तथा वृतमभ्यर्थितमभयं येन तादृशेन कामेनाभिलाषेण करणेन, कामेनानङ्गेन कर्त्रा यः सेव्यते । तथा काले समये नतिमवमानं गतेन, कालेन अतीतवर्तमानभविष्यद्रूपेण [यमेन वा] यः सेव्यते । तथा जीवेन बृहस्पतिना तदर्पितेन जीवेनासुधारणेन यो देवः सेव्यते । तथा मनोहरेण काव्येन निपुणकविकर्मणा काव्येन शुक्रेणापि यो देवः सेव्यते । तथा तमोवृतानामन्धकारपरिबलितानां मित्रेण सुहृदा, मित्रेण रविणा, यः सेव्यते । तथा सौम्येन बुधेन सौम्येन सुशीलेन च यः सेव्यते । युग्मम् ॥१२-१३॥

लोकानिति । य ईप्सितानामभिलषितानां विधाता कर्ता । धाता सृष्टिकार्यार्थं ब्रह्मरूपो लोकान् भुवनान् सलोकान् सजनानसृजत् । किंभूतः । सदयः सकृपः । 'लोकस्तु भुवने जने'

इत्यमरः । स एवंभूतो देवः परमेशः परमे पदे नियोक्ता । कामं निश्चयेन काममभिलषितं वः सफलीकरोतु ॥ द्वादशभिः कुलकम् ॥ १४ ॥

तमिति, धीरस्येति, सम्पन्नेति । ललितैः शोभनैर्वचोभिर्लसन्तः क्रीडन्तः सन्तो बन्दिभिर्मागधैर्वन्दितं स्तुतं तं पुरुषं धन्यमर्चयन्ते पूजयन्ति । तथा आजिषु युद्धेष्वपराजितस्य तस्य धन्यस्य लीलां लोक उत्तालरवेगोच्चैस्तालरवेणोत्तालं त्वरितं नौति स्तौति । तथा अस्य धन्यस्य धीरस्य, तीक्ष्णा धीर्मेधा निर्निरोधा बन्धस्य भवबन्धस्य योऽनुबन्धस्तमनुगतां प्रवृत्ति स्थितिमस्यति त्यजति । तथा दयितेव प्रियतमेव आनन्ददा श्रीर्लक्ष्मीर्दीनमर्थिभ्यो ददानं तं धन्यं च नन्दयते । कुतः । रागादासक्तिवशात् । तं कमित्याह—संपन्नेति । संपन्ना पूर्णा या संपत्तस्या नवा या सिद्धिस्तस्या हेतुं यां श्रीशिवभक्तिं धुर्यो महतीममरेन्द्रमुख्या ब्रह्मविष्णुशक्रप्रभृतयोऽधुरधारयन् । भासा दीप्त्या शुभा कल्याणकारिणी सा ईशभक्तिः परमशिवभक्तिरभयस्य सर्वतः सर्वदा च भयरहितस्य, यस्याभरणत्वमेति प्राप्नोति । तिलकम् ॥ १५—१७ ॥

अथातः कतिपयैः श्लोकैः स्वात्मानं विनोदयति कविः—

शङ्केति, सानन्देति, जम्बालजमिति, नो भोगिन इति । हे चित्त, भृशमत्यर्थं का ते शङ्का । भृतकप्रियो भृतका भृत्याः प्रिया यस्य स तादृशश्चेत् स्वामी शंभुस्तर्हि, आसन्नदासं न जहाति । आराधयितुश्च ते आराधना विभोर्मिथ्या वृथा न भवति । तस्मात् हे चित्त, किंचित्तरलत्वं चञ्चलत्वं किमेषि प्राप्नोषि ॥ हे चित्त, सानन्द परमानन्दित, सा नन्दनभूर्देवोद्यानभूस्तृणं ते भवति । अतश्च हे कल्याण, जनेन कल्याणगिरिः काल्याणं सुवर्णं तद्गिरिर्मेरुः क गण्यः । हे चित्त, उदस्तो दूरीकृतः कम्पत्रासो यया तादृशी इन्दुमौलेर्दीनदयालोरनुकम्पा कृपा ते तव जडतां तेजसा नुदति निवारयति ॥ हे साशङ्क आशङ्कायत्तचित्त, बालरवेर्बालादित्यस्याभा दीप्तिर्जम्बालजं पङ्कजं यथा मदयति, अदीनं सतरङ्गं नदीनं समुद्रं यथा नवचन्द्रिका मदयति, तथोच्चैर्महती अक्षामरक्षा अक्षामा महती रक्षा यस्याः सा तादृशी शंकरभक्तिस्त्वां मदयिष्यति आह्लादयिष्यति ॥ एतदेव पुनरपि समर्थयति—नो भोगिन इति । हेचित्त सातङ्क आतङ्कयुक्त, भोगिभिः भोगोऽमृततुल्यो विषयास्वादस्तद्युक्तैरर्चितस्तथा सातं कलयन् सुखमुत्पादयन् यः परमेशो भोगिनः सर्पान् वासुकिप्रभृतीन्नो जहाति । अलसत्वस्याऽऽलस्यस्यालयभूतं यद्दैन्यं तद्धरतीति तादृशोऽलसत्वालयदैन्यहारी सः शंभुस्त्वा त्वां पास्यति रक्षति । अशुभममङ्गलं च भवमरुभ्रमणोत्थमपास्यति दूरीकुरुते ॥ चक्कलकम् ॥ १८–२१ ॥

दोषप्रदोषेति, भावानुभावेति । यथा प्रदोषे रजनीमुखे प्रसृता, सेवारसे सक्ता निर्भरमतिशयेन रागिणी निर्भया च वारविलासिनी, अभिसारिका तिमिरे कामुकमभिसर्तुमायाति, तथा हे चित्त, दोषाः पददोषा अर्थदोषाश्च त एव प्रदोषा निशारम्भास्तत्र प्रसृतापि, निर्भरं रागो भक्तिरसो विद्यते यस्यास्तादृशी, निर्भया निर्निरोधा, सेवारसे सक्ता, माया अविद्यैव तिमिरं तत्र अभिसर्तुमभिसरणं कर्तुं या त्वामायाति, सा वाणी यथा बाला स्त्री भावस्य मानसविकारस्यानुभावस्तस्यानुगमस्तेन रूढा आश्रिता, अनेहसा कालेन, कण्ठोपकण्ठमुपगता कामुकं न विहास्यति । तथा नवं च तदालानं गजबन्धनं, तत्र गता बाला वशा करिणी भावानुभावानुगमेन रूढा आश्रिता कण्ठोपकण्ठमुपगता यथा करिणं न त्यजति, तथा भावस्य विवेकवैराग्योदितभक्ति-

रसस्यानुभावस्तस्यानुगमेन रूढा रूढिं प्रसिद्धिं प्राप्ता, कण्ठस्योपकण्ठोपगता सा न त्वां विहास्यति त्यक्ष्यति। सा तव साहाय्यकारिण्येव सदा भवतीत्यर्थः ॥ युग्मम् ॥ २२-२३ ॥

अधुना विभुं विनोदयति कविः—

दिव्येति। हे ईश, विशेषेणायता वितता कान्तिर्यासां ता व्यायतकान्तयो गौर्वाणी, गौरी पार्वती, शशिनः कला चन्द्रकला च, एतास्तिस्रो यदि ते दिव्या मनोहारिण्योऽद्भुतास्तिमिराभिधानं मोहान्धकाराभिधानं विघ्नं, यदि विघ्नन्ति विशेषेण घ्नन्ति, तर्हि तेनाहतेन तिमिरेणाहं किमुपद्रुतोऽस्मि ॥ २४ ॥

मुद्योगमिति। हे ईश, उद्योगं सर्वेषु कर्मसु बिभ्रति तादृशास्त्वदीया भक्ताः, मुद्योगं मुद आनन्दस्य योगो मेलापस्तं भजन्ते। तथा त्वदीया भक्ताः शं कल्याणं शंसन्ति, व्यञ्जयन्ति प्रकटीकुर्वन्ति, निर्विकल्पा निश्चिन्ताश्च सन्ति। तथा विपदो विपत्तेर्विभक्ताः पृथग्गताश्च सन्ति। अकस्मान्निर्हेतुरहमेव केवलं कस्मान्मग्नः ? विपदर्णवे इत्यर्थः ॥ २५ ॥

वाचामिति। हे विभो, नमतां भक्तिप्रह्वजनानां आचान्ता निःशेषीकृता शुक् शोको याभिस्तासामाचान्तशुचां तव शुभानां प्रशस्तानां वाचामोघाः समूहाः, मोघा निष्फलाः कदाचिन्न भवन्ति। हे स्वामिन्, अनाथमशरणं, कुदशा एवान्धकारस्तत्र लीनं मां कुलीनमग्रजन्मानं, वराकमुद्धतैर्यमभटत्रासविधायिभिस्तैरभयवाक्यसमूहैरुद्धर ॥ २६ ॥

कल्पान्तेति। हे ईश, यो जन संसारे रक्षामर्हति, कल्पान्तकल्पा प्रलयतुल्या अन्तकभीतिर्यमभीतिस्तया युक्तं तं जनं रक्षामि पालयामीत्यनेन प्रकारेण यस्ते तव नयो नीतिप्रकर्षस्तेनात्र संसारेऽप्यसमं त्रासं हरतीत्यसमत्रासहरा तां, प्रसन्नां निर्मलां, सदयां दृशं दृष्टिं, मे मम दिश देहि ॥ २७ ॥

कन्दर्पेति। हे कन्दर्प मदन, कं दर्पमहङ्कारमुपैषि। सहसा शीघ्रमेव। समस्तं सकलं बलं ते तवास्तं यातम्। हे भीरो मदन, अक्षोभा क्षोभरहिता रक्षा यस्य स तादृशोऽक्षोभरक्षः गभीरः, पुनः संजीवनात् उच्चैर्महान् भगवत्प्रसादः श्रीशिवप्रसादः, किं गलितः किं ते विस्मृतः। येन मयि दर्पं कुरुष इत्यर्थः ॥ २८ ॥

विद्यामिति। अनित्याशुच्यनात्मसु विपरीतज्ञानमविद्या। अहं तामविद्यामपि विद्यामेव जाने। तां कामित्याह—यया अविद्यया आराध्यमाराधनीयं, त्वां विभुमाराध्य, अहं सुखी भवामि, निश्रेयसं लभे। तथा सा मायापि मिथ्यामोहोऽपि मा मां कर्मभूतमुपैतु। सा माया केत्याह—यापिता दूरीकृता भीर्यया सा तादृशी या माया त्वां स्वामिनमर्चयितुं पूजयितुं तानवं तनुत्वं, न याता न गता। मायासान्निध्येन भगवदर्चनमपि सेत्स्यतीति भावः ॥ २९ ॥

रामेति। हे स्वामिन्, अभिरामा मनोहारिणी तथाभिमताभीष्टा च रामा रमणी भोगानां शब्दादिभोगनामुपभोगस्तमुपगतेन केन त्वदन्येनार्धे निजशरीरार्धे धृता। यथा त्वया श्रीपार्वती धृता, तथान्येन केन देवेन निजरामा शरीरार्धे धृतेत्यर्थः। तथाऽन्तकस्य यमस्यान्तकरी विनाशकारिणी दृष्टिर्लक्ष्मीधामानि शोभास्पदानि धामानि तेजांसि त्रीणि, सोमसूर्याग्निरूपाणि कस्य त्वदन्यस्य बिभर्ति। दृष्टिरिति जातावेकवचनम्। तवैव दृष्टिः शोभास्पदानि त्रीणि धामानि बिभर्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

क इति। हे विभो, स्तम्भनिभस्य त्वच्छापेन स्तम्भसदृशस्य जिष्णोरिन्द्रस्य कः स्तम्भकस्त्वां विना। नान्य इत्यर्थः। तथा तापकृतो जगत्त्रयतापकस्य स्मरस्य पञ्चेषोः कोऽन्यो देवस्तापको दाहकः। तथा कारानुकारानुभवे कारागृहसदृशप्रभावेऽस्मिन्भवे संसारे जीवभृतां देहिनां जीवकस्त्वां विना को भवति। नान्यः कश्चिदित्यर्थः॥ ३१॥

येति। या तनुर्धन्या शंसया स्तुत्या शंभुभक्तिं शंसति व्यनक्ति। तथा या च तनुः स्मरस्य कामस्येष्टास्वभिमतासु चेष्टासु रतिं सक्तिं शंसति। तामक्षतामखण्डिताम्। तनुं शरीरम् अक्षयो निर्विनाशः पुण्यान्येव कोषो यस्य स तस्मादक्षयपुण्यकोषात्सुकृतिनोऽन्यः को वदन्यो दाता वहते धारयति। अनेकप्राग्जन्मोपार्जितसुकृतपरिपाकेनैव तादृशी तनुर्भवतीत्यर्थः॥ ३२॥

येति। हन्त कष्टे। हे विभो, अभङ्गमनश्वरं मानं जनयन्ती उत्पादयन्ती। मानिनीत्यर्थः। या वाक् अहन्तया दर्पेण, नृपेऽपि राज्ञि अपि, अवज्ञाम् आनञ्ज प्रकटीचकार। हा कष्टे, सैवासौ वाक् निःसरणेऽपि बहिर्निर्गमनेऽप्यसहा। भक्त्या, भक्त्युत्कर्षेण, ते तवान्तिकं समीपमागमत्॥३३॥

अथातोऽस्य स्तोत्रस्योपसंहारार्थं वृत्तद्वयमाह—

देवमिति। तुष्टा संहृष्टा, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण यमकैर्यमकालंकारैः। 'स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्' इति सर्वस्वे राजानकरुचकः। महेशं परमेशं देवं यत्तुष्टाव। कथम्। अवसरे उचितमवसरोचितम्। अयं प्रसादोऽनुग्रहः, शस्यस्तुत्यः, यशस्यो यशसि साधुश्च नोऽस्माकमेनोभिदे पापक्षयायाभिमत इष्टश्चास्मान्महेशादुपस्थितः समीपं प्राप्तः॥ ३४॥

तरलेति। तरलतरं यल्लताग्रं तत्स्पर्धते तादृशी तरलतरलताग्रस्पर्धिनी, अतिचञ्चलापि श्रीः, रतिकान्तध्वंसिशंसारतानां स्मरारिस्तुतितत्पराणां पुंसाममन्दानन्ददा महानन्दप्रदा, रुचिररुचिः रम्याभिप्राया सती चञ्चलत्वं मुञ्चति, शिवभक्तिरतानां गृहे लक्ष्मीरतिस्थिरैव वसतीत्यर्थः। तथा स्मरारिस्तुतिरतानां वक्त्रपद्मे मुखाब्जे च मधुरो यो मधुरसः क्षौद्ररसस्तत्तुल्यं भक्तिरसामृतं तेनार्द्रा भारती वाणी चरति विहरत इति शिवम्॥ ३५॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठ-विरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां पादादियमकस्तोत्रं नाम षड्विंशम्।

सप्तविंशं स्तोत्रम्

अथातः पादमध्ययमकाख्येन चित्रकाव्यभेदेन सप्तविंशं स्तोत्रमारभमाण आह—[1]

जयतीति। संयति संग्रामे संगतश्चासौ पाण्डवोऽर्जुनस्तस्य प्रहरणान्यायुधानि तेषामाहरणे निश्चेष्टीकरणे आहितं कृतं कैतवं छद्म येन सः। तथा तरुणो युवा, दारुण उद्भटो यो दाशः किरातस्तस्येव वपुः शरीरं यस्य सः। अर्जुनानुग्रहाय धृतकिरातरूप इत्यर्थः। तथा धृतं स्थिरं यशो येन सः। तथा रयेण वेगेन शालन्ते तच्छीलाः शरा इषवो यस्य सः, एवंभूतो हरः श्रीशिवो जयति सर्वोत्कृष्टो वर्तते॥ १॥

भुवनेति । भुवनानां शिवादिक्षित्यन्तानां पावनाः पादाश्चरणा यस्य स तादृशम् । तथा मघवता इन्द्रेण महातेजस्विनाप्यधर्षितमपराभूतम् । तथा अघवतां पापिनामपि सस्पृहं, तैरपि स्पृहणीयम् । तथा मुनीनां या जन्यः स्त्रियस्तासां या निजा नीतिः स्वशीलसंरक्षणरूपा तस्याः परीक्षणे परीक्षायां धव एव धवलः कामुकस्तस्य केवलं केलिः क्रीडा तां करोतीति तादृशं श्रीशिवं वयं स्तुमः । 'जनौ लोकपृथग्जनौ । जनी वधूः' इति मङ्खः ॥ २ ॥

स्थिरमिति, शमिष्विति । वयमेवंविधमधीशं त्रिजगत्प्रभुमुपास्महे सेवामहे । अधीशं कम् । अगात्मजया पार्वत्या श्रितमगारं गृहम् । आरोपः । अगारं कीदृशम् । स्थिरम् । अपिशब्द आर्थः । पार्वत्या सदा श्रितमपि स्मरविकाराणां वियोगिदशावस्थारूपाणां यो विकासस्तस्मात्पराङ्मुखं विमुखम् । भुजगराजेति । अत्राप्यपिशब्द आर्थः । भुजगराजानां वासुकिप्रभृतीनां यो गरो विषं स एवाग्निस्तस्य या शिखानां ज्वालानामावली सैव विषमः क्रूरो वेषो नेपथ्यं यस्य स तादृशमपि न वेपथुं कम्पं ददातीति तादृशम् । अभयंकरमित्यर्थः । तथा अधीशं किंभूतम् । वरमुत्कृष्टम् । तथा अघोरं त्रिजगदुद्धरणाय धृतसकलरूपं परमशिवं, शमिषु जितेन्द्रियेषु कामिषु सांसारिकजनेषु कारुणिकेषु सत्त्वगुणभूयिष्ठेषु अघोपशमने दोषोपशमने पापोपशमने क्षमस्तम् । घना भूयसी या विपन्नानां विपत्पतितानां विपत्तस्या निधनं विनाशस्तत्र परम उत्कृष्टश्चासौ धीरस्तादृशम् । युग्मम् ॥ ३–४ ॥

श्रुतेति । बत आश्चर्ये । अघनाम अघं पापमिति यस्य नाम तत्तादृशं घनश्चासावामयो जन्मजरामरणत्रासरूपस्तस्मादुत्पन्नं वैशसं दुःखं यद् भवति, तद् दुःखममृतेशममृतेश्वरभैरवरूपं श्रीमृत्युञ्जयमृते विना, श्रुतनयाः श्रुतः साक्षादवधारितो नयो नीति-शास्त्रं यैस्तादृशास्तनयाः सुताः किं शमयन्ति । देहिनामितिशेषः । नैव शमयितुं समर्था इत्यर्थः । तथा योगिनामष्टाङ्गयोगविदामपि मनांसि हरन्तीति तादृश्यो योगिमनोहृतस्तनुमध्यमाः कृशोदर्यो युवतयस्तरुण्योऽपि श्रीशंभुं विना तद् दुःखं किं शमयन्ति ॥ ५ ॥

नेति । हे हरिणाङ्कशिखामणे चन्द्रमौले, हरिणा विष्णुनापि पुरा पूर्वं तव वपुः शरीरमनलस्कन्धरूपं नाममृशे नाज्ञायि । तस्यान्तो नावगत इत्यर्थः । तथा विधिना शास्त्रोक्तेन सपर्यता सेवां कुर्वाणेन । 'नमस्यता' इति पाठे नमस्कुर्वाणेनापि विधिना ब्रह्मणा 'तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः' इत्याख्याने पुरा पूर्वं तव वपुर्नाममृशे नाज्ञायि, वयं तु क नु भवामस्त्वत्स्तुतिविधाने । किंभूता वयम् । भवानुभवेन भवस्य जन्मनोऽनुभवस्तेनावृतं चेतो येषां ते तादृशाः । मायावरणावृतमनस इत्यर्थः ॥ ६ ॥

चतुरेति । हे विभो, प्रभवता प्रभुणा भवता हिते शुभदृष्ट्यंशनिपाते विहिते कृते सति, एतानि वस्तूनि कमलामलां कमलया लक्ष्म्या अमला रम्या तां दिशं मार्गं प्रतिदिशन्ति वितरन्ति संदर्शयन्ति च । एतानि कानीत्याह - चतुरगा इत्यादि । चतुरं शीघ्रं गच्छन्ति चतुरगाः शीघ्रगा अश्वाः । तथा नगाद्विन्ध्याद्रिप्रभृतेः पर्वताज्जाता नगजा हस्तिनश्च । तथा स्थिरं दृढमनन्यतोगामि उदारं महत् उदात्तबलं महाबलयुतं बलं सैन्यं च । 'दिगुपाये निदर्शने । मार्गे ककुभि च स्त्री स्यात्' इतिमङ्खः ॥ ७ ॥

द्विजेति । शुभरत इति । यं भवदीयानुग्रहं समवाप्य द्विजानां ब्राह्मणानां वसिष्ठविश्वामित्रप्रभृतीनां यः समाजस्तस्य यः समाधिः, परमात्मन्येकाग्रचित्तत्वं,

तस्य यत्कदर्थनं भङ्गस्तत्र प्रवगः सक्तो यो रावणो दशमुखस्तस्य यद्राज्यं तस्य हृतौ हरणे कृती निपुणः । वनतः काननतः । कानने स्थितोऽपीत्यर्थः । रणयोग्यबलः रणे सङ्ग्रामे तादृशेन वैरिणा सह युद्धे योग्यं बलं यस्य तादृशो भरताग्रजो रामभद्रोऽभवत् । किंभूतो भरताग्रजः । तव विभोश्चरणयोश्चरणकमलयोरवनतः प्रणतः । तथा हे तमीपतिशेखर चन्द्रमौले, ईश श्रीशिव, यं भवदीयानुग्रहं स्थिरं दृढम् ,अनुग्रमनुद्भटं मङ्गलदायिनं प्रसादं समवाप्य, शुभकर्मणि अग्रजं विना, राज्यग्रहणरूपे रतो भरतो रामानुजोऽपि द्विषतां शत्रूणां यो गरिमा गुरुत्वं तद्धरतीति तादृशं महस्तेजो यस्य स द्विषद्गरिमहारिमहा अभवत् , तमनुग्रहं प्रसादं मे मह्यं दिश देहि, त्वम् एहि ॥ ८–९ ॥

भृशमिति । हे हर सकलपापहर, भृशमत्यर्थमनीशमनाथम् । तथा अनीतेः कुनीतेः पन्थास्तत्र स्थितम् । मदवशादहंकारवशात् , अवशान्यनायत्तानि अक्षाणीन्द्रियाणि यस्य स तादृशम् । तथा उपप्लुतमुपद्रुतम् । वैरिभिः कामक्रोधादिभिराभ्यन्तरैरित्यर्थः । तथा तीव्रशुच-मत्युत्कटदुःखम् । मां हितवती सदा हितकारिणी, तव विभो रुचिरभिप्रायापरपर्याया । अहरहः प्रत्यहं किं न हर्षयते आनन्दयते । एतादृशं मां दृष्ट्वानुग्रहे रुचिं कुर्वित्यर्थः ॥ १० ॥

कुशलेति । हे मदनशादन मदनं शादयति विशृणाति मदनशादनः । 'षद्लृ विशरणे' धातुः । तस्य संबोधनम् । कुशलेन पेशला पेलवा दृग् यस्य स तादृशः । कल्याणमधुरसैः सनयानां नीतिमतामार्तिर्भवार्तिस्तं हरतीति तादृशा सनयार्तिहृता रसनया जिह्वया अमृतं पीयूषं वमन्नुद्गि-रन् मुञ्चन् । 'टुवमु उद्गिरणे धातुः' । त्वं संपदां मोक्षलक्ष्मीनामपदम् , अस्थानम् । आपदं जन्मजरामरणरूपां विपदम् आश्रितं, मां दीनं सान्त्वय आश्वासय । त्वमेहि ॥ ११ ॥

कथमिति । मदनं कामं मर्दयति तस्य संबोधनं हे मदनमर्दन कामदहन । तथा भुवनानि शिवादिक्षित्यन्तानि भावयति, तस्य संबोधनं—हे भुवनभावन । हे शंभो, अनागसं निरपराधं मां दीनम् , अन्तिके समीपे किं न मर्षयसे किं न सहसे । त्वया दीनदयालुना बिना जगति त्रिजगति, अगतिकानामशरणानामुद्धरणे क्षमः शक्तः को भाति राजते ? न कोऽ-पीत्यर्थः ॥ १२ ॥

यदीति । हे कृपापर दयापरायण । परुषे रूक्षे पापरतस्य पापिनो मे आशये हृदये, पदं स्थानं यदि न कुरुषे, तर्हि हे हर शंभो । 'अम रोगे' धातुः । अमो रोगस्तं हरतीति अमहरा संसारामयहारिणी, कतमा का हिततमा अत्यन्तहिता, गतिः कलुषात्मनो मलिनाशयस्य मम घटते मिलति ॥ १३ ॥

स्थिरविभेति । यथा स्थिरविभा दृढदीप्ती रविभाती रवेः सूर्यस्य भानं रविभातिः सूर्यदीप्तिर्यथा असमम् अनन्यसामान्यं तमोऽन्धकारं दमयति, तथैव स्थिरप्रभा, उन्मदमुद्भटं मदमयमहङ्काररूपम् , अनन्यसामान्यं तमोऽज्ञानरूपं दमयन्ती, तव दया कृपा, न चेदुदयं याति, हे परमेश, त्वं वद, भवः संसार एव तमी रात्रिरज्ञानस्वरूपतमोवृतत्वात् कथं मे मीलति, सङ्कुचति । दूरं गच्छतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

रजनीति । दिवीति । तनुकृशान्विति च । हे शिव, रजनिराजस्य चन्द्रस्य निराकरणं हीनकान्तित्वसंपादनरूपं तत्र क्षमः समर्थः । तथा क्षतो बाधितो निशातस्तीक्ष्णो निशातिमिरस्य रात्र्यन्धकारस्योत्करः समूहो येन स तादृशः । तथा कृतं विभातं प्रभातं येन स

तादृशो यो विभाभरो दीप्तिसमूहस्तेन भास्वरो दीप्तो दिनकरः सूर्योऽभ्युदयं यदा न करोति ॥ तथा हे कृपापरमते शंभो, वियदाभरणं नभोऽलङ्करणं सुधाकरश्चन्द्रो दिवि गगने यदा न रमते। तथा चिरापतितं स्थिरं दृढमपारं च तमो ध्वान्तं शुचिरग्निर्यदा न अपाकुरुते ॥ अजातघृणो निर्घृणो मिहिरजस्य रविजस्यान्तकस्य, अहिः सर्पः पाशरूपस्तनुश्चासौ कृशानुरग्निस्तद्वत् कृशा, तादृशीं तनुं यदा ग्रसते। हे शिव विभो, तदा त्वदितरः कः करुणापरो दयालुर्मे ममाशरणस्य दीनस्य, धृतिं धैर्यं दास्यति ॥ तिलकम् ॥ १५, १६, १७ ॥

निधनसाधनेति। हे विभो, निधनसाधनं मरणनिमित्तं, सान्द्रं घनं लसद् यद् विषं तदेवानलस्तेन करालः, करेण आत्तो गृहीतो महानुरगो फणी येन स तादृशो यमो, भवति त्वयि स्वामिनि सस्पृहे स्निग्धे दयापरे सति, मनागीषन्नियमनाय नियन्त्रणार्थं मम धाम गृहं कथं धावति। मदीयं गृहं कथमायास्यतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

पलितेति। हे ईश स्वामिन्, पलितेन जरसा शौक्ल्येन मीलितं सङ्कुचितमपि चतुरं शीघ्रं निजोद्रेकेणातुरं मम वपुः शरीरमारचयन् कुर्वन् स्मरः कामः, घनबले महाबले त्वयि विभौ अनवलेपे स्पृहायां दयायां परे सति, भविनां देहिनां तापं करोतीति भवितापकरः कथं प्रभविता? समर्थो भविष्यति ॥ १९ ॥

किमधुनेति। मधुना वसन्तेन सख्यापि युतः। तथा अभीतिं भयरहितामभीष्टतमामपि प्रियतमामपि रतिं वहन्, अधुना इदानीमवन्ध्यबलं महाबलं जगत्प्रसिद्धम् अवन्तं परिपालयन्तं विभुं जगदीशं शंभुमाश्रितं शरणार्थं गतं मां स्मरः किं जयति? कथं जयतीत्यर्थः। किंभूतः स्मरः? यतिमानहरः यतीनां संयमिनामपि मानं गर्वं हरतीति तादृशः ॥ २० ॥

विषमरोषेति। हेस्वामिन्, अनीक्षितः सन्मार्गो यया तादृशीं अनीतिं, नीत्या नयेन रहितां, मतिं बुद्धिं विषमो यो रोष एव मरुर्निर्जलो दुरध्वा, तस्य पथि मार्गे पातयन्, तथा भृशमत्यर्थं नियमं शमयन्नयं मदोऽहङ्कारस्तव स्वामिनः पुरोऽग्रे वपुः शरीरं भवद्भक्तस्य मे कथमोषति दहति। 'उष दाहे' धातुः ॥ २१ ॥

ममेति। हे विभो, निकाममत्यर्थं निकारं कुर्वन्तीति तादृशः। तथा अवार्या न वार्या, वारणीया, रुट् रोषो येषां ते तादृशाश्च, अरयः आभ्यन्तराः कामक्रोधादयो रिपवो मम भवद्भक्तस्य वपुर्वृथा अवापुः। अत्र हेतुमाह—हि यस्मात्कारणात् आहितो विहितो दाहो यस्य तन्मम वपुर्न अदन्ति भक्षयन्ति। अत्रापि हेतुमाह—नतेषु भक्तिप्रह्वेषु तव विभोर्धीः, हितावहिता हितकरणेऽवहिता सावधाना भवति ॥ २२ ॥

यदि विभेति। हे परमशिव, तावकी तव त्रिधामनयनस्येयं विभा परज्योतिरूपा वा दिवि गगने बाह्याकाशे हृदयाकाशे च यदि न विभाति। तथा भवान् सर्वव्यापी यत्र तद्भवन्मयम्। प्रायुर्चे मयट्। दिनं प्रकाशमयं मम यदि न एति प्रकटीभवति। त्वं वद, महान्दमः शमस्तं हरतीति महादमहारि। तथा विषमा दोषा मायावरणजा, अप्रकाशादयश्च यत्र तादृशं अद एतत् तमोऽज्ञानाख्यं ध्वान्तं च कथं मे विनिवर्तते निवृत्तिमेति ॥ २३ ॥

कमलिनीति। हे दलालो स्वामिन्, कातरेषु शरणागतेषु काममभिलाषं दुग्धे, इति कातरकामदुघा तादृशीं दृशं, चन्द्रार्काग्निरूपत्रिधाममयीं वितर देहि। एतत्त्रिधाममत्वं क्रमाद् वक्ति—कमलिनीत्यादि। तां दृशं काम्। यया दृशा वामभागस्थया इन्दुरूपया कमलिनी

मलिनी क्रियते सङ्कोचमापाद्यते। तथा या दृग् दक्षभागस्था मिहिरमयी, विहतं निश्चेष्टीकृतं सन्ततं सदैव सन्तमसं ध्वान्तं यया सा तादृशी भवति। तथा यत्र तृतीयस्यां ललाटस्थदृशि दहनमय्यां भवता प्रभुणा स्मरस्य कामस्य चिता दहनार्थं चिती रचिता कृता ॥ २४ ॥

तुहिनेति। हे विभो, गुणेष्वनुगुणा, अनुरक्ता, तव नुतिगीः स्तुतिवाग् यथा मनो रञ्जयति, सहसि हेमन्तर्तौ तुहिनवाहिनवानिलजे प्रालेयवाहिनव्यानिलजाते रंहसि वेगे, उरसि उरस्थले, रसिका संसक्ता कोष्णकुचा प्रिया वरनारी मनश्चित्तं तथा न रञ्जयति ॥ २५ ॥

अयमसाविति। अयमेतादृग् भवति अर्थादहमेव। असौ च महेश्वर एतादृग्, रतिमेत्य प्रीतिमेत्य मे मम पुरः स्फुरति। उभावपि विशेषणैर्विशिनष्टि—अयं मल्लक्षणः कीदृशः। यमानामहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाणां सौष्ठवं सुष्ठुभावं हरति तादृशः। तद्वर्जित इत्यर्थः। तथाऽयं मल्लक्षणः कीदृशः। विधुरा आपदा दीना बन्धवो यस्य तादृक्। पुनःकिंभूतः। अबन्ध्यपरिग्रहः। अबन्ध्यः सफलः ससन्तानत्वात् परिग्रहो दारा यस्य स तादृक्। असौ महेश्वरः। किंभूतः। यमसौष्ठवहृत् यमस्य, अन्तकस्य सौष्ठवं शौटीर्यं हरति दाहकत्वात्तादृशः। पुनः किंभूतः। परुषपौरुषपौष्टिकचेष्टितः। परुषं पौरुषेषु महोग्रेषु स्वभक्तेषु पौष्टिकं चेष्टितं यस्य सः। पुनः किंभूतः। विधुराणां दीनानां, बन्धुराश्वासकः। पुनः कीदृशः। अबन्ध्यः सफलो मनोतिगवरप्रदानात् परिग्रहो ग्रहणं सेवालक्षणं यस्य स तादृक्। अर्थात् प्रभुसेवकयोर्मेलापो युक्तो जात इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अनिधनेनेति, अभिनवेनेति। यः पुमान् धन्यः, उदारा मुत् प्रमोदो यस्य स उदारमुत् सन्, अभिनवेन नूतनेन नवेन स्तवेन श्रीशिवस्य स्तुतिमारभते, स नरोऽनिधनेन निर्विनाशेन धनेन वित्तेनोपलक्षितो वर्धते। तथा मनस्विनामुदारचित्तानामनुगुणेन, अनुकूलेन गुणेन विक्रमादिना गरीयसाऽतिगुरुणोपलक्षितो वर्धते। तथा अभिजनेन कुलेन जनेन परितः च वर्धते। तथा सुदुष्कृतैः पातकैरशबलेनाकलुषेण बलेन चोपलक्षितो वर्धते। तथा यः श्रीशिवस्य स्तुतिमारभते अवहितस्य सावधानचित्तस्य तस्य पुरुषस्य धन्यस्य। हि निश्चयेन। विभवदो वैभवप्रदः, तथा भवस्य संसृतेर्दोषं पुनःपुनरागमं हरतीति तादृक् हरः श्रीशिवः शं कल्याणं तनोति ददाति ॥ २७–२८ ॥

स सकलास्विति। यः सुकृतवान्पुण्यवान् धन्यात्मा शशिखण्डशिखण्डं चन्द्रमौलिमृतेऽपरस्यान्यस्य स्तुतिं न कृतवान्, स नरः सकलासु सर्वासु कलासु नृत्तगीतहास्यादिषु विचक्षणो निपुणः। तथा मतिमान् बुद्धिमान् अतिमानसमुन्नतोऽत्यर्थं मानेन गर्वेण च समुन्नतो भवति ॥ २९ ॥

रविरहो, इति। प्रभोः श्रीशंभोः स्तुतिभिः प्रातरुत्थाय विहिताभिर्हेतुभी रविणा सूर्येणासन्तमसं निरन्धकारं तथा अविषादविषाभिभवं विषादो दुःखमेव विषं गरलं तेनाभिभवः पराभवः, अविद्यमानो विषादविषाभिभवो यस्य तत्तादृशं च जगद् विहितम्। ततो हेतोः, अहो इत्याश्चर्ये। विरहोद्धरणात् रात्रौ यो विरहस्तदुद्धरणात् रथपक्षिणाम्, रथशब्देन तदेकदेशो रथाङ्गं गृह्यते, तथा रथाङ्गनाम्नां पक्षिणां चक्रवाकाणां मुदे रविः सूर्य उदेति। किं कुर्वन्। तेभ्य एव धृतिं सौख्यं दिशन् ॥ ३० ॥

विनयेति। प्रभोः श्रीशंभोः स्तुतिवीरुधः स्तुतय एव वीरुधो लताः, इति फलं प्रति-

फलन्ति ददति । इति किमित्याह—श्रीशंभुस्तुत्या विनयेन शोभते तादृशं मनश्चित्तं यशसि दानोत्थेऽभिरतं लीनम् । तथा विमला निर्मला सती मतिः परहितारहिता परहितानुकूला भवति । तथा श्रीशिवस्तुत्या अङ्गं च विपुलमङ्गलं विस्तीर्णमङ्गलं भवति ॥ ३१ ॥

जितसुधारेति । शोभना धारा यस्य सः सुधारः, जितः सुधारः सुधारसोऽमृतरसो येन स तादृग् यो भारतीविभवो वाक्प्रपञ्चस्तस्य संभव उत्पत्तिस्तेन संभृता पूरिता कीर्तिर्येषां ते तादृशाः सुकृतिनः पुण्यवन्तः कृतिनो धन्याः कवयो निपुणकविकर्मकुशला बुधा विपश्चितश्च विबुधाधिपैरिन्द्रादिभिर्वन्दितं शिवं परमेशं स्तुवन्ति ॥ ३२ ॥

न महतामिति । मधुराण्यत्यन्तमाधुर्यधुर्याणि साधुरसानि शोभनभक्त्यमृतरससिक्तानि आर्द्राण्यत्यन्तकोमलानि पदानि यस्यां सा तादृशी । तथा सयमका सह यमकैर्यमकाख्यशब्दालङ्कारैर्वर्तते या तादृशी च । यमकामरिपुस्तुतिः कालकामदाहकृतः श्रीशंभोः स्तुतिर्यथा महतां सचेतसां मदयित्री भवति, तथा अहता अप्रतिघा अमला स्वच्छा संविज्ज्ञानं येषां तादृशानां महतां महाशयानां दयिताधिगमः मदयिता आनन्दयिता न भवति ॥ ३३ ॥

इदानीमस्य स्तोत्रस्योपसंहारार्थं वृत्तमाह—

का नामेति । करिणां हस्तिनां पुङ्गवः प्रशस्तः करी गजासुरस्तस्यान्तो विनाशस्तस्य हेतुस्तं, तथा श्रीर्लक्ष्मीः शोभा च विद्यते यस्य स तादृशं श्रीमन्तमन्तकरिपुम्; अन्तकान्तकरं श्रीशंभुं स्तुवन्तं पुरुषं धन्यं अवधूतकान्ता सन्त्यक्तनिजकामुका । नाम निश्चये । का न अमरवधूः अप्सरा एति भजते । कथम् । अविरामो निरवसानो विरावः शब्दो यत्र तथा । सदूराह्वानमित्यर्थः । तथा रजनीपतिश्रीः शारदेन्दुधवलाङ्गी तथा कान्ता रमणीया नरस्य जनी वधूः मर्त्यस्त्री का न तं श्रीशंभुस्तुतिपरं नैति न भजते । अपि तु सर्वा एवेति शिवम् ॥ ३४ ॥

इतिश्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठविरचितायां लघुपञ्चिकायां

पादमध्ययमकस्तोत्रं सप्तविंशम् ।

अष्टाविंशं स्तोत्रम्

अथेदानीं शब्दालंकारभेदपादान्तयमकस्तोत्रमष्टाविंशमारभमाण आह—

अन्त इति । कया न शङ्कया जन्मजरामरणत्रासोत्पन्नया मम चेतस्यन्तर्निर्वृतिः सन्तुष्टिर्नाशं न गमिता प्रापिता । तेन हेतुना संहृता संकुचिता गतिर्यस्याः सा संहृतगतिः । 'संहृतिमती' इति पाठे संकोचयुक्ता, एषा मम भारती वाणी शोभा च रतिस्तुष्टिश्चेति कर्मभूते न पुष्यति । तर्हि मौनं विधाय स्थीयतामित्याशङ्क्याह—भक्तिरित्यादि । किन्तु पक्षान्तरे । भास्वतः सूर्यस्य यथा आभा प्रभा स्वतो विजृम्भते, तथा ममापि भक्तिर्वाङ्मनःकायैस्तद्ध्यानासक्तिर्विजृम्भते विशेषेणोल्लसति । अतो हेतोर्यादृक्तादृगुच्चावचं संप्रतीदानीमहं प्रत्यहं प्रतिदिनं किमप्यभिदधे प्रलपामि ॥ १ ॥

वक्त्रमिति । हे दयालो, अदभ्रा घना दीर्घा दहनज्वाला अग्निशिखा यस्य त तादृशं

वक्त्रं मुखं बिभ्रत् । तथा प्राणिनां भयं लम्भयन् । तथा घनं दृढं लङ्घनमुल्लङ्घनं विदधत् कुर्वन्तम् । उद्ग्रीवमुत्क्षिप्तग्रीवं व्यालं कृष्णभुजगं करे घटयन्मृत्युर्यमो मां प्रत्यासीदति समीपमागच्छति । इत्यनेन प्रकारेणोपचितः स्फारः पारिपूर्ण्यं तत्रोचिता युक्ता तादृशीं रोचितां शोभितां, तथा चित्रा शब्दालंकारभेदचित्रयमकादियुक्ता चासौ आयता दीर्घा च तादृशीं चित्रायताम्, इमां मदीयां गिरं श्रुत्वा विभुः स्वतो दयालुर्मा कथं न त्रायताम् ॥ २ ॥

मन्ये तामिति । हे विभो, यत्र यस्यां यामिन्यां रात्रावुपान्तगतं निकटे द्वारोपान्ते स्थितं तं नन्दिनं नन्दिरुद्रं द्वारपालमानन्दिनं सानन्दं कुर्वद्भिरुचितैर्वचोभिर्जगत्त्रयाणामीशस्य प्रभोस्ते चरितं त्रिपुरदाहाद्यवदानकर्म सुचारु शस्यते स्तूयते, तां यामिनीं रात्रिं स्पृहणीयो गौरवगुणः पूज्यत्वं महत्त्वं च यस्यास्तां तथायामिनीं सविस्तरां च धन्यां मन्ये । तथा यत्र दिने पूर्वविशेषणविशिष्टैर्वचोभिर्जगदीशस्य तव चरितं स्तूयते, तद्दिनं सुधासंवादिनममृतसहोदरं सेवारसमादधत्कुर्वत् दिनं वा दिनं च । वाशब्दश्चार्थे । दिनं तदेव मन्ये ॥ ३ ॥

तस्येति । हे विभो, येन धन्येन भवभयात्संसारत्रासात् त्राता रक्षिता । तथा हृदयाम्बुजे हृत्पद्मे उषितः स्थितः । 'वस निवासे' धातुः । त्वं विभुस्तोषितस्तस्य कृतिनः सदःसदां सभासदां विदलितग्लानिः खण्डितभवमरुभ्रमश्रमस्तादृशः । तथा परिणमत्पाकः प्रौढतोम्भितः अमलः स्वच्छः कोमलो माधुर्यगुणयुक्तश्च निर्भरो घनो वाचां भरस्तस्यैव वक्त्रसरोरुहे मुखपद्मे उदेति । महाकविधुर्यः स एव भवति । तथा येन च त्वं विभुस्तोषितः । किं च पक्षान्तरे । विभवैराभासिता शोभिता तथा आभया दीप्त्या सिता शुभ्रा च लक्ष्मीस्तं न जहाति ॥ ४ ॥

सेव्यन्त इति । हे भगवन्परमेश, यैर्धन्यैस्त्वदेकविषया त्वमेव विभुरेको विषयो गोचरो यस्याः सा तादृशी शेमुषी । 'शेते मनसि इति शेः, मोहस्तं मुष्णाति । मूलविभुजादित्वात्कः । गौरादिङीष् । शेमुषी । इति कौमुदी ।' इति रायमुकुट्याम् । शेमुषी बुद्धिः । शेमुषी शमप्रधाना । आबाल्याद् बाल्यावस्थामारभ्य विदधे कृता, ते त्वद्भक्तजनाः संमदं प्रहर्षं बिभ्राणाः कलितोल्लासं धृतोत्कर्षं मदं, वयं मानिन्यः कमनुयाम इति गर्वमपास्य दूरीकृत्य, मधुरव्याहारिणा मधुरभाषिणा हारिणा हरति मन इति हारी, तादृशेन मुक्ताहारवता वा, तरुणीजनेन प्रमदाजनेन सेव्यन्ते । तथा । किं च पक्षान्तरे । त एव जना दिवि स्वर्गे चन्द्रप्रभारम्यैश्चामरैर्बालव्यजनैश्च करणैरमरैर्देवैः कर्तृभिः सेव्यन्ते ॥ ५ ॥

तूर्णमिति । हे ईश्वर जगदीश, उचण्डा या भ्रुकुटी तया करालितं मुखं यस्य स तादृग्यमभटस्तूर्णं शीघ्रं वपुः शरीरं प्राणिनां चूर्णयितुं झम्पारयमुत्प्लुतिवेगं पारयन् संपादयन् यत्र नरकभूमौ असकृद् बहुवारं त्रासकृद्भयकारी भवति, तां भूमिं महासंकटावनिं परिहर्तुं दुःखानां संसारजानां बाधनं दूरीकरणं भवत्सेवाधनमधिगम्य प्राप्य, कुमत्या दुष्टवासनया प्रादुष्कृतं प्रकटीकृतं दुष्कृतं पातकं हन्मि निश्चेष्टीकरोमि ॥ ६ ॥

मुञ्चद्भिरिति । हे विभो, कृता महती जृम्भा वक्त्रविकासो यैस्ते तादृशैः कृतमहाजृम्भैः । तथा भैरवमुग्रं रवं निनादं मुञ्चद्भिर्यमकिंकरैर्यमदूतैः क्रोधेन घुसृणक्षोदवत्कुङ्कुमचूर्णवदरुणमाननं मुखं यावन्न मे दर्शितम् । हे विभो दयालो, तावदेव सत्वरमेहि । या तव दृग् निरन्तरं सुधासन्दोहदं पीयूषसन्दोहप्रदमभिलाषं दूरीकुरुते, तां दृशं दृष्टिं ईदृशीं देहि । दृशं किंभूताम् । महसां सूर्येन्द्वग्नीनां धाम स्थानम् ॥ ७ ॥

यावदिति । हे भगवन् , दुःसहा या वह्निहेतयोऽग्निज्वालास्ताभिर्विहिता स्फीता आपद्यस्मिन् स तादृशं जन्तूनां देहिनां तापदं संतापप्रदम् । तथा सदा सर्वदा सदाहं सह दाहेन वर्तते यः स तादृशं, नरकं यावन्नाहं भजे तावदेव वचो वचनामृतं मुञ्च । वचः किंभूतम् । सञ्जीवनम् । कथम् । यथा मरुपथे निर्जलदूरप्रदेशे धावतां बाधावतां पीडावतां तथा भीष्मेणोग्रेण ग्रीष्मेण निदाघेन कदर्थ्यमानं व्यथमानं वपुर्येषां तादृशां जनानां जीवनमुदकं सञ्जीवनं यथा भवति तथा ॥ ८ ॥

न्यस्तमिति । हे भगवन् , गाढमुद्वेगविधायिनी या अहन्ता अहमित्यस्य भावः । सतां साधूनां सायासतां सक्लेशतां घटयते, तया अहन्तया अहतोत्साहं न हत उत्साहो यस्य तत्तादृशमिदं मनो येन धन्येन पुंसा त्वयि विभौ विषये न्यस्तं, तं कृतिनं सुरं देवं, भासुरं देदीप्यमानं, विलासेन विकसन्ती शोभा यस्याः सा तादृशी । दिव्यस्त्रीजनता अप्सरोजनसमूहः । सुमनसां देवानामानन्दने आनन्ददायिनि देवोद्याने भोगैर्नानाविधैरुपसेवते ॥ ९ ॥

यस्येति । हे भगवन् , विवेकस्य विहितो ह्रासो नाशो यया सा विवेकविहितह्रासा । तथा विलासेनाबिला । तथा विगलन्ती स्खलन्ती वाग्यस्मिन्स तादृशेन विगलद्वाचा । तथा चारुणा रम्येण मदिरामदेन अरुणा । यस्या रामायाः कामिन्या मुग्धा रम्या दृक् धृतिं धैर्यं हन्ति दूरीकरोति । हन्त कष्टे । सा रामा कामिनी येन मोहेन उपरमन्ती तापस्य प्रथा विस्तारो यस्मिंस्तादृशे मनस्यज्ञानमयं तमोऽन्धकारं पप्रथे विस्तारितं, तं मोहं सा रामा मेऽर्पयति । मोहं किंभूतम् । कामस्य महास्त्रम् ॥ १० ॥

लज्ज इति । हे विभो, अहमेतामहन्तामहंभावमहंकारं बिभृतवानस्मि । एतामहन्तां कामित्याह—यया अहन्तया कारणभूतया सम्यङ्मूढेन मया एवंप्रकारेण बन्धुता बन्धुसंहतिर्धुता विशेषेण त्यक्ता । एवं कथमित्याह—अहं लज्जे जिह्रेमि । त्वां दृष्ट्वेति शेषः । अतस्त्वं रभसात्त्वरया दूरमेव भज । तथा श्रियो लक्ष्म्या मदस्तेन मोहितेन मया तथा विभवस्थेन विभवे तिष्ठति तादृशेन किं किं न अहितमयुक्तं आहितं विहितम् । हे दयालो, अहं पुनर्येन वरेणैतामहन्तां पुनर्न भजे, तं वरं बाधे संकटे हितं मयि धेहि वितर । 'डुधाञ् दानधारणयोः' धातुः ॥११॥

आनीतेति । अत्र मे इत्यनेनोत्तरार्धस्थेन संबन्धः । कामेन स्मरोद्रेकेणाभिलाषेण वा चरणान्तिकप्रणयितां चरणोपकण्ठप्रणयितामानीता मेनकाख्या अप्सरा मे मम का भवति, न कापि । सापि मनोहारिणी मम नेत्यर्थः । तथा घना या भोगसंभृतिर्भोगसामग्री तस्या विधिस्तत्र सारम्भया सह आरम्भेण वर्तते या तादृश्या रम्भया रम्भाख्ययाप्सरसा च मम किं कार्यम् । न किंचिदित्यर्थः । निजाभिलाषमुक्त्वा उत्तरपक्षमाह—आहितो हितानामणिमादिसिद्धिमोक्षलक्ष्मीपर्यायाणां व्रातः समूहो यया सा तादृशी आहितहितव्राता, काप्यनिर्वाच्या रतिः परमानन्दोपलब्धिश्चित्ते मनसि आयते विस्तीर्णे यया तायते विस्तार्यते, सा परमेश्वरे श्रीशिवभट्टारके भावना भक्तिर्मे मम कान्ता अतिप्रेयसी भवति । किंभूता । हता विपदो जन्मजरामरणसंकटरूपायाः संभावना यया सा तादृशी ॥ १२ ॥

धत्त इति । यस्य परमेश्वरस्य भव्या रम्या जटा व्याकुलं विशेषेणाकुलं, तथा तरङ्गान्तरं तरङ्गा अन्तरे यस्य तत्तादृशं, हंसानां सितच्छदानां कुलं समूहमिव, कपाल-पटलं कपालानां महाप्रलयेषु संहारितब्रह्मादिमुण्डानां समूहं रुन्धन्तीं भगवतीं गङ्गां धत्ते, तस्यैव महेशितुः श्रीशिव-

भट्टारकस्य नव्याकृतिं नूतनस्वरूपां, नुतिगिरां नुतियुक्ता या गिरस्तासां व्याकृतिं व्याकरणरूपामाधाय कृत्वा, सकलं नृजन्म मनुष्यजन्म अनया निश्चलया भक्त्या वयं संमानयामः ॥ १३ ॥

कंचिदिति। विकसन्ती शोभा यस्याः सा तादृशी श्रीर्लक्ष्मीः कंचिदन्यं जनं वसतेः स्थितेर्भाजनं पात्रं करोतु। कोऽप्यन्यो जनो लक्ष्मीपात्रतामाप्नोत्वित्यर्थः। तथा त्यागतो दानाधिक्येन प्रीत्या तुष्ट्या मुदं प्रमोदं गतः प्राप्तो बन्दिजनो मागधजनः कंचित्प्रशंसतु। निजाभीप्सितोत्तरपक्षमाह—मन्येऽहं त्वित्यादि। तुः पक्षान्तरे। समग्रो यः शोको जन्मजरामरणत्रासोत्थस्तस्य शमनं तादृशं अन्यासममनन्यसाधारणं तं संन्यासं सर्वसङ्गनिवृत्तिरूपं मन्ये जाने। तं कमित्याह—यस्मिन्संन्यासे मनसा वाचा इष्टया अभिप्रेतया चेष्टया हस्तपादादिव्यापारेण च मृत्युजितं श्रीमृत्युञ्जयभट्टारकं भजामि। अत्र संन्यासमिति व्यञ्जनद्वयस्यासत्त्वेऽपि यमकादावदोषः ॥ १४ ॥

रूपमिति। हे परमेश, भुजङ्गमानां वासुकिप्रभृतीनामयं भौजंगमस्तादृशं परिकरं सामग्रीरूपं दधत्, यद्भवतः परमेशितुर्जङ्गमं रूपं सर्वाधीनपदस्थं कृतधियः सचेतसः सेवन्ते। तथा श्रिया लक्ष्म्याः स्वस्थाः कुशलिनः कृतधियो वरमुत्कृष्टं स्थावरं च यदपि रूपं भजन्ते, तदुभयरूपमपि तमसामन्धकाराणां कर्तनं छेदकं वैकर्तनं विकर्तनस्य सूर्यस्य संबन्धि प्राज्यमुत्कृष्टं ज्योतिरिव प्रसह्य बलेन, तमसां मोहमहामोहप्रभृतीनां कर्तनं भवतो विभोर्ज्योतीस्वरूपं लब्ध्वा, जनिता स्वाभा आत्मप्रभा यया सा तादृशी प्रतिभा परसंवित् सतां सचेतनानां कथं न भासताम् ॥ १५ ॥

स्तोतुमिति। हे मानस चित्त, मरकतवद्गारुत्मतमणिवच्छ्यामस्तादृशं गलं कण्ठं संश्रितं श्रीशंभोः सेवासु तत्परं लग्नं, वासुकिं नागाधीशं मङ्गलमनामयं लब्धुं किं स्तोतुं वाञ्छसि। काकुः। हे मानस, मदोऽहंकार एव मरुत्तस्य वेगेनाहते भवति त्वयि, भक्तिः परमेश्वरभावना स्थितिं चेद्वाहते, तत्तदा तस्माद्वा, हे चेतः, त्वमपि अहिपतयो वासुकिप्रभृतय एव प्रावारा आभरणानि यस्य सोऽहिपतिप्रावारः श्रीशंभुस्तस्य सेवारसे धृतिं रतिं बध्नासि ॥ १६ ॥

दृष्ट्वेति। हे विभो, रावणं दशमुखं पश्यन्। रणे इति शेषः। मघवा इन्द्र ऐरावणमभ्रमुवल्लभं विहाय त्यक्त्वा यद् गतवान् पलायितः। किं कुर्वन् मघवा। भयात्पाण्डुतया अनुकृत उपमितः श्यामाधवो रजनीकरो येन स तादृशस्तं माधवं विष्णुं पश्यन्। अयं सर्वो भवतः श्रीशंभोः प्रसादमहिमास्ति। किं कुर्वन्। नयं नूतनं तानवं तनोर्लघोर्भावस्तानवं तं हन्ता दूरीकर्ता। युक्तं चैतत्। हे हतवृथासंकल्प। हता वृथा-संकल्पा असत्संकल्पा येन स तादृशस्तत्संबोधनम्। ते तव सेवा कस्य न सिद्धये कल्पते प्रभवति ॥ १७ ॥

तमिति। हे विभो, नाकसदां देवानामार्तिं मनःपीडां कालयन्दूरीकुर्वन्, लङ्कानगरी आलयो निवासो यस्य स तादृशस्तं त्रिजगत्प्रसिद्धं सबलं निशाचरपतिं राक्षसाधीशं रावणं हत्वा तथा भीषणमुग्रं वैभीषणं विभीषणस्य रावणानुजस्यायं वैभीषणस्तं विभवमुपेत्य संप्राप्य, अनघां रक्षोगृहनिवासेऽपि निर्दोषां मोहितां प्रियवियोगेन वैदेहीं सीताम्। हि निश्चये। स रामो दाशरथिः कथं लभेत। कदेत्याह—भ्राजिष्णुना शोभमानेन जिष्णुना इन्द्रेण स्तुतो रामस्त्वद्भक्तिं यदि हि न व्यधास्यत ॥ १८ ॥

लोकमिति। मोहोऽज्ञानमेव तमस्तेन विमोहिता दृक् ज्ञानमेव दृग् नेत्रं येषां ते तादृशानाम्। तथा शोकहरं जीर्णवासोवज्जीर्णदेहत्यागान्नवदेहोपलब्ध्या शोकहरं परं लोकं परलोकं

प्रति सन्देहिनामस्ति परलोको नवेति भृशमत्यर्थं संशयवतां देहिनां मनुष्याणां या माया अनात्मन्यपि देहेन्द्रियादौ आत्मभ्रमरूपा सदा नित्यमायासदा क्लेशदा भवति, तां मायां हन्तुं निश्श्रेष्टीकर्तुं विहितः कृतो ज्ञानस्य तत्त्वज्ञानस्योदयो यया सा तादृशीं दयां कृपां मम किं नो करोषि। तां कामित्याह—यस्या इत्यादि। घनः स्फार उल्लासो यस्याः सा तादृशी सुधारा शोभनप्रवाहवती सुधा पीयूषमपि यस्यास्तव दयाया दास्यमपि दासीभावमपि नार्हति ॥ १९ ॥

दोषाणामिति। सांप्रतमिदानीं सहसा तत्क्षणमेव दोषाणां पुनःपुनः संसृतिजक्लेशोत्थानाम्। अथ च भवोत्थदोषाणामिव दोषाणां रात्रीणामुदयं विधातुं कर्तुं न सांप्रतं युक्तम्। 'सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना।' इतिवदत्र समन्वयः। यथा तत्तिमिरं मोहान्धकारं मादृशां मत्सदृशानां श्रीशिवभक्तिरसामृतसंसिक्तचेतसां दृशां ज्ञानानां, दृशां नेत्राणां च, स्वालोकेन स्वावरणेन क्षपणमुपसंहारं मा करोतु। अत्र हेतुमाह—वत आश्चर्ये। पूष्णो भास्वतोऽयं पौष्णः सूर्यसंबन्धी करो रश्मिरिव। प्रसह्य बलेन। कमलोल्लासात् कमलानां पद्मानामुल्लासाद्विकासात्। आर्तिं सादयन्दूरीकुर्वन्, कामाशां कां दिशं न यथा प्रकटीकरोति। तथा शाङ्करः श्रीशंभुसंबन्धी करः पाणिः, प्रसह्य बलेन। कमलोल्लासान्मोक्षलक्ष्म्युत्पादनादार्तिं भवमरुभ्रमणजक्लेशरूपां सादयन्निश्श्रेष्टीकुर्वन्, कामाशां मनोभिलषितरूपां न प्रकटीकरोति। अपि तु सर्वामपि। शब्दश्लेषोऽलंकारः ॥ २० ॥

शीतेति। घनसारः कर्पूरस्तस्येदं घानसारं परिमलसुखं कर्पूरपरिमलजसुखं शीतं च स्निग्धं च तादृशं सारमुत्कृष्टं न भवति। भवमरुभ्रमणजतापं हर्तुमित्यर्थः। तथा प्रेम्णा स्नेहेन कलिता धृता ललिता उद्दामा हेला यया। कृतशोभनोत्कटावज्ञेत्यर्थः। तादृश्यमपि महेला वरस्त्री सारं न भवति। निजाभिलषितमाह—तस्मादिति। हे हर संसृतिजदुःखहर, तस्माद्धेतोरनुदितस्तम्भजेयं, न उदित उत्पन्नः स्तम्भो गर्वो येतां ते तादृशा अनुत्पन्नगर्वाः संयतचित्तास्तैर्जेयो जेतुं शक्यस्तादृशं भवं संसारं जित्वा। परहिते परोद्धरणे आरम्भो विद्यते यस्य स तादृशस्तं परहितारम्भवन्तं भवन्तं स्वामिनं भूयोभूयः पुनः पुनर्भजेयम्। 'भज सेवायाम्' धातुः ॥ २१ ॥

दृष्टिरिति। हान्या क्षीणवित्ततारूपया विपदा शान्तं तादृशे हानिशान्ते। निशान्ते गृहे। निवसतो मम, भङ्गुरा आभा यस्य स तादृशस्तं शिशुं बालं मृगमिव वागुरा मृगबन्धनी, मम चित्तं स्त्रीणां वनितानां दृष्टी रुन्धे। हे देव। दीव्यति परमाकाशे देवस्तत्संबोधनम्। तस्याः स्त्रीजनदृष्टिवागुरायाः सम्पर्कान्मानावमानावप्यहं सहे। अतश्च अरमत्यर्थमार्तो दीनः सन्नधुना उदारं कृपामृतासारसिक्तचेतस्त्वादत्यौदार्ययुतं शरणं रक्षितारं मुदा प्रीत्या प्राप्तोऽहम् ॥ २२ ॥

प्राज्यमिति, द्वारीति। हे भगवन्, कृतो रिपूणां क्षिप्रं सादो विनाशो येन स तादृशस्तव दयालोरेकः प्रसादोऽनुग्रहश्चेन्न स्यात्तर्हि इत्थमनेन प्रकारेण धाम्ना तेजसा हीनं महीनं मह्या भूमेरिनः स्वामी तं राजानं लक्ष्मीः कथमिव भजेत्। इत्थं कथमित्याह—प्राज्यमित्यादि। नृपतीनां राज्ञां या मकर्यः किरीटरचनास्तासु यानि रत्नानि तेभ्यो निर्यत्नेन बिना प्रयत्नेन निर्यद्भी रश्मिप्रवाहैः स्नपितौ चरणौ यस्मिंस्तादृक्। तथा कान्तं सामन्तानां साम सन्धिर्यत्र तत् प्राज्यमुत्कृष्टं राज्यम्। तथा घस्मरेण त्रिजगद्भक्षकेणातिक्षोभात् स्मरेण कामेनोपचिता उपचयं प्राप्ता रतिर्यस्याः सा तादृशीं। पुनर्मुनिजनस्य मनः क्षोभयतीति तादृशं सभ्रूभङ्गं भ्रकुटीकुटिलं

वक्त्रं बिभ्रती अभिरामा मनोहारिणी रामा सुन्दरी च । तथा क्षितिधराणां या गुहास्तासामाभोगो विस्तारस्तं भजन्तीति तादृशानां दन्तिनां द्वारि क्षोभश्च । तथा प्रकटितं विपदां बाधनं यैस्तादृशानां धनानां द्रविणानां का वा संख्या । असंख्यत्वात् ॥ युगलकम् ॥ २३-२४ ॥

भीमामिति । हे देव जगदीश, विबुधसरितो गङ्गायास्तरङ्गाणामन्तरं गच्छतीति तादृशीं तरङ्गान्तरङ्गां तथा अशस्ता अप्रशस्ता ये केशास्तैः प्रोता तादृशीं पुरुषशिरसां कपालानां भीमां यां पङ्क्तिं मस्तके शिरसि धत्से, सैव कपालपङ्क्तिर्यथा राजीवराजी पद्मश्रेणी श्रेयो मङ्गलं ददाति, तथा त्वत्संपर्कात्त्वत्स्पर्शात्सैव श्रेयः प्रथयति विस्तारयति । युक्तं चैतत् । सैव त्वत्संपर्कान्मङ्गलस्याभङ्गोऽविनाशः स एव लाभस्तं किं न घटयति ॥ २५ ॥

कृत्वेति । हे विभो । हन्त आश्चर्ये । कुसुमानां पुष्पाणां बलेनातिशयेन गलन्ती बालता बालत्वं यासां तादृशीनां लतानां संपत्तिं मानयन्तः तासामेव लतानामुपान्ते समीपे कलिकाभिर्दामानि स्रजस्तेषां शेषा मालाः । विरचिताः कलिकादामशेषा यस्याः सा तादृशीम् । अशेषां शय्यां कृत्वा । अविरता रती रमणं सक्तिर्वा येषां तादृशा दरीणां गुहानामन्तः सितकरकिरणैश्चन्द्रकरैरुत्तमायामतिशोभितायां तमायां रात्रौ सुन्दरीणां रमणीनां वृन्दैस्त्वद्भक्तिभाजो धन्याः सेव्यन्ते ॥२६॥

हन्तेति । हन्त कष्टे । अहन्तावृतानामहंकारिणां विलसन् विकसन् बोधस्य प्रकाशस्यावबोधस्य वा नाशो यस्याः सा तादृशी धनाशा धने आशा, भासमानं महस्तेज इव रजनी रात्रिर्भासमानं शोभमानं, समानं सह मानेन वर्तते यत्तादृशं, ज्ञानां विदुषामानन्दकारि आनन्ददायि ज्ञानं ग्लपयति हरति । वाचा वास्तवेन पारमार्थिकेन स्तवेन वाचालभावं तव विभोर्विहितवतां कृतवतां विपत्पात्राणां जनानां, हे भव, त्वं श्रेयस्करो मङ्गलदायी यद्भवसि तदेव श्रेयोऽतिप्राशस्त्यम् ॥ २७ ॥

इति श्रीराजानकशंकरकण्ठात्मजश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलि-
व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां पादान्तयमकस्तोत्रं नाम अष्टाविंशम् ।

एकोनत्रिंशं स्तोत्रम् ।

अथातो ग्रन्थकृदेकान्तरयमकाख्येन चित्रकाव्येनैकोनत्रिंशं स्तोत्रमारभमाण आह—

उदारेति । अथानन्तरमहं महेश्वरं प्रभुं प्रपद्ये । मुदा प्रीत्या । कैः । पदैः सुप्तिङन्तैः । नुतिरूपैर्वचोभिरित्यर्थः । पदैः किंभूतैः । उदाराः प्रक्रान्तग्रन्थवर्णनीयरसानुकूला वर्णा अक्षराणि येषु तानि तादृशैः । तथा संगतैः परस्परसंबद्धार्थैः । तथा अभिधावद्भिः । अभिधा, मुख्यः शब्दव्यापारो, विद्यते येषु तान्यभिधावन्ति तादृशैः । तथा उपोढलक्षणैः । उपोढा धारिता, मुख्यार्थबाधतद्योगसत्त्वे रूढितः प्रयोजनाद्वा मुख्येनामुख्योऽर्थो यल्लक्ष्यते सा—लक्षणा, यैस्तानि तादृशैः । तथा अमन्दः प्रचुरो ध्वनिर्व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये उत्तमकाव्यापरपर्यायो ध्वनिर्येषु तानि तादृशैः । पदैः । कैरिव । तुरगोत्तमैर्जात्यश्वैर्वनायुजादिभिर्यथा कश्चित्स्वामिनं सेवते तद्वत् । तैरपि

किंभूतैः। उदारो वर्णः श्वेतपीतादिर्येषां तादृशैः। तथा रथेन स्यन्दनेन संगतैः। तथा अभितो धावद्भिर्द्दष्टीकमानैः। तथा उपोढानि लक्षणानि गलोद्देशस्थदेवमण्यादिचिह्नानि येषु तादृशैः। तथा अमन्दो महान् ध्वनिर्हेषारवो येषां ते तादृशैः ॥ १ ॥

शिवेनेति। अहितः कङ्कणीभूताद् वासुकेस्त्रसन्, कुङ्कुमपङ्केन रोहितो रक्तो देव्याः पार्वत्याः करः पाणिर्यदा विवाहसमये। शिवेन श्रीशंभुना जगृहे, तदा तस्मिन्कालेऽस्य भगवतो यः स्तवोऽर्काग्निनिशाकरोहितः—अर्कः सूर्यश्चाग्निश्च निशाकरश्च तैरूहितो व्यञ्जितः प्रकटीकृतः, स स्तवो वो युष्माकमभयङ्करो हितश्च स्यादस्तु ॥ २ ॥

अनञ्जनमिति। ईशार्चनं श्रीशंभुपूजनं वो युष्माकमार्तिदारणम्, आर्तेः पीडायाः खण्डशः करणं क्रियात्। ईशार्चनं किंभूतम्। नेत्रविकासस्य ज्ञानदृष्टेर्विकासकारणम्। किंभूतम्। अविद्यमानमञ्जनं मायारूपं सौवीराञ्जनं च यत्र तत्। पुनः किंभूतम्। कर्णा एव करेणवस्तेषां वारणं रोधकम्। पुनः किंभूतम्। निरङ्कुशमङ्कुशान्निष्क्रान्तम्। पुनः किंभूतम्। चित्तमेव चकोरो ज्योत्स्नापायी पक्षिविशेषस्तस्य पारणं तृप्तिकरम्। पुनः किंभूतम्। अचन्द्रिकं चन्द्रिका इन्दुप्रकाशस्तद्रहितम्। अत्र विभावनालङ्कारध्वनिः। 'कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ ३ ॥

सुखेति। माधवो वसन्तो मा मां तथा न सुखाकरोति। किंभूतः क्लमहृत्। वा अथवा मरौ उपवने अपि धवः मां तथा न सुखाकरोति। तथा कथमित्याह—यथेत्यादि। शरीरार्धे निरुद्धो हरिहररूपेण माधवो विष्णुर्येन स तादृशः। उमाधवः पार्वतीप्राणनाथो भगवान् यथा मां सुखाकरोति। किंभूतः। प्रशस्यमानः स्तूयमानः ॥ ४ ॥

दिनान्तेति। दिनान्तरात्रिप्रारम्भयोः समागमः सितासितो यथा। अथवा यथा गङ्गायमुनाप्रवाहयोः समागमः सितासितस्तापमघं च हन्ति, तथा उमारमाकामुकयोः श्रीशंभुनारायणयोः समागमः सितासितो वस्तापं त्रिविधमाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपं तथा अघं पातकं च वो हन्तु ॥ ५ ॥

उमाख्यमिति। इद्धं दीप्तं महस्तेजो यस्य स इद्धमहाः, असौ श्रीशंभुर्नियोगत आज्ञया हेतोर्योगतः समाधेश्च युष्माकं शुभान्यहानि करोतु। असौ क इत्याह—उमाख्यमित्यादि। यः, महती नीर्नीतिर्यस्य स महानीस्तादृशात् महानियः, अगतः पर्वताद्धिमालयात्, उमाख्यं पार्वतीरूपं प्रियं हितं निधिं प्राप्य सौख्यं गतः प्राप्तः। सौख्यं किंभूतम्। अहानि। अविद्यमाना हानिर्यस्य तत् ॥ ६ ॥

द्विजाधिपेति। अच्युतो न च्युतः स्खलितः स्वातन्त्र्यशक्तेः, श्रीशिवः संपदं तनोतु। किंभूतः। एवंविधं वपुः समुद्वहन् धारयन्। किंभूतम्। द्विजाधिपेन चन्द्रमसा अधिष्ठितं शेखरं यस्य तत्। तथा महाभुजं महान्तो भुजा अष्टादश यस्य तत्। तया गवि वृषभे न्यस्तो भारो येन तत् तादृशम्। तथा सर्वदा अभङ्गा निर्विनाशा या दया कृपा तया समाश्रितम्। तथा अच्युतो न च्यवते परमपदादच्युतो विष्णुः शिवः शिवदो वो युष्माकं संपदं तनोतु। किंभूतः। वपुः समुद्वहन्। किंभूतं वपुः। द्विजाधिपस्य गरुडस्याधिष्ठितं शेखरं येन तत्। तथा महाभुजङ्गे शेषे नागाधीशे विन्यस्तो भरो येन तत्। पुनः किंभूतम्। सदाभं, सती शोभना आभा यस्य तत्। तथा गदया आयुधविशेषेण समाश्रितम् ॥ ७ ॥

अघद्रुमेति । हरः श्रीशंभुस्तेन करेण पाणिना वो युष्माकं शं निःश्रेयसं तनोतु । तेन केनेत्याह अघद्रुमेत्यादि । यस्मिन्नशरणानामभयंकरे, सुधावन्मकोलवत्सिताः श्वेता अणवः सूक्ष्माः पावककल्कस्य भस्मनो रेणवो रजांसि सन्ति । पावककल्करेणवः कथंभूताः । अघद्रुमध्वंसमहाकरेणवः । अघाः पातकान्येव द्रुमास्तेषां ध्वंसस्तत्र महागजाः ॥ ८ ॥

धृतिरित । शङ्करकृष्णयोः श्रीशिवनारायणयोरेकमुखोत्थं परस्परमन्योन्यमिदं वचो वः सुखायास्तु । इदं किमित्याह धृतिरित्यादि । हे हरे विष्णो, त्वदीयेन सुदर्शनाख्येन चक्रेण मे मम धृतिरस्ति । तेन । तुः पक्षान्तरे । मया किमुच्यते । यतोऽभेदो भवत्यस्ति । भवता सहैक्यमित्यर्थः, इति श्रीशिवोक्तिः । तथा हे शंभो, त्वदीयेन भावत्केन सुदर्शनेन शोभनदर्शनेन । मे मम धृतिरस्ति, तेनास्माभिरभेदः किमुच्यते । कस्मिन् । भवति त्वयि, हरे महादेवे ॥ ९ ॥

नेति । हे अद्रिनिवास । अद्रौ कैलाशे निवासो यस्य स तस्य संबोधनम् । हे गिरिश । यस्याग्नेर्दारुणः काष्ठात्सकाशात् जन्म उत्पत्तिर्न भवति, स एव शिखी अरुणो रक्तः सदा ते तव अक्ष्णि तृतीयनेत्रे ज्वलति । हे विभो, शिरःसदा शिरसि विलीनेन तेन शिखिना । त्वं यमं किं नारुणः नावृणोः । 'रुधिर आवरणे' धातुः । अदहः, इत्यर्थः । स यमो दारुणः क्रूरस्त्वदाश्रितं त्वद्भक्तं किं ग्रसताम् ॥ १० ॥

सदेति । अहं हरं श्रीशिवं हरिं विष्णुं वा रसाद्रसेन तरसा स्तुवे । हरं किंभूतम् । सदा नित्यं नगे कैलासे उपाहिता बन्धुरा (निर्भरा) स्थितिर्येन स तादृशस्तम् । तथा महत्यो ऋद्धयोऽणिमाद्या अष्टौ यस्य स महर्द्धिः, महर्द्धिरेव महर्द्धिकस्तम् । तथा सोपशमे संयतचित्ते कृत आदरो येन स तादृशस्तम् । हरिं नारायणं च किंभूतम् । सह दानेन वर्तन्ते सदाना ये गोपास्तेष्वाहिता बन्धुरा निर्भरा स्थितिर्येन स तम् । अत्र अपि नाकेन इति पदच्छेदः । नाकेन स्वर्गेणापि समेधिता श्रीर्लक्ष्मीर्यस्य स तादृशस्तम् । तथा महती ऋद्धिः संपत्तिर्यस्य तादृशो यः कंसः कंसाख्योऽसुरस्तस्योपशमे विनाशे कृतादरम् । शब्दश्लेषालङ्कारः ॥ ११ ॥

मन इति । बालिशं जडं मनश्चित्तम् । मादृशामिति शेषः । भवे संसारे इन्द्रजालगन्धर्वनगरतुल्ये, भृशमत्यर्थं भ्राम्यति । तदेव बालिशं मनो भवे श्रीशंभौ च दिवानिशं भक्तिं जहाति । युक्तं चैतत् । अस्य जडस्य मनसः । नाम निश्चये । अतः परं शं निःश्रेयसं किं भवेत् । न किंचिदित्यर्थः । अतः कस्मादित्याह—निवेदयेदित्यादि । यदि तन्मनः स्वं कर्म शुभाशुभम्, शंभवे परमेश्वराय निवेदयेत्प्रतिपादयेत् । श्रीशिवार्पणं कुर्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

समुद्रेति । हरः श्रीशंभुर्हरिर्वा दुरितं पातकं धुनोतु । किं कुर्वन् । समुद्रजन्मानं कालकूटं करे पाणावुपादधत् । किंभूतम् । असितद्युतिम् । तथा वक्त्रनिवेशनोचितं मुखे स्थापनोचितम् । किंभूतः । सदा नित्यं स्कन्दस्य कुमारस्य कदर्थना पीडा तस्या हतौ निवारणे रतः । हरिश्च किंभूतः । करे पाणौ सितद्युतिं शुभ्रं वक्त्रनिवेशनोचितं मुखस्थापनयोग्यं समुद्रजन्मानं शङ्खं पाञ्चजन्यमुपादधद् बिभ्रत् । तथा सतां साधूनां य आस्कन्दो मायावरणं तेन या कदर्थना तस्या हतौ रतः ॥ १३ ॥

जिगीषव इति । क्लेशानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां या परम्परा, तस्या भव उत्पत्तिर्यस्य स तादृशस्तं भवं संसारं जिगीषवो जेतुमिच्छवो वनेषु काननेषु भिक्षार्थं धृतः कर्परो

घटशकलो यैस्ते। तथा कुनृपात्प्रजापीडादायिनो नृपात्पराभवमसोढवन्तः सन्तः साधवः स्तुतौ तत्परा लीना भवं श्रीशंभुं भजन्ति ॥ १४ ॥

कदेति। हे विभो, न च्युतः स्वातन्त्र्यादच्युतस्तस्य ते विभोरहं दृष्टिनिवेशनौचितीं भवत्कटाक्षक्षेपौचित्यं कदा भजामि। अहं किंभूतः। घना निबिडा या शान्तिर्जितेन्द्रियता तया शोभते तादृशीम्। तथा अम्बराणि वस्त्राणि अलंकारा भूषणानि तेषु उचिता तां तनुं दधानः। अहं क इव। शशी चन्द्र इव। तीक्ष्णांशुः सूर्य इव। तथा हि शशी सूर्यश्चाच्युतस्य विष्णोर्दृष्टिनिवेशनौचितीं दृष्टौ निवेशनं तस्यौचित्यं भजते। शशी सूर्यश्च किं कुर्वन्। तनुं वहन्। किंभूताम्। घनशान्तिशोभिनीं घनानां मेघानां या शान्तिस्तया शोभते तादृशीम्। तथा अम्बरे आकाशेऽलङ्करणं तत्रोचिता तादृशीम्। शब्दश्लेषः ॥ १५ ॥

किमाम्रेति। अत्र चतुर्थचरणे हे अमर, निर्विनाश, इत्यामन्त्रणम्। सुमराणि विपुलान्यालवालानि यस्याः सा तथा। आम्रवनी रसालवनी, तया आम्रवन्या किं भवति। न किंचित्प्रयोजनम्। अस्या अपि नीरसत्वादित्यर्थः। तथा अराला बालाः केशा यस्याः सा तया प्रियाकबर्या प्रेयसीकेशवेषेणापि किं भवति? सापि न प्रायशो मनोहारिणीत्यर्थः। तथा सह मरालबालैर्हंसशावकैर्वर्तते या सा तया सरःश्रियापि किं भवति? कुतस्तदित्याह—यतो मया ईशभक्तिः परमेश्वरभक्तिर्धृता। किंभूता। अलवा अनल्पा। अलया अक्षया। सैव परमानन्ददायिनीत्यर्थः ॥ १६ ॥

कविः श्रीशिवभक्तिपरमामृतरसातितृप्तः स्वात्मानं विनोदयति—

कदेति। यथा शब्द इवार्थे। अहं कदा प्रभोः परमेश्वरस्य प्रसादाच्छरदमिव तनुं स्वां कदा वहामि। कीदृशीम्। अनवद्यां निर्दोषाम्। तथा अतिशयेन विगताणवमायीयकार्मरूपत्रिविधमलाम्। तथा प्रसादिभिरतिनिर्मलैर्महानदीनां मन्दाकिनीप्रभृतीनां सलिलैरतिनिर्मलाम्। तथा च हंसैर्हंसचिह्नैरुपशोभितमम्बरं वस्त्रं यस्या सा तादृशीम्। शरदपि अनवद्या निर्दोषा। तथा प्रसन्नैर्महानदीजलैरतिनिर्मला हंसैर्मरालैरप्युपशोभितगगना भवति ॥ १७ ॥

प्रभुमिति। हे मानस चेतः, त्वं प्रभुं परमेश्वरं प्रपत्तुं सेवितुं मालयं मलयस्य मलयाख्यपर्वतस्येदं मालयं स्थलं स्थानमेहि। वाशब्दो विकल्पे। अथवा हिमालयं महीधरमद्रिराजमेहि। हे मानस, त्वं रसातले पाताले वा औपयिका उपादेया अहयो वासुक्यादयो यस्य स तादृशमालयं श्रयन्तं प्रभुं श्रीहाटकेश्वरम् अन्वेषय मार्गय। तमेव शरणं याहीत्यर्थः। त्वम् क्षयं वृथायासेन लयं मा याहि मा गच्छ ॥ १८ ॥

निधायेति। चक्षुस्तृतीयं निधाय, मनोभवं कामं दहतः। तथा कामस्याभिलाषस्य हानिं न प्रकर्षेण वितन्वतः। कया। दृशा दृष्टया। तथा अष्टौ मूर्तयः क्षित्याद्या यस्य स तादृशस्यापि, अनष्टमूर्तितामविनाशिमूर्तितां दधतः, शंभोः श्रीशिवभट्टारकस्य विविधा विचित्रा विभूतयो जयन्ति, सर्वोत्कृष्टा भवन्ति। अत्र च दृशा कामहानिं वितन्वतोऽपि कामहानिं न वितन्वत इति। तथा अष्टमूर्तेरप्यनष्टमूर्तितां दधत इति विरोधाभासोऽलङ्कारः। तत्रापि निधाय चक्षुः कामं दहतः इत्युच्यमाने, मनोभवं दहत इति प्रक्रमभङ्गेऽपि भक्तिविषये न दोषः ॥ १९ ॥

समाश्रत इति। हे अज अनादे, हे करुणापर करुणामय शंभो, यो जनस्त्वां समाश्रितः, शरणं गतस्तस्य धन्यस्य रणे संग्रामे पराजयः क्वचिन्नास्ति। तं त्वत्समाश्रितं, परेऽन्ये जना

शत्रवो वा नार्थं श्रयन्ति । किंभूताः । आरब्धा परस्परमाजिर्युद्धं यैस्ते । तथा धृता चापानां धनुषां राजिर्यैस्तादृशाः ॥ २० ॥

ध्रुवमिति । ध्रुवं निश्चये । स कृष्णो मलिन एव । अथ च स कृष्णो विष्णुः । चिराय चिरमपि पक्षद्वये, उभयोः पतत्त्रयोरपि कल्पिता स्थितिर्यस्य स तादृशम् । तथा विनतायाः स्वमातुरार्तिहारिणं तं द्विजाधिराजं गरुडं योऽधश्चकार वाहनीकृतवान् । अथ च पूर्वोत्तरपक्षद्वयेऽपि कृतिस्थितिं द्विजाधिराजं ब्राह्मणश्रेष्ठम् । तथा विनतानामार्तिहारिणं योऽधः करोति, स कृष्णो मलिन इत्यर्थः । तुः पक्षान्तरे । स त्वमीश्वरः परमेश्वरो भवसि । स कः । यस्त्वं विभुश्चिराय बहुकालं पक्षद्वयेऽपि शुक्लकृष्णरूपपक्षद्वयेऽपि कृतस्थितिम् । विनतानां प्रणतानामार्तिहारिणं द्विजाधिराजं नक्षत्रेशं उभयपक्षेऽपि कृतस्थितिं ब्राह्मणाधिपतिं च यो मूर्ध्नि शिरसि बिभर्ति, स तु त्वमेवेश्वरो भवसीत्यर्थः ॥ २१ ॥

विभुमिति, समुद्रजेति । नाम निश्चये । यं विभुं परमेश्वरं विरिञ्चो ब्रह्मापि न वेद । घनवेदनामयं गुरुव्यथारूपं दुःखं य एव विभुर्नतस्य भक्तिनम्रस्य निहन्ति । तस्यापि भक्तिनम्रस्य अनामयं निःश्रेयसं कैवल्यरूपं भवेत् । तथा अयं भक्तिनम्रो जनः अनिवेदनामनिर्वाच्यां शुचं पुनरावृत्तिरूपां नापि भजेत् । श्रीशिवसायुज्यं प्राप्नुयादित्यर्थ ।.................. युग्मम् ॥ २२-२३ ॥

अभीष्टदायीति । हे विभो, अहो आश्चर्ये । नमतां भक्तिनम्राणां धृतिं दिशन्ती वितरन्ती । तथा महोदया महानुदयो यस्याः सा तादृशी तव विभोर्दया । अस्मासु वराकेष्वधुना क्व भवति । सा का इत्याह—अभीष्टदायीत्यादि । अत्र यमधामहा उदयात्, इति पदच्छेदः । यया तव दयया श्वेतनृपे श्वेताख्ये राजनि, यमधामहा यमस्य धाम तेजो हन्तीति यमधामहा ध्वनिः 'मा भैषीः' इति ध्वनिरुदयात् उत्पन्नः । किंभूतः । अभीष्टं कृतान्तभयात् त्राणं ददातीत्यभीष्टदायी । दयया कथंभूतया । महोदया महस्तेजो ददातीति महोदा तया ॥ २४ ॥

अयमिति । हे विभो, अयं कृपापात्रमहमीश्वरं परमेश्वरमाश्रये भजामि । किंभूतम्—पुरुषोत्तमं पुरुषाणां प्रकृतेः परेषामात्मनामुत्तमं परमात्मानम् । तथा अच्युतं न च्युतः स्खलितः स्वातन्त्र्यपारमैश्वर्यादिस्तम् । तथा बलिनस्त्रिपुरान्धकादीन् जयति तादृक् तम् । तथा कृतः सत्यस्य वृषस्य परिग्रहो येन तम् । न चलिता श्रीः शोभा यस्मात्स तादृशम् । तथा आश्रितान्भक्तान्नन्दयतीत्याश्रितनन्दकस्तम् । तथा धृतं शोभनं दर्शनं येन स तादृशम् । अथ च ईश्वरं प्रभुं पुरुषोत्तमं पुराणपुरुषमच्युतं विष्णुमाश्रये । किंभूतम् । बलिं दानवं जितवांस्तादृशस्तम् । तथा आश्रितो नन्दकः खड्गो येन स तादृशस्तम् । तथा धृतः सुदर्शनश्चक्रविशेषो येन स तम् ॥ २५ ॥

वितन्वतीति । हे विभो, अहं तव तां स्तुतिं शतं समा वर्षशतपर्यन्तं कथं न वच्मि । अपि तु वच्म्येव । अहं किंभूतः । सम्यगानतां प्रह्वामिमां मूर्तिं दधत् । तां स्तुतिं कामित्याह—या तव स्तुतिर्भक्तिमतां भक्तजनानां, कल्पलतासमानतां कल्पवल्लीसादृश्यं, निजाभिलषितदानाद् बिभर्ति । किंभूता । भक्तिमतां समानतां सह मानेन पूजया वर्तन्ते समानास्तेषां भावस्तत्ता, तां वितन्वती ॥ २६ ॥

भक्तजनं प्रति कवेरुक्तिः—

इहेति। हे भक्तजन, इह जगति त्वं त्रिजगति त्रिभुवने सतां साधूनां हितम्। अतनुं नैव मूर्तिधरम्। अणोरणीयांसमित्यर्थः। अच्युतः स्वातन्त्र्यैश्वर्यादेरस्खलितस्तादृशं तं गिरिशं श्रीशंभुं प्रणमतरामतिशयेन प्रणम। तं कमित्याह—परशुचितेति। यः श्रीशिवभट्टारकः परमत्यर्थं शुचितया पावित्र्येणोर्जिता आकृतिर्यस्य स तादृशो यः शंभुर्द्विजपतिशेखरतां चन्द्रशेखरतां बिभर्ति। अथ च हे भक्तजनाः, यूयं तमच्युतं विष्णुं रामतनुं भार्गवराममूर्तिं प्रणमत। किंभूतम्। गिरि वाचि शंसतां स्तुवतां हितम्। तं कमित्याह—परश्वित्यादि। यो भार्गवरामः परशुना आयुधविशेषेण चिता ऊर्जिता आकृतिर्यस्य स तादृशो द्विजपतिशेखरतां ब्राह्मणमौलित्वं बिभर्ति॥ २७॥

यममिति। पूर्वार्धे आरब्धमहामह, अनयः, इति पदच्छेदः। शर्महा अनयः इति च। हे आरब्धमहामह! आरब्धो महामहो महोत्सवो भवभयोद्धरणाद् भक्तजनस्य येन तत्संबोधनम्। हे विभो, यस्यान्तकस्य स प्रसिद्धोऽनयः कुत्सितो नयो जगद्भस्मरत्वरूपः। शर्महा कल्याणहा भवति, तमपि यमं कीनाशं यया दृशा त्वं क्षयं दाहरूपमनयः नीतवानसि, तां दृशं चेद्यदि कृपापात्राय मादृशाय ददासि, तर्हि महानयः शुभावहो विधिरुदित उत्पन्नः। विघ्नाश्च सर्वे जन्मजरामरणरूपाः क्षताः। किंभूता विघ्नाः। कृतकामहानयः कृता कामस्याभिलाषस्य हानिर्यैस्ते तादृशाः॥ २८॥

अनलेति। भगवान् श्रीशंभुर्वो [युष्माकं सुमतये श्रीशिवभक्त्यासक्तिदृढबुद्ध्यै भवतु। क इव। भगवान्बुद्ध इव। उभावपि बिशेषणैर्विशिनष्टि—भगवान् श्रीशंभुः किंभूतः। सदा अनलेनाग्निना संभृता कान्तिर्यस्य तत्। तथा रुचिरो रम्यो यो मारः कामस्तस्य चिता तस्या आस्पदं स्थानमीक्षणं नेत्रं दधत्। पुनः किंभूतः। विधुर्विष्णुः स एव रोपः शरस्तस्य कृतिः करणं प्रिया यस्य स तादृक्। त्रिपुरदाहे विष्णुः शरीकृतो भगवता शिवनेति प्रसिद्धिः 'भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिनः' इत्यमरः। भगवान् बुद्धोऽपि किंभूतः। अनलसमालस्यरहितं सदा ध्यानपरत्वात्। तथा भृतकान्ति धृतशोभम्। तथा सदा सर्वदा रुचिः शोभा यस्या सा तादृशी चासौ रमा लक्ष्मीस्तया रचितमास्पदं स्थानं यस्य तत्तादृशमीक्षणं दधत्। तथा विधुरेषु भीतिषूपकृतिः प्रिया यस्य स तादृक्॥ २९॥

नेति। हे विभो तज्ज्ञाः परमार्थज्ञा कृतिनो विपश्चितो यामहन्तामहंकृतिं न जातु अवहन्त। तथा हन्त कष्टे। या अहन्ता अधोगतौ कारणं हेतुरेव भवति। हे दयालो, त्वयि विभौ सुमतौ शोभना अशरणजनत्राणे मतिर्यस्य स तादृशे प्रसन्ने सति तया अहन्तया नरकावहं दुखं न यामि न गच्छामि॥ ३०॥

प्रियामिति। न च्युतः स्खलितः कारणातीतपदादसौ शिवः श्रीशंभुर्वो युष्मान् पुष्यतु। किंभूतः। विशेषेणात्यर्थं विश्रान्ता रुचिः शोभा यस्मिन्स तादृशः। असौ क इत्याह—यः परमेशः प्रियां मनःप्रियां 'मां' इति वर्णस्याकृतिं वपुषि शरीरार्धे बिभर्ति। वर्णाकृतिं कीदृशीम्। मुखे आरम्भे धृतः पञ्चमस्वरोऽकारादिगणनया पञ्चमः स्वर उकारो यया सा तादृशीम्। उमामित्यर्थः। उमां पार्वतीं बिभर्ति। धृतपञ्चमस्वरां मां कीदृशीम्। अमृतस्य सोदरां सदृशीं गिरं वाणीं वहन्तीम्। अथ च शिवः कल्याणदायी, अच्युतो नारायणो वः पुष्यतु। किंभूतः। विशेषविश्रान्तरुचिः। विः पक्षी गरुडः शेषश्च नागाधीशस्तयोर्विश्रान्ता-

लीना रुचिर्यस्य स तादृक्। असौ क इत्याह—प्रियामिति। यो विष्णुः प्रियां कान्तां मां लक्ष्मीं वपुषि शरीरे बिभर्ति। किंभूताम्। धृतः पञ्चमस्वरः पञ्चमाख्यः स्वरो यया सा तादृशीम् कुत्र। मुखे वदने। लक्ष्मीं किंभूताम्। अमृतस्य सोदरां गिरं वहन्तीम्॥ शब्दश्लेषः॥३१॥

नुतिरिति। हे दयालो, मया ते तव विभोरियं नुतिर्भजतां भक्तजनानां हिताय कृता। अनया च मत्कृतया भवत्स्तुत्या हि यतः सतां साधूनां शर्म कल्याणं तायते विस्तार्यते। अस्माभिर्मनस्यपि चित्तेऽपि आयते वितते, यते संयते वा, ग्लानिरपोहिता निवारिता। यद्यस्मात्कारणात् एषा मत्कृतनुतिर्धृता मनसि कृता। श्रुतिसंहितायते श्रुतिरूपा चासौ संहिता, तद्वदाचरति॥ ३२॥

अमेयमहिमेति। अमेयमहिमा अपरिच्छेद्यमहिमा। तथा हिमाद्रितनयया पार्वत्या नयेनात्तं गृहीतं हृदयं यस्य सः। तथा दयया कृपया ऊर्जिता मतिर्यस्य सः। भवरुजं संसाररोगं रुजन् खण्डशः कुर्वन्। 'रुजो भङ्गे' धातुः। अविकलं पूर्णं कलङ्करहितं निर्मलं च हितं वो युष्मभ्यं दिशतु ददातु॥ ३३॥

उदारेति। उदारा महती करुणा यस्य सः। तथा अरुणस्य सूर्यस्येवोर्जितं महस्तेजो यस्य सः। तथा महाहिर्वासुकिर्नागाधीश एव वलयः कङ्कणं यस्य सः। तथा लयेन नाशेनोज्झितं वपुर्यस्य स भवः श्रीशंभुरघौघशमनः समस्तपातकहारी भवतु। केषाम्। वो युष्माकम्। कीदृशानाम्। मनसि धृतमुदाम्। किंभूतो भवः। उदात्तविभवः परमैश्वर्यसंपन्नः॥ ३४॥

एक इति। इत्यनेन प्रकारेणाऽन्योन्यं परस्परं प्रकृत्या स्वभावेन महतां गुणानामनन्यसाधारणानामन्तरज्ञौ कामकंसद्विषौ श्रीशंभुविष्णू वो युष्माकं कमपि हर्षस्योत्कर्षं कुरुताम्। इति किमित्याह—एकः शंभुरन्यस्य विष्णोः श्लाघ्यं पादोदकम्। गङ्गामित्यर्थः। अधिशिरः शिरसि धत्ते। द्वितीयो विष्णुरपरस्य श्रीशम्भोर्नयनकमलेन नेत्राम्बुजेन स्वेन पूजां चक्रे। 'हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोः' इत्याख्यानात्॥ ३५॥

यस्मिन्निति। असौ महापुरुषयोः श्रीशंभुनारायणयोः सन्धिर्मेलापो वो युष्माकं निष्प्रत्यूहं निर्विघ्नत्वं बध्नातु। करोत्वित्यर्थः। असौ क इत्याह—यस्मिन्महापुरुषवपुःसन्धौ अद्रिसमुद्रजावहनयोः पर्वतक्षीराब्धिजावाहनयोः केसरिकुञ्जरप्रवरयोः सिंहगजेन्द्रयोः सौहार्देन हृद्या स्थितिर्भवति। किं कृत्वा। नैसर्गिकं वैरमुत्सृज्य। तथा यस्मिन्महापुरुषसन्धौ अहिराजपन्नगभुजौ उपवीतीकृतवासुकिनागराजगरुडौ निर्व्याजमैत्रीयुजौ भवतः॥ ३६॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-राजानकश्रीरत्नकण्ठविरचितायां
स्तुतिकुसुमाञ्जलि-व्याख्यायां लघुपञ्चिकायामेकान्तरयमक-
स्तोत्रं नाम, एकोनत्रिंशम्॥

त्रिंशः सर्गः

अथातो ग्रन्थकृन्महायमकचित्रं त्रिंशं स्तोत्रमारभमाण आह—

शारदीमिति । एषोऽवसरः समय उच्चैर्महानस्ति । किं कर्तुम् । ऐश्वरीं परमेश्वरसंबन्धिनीं मूर्तिं स्तोतुम् । किंभूताम् । अजराजितां न जरया जिता ताम् । जरयेत्युपलक्षणम् । जन्मजरामरणरूपामयरहिताम् । महानद्य एषोऽवसर सकलकरणसौष्ठवयुक्तस्य ममेत्यर्थः । यदुक्तमभियुक्तैः —

> 'यावत्पश्यसि पन्थानं यावत्ते चरणौ स्थितौ ।
> यावन्न हीयते कायस्तावदात्महितं कुरु ॥'

इति ।

पुनः किंभूतामैश्वरीं मूर्तिम् । प्रसीदतीति प्रसादिनी, प्रसादोऽस्यास्तीति वा, ताम् । कामिव । शारदीं शरत्कालभवां नदीमिव । साप्यगस्त्यमुनेरुदयेन प्रसन्नजला भवति । नदीं किंभूताम् । उच्चानि यानि कैरवाणि सितोत्पलानि सरोजानि च पद्मानि तैः, राजिता शोभिता ताम् ॥ १ ॥

रोहिणीतीति । अहं वराको रोहणीरमणखण्डमण्डनं चन्द्रार्धमौलिं विभुं दिनंदिनं, प्रतिदिनं नौमि । किंभूतम् । नन्दिनन्दिनमनं नन्दयति मनो नन्दि, तादृशं नन्दिनो द्वारपालस्य नन्दिरुद्रस्य नमनं प्रणामो यस्य स तादृशम् । पुनः किंभूतम् । गलं कण्ठं बिभ्रतम् । कीदृशम् । उपोढकालिकासंगमम् । उपोढः प्राप्तः कालिकया श्यामलिम्ना कालकूटगरलकवलीकरणजातेन संगमो यस्य स तादृशम् । पुनः किंभूतं गलम् । असङ्गं निर्निरोधं मङ्गलं यस्य स तम् ॥ २ ॥

नौमीति । अहममृतांशुशेखरं चन्द्रशेखरमीशं परमेश्वरं नौमि । किंभूतम् । भक्तजनस्य कण्ठान्निसरन् यो नादः, अतिक्रुद्धकृतान्तत्रासोद्भूतः 'अक्षरणं मां पाहि' इति, तेन रञ्जितस्तादृशम् । तथा अकालेऽनवसरेऽपि काममभिलषितं ददातीति तादृशम् । तथा कालकामयोः कृतान्तस्मरयोर्दमने आदरो यस्य स तादृशम् । पुनः किंभूतम् । जिता दूरीकृताः क्लेशा अविद्यादयः पञ्च भवमरुभ्रमणजा वा क्लेशा भक्तजनस्य येन तादृशम् ॥ ३ ॥

भ्राम्यत्विति । हे विभो । ममेति शेषः । मम मानसं चित्तं भृशमत्यर्थं भ्राम्यतु । कया । द्रविणतृष्णया धनलोभेन । कस्याम् । सदिनमानसंसदि । सच्छोभन इनानां प्रभूणां मानो यस्यां सा तादृशी या संसत्सभा तस्याम् । हे दयालो । तु पक्षान्तरे । दुस्तरेऽध्वनि भवमरुप्रदेशे, बन्धुराश्वासको न भवति । किंभूते । त्वत्स्तव एवामृतं तद्वते । त्वत्स्तवामृतं किंभूतम् । बन्धुरध्वनि बन्धुरो रम्यो ध्वनिरुत्तमकाव्यविशेषो यत्र तत् । **'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः'** इति श्रीकाव्यप्रकाशकारः ॥ ४ ॥

साध्विति । हे विभो, सा नुतिः स्तुतिर्मत्कृता विपदं जन्मजरामरणत्रासोत्पन्नां धुनातु निवारयतु । 'धूञ् कम्पने ।' कदा । अधुना । किंभूता । भवामयायामयापनलसद्रसा भवः संसार एवामयो व्याधिस्तस्य य आयामो विस्तारस्तस्य यापनं निवारणं, तत्र लसन् रसो यस्याः सा । तन्निवारणसक्तेत्यर्थः । सा का इत्याह—साध्वित्यादि । हे नाथ, हे मयार्चित । मयो नाम

विश्वकर्मसुतस्तेनार्चितः पूजितस्तत्संबोधनम् । साधुना सज्जनेन मया अत्र भवद्विषये या नुतिः कृता । कया । ईप्सया इच्छया । कथम् । साधु साधु कृत्वा ॥ ५ ॥

न मे इति । हे विभो, धनवासनाभिर्द्रविणतृष्णाभिरभिभूतस्य वशीकृतस्य, मे पिता नोपरोधस्थानम् । तच्चरणशुश्रूषायाः कदाप्यकरणात् । न च माता जननी वाशब्दश्चार्थे । न च सनाभिः सोदर उपरोधस्थानम् । तु पक्षान्तरे । परमेश्वरचरणध्यानरूपेण सुहृदा बन्धुना वियुक्तं मम मानसमाधिनामा पुनः पुनर्भवमरुभ्रमणजपीडानामा अरिस्तु रुन्धे ॥ ६ ॥

दर्पकान्तकेति । हे दर्पकान्तक । दर्पकस्य कामस्यान्तको दाहकृत्, तत्संबोधनम् । साधवो वैबुधीं धुरं बिबुधानां पण्डितानामियं वैबुधी तां धुरं दधति । विबुधाग्रणीभावं भजन्त इत्यर्थः । अथ वा—वैबुधीं देवसंबन्धिनीं धुरं देवताग्रणीभावं भजन्ते । कया धिया बुद्धया । कथंभूतया । त्वत्प्रसादविधिना लब्धा तया । पुनः कथंभूतया । विराजमानया शोभमानया । पुनः कथंभूतया । अदर्पकान्तकविराजमानया अदर्पाणामनहंकारिणां जनानां कान्तोऽभिलषितः कविराजानां महाकवीनां मानो यस्यां सा तया ॥ ७ ॥

येनेति, रविरलमिति । हे शीतकरखण्डशेखर चन्द्रशेखर, तेन दक्षिणेनेक्षणेन दर्शनेन रविप्रकाशात्मना सहजं तमोऽज्ञानमेव तमोऽन्धकारमविरलं घनमपास्य दूरीकृत्य, इमं जनं मल्लक्षणं शनैः वरमुत्कृष्टं कुरु । अत्र इममित्यस्यास्थानपदत्वेऽपि भक्तिविषये न दोषः । तेन ईक्षणेन केनेत्याह—रविरित्यादि । किल प्रसिद्धः स रविर्भास्वांस्तव दक्षिणमीक्षणमलंकुरुते । किंभूतम् । नवरञ्जनं नवं रञ्जनं रागो यस्मिंस्तत् । स रविः कः । येन शीतकरेत्यादि । हे चन्द्रमौले, येन रविणा त्वत्प्रसादवशात् कोऽप्यनन्यसामान्यः करोत्करो रश्मिसमूहोऽर्जितः प्राप्तः । किंभूतः । तामरसभासनस्तामरसानां कमलानां भासनः । पुनः किंभूतः । कोपितामरसभासनोर्जितः । कोपितः सकोपः कृतोऽमरसभायामासनं यस्य सोऽमरसभासन इन्द्रो येन तादृशश्चासावूर्जितो बलवांश्च । देवसभायामस्य कोपः कथम् ? तस्य तीक्ष्णांशुत्वात् । युगलकम् ॥ ८-९ ॥

महतेति । अत्र पूर्वार्धे महतामतामिति, असमहावपुषमिति च पदच्छेदः । उत्तरार्धे तु महतामिति, अतामसमहावपुषमिति च पदच्छेदः । हे भगवन्नैश्वर्यादिषट्कयुक्त स्वामिन् । इह जगति, सिद्धानां देवयोनिविशेषाणां गणाः कीर्तिं प्रथयन्ति विस्तारयन्ति । केषाम् । तव विभोर्भक्तिं भावनामर्थितवतामाश्रितवताम् । महतां महात्मनाम् । किंभूतां तव भक्तिम् । महतामतां मह उत्सवस्तस्य भावो महता, तया मताम् । महोत्सवरूपतया मतामित्यर्थः । पुनः कीदृशीम् । असमा अनन्यसमा ये हावाः प्रणामार्चनस्तवनादयश्चेष्टाविशेषास्तान्पुष्णातीत्यसमहावपुट् तादृशीम् । पुनः किंभूताम् । अतामसमहावपुषम् अतामसमकलुषं महद्वपुर्यस्याः सा अतामसमहावपुस्तादृशीम् ॥ १० ॥

अध्यास्यत इति । अत्र पूर्वार्धे प्रसादादिति, आमोदराजितरुचारु इति, चिरम् इति, जनेन इति च पदच्छेदः । उत्तरार्धे तु दामोदराजितरुचा इति, रुचिरञ्जनेन इति च पदच्छेदः । हे भगवन्, भवतस्तव दयालोः प्रसादात्, शमजुषा शान्तचेतसा जनेन भक्तजनेन । चिरं बहुकालं सिद्धिलाभावधि अनुद्विग्नेन, वनं काननमध्यास्यते सेव्यते । किंभूतं वनम् । आमोदराजितरुचारु आमोदेन सौरभेण राजन्ते शोभन्ते तादृशा ये तरवो वृक्षास्तैश्चारु । पुनः किंभूतम् ।

आर्तवेन ऋतुसंभवेन तृणेन शाद्वलेन मृदुना कोमलेन कीर्णं वृतम्। किंभूतेनार्तवेन तृणेन दामोदराजितरुचा दामोदरेण श्रीकृष्णेन अजिता अन्यूनीकृता रुग् द्युतिर्यस्य तत्ताद्दशेन। पुनः किंभूतेन। रुचिरञ्जनेन अभिप्रायावर्जकेन ॥ ११ ॥

तवेति। अत्र पूर्वार्धे यमिति, अकृत इति, चापलता इति, नवा समाधिमिति च पदच्छेदः। उत्तरार्धे तु यमकृतचापलतानवा इति, समाधिमिति च पदच्छेदः। हे भगवन्, तव चापलता धनुर्यष्टिः सवहरिणं यज्ञमृगं बलात्पलायमानं घ्नती, यज्ञमृगस्योत्तमाङ्गभङ्गं विदधती सती यं महर्षिं दक्षं नवासमाधिमकृत विदधे। नवः कदाचिदप्यननुभूतत्त्वात् असमोऽनन्यसामान्यः आधिर्मनोव्यामोहो यस्य स तथाविधमकृत। एतत्तु अत्यद्भुतम्। तव दयालोर्दृग् दृष्टिः पुनरपि समाधिं भुक्तिमुक्तिनिमित्तं योगमलम्भयत्प्रापयामास। किंभूता दृक्। यमकृतचापलतानवा यमस्यान्तकस्य कृतं चापलतानवं चापलतातनुत्वं यया। श्वेतनृपाभयदानेन यमस्य चापलं या अनाशयदित्यर्थः। यो भगवन्तं जामातरमपि ऋतावनिमन्त्र्यावज्ञातवान्, तस्य दक्षमुनेर्मृगरूपेण पलायितस्य यज्ञस्य धनुराकृष्य मुक्तेन शरेण शिरःशातनपर्यन्तं क्रोधं विधाय, पुनरपि प्रणामस्तवादिना प्रसादितः परमेश्वरो दयार्द्रया दृशा शिवैकताननतानिमित्तसमाधिलाभहेतुभूतं तस्यानुग्रहमकरोदित्यबन्ध्यकोपप्रसादता भगवतो व्यज्यते ॥ १२ ॥

सभाजन इति—अत्र पूर्वार्धे सभाजने इति, अनल्परतेरिति, प्रसभाजनेनेति च पदच्छेदः। उत्तरार्धे तु सभा इति, जनेनेति, निःश्रेयसभाजनेनेति च पदच्छेदः। हे भगवन्, त्वद्भक्तिभाजो नृपस्य धन्यस्य सभा प्रगुणेन प्रकृष्टगुणेन जनेन पूर्णा विभाति, विशेषेण सातिशयेन भासते। किंभूतेन। प्रसभाजनेन। प्रसभं प्रकाशमजनं गतिर्यस्य स ताद्दशेन। तथा निःश्रेयसभाजनेन कैवल्यपात्रेण। नृपस्य किंभूतस्य। सभाजने प्रीतिदर्शनेऽनल्परतेर्भूरितरसक्तेः ॥ १३ ॥

अनन्तरेति। हे भगवन्, लक्ष्मीः कमला तं पुरुषं स्वयमेत्य निषेवते। किंभूतम्। अनन्तरायं अनन्ता निर्विनाशा रायो धनानि यस्य स ताद्दशम्। रैशब्दो धनवाचकः। पुनः किंभूतम्। समनन्तरायम्। समनन्तर आसन्नोऽयः शुभावहविधिर्यस्य तम्। तं कमित्याह—अनन्तरेत्यादि। अनन्तरमविद्यमानमन्तरं कथान्तरव्यवधानं यस्य ईद्दशः। अयन्त्रितो निर्निरोधो वाग्भवो वागुद्भवो वाणीविलासो यस्य स ताद्दशो यः पुरुषो धन्यस्त्वां विभुं नित्यमनन्तरायम्—अन्तरायरहितं, निर्विघ्नं गृणाति, स्तौति ॥ १४ ॥

सह इति। हे भगवन्, मयो विश्वकर्मसुतो जगन्निर्माणकर्मनिपुण आद्यो येषां ते ताद्दशैरपि महर्षिभिर्यस्य यमस्य सहो बलं दुर्धरं दुर्निवारं, स यमो मया वराकेण हृदि मनसि धर्तुं दुःसह। मनस्यपि निवेशयितुं न शक्य इत्यर्थः। अतो हेतोस्त्वं दयालुरुमया पार्वत्या सहाभ्येत्य संमुखमागत्य भज। मामित्यर्थात्। कया। प्रसन्नया सानुग्रहया दृशा। किंभूतया। कृतानङ्गभुजांसहोमया। कृतः अनङ्गस्य कामस्य भुजांसहोमो बाहुस्कन्धाद्यवयवहोमो यया सा ताद्दश्या ॥ १५ ॥

कलेवरमिति। हे भगवन्, असौ सुधा भवद्भक्तिसुधा ममाशरणस्य इदं कलेवरं देहं कदा आप्याययते। केव। रङ्कङ्कतनोः कलेव। रङ्कुर्मृगविशेषः। 'रङ्कुशम्बररोहिषाः' इत्यमरः। रङ्कुरङ्कः यस्याः सा तनुर्यस्य स रङ्कङ्कतनुर्मृगाङ्कस्तस्य कलेव पीयूषसारमयी। सा

केत्याह। अत्र पूर्वार्धे कले इति, वरमिति, निष्कले इति, वरमिति पदच्छेदः। कले रलयोरैक्यात्करे पाणावाश्रितजनस्य वरमुत्कृष्टं वरमभिलषितं दातुमुदीरिते उच्चारिते तव निष्कले कलाया व्याजान्निष्क्रान्ते सुवाक्येऽतिमधुरवाक्ये या सुधा पीयूषप्रणाल्यस्ति ॥ १६ ॥

सदानवारीति। अत्र पूर्वार्धे सदानवारि इति, ध्वस्तसहिंसदानवा इति, पदच्छेदः। उत्तरार्धे तु सदा इति, नवाराद्धशिवा इति, भक्तिविकासदा इति, नवा इति, च पदच्छेदः। सदा नित्यं नवाराद्धशिवा। नवैः स्तवैराराद्ध उपासितः शिवः श्रीशंभुर्यया तादृशी गीर्वाणी कस्य न शिवाप्तये कैवल्यप्राप्तये भवति। अपि तु सर्वस्य। गीः किंभूता। नवा नूतना। तथा भक्तेर्विकासदा। किंभूता। ध्वस्तसहिंसदानवा ध्वस्ताः सहिंसा दानवा यया सा। केव। हरेर्विष्णोर्वरूथिनी सेना इव। सापि किंभूता। दानवारिणा मदजलेन सह वर्तन्ते तादृशा द्विरदा यस्यां सा ॥ १७ ॥

घनैरिति। हे भगवन्, अहम्। घनैः प्रबलैः। अहन्ताकृतलङ्घनैः अहन्तया कृता लंघनाः, तैः। तथा निर्मलं यत् शर्म शान्तिसुखं तद्धरन्ति तादृशास्तैर्निर्मलशर्महारिभिर्महारिभिर्महद्भिररिभिः कामक्रोधादिभिर्निराकृतमोजो यस्य स तादृगस्मि। पुनः किंभृतः। आकृतौ शरीरसंस्थानेऽपि धृता हानिर्येन स तादृगस्मि। अतो हे दयालो, नते प्रणते, अबले बलरहिते, अर्थान्मयि, ते स्वामिनो महाकृपालोरवलेपस्यावसरो न भवति। अवहेला न युक्तेत्यर्थः ॥ १८ ॥

मनसीति। हे पन्नगभीमहार। पन्नगरूपो भीमो हारो यस्य स तस्य संबोधनम्। हे फणिहार श्रीशंभो। तथा हे हतदुर्नय। हता दुर्नयास्त्रिपुरान्धकप्रभृतयो येन स तस्य संबोधनम्। अन्ते निर्याणसमये कम्पस्यैकनिमित्तं तमशुभमन्तकम् आशु शीघ्रं भङ्गं विनाशं नय प्रापय। तं कमित्याह—मनसीत्यादि। अदोषेऽपि निर्दोषेऽपि मनस्यतिशयेन दौर्मनस्यं महादुःखं ददातीति तादृशो यो भवति। किंभूतः। महान् रयो वेगो यस्य स तादृक् ॥ १९ ॥

श्रीशिवैकतानतयात्मानं कृतकृत्यमिव विदन्कविराह—

नेति। नोऽस्माकं सद्मनि वारवाणाः कञ्चुका न सन्ति। तथा नवोऽपूर्व आरवो हेषारवो येषां तादृशा हया अश्वा न सन्ति। वाशब्दश्चार्थे। दन्तिनः करिणश्च नः सद्मनि गृहे न नदन्ति। तुः पक्षान्तरे। आपदतिकष्टतरा जन्मजरामरणत्रासोद्भवा विपत् क्षता बाधिता। अस्माकमाज्ञा विपक्षाणां शत्रूणामान्तराणां बाह्यानां वा तापदा भवति। यतोऽस्माभिर्भवः संसारः पुनरावृत्तिवशादतिकष्टदो जितो निर्नाशितः। हि यस्मात्कारणात्साधु सम्यक् वाङ्मनःकायैस्तद्भक्त्यासक्त्या भवः श्रीशंभुः पूजितः ॥ २० ॥

जलाशया इति। जलाशया इति डलयोरैक्याज्जडाशया मन्दमतयः पामरास्तुच्छस्वभावाः। मृगाः, जलाशया जलस्याशया स्पृहया मरौ मरुमरीचिकासु बलं घ्नति विनाशयन्ति। अतिविततनिर्जलत्वात्। मरौ निर्जलदूराध्वनि अलङ्घ्ये दुर्विगाहे यान्ति। यथा इत्याक्षेपः। तथैव जडाशया मन्दधिषणाः पामरा नीचस्वभावा जना अपि, भवे श्रीशंभावुज्झितपूजनास्त्यक्तनित्यार्चनाः। भवे संसारे मरुमरीचिकासर्परज्ज्वादीन्द्रजालतुल्ये यान्ति भ्रमन्ति। किंभूताः। जितकोपरंहसं परिहृतरोषरयं परं हसन्तः। स्वयं क्रोधाभिभूतत्वादन्यं क्रोधहेतौ सत्यपि क्षमावन्तमुपहसन्त इत्यर्थः। यथा मरुमार्गे मृगा रविमरीचिकाचितासु सिकतासु सलिलभ्रममुद्दिश्य मिथ्या भ्रमन्ति, सलिलं तु न लभन्ते, प्रत्युत बलहान्या विनाशमेवाश्नुवते। तथैव श्रीभगवदर्चनपराङ्मुखाः पामरा

मन्दमतयः पुरुषाधमा अपि श्रीपरमशिवशक्तिपातविरहवशात्परमनिर्वाणप्राप्तिपरिपन्थिनि संसारे एव मोहतिरोहितधियो मुधैव भ्रमन्ति । परमेश्वरपूजनपरास्त्वीश्वरेणानुगृहीता भवक्लेशाभावान्मुच्यन्त इति तात्पर्यार्थः ॥ २१ ॥

अमन्देति । हे देव । दीव्यति परमे पदे देवस्तत्संबोधनम् । हे देव परमशिव, अमन्देन महता रागेण प्रेम्णा, आश्रितो मन्दराख्योऽगः पर्वतो यैस्ते धन्या जना देवजातौ जाता अमरत्वं प्राप्ताः । ते के इत्याह—हे सिद्धसाध्यार्चित । सिद्धाः साध्याश्च देवयोनयस्तैरर्चितः पूजितस्तत्संबोधनम् । हे देव, ये जना रताः । अर्थात्त्वय्येव त्वदेकशरणा एव । ते तव विभोः अतानवं तनुत्वरहितं, महान्तं, नवं स्तवं तेनुर्विस्तारयामासुः । 'तनु विस्तारे' धातुः । मन्दरगिरेर्भगवन्निवासतया प्रशस्तस्य समस्तसुखोपभोगभूमित्वसंभावनास्पदत्वम् ॥ २२ ॥

सदयेति । अत्र सदय इति, मोदय इति, मा इति, उदयमोक्षदम् इति, कृशमद इति, शमद इति, शम् इति, अदः इति, कुरु इति, न इति, हि इति, तता इति, हितता इति, आहिततायनैः इति, कृतनुते इति, तनुते इति, तनु इति, ते इति, शुभम् इति, पदच्छेदः । हे सदय सकृप परमेश्वर, त्वं कर्ता मा मां मोदय आनन्दय । हे विभो, कृशस्त्रिजगदधीशत्वेऽपि स्वल्पो मदोऽहंकारो यस्य स तादृक् त्वम् , उदयमोक्षदं भुक्तिमुक्तिदमदः आमुष्मिकं शं कल्याणं भवाब्ध्युद्धरणरूपं कुरु । किंभूतस्त्वम् । शमद, उपशमप्रदः । न हीत्यादि । हि यस्मादाहिततायनैः । 'तायृ पालने' धातुः । आहितं कृतं तायनं पालनम् । उपलक्षणमेतत् । पालनादि यैस्ते तादृशा आहिततायना विष्ण्वादयस्तैः कृतनुते विहितस्तुते, श्रीशंभो, तता विस्तीर्णा । ते तव संबन्धिनी, हितता सस्नेहता, तनु अल्पं शुभं कल्याणं न तनुते । अपि तु महदेव कल्याणं विस्तारयतीत्यर्थ ॥ २३ ॥

रसमय इति । अत्र रसमये इति, समये इति, असमया इति, ईहया इति, धनं इति, अहीनम् इति, अहीनमहीषु इति, अपि इति, कृतमुत् इति, आत्तम् इति, उदात्तम् इति, उदाहृतम् इति, तत् इति, आपदम् इति, आप इति, दमापहम् इति पदच्छेदः । हे भगवन् , दमापहं मदहेतुत्वादुपशमहारि, तदिदं धनमापदं विनाशमाप प्रापत् । तदिदं किम् । यदित्यध्याहारः । अहीनां सर्पाणामिना वासुक्यादयस्तेषां महीषु नागाधिपभूमिष्वपि उदाहृतं सर्वजनेन सर्पाधिपस्थानादिषु कीर्तितम् । तथा उदात्तमुदारम् । तथा कृतमुत् , कृता मुद्धर्षो येन तत्तादृशम् । अहीनमखण्डितं यद्धनं रसमये अतिसरसे समये यौवनावसरे, असमया अनन्यसामान्यया ईहया चेष्टया मया आत्तं गृहीतम् ॥ २४ ॥

मदनेति । अत्र । मदनवादनवादनवासनायतनयातनया इति, तनया इति, अम्बुधेः इति, अकृत इति, वै इति, कृतवैकृतवैशसा इति, सकमला इति, कमला इति, कम् इति, अलाघवम् इति पदच्छेद । हे भगवन् , सह कमलेन पद्मेन वर्तते या सा सकमला लक्ष्मीरम्बुधेः समुद्रस्य तनया । वै निश्चये । कं पुरुषमलाघवं लघुत्वविहीनं चकार । अपि तु सर्वं लघूकृतवतीत्यर्थः । कया । मदनवादनेत्यादि । मदनस्य कामस्य वादः कामकलहस्तथा नवं नूतनं च तत् अदनं भोजनं तयोर्विषये या वासना इच्छा तया यतनं प्रयत्नस्तेन हेतुना या यातना तीव्रवेदना तया हेतुभूतया । कामकलहभोजनाद्यपूर्वभोगेच्छानिमित्तप्रयत्नक्लेशार्पणेन कं न लक्ष्मीः लघूकृतवतीत्यर्थ : । कथं भूता कृतवैकृतवैशसा·········॥ २५ ॥

कमलयेति । कमलया इति, अमलया इति, मलयाद्रिवत् इति, त्रसदयासदया इति,

सदयाप्यया इति, प्रवरधीवर इति, धीवर इति, कलय इति, मा इति, अलयम् इति, आलयम् इति, आपदि इति, पदच्छेदः । हे धीवर किरातरूप । पार्थस्य तपस्यतो भक्तिपौरुषादिपरीक्षार्थमित्यर्थः । तथा हे प्रवरधीवर प्रवरा उत्कृष्टा या धीबुद्धिस्तया वर श्रेष्ठ, त्वं दयालुर्मलयाद्रिवचन्दनाचलवत् अमलया निर्मलया । तथा त्रसतां भीतानां अयासम् अनायासं ददाति तादृश्या त्रसदयासदया । तथा सद्यैः सकरुणैराप्या लभ्या तादृश्या सदयाप्यया । तथा धीरया स्थिरया कमलया लक्ष्म्या, मा मां कलय भूषय । मां कीदृशम् । आपदां दुर्गतीनामालयं निवासस्थानम् । पुनः किंभूतम् । अलयमनश्वरं निवासरहितं वा । पूर्वश्लोके मम धनं बहु प्रयत्नार्जितमपि विनाशं प्राप्तमिति निमित्तमभिधाय, अत्र वृत्ते हे भगवन्महेश्वर, त्वमिति हेतामामापदामाश्रयमपि लक्ष्म्या मोक्षलक्ष्म्या सालङ्कारं संपादयेति स्तोतुः प्रभुं प्रति विज्ञप्तिः ॥ २६ ॥

वितरणेति । वितरणाभरणा इति, भरणाभयक्षममना इति, मम इति, नाम इति, मनाक् इति, अपि इति, शुभवने इति, भवने इति, भव इति, न इति, ईप्सितप्रद इति । रमा इति, अदरम् इति, आदरम् , इति आदधे इति पदच्छेदः । नाम संभावनायाम् । हे भव त्रिजगदुत्पादक, हे ईप्सितप्रद, वितरणं दानमेवाभरणं यस्याः सा । तथा भरणं पोषणं च, अभयमभयदानं च, तत्र क्षमं मनो यस्याः सा भरणाभयक्षममनाः । एवंभूता रमा लक्ष्मीर्मनागपि ईषदपि, अदरमभयम् , आदरं स्पृहां च मम भवने गृहे न आदधे न चकार । भवने किंभूते । शुभवने शुभानि शोभनानि वनानि क्रीडोद्यानानि यस्मिंस्तादृशे ॥ २७ ॥

अनयत इति । अत्र अनयतः इति, नयतः इति, न इति, यतः इति, धृतिप्रद, शंसति इति, इति, यमात् इति, अयमात् इति, अयम् इति, आश्रितः इति, त्रसति इति, शंसति इति, शम् इति, च इति, यः इति, धृतमुदम् इति, तम् इति, उदन्तम् इति, उदञ्चय इति पदच्छेदः । हे धृतिप्रद भीरूणां धैर्यार्पण, त्वं धृतमुदं दृढीकृतानन्दं तमुदन्तं वृत्तान्तमुदञ्चय प्रकटय । तं कमित्याह—अनयत इत्यादि । यतो यस्मादुदन्ताद्वृत्तादनयतो दुर्नयाद्धेतोर्नयतोऽप्राप्तकालानपि कुहेवाकतो हरतः । अयमात् संयमरहितात् । यमात् कृतान्तादयं मल्लक्षण आश्रितः शरणागतो न त्रसति न बिभेति । तमेव वृत्तान्तं प्रकटीकुर्वित्यर्थः । पुनश्च तमुदन्तं कम् । शंसति स्तुवति जने यश्च शं निःश्रेयसं शंसति सूचयति । शंसतीति सप्तम्येकवचनम् । अकालमृत्युशमनं निःश्रेयसप्राप्तिनिमित्तं तं वृतान्तं प्रकटयेत्यर्थः ॥ २८ ॥

शुभवतेति । अत्र शुभवता इति, भवता इति, भवतारिणा इति, शकलिता इति, अकलिता इति, कलितापभूः इति, हर इति, कृतान्तकृतान्तकृतान्त इति, नो इति, किम् इति, अमता इति, ममता इति, मम इति, तादृशी इति पदच्छेदः । हे हर भवामयहर । तथा कृतान्तस्य यमस्य यः कृतान्तो बलादनन्तजन्तुहरणहेवाकरूपः सिद्धान्तो निश्चयः, तस्य कृतोऽन्तोऽवसानं येन सः कृतान्तकृतान्तकृतान्तस्तस्य संबोधनं, हे कृतान्तकृतान्तकृतान्त, शुभवता शस्तकल्याणप्रदेन तथा भवात्संसारात्तारयतीति तेन भवतारिणा संसारसागरोत्तारकेण, भवता स्वामिना मम आश्रितस्य । अमता अनभिप्रेता ममता । ममेदमिति भावो ममता । पुत्रदारधनादिषु ममेति भावः । मम तादृशी अतिप्रसिद्धा । किं नो शकलिता खण्डिता । ममता किंभूता । अकलिता अगणिता । असंख्येत्यर्थः । पुनः किंभूता । कलितापभूः, कलिकालनिमित्तस्य त्रिविधस्य तापस्य भूः प्रसूतिः ॥ २९ ॥

विशदेति—अत्र विशदशोभय इति, शोभय इति, त्रिजगत् इति, अक्षमदक्षमदक्षम

इति, स्वपदम् इति, आनय इति, मानय इति, मा इति, नयक्षतसमक्षयमशयम् इति, अक्षय इतिपदच्छेदः। हे विशदशोभयशोभय। विशदा निर्मला शोभा यस्य तत्तादृशं यशो यस्य ईदृशमभयमभयदानं यस्य तस्य संबोधनम्। हे अक्षमदक्षमदक्षम। अक्षमः क्षान्तिरहितो यो दक्षो दक्षमुनिस्तस्य मदं गर्वं क्षमते यस्तस्य संबोधनम्। तथा हे अक्षय अनिधन भगवन्, मा मां कर्मभूतं स्वपदमानय निजं पदं प्रापय। अतएव मानय। मां संमानभाजनं संपादयेत्यर्थः। स्वपदं किंभूतम्। नयक्षतसमक्षयमक्षयं नयेन दुष्टदमनप्रवणया नीत्या क्षतो बाधितः क्षयं प्रापितो वा समक्षं सर्वलोकप्रत्यक्षमेव यमक्षयः कृतान्तनिवासो येन तादृशम्॥ ३०॥

घनेति। दयेति। अत्र घनाघनाशनैः इति, शनैः इति, नवैः इति, नवैः इति, इह इति, अरिहा इति, भवान् इति, भव इति, अन्वहम् इति, वहन् इति, अहीम् इति, अहीनदानदाः इति, दयोदयोर्जित इति, अर्जितः इति, मया इति, उमया इति, उचितः इति, चितः इति, यतेय इति, ते इति, हितेहिते इति, रवैः इति, अवैरधीरधीः इति पदच्छेदः। हे भव शंभो, मया कर्त्रा संसारे। घनाघनाशनैः घनानि बहलानि यान्यघानि पापानि तानि नाशयन्तीति तादृशैः नवैर्नूतनैः नवै स्तवैः शनैर्मृदुनोपायेन। प्रसह्य झगिति यावत्। भवान्विभुः अरिहा कामक्रोधाद्यान्तररिपुहा अर्जितः स्वीकृतः। भवान् किं कुर्वन्। अन्वहं प्रतिदिनमहीन्सर्पान् वासुकिप्रभृतीन् वहन्धारयन्। पुनः किंभूतः। अहीनदानदाः। ददातीति दाः, अहीनदाने अखण्डितदाने दाः दाता। पुनः किंभूतः। दयोदयेन करुणोदयेनोर्जित उदारो यः स दयोदयोर्जितः। पुनः किंभूतः। उमया पार्वत्या चितो युक्तः। तथा उचितो योग्यश्च। हे भगवन्, ते तव, हितेहिते हितं च तदीहितं भवदभिमतपरिचर्याप्रयोजनं तत्र अहं यतेय प्रयत्नपरो भवेयम्। यतेय इति क्रियापदम्। कैः। रवैः स्तुतिशब्दैर्मुखवाद्यरवैर्वा। अहं कीदृशः। अवैरा रिपुष्वप्यविरुद्धा धीरा धीर्मतिर्यस्य स तादृशः। युग्मम्॥ ३१–३२॥

तवात्तेति। हेविभो हेशंभो, आत्तं प्राप्तं बाधनं विनाशो येन तत्तादृशे आत्तबाधने धने, आन्तरे धने संविद्रूपे बाह्ये वा धने हिरण्यादौ प्राप्तविनाशे सति, तव दयालोरन्तिके मया आमयाविना भवमहारोगग्रस्तेन शारीररोगग्रस्तेन वा विना, के जना गदं रोगं गदन्ति निवेदयन्ति प्रभोरग्रे। विभोजना निरशना वा के जनाः। मां विधिहतं विना त्वदन्तिकगता निर्धना निरशनाः के निजरुजमावेदयन्ति। न केचित्। किं त्वहमेव केवल इति भवता दयालुना नात्रोपेक्षितं युक्तमिति भावः॥ ३३॥

स्तवास्तवेति। स्तवाः इति, तव इति, आहिताः इति, हिताः इति, न इति, केन इति, केवलम् इति, बलम् इति, शुभा इति, आशु इति, भारती इति, रतीशनाशन इति, आपत् इति, आपदा इति, पदच्छेदः। हे रतीशनाशन कामान्तकारिन्, केन भक्तजनेन, हिता हृद्याः। स्तवा स्तुतिरूपास्तव न आहिता न विहिताः। अपि तु सर्वजनेन। इयं शुभा कल्याणकारिणी मे भारती वाणी आशु निर्विलम्बमेव आपदा भवरोगापदा बलमुत्कर्षमापत् प्राप्तवती। महापत्पतितस्य वराकस्य मे इयमाक्रन्दितवाणी इतरमहाकविस्तुतिकथाभ्योऽधिकं त्वदाराधनायालमिति यावत्॥ ३४॥

नतानिति। नतान् इति, अतानवान् इति, अवारितारितापदम् इति, पदम् इति, हर इति, आहरामि इति, ते इति, अमिते इति, शमे इति, शम् इति, एवमेव इति, मे इति पदच्छेदः। हे हर आश्रितजन-भवामयहर, तनोर्भावस्तानवं, न विद्यमानं तानवं येषां ते अतानवास्तादृशान्।

अनल्पानिति यावत् । नतान् भक्तिप्रह्वान् ते तव पदं त्वदीयं धाम आहरामि । भवत्प्रसाद-प्राप्तोपदेशयुक्त्या प्रापयामीत्यर्थः । पदं किंभूतम् । अवारितारितापदम् , अवारिता अनियन्त्रिता येऽरय आन्तराः षट् कामक्रोधाद्यास्तेषां तापं दूरीकरणं ददति तादृशम् । कस्मिन्सति । अमिते अनल्पे शमे संयमे सति । एवमेव प्रह्वजनानां त्वद्धामप्राप्तिनिमित्तभवत्स्तुत्यवबोध-रूपं मे मम शं कल्याणमुभयलोकशुभावहमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

परापरेति । स मेति । परापराधबान्धवाः इति, सवासवाः इति, सुरासुरा इति, सदा इति, सदानमानम् इति, आश्रयम् इति, श्रयन्ति इति, यन्ति इति, यम् इति, स इति, मा इति, समाहितम् इति, हितम् इति, बत इति, अवतात् इति, अमन्दमम् इति, कलङ्कलङ्घने इति, घने इति, हि इति, अबाह्यवासन इति, सः इति, नः इति पदच्छेदः । बत आश्चर्ये । सः समाहितं समाधिनिष्ठं भक्तं मा मां वराकमवतादक्षतु । 'अव रक्षणे' धातुः । मा किंभूतम् । अमन्दमम् अमन्दा अनल्पा मा लक्ष्मीर्मोक्षलक्ष्मीर्यस्य स तादृशम् । स क इत्याह — परापरा इति । परापराध-बान्धवाः परेषामपराधेऽपि बान्धवा बन्धुभूताः । कृतापकाराणामप्युपकारिण इत्यर्थः, एवंभूताः सवासवाः । सह वासवेनेन्द्रेण वर्तन्ते ये तादृशाः । सुरासुरा देवासुराः । सदा नित्यं यं परमेश्वरमाश्रयं श्रयन्ति अभिलषन्ति । कथम् । सदानमानं । सह दानेन श्रीशिवार्पणेन मानेन पूजया च सदान-मानम् । तथा यं विभुं यन्ति गच्छन्ति शरणार्थम् । कुतस्तदित्याह—घने बहले कलङ्कलङ्घने मलापसरणे अबाह्यवासनो भवति । अबाह्या अबहिरङ्गा, वासना इच्छा यस्य स तथोक्तः । केषां कलङ्कलङ्घने । नः अस्माकम् । हि निश्चये । युगलकम् ॥ ३६–३७ ॥

अलमिति । अलम् इति, घना इति, अलङ्घना इति, तपसि इति, अतः इति, तपस्यतः इति, तनुः इति, हि इति, मे इति, अतनुः इति, हिमे इति, अङ्गतानवम् इति, गता इति, नवम् इति पदच्छेदः । हि यस्मात् । हे भगवन् , तपसि माघे, अलमत्यर्थं घना मेघा अलङ्घना लङ्घयितुमतिवाहयितुमशक्याः । अतोऽस्माद्धेतोस्तपसि माघे हिमे शीतकाले तपस्यतस्तपः कुर्वतः शीते यथोचितव्रतचर्यापरस्य मम अतनुरकृशापि तुनुर्मूर्तिर्नवमपूर्वमङ्गतानवमवयवकृशत्वं गता प्राप्ता । अतस्त्वदाराधनव्रतकृशतरवपुषोऽपि ममोपरि अवलेपपरो मा भूरिति स्वामिने आर्ति-र्निवेदिता ॥ ३८ ॥

मलमिति । अत्र मलम् इति, अलक्षवलक्षबलस्मरस्मरणकारणकार इति, कदङ्कदम् इति, हर इति, हरस्व इति, भजस्व इति, भजन् इति, दिशम् इति, दिश इति, विभासविभास-दृशम् इति, दृशम् इति पदच्छेदः । हे हर संसारिणां भवामयहर । तथा लक्षणं लक्षः, अविद्य-मानो लक्षो लक्षणमियत्तया परिच्छेदो यस्य तत् अलक्षम् । वलक्षमवदातं बलं सामर्थ्यं यस्य ईदृशो यः स्मरः कामस्तस्य स्मरणकारणं स्मृतिशेषतानिमित्तमर्थाद्देहदाहं कृतवान् यस्तस्य संबोधनं—हेअलक्षवलक्षबलस्मरस्मरणकारणकार, त्वं मम मलं त्रिविधमाणवमायीयकार्मभेदात्त्रि-विधमावरणं, हरस्व दूरीकुरु ।

'गोपितस्वमहिम्नोऽस्य संमोहाद्विस्मृतात्मनः ।
य संकोचः स एवाद्य आणवो मल उच्यते ॥
ततः षट्कञ्चुकव्याप्तिविलोपितनिजस्थितेः ।
भूतदेहे स्थितिर्यासौ मायीयो मल उच्यते ॥

यदन्तःकरणाधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियादिभिः ।
बहिर्व्याप्रियते कार्ममलमेतदुदाहृतम् ॥'

इत्यागमविदः । मलं किंभूतम् । कदङ्कदं । कुत्सितश्चासावङ्को लक्षणं कदङ्कः, कदङ्कं कुलक्षणं ददातीति कदङ्कदस्तादृशम् । त्वं किं कुर्वन् । दिशम् ऐशानीं भजन्, प्रपन्नजनानुजिघृक्षया विश्वमयोऽपि नियतां दिशमाश्रयन् । किं च, हे विभो, त्वं दृशं दिश, दृष्टिं देहि । किंभूताम् । विभासविभासदृशां । भासनं भासः, विशिष्टो भासो विभासः, सर्वातिशायि विज्ञानं विभा दीप्तिश्च, ते विभासविभे तयोः सदृशीम् । समगुणामिति यावत् ॥ ३९ ॥

भवेति । अत्र भवसंभवसंहतमोहतमोदमन इति, इदम् इति, अनेकम् इति, अशङ्कम् इति, अशम् इति, सविकासविकारचितं इति, रचितम् इति, हर इति, मे इति, हर इति, मेदुरितम् इति, दुरितम् इति पदच्छेदः । हे हर महाप्रलयेषु ब्रह्मादिकारणसंहारक । तथा हे भवसंभवसंहतमोहतमोदमन—भवसंभवं संसारसमुद्भूतं, संहतं पुञ्जीकृतं, यन्मोहतमोऽज्ञानान्धकारं तस्य दमन उपशामक । अनेकं बहुविधं अशङ्कं कृत्वा रचितं कृतम् । तथा अशम् । अविद्यमानं कल्याणं यस्य तत्तादृशं, तथा सविकासैः सविस्तारैर्विकारैराधिव्याधिप्रियवियोगादिभिरवस्थापरिणामैश्चितं व्याप्तम् । कृतपरिचयमिति यावत् । तथा मेदुरितम् । अन्यजनाग्रे ख्यापनानुतापप्रायश्चित्ताद्यकरणात्सान्द्रीभूतं, वर्धितम् । इदं स्वयमनुभूयमानं दुरितं पापं वाङ्मनःकायोत्थं त्रिविधं हर निवारय ॥ ४० ॥

कृपणमिति । अत्र कृपणम् इति, भगवन् इति, बहुश इति, अभिहितम् इति, बहुशोभि इति, हितम् इति, दिश इति, मे इति, वचनम् इति, दिशम् इति, एव इति, च इति, नन्दितमानस इति, तामिति, दितमान इति, सताम् इति, न इति, पतामि इति, यतः इति पदच्छेदः । हे भगवन्दयालो, मया वराकेण बहुशोऽनेकशः कृपणं कृपोत्पादकं दीनवचनमभिहितमुक्तं भूरीन्वारान्प्रलपितम् । अतस्त्वं मे वचनं दिश, अभिमतवराभयार्पणप्रथनं वाक्यं देहि । किंभूतम् । बहु चिरं शोभते तच्छीलं बहुशोभि । तथा हितमुपकारकम् । हे सतामुत्तमानां नन्दितमानस, नन्दितं ह्लादितं मानसं चित्तं येन स तस्य संबोधनम् । तथा हेदितमान । 'दो अवखण्डने' धातुः । दितः खण्डितो मानोऽहंकारो मदोद्धतानां येन स तस्य सम्बोधनम् । त्वं तां दिशमेव तं प्रकारमेव दिश देहि । तां दिशं कामित्याह—यतो हेतोरस्मिन्संसारसंकटे न पतामि । तमेव प्रकारं संदर्शयेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

मन्यामह इति । अत्र मन्यामहे इति, गतिम् इति, ऋते इति, त्वयि इति, भक्तिम् इति, अन्याम् इति, अन्यायगाम् इति, तव इति, दृशा इति, एव इति, तमःशमन्या इति, मन्याभिधाभृति इति, नतिं इति, सहते इति, धमन्याम् इति, अन्याभिधेषु इति, न इति, हि इति, धीः इति, अभिमानिमन्या इति पदच्छेदः । हे विभो, तमोऽज्ञानरूपमन्धकारं शमयतीति तादृश्या तमःशमन्या, तव स्वामिनो दृशा एव अनुग्रहदृष्ट्यैव । त्वयि विषये भक्तिमृते बिना, अन्यां गतिमन्यायगामनौचित्येन प्रवृत्तामेव वयं मन्यामहे । यतो हेतोरभिमानिमन्या अभिमानिनमात्मानं मन्यते तादृशी धीर्बुद्धिः । मन्या इत्यभिधां, नाम, बिभर्तीति मन्याभिधाभृत्, तस्यां मन्याभिधाभृति, धमन्यां कन्धरायाम् । अन्याभिधेषु अन्यनामसु जनेषु । हि यस्मात्कारणात् । नतिं न सहते । श्रीशंभुभक्तोऽन्यजनेषु नम्रां निजकन्धरां न सहते इत्यर्थः । 'पश्चाद्ग्रीवा शिरा मन्या' इत्यमरः ॥ ४२ ॥

मानारतमिति। अत्र मा इति, अनारतम् इति पदच्छेदः। हे नाथ त्रिलोकनाथ, मानं पूज्यतामतिवृत्तोऽतिक्रान्तो विभवो यस्याः सा। तथा अन्वहं प्रतिदिनं एधमाना वर्धमाना। अनारतं सततं, निजाश्च पराश्च तैरुपभुज्यमाना मा लक्ष्मीर्मा भूत्। इदं तु मेऽभिमतमित्याह— भवत्वित्यादि। मानेनालसा मानालसा मानिनो जनास्तैरभिनन्द्यमाना, मे मम धीर्बुद्धिः सुहृदरातिषु मित्ररिपुषु। समाना सदृशी भवतु। तथा चोक्तं श्रीभर्तृहरिणा—

'अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
कदारण्ये पुण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः॥'

इति॥ ४३॥

दोषारय इति। हे विभो महामदोषा महान्मदस्योषो दाहो येषां ते तादृशा दोषाः कामक्रोधाद्या एवारयः शत्रवो मां तरलयन्ति कम्पयन्ति। तथा मोहमयप्रदोषा मोहमयोऽज्ञानमयः प्रदोषो रजनीमुखं प्रकृष्टश्च दोषो यस्याः सा दोषा रात्रिर्मे धृतिं हरति। अज्ञानरूपरजनीमुख इत्यर्थः। दोषाकरश्चन्द्रोऽङ्को मौलिस्थं लक्ष्म यस्य स दोषाकराङ्कः श्रीशंभुः, स एव वपुर्यस्याः सा दोषाकराङ्कवपुः। चन्द्रमौलिरूपेत्यर्थः। ईदृशी उषा प्रभातं, कदा मामेष्यति। श्री चन्द्रमौलिदर्शनरूपं प्रभातं कदा मे भविष्यतीत्यर्थः। उषा प्रभातं केव। उषा बाणासुरदुहितेव। यथा बाणासुरतनया उषा, अनिरुद्धं प्रद्युम्नतनयमेति। अनिरुद्धं किंभूतम्। दोषात्तकण्ठं। दोषा भुजेन आत्तो गृहीतः कण्ठो यस्य स तादृशम्। दोषशब्दो भुजवाचकः। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः। उषा कीदृशी। उन्मदा मदनावेशेनोत्कटमदा॥ ४४॥

केति। हे राकाराजखण्डशिखर। राकाराजश्चन्द्रस्तस्य खण्डः शिखरे मौलौ यस्य स तस्य संबोधनम्। अत्र भवनामनि संसाराख्ये कारागृहे बन्धनागारे, तव विभोः कृपां बिना का मोचिका भवति। न कापि मुक्तिदायिनीत्यर्थः। का कीदृशी। रामणीयकत्वेन रम्यत्वेन, कृत इन्दुकराणां चन्द्रकिरणानामनुकारो येन स तथाविध आकारो यस्याः सा रामणीयककृतेन्दुकरानुकाराकारा। पुनः किंभूता। प्रथितोपकारा प्रथित उपकारो यस्याः सा। पुनः किंभूता। क्षपितान्धकारा क्षपितोऽन्धकारो मोहतमोरूपो यया सा॥ ४५॥

काशान्तेति। का कर्त्री। भृतसेवकाशा भृता पूरिता सेवकानां शिवैकतानानामाशा अभिलाषो यया सा तादृशी भवति। कामृते। शांभवीं शंभुसंबन्धिनीं दृशं कृपादृष्टिं विना। का कीदृशी। का ईषत् शान्तं चित्तं मनो येषां ते काशान्तचित्ताः, तैर्धृतो मुक्तिपथस्यावकाशो यया सा। पुनः किंभूता। प्रचुरः प्रकाशो यस्याः सा। किंवत्। आकाशान्तवर्तिरविवत् आकाशस्य नभसोऽन्ते वर्तते तादृशो यो रविः सूर्यस्तद्वत्। पुनः किंभूता। काशैस्तृणविशेषैरवकीर्णं च तत्खिलमनाहतमरण्यं तेन तुल्या कृता अन्तकाशा यमदिग् यया सा। यथारण्ये कश्चिन्न प्रविशति तथा भगवद्दृक्पातेनान्तकदिशि न कोऽपीत्यर्थः। 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यमरः॥४६॥

कामिति। हे भगवन्, त्वदनुरक्तनृपारिकान्ता। त्वयि विभावनुरक्ता वाङ्मनःकर्मभिस्त्वद्भावनासक्ता ये नृपा राजानस्तेषां ये अरयः शत्रवस्तेषां कान्ता अङ्गनास्तापेन तान्तिर्ग्लानिस्तापतान्तिः कां न तापतान्तिमुपयान्ति गच्छन्ति। कस्मिन्। शुचौ निदाघे।

किंभूताः । कान्तारगाः । 'कान्तारं दूरशून्योऽध्वा' इत्यमरः । कान्तारं मरुभूमिं गच्छन्तीति तादृश्यः । पुनः किंभूताः । कान्ता रमणीयाः । पुनः किंभूताः । कान्ता अभिलषिताः । पुनः किंभूताः । कान्तैः पतिभिरवलम्बिता करा यासां ताः । तथा स्खलितः कण्टकेषु लग्नोंऽशुकान्तो वस्त्रप्रान्तो यासां ताः । तथा हठात्प्रसह्य वनचरैः किरातैर्मृदितोऽलकानामन्तो यासां ताः ॥४७॥

मायेति । अनात्मन्यपि देहादावात्मज्ञानमविद्यापर्याया माया मे मम आयासं संसृतिजमर्पयति । केव । मरुक्ष्मायां मरुभूमौ अर्करश्मिपटलीव सूर्यकिरणततिरिव । का माया । या दुरतिक्रमा ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घ्या । हे दयालो, अत्रास्यां मायामय्यां महातमायां महत्तमस्विन्यां कदा तव दयालोः कृपा, उषा इव, प्रभातमिवायाति । हि निश्चये, तव कृपा किंभूता । माया लक्ष्म्याः पदं स्थानम् । पुनः किंभूता । कलितोत्तमायाः । कलितः प्रसादीकृत उत्तमोऽयः शुभावहो विधिर्यया सा ॥ ४८ ॥

रामादीति । रामो रघुपतिरादौ येषां ते रामादयस्तैः सेव्यो यो भवः श्रीशिवभट्टारकस्तस्य भक्तिं बिभर्तीति रामादिसेव्यभवभक्तिभृत् , तस्य श्रीशिवैकतानस्य धन्यस्य पुंसः, सद्म गृहं, राः धनं कर्तृ, न उज्झति । राः मान्यम् इति पदच्छेदः । तथा श्रीशिवभक्तस्य सद्म मा लक्ष्मीर्मोक्षलक्ष्मीश्च नोज्झति । मा कीदृशी । न अस्थिरा । स्थिरैवेत्यर्थः । द्वौ नञौ प्रकृतमेवार्थं सूचयतः । अत्र 'राया धनेन मान्यमिति सद्मविशेषणं यदन्यैष्टीकाकारैर्व्याख्यातं तच्चिन्त्यम् । रैमान्यमिति भवेत् । न चास्थिरेत्यत्र चकारस्य वैयर्थ्यं च स्यात् । तस्मादस्मत्कृतैव व्याख्या श्रेयसी । मा लक्ष्मीः किंभूता । अभिरामा । पुनः कीदृशी । क्षतो दुस्तरो दुरुत्तरोऽमो रोगो भवरोगो यया सा । केव । ओषधिरिव । किंभूता ओषधिः । आराममाश्रिता । सापि क्षतदुस्तरामा भवति । पुनः किंभूता । कृतः साधूनां विपद्विरामो यया सा । केव । सती पतिव्रता रामेव । सापि सद्म नोज्झति ॥ ४९ ॥

वारांनिधेरिति । हे भगवन् , तव दृक्प्रसादद्दष्टिर्वारानुवारमुदयत्युल्लसति । निजभक्तजनं प्रतीत्यर्थः । केव । वारांनिधेः सुधेव पीयूषवृष्टिरिव । किंभूता । दुर्निवारा। पुनः किंभूता अघानां पातकानां क्षयकृत् । केव । वाराणसीनगरीव । सापि तादृशी । तथा ध्रुव आरो गमनं गतिर्यस्याः सा ध्रुवारा । 'ऋ गतौ' धातुः । वाराणसी पुर्यप्यवश्यगम्या । पुनः किंभूता । साश्ववारा पृतना सेना इव । किंभूता । उरूणि कूर्चवाराणि कवचानि यस्याः सा । सापि वारानुवारमुल्लसति । तथा केव । वाराङ्गनेव । सापि तादृशी भवति ॥ ५० ॥

भद्राभिध इति । भद्राभिधे भद्रनामनि गजे करिणीव । 'भद्रो मन्दो मृगश्चेति संकीर्णश्चेति जातयः । करिणां–' । भद्रासने भद्रपीठे ईशं परमेश्वरमर्चितवतः पूजितवतः पुरुषस्य भद्रा कल्याणदायिनी तनुर्मूर्तिर्विभद्रा विशेषण भद्रा मेलापिजनमोहहरा भवति । किंभूता । अक्लप्तभद्रा न क्लप्तानि च्छेदितानि भद्राणि यया सा । कल्याणवर्धिन्येवेत्यर्थः । क्लपिधातुश्छेदनार्थोऽपि । पुनः कीदृशी । ईप्सितदा अभिलाषितप्रदा । केव । सिता शुक्लपक्षसंबन्धिनी भद्रा तिथिर्द्वितीया सप्तमी द्वादशीतिथिरिव । पुनः किंभूता । गुणैर्विडम्बित उपमितो रामभद्रो दाशरथिर्यया सा । पुनः किंभूता । कृता भाले ललाटे भद्रा चन्दनेन कृता रेखा यया सा कृतभालभद्रा । भद्रा इति देश्याम् ॥ ५१ ॥

नागाधमापेति । हे भगवन् , मम धीर्बुद्धिरगाधं तव हृत् हृदयं नाप न प्राप ।

किंभूता धीः । अनागाः । न विद्यमानमागोऽपराधो यस्याः सा तादृश्यपि । केव । सुरपुरीव अमरावतीव नागालयम् । यथा सुरपुरी नागालयं पातालं न प्राप्नोति । किंभूता सुरपुरी । सकाञ्चनागा सह काञ्चनागेन मेरुणा वर्तते या । सा च मम धीः अकदर्थना अनिन्द्या गाः वाचः सृजन्ती उत्पादयन्ती परत्र परमेश्वरस्तुतिरसादन्यत्र नागात् न गता । केव । इन्द्रदिगिव । यथा सा परत्र (पश्चिमे) न गच्छति । सापि किंभूता । नागाश्रिता नागेन हस्तिमल्लेनाश्रिता । तथा उन्नता नन्दने नन्दनोद्याने अगा वृक्षा यस्यां सा ॥ ५२ ॥

सारासहेति । हे भगवन् , मम मन्दमतेर्धीर्बुद्धिस्त्वयि विभौ विषये मन्दसारा, मन्दः सारो गमनं यस्याः सा तादृशी भवति । किंभूता । सारासहा, सारमुचितमुत्कृष्टं न सहते सारासहा । अनुचितमार्गगेत्यर्थः । पुनः किंभूता । सह आराधनेन वर्तते या साराधना । अत्र हेतुः—किंभूता । विहितो मोहनिशायामविद्यारूपनिशायामभिसारो यया । पुनः कीदृशी । सह आरावेण 'कुहू' इति शब्देन वर्तन्ते तादृशा ये कोकिलास्तेषां वचसा समः सूक्तिसार उत्कृष्टकाव्यं यस्याः सा । पुनः किंभूता । गुरोर्महतस्तापस्य त्रिविधस्य कृतोऽपसारो निःशेषीकरणं यया सा । केव । सारावलीव । सारावली औषधिरिव ज्वरतापहारिका ॥ ५३ ॥

सामात्येति । हे विभो, यया मान्यतया अहं सामान्यवत्कर्म कर्मभूतम् । ओजसा करणभूतेन, न आश्रयम् । क्रियापदमेतत् । सा मान्यता पूज्यता त्वयि विभोर्विषये मा मां कर्मभूतं मा मुचत् । यथा त्वमेव जगदीशो मम मान्यस्तथा भूयादित्यर्थः । किंभूता मान्यता । ईक्षितानि सूक्तयः प्रौढोक्तय एव सामानि यया सा । कुत्र । सामात्या अमात्यैः सहिता ये भूपा राजानस्तेषां सदसि । पुनः कीदृशी । सामाजिकैः सभ्यैराहिता कृता नुतिर्यस्यां सा । तथा कृतं सेर्ष्यैरपि साम यस्याः सा ॥ ५४ ॥

धारेति । हे विभो, तव दृक् अनुग्रहदृक् सुखदा भवति । किंभूता । आधारार्पणी आधारमर्पयति तादृशी । केव । गिरेः पर्वतस्य धारा सानुभूरिव । पुनः किंभूता । सकर्णधारा सह कर्णधारया वर्तते या सा । कर्णान्तव्यापिनीत्यर्थः । केव तरीव नौरिव । सापि सह कर्णधारेण वर्तते या सा तादृशी भवति । 'कर्णधारस्तु नाविकः' इत्यमरः । पुनस्तव दृक् किंभूता । ऊषरे वर्षधारा । तथा सुखदा महानन्दप्रदा । केव । धारापुरीव । तथा दुरितानां प्रागर्जितानां पातकानामसिधारा खड्गधारा । तथा परेषामार्तिहरणे धारा पराकाष्ठेव । यद्वा आर्तिहरणे परा उत्कृष्टा धारा । पुन किंभूता । हतषड्विधारा अरीणामान्तराणां षण्णां कामक्रोधादीनां समूह आरं, हतं षड्विधमारं यया सा ॥ ५५ ॥

कालेति । हे विभो, कालायसं कृष्णायसं तदुपमा रुचिर्यस्याः सा तादृशी ते तव गलभूः कण्ठस्थानं, सुकाला सुष्ठु काला श्यामला भवति । तथा ते तव विभोर्दृगपि कालाग्निरुद्रवत्क्षणं दग्धः कालो यया सा तादृशी भवति । तथा काला कालानाम्नी देवी यथा अमृदुर्विकराला तथा ते उक्तिरमृदुरपि क्षतसेवकाला भवति । क्षता सेवकानामाला अपवादो यया सा तादृशी भवति । आला इति देशीपदम् । हे भगवन् , आभिर्भवत्कण्ठभूभवद्दृग्भवदुक्तिभिर्विना का अन्या मम लाभकृत् । न कापीत्यर्थः । का कीदृशी । अनन्तकाला अविद्यमान अन्तकालो यस्याः सा ॥ ५६ ॥

मुक्तेति । हे भगवन् , मुक्तमन्यमार्गगमनं येन स तादृशस्तेन । तथा मुक्ताभिः शुक्त्युद्भ-

वाभिर्यदर्चनं पूजनं यथाशक्ति तदादौ रतिर्यस्य स तादृशस्तेन मया वराकेणाशरणेन अर्कस्यापत्यमार्किर्यमस्तस्य भयात् त्रासाद्धेतोरियं गीर्दीनोक्तिः, उक्ता भवतः स्वामिनोऽग्रे क्षिप्ता च। किंभूता। मुक्तेभ्यो मोक्षपदवीं प्राप्तेभ्योऽर्पितं यत्स्वपदं निजसायुज्यं, तदेव पूर्णकृपा तया अविमुक्ता अविरहिता। पुनः किंभूता। अमुक्ता अनल्पा। तथा विमला निर्दोषा स्वच्छा। केव। मुक्तावलीव मुक्तालतेव ॥ ५७ ॥

कल्पाह्वेति। इयं मम गीर्वाणी आकल्पाक्षया, कल्पो ब्राह्मं दिनं, कल्पात् आ आकल्पम्, अक्षया निर्विनाशा अस्तु। किंभूता। कृतनुतिः कृता नुतिः श्रीशंभुस्तुतिर्यया सा। पुनः किंभूता। धौतो निराकृतो विपदो जन्मजरामरणत्रासोत्पन्नाया आपदो विकल्पो यया सा। पुनः किंभूता। आकल्पाञ्चिता आकल्पैरलंकारैः शब्दालंकारैर्वक्रोक्तिश्लेषादिभिरर्थालंकारैरुपमादिभिश्चाञ्चिता शोभिता। पुनः कीदृशी। इन्दुकल्पा चन्द्रतुल्या, अतिनिर्मलत्वात्सन्तापह्वत्वाच्च। तथा कल्पो वेदाङ्गं, कल्पाख्यानि यानि सूत्राणि तेषां विदुरा, वेत्तीति विदुरा। तथा आगमेषु श्रीशैवादिशास्त्रेषु दृष्टः कल्पः शास्त्रविधिर्यया सा। तथा अमृतानुकल्पा। शिवैकतानानां जनानाममृतवर्षिणीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

सहसेत्यादि। हे विभो, आत्मभुवा कामेन। अस्मि अहम्। सहसा बलेन। असहसारभृत् अक्षमबलधारी कृतोऽस्मि। केन क इव। सहसा मार्गशीर्षेण अर्क इव। यथा तेन सोऽपि तादृशः क्रियते। सहसेत्यादि—ह कष्टे। स आत्मभूः कामः सायकं शरमस्यति क्षिपति। मां प्रतीति शेषः। तं सायकं कम्। या स्त्री सेति। संमुखमागच्छति मामिति शेषः। कथम्। सह साध्वसेन भयेन यथा तथा सभयमपीत्यर्थः। या कीदृशी। सहसा। सह हसेन हासेन वर्तते या सा सहसा। पुनः किंभूता। दुःसहसा। दुःखेन सह्यन्ते दुःसहा अविसह्यवीर्यास्तान् स्यति हिनस्ति दुःसहसा। स्त्रीरूपं शरमस्यतीत्यर्थः। 'षोऽन्तकर्मणि' धातुः। अतोऽस्मात्कामवेगान्मां दीनं पाहीत्यर्थः। अत्र वृत्ते उत्तरार्धे स इति, ह इति, सायकमिति, अस्यति इति पदच्छेदः ॥५९॥

जनयेति। अत्र जनयेति, अशुचमिति, आर्तमिति, अभाजनयाजनयाचनरञ्जनवेजनयेति, जनयामलखिन्नमिति, अखञ्जनय इति, अज इति, नयेति, अमृतमिति, आत्मनीति, योजनयेति पदच्छेदः। हे अज अनादे, हे अखञ्जनय अविकलनीते, त्वमभाजनानामपात्राणामयोग्यानां याजनेन, याचनेन, रञ्जनेन च, या वेजना उद्वेजनं तया अभाजनयाजनयाचनरञ्जनवेजनया आर्तमर्थान्मामेव। अशुचं निर्दुःखं जनय संपादय। अविद्यमाना शुग् यस्य सोऽशुक् तम्। तथा मामेव जनयामलखिन्नं यमलभावो यामलं समूहस्तेन खिन्नं भर्तव्यजनमेलापक्लिष्टं मां दीनममृतं नय मोक्षं प्रापय। कया। आत्मनियोजनया निजसायुज्येन ॥ ६० ॥

शमनायेति। अत्र शमनाय इति, शुचाम् इति, त्वम् इति, उमेश इति, मनाक् इति, शमनार्तिकर इति, कृतभीशम इति, ना इति, शम् इति, अनामय इति, देहि इति, विपाशम् इति, अनाशम् इति, अनाथजनप्रथिताशमनाः इति पदच्छेदः। हे उमेश पार्वतीप्राणनाथ, हे कृतभीशम। कृतो भियो भक्तजनसंबन्धिन्याः शमो येन तस्य संबोधनम्। हे अनामय षडूर्मिरहित, मनागीषत्, अनायासेन। शमनस्य यमस्यार्तिं पीडां करोतीति शमनार्तिकर, त्वं शुचां भक्तजनदुःखानां, शमनाय निवारणाय, ना पुरुषो भवसि। नृशब्दः। निजभक्तजनार्तिवारणे तवाखण्डितं पौरुषमित्यर्थः। हे विभो, विपाशं पञ्चकलारूपेणावरणं पाशः, स विगतो यस्मात्तत्। तथा अनाशमक्षयं, शं कैवल्यं मे देहि। त्वं किंभूतः। अनाथानामशरणानां जनानां प्रथिता

विस्तीर्णा इति यावत् , आशा मनोरथा येन तत्तादृशं मनश्चित्तं यस्य स तादृशः, अनाथजनप्रथिताशमनाः ॥ ६१ ॥

मधुनाशिनेति । अत्र मधुनाशिना इति, अर्चित इति, समम् इति, मधुना इति, मधुनामपुष्पजनुषा इति, मधुना इति, मधुना इति, अलसाम् इति, इव इति, वधूम् इति, अधुनाम् इति, अधुना इति, प्लुताम् इति, त्वयि इति, गिरम् इति, मधुना इति पदच्छेदः । हे मधुनाशिनार्चित । मधुनामदानववैरिणा विष्णुना अर्चित पूजित । केन समम् । मधुनाम पुष्पं मधूकम् । 'मधुकेऽपि मधु स्मृतम्' इत्युक्तदिशा मधुनामानि मधूकाख्यानि यानि पुष्पाणि तेभ्यो-जनुर्जन्म यस्य तत्तादृशेन, मधुनामपुष्पजनुषा । मधुना किंजल्केन, करणभूतेन, मधुना वसन्तेन समम् अर्चित । मधूकपुष्पोद्भवेन किंजल्केन करणेन वसन्तेनाप्यर्चित । मधुना प्लुतामिति । मधुना क्षौद्रेण प्लुताम् । मधुमधुरामित्यर्थः । गिरं वाणीं त्वयि विषये अधुनाम् अकम्पयम् । 'धूञ् कम्पने' धातुः । सुप्तामिव बोधितवानस्मीत्यर्थः । कामिव । मधुनालसां मधुना मद्येनालसां मन्दसौष्ठवां वधूमिव । यथा कश्चिद्वधूं धुनोति तथा ॥ ६२ ॥

वस्विति । अत्र वसु इति, धान्यम् इति, उज्झितुम् इति, अपीवसु इति, धाव इति, सुधासितच्छवियशोवसुधा इति, वसुधातृवन्द्य इति, यत् इति, असौ इति, असुधा इति, वसुधाम इति, दृगिति, तव इति, नवा इति, इव इति, सुधा इति पदच्छेदः । हे वसुधातृवन्द्य । वसवोऽष्टौ देवयोनयः, तथा धातारः स्रष्टारो मुनयश्च, तैर्वन्द्य हे विभो, अपीवसु न पीवानो धनधान्यादि-समृद्ध्या स्थूलास्तेषु कृशेषु जनेषु । वसु धनं धान्यं च, उज्झितुं त्यक्तुम् । दातुमित्यर्थः । तेषु धनं धान्यं दातुं धाव वेगेन गच्छ । शीघ्रमेव गत्वा देहीत्यर्थः । त्वं कः । आरोपेण योजना—सुधासितच्छवियशोवसुधा सुधावत्सिता छविर्यस्य ईदृशं यद्यशस्तस्य वसुधा भूः आस्पदम् । अमृतच्छवियशोभूमिस्त्वमित्यर्थः । तत्कुत इत्याह—यद्यस्मात्कारणात्तव विभोर्दृक् असुधा असून् प्राणान्धत्ते ददाति असुधा भवति । 'डुधाञ् दानधारणयोः' धातुः । दृक् केव । नवा नूतना सुधेव । दृक् किंभूता । वसुनस्तेजसः सूर्येन्द्वग्निरूपस्य धाम स्थानम् ॥ ६३ ॥

समयेति । समयासिषुः इति, क इति, न इति, विकासम् इति, अया इति, समयापतिम् इति, जगति इति, यम् इति, समया इति, समया इति, भवन्ति इति, च इति, विलासमया इति, स इति, मया इति, गिरा इति, अर्च्यत इति; सुधासमया इति पदच्छेदः । स विभुः परमेश्वरः सुधासमया अमृततुल्या । गिरा वाण्या । मया वराकेण, अर्च्यत अस्तूयत । स क इत्याह—समया शब्दोऽव्ययम् । समयाया देव्याः पतिस्त्वम् । समयादेवी हीनातिरिक्तहोमार्चनविधिपूरणार्थे यज्ञान्ते तर्पणीयेत्यागमप्रसिद्धा । यं समयापतिं श्रीशंभुं । समया निकटस्थितस्य, भक्तिप्रह्वजनस्य अयाः शुभावहा विधयो जगति भूमण्डले, क न विकाशं विस्तारमयासिषुरगच्छन् । अपि तु सर्वत्र । तथा समयापतेर्यस्य देवस्य निकटे स्थितानां नतजनानां विलासमया विलासप्रचुराः समया अवसरा भवन्ति ॥ ६४ ॥

कलिकेति । हे भगवन् , कलिका भवदिच्छोत्पन्नजनकलहेन कातरे सकृपे । तव हृदि उत्कलिका उत्कण्ठा । कलिकालताम्यदमृतोत्कलिका अकलि, आकलिता जनेन । कलिकाले ताम्यतां ग्लायतां जनानाममृतोत्कलिका पीयूषलहरी ज्ञातेत्यर्थः । तथा हे जितशाकलिक । शकलैर्मत्स्यैर्जीवन्ति शाकलिका मत्स्यघातिनः, जिताः शाकलिका अर्जुनप्रमोदार्थं किरातरूपेण

भवता येन स तस्य संबोधनं—हे जितशाकलिक श्रीशंभो, कान्तिभृत् ज्योत्स्नाधारिणी । कलिका कलैव कलिका इन्दुलेखा । तव मुकुटे स्रजि, मालायां । कलिका सूक्ष्मकुड्मलमिवाकलि ज्ञाता ॥ ६५ ॥

कलयेति । हे भगवन् , सकलाकल । सकलः 'त्रिपञ्चनयनं देवं जटामुकुटमण्डितम्' इति ध्यानेन ध्येयरूपः स्वच्छन्दभैरवः । अकलो निष्कलः अद्वैतरूपो निरञ्जनो भगवान् । तस्य संबोधनम् । एकलया एकया । स्वार्थे लः । एकैव एकला तया । विधोश्चन्द्रस्य कलया । त्वम् आश्रितं प्रपन्नं मां विरुजं विगता रुग् भवामयो यस्य स तादृशं कलय कुरु । नीरोगं कुर्वित्यर्थः । कलया किंभूतया । दलितपाकलया । यद्यपि पाकलो हस्तिज्वर एवायुर्वेदे प्रसिद्धस्तथापि कविभिः सामान्यज्वरेऽपि प्रयुक्तः । दलितः पाकलो ज्वरो जन्मजरादिरूपो यया सा तादृश्या । तथा हे सकलाकल भगवन् , तया कलया मधुरया गिरा च मां विरुजं नीरोगं कलय कुरु । तया गिरा कयेत्याह—या गीः कलया व्याजेन विना विहितः कृतः शोकस्य भक्तजनदुःखस्य लयो नाशो यया सा तादृशी भवति ॥ ६६ ॥

परेति । अत्र परमारकान्तककृतोपरम इति, अपरम् इति, आनतम् इति, तव इति, दृशा इति, आप इति, रमा इति, परमार्थसद्गुणपरम्पर इति, मा इति, परमार्तम् इति, उज्झ इति, करुणापर इति मा इति पदच्छेदः । परं मारकश्चासावन्तको यमस्तस्य कृत उपरमो विनाशो येन स परमारकान्तककृतोपरमस्तस्य संबोधनं—हे परमारकान्तककृतोपरम । तथा हे परमार्थसद्गुण-परम्पर । परमार्थतः सती शोभना गुणपरम्परा यस्य तस्य संबोधनम् । तव दृशा रमा लक्ष्मीर-परमन्यमानतं जनं आप प्राप । हे करुणापर विभो, त्वं मा मां कर्मभूतं, मा उज्झ मा त्यज । किंभूतम् । परमत्यर्थमार्तम् ॥ ६७ ॥

कलेति । कलो मधुर कलकलः कोलाहलो येषां ते तादृशा ये कलकण्ठाः कोकिलास्तद्वत् नवनवनवरोचितवाचः । नवं नूतनं च तन्नवनं स्तुतिभूमिरूपं तेन वरा उत्कृष्टा उचिता वाग् येषां ते तादृशास्तान् नवनवनवरोचितवाचः, अस्मानव रक्ष । 'अवरक्षणे' धातुः । हे भव, हे अदमदमदनान्तक । न दमं शमं ददातीत्यदमदस्तादृशो यो मदनः कामस्तस्यान्तको यमस्तत्सं-बोधनम् । त्वमस्मानव । किं कुर्वन् । मदमहंकारमान्तरं रिपुं अर्थाद्भक्तजनस्य अस्यन्दूरी-कुर्वन् । कथम् । दूरम् । भवभवभीतिभित् भवात्संसाराद्भव उत्पत्तिर्यस्याः सा भवभवा तादृशी या भीतिस्तां भिनत्तीति तादृक् त्वं भव । भवेति लोटमध्यमपुरुषैकवचनान्तं क्रियापदम् ॥६८॥

अस्य पाठान्तरम्—अविकलकलेति । हे अविकलकल । अविकलाः पूर्णाः कला ब्रह्मादिसदाशिवान्ताः पञ्च यस्य स तादृशस्तत्संबोधनम् । सकलभट्टारक । हे नवनवनवनवन । अतिशयेन नवानि नवनवानि, अनुच्छिष्टानि, नवानां स्तवानां नवनानि (स्तवनानां वनानि) यस्य स तस्य संबोधनम् । त्वं वरवचः उत्कृष्टमभयदानवचनं, दिश देहि । अर्थान्मादृश-जनायेत्यर्थः । किंभूतं वचः । कलकलकलकण्ठं । कलकलेन कलो मधुरः कण्ठः कण्ठस्वरो यस्मिंस्तत् । हे सविभव स्वतन्त्रमहैश्वर्ययुत, हे भव, त्वं भवात्संसाराद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशं यद्भयं तद्भिनत्तीति भवभवभयभित् भव । अर्थादस्माकम् । हे विभो, अदयं निर्दयं मदमहंकार-मान्तरं रिपुं हर दूरीकुरु । किंभूतं मदम् । अदमोऽनिवार्यो यो दमः शान्तिस्वरूपस्तं द्यति खण्डयतीत्यदमदमदस्तादृशम् । 'दो अवखण्डने' धातुः ॥ ६९ ॥

देव्यामिति । अत्र देव्याम् इति, भ्रमद्भ्रुवि इति, जयाविजयार्चितायाम् इति, सक्ता इति, तव इति, अस्तविजया इति, विजयाय इति, दृष्टिः इति, वृष्ट्या इति, इव इति, भूः इति, दिविजया इति, विजयाख्यया इति, ते इति, मूर्त्या इति, त्रसद्रविजया इति, आवि इति, जयाह्वया इति, च इति पदच्छेदः । हे भगवन्, अस्तः क्षिप्तः । दत्त इत्यर्थः । विजयो विशिष्टो जयो यया सा अस्तविजया । कस्मै । विजयायार्जुनाय पार्थाय दत्तविजया । जया पर्वतीसखी, विजया च देवी, ताभ्यामर्चिता पूजिता तादृश्याम् । तथा भ्रमद्भ्रुवि भ्रूविलासशीलायां देव्यां पार्वत्यां ते तव दृष्टिः सक्ता । त्रिजगदधीशस्य भवतो निजपितुराश्रमेषु विहितातिकठिनतपसि पार्वत्यां तव दृक् सक्तेत्यर्थः । अधुना निजभक्तजनानुद्धर्तुं विहितनिजदेशकाश्मीरस्थितिश्रीविजयेश्वरं स्तौति कविः—वृष्ट्येवेत्यादि । तथा हे विभो, ते तव संबन्धिन्या विजयाख्यया विजयेश्वरसंज्ञया काश्मीरदेशेऽतिप्रसिद्धया । तथा जयाह्वया च । जय इत्याह्वा यस्याः सा जयाह्वा तया जयेश्वराभिधया मूर्त्या स्वयंभूलिङ्गद्वयरूपया, आकृत्या भूः पृथ्वी आवि रक्षिता । 'अवरक्षणे' धातुः । कैवल्यपदप्रदानेनेत्यर्थः । कया इव । दिविजया वृष्ट्या इव । कीदृश्या मूर्त्या । त्रसद्रविजया त्रसन् रविजो यमो यस्यास्तादृश्या ॥ ७० ॥

शिवैकतानान्भक्तजनान्प्रति कविः साशीर्वादं वक्ति—हरमिति । अत्र हरम् इति, उपेत इति, रसात् इति, अमलम् इति, घनम् इति, दमलङ्घनम् इति, तनुत इति, मा इति, कृतिनः इति, तनुतमाकृति इति, नः इति, श्रयत इति, अदृतम् इति, श्रयताम् इति, ऋतम् इति, भवतः इति, इति इति, उदितम् इति पदच्छेदः । हे कृतिनः इत्यनेन प्रकारेण तनुतमा अत्यल्पा आकृतिर्यस्य वचनस्य तत्तनुतमाकृति अतिसंक्षिप्तं श्रयत आश्रयत । शृणुतेत्यर्थः । जनेनादृतमभिनन्दितम् । ऋतं सत्यम् । नोऽस्माकमुदितं वचनम् । 'वद व्यक्तायां वाचि' धातुः । 'नपुंसके भावे क्तः' नोऽस्माकं वचनं भवतः कर्मभूतान् श्रयतात् । भवदीयमनस्यत्यन्तलीनमस्त्वित्यर्थः । इति किमित्याह—हरमिति । हे कृतिनः धन्या जनाः, घनमत्यर्थममलं निर्मलं हरं भवामयहरं श्रीशंभुं रसात्तदेकचित्ततया उपेत श्रयत । तथा हे कृतिनः, दमस्योपशमस्य लङ्घनं दमलङ्घनं । मा तनुत मा कुरुत । इति संक्षिप्तमस्माकं वच इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

पुनरपि तान्प्रति वक्ति कविः—शमितेति । हे कृतिनः, कामं निश्चये । यूयं नमत कामम् । अत्र नञ् समासः । न मतः, न इष्टः, न मानितः, कामो येन स तं नमतकामं श्रीशंभुं नमत प्रणमत । किंभूतम् । अहीनविभासितं । अहीनैर्नागेन्द्रैर्वासुक्यादिभिर्विभासितं शोभितम् । तथा अहीना पूर्णा चासौ विभा दीप्तिस्तया सितस्तादृशम् । पुनः किंभूतम् । (शमितसङ्गं शमितः सङ्गः कामक्रोधादिभिः सह येन स तादृशम् । तथा) सङ्गमे श्रीशिवैकतानानां सङ्गे सज्जास्तद्युक्ता ये नता भक्तिप्रह्वास्तेषामापत् भवज्वरजा तस्या अंशः शमितः संगमसज्जनतापदंशो येन स तादृशस्तं शमितसंगमसज्जनतापदंशम् । पुनः किंभूतम् । असज्जनानां दुष्टाशयानां तापं सन्तापं ददाति । तादृशस्तम् । कथम् । इतसङ्गं निर्निरोधम् । क्रियाविशेषणमेतत् । इतः सङ्गो यत्र तत् । तथा यद्वा शमिता संगमसज्जानां नतानां भक्तिप्रह्वाणामापद्विपद्येन स तादृशम् ॥ ७२ ॥

पुनरपि भक्तजनमुपदिशति कविः—कलितेति । त्वं हरं श्रीशंभुं स्मर । किंभूतम् । कलिस्तुरीययुगं कलहो वा तमो मोहान्धकारश्च तद्धन्तीति तादृशं कलितमोहनम् । तथा आरवेण

भक्तजनं प्रत्यभयदानशब्देन राजितस्तम् । पुनः किंभूतम् । शिखी अग्निश्चन्द्र-कला च, ताभ्यामाङ्कितोऽङ्कितस्तम । पुनः किंभूतम् । कलितमोहनमारवराजितं । कलितं मोहनं रमणं येन स तादृशो मारवरः काममहावीरस्तेनाजितस्तम् । पुनः किंभूतम् । स्मरहरं । स्मरं हरति निःशेषीकरोति तादृशम् । पुनः किंभूतम् । शिखिनां मयूराणां चन्द्रकैर्लाञ्छितः शोभितस्तम् । अर्जुनप्रसादार्थे किरातवेषधारित्वान्मयूरपिच्छलाञ्छितम् ॥ ७३ ॥

असाविति । अत्र असौ इति, हृदन्तर्हितमोहरोधने इति, सदा इति, यते इति, रक्ष इति, यशः इति, भियः इति, जय इति, असौहृदम् इति, तर्हि इति, तमोहरः इति, धने इति, सदायतेः इति, अक्षयशोभि इति, योजय इति पदच्छेदः । हे भगवन्दयालो, हृदि अन्तर्हितोऽभ्यन्तर्विलीनश्चासौ मोहोऽज्ञानं तस्य रोधनेऽप्रसरणेऽहं सदा यते, प्रयत्नं करोमि । 'यती प्रयत्ने' धातुः । परं त्वं यशो मम रक्ष । यथा संमतचित्तानां मध्ये यशो लभ्यते तथा कुर्वित्यर्थः । तथा भियो भीतयो जन्मजरामरणजाः अर्थान्मदीया जय । असौहृदमिति । हे भगवन् , तर्हि सदायतेः सती आयतिरागामिकालो यस्य तस्य सदायतेरर्थान्मम । धने असौहृदममेलापं योजय । किंभूतः । तमोहरः । अज्ञानरूपान्धकारहर्ता । असौहृदं किंभूतम् । अक्षयशोभि । अक्षयं अत एव शोभि शोभनं च तादृशम् ॥ ७४ ॥

भक्तजनानुद्दिश्य वक्ति—**सकलशमिति, सकलेति** । अत्र सकलशम् इति, सकपालम् इति, अलंकृतप्रमदम् इति, अस्थिरसम् इति, मदनाशनम् इति, भवम् इति, अदभ्रमहानिधने इति, हितम् इति, शमनमज्जनम् इति, आनमत इति, अलयम् इति, सकलशंसकपालम् इति, अलम् इति, कृतप्रमदम् इति, अस्थिरसंमदनाशनम् इति, भवमदभ्रमहानिधनेहितम् इति, शमनमज्जनमानमतालयम् इति पदच्छेदः । यूयं भवं श्रीशंभुमानमत प्रणमत । किंभूतम् । सकलशं, सह कलशेन सुधाकलशेन वर्तते यः स तादृशम् । तथा सकपालम् । तथा अलंकृता देहार्धदानेन प्रमदा पार्वती येन स तादृशम् । तथा अस्थ्नि अस्थिमालायां रसो यस्य स तादृशम् । तथा मदनमश्नातीति मदनाशनस्तादृशम् । तथा अदभ्रं घनं यत् महत् अनिधनम् , अविनाशित्वं निजभक्तजनदेयं तत्र हितम् । तथा शमनमज्जनं शमनं यमं मज्जयति अतितर्जनेन श्वेतनृपपालनार्थम् । तथा अलयं निर्विनाशम् ॥ सकलेत्यादि । पुनः किंभूतम् । सकलशंसकपालं सकला ये शंसकाः स्तुतिकृतस्तान्पालयति तादृशम् । तथा अलमत्यर्थं कृतः प्रमदः परमानन्दो येन स तादृशम् । तथा अस्थिरसंमदनाशनम् । अस्थिरसंमदा अल्पसन्तोषा ये जनास्तान्नाशयति यस्तादृशम् । तथा भवे संसारे यो मदस्तेन यो भ्रमस्तस्य हानिः सैव धनं येषां ते संसारभ्रमविरक्तास्तैरीहितोऽभिलषितस्तम् । तथा शमेन उपशमेन नमन्तः सविनया ये जनास्तेषां मानार्थे मतोऽङ्गीकृत आलयः प्रतिदेह-स्थितिरूपो येन स तादृशम् ॥ युग्मम् ॥ ७५–७६ ॥

तनुशङ्केति । अत्र तनुशङ्करवैः इति, असमायतया इति, अतनु इति, शंकर इति, वै इति, रस इति, मा इति, अयतया इति, तनु इति, शम् इति, करवै इति, रसम् इति, आयतया इति, अतनुशम् इति, कर इति, वैरसमायतया इति पदच्छेदः । वै प्रसिद्धौ । हे शंकर कैवल्यप्रद, त्वं मा मां कर्मभूतं रस संभाव-(ष) य । मां प्रति स्ववचोमृतं मुञ्चेत्यर्थः । कैः । अतनु अनल्पं कृत्वा ये तनुशङ्का निःशङ्का रवा आश्रितजनं प्रति अभयदानवचनानि तैस्तनुशङ्करवैः । मा कीदृशम् । उपलक्षितम् । कया । असमायतया असमोऽनन्यसदृशोऽयः शुभावहो विधिर्यस्य स

असमायः तस्य भावस्तत्ता तया। किंभूतया। आयतया अनियतया। तनुशमित्यादि। हे विभो, त्वं शं कैवल्यरूपं तनु विस्तारय। अहं रसं भक्तिरसं करवै करोमि। अर्थात्त्वय्येव स्वामिनि। त्वं मा मां कर्मभूतम्। अतनुशम्। अतनुः कामस्तं श्यति तनूकरोतीत्यतनुशस्ताद्दशं। कर कुर्वित्यर्थः। कर इति भौवादिकस्य कृञःलोटिमध्यमपुरुषैकवचने हिप्रत्यये प्रयोगश्छन्दसि। यथा 'तेभ्यो करन्नम' इति। छान्दसोऽपि प्रयोगो भाषायामपि भक्तिविषये प्रयुक्तः। 'छान्दसा अपि क्वचिद्भषायां प्रयुज्यन्ते' इति वचनात्। कया हेतुभूतया। वैरसमायतया वैरेणान्तररिपुसन्द्रावजनितेन सह मायया वर्तते सः समायः, तस्य भावस्तत्ता तया। कीदृश्या। आयतया विस्तीर्णया ॥ ७७ ॥

प्रकाशेति। हे भक्तजनाः, यूयं शंकरं श्रीशंभुं स्मरत। किंभूतम्। प्रकाशकलितापदं। प्रकाशः प्रसिद्धो यः कलिस्तिष्ययुगं तस्य तापस्तं ददातीति तादृशस्तम्। तथा शंसतां स्तुवतां जनानां शकलिता खण्डिता आपद्येन स तादृशम्। तथा असारसमये अस्थिरे समयेऽन्त्यक्षणे हितम्। रसमयममृतमयमीहितं चेष्टितं यस्य स तादृशस्तम्। पुनः किंभूतम्। रञ्जितमुल्लसितम्। कस्मिन् हृदि। चित्ते विहरन्तमित्यर्थः। पुनः किंभूतम्। स्मरतरञ्जितं मदनचापलं शान्ततां नयन्तम्। पुनः किंभूतम्। अन्तकं यमं च शान्ततां नयन्तम्। अन्तकं कीदृशम्। असमानं सन्तमसं क्रोधरूपं मानसं यस्य स तादृशम् ॥ ७८ ॥

अथास्य स्तोत्रस्योपसंहारार्थं श्लोकत्रयं वक्ति—इयमिति। विचित्रतया यमकालंकारवैचित्र्येण विराजिता शोभिता। मया जगद्धराख्येण कविना आहिता कृता नुतिः स्तुतिः हे स्वामिन् हर, ते तव मनो धिनोतु प्रीणयतु। किंभूता। जितामया जिता आमयाः संसारामया यया सा तादृशी। तथा मनोहरा मनोहारिणी। (तथा अजिता अपराभूता। न केनापि कविनेत्यर्थः।) पुनः पक्षान्तरे। त्वयि प्रसन्नमानसे सति, अहं त्वदाश्रितः समस्तमोहराशये सकलाज्ञानसमूहाय स्पृहां न करोमि। त्वयि कीदृशे। तमोहराशये तमोहरोऽज्ञानरूपान्धकारहर अशयो यस्य तादृशस्तस्मिन्। अहं किंभूतः। असमोऽनन्यसामान्यः ॥ ७९ ॥

कान्तेति। सह आभासेन वर्तते या सा साभासा सप्रकाशा। नैर्मल्यवतीत्यर्थः। अन्धकारे तरणेः सूर्यस्य तनुरिव साभासा, यथा ग्लानितान्तं हृदयं मदयति, तथा इयं मम भारती अन्धकारेः अन्धकरिपोः श्रीशंभोः स्तुत्या नुत्या। स्तुत्या स्तवनीया। ग्लान्या भवमरुभ्रमणजया तान्तं क्लान्तं बुधानां सहृदयानां हृदयं मदयतु आनन्दयतु। सा केत्याह—कान्तेति। कान्तारस्य दूरशून्यस्याध्वनो मध्ये सरिन्नदीव कान्ता अतिप्रिया, या इयं मम भारती सकुलपर्वतायां भूमौ विमलमतीनां धौताशयानां। प्रेक्षणेन परीक्षणेन। क्व न कुत्र न, तारतम्यमतिशयं याता ॥ ८० ॥

वर्षेति। सहृदया सचेतना एव शिखिनो मयूराः, तेषां वर्षासु वर्षर्तौ। वर्षवदाचरतीति तादृशी। तथा संहितानां राशीभूतानां हितानां दात्री वितरन्ती। कृतानां वाङ्मनःकर्मभिर्विरचितानां दुष्कृतानां पापानां, तृणानामिव, लवने छेदने पटुः। छेददक्षेत्यर्थः। तथा कल्याणदाने कैवल्यदाने कल्या कुशला। अशुभं भवमरुभ्रमणोत्थं दुःखं तर्जयन्ती। तिरस्कुर्वती। तथा विश्वं जगत् जयन्ती जगदीशैकाश्रयत्वात्। इयं सुरभीनन्दनस्यन्दनस्य वृषवाहनस्य, श्रीशंभोर्नुतिः स्तुतिर्विश्वंभराया भूमेरन्तरूतं प्रदेशं प्रसरतु। भूमिवलयपर्यन्तं प्रसिद्धं यात्वित्यर्थः। विश्वं-

भरान्तमिति 'कालभावाध्वदेशानाम्' इति द्वितीया। नुतिः प्रसरतु। कियन्तं देशम्। विश्वंभरान्तमिति योजना। इति शिवम्॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-राजानकश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलि-व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां महायमक-स्तोत्रं नाम, त्रिंशम्॥

एकत्रिंशं स्तोत्रम्।

अथातो भक्तिप्रह्वजनानुपदेष्टुं नतोपदेशस्तोत्रमेकत्रिंशमारभमाण आह —

मन इति। हे भक्तिप्रह्वजना बुधाः सचेतनाः। समाधौ तदेकतानत्वे परममन्तरङ्गं। तथा अनुत्तरङ्गं अविद्यमाना उच्चैस्तरङ्गाश्चाञ्चल्यादयो यस्य तत् तादृशमनुत्तरङ्गं मनो निस्पदं विधाय, भवभीतिभङ्गं संसाराम्बुधिनिस्तरेण भयनाशं विधातुं यूयं गिरिजाभुजंगं पार्वतीकामुकं श्रीशंभुं। भजध्वं वाङ्मनःकायकर्मभिः सेवध्वम्। 'भुजंगः षिङ्गसर्पयोः' इति मङ्खः॥ १॥

पाश्येति। यथा कश्चित्पाश्यावशेन पक्षिणां रोधनार्थं बालबन्धः पाश्या, तद्वशेन महाविहंगं बृहन्तं पक्षिणं रुणद्धि, यथा वल्गाबलेन वरं हयं रुणद्धि, तथा योगेन यमनियमादिनाष्टाङ्गेन मन एव प्लवंगो वानरस्तं निरुध्य, श्रीशंभुं विभुं भजध्वम्॥ २॥

मन्त्रेति। यथा मन्त्रौषधादिक्रियया भुजंगं सर्पमायच्छति गृह्णाति, आदिशब्देन मणय उच्यन्ते। तथा हि अपूर्वोऽयं मणिमन्त्रौषधीनां प्रभाव इत्युक्तत्वात्। यथा कश्चिद्वागुरया मृगबन्धिन्या कुरङ्गं मृगभेदमायच्छति। तथा धिया एकाग्रचित्तत्वरूपया अस्तसङ्गम्। अस्तः सङ्गो येन तन्मनश्चित्तमायम्य निरुध्य, श्रीशंभुं विभुं भजध्वम्॥ ३॥

भित्त्वेति। यस्येश्वरस्य सभ्रूभङ्गविच्छित्तिकं ललाटं भित्त्वा उद्यन्नग्नी रभसाद्वेगेनानङ्गं कामं ददाह। तं मोहान्धकारसूर्यं विभुं शंभुं भजध्वम्॥ ४॥

वहन्तमिति। उद्दामा भुजंगा यत्र तत् एवंविधमङ्गं वहन्तं धारयन्तम्। तथा निर्भरा समस्तगुणपूर्णा नाकगङ्गा मन्दाकिनी यस्मिन् स तादृशं जटाभरं कपर्दं वहन्तम्। तथा अग्निशिखाभिर्वह्निज्वालाभिः पिशङ्गं च लोचनं तृतीयं नेत्रं वहन्तं विभुं श्रीशंभुं भजध्वम्॥ ५॥

भवेति। भव संसार एव बन्ध आवरणं, तेन बद्धा ये विधुरा व्याकुलाः संसारिणस्तानुद्धरतीति तादृशम्। तथा फणिनां वासुक्यादीनां मण्डलं समूह एव ज्वलदलंकरणं हारकङ्कणादि यस्य स तादृशम्। तथा क्षमाधरदरीशरणं हिमालयगुहानिवासिनं। तुषारकिरणाभरणं चन्द्रमौलिं शरणं प्रतिपालकं व्रजत। यूयं भक्तिप्रह्वाः। 'शिरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः॥ ६॥

कृतेति। कृतं घस्मरस्य त्रिजगत्क्षोभकस्य स्मरस्य निराकरणं येन स तादृशम्। तथा

कटु महोग्रं च तत्कालकूटं विषं तस्य कवलीकरणं भक्षकम् । तथा प्रपन्नजनताशरणं चन्द्रमौलिं शरणं व्रजत ॥ ७ ॥

मर्विति । मरुमेदिन्यां निर्जलकान्तारभूमौ रचितं संचरणं येन स तादृशम् । तथा त्रिदशेन्द्राणां ब्रह्मादीनां शिखरेषु मौलिषु सरन्तौ गच्छन्तौ चरणौ यस्य स तादृशम् । तथा त्रीण्याध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानि यानि दुःखानि तेषां हरणं हारकं स्मरणं यस्य स तादृशं चन्द्रमौलिं यूयं शरणं व्रजत ॥ ८ ॥

प्रणतमिति । जरामरणेत्युपलक्षणम् । जितजरामरणं तथा आर्तं भवात्संसारोदधेर्निस्तरण-मुद्धारो येन स तादृशं प्रणतं भक्तिप्रह्वं जनं रचयन्तं कुर्वन्तम् । तथा आहितं कृतं त्रिपुरस्य त्रिपुरासुरस्य संहरणं येन स तादृशं चन्द्रमौलिं शरणं व्रजत ॥ ९ ॥

अवधूतेति । मोहोऽज्ञानमेव तिमिरं तद्रूपमावरणमवधूतं निराकृतं येन स तादृशम् । तथा करिकृत्तिर्हस्तिचर्मैव कल्पितं परमुत्कृष्टमावरणं येन स तादृशम् । तथा प्रकल्पितो विहितः पुरेशेन त्रिपुरासुरेण सह रणो युद्धं येन स तादृशं चन्द्रमौलिं शरणं व्रजत ॥ १० ॥

तरुणेति । कालकूटकवलीकरणात्तरुणतमालवन्नूतनतमालकुसुमवन्मलीमसं, नीलं, नालं गलं यस्य स तादृशम् । अग्निशिखानां पटलेन समूहेनोज्ज्वलं भालं ललाटं यस्य स तादृशस्तम् । तथा मूर्ध्नि लसत्परमेष्ठिनो महाप्रलये कालाग्निरुद्ररूपेण संहारितस्य कपालं यस्य स तादृशम् । तथा हतं कल्मषाणां पातकानां जालं समूहो येन स तादृशस्तं विभुं श्रयत ॥ ११ ॥

नरेति । 'नॄ नये' नृणातीति नरः । नरा अत्र नेतारो ब्रह्मादयस्तेषां महाप्रलयेषु संहारितानां मुखैर्मुण्डैः कल्पिता शेखरमाला येन स तादृशम् । तथा नतजनजम्भित मोहतमालम् । तथा नयने तृतीयनेत्रे यान्यग्निशिखाशतानि तैः शातितो दग्धः कालो येन स तादृशस्तं विभुं श्रयत ॥१२॥

विषमेति । विषमोऽत्युग्रो यो विषरूपाग्निस्तस्य शिखाभिर्ज्वालाभिर्विकरालस्तम् । तथा अतीव विशालं विस्तीर्णं फणिपतिहारं वासुकिहारं गलभुवि कण्ठभूमौ बिभ्रतं वहन्तम् । तथा निजांशगणाधीशभृङ्गिरिटिरूपेणोग्रसिरालम् , उग्राः सिरा विद्यन्ते यस्य स तादृशम् । अति-कृशत्वात् । विभुं हतपापजालं श्रयत ॥ १३ ॥

विदलयितुमिति । अमलं निर्मलं यन्मानसं चित्तं तदेव मानसं मानसाख्यं सरस्तस्मिन् वासो यस्य स तादृशो मरालो हंसस्तम् । आरोपेण योजना । हंसभूतं तं हतपापजालं विभुं भजत । तं विभुं कमित्याह—विदलयितुमिति । यं विभुं श्रीशंभुमृते यं विना । त्रिभुवनसीम्नि त्रिजगन्मर्यादायां । भवतालं । भवः संसार एवातिदीर्घत्वात्तालस्तालवृक्षस्तं विदलयितुं कश्चन कोऽप्यलं समर्थो नास्ति ॥ १४ ॥

कमलेति । कमलानां पद्मानां यः परागः किंजल्कस्तद्वत्पिशङ्गा जटा विद्यन्ते यस्य स तादृशः । स्वार्थे लः । तथा जलधेः क्षीरोदधेः समर्पणेन दानेन तर्पितो बाल उपमन्युमुनिर्येन स तादृशम् । तथा भवः संसार एव भटः शूरस्तस्य भङ्गे विघाते महान् करवालः खड्गस्तं हतपातकसमूहं शंभुं श्रयत ॥ १५ ॥

अतिघस्मरेति । अतिघस्मरमतिरूक्षं यद्भस्म तस्य रजसा धवलः श्वेतस्तम् । तथा

नतलोकाय भक्तिप्रह्वजनाय समर्पितं बोधवलं ज्ञानप्रभावो येन स तादृशस्तम्। तथा ध्वजस्य स्थाने विराजते इति ध्वजधामविराजी, तादृशो महान् धवलः श्वेतवृषभो यस्य स तादृशम्। 'धवलक्षुण्णां पदवीं कासरोऽपि क्षिप्रमन्वेति' इति कविप्रयोगाद्धवलोऽपि वृषवाचकः। एवंभूतमद्रिसुताधवलम्। धवः पतिरेव धवलः। स्वार्थे लः। तं पार्वतीप्राणनाथं विभुं यूयं भजत ॥ १६ ॥

प्रभयेति। प्रभया कान्त्या परिभूतं जितं दलद्भग्नं गवलं माहिषं शृङ्गं येन स तादृशम्। अङ्गदस्य। केयूरभूतस्य वासुकेरित्यर्थात्। या रत्नशिखा रत्नज्वालास्ताभिः शवलस्तं तादृशं गलं कण्ठं बिभ्रतम्। तथा विषस्य कालकूटाख्यविषविशेषस्य कलृप्तं विहितं महत्कवलं ग्रासो येन स तादृशस्तं पार्वतीनाथं विभुं भजत ॥ १७ ॥

शिखरमिति। द्युनद्याः स्वर्गङ्गाया लहरीभिस्तरलस्तादृशं शिखरं मौलिं बिभ्रतम्। तथा उपोढं धारितं महद्गरलं कालकूटाख्यविषविशेषो येन तत्तादृशं गलमूलं कण्ठस्थानं दधतम्। तथा हृदयं च सुधावत्सरलं निर्मलं कृपामृतरसेन सरलस्वभावं दधतं पार्वतीपतिं विभुं भजत ॥ १८ ॥

अपनीतेति। अपनीतो भक्तिप्रह्वजनस्य कुकर्मरूपकलङ्कस्य मलः कुकर्मविपाको येन स तादृशम्। तथा नतलोकाय वितीर्णा दत्ता महती कमला लक्ष्मीर्येन स तादृशम्। तथा शुभा याः सिद्धयोऽष्टावणिमाद्यास्तासां विपाकस्तं ददतं वितरन्तं भक्तजनाय पार्वतीपतिं विभुं भजत ॥१९॥

ददतमिति। घनो यो हासस्तेन कलं मधुरं वचनमभयवाक्यं ददतं वितरन्तम्। तथा नमतां भक्तिप्रह्वाणां सकलं वाङ्मनःकर्मभिः कृतमघं पापं दलयन्तं खण्डशः कुर्वन्तम्। तथा भजतां सेवकानामभीष्टफलमीप्सितफलं च दिशन्तं वितरन्तं शंभुं विभुं भजत ॥ २० ॥

अविरतेति। अविरतं नतिपरा ये सुरवरा ब्रह्माद्यास्तेषां शिखराणि मौलयस्तेषु प्रणिहितः प्रक्षिप्तो यो मणिगणस्तेन मसृणितौ रञ्जितौ चरणौ यस्य स तादृशस्तम्। तथा चन्द्रकिरणसमूहधवलितमौलिम्। अशरणानामप्रतिपालकानां शरणं पालकं पुरहरं श्रीशंभुं प्रणमत ॥ २१ ॥

भवेति। भवात्संसाराद् भव उत्पत्तिर्यस्यासौ यः परिभवस्तेन धुता कम्पिता अत एव विधुरा व्याकुला धीर्बुद्धिर्येषां तादृशानां जनानाम्। अत एव शमश्च दमश्च नियमितेर्नियमश्च तानि। (स्त्रियां) भावे क्तः। अधिगतानि प्राप्तानि शमदमनियमितानि येन तत्तादृशं मनो येषां ते तादृशानां नतलोकानामभिमतवितरणे परिपूर्णा करुणा दया यस्य स तादृशमशरणशरणं पुरारिं प्रणमत ॥ २२ ॥

तन्विति। तनुतृणगणनिभौ यौ मनसिजशमनौ कामयमौ, तयोः प्रशमने दाहे परिचितः सुशिक्षितो यो हुतवहस्तृतीयनेत्राग्निस्तेन महितं पूजितम्। 'मह पूजायाम्' धातुः। तथा परहिते भवाम्भोधिमग्नलोकोद्धरणरूपहिते कृता मतिबुद्धिर्येन स तादृशस्तम्। अतिशयेन मृदु कृपामृतार्द्रं हृदयं यस्य स तादृशस्तं दीनदयालुं पुरारिं भजत ॥ २३ ॥

दिनकरेति। सूर्येन्द्वग्नयो नेत्रेषु यस्य तं त्रिनेत्रम्। तथा पदं चरणं, करः पाणिः, कचभरो जटाजूटश्च, तत्र धृतः सितकिरणश्चन्द्रो येन स तादृशम्। चरणयुगले चन्द्रस्य प्रणामपरत्वात्स्थितिः। तथा विघटितं दूरीकृतं नतजनस्य घनतममतिशयेन सान्द्रं तमो मोहान्धकाररूपं येन स तादृशं दीनदयालुं पुरारिं प्रणमत ॥ २४ ॥

अविरलेति। अविरलो महान् जलभरो यस्यास्तादृशी या सुरसरित्स्वर्गङ्गा तस्या उदयन्योऽसौ सरसिजभरः, अत्रौचित्यात्सितोत्पलसमूहस्तेन निभानि धृतानि नराणां पुरुषाणां महाप्रलयेषु संहारितानां ब्रह्मादीनां शिरांसि मुण्डानि येन स तादृशम्। भवः संसार एव द्रवहुतवहो दवाग्निस्तस्य विदलने प्रशमने जलदो मेघस्तं दीनदयालुं पुरहरं प्रणमत ॥ २५ ॥

जहतेति। भो बालिशाः। जना इति शेषः। हे मूढजनाः, कल्पितं कलुषलोचनानां क्लिन्नाक्षाणां स्वल्पावबोधानां तिमिरभञ्जनं मोहतमोनाशो येन तत्तादृशमञ्जनं किंचिदपूर्वमञ्जनं तिमिरापहं सौवीराञ्जनादि यूयं जहत दूरीकुरुध्वम्। तथा दुस्थिरं दुःस्थं यद्धृदयं तस्य नन्दनमानन्ददायि यन्मलयचन्दनं तेन रञ्जनमनुलेपनं त्यजत। तर्हि अतिकलुषहृत्प्रसादनं हृदयपरमानन्ददायिनं कं भजाम इत्याशङ्क्याह—भजतेति। यूयं क्षितिधराधिपदुहितृवल्लभचरणपङ्कजपूजनं हिमाचल-पुत्रीनाथचरणकमलार्चनं भजत। तत्किंभूतम्। निर्जितं विषमवैभवस्य भवाम्बुधेर्मज्जनं येन तत्। भवाम्बुधेरुत्तरणविधायीत्यर्थः ॥ २६ ॥

सकलेति। सकलं यत्कलौ तुरीययुगे मलपटलं तदेव पन्नगरूपश्चासौ निगडस्तस्य खण्डने दलने पण्डितो दक्षस्तम्। विशदं यच्छशधरशकलं चन्द्रशकलं, तेन शोभितं यन्मुकुटरूपं मण्डनं तेन मण्डितः शोभितस्तं श्रीशंभुं यूयं भजत। किं कर्तुम्। हृदयं मनोऽभयं विगतभवोदधिभयमीहितुं काङ्क्षितुम्। किंभूतं हृदयम्। उन्मनो यो मदन एव दुर्नृपस्तेन दण्डितम्। श्रीशंभुं कम्। दुस्तरं यद्दुरितं स एव वारिधिर्महार्णवस्तस्य तरस्तरणं पारगमनं, तत्र तरण्डः प्लवस्तम्। किंभूतं च तरण्डम्। अखण्डितमदलितम् ॥ २७ ॥

जितेति। जितः सुधाकरश्चन्द्रो याभ्यां तादृशौ यौ गिरिसुताकरौ पार्वतीपाणी ताभ्यामादरेण लालितं कृतोद्वर्तनम्। तथा नतो नम्रो यः पुरन्दरः शक्रस्तस्य रुचिरशेखरो रम्यमौलिस्तत्र कुसुमानि पारिजातादिकल्पद्रुमकुसुमानि, तेषां केसरैः किंजल्कैः रञ्जितम्। तथा द्रुहिणो ब्रह्मा च माधवो विष्णुश्च कुमुदबान्धवश्चन्द्रश्च कमलिनीधवः पद्मिनीकान्तः सूर्यश्च तैः सेवितस्तमीदृशं हे भगवन्, त्वममृतशीकरवच्छीतलं चरणपङ्कजं निजं, मूर्धनि अर्थान्मम। वितर देहि ॥ २८ ॥

अवटेति। अवटे अकार्यकरणरूपे गर्ते यन्मज्जनं ब्रुडनं, तेन जनितं तर्जनं त्रासो येन तादृशं यद् वृजिनं पातकं तस्य भञ्जने खण्डशःकरणे साधनं हेतुभूतम्। तथा कृतं नमज्जनस्य भक्तिप्रह्वजनस्य हृदयरञ्जनं मनोरञ्जनं येन तत्तादृशं चिरं निरञ्जनं निर्मायं निर्व्याजं पूजनं यस्य तत्तादृशम्। त्रिपुरमारणे त्रिपुरासुरस्य दाहे दुरितस्य त्रिविधस्य वाङ्मनःकायविहितस्य दारणे खण्डने तथा दरस्य भावाम्बुधित्रासस्य यन्निवारणं तत्र कारणं हेतुभूतं। पीयूषशीकरशीतलं पादपद्मं मम शिरसि वितर देहि ॥ २९ ॥

अस्य स्तोत्रस्योपसंहारश्लोकमाह—

इदमिति। असंभृतानि बहुविधानि यान्यौषधानि तेषां साधनं निमित्तं निरौषधं रसायनमकृत्रिमरसं सहजपरमानन्दरसं स्तुतिरसायनमयं मे मम शरणागतस्य इदमुपायनं ढौकनकं गृहाण। अनुगृहाण प्रसादं कुरु। तथा परमो यो दाहो भवमरुभ्रमणजस्तेन या रुजा तन्निवारकं वरमभिलषितमुदाहर कथय। कया। वरमुदा। वरा उत्कृष्टा चासौ मुत्परमानन्दरूपा, तया परमप्रीत्या। हे हर, पीयूषशीकरशीतलं पादपद्मं मे मम मूर्ध्नि वितर देहि ॥ ३० ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां नतोपदेशस्तोत्रं नाम, एकत्रिंशम्।

द्वात्रिंशं स्तोत्रम्

अथातः शरणागतोद्धरणाख्यं द्वात्रिंशं स्तोत्रमारभमाण आह—

भवेति। हे हर, त्वं जगद्धरमुद्धर। भवार्णवादित्यर्थः। कथम्। चतुरं शीघ्रम्। अन्यच्चाशरणं, न विद्यमानं शरणं रक्षिता यस्य तम्। अन्यच्च। शरणागतं शरणाय, रक्षणायागतम्। यद्वा शरणं रक्षितारमागतम्। अन्यच्च भव एव मरुस्तत्र भ्रमस्तेन विषमश्चासौ संभ्रमस्त्रासस्त्वरा वा तस्मात्समुदित उत्पन्नश्चासौ क्लमस्तेन विक्लवो दीनस्तम्। अन्यच्च कुलिशवत्कर्कशं हृदयं येषां तथाविधाश्च ते दुर्जनास्तैः कृतः पराभवो विप्लवो यस्य। अवमानरूप उपप्लव इत्यर्थः। अन्यच्चातिशयेन भयंकरश्चासौ रविजकिंकरो यमभटस्तस्य विकृतहुंकृत्या कातरम्॥ १॥

कृतेति। हे हर त्वं जगद्धरं चतुरमुद्धर। जगद्धरं कीदृशम्। कृतं निकेतनं येन तथाविधश्चासौ मकरकेतनस्तेन दलितं चेतनमेव वेतनं यस्य सः। अन्यच्च ललितलोचनश्चासौ वधूजनस्तस्य वचनानि तैस्तर्जनं तिरस्कारस्तस्य भाजनम्। अन्यच्च गुणलवेनोद्गतो गुरुश्चासौ मदज्वरस्तेन जनिता चासौ तीव्रा रुजा तया आतुरम्॥ २॥

प्रमुखेति। हे हर, त्वं जगद्धरं चतुरमुद्धर। कीदृशम्। प्रमुखपेशलाश्च ते विषमवैशसाश्च ते विषयपाशास्तैर्वशीकृतम्। वैशसं दुःखम्। अन्यच्च प्रकृत्या दुर्ग्रहश्चासौ गुरुश्चासौ परिग्रहस्तेन निबिडपीडितो विग्रहो यस्य तम्। अन्यच्च ज्वलंश्चासावनर्गलश्च भव एव दवानलस्तेन कवलितमाकुलितं चेतो यस्य तम्॥ ३॥

पवनेति। हे हर, त्वं जगद्धरं चतुरमुद्धर। कीदृशम्। विवेके विसंस्थुलं विशृङ्खलम्। कथमिति। विभवयौवनसुतसुखादिकमेवंविधं भवति। विभवश्च यौवनं च सुताश्च सुखं च तान्यादौ यत्र तत्। कीदृशम्। पवनेन वेल्लितं च तत्कमलिनीदलं तस्य तलं तत्र चलच्च तज्जलं तद्वच्चञ्चलम्। अन्यच्च इन्द्रियाण्येव कपटतस्करा बलवन्तश्च ते इन्द्रियकपटतस्करास्तेषां हठेन विलुण्ठनं मोषणं तेन विह्वलम्॥ ४॥

समदेति। हे हर। कथंभूत। समदं नन्दनं मदनं मर्दयतीति। अन्यच्च शशिकलया आञ्छितं च तन्मुकुटं तेन लाञ्छित। भुवनानि भावयतीति भुवनभावन। परमश्चासौ पावनश्च परमपावनस्तस्यामन्त्रणम्। त्वं जगद्धरं चतुरमुद्धर। कीदृशम्। दुरितस्य तर्दनं न्यक्कारस्तत्र लोलुभम्। अन्यच्च विफलं वाञ्छितमभिप्रेतं यस्य तम्। अन्यच्चाकुलम्। अन्यच्च सुष्ठु दृढा भावना यस्य तम्। आनतम्॥ ५॥

जगदिति। हे हर। कीदृश। जगदनुग्रहमहितविग्रह। जगत्यनुग्रहस्तेन महितो विग्रहो यस्य तस्यामन्त्रणम्। त्रिपुरं शास्तीति त्रिपुरशासन। त्वं जगद्धरं चतुरमुद्धर। कीदृशम्। कृतपरिग्रहसद्ग्रहम्। परिग्रहे संश्चासौ ग्रहो हेवाकः, कृतः परिग्रहसद्ग्रहो येन। अथवा 'संग्रहम्' इति पाठः। अन्यच्च शबला कलुषा वासना यस्य तम्। अन्यच्च असत्सूपासनं तत्र लालसं सस्पृहम्। अन्यच्च घनचमत्कृत्या कृता नमस्कृतिर्येन तम्। अन्यच्च उचिता सत्कृतिः पूजा तत्र सस्पृहम्॥ ६॥

वरदेति। हे वरद, त्वं जगद्धरं चतुरमुद्धर। कीदृशम्। कृता निवेदना आर्तिनिवेदनं येन तम्। अन्यच्च अतुला वेदना यस्य तम्। उदितखेद एव नवा आपद्यस्य तम्। हे वरद, त्वं नन्दय

उल्लासं भज । त्वं विपदमर्दय मन्दीकुरु । ईदृशी निर्दयता किमिति भवति । हे यशोधन, त्वं दृशं दिश । काम् । हृदयशोधनविमलबोधनदीं हृदयशोधनश्चासौ विमलबोधस्तस्य नदीम् ॥ ७ ॥

अभयमिति । हे हर, त्वं जगद्धरं चतुरमुद्धर । त्वमभयमर्पय । त्वं कपटमलपय । त्वं पदं कल्पय । कुत्र । शिरसि । कस्य । मे मम । त्वं मुखमुदञ्चयोल्लासय । त्वं वचनमञ्चय शोभय । मुञ्चेत्यर्थः । हे वरद, त्वं मां नतं मा वञ्चय । जगद्धरं कीदृशम् । अविश्रमं कृतानि परिश्रमशतानि येन तम् । अन्यच्चातिशयेन श्रमस्तेन निःसहम् ॥ ८ ॥

इति श्रीराजानकशंकरकण्ठात्मजश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलि-
व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां शरणागतोद्धरणस्तोत्रं नाम द्वात्रिंशम् ।

त्रयस्त्रिंशं स्तोत्रम्

अथातो ग्रन्थकृत्कर्णपूरस्तोत्रमारभमाण आह—

काञ्चीति । स्तवो विजयते । कस्य । चन्द्रार्धमौलेः । स्तवः कः । काञ्चीकाञ्चनकिङ्किणीकलकलः । कांच्याः काञ्चनमय्यश्च ताः किङ्किण्यस्तासां कलकलः । अन्यच्च कः । शिञ्जानमञ्जीरजो झांकारः । शिञ्जानौ यौ मञ्जीरौ नूपुरौ ताभ्यां जातः सशब्दनूपुरजातः शब्दः । अन्यच्च कः । सकलाङ्गभूषणमणिश्रेणीझणाडम्बरः । अन्यच्च कः । प्रचलस्खलद्भुजलताक्षेपक्कणत्कङ्कणक्काणः । कदा । चङ्क्रमणक्रमे । क्रमः परिपाटी ॥ १ ॥

स्वामिन्निति । हे स्वामिन्, वाङ्मयदेवता भगवती आननं स्वेच्छाविहारक्रियाक्रीडाकाननं व्यधात् । नूनं निश्चितम् । कस्य । भवद्भक्तस्य । हे भव, एवं चेद्यदि न भवति, तदा जनेनास्मिन्नुज्ज्वलवर्णकोमलपदन्यासः कथं लक्ष्यते दृश्यते । उज्ज्वलाश्च ते वर्णा अक्षराणि तैः कोमलो रम्यः पदन्यासः कवित्वं यस्मिन्नस्मिन् शिवस्तुतिकाव्ये । अथ चोज्ज्वलवर्णः कोमलः पदन्यासश्चरणनिक्षेप उचित इत्यर्थान्तरम् । वर्णकोऽलक्तकः ॥ २ ॥

स्वैरमिति । हे कैरविणीकुटुम्बकलिकालंकार चन्द्रचूड, सत्कवयः सुधाविप्रुषोऽमृतकणान्दिशन्ति । केषाम् त्वद्भक्तिभाजाम् । कुतः । स्तवनिभात्स्तोत्रव्याजात् । किमर्थम् । विपत्तापापाकृतये आपत्सन्तापनिवारणाय । कीदृशीः । शिशिरस्निग्धाः । अन्यच्च, सारस्वतश्चासौ स्फार उल्लासः स एव स्वारसिकः प्रसादस्तेन विशदा स्वाधीना वाग्देवता येषां ते ॥ ३ ॥

यस्येति । तस्मै शेषाय भगवते नमः । कीदृशाय । त्रैलोक्याद्भुतमूर्तये । तस्मै कस्मै । यस्य शिरोदशशती साफल्यमश्नुते । कैः । त्वन्नमनैर्भवत्प्रणामैः । चक्षुः सहस्रद्वयं च साफल्यमश्नुते । कैः । सौन्दर्यसंदर्शनैः । अन्यच्च कैः । चारित्राणां श्रवणान्येवोत्सवास्तैः । कस्य । भवतः । रसनासहस्रद्वयं साफल्यमश्नुते । कैः । त्वत्कीर्तनैस्त्वत्स्तवोदीरणैः ॥ ४ ॥

राकेन्दोरिति । इति गिरो हृदयं हरन्ति । केषाम् । सताम् । कीदृश्यः । सान्द्रामृतार्द्राः । इति किम् । शंभो, शर्व, शशाङ्कशेखर, शिव, श्रीकण्ठ, विश्वेश्वर, त्रायस्वेति । कुतोऽपि । राका पूर्णिमा तस्यामिन्दुस्तस्मादपि । अन्यच्च । माधवाद्वसन्तादपि । अन्यच्च । सतां

सङ्गादपि । अन्यच्च । स्वामिनः सम्मानादपि । अन्यच्च, कामिन्याः कुचयुगं तस्याभोगो विस्तारस्तस्योपभोगस्तस्मादपि ॥ ५ ॥

श्यामेति । सतां सूक्तयः कस्य चेतो न कुर्वन्ति । कीदृशम् । श्यामाकामुकश्चन्द्रः, माधवो वसन्तस्तावादौ येषां ते तेषु विरसम् । अन्यच्च, नाशीरं घनसारं, कस्तूरिका मृगमदः, काश्मीरं कुङ्कुमं, तदादिषु निरादरम् । अन्यच्च । मलयजस्य चन्दनस्यालेपस्तस्यावलेपमावहति तादृशम् । अन्यच्च, नूतना चासौ वधूस्तस्या गाढश्चासावङ्गसङ्गस्तत्र स्पृहा प्रकर्षेण विधूता येन तम् । सूक्तयः कीदृश्यः । शांभवस्तव एव सुधा तया सिक्ताः ॥ ६ ॥

यस्येति । स्वर्बन्दिनां वृन्दानि तेषां सूक्तय उल्लसन्ति । कुत्र । अस्य पुरतः । अस्य कस्य । एताः स्तवरूपाः सूक्तयो यस्य मुखे खेलन्ति । कस्य स्तवसूक्तयः । तव । कीदृश्यः । ज्वालानां जालानि तान्येव जटा विद्यन्ते यस्य तथाविधश्चासौ कालस्तस्य रसना तस्याः संरम्भ आटोपस्तस्य संभावना निश्चयः, हेलया जिता याभिस्ताः । अस्य कीदृशस्य । पुरन्दरस्य पुरी तस्यां कान्ताः, तासां कटाक्षच्छटास्ता एव बाणश्रेणयस्तासां शरव्यं लक्ष्यं दिव्यं वपुर्यस्य तस्य ॥७॥

हर्षेति । दोहदोऽभिलाषो मान्द्यं विन्दति अल्पतां लभते । कीदृशः । नन्दने इन्दुवदनास्ताभिः सन्दिग्धाश्च ता मुग्धास्तासामधरस्तस्य प्रोन्मीलच्च तन्मधु तस्य बिन्दवस्त एव सुन्दरः सुधासन्दोहोऽमृतप्रवाहस्तं ददातीति । केषाम् । धन्यानाम् । कीदृशानाम् । स्तवगिरः कर्णे कुर्वतामाकर्णयताम् । कस्य तव । कियन्तं कालम् । चिरम् । कीदृशीः । हर्षस्योत्कर्षस्तं विवर्धयन्तीति । अन्यच्च । परिणतः परिपक्वो यः क्षौद्रस्य द्रवस्तं स्पर्धयन्त्य इति । अन्यच्च मधुराः ॥८॥

सद्विद्येति । शंभोः कृतोपासन एवंविधो भवति । सद्विद्यास्वभ्यसनं यस्य सः । अन्यच्च सभायां निवसनं निवासो यस्य सः । अन्यच्च सौधे आसनं तत्राध्यासनं यस्य सः । अन्यच्च शुद्धमन्नग्रसनं यस्य सः । अन्यच्च सुष्ठु धौतं वसनं यस्य सः । सत्साध्वसध्वंसनः । अन्यच्च सह ह्लादेनोल्लासेन वर्तते इति । अन्यच्च, प्रसन्नं हसनं यस्य सः । सम्पन्ना सती वासना यस्य सः । सत्सु काव्येषु व्यसनं यस्य सः । सुधयार्द्रा अमृतसिक्ता रसना यस्य सः ॥ ९ ॥

राकेति । धन्या अम्बुदनादेन विह्वला वलन्त्यश्च या बालाङ्गनास्तासामालिङ्गनं तेन ह्लादस्तेन सुखं तत्र स्पृहा तां जहति त्यजन्ति । कुत्र । इह संसारे । किं कुर्वन्तः । स्तुतीर्मृशतः । कुत्र । अन्तर्मनसि । अथवा स्तुतयः कुत्र । इह शिवनुतिकाव्ये । स्तुतीः कीदृशीः । राकाकान्तवद्रुग् यासां ताः । रुक् कान्तिः नैर्मल्यं प्रसन्नतेत्यर्थः । अन्यच्च, क्षता अखिलाः शुचो याभिस्ताः । अन्यच्च, पीयूषधारां मुञ्चन्तीति । स्वान्तस्य क्लान्तिं हरन्तीति । चमत्कृतिं कुर्वन्तीति । संगीतस्य भङ्गीं बिभ्रतीति ॥ १० ॥

सारेति । हे ईश, त्वत्पादपीठस्पृशो निशो रात्रीः कर्षन्ति अतिवाहयन्ति । कीदृश्यः । प्रसक्तसुदृशः प्राप्ताङ्गनाः । अन्यच्च, सारं चासारं च विन्दन्तीति समाहारे द्वन्द्वः । भयं भिन्दतीति भयभिदः । केषाम् । सताम् । प्रह्वानामुपतापं छिन्दन्तीति । कारुण्येनार्द्रं हृदयं येषाम् । प्रपन्नाः सुहृदो येषाम् । स्फारीभवन्ती संविद्येषाम् । त्राता अशेषा विशः प्रजा यैस्ते । प्रकाशिता दिशो यैस्ते । कया । कीर्त्या । महीं निर्विशन्तीति ॥ ११ ॥

दुर्धर्षेति । त एवंविधा भवन्ति । ते के । त्वद्ध्यानधौतांहसः । कीदृशाः । दुर्धर्षर्द्धिपुषः । अन्यच्च सहर्षं वपुर्येषाम् । तर्षस्य प्रकर्षं प्लुषन्ति दहन्तीति । सर्वेभ्य उत्कर्षं

जुषन्ति श्रयन्तीति । क्षणेन क्षता रुट् यैस्ते । कल्याणेन पूर्णमायुर्येषां ते । उत्सर्पत्सहो बलं येषां ते । समिद्धो महो येषां ते । क्षिप्त ऊर्जितोऽनेहा कालो यैस्ते । चित्तान्तात्प्रहसन्तीति । सुखेनास्तं रहो यैस्ते ॥ १२ ॥

कालमिति । रतिः सक्तिः कथं स्यात् । कस्य । तस्य । कुत्र । अन्यत्र कविक्रमे । तस्य कस्येव । मधुव्रतस्य भ्रमरस्येव । यथा तस्य रतिरन्यत्र कुसुमे नास्ति । कीदृशस्य । कमलिनीकिंजल्कपानोत्सवव्यग्रस्य । तस्य कस्य । यन्मनः कालमनयदतिवाहयामास । कैः । बालश्चासौ कुरङ्गकेतनश्चन्द्रः स एव कृत उत्तंसो येन तस्य प्रशंसा सैवामृतं तस्य स्यन्दः प्रवाहस्तस्य स्वाद एव विनोदनानि क्रीडास्तैः । मनः कीदृशम् । निःस्पन्दमत एव मन्दमचापलम् ॥ १३ ॥

खट्वाङ्ग इति । धन्यः शिरोभूषणख्यातिमश्नुते । शिरोभूषणमिति प्रथां प्राप्नोति । केषाम् । त्रिभुवने प्रष्ठा अग्न्या या प्रतिष्ठा कीर्तिस्तां जुषन्तीति तेषाम् । धन्यः कीदृशः । तस्य प्रभोः पादावेवाम्बुजे तयोर्भक्तिस्तत्र भाविता मतिर्यस्य सः । तस्य कस्य । यः प्रभुर्ब्रह्मोपेन्द्रपुरःसरामरशिरःश्रेणिं भूषणं बिभर्ति । कुत्र । खट्वाङ्गे, मुकुटे, करे, श्रवणयोः । स्वामी ब्रह्मादिदेवतामुण्डान्यहर्निशमजरामरत्वाच्छिरःप्रभृतिषु स्थानेषु धारयतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

रोहन्निति । श्रीकण्ठस्य पूजाविधिर्जयति । कः । रोहंश्चासौ मोह एव महीरुहस्तस्योरुश्चासौ परशुः कुठारः । अन्यच्च कः । दुर्वारश्चासौ मार एव ज्वरस्तस्य प्लोषो दाहस्तत उल्लाघो नीरोगकरणं, तत्र भिषग्वैद्यः । अन्यच्च कः । ताम्यतां ग्लानिं भजतां लोचनान्येव चक्रवाकास्तेषां मिथुनानि तेषां ब्रध्नोदयः सूर्योदयः । अन्यच्च कः । चन्द्रिकापूरः । कस्य । चित्तमेव चकोरस्तस्य ॥ १५ ॥

अर्चामिति । दृशः पतन्ति । कस्मिन् । तस्मिन् । कासाम् । पद्मलदृशाम् । कीदृश्यः । अर्पिताः । कथम् । सस्पृहम् । अन्यच्च सचकिताः । साचीकृता वक्रीकृताः । सस्मिताः साकूताः साभिप्रायाः । प्रेमामृतार्द्राः ॥ १६ ॥

स्वामिन्निति । हे स्वामिन् , भक्तिस्पृशो मान्मथीं तापव्यथां भिन्दन्ति । किं कृत्वा । सौमनसं स्रग्दाम निबध्य । कुत्र । वपुषि । कस्य । भवतः । कीदृशस्य । भस्मीभावितो मन्मथो येन तस्य । कीदृशाः । दोलाया आन्दोलनं तेन विह्वला चासाविन्दुवदना तस्या दोःकन्दली तस्याश्चन्दनं तस्य स्यन्दस्तेन निमीलितार्धानि नयनानि येषां ते ॥ १७ ॥

स्वामिन्निति । हे स्वामिन्, कुरङ्गीदृग्यः अङ्घ्री पादौ स्नपयन्ति । काभिः । ललितानि च तानि अक्षीणि तेषां पद्मपटलानि तेषां प्रान्तस्तस्मात्स्रुता येऽर्णःकणा जलकणास्तेषां श्रेणयस्ताभिः । कीदृश्यः । अनङ्गेन विगलन्मानो यासां ताः । तस्य कस्य । यः पादपङ्कजयुगमभ्यषिञ्चत् । कस्य । तव । कया । भक्त्या । कीदृशः । नमन् । कदा पूजान्तेषु । कैः । अमन्दमनल्पमुदिता उत्पन्नाश्च ते आनन्दाश्रुलेशोत्कारास्तैः ॥ १८ ॥

त्वामिति । हे भव, नूनं निश्चितं स्मरो भवत्सेवैकहेवाकिनं हन्ति । कथम् । निरन्तरमविच्छिन्नम् । काभिः । कर्णस्याभ्यर्णे तत्र वलन्त्यश्च ताः कटाक्षविशिखश्रेण्यस्ताभिः । कासाम् । एणीदृशां मृगाक्षीणाम् । किं कृत्वा । त्वामुपेक्ष्य । कया । अक्षमतया किं कर्तुम् । अभियोक्तुम् । कथम् । साक्षात्स्वरूपेण । कुतो हेतोः, भाले अग्निस्तस्य कीला ज्वालास्तेषा-

माबल्यस्तासां संरम्भ आटोपस्तस्मात् । त्वां कीदृशम् । अक्षामः शुभानुभावविभवो यस्य तम् ॥ १९ ॥

आदाविति । एषा मतिरिच्छति । किं कर्तुम् । त्वामुपगन्तुम् । कीदृशी । प्रोद्दामः कामोऽभिलाषो यस्याः । त्वां कम् । पतिं स्वामिनं भर्तारं वा । किं कृत्वा । भारतीं दूतीकृत्य । कुत्र । पुरोऽग्रे । कीदृशम् । नवानवद्यवचसम् । मतिः कीदृशी । उन्मुखत्वमुन्मुखतां नीता प्रापिता । कया । भक्तिवयस्यया भक्तिरेव वयस्या तया । कदा । आदौ आरम्भे । कथम् । शनैः । अन्यश्च विषमेषुवर्त्मस्वारूढा पञ्चशरमार्गं प्राप्ता । अन्यच्च भ्रान्ता । कियन्तं कालम् । सुचिरम् । अथानन्तरम् । किम् । पदम् । कस्याः । तान्तेर्ग्लानेः । इति कामिनीं प्रत्यर्थः । मुख्योऽर्थो मतिं प्रति यथा—मतिः कीदृशी । प्रथमं भक्त्या औत्सुक्यं नीता । कुतो हेतोः । परिचियाद्विद्यासंस्कारात् । तदनन्तरं विषमेषु वर्त्मसु सुचिरं बहुकालं भ्रान्ता । तदनन्तरं खेदास्पदं जातेति ॥ २० ॥

धूमेति । कोऽपरो विषं जग्राह । कुत्र । करे । किं कर्तुम् । ग्रासीकर्तुम् । कमन्तरेण । त्वामन्तरेण भवन्तं विना । कीदृशः । अमरेश्वरेणेन्द्रेण नुतः । विषं कीदृशम् । धूमस्योद्गारस्तेन गभीरं घस्मरं च तद्वपुस्तेन निर्भर्त्सिता तिरस्कृता अर्कप्रभा येन तत् । अन्यच्च, स्फूर्जच्च तत्फूत्कृतं तेन कर्बुरीकृता सिता श्रीकान्तदेहद्युतिर्येन तत् । श्रीकान्तो विष्णुः । प्रथमं तावद्विष्णुः सितोऽभूत् । पुनःकालकूटवशात्कृष्णः संपन्न इत्यागमः । अन्यच्च । उदग्रश्चासौ विग्रहस्तस्माद्गलन्तो वह्निस्फुलिङ्गा यस्य तत् ॥ २१ ॥

क्रोधेति । आतुरः कं शरणं वृणोत्यर्थयते । कमन्तरेण । त्वामन्तरेण । किं कुर्वन् । रक्षाक्षमं काङ्क्षन् । किं कृत्वा । चक्षुर्निक्षिप्य । कासु । दिक्षु विदिक्षु च । अन्यच्च, किं कुर्वन् ? गिरं प्रकटयन्प्रकाशयन् । कीदृशीम् । आक्रन्ददीनाम् । कीदृशः । क्रोधोद्भ्रान्तश्चासौ कृतान्तकिंकरस्तस्य कर एव द्रोणी पुष्करिणी तस्या मुखं तस्मात्प्रेङ्खित उल्लसितश्चासौ व्यालस्तेनालिङ्गिता कन्धरा यस्य सः ॥ २२ ॥

वर्षन्तीति । गीः पदं विधत्ताम् । कुत्र । वक्त्रे । कस्य । भवतः । हे देव, गीः केव । चान्द्री कलेव । यथा चान्द्री कला पदं स्थितिं विधत्ते । कुत्र । भवतो मूर्ध्नि । गीः किं कुर्वती । पीयूषं वर्षन्ती । कैः । दशनांशुभिः । पीयूषं कीदृशम् । भवस्य दोषास्तेषां पोषस्तेन परुषश्चासौ प्लोषो दाहस्तस्य प्रमोषस्तत्र क्षमम् । अन्यच्च किं कुर्वती । विषमं तमः कर्षन्ती । कस्य । लोकस्य । कीदृशस्य । प्रमथित आलोको यस्य स तस्य । चान्द्री कला चैवंविधैव ॥ २३ ॥

यदिति । हे स्वामिन्, एष विधिर्विधुरो भवति । विरुद्ध इत्यर्थः । कस्य ममैव । कस्मात् । यस्मात्स्वान्तं स्फीतावहेलं भवति । कस्मिन् मयि । स्फीता पूर्णा । स्वान्तं मनः । कस्य । तव । मयि कीदृशे । भीमश्चासौ भवोपतापस्तेन विपद्यस्य तस्मिन् । स्वान्तं कीदृशम् । कृपाया विपाकस्तेन विकसच्च तन्माधुर्यं तेन धुर्यं जेष्ठम् । जनो विफल उपैति गच्छति । कुतः । रत्ननिधेस्तीरात् । कैः । स्वैरेव दुष्कर्मभिः । कीदृशः । दूराध्वखिन्नः ॥ २४ ॥

यदिति, यच्चेति, यच्चेति, निःशङ्कमिति, सोऽयमिति । यत्सौन्दर्येत्यादि पञ्चभिः कुलकम् ॥ को न नन्दति आनन्दं भजते । काभिः । स्तुतिभिः । किं कर्तुम् । प्रसादं प्राप्तुम् । कीदृशीमिः स्तुतिभिः । प्रौढैरर्पिता प्रीतिर्यासु ताः । कः कीदृशः । अमन्द आदरो

यस्य सः । तं कीदृशम् । शर्मदकर्मनिर्मलफलं, शर्मदं च तत्कर्म तदेव निर्मलं फलं यस्य तत् । यतः सोऽयं परोऽनुग्रहो भवति । कस्य । गिरिजाभर्तुः । कीदृशस्य । सर्वजगतां प्रभोः । अन्यच्च अशरणेषु त्राणं तत्रैको हेवाको विद्यते यस्य । अन्यच्च, कारुण्यमेवामृतं तस्य सागरस्तस्य । सोऽयं लोकः । यद्यस्मात् मूलफलाशनैः स्थीयते । कुत्र । तरुतले । तरुतलं कुत्र । स्वर्लोककल्लोलिनी-कूले गङ्गातटे । कीदृशे । शम एव सुखं तस्यास्वादस्तमर्थयन्ते तैः । अन्यच्च प्रेङ्खचासावखर्वश्चासौ गर्वस्तेन घटितश्चासौ भ्रूभङ्गस्तेन भीमा आकृतिर्येषां तथाविधा ये क्ष्माभृत्पाशाः कुत्सिताः क्ष्माभृतस्तेषां घना चासौ प्रोल्लङ्घना अवमानस्ततो भीरवो भीतास्तैः । अखर्वोऽनल्पः । यद्यस्मा-त्सद्भिः सुखं जीव्यते । सद्भिरित्यध्याहारात् । कुत्र । अस्मिन्भवडम्बरे संसारप्रपञ्चे । कीदृशे । परिणमंश्चासौ मन्दश्चासावनिलस्तेनान्दोलनं तेन व्यालोलञ्च तन्नलिनीदलं तस्याञ्चलं प्रान्तस्तत्र चलंश्चासौ प्रालेयलेशस्तेनोपमा यस्य स तस्मिन् । आन्दोलनं कर्मोत्पादनम् । परिण-मन्पतन्नित्यर्थः । सद्भिः कीदृशैः । दुष्टश्चासौ कालस्तत्र व्यसनं दुःखं तेनावसन्ना अवसादं प्राप्ताश्च ता जनतास्तत्र व्यसनं दुःखं सन्तापस्तस्य निर्वापणं, तदेव व्यापारः स एकः सुकर्मणो निर्मलः फलारम्भो येषां ते तैः । यद्यस्मात्सन्तो नन्दति । कैः । दन्तिव्रजैर्हस्तिसमूहैः । कथम् । निःशङ्कम् कीदृशाः । नित्यं मुदिताः । किं कृत्वा । मानुष्यमुपेत्य प्राप्य । कीदृशम् । विकलङ्कम् । अन्यच्च अङ्के विलसन्ती चासौ लक्ष्मीस्तस्याः कटाक्षास्तैरीक्षितमवलोकितम् । यद्यस्मात्सन्तः स्वर्मध्यं स्वर्लोकान्तरमध्यासतेऽधितिष्ठन्ति । कदा । अन्ते मृत्यु समये । कीदृशाः । पुरुहूतस्य वारवनिता अप्सरसस्तासां गीतमेवामृतं तस्याकर्णनं तेन प्रोन्मीलन्तश्च ते पुलकास्तैरवकीर्णं भरितं वपुर्येषाम् । पञ्चभिः कुलकम् ॥ २५-२९॥

दृष्टिरिति । एष पाको भवति । केषाम्, त्वां भेजुषां सेवमानानाम् । अहो आश्चर्ये । त्वां कम् । अक्षामो बहुलश्चासौ प्रसादस्तस्य जलधिस्तम् । एष कः । यतो दृष्टिः पीयूषवृष्टिर्भवति । हे देव, वाणी मधुरमधुरसस्यन्दिनी भवति । पाणी त्वत्पादयोः पीठी तस्यां परिमलनं रज उद्वर्तन-धूलिस्तस्य राजिस्तया मैत्री मेलापस्तया पवित्रौ । चेतः स्वच्छन्दस्य चर्या तया परिणतं प्रवृत्तम्, करुणाया आरामार्थं विश्रामस्तस्य धाम । 'आरामः स्यादुपवनम्' ॥ ३० ॥

तस्येति, तमिति, किं वान्यदिति । क्षोणीपाला भूपा अङ्घ्रिपीठं रञ्जयन्ति । कस्य । तस्य । कथम् । अञ्जसा आर्जवेन । कैः । शिरोभिः । कीदृशैः । स्फुटाश्च ते मुकुटेषु मणयस्तेषु प्रौढानि पूर्णानि रोचिषां प्रतानानि दीप्त्यङ्कुरायेषाम् । स चैको लक्ष्मीं धत्ते । कीदृशः । धन्यः कृतपुण्यः । कीदृशीम् । सितरुचिवच्चन्द्रवद्रुचिरं च तच्छत्रं तदेव शुभ्रमुत्तरीयं यस्यास्ताम् । अन्यच्च उद्दामा चासौ रामा तस्याः करावेव कमले तयोश्चलच्च तच्चामरं तदेवोदारो हारो यस्याः सा ताम् ॥ मुनीन्द्रास्तं गृणन्ति स्तुवन्ति । काभिः । वाणीभिः । कीदृशीभिः । श्रवणपुटेषु सुधां स्यन्दन्त इति ताभिः । विद्याधराणां वराश्च ता वनिताश्चरित्रं गायन्ति । कैः । गीतैः । कस्य । तस्य । कीदृशम् । चित्रमद्भुतम् । दानं च दाक्षिण्यं च तयोर्वार्ता प्रसरति संचरति । कासु । विद्वद्गोष्ठीषु । पण्डित-सभास्वित्यर्थः । कीर्तिजागर्ति । कस्य । तस्य । केषु । प्रवराश्च ते कवयस्तेषां वचोभङ्ग्यो वाक्यविच्छित्तयः । काव्यानीत्यर्थः । ता एव सन्मङ्गलानि तेषु ॥ हे स्वामिन्, अन्यत्किं वा भवति । एष कालवक्त्रं यममुखं न पश्यति । कीदृशम् । अनलस्य शिलाभिः पिशङ्गाश्च ता जिह्वास्ताभिः स्फूर्जन्त्य उल्लसन्त्यश्च ता दंष्ट्रास्ताभिः करालम् । अन्यच्च भ्रुकुटिकुटिलितम् । अन्यच्च भीषणम् । एष कः । यस्त्वामाराधयेत् । कुत्र । वनान्ते तरूणामन्तरेऽरण्ये वा ।

कीदृशे। मन्दश्चासावनिलस्तेनान्दोलिताः कम्पिता ललिताश्च ता लतास्तासां नृत्तं तेन कान्तस्तस्मिन्। यः कीदृशः। शान्ता ईर्ष्या असूया यस्य स। त्वां कम्। अविद्यया जडं च तज्जगत्तस्यागदंकारो वैद्यस्तम्। अविद्याहंकारः॥ तिलकम्॥ ३१-३३॥

आकर्णेति, तस्मादिति। पुष्पचापः कामः प्रहरति। कथम्। निभृतं गूढम्। नारीणां नेत्राणि तेषामन्तास्तेषु तिर्यग्विवलनानि तान्येव विशिखाः शरास्तेषां श्रेणयस्ताभिः। कीदृशः। आकर्णमाकृष्टं चापं येन सः। अन्यच्च निर्निमित्तमपकरोतीति सः। तिर्यग्विवलनानि कटाक्षा इत्यर्थः। कालस्य व्यालो यमभुजंगः वपुः कवलयति ग्रासीकरोति। कीदृशः। फूत्कारस्फारफालः फूत्कारेण स्फारः पूर्णः फाल उत्पतनं यस्य सः। अन्यच्च फुरंश्चासौ उरुश्चासौ गरलज्वालः स एव जिह्वा तया जटालो व्याप्तः। अन्यच्च करालो हन्तुकामः। वयं क्व यामः कुत्र व्रजामः॥ तस्मात् किंबहुना त्वमेकः शरणं भवसि। केषाम्। अस्माकम्। त्वं कीदृशः। अशरणेषु त्राणमेव शीलं यस्य सः। अन्यच्च अविरला चासौ करुणा तस्याः सिन्धुः। अन्यच्च भक्तौ श्रद्धा तस्याः प्रबन्धस्तेन नमन्तश्च तेऽमरास्तेषां शिरांसि तेषां श्रेणयस्तासु माणिक्यमालास्तासां ज्वालास्ताभिर्लीढमङ्घ्रिपीठं यस्य सः। अस्माकं कीदृशानाम्। अकस्माद्भवो विकसंश्चासावसत्कर्मपाकस्तस्योपतापस्तेन जाता चासौ व्यापत्तया तापस्तेनातुरास्तेषाम्॥ युग्मम्॥ ३४-३५॥

अथेदानीं भूमिमूर्तिं देवं स्तौति—**येति**। नमोऽस्तु। कस्मै। ते। एषा भूतधात्री प्रक्रमो भवति। आदिमूर्तिनिर्माणप्रारम्भ इत्यर्थः। किं कुर्वती। जनं पात्रीकुर्वती। कासाम्। संपदाम्। एषा कीदृशी। शेषाहिरेव पीठं तत्र प्रकटिता वसतिर्यया सा। एषा का। या जनिरुत्पत्तिस्थानं भवति। कासाम्। निःशेषाश्च ता ओषधयस्तासाम्। कम्पसंपत्संपर्को नाजनि नोदपादि। कुत्र कचित्। यत्र यस्यामित्यर्थः। स्थितिर्न भवति। केषाम् जनानाम्। कुत्र। यत्र। जनानां कीदृशानाम्। परिभ्रंशं लुठनं भजन्त इति तेषाम्॥ ३६॥

अथातो जलमूर्तिं देवं स्तौति—**संसार इति**। नमोऽस्तु। कस्मै। ते। तज्जलमपि विभ्रमो भवति। यस्य ते तनुरचनेत्यर्थः। कीदृशम्। त्रैलोक्याप्यायकम्। तत्किम्। यद्विना आपद्विनाशो न भवति। केषाम्। कृतिनाम्। कीदृशानाम्। बद्धा स्पृहा यैस्तेषाम्। कस्याम्। शुद्धौ नैर्मल्ये। धर्मप्रधानं कर्म कुशलं मङ्गलावहं भवति। कस्मिन्। अस्मिन्संसारे। कीदृशे। असारे अस्थिरे। परमत्यर्थम्। कुत्र हेतोः। शुद्धिहेतोः। तस्मात्। कीदृशोऽपि। शर्म प्रददातीति सः॥३७॥

अथेदानीमग्निमूर्तिं देवं स्तौति—**यमिति**। हे विभो, सततं सदैव जन्तूनां देहिनामन्तः सन्तं जठराग्निरूपेणागदं नीरोगम् अदः जनान् जीवयन्तं यं पावकं विना शीतभीत्या प्रकटिता विपद्येषां तादृशानां देहिनां स्वस्तिहेतुः कल्याणकृदन्यः कोऽपि नास्ति। तथा योऽग्निर्गीर्वाणानां देवानां विपदमतृप्तिरूपां हविर्भिर्ग्लपयति आहुतिभिर्दूरीकरोति। तथा यज्वनां याज्ञिकानामप्यनल्पैर्महद्भिः कल्पितैः कृतैर्दत्तैः संकल्पैर्मनोरथैर्यज्वनां विपदं ग्लपयति। स पावकोऽग्निस्ते तव विभव ऐश्वर्यं मूर्तिरूपमस्ति। ते तुभ्यं नमोऽस्तु॥३८॥

अथातो वायुमूर्तिं विभुं स्तौति—**अन्त इति**। हे विभो पञ्चधा पञ्चभिर्भेदैः प्राणापानसमानोदानव्यानरूपैरन्तर्देहे सन्तिष्ठमानः स्वस्वस्थाने स्थितो यो मारुतः पवनो जगतां पञ्चतां निधनं स्थगयति रुणद्धि। 'स्यात्पञ्चता कालधर्मः' इत्यमरः। तथा सन्ततं नित्यं स्थायिभावं

स्थिरत्वं सन्धायालम्ब्य यत्र यस्मिन्पवने तेजस्विचक्रं सूर्यादिग्रहताराचक्रं प्रसरति भ्रमति। तथा यत्र च पवने त्रिभुवनमेव भवनं सद्म स्थैर्यमेति। भूतानां प्राणिनामाधारभूतां मूर्तिं बिभ्रदेष मारुतस्ते तव विभोर्विभूतिं प्रथयति। ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥३९॥

अथाकाशमूर्तिं देवं स्तौति—यत्रेति। हे विभो भव, यत्र यस्मिन्नभसि जले सरला वृत्ता या अलाबुतम्बी तां विडम्बयत्यनुकरोति तादृशो ब्रह्माण्डस्य पिण्डः प्रसरति संचरति। तथा यत्र पवने झांकारि सशब्दं वारि जलं तदपि स्कन्धबन्धेषु सप्तसु पवनस्कन्धबन्धेषु स्थैर्यं प्रथयति प्रकाशयति। सोऽपि पवनः स्फारेणोल्लासेन यस्य नभस उद्देशलेशं भर्तुं न प्रभवति। तन्नभ आकाशं तव वपुर्मूर्तिभूतं सूर्यादीनामाधारभूतं भवति। ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ४० ॥

अथातो यजमानमूर्तिं देवं स्तौति—धातुरिति। हे भगवन्, अधृतविपत्संगमः न धृतो विपदां संगमो येन स यज्वा यजमानस्तव वपुर्भवति। तस्मै ते नमोऽस्तु। स क इत्याह—तासामित्यादि। यो यज्वा शर्मकृद्भिर्निःश्रेयसप्रदैः कर्मभिः स्फीतभासामधिकद्युतीनामासां श्रुतीनां साफल्यं जनयत्युत्पादयति। तासां कासामित्याह—धातुरिति। लोकसृष्टिविधौ चातुर्यभाजो ब्रह्मणश्चतुर्भ्यो मुखेभ्यो याः श्रुतयोऽजनिषत उत्पन्नाः। किंभूताः कृतप्रीतयः। केषाम्। नाकस्थितानाम्। साकं सहैव ॥ ४१ ॥

अथातश्चन्द्रमूर्तिं देवं स्तौति—प्रेङ्खद्भिरिति। हे भगवन्, असौ चन्द्रमास्तवातनुर्महती तनुर्मूर्तिर्भवति। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। असौ क इत्याह—निर्जरा देवाः धवले शुक्लपक्षे प्रेङ्खद्भिरुल्लसद्भिर्यस्य चन्द्रमसो मयूखैः किरणैः प्राणयात्रां विदधति कुर्वति। तथा यश्चन्द्रमा बहुले कृष्णपक्षे प्रोत्कटानन्दस्थानं पितॄणां पारणं प्रथयति। 'उभौ निरुक्तौ खलु शुक्लकृष्णौ शुभाशुभे कर्मणि तौ प्रशस्तौ'। शुक्लपक्षो दैवः कृष्णपक्षः पैत्र इति ज्योतिःशास्त्रे संहिताविदः। तथा यश्चन्द्रमाः समस्तौषधीनां पीवरां भातिं दीप्तिं पुष्णाति। किं कुर्वन्। शमिततिमिरं ध्वस्तान्धकारं उरु महदन्तरिक्षं कुर्वन् ॥ ४२ ॥

अथातः सूर्यमूर्तिं देवं स्तौति—प्रातरिति। हे सद्गभस्ते, सन्तः शोभना गभस्तयो रश्मयो यस्य स तस्य संबोधनम्। इह जगति त्वं मिहिरः सूर्योऽसि। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। स मिहिरः सूर्यः कः। प्रातरित्यादि। प्राभञ्जने पथि आकाशे पान्थमिव ध्वान्तमन्धकार एव कान्तारं दूरशून्योऽध्वा तत्र ताम्यन्तो ये लोकास्तेषामालोकार्पणार्थं प्रकाशवितरणाय प्रातरुदितम्। तथा सुधियः सुकृतिनः साधिम्ना बाढत्वेन समाधिं संयतचित्तत्वमधिष्ठिता यं सूर्यं सायं समये ध्यायन्ति। सन्ध्याविधिमधि संध्यासमय इत्यर्थः। किंभूतं यम्। बाधिता आधयो मनःपीडा व्याधयश्च येन स तम्। 'आरोग्यं भास्करादिच्छेच्छ्रियमिच्छेद्धुताशनात्' इति स्मृतेः ॥४३॥

अथातः परब्रह्मस्वरूपं निष्कलेश्वरं परमशिवं स्तौति—दिगिति। हे विश्वमूर्ते भव परमेश, त्वं विभुस्तत्परं परात्परतरं ब्रह्म बृंहणाद् ब्रह्म भवसि। किंभूतम्। भिन्नेष्वपि पृथग्भूतेष्वपि प्राणिषु सचराचरेष्वभिन्नम्। एकरूपमेवेत्यर्थः। दिक् च देशश्चाकारश्च कालश्च तैरकलितविभवमज्ञातैश्वर्यम्। सर्वव्यापकत्वेन दिग्देशाद्यपरिच्छिन्नमित्यर्थः। तथाभूतानां चतुर्दशविधानां ग्रामः समूहस्तस्य यत्परं ब्रह्म महद्बीजभूतं कारणभूतं भवति। यथा बीजादतिसूक्ष्मादपि महतो वृक्षादेरुद्भवस्तथा यस्माच्चतुर्दशविधभूतसर्ग इत्यर्थः। तथा चोक्तं सांख्यसंप्रदाये—'अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥' तथा

त्रिभुवनविषयं समस्तं वस्तुजातं यस्य परब्रह्मणो विवर्तः परिणामो वा। हेम्नि सुवर्णं इव नानाभरणानां कङ्कणनूपुरादीनां परिकरः सामग्रीरूपो यथा हेम्नि सुवर्णे लीयते, तथान्ते कल्पान्ते विश्वं यत्र परब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः ॥४४॥

अथात एतस्य स्तोत्रस्योपसंहारश्लोकमेकमाह—इत्थमिति। हे विभो शशधरशिखर चन्द्रमौले, इत्थं पूर्वोक्तेन प्रकारेण, मत्सूक्तयस्ते तव विभोः कर्णपूरी भवन्तु कर्णावतंसा संपद्यन्ताम्। किंभूतास्ताः। स्फार उल्लसन्यः सारस्वतौघो वाणीसंबन्धी रसप्रवाह एव सरस्वती-नदीसंबन्धी प्रवाहस्तेन प्रोन्मीलत्प्रकर्षेण विलसद् यद् वक्त्रं मुखं सैव शुक्तिस्तस्याः स्खलन्त्यमलानि मिलन्ति यानि मौक्तिकानि वचनरूपाणि तेषां व्यक्तिं प्रकटीभावं भजन्ति तादृश्यः। तथा किंभूताः। तीव्रा कठिना या आपद्भवामयदुःखं तेन यस्तापः सन्तापस्तेन ताम्यन्तो ये सहृदया-स्तेषां हृदयक्लान्तेः शान्तौ प्रगल्भाः। पुनः कीदृश्यः। दर्भाग्रस्पर्धिनी अतिसूक्ष्मा या बुद्धिस्तया ग्रथिता दृढा गुणा माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयो यासां ताः। मुक्ता अपि शुक्तिभवास्तापहारिण्यो गुणैस्तन्तुभिर्बद्धाश्च भवन्तीति शिवम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलि-व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां कर्णपूरस्तोत्रं नाम त्रयस्त्रिंशम्।

चतुस्त्रिंशं स्तोत्रम्

अथातो ग्रन्थकृच्चतुस्त्रिंशमग्र्यवर्णस्तोत्रमारभमाण आह—सर्पदिति। सर्पन्नुल्लसन्यः कन्दर्पः कामस्तस्य दर्पो गर्व एव ज्वरभरस्तस्य हरणे व्यग्रो वर्चः प्रपञ्चस्तेजोडम्बरो येषां ते तादृशाः प्रत्यग्रा नवाः सूर्यचन्द्रज्वलदग्नयस्तैर्वलन्ति पद्मलानि त्रीणि नयनानि यस्य तथा भूतं वक्त्रं मुखं यस्य। तथा तर्षस्य स्पृहायाः प्रकर्षस्तेन श्रमस्तस्य शमनं यन्मनस्तर्पणस्वर्णवर्षं परमानन्द-स्वरूपं तेन स्वस्थं सहर्षं जनं भक्तिप्रह्वलोकं तन्वन्विस्तारयन्। अनघमघः अनघो मघो महिमा सौख्यं च यस्य स शर्वः श्रीशंभुर्वो युष्मभ्यमक्षयमविनाशं स्थैर्यं कल्पयतु करोतु ॥ १ ॥

यद्वदिति। प्रसन्नं प्रसादमधुरम्। लसन् योऽसमोऽनन्यसामान्यो रसोऽमृतरसस्तस्य सन्दर्भो गर्भे यस्य तत् तादृशम्। मङ्गल्यं मङ्गले साधु। तथा नर्मणा खेलया बद्धम्। तथा शस्यं स्तुत्यम्। कलङ्कं त्रिविधं मलमस्यद्दूरीकुर्वत्। भर्गस्य श्रीशंभोरदो वचनं दीनाभय-वचनं यद्वद्वन्द्यं भवति, तद्वद्यं प्रशस्यं मण्डनं भूषणं कपर्दे जटाजूटे न्यस्तं वक्रं कुटिलमेक-कलारूपत्वात्। तथा प्रशस्तं शोभनम्। तथा प्रबलतमतमःखण्डनं भर्गस्य श्रीशंभोः शशधरशकलं चन्द्रशकलं वोऽवद्यं पातकं द्यतु खण्डयतु ॥ २ ॥

षट्चक्रेति। प्रक्रान्तत्वाद्भर्ग इत्यध्याहारः। एवंभूतो भर्गः श्रीशंभुर्वो युष्माकमशम-कल्याणं भवामयोत्थं हन्तु खण्डयतु। किंभूतः। षट्सु शरीरान्तर्वर्तिषु चक्रेषु नाभिहृत्कण्ठतालु-मूलभ्रूमध्यब्रह्मर-न्ध्रेषु तिष्ठति तादृशः। तथा षट् च तेऽध्वानो वर्णमन्त्रपदकलातत्त्वभुवनात्मान आगमशास्त्रप्रसिद्धाः। तत्र वर्णमन्त्रपदात्मका अध्वानो वाचकरूपाः कलातत्त्वभुवनात्मका वाच्यरूपास्तेषु षडध्वसु प्रसरः संचारस्तत्र सरभस औत्सुक्यवान्। तथा सर्गबन्धे सृष्टिरचनायां

प्रगल्भः। तथा अग्रं पुरोभागं प्रति प्रत्यग्रं प्रह्वाः प्रणतिपरा नव्यस्तवपठने परा लीना ब्रह्मा द्रुहिणः, सत् उल्लसत् चक्रं सुदर्शनाख्यं यस्य स सचक्रो विष्णुः, शक्र इन्द्रश्च यस्य। तथा दक्षस्य दक्षप्रजापतेः क्रतोर्यज्ञमृगस्यान्तकत्वं ध्वंसकत्वं दधत्। तथा अधमानां पामराणामन्धकासुरत्रिपुरप्रभृतीनां ध्वंसस्तेन लब्ध्या प्रशंसा स्तुतिर्यस्य सः। तथा संसर्गेण निजचरणारविन्दरजःस्पर्शेन ध्वस्तं पङ्कं त्रिविधं पातकं येन स तादृशः। तथा गणानां नन्दिमहाकालप्रभृतीनां गणः समूहस्तमचलं निर्विनाशं कल्पयन् ॥ ३ ॥

वक्षःसद्मेति। अविद्यमानो व्ययो नाशो यस्य स तादृशः श्रीशंभुर्वो युष्माकमघं त्रिविधं पापं स्यतु दूरीकरोतु। 'षोऽन्तकर्मणि' धातुः। स क इत्याह वक्षःसद्मेत्यादि। वक्ष एव सद्म निवासस्तत्र तिष्ठतीति तादृशी पद्मा लक्ष्मीर्यस्य स तादृशम्। तथा करौ पाणी एव कमले तयोस्तले प्रज्वलन्ती प्रोद्भासमाने शङ्खः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनश्च यस्य स तादृशम्। तथा कंसघ्नं कंसरिपुम्। सर्पतल्पं शेषशायिनम्। खगवरवहनं गरुडवाहनं विष्णुम्, अर्धगमर्धं दक्षिणार्धं गच्छतीति तादृशस्तं यो नन्दयति प्रमोदयति। हरिहररूपधारीत्यर्थः। तथा यः श्रीशंभुर्वामार्धे ध्वजस्थं ध्वजाग्रस्थं धर्मं वृषं बध्नन्। तथा करगतकलशं पाणिस्थामृतकलशं च वर्ष्म शरीरं बध्नन्। तथा शंसन्तं स्तुवन्तं संस्मरन्तं श्रीशिवस्मरणरतं व्रतस्थं भक्तिप्रह्वजनं चानवरतमनिशं नन्दयति ॥ ४ ॥

संरक्षन्निति। स त्र्यम्बकः श्रीशंभुर्वो युष्माकं संपदं वर्षतु। किंभूतः। अच्छिन्नमविरतं चञ्चत् उच्छलन्यो गरः कालकूटाख्यो विषविशेषस्तेन गवलो महिषशृङ्गसदृशः। 'शबलः' इति पाठः। शबलः कर्बुरो गलो यस्य स तादृशः। तथा शश्वदनिशम् अङ्कस्थलगता अर्धनारीश्वररूपधारित्वेन नगजा पार्वती यस्य स तादृशः। किं कुर्वन्। यमभटभयतोऽन्तककिंकरत्रासाद्भक्तवर्गं संरक्षन् सम्यक् पालयन्। किंभूतं तम्। सभ्यम् सभासु साधु सभ्यस्तम्। तथा अभ्यर्णे समीपे लभ्यः सेवायां संनिहितस्तादृशम्। तथा धन्यंमन्यं धन्यमात्मानं मन्यते तादृशस्तम्। तथा वदन्यं दातारम्। तथा प्रणये। निजप्रभुं प्रति कर्तव्ये परवशस्तादृशम्। तथा पर्षदि सभायामग्र्या उत्कृष्टा व्यवस्था यस्य तम्। पुनः किंभूतस्त्र्यम्बकः। के शिरसि तिष्ठतीति कस्था रङ्गत्तरङ्गा चलद्वीचिः स्वर्गङ्गा यस्य स कस्थरङ्गत्तरङ्गस्वर्गङ्गः ॥ ५ ॥

अम्भःकम्प्रमिति। अजोऽनादिः श्रीशंभुर्वो युष्माकं कल्पषं पातकं स्यतु दूरीकरोतु। किं कुर्वन्। अम्भसा स्वर्गङ्गाजलेन कम्प्रस्तं कटप्रं जटाजूटं कपर्दं ग्रथ्नन्। तथा सह बलेन गरलेन वर्तते यः स तादृशम्। कण्ठे गले लग्नं पन्नगं वासुकिं ग्रथ्नन्। मही क्षितिः आपो जलं च नभस्वान्वायुश्च खरकरः सूर्यश्च दहनोऽग्निः स्वमात्मा यजमानः ऋक्षपतिश्चन्द्रः अम्बरं चेत्येतेषां भावः मह्यम्नभस्वत्खरकरदहनस्वर्क्षपत्यम्बरत्वं ग्रथ्नन् तन्मूर्तिं धारयन्। तथा स्कन्धयोस्तिष्ठतीति तादृशं चर्म गजचर्म ग्रथ्नन्। तथा भर्म बिभर्ति पुष्णाति प्रीतिमिति भर्मकनकम्। 'गाङ्गेयं भर्म कर्बुरम्' इत्यमरः। भर्मप्रभं कनकनिभमलकचयं केशसमूहं ग्रथ्नन्। यतोऽसौ विभुर्नीललोहितः। नीलः कण्ठे लोहितः केशेष्वित्यागमः। तथा चन्दनत्वं मलयजत्वं प्राप्तं सप्तच्छददलवद्धवलं भस्म विभूतिं प्रत्यङ्गं ग्रथ्नम् ॥ ६ ॥

सद्य इति। स्मरहरः श्रीशंभुस्तस्य पादयुगले नम्रस्य भक्तिप्रह्वस्य धन्यस्य पुंसः अच्छं निर्मलं तन्मनश्चित्तं वो युष्माकं शं कल्याणं यच्छतु ददातु। तन्मनः किम्। यत्

श्रीशिवभक्तस्य मनः सद्यस्तत्क्षणमेव श्रीशिवैकताध्यानावसर एव सम्यङ् न्यस्तो गर्वग्रहोऽहंकार-हेवाको येन तत्। तथा अहतमक्षतं महस्तेजो यस्य तत्। तथा त्यक्तः सङ्गस्य बाह्यजनसंयोगस्य प्रसङ्गो येन तत्। तथा सत्वस्थमुद्रिक्तसत्त्वगुणस्थम्। तथा लब्धतत्त्वं प्राप्तपरमार्थम्। तथा मलेन पापेन शबलः पापमिश्रितः गलत् चलत्...............। श्रीशिवभक्तिरसास्वादे प्रयत्नस्तत्र क्षमम्। तथा अलयदयं निर्विनाशकृपम् (सेवकजनम्) तथा तथ्यं सत्यवचनमेव पथ्यं यस्य तत् ॥ ७ ॥

सत्यमिति। सितकरस्येन्दोः शरणं निवासभूतम्। ध्वस्तो दूरीकृतः कम्पः संसारजो भक्तजनस्य येन तत्। तथा संपदः शोभायाः संपर्केण रम्या प्रभा यस्य तत् तादृशम्। अभयं शरणागतानां भयाभावं करोतीति तादृशस्तस्य। अभयाख्यमायुधं करे यस्य स तादृशस्य वा। ऋषभस्यन्दनस्य वृषभवाहनस्य श्रीशंभोर्मस्तकं शिरो वो युष्माकमशमककल्याणं भवारघट्टे पुनरावृत्तिरूपं व्यस्यतु विशेषेण दूरीकरोतु। तस्य श्रीशंभोः कस्य। सत्यमित्यादि। स्पष्टं प्रकटं कष्टं भवमरुभ्रमणजं तस्य प्रशमने मनो यस्य तादृशस्य। यत्पदस्पर्शबद्धश्रद्धस्य यस्य विभोः पदारविन्दस्पर्शे बद्धश्रद्धस्य कस्य घनं महदघपटलं पातकसमूहः सत्यं निश्चितमेवावश्यं नश्यति। अघपटलं किंभूतम्। व्यक्तकल्कम्। व्यक्तः प्रकटः कल्कोऽपराधो यस्मात्तत् ॥ ८ ॥

अत्यन्तेति। सर्वज्ञः परमेश्वरः क्षता दूरीकृताः सकला आणवमायीयकार्मरूपास्त्रयो मला येन स तादृशस्तम्। तथा अव्ययं न विद्यमानो व्ययो नाशो यस्य स तादृशम्। अर्थं परमार्थं वो युष्माकं वर्धयतु। अशरणानामप्रतिपालकानां जनानां प्रत्ता दत्ता रक्षा येन तत्तादृशम्। अत्यन्तं नितरां स्वच्छं निर्मलमन्तःकरणं मनः समक्षं प्रत्यक्षमेव व्यञ्जन् प्रकटीकुर्वन्। तथा अजस्रं सदैव नयेन विनयेन नता भक्तिप्रह्वास्तेषां वदने मुखे यः स्तम्भो मौनमुद्रा तस्य संरम्भः स एव दम्भस्तं भञ्जन्। 'भञ्जो आमर्दने' धातुः। तथा सत्वानां प्राणिनां संघस्य यः क्रमस्तस्य करणं तेन चणं प्रख्यातम्। 'तेन वित्तश्चञ्चुप्चणपौ'। भूतक्लेशदायिकर्मप्रबन्धं कर्मभिः शुभारम्भैः प्रकर्षेण बन्धो यस्य तत् तादृशं जन्म अत्यर्थं मथ्नन् निःशेषीकुर्वन्। भविनामिति शेषः॥ ९ ॥

गल्वर्केति। परेषामन्धकासुरादीनां दैत्यानां बलं मथ्नातीति तादृशः। स्वच्छन्दा स्वतन्त्रा चर्या यस्य तादृशो विभुरन्वहं प्रतिदिनं वस्तर्पयतु। परमामृतरसेनेत्यर्थः। स्वच्छन्द-चर्यामेव विभोराह—गल्वर्केत्यादि। गल्वर्कमयाः स्फटिकमयाः प्रस्थाः सानवस्तत्र पस्त्यं भवनं यस्य तादृशम्। धरं गिरिं कैलाशं गच्छन्। 'निशान्तपस्त्यसदनम्' इत्यमरः। तथा मलयं मलयाख्यं गिरिं मन्दरं सह्यं च गच्छन्। सह्यं किंभूतम्। अन्तर्नन्दन्तो गन्धर्वाः यक्षा देवयोनयो यस्मिन्स तम्। पुनः किंभूतं सह्यम्। सह कनककटकेन काञ्चनमयमध्यभागेन वर्तते यः स तम्। 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः। नितम्बो मध्यभागः। पुनः कीदृशम्। कल्पवृक्षाः पञ्च मन्दाराद्या अन्तरङ्गा यस्य तम्। पुनः किं कुर्वन् विभुः। भद्रं रम्यं संक्रन्दनस्येन्द्रस्य प्रहसनसदनं लीलागृहं स्वर्गरङ्गं स्वर्गे रङ्गभूमिरूपं नन्दनं स्वर्गोद्यानं गच्छन् ॥ १० ॥

पद्मस्थमिति। अलमत्यर्थं चरणतलं पादतलमत्यजन्तमिति सर्वत्र संबन्धः। यो विभुः परमेशः अलमत्यर्थं चरणतलमत्यजन्तं पद्मस्थं ब्रह्माणं संपश्यति सम्यक् समदृष्ट्या च पश्यति। अत्यर्थं चरणतलमत्यजत एतान्ब्रह्मादीन् यो विभुः समदृष्ट्या पश्यति स स्वामी वो युष्माकमशमकल्याणं भवोत्थं कर्षतु दूरीकरोतु। एतान् कान्। पद्मस्थं ब्रह्माणम्। पद्महस्तं

विष्णुम्। गजवरवदनं गजास्यं गणेशम्। स्कन्दसंज्ञं नन्दनं कुमारम्। पर्जन्यं मेघम्। हंसं सूर्यम्। अब्जं चन्द्रमसम्। दशशतनयनं सहस्राक्षमिन्द्रम्। हव्यभक्षमग्निम्। सदण्डं दण्डधरं यमम्। रक्षःप्रख्यं निर्ऋतिम्। जलस्था प्रथा प्रसिद्धिर्यस्य स तं वरुणम्। तथा पवनं वायुम्। मर्त्यपत्रं नरवाहनं कुबेरम्। मरवघ्नं मृगरूपयज्ञध्वंसकमीशानं च। एतान्॥ ११॥

अव्यक्तमिति। यः परमेशो रजोगुणस्योद्रेकेऽब्जजो ब्रह्मा सन् अव्यक्तमप्रकटमपि समग्रं समस्तमगाः पर्वता एव नगराणि यत्र तदगनगरं जगद्व्यञ्जयति प्रकटीकरोति। सृजतीत्यर्थः। तथा सत्त्वोद्रेकेणानन्तो विष्णुरूपः सन् समस्तं जगत्संरक्षति। तथा तमोगुणे प्रबले रुद्ररूपेण यो जगत् विश्वमक्रमं युगपदेव संहरति। यः किंरूपः स्मरयमदमनः कालकामदहनः। स त्र्यक्षस्त्रिलोचनः श्रीशंभुर्वो युष्माकमद्वयं स्पर्शयतु ददातु। भगवानेकरूपः सर्वत्र स्थित इत्येव युष्मानवगमयत्वित्यर्थः॥ १२॥

द्रष्टव्यमिति। नमन्तः प्रणमन्तोऽमरवरा ब्रह्माद्या यस्य सः। तथा संकरं पापानां संकटं हन्तीति तादृशः। शंकरो निःश्रेयसप्रदः। विभुः कर्ता वो युष्मान् कर्मभूतानग्र्यवर्णस्तवम् अग्र्यवर्णेन द्विजन्मना जगद्धरकविना कृतः स्तवोऽग्र्यवर्णस्तवः। मध्यमपदलोपीसमासः। तं कर्मभूतमवगमयतु बोधयतु। करुणया स्वयं शृण्वन्युष्मानपि बोधयत्वित्यर्थः। किंभूतं स्तवम्। द्रष्टव्यम्। सहृदयैः कौतुकेन परीक्ष्यमित्यर्थः। तथा सम्यक् समीचीनो योऽर्थस्तस्य प्रवचनेन परमम्। सहजोक्तिपरायणमित्यर्थः। तथा शर्मदं कल्याणप्रदम्। पद्यैर्वृत्तैर्बद्धम्। प्रष्ठा उत्कृष्टा प्रज्ञा येषां ते प्रष्ठप्रज्ञाः सुमतयस्तैः प्रशस्यं स्तुत्यम्। तथा भग्नो घर्मस्तापत्रयजः सन्तापो येन तत्तादृशम्। प्रमदमयपयः परमानन्दमयं पयो दुग्धं वर्षन्तम्। तथा सत्यश्चासौ संकल्पस्तेन श्रव्यम्। तथा भव्यं श्रेष्ठम्। वसव्यं वसुभ्यो धनेभ्यो हितम्। धन्यमित्यर्थ॥ १३॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-राजानकश्रीरत्नकण्ठविरचितायां
स्तुतिकुसुमाञ्जलि-व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां अग्र्यवर्ण-
स्तोत्रं नाम, चतुस्त्रिंशम्॥

पञ्चत्रिंशं स्तोत्रम्

अथातो ग्रन्थकृदीश्वरप्रशंसास्तोत्रं पञ्चत्रिंशमारभमाण आह—

अनाथानामिति। अन्तकस्य यमस्य रिपुः श्रीशंभुर्जयति सर्वोत्कृष्टो भवति। नाथेत्यादि स्वभेदप्राधान्ये आरोपे रूपकं निरूपयति—अनाथानामित्यादि। शंभुः कः। 'नाथ याचने' धातुः। नाथन्ति याचन्ते एनं पालनार्थं नाथः। त्रिजगति त्रिभुवने अनाथानां जनानां नाथः। तथा अगतिकानां निरुपायाणां महानुपायः। तथा व्यसनिनां स्त्रीद्यूतमृगयादिव्यसनयुक्तानां विनेता विनयप्रदः। तथा अधृतीनां गतधैर्याणां भरवशो धैर्यप्रदः। भरवश इति रूढपदम्। तथा निजावस्थां निवेदयतां जनानां सुहृत्सखा आश्वासकारी। तथा बन्धुः संकटेऽप्यपरित्यागी।

तथा स्वामी सर्वदा निजसेवकानां वार्ताग्राही । तथा शरणं सदा प्रतिपालकः । तथा वरगुरुः कैवल्यप्राप्तिकारणनिजशासनोपदेशकः । तथा पिता पातीति पिता, अतिसंकटेऽपि पालयिता । तथा माता मात्यस्या उदरे इति माता, अतिस्नेहपात्रं शिशुं पलयित्री । तथा भ्राता सहोदरः सुखदुःखसंविभागी । एवंभूतः श्रीशंभुस्त्रिजगति त्रैलोक्ये जयति सर्वोत्कृष्टो भवति ॥ १ ॥

श्रीशम्भुभक्तिविषयमनोरथैः कविः स्वात्मानं विनोदयति—उदारैरिति । गन्धस्य सुरसलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थसौरभस्य आ समन्ताद्गन्धस्तेन प्रमदः परमानन्दस्तेन मुदिता ये मधुपाः शिवभक्तिरसरसायनपानसक्तास्तेषां स्फुरन्ती यासौ गुञ्जा गीतध्वनिः सा गर्भे येषां तानि तादृशैर्नुतिपदैः स्तुतिपदैरहं कदा विभुं परमेशमभिभजेयम् । अहं किंभूतः । विपुला ये पुलका रोमाञ्चास्तैरलंकृता तनुर्यस्य । किं कृत्वा । प्रेम्णातिप्रियत्वेन चन्द्रशिखरं चन्द्रमौलिं सम्यक् समग्रपूजोपचारैरभ्यर्च्य । किंभूतं शंभुम् । उदारैर्बहुयोजनसौगन्ध्यविधानान्महोत्कर्षवद्भिर्मन्दारैर्मन्दाराख्यकल्पवृक्षकुसुमैः रचितशिखरं कृतमुकुटम् ॥ २ ॥

इत इति । आर्यः साधुजनः कृतमतिर्बुद्धिमानपि इत्थं बहुविघ्नाकुलमनस्त्वात् स्वात्मनि हितं भवाब्ध्युत्तरणोपायं कथं कुर्यात् । इत्थं कथमित्याह—इत इति । द्वन्द्वानां शीतातपादीनामूर्मीणां क्लेशा इतो भवन्ति । 'शीतातपौ शरीरस्य लोभमोहौ तु चेतसः । प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे द्वन्द्वदुःखमुदाहृतम् ॥' इति तथा विषयाः शब्दादय एव मृगतृष्णा मरुमरीचिका तस्याः स्थितिरितोभवन्ति ।·········तथा महाघोरैरत्युत्कटैर्महामोहैर्मायाविलसितैर्बोधलसितं ज्ञानोल्लास इत उपहतं नितरां बाधितम् ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तमेवार्थं समर्थयति—अशेषेति । अशेषा ये क्लेशाः पञ्चाविद्यादयस्तेषामोघः समूहस्तेन यद् ग्लपनं ग्रसनं (हि विषयं ?) तेन परिपन्थी शत्रुभूतोऽयं पूर्वोक्तो विघ्नव्रातः 'इतो द्वन्द्वक्लेशाः' इत्यादि प्रबला या विपद्, भवारघट्टे पुनः पुनरावृत्तिरूपा, तस्या आपादनविधिं प्रकटीकुर्वन् सतां कृतधियामपि तद्विवेकाख्यं चक्षुस्तिरयति निमीलयति । तत्किमित्याह—येन यद्वशात्सहसा तत्क्षणमेव भवः संसार एव श्वभ्रं तत्र पातः अदभ्रोऽनल्पः पतिपदं मुहुर्मुहुः प्रभवत्युत्पद्यते । देहिनामिति शेषः ॥ ४ ॥

अथ कविस्तन्निवारणोपायमाह—भवद्भक्तिमिति । अथ पूर्वोक्तादनन्तरं तस्य प्रागुक्तस्य द्वन्द्वक्लेशादेर्विघ्नव्रातस्य विशेषेणापुनरागमरूपेणोपशमः प्रशमनं, तत्र समर्थाम् । तथा दृशो ज्ञानस्य विलोचनस्य च प्रसादमनुग्रहं प्रसन्नतां च तन्वानाम् । तथा घनं प्रचुरं महस्तेजो यस्याः सा तादृशीं भवद्भक्तिं भवतो विभोर्भक्तिमासाद्य प्राप्य सुधियो विशदधियः प्रकाशात्मानं परप्रकाशवपुषं त्वां हंसं परमात्मानं सदोदितमतिनिर्मलया धिया साक्षात्कृत्य मोहोऽज्ञानमेवान्धतमसं नितरां गाढं ध्वान्तं, तत्प्रतिजहति त्यजन्ति । अथ च हंसं सूर्यं साक्षात्कृत्य लोको गाढं तमोऽन्धकारं त्यजति तथेत्यर्थः । 'खगयोगिभिदोर्हंसो निर्लोभनृपसूर्ययोः । परमात्मनि विष्णौ च' इतिमङ्खः ॥ ५ ॥

अनित्य इति । अनित्याशुच्यनात्मदुःखेषु विपरीतज्ञानमविद्या । इत्येतदेवोदाहरति कविः—हता अशेषा स्वस्यात्मन आभा प्रकाशो यया सा ताम् । तथा अविरतं निरन्तरं चतुर्धा चतुर्भिः प्रकारैरनित्येत्यादिभिः परिणतां परीपाकं गतां भवतरोर्भवः संसार एव तरुर्महान्वृक्षस्तस्य मूलकारणमभिदधति । एवमन्यत्त्रयम् ॥ ६ ॥

नरास्तत्त्वेति । नियतं निश्चितमनयापूर्वोक्तया चतुर्भेदया अविद्यया तत्त्वस्यालोको दर्शनं तद्विषये दूषिता दृग्दृष्टिर्येषां ते तादृशा मलिनीकृतदृष्टयो विवेकस्य कार्याकार्यरूपस्य प्रकर्षेण ध्वंसस्तस्माद्धेतोर्भवे संसारे कन्दुकस्य गतिं पतनोत्पतनरूपां विदधति । पुनर्भवभयभिदं संसारत्रासनिवारकं समाधिं श्रीशिवैकताध्याने आत्ममनसोरैक्यं लब्ध्वा पुनर्जन्मविपदं जन्मजं दुःखं साधिम्ना बाढत्वेन दधति धारयन्ति ॥ ७ ॥

अथातः परमेश्वरस्य प्रशंसाविशेषं कर्तुमाह—**चकाश इति, तमोभूतमिति** । हे विभो, अविरलैरनल्पैः सहस्रप्रमितैरंशुभिः किरणैरुपलक्षितो रविः सूर्य आकाशे नभसि पुरा पूर्वं न चकाशे नादीप्यत । तथा अमन्दाभैरनल्पकान्तिभिः किरणैरिन्दुश्चन्द्रोऽपि तिमिरमन्धकारं नाहरत् । तथा नक्षत्राण्याश्विन्यादीनि च ग्रहाश्च दहनोऽग्निश्च त्वानि चौषधयश्च तडिच्च प्रदीपश्च एतदादीनां ज्योतिः क्वचिदपि न ददृशे । तमोभूतमासीत्सर्वमित्यर्थः ॥ हे ईश जगदीश, तद्विश्वं तमोभूतं सत्किमपि गहनं धाम अतिगहनं गृहमिवाभूत् । अथानन्तरं स्वा चासाविच्छाशक्तिस्तया प्रकटितो महावैभवस्य महैश्वर्यस्य विश्वलयोदयकरणसमर्थस्य भरो येन स तादृशं प्रकटितमहावैभवभरमात्मानं परसंविच्चिदानन्दरूपमपि क्ष्माजलपवनवह्नीन्दुतपनयजमानाकाशैरंशैर्मूर्तिभिस्त्वदपरः कश्चिजगत् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् कोऽसृजत् । न कोऽपीत्यर्थः ॥ (युग्मम्) ॥ ८—९ ॥

अनादाविति, तदेतदिति । हे विभो, अविद्यमान आदिरारम्भो यस्य स तादृशे संसारे रजसा रजोगुणेनोद्रिक्तेन बाधिता धीर्येषां ते तादृशा अणव आत्मानः शुभं कृत्यं शुभकर्म घोरमशुभं वा शबलं मिश्रितं शुभाशुभमपि वा कर्म विदधति कुर्वते । रजोगुणस्योद्रेकात् । तथा चोक्तं सांख्याचार्यैः—'ऊर्ध्वं सत्वविशालो रजोविशालस्तु मध्यतः सर्गः । अधमस्तमोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥' इति । ततो हेतोस्तेषामेवाणूनां तस्य त्रिविधस्य शुभाशुभशबलरूपस्य कर्मणो भोगार्थं तरुणा नवा या करुणा तया पूर्णं हृदयं यस्य स तादृशः सन् तनूनां क्षित्यादीनां भुवनानां च कालाग्निरुद्रभुवनादारभ्य शिवभुवनान्तं चतुर्विंशत्यधिकशतद्वयपरिमितं भुवनानां निर्माणं विधानमखिलं यद्विधत्से करोषि तदेतत्संकल्पेनेच्छाशक्तिस्वरूपेण प्रकटितं प्रकाशीकृतं समस्तं त्रिजगद्येन स तादृशस्य त्रिभुवने महितस्य पूजितस्य भवतः प्रभोर्लीलामात्रम् । कुतस्तत् । तवैकस्येत्यादि । हे स्वामिन् जगदीश, इह जगति तवैवैकस्य प्रभोः सहजे अकृत्रिमे नित्ये अविनाशे करणेष्विन्द्रियेषु निरपेक्षे हेतुनिरपेक्षे वा क्रियाज्ञाने क्रिया क्रियाशक्तिश्च ज्ञानं ज्ञानशक्तिश्च ते क्रियाज्ञाने सर्वो विषयो ययोस्ते सर्वविषये । सर्वस्याधारभूते इत्यर्थः । यस्मात्प्रभवतः प्रभूते स्तः ॥ युगलकम् ॥ १०—११ ॥

प्रसिद्ध इति । हे विभो, कर्तारं कर्तृकारकं विना विचित्रा नानाविधारचना यन्न भवति । स कर्ता ज्ञानरहितोऽपि न भवति । अयं प्रसिद्धः पन्था मार्ग आबालपर्यन्तं विदित एवेत्यर्थः । अतो हेतोः विचित्रे नानाविधे जगति अवश्यमेव कर्ता ज्ञः सर्वज्ञ उचित योग्यः । सः सर्वज्ञः परमात्मा त्वमेव । अन्ये हतधियश्चार्वाकादयस्त्वयि विषये विवदन्ते विवादं कुर्वते ॥ १२ ॥

अथैवमिति । अथ शब्दो यद्यर्थे । ते हतधियः पामरा एवं चेद् ब्रूयुः अयं देवोऽपरेणान्येन केनचित्प्रेरिता मतिर्यस्य सोऽपरप्रेरितमतिस्त्रिभुवनस्य विधाने प्रयतते प्रयत्नं करोति । अथवा स्वतन्त्रो देवस्त्रिभुवनविधाने प्रयतते किम् ? आद्यपक्षे परप्रेरितेत्यादिपक्षे परविधेयस्य परप्रेरितस्य विभुत्वशक्तिर्न हि भवति । परस्मिन्स्वतन्त्रतापक्षे किं फलमुद्दिश्य मनसि निधाय त्रिभुवनं विधत्ते ॥ १३ ॥

अथास्येति । अथानन्तरमस्य देवस्येयं वाञ्छा भवति । इयं का । कर्मक्षयं विना नृणां मुक्तिर्न भवति । सोऽपि कर्मक्षयो विना भोगं न भवति । भोगोऽप्याधारमाश्रयं विना न भवति ....। ततो हेतोर्जन्तूनां तनवश्च भुवनानि च तेषां निष्पादनं संपादनमर्हं युक्तम् ॥ १४ ॥

इदमिति । विभोरित्यध्याहारः । सान्द्ररसायनरसमधुरयान्तर्मनसि करुणया कृपया प्रयुक्तस्य तथा अजस्रं सततं परहितविधाने व्यसनिनो विभोरिदं युक्तमेव । अयं देवो दयालुः कृपाम्बुधिश्चेत्तर्हि सकलं लोकं सुखिनमेव किं न सृजति । इह जगति आधिना मानसचिन्ता-पीडया व्याधिभिर्नानारोगैश्च क्षतो बाधितो जनः कुतो जनितः ॥ १५ ॥

अथेति । अथानन्तरम् । यद्यत उपादीयते उत्पद्यते तत्तस्योपादानकारणम् । जगतः सृष्टौ सृष्टिविषये । परमाणवस्त्रसरेणवः 'जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः । तस्य त्रिंशत्तमो (षष्टितमो) भागः परमाणुरुदाहृतः ॥' इति । परमाणव उपादानकारणं यद्भवति । तथा कर्म शुभाशुभशबलभेदेन त्रिविधम् । अनेहा कालः । आदिना जलसूत्रादि । तत्प्रभृति सहकारिकारणं च यस्य । तदुभयमुपादानसहकारिकारणरूपं विना सृष्टौ सृष्टिविधाने ईशो देवो न प्रभवति समर्थो भवति । तदामुना ईशेन देवेन किम् । कुत इत्याह—तदेवेत्यादि । तदा तदेवोभयं व्यक्तं प्रकटमेव तनुभुवननिर्माणनिपुणमस्तु । अत्रेशोऽधिष्ठाता कुम्भकारस्थाने । विश्वं घटरूपम् । यथा कुम्भकार उपकरणैर्घटनिर्माणं विधत्ते तथा भगवान्विश्वनिर्माणं स्वेच्छाशक्त्या करोतीत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

इतीत्थमिति । इत्थमित्येवार्थे । इत्येवं मुग्धानां जडाशयानां मतिमोहाय बुद्धिभ्रमाय कुत्सितश्चासौ तर्कोऽनिष्टप्रसञ्जनं तत्र या प्रागल्भी धार्ष्ट्यं तया मुखरितं मुखं येषां ते तादृशाः । तथा मूढमनसोऽज्ञानावृतचित्ताः, हे वरद स्वामिन् , त्वां देवं चेतनं परसंविद्रूपं परमपुरुषं परमात्मानं जडवर्गस्य परमाण्वादेरधिष्ठातारं कर्तारं सदयं कृपाम्बुधिं न जानन्ति ॥१७॥

एतदेव बाह्यदृष्टान्तेन दृढयति—**यथेति** । हे वरद, घटस्योपादानमुपादानकारणं मृत् मृत्तिका । तदनु सहकारी सहकारिकारणं लगुडो दण्डः । जलं वारि । चक्रं कुम्भकारचक्रम् । सूत्रं तन्तुः । अयमखिलः समस्तो जडवर्गः कौलालं कुम्भकारसंबन्धिनं यत्नं विना यथा कुम्भ-घटने घटं कर्तुं न प्रभवति न समर्थो भवति, तथा त्वां विभुमधिष्ठातारं कर्तारं विना भवविधिः संसारविधिर्जगन्निर्माणरूपो न भवतीति संबन्धः ॥ १८ ॥

अथातो भवाम्बुधेरुत्तरणोपायं तन्निमग्नाय जनायोपदिशति—**अविज्ञायैवेति** । अतो हेतोः, महामोहेनाविद्यारूपेण ध्वान्तेन तमसा व्यवहिता दृक् ज्ञानमेव लोचनं यस्य स तादृशस्य महामोहध्वान्तव्यवहितदृशः पुंसो ज्ञानालोको ज्ञानप्रकाशोऽवश्यमुचितः। किंभूतः । प्रकटिता अर्थाः सप्त पदार्था एव गहनं येन स तादृशः । अतः कुत इत्याह—अज्ञो विचेतनः पुरुषोऽविज्ञायैव परुषमत्युत्कटं विषमं च कर्म कुरुते । तस्याशुभकर्मणो विपाके च सति भवक्लेशकलिते भवक्लेशाः संसारजाः क्लेशा एव कलुषं तत्र निपतति ॥ १९ ॥

उपाय इति । तस्य ज्ञानालोकस्य प्राप्तौ शास्त्रं विनाऽन्य उपायो नास्ति । हे स्वामिन् , यन्न भवता शिवशासन उपदिष्टं तच्छास्त्रमुपायो नास्ति न भवति । अत एव सन्तः कृतिनः

हितमहितं च विविञ्चन्तो हिताहितविवेकं कुर्वाणा हिते सक्तिं विदधति कुर्वन्ति अहितं च मुञ्चन्ति । इत्यतो हेतोः सन्तः पतनं नार्हन्ति ॥ २० ॥

भवानिति । हे विभो, भवान्दयालुः सहजं ज्ञानरूपं यन्महस्तेजस्तेन सहजज्ञानमहसा धर्मं साक्षादकृत साक्षात्कृतवान् । अथानन्तरं तदुपदेशेन ज्ञानोपदेशेन पुंसां मर्त्यानां तमोध्वंसमज्ञानरूपान्धकारनिवारणं भवान् विदधे चकार । ते जगदीशस्योक्तिः प्रमाणम् । कुत इत्याह— नहीत्यादि । घनघृणाधीनमनसो जगद्भर्तुर्भगवतः शंभोर्वितथमनृतमभिधातुं न युक्तं नोचितम् ॥ २१ ॥

तदेतदिति । हे हर वरद, अतिशयेन घना घनतमा तादृशी या तमःपङ्कस्याविद्यारूपकर्दमस्य पटली तस्यां विशेषेण लीनोऽयं लोकः सहजं स्वाभाविकं तदेतत् पूर्वक्रमोक्तेनोदितं तव कारुण्यं कृपामृतं संभाव्यादरेण मत्वा त्वया विभुना दयालुनोदितं श्रीशिवशासनोक्तमनुष्ठानं सम्यग्विधातुमसकृत्प्रवृत्तः श्रद्धाया बन्धं दधद् दुष्पारमपि भवजलधिं तरति ॥ २२ ॥

इत्येवमिति । हे भगवन्परमेश, अवन्ध्यः कृतार्थो महिमा यस्य तादृशः संस्त्वं स्वतन्त्र आदौ निर्मानुषं तमोभूतं सद्विश्वं निर्माय कृत्वा तदनु स्फीतैः अनु(समु) ल्लासितैर्विभूतिक्रमैर्वैभवपरिपाटीभिर्विश्वसितं वितत्य सजीवं विधाय अथानन्तरं तदनु निजे स्वमहिम्नि निखिलं तद्विश्वं कालाग्निरुद्ररूपेण संहृत्य तस्य विश्वस्य सचराचरस्य यत्कन्दुकान्दोलनं कन्दुकवदान्दोलनं तेन यः क्लेशावेशो महतः क्लेशस्यावेशस्तस्य विरामो नाशस्तेन संभृतं परिपूर्णं सुखं यस्मिंस्तत्तादृशं कैवल्यं निर्वाणमाकाङ्क्षसि ॥ २३ ॥

इत्थमिति । हे विभो, भवभीतिभञ्जन जन्मजरामरणत्रासनाशन, तथा भक्तानुकम्पायां प्रह्वजनानुग्रहे परः सक्तस्तत्संबोधनं भक्तानुकम्पापर, इत्थमनेन बहुना मदीयेन विज्ञप्तिवचनेन किम् । तव विभोश्चरणसरोजयुगलप्रसादादिदं मे भूयात् । इदं किमित्याह—यदित्यादि । हे विभो, त्वत्पादसरोजपूजनविधौ त्वच्चरणाब्जपूजाविधौ भक्तिर्वाङ्मनःकायकर्मभिस्तदासक्तिर्यद् भवति । तथा यावज्जीवं निर्याणावधि वपुः शरीरं नीरोगं यद् भवति । अथानन्तरं तदनु त्वय्येव प्रतिक्षणं ध्येये एकमनन्यासक्तं मनो यस्य स तादृशस्य मम तवैवाग्रतो मुक्तिः कैवल्यं यद् भवति । तन्मे भूयादित्याशास इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथास्य स्तोत्रस्योपसंहारश्लोकमाह—एवमिति । हे भगवन्देव, तव स्वामिनः स्तवानां यत्प्रवचनं वीप्सया कथनं, तेन प्राप्तः प्रसादोऽनुग्रहो येन स तादृशस्य मे धन्यस्य भूयो जन्म भविष्यतीति यत्तत्खपुष्पोपममाकाशकुसुमोपमं मन्ये जानाम्यहम् । सर्वथा तदभावः । मम प्राक्तनकर्मशेषेण जनितं चेत्कदाचिद् भवेत्तर्हि तत्रापि जन्मनि त्वत्पादसरोजस्तुत्या पुनर्निर्वृतः कैवल्यं प्राप्तो भूयासमिति शिवम् ॥ २५ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठ·विरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायामीश्वरप्रशंसास्तोत्रं नाम पञ्चत्रिंशम् ।

———

षट्त्रिंशं स्तोत्रम् ।

अथातो ग्रन्थकृत्स्तुतिफलप्राप्तिस्तोत्रं षट्त्रिंशमारभमाण आह—**ते नाथेति** । हे नाथ जगदीश, ते धन्याः सकलं जन्म स्वकीयं न कलङ्कयन्ति । तथा द्रोहकर्मणि रसिकानपि रिपून् न शङ्कयन्ति सशङ्कान्कुर्वन्ति । तेभ्योऽपि सकाशात् शङ्कां न कुर्वन्ति । बलवति रिपौ सुहृदि वा समदर्शित्वात् । तथा सस्पृहं तान्मृगाद्यः प्रकर्षेण विलोकयन्ति । ये जनास्त्वत्पादाब्जधूल्या अलिकं स्वकीयं ललाटं नित्यप्रणतिभिरङ्कयन्ति सचिह्नं कुर्वन्ति ॥ १ ॥

ते विद्विषामिति । ते धन्या जना विद्विषां शत्रूणां हृदि अभिमतं द्रोहकृत्यं मोघयन्ति निष्फलयन्ति । तथा ते ज्ञानमेवामृतं रसायनं कृपणेषु दीनेषु समर्पयन्ति वितरन्ति । तथा तेषां वचो राजानोऽपि न लङ्घयन्ति । हे विभो, ये भक्तजनाः स्तवोक्तय एव कुसुमानामृद्धय-स्ताभिस्त्वां विभुमर्चयन्ति पूजयन्ति ॥ २ ॥

ते जन्मन इति । हे विभो, ते धन्या जन्मनः स्वकीयस्य महत्फलमुदञ्चयन्ति उच्चिन्वते । तथा ते जनाः क्लेशा पञ्च अविद्यादयस्त एवापद् विपत् । यद्वा क्लेशो भवमरुभ्रमणजः स एवापत् तस्याः सकाशात्स्वमात्मानं परं च लोकं विमोचयन्ति । तथा सहभुवः सहजा अपि वैरिणः शत्रवः कामक्रोधादयः षट् बाह्या वा तान् जनान्कदाचिदपि न वञ्चयन्ति । हे विभो, अनाथजना-नामशरणानां बन्धवमाश्वासकारिणं ये त्वामर्चयन्ति पूजयन्ति ॥ ३ ॥

ते धर्ममिति । हे हर पातकिनां त्रिविधपातकहर, ते सुकृतिनो जनाश्चन्द्रकिरणवद्रम्यं निर्मलं धर्ममर्जयन्ति । तथा ते जनाः स्वप्रौढोक्तिभिर्विदग्धानां कुशाग्रीयधिषणानामपि हृदयानि रञ्जयन्ति । तथान्तकस्य यमस्य क्रोधोद्धुरस्य भ्रुकुट्योऽपि तान् जनान्न तर्जयन्ति त्रासयन्ति । भवामयहरं संसाररोगापहं ये जनास्त्वां पूजयन्ति ॥ ४ ॥

ते त्वदिति । हे विभो, ते धन्या जनास्त्वदीयां स्तुतिं हृदयधाम्नि स्वकीये चित्तगृहे कवाटयन्ति कवाटमररं तत्कुर्वन्ति । यथाररेणान्यप्रवेशो निषिध्यते तथा त्वत्स्तुतिरेव तेषा-माशये निवसतीत्यर्थः । तथा ते जना दुःखं भवामयजं तदेव द्रुमो महामूलस्तं दृढमपि स्थिरमप्यापदि जन्मजरामरणत्रासविपदि पाटयन्ति च्छिन्दन्ति । तथा ते जनास्तवैव स्वामिनो भावं भावनारसं बालमिव शिशुमिव भुवि भूलोकेऽटयन्ति संचारयन्ति । ये जनास्तव स्वामिनोऽभिमुखं संमुखं वाङ्नटीं वाग्वाण्येव नटी तां स्वकीयां नटयन्ति नर्तयन्ति ॥ ५ ॥

ते कर्मेति । हि निश्चये । ते धन्या जनाः कर्माणि शुभाशुभशबलानि तान्येव रज्ज-वस्तेषां निगडो बन्धस्तमतिखण्डयन्ति अतिशयेन च्छिन्दन्ति । तथा ते जना बुधजनस्य सहृदय-जनस्य श्रुतीः श्रोत्राण्यपि सूक्तैः प्रौढोक्तिभिर्मण्डयन्ति भूषयन्ति । त्वद्भक्तिमपीत्यत्रापिशब्दो भिन्नक्रमः । अधिमवाब्ध्यपि भव संसार एवाब्धिस्तत्र भवाब्धावपि त्वद्भक्तिं भवदीयभक्तिं तरण्डं प्लवं संपादयन्ति । हे विभो, ये जनाः सुकृतिनस्त्वदीयं मनः स्तुतिधनस्य स्वकृतस्तुतिवित्तस्य करण्डयन्ति करण्डं मञ्जूषां संपादयन्ति ॥ ६ ॥

पापानीति । ते जनाः पापानि पातकानि त्रिविधानि अश्मशकलानि व पाषाणखण्डानिव चूर्णयन्ति । तथा ते जनाः सुमनसां सहृदयानामपि भ्रुवो घूर्णयन्ति कम्पयन्ति । चमत्कार-

कारणात् । तथा ते जना लोके भूलोकमध्ये स्वकीयानि यशांस्युपकर्णयन्ति शृण्वन्ति । हे विभो, ये जना धीमतां विपश्चितामग्रे तव विभोर्नुतिकथा वर्णयन्ति व्याकुर्वते ॥ ७ ॥

ते मारकानिति । ते लोका मारकानपि वधोद्युक्तानपि संयति संग्रामे न घातयन्ति । शत्रौ मित्रे च समदृष्टित्वात् । तथा ते जनाः कृतरुषोऽप्यपकारेणापि कृपया न यातयन्ति क्लेशयन्ति । तथा लोकस्य कुतोऽपि भयाकुलस्य शोकमभयदानेन शातयन्ति कर्तयन्ति । हे विभो, ये जनाः शेखरं स्वकीयमौलिं तव पादयोः पातयन्ति क्षिपन्ति ॥ ८ ॥

ते पापेति । ते धन्या जना अधिकं महान्तं पापपाशं पापं त्रिविधमेव पाशस्तं हृदि हृत्स्थं कर्तयन्ति च्छिदन्ति । तथा ते जनाः संयतचित्ताः सन्तो विषयेषु शब्दादिषु भोगस्पृहां निवर्तयन्ति निवारयन्ति । तथा ते सचेतनानामपि प्राज्ञानामपि मनांसि सूक्तैः प्रौढोक्तिभिर्नर्तयन्ति चमत्कारकारणात् । के त इत्याह—हे चन्द्रचूड विभो, ये तव चरितं कीर्तयन्ति ख्यापयन्ति ॥ ९ ॥

ते जान्मिकानीति । ते जना जान्मिकान्यनेकजन्मार्जितानि दुरितानि पापान्यवसादयन्ति दूरीकुर्वन्ति । तथा ते जना निर्मलमतीन्धौताशयान्सूक्तानि निजान्यनुवादयन्ति । तथा वैणिकनटान् वीणावादकान्नटानपि गीतानि स्वयशोवर्णनरूपाण्यनुनादयन्त्यनुपाठयन्ति । ते क इत्याह—ये धन्या भक्तितो भक्तिरसेन तव स्तुतीः प्रतिपादयन्ति ॥ १० ॥

ते सत्स्विति । ते लोका भक्तिरसेन सत्सु कर्मसु श्रीशिवोपासाप्रसाध्येषु रिपूनपि वधोद्युक्तानपि चोदयन्ति प्रेरयन्ति । शत्रुषु मित्रेषु च समदर्शित्वात् । तथा गीर्भिर्वाणीभिः सतां सहृदयानां च मनांसि विनोदयन्ति । तथा तेषां जनानां चेतसि क्वचन शुचो नोदयन्ति नोत्पद्यन्ते । ते के । ये जनास्तावकानि चरितानि त्रिपुरान्धकासुरदाहवधादीन्यपदानानि कविभिरन्यैर्विहितानि अनुमोदयन्ति सहर्षं विविञ्चन्ति ॥ ११ ॥

ते विग्रहेति । ते जना विग्रहेण वैरेणोग्रं कठिनं मनो येषां ते तादृशानपि न खेदयन्ति । ते च जना येन मोहेनाज्ञानेन कठिने मनसि श्रीशिवभक्तिरसप्रवेशः कदापि न भवति, तं मोहमज्ञानमर्गलनिभमररतुल्यं हृदि मनसि भेदयन्ति । तथा ते मृदुमतीनपि स्वं कौशलं निपुणकविकर्मचातुरीं वेदयन्ति ज्ञापयन्ति । ये धन्या निजानि सूक्तानि प्रौढोक्तीनि तव पुरो निवेदयन्ति प्रतिपादयन्ति ॥ १२ ॥

ते भेजुषामिति । ते जना भेजुषां भवाब्ध्युत्तरणोपायश्रवणायागतानां भवति त्वयि भक्तिममन्दयन्ति अनल्पयन्ति । तथा ते जना हृदि मनसि त्वयि रतिं सक्तिं वाग्लताया निजायाः कन्दयन्ति कन्दं मूलं कुर्वन्ति । मूलं दृढतावहम् । तथा ते जना अन्यदर्शनगतान् कुटिलमार्गगतानपि वादिनो निजचातुर्यात्त्वां विभुं वन्दयन्ति मानयन्ति । ये धन्या वाग्भरेण वाक्प्रपञ्चेन तव विभोर्मनो नन्दयन्ति ॥ १३ ॥

ते भुक्तीति । ते जनाः भुक्तिमुक्तिरेव सफला ऋद्धिः संपत्तिर्यस्मिंस्तत् तादृशं सत्कर्म शुभकर्म विशेषेण वर्धयन्ति । तथा ते शमिता दूरीकृता आधयो मनःपीडा येन तत्तादृशं च शर्म कल्याणं साधयन्ति । ते के इत्याह—ये त्वामिति । ये धन्या अभिनवैर्नूतनैर्नवैः स्तवैस्त्वां विभुमभिराधयन्ति आराधयन्ति । तैर्नवैः कैरित्याह—सुधियः सचेतस इक्षुसारवन्मधुरान्यान्धयन्ति पिबन्ति आस्वादयन्ति ॥ १४ ॥

ते संगर इति। ते जना गुर्वी रुङ् येषां तानपि संगरे रणे न योधयन्ति। संयतचित्तत्वात्। तथा ते जना ज्ञानमेवामृतं रसायनं तेन हृदयं मनश्च विशेषेण शोधयन्ति। तथा ते रिपोरपि वधोद्युक्तस्यापि रोषोद्भवं रोधयन्ति। हे विभो, ये जनास्त्वां विभुं निजा नुतिकथाः स्तुतिकथाः प्रतिबोधयन्ति ॥ १५ ॥

ते दुर्मदानिति। ते जना बुधसदसि पण्डितमण्डल्यां दुर्मदानपि पण्डितंमन्यानपि अवमानयन्ति। तथा ते च प्रौढान्प्रौढोक्तिनिपुणान् प्रणम्य मानयन्ति। तथा भूतयः संपदोऽनन्यसमानाननन्यसाधारणांस्तान् स्वयमयन्ति गच्छन्ति। 'अय गतौ' धातुः। ते क इत्याह—ये धन्यास्तव नवैः स्तुतिभिर्वासरान् दिनानि नयन्त्यतिवाहयन्ति। किंभूताः। सशमाः संयतचित्ताः ॥ १६ ॥

ते निर्भय इति। ते जना नतिमतः प्रणतजनान्निर्भये पथि कैवल्यप्रदे श्रीशिवशासनोपदेशे यापयन्ति गच्छन्ति (गमयन्ति)। तथा उत्कम्पदानुच्चैः कम्पप्रदांस्त्रासदानपि रिपून्नोपतापयन्ति। सशमत्वात्। तथा ते जनाः पशुसमानपि निश्चेतनानपि क्लेशा अविद्यादयः पञ्च त एवापत् भवमरुभ्रमणजक्लेशापद्वा तां हापयन्ति त्याजयन्ति। ते के। हे ईश्वर जगदीश, ये धन्यास्त्वां स्तवोक्तिभिः प्रसाद्य दृशं दृष्टिं दापयन्ति। स्वमुद्दिश्येत्यर्थः ॥ १७ ॥

ते दुर्मदमिति। ते जना दुर्मदमुग्रं शमनमन्तकमदर्पयन्ति अदर्पं कुर्वन्ति। तथा ते जनाः साधुसदनात्साधूनां सज्जनानां गृहाद्गर्धं धनादिस्पृहामपसर्पयन्ति निवारयन्ति। तेषां विपदं दूरीकुर्वन्तीत्यर्थः। 'गृधु अभिकांक्षायाम्' धातुः। तथा दानादिना हेतुना अर्थिनिवहानपि याचकगणानपि तर्पयन्ति। हे विभो, ये धन्यास्तावकेऽङ्घ्रितले त्वत्पादाब्जरजसि मुकुटं मौलिं स्वमर्पयन्ति वितरन्ति ॥ १८ ॥

ते सदिति। ते जनाः सतां विदुषां गृहेषु गुरुमप्यापदमल्पयन्ति अल्पां कुर्वन्ति। तथा ते जनाः शिशयिषोः कृपया शयितुमिच्छतस्तव स्वमाशयं मनस्तल्पयन्ति तल्पं संपादयन्ति। तथा ते जना आर्तिस्पृशामत्यार्तानामुपकृतीरुपकारानपि कल्पयन्ति कुर्वन्ति। ये जना धन्यास्तव विभोर्नवं स्तवं बालकानपि जल्पयन्ति पाठयन्ति ॥ १९ ॥

ते सापराधेति। ते जनाः सापराधचित्तानपि नैव कोपयन्ति। तथा तापमतिसन्तापमपि कुतोऽपि कारणात्परिणतं विपुलं घनमप्यापदि ह्रिया लज्जया गोपयन्ति न प्रकटीकुर्वन्ति। 'शोषयन्ति' इति पाठः। तथा ते जना अमलमतीन्धौताशयाञ्जनान् त्वद्धाम त्वदीयं परमं धाम अधिरोपयन्ति। ते के। ये कदाचन जातु न त्वत्पूजनं लोपयन्ति ॥ २० ॥

ते शक्तिमिति। ते जना अप्रतिहतां शक्तिं जृम्भयन्त्युल्लासयन्ति। तथा ते जनाः कृतमतीनपि कृतिनोऽपि परामुत्कृष्टां प्रीतिमुपलम्भयन्ति उपलभमानान्संपादयन्ति। तथा ते च निजां वंशत्रयीं स्वपितृवंशमातृवंशश्वशुरवंशरूपामभिशोभयन्ति। ये त्वां विभुं निजासु स्तुतिसूक्तिषु स्तुतियुक्ताश्च ताः सूक्तयस्तासु लोभयन्ति सलोभं कुर्वन्ति ॥ २१ ॥

ते मग्नमिति। ते जना आपदि जन्मजरामरणत्रासापदि बाह्यायां वा मग्नमार्तजनं तारयन्ति। तथा बुद्धया धिया विमृश्य सत् असच्च विचारयन्ति। तथा ते जना आनतिमतां प्रह्वानामज्ञानं निवारयन्ति। हे इन्दुधर चन्द्रमौले, ये विभोस्तव भक्तिं हृदि मनसि धारयन्ति ॥ २२ ॥

ते विद्विष इति। ते जना स्थिररुषो दृढ़रोषानपि विद्विषः शत्रूननुकूलयन्ति स्निग्धान् कुर्वन्ति। तथा ते मोहमज्ञानं महीरुहं वृक्षमिव प्रकर्षेण विमूलयन्ति उत्साद(त्पाट)यन्ति। तथा ते जना आशां निजां च महतां महाजनानां मूर्ध्नि शिरसि अवचूलयन्ति अवचूलं शिरोभूषणं कुर्वन्ति। हे विभो, ये भालं स्वललाटं तवाङ्घ्रिरजसा पादारविन्दधूल्या धूलयन्ति अनुलिम्पन्ति ॥ २३ ॥

ते पङ्कमिति। ते जना आत्मनि स्वदेहे अङ्कगतं मध्यगतं पङ्कं धावयन्ति क्षालयन्ति। तथा ते दिशां मण्डलं च परितः समन्तात् परिपावयन्ति परिपूतं कुर्वन्ति। तथा ते जनाः क्लेशान्पञ्च अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशान् तृणगणानिव क्षणाल्लावयन्ति च्छिन्दन्ति। 'लूञ् छेदने' धातुः। ते के। ये धन्याः प्रकाशवपुषं परप्रकाशरूपं त्वां विभुं हृदि मनसि भावयन्ति ध्यायन्ति ॥२४॥

ते पीवरीमिति। ते जना ओकसि गृहे स्थितां विपदं बाह्यां कर्षयन्ति कृशां कुर्वन्ति। दूरीकुर्वन्तीत्यर्थः। तथा ते जनाः सुमनसः पण्डितान् स्वं कौशलं प्रौढोक्तिरूपं विमर्शयन्ति। तथा ते जनाः सतां सहृदयानां च हृदयेषु प्रीतिं निवेशयन्ति। ते क इत्याह—हे विभो, ये तव विभोः स्तुतीर्विबुधसद्मसु पण्डितगृहेषु दर्शयन्ति ॥२५॥

ते निर्मलमिति। ते जना निर्मलं पुण्यमात्मनि पोषयन्ति। तथा ते जना दुष्कर्म दुरितमेव कर्दमं पङ्कं हृदि मनस्यलमत्यर्थं शोषयन्ति। तथा ते विरोधेन विधुरा विरुद्धास्तादृशानपि क्रूरान् तोषयन्ति प्रसन्नीकुर्वन्ति। ते क इत्याह—हे विभो, ये धन्यास्ते तव विभोः शिवशिवेति नाम उद्घोषयन्त्युच्चारयन्ति ॥२६॥

ते विश्वमिति। ते जनाश्चरितैश्चरित्रैर्विश्वमेव सर्वं जगदेवाभिभूषयन्ति। तथा ते क्रुद्धान् विरुद्धहृदयांश्च जनान् न दूषयन्ति। तथा तेऽत्युद्भक्तिरसेन रागेण रागालापेन वा तव मनस्तोषयन्ति। 'गीतवादेन शंकरः' इत्युक्तेः ॥२७॥

ते त्वामिति। ते जनाः कृपैवाम्बु तेन तृषिते हृदि स्वकीये त्वां विभुं वर्षयन्ति वर्षं कुर्वन्ति। वर्षणमिव कुर्वन्तीत्यर्थः। अथ ते जनाः स्वान्तं मन एव ओको गृहं तस्मात् अघभुजगान्पातकान्येव सर्पास्तान्कर्षयन्ति दूरीकुर्वन्ति। स्वान्तौकस इति पञ्चमी। तथा ते जना भ्रुवि स्वस्यां कम्पं विधाय। भ्रूसंज्ञयैवेत्यर्थः। यममन्तकं धर्षयन्ति तिरस्कुर्वन्ति। हे हर, विभो ये धन्यास्त्वां निजैः स्वकीयैर्नुतिपदैर्हर्षयन्त्यानन्दयन्ति ॥२८॥

ते मौनेति। ते जना मौनेन तूष्णींभावेन मुद्रितगिरोऽपि मौनधनानपि जनान् गीर्भिरतिहर्षप्रदाभिरुपहासयन्ति सोपहासान्कुर्वन्ति। तथा ताभिर्गीर्भिरेव सुधियां विबुधानां मुखानि अधिवासयन्ति परिमलयन्ति। तथा अमलैर्निर्मलैः स्वयशोभिर्विश्वं भासयन्ति प्रकाशयन्ति। ये धन्या नवैः स्तवैस्तव मानसं चित्तं प्रविकाशयन्ति प्रहृष्टं कुर्वन्ति ॥२९॥

ते चित्तेति। ते जनाः असतामपि चित्तभित्तिम् चित्रयन्ति, रोषेणोद्धतानुद्भटानप्यरिजनान् मित्रयन्ति। सखीनिव सम्पादयन्तीत्यर्थः। तथा ते सूक्तान्येवामृतानि तैर्भुवं पृथ्वीमेव पवित्रयन्ति। ये धन्यास्तव चरित्रं त्रिपुरदाहाद्यपदानकर्म अरित्रयन्ति अरित्रं संपादयन्ति। कस्याम्। वाङ्नावि। वागेव नौस्तरणिस्तस्याम्। यथा नावि अरित्रं संचार्यते तथा त्वच्चरित्रं वाचीत्यर्थः। अरित्रं च पारोत्तारकम्। 'अरित्रं केनिपातनम्' इत्यमरः ॥३०॥

चेतांसीति । ते जना सुकृतिनां जनानां चेतांस्युपबृंहयन्ति प्रहृष्टानि कुर्वन्ति । तथा बाह्यान्तरान् बाह्या आन्तराश्च षट् कामक्रोधादयश्च तानसुहृदो रिपून् निबर्हयन्ति घातयन्ति । ते जना अरीन् शत्रूनपि आत्मानं तत्सम्बन्धिनं न गर्हयन्ति न निन्दन्ति । किंभूतम् । आनतमपि । ते के । हे विभो, ये त्वां नवस्तवविभूतिभिः नवा नूतना ये स्तवास्तेषां विभूतिभिरर्हयन्ति ॥३१॥

आत्मानमिति । ते जनाः कलुषकलिले कलुषं पातकमेव कलिलं कर्दमस्तत्र मग्नमात्मानमुच्चालयन्ति उद्धरन्ति । तथा अलिकुलवत् श्यामलं मलं त्रिविधमाणवमायीयकार्मं पापं च ज्ञानमेवाम्भांसि तैः क्षालयन्ति निर्मलीकुर्वन्ति । तथा ते विभुं त्वां स्मृत्वा प्रमदेन हर्षेण रभस औत्सुक्यं तस्मादसं स्वकीयं स्फालयन्ति । ते के । हे भगवन्, ये सकलं सर्वप्रकारैरलसं शंभुभक्तिमार्गे मन्दगतिं चित्तं त्वद्भक्त्या उत्तालयन्ति उत्तालगामि कुर्वन्ति । 'अमलम् इति क्वचित्पाठः ॥३२॥

ते रामाणामिति । ते जना रामाणां वरस्त्रीणां मनसि सुप्तं मदनं काममुन्निद्रयन्ति प्रबुद्धं संपादयन्ति । तथा ते सदसि सभायां श्लाघां स्तुतिं लब्धुं सतां धीमतां चित्तं मन उन्मुद्रयन्ति विगतमौनमुद्रं कुर्वन्ति । तथा उद्वृत्ताः क्रूराः कुटिलमतयश्च धूर्ताः पुमांसस्तान् क्वचिन्न च्छिद्रयन्ति । तान् कानित्याह—हे वरद शंभो, करुणाक्रन्दितैर्दीनप्रलापैर्ये त्वां विभुमार्द्रयन्ति कृपार्द्रचेतसं कुर्वन्ति ॥३३॥

ते सभ्यानामिति । ते जनाः सदसि सभायां सभिकानां नयनानि नेत्राणि अश्रु आनन्दाश्रु विस्रावयन्ति । तथा ते जना उरू रुड् येषां ते उरुरुषो मत्सरिणस्तेषां गुरुं महान्तं क्रोधोत्कर्षं उत्प्लावयन्ति दूरीकुर्वन्ति । तथा ते जनाः सूक्तैः स्तुतिवाक्यैरैन्दवं मणिं चन्द्रकान्तरत्नमिव द्रावयन्त्यार्द्रीकुर्वन्ति । ये जनास्त्वां नूतनस्तवानां व्याहृतीर्व्याहरणानि श्रावयन्ति । 'व्याकृतीः' इति क्वचित्पाठः ॥३४॥

तेषामिति । अमलमतयो विशुद्धधियस्तेषां जनानां सूक्तीः प्रौढोक्तीः पूगवत् पूगफलवत् चर्वयन्त्यास्वादयन्ति । तथा ते जनाः क्रूराणामुद्वृत्तानामभिमुखं प्रेङ्खितं भ्राम्यन्तं मदं गर्वं खर्वयन्ति ह्रस्वयन्ति । तथा तान् जनान् तव विभोर्नवः स्तव एव सुधा तस्यास्वादनाय विद्वांसो विबुधा आह्वयन्त्याकारयन्ति । ते क इत्याह—हे विभो, ये धन्या मुदितमनसः सन्तस्त्वच्चरणाग्रे शिरः स्वकीयं प्रह्वयन्ति नमयन्ति ॥ ३५ ॥

ते दुर्वृत्तानीति । ते जनाः कृपया पेशला आर्द्रमनसः सन्तो दुर्वृत्तानपि न क्लेशयन्ति । तथा व्यसनेन विपदुत्थेन जनितां ग्लानिं ज्ञानां विदुषामाशये मनसि नाशयन्ति । तृष्णया श्रवणेच्छया आर्तास्तानपि अमृतमधुरा रसायनरससदृशीः स्वा गिरः प्रौढोक्तीः प्राशयन्ति भोजयन्ति । ये जनाः शकलितस्तुरीययुगस्य क्लेशो येन तादृशं त्वामन्तर्मनसि आवेशयन्ति प्रवेशयन्ति ॥ ३६ ॥

ते रागादीनिति । ते जनाः सुकृतिनो मनसि मिलितान् रागादीन् रागो विषयेष्वासक्तिः कामावेशजनिता तदादीन् कामादीन् मनसि चित्ते आशु शीघ्रं विश्लेषयन्ति पृथक्कुर्वन्ति । तथा ते जना अतनुविनया अतनुरनल्पो विनयो येषां तादृशाः सन्तः क्रोधान्धानपि जनान् क्वचिदपि न द्वेषयन्ति । तेष्वपि वैरं न कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा ते जना अधिमतिव्योम मतिर्बुद्धिरेव व्योम

आकाशस्तत्र मोहोऽज्ञानमेव ध्वान्तमाच्छादकं निःशेषयन्ति । समग्रमेव निवारयन्तीत्यर्थः । ते के । हे विभो, ये धन्या गिरं स्वामभिमतप्राप्तये ईप्सितलाभाय त्वत्पार्श्वे त्वत्समीपं प्रेषयन्ति ॥ ३७ ॥

ते निर्वेदमिति । ते जनाः शमिनां मनसि चित्ते निर्वेदं ह्रासयन्ति दूरीकुर्वन्ति । कथम् । अह्रुतमजस्रम् । ते जनास्त्रस्तान्भीतानपि अशरणान् शश्वत्सदा आश्वासयन्ति । किंभूताः । अस्तंगमिता दूरीकृता विपद्येषां ते तादृशान् । तथा ते जनास्त्वद्भावे त्वद्भावनाया-मेकप्रवणानि च तानि भणितानि सूक्तानि तैरन्तकं यमं त्रासयन्ति । ते के । ये त्वां नतजने हृतत्रासो येन स तादृशं त्वां स्तुत्या उल्लासयन्त्यानन्दयन्ति ॥ ३८ ॥

ते तज्ज्ञानामिति । ते जनास्तज्ज्ञानां विदुषां सदस्यात्मनो गुणान् । सभ्यानिति शेषः । सभ्यान् शंसयन्ति । ते जनाः स्वान्ते मनसि अन्तः यमभुजगजं कालपाशोत्थं साध्वसं भयं ध्वंसयन्ति । तथा ते जनाः क्लेशानविद्यादीन् पञ्च निबिडान् पाशानिव आशु विस्रंसयन्ति निवारयन्ति । ये तव विभोर्नुतिं प्रौढानामधिश्रोत्रं श्रोत्रे, कर्णोपरि, उत्तंसयन्त्यवतंसयन्ति ॥ ३९ ॥

ते त्वदिति । हे विभो, ते जनास्त्वद्भक्तिरेव व्यसनं यस्मिंस्तत्कर्म निर्वाहयन्त्यतिवाह-यन्ति । तथा ते जनाश्चित्तं मनोऽविरतमनिशं त्वत्सेवासु स्थिरमुत्साहयन्ति सोद्योगं कुर्वन्ति । तथा ते जना यममदनवत् कालकामवत् निजं स्वकीयमघौघं पातकराशिं तवैव विभोर्दृष्ट्या दाहयन्ति । ते के । ये जना अन्वहं प्रतिदिनमवहितं सावधानीभूय स्वयमेव त्वां विभुं विज्ञप्तिं ग्राहयन्ति । अवहितमिति क्रियाविशेषणम् ॥ ४० ॥

अथास्य स्तोत्रस्योपसंहारश्लोकमेकमाह—ते तक्षाणमिति । हे विभो दयालो, ते जनास्त्वां कर्मभूतमघं पातककर्म तक्षयन्ति । 'तक्ष त्वक्ष तनूकरणे' धातुः । अघं किंभूतम् । गुरुं महान्तम् । यथा केचन तक्षाणं तरुं तक्षयन्ति तथैवेत्यर्थः । तथा ते जनास्तृप्तिं लब्धुं निर्भरं पूर्णं शुभफलसमूहं भक्षयन्ति । तथा तीक्ष्णयातिनिपुणया धिया बुद्ध्या ध्यानैकसक्तया प्रत्यासन्नां निकटवर्तिनीं श्रियं लक्ष्मीं लक्षयन्ति । ते क इत्याह—ये धन्या जनास्त्वद्भक्तान् भवद्भक्त-जनान् श्रुतिमिव तावकीं नुतिं स्तुतिं शिक्षयन्ति ॥ ४१ ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजरत्नकण्ठ-विरचितायां स्तुतिकुसुमा-ञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां स्तुतिफलप्राप्तिस्तोत्रं नाम षट्त्रिंशम् ।

सप्तत्रिंशं स्तोत्रम् ।

अथातः स्तुतिप्रशंसास्तोत्रं ग्रन्थकृत्सप्तत्रिंशमारभमाण आह—इहेति । हि निश्चये । इह जगति स्वश्चासावात्मा तस्य महेश्वरपरिभावना शिवैकताध्यानं तेन शुद्धा निर्मला संविन्म-तिर्येषां तादृशा जलैर्जलबिन्दुभिः पद्मपत्राणीव बहिरावरणैः शुभाशुभशबलरूपत्रिविधकर्मभिर्बुद्धी-न्द्रियकर्मेन्द्रियकृतैर्न लिप्यन्ते । कदापीत्यर्थः ॥ १ ॥

कवीति । कवीनां मुखकमलमेवोपवनं तत्र सा सूक्तिः प्रौढोक्तिः कल्पलता श्रीशिवभक्ति-रसायनरसासेकैर्भुक्तिमुक्ती बुभुक्षुमुमुक्षुजनाभिलषिते फलति निष्पादयति । दत्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

जयेति । जयजयेति पौनरुक्त्ये भक्त्युल्लासान्न दोषः । एवमन्यत्रापि । हे हर भवामयहर, त्वं जय सर्वोत्कृष्टो भव । मामशरणं भयाज्जन्मजरामरणोत्थत्रासाद्रक्ष । एवमनेन प्रकारेण शिवं कल्याणं लब्धुं यः श्रीशिवं परमेश्वरं स्तौति तस्य धन्यस्य सार उत्कृष्टः सारस्वतो वाणीसंबन्धी स्फार उल्लासः सफलः कृत्यकृत्यो भवति । तस्यैव सफला वाणीत्यर्थः ॥ ३ ॥

शिवेति । हे शिव कल्याणदायिन् , शिव परमेश, शं निःश्रेयसं करोतीति शंकरस्तस्य संबोधनं शंकर, त्वं गतिरुपायो भव । अर्थादगतिकस्य ममेत्यर्थः । इत्यनेन प्रकारेण प्रलापो वीप्सया भाषणरूपस्तेन मुखरं प्रगल्भं मुखं यस्य स तादृशो यः पुमान्भवति, हि निश्चयेन तस्यैव सफलानि दिनानि । शिवसायुज्यं परमात्मैक्यं च हस्तगतम् । करबदरतुल्यमित्यर्थः ॥४॥

इहेति । खलु निश्चये । यो मनुष्य इह जगति पशुपतिनुतिभिः पञ्चकलापाशबद्धा जनाः पशवस्तेषां पतिः श्रीशंभुस्तस्य स्तुतिभिः कतिपयमपि कालमतिस्वल्पं निमेषक्षणमुहूर्तादिकं कृतार्थयति सफलयति, स धन्यः कलेस्तुरीययुगस्य कलुषं पापं तस्मान्मुक्तः सन् जीवन्नेव मुक्तो भवति । किं बहुनोक्तेन ॥ ५ ॥

उपचितेति । विबुधगणान्देवगणान्सहृदयजनांश्चाह्लादयति तादृशी श्रीशंभोः स्तुति-र्जयति सर्वोत्कृष्टा भवति । स्तुतिः किंभूता । उपचिता पूरिता कुशलानां मङ्गलानां भवाब्ध्युत्त-रणरूपाणां श्रेणिः पङ्क्तिर्यया सा । स्तुतिः का । परमपदे कैवल्यपदे यदारोहणं तत्रैका निःश्रेणि-रधिरोहिणी । तथा महामृतस्य परमानन्दरसायनस्य वेणिः प्रवाहः ॥ ६ ॥

किमिति । श्रवणयोः सहृदयश्रोत्रयोरमृतवर्षिणी श्रीशंभोः स्तुतिरियं मद्गुरोः श्रीशिव-शासनोपदेशकरस्य दैशिकवरस्य दृष्टिरनुग्रहदृष्टिः किं भवति । यद्वा ह्लादैकमयी परमानन्दैकमयी जगतः सृष्टिः किं भवति । किं वा निरभ्र आकाशे वृष्टिर्जीवनवर्षणं भवति । संशयालंकारः ॥ ७ ॥

अक्षयेति । श्रवणामृतवर्षिणी शंभोर्नुतिरक्षयं निर्विनाशं यत्सुखं कैवल्यरूपं तस्योपभुक्तिः किम् । यद्वा परमशिवस्य ब्रह्मादिकारणषट्कातीतस्यावाप्तये लाभाय नवा अपूर्वा युक्तिरुपायः । यदि वा साक्षादेव जीवन्मुक्तिर्भवति ॥ ८ ॥

क्षेत्रमिति । यत्र क्षेत्रादौ शांभवी स्तुतिः श्रुतिं विशति कर्णगोचरं प्राप्नोति, तदेव क्षेत्रं पवित्रमिह जगति । तदेव तीर्थं पवित्रम् । तदेवायतनं गृहं पवित्रम् । तदेवानघं निर्दोषं तपोवनं भवति ॥ ९ ॥

सेति । सा क्रीडा खेला भवति । सैव गोष्ठी सभा भवति । सैव विश्रान्तिः परमा । स एव भूमिकालाभः श्रेयान् । भवरङ्गे नृत्यतो देहिन एष एव भूमिकालाभः श्रेयान् । सैवाखि-लदुःखस्य भवमरुभ्रमणेनावाप्तस्य निवृत्तिर्भवति । यत्र शांभवी नुतिः कर्णगोचरं विशति ॥ १० ॥

तद्ध्यानमिति । तदेव ध्यानं संयत चित्तीभूय शिवैकताध्यानम् । यद्वा श्रीसकलभट्टा-रकध्यानं 'त्रिपञ्चनयनं देवं जटामुकुटमण्डितम्' इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रोक्तम् । स एव समाधिः शिवैकतावाप्तये आत्ममनसोरैक्यम् । स एव महायागो नवनाभसंज्ञः श्रीस्वच्छन्दतन्त्रराजोक्तः । तदेव सकलमर्चनं पूजोपचारः । सैव परमा श्रीशिवपदप्राप्तिदायिनी दीक्षा षडध्वदीक्षा भवति ।

सापि तत्रैव तन्त्रराजे श्रीशंभुना पशुपाशनिवृत्तये प्रकाशिता। सा केत्याह—यत्र शाभवी नुतिः श्रुतिं विशति कर्णगोचरीभवति ॥ ११ ॥

इदानीं नतजनोपदेशं कतिपयैर्वृत्तैराह—यदीति। हे प्रणतजन, पारिजातस्य पारिजाताख्यदेवद्रुमस्य स्वर्गोद्याननन्दनस्थितस्य कुसुमस्तबकः पुष्पाणां गुच्छस्तव कर्णयोर्भूषणं भवितुं यदि न सुलभो भवति, तदा एता मदीयाः श्रीशिवस्य शंभोः स्तुतीः श्रुतिपथं कर्णमार्गं स्वकीयं नय। स्वर्गतरुपारिजातकुसुमस्तबकेभ्योऽप्येता अतिहृद्या इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अभिलषसीति। हे नतजन, पवनादपि वायोरपि दुर्ग्रहं दुःखेन ग्रहीतुं शक्यं मन एव हरिणो मृगविशेषस्तं निरोद्धुं संयतं कर्तुं यदि काङ्क्षसि तदा इमा मदीयाः स्तुतीः श्रीशंभोर्निभृतं निश्चलीभूय गृहाण। किंभूताः स्तुतीः। दृढा ये गुणा माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्त एव गुणास्तन्तवस्तैर्बद्धाः। हरिणमपि बद्धुं तन्तुबद्धा वागुरा भवति ॥ १३ ॥

यदमृतमिति। हे नतजन, अम्बुधेः समुद्रस्य मन्थनं सुरासुरैर्यत्नेन कृतं ततः समुत्थितं यदमृतं सुधा तस्य कःस्विदास्वादो भवति, इति तव मनसि यदि कौतुकं भवति तदा श्रीशंभोरिमा मदीयाः स्तुतीराकर्णय श्रृणु। ततो रसायनरसादप्येता अतिहृद्या इत्यर्थः ॥ १४ ॥

विषयेति। हे नतजन विषयाणां शब्दादीनामुपभोगस्तेन रहितः सहजो ह्लादः परमानन्दः सतां विदुषां मोक्षः कैवल्यपर्यायो मतः। तमपि मोक्षं वेदितुं ज्ञातुं यदि त्वमिच्छसि तदा अवहितं सावधानं हृदयं यस्य स तादृशो भूत्वा शंभोः स्तुतीः श्रृणु ॥ १५ ॥

अशुचीति। अशुचि अपवित्रम्। तथा शुचां भवजनितदुःखानामायतनं गृहम्। तथा मलेन पापेन कलिलं कलुषमिदं कलेवरं शरीरं सत्यमेतत्। एवंभूतमपि कलेवरमिति हेतोः कस्य न सचेतनस्य कमनीयं काङ्क्षणीयं भवति। इति किमित्याह—भगवदित्यादि। एतत्कलेवरं भगवतः श्रीशंभोरुपासनं भजनं तत्साधयतीति भगवदुपासनसाधनं भवतीत्यत एव कस्य न काङ्क्षणीयमस्ति ॥ १६ ॥

यदीति। हे नतजन, यमाश्च नियमाश्च प्राणायामश्च आदिशब्देन धारणादयः। एतमष्टाङ्गयोगं कर्तुं दुर्घटं दुष्करं यदि मनुषे चेज्जानासि, तर्हि अतीव सुगममुपायं परमपदस्य कैवल्यस्यावाप्तये शंभोर्नुतिं स्तुतिं श्रय। श्रीशंभुस्तुतिविधानेन तव श्रेयः सुलभमित्यर्थः ॥ १७ ॥

अथेदानीमेतस्यापि स्तोत्रस्योपसंहारार्थं वृत्तत्रयमाह—**सिद्धमिति**। सम्यक् सम्यक्प्रकारेण ममाभीष्टमभिलषितं सिद्धं निष्पन्नम्। तथा सत्यगिरां तथ्यवचसां सतां साधूनामप्याशिषो मम फलिताः। तथा सुकृतस्य प्राग्जन्मोपार्जितस्यापि फलं मया लब्धम्। कुत इत्याह—इयं शंभो श्रीशिवभट्टारकस्य स्तुतिर्यतो निर्व्यूढा निर्वाहं प्राप्तुं पारिता ॥ १८ ॥

ममेति। ममैव धन्यस्य संसारः सारः। इदं मानुषजन्म ममैव सफलं कृतार्थम्। इह भूमौ मम सदृशः कोऽपि न भवति। कुत इत्याह—यदहमिति। यदहं धन्यः श्रीशंभोः स्तोता स्तुतिकृत् संवृत्तः संपन्नः ॥ १९ ॥

अथेदानीं कविर्गाढतरभक्तिसुधारसपानोन्मत्त इवैकं वृत्तमाह—**प्रणमामीति**। अहं श्रीशंभुं प्रकर्षेण वाङ्मनःकायकर्मभिर्नमामि प्रह्वीभवामि। तथा प्रभुं स्वकीयं त्रिजगन्नाथं शंभुं स्तौमि स्तौमि पुनः पुनः स्तौमि च। तदेकचित्तः सन् तत्पादाम्भोजयुगलं ध्यायामि ध्यायामि

वीप्सया ध्यायामि च। अहं तदीयप्रसादाद्विमलं स्वच्छं निर्वाणं परं धाम परमं पदं यामि चावश्यमिति शिवम् ॥ २० ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मज-राजानकश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां स्तुति-प्रशंसास्तोत्रं नाम सप्तत्रिंशम् ॥

अष्टात्रिंशं स्तोत्रम्।

अथातो ग्रन्थकृत्पुण्यपरिणामस्तोत्रमष्टात्रिंशमारभमाण आह—**सहस्रशीर्षेति**। पुरि पुरि प्रतिशरीरं तिष्ठतीति पुरुषः परमात्मा परमेश्वरो भगवान्। सहस्राण्यनेकसहस्रपरिमितानि शीर्षाणि यस्य स सहस्रशीर्षा। शीर्षन्नादेशः। सहस्रशीर्षेति नकारान्तः शब्दः। तथा सहस्राण्य-नेकसहस्रपरिमितानि चक्षूंषि यस्य सः। तथा सहस्रपात् सहस्राण्यनेकसहस्रपरिमिताः पादाश्चरणा यस्य स तादृशः सहस्रपात् श्रीशंभुर्विराड्रूपः। यद्रूपं श्रीकृष्णार्जुनयोः प्रसन्नीभूय प्रकाशितमेतादृ-ग्रूपो वो युष्मान् पुनातु त्रिविधाणवादिमलापहारेण पवित्रतमान् करोतु। स क इत्याह—गल इति। सहस्रं दशशतपरिमितानि शीर्षाणि फणा यस्य स तादृशः पुरुषः शेषो नागराट् निश्चलो भूत्वा गले यं श्रीशंभुमुपास्ते। तथा सहस्रं दशशतपरिमितानि चक्षूंषि यस्य स सहस्रचक्षुः पुरुष इन्द्रो निश्चलो भूत्वा यं परमेश्वरमङ्घ्रिमूले चरणमूले उपास्ते। तथा सहस्रं दशशतपरि-मिताः पादाः किरणा यस्य स सहस्रकरः सूर्यो निश्चलो भूत्वा यं श्रीशंभुं नयने दक्षिणे उपास्ते। एवं त्रयोऽपि पुरुषाः सहस्रशीर्षा, सहस्रचक्षुः, सहस्रपादः, क्रमेण गले, अङ्घ्रिमूले, नयने च निश्चलाः सन्तो यं परमेश्वरमुपासते, स शंभुः सहस्रशीर्षा सहस्रचक्षुः सहस्रपादो भगवान् वः पुनात्विति संबन्धः ॥ १ ॥

सरस्वतीति। इयं मम सरस्वती वाणी वो युष्माकं सुधाममृतं वर्षतु। कैः। ईश्वरस्तवैः। केव। इन्दुकला चन्द्रकलेव। किंभूता इन्दुकला। उद्गता उद्भूता। कस्मिन्। सरस्वति समुद्रे। 'सरस्वान्सागरोऽर्णवः' इत्यमरः। यथा समुद्रोत्पन्ना चन्द्रकला करैः किरणैः सुधां वर्षति तथेयमपीत्यर्थः। पुनः केव। सरस्वती वीणेव। यथा वीणा श्रवणामृतैः शब्दैः सुधां वर्षति तथेत्यर्थः। पुनः केव। सरस्वती नाम्नी नदीव। यथा साप्यूर्मिभिर्वीचिभिः सुधां वर्षति तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

विमर्शेति। मया विमर्शशून्येन खलेन दुष्टेन सकलः कालो निरर्थको निष्फलोऽतिवाहितो नीतः। तु पक्षान्तरे। विमर्शे कृते सकलादेवासारादिदमतिशयेन सारं वस्तु समुद्धृतम्। किं तदित्याह—मया यन्मनश्चित्तमीशस्तुतिवेतनमीशस्य परमेशस्य स्तुतिरेव वेतनमवश्यदेयं यस्य तत्तादृशं धृतम् ॥ ३ ॥

नेति। दुष्टं चिपिटनासिकक्लिन्नाक्षित्वादियुक्तं मुखं यस्य स तादृशो दुर्मुखः। तथा स्रव-द्यत्पीनसं नासिकामलं तेन दिग्धा लिप्ता नासिका यस्य स तादृशः शिशुर्बालः परस्य हृद्यतां

प्रियत्वं नैति, किंतु स्वकीयस्य पितुः स एव शिशुर्जीवितादप्यधिको भवति यथा, तथा ममायमुद्यमः श्रीशिवस्तुतिप्रबन्धरूप उपहास्योऽप्युपहनीयोऽपि भवतीति जाने ॥ ४ ॥

अवैमीति । अहमवैमि जाने स पुष्कलः पूर्णो भाग्यानामुपचय आधिक्यम् । खलु निश्चये । स पारमेश्वरः परमेश्वरसंबन्धी शक्तिपातः सानुग्रहं दृष्टिपातरूपः शक्तिपातो भवति । वाशब्दश्चार्थे । तथा स महार्हो महामहनीयो महतां सद्गुरूणामनुग्रहः । स क इत्याह—यन्मनो भवति । किंभूतम् । ईश्वराराधनं साधयतीति तादृशम् ॥ ५ ॥

अहो इति । अहो आश्चर्ये । इह जगति गुणैर्माधुर्यादिभिस्त्रिभिरलंकृता तादृश्या । तथा मनोभिरामया मनोहारिण्या गिरा वाण्या कृतार्थोऽस्मि धन्यो भवामि । गिरा कयेव । रामयेव । यथा कश्चिद् गुणैर्लावण्यादिभिरलंकृतया रामया कृतार्थो भवति तथेत्यर्थः । तथा इयं तनुश्च निरामया नीरोगा स्थिरा यन्मया ध्रियते । तथा भवे परमेश्वरे च भक्तिः स्थिरा अभङ्गुरा अविच्छन्ना निरामया मन्ये विस्मृतिरूपामयरहिता च यन्मया ध्रियतेऽतः कृतार्थोऽस्म्यहमित्यर्थः ॥ ६ ॥

नेति । असमानया असामान्यया । तथा सान्द्रसुधासमानया घनामृततुल्यया शिवस्तव एवैकं व्रतं यस्याः सा तादृशी तया गिरा यथा प्रीतिर्भवेत्तथा अनर्घो मानः पूजा यस्याः सा तादृश्या । वाशब्दश्चार्थे । तथा अन्वहं प्रतिदिनमेधमानया वर्धमानया श्रिया लक्ष्म्यापि प्रीतिर्न भवति ॥ ७ ॥

पुर इति । विलीनं वेद्यान्तरस्य वेदनं प्रत्यभिज्ञानं यस्य स तादृशोऽहं पुरोऽग्रे स्फुरन्तं महेश्वरं भावनया विमृशन् नवा नूतना ये स्तवास्तेषामुल्लेखास्तस्य विधौ यां दशामवस्थां भूमिकां स्पृशामि । तां मम दशामन्तरात्मा विभुरेव वेत्ति । नान्य इत्यर्थः ॥८॥

मनुष्यतेति । मम धन्यस्यानेकजन्मसु सत्स्वपि मनुष्यजन्मप्राप्तिः प्रथमं क्षेमम् । तत्रापि स्त्रीजन्मादिकुत्सितान्यजन्मत्वेऽपि सति पुरुषजन्मप्राप्तिर्द्वितीयं क्षेमम् । पुरुषजन्मत्वे वर्णचतुष्टयत्वेऽपि मुख्यमग्र्यवर्णत्वं ब्राह्मणजन्मप्राप्तिस्तृतीयं क्षेमम् । तत्रापि मनीषिता पाण्डित्यं चतुर्थं क्षेमम् । तत्रापि सत्कविता प्रौढोक्तिनिपुणकविता पञ्चमं क्षेमम् । तत्रापि शिवैकताध्यानं सर्वेषामेषामवतंसभूतं षष्ठं क्षेमम् । इत्यनेन प्रकारेणेयं मम क्षेमाणां कल्याणानां परम्परा विभोः श्रीपरमशिवस्य स्तुतिप्रसङ्गेनानेन कृतार्थतां साफल्यं गता । अत्र सारालंकारो व्यङ्ग्यः ॥९॥

एवमभिनवस्तुतिप्रसूनाञ्जलिवितरणेन निश्चितं दयाम्बुनिधिं विभुं प्रहृष्टं मन्यमानः कविरात्मानं कृतकृत्यं जानन्नाह—ध्रुवमिति । ध्रुवं निश्चये । घनानामावलिः पंक्तिर्नीलगलं श्रीशम्भुमष्टात्रिंशत्संख्यया परिमितत्वाद् बहुलानां नवानां स्तवानां प्रहर्षिणं प्रकर्षेण हर्षयुक्तं करिष्यति । किंभूता स्तवानामावलिः । रसोऽत्र प्रक्रान्तत्वाच्छान्तरसः । रसो गर्भे यस्य स तादृशो निर्भरः पूर्णो ध्वनिरुत्तमकाव्यापरपर्यायो यस्यां सा । 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः' इति श्रीकाव्यप्रकाशकारः । किंभूता स्तवावलिः । अनघा अविद्यमानान्यघानि श्रुतिकटुत्वादयः शब्ददोषा अपुष्टत्वादयोऽर्थदोषाश्च यस्यां सा तादृशी । किंभूतं नीलगलं शम्भुम् । पृथुब्रह्माद्यतिरिक्तः प्रभावः प्रभुत्वं यस्य स तादृशं पृथुप्रभावम् । तथा शशिखण्डेन चन्द्रकलया मण्डितं शोभितम् । अथ च रसस्य वारिणो गर्भस्तेन निर्भरः पूर्णो ध्वनिर्गर्जितं यस्याः सा रसगर्भनिर्भरध्वनिर्घनानां मेघानामावलिर्नीलगलं नीलकण्ठं मयूरं प्रहर्षिणं करोति ।

किंभूता मेघपङ्क्तिः। अनघा अविद्यमानमघमवग्रहोत्थतुच्छत्वदोषो यस्याः सा। नीलगलं मयू॰ किंभूतम्। पृथुप्रभावंशशिखण्डमण्डितं पृथुर्महान् प्रभाणां कान्तीनां वंशः समूहो येषु तानि शिखण्डानि चन्द्रका यस्य स तादृशम् (तैर्मण्डितम्) ॥ १० ॥

ननु ब्रह्मादीनामपि परमेश्वरप्रभावमविदुषो स्तुतिरसदृश्येव भवतो वराकस्य का कथेत्याशङ्क्याह—यदीति। हि निश्चये। प्रभोर्जगदीशस्य चरणान्तिके पादपद्मोपकण्ठे इमाः स्तुतीः श्रावयितुं यदि वयमयोग्यास्तथापि प्रभोः प्राङ्गणसीमसेविनां यामिकानां गणानामेव नो गिरः स्तुतिरूपाश्चमत्करिष्यन्ति। का इव। गीतरीतयो हालाकरीतय इव। यथा हालाकरीतयो जनंगमानां बाह्यजनानां चमत्करिष्यन्ति तथेत्यर्थः ॥ १० ॥

पुनरपि कृतार्थमात्मानं श्रीशंभुस्तुत्या मन्यमान आह—परोपकारैरिति। यथा सेवकस्य बहुक्लेशमपि राजसेवनं परोपकारैः परेषामुपकारविधिभिः स्पृहणीयं भवति। यथा च दरिद्रस्य निर्धनस्य गार्हस्थ्यं गृहस्थकर्म बहुक्लेशमप्यर्थिनामभ्यागतानामतिथीनां तर्पणैस्तृप्तीकरणैः स्पृहणीयं भवति, तथा बहवः क्लेशाः संसारोत्था यस्य तत्तादृशमप्यात्मन इदं वर्ष्म शरीरमीश्वरस्तवैः परमेश्वस्तवैः स्पृहणीयं काङ्क्षणीयमवैमि जाने ॥ १२ ॥

सहस्रेति। सदोषमपि कलुषमपि पल्वलजलं तटाकोदकं सहस्रपत्त्रैः कमलैर्मनोरमं यथा भवति। 'सहस्रपत्त्रं कमलम्' इत्यमरः। यथा सदोषमप्यविरलगरलापूर्णमपि फणीन्द्रस्य शिरो मणिव्रजै रत्नव्रातैर्मनोरमं भवति। तथा सह दोषैः संसारोत्थैर्वर्तते यत्तादृशमप्येतन्मानुषं मानुषस्येदं मनुष्यजन्म महेश्वरस्य स्तवैर्मनोरममभिलषणीयमहं जाने ॥ १३ ॥

मृगेन्द्रेति। यथा कन्दरोदराद्विनिःसरन्तो मृगेन्द्रशावाः कस्य न मनोज्ञतां बिभ्रति। तथा करीन्द्रस्य गजेन्द्रस्य कुम्भातकवाटान्निःसरन्तो यथा मौक्तिकानामुत्कराः समूहाः कस्य न मनोज्ञतां बिभ्रति। तथा कवितुः। ममेत्यर्थात्। मुखाद्विनिःसरन्तोऽमी स्तवा अष्टात्रिंशत् कस्य न सचेतनस्य मनोज्ञतां मनोहरत्वं बिभ्रति। अपि तु सर्वस्येत्यर्थः ॥ १४ ॥

मरालमालेति। यथा निर्मले स्वच्छे सरसि। मानसे इत्यौचित्यात्। मानससरसि मरालमाला हंसपङ्क्तिराभरणं भवति। यथा सुभ्रुवां मृगदृशां कुचस्थले हारलता आभरणं भवति तथेयं मत्कृता महेश्वरस्तवावली सतां विदुषां वदनकमले आभरणं भवतु ॥ १५ ॥

इमामिति। यथा उन्मुखस्तोयबिन्दुलाभायोर्ध्वमुखः शिखी मयूरो घनावलीं वर्षाकालिकमेघश्रेणिं वीक्ष्य यथा प्रकर्षेण मोदते। यथा चकोरकश्चकोरशिशुः कार्तिकज्योत्स्नां वीक्ष्य प्रमोदते। यथा रथाङ्गनामा चक्रवाकस्तरणेः सूर्यस्य त्विषं प्रभां प्रातःकाले वीक्ष्य प्रमोदते, तथा इमां मत्कृतां स्तवावलीं वीक्ष्य को न सचेतनः प्रमोदते ॥ १६ ॥

मधुव्रत इति। यथा मधुव्रतो भृङ्गः सौमनसीं स्रजं पुष्पमालां चर्वयति। यथा सितच्छदो हंसः पद्मकर्णिकां चर्वयति। यथा पिकः कोकिलो विकोषां प्रफुल्लां चूतमञ्जरीं चर्वयति तथा इमां स्तवावलीं को न चर्वयत्यास्वादयति ॥ १७ ॥

मनस्विनीनामिति। यथा मनस्विनीनां मानिनीनां साचि तीर्यग्वीक्षितं कामिनां मानसमार्द्रयति। यथा च स्तनन्धयानां बालानां मुग्धजल्पितमप्रगल्भं वचो जनस्य मानसमार्द्रयति। तथैवासां मदीयानां सूक्तिवीरुधां सूक्तयः प्रौढोक्तय एव वीरुधो लतास्तासां मधु रसायनं मनीषिणां सहृदयानां मानसं चेतोऽवश्यमार्द्रयिष्यत्यार्द्रीकरिष्यति ॥ १८ ॥

इयमिति । यथा अकाले कुत्सितकाले शिशिरे जीर्णं केलिकाननं क्रीडोद्यानं मधुश्रीर्वसन्तश्रीर्यथा तरुणीकरोति नवं संपादयति । यथा चातपेन क्षतं शुष्कं सरोवरं प्रावृड् वर्षासमयस्तरुणीकरोति जलपूर्णं संपादयति, तथैवेयं स्तवावली अकाले कुत्सिते समये जीर्णमुच्छिन्नं काव्यकुतूहलं निपुणकविकर्मकौतुकं पुनस्तरुणीकरिष्यति । नवं संपादयिष्यतीत्यर्थः । इदं मदीयं कविकर्म परीक्ष्यान्येऽपि कवयस्तदुद्युक्तमनसो भविष्यन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विमत्सराणामिति । विगतो मत्सरः परोत्कर्षासहनं येषां ते तादृशानाम् । तथा सदसद्विवेकिनां गुणदोषविवेचकानां महात्मनां धौताशयानां मूर्ध्नि . शिरस्ययमञ्जलिः स्तुतिकुसुमाञ्जलिग्रन्थो धृतः समर्पितः । अथ च तेषां महात्मनामग्रेऽञ्जलिर्मया धृतो बद्धः । किमित्याह—इमां मत्कृतां स्तवावलीं प्रभोस्त्रिजगत्स्वामिनो गौरवात् । स्वामिभक्त्येत्यर्थः । विलोकयन्तु परीक्षन्तु । अथवा मयि वराके प्रसादबुद्ध्यानुग्रहबुद्ध्या विलोकयन्तु ॥ २० ॥

स्तवावलीति । स्तवानामष्टात्रिंशत्संख्यानामावली पङ्क्तिः सैव ढौकनकमुपदा, उपदीयते उपदा, तवर्गतृतीयान्ता, तस्या अर्पणं तस्य च्छलात् प्रभोस्त्रिजगत्स्वामिनः पदस्पर्शे चरणाम्भोरुहस्पर्शे निःशङ्कमीप्सत काङ्क्षमाणस्य मे विकत्थनत्वेऽपि विकत्थयतीति विकत्थनस्तस्य भावस्तत्त्वं तत्रापि मया वराकेण त्रिजगदीशस्य चरणस्पर्शोऽवाप्त इति विकत्थनत्वेऽपि मम विडम्बना उपहासो न । अत्र हेतुः स्तवावलीढौकनकेति प्रागुक्तः । प्रभोः पदस्पर्शे किंभूतम् । अभ्यर्णचरैः समीपवर्तिभिः सुरैरिन्द्रादिभिरप्यलभ्यं दुष्प्रापम् ॥ २१ ॥

कलिमलेति । कलौ तुरीययुगे यन्मलमज्ञानजं सैव मषी तया कल्माषः शबलोऽयं मनोमुकुरश्चित्तादर्शः पुरोऽग्रे स्फुरितमपि व्यक्तमपि वस्तु ग्रहीतुमाकलयितुं न क्षमोऽभूत् । सपदि इदानीं विशदैर्निर्मलैः शब्दब्रह्मोर्मिभिर्वाणीविलासतरङ्गैस्त्रिजगदधीशस्तुतिरूपैरित्यर्थात् विमले कृतेऽस्मिन्मनोमुकुरे समस्तमिदं जगत्करे बदरफलवत्पश्यामः सर्वं शिवमयं जगदित्याकलयाम इत्यर्थः ॥ २२ ॥

आनन्दिनीति । नन्दिनि नन्दिरुद्रे द्वारपाले गणाधीशे आसां मदीयानां स्तुतीनां क्वचिद् गूढमर्थं श्रुत्वा आनन्दिनि सानन्दे स्तुवति सति देवः, दीव्यति परमे पदे इति देवः, श्रीशंभुश्चमत्कारेण कृतोऽङ्गुलीनां भङ्गभङ्गिस्त्रोटनविच्छित्तिर्येन स तादृशः अधिरूढ उत्पन्नो हास ईषद्धसनं यस्याः सा तादृशीमङ्कस्थितामङ्के वामाङ्के स्थितां भगवतीमासां मदीयस्तुतीनां गूढमर्थं क्वचिद् गूढार्थमवश्यमवबोधयति श्रावयिष्यति ॥ २३ ॥

मन्य इति । अहमिति मन्ये । किमितीत्याह—अद्भुतान्याश्चर्यकारीणि तथा उर्जितानि बहुलानि सुकृतानि पुण्यान्यस्माभिर्मनोवाक्कायकर्मभिः पुरा पूर्वस्मिन् जन्मनि यानि कृतानि तान्येतानि श्रीशिवभक्त्या पवित्रितानि पवित्रीकृतानि सुभाषितानि सूक्तानि फलितानि । सुभाषितानि कानि । कर्णयोरमृतानि रसायनानि ॥ २४ ॥

एत इति । प्रमथानां नन्दिमहाकालभृङ्गिरिटिप्रभृतीनां गणानां भर्ता श्रीशंभुस्तस्य एते मयोक्ता अष्टात्रिंशत्स्तवा विमृशतां शिवभक्तिरसामृतमास्वादयतां विदुषां सचेतसां सकलार्थानां चतुर्वर्गरूपाणां लाभस्तं दिशन्तु वितरन्तु । स्तवाः का इव । कला इव । केषाम् । तेनैव प्रभुणा श्रीशंभुना दृक्षु तिसृषु दृष्टिषु धृतो घर्मकरः सूर्यो दक्षणदृष्टौ, अमृतांशुश्चन्द्रो वामदृष्टौ, सप्तार्चिरग्निर्ललाटस्थदृशि चेति तेषां सूर्यादीनां कला इवाष्टात्रिंशत् । यथा ता अपि विमृशतां

विदुषां सकलार्थलाभप्रदाः । अयं भावः—सूर्यस्य द्वादशकलाः, चन्द्रस्य षोडश कलाः, वह्नेश्च दशकलाः स्मृतौ प्रसिद्धाः । आसां संकलने कृतेऽष्टात्रिंशत्संभवन्ति कलाः । अतश्चैता एवोपमानीकृता निजस्तवानाम् ॥ २५ ॥

अथातः कविः सहृदयहृदयानन्ददायिनिजग्रन्थस्याभिधानं कर्तुकाम आह—**अयमिहेति** । इह श्रीशारदाचरणाम्बुजरजःपवित्रितस्थले किंकरेण हरचरणकिंकरापराभिधानेन मया जगद्धरकविना तरुणेन्दुभृतश्चन्द्रमौलेर्भगवतः शंभोश्चरणकमलयो रचितः कृतः स्तुतिकुसुमाञ्जलिः सौरभेण परमानन्ददायिना परिमलेन सुकृतां सुकृतिनां सहृदयानां मनः स्पृहयालु सस्पृहं कलयतु करोतु । किंभूतः । अविरला महती अनन्यसामान्या या भक्तिः श्रीशिवभक्तिस्तया सिक्ता या नवा नूतना सूक्तयः प्रौढोक्तय एव लतास्ताभ्योऽवचित उच्चितः । कुसुमान्यपि लताभ्य उच्चीयन्ते तथा प्रौढोक्तिभ्योऽयं ग्रन्थः उचित इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अथातो ग्रन्थकृत्सकलप्रमथाधीशान्त्रीन्प्रभोस्त्रिजगदीशस्य पुरो निजग्रन्थनिवेदनायाभ्यर्थयति—**अयीति** । अयीति इष्टामन्त्रणे । हे त्रिजगतामधिष्ठायक हे प्रमथनायक गणपते, तथा प्रसन्नं मुखं वदनं यस्य तस्य संबोधनं—हे प्रसन्नमुख षण्मुख, षाण्मातुर कुमार, तथा त्रिदशैर्देवैर्वन्द्य हे नन्दीश्वर नन्दिरुद्र, मयि कृपां कुरुतेत्यध्याहारः । चरणकिंकरेण हरचरणकिंकरापराभिधानेन जगद्धरकविना पुररिपोस्त्रिपुरारेः पुरोऽग्रे भक्तितो भक्त्युद्रेकादर्पितं समर्पितं विकचवाक्यपुष्पाञ्जलिं विकचानि प्रफुल्लानि नूतनानि यानि वाक्यानि तान्येव पुष्पाणि तेषामञ्जलिस्तमिमं प्रभोः पुरो निवेदयत ॥ २७ ॥

इतीति, भुवीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण परिषदि सभायां गणाधीशसभायां, सिंहस्यन्दनः सिंहवाहनो गणपतिः । स्कन्दः कुमारः । नन्दी नन्दिरुद्रः । प्रभृतिना महाकालभृङ्गिरिटिमुख्याः । तैरभिराद्धैः पूजासमये प्रभामण्डलपूजायामाराधितैर्वन्द्यं प्रशस्यमावेद्यमानं निवेद्यमानमिमं स्तुतिकुसुमसमूहं शंभोस्त्रिजगदीश्वरस्य प्राभृतीकृत्य प्राभृतं ढौकनकं संपाद्यामलं विमलं शर्म कल्याणं यन्मया लब्धं तेनेदं भुवि भुवीत्यादिवक्ष्माणमस्तु भूयात् । इदं किमित्याह—भुवि भुवीति । कुत्सितः श्रीशिवशासनादपरकुटिलशासनमार्गगमनोत्थो विकल्पो भुवि भुवि देशे देशे स्वल्पतामतितानवमेतु । तथा शुद्धबोधः शुद्धसंविद्रूपो धुरि धुरि अग्रे अग्रे वर्धतां वृद्धिं लभताम् । किं कर्तुम् । दुरितानां त्रिविधानामोघः समूहस्तं जेतुम् । शुद्धज्ञानप्रकाशो वर्धतामित्यर्थः । तथा पथि पथि प्रतिमार्गं मथिता दूरीकृता उग्रां व्यापदं जन्मजरामरणत्रासजनितामापन्ना ये अशरणा जनास्तेषां तापा आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकास्ते यया तादृशी शंभुभक्तिः श्रीशिवभक्तिः परिपूर्णा अत्युद्रिक्ता नरि नरि जृम्भतामुल्लसतु । इतीदमेवास्त्वित्यर्थः ॥ २८—२९ ॥

इतीति । इतीति पूर्वोक्तप्रकारेण भगवतः श्रीशिवभट्टारकस्य या स्तुतिस्तस्या व्यतिकरेण मेलापेन मया जगद्धरकविना यदूर्जितं महत्सुकृतं पुण्यमर्जितमुपार्जितं, तेन श्रीशिवभक्तिचमत्कृतिः सुकृतिनां पुण्यवतां मनस्यनपायिनी निश्चला भवत्विति शिवम् ॥ ३० ॥

इति श्रीराजानकशंकरकण्ठात्मजश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां पुण्यपरिणामस्तोत्रं नाम अष्टात्रिंशम् ।

———

ग्रन्थकर्तुर्वंशवर्णनम् ।

अथातो ग्रन्थकृत्स्ववंशावलीवर्णनं करोति कतिपयैर्वृत्तै :—**पुरेति** । किल प्रसिद्धौ । विपश्चितां संख्यावतामग्रणीर्धुर्यो गौरधरो गौरधरनामा सरस्वत्या वाग्देव्याः स्वैरं स्वेच्छया विहारस्तस्य भूः स्थानमभूत् । आरोपेण योजना । कदा । पुरा पूर्वम् । किंभूतः । पुरारेस्त्रिपुरदाहिनः श्रीशंभोः पदधूल्या धूसरः । तथा विशालो वंशः कुलं भरद्वाजमुनिवर्यवंशः श्रुतं शास्त्रं वृत्तमाचारस्तैर्विस्तीर्णैर्विश्रुतो विख्यातः ॥ १ ॥

भ्रमादिति । पुरातनः कविर्ब्रह्मा अग्रिमो धुर्यः श्लोको यशो यस्य स तादृशमग्रिमश्लोकम् । 'पद्ये यशसि च श्लोकः' इत्यमरः । उत्तमश्लोकमग्र्ययशसं गौरधरं भ्रमाद्भ्रमेण सृष्ट्याकुलचित्तत्वात् अवश्यमग्रत आदावेव सर्वब्राह्मणजातेरनिर्मायाकृत्वा, पुनर्विमृश्य विमर्शं कृत्वा, द्विजन्मनां विप्रवराणां विप्रक्षत्रियविशां च वर्णानां पङ्क्तेरावलेरुपरि पुनर्न्यवीविशत् निविशन्तं प्रायुङ्क्त । किभूतं, काकपदेन भ्रमचिह्नेनाङ्कितस्तम् । यथा कश्चित्कविर्विद्वानवश्यमग्रत आदावेव लेख्यं श्लोकं पद्यमनिर्मायालिखित्वा पुनर्वर्णानामक्षराणां पङ्क्तेरुपरि काकपदं निजभ्रमसूचकं लिखति तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

अनन्तेति । अनन्ता ये सिद्धान्तास्तेषां पन्थानो मार्गास्तेषामन्तगामी तादृशस्य । तथा समस्तानि यानि शास्त्राणि तान्येव दुरवगाहत्वादर्णवाः समुद्रास्तेषां पारदृश्वा, तादृशस्य गौरधरस्य ऋजुर्निर्मला निर्दोषा च यजुर्वेदपदानामर्थवर्णना भाष्यपद्धतिर्वेदविलासनाम्नी यस्याद्भुतं च विश्रुतं प्रसिद्धं च श्रुतं व्यनक्ति प्रकटयति ॥ ३ ॥

सुत इति । गुणानां पाण्डित्यादीनामोघः समूहस्तस्य सागरः समुद्रः । तथा मनीषिणां विदुषां शिरोमणिरस्य गौरधरस्य विदुषः सुतस्तनयो रत्नधरो रत्नधरनामा सोऽभूत् । स क इत्याह यमाश्रितेति । यं रत्नधरं मनीषिणमाश्रिता सरस्वती वाग्देवी रत्नं कौस्तुभाख्यं धारयति तादृशं हरेर्विष्णोर्वक्षःस्थलं श्रितां श्रियं लक्ष्मीमह्नास्त पस्पर्धे ॥ ४ ॥

उदारसत्त्वमिति । उदारसत्त्वं प्रभूतधैर्यं विपुलमुदात्तं सुष्ठु निर्मलं तथा प्ररूढा मर्यादा..................यस्य स तादृशं तथा अगाधं गम्भीरं यस्य रत्नधरस्याशयं मानसं प्रविश्य स्ववशा स्वतन्त्रा सरस्वती वाग्देवी स्थिरं पदं स्थानं बबन्ध । तत्रैव स्थितिमकरोदित्यर्थः । यस्य कस्येव । अम्बुधेरिव समुद्रस्येव । यथा उदाराः सत्वा जलप्राणिनो मकराद्या यस्मिन्स तादृशं तथा विपुलं विस्तीर्णं सुष्ठु निर्मलं मर्यादया युक्तमगाधमतलस्पर्शं चाम्बुधेः समुद्रस्याशयं मध्यं प्रविश्य सरस्वती नाम्नी नदी स्ववशा सुष्ठु अवशा पराधीना स्थिरं पदं बध्नाति तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

कपोलेति । यस्य रत्नधरस्य विदुष उक्तयः प्रौढोक्तयः सचेतसां सहृदयानां मुखमेवंविधं चमत्कारोत्कर्षात् क्षणं वितन्वन्ति विस्तारयन्ति । एवं विधं किमित्याह--मुखं किंभूतम् । कपोलयोर्दोलायितं चमत्कारोत्कर्षेणान्दोलनात्कर्णभूषणं यस्य तादृशम् । तथा तरङ्गितमूर्ध्वं क्षिप्तं यद्भ्रूयुगं तेन भङ्गुरं कुटिलमलिकं ललाटं यस्मिंस्तत् । तथा किंभूतं मुखम् । अर्धनिमीलिते अद्भुतरसास्वादादीक्षणे नेत्रे यत्र तत् ॥ ६ ॥

अथास्येति । अथानन्तरमस्य रत्नधरस्य विदुषः सुतो जगद्धरो धीमान्मनीषी उदपादि

उदभूत् । किंभूतः । अनेकशो वादिनां मुखेषु वितीर्णा मुद्रा मौनरूपा येन सः । पुनः किंभूतः । उदारो यः संस्कारः शब्दानुशासनाभ्यासव्युत्पत्तिजो यस्यास्तादृशी सुष्ठु सारा चासौ भारती वाणी तया पवित्रं मुखाम्बुजं यस्य सः ॥ ७ ॥

अपीति । अहो आश्चर्ये । बत हर्षे । अतिशयेन स्थूलाः स्थवीयांसस्तेष्वपि । स्थूलमतिष्वपीत्यर्थः । न कृता स्थिरा स्थितिर्यया सा सरस्वती वाग्देवी कुशाग्रतीक्ष्णां सूक्ष्मामपि यन्मतिं यस्य जगद्धरकवेर्बुद्धिमधिरुह्याश्रित्य स्वैरं विहारलीलया स्वैरविहारार्थमस्खलितं ध्रुवं पदं स्थानं न्यधात् निहितवती । सूक्ष्मे तीक्ष्णे हि वस्तुनि चरणवितरणमत्यद्भुतम् ॥ ८ ॥

निर्मत्सर इति । निर्गतो मत्सरः परोत्कर्षासहनं यस्मात्सः । तथा सहृदयः शत्रौ मित्रे च समः सचेतनश्च । तथा श्रुतस्य शास्त्रस्य पारदृश्वा । तथा विश्वमतिशेते तादृशो विनयो यस्य सः । तथा प्रियवाक् मधुरवचनः । तथा सुशीलो यो जगद्धरकविः किं वा परं साधुवाक्यं ब्रूमः, य एकः कवीनां निपुणकविकर्मकृतां या गिरः प्रौढोक्तयस्तासां शरणं सद्म य एक आसीत् । किंभूतः । सदसतोर्विचारे यच्चातुर्यं तेन धुर्या धिषणा बुद्धिर्यस्य सः ॥ ९ ॥

तेनेति । तेन जगद्धरकविना शिशुनैवापूर्णषोडशवर्षेणैव आदृतेन श्रीशिवभक्तौ सादरेण आनन्देन परमानन्देन कन्दलितमुत्पन्नं भक्तिकुतूहलं श्रीशंभुभक्तिकौतुकं यस्य तादृशेन निवेद्यमानं प्राभृतीकृतमेतं चन्द्रमौलिस्तुत्यमृतरसं सन्तो मनीषिणो रसयन्त्वास्वादयन्तु ॥ १० ॥

गृह्णन्त्विति । अन्तरं सदसद्विशेषं जानन्तीत्यन्तरज्ञाः सहृदया अस्मात्सन्दर्भात्समग्रं कंचन विशेषं गृह्णन्तु । किंभूतास्ते । आत्तं गृहीतं वचनं यैस्ते आत्तवचनाः । केषाम् अस्माकम् । दृष्टं चैतत् । कुशला निपुणा विशालाद्विस्तीर्णात् शेवालजालेन कलिलाद्व्याप्तात् पल्वलजलात्तडागोदकात् कमलौघमेव तामरसौघमेव चिन्वन्ति । तदेव सारं गृह्णन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

यद्यपीति । अनलसोऽमन्दो यो रसस्फारो रसोत्कर्षस्तेन सारम् । तथा अन्तर्मनसि कस्यापि विरचितश्चमत्कारो येन तत्तादृशमर्थतत्वं लक्ष्यव्यङ्ग्यद्योत्यपरमार्थतत्वमासां मदीयानां वाचां यद्यपि न किंचिदस्ति, तत्रापि सति त्रिभुवनगुरोस्त्रिभुवने त्रिजगति गुरुः कैवल्यपदप्राप्तिहेतुशिवशासनोपदेशदैशिकस्तस्य परमेश्वरस्य स्तोत्राणि तैर्मैत्री तया पवित्रा एता मदीया वाचः कर्णस्याभ्यर्णे तत्राभरणपदवीं नेतुं प्रापयितुं सन्तः सहृदया अर्हन्ति ॥ १२ ॥

प्रेमाणमिति । हे बुधा विद्वांसः, मणिमयी चासौ कर्णिका कर्णाभरणं तां प्रति प्रेमाणं स्नेहं मन्दीकुरुध्वं मन्दं कुरुत । तथा यूयं मुक्तादामनि मुक्तास्रजि मतिं बुद्धिं मा कुरुत । ताम्बूलेषु नागवल्लीदलेष्वपि हेवाकितां मा स्पृशत । कुत इत्याह—भूषार्थमिति । यत इमाः स्मरशासनस्य स्मररिपोर्देवस्य श्रीशंभोः स्तोत्रावल्यां सूक्तयः प्रौढोक्तयो मम भवतां कर्णतटे, कण्ठे, गले, मुखपद्मे च भूषार्थं शोभार्थं प्रभवन्ति समर्था भवन्ति ॥ १३ ॥

अथातो ग्रन्थकृत्स्वस्तोत्रावल्यां यावत्संख्यानि वृत्तानि रचितानि तत्संख्यामेकत्र संकलय्य शब्दश्लेषोक्तिविच्छित्या प्रकारान्तरेण वर्णयन्नाह—निक्षिप्तमिति । अत्र वृत्तानां सुवर्णानां पादायुतार्धमिति वक्तव्ये वृत्तानां सुवर्णानामिति हीनपदत्वेऽपि शमकथासु भक्तिविषये न दोषः । मया जगद्धरकविना वराकेण सुवर्णानां शोभना वर्णनीयरसानुगुणा वर्णा अक्षराणि येषु तानि तादृशानां वृत्तानां पद्यानां वा चतुर्भिः पादैरुपलक्षितानां श्लोकानां पादायुतार्धं, पादाः श्लोकपादास्तेषामयुतं दशसहस्राणि, तस्यार्धं पञ्चसहस्राणि, शतसप्तकेन पादानां च सहितं सप्तशताधिक-

पञ्चसहस्राणि (५७००) श्लोकपादानां तदेतत् । अथ च वृत्तानामाहतानां घटितानां सुवर्णानां सुवर्णकर्षाणां पादाश्चतुर्थांशास्तेषामयुतार्धं सप्तशताधिकं मया दीनेन निर्हिंसे निर्माये गुणिनि अणिमादिगुणयुक्ते द्विजेन्द्रमुकुटे चन्द्रमुकुटे चन्द्रमौलौ धर्मैकधाम्नि धर्मो वृषस्तत्रैकं धाम स्थानं यस्य स तादृशे एवंभूते श्रीशिवे । अथ च निर्हिंसे अतीव संयतचित्ते गुणिनि दयादाक्षिण्यादियुते द्विजेन्द्रमुकुटे ब्राह्मणवरशिरोमणौ धर्मैकधाम्नि पुण्यास्पदे ईश्वरे महाविभवयुते एवंभूते निक्षेप्तव्यस्य वस्तुनः पालनयोग्ये मया निश्चिन्तेन निश्चितं समर्पितं, निक्षेपो रक्षितश्च । इदानीं स्वावस्थां चाह कविः—प्रायेण निश्चयेन प्रायोपवेशनेन च क्लिशितस्य सक्लेशस्य दीनवचसो देहि स्वामिन् इति दीनवाक्यस्यापि तथा क्ष्मायां भूमौ क्षिप्तो मूर्धा शिरो येन स तादृशस्यापि मे एकं पादं चरणमयमीश्वरो न प्रयच्छति न ददाति । विधौ दैवे वक्रे प्रतिकूले सति । अत्रैतद्विषये किं करोमि । प्रभुणा निजमुकुटस्थस्य चन्द्रस्यैव वक्रता नु शिक्षितेत्यर्थः । अयुतार्धमिति 'एकदशशतसहस्रायुतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः । अर्बुदमब्जं खर्वनिखर्वमहापद्मशङ्कवस्तस्मात् ॥ जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः । संख्यायाः स्थानानां व्यवहारार्थं कृतास्तज्ज्ञैः ॥' इति श्रीलीलावत्याम् । 'कर्षैश्चतुर्भिश्च पलं तुलाशा कर्षं सुवर्णस्य सुवर्णसंज्ञम्' इति च । 'वृत्तं यशसि पद्ये च' इत्यमरः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इति च । 'विधुर्विष्णौ चन्द्रमसि' इति च । शब्दश्लेषोऽलंकारः । अत्र च प्रागुक्तानां सप्तशताधिकपञ्चसहस्रश्लोकपादानां ५७०० एतदङ्कं संस्थाप्य चतुर्भिर्भागो देयः । चतुष्पादत्वाच्छ्लोकस्य । तत्र भागहारार्थं वृत्तं श्रीलीलावत्यां पाटीगणिते "भा ज्याद्धरः शुध्यति यद्गुणः स्यादन्त्यात्फलं तत्खलु भागहारे । समेन केनाप्यपवर्त्य राशी भाज्यं भजेद्वा सति संभवे तत् ॥" इति । अत्र भाज्यस्य राशेः ५७०० भाजकेन चतुर्भि-(४) र्भागे लब्धं पञ्चविंशतिश्लोकाधिकचतुर्दशशतानि वृत्तानाम् (१४२५) । एतावत्संख्याः श्लोका मयास्मिन्ग्रन्थेऽष्टात्रिंशत्स्तवेषु विरचिता इति ग्रन्थकृता प्रकटीकृतम् ॥ १४ ॥

कारंकारमिति । वारितो निवारितः शमः शान्तिर्यैस्ते तादृशैः । तथा न रक्षन्तीत्यरक्षा दस्युप्रायास्तैः अक्षैरिन्द्रियैरिदं मम मनो निघ्नं परवशं सत् विघ्नितश्रीपरमेश्वरसेवनामृतरसास्वादोपभोगं कारंकारं कृत्वा कृत्वा पौनःपुन्येनाकारि कृतम् । एतदतीतम् । किं तु पक्षान्तरे । क्वापि कुत्राप्युद्देशे, कदाचित्कस्मिंश्चित्काले, काप्यनिर्वाच्यकृपारसा साधूनां संयतचित्तानां धौताशानां दृष्टिर्मयि पतिता । अतो हेतोः प्रभोः परमेश्वरस्य प्रसादः सूक्तिवपुः प्रौढोक्ति···मूर्तिः प्राप्तः । किंभूतः । जित ऊर्जित उत्कृष्टः सुधास्वादो रसायनास्वादो येन स तादृशः ॥१५॥

अथ ग्रन्थकृन्निजनिबन्धपरिसमाप्तौ निजभारत्याः साफल्यं प्रशंसयन्नाह—यत्सत्यमिति । हे मातर्जननि वाग्देवि, एतत्सत्यं भवति, यत् सदसतोर्विवेकेन विचारेण विकला ये ग्रामीणकग्रामण्यः कतिपयग्रामाधिपतयस्तेषां यन्मिथ्यास्तोत्रमनृता स्तुतिस्तत्र परा लीनाकृता यदस्मादृशैर्मन्दमतिभिः पराभवस्थानं नीतासि, अतः कारणाद्भीतासि । मा कदाचित्पुनरपि तादृशमेव पराभवस्थानमेते मां नयन्त्यतस्त्रस्तासीत्यर्थः । हे मातर्वाग्देवि, इदानीं पुनस्तां कातरतां विमुञ्च त्यज । कुत इत्याह—यद्यस्मात्कारणादसौ सौभाग्यस्य च भाग्यानां चावधिः परा काष्ठा जगतस्त्रिजगतस्त्रिभुवनस्यैकनाथः परमेशस्तस्य नुतिभिः स्तुतिभिस्ते तव विभ्रमो महानुल्लासः संजातो महानानन्द उत्पन्न इति शिवोम् । इति श्रीजगद्धरभट्टकुलावलीविवरणम् ॥ १६ ॥

[1]तत्त्वज्ञानपरायण – धौम्यायनमुनिप्रवर्यस्य ।
आनन्दोऽजनि वंशे सुमनीषी मूर्त इवानन्दः ॥
लक्ष्म्यालिङ्गितदेहः सबलः सच्चक्रविख्यातः ।
विबुधार्चितचरणयुगस्तस्माद्दामोदरो जातः ॥
सकलविपश्चिद्वर्यः प्रज्ञाजितवृत्रहामात्यः ।
अवतारोऽजनि तस्मात्पाण्डित्यस्यावतार इव ॥
सर्वज्ञः सविभूतिः सर्वार्च्यः सर्वमङ्गलोपेतः ।
तस्याजनि तनुजन्मा शंकर इति भूतले ख्यातः ॥
अस्ति सद्गुरुकृपारसपात्रं रत्नकण्ठ इति तस्य तनूजः ।
भास्करस्तुतिरहस्यसमेतं येन रत्नशतकं निरमायि ॥
वस्वग्न्यत्यष्टभूभिर्वर्षे मिते (१७३८) विक्रमभूपतेः ।
अवरङ्गमहीपाले कृत्स्नां शासति मेदिनीम् ॥
बालानां सुखबोधाय हर्षाय विदुषां कृता ।
जगद्धरकवेः काव्ये तेनैषा लघुपञ्चिका ॥
यदत्र स्खलितं किंचित्प्रमादाल्लिखितं मया ।
विबुधा करुणासारा निपुणं शोधयन्तु तत् ॥

इति श्रीराजानकशङ्करकण्ठात्मजश्रीरत्नकण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलि-
व्याख्यायां लघुपञ्चिकायां काश्मीरकमहाकवि-
श्रीजगद्धरभट्टस्य वंशवर्णनम् ।

समाप्तोऽयं भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलिः ।

१—इयमार्या छन्दोभङ्गदूषिताप्यादर्शानुरोधेन तथैव स्थापिता ।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥